आर्यसमाज का इतिहास

पाँचवाँ भाग

(साहित्य के क्षेत्र में आर्यसमाज का कार्यकलाप)

प्रधान सम्पादक

डॉ. सत्यकेतु विद्यालंकार, विद्यावाचस्पति, विद्यामार्तण्ड, डी.लिट्.

भूतपूर्व वाईस-चान्सलर एवं प्रोफेसर इतिहास तथा
सम्प्रति कुलाधिपति, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरद्वार

लेखक

डॉ. भवानीलाल भारतीय, एम. ए., पी-एच.डी.

प्रोफेसर तथा अध्यक्ष, दयानन्द पीठ, पंजाब यूनिवर्सिटी, चण्डीगढ़
(अध्याय १ से २१ तक)

तथा

प्रो. हरिदत्त वेदालंकार, एम. ए.

भूतपूर्व प्रोफेसर इतिहास, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरद्वार
(अध्याय २२ – २५)

1986

प्रकाशक

आर्य स्वाध्याय केन्द्र

ए-१/३२, सफदरजंग इन्क्लेव,
नयी दिल्ली-२९

निवेदन

सदियों की मोहनिद्रा के पश्चात् उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में नवजागरण और धार्मिक सुधारणा के जिन आन्दोलनों का प्रारम्भ भारत में हुआ था, महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज का उनमें प्रमुख कर्तृत्व था। आर्यसमाज का कार्य-क्षेत्र केवल पढ़े-लिखे लोगों तक ही सीमित नहीं था। वह एक व्यापक जन-आन्दोलन था, जिसने सर्वसाधारण जनता में जागृति उत्पन्न की, और वह चिरनिद्रा से जागकर उन्नति के मार्ग पर अग्रसर होने लगी। सामाजिक ऊँच-नीच और छुआछूत को दूर करने, अन्ध-विश्वासों और पाखण्ड का खण्डन करने; बाल विवाह, परदा, दहेज आदि कुप्रथाओं के विरुद्ध आवाज उठाने; विधवा-विवाह को प्रोत्साहन देने, स्त्रीशिक्षा का प्रचार करने और दलितों व अनाथों का उद्धार करने के लिए जो कार्य आर्यसमाज ने किया है, उसके महत्त्व को सभी स्वीकार करते हैं। साथ ही, स्वदेशी, देशभक्ति और राष्ट्रीयता की भावना को विकसित करने, जनता में स्वराज्य की आकांक्षा को उत्पन्न करने और अपने धर्म, भाषा तथा संस्कृति के प्रति प्रेम और गौरव का प्रादुर्भाव करने में भी आर्यसमाज का योगदान किसी भी दृष्टि से कम महत्त्व का नहीं है।

परन्तु खेद है कि आधुनिक इतिहास के लेखकों ने भारत के नवजागरण तथा विश्व के प्रगतिशील आन्दोलनों का वृत्तान्त लिखते हुए महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज के प्रति समुचित न्याय नहीं किया। भारत के पुनर्जागरण तथा धार्मिक सुधारणा के लिए जो प्रयत्न उन्नीसवीं सदी में किए गये, उनमें राजाराममोहन राय, रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द सदृश महापुरुषों के कर्तृत्व की महत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। पर साथ ही यह भी स्वीकार करना होगा कि इन द्वारा प्रवर्तित आन्दोलनों का प्रभाव एक विशिष्ट वर्ग तक ही सीमित रहा। वे किसी ऐसे आन्दोलन का सूत्रपात नहीं कर सके, जिसने भारतीय जनता के सब वर्णों को समान रूप से प्रभावित किया हो, और जिसका क्षेत्र भारत के किसी एक प्रदेश तक ही सीमित न रहा हो। भारत के आधुनिक इतिहास में केवल आर्यसमाज ही एक ऐसा संगठन है जिसके कार्यकलाप ने एक व्यापक जन-आन्दोलन का रूप प्राप्त कर लिया है। ऊँच-नीच, छूत-अछूत, अमीर-गरीब आदि के भेदभाव का आर्यसमाज में कोई स्थान नहीं है, सब वर्गों के व्यक्ति इस समाज के सदस्य बन सकते हैं। इसका कार्य-क्षेत्र भी किसी एक प्रदेश तक सीमित नहीं है। कश्मीर से कन्याकुमारी तक और कामरूप से कच्छ तक सर्वत्र आर्य-समाज स्थापित हैं और समुद्र पार के कितने ही देशों व द्वीपों में भी आर्यसमाजों की स्थापना होती जा रही है।

सन् १८८३ में महर्षि दयानन्द सरस्वती के देहावसान के समय आर्यसमाजों की कुल संख्या ८६ थी, जो अब बढ़कर ५५०० से भी ऊपर पहुँच गई है। आर्यसमाज

द्वारा स्थापित व संचालित शिक्षण-संस्थाओं (स्कूलों, कॉलिजों, गुरुकुलों, आर्ष विद्यापीठों, कन्या पाठशालाओं, महिला विद्यालयों और शोध संस्थानों) की संख्या भी हजारों में है और लाखों बालक-बालिकाओं तथा युवक-युवतियों द्वारा आर्यसमाज के तत्त्वावधान में वैदिक धर्म व आर्य संस्कृति के वातावरण में शिक्षा प्राप्त की जा रही है। ऊँच-नीच व छूत-अछूत के भेद को मिटाने के लिए आर्यसमाज ने जो कार्य किया है, वह वस्तुतः अद्भुत है। संस्कृत भाषा तथा वेद-शास्त्रों के आज ऐसे सैकड़ों विद्वान् विद्यमान हैं, परिवार की दृष्टि से जिन्हें 'हरिजन' या 'अछूत' समझा जाता है। वेदों के कितने ही भाष्यकार ऐसे कुलों में उत्पन्न हुए हैं, जो ब्राह्मण नहीं हैं। जिनके पुरखाओं को वेदमन्त्र सुनने का भी अधिकार नहीं था, वे आज वेद-शास्त्रों के जाने-माने विद्वान् हैं, और सनातनी पौराणिक पण्डितों से शास्त्रार्थ के लिए सदा उद्यत रहते हैं। किसी समय भागवत पुराण के रचयिता ने बड़े गर्व के साथ कहा था—'शक, हूण, यवन आदि पापयोनि जातियाँ जिस भगवान् विष्णु की शरण में आकर शुद्ध हो गईं, उस 'प्रभविष्णु' को नमस्कार हो।' बाद में पौराणिक विष्णु की पावनी शक्ति तो नष्ट हो गई, और तुर्क, मंगोल, मुगल आदि 'पापयोनि' जातियों को शुद्ध कर सकने में वह असमर्थ रही। पर महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज ने एक बार फिर वैदिक धर्म में उस पावनी शक्ति का प्रादुर्भाव किया, जिसके कारण अछूत समझे जाने वाली चमार, भंगी आदि जातियों और शूद्र माने जाने वाली कायस्थ, कुम्हार, धोबी आदि जातियों के व्यक्ति संस्कृत भाषा तथा वेद-शास्त्रों का अध्ययन कर 'पण्डित' बन गये और पौरोहित्य का कार्य भी करने लगे। आर्यसमाज के कारण कितनी ही स्त्रियों को उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर प्राप्त हुआ, और उन्होंने संस्कृत व्याकरण, निरुक्त, दर्शन आदि विषयों का गम्भीर अध्ययन कर वेदमन्त्रों की व्याख्या करने में अपने पाण्डित्य को चरितार्थ किया। भारत के सामाजिक जीवन में जो क्रान्तिकारी परिवर्तन गत एक शताब्दी में हुए हैं, उनमें आर्यसमाज का कर्तृत्व प्रधान है।

आर्यसमाज का कार्य इतना महान् है और उसका संगठन इतना सुदृढ़ और व्यापक है कि कतिपय विदेशी विद्वानों में भी उसके प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होने लगी है। वे यह जानने का प्रयत्न कर रहे हैं कि इस समाज में कौन-सी ऐसी विशेषताएँ हैं जिनसे कि यह निरन्तर अधिकाधिक शक्तिशाली होता जा रहा है। अमेरिका, आस्ट्रेलिया आदि की अनेक यूनिवर्सिटियों में महर्षि दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज-विषयक अध्ययन प्रारम्भ हो चुका है, और अनेक विदेशी विद्वान् इसी के लिए भारत में भी आने लगे हैं। कतिपय विदेशी विद्वानों द्वारा आर्यसमाज-विषयक उच्च कोटि के ग्रन्थों का प्रणयन भी किया गया है। भारत में भी अनेक विश्वविद्यालयों में दयानन्द-पीठों की स्थापना की गई है, जिनमें महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप का अध्ययन-अनुशीलन किया जाता है।

पर यह सब पर्याप्त नहीं है। किसी महापुरुष, संस्था, आन्दोलन का सही-सही स्वरूप उसके इतिहास द्वारा ही जाना जा सकता है। यदि महर्षि वाल्मीकि 'रामायण' में मर्यादा पुरुषोत्तम राम के पावन चरित्र का वर्णन न करते, तो इस महापुरुष के व्यक्तित्व व कृतित्व को कैसे जाना जा सकता? ब्राह्मसमाज की जो आज देश-विदेश में इतनी ख्याति है, व स्वामी विवेकानन्द के कृतित्व को जो आज इतना अधिक महत्त्व दिया जाता

है, उसका एक कारण इनके सम्बन्ध में लिखे गये वे ग्रन्थ भी हैं, जिनमें इनके कार्यकलाप का इतिहास दिया गया है। आर्यसमाज को जो समुचित महत्त्व नहीं दिया गया, उसका प्रधान कारण इस आन्दोलन व संगठन के प्रामाणिक इतिहास का अभाव भी है। पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति सदृश अनेक विद्वानों ने आर्यसमाज का क्रमबद्ध इतिहास लिखने का प्रयत्न अवश्य किया, पर वे इस महत्त्वपूर्ण आन्दोलन के विराट् स्वरूप को यथार्थ रूप में प्रस्तुत करने में पूर्ण सफलता प्राप्त नहीं कर सके। इसीलिए हमने यह आवश्यकता अनुभव की कि विशुद्ध ऐतिहासिक व वैज्ञानिक दृष्टि से आर्यसमाज का एक ऐसा इतिहास तैयार किया जाए, जिसमें इस संस्था की स्थापना, क्रमिक विकास व विस्तार, गतिविधि और कार्यकलाप का विशद रूप से वर्णन हो। इसी प्रयोजन से सात-सात सौ से भी अधिक पृष्ठों के सात भागों में आर्यसमाज का विस्तृत इतिहास प्रकाशित करने की योजना तैयार की गई, जिसमें चार भाग पहले प्रकाशित हो चुके हैं, और यह पाँचवाँ भाग अब पाठकों के हाथों में है। पर यह कार्य इतना महान है कि कोई व्यक्ति अकेले इसे सम्पन्न नहीं कर सकता। यह कार्य जहाँ अत्यन्त श्रमसाध्य है, वहाँ साथ ही इसके लिए प्रचुर धन की भी आवश्यकता है। व्यापारिक दृष्टि से न ऐसे इतिहास की सामग्री का संकलन किया जा सकता है, और न कोई पुस्तक-प्रकाशक उसके प्रकाशन के लिए पूँजी ही लगा सकता है। ऐसे विशाल ग्रन्थों का प्रणयन प्रायः सम्पन्न संस्थानों व यूनिवर्सिटियों द्वारा ही किया जाता है। यह वस्तुतः उत्तम होता, यदि आर्यसमाज के विस्तृत इतिहास को सम्पादित व प्रकाशित करने का कार्य किसी यूनिवर्सिटी या साधन सम्पन्न आर्य संगठन द्वारा किया जाता। आर्यसमाज में ऐसी शिक्षण संस्थाएँ व शोध संस्थान विद्यमान हैं, जो इस महत्त्वपूर्ण कार्य को भलीभाँति सम्पन्न कर सकते थे। पर जब उन द्वारा इस ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया, तो अपने अत्यन्त स्वल्प व सीमित साधनों से हमने इसे शुरू कर दिया। हमारे मन में महाकवि कालिदास की वह उक्ति सदा गूँजती रही, जो उन्होंने रघुवंश महाकाव्य में रघुवंशी राजाओं के व्यक्तित्व व कृतित्व का चित्रण करते हुए कही थी। उनका कहना था—"मेरा यह प्रयास ठीक वैसा है जैसे कोई व्यक्ति छोटी-सी नौका पर बैठकर महासमुद्र को पार करने का प्रयत्न कर रहा हो; या कोई बौना आदमी ऊँचे पेड़ पर लगे हुए फल को तोड़ने की कोशिश में हो।" हमें सदा यह आशंका बनी रहती थी कि इतना बड़ा काम हमने शुरू तो कर दिया है, पर साधनों के अभाव में कभी इसे पूरा भी किया जा सकेगा या नहीं। पर किसी महान उद्देश्य को सम्मुख रखकर सच्चे मन से जो कार्य किया जाता है, परमेश्वर उसमें अवश्य सहायता करता है और उसकी प्रेरणा से अनेक व्यक्ति उसमें सहयोग देने के लिए उद्यत हो जाते हैं। हमारे साथ भी यही हुआ। कोई भी पूर्व-परिचय न होते हुए अनेक आर्य सज्जन हमें सहायता देने के लिए मैदान में आ गये। श्री कृष्णलाल आर्य एक दिन प्रातः हमारे घर आए। उन्हें हम पहचानते भी नहीं थे, उनका नाम तक हमने नहीं सुना था। जब उन्होंने 'आर्यसमाज का इतिहास' के लिए हमें एक हजार रुपये भेंट किए, तो हम आश्चर्यचकित रह गये। तब तक इतिहास का एक पृष्ठ भी नहीं छपा था। कार्य का प्रारम्भ ही किया जा रहा था, सामग्री एकत्र की जा रही थी। इस दशा में किसी अपरिचित आदमी के हाथ में एक हजार रुपये पकड़ा देना कोई साधारण बात नहीं थी। किसी अपरिचित व्यक्ति पर इतना विश्वास परमेश्वर की प्रेरणा के बिना सम्भव ही नहीं है। श्री कृष्णलाल

आर्य द्वारा जो सिलसिला प्रारम्भ किया गया, वह निरन्तर आगे बढ़ता गया। पण्डित सत्यदेव वेदालंकार ने न केवल स्वयं ही इस 'इतिहास' का संरक्षक होना स्वीकार किया, अपितु अपने पारिवारिक जनों, बन्धुओं और मित्रों को भी संरक्षक बनने के लिए प्रेरित किया। लण्डन तथा नैरोबी में उन्होंने कितने ही नर-नारियों को इस 'इतिहास' के लिए उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता देने की प्रेरणा प्रदान की। साथ ही, इस 'इतिहास' के प्रचार के लिए उन्होंने इसके सातों भागों के पूरे सैट अच्छी बड़ी संख्या में वितरित करने का निश्चय किया, और इस प्रयोजन से पच्चीस हजार रुपये प्रदान करने की घोषणा की। इस राशि का आधा भाग वे प्रदान भी कर चुके हैं। इसी प्रकार पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार जहाँ स्वयं इस 'इतिहास' के संरक्षक सदस्य बने, वहाँ साथ ही उन्होंने अपने भाई, भावज तथा कितने ही मित्रों को इसका 'प्रतिष्ठित' सदस्य बनने की प्रेरणा दी। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान श्री रामगोपाल शालवाले तथा परोपकारिणी सभा के प्रधान श्री स्वामी ओमानन्द सरस्वती का संरक्षण, समर्थन तथा सहयोग हमें प्राप्त है। सार्वदेशिक सभा द्वारा इस 'इतिहास' के पचास सैटों का रियायती अग्रिम मूल्य बीस हजार रुपये हमें प्रदान कर दिए गये। डी० ए० वी० कॉलिज मैनेजिंग कमेटी तथा आर्य प्रादेशिक सभा के प्रधान प्रोफेसर वेदव्यास ने भी 'इतिहास' के पचास सेट खरीदने की घोषणा की। श्री स्वामी ओमानन्द सरस्वती इतिहास और पुरातत्व के विश्वविख्यात विद्वान् हैं, वे इस 'इतिहास' की उपयोगिता को भलीभाँति समझते हैं। इसके प्रचार व विक्रय के लिए उन्होंने जिस उत्साह से हमारी सहायता की, उसके लिए उनके प्रति शब्दों द्वारा कृतज्ञता प्रकट कर सकना सम्भव ही नहीं है। कलकत्ता के आर्य बन्धु श्री पूनमचन्द आर्य ने इस 'इतिहास' के लिए आर्थिक साधन जुटाने में जिस तत्परता से हमारी सहायता की है, उसकी जितनी भी सराहना की जाए, कम है। उन्होंने कितने ही सज्जनों को हमारा संरक्षक-सदस्य व प्रतिष्ठित-सदस्य बनाने का सफल प्रयत्न किया, और स्वयं प्रतिष्ठित-सदस्य बनकर अपनी दिवंगत सहधर्मिणी की पुण्य-स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए उनकी ओर से भी प्रतिष्ठित-सदस्यता की धनराशि प्रदान की। कलकत्ता और बम्बई के श्री गजानन्द आर्य, श्री तिलकराज अग्रवाल, सेठ भगवती-प्रसाद खेतान, श्री गणपतराय आर्य, श्री सीताराम आर्य, श्री बजरंगलाल गोयल और श्री प्रकाशचन्द्र मूना आदि महानुभावों ने स्वयं संरक्षक या प्रतिष्ठित-सदस्य बनकर और अन्य नर-नारियों को हमारी सदस्यता स्वीकार करने के लिए प्रेरित कर जो सहयोग हमें प्रदान किया है, उसके लिए किन शब्दों में हम उन्हें धन्यवाद दें? आचार्य उमाकान्त उपाध्याय आर्यसमाज के गम्भीर विद्वान् एवं प्रतिष्ठित नेता हैं। पश्चिम बंगाल के आर्य जगत् पर उनका अतुल प्रभाव है। कलकत्ता के कितने ही धनी-मानी सम्पन्न व्यक्ति उनके शिष्य हैं। हमारा सौभाग्य है कि आचार्यजी का सक्रिय सहयोग व समर्थन भी हमें प्राप्त है। उनकी प्रेरणा से कितने ही सज्जनों ने संरक्षक-सदस्य बनकर हमारी आर्थिक सहायता की, और इस 'इतिहास' के प्रचार के लिए इसके सैट खरीद कर वितरित करना स्वीकार किया। नतमस्तक हो हम आचार्यजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

लन्दन और बम्बई (काकड़वाड़ी) के आर्यसमाज हमारे संरक्षक-सदस्य हैं, और बम्बई फोर्ट तथा सान्ताक्रुज के समाज प्रतिष्ठित-सदस्य। कितने ही आर्यसमाजों ने 'इतिहास' के पूरे सेट का रियायती मूल्य अग्रिम प्रदान कर हमें सहायता पहुँचाई है।
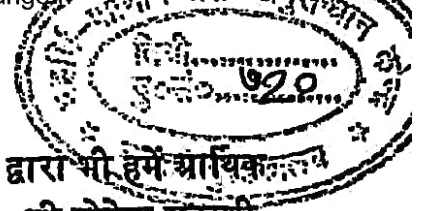
सम्पन्न धनपतियों के अतिरिक्त मध्यवित्त के अनेक नर-नारियों द्वारा भी हमें आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ है। पण्डित बृजपाल शास्त्री, आचार्य यशपाल, श्री योगेन्द्र अवस्थी, आचार्य रामलाल आर्य और श्री भरतसिंह शास्त्री आदि अनेक ऐसे आर्य सज्जन हैं, धनी न होते हुए भी जिन्होंने हमारे कार्य की उपयोगिता को अनुभव कर अपनी शक्ति से बाहर जाकर हमारे प्रतिष्ठित-सदस्य बनने की कृपा की और अन्य लोगों को भी इसके लिए प्रेरित किया।

यह हमारा सौभाग्य है कि श्री स्वामी सर्वानन्द जी सरस्वती, श्री अमर स्वामी जी और श्री स्वामी सच्चिदानन्द जी सरस्वती सदृश वीतराग संन्यासियों का आशीर्वाद भी इस 'इतिहास' के लिए प्राप्त है। स्वामी सच्चिदानन्द जी सरस्वती ने जिस आत्मीयता तथा प्रेम से इसके संरक्षक व सहायक-सदस्य बनाने का प्रयत्न किया, उसके लिए हम उन्हें हार्दिक धन्यवाद देते हैं।

हमें सन्तोष है कि धीरे-धीरे आर्य जनता इस 'इतिहास' की उपयोगिता को अनुभव करने लगी है, और कितने ही आर्य नर-नारी इसके ग्राहक बनाने के लिए उत्साह-पूर्वक प्रयत्नशील हैं। हिण्डोन सिटी (राजस्थान) के श्री प्रह्लादकुमार आर्य आदि ने इस सम्बन्ध में सराहनीय कार्य किया है। आगरा के श्री पूर्णचन्द जी आर्य ने न केवल स्वयं संरक्षक-सदस्य बनकर हमें आर्थिक सहायता प्रदान की है, अपितु 'इतिहास' की बहुत-सी प्रतियाँ खरीद कर उन्हें पुस्तकालयों को भेंट भी किया है। जिन आर्य नर-नारियों का 'इतिहास' की इस योजना के लिए सक्रिय सहयोग हमें प्राप्त हुआ है, उनकी संख्या इतनी अधिक है कि सबका यहाँ उल्लेख कर सकना सम्भव ही नहीं है। वे इसकी अपेक्षा भी नहीं करते। हम हृदय से उनके प्रति आभार प्रकट करते हैं।

हमने आर्यसमाज के इतिहास को सात भागों में सम्पादित व प्रकाशित करने का संकल्प किया था। उनमें से पाँच भाग अब प्रकाशित हो चुके हैं। हमें पूर्ण आशा है कि सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की कृपा और आर्य नर-नारियों के सहयोग से इस 'इतिहास' के शेष दो भागों को भी यथासमय जनता के सम्मुख प्रस्तुत कर सकेंगे।

सत्यकेतु विद्यालंकार
आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली

२२-५-१९८६

आर्यसमाज का इतिहास

(पाँचवाँ भाग)

विषय-सूची

प्रस्तावना

साहित्य प्रचार का एक महत्त्वपूर्ण व सशक्त साधन है। मानव-समाज के संगठन में जो प्रगतिशील परिवर्तन होते रहे हैं, एकतन्त्र स्वेच्छाचारी शासनों के विरुद्ध जो क्रान्तियाँ हुई हैं, और पुराने अन्धविश्वासों व पाखण्ड का खण्डन कर जिन नये धार्मिक आन्दोलनों का प्रसार हुआ है, उनके प्रादुर्भाव में साहित्य का योगदान अत्यन्त महत्त्व का रहा है। जिस राज्यक्रान्ति द्वारा फ्रांस में बूर्बों वंश के निरंकुश राजाओं के शासन का अन्त होकर लोकतन्त्र गणराज्य की स्थापना हुई, उसमें उन साहित्यकारों व विचारकों का सबसे अधिक कर्तृत्व था, जिन्होंने कि मनुष्य-जाति के हजारों सालों से चले आ रहे विश्वासों के सम्मुख प्रश्नात्मक चिह्न लगाया और साहित्य के माध्यम से नये विचार जनता के समक्ष प्रस्तुत किए। मांतस्क्यू, वाल्तेयर, रूसो और दिदरो सदृश साहित्यकारों ने अपने साहित्य द्वारा क्रान्ति की भावना का प्रादुर्भाव किया, और लोग नये समाज का निर्माण करने के लिए तैयार हो गये। रूसो का कहना था कि राज्य में जनता की इच्छा ही सर्वोपरि होनी चाहिए, सरकार की न्याय्यता जनता की इच्छा पर ही आश्रित है। फ्रांस का बूर्बों-वंशी राजा लुई १६वाँ अभिमान से कहा करता था—"यह कानून है, क्योंकि मेरी ऐसी ही इच्छा है। राज्य की प्रभुत्व शक्ति मुझमें ही निहित है।" फ्रांस के राजा अपने को परमेश्वर का प्रतिनिधि मानते थे। उनका मन्तव्य था कि मैं राजा हूँ, क्योंकि परमेश्वर ने मुझे राजा बनाया है। जिस प्रकार परमेश्वर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड पर स्वेच्छापूर्वक शासन करता है, उसके किसी निवासी की सम्मति की कोई परवाह नहीं करता, वैसे ही राजा अपने राज्य में प्रजा की सम्मति पर ज़रा भी आश्रित हुए बिना अपनी इच्छा से शासन करता है। यदि राजा दयालु है, तो प्रजा का सौभाग्य है। यदि वह अत्याचारी है, तो किसी का क्या बस है? परमेश्वर के शासन में आँधियाँ आती हैं, तूफान आते हैं, महामारियाँ फैलती हैं, भूकम्प आते हैं—इन सब ईश्वरीय विधानों के सम्मुख मनुष्य क्या कर सकता है? कुछ नहीं। इसी प्रकार यदि राजा अत्याचार करता है, निरपराधियों को शूली पर चढ़ा देता है, तो इन राजकीय विधानों के सम्मुख भी प्रजा का क्या वश है? यूरोप की जनता में ये विचार बद्धमूल थे, सदियों से वहाँ के सभी देशों में एकतन्त्र, स्वेच्छाचारी व निरंकुश राजाओं का शासन था। इन शासनों का अन्त होकर जो सर्वत्र लोकतन्त्र शासन स्थापित हुए, उसमें रूसो सदृश साहित्यकारों का प्रधान कर्तृत्व था।

आर्थिक विषमता, सामाजिक ऊँच-नीच और पूंजीपतियों द्वारा निर्धनों के शोषण के विरुद्ध जो आन्दोलन प्रारम्भ हुए, और समाजवादी व्यवस्था को स्थापित करने के जो सफल प्रयत्न गत दो सदियों में हुए, उनमें भी साहित्यकारों का महत्त्वपूर्ण योगदान था। समाज में जो वर्गभेद सैंकड़ों वर्षों से विद्यमान था और जिसे लोग स्वाभाविक व परमेश्वर

की इच्छा का परिणाम मानने लगे थे, उसके विरुद्ध साहित्यकारों ने आवाज उठाना शुरू किया, और उन्नीसवीं सदी में अनेक ऐसे लेखक उत्पन्न हुए, जिन्होंने न्याय पर आधारित समाज के निर्माण के सम्बन्ध में योजनाएँ प्रस्तुत कीं। कार्ल मार्क्स इन विचारकों व साहित्यकारों में सर्वप्रधान थे। उन द्वारा जिस साहित्य का सृजन किया गया, उसने सैकड़ों सदियों से चले आए विश्वासों व धारणाओं पर कुठाराघात कर एक नये समाज की स्थापना का मार्ग प्रशस्त कर दिया। यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि मानव-समाज तभी प्रगति के मार्ग पर अग्रसर होता है, जबकि उसके विचारों में क्रान्तिकारी व प्रगतिशील परिवर्तन होने लगता है, और इस परिवर्तन में साहित्य का कर्तृत्व प्रधान होता है।

प्रिंटिंग प्रेस और कागज आदि के आविष्कार के कारण आधुनिक युग में साहित्य का प्रचार बहुत सुगम हो गया है। पर जिस समय पुस्तकें हाथ से ही लिखी जाती थीं, और उनमें प्रतिपादित विचारों को जनता तक पहुँचाने के लिए रेडियो, टेलीविजन आदि वैज्ञानिक साधनों का भी अभाव था, तब भी साहित्य द्वारा मनुष्यों के सामाजिक संगठन व धार्मिक विश्वास आदि में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए गये। गुरु नानक, स्वामी रामानन्द, सन्त कबीर आदि महापुरुषों ने सामाजिक ऊँच-नीच के भेदभाव को दूर करने और सब मनुष्यों के प्रति समता का बरताव करने के जिन आन्दोलनों का सूत्रपात किया था, उनकी सफलता का श्रेय भी उन द्वारा विरचित उस साहित्य को दिया जाना चाहिए जिसकी रचना उन्होंने स्वयं की थी या उनके शिष्यों ने की थी। गुरु ग्रन्थ साहब, रामचरित मानस आदि ग्रन्थ मध्यकालीन भारतीय साहित्य के ऐसे उज्ज्वल रत्न हैं, जिन्होंने कि उस युग के जनसमाज में महान क्रान्तिकारी परिवर्तन ला दिए थे।

आर्यसमाज को भी जो अपने कार्यकलाप में अनुपम सफलता प्राप्त हुई है, उसका प्रधान श्रेय उस साहित्य को ही दिया जाना चाहिए, जिसका प्रणयन महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनकी शिष्य-परम्परा द्वारा किया गया है। संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, गुजराती, बंगला, मराठी, उड़िया, असमिया, तमिल, तेलुगु, मलयालम, पंजाबी आदि भारतीय भाषाओं और अंग्रेजी, जर्मन, फ्रेञ्च आदि विदेशी भाषाओं में यह विशाल आर्य साहित्य विद्यमान है। हजारों की संख्या में छोटी-बड़ी पुस्तकें आर्यसमाज द्वारा प्रकाशित की गई हैं, और हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी आदि भाषाओं में जो आर्य पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं, उनकी संख्या भी दर्जनों में है। आर्यसमाज का यह साहित्य अनेक प्रकार का है। गम्भीर दार्शनिक ग्रन्थों से लेकर उपन्यास, कहानियाँ, नाटक आदि सब इसके अन्तर्गत हैं। आर्यसमाजों द्वारा छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ (ट्रैक्ट) लाखों की संख्या में छपवाकर बिना मूल्य या नाममात्र मूल्य पर सर्वसाधारण जनता में बाँटे जाते हैं, जिनसे महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों व शिक्षाओं के प्रचार में बहुत सहायता मिलती है। जैसा महान कार्य आर्यसमाज ने समाज-सुधार, पाखण्ड के खण्डन, कुरीतियों के निवारण तथा सामाजिक न्याय की स्थापना आदि के लिए किया है, साहित्य के क्षेत्र में भी उसका वैसा ही महान योगदान है। 'इतिहास' के इस पाँचवें भाग में आर्यसमाज के इस विशाल साहित्य का ही परिचय किया गया है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती एक महान सुधारक, वेद-शास्त्रों के गम्भीर विद्वान्, उग्र राष्ट्रवादी तथा प्रगतिशील चिन्तक थे, यह तो सभी जानते हैं। पर वे एक महान साहित्यकार भी थे, और संस्कृत तथा हिन्दी साहित्य के विकास में उनका कर्तृत्व अत्यन्त

शानदार है, इस तथ्य की ओर अभी विद्वानों ने समुचित ध्यान नहीं दिया है। ब्रह्मा से जैमिनि पर्यन्त ऋषि-मुनियों ने वेद-भाष्य की जिस शैली का विकास किया था, हजारों वर्षों के पश्चात् महर्षि दयानन्द सरस्वती ने उसका अनुसरण कर संस्कृत भाषा में वेदों का भाष्य किया। इसी प्रकार आस्तिक दर्शनों में अविरोध का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने त्रैतवाद के समर्थन में जिस ढंग के साहित्य का संस्कृत भाषा में प्रणयन किया, वैसा सदियों से इस देश में प्रणीत नहीं हुआ था। संस्कृत साहित्य को महर्षि की यह अनुपम देन है। जहाँ तक हिन्दी साहित्य का सम्वन्ध है, महर्षि दयानन्द सरस्वती को हिन्दी की प्रौढ़ गद्य शैली का जनक कहा जा सकता है। इनसे पूर्व हिन्दी (खड़ी बोली) गद्य में छोटे-छोटे कहानी-किस्से ही लिखे जाते थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने, जो महर्षि के समकालीन थे, हिन्दी गद्य को विकसित व सुसंस्कृत करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया, पर उनका क्षेत्र केवल कथा व नाटक साहित्य तक ही सीमित था। दार्शनिक, सामाजिक, राजनीतिक व अन्य गम्भीर विषयों के सुचारु रूप से प्रतिपादन के लिए महर्षि ने परिमार्जित हिन्दी का प्रयोग किया, और जिस सशक्त व सुसंस्कृत शैली को अपनाया, वह वस्तुतः एक नई चीज थी। महर्षि के बहुसंख्यक ग्रन्थ हिन्दी में हैं। इन ग्रन्थों के गद्य को यदि एक स्थान पर एकत्र करके देखा जाए, तो यह स्वीकार करना होगा कि इतना अधिक हिन्दी गद्य उन्नीसवीं सदी के किसी अन्य साहित्यकार द्वारा नहीं लिखा गया। साथ ही, यह भी ध्यान देने योग्य है कि महर्षि के अनेक ग्रन्थों में ऐसे सन्दर्भ भी आते हैं, जिन्हें ललित साहित्य के अन्तर्गत माना जा सकता है। 'इतिहास' के इस पाँचवें भाग में महर्षि के साहित्यकार रूप को भी सुचारु रूप से उजागर करने का प्रयत्न किया गया है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुकरण कर आर्यसमाजी विद्वानों ने भी साहित्य-सृजन पर विशेष ध्यान दिया। वेद-शास्त्रों के अनुशीलन के प्रयोजन से तथा गूढ़ दार्शनिक व आध्यात्मिक विषयों के प्रतिपादन के निमित्त लिखे गये संस्कृत ग्रन्थों के साथ-साथ आर्य विद्वानों ने संस्कृत में अनेक महाकाव्य, चम्पू व गद्य ग्रन्थ भी लिखे। इस प्रकार उन्होंने संस्कृत में साहित्य-सृजन की उस परम्परा को पुनरुज्जीवित किया, जो मध्यकाल में लुप्तप्राय हो गई थी। आधुनिक युग में संस्कृत भाषा में जिन नवीन ग्रन्थों का प्रणयन हुआ है, उनमें बहुसंख्यक ऐसे हैं जिनकी रचना आर्यसमाजियों द्वारा ही की गई है।

हिन्दी साहित्य का कोई भी अंग ऐसा नहीं है, जिसे समृद्ध करने के लिए आर्यसमाजी साहित्यकारों ने लेखनी न उठाई हो। काव्य, नाटक, उपन्यास, कथा सदृश ललित साहित्य के साथ-साथ आर्य विद्वानों ने अध्यात्म, दर्शन, समाज संगठन, राजधर्म, विज्ञान आदि सभी विषयों पर उच्च कोटि के ग्रन्थ लिखकर हिन्दी साहित्य की श्रीवृद्धि की है। यह सही है कि ऐसे उपन्यास, काव्य व नाटक अधिक नहीं हैं, जिनके लेखक आर्यसमाज के कर्मठ सदस्य हों। पर इसमें सन्देह नहीं कि आधुनिक युग के बहुसंख्यक उपन्यास व काव्य उन विचारों द्वारा प्रभावित हैं, जिनका प्रतिपादन महर्षि दयानन्द सरस्वती ने किया था, और आर्यसमाज द्वारा जिनका प्रचार किया जाता था। हिन्दी के अनेक साहित्यकार ऐसे भी हैं, जो आर्यसमाजी तो नहीं थे पर आर्यसमाज की शिक्षण-संस्थाओं में शिक्षा ग्रहण करने के कारण या आर्यसमाज के निकट सम्पर्क में रहने के कारण जिन पर महर्षि की मान्यताओं की गहरी छाप विद्यमान थी। उदाहरण के लिए महापण्डित राहुल

सांकृत्यायन को लिया जा सकता है। एक समय ऐसा आया, जब वे कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य हो गये, और उन्होंने धर्ममात्र का विरोध करना शुरू कर दिया। फिर वे बौद्ध हो गये, और बौद्ध धर्म का प्रतिपादन करना भी उन्होंने प्रारम्भ कर दिया। पर वे युवावस्था में आर्यसमाज के घनिष्ठ सम्पर्क में रहे थे, और अनेक आर्य शिक्षण-संस्थाओं में उन्होंने शिक्षा भी प्राप्त की थी। यही कारण है कि उनके ग्रन्थों पर आर्यसमाज की छाप भी विद्यमान है। प्रसिद्ध उपन्यासकार यशपाल क्रान्तिकारी प्रगतिशील साहित्यकार थे। दस वर्ष के लगभग उन्होंने गुरुकुल काँगड़ी में शिक्षा प्राप्त की थी, और उनके साहित्य पर गुरुकुल के प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता। 'इतिहास' के इस पाँचवें भाग में जहाँ आर्यसमाजी साहित्यकारों की रचनाओं का विवरण दिया गया है, वहाँ साथ ही उस साहित्य का भी उल्लेख कर दिया गया है, जिस पर महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों एवं आर्यसमाज की गतिविधि की छाप है। हिन्दी भाषा की श्रीवृद्धि तथा साहित्य के विकास में महर्षि और आर्यसमाज के योगदान का जितने विस्तार के साथ इस ग्रन्थ में विवरण दिया गया है, वह अन्यत्र दुर्लभ है। हिन्दी साहित्य और आर्यसमाज-विषयक अध्याय दो विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं, डॉ० भारतीय जी द्वारा और प्रो० हरिदत्त जी द्वारा। जब दो विद्वान् एक ही विषय का प्रतिपादन कर रहे हों, तो उनके लेखों में पुनरुक्ति आ जाना सर्वथा स्वाभाविक है। पर दोनों लेखकों ने जिस ढंग से इस महत्त्वपूर्ण विषय पर प्रकाश डाला है, उसके कारण यह इतने स्पष्ट रूप में पाठकों के सम्मुख आ गया है कि पुनरुक्ति दोष क्षम्य हो जाता है।

आर्यसमाज में साहित्यकारों की संख्या कम नहीं है। कितने ही कवि, उपन्यासकार, कथा-लेखक, दार्शनिक एवं विचारक आर्यसमाज ने उत्पन्न किये हैं। यह सम्भव है कि कतिपय आर्यसमाजी विद्वानों व साहित्यकारों की रचनाओं का उल्लेख इस ग्रन्थ में न आया हो। इसका एकमात्र कारण आर्य साहित्य की विशालता ही है। पाठकों से प्रार्थना है कि इस विषय में आवश्यक सूचनाएँ तथा जानकारी भेजने का कष्ट करें, ताकि 'इतिहास' के अगले भागों में उनका यथास्थान समावेश किया जा सके।

'इतिहास' के इस पाँचवें भाग का प्रधान अंश डॉ० भवानीलाल भारतीय ने लिखा है। इसके लिए आधारभूत सामग्री का संकलन उन्होंने स्वयं किया है, और उन द्वारा तैयार आर्यसमाज-विषयक साहित्य की वृहद् सूची (पाण्डुलिपि) इसका मुख्य आधार है। इस 'इतिहास' के जो अध्याय प्रोफेसर हरिदत्त वेदालंकार ने लिखे हैं, उनके लिए आवश्यक सामग्री प्राप्त करने में पद्मश्री श्री क्षेमचन्द 'सुमन', डॉ० विष्णुदत्त 'राकेश', ब्रह्मचारी नन्दकिशोर विद्यावाचस्पति और डॉ० चन्द्रभानु सोनवने ने जो सहायता प्रदान की है, उसके लिए लेखक उनका हृदय से आभारी है, और साथ ही सम्पादक भी।

सत्यकेतु विद्यालंकार

पहला अध्याय

आर्य जाति के शास्त्रीय साहित्य का सर्वेक्षण

(१) वैदिक संहिताएँ

स्वामी दयानन्द सरस्वती तथा आर्यसमाज द्वारा आर्य जाति के प्राचीन शास्त्रीय साहित्य के प्रामाण्य तथा गौरव को पुनः स्थापित करने के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया गया है, अतः इस साहित्य का संक्षिप्त रूप से सर्वेक्षण उपयोगी होगा।

इसमें सन्देह नहीं कि संसार की सर्वप्राचीन भाषा संस्कृत है और उसमें उपलब्ध साहित्य ही मानव-जाति का सर्वाधिक पुरातन साहित्य है। यह साहित्य, जिसे विश्व का पुराणतम साहित्य कहा जा सकता है, 'वेद' नाम से अभिहित होता है। वेदों के कर्तृत्व को लेकर मुख्य रूप से दो मत प्रचलित हैं। प्रचलित भारतीय विश्वास के अनुसार वेद अपौरुषेय हैं; वे किसी मनुष्य की कृति नहीं हैं। अन्य शब्दों में कहा जाए तो उन्हें ईश्वर-रचित मानना होगा। यह वह ईश्वरीय ज्ञान है जिसे सृष्टि के प्रारम्भ-काल में परमात्मा ने मानव-जाति के हित को ध्यान में रखते हुए ऋषियों के माध्यम से व्यक्त किया। इस विचारधारा के अनुसार वेद का ज्ञान परमात्मा की ही भाँति अनादि है और प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में वह पूर्वकल्पों की ही भाँति मनुष्य को प्राप्त होता है। पश्चिम के वेदज्ञ विद्वानों का मत भारतीय मत से नितान्त भिन्न है। उनके अनुसार वेद उन ऋषियों द्वारा बनाये हुए ग्रन्थ हैं जिन्होंने समय-समय पर अपने भावसमूह को वैदिक ऋचाओं के माध्यम से व्यक्त किया था। कालान्तर में यही मन्त्र-समुदाय पृथक्-पृथक् वेद-संहिताओं के रूप में संकलित किया गया। भिन्न-भिन्न मन्त्रों के साथ जिन ऋषियों के नामों का उल्लेख हुआ है वे ऋषि ही इन मन्त्रों के वास्तविक प्रणेता (रचयिता) हैं।

मन्त्रों के साथ ऋषियों के नाम जोड़े जाने की समस्या का समाधान भारतीय परम्परा ने भिन्न प्रकार से किया है। इस देश में प्रचलित धारणा के अनुसार मन्त्रों के ऋषि उनके कर्त्ता अथवा रचयिता न होकर मात्र द्रष्टा हैं जिन्होंने अपनी आध्यात्मिक साधना के सर्वोच्च सोपान—समाधि की अवस्था में परमात्म-कृपा से मन्त्रों के रहस्य तथा उनमें निहित गूढ़ तत्त्वों का साक्षात्कार किया था। मात्र कृतज्ञता-ज्ञापन की दृष्टि से ही मन्त्रों के साथ उन-उन ऋषियों का नाम जोड़ दिया गया है, जो मन्त्रगत रहस्य के विशिष्ट ज्ञाता अथवा उसके प्रचारक थे। इस विचारधारा के प्रतिपादक दयानन्द सरस्वती का यह मत है कि मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने जब-जब शुद्ध, सरल एवं पवित्र मन से समाधि लगाई और परमतत्त्व का साक्षात्कार किया, उसी समय उनके दर्पण के तुल्य

निर्मल मानस-पटल पर वेदमन्त्रों के रहस्य उद्भासित होते गये। आगे चलकर इन्हीं ऋषियों को मन्त्रद्रष्टा तथा धर्म का साक्षात्कर्त्ता कहा गया।

वेदमन्त्रों का यह समूह चार संहिताओं में विभक्त है। अथर्ववेद को पृथक् रखकर कभी-कभी 'वेदत्रयी' के रूप में जो ऋग्, यजु, और साम का ही उल्लेख होता है उसका कारण यही है कि चारों वेदों में तीन प्रकार के मन्त्र हैं। ऋग्वेद के मन्त्र ऋचायें कहलाते हैं जो छन्दोविधान की दृष्टि से निर्मित हुए हैं। यजुर्वेद का अधिकांश भाग गद्यात्मक है, तो सामवेद में संगृहीत मन्त्रसमूह गानात्मक हैं। 'वेदत्रयी' के नाम से कभी-कभी यह भ्रान्ति हो जाती है कि प्रारम्भ में वेद तीन ही रहे होंगे और अथर्ववेद पर्याप्त अर्वाचीन है। परन्तु भारतीय मत इस प्रकार के विचार को प्रश्रय नहीं देता। यहाँ चारों वेदों को समान रूप से अपौरुषेय अथवा ईश्वर-निःश्वसित कहा गया है।

दयानन्द सरस्वती के विचारानुसार चारों वेदों में क्रमशः विज्ञान, कर्म, उपासना एवं ज्ञान का विवेचन हुआ है। समग्र वेद-वाङ्मय का सिंहावलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव-जीवन के उपयोग का कोई ऐसा पहलू अवशिष्ट नहीं रहा, जिसकी विवेचना वेदों में न की गई हो। धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म के साथ-साथ वैयक्तिक जीवन, परिवार, समाज तथा राष्ट्र के सम्बन्ध में भी जो कुछ उपयोगी अथवा लाभप्रद हो सकता है, उसका विवेचन वेदों में उपलब्ध होता है। आध्यात्मिक तत्त्वों तथा दार्शनिक गुत्थियों के सांगोपांग विवेचन के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न लौकिक विषयों का भी मार्मिक विश्लेषण वेदों में विद्यमान है। इस प्रकार लौकिक एवं पारलौकिक, सभी प्रकार की सामग्री का विश्लेषण एवं व्याख्या प्रस्तुत करने के कारण यदा-कदा वेदों को 'अपरा विद्या' के अन्तर्गत माना गया, और इसी आधार पर यह निष्कर्ष भी निकाल लिया गया कि 'परा विद्या' तो परवर्त्ती उपनिषदों में ही उपलब्ध होती है, वेद-संहिताओं का इस अध्यात्मविद्या अथवा ब्रह्मविद्या से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है; परन्तु इस विचारधारा में विद्यमान त्रुटियाँ भी नितान्त स्पष्ट हैं। यदि हम परम्परागत भारतीय दृष्टिकोण के अनुसार वेदों को मानव के हित तथा उसके सार्वत्रिक अभ्युत्थान के साधन-रूप में प्रदत्त ईश्वरीय ज्ञान स्वीकार करें तो हमें यह सहज ही स्वीकार करना होगा कि ईश्वरीय ज्ञान जहाँ हमें पारलौकिक सचाइयों का ज्ञान कराता है वहाँ उससे हमें लौकिक-हित तथा सांसारिक उन्नति एवं प्रगति के उपायों का भी ज्ञान होता है। अतः यदि वेद दार्शनिक चिन्तन की निगूढ़ गहराइयों में ले-जाकर ईश्वर, आत्मा, परलोक, पुनर्जन्म, अपवर्ग जैसे जटिल प्रश्नों पर हमें सारगर्भित जानकारी प्रदान करता है तो साथ ही वह मनुष्य के वैयक्तिक एवं सामाजिक हित से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार की लौकिक जानकारी भी देता है, जो उसके सर्वांगीण विकास के लिए अत्यन्त आवश्यक है। दयानन्द सरस्वती के अनुसार यों तो वेदों से मनुष्य को परमेश्वर से लेकर तृण-पर्यन्त पदार्थों का ज्ञान होता है, किन्तु वेद-प्रतिपादित मुख्य विषय तो ईश्वर-स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराना ही है। उनके अनुसार ईश्वर ही समस्त वेदों का तात्पर्य है, क्योंकि वही सब पदार्थों में प्रधान है।

पश्चिमी देशों के वैदिक अध्येताओं के अनुसार ऋग्वेद में मुख्यतः तथा अन्य संहिताओं में गौणरूप से अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, पूषन्, सविता, विष्णु आदि देवताओं का मन्त्ररचयिता ऋषियों के द्वारा स्तवन किया गया है। ये मन्त्रकर्त्ता ऋषि नाना

विरुदावलियों के द्वारा प्राकृतिक शक्तियों के प्रतीक इन वैदिक देवताओं का स्तुतिगान करते हैं। इस प्रकार पश्चिमी वेदज्ञों के अनुसार वेदों में बहुदेववाद अत्यन्त स्थूल रूप में विद्यमान है, परन्तु अधिक गहराई से वेदमन्त्रों का अध्ययन करने के पश्चात् मैक्समूलर जैसे विद्वानों ने एक अन्य निष्कर्ष प्रस्तुत किया। उनके अनुसार वेदों को बहुदेववाद का प्रतिपादक कहने की अपेक्षा हीनोथीज़्म (Heno-Thesim) का उद्घोषक कहना अधिक उपयुक्त है, क्योंकि वेदों के मन्त्रों में स्तुत देवता अपनी पृथक् सत्ता रखने के साथ-साथ यदा-कदा एक सर्वेश्वर सत्ता के प्रतीक की ओर भी संकेत करते हैं। दयानन्द सरस्वती का मत उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं से मूलतः भिन्न है। उनकी मान्यता है कि वेदों में जो अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि देवताओं की स्तुतियाँ मिलती हैं, वे वस्तुतः इन्हीं विशिष्ट नामों को धारण करनेवाले एक ही परमात्मदेव की प्रशंसा में लिखी गई हैं, अतः वेदों को बहुदेववादी कहना सत्य का अपलाप करना है। स्वयं ऋग्वेद के ही अनुसार बुद्धिमान् लोग एक ही सत् को नाना नामों से पुकारते हैं। कठोपनिषद् का प्रमाण देकर दयानन्द ने यह भी स्पष्ट किया है कि ईश्वर ही समस्त वेदों का प्रतिपाद्य तथा वर्ण्य विषय है। विभिन्न वेदमन्त्र वस्तुतः एक ही अचिन्त्य, दिव्य, अमूर्त तथा अविकारी परमात्मा का स्तुतिगान करते हैं। इस दृष्टि से वेदों का चरम तात्पर्य एक, अद्वितीय ब्रह्म के निरूपण में ही पर्यवसित होता है।

पश्चिमी वेदज्ञों के अनुसार यदि ऋग्वेद भिन्न-भिन्न देवताओं की स्तुति एवं प्रशंसा में लिखे गये मन्त्रों का संग्रह है, तो यजुर्वेद कर्मकांड की नाना विधियों में प्रयुक्त होनेवाले मन्त्रों का संकलन है। दर्श, पौर्णमास, अग्निहोत्र, ज्योतिष्टोम, सोमयाग, अश्वमेध, वाजपेय, सौत्रामण्य, राजसूय आदि विभिन्न याज्ञिक कर्मकाण्डों का निरूपण ही यजुर्वेद का प्रमुख प्रतिपाद्य है। मध्यकाल के जिन भाष्यकारों ने यजुर्वेद पर भाष्य-रचना की है, उनकी दृष्टि में इस वेद का प्रत्येक अध्याय किसी-न-किसी इष्टि, अथवा यज्ञों का विधान करता है, अतः उन्होंने यजुर्वेद के समस्त अध्यायों के अर्थ किसी-न-किसी यज्ञ-याग में विनियोग की दृष्टि से ही किये हैं। दयानन्द सरस्वती की दृष्टि इन भाष्यकारों से भिन्न है। उन्होंने याज्ञिक दृष्टि से मन्त्रार्थ करने का विचार एक सीमा तक ही स्वीकार किया है। उनके अनुसार तो वेदों में मानव-जीवन की सर्वतोमुखी उन्नति एवं प्रगति के उपाय वर्णित हैं। अतः केवल यज्ञ की दृष्टि से ही वेद का विचार करना अपूर्ण एवं असंगत है।

सामवेद में प्रायः ऋग्वेद के मन्त्रों को ही संगीत की दृष्टि से पृथक्शः संगृहीत किया गया है। सामवेद की एक सहस्र शाखाओं का उल्लेख मिलता है जो सामगान के विविध प्रकार ही हैं। विषय और शैली, दोनों दृष्टियों से अथर्ववेद का विशिष्ट महत्त्व है। वेदाभ्यासियों के लिए यह वेद पर्याप्त रोचक सामग्री उपस्थित करता है, साथ ही इसके प्रकरण आज भी रहस्यावरण से ढँके हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि अथर्ववेद के विभिन्न सूक्तों में जादू-टोना, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण आदि की अद्भुत क्रियायें, विभिन्न प्रकार के शारीरिक एवं मानसिक रोग तथा उनकी चिकित्सा-विधियाँ, स्त्रियों का वशीकरण, भूत, प्रेत, पिशाच आदि के उपद्रव तथा उनकी शान्ति जैसे विचित्र तथा रहस्यपूर्ण विषय वर्णित हुए हैं। इस प्रकार की वर्णन-सामग्री तथा यत्र-तत्र मन्त्रों की भाषा तथा शब्दों के वैचित्र्य को देखकर प्रायः अथर्ववेद की प्राचीनता में भी शंका की

गई। इस वेद को ऋग्, यजु, और साम से बहुत बाद में संकलित हुआ बताया गया। यह भी कहा जाता रहा है कि अथर्ववेद में प्रतिपादित विषयों का सम्बन्ध अनार्य एवं दस्युओं की आस्थाओं एवं विश्वासों के साथ है। मन्त्रों की भाषा तथा शब्दों के प्रयोग को देखकर भी इसे पर्याप्त परवर्ती माना गया है। यह तो ठीक है कि अथर्ववेद में विभिन्न शारीरिक एवं मानसिक व्याधियों, उनके कारणों तथा उनके नानाविध उपचारों आदि की चर्चा हुई है, परन्तु इतने मात्र से ही उन्हें जादू-टोना अथवा मारण-मोहन जैसी रहस्यपूर्ण क्रियाओं का वर्णन करनेवाला ग्रन्थ बताना उचित नहीं है। अथर्ववेद वस्तुतः नाना ज्ञान-विज्ञानों का कोश है। इसमें एक ओर जहाँ उच्चकोटि के दार्शनिक विवेचनप्रधान सूक्त हैं जिनमें ईश्वर, जीव आदि का सूक्ष्म वर्णन मिलता है, वहाँ इसके अन्य प्रकरणों में आयुर्वेद, रोग-विज्ञान, कृमि-विज्ञान, काम-विज्ञान, मनोविज्ञान, युद्ध-विद्या, राजनीति-विद्या तथा समाजशास्त्र जैसे नानाविध लौकिक विषयों का भी सारगर्भित विवेचन हुआ है।

शाखा-प्रवचन—कालान्तर में वैदिक संहिताओं की व्याख्या तथा उनमें विवेचित विषयों के स्पष्टीकरण हेतु शाखाओं का प्रवचन हुआ। भिन्न-भिन्न संहिताओं पर पृथक्-पृथक् ब्राह्मणग्रन्थों की रचना हुई, तथा इन्हीं ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तर्गत दार्शनिक तथा ब्रह्मविद्या-निरूपक प्रकरण—आरण्यक एवं उपनिषद् लिखे गये। वेदों के अध्ययन को सुकर, सुगम एवं सुबोध बनाने की दृष्टि से वेदांगों का भी प्रणयन हुआ। अब क्रमशः वैदिक साहित्य की उपर्युक्त विधाओं पर संक्षिप्त रीति से विचार किया जाएगा।

भिन्न-भिन्न वैदिक शाखाओं का प्रवचन भिन्न-भिन्न ऋषियों ने किया है, अतः ऋषियों के नामों से ही शाखाएँ प्रसिद्ध हुईं। ऋग्वेद की शाकल और वाष्कल शाखाएँ प्रसिद्ध हैं। यजुर्वेद की शाखाओं में वाजसनेय शाखा तो मूल संहितारूप में ही उपलब्ध होती है जबकि काण्व शाखा में प्रयुक्त मन्त्रों में पर्याप्त पाठभेद मिलता है। तैत्तिरीय शाखा का सम्बन्ध कृष्णयजुर्वेद से है। इस शाखा में मन्त्रभाग तथा ब्राह्मणभाग का मिश्रण है। सामवेद की कौथुम शाखा और अथर्ववेद की शौनक शाखा प्रसिद्ध है। अथर्ववेदीय पैप्पलाद शाखा का भी सम्पादन एवं प्रकाशन हो चुका है। शाखा-प्रवचन की आवश्यकता मन्त्रों के अर्थ को स्पष्ट करने की दृष्टि से हुई थी। विभिन्न ऋषियों के आश्रमों में वेदाध्ययन की जो विभिन्न शैलियाँ एवं प्रणालियाँ विकसित हुईं उनसे भी भिन्न-भिन्न शाखा-प्रवचनों को प्रेरणा मिली। वस्तुतः संहिताभाग में आये सामान्य जातिवाचक नामों के स्थान पर विशिष्ट व्यक्तिवाचक संज्ञाओं का प्रयोग कर वेद-अभ्यासियों के लिए उनके अर्थों को हृदयंगम कराना ही शाखा-प्रवचन का प्रमुख उद्देश्य था। इसी प्रकार किन्हीं-किन्हीं शाखाओं में संहिताभाग के मन्त्रों की प्रतीकें धरकर उनकी व्याख्या की गई है तो अन्यत्र प्रासंगिक ब्राह्मणांश को भी सम्मिलित कर लिया गया है। शाखाओं का सम्बन्ध वेदों की मूल संहिताओं से है। संहिताओं में जहाँ बिन्दु, अनुस्वार और विसर्ग तक का परिवर्तन अद्यावधि नहीं हो सका, वहाँ शाखाओं का प्रवर्तन ही संहितास्थ मन्त्रों के शब्दों में यथेच्छ परिवर्तन कर उनसे निश्चित उद्देश्य की प्राप्ति करने की दृष्टि से हुआ। दयानन्द सरस्वती के अनुसार शाखाएँ आश्वलायन आदि ऋषियों द्वारा निर्मित हैं और चतुर्वेद-संहिताएँ ईश्वर-प्रणीत हैं।

दयानन्द सरस्वती की धारणा के विपरीत यदि 'शाखा साहित्य' को भी संहिताओं

की ही भाँति अपौरुषेय मान लिया जाए, तब तो यह भी स्वीकार करना होगा कि इस अपौरुषेय वेद-वाङ्मय का एक बहुलांश आज लुप्त हो चुका है, क्योंकि चारों वेदों की समस्त ११२७ शाखाओं में से अधिकांश आज अप्राप्य ही हैं।

(२) ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् व वेदाङ्ग साहित्य

ब्राह्मण ग्रन्थ—पाश्चात्य विद्वानों ने अध्ययन-सौकर्य की दृष्टि से वैदिक वाङ्मय का कालक्रमानुसार विभाजन किया है। यद्यपि भारतीय परम्परा के अनुसार इस साहित्य को मन्त्रकाल, ब्राह्मणकाल, सूत्रकाल आदि की परिसीमाओं में विभक्त करने का कोई औचित्य नहीं है परन्तु कालक्रम की दृष्टि से ब्राह्मणकाल संहिता एवं शाखाकाल से परवर्त्ती ही है। विभिन्न संहिताओं से सम्बद्ध विभिन्न ब्राह्मणग्रन्थ हैं. यथा ऋग्वेद का ऐतरेय, यजुर्वेद का शतपथ, सामवेद का सामविधान तथा अथर्ववेद का गोपथ ब्राह्मण। निश्चय ही ब्राह्मणों के रचयिता याज्ञवल्क्य आदि ऋषि संहिताओं के द्रष्टा कण्व, वसिष्ठ, विश्वामित्र, मधुछन्दा आदि से अवरकालीन थे। ब्राह्मणग्रन्थों की रचना का प्रयोजन भी वेदमंत्रों की व्याख्या करना, उनमें निहित रहस्य को स्पष्ट करना तथा मन्त्र-वर्णित विधाओं तथा क्रियाओं का विशदीकरण ही था। दयानन्द सरस्वती के अनुसार ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के व्याख्यान हैं, जिनमें विभिन्न मन्त्रों की प्रतीकें धरकर उनकी व्याख्या की गई है। मन्त्रार्थ-विवेचन के अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थों में यज्ञों की रहस्यमयी व्याख्या, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक विषयों पर संवाद तथा वैदिक शब्दों की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्यायें उपलब्ध होती हैं। मन्त्रों में उल्लिखित यज्ञ-विधियों तथा क्रियाकाण्डों की व्याख्या को भी ब्राह्मणग्रन्थों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

आरण्यक एवं उपनिषद्—आरण्यक और उपनिषदों में आर्य जाति का आध्यात्मिक चिन्तन सूत्रबद्ध किया गया है। मनुष्य के समक्ष उपस्थित श्रेय और प्रेय मार्ग, और इन दो विभिन्न दिशाओं में जानेवाले मार्गों में से श्रेय मार्ग का निरूपण ही उपनिषदों का प्रयोजन है। ईश्वर, जीव, प्रकृति, सृष्टिरचना, मृत्यु और परलोक जैसे गहन विषयों की समाधानकारिणी चर्चा उपनिषदों का प्रमुख प्रतिपाद्य है। वस्तुतः मानवी चिन्तन तथा उसकी ऊर्ध्वपथगामिनी प्रज्ञा का सर्वोत्कृष्ट सार ही उपनिषदों के माध्यम से हमारे समक्ष प्रस्तुत किया गया है, जिनके वर्ण्य विषयों की उदात्तता एवं महनीयता को समान रूप से पौरस्त्य तथा पाश्चात्य तत्त्वविदों ने स्वीकार किया है। प्रामाणिक उपनिषदें तो दस-ग्यारह ही हैं परन्तु उपलब्ध उपनिषद्-नामधारी रचनायें सौ से भी अधिक हैं। इनमें से अधिकांश अर्वाचीन हैं जो नव्यवेदान्त, नवीन मत-सम्प्रदायों तथा पूजा-उपासना की साम्प्रदायिक प्रणालियों का आश्रय लेकर लिखी गई हैं।

वेदाङ्ग साहित्य—वैदिक साहित्य के अध्ययन को सुकर, सुगम तथा सुबोध बनाने की दृष्टि से ही वेदाङ्ग साहित्य की रचना हुई। ऐसा अनुमान होता है कि सृष्टि के प्रारम्भिक काल में मानवी मेधा अत्यन्त विकसित स्थिति में थी, अतः वेदमन्त्रों में निहित गूढ़ार्थ को समझना भी विमल प्रज्ञा के धनी ऋषि-समुदाय के लिए कठिन नहीं था। किन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य की बौद्धिक शक्तियों का ह्रास होने लगा, वेदगत भावसमूह एवं विचार-समूह हमारे लिए अधिकाधिक दुर्ज्ञेय और दुर्बोध होने लगे। अब यह आवश्यक समझा गया कि वेदमन्त्रों के सम्यक् उच्चारण एवं पाठ की विधिवत् शिक्षा दी जाय।

साथ ही वेदार्थ को स्फुट करने में सहायता देनेवाले शास्त्रों की रचना भी आरम्भ हुई। इसी प्रकार वेदमन्त्रों पर आधारित कर्मकाण्ड को भी व्यवस्थित तथा क्रमबद्ध शास्त्र का रूप देने का प्रयत्न हुआ। फलतः शिक्षा, व्याकरण, छन्द, निरुक्त, कल्प और ज्योतिष नामवाले वेदाङ्गों की रचना हुई। ब्राह्मण के लिए यह आवश्यक माना गया कि बिना किसी लाभ की दृष्टि से, विशुद्ध कर्त्तव्य-कर्म समझकर वह साङ्ग वेदों का अध्ययन करे। यहाँ क्रमशः इन वेदाङ्गों का संक्षिप्त परिचय दिया जाता है।

शिक्षा—सबसे पहले वेदमन्त्रों के उच्चारण की समस्या थी। स्वर, वर्ण आदि के उच्चारण की शिक्षा का उपदेश देनेवाली विद्या को 'शिक्षा' कहा गया है। पाणिनि, याज्ञवल्क्य, वसिष्ठ, कात्यायन, पराशर आदि विभिन्न ऋषियों के नामों से शिक्षा-ग्रन्थ मिलते हैं। इनमें सर्वाधिक लोकप्रिय और प्रचलित 'श्लोकात्मक पाणिनीय शिक्षा' है। परन्तु एक सूत्रबद्ध पाणिनीय शिक्षा भी थी, जो वर्षों तक लुप्त रही। पश्चात् दयानन्द सरस्वती ने अपनी वेदाङ्गप्रकाश-ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में उसे प्रकाशित किया। आपिशलि, चन्द्रगोमी और माण्डूकी शिक्षा भी उपलब्ध होती हैं। स्वरविचार भी शिक्षा के ही अन्तर्गत आता है।

व्याकरण—व्याकरणशास्त्र को वेद का मुख कहा गया है। व्याकरण-ज्ञान के अभाव में शब्द-रचना, वाक्य-रचना आदि का ज्ञान असम्भव है। यद्यपि पाणिनि से पूर्व भी अनेक आचार्यों ने व्याकरण-विषयक ग्रन्थों की रचना की थी, परन्तु जिस सुसम्बद्ध एवं व्यवस्थित ढंग से दाक्षीपुत्र पाणिनि ने शब्दानुशासन किया है, उसे देखकर आज समस्त संसार का प्रबुद्ध समुदाय आश्चर्यविमुग्ध है। पाणिनीय अष्टाध्यायी में लौकिक के साथ वैदिक व्याकरण के नियम भी सूत्रबद्ध हुए हैं। सूत्रों की संक्षिप्ततम शैली में लिखे जाने के कारण कालान्तर में इस ग्रन्थ पर महर्षि पतंजलि ने महाभाष्य और महामुनि कात्यायन ने वार्तिक लिखा। सूत्र, भाष्य और वार्तिक की 'त्रयी' संस्कृत-व्याकरण-शास्त्र के गौरव ग्रन्थ हैं। कालान्तर में व्याकरण के पठन-पाठन में कतिपय नवीन प्रणालियों का सूत्रपात हुआ। तदनुसार सिद्धान्तकौमुदी जैसे प्रक्रिया-ग्रन्थों की रचना हुई। कौमुदी आदि अर्वाचीन, साथ ही अनार्ष ग्रन्थों के प्रचार ने अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य जैसे व्याकरण के आर्ष ग्रन्थों के प्रचलन को समाप्त कर दिया। फलतः संस्कृत-भाषा का अध्ययन अधिकाधिक कष्टदायक, रूढ़ परम्पराओं का अनुसरण करनेवाला, तथा क्लिष्ट एवं रूक्ष बन गया।

छन्द—वेदमन्त्रों की रचना छन्दों में हुई है। वेदों का छन्दोविधान लौकिक छन्द-व्यवस्था से पर्याप्त भिन्न है। लौकिक संस्कृत में जहाँ अनुष्टुप, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, शार्दूलविक्रीडित, द्रुतविलम्बित, शिखरिणी, मालिनी, मन्दाक्रान्ता, आदि छन्द काव्य-रचना में प्रयुक्त हुए हैं वहाँ वेदों में गायत्री, जगती, बृहती, त्रिष्टुभ, उष्णिक्, भूरिक् प्रगाथ आदि छन्द मिलते हैं। वैदिक छन्दःशास्त्र से सम्बन्धित ग्रन्थों की संख्या अधिक नहीं है। पिंगलकृत छन्दःसूत्र इस विषय का उल्लेखनीय ग्रन्थ है।

निरुक्त—वेदार्थज्ञान में निरुक्तशास्त्र का सर्वोपरि महत्त्व है। निरुक्तकार की मान्यता के अनुसार समस्त शब्द धातुज होते हैं और शब्द को जन्म देनेवाली धातु का पता लगाकर ही उसके वास्तविक अर्थ को जाना जाता है। निरुक्त के अन्तर्गत वैदिक शब्दों के निर्वचन दिखलाकर उनके अर्थों को स्पष्ट किया गया है। ऐसा ज्ञात होता है कि

यास्करचित निरुक्त से पहले भी इस शास्त्र से सम्बन्धित अनेक निरुक्त-ग्रन्थ थे। यास्कीय निरुक्त में ही औपमन्यव, शाकपूणि, औदुम्बरायण आदि प्राचीन निरुक्ताचार्यों के मतों का उल्लेख हुआ है। यास्क ने निघण्टु के रूप में वैदिक शब्दों के कोश का संग्रह किया था। निरुक्त इसी वैदिक कोश 'निघण्टु' की ही टीका है। निरुक्त में वेदार्थ-विषयक जो विभिन्न प्राचीन मत दिए हैं उनसे जाना जाता है कि पूर्व-काल में याज्ञिक, ऐतिहासिक और परिव्राजक आदि वेदार्थ की पृथक्-पृथक् प्रणालियाँ प्रचलित थीं। कालान्तर में नैरुक्त मत को ही वेदार्थ में प्रशस्ततम समझा गया। प्रायः सभी वेदभाष्यकारों ने अपने वेदार्थ में निरुक्त का सहारा लिया है तथा वेद के मन्त्रों का जो कुछ रहस्य उन्होंने स्वयं समझा तथा अन्यों को समझाया, उसके लिए वे आचार्य यास्क के ऋणी हैं। निरुक्त पर दुर्गाचार्य की टीका मिलती है।

कल्प—वैदिक कल्प-शास्त्र के अन्तर्गत श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्रों की गणना होती है। श्रौतसूत्रों में अग्निष्टोम, सोमयाग, वाजपेय, राजसूय आदि उन यज्ञों की विधियों का उल्लेख मिलता है जिनका मूल वेद-मन्त्रों में उपलब्ध है। निश्चय ही ये यज्ञ बहुश्रम-साध्य, बहुद्रव्यसाध्य तथा जटिल होते थे। श्रौत यज्ञों की इन जटिल एवं क्रियाबहुल परि-पाटियों को देखकर कभी-कभी ऐसा आभास होता है, मानो जिस युग में इन विधिविधानों की संरचना हुई थी, वह यज्ञ करनेवाले यजमानों और करानेवाले पुरोहितों के लिए बड़ी फुरसत का ज़माना था। कात्यायन, आश्वलायन आदि ऋषियों के द्वारा रचित श्रौतसूत्र प्रसिद्ध हैं। गृह्यसूत्रों में जातकर्म, नामकरण, चूड़ाकर्म, उपनयन, विवाह आदि संस्कारों की विधियों का उल्लेख हुआ है। पृथक्-पृथक् वैदिक शाखाओं के पृथक्-पृथक् गृह्यसूत्र हैं। आपस्तम्ब, गोभिल, पारस्कर, मानव, वराह आदि रचित प्रसिद्ध गृह्यसूत्र हैं। धर्म-सूत्रों में आर्य जाति के सामाजिक विधानों का उल्लेख हुआ है। वर्णाश्रम धर्म, राज-व्यवस्था, दण्डनीति, प्रशासनविधान, प्रायश्चित्त आदि बहुविध लौकिक-सामाजिक विषय इन ग्रन्थों के विवेचन में आये हैं।

स्मृति शास्त्र—कल्पसूत्रों को ही आधार बनाकर समय-समय पर विभिन्न स्मृतियों की रचना हुई। प्राचीनता तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से भृगु-प्रोक्त मनुस्मृति या मानवधर्मशास्त्र का सर्वाधिक महत्त्व है। वेद-प्रतिपादित धर्म, दर्शन, आचार और नीति को ही मनुस्मृति में श्लोकबद्ध किया गया है। वेदोक्त जीवनविधान के प्रति मनु के हृदय में जो अशेष श्रद्धा थी, वह उनके इस ग्रन्थ से पदे-पदे व्यक्त होती है। स्मृतिकार का दृढ़ विश्वास है कि वेदानुमोदित आचार को स्वीकार करने से ही मनुष्य अपने जीवन को सफल बना सकता है। मानव-जीवन के चरम लक्ष्य—पुरुषार्थ-चतुष्टय—को प्राप्त करने का यही सुगम साधन है।

अन्य शास्त्रों की भाँति मनुस्मृति में भी समय-समय पर नवीन श्लोक रचकर प्रक्षिप्त किये जाते रहे। यह पता लगाना बड़ा कठिन है कि प्रक्षिप्त किये गये अंश कौन-से हैं और उनकी विद्यमानता में शास्त्रकार के निज मत का ज्ञान और भी कठिन हो जाता है। अन्य स्मृतियों की तुलना में मनुस्मृति की महत्ता और वरिष्ठता निर्विवाद है। मनु के अनन्तर महत्त्व की दृष्टि से याज्ञवल्क्यस्मृति की गणना होती है। विज्ञानेश्वर-रचित उसकी 'मिताक्षरा' टीका प्रचलित हिन्दू-कानूनों का एक बड़ा आधार प्रस्तुत करती है। मध्यकाल में जब वेदानुमोदित आचार-विचार नष्ट हुए और उनके स्थान पर साम्प्रदायिक

आस्थाओं और क्रियाकाण्डों का प्रचलन हुआ तो मनुस्मृति जैसे वेदानुकूल स्मार्त ग्रन्थों का प्रभाव भी न्यून हो गया। अब यह धारणा प्रचलित हुई कि मन्वादि स्मृति-ग्रन्थों की रचना पृथक्-पृथक् युगों की दृष्टि से हुई थी। इस धारणा के अनुसार कलियुग के लिए पाराशर-प्रोक्त स्मृति को ही प्रामाणिक माना गया। स्पष्ट है कि युगानुसार स्मृतियों की प्रामाणिकता मानने तथा इसी आधार पर मनु की तुलना में पाराशर के विधान को कलियुग के लिए आचरणीय बतानेवाला विचार भी अर्वाचीन ही है। वस्तुतः मनुस्मृति में प्रतिपादित जीवनपद्धति ही आर्य आदर्शों को अपनी समग्रता के साथ प्रस्तुत करती है। यही वह जीवन-मीमांसा है जोकि देश, काल और परिस्थितियों की सीमाओं का अतिक्रमण कर मानवमात्र के लिए सब कालों और सब देशों में समान रूप से आचरणीय हो सकती है।

धर्मशास्त्र के इतिहास में स्मृतियों के काल के पश्चात् निबन्ध-ग्रन्थों का युग आता है। धर्मशास्त्रीय निबन्ध उस काल की रचना हैं जब कि पुरातन वर्णाश्रम-व्यवस्था प्रायः नष्ट हो चुकी थी और भारतवासी आर्य जो अब 'हिन्दू' कहलाने लगे थे, सैकड़ों जातियों और उपजातियों में विभक्त हो चुके थे। मुसलमानी शासन के इस युग में हिन्दू-समाज अपनी दुरवस्था की पराकाष्ठा पर पहुँच गया था। धार्मिक क्षेत्र में विभिन्न मतों और सम्प्रदायों की विद्यमानता के कारण नाना प्रकार की पूजायें, आस्थायें, मठ, मंदिर तथा कर्मकाण्ड प्रचलित हुए। सामाजिक दृष्टि से सर्वथा दुर्बल, हीनवीर्य, विकारग्रस्त हिन्दूजाति सर्वतोमुखी पतन के गह्वर में जा रही थी। समाज का शरीर सर्वथा असंगठित तथा रुग्ण था। ऐसे युग में धर्मशास्त्र के अन्तर्गत विभिन्न विषयों पर कलम चलानेवाले इन निबन्धकारों की दृष्टि भी यदि अनुदार, संकीर्ण तथा साम्प्रदायिक पक्षपातग्रस्त हो तो आश्चर्य ही क्या! धर्मसिन्धु और निर्णयसिन्धु आदि शतशः निबन्ध इसी रुग्ण, भ्रमित तथा संकीर्ण मनोवृत्तिवाले समाज का परिचय देते हैं।

ज्योषित—ज्योतिष को भी वेदाङ्गों में परिगणित किया गया है। इसे वेदों का नेत्रस्थानीय कहा गया है। वैदिक काल में सम्पन्न होनेवाले यज्ञों में ज्योतिष की उपयोगिता निर्विवाद थी। गणित-ज्योतिष के ग्रन्थों में "सूर्य सिद्धान्त" की गणना होती है। ज्योतिष से ही सम्बन्धित खगोल-शास्त्र, बीजगणित, नक्षत्रशास्त्र आदि विद्यायें हैं। सौर-मण्डलस्थ विभिन्न आकाशीय पिण्डों की गतियों का अध्ययन, ब्रह्माण्डस्थ ग्रह, नक्षत्र, तारों आदि की गति तथा अन्य ग्रहों का भूमण्डल पर प्रभाव आदि विषय इस विद्या के अन्तर्गत आते हैं। मध्यकाल में ज्योतिष का गणित पर आधारित विचार तो प्रायः उपेक्षित रहा, उसके स्थान पर मुहूर्त देखने, जन्मपत्र बनाने, फल निकालने जैसे अंधविश्वासपूर्ण कृत्य फलित-ज्योतिष का आधार लेकर पल्लवित हुए। शीघ्रबोध, मुहूर्त-चिन्तामणि, जातकाभरण जैसे ग्रन्थ इसी युग की उपज हैं। फलित-ज्योतिष ने इस देश के वासियों को अकर्मण्य, आलसी तथा भाग्यवादी बनाया। दयानन्द सरस्वती ने फलित-ज्योतिष को अनार्ष और अप्रामाणिक घोषित किया है। सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में लिखी गई उनकी फलित-ज्योतिष की समीक्षा पूर्ण यथार्थवादी है।

(३) वेदों के उपाङ्ग : षड्दर्शन

दर्शनशास्त्र का मूल भी वेदों में देखा जा सकता है। वेदों में पुरुष-सूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त, नासदीय सूक्त आदि अनेक ऐसे प्रकरण हैं जिनमें सृष्टि की रचना-प्रक्रिया,

सृष्टि के निर्माण में कारणभूत अनादि तत्त्व जैसे दार्शनिक विषय व्याख्यात हुए हैं। कालान्तर में जब उपनिषदों की रचना हुई तो उनमें भी दर्शन की गहन-गम्भीर गुत्थियों को सुगमतया, साथ ही कहीं-कहीं तो अत्यन्त काव्यात्मक शैली में व्याख्यात कर दिया गया। इस प्रकार वेदों और उपनिषदों के अनेक प्रकरण सांख्यदर्शन के मूल स्रोत कहे जा सकते हैं, जिनमें पुरुष तथा प्रकृतिरूपी चेतन एवं अचेतन सत्ताओं का उल्लेख हुआ है। वैदिक संहिताओं तथा उपनिषदों में ऐसे प्रसंग आये हैं जो यौगिक उपासना-प्रणाली के मूल कहे जा सकते हैं। उपासना की ये ही वैदिक और औपनिषदिक विधियाँ आगे चल-कर महर्षि पतंजलि द्वारा एक व्यवस्थित दर्शन के रूप में सूत्रवद्ध की गईं। इसी प्रकार न्याय-प्रतिपादित असत्कार्यवाद, वैशेषिक-प्रतिपादित परमाणुवाद, वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्मवाद तथा मीमांसा-निरूपित यज्ञवाद भी किसी-न-किसी रूप में वेदों तथा अवान्तर शाखा, ब्राह्मण, उपनिषद् आदि में सूत्ररूप में विद्यमान रहे हैं।

कालान्तर में इस दार्शनिक चिन्तन को सुव्यवस्थित कर शाखाबद्ध एवं सम्प्रदाय-प्रभेद के अनुसार विवेचित-विश्लेषित किया गया। यही दार्शनिक सिद्धान्त वेदानुमोदित, वेदप्रतिपादित तथा वेदों पर आश्रित रहने के कारण "वैदिक दर्शन" कहलाये, जबकि जैन, बौद्ध तथा चार्वाक आदि लोकायत दर्शन, वेदों के सर्वोपरि प्रामाण्य को अस्वीकार करने के कारण "नास्तिक दर्शन" नाम से अभिहित हुए।

सांख्य, न्याय, वेदान्त आदि को वेदों का उपाङ्ग कहा गया है। यही षट्शास्त्र भारतीय वैदिक दर्शन के प्राचीन सम्प्रदाय हैं। इन दर्शन-शास्त्रों का प्रणयन मूलतः सूत्र-शैली में हुआ जो अल्पाक्षरी होते हुए भी सार-गर्भित होती है। कालान्तर में इन सूत्रों की व्याख्या में भाष्य, वार्तिक, विवरण, तात्पर्य, टीका नामवाले अनेक ग्रन्थ लिखे गये जिनमें भारत के तत्त्वचिन्तकों की गहन-गम्भीर मनस्विता, चिन्तनशीलता तथा विश्व-प्रपंच के समाधान के प्रति उनकी उत्सुकता जानी जाती है। इन दर्शनों में सामान्यतया प्रमाण-मीमांसा, तत्त्व-मीमांसा तथा आचार-मीमांसा के अन्तर्गत ज्ञानप्राप्ति के हेतुओं, ईश्वर, जीव, प्रकृति जैसे अनादि पदार्थों के स्वरूप एवं कार्य तथा मानवजीवन के चरम प्राप्य मोक्ष या अपवर्ग के स्वरूप तथा उसकी प्राप्ति जैसे विषय वर्णित हुए हैं। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि दर्शन-सूत्रों में विवेचित एवं प्रतिपादित प्रायः सभी विषय किसी-न-किसी रूप में वेदों, ब्राह्मणग्रन्थों, उपनिषदों तथा वैदिक वाङ्मय के इतर ग्रन्थों में उल्लिखित हुए हैं। प्रत्येक दर्शनकार ने स्व-शास्त्र के अनुकूल तत्-तत् विषय को सुव्यव-स्थित तथा तर्कसम्मत रूप देकर सूत्रबद्ध कर दिया है। इस प्रकार पुरुष एवं प्रकृति के विवेकपूर्वक सृष्टि की विकासप्रक्रिया सांख्य-दर्शन का प्रतिपाद्य बनी, तो इसी तत्त्वज्ञान को स्वीकार कर महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन के रूप में समाधि-सिद्धि के लिए अष्टांग-योग तथा क्रिया-योग के विविध विधानों का विवेचन किया। न्यायदर्शन के अन्तर्गत प्रमाण, प्रमेय आदि सोलह पदार्थों के विवेचन के साथ-साथ भारतीय तर्कविद्या का विस्तारपूर्वक ऊहापोह किया गया। वैशेषिक ने सप्त पदार्थों के विवेचन के द्वारा सृष्टि के मूल उपादान 'परमाणु' तथा उससे विश्व-रचना की प्रक्रिया को वैज्ञानिक प्रणाली से समझाया है।

पूर्व-मीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा (वेदान्त) मुख्यतः वेदों में विवेचित कर्मकाण्ड तथा ज्ञानकाण्ड की तार्किक मीमांसा प्रस्तुत करते हैं। आचार्य जैमिनि ने अपने सूत्रों में ब्राह्मणग्रन्थों में उल्लिखित विभिन्न यज्ञ-यागों की विधियों तथा तद्-विषयक प्रतीयमान

असामञ्जस्यपूर्ण वचनों की परस्पर संगति लगाई है। इसी प्रकार ब्रह्मसूत्रों ने उपनिषद्-ग्रन्थों में वर्णित ब्रह्मरूपी परमतत्त्व के नाना उल्लेखों में आपाततः प्रतीत होनेवाले वदतोव्याघात का परिहार कर सिद्ध किया है कि प्राचीन उपनिषद्-वाङ्मय में जहाँ जिस-जिस प्रकरण में ब्रह्मविद्या निरूपित हुई है, वह सर्वथा सुसंगत, परस्पर-अविरुद्ध तथा समन्वित ही है।

सूत्र-शैली जहाँ किसी बात को संक्षेप में कहने का एक सशक्त माध्यम बनती है, वहाँ उसकी सीमायें भी स्पष्ट हैं। समास-शैली में कही गई बात पुनः स्फुट करने के लिए व्याख्या और भाष्य की आवश्यकता रहती है। दर्शन-सूत्रों की टीकाओं और भाष्यों का एक ऐसा भी युग आया जिसमें टीकाकार और भाष्यलेखक मात्र व्याख्याकार न रहकर मौलिक तथा नवीन दार्शनिक सिद्धान्तों के प्रतिपादक आचार्य बन गये। यों कहने के लिए तो उन्होंने किसी आर्ष दर्शन पर टीका या भाष्य ही लिखा है, परन्तु ऐसा करते समय कभी-कभी वे सूत्रकार के मूल आशय से सर्वथा विपरीत भी लिख गये हैं। निश्चय ही इन भाष्यों और टीकाओं से सूत्रकार ऋषियों के मौलिक आशय को समझने में बाधा ही पड़ी है। ब्रह्मसूत्रों के शंकर, रामानुज आदि मध्यकालीन भाष्यकारों के उदाहरण से इस तथ्य को भली-भाँति हृदयंगम किया जा सकता है। निश्चय ही शारीरिक सूत्रों के प्रणेता आचार्य बादरायण को वह मत अभीष्ट नहीं था जिसकी स्थापना अत्यन्त मनोनिवेश-पूर्वक आचार्य शंकर ने अपने महान् पाण्डित्य, अद्भुत तर्ककौशल तथा अपूर्व युक्तिपाटव से की है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र परमात्मा की दिव्य, अचिन्त्य और अद्वितीय शक्ति को संसार की सृष्टि, स्थिति तथा विलय का कारण तो मानते हैं परन्तु उनके किसी वाक्य से यह आभासित नहीं होता कि वे संसार को मिथ्या, माया का परिणाम तथा स्वप्नवत् भी स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार सच्चिदानन्दादि लक्षणयुक्त ब्रह्म की विवेचना करनेवाले विभिन्न उपनिषद्-वाक्यों की संगति लगाते हुए सूत्रकार कहीं ऐसा संकेत नहीं देते कि वे ब्रह्म से भिन्न 'जीव' जैसी किसी अन्य चेतन सत्ता को अस्वीकार करते हैं। परन्तु आचार्य शंकर ने अपने परमगुरु गौड़पाद से एक विशिष्ट मतवाद को ग्रहण किया और उसी अद्वैत-वादी वेदान्त की विचारधारा को आधार बनाकर उन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य लिखा। शंकर ने न केवल अद्वैतवाद की पुष्टि के लिए ही सूत्रों के मूल आशय के साथ खिलवाड़ किया, अपितु कहीं-कहीं तो उन्हें सूत्रों में ऐसी बातें भी दिखलाई पड़ीं, जिनका लेशमात्र संकेत भी सूत्रों में उपलब्ध नहीं होता। उदाहरणार्थ, सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक दर्शनों के प्रतिपाद्य अनेक विषयों का खण्डन करना जब उन्हें अपने मनोनुकूल लगा तो सूत्रों के मूल अभिप्राय को विस्मृत कर वे कापिल अथवा पातंजल मत का खण्डन करने बैठ गये।

यही दशा रामानुज, बल्लभ आदि उन वैष्णव-मतप्रवर्त्तक आचार्यों की भी है जिन्होंने विशिष्टाद्वैत तथा शुद्धाद्वैत की स्व-अभिप्रेत दृष्टि से बादरायण के सूत्रों पर भाष्य-रचना की है। ये भाष्यकार अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यताओं के प्रति आग्रहदृष्टि बनाकर ही वेदान्तदर्शन पर भाष्यलेखन में प्रवृत्त हुए हैं। फिर इन भाष्यकारों के पीछे एक बहुत बड़ी सेना उन व्याख्याकारों, टीकाकारों अथवा तात्पर्यलेखकों की भी खड़ी है जिन्होंने अपने मान्य आचार्य द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की पुष्टि में पृथुलकाय टीका, व्याख्या तथा विवरण आदि लिखकर इस सम्प्रदायनिष्ठ दर्शन-वाङ्मय को समृद्ध किया है।

(४) महाकाव्य और इतिहास-पुराण

भारत के जन-जीवन को धर्म की व्यापक भावना ने सदा से ही प्रभावित किया है। यही कारण है कि यहाँ के लोगों के विचार और उनका चिन्तन, उनकी कलाकृतियाँ और साहित्य, उनकी तत्त्वमीमांसा और दर्शन-प्रणालियाँ—सभी-कुछ धर्म के व्यापक एवं भव्य प्रभाव से किसी-न-किसी रूप में प्रभावित रही हैं। यों कहने को वाल्मीकि-रचित रामायण तथा कृष्ण द्वैपायन-रचित महाभारत इतिहास-ग्रन्थ हैं, किन्तु इन इतिहास नामधारी ग्रन्थों में भी सर्वत्र धर्म के उदात्त एवं महनीय आदर्शों की ही अभिव्यक्ति तथा प्रस्फुटन हुआ है। राम आर्य-मर्यादाओं के रक्षक, फलतः धर्म के पालक हैं तो महाभारत का युद्ध भी धर्म की विजय और अधर्म की पराजय के रूप में चित्रित किया गया है। साहित्य-शास्त्र के स्वीकृत मानदण्डों के अनुसार रामायण और महाभारत की 'महाकाव्य' संज्ञा भी है। काव्य का प्रयोजन पाठकों में रस-सृष्टि करना, उन्हें रस की दिव्य अनुभूति कराना तथा उनकी भावनाओं का परिष्कार कर स्वल्प काल के लिए ही सही, उन्हें एक उच्चतर भावभूमि पर प्रतिष्ठित करना बताया गया है।

रामायण और महाभारत जैसे ऐतिहासिक काव्य इन सभी प्रयोजनों की पूर्ति करते हैं। इनके द्वारा उपदेश-ग्रहण, ज्ञान-वर्धन, चरित्र-निर्माण आदि भी होता है। इन ग्रन्थों में धर्म, दर्शन, अध्यात्म आदि की विवेचना के साथ-साथ इतिहास, राजनीति, समाजनीति, संस्कृति-चित्रण भी विद्यमान है। व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्र के कर्त्तव्यों का विधान करते हुए इन महाकाव्यकारों ने आर्य जाति के समग्र जीवनदर्शन को मुखर कर दिया है। इस प्रकार साहित्यशास्त्र की परिसीमाओं में तो ये महाकाव्य ही कहलायेंगे, किन्तु वस्तुतः इन्हें आर्य सभ्यता, संस्कृति, धर्म, तथा दर्शन का विश्वकोश कहना ही उपयुक्त होगा। स्वयं महाभारतकार ने ही अपने इस ग्रन्थ को भावी कवियों के काव्य का उपजीव्य बताने के साथ यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यह महाभारत इतिहास-ज्ञान का भण्डार है, इसमें सूक्ष्म-से-सूक्ष्म पदार्थों के अनुभव कराने की युक्तियाँ भरी हुई हैं, इसका एक-एक पद और पर्व आश्चर्यजनक है तथा यह वेदों के धर्ममय अर्थ से अलंकृत है।

रामायण को तो संस्कृत-साहित्य में आदिकाव्य का स्थान प्राप्त है। परवर्ती आलंकारिकों ने इसी ग्रन्थ को आधार बनाकर महाकाव्यों के लक्षणों का निरूपण किया था। रामायण की ही पात्रगत, भाषागत, भावगत तथा शैलीगत विशेषताओं को देखकर महाकवियों के लिए यह आवश्यक बताया गया कि किसी महाकाव्य का प्रणयन करते समय वे ऐसे नायक को ही चुनें जो धीरोदात्त गुणों से युक्त हो, परम धीर, वीर, कृपालु, दयालु तथा महासहिमामण्डित चरित्रवाला हो। ऐसा महाकाव्य आदिकाव्य की ही भाँति विभिन्न सर्गों में विभाजित होना चाहिए, उसमें यत्र-तत्र प्रकृति के सुरम्य दृश्यों की झाँकी प्रदर्शित की जानी चाहिए, प्रत्येक सर्ग में एक ही प्रकार का छन्द प्रयुक्त हो, किन्तु सर्गान्त का छन्द भिन्न प्रकार का होना वांछित है। परन्तु इन बाह्य लक्षणों की पूर्ति ही किसी काव्य को महाकाव्य की संज्ञा प्राप्त नहीं कराती। महाकाव्य में जाति या राष्ट्र के उच्चादर्शों की प्रभावपूर्ण अभिव्यक्ति होनी चाहिए। महाकाव्य की कथा के द्वारा पाठकों को एक उत्कृष्ट तथा महनीय संदेश की प्राप्ति होनी चाहिए। कहना नहीं होगा कि

रामायण एवं महाभारत ग्रन्थ महाकाव्य की शास्त्रवर्णित कसौटी पर खरे उतरते हैं। इन ग्रन्थों के प्रभाव का अनुमान तो इसी बात से लगाया जा सकता है कि कालान्तर में शतशः काव्य, नाटक, आख्यायिका, चम्पू आदि ललित रचनाएँ इन्हीं आर्ष महाकाव्यों से प्रेरणा लेकर लिखी गईं।

पुराण-साहित्य—इसी प्रसंग में महर्षि व्यास-रचित माने जानेवाले अष्टादश पुराणों का उल्लेख करना भी आवश्यक है। धार्मिक आस्थाओं एवं दार्शनिक चिन्तन की दृष्टि से महाभारत युद्ध के बाद का युग प्राचीन वैदिक तथा उपनिषद्कालीन युग से नितांत भिन्न था। इस काल तक आते-आते वैदिक एकेश्वरवाद तथा उपनिषद्-प्रतिपादित ब्रह्मवाद के विचार प्रायः लुप्त हो गये थे। श्रौत एवं गृह्यसूत्रों के काल की यज्ञयाग आदि की क्रियाएँ भी सर्वथा अतीतकाल की वस्तु बन गई थीं। यज्ञों में पशु-हिंसा, जातपात की कठोरता, वर्ण-वैषम्य तथा अन्यान्य सामाजिक विकृतियों ने जैन एवं बौद्ध जैसे अवैदिक मतों को जन्म दिया, जिन्होंने वेदप्रामाण्य, ब्राह्मणवर्ण की श्रेष्ठता, वेदप्रतिपादित कर्मकाण्ड आदि को सर्वथा अस्वीकार करते हुए वैयक्तिक पवित्रता तथा आचारप्रधान जीवनयापन पर बल दिया। धीरे-धीरे जैन एवं बौद्ध धर्मों में भी विभिन्न प्रकार की पूजा-अर्चना, कर्मकाण्ड, मठों, विहारों आदि की स्थापना, तीर्थंकरों एवं बोधिसत्वों की मूर्तियों का निर्माण कर उनको पूजने जैसी प्रवृत्तियाँ पनपने लगीं। इनका प्रभाव तत्कालीन वैदिक धर्म पर भी पड़ा। जैनों और बौद्धों के प्रतिमा-पूजन की ही भाँति वैदिक मतावलम्बियों ने भी भिन्न-भिन्न देवी-देवताओं के मंदिर स्थापित कर उनमें प्रतिमाओं की आराधना आरम्भ की। जैन तीर्थंकरों के ही तुल्य विष्णु के चौबीस अवतार कल्पित किये गये और उनके विभिन्न प्रकार के क्रियाकलाप, माहात्म्य आदि पुराणों के माध्यम से वर्णित हुए।

वैदिक कर्मकाण्डों का स्थान अब विभिन्न प्रकार की पूजा-उपासनाओं तथा व्रत-उपवास आदि ने ले लिया। भिन्न-भिन्न जलाशयों, नदियों, पर्वत-शृंगों, सरोवर आदि को तीर्थ घोषित किया गया तथा तिथिविशेष पर उन स्थानों पर पहुँचकर स्नानादि करने में धर्म की कल्पना की गई। महर्षि पतंजलि-प्रतिपादित अष्टांग-योग के स्थान पर एकादशी, पूर्णिमा आदि तिथियों में व्रत रखने, शालिग्राम तथा नर्मदेश्वर आदि की प्रतिमाओं को पूजने तथा विष्णु के अवतार राम तथा कृष्ण आदि का नामोच्चारण करने मात्र से ही मोक्ष जैसे परम पुरुषार्थ की सिद्धि होना मान लिया गया। निश्चय ही पुराणों का यह युग वैदिक मान्यताओं के अवमूल्यन का युग था। वेद में अग्नि, इन्द्र तथा वरुण आदि देवताओं को सर्वोच्च ईश्वरीय सत्ता का प्रतीक वा पर्याय मानकर नानाविध मंत्रों में उनका जिस प्रकार स्तवन किया गया था, वह तो अतीत की वस्तु हो गई। पुराणों तक आते-आते अग्नि, इन्द्र, तथा वरुण का दर्जा बहुत साधारण रह गया। अब तो वे अग्नि, मेघ तथा जल जैसे प्राकृतिक तत्त्वों के अधिष्ठाता (अभिमानी) देवता मात्र रह गये। इनके स्थान पर विष्णु तथा उनके राम, कृष्ण आदि अवतारों का महत्त्व बढ़ा। वैदिक मान्यताओं को अस्वीकार करनेवाले किन्तु अहिंसा, सत्य आदि चारित्रिक गुणों को महत्त्व प्रदान करनेवाले गौतम बुद्ध को भी विष्णु के अवतारों में परिगणित कर लिया गया। पुराणों में जिन देवताओं को सर्वाधिक महत्त्व मिला, वे थे विष्णु और शिव। किन्तु पंच-देवोपासना के प्रचलित होने पर देवी, सूर्य तथा गणपति को भी महत्त्व प्राप्त हुआ।

पुराणों की रचना मुख्यतः इन्हीं देवताओं के माहात्म्य-कथन, चरित्र-वर्णन तथा उनकी प्रतिष्ठा एवं गौरव को बढ़ाने की दृष्टि से की गई। न तो ये सब एक ही काल में लिखे गये थे और न इनको लिखनेवाला कोई एक ही व्यक्ति था। भिन्न-भिन्न कालों में, भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा, विभिन्न देवताओं तथा उनके सम्प्रदायों के श्रेयवर्धन की दृष्टि से पुराणों की रचना हुई है। इनके वास्तविक रचयिताओं का पता लगाना कठिन है, परन्तु प्रचलित धारणा के अनुसार इन्हें व्यासरचित तथा पौराणिक सूत द्वारा कथित मान लिया गया है। पुराणों को शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदायभेद से भी वर्गीकृत किया गया है, तो यदा-कदा उन्हें सात्त्विक, राजस एवं तामस वर्ग में भी रखने का प्रयास हुआ है। पुराणों का वर्ण्य विषय सर्ग, प्रतिसर्ग (सृष्टि और प्रलय), वंश, मन्वन्तर, तथा पुराकालीन राजाओं के वंशानुचरित को माना गया है। इस दृष्टि से इनमें यत्र-तत्र उपर्युक्त विषयों की विवेचना उपलब्ध भी होती है, किन्तु पुराणग्रन्थों के कलेवर का बहुलांश तो साम्प्रदायिक देवी-देवता, उनके माहात्म्य-कथन, उनसे संबद्ध पूजा, उपासना, व्रत, तीर्थ आदि के वर्णनों से ही भरा पड़ा है।

तथापि यह स्वीकार करना होगा कि भारत की मध्यकालीन धर्म-चिन्ता अधिकांश में पौराणिक विचारधारा से ही प्रभावित हुई है। पुराणोक्त धारणाएँ और विचारणाएँ ही उन सैकड़ों सम्प्रदायों के मूल उत्स के रूप में देखी जा सकती हैं जिनका प्रादुर्भाव एवं विकास महाभारत के उत्तरवर्ती काल में हुआ। वेदों और उपनिषदों के काल तक परमपुरुषार्थ की प्राप्ति के साधनरूप में ज्ञान, कर्म एवं उपासना की त्रिपुटी पर समान रूप से जोर दिया जाता रहा, किन्तु पौराणिक काल तक आते-आते एक नवीन 'भक्ति तत्त्व' ने उपर्युक्त ज्ञान, कर्म एवं उपासना का स्थान ले लिया। दक्षिण भारत के वैष्णवाचार्यों द्वारा प्रवर्त्तित और उपस्थापित वैष्णव भक्ति ने शीघ्र ही समस्त उत्तरापथ को भी अपनी रसधारा से आप्लावित कर दिया। भक्तिसिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्यों ने संस्कृत के साथ-साथ लोक-भाषाओं का भी अपनी विचाराभिव्यक्ति के लिए प्रयोग किया। मुख्यतः इन भक्तिवादी सम्प्रदायाचार्यों के विस्तृत शिष्यमण्डल ने सम्पूर्ण उत्तरापथ ही नहीं, किन्तु गुजरात एवं महाराष्ट्र तथा सुदूरवर्ती पूर्वांचल के असम, मणिपुर एवं दक्षिण-पूर्व के उत्कल आदि प्रान्तों में वैष्णव भक्ति की लहर को लोकभाषाओं में रचित काव्य के माध्यम से जनमानस तक पहुँचाया। सुदूर दक्षिण के प्रान्त तमिलनाडु में वैष्णव आल्वार भक्तों ने जो भक्ति-रचनायें लिखीं, वे भी तमिल भाषा में ही हैं।

जब लोक-भाषाओं में धार्मिक विचारों को अभिव्यक्ति मिलने लगी तो संस्कृत में शास्त्रीय-वाङ्मय की रचना भी बन्द हो गई। इस काल में जो अधिकांश धार्मिक या शास्त्रीय साहित्य लिखा गया उसे निम्न शीर्षकों के अन्तर्गत समाविष्ट किया जा सकता है—

(१) वेदों पर भाष्य तथा व्याख्या-लेखन—उव्वट, सायण और महीधर आदि ने वेदसंहिताओं पर उत्तरवैदिककालीन याज्ञिक शैली को प्रधानता देते हुए भाष्य लिखे।

(२) कर्मकाण्ड-विषयक स्मार्त-साहित्य के अन्तर्गत मुख्यतः छोटे-बड़े निबन्ध-ग्रन्थ लिखे गये जिनमें वैदिक कर्मकाण्ड को दृष्टिपथ से ओझल रखते हुए अधिकांशतः पुराणप्रतिपादित कर्मकाण्डों का ही विवेचन-विश्लेषण किया गया।

(३) दर्शन के क्षेत्र में सांख्य, योग, मीमांसाद्वय तथा न्याय-वैशेषिक के आर्ष-

सूत्रों को आधार बनाकर स्वतंत्र व्याख्या एवं विवेचनाप्रधान ग्रन्थ लिखे गये, परन्तु इनमें व्यक्त विचार तथा प्रतिपादित सिद्धान्त, दर्शनशास्त्र के उन सूत्र-ग्रन्थों में निहित विचारधारा से अनेक अंशों में भिन्न हो गये हैं जिनका प्रणयन सूत्रकार ऋषियों ने किया था। फलतः सांख्य का निरीश्वरवादी स्वरूप ही सामने आ सका। मीमांसा को भी अनीश्वरवादी दर्शन घोषित कर दिया गया। नव्य-न्याय के ग्रन्थों में प्रमेय पदार्थों की पूर्णतया उपेक्षा कर प्रमाणमीमांसा पर ही अधिकतम बल दिया गया। वेदान्त तो सर्वथा शंकर-प्रतिपादित अद्वैतदर्शन का ही पर्याय बन गया।

(४) इस युग में विभिन्न देवी-देवताओं, पवित्र समझे जाने वाले तीर्थ-स्थानों, साम्प्रदायिक आधार लिये हुए अवतारों तथा अन्य स्थान-देवताओं, लोक-देवताओं तथा ग्राम-देवताओं की प्रशस्ति-प्रशंसा में विभिन्न प्रकार के स्तोत्र तथा अन्य अभिशंसापरक लघु ग्रन्थ लिखे गये।

(५) महाभारत के परवर्ती युग में वैदिक चिन्तनधारा के ही समानान्तर तान्त्रिक अथवा आगम-धारा का प्रवर्त्तन हुआ। इस विचारधारा ने वैदिक ग्रन्थों में प्रतिपादित आचार, मर्यादा, नियम तथा अनुशासन के स्पष्ट विरोध में स्वच्छन्दतावाद को प्रोत्साहित किया। तन्त्रग्रन्थों में शिव तथा शक्ति की वामाचार-पद्धति से पूजा को महत्त्व दिया गया है। तान्त्रिक उपासना वैदिक उपासना से मूलतः भिन्न है। इसमें इन्द्रियसंयम-पूर्वक आचार-प्रधान जीवनयापन करने तथा सन्तुलित एवं नियमित दिनचर्या व्यतीत करने की अपेक्षा विषयोपभोग की निर्बाध स्वीकृति प्रदान की गई है। यों, तन्त्रशास्त्र के व्याख्याकारों ने तन्त्रग्रन्थों में वर्णित आचार एवं मर्यादा का प्रत्यक्ष विरोध करने-वाली आज्ञाओं तथा विधियों की भिन्न प्रकार से व्याख्या कर तन्त्र-वाङ्मय को सर्वथा निर्दोष, निर्मल तथा निष्कलंक सिद्ध करने का प्रयास किया है, किन्तु तन्त्रग्रन्थों की घृणित एवं चरित्र-विनाशक शिक्षाओं का जो स्पष्ट परिणाम जनसमाज के समक्ष आया है, उसे देखते हुए इन ग्रन्थों के प्रति शिष्टजनों की श्रद्धा कम ही हुई है।

स्वामी दयानन्द तन्त्रग्रन्थों के प्रबल विरोधी थे। वे इन्हें सामाजिक मर्यादाओं तथा वैयक्तिक आचार-विषयक धारणाओं का उच्छेदक मानते थे। मध्यकालीन युग में तन्त्रसाहित्य भी प्रचुरता से लिखा गया। यह दूसरी बात है कि वैदिक आचार-विचार तथा मर्यादा के प्रति अत्यन्त अनुराग एवं आस्था रखनेवाले प्रबुद्ध समुदाय का उसको कोई समर्थन नहीं मिला।

विदेशी शक्तियों के भारत-आगमन के साथ-साथ संस्कृत भाषा एवं उसके साहित्य में एक नवीन परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। विदेशी शासकों ने इस देश पर अपने शासन को सुदृढ़ करने हेतु अनेक उपायों का आश्रय लिया था। व्यापारी बनकर भारत में आनेवाले गौरांग अंग्रेज बहुत चतुर थे। वे यह जानते थे कि यदि हमारी प्रशासनिक सेवाओं के अधिकारी इस देश की प्रजा का दिल जीतना चाहते हैं तो उन्हें अत्यधिक नीतिकुशल, व्यवहारनिपुण तथा लोकप्रिय होना होगा। यह भी आवश्यक समझा गया कि प्रशासकों को इस देश के धर्म, संस्कृति, भाषा तथा साहित्य से सुपरिचित होना चाहिए, तभी वे अपने समक्ष निर्णय के लिए उपस्थित होनेवाले व्यवहारों और अभियोगों का ठीक-ठीक निपटारा कर सकेंगे। फलतः कलकत्ता में 'रॉयल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल' की स्थापना हुई और उसके माध्यम से संस्कृत के अनेक ग्रन्थ

सम्पादित होकर प्रकाशित किये गये। अधिकारियों के प्रशिक्षण के लिए 'फोर्ट विलियम कॉलेज' की स्थापना हुई तथा इस शिक्षण-संस्थान में संस्कृत, हिन्दी, फारसी, उर्दू तथा अन्य भारतीय भाषाओं को भी पाठ्यक्रम में समुचित स्थान मिला।

उधर यूरोप के विद्वन्मण्डल को जब संस्कृत-भाषा तथा उसके गौरवपूर्ण साहित्य का परिचय मिला तो वहाँ के लोग अनायास ही इस महिमामण्डित सारस्वत-सर की ओर आकृष्ट हुए। तत्कालीन सुप्रीम कोर्ट के न्यायाधीश विलियम जोन्स ने तो भगवद्गीता, अभिज्ञान शाकुन्तल तथा मनुस्मृति जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अंग्रेजी में अनुवाद भी कर डाला। इसी प्रकार पश्चिम के अनेक विद्वान् वैदिक साहित्य, भारतीय दर्शन, संस्कृत-भाषा तथा उसमें उपलब्ध विभिन्न विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थ-सामग्री का अध्ययन करने में तत्पर हुए। जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने वैदिक अध्ययन को नवीन दिशा प्रदान की। ऋग्वेद की संहिताओं का सम्पादन, Sacred Books of the East Series के अन्तर्गत विभिन्न शास्त्र-ग्रन्थों का सम्पादन तथा प्रकाशन, तुलनात्मक धर्म तथा तुलनात्मक भाषाविज्ञान-विषयक उसके निबन्ध तथा भारतविद्या (Indology) से सम्बन्धित उसके अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों ने विश्व के पठित समुदाय को सहज ही आकृष्ट किया। वेबर, विलसन, ब्लूमफील्ड, ग्रिफिथ, मैकडॉनल, कीथ आदि अन्य अनेक मनीषियों ने इस क्षेत्र में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

यूरोप के विद्वानों द्वारा किया गया यह अध्ययन यद्यपि अनेक प्रकार के पूर्वाग्रहों से युक्त है, उसकी अनेक सीमायें भी हैं, किन्तु यह भी निस्संकोच कहा जा सकता है कि उनकी इस महती साहित्यसाधना ने संस्कृत के शास्त्रीय साहित्य को देश-विदेश तक प्रचारित-प्रसारित किया। इस मूल्यवान् तथा अनुपमेय शास्त्र-सम्पत्ति से विदेशी पाठकों का भी परिचय हुआ। इधर नवीन मुद्रणयन्त्रों के प्रचलन से पुस्तकों के प्रकाशन, वितरण आदि में अधिकाधिक सुविधा हो गई। कलकत्ता, बम्बई, लखनऊ, काशी जैसे अनेक विद्याकेन्द्रों में संस्कृत के प्रकाशन-संस्थान स्थापित हुए। प्राचीन शास्त्रग्रन्थों का नवीन ढंग से सम्पादन एवं प्रकाशन आरम्भ हुआ तथा अब तक दुर्लभ समझी जानेवाली पुस्तकें भी सर्वसाधारण के लिए सुलभ होने लगीं।

(५) नवजागरण के आन्दोलन और उनका साहित्यिक कृतित्व

ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी का भारतीय इतिहास नवजागरण-आन्दोलनों के प्रादुर्भाव की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण समझा जाता है।

भारत में धार्मिक एवं सामाजिक पुनर्जागरण का आरम्भ सर्वप्रथम बंगाल में हुआ। राजा राममोहन राय द्वारा ब्रह्मसमाज की स्थापना ने भारत के नवोदय को एक निश्चित दिशा प्रदान की। राममोहन राय धार्मिक एवं सामाजिक क्षेत्र में सुधार एवं संस्कार के प्रबल हामी थे। वे प्रचलित बहुदेववादी हिन्दू धर्म को पुरातन वैदिक एवं उपनिषद्कालीन एकेश्वरवादी तथा ब्रह्मवादी रूप में देखने के इच्छुक थे। संस्कृत के अच्छे जानकार होने तथा उपनिषद्, वेदान्त तथा भारतीय धर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित साहित्य से सुपरिचित होने के कारण उन्होंने अपने धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों की नींव वैदिक एवं औपनिषदिक विचारधारा पर ही रखी। उन्होंने स्वयं उपनिषदों का बंगला में अनुवाद किया। अंग्रेजीपठित जनता को यह बताने के लिए कि उपनिषदों में

ब्रह्मविद्या किस उत्कृष्ट रीति से वर्णित हुई है, राममोहन राय ने इनका अंग्रेजी में भी अनुवाद किया।

१८१५ में उन्होंने वेदान्त-दर्शन की बंगला भाषा में टीका लिखी, तथा १८१६ में "वेदान्तसार" शीर्षक से हिन्दी तथा बंगला में वेदान्त पर एक परिचयात्मक ग्रन्थ लिखा। राममोहन ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने वेदान्त-दर्शन का सर्वप्रथम अंग्रेजी-भाषानुवाद भी किया। इस प्रकार भारतीय दर्शन के गौरवग्रन्थों को भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी भाषा में प्रस्तुत कर राममोहन राय ने उन ईसाई प्रचारकों को करारा जवाब दिया जो यह कहते नहीं थकते थे कि हिन्दुओं का धर्म मात्र जड़ पदार्थों की पूजा ही सिखाता है और उसका कोई उच्च दार्शनिक आधार नहीं है। सती-प्रथा को बन्द कराने में राजा राममोहन राय ने पर्याप्त श्रम किया था। उन्होंने विभिन्न स्मृति-ग्रन्थों तथा धर्मशास्त्र के निबन्ध-ग्रन्थों का आलोड़न-विलोड़न कर यह सिद्ध कर दिया कि मृत पति के साथ विधवा का जलकर सती होना शास्त्र के कथमपि अनुकूल नहीं है।

जिस समय बंगाल में राजा राममोहन राय के परवर्ती ब्रह्मसमाजी नेता पुरातन उपनिषद्कालीन विचारधारा को प्रमुखता देते हुए हिन्दू धर्म का एक उदार, गौरवशील तथा विशुद्ध संस्करण प्रस्तुत करने में सचेष्ट थे, लगभग उसी समय महाराष्ट्र में भी नवीन धार्मिक एवं सामाजिक चेतना के लक्षण दृष्टिगोचर होने लगे। यहाँ ज्योतिबा फुले द्वारा सुधार-आन्दोलन का बीजारोपण किया गया। कालान्तर में महादेव गोविन्द रानाडे, रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर, विष्णु शास्त्री चिपलूणकर तथा गोपालराव हरि देशमुख आदि विभिन्न सुधारक इस क्षेत्र में आये। १८६४ में प्रार्थनासमाज की स्थापना हुई और ग्यारह वर्ष पश्चात् सुप्रसिद्ध धर्मोपदेशक तथा समाजसुधारक दयानन्द सरस्वती ने आर्यसमाज की स्थापना के लिए भी महाराष्ट्र प्रान्त को ही चुना।

ब्रह्मसमाज, प्रार्थनासमाज तथा आर्यसमाज आदि वर्तमान युग के सुधारक-आन्दोलनों का उल्लेख हम जिस संदर्भ में कर रहे हैं, उसे किञ्चित् स्पष्ट करना आवश्यक है। यह हम देख चुके हैं कि संस्कृत के शास्त्रीय साहित्य की सरिता सहस्राब्दियों तक अप्रतिहत वेग एवं गति से अविराम बहती रही। उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यूरोपीय संसर्ग से इस साहित्य के अध्ययन, अध्यापन, मुद्रण, प्रकाशन तथा प्रचार-प्रसार में नवीन प्रवृत्तियों का संचार हुआ। अब तक यह साहित्य भारत देश की सीमाओं तक ही आबद्ध था, किन्तु पाश्चात्य सम्पर्क ने उसे विश्वव्यापी बनाया। लन्दन, बर्लिन और पैरिस जैसे यूरोपीय सभ्यता के केन्द्रस्थलों में संस्कृत-शास्त्रों के पठन-पाठन तथा आलोचन-विश्लेषण के लिए अनेक साधन उपलब्ध कराये गये और पश्चिमी देशों के भारततत्त्वविद् विद्वानों के सहकार और सहयोग से इन ग्रन्थों के प्रति इतर देशवासियों के मन में रुचि उत्पन्न हुई।

इधर यूरोप की शासक जातियों के साथ जो ईसाई प्रचारक भारत में आये, उनके लिए भी संस्कृत के शास्त्रग्रन्थों से परिचित होना आवश्यक हो गया। हिन्दू धर्म एवं दर्शन के आकर ग्रन्थों का गम्भीर अनुशीलन किये बिना इन मिशनरी प्रचारकों के लिए यह सम्भव ही नहीं था कि वे एतद्देशीय धर्म का खण्डन कर स्वकीय ख्रीस्ती धर्म की महिमा को स्थापित करें। फलतः ईसाई पादरियों ने भी वेद, उपनिषद्, स्मृति, दर्शन आदि का खण्डनात्मक दृष्टि से अनुशीलन किया तथा अनेक ऐसे ग्रन्थ भी लिखे जिनमें

प्रमाणपुरस्सर वैदिक, औपनिषदिक तथा षड्दर्शनों में प्रतिपादित धार्मिक एवं दार्शनिक मान्यताओं का निरसन किया गया था।

इस परिप्रेक्ष्य में सुधारवादी आन्दोलनों के लिए भी यह आवश्यक हो गया कि वे पाश्चात्य विपश्चितों द्वारा किये गये भारतीय शास्त्रानुशीलन को जहाँ सश्रद्ध दृष्टि से देखें वहाँ उनके इस अध्यवसाय में आनेवाली त्रुटियों से भी जन-सामान्य को अवगत कराते रहें। इधर पादरियों द्वारा शास्त्रीय मान्यताओं पर किये जानेवाले आक्रमणों का उत्तर देना भी आवश्यक था। ऐसा तभी सम्भव था, जब सामान्य पाठक को यह महसूस कराया जाता कि भारत के शास्त्रग्रन्थों की जैसी व्याख्या और विवेचना पादरी-समुदाय अथवा प्रतीच्य देशवासी विद्वत्समुदाय कर रहा है, वही पूर्णरूप में सत्य नहीं है। दोनों के अपने-अपने पूर्वाग्रह हैं, दोनों की अपनी-अपनी सीमायें हैं। शास्त्रों के वास्तविक अभिप्राय को हृदयंगम करने के लिए इन ग्रन्थों के प्रति वैसी ही श्रद्धा, निष्ठा तथा श्लाघा का भाव होना चाहिए जैसा कि प्राचीन काल के शास्त्र-व्याख्याकारों में था। इन्हीं भावनाओं से प्रेरणा पाकर दयानन्द सरस्वती ने भी अपने धार्मिक एवं सामाजिक आन्दोलन के महत्कार्य को शास्त्रों के सत्यपरक विवेचनरूपी सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित किया।

दूसरा अध्याय

दयानन्द सरस्वती प्रणीत साहित्य के विविध संस्करण तथा अनुवाद

(१) साहित्य-निर्माण की पृष्ठभूमि

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा विरचित ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय इस 'इतिहास' के प्रथम भाग में दिया जा चुका है। पर इनके रचना-काल, विविध भाषाओं में इनके अनुवाद तथा इनके सम्बन्ध में विकसित विशाल साहित्य पर विशद रूप से प्रकाश डालना आवश्यक है।

जिस व्यक्ति का अध्ययन जितना व्यापक, विस्तृत तथा गम्भीर होता है, वह उसी अनुपात में स्वयं भी उच्च कोटि के साहित्य का सर्जन कर सकता है। किन्तु लेखन के लिए मात्र अध्ययन ही पर्याप्त नहीं है। चिन्तन, मनन, विवेचन तथा विश्लेषण की उच्चस्तरीय क्षमता के अभाव में कोई भी व्यक्ति स्वविचारों को सशक्त ढंग से प्रस्तुत नहीं कर सकता। इसके पूर्व कि हम स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित ग्रन्थों का आलोचनात्मक अध्ययन करें, हमारे लिए यह आवश्यक है कि हम उनके द्वारा किये गये शास्त्रों के अभ्यास तथा अध्ययन की जानकारी भी प्राप्त करें। अध्ययन और मनन की यही सुदृढ़ नींव थी जिसे आधार बनाकर उन्होंने अपने साहित्यरूपी प्रासाद को खड़ा किया था।

स्वामी दयानन्द का अध्ययन उनके बाल्यकाल से ही प्रारम्भ होता है। उनके पिता सामवेदी ब्राह्मण थे, परन्तु शैव मतानुयायी होने के कारण यजुर्वेद के पठन-पाठन की प्रणाली उनके कुल में प्रचलित थी। यजुर्वेद का १६वां अध्याय ही प्रसिद्ध रुद्राध्याय है जिसका शैव लोग आस्थापूर्वक पाठ करते हैं। शैशव पार करते-करते दयानन्द ने भी रुद्राध्याय पढ़ डाला था। १४वें वर्ष तक आते-आते उन्होंने सम्पूर्ण यजुर्वेद को कण्ठस्थ कर लिया तथा अन्य वेदों का भी स्वल्प अभ्यास किया। वेद-पाठ और वेदाभ्यास के ये बाल्यकालीन संस्कार ही आगे चलकर उनमें प्रखरता से उद्बुद्ध हुए जबकि वेद-प्रचार को उन्होंने जीवन का लक्ष्य बनाया और वेद-प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर ही स्वधर्म, स्वराज्य, एवं स्वसंस्कृति को पुनरुज्जीवित करने का भव्य संकल्प लिया।

दयानन्द सरस्वती ने अपने आत्मकथन में अपने अध्ययन के सम्बन्ध में लिखा—"मैंने पाँचवें वर्ष में देवनागरी अक्षर पढ़ने का आरम्भ किया था और मुझको कुल की रीति की शिक्षा भी माता-पिता आदि किया करते थे। बहुत-से धर्मशास्त्रादि के श्लोक और सूत्रादिक भी कण्ठस्थ कराया करते थे। फिर आठवें वर्ष मेरा यज्ञोपवीत कराके गायत्री, संध्या और उसकी क्रिया भी सिखा दी गई थी और मुझको यजुर्वेद की संहिता

का आरम्भ कराके उसमें से प्रथम रुद्राध्याय पढ़ाया गया था।...तथा कुछ-कुछ व्याकरण का विषय और वेद का पाठ मात्र भी मुझको पढ़ाया करते थे। इस प्रकार चौदहवें वर्ष की अवस्था के आरम्भ तक यजुर्वेद की संहिता सम्पूर्ण और कुछ अन्य वेदों का भी पाठ पूरा हो गया था, और शब्दरूपावली आदि छोटे-छोटे व्याकरण के ग्रन्थ भी पूरे हो गये थे।"

दयानन्द के बाल्यकालीन अध्ययन की यह एक झाँकी मात्र है। वेद और व्याकरण उनके शास्त्रीय अध्ययन के दो पुष्ट स्तम्भ थे और इनकी नींव उन्होंने अपने बाल्यावस्था के अध्ययन में ही जमा ली थी। वेद-ज्ञान के लिए जिस संस्कृत-व्याकरण के ज्ञान की आवश्यकता थी उसे उन्होंने बाल्यकाल में ही हस्तगत कर लिया था। शब्द-रूपावली, धातुरूपावली आदि व्याकरण के प्रारम्भिक ग्रन्थ उन्होंने बाल्यकाल में ही पढ़ लिये थे।

मूलशंकर ने जब किशोर-अवस्था में पदार्पण किया तो उनकी इच्छा व्याकरण, वैद्यक आदि विषयों को पढ़ने के लिए काशी जाने की हुई। उनकी यह आकांक्षा ही सूचित करती है कि वे प्रारम्भ से ही मुमुक्षु, विद्याविलासी और शास्त्रों के जिज्ञासु थे। वैराग्य ग्रहण करने के अनन्तर तो उनकी ज्ञानलिप्सा और भी तीव्र हुई। उस अवस्था में यत्र-तत्र भ्रमण करते हुए उन्हें जहाँ से जो कुछ सीखने के लिए मिला, उसे ग्रहण करने में उन्होंने संकोच नहीं किया। जब वे वैराग्य धारण कर शुद्ध चैतन्य ब्रह्मचारी के रूप में इतस्ततः भ्रमण करने लगे, तब भी अपना अधिकांश समय शास्त्राध्ययन एवं विद्याभ्यास में ही लगाते थे। संन्यास ग्रहण करने में उनका एक प्रयोजन यह भी था कि समस्त सांसारिक विधिनिषेधों से मुक्त होकर वे अपने-आपको अध्ययन में ही लगा सकें, ताकि शीघ्रातिशीघ्र सर्वशास्त्रनिष्णात होकर जन-सेवा के महत्कार्य-हेतु अपने को समर्पित कर दें।

अपने प्रमुख शास्त्रगुरु स्वामी विरजानन्द की सेवा में पहुँचने से पूर्व स्वामी दयानन्द ने अनेक गुरुओं के सान्निध्य में रहकर शास्त्रों का अध्ययन किया था। कृष्ण-शास्त्री से उन्होंने व्याकरण के कुछ ग्रन्थ पढ़े तथा चाणोद कर्नाली निवासी किसी राजगुरु से भी कुछ समय तक वेदों का अभ्यास किया। उत्तराखण्ड-भ्रमण के प्रसंग में भी उन्हें कई विलक्षण अनुभव हुए। टिहरी राज्य में निवास करते हुए उन्हें तन्त्रग्रन्थों को देखने का अवसर मिला जिन्हें पढ़कर उनकी धारणा बनी कि इनसे अधिक भ्रष्ट साहित्य और कोई नहीं है। उत्तराखण्ड-प्रवास के पश्चात् स्वामी जी गंगातटवर्ती प्रान्तों का भ्रमण करते रहे। इस समय वे वैचारिक आदानप्रदान के लिए संस्कृत-भाषा का ही प्रयोग करते थे। अब तक उन्होंने शिवसंध्या, हठयोग-प्रदीपिका, योग-बीज आदि हठयोग के ग्रन्थों का भी अध्ययन कर लिया था, परन्तु योग की इस प्रणाली के प्रति उनकी आस्था शीघ्र ही समाप्त हो गई, जब नदी में बहते एक शव को उन्होंने बाहर निकाला और शीघ्र ही उसकी चीरफाड़ कर वे इस निष्कर्ष पर पहुँच गये कि हठयोग मिथ्या विश्वासों का पुंज-मात्र है तथा उसके ग्रन्थों में पाई जानेवाली शरीररचना-प्रणाली भी मिथ्या ही है, क्योंकि मनुष्य-शरीर में उस प्रकार के चक्रादि उपलब्ध नहीं होते, जिनका उल्लेख इस योग-प्रणाली के ग्रन्थों में मिलता है।

स्वामी दयानन्द के संस्कृतभाषा-अध्ययन तथा शास्त्रालोचन की परिसमाप्ति

मथुरा-स्थित उस पाठशाला में हुई जिसका संचालन अप्रतिम वैदुष्य के धनी दण्डी विरजानन्द किया करते थे। दर्शनशक्ति से हीन होने पर भी विरजानन्द ने नाना प्रतिकूल परिस्थितियों पर विजय प्राप्त करते हुए संस्कृत के व्याकरण जैसे दुरूह विषय पर जिस प्रकार असाधारण अधिकार प्राप्त कर लिया था, वह सचमुच प्रशंसनीय था। अपने युग में वे व्याकरण के सूर्य कहलाये तथा अष्टाध्यायी और महाभाष्य जैसे ग्रन्थों का उत्कृष्ट अध्यापक उस युग में उनके जैसा कोई अन्य नहीं था।

कार्तिक शुक्ला २ सं० १९१७ वि० को दयानन्द सरस्वती ने दण्डी जी की पाठशाला में कदम रक्खा और निरन्तर ढाई वर्षों तक इस महाप्राज्ञ गुरु के चरणों में बैठकर शास्त्रों का अध्ययन करते रहे। इस काल में उन्होंने अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य के अतिरिक्त वेदान्तदर्शन तथा कुछ अन्य ग्रन्थ भी पढ़े। पठित ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक नहीं थी किन्तु विरजानन्द के सान्निध्य में रहने से दयानन्द को शास्त्रग्रन्थों के सम्बन्ध में तलस्पर्शी ऊहापोह करने की एक अत्यन्त विलक्षण दृष्टि मिल गई, जिसके आधार पर वे आर्ष एवं अनार्ष ग्रन्थों का विवेक कर सकते थे तथा प्रामाणिक और अप्रामाणिक शास्त्रों की सम्यक् परीक्षा भी कर सकते थे। दण्डी विरजानन्द द्वारा आर्ष एवं अनार्ष ग्रन्थों को जानने और पहचानने की दृष्टि पाकर दयानन्द ने इस सिद्धान्त का स्वयं ही विस्तार किया। अब वे इसी कसौटी पर विभिन्न ग्रन्थों को परखते तथा उनके ऋषिकृत होने अथवा न होने का निर्णय करते। इस प्रकार संस्कृत में विद्यमान शास्त्र-समूह का सम्यक् ऊहापोह करने के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि महाभारत-काल के बाद का साहित्य उन उदात्त तत्त्वों से प्रायः रहित ही है जो महाभारत-पूर्व-काल के ऋषियों द्वारा रचित साहित्य में पाये जाते हैं। वे इसे आर्ष-प्रज्ञा के अभाव का ही कारण समझते थे।

इस प्रकार विरजानन्द सरस्वती के निकट रहकर दयानन्द ने जो कुछ शास्त्र-विषयक चिन्तन किया उससे उनके बौद्धिक एवं वैचारिक क्षितिज का विस्तार तो हुआ ही, साथ ही आर्ष और अनार्ष ग्रन्थों के भेद को जानने तथा उसके आधार पर अपनी प्रमाण-मीमांसा को नवीन दिशा देने में भी उन्हें सफलता मिली। आगे चलकर आर्ष एवं अनार्ष ग्रन्थों के भेद को स्पष्ट करते हुए उन्होंने लिखा—"महर्षि लोगों का आशय जहाँ तक हो सके, वहाँ तक सुगम और जिसके ग्रहण में समय थोड़ा लगे, इस प्रकार का होता है, और क्षुद्राशय लोगों की मनसा ऐसी होती है कि जहाँ तक बने वहाँ तक कठिन रचना करनी, जिसको बड़े परिश्रम से पढ़के अल्प लाभ उठा सकें।" इसी आधार पर उन्होंने समस्त शास्त्र-वाङ्मय को आर्ष और अनार्ष श्रेणीभुक्त किया। उनके अनुसार आर्ष ग्रन्थों की रचना उन महान् मेधावी, विमल प्रज्ञा के धनी, उदाराशय ऋषियों ने की है जिन्हें मानवमात्र का हित सर्वांश में अभीष्ट था। योगशास्त्र-प्रतिपादित समाधि-अवस्था में परमतत्त्व का साक्षात्कार करनेवाले स्थितप्रज्ञ ऋषियों की लेखनी से जो कुछ लिखा जाता है वह सर्वथा सुसंगत, तर्कपूर्ण, विज्ञान के अनुकूल तथा सृष्टि-नियमों से संगत होता है। इसके विपरीत अनार्ष ग्रन्थों की विवेचना-शैली और रचना-प्रणाली सर्वथा भिन्न होती है। अनार्ष ग्रन्थों के लेखक आर्ष-प्रज्ञा-रहित, मिथ्या-अहंकार-ग्रस्त, साम्प्रदायिक मात्सर्य से परिपूर्ण होते हैं। साथ ही उनकी लेखन-शैली भी अत्यन्त जटिल, दुरूह, शब्दाडम्बरयुक्त तथा कृत्रिम होती है। दयानन्द सरस्वती के अनुसार इस देश

का अधिकांश मध्यकालीन शास्त्रीय लेखन इसी कोटि का था।

इस प्रकार दयानन्द ने स्वामी विरजानन्द से शास्त्रमीमांसा-विषयक जिन सूत्रों को ग्रहण किया, उन्हें निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

१. संस्कृत व्याकरण में पाणिनीय अष्टाध्यायी एवं पातंजल महाभाष्य ही एकमात्र पाठ्यग्रन्थ हैं; अवशिष्ट कौमुदी, सारस्वत, चन्द्रिका, मनोरमा आदि अनार्ष फलतः त्याज्य हैं।

२. भागवत आदि अष्टादश पुराण भी सर्वथा नवीन एवं कपोलकल्पित हैं। उन्हें व्यास के नाम से प्रसिद्ध अवश्य किया गया है, परन्तु ये वास्तव में व्यास-रचित नहीं हैं। पुराणों एवं तन्त्रों में जिस प्रकार की अश्लील, घृणित एवं जुगुप्साजनक बातें लिखी हुई हैं उन्हें देखते हुए इन ग्रन्थों को प्रमाण-कोटि में नहीं रखा जा सकता।

३. वेद आर्य जाति के लिए परम प्रमाण हैं। वेदानुकूल होने से ही अन्य ग्रन्थों का प्रामाण्य किया जाता है, परन्तु वेदों के प्रतिकूल होने पर उन्हें प्रमाण-कोटि में नहीं रखा जा सकता।

स्वामी दयानन्द का शास्त्रचिन्तन और अध्ययन विरजानन्द की पाठशाला तक ही समाप्त नहीं होता। अपने अवशिष्ट जीवन में भी वे शास्त्रमन्थन के कार्य में सतत लगे रहे। उनका संस्कृत-ग्रन्थों का अध्ययन कितना गम्भीर एवं विशाल था, यह उनके उस कथन से भली-भाँति ज्ञात हो जाता है जिसमें उन्होंने कहा था कि—"मैं अपने निश्चय और परीक्षा के अनुसार ऋग्वेद से लेकर पूर्व-मीमांसापर्यन्त अनुमान के तीन हजार ग्रंथों के लगभग (प्रमाण) मानता हूँ।" इस प्रकार यह सिद्ध है कि उन्होंने सहस्रों ग्रन्थों का भली-भाँति अध्ययन करके ही अपने धार्मिक एवं दार्शनिक सिद्धान्तों का स्थिरीकरण किया था।

अपनी उपदेशक अवस्था में भी स्वामी दयानन्द कोई ऐसा अवसर नहीं छोड़ते थे जबकि विभिन्न शास्त्रों को देखने का अवसर उन्हें प्राप्त हो और वे उसका लाभ न लें। अपने कलकत्ता के प्रवास के समय वे रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, बंगाल के कार्यालय में गये और वहाँ से अनेक ग्रन्थों को क्रय किया। राजस्थान के बनेड़ा संस्थान में वहाँ के ठाकुर साहब के निजी पुस्तकालय में विद्यमान निरुक्त को उन्होंने देखा तथा स्वयं के निरुक्त से उसका मिलान भी किया। उनका निजी पुस्तकसंग्रह वैदिक तथा अन्य शास्त्र-ग्रन्थों का एक बृहत् संकलन था। सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण को तैयार करते समय तथा वेद-भाष्य-लेखन के समय उन्हें प्रभूत संख्या में सन्दर्भ-ग्रन्थों की आवश्यकता हुई, जिनका उन्होंने सायास संग्रह किया। स्वामी जी के देहावसान के पश्चात् उनका यह ग्रन्थ-संग्रह जब परोपकारिणी सभा के अधिकार में आया तो यह पता चला कि विभिन्न वेष्टनों में जो ग्रन्थ रखे गये हैं उनकी संख्या बहुत अधिक है, तथा इनमें मुद्रित पुस्तकों के अतिरिक्त अनेक हस्तलिखित प्राचीन एवं दुर्लभ ग्रन्थ भी हैं। दयानन्द के लेखनकार्य के पीछे कितना व्यापक अध्ययन, चिन्तन तथा परिश्रम था, इसका सहज अनुमान उपर्युक्त विवेचन से लगाया जा सकता है।

(२) स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत साहित्य

स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा लिखित साहित्य सुविशाल तथा महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत तथा हिन्दी (जिसे वे आर्यभाषा कहते थे) दोनों भाषाओं को ही उन्होंने अपनी

भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। जिन ग्रन्थों को मूलतः संस्कृत में लिखा, उनमें निहित विचारों को अधिकाधिक पाठकों तक पहुँचाने की दृष्टि से उनका हिन्दी भाषा में अनुवाद कराने की व्यवस्था भी उन्होंने की थी। स्वामी जी का संस्कृत भाषा पर असाधारण अधिकार था। उनकी मातृभाषा यद्यपि गुजराती थी, किन्तु बाल्यकाल में ही पारिवारिक संस्कारों के वशवर्ती होकर संस्कृत पढ़ने, पुनः परिव्राजक-अवस्था में देशाटन के समय विभिन्न शास्त्रों का गम्भीर अभ्यास कराने तथा कालान्तर में दण्डी विरजानन्द जैसे संस्कृत के असाधारण विद्वान् की पाठशाला में रहकर संस्कृत व्याकरण एवं भाषाशास्त्र तथा अन्य शास्त्रों विषयक अनेक जटिल गुत्थियों को सुलझा सकने की क्षमता प्राप्त कर लेनें के कारण स्वामी दयानन्द के लिए संस्कृत में भावाभिव्यक्ति करना सहज बन गया था। हिन्दी में व्याख्यान देने तथा ग्रन्थ लिखने के लिए तो उन्हें विशिष्ट अभ्यास करना पड़ा था, किन्तु संस्कृत के माध्यम से निर्द्वन्द्व होकर धाराप्रवाह भाषण करने तथा ग्रन्थ-रचना करने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं हुई। यही कारण है कि संस्कृत-सम्भाषण तथा संस्कृत-लेखन उनके लिए नितान्त सहज और सरल था। परन्तु इसका यह अभिप्राय भी नहीं कि स्वामी जी की वे रचनाएँ, जो मूलतः हिन्दी में लिखी गयी हैं, किसी भी प्रकार से कम प्रभावोत्पादक अथवा प्रसाद गुण से शून्य हैं। स्वामीजी का हिन्दी ग्रन्थ-वाङ्मय भी विषय-प्रतिपादन तथा शैली-सौष्ठव की दृष्टि से उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितने कि उनके संस्कृत-ग्रन्थ।

अध्ययन-सौकर्य की दृष्टि से दयानन्दरचित साहित्य को निम्न भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१)वृहत्त्रयी—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कारविधि; (२) ऋग्वेद तथा यजुर्वेद-भाष्य; (३) खण्डन-मण्डन के ग्रन्थ; (४) वेदाङ्ग प्रकाश तथा अन्य व्याकरण-ग्रन्थ; (५) स्फुट ग्रन्थ।

हम आगामी पृष्ठों में स्वामीजी के सभी ग्रन्थों का ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक अध्ययन उपर्युक्त क्रमानुसार ही करेंगे।

दयानन्दकृत बृहत्त्रयी—अद्वैतवेदान्त की परम्परा में उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता को प्रस्थानत्रयी के नाम से सम्बोधित किया जाता है। शंकर आदि वेदान्ताचार्यों ने सर्वप्रथम प्रामाणिक उपनिषदों पर भाष्य-रचना करते हुए इस साहित्य को 'श्रुति-प्रस्थान' की संज्ञा दी है। ब्रह्मसूत्र उनकी दृष्टि में 'तर्क-प्रस्थान' है, क्योंकि दर्शन-शास्त्र में स्वीकृत तार्किक शैली का ही अनुसरण करते हुए प्रथम पूर्वपक्ष की स्थापना, तत्पश्चात् सिद्धान्तपक्ष का दृढ़ीकरण कर इस ग्रन्थ में परम-तत्त्व का विचार किया गया है। महाभारतान्तर्गत गीता को इन आचार्यों ने 'स्मृति-प्रस्थान' का अभिधान प्रदान किया है, यद्यपि यह स्पष्ट है कि भगवद्गीता उस अर्थ में स्मृतियों के अन्तर्गत नहीं आती, जिस अर्थ में हम मनु अथवा याज्ञवल्क्य के नाम से प्रचलित स्मृतियों को जानते हैं। मन्वादि स्मृतिकारों ने जहाँ आर्यजाति के आचार, व्यवहार, व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राज्य-व्यवस्था आदि के अनुशासन से सम्बन्धित नियमादि तथा आपद्धर्मों का विस्तृत विधान किया है वहाँ गीता मुख्यतः अध्यात्मविद्या का प्रतिपादक ग्रन्थ है जिसमें आर्य जाति के आध्यात्मिक, दार्शनिक तथा नैतिक विचारों को समन्वयात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया है।

वेदान्त-स्वीकृत प्रस्थानत्रयी की ही भाँति दयानन्दरचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका,

सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कारविधि को वैदिक धर्म की प्रस्थानत्रयी के नाम से उपलक्षित किया जा सकता है। वेदभाष्य के आरम्भ में लिखी गयी स्वामी दयानन्द की ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका यथार्थ में 'श्रुति-प्रस्थान' ही है क्योंकि आधुनिक युग में वैदिक चिन्तन को पुनः प्रवर्तित करनेवाले आचार्य दयानन्द ने वेदों से सम्बन्धित प्रायः सभी विषयों और समस्याओं को इस ग्रन्थ में सम्यक् प्रकारेण विवेचित किया है। सत्यार्थप्रकाश को 'तर्क-प्रस्थान' कहना भी समीचीन ही है क्योंकि इस ग्रन्थ में जिस अद्भुत तर्क-प्रवणता एवं युक्ति-कौशल से लेखक ने पूर्वार्द्ध में जहाँ वैदिक धर्म, दर्शन तथा आर्य-जीवन-प्रणाली के आदर्श एवं विधेयात्मक स्वरूप की व्याख्या की है, वहाँ उत्तरार्द्ध में एतद्देशीय तथा अन्य देशोत्पन्न नाना मतों एवं पन्थों की सतर्क समीक्षा भी की गयी है।

संस्कारविधि कर्मकाण्ड के विधान तथा व्याख्या से सम्बन्धित ग्रन्थ है। जिन षोडश संस्कारों को मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन को समुन्नत बनाने में सोपान के तुल्य समझा गया, तथा जो व्यक्ति के चहुँमुखी विकास के लिए आवश्यक घोषित किए गए, उन्हीं संस्कारों की सहज आचरणीय विधि तथा व्याख्या का प्रस्तुतीकरण इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि संस्कारों की विधियों को प्रस्तुत करते हुए तथा उनकी शरीर-शास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक उपयोगिता के सन्दर्भ में व्याख्या करते हुए भी स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ को प्राचीन गृह्यसूत्रों तथा कर्मकाण्ड के विधायक उन ग्रन्थों के आधार पर ही रचा है जो आलोच्य विषय के प्रामाणिक तथा आधारभूत शास्त्रीय ग्रन्थ कहे जा सकते हैं। इस प्रकार दयानन्दरचित यह संस्कारविधि आधुनिक युग में विराट् आर्यसमाज की आदर्श 'स्मृति' के रूप में स्वीकार की जा सकती है, जिसे आधार बनाकर आज भी वैदिक परम्पराओं के अनुयायी गृह्-कृत्यों का सम्यक् निष्पादन कर सकते हैं। अब हम क्रमशः इन ग्रन्थों के ऐतिहासिक एवं आलोचनात्मक अध्ययन में प्रवृत्त होते हैं।

(क) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका

स्वामी दयानन्द ने अपने धर्मान्दोलन का आधार वेदों को बनाया था। जब तक लोगों को वेदों का यथार्थ ज्ञान न होगा, तब तक वेद की शिक्षाओं के अनुसार चलना भी कठिन है, यह जानकर स्वामीजी ने वेदों का विस्तृत भाष्य करने का संकल्प किया। इसी संकल्प की पूर्ति के लिए उनके द्वारा संस्कृत तथा आर्य-भाषा (हिन्दी) में भाष्य-लेखन का आरम्भ भाद्रपद शुक्ला प्रतिपदा सं० १९३३ वि० रविवार को किया गया। वस्तुतः यह तिथि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रारम्भ की है। वेदभाष्य के वास्तविक निर्माण के पूर्व यह आवश्यक था कि स्वामीजी वेदों के सम्बन्ध में अपनी धारणाओं को स्पष्ट करते तथा वेदाध्ययन के प्रसंग में आनेवाली विभिन्न समस्याओं पर विस्तारपूर्वक विचार प्रस्तुत करते। इसी प्रयोजन की सिद्धि के लिए उन्होंने वास्तविक वेदभाष्य-लेखन के पूर्व इस भूमिका के रूप में वेदविषयक स्वमन्तव्यों का विस्तृत उल्लेख किया।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लेखन अयोध्या में आरम्भ हुआ था। स्वामी दयानन्द के जीवनचरित-लेखक पण्डित घासीराम के अनुसार "भाद्रपद कृष्णा १४ सं० १९३३ वि० अर्थात् १८ अगस्त सन् १८७६ को स्वामीजी अयोध्या पहुँचकर सरयूबाग में चौधरी गुरुचरणलाल के मंदिर में उतरे। अयोध्या में ही भाद्र शुक्ला प्रतिपदा सं० १९३३ वि०

अर्थात् २० अगस्त १८७६ ई० को ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लिखना प्रारम्भ हुआ।" पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार भूमिकालेखन का कार्य संभवतः मार्गशीर्ष १९३३ वि० के प्रथम सप्ताह तक समाप्त हुआ। इस प्रकार इस महत्त्वपूर्ण ग्रंथ को लिखने में उन्हें प्रायः पौने तीन महीने लगे। इसके पश्चात् ग्रन्थ को प्रेस में मुद्रणार्थ भेजने से पूर्व लेखक ने इसमें यथोचित संशोधन-परिवर्धन आदि किये जो भूमिका के विभिन्न हस्तलेखों को देखने से ज्ञात होता है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का मुद्रण मासिक अंकों के रूप में १९३४ वि० में आरम्भ हुआ। उस मास का ठीक ज्ञान उपलब्ध नहीं है, जिसमें कि भूमिका का प्रथम अंक मुद्रित हुआ होगा। सम्पूर्ण भूमिका १६ अंकों में समाप्त हुई। प्रथम १४ अंक काशी के लाजरस प्रेस में छपे और अन्तिम १५, १६ अंकों का संयुक्तांक बम्बई के निर्णयसागर प्रेस में छपा। मुद्रणालय के इस परिवर्तन की सूचना चौदहवें अंक में टाइटल के तीसरे पृष्ठ पर निम्न प्रकार से दी गयी थी—"सब सज्जन लोगों को विदित हो कि इसके आगे अर्थात् संवत् १९३५ ज्येष्ठ महीने से लेकर वेदभाष्य उत्तम कागज और अक्षरों से युक्त मुम्बई में छपा करेगा।" भूमिका तथा वेदभाष्य के मुद्रण की व्यवस्था को देखने तथा ग्राहकों के पास ग्रन्थों के अंक भेजने का काम स्वामीजी ने बम्बई-आर्यसमाज के सभासद बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को सौंपा था। भूमिका का मुद्रित प्रत्येक अंक १४ पृष्ठों का होता था। इस प्रकार सम्पूर्ण ग्रन्थ २१४ पृष्ठों में समाप्त हुआ। प्रथम १३ अंकों पर संवत् १९३४ वि० मुद्रित हुआ है, इससे अनुमान होता है कि इस ग्रन्थ का मुद्रण वि० सं० १९३४ के प्रारम्भ में ही हुआ होगा। अंक-संख्या १४ तथा संयुक्तांक १५-१६ सं० १९३५ वि० में छपे।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के मुखपृष्ठ के नीचे स्वामी दयानन्द का भ्रमण-कार्यक्रम प्रकाशित होता था। इससे विदित होता है कि ग्रन्थ के मुद्रणकाल में स्वामीजी ने पंजाब में निवास किया और लुधियाना, अमृतसर, लाहौर, जालन्धर, रावलपिण्डी, वजीराबाद, गुजरात, मुलतान आदि नगरों में धर्म-प्रचारार्थ गए। टाइटल के द्वितीय पृष्ठ पर भूमिका तथा वेद-भाष्य के ग्राहकों के नाम तथा पते अंकित रहते थे। टाइटल के चतुर्थ पृष्ठ पर यदा-कदा स्वामी दयानन्दरचित ग्रन्थों का विज्ञापन भी छपता था।

'ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका' का वैदिक यन्त्रालय द्वारा प्रकाशित संस्करण—यह हम देख चुके हैं कि भूमिका का प्रथम संस्करण मासिक अंकों के रूप में लाजरस तथा निर्णयसागर प्रेस से छपा था। उसके पश्चात् स्वामी दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा के तत्त्वावधान में वैदिक यन्त्रालय ने इस ग्रन्थ को प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ के अब तक १० संस्करण वैदिक यन्त्रालय ने मुद्रित किये हैं। प्रथम संस्करण में जो कुछ मुद्रण-दोष रह गए थे उन्हें अन्तिम सोलहवें अंक के अन्त में ६ पृष्ठों के शुद्धिपत्र में निर्दिष्ट किया गया था। तदनुसार द्वितीय संस्करण में इन गलतियों को सुधार दिया गया। कतिपय अन्य त्रुटियों को भी ठीक किया गया। इस प्रकार पंचम संस्करण तक 'भूमिका' द्वितीय संशोधित संस्करण के अनुसार ही छपती रही। पाँचवें संस्करण के पश्चात् स्वामी दयानन्द की जन्म-शताब्दी के उपलक्ष्य में एक विशेष संस्करण दयानन्दग्रन्थमाला के द्वितीय भाग के अन्तर्गत छपा। इसका सम्पादन पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार (वेदोपाध्याय, गुरुकुल कांगड़ी) ने किया। सम्पादक ने इस संस्करण को ग्रन्थ के प्रथम संस्करण के अनुरूप तो रक्खा परन्तु ग्रन्थान्त में दिये संशोधन-पत्र का ध्यान न रखने से प्रथम

संस्करण में जो मुद्रण-दोष रह गए थे, वे इस विशिष्ट शताब्दी-संस्करण में भी यथावत् रह गए। वैदिक यन्त्रालय के छठा और सातवाँ संस्करण भी शताब्दी-संस्करण के ही अनुरूप छपे, इसलिए इनमें भी वे अपपाठ यथापूर्व रह गए। अष्टम संस्करण का संशोधन पण्डित महेन्द्र शास्त्री ने किया। उन्होंने इस संस्करण को पूर्वापेक्षा सुन्दर और परिष्कृत किया। संस्कृत तथा आर्यभाषा के पाठों को पृथक् अनुच्छेदों में दिया गया तथा अनेक उद्धरणों के पते भी दिए गए।

नवम संस्करण का संशोधन श्री धर्मसिंह कोठारी ने किया। इसे तैयार करने में संशोधक ने पर्याप्त श्रम किया है। प्रथम संस्करण के शुद्धिपत्र की ओर ध्यान न देने से शताब्दी-संस्करण में जो दोष रह गए थे, उन्हें सुधारा गया है, साथ ही अनेक उपयोगी टिप्पणियाँ भी दी गयी हैं। विशेष रूप से प्रथम संस्करण में शास्त्रों के उद्धृत पाठों में जो अनवधानतावश पाठ-दोष रह गए थे, उन्हें टिप्पणियों में सही रूप में निर्दिष्ट किया गया है। इस प्रकार यह संस्करण पूर्ववर्ती संस्करणों से प्रत्येक दृष्टि से सन्तोषजनक तथा उत्तम है। वैदिक यन्त्रालय से प्रकाशित दशम संस्करण नवम संस्करण के अनुकूल ही है। ११वें संस्करण का प्रकाशन दयानन्द-निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर १९८३ ई० में हुआ।

आर्यसमाज के प्रसिद्ध प्रकाशक गोविन्दराम हासानन्द (कलकत्ता) ने सं० १९९२ वि० में 'भूमिका' का एक अन्य संस्करण पण्डित सुखदेव वेदालंकार, विद्यावाचस्पति से सम्पादित कर प्रकाशित कराया। इस संस्करण में पृथक्-पृथक् विषयों को सन्दर्भों में प्रकाशित किया गया है। यत्र-तत्र पाठ-संशोधन भी किये गए हैं तथा भाषार्थ को परिमार्जित किया गया है। ग्रन्थान्त में अकारादि क्रम से ग्रन्थ में उद्धृत प्रमाणों की सूची तैयार की गयी है। सम्पादक की यह धारणा है कि ऋषि दयानन्द के अन्य ग्रन्थों की भाँति भूमिका का संस्कृतभाग तो स्वयं लेखक द्वारा ही निर्मित है जब कि इसका भाषार्थ अन्य पण्डितों द्वारा तैयार किया गया है। सम्पादक की मान्यता है कि मूल संस्कृत-लेख तथा उसके भाषार्थ में यत्र-तत्र विरोध पाया जाता है। भाषार्थ के कुछ स्थल तो मूल के विपरीत तथा सिद्धान्तविरुद्ध भी हैं। लेखक ने इस प्रकार के सभी स्थलों को संशोधित किया है।

भूमिका का संशोधित संस्करण प्रकाशित करने का एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रयत्न पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने किया। उन्होंने विस्तृत सम्पादकीय वक्तव्य लिखकर भी भूमिका के लेखन का इतिहास तथा उसके अद्यतन मुद्रित संस्करणों का विवरण देने के पश्चात् स्वसम्पादित संस्करण की मौलिक विशेषताओं को भी उल्लिखित कर दिया है। मीमांसक जी की भी यह स्पष्ट धारणा है कि ऋषि दयानन्द ने जो भी ग्रन्थ मूलतया संस्कृत में लिखे उनके भाषानुवाद उन्होंने अपने आश्रित पण्डितों द्वारा कराए। वे भूमिका को भी इसी श्रेणी का ग्रन्थ मानते हैं जिसका संस्कृतभाग तो उनके कथनानुसार स्वामी दयानन्द-प्रणीत है जबकि भाषानुवाद पण्डितों के द्वारा किया गया है। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दी-भाषार्थ संस्कृतपाठ के पूर्णतया अनुकूल तथा सम्बद्ध नहीं है। उनकी दृष्टि में कोई-कोई संस्कृत-अंश तो अनूदित होने से रह भी गया है जबकि भाषार्थ के अन्तर्गत आनेवाले कई स्थल ऐसे भी हैं जो मूल संस्कृत से सर्वथा स्वतन्त्र एवं भिन्न हैं। पण्डित मीमांसक के अनुसार संस्कृत-मूल तथा भाषार्थ की अनुरूपता न होने का एक मुख्य कारण तो यह था कि स्वामी दयानन्द ग्रन्थ का मूल संस्कृत-आलेख तैयार कर उसे

अनुवाद हेतु पण्डितों को दे देते थे। जब इसका भाषानुवाद हो जाता, तो यदाकदा स्वामी जी स्वयं मूल संस्कृत-लेख में यत्र-तत्र संशोधन कर देते थे। यही दुबारा संशोधित भाग अनुवादकों की दृष्टि में नहीं आ पाया और मूल तथा अनुवाद में इस प्रकार वैभिन्य दृष्टिगोचर होता है। मीमांसक जी एक कदम आगे बढ़कर 'भूमिका' के संस्कृतपाठ को ही दयानन्दकृत होने से प्रमाणभूत मानते हैं। वे तो ऋषि दयानन्द के उन सभी ग्रन्थों की भाषा का पूर्णतया संशोधन करने की माँग करते हैं जिनका भाषानुवाद पण्डितों से करवाया गया था।

इस प्रकार ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के विगत काल में प्रकाशित सभी संस्करणों के पाठों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् युधिष्ठिर मीमांसक ने स्वसम्पादित पाठ के लिए काम में लाए गए नियमों का भी उल्लेख किया है। उन्हें वैदिक यन्त्रालय के पाण्डुलिपि-विभाग में सुरक्षित 'भूमिका' के लगभग सभी हस्तलेखों तथा अद्यतन प्रकाशित संस्करणों को देखने का अवसर मिला था। इस प्रकार हस्तलेखों के आधार पर कुछ पाठों को उन्होंने शुद्ध किया है। कई छूटे हुए प्रकरण यथास्थान रख दिए गये हैं। 'लेखक-प्रमाद अथवा मुद्रण-प्रमाद' से उत्पन्न दोषों का भी परिमार्जन किया गया है। जहाँ उन्होंने भाषार्थ को मूल के विपरीत पाया, वहाँ भाषार्थ का भी तदनुकूल शोधन किया गया है। इस प्रकार स्वकृत संशोधनों का पूर्णतया स्पष्टीकरण देने के अनन्तर उन्होंने निस्संकोच भाव से यह भी लिख दिया है कि—"हमारी मान्यता तो यह है कि ऋषि के मूल संस्कृत-पाठ के अनुसार नवीन यथार्थ भाषानुवाद होना चाहिए।" अवकाश मिलने पर वे इस प्रकार के यथार्थ भाषानुवाद करने का स्वयं का संकल्प भी व्यक्त करते हैं।

पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के संशोधित संस्करण के प्रकाशित होने के दो वर्ष पश्चात् आर्य साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली ने भूमिका के प्रथम संस्करण का 'फोटोप्रिंट'-संस्करण प्रकाशित किया। ट्रस्ट की मान्यता है कि स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के प्रथम संस्करण ही एकमात्र प्रामाणिक हैं। कालान्तर में हुए संस्करणों में सम्पादकों तथा संशोधकों ने स्वमतानुकूल अनेक प्रकार के संशोधन, परिवर्तन, पृथक्करण, परिवर्धन आदि कर दिये हैं जिससे इन ग्रन्थों का मूल रूप सर्वथा विकृत हो गया है। इस फोटोप्रिंट-संस्करण के प्राक्कथन में पण्डित सुदर्शनदेव आचार्य ने मुख्यतः पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा संशोधित संस्करण की आलोचना की है। फोटोप्रिंट-संस्करण के सम्पादक की धारणा है कि 'भूमिका' में विद्यमान संस्कृत और प्राकृत (हिन्दी) दोनों ही भाषाओं के लेख स्वामी दयानन्द के ही हैं, अतः एक को प्रमाण मानना और दूसरे को अप्रमाण मानना अनुचित है। वे यह तो मानते हैं कि भूमिका-लेखन के पश्चात् जब स्वामी दयानन्द ने वास्तविक वेदभाष्य-लेखन आरम्भ किया, तो उस समय वे स्वयं तो मूल संस्कृतभाष्य ही लिखते थे और उसका भाषानुवाद स्वनियुक्त वेतन-भोगी पण्डितों से कराते थे, किन्तु जहाँ तक 'भूमिका' की भाषा का सम्बन्ध है इसका संस्कृत तथा भाषाभाग दोनों दयानन्द सरस्वती द्वारा ही रचित हैं।

जो लोग भूमिका के संस्कृत-भाग तथा भाषार्थ-भाग में परस्पर असंगति, यत्र-तत्र विरोध तथा विभिन्नता देखकर यह कल्पना करते हैं कि संस्कृत-भाग का लेखन तथा भाषार्थ-भाग का लेखन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा हुआ है, उन्हें उत्तर देते हुए पण्डित सुदर्शनदेव कहते हैं कि वस्तुतः स्वामीजी ने ही किन्हीं-किन्हीं प्रसंगों को संस्कृत में संक्षेप

रूप में लिख दिया है किन्तु उन्हें हिन्दी में विस्तार से समझाया है। अतः यह मानना कि संस्कृत और भाषाभाग परस्पर विरुद्ध हैं तथा मेल नहीं खाते, उचित नहीं है। उनके अनुसार कई शास्त्रीय प्रमाणों की व्याख्या तो संस्कृत में की ही नहीं गयी है, उन्हें भाषा में ही व्याख्यात किया गया है। इसी प्रकार संस्कृत में लिखी गयी या उद्धृत किसी बात को विस्तारपूर्वक समझाने के लिए उन्होंने केवल हिन्दी का ही सहारा लिया। यह उनके 'अस्य सर्वस्य भाषायामभिप्रायः प्रकाशयिष्यते' जैसे उद्धरणों से ज्ञात होता है।

इस प्रकार भूमिका के संस्कृत-पाठ तथा भाषार्थ-पाठ दोनों की प्रामाणिकता स्थापित कर आचार्य सुदर्शनदेव ने पण्डित मीमांसक जी की उन स्थापनाओं का भी क्रमशः खण्डन किया है जो उनके द्वारा सम्पादित भूमिका के संशोधित संस्करण को तैयार करने में आधार का काम करती हैं। उन्होंने ग्रन्थ के मूल पाठ में परिवर्तन करना, घटाना, बढ़ाना तथा कोष्ठक देकर मूल-पाठ में कुछ और जोड़ देना आदि को भी अनुचित माना है। आचार्य सुदर्शनदेव को मीमांसक जी द्वारा प्रयुक्त 'लेखक-प्रमाद वा मुद्रण-प्रमाद' जैसे शब्दों पर बड़ी आपत्ति है। उनका कथन है कि यदि लेखक-प्रमाद का तात्पर्य ग्रन्थकार के प्रमाद से है, तब तो यह आक्षेप 'भूमिका' के लेखक स्वामी दयानन्द पर आता है। क्या मीमांसक जी भूमिका के इन तथाकथित दोषों का दायित्व स्वामी दयानन्द पर डालकर उन्हें प्रमादी कहना चाहते हैं? यदि उनका अभिप्राय ग्रन्थ के लिपिकर्ता पण्डितों से है तो इस समस्या पर भी गम्भीरता से विचार करना पड़ेगा। जब लिपिकर्ता लेखकों द्वारा पाण्डुलिपि तैयार कर ली गयी और ग्रन्थकार ने भी उसे आद्योपान्त पढ़कर उसमें यथोचित संशोधन कर दिया, तो अब सारा दायित्व ग्रन्थकार का ही हो जाता है। मुद्रण-दोष की बात भिन्न है। प्रेस की सामान्य भूलें तो स्पष्ट ही दृष्टिगोचर हो जाती हैं और इनको शुद्धिपत्र में दिखाया भी जा सकता है। इसलिए मात्र मुद्रण-दोषों के आधार पर ही ग्रन्थ के मूल पाठ को विकृत करना उचित नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वर्तमान पाठ को लेकर पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक तथा पण्डित सुदर्शनदेव आचार्य दो नितान्त भिन्न दिशाओं में खड़े हैं। सच तो यह है कि ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में प्रयुक्त हिन्दी को दयानन्दकृत वेदभाष्य के भाषानुवाद में प्रयुक्त हिन्दी की कोटि में नहीं रक्खा जा सकता। जहाँ वेदभाष्य की हिन्दी अत्यन्त अस्तव्यस्त, अपरिमार्जित और अव्यवस्थित है, वहाँ भूमिका की हिन्दी परिष्कृत, परिमार्जित तथा प्रसादगुणयुक्त है। यह तो सम्भव है कि यत्र-तत्र पाठक को संस्कृत के मूल पाठ और उसके हिन्दी भाषान्तर में पूर्ण समता या संगति दृष्टिगोचर न हो, परन्तु उसका कारण भी यही है कि कहीं-कहीं तो लेखक ने जो बातें संस्कृत में नहीं लिखीं उन्हें भाषा में विस्तारपूर्वक स्फुट किया गया है। इसी प्रकार अनेक शास्त्रीय प्रमाणों के अर्थ संस्कृत में न देकर हिन्दी में ही दिये गए हैं। तथापि यदि कहीं ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के मूल संस्कृत-आलेख तथा उसके भाषान्तर में स्पष्ट असंगति या विरोध लक्षित हो, तो उसपर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका लिखकर स्वामी दयानन्द ने वेद-विषयक अपने समग्र चिन्तन को एक ही स्थान पर प्रस्तुत करने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इसकी शैली भी शास्त्रीय, तर्क-वितर्कपूर्ण तथा वेद-विषयक गूढ़ प्रश्नों और समस्याओं के सांगोपांग विवेचन से पूर्णतया युक्त है। प्रारम्भ में लेखक ने 'सहनाववतु सहनौ भुनक्तु' तैत्तिरीय

आरण्यक के इस मंगलपाठ से ग्रन्थ का आरम्भ किया है। कतिपय स्वरचित श्लोकों से वह ग्रन्थ रचना के प्रयोजन, ग्रन्थ-लेखन की शैली तथा ग्रन्थ की प्रामाणिकता-विषयक आवश्यक संकेत भी देता है।

दयानन्द सरस्वती की दृष्टि में वेद परमेश्वर का ही ज्ञान है जिसे वह सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य के लाभ के लिए देता है। अतः उसी वेदविद्या के कारणभूत परमात्मा की स्तुति में उसने लिखा—

ब्रह्मानन्तमनादि विश्वकृदजं सत्यं परं शाश्वतम् ।
विद्या यस्य सनातनी निगमभृद्वैधर्म्यविध्वंसिनी ॥
वेदाख्या विमला हिता हि जगते नृभ्यः सुभाग्यप्रदा।
तन्नत्वा निगमार्थभाष्यमतिना भाष्यं तु तन्तन्यते॥

जो अनन्त आदि विशेषणों से युक्त है, जिसकी वेदविद्या सनातन है, उसको अत्यन्त प्रेम-भक्ति से मैं नमस्कार करके इस वेदभाष्य के बनाने का आरम्भ करता हूँ।

पुनः चित्रकाव्य की शैली का अनुसरण करते हुए भाष्यकार अपने नाम का परिचय भूमिका के पाठकों के समक्ष उपस्थित करते हैं—

दयाया आनन्दो विलसति परः स्वात्मविदितः
सरस्वत्यस्याग्रे निवसति सदा हीशशरणा ।
इयं ख्यातिर्यस्य प्रथितसुगुणा वेद मननाऽ
स्त्यनेनेदं भाष्यं रचितमिति बोधव्यमनघाः ॥

सब सज्जन लोगों को यह बात विदित हो कि जिनका नाम स्वामी दयानन्द सरस्वती है, उन्होंने इस वेदभाष्य को रचा है।

भाष्य-रचना-प्रयोजन तथा उसके कारणभूत ईश्वरानुग्रह की चर्चा करते हुए वह लिखते हैं—

मनुष्येभ्यो हितायैव सत्यार्थं सत्यमानतः।
ईश्वरानुग्रहणेदं वेदभाष्यं विधीयते ॥

ईश्वर की कृपा के सहाय से सब मनुष्यों के हित के लिए इस वेद-भाष्य का मैं विधान करता हूँ।

दयानन्द सरस्वती का वेद-भाष्य वेदों पर लिखी हुई ऐसी प्रथम टीका है जो संस्कृत के साथ-साथ भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी में भी लिखी गयी। दोनों भाषाओं में भाष्य-रचना करने का संकेत करते हुए लेखक कहता है—

संस्कृतप्राकृताभ्यां यद्भाषाभ्यामन्वितं शुभम्।
मन्त्रार्थवर्णनं चात्र क्रियते कामधुङ् मया ॥

लेखक के लिए यह स्पष्ट करना भी आवश्यक था कि वह वेद-भाष्य के लिए किस पद्धति या प्रणाली को स्वीकार कर रहा है। यों उससे पूर्व के काल में सायण जैसे वेद-भाष्यकार ने चतुर्वेद-संहिताओं पर याज्ञिक प्रणाली का विस्तृत भाष्य लिखा ही था। अन्य भाष्यकारों की रचनाएँ भी उपलब्ध थीं। इधर जब से पश्चिम के संस्कृतज्ञ विद्वानों ने वेदाध्ययन के क्षेत्र में प्रवेश किया था, निरन्तर वेदों के विभिन्न पाठालोचन-युक्त सम्पादित संस्करण तथा विभिन्न यूरोपीय भाषाओं में उसके अनुवाद भी प्रकाशित हो रहे थे। परन्तु स्वामी दयानन्द का वेद-भाष्य न तो मध्यकालीन यज्ञवाद का अनुसरण

करनेवाले सायण की भाष्य-प्रणाली का ही अनुसरण करता है और न वह उन यूरोपीय वेदाभ्यासियों के मत का ही अवलम्बन करता है जो वेदों के परम्परागत गौरव की सर्वथा उपेक्षा कर उसे आदिमकालीन मानव-जाति के असभ्य अथवा अर्धसभ्य जीवन का बालिश चित्रण मानते हैं। दयानन्द तो वेद-व्याख्या की उसी पुरातन शैली का अनुसरण करेंगे जो ऋषि-मुनियों द्वारा सदा से अपनायी जाती रही है—

आर्य्याणां मुन्यृषीणां या व्याख्यारीतिसनातनी।
तां समाश्रित्य मन्त्रार्था विधास्यन्ते तु नान्यथा।।

उन्हें इस बात का दृढ़ विश्वास था कि इस भाष्य को यदि बिना किसी पूर्वाग्रह के पढ़ा गया तो अब तक की वेददूषक टीकाओं और भाष्यों से वेद के अमल-धवल गौरव को जो भी क्षति पहुँची है, उसका निराकरण हो जाएगा और वेद के पाठक उसके वास्तविक अभिप्राय को जान सकेंगे। इसलिए उन्होंने लिखा—

येनाधुनिकभाष्यैर्ये टीकाभिर्वेददूषकाः।
दोषाः सर्वे विनश्येयुरन्यथार्थविवर्णनाः।।

अतः वेदों के सनातन अर्थ का प्रकाशन जिससे हो, उसी प्रयत्न की सिद्धि हेतु ईश्वरीय सहायता की याचनापूर्वक उन्होंने वेद-भाष्य-प्रणयन जैसे गुरुतर कार्य का आरम्भ अत्यन्त श्रद्धा तथा आस्तिकता की सर्वोच्च भावना के साथ किया है—

सत्यार्थश्च प्रकाश्येत वेदानां यः सनातनः।
ईश्वरस्य सहायेन प्रयत्नोऽयं सुसिध्यताम्।।

स्वरचित श्लोकों के माध्यम से वेद-भाष्य के प्रयोजन, महत्त्व तथा उसकी उपयोगिता को स्पष्ट करने के अनन्तर लेखक कतिपय वेदमन्त्रों की संस्कृत एवं हिन्दी व्याख्या लिखते हुए 'ईश्वर-प्रार्थना-विषय' से ग्रन्थारम्भ करता है। ईश्वर-प्रार्थना में उसने केवल यजुर्वेद तथा अथर्ववेद के मन्त्रों को ही विनियुक्त किया है। सर्वप्रथम लेखक का अत्यन्त प्रिय मन्त्र 'विश्वानिदेव' प्रार्थना-प्रकरण में व्याख्यात हुआ है। तदनन्तर अथर्ववेद के चार मन्त्रों तथा अन्त में यजुर्वेद के चार मन्त्रों का प्रार्थनापरक अर्थ लिखकर लेखक ने इस प्रकरण को विराम दिया है। प्रार्थना का प्रमुख स्वर वेदार्थ के निर्विघ्न पूरा होने में परमेश्वर से सहायता की याचना का है। वेद का वास्तविक अर्थ प्रकाशित करना ही लेखक का अभीष्ट है और इस महत् उद्देश्य की पूर्ति में वेदज्ञान के विधाता ईश्वर से बढ़कर अन्य कौन सहायक हो सकता है?

दयानन्द सरस्वती ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका लिखकर वैदिक अध्ययन के क्षेत्र में एक नवीन युग का सूत्रपात किया था। अब तक वेदों को याज्ञिक विधि-निषेधों के संदर्भ में ही पढ़ा और समझा जाता था। मध्यकालीन भाष्यकारों ने विनियोगवाद को प्रधानता देते हुए ही वेदों के विभिन्न भाष्यों की रचना की थी। उनके मतानुसार प्रत्येक वेदमन्त्र का विनियोग किसी-न-किसी यज्ञ-क्रिया में होना आवश्यक है। कर्मकाण्ड से भिन्न भी वेदों का कोई प्रयोजन हो सकता है, इसे वे सोचने में असमर्थ रहे। इसी प्रकार 'वेद' संज्ञा के अन्तर्गत मन्त्रभाग के साथ ब्राह्मणभाग की भी गणना कर उन्होंने 'वेद' शब्द की व्याप्ति को बढ़ा दिया। निश्चय ही ब्राह्मण स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं और उनकी रचना किसी-न-किसी मन्त्र-संहिता में उल्लिखित विषयों की व्याख्या के रूप में ही हुई है। कर्मकाण्ड की विभिन्न विधियों की दार्शनिक, आध्यात्मिक तथा रहस्यात्मक एवं आलंकारिक

व्याख्या करना भी ब्राह्मणग्रन्थों का प्रयोजन था। फलतः कर्मकाण्ड की विभिन्न विधियों के मौलिक संकेत देनेवाली मन्त्र-संहितायें तथा उनकी विविध प्रकार की व्याख्यायें प्रस्तुत करनेवाले ब्राह्मण-ग्रन्थ यदा-कदा एक-समान 'वेद' संज्ञा के द्वारा ही जाने जाते रहे। स्वामी दयानन्द ने पहली बार 'मन्त्र' और 'ब्राह्मण' के पार्थक्य का निरूपण किया और उन्होंने व्याख्येय तथा व्याख्या-ग्रन्थों की भिन्नता की भाँति इन्हें भी परस्पर भिन्न ठहराया।

'भूमिका' में अन्य भी अनेक ऐसे मुद्दे उठाये गये थे, जिनसे वेद के परम्परावादी व्याख्याताओं का सहमत होना कठिन था। प्रथम तो स्वामी दयानन्द ने वेदों के शब्दों को यौगिक मानते हुए उनके रूढ़ार्थ न करने पर जिस दृढ़ता से बल दिया तथा अग्नि, इन्द्र, सोम, अश्विन आदि वैदिक पदों के प्रकरणानुकूल विभिन्न अर्थ किये, इससे भी वेदार्थकर्त्ताओं में एक विचित्र हलचल मच गई। इसी प्रकार वेदाध्ययन का अधिकार मनुष्यमात्र को देने तथा इसपर ब्राह्मण तथा द्विजवर्ग के एकाधिकार को समाप्त करने जैसे अन्य भी अनेक बिन्दु ऐसे थे जिनको पचा पाना परम्परावादी वेदज्ञों के लिए कठिन था। ऐसी स्थिति में उन्होंने यह आवश्यक समझा कि भूमिका में प्रतिपादित, विवेचित तथा स्थापित वेदविषयक दयानन्दीय मान्यताओं का निराकरण किया जाए। फलतः इस ग्रन्थ के खण्डन में अनेक ग्रन्थ लिखे गये। १८८३ ई० में दयानन्द सरस्वती का निधन हो जाने के पश्चात् 'भूमिका' पर लिखे गये आक्षेपात्मक ग्रन्थों का प्रत्युत्तर समय-समय पर अनेक आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा दिया जाता रहा। इस प्रकार के आलोचनात्मक साहित्य की चर्चा इसलिये भी आवश्यक है, क्योंकि इससे 'भूमिका' में व्यक्त किये गये विचारों की प्रौढ़ता तथा महत्ता का परिचय मिलता है।

सर्वप्रथम काशी-निवासी पं० मोहनलाल उदासीन ने 'महामोहविद्रावण' लिखकर भूमिका के 'वेद संज्ञा विचार' प्रकरण का खण्डन किया। इस संस्कृत पुस्तक की शैली अत्यन्त शब्दाडम्बरपूर्ण तथा क्लिष्ट थी जिसमें यत्र-तत्र बाण भट्ट की भाँति अलंकृत भाषा का प्रयोग करते हुए स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व एवं उनके सिद्धान्तों की कटु आलोचना की गई थी। इस ग्रन्थ की आरम्भिक पंक्तियों से ही उसकी कृत्रिम तथा वागाडम्बरपूर्ण शैली का आभास मिलता है—"अथैकदा पवित्रतमायां सुलभसुभगगाङ्गप्रवाहायां वाराणस्यां विज्ञैरज्ञैः सर्वैरपि धर्मध्वजशिरोमणिः पुण्यजनप्रवर इति समधिगतः पंकबहुलाल्पजलात्पल्वलात् सद्यः काश्यादि पुण्यतीर्थभुवो दारयन्निव कश्चिद् भिक्षुवेशो देवनिंदाघोरशब्दघुरघुरायितमुखः कलंकयन्निव स्ववेषं प्लावयन्निवाज्ञानाम्भसि जगदशेषं, संजयन्निव सतां चेतसः क्लेशं वञ्चयन्निव स्वदेशं स्वात्मानमेव वञ्चयन् कलुषयंश्च समुपागमत्।"

पं० मोहनलाल ने स्वामीजी के प्रति केवल कुवाच्य प्रयोग करके ही सन्तोष नहीं किया,अपितु उसने तो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को भी "ऋग्वेदादिप्रतारणभूमिका" कहने में भी संकोच नहीं किया। यह दूसरी बात है कि उसकी आलोचना तथ्याश्रित न होकर केवल अपशब्द-वर्षा तक ही सीमित रही। पं० भीमसेन शर्मा ने स्वसम्पादित आर्यसिद्धान्त मासिक में 'महामोहविद्रावण' का सटीक उत्तर दिया। 'आर्यसिद्धान्त' के प्रथम वर्ष (१९४४-४५ वि०) तथा सप्तम वर्ष (१९५१-५२ वि०) के अंकों में यह समालोचना प्रकाशित हुई है।

पण्डित मोहनलाल उदासीन ने स्वग्रन्थ में दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रस्तुत उन तर्कों का क्रमशः खण्डन करने का प्रयत्न किया था जिनसे वेद और ब्राह्मणग्रन्थों की पृथकता सिद्ध की गई थी। भीमसेन शर्मा ने भी उसी प्रकार एक-एक कर पूर्वपक्षी की धारणाओं का खण्डन कर स्वामीजी के मत की पुष्टि की है। यहाँ इस सिद्धान्तपक्ष की शैली का निदर्शन कराना भी आवश्यक है जो स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य भीमसेन शर्मा द्वारा प्रयुक्त की गई थी—"कात्यायनभिन्नैर्ऋषिभिर्वेदसंज्ञायामस्वीकृतत्वात्" दयानन्द-प्रयुक्त इस युक्ति के समर्थन में पण्डित भीमसेन शर्मा ने लिखा—"अत्रोच्यते। मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयमित्यापस्तम्बवचनेन तावदेव वेदत्वं प्रतिपाद्यते यावद् व्याख्येयेन् वेदेन सह व्याख्यानस्य ब्राह्मणस्य तादात्म्यं भवितुं युक्तम्। तच्च वेदव्याख्यानादिति हेतोः समाधाने पूर्वमेवार्यसिद्धान्ते नृगिरा मयाप्रतिपादितम्। यद्यपि लक्ष्यं लक्षणं भवितुं नार्हति तथापि 'लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्' इतिवद् व्याख्यानरूपस्यापि ब्राह्मणग्रन्थस्य वेदत्वमुपपादितम्। तत्र श्रीमद्दयानन्दस्वामिनोक्तम्—यथा लक्ष्यं लक्षणं भवितुमयुक्तं तथैव व्याख्यानरूपा ब्राह्मणग्रन्था व्याख्येयवेदरूपा भवितुं नार्हन्ति। यत्र वेदस्यानादित्वमपौरुषेयत्वं च प्रतिपाद्येते तदंशे ब्राह्मणानां वेदत्वं न सम्भवति किन्तु व्याख्यानव्याख्येययोः सम्बन्धेन कथंचित् सम्भाव्यते। यथा कश्चित्प्रधानामात्यमेव राजानं ब्रूयात्तत्कर्मकारित्वात् तथैवात्रापि विज्ञेयमिति।"

बरेली निवासी उदासीन सम्प्रदाय के महन्त ब्रह्मकुशल ने "ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दु" शीर्षक से दयानन्दकृत वेद-भाष्य-भूमिका का खण्डन लिखना आरम्भ किया। विज्ञापनों से ज्ञात होता है कि महन्त ब्रह्मकुशल द्वारा लिखा गया यह ग्रन्थ कई भागों में समाप्त हुआ था। प्रत्येक भाग में भूमिका के विभिन्न प्रकरणों की समीक्षा की गई थी। प्रारम्भिक भागों में वेदोत्पत्ति-विषयक स्वामी दयानन्द के मत का तथा ब्राह्मणों का वेदत्व प्रतिपादित करते हुए स्वामी दयानन्द द्वारा उद्घोषित "संहिताएँ ही वेद हैं" इस सिद्धान्त का खण्डन किया गया था। महन्त जी की आपत्तियों का उत्तर "ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दुपराग:" शीर्षक से दो भागों में दिया गया। प्रथम भाग पण्डित देवदत्त शास्त्री तथा द्वितीय पण्डित तुलसीराम स्वामी द्वारा लिखा गया था। मन्त्र-ब्राह्मण के भेद का समुचित प्रतिपादन तुलसीराम स्वामी ने निम्न प्रतिज्ञाश्लोक के साथ किया है—

मन्त्रब्राह्मणभेदो यो दयादिस्वामिदर्शितः।
तमेव साधयाम्यत्र खण्डयित्वा तदुक्त्यरीन्॥

इसी प्रकार "ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका प्रश्नमालिका—आर्यसमाजस्थमहाशयनां प्रति' शीर्षक से भूमिकाविषयक प्रश्नों की एक सूची पण्डित शिवचन इन्द्रप्रस्थ-निवासी द्वारा प्रस्तुत की गई। इसका उत्तर पण्डित तुलसीराम स्वामी ने आर्यसिद्धान्त के माध्यम से दिया। भूमिका के खण्डन में एक अन्य पुस्तक हाजीपुर (पंजाब) की सद्धर्म-प्रचारिणी सभा के अध्यक्ष, महन्त रघुवीरदास ने "पाखण्डमतखण्डनकुठार" शीर्षक से लिखी। इसका उत्तर भी पण्डित भीमसेन शर्मा ने 'आर्यसिद्धान्त' के माध्यम से दिया। आगरानिवासी पण्डित घनश्याम ने भूमिका का खण्डन भूमिकाधिक्कार (भूमिकाभास) शीर्षक ग्रन्थ में किया। इसका उत्तर पण्डित द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री ने भूमिकाप्रकाश (१९८१ वि० में बम्बई से प्रकाशित) में दिया था।

स्वामी हरिहरानन्द 'करपात्री' के सम्पादन में कुछ पण्डितों ने वेदार्थ-पारिजात

नामक एक बृहद्ग्रन्थ दो खण्डों में लिखकर २०३६ वि० में प्रकाशित कराया। इसमें मीमांसा-स्वीकृत विवेचनशैली का आश्रय लेकर स्वामी दयानन्दरचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का प्रत्यक्षर खण्डन करने की प्रतिज्ञा की गई थी। इस ग्रन्थ के विषय संस्कृत तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में प्रस्तुत किये गये हैं। केवल 'भूमिका' का ही नहीं, अपितु स्वामी दयानन्द के वेदविषयक विचारों की पुष्टि में लिखे गये पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पण्डित भगवद्दत्त तथा पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक आदि उत्तरवर्ती विद्वानों की एतद्विषयक मान्यताओं के खण्डन का प्रयत्न भी इस ग्रन्थ में हुआ है। आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने स्फुट लेख लिखकर वेदार्थ-पारिजात का उत्तर देने का प्रयत्न किया है। साथ ही, परिश्रमपूर्वक, ग्रन्थरूप में भी इसका प्रौढ़ एवं पूर्ण उत्तर देने और आपत्तियों का समाधान करने का यत्न अभी हाल ही में पण्डित विशुद्धानन्द मिश्र ने वेदार्थ-कल्पद्रुम (प्रथम खण्ड) शीर्षक ग्रन्थ लिखकर किया है। इसे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने प्रकाशित किया है। इसमें भूमिका के वेदोत्पत्ति, वेदनित्यत्व, वेदविषय, देवतास्वरूप तथा छन्द-मन्त्र-एकत्व प्रकरणों पर करपात्री जी कृत आक्षेपों का उत्तर समाविष्ट है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के अनुवाद—स्वामी दयानन्द के वेदविषयक विचारों को जानने की दृष्टि से 'भूमिका' को एक अनिवार्य पाठ्यपुस्तक माना जाना चाहिए। विभिन्न भाषाओं में इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। स्वामी दयानन्द के समकालीन महाशय मथुरादास ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का खुलासा (सार) उर्दू में लिखा था जो १८८२ ई० में प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ भूमिका का शब्दशः अनुवाद न होकर सार-संक्षेप ही था। महाशय मथुरादास सहारनपुर जिले के निवासी थे, किन्तु सेना में सुपरवाइजर के पद पर रहने के कारण इनका अधिकांश सेवाकाल पंजाब में ही व्यतीत हुआ था। १८९८ ई० में महात्मा मुंशीराम जिज्ञासु कृत भूमिका का उर्दू अनुवाद सद्धर्मप्रचारक प्रेस जालंधर से प्रकाशित हुआ। यह ग्रन्थ का तृतीयांश मात्र ही था। एक अन्य उर्दू अनुवाद श्री निहालसिंह ने किया जिसे आर्यन ट्रेडिंग कम्पनी लाहौर ने १९०२ ई० में प्रकाशित किया। पण्डित लक्ष्मण ने भूमिका का उर्दू अनुवाद 'तमहीद तफसीरें ऋग्वेद वगैरा' शीर्षक से किया था।

गुजराती भाषा में भूमिका का अनुवाद पण्डित बालकृष्ण शर्मा तथा पण्डित इच्छाशंकर प्रभाशंकर शर्मा ने सम्मिलित रूप से किया था। इसका प्रथम संस्करण सेठ रणछोड़दास भवान द्वारा १९०५ ई० में प्रकाशित हुआ। द्वितीय आवृत्ति मुम्बई प्रदेश आर्यप्रतिनिधि सभा द्वारा १९२५ वि० में छपी। दयानन्द-निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर आर्यसमाज काकड़वाड़ी बम्बई ने इसका तृतीय संस्करण प्रकाशित किया है। भूमिका का बंगला अनुवाद प्रसिद्ध बंगाली विद्वान् पण्डित शंकरनाथ ने किया जो आर्यावर्त प्रेस कलकत्ता से मुद्रित होकर १९०६ ई० में छपा। ग्रन्थ का उड़िया भाषा में अनुवाद प्रकाशित हो चुका है। इसके अनुवादक पण्डित अखिलेश शर्मा हैं। इसे उत्कल साहित्य संस्थान, गुरुकुल राउरकेला ने प्रकाशित किया है। मराठी में भूमिका के दो अनुवाद प्रकाशित हुए। प्रथम अनुवाद श्रीदास विद्यार्थी द्वारा किया गया। यह पण्डित लक्ष्मण-जानोजी ओघले द्वारा सम्पादित होकर श्रद्धानन्द स्मृति ग्रन्थमाला, बम्बई से प्रकाशित हुआ। द्वितीय अनुवाद मराठी भाषा में स्वामी दयानन्द के जीवनचरित-लेखक पण्डित

हरि सखाराम तुंगार द्वारा किया गया था।

दक्षिण भारतीय भाषाओं में भूमिका के जो अनुवाद हुए हैं उनके विषय में हमारी जानकारी इस प्रकार है। कन्नड़ अनुवाद १९३३ ई० में वैदिक धर्म प्रचार संघ मेंगलोर द्वारा प्रकाशित हुआ था। मलयालम के सुप्रसिद्ध साहित्यकार पण्डित नरेन्द्र-भूषण ने भूमिका का मलयालम अनुवाद वेदपर्यटनम् शीर्षक से किया है जो वैदिक साहित्य परिषद् चेंगनूर (केरल) द्वारा १९७३ ई० में प्रकाशित हुआ है। भूमिका का तेलुगु अनुवाद पण्डित गोपदेव ने किया है।

अंग्रेजी में पण्डित घासीराम ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के संस्कृतभाग का अनुवाद किया था। इसका प्रथम संस्करण १९२५ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त-प्रांत द्वारा प्रकाशित हुआ। सार्वदेशिक सभा तथा दयानन्द-संस्थान नई दिल्ली ने इसके अन्य संस्करण प्रकाशित किये थे। डॉ० परमानन्द ने भूमिका का प्रामाणिक अंग्रेजी अनुवाद वृहद् आलोचनात्मक भूमिका तथा अनेक पाद-टिप्पणियों के साथ किया। अनुवादक को इस संस्करण पर पंजाब विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई थी। मेहरचन्द लक्ष्मणदास ने इसे १९८१ ई० में प्रकाशित किया है। जोधपुर विश्वविद्यालय ने डॉ० कृष्णपालसिंह को उनके शोधग्रन्थ 'महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का समालोचनात्मक अध्ययन' पर १९८३ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की। यह ग्रन्थ अभी अप्रकाशित ही है।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के कुछ विशिष्ट अंशों के संकलन पुस्तकाकार भी छपे, यथा—दलपतराय विद्यार्थी सम्पादित वेदभाष्यभूमिका संग्रह (१८९५ ई०); प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार तथा पण्डित श्रीनिवास शास्त्री द्वारा सम्पादित बालऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका, पं० रामदयालु शास्त्री-सम्पादित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकासार। श्री राम-लाल कपूर ट्रस्ट ने भूमिकाविषयक उपयोगी ऐतिहासिक सामग्री को ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका परिशिष्ट शीर्षक से ग्रन्थाकार प्रकाशित किया है।

(ख) सत्यार्थप्रकाश

भारत के धार्मिक एवं सांस्कृतिक नवजागरण के अग्रदूत स्वामी दयानन्द सरस्वती की अद्वितीय साहित्यिक उपलब्धि उनके द्वारा रचित ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश है। इसे विश्व के धार्मिक विचारसमूह का नवनीत तथा दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चिन्तन का सारसर्वस्व कहा जा सकता है। सत्यार्थप्रकाश दो भागों में विभक्त है, पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध, जिनमें क्रमशः १० तथा ४ समुल्लास (अध्याय) हैं। प्रथम दस समुल्लास मानव-जीवन के विधायक कर्त्तव्यों का विवेचन करते हैं तथा वैदिक विचारधारा के अनुकूल जीवनयापन की एक आदर्श पद्धति का निरूपण करते हैं। इन दस समुल्लासों में क्रमशः ईश्वर तथा उसके अनेक नाम, बालकों का पालन एवं उनकी शिक्षा, उच्चतर शास्त्रीय शिक्षा-व्यवस्था तथा आर्ष ग्रन्थों की पठन-पाठन-प्रणाली, गार्हस्थ्य-धर्म और उसकी आनुषंगिक समस्यायें, वानप्रस्थ और परिव्राजकों के कर्त्तव्य कर्म, और प्रजा के अन्योन्याश्रित धर्म एवं कर्त्तव्य, वैदिक धर्म में प्रतिपादित ईश्वर का स्वरूप तथा ईश्वरीय ज्ञान—वेद, सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयविषयक वैदिक चिन्तन, जीवात्मा के बन्धन एवं मोक्ष का कारण तथा मुक्ति के साधन, आचार-अनाचार, भक्ष्य और अभक्ष्य

जैसे विषय वर्णित एवं विवेचित हुए हैं।

ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध के चार समुल्लासों में आर्यावर्तदेशान्तर्गत प्रचलित सम्प्रदाय एवं विभिन्न मतमतान्तर, चार्वाक, जैन तथा बौद्ध आदि एतद्देशीय अवैदिक (नास्तिक) मत, ईसाइयत तथा इस्लामविषयक मान्यताओं तथा धारणाओं की सतर्क, सप्रमाण तथा पूर्वाग्रहमुक्त समीक्षा की गई है। इस प्रकार ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में मनुष्यमात्र के लिए आचरणीय धर्म का एक व्यापक एवं सार्वभौम रूप स्थापित करने के साथ-साथ लेखक ने उत्तरार्द्ध के खण्डनात्मक अध्यायों को लिखकर यह भी बता दिया है कि संसार में नाना प्रकार के विरोधी भावों को उत्पन्न करने का दायित्व विभिन्न मत-सम्प्रदायों पर ही है और वे ही मनुष्य में विद्यमान अज्ञान, हठ, दुराग्रह तथा अंधधारणाओं के लिए उत्तरदायी हैं। स्वामी दयानन्द ने इस ग्रन्थ के अन्त में 'स्वमन्तव्यामन्तव्य' शीर्षक प्रकरण लिखकर धर्म के उस सार्वजनिक रूप की स्थापना की है जो उनके कथनानुसार इस देश में ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त ऋषि-मण्डली को मान्य रहा है।

सत्यार्थप्रकाश जैसे विश्वधर्म के अद्वितीय कोशरूपी ग्रन्थ को लिखने की प्रेरणा स्वामी दयानन्द को उनके अनुयायी राजा जयकृष्णदास से मिली। राजा साहब मुरादाबाद-निवासी राणायनीय शाखा के सामवेदी, माथुर चतुर्वेदी ब्राह्मण थे। वे बिजनौर, वाराणसी, मुरादावाद आदि स्थानों पर डिप्टी कलैक्टर के पद पर रहे थे। ब्रिटिश सरकार से उन्हें सी० आई० ई० की उपाधि भी प्राप्त हुई थी। स्वामीजी से जब राजा साहब की काशी में भेंट हुई तो उन्होंने उनसे निवेदन किया कि वे अपने मान्य सिद्धान्तों और विचारों का निरूपण करते हुए एक ऐसा ग्रन्थ लिख दें जो उन सभी लोगों के लिए उपयोगी सिद्ध होगा, जिन्हें कि स्वामीजी से साक्षात् उपदेश-श्रवण करने का अवसर नहीं मिल सकता। फलतः स्वामीजी ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के लेखन का संकल्प किया। राजा महोदय ने न केवल ग्रन्थ के मुद्रण तथा प्रकाशन का दायित्व वहन करना ही स्वीकार किया, अपितु पण्डित चन्द्रशेखर नामक एक महाराष्ट्रीय ब्राह्मण को भी स्वामीजी की सेवा में नियुक्त किया, जो ग्रन्थ-लेखन में उनकी सहायता करता था। उस समय तक स्वामीजी को हिन्दी भाषा का अच्छा अभ्यास नहीं था, अतः स्वामीजी द्वारा अभिव्यक्त विचारों को लेखबद्ध करने का भार पण्डित चन्द्रशेखर पर पड़ा।

सत्यार्थप्रकाश का लेखन १२ जून १८७४ को आरम्भ हुआ तथा सितम्बर १८७४ में समाप्त हुआ। लेखनकार्य समाप्त हो जाने पर इसे प्रकाशित करने के लिए राजा जयकृष्णदास को सौंपा गया। सत्यार्थप्रकाश का यह प्रथम संस्करण मुंशी हरिवंशलाल के स्टार प्रेस में मुद्रित होकर १८७४ ई० में प्रकाशित हुआ। यह हम लिख चुके हैं कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के लिखे जाने तक स्वामी दयानन्द का हिन्दी भाषा पर विशेष अधिकार नहीं था। इस संस्करण को पढ़ने से प्रथम धारणा यही बनती है कि ग्रन्थकार ने प्रत्येक अध्याय के विषय से सम्बन्धित अपनी विचारधारा से पाण्डुलिपि-लेखक को परिचित करा दिया होगा। इसी सामग्री के आधार पर राजा जयकृष्णदास द्वारा नियुक्त पण्डित चन्द्रशेखर ने ग्रन्थ की रूपरेखा तैयार कर उसे लिपिबद्ध कर डाला होगा। ग्रन्थ के प्रकाशन एवं मुद्रण की भी पूर्ण व्यवस्था राजा साहब ने ही की थी। स्वामी दयानन्द को तो इतना अवकाश भी नहीं मिला कि छपने के पूर्व वे प्रूफ देख सकते अथवा पाण्डुलिपि में समुचित संशोधन कर सकते। इसका परिणाम यह निकला कि

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में यत्र-तत्र ऐसे विचारों का समावेश हो गया, जो स्वामीजी को अभिप्रेत नहीं थे। कालान्तर में सत्यार्थप्रकाश के इस संस्करण के कतिपय जागरूक पाठकों द्वारा जब यह तथ्य उनके समक्ष में लाया गया तो उन्होंने अपना स्पष्टीकरण देते हुए एक विज्ञापन प्रकाशित कराया। इसमें उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि "जो-जो मेरे बनाये सत्यार्थप्रकाश वा संस्कारविधि आदि ग्रन्थों में गृह्यसूत्र वा मनुस्मृति आदि पुस्तकों के वचन बहुत-से लिखे हैं उनमें से वेदार्थ के अनुकूल साक्षिवत् प्रमाण और विरुद्ध को अप्रमाण मानता हूँ।" इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने ग्रन्थों में स्वामीजी ने विभिन्न प्रकरणों में जो मन्वादि स्मृतियों तथा गृह्यादि सूत्रग्रन्थों के प्रमाण उद्धृत किये हैं, वे तत्-तत् आचार्यों का मत निर्दिष्ट करने की दृष्टि से ही दिये गये हैं। अन्य शास्त्रों से उद्धृत किये गये इन वचनों को स्वामी दयानन्द भी यथावत् स्वीकार करते हैं, यह मानना भ्रमपूर्ण ही है। स्वामीजी को तो वही मत स्वीकार्य है जो वेदानुकूल है तथा युक्ति एवं तर्क से सिद्ध है।

एक अन्य बात भी थी। सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कारविधि के प्रथम संस्करणों की पाण्डुलिपियाँ तैयार करनेवाले पण्डितगण स्वयं स्वामीजी की विचारधारा के अनुयायी नहीं थे। उनकी तो यह चेष्टा रहती थी कि यत्र-तत्र इन ग्रन्थों में वे स्वविचारों को स्वामीजी के नाम से प्रक्षिप्त करते रहें। यही कारण है कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में मृतकों का श्राद्ध व तर्पण एवं यज्ञ में पशुहिंसा आदि कई ऐसे प्रकरण भी समाविष्ट हो गये, जो स्वामी जी की मान्यता के विरुद्ध थे। कालान्तर में इस विषय का स्पष्टीकरण करते हुए स्वयं राजा जयकृष्णदास ने स्वामी दयानन्द के जीवनी-लेखक पण्डित देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को कहा था—"सत्यार्थप्रकाश में जो मत स्वामी जी का लिखा गया वा जो कुछ पीछे परिवर्तित हुआ उसके लिये स्वामीजी इतने उत्तरदाता नहीं हैं। स्वामीजी को उस समय प्रूफ देखने का अवकाश ही नहीं था। पहले-पहले स्वामीजी सभी लोगों को अच्छा समझकर उनका विश्वास कर लेते थे। हो सकता है कि लेखक वा मुद्रक द्वारा यह सब मत सत्यार्थप्रकाश में छापा गया हो और यह भी हो सकता है कि उनका मत पीछे परिवर्तित हो गया हो।"

उपर्युक्त कथन से निम्न निष्कर्ष निकलते हैं—(१) स्वामीजी को इस संस्करण के प्रूफ देखने का अवसर नहीं मिला था, (२) पाण्डुलिपि-लेखक अथवा मुद्रक ने भी अपने मत को स्वामीजी के नाम पर पुस्तक में डाल दिया है, (३) अनेक बातों में स्वामी जी का मत भी कालान्तर में परिवर्तित हो गया था।

यहाँ यह लिख देना भी आवश्यक है कि केवल पुस्तक के लिपिकर्ता अथवा मुद्रक को ही दोषी ठहराना पर्याप्त नहीं है। सम्भावना तो यह भी दिखाई देती है कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में मृतकश्राद्ध तथा पशुहिंसाविषयक जो प्रक्षेप हुए हैं उनमें ग्रन्थ के सर्वाधिकारी प्रकाशक राजा जयकृष्णदास की भी निश्चय ही सम्मति रही होगी। इस धारणा की पुष्टि भी हो जाती है और वह इस प्रकार कि राजाजी ने १९३९ वि० में नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से पञ्चमहायज्ञविधि का एक संस्करण प्रकाशित कराया था जिसे उन्होंने "दयानन्दसरस्वतीस्वामि विरचितेन भाष्येनानुगतः" कहा है। परन्तु आश्चर्य है कि इसमें स्वामी दयानन्दरचित पंचमहायज्ञविधि में उल्लिखित जीवित पितरों के श्राद्धविषयक वाक्यों के स्थान पर मृत पितरों के श्राद्ध एवं तर्पण का उल्लेख

मिलता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा साहब का मृतकश्राद्ध के प्रति निश्चित आग्रह था। फलतः उन्होंने अपनी इन्हीं धारणाओं को अवसर मिलने पर स्वामीजी के ग्रन्थों में भी प्रक्षिप्त कराने में कोई कसर नहीं रक्खी।

परन्तु सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण का अध्ययन करने पर राजा साहब के तृतीय कथन की भी पुष्टि हो जाती है कि कुछ बातों में तो स्वामीजी ने स्वयं के मत को भी द्वितीय संस्करण तक आते-आते बदल लिया होगा।

सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। उसमें अनेक ऐसी बातें भी समाविष्ट हैं जो महत्त्वपूर्ण होते हुए भी द्वितीय संस्करण में प्रवेश नहीं पा सकीं। सत्यार्थप्रकाश का लेखन स्वामीजी ने सुव्यवस्थित रूपरेखा बनाने के पश्चात् ही किया था। इसके उत्तरार्द्ध में वर्तमान संस्करण की ही भाँति चार समुल्लास थे। किन्तु मुद्रण की शीघ्रता अथवा ग्रन्थ के प्रकाशक राजा साहब की अनिच्छा के कारण त्रयोदश और चतुर्दश समुल्लासों का समावेश प्रकाशित संस्करण में नहीं हो सका, यद्यपि राजा साहब के परिवार में इस संस्करण की जो हस्तलिखित प्रति विद्यमान है उसमें ये दोनों समुल्लास मिलते हैं। सम्भवतः राजा जयकृष्णदास नहीं चाहते थे कि ईसाइयों और मुसलमानों के सम्बन्ध में लिखे गये ये आलोचनात्मक भाग उस पुस्तक में रहें, जिसका प्रकाशन 'सी० आई० ई०' तथा 'राजा' की उपाधि प्राप्त उस व्यक्ति ने किया है जो अंग्रेजों का पूर्ण कृपापात्र है तथा डिप्टी कलैक्टर के पद पर कार्य कर रहा है।

सत्यार्थप्रकाश का द्वितीय संशोधित संस्करण—प्रथम संस्करण के समाप्त हो जाने के पश्चात् स्वामीजी को इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण को प्रकाशित कराने की आवश्यकता अनुभव हुई। वे चाहते थे कि द्वितीय संस्करण पूर्णतः संशोधित तथा परिवर्द्धित हो, अतः उसका दुबारा लिखाया जाना आवश्यक था। वे नहीं चाहते थे कि प्रथम संस्करण की ही भाँति इसमें भी लेखकों के द्वारा मनमाने ढंग से सिद्धान्तविरुद्ध बातें छप जावें अथवा पूर्वसंस्करण की ही भाँति इसमें भी भाषासम्बन्धी व अन्य मुद्रण-जन्य दोष रह जावें। इस बीच वेदभाष्य-लेखन का एक अन्य बृहत् अनुष्ठान उन्होंने आरम्भ कर दिया था। धर्मप्रचार के कार्य से भी उन्हें अधिक अवकाश नहीं मिल पाता था, तथापि उन्होंने सत्यार्थप्रकाश का संशोधित संस्करण तैयार कर प्रकाशनार्थ भेज दिया। इस बार ग्रन्थ का मुद्रण उनके निजी वैदिक यंत्रालय में, विश्वसनीय प्रबन्धक मुंशी समर्थदान की देख-रेख में होना था, इसलिए ग्रन्थ के सुव्यवस्थित मुद्रण के प्रति वे आश्वस्त थे। संशोधित सत्यार्थप्रकाश की भूमिका उदयपुर में लिखी गई है, जिसमें ग्रन्थ-रचना के प्रयोजन तथा मत-मतान्तरों के खंडन के औचित्य को भी स्पष्ट कर दिया गया है। यह संस्करण स्वामी जी के जीवनकाल में ही मुद्रित होना आरम्भ हो गया था, परन्तु उसका प्रकाशन उनके निधन के लगभग एक वर्ष पश्चात् १८८४ ई० में हो सका।

खण्डन-मण्डन के समुल्लासों को लिखने में स्वामीजी को विशेष कठिनाई हुई। वैदिकधर्म के ही प्रकारान्तर से विकृत रूप शैव, शाक्त, वैष्णव, आदि सम्प्रदायों के ग्रन्थ तो उन्हें उपलब्ध थे परन्तु जैन-मत के ग्रन्थों को प्राप्त करना उनके लिए सुविधाजनक नहीं था। प्रथम संस्करण के द्वादश समुल्लास में जैन मत के विषय में वे बहुत अधिक नहीं लिख पाये थे। मात्र सर्वदर्शनसंग्रह के चार्वाक-मत-विषयक उद्धरणों की आलोचना एवं जैन सम्प्रदाय के विषय में सर्वप्रचलित बातों की समीक्षा करने से अधिक कुछ करना

उनके लिए सम्भव नहीं हो सका था। परन्तु अब उन्होंने जैन और बौद्ध मतों के सम्बन्ध में विशिष्ट जानकारी प्राप्त की। बम्बई आर्यसमाज के मन्त्री श्री सेवकलाल कृष्णदास की सहायता से उन्हें अनेक जैन ग्रन्थ प्राप्त हुए। ये ग्रन्थ मुख्यतः जैनियों के दिगम्बर आम्नाय से सम्बन्धित थे। स्वामीजी की द्वितीय संस्करण में लिखी गई जैन मत की आलोचना का मुख्य आधार भी यही ग्रन्थ हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि गुजराँवाला-(पंजाब)-निवासी एक जैन मतानुयायी श्री ठाकुरदास ने प्रथम संस्करण में लिखी गई जैन-मत की आलोचना को आधार बनाकर स्वामीजी पर अदालत में अभियोग चलाने की भी धमकी दी थी, परन्तु जब स्वामीजी के कानूनी परामर्शदाताओं द्वारा समुचित कार्यवाही की गई तो यह प्रसंग समाप्त हो गया। प्रथम और द्वितीय संस्करण में जो स्वामीजी ने जैन और बौद्ध मत को एक बताया है, यह उनके स्वयं के विचार थे या नहीं, यह तो कहना कठिन है, परन्तु इतना अवश्य कहा जा सकता है कि राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द लिखित ग्रन्थ इतिहास-तिमिर-नाशक के आधार पर ही उन्होंने यह मत प्रकट किया था।

स्वामी दयानन्द के समय तक ईसाइयों की धर्मपुस्तक बाइबिल के विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो चुके थे। स्वामीजी ने इन्हीं अनुवादों को देखकर त्रयोदश समुल्लास में ईसाई मत की समीक्षा लिखी है। पं० महेशप्रसाद मौलवी के अनुसार स्वामीजी की समीक्षाओं का आधार मिशन प्रेस इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित बाइबिल का वह संस्करण है जिसका पुराना नियम (प्रथम भाग) १८६६ ई० में तथा नया नियम १८७४ ई० में प्रकाशित हुआ था। बाइबिल की कुछ प्रतियाँ समय-समय पर ईसाई मत-प्रचारकों द्वारा स्वामीजी को भेंटरूप में भी मिली थीं।

इस्लाम के आधारभूत ग्रन्थ कुरान का एक हिन्दी अनुवाद स्वयं स्वामीजी ने तैयार कराया था। अनुवादक का नाम तो अज्ञात है किन्तु स्वामीजी के एक पत्र से ज्ञात होता है कि इस हिन्दी अनुवाद का संशोधन पटना-निवासी मुंशी मनोहरलाल ने किया था, जो स्वयं अरबी के अच्छे विद्वान् थे। कुरान के हिन्दी अनुवाद की यह पाण्डुलिपि परोपकारिणी सभा के पुस्तकसंग्रह में सुरक्षित है। जिस समय सत्यार्थप्रकाश का अन्तिम समुल्लास छप रहा था, उसी समय स्वामी दयानन्द का निधन हो गया। वे अपने जीवन-काल में ग्रन्थ के इस अंश का समुचित संशोधन नहीं कर सके थे। यह कार्य स्वामीजी के अत्यन्त विश्वसनीय तथा वैदिक यंत्रालय के सुयोग्य प्रबन्धक मुंशी समर्थदान ने किया।

सत्यार्थप्रकाश का संशोधन, सम्पादन एवं पाठनिर्धारण—सत्यार्थप्रकाश जैसे विख्यात, लोकप्रिय तथा कालजयी ग्रन्थ के संशोधन, सम्पादन आदि को लेकर नाना कठिनाइयों का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। यह हम देख ही चुके हैं कि समयाभाव के कारण स्वामीजी को अपने जीवनकाल में ही उसे सम्पूर्णतया संशोधित करने तथा मुद्रित होते समय उसके अन्तिम प्रूफ देखने का अवसर नहीं मिला था। प्रथम संस्करण में तो जो विभिन्न शास्त्रों के उद्धरण दिये गये हैं, उनके ठीक-ठीक पते देना भी उस समय सम्भव नहीं हो सका था। द्वितीय संस्करण में उद्धरणों के पते देने का प्रयास तो किया गया था परन्तु उसमें भी अनेक भूलें रह गई थीं। कालान्तर में जब आर्यसमाजेतर आक्षेपकर्ताओं ने इस ओर ग्रन्थ के प्रकाशकों का ध्यान आकृष्ट किया तो यह आवश्यक समझा गया कि संशोधनीय स्थलों का ठीक-ठीक संशोधन किया जाए तथा शास्त्रीय

उद्धरणों के पतों को भी दुरुस्त किया जाए।

यह हम देख चुके हैं कि स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के मुद्रण के समय अपने विश्वासपात्र मुंशी समर्थदान को ग्रन्थ में समुचित सुधार, संस्कार, यहाँ तक कि परिवर्तन का अधिकार भी दे रक्खा था। यही कारण है कि ग्रन्थ के कतिपय स्थलों पर मुंशी जी ने स०दा० (समर्थदान का संक्षिप्त रूप) के साथ अपनी पादटिप्पणियाँ प्रस्तुत की हैं। ग्रन्थ का द्वितीय संस्करण यद्यपि लेखक के द्वारा किये गये अथवा अनुमोदित संशोधनों के पश्चात् ही छपा था, किन्तु उसमें भी यत्र-तत्र मुद्रणजन्य भूलें रह गई थीं। तृतीय संस्करण का संशोधन पण्डित भीमसेन शर्मा तथा पण्डित ज्वालादत्त शर्मा ने किया। ये दोनों पण्डित ग्रन्थों के लिपिकर्ता तथा प्रूफसंशोधक के रूप में पर्याप्त समय तक स्वामीजी के साथ काम कर चुके थे, तथापि स्वामीजी को उनके कार्य से सन्तुष्टि नहीं थी। वे यदा-कदा अपने पत्रों के द्वारा संशोधनकर्त्ता पण्डितों की भूलों की ओर संकेत भी करते थे। तृतीय संस्करण के संशोधन में भी उनसे अनेक भूलें हुई हैं।

स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के मुद्रण एवं प्रकाशन के सम्बन्ध में सम्पूर्ण स्वत्व रखनेवाली परोपकारिणी सभा के तृतीय अधिवेशन में पण्डित लेखराम ने सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों का प्रश्न उठाया। पुनः चतुर्थ अधिवेशन में स्वामी विश्वेश्वरानन्द और ब्रह्मचारी नित्यानन्द का एक पत्र पढ़ा गया जिसमें उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में विद्यमान अनेक भूलों की ओर सभासदों का ध्यान आकृष्ट किया था। १८९५ ई० के अधिवेशन में श्री रामगोपाल और श्री रामदुलारे वाजपेयी के प्रस्तावानुसार सभा ने निश्चय किया कि सत्यार्थप्रकाश तथा अन्य ग्रन्थों में जो मुद्रणजन्य त्रुटियाँ तथा सन्दर्भों की भूलें रह गई हैं, उनके सम्बन्ध में पण्डित लेखराम से सम्पर्क किया जाकर उन्हें सुधारने का यत्न किया जाना चाहिए।

सत्यार्थप्रकाश के संशोधन एवं सम्यक् सम्पादन का प्रश्न समय-समय पर परोपकारिणी सभा के सम्मुख आता रहा। फलतः २९ दिसम्बर १९१८ ई० को एक प्रस्ताव स्वीकार कर सभा ने स्वामी श्रद्धानन्द, स्वामी सर्वदानन्द, स्वामी स्वतन्त्रानन्द तथा पण्डित भगवद्दत्त की एक समिति बनाकर सत्यार्थप्रकाश के संशोधनों का काम उसे सौंपा। फलतः १९१९ के दिसम्बर मास में पण्डित भगवद्दत्त ने अजमेर में लगभग एक महीना रहकर सत्यार्थप्रकाश की दो मूल हस्तलिखित प्रतियों से तत्कालीन मुद्रित संस्करण का मिलान किया और पाठान्तरों का संकलन किया। इस कार्य में उन्हें स्वर्गीय अजितसिंह सत्यार्थी का भी सहयोग मिला। इस प्रकार पाण्डुलिपियों के मिलान के पश्चात् तैयार की गई नवीन प्रेस-कापी १९२० में सभा के अधिवेशन में विचारार्थ प्रस्तुत हुई। सभा द्वारा प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश का १६वाँ संस्करण इसी संशोधित प्रेस-कापी के आधार पर छपा। परन्तु खेद है कि इस संशोधित संस्करण की भूमिका के रूप में लिखा गया पण्डित भगवद्दत्त का उपयोगी वक्तव्य इस संस्करण में नहीं छप सका।

१९२५ ई० में स्वामी दयानन्द की जन्मशताब्दी के अवसर पर 'दयानन्द-ग्रन्थमाला' शीर्षक से जब स्वामीजी के सभी ग्रन्थों को दो खण्डों में प्रकाशित किया गया तो सत्यार्थप्रकाश का संशोधनकार्य पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार के सुपुर्द हुआ। इसके पश्चात् जब सिन्ध में सत्यार्थप्रकाश की जब्ती का आन्दोलन चला तो यह आवश्यक समझा गया कि चतुर्दश समुल्लास में उद्धृत आयतों की संख्या को पूर्ण शुद्ध कर छापा

जाय। यह कार्य अरबी-फारसी के मर्मज्ञ विद्वान् पण्डित महेशप्रसाद मौलवी से १९४३ ई० में कराया गया। वैदिक यंत्रालय के ३२वें संस्करण का सम्पादन पण्डित भद्रसेन ने किया। इसमें कुछ नवीन टिप्पणियाँ दी गईं और कुछ पाठों में परिवर्तन किया गया।

चौंतीसवें संस्करण का सम्पादन श्री धर्मसिंह कोठारी ने किया। इस संस्करण को तैयार करने में उन्होंने उपलब्ध पाण्डुलिपियों का तुलनात्मक अध्ययन भी किया और श्रमपूर्वक मूल हस्तलेखों तथा उपलब्ध संस्करणों से मिलाकर पाठ-शोधन किया।

परोपकारिणी सभा द्वारा जब स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों को छापने का एकाधिकार समाप्त हो गया तो अन्य प्रकाशकों ने भी इन ग्रन्थों को छापना आरम्भ कर दिया। १९८१ वि० (१९२५) में स्वामीजी की जन्म-शताब्दी के अवसर पर गोविन्दराम-हासानन्द कलकत्ता ने पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार से सम्पादित कराकर सत्यार्थ-प्रकाश का एक संस्करण प्रकाशित किया। इसमें अनेक पाठों का संशोधन तो था ही; विस्तृत विषय-सूची तथा ग्रन्थान्त में प्रमाण-सूची भी दी गई थी। २०२१ वि० में इसी प्रकाशक ने पण्डित भगवद्दत्त से सत्यार्थप्रकाश का संशोधन कराया। अपनी सम्पादकीय भूमिका में पण्डित भगवद्दत्त ने ग्रन्थ के संशोधन एवं सम्पादन हेतु किये गये विगत कार्यों का आकलन भी किया है। विभिन्न अपपाठों का शोधन, अनेक उपयुक्त पादटिप्पणियों तथा ग्रन्थ में उद्धृत शास्त्रीय प्रमाणों की सूची दे देने से इस संस्करण की उपयोगिता बढ़ गई है। आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर द्वारा प्रकाशित तृतीय संस्करण का सम्पादन पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने किया। इसमें प्रथम बार लम्बे सन्दर्भों को लघु सन्दर्भों में विभाजित किया गया।

स्थूलाक्षरी संस्करण—स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने सत्यार्थप्रकाश का स्थूलाक्षरी संस्करण २०१३ वि० में प्रकाशित किया। यद्यपि मूल पाठ के निर्धारण की दृष्टि से इस संस्करण की अधिक उपयोगिता नहीं है, क्योंकि सम्पादक ने जिन पाठों को अपने जानते अशुद्ध समझा उन्हें बदलने में उसने कोई संकोच नहीं किया। इस दृष्टि से यह कार्य अनुत्तरदायित्वपूर्ण ही कहा जाएगा; किन्तु ग्रन्थ में प्रतिपादित विषय-सामग्री की पुष्टि में उसने जो यत्र-तत्र पादटिप्पणियाँ दी हैं, वे सम्पादक के विशाल अध्ययन एवं अन्वेषण की परिचायिका हैं। ग्रन्थान्त में विस्तृत विषयसूची और उद्धरणसूची ने भी इस संस्करण की उपयोगिता को बढ़ा दिया है। एक अन्य स्थूलाक्षरी संस्करण पण्डित जगदेवसिंह शास्त्री सिद्धान्ती द्वारा सम्पादित होकर भी प्रकाशित हुआ।

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली ने पण्डित सुदर्शनदेव शास्त्री द्वारा सम्पादित कराकर सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण को यथावत् प्रकाशित किया। प्रकाशक की यह धारणा है कि द्वितीय संस्करण ही स्वामीजी द्वारा मान्यताप्राप्त संस्करण है और किसी प्रकार की न्यूनाधिकता किये बिना, इसी संस्करण को प्रचारित किया जाना चाहिए। द्वितीय संस्करण की महत्ता को स्वीकार करते हुए भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि इस संस्करण में भी जो मुद्रणजन्य दोष रह गये थे तथा प्रमाणों के पते देने में जो भूलें हो गई थीं, जब तक उन्हें ठीक नहीं कर लिया जाए तब तक द्वितीय संस्करण को यथावत् छापने का क्या औचित्य हो सकता है?

सत्यार्थप्रकाश के पाठालोचन, पाठनिर्धारण तथा इसे सर्वांगपूर्ण बनाकर प्रकाशित करने का श्रेय स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के सुधी अध्येता पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक को

है। मीमांसक जी ने २०२६ वि० में रामलाल कपूर ट्रस्ट के माध्यम से इस ग्रन्थ का संशोधित संस्करण प्रकाशित किया। इसमें द्वितीय संस्करण के आधार पर शुद्ध पाठ का निर्धारण करने के साथ-साथ लगभग ३२०० पादटिप्पणियाँ दी गई हैं जिनसे ग्रन्थ-विषयक अनेक सन्दर्भों को समझने में सहायता मिलती है। ग्रन्थान्त में विभिन्न सूचियाँ तथा परिशिष्ट दिये गये हैं। ग्रन्थारम्भ में सम्पादक ने सत्यार्थप्रकाश-लेखन एवं मुद्रण के इतिहास को देते हुए ग्रन्थ-विषयक प्रत्येक घटनाक्रम को सुस्पष्ट किया है, साथ ही ग्रन्थ में विवेचित विषयों की एक विस्तृत सूची भी दी है। इसी संस्करण की एक अन्य आवृत्ति २०३२ वि० में आर्यसमाज-शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित हुई। निस्संदेह मीमांसक जी का यह संस्करण प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण है।

सत्यार्थप्रकाश की लोकप्रियता—सत्य धर्म की जिज्ञासा तथा उसे प्रकाशित करने की दृष्टि से लिखा गया दयानन्द सरस्वती-प्रणीत सत्यार्थप्रकाश संसार के धर्म-ग्रन्थों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि विगत एक शताब्दी में इस ग्रन्थ के सैकड़ों संस्करण प्रकाशित हुए हैं तथा इसकी लाखों प्रतियाँ धर्मतत्त्व के जिज्ञासु पुरुषों के हाथों में पहुँची हैं। वस्तुतः सत्यार्थप्रकाश की रचना का उद्देश्य सत्य अर्थ का प्रकाश करना है। आर्य-जीवन-दर्शन तथा आर्य-जीवन-प्रणाली की परिपूर्णता, व्यावहारिकता तथा उपादेयता को लेखक ने प्रबल शब्दों में प्रतिपादित किया है। इसमें जहाँ मानव-जीवन के लौकिक पहलुओं तथा सांसारिकता से सम्बन्धित प्रश्नों एवं समस्याओं के समाधान का समुचित प्रयास किया गया है, वहाँ मनुष्य की दार्शनिक जिज्ञासा और उसके धर्म एवं अध्यात्म-विषयक प्रश्नों का भी उत्तर देने का प्रयत्न किया गया है। यदि विषयक्रम की दृष्टि से सत्यार्थप्रकाश के अध्यायों का पुनर्वर्गीकरण किया जाए तो द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, षष्ठ तथा दशम, इन छह समुल्लासों को एक साथ रखना होगा। इस प्रकार बालकों का लालन-पालन और शिक्षा, उच्चस्तरीय पठन-पाठन, गृहस्थ-कर्त्तव्य, वानप्रस्थियों और संन्यासियों की जीवनचर्या, राजधर्म तथा खाद्याखाद्य एवं आचार-अनाचार के विषय एक ही क्रम में आ जायेंगे। इन छः समुल्लासों को इसी क्रम में पढ़ने से मानवी जीवन के वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा राष्ट्रीय इतिकर्त्तव्यों की एक स्पष्ट धारणा हमारे मन में उभर सकेगी। प्रथम, सप्तम, अष्टम तथा नवम अध्यायों को हम ग्रन्थ के अध्ययन का दूसरा सोपान मानेंगे। इनमें आध्यात्मिक और दार्शनिक विषयों की विवेचना हुई है। प्रथम समुल्लास में ईश्वर और उसके कतिपय नामों की व्याकरण-प्रक्रिया से व्याख्या करने के पश्चात् लेखक सप्तम समुल्लास में ईश्वर के स्वरूप, गुण, कर्म, स्वभाव आदि का परिचय देता है। इसके साथ ही ईश्वरीय ज्ञान वेद का विवेचन भी प्रसंगोपात्त हुआ है। वेद-विषयक लगभग सभी शंकाओं का समाधान कर लेखक ने संसार के प्राचीनतम वाङ्मय के प्रति फैलीं अनेक भ्रमपूर्ण धारणाओं का निराकरण किया है। सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय, बन्धन एवं मोक्ष आदि ऐसे विषय हैं जिनका विवेचन आर्यजाति के प्राचीन दार्शनिकों ने अत्यन्त गम्भीरता के साथ मनोनिवेशपूर्वक किया था। सत्यार्थप्रकाश के लेखक ने इन विषयों को शास्त्रीय संदर्भ में उपस्थित करने के साथ-साथ बौद्धिक तथा वैज्ञानिक धरातल पर निरूपित करने का भी प्रयास किया है।

सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध में लेखक द्वारा मत-मतान्तरों की जो तथ्याश्रित एवं

तर्कपूर्ण समालोचना की गई है, उसके प्रयोजन को समझने में अनेक लोगों से भूल हुई है। प्राय: यह कहा जाता है कि क्या वैदिक धर्म तथा आर्य-जीवन-प्रणाली का रचनात्मक एवं विधेयात्मक पक्ष प्रस्तुत किया जाना ही पर्याप्त नहीं था? क्या आवश्यकता थी अन्य मतों के खण्डन-मण्डन की? प्रतीत होता है कि लेखक स्वयं भी जानता था कि कालान्तर में इस प्रकार की शंकाएँ सहज ही उठाई जायेंगी। तभी तो उसने ग्रन्थारम्भ करने से पूर्व भूमिका में ही विभिन्न मत-सम्प्रदायों की आलोचना में निहित अपनी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए लिख दिया था—"मेरा इस ग्रन्थ को बनाने का मुख्य प्रयोजन सत्य अर्थ का प्रकाश करना है, अर्थात् जो सत्य है उसको सत्य और जो मिथ्या है उसको मिथ्या ही प्रतिपादित करना, सत्य अर्थ का प्रकाश समझा है। वह सत्य नहीं कहाता जो सत्य के स्थान में असत्य और असत्य के स्थान में सत्य का प्रकाश किया जाय। किन्तु जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा ही कहना, लिखना और मानना सत्य कहाता है।" इसी प्रकार का स्पष्टीकरण उन्होंने ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में लिखे गये प्रत्येक समुल्लास के प्रारम्भ की अनुभूमिकाओं में भी दिया है। वे यह अनुभव करते थे कि धर्मालोचन तथा मत-मतान्तरों के परीक्षण का मार्ग पर्याप्त कण्टकाकीर्ण है। उन्हें इस बात की भी शंका थी कि इस ग्रन्थ के अबोध पाठक सम्भवत: उनके हार्दिक अभिप्राय को न समझकर इस आलोचना का बुरा मानेंगे। परन्तु प्रबुद्ध मानव के विवेक पर भी उन्हें पूरा भरोसा था, अत: वे यह लिखने से भी नहीं चूके कि बुद्धिमान् लोग यथायोग्य इसका (ग्रन्थ का) अभिप्राय समझेंगे।

निश्चय ही सत्यार्थप्रकाश के अध्ययन का व्यापक प्रभाव व्यक्ति एवं समाज पर पड़ा है। जहाँ स्वामी दयानन्द के उदात्त, सार्वजनीन तथा बुद्धि-ग्राह्य विचारों को समझने में जिज्ञासुओं को इस ग्रन्थ से भरपूर सहायता मिली है, वहाँ इसे पढ़कर लोगों के मन एवं मस्तिष्क में नवीन आलोक की रश्मियाँ भी विकीर्ण हुई हैं। सत्यार्थप्रकाश के अनेक ऐसे जागरूक पाठकों ने अपने अनुभवों और अपनी प्रतिक्रियाओं को इस संदर्भ में व्यक्त भी किया है।

एक अन्य बात भी विचारणीय है। जिन मत-सम्प्रदायों के मन्तव्यों और सिद्धान्तों का सत्यार्थप्रकाश में सतर्क खण्डन किया गया है, उन मतों के आचार्यों तथा प्रवक्ताओं को इस ग्रन्थ में की गई आलोचना के आलोक में स्वमतों की दुर्बलताओं तथा त्रुटियों की ओर दृष्टिपात करने, परखने तथा सुधारने का अवसर भी मिला। यही कारण है कि सत्यार्थप्रकाशकृत आलोचना से ही प्रभावित होकर पुराणों के विभिन्न कथानकों और आख्यानों की भिन्न प्रकार से व्याख्यायें की जाने लगी हैं। पुराणों में वर्णित चमत्कार-पूर्ण कथायें, जो अब तक भावुक भक्तों को उसी रूप में स्वीकार्य थीं; अब युक्ति और तर्क की कसौटी पर कसी जाने लगी हैं। स्वयं इन मतों के अनुयायियों तथा सम्प्रदाया-चार्यों ने भी अपने मान्य ग्रन्थों के अर्थ युगानुकूल करने आरम्भ कर दिये हैं। स्वर्ग और नरक की अलौकिक कल्पनाओं, देवता और दानवों के विचित्र कार्य-कलापों तथा फरिश्तों और पैगम्बरों के नाम पर प्रचलित विचित्र कथाओं को आज नवीन बौद्धिक अर्थवत्ता प्रदान की जा रही है। इसे यदि सत्यार्थप्रकाश का ही प्रभाव कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।

सत्यार्थप्रकाश के विभिन्न अनुवाद—किसी ग्रन्थ की उपयोगिता तथा लोक-

प्रियता का अनुमान इसी बात से हो सकता है कि उसने पाठकों के कितने विशाल समूह को अपनी ओर आकृष्ट किया है। धर्म-ग्रन्थों के प्रति लाखों-करोड़ों लोगों की आस्थाएँ जुड़ी रहती हैं, अतः उनका व्यापक प्रचार होना स्वाभाविक ही है। संसार के धर्म-ग्रन्थों में इस दृष्टि से ईसाइयों की मत-पुस्तक बाइबिल का सर्वोपरि स्थान है। कहते हैं कि विश्व की कोई ऐसी सभ्य या अर्ध-सभ्य भाषा नहीं है, जिसमें बाइबिल का अनुवाद न हुआ हो। भारतीय धर्म-ग्रन्थों में गीता तथा रामचरितमानस की लोकप्रियता निर्विवाद है। इस दृष्टि से सत्यार्थप्रकाश भी भारत के धर्म-ग्रन्थों में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। आज तक उसके विभिन्न भाषाओं में अनेक अनुवाद छप चुके हैं।

यह जानना सचमुच मनोरंजक है कि सर्वप्रथम किस भारतीय भाषा में सत्यार्थ-प्रकाश का अनुवाद हुआ। प्राप्त जानकारी के अनुसार सत्यार्थप्रकाश का पण्डित आत्मा-राम अमृतसरी कृत पंजाबी अनुवाद (गुरुमुखी लिपि में) १८९८ ई० में अमृतसर से प्रकाशित हुआ था। इसका द्वितीय संस्करण वजीरसिंह प्रेस अमृतसर से १९१२ ई० में प्रकाशित हुआ। प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु के अनुसार 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के दिनों में स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी ने सत्यार्थप्रकाश का एक और पंजाबी अनुवाद किया था किन्तु इसकी पाण्डुलिपि गुम हो गई। इस प्रकार पंजाबी अनुवाद को ही सत्यार्थप्रकाश का किसी भारतीय भाषा में किया गया प्रथम अनुवाद माना जाना चाहिए। इसके पश्चात् उर्दू अनुवाद का प्रकाशन १८९९ ई० में हुआ। सत्यार्थप्रकाश के उर्दू अनुवाद की कथा भी कम मनोरंजक नहीं है।

यह स्वाभाविक ही था कि सत्यार्थप्रकाश के उर्दू अनुवाद की माँग सर्वप्रथम पंजाब के उर्दूभाषी पाठकों ने की। स्वामी दयानन्द की मृत्यु के पश्चात् उनके विचारों को अपनानेवालों में पंजाब के निवासी ही अग्रगण्य थे। यह सत्य है कि आर्यसमाज द्वारा आर्य भाषा (हिन्दी) को महत्त्व दिये जाने के कारण पंजाब के आर्यसमाजियों में हिन्दी का प्रचलन बढ़ रहा था, किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक इस प्रान्त में आर्यसमाजों का कार्य-विवरण तक उर्दू में ही लिखा जाता था। कारण स्पष्ट था। पंजाब के सुशिक्षित आर्यसमाजी अधिकांश में उर्दू, फारसी अथवा अंग्रेजी से ही चिपटे हुए थे। ऐसी स्थिति में संस्कृतनिष्ठ प्रौढ़ हिन्दी में लिखे हुए सत्यार्थप्रकाश के अभिप्राय को समझना उनके लिए कठिन था।

अतः सत्यार्थप्रकाश के उर्दू अनुवाद की आवश्यकता एवं उपयोगिता को अनुभव कर आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने इस कार्य को अपने हाथों में लिया। इस सभा ने उर्दू-अनुवाद का कार्य पंडित रैमलदास तथा पण्डित आत्माराम अमृतसरी को सौंपा। पण्डित रैमलदास डी० ए० वी० कालेज लाहौर में संस्कृत के अध्यापक थे। आर्यसमाज में उन्हें अत्यन्त प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखा जाता था। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम उर्दू अनुवाद की भूमिका में उनके सम्बन्ध में निम्न पंक्तियाँ हमें उपलब्ध होती हैं—"पण्डित रैमलदास के नाम से अक्सर आर्यसमाजी भाई वाकिफ हैं। उनकी तारीफ में ज्यादह तहरीर की जरूरत मालूम नहीं होती। वह दृढ़ आर्य हैं कि जो वैदिक धर्म के उसूलों से कमाल दर्जा की वाकफियत रखते हैं और मेरा तजरुबा है कि आर्यसमाज में उनके बराबर सिद्धान्तों पर अमल दरामद करनेवाले सिर्फ चन्द महात्मा होंगे। वे स्वामीजी के पक्के भक्त और पैरो हैं और कोई राय स्वामीजी की ऐसी नहीं है कि जिसकी तफ़्तीश और तहक़ीक़

करके उन्होंने निश्चय न कर लिया हो और वह हर वक्त तैयार रहते हैं कि कोई शख्स उनसे स्वामीजी के किसी सिद्धान्त पर बहस करे।"

इस भूमिका से यह भी ज्ञात होता है कि दोनों अनुवादकों ने सत्यार्थप्रकाश के विभिन्न समुल्लास अनुवाद करने के लिए बाँट लिये थे। यह व्यवस्था इस प्रकार की गई थी—पण्डित रैमलदास प्रथम, तृतीय, षष्ठ, सप्तम, नवम, दशम, द्वादश समुल्लास तथा स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश; पण्डिम आत्माराम—द्वितीय, पंचम, अष्टम, एकादश, त्रयोदश व चतुर्दश समुल्लास। सभा को अनुवाद कराके ही सन्तोष नहीं हो गया। इसने अनुवाद-कार्य की जाँच कराने के लिए निम्न महानुभावों को नियुक्त किया और उनसे विभिन्न समुल्लासों के अनुवाद-कार्य की जाँच-पड़ताल करने के लिए कहा—

मुंशी नारायणकृष्ण (उपप्रधान आर्यसमाज गुजराँवाला) तथा लाला रलाराम, (प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब) इन्होंने समुल्लास संख्या १, २, ३, ६, ७ व ८ के अनुवाद कार्य को जाँचा।

लाला मुंशीराम ने ११, १३, व १४वें समुल्लासों के अनुवाद-कार्य की परीक्षा की।

राय ठाकुरदत्त धवन (अतिरिक्त सहायक आयुक्त) ने चतुर्थ व दशम समुल्लास को देखा।

बाबू निहालसिंह (ट्रेजरी क्लर्क) ने समुल्लास संख्या ५, ८ व १२ के अनुवाद-कार्य को देखा।

इस प्रकार अनुवाद का पूर्ण परीक्षण करने के पश्चात् उक्त सभा ने अगस्त १८९९ ई० में 'मुस्तनिद उर्दू सत्यार्थप्रकाश' को प्रकाशित किया। इसका मुद्रण नवल-किशोर प्रेस लखनऊ में हुआ। प्रथम संस्करण ७००० का था। दो वर्ष पश्चात् १९०१ ई० में इसका द्वितीय संस्करण (५०००) निकला। तृतीय संस्करण १९०७ में निकला, जब कि चतुर्थ संस्करण मास्टर लक्ष्मण रामनगरी ने प्रकाशित किया। इस अनुवाद के कुछ संस्करण राजपाल एण्ड सन्स लाहौर ने भी प्रकाशित किये जो क्रमशः १९२३, १९२५, १९२७, १९२८, १९२९ तथा १९३० में निकले।

१९३७ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने सत्यार्थप्रकाश का एक और उर्दू-अनुवाद पण्डित चमूपति को करने के लिए कहा। कहना नहीं होगा कि पण्डित चमूपति का उर्दू भाषा पर असाधारण अधिकार था और वे इस भाषा में उत्कृष्ट साहित्य का सृजन कर चुके थे। फलतः उन्होंने सभा की आज्ञा को शिरोधार्य कर यह कार्य आरम्भ किया। अभी वे १० समुल्लासों का ही अनुवाद कर पाये थे कि १३ जून १९३७ को उनका निधन हो गया। दो वर्ष पश्चात् १९३९ ई० में पण्डित चमूपतिकृत यह उर्दू-अनुवाद 'अनवारे हकीकत' शीर्षक से उक्त सभा ने प्रकाशित किया। इस संस्करण में अवशिष्ट चार समुल्लासों का अनुवाद वही रक्खा गया जो पण्डित रैमल और पण्डित आत्माराम के द्वारा किया जा चुका था।

पण्डित चमूपतिकृत अनुवाद को पंजाब सभा द्वारा प्रकाशित उर्दू सत्यार्थप्रकाश का ११वाँ संस्करण कहा जा सकता है जो द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने से कुछ समय पूर्व १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ था। १९४३ ई० में जो द्वादश संस्करण निकला उसका प्रकाशकीय वक्तव्य स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने लिखा था। देश-विभाजन से पूर्व १९४६ ई० में सभा के तत्कालीन मन्त्री महाशय कृष्ण द्वारा लिखी गयी प्रकाशकीय भूमिका के साथ

इसका १३वाँ संस्करण प्रकाशित हुआ। भारत के स्वाधीनता प्राप्त कर लेने के पश्चात् उर्दू भाषा का महत्त्व पर्याप्त कम हो गया। अतः सत्यार्थप्रकाश के उर्दू अनुवाद की माँग भी आनुपातिक दृष्टि से कम हो गई। १९६१ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने इस ग्रन्थ का १४वाँ संस्करण पण्डित शान्तिप्रकाश-लिखित वक्तव्य के साथ प्रकाशित किया। सार्वदेशिक सभा के द्वारा इसका १५वाँ संस्करण छपा है।

सत्यार्थप्रकाश की सार्वभौमतासूचक तालिका के सम्पादक पण्डित धर्मदेव विद्या-वाचस्पति के अनुसार लाला जीवनदास पैन्शनर, बाबू नौनिहाल, लाजपतराय साहनी और महता राधाकृष्ण के उर्दू संस्करण २५ हजार की तादाद में प्रकाशित हुए थे। परंतु हमारी सूचनाओं के अनुसार लाला जीवनदास ने जो अनुवाद किया वह ११वें समुल्लास पर्यन्त ही था। यह कब और कहाँ से छपा, इसकी कोई जानकारी हमारे पास नहीं है। लाजपतराय साहनी तो उर्दू सत्यार्थप्रकाश (महता राधाकृष्णकृत अनुवाद) के एक प्रकाशक थे। इसी प्रकार बाबू नौनिहालकृत उर्दू अनुवाद के विषय में भी कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। हम ऊपर एक सज्जन बाबू निहालसिंह का उल्लेख कर चुके हैं जो उर्दू अनुवाद के समीक्षक थे। क्या इन्हें ही 'नौनिहाल' कहा गया है?

महता राधाकृष्ण ने सत्यार्थप्रकाश का उर्दू अनुवाद १८९७ ई० में ही कर डाला था, किन्तु इसका प्रथम बार प्रकाशन सर्वहितकारी प्रेस लाहौर से १९०५ ई० में हुआ। महता जी पंजाबी आर्यसमाजियों की वरिष्ठ पीढ़ी में थे। कालान्तर में आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा ने महता राधाकृष्ण के अनुवाद के कई संस्करण छापे। देश-विभाजन के पश्चात् २०१७ वि० में महात्मा आनन्द स्वामी लिखित भूमिका-सहित यह अनुवाद (नवम संस्करण) पुनः छपा। यह जानना भी मनोरंजक होगा कि १८७५ ई० में प्रकाशित सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण का उर्दू अनुवाद महाशय धर्मपाल (अब्दुल गफूर) ने किया था जो लाहौर से छपा। प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु के अनुसार आँवला (जिला बरेली) के निवासी महाशय ज्वालाप्रसाद ने सत्यार्थप्रकाश का उर्दू काव्यशैली में भावानुवाद किया था जो तीन हजार पदों में था। अप्रैल १८८५ से यह उर्दू काव्यानुवाद मासिक पत्र के रूप में प्रकाशित होना आरम्भ हुआ था।

इस शताब्दी के प्रथम दशक में बंगला, गुजराती तथा मराठी भाषाओं में सत्यार्थ-प्रकाश अनूदित हुआ। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम बंगला-अनुवादक मोतीलाल भट्टाचार्य नामक कोई सज्जन थे जो अजमेर के निवासी थे। उनके द्वारा किया गया यह अनुवाद भारतमिहिर यन्त्रालय कलकत्ता से मुद्रित होकर वैदिक यन्त्रालय अजमेर द्वारा १९०१ ई० (१३०८ बंगाब्द) में प्रकाशित हुआ। कालान्तर में सुप्रसिद्ध विद्वान् पण्डित शंकरनाथ ने इस ग्रन्थ का एक अन्य बंगला-रूपान्तर किया जो एकाधिक बार कलकत्ता से ही छपा। बंगला-अनुवाद के संशोधकों में पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री, पण्डित शारदा-प्रसन्न तथा पण्डित प्रियदर्शन सिद्धान्तभूषण के नाम आते हैं। उन्होंने बंगला संस्करण की चतुर्थ, पंचम तथा षष्ठ आवृत्तियों का सम्पादन किया था।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम गुजराती अनुवादक पण्डित मंछाशंकर जयशंकर द्विवेदी थे। इनका यह अनुवाद १९०५ ई० में जगदीश्वर प्रेस बम्बई से छपा था। कुछ समय पश्चात् एक अन्य गुजराती विद्वान् पण्डित मायाशंकर शर्मा ने सत्यार्थप्रकाश को गुर्जर भाषा में अनूदित किया। यह अनुवाद अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और अनेक स्थानों से

प्रकाशित हुआ। डाक्टर दिलीप वेदालंकार ने पण्डित मायाशंकरकृत सत्यार्थप्रकाश के गुजराती-अनुवाद का वैज्ञानिक रीति से सम्पादन किया। यह सम्पादित संस्करण चरोत्तर प्रदेश आर्यसमाज आणंद द्वारा २०३२ वि० में प्रकाशित हुआ।

मराठी भाषा में सत्यार्थप्रकाश के अनुवादक थे सर्वश्री श्रीदास विद्यार्थी, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर तथा स्नातक सत्यव्रत। विद्यार्थीकृत अनुवाद १९०७ ई० में वम्बई से छपा। श्री शिवशंकर वावूजी तलपदे ने इस अनुवाद का संशोधन किया था। पण्डित सातवलेकरकृत मराठी-अनुवाद आर्यसमाज कोल्हापुर द्वारा छपा। स्नातक सत्यव्रत का अनुवाद १९३२ ई० में सेठ भागोजी बालूजी कीर ने प्रकाशित किया। इसका द्वितीय संस्करण लक्ष्मणराव जानोजी ओघले ने १९५६ ई० में प्रकाशित किया।

सिन्धी भाषा में सत्यार्थप्रकाश के अनुवाद का श्रेय श्री जीवनलाल आर्य को है। आर्यसमाज में प्रविष्ट होने से पूर्व ये सिन्ध प्रान्त के नवाबशाह जिले के कुण्डीनगर नामक स्थानवर्ती एक गद्दी के महन्त थे। अपने शिष्य द्वारा प्रदत्त सत्यार्थप्रकाश को पढ़ने से इनके विचारों में परिवर्तन हो गया और ये दृढ़ आर्यसमाजी बन गये। सिन्धी सत्यार्थ-प्रकाश का प्रथम प्रकाशन सिन्ध प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा ने किया। तत्पश्चात् गोविन्दराम हासानन्द, सार्वदेशिक सभा तथा अजमेर-निवासी हकीम वीरूमल आर्य-प्रेमी ने इसे प्रकाशित किया।

उड़िया भाषा में सत्यार्थप्रकाश के अनुवादक उत्कल प्रान्त में आर्यसमाज का सर्वप्रथम प्रचार करनेवाले श्रीवत्स पण्डा थे। इनका जन्म गंजाम जिले के एक ब्राह्मण-परिवार में हुआ था। वे सम्पन्न जमींदार कुल के थे। बी० ए० तक शिक्षा ग्रहण कर लेने के अनन्तर वे सरकारी सेवा में आये और सब-रजिस्ट्रार के पद पर कार्य करते रहे। महात्मा गांधी के असहयोग-आन्दोलन से प्रेरणा ग्रहण कर पण्डाजी ने सरकारी सेवा से त्यागपत्र दे दिया और स्वतन्त्रता-आन्दोलन में कूद पड़े। इसी दौरान उन्हें कारावास का दण्ड भी मिला। उनका अवशिष्ट जीवन आर्यसमाज के प्रचार में ही व्यतीत हुआ। १९४३ ई० में उनकी मृत्यु हो गई। उनके द्वारा किया हुआ सत्यार्थप्रकाश का उड़िया-अनुवाद १९२७ ई० तथा १९३७ ई० में दो बार प्रकाशित हुआ। उड़िया में ही एक अन्य अनुवाद पण्डित लक्ष्मीनारायण शास्त्री ने किया है जो उत्कल साहित्य संस्थान, गुरुकुल आमसेना द्वारा १९७३ ई० में प्रकाशित हो चुका है।

असम में आर्यसमाज का प्रचार नगण्य ही है। इसीलिए असमिया भाषा में सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद बहुत विलम्ब से हुआ। यह अनुवाद पण्डित परमेश्वर कोती ने किया और आर्यसमाज गोहाटी द्वारा १९७५ ई० में छपा। भारत के पार्श्ववर्ती देश नेपाल की नेपाली भाषा में सत्यार्थप्रकाश के अनुवाद करने का श्रेय श्री दिलुसिंग राई (१९२२ वि० जन्म, २०११ वि० मृत्यु)को है। श्री राई एक सम्पन्न नेपाली परिवार में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने स्वाध्याय से संस्कृत तथा अंग्रेजी का अध्ययन किया और आर्य-समाज के प्रचार में लग गये। उनके द्वारा किया हुआ नेपाली सत्यार्थप्रकाश आर्यसमाज दार्जिलिंग द्वारा १९३१, १९३६ तथा १९६३ ई० में तीन बार प्रकाशित हो चुका है।

दक्षिण भारतीय भाषाओं में सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद इस शती के तृतीय तथा चतुर्थ दशकों में सम्पन्न हुआ। प्रथम तमिल भाषानुवाद श्री एम० आर० जम्बुनाथन (१८९६–१९७४) ने किया। इसे आर्यसमाज मद्रास ने १९२५ ई० में प्रकाशित किया।

श्री कन्नैया और स्वामी शुद्धानन्द भारती ने भी तमिल भाषा में इस ग्रन्थ के अनुवाद किये हैं। ये दोनों अनुवाद आर्यसमाज मद्रास द्वारा क्रमशः १९३५ तथा १९७४ ई० में प्रकाशित हुए। तेलुगु भाषा में सत्यार्थप्रकाश के अनुवादक श्री आदिपूड़ि सोमनाथराव थे। १९०६ ई० में इन्होंने १० समुल्लास तक का अनुवाद किया। १९१२ में इन्हीं के भाई पण्डित गोपालराव ने ११वें समुल्लास का तेलुगु-अनुवाद किया। अवशिष्ट तीन समुल्लासों का अनुवाद पण्डित राजरत्नाचार्य ने किया। इनका प्रकाशन आर्यसमाज हैदराबाद तथा आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद ने किया था। पण्डित गोपदेव शास्त्रीकृत सत्यार्थप्रकाश का तेलुगु-अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। कन्नड भाषा में सत्यार्थ-प्रकाश के तीन अनुवादों का पता चलता है। इनके अनुवादक थे पण्डित भास्कर पन्त, पण्डित सत्यपाल स्नातक तथा पण्डित सुधाकर चतुर्वेदी। श्री पन्त द्वारा किया गया अनुवाद आर्यसमाज मैंगलोर द्वारा सर्वप्रथम १९३२ ई० में प्रकाशित हुआ। चतुर्वेदी जी का अनुवाद १९७४ ई० में छपा। मलयालम भाषा में इस ग्रन्थ का अनुवाद ब्रह्मचारी लक्ष्मण ने किया था जो आर्य प्रादेशिक सभा द्वारा केरल आर्यसमाज मिशन कालीकट के माध्यम से १९३३ ई० में प्रकाशित किया गया। एक अन्य अनुवाद पण्डित नरेन्द्रभूषण ने किया है जो १९७८ ई० में वैदिक साहित्य परिषद् चेंगनूर (केरल) द्वारा प्रकाशित हुआ है। सत्यार्थप्रकाश का संस्कृत-अनुवाद पण्डित शंकरदेव पाठक ने किया था, जो दयानन्द-जन्म-शताब्दी के अवसर पर १९८१ वि० में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद में पण्डित मेधाव्रत जी ने भी सहायता की थी।

विदेशी भाषाओं में अनुवाद—भारतीय भाषाओं में सत्यार्थप्रकाश के अनुवादों की चर्चा करने के पश्चात् अन्य देशों की भाषाओं में हुए इस ग्रन्थ के अनुवादों का उल्लेख करना भी समीचीन होगा। ब्रिटिश शासनकाल में अंग्रेजी को इस देश में जो गौरव और वर्चस्व प्राप्त था वह आज भी यथावत् बना हुआ है। सत्यार्थप्रकाश का प्रथम अंग्रेजी-अनुवाद डाक्टर चिरंजीव भारद्वाज द्वारा किया गया। डाक्टर भारद्वाज होशियारपुर जिले के श्याम चौरासी नामक कस्बे के निवासी थे। उन्होंने इंग्लैण्ड से एम० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। पंजाब में आर्यसमाज का कार्य करने के अनन्तर वे मॉरिशस तथा बर्मा में भी धर्मप्रचारार्थ गये। उनका अंग्रेजी-अनुवाद अब तक पाँच बार छप चुका है। इसका प्रथम संस्करण १९०६ ई० में लाहौर से निकला। पुनः आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त-प्रान्त ने इसे १९१५ ई० में प्रकाशित किया। राजपाल एण्ड सन्स लाहौर ने १९२७ ई० में तृतीय संस्करण निकाला। १९३२ ई० में आर्यसमाज मद्रास से चतुर्थ संस्करण प्रकाशित हुआ। १९७५ ई० में सार्वदेशिक सभा ने इसे पुनः छापा।

मास्टर दुर्गाप्रसादकृत अनुवाद १९०८ ई० में विरजानन्द प्रेस, लाहौर से प्रकाशित हुआ। जनज्ञान नई दिल्ली ने १९७० ई० में इसकी द्वितीयावृत्ति प्रकाशित की। सत्यार्थप्रकाश के एक और परिष्कृत अंग्रेजी-अनुवाद की आवश्यकता अनुभव करते हुए पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने १९४६ ई० में 'Light of Truth' शीर्षक से एक अनुवाद प्रकाशित किया। यह वह समय था जबकि डाक्टर भारद्वाज तथा मास्टर दुर्गाप्रसाद-कृत अनुवाद अनुपलब्ध थे। उधर सिन्ध की मुस्लिम लीगी सरकार द्वारा सत्यार्थप्रकाश के १४वें समुल्लास पर पाबन्दी लगा देने के कारण अंग्रेजी-शिक्षितवर्ग में इस ग्रन्थ की माँग बढ़ रही थी। इन्हीं परिस्थितियों में उपाध्याय जी ने यह अनुवाद प्रकाशित किया।

१९६० तथा १९६१ ई० में इसकी द्वितीय एवं तृतीय आवृत्तियाँ प्रकाशित हुईं। अनुवाद-सौष्ठव तथा प्रामाणिकता की दृष्टि से उपाध्याय जी के इस अनूदित संस्करण को सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है। अंग्रेजी में सत्यार्थप्रकाश का अन्य अनुवाद परोपकारिणी सभा की प्रेरणा से मेरठ के रायबहादुर रतनलाल ने किया था। यह अद्यापि अप्रकाशित है। इसकी पाण्डुलिपि सभा के पुस्तक-संग्रह में सुरक्षित है।

जर्मन भाषा में सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद पाकिस्तान के मियाँवाली जिले के वोरीखेल ग्रामवासी डॉक्टर दौलतराम देव ने किया था। यह अनुवाद १० समुल्लास-पर्यन्त ही था। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा १९३० ई० में इसे जर्मनी के लिपज़िग नगर में मुद्रित कराकर प्रकाशित किया गया। मॉरिशस देश में आर्यसमाज एक लोकप्रिय आन्दोलन है। इस देश के शिक्षित वर्ग में अंग्रेजी से भी अधिक फ्रेंच भाषा का प्रचलन है। फ्रेंचभाषी पाठकों की सुविधा को रखते हुए लुई मौरॉं(Louis Moren)नामक एक महिला ने दस समुल्लास पर्यन्त अनुवाद फ्रेंच भाषा में किया। इसका प्रथम संस्करण ब्रुसेल्स (बेलजियम) से १९४० ई० में छपा। द्वितीय आवृत्ति १९७५ ई० में आर्यसभा मॉरिशस द्वारा प्रकाशित की गई।

चीनी भाषा में सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय की प्रेरणा से डाक्टर चाऊ ने किया। यह १९५८ ई० में हाँगकाँग से प्रकाशित हुआ। बौद्ध भिक्षु ऊ किंत्तिमा(जन्म १९०२)ने वर्मी भाषा में सत्यार्थप्रकाश का दस समुल्लास पर्यन्त अनुवाद किया। आर्यसमाज रंगून ने इसे १९५९ ई० में प्रकाशित किया। अफ्रीका की स्वाहिली भाषा में भी सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद हो चुका है। अरबी भाषा में सत्यार्थ-प्रकाश के कुछ अंशों का अनुवाद पण्डित कालीचरण शर्मा ने किया था।

सत्यार्थप्रकाश के टीका, व्याख्यादि ग्रंथ—सत्यार्थप्रकाश की लोकप्रियता का अनुमान इस ग्रन्थ के विभिन्न भाषाओं में किये गये अनुवादों के उपर्युक्त विवरण से लगाया जा सकता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ की महत्ता और व्यापकता को दृष्टिगत रखते हुए अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि सत्यार्थप्रकाश जैसी कालजयी कृति की व्याख्या, टीकादि लिखने के प्रयास कब और किस प्रकार के हुए हैं। धार्मिक ग्रन्थों की महत्ता और उत्कृष्टता का पता इस बात से भी लगाया जाता है कि इन ग्रन्थों के लेखकों के शिष्य-मण्डल ने अपनी विद्वत्ता एवं प्रतिभा को व्यय करते हुए इनपर किस कोटि के व्याख्या, टीका एवं भाष्य आदि लिखे हैं। संस्कृत के धार्मिक वाङ्मय का इतिहास इस बात का साक्षी है कि कहीं-कहीं तो मूल ग्रन्थों की टीकाएँ लिखनेवाले विद्वानों को मूल ग्रन्थकार से भी अधिक यश एवं गौरव प्राप्त हुआ है। कहने को तो ये ग्रन्थ टीका, व्याख्या और भाष्य-कोटि के ही थे, किन्तु इन्हें लिखने में व्याख्याकार आचार्यों ने जिस प्रकार के वैदुष्य तथा प्रतिभा का प्रयोग किया था, उसे देखते हुए उन्हें मौलिक ग्रन्थ-प्रणेता आचार्यों से किसी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता। शंकराचार्य के वेदान्त-भाष्य का महत्त्व स्वीकार करने-वाले उसपर वाचस्पति मिश्र लिखित टीका "भामती" के महत्त्व और गौरव को स्वीकार करने में थोड़ा भी संकोच नहीं करेंगे। सुरेश्वराचार्य ने आचार्य शंकर के बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य पर जो महत्त्वपूर्ण "वार्तिक" लिखा है वह आचार्यपाद के भाष्य से किसी भी प्रकार न्यून नहीं है।

इस कसौटी पर जब हम सत्यार्थप्रकाश पर लिखे गये टीका-व्याख्यादि को देखते

है तो हमें निराशा ही होती है। यों, इस ग्रन्थ पर समग्रतः तथा अंशतः बहुत-कुछ लिखा गया है, परन्तु उसे सन्तोषप्रद नहीं कहा जा सकता। सर्वप्रथम हम सत्यार्थप्रकाश पर लिखे गये भाष्य-ग्रन्थों की चर्चा करेंगे। इस ग्रन्थ के प्रत्येक समुल्लास में विवेचित विषयों की व्याख्या एवं पुष्टि के रूप में भाष्य लिखने की एक योजना आर्य प्रादेशिक सभा द्वारा देश-विभाजन से पूर्व बनाई गई थी। इसके अन्तर्गत पण्डित वाचस्पति ने प्रथम दो समुल्लासों पर विस्तृत व्याख्यात्मक भाष्य लिखे। परन्तु यह योजना आगे नहीं चल सकी। कालान्तर में पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने तृतीय समुल्लास पर भाष्य लिखा जो रुद्र ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। इन पंक्तियों के लेखक ने दयानन्द संस्थान नई दिल्ली की प्रेरणा से ११वें समुल्लास पर एक शोधपूर्ण व्याख्या-ग्रन्थ लिखा था जो 'ज्ञानदर्शक' शीर्षक से प्रकाशित हुआ है। इसपर लेखक को विद्यावती शारदा साहित्य-पुरस्कार से सम्मानित भी किया गया था।

सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में ईश्वर के १०८ नामों की गणना की गई है तथा प्रत्येक नाम के व्युत्पत्तिलभ्य अर्थों को शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर पुष्ट किया गया है। यदा-कदा स्वामी दयानन्द द्वारा प्रस्तुत इन नामों के ईश्वरपरक होने में शंकायें उठाई जाती रही हैं। पण्डित विद्यासागर शास्त्री ने 'अष्टोत्तरशतनाममालिका' ग्रंथ लिखकर इन नामों की पुष्टि में नूतन शास्त्रीय प्रमाणों को ढूँढने का सराहनीय प्रयास किया है। विस्तृत शास्त्र-वाङ्मय का अवगाहन करने के पश्चात् विद्वान् लेखक ने प्रथम समुल्लासान्तर्गत ईश्वर के सभी नामों का ईश्वरवाचक होना प्रमाण-पुरस्सर सिद्ध कर दिया है। सत्यार्थप्रकाश में प्रयुक्त शब्दों का अर्थवाचक कोष पण्डित ब्रह्मानन्द शर्मा द्वारा बनाया गया था। एक अन्य सत्यार्थप्रकाश-कोष का भी उल्लेख मिलता है। सत्यार्थप्रकाश में प्रयुक्त भाषा उन्नीसवीं शताब्दी की थी, अतः आधुनिक हिन्दी में इसके पाठ को रूपान्तरित करने का एक प्रयास स्वर्गीय पण्डित भूदेव शास्त्री द्वारा किया गया। अपनी योजना के नमूने के रूप में उन्होंने प्रथम समुल्लास का आधुनिक हिन्दी-अनुवाद प्रकाशित कराया। परन्तु इस योजना को अधिक समर्थन नहीं मिला। सत्यार्थप्रकाश के प्रत्येक समुल्लास पर संक्षिप्त व्याख्या प्रकाशित कराने का एक सफल प्रयास आर्यसमाज अजमेर द्वारा किया गया है। इसके अन्तर्गत १९८१ ई० में सत्यार्थप्रकाशि ग्रन्थमाला के १५ पुष्प (भूमिका तथा १४ समुल्लासों की व्याख्या) प्रकाशित हुए।

यह तो बात हुई व्याख्यात्मक ग्रन्थों की, किन्तु सत्यार्थप्रकाश-विषयक आलोचनात्मक एवं विवेचनात्मक ग्रन्थों की संख्या भी पर्याप्त है। समय-समय पर विभिन्न सम्प्रदायों के पक्षपोषकों ने सत्यार्थप्रकाश-लेखन में निहित लेखक के मूल अभिप्राय को न समझकर इस ग्रन्थ पर नाना प्रकार के आक्षेपमूलक ग्रन्थ लिखे तथा प्रकाशित कराये। पौराणिक वर्ग की ओर से पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र ने 'दयानन्द-तिमिर-भास्कर' लिखकर सत्यार्थप्रकाश के प्रथम ११ समुल्लासों का खण्डन किया। प्रसिद्ध संस्कृत-प्रकाशक सेठ क्षेमराज श्रीकृष्णदास ने अपने वेंकटेश्वर प्रेस (बम्बई) से इस ग्रन्थ को १९५५ वि० में प्रथम बार प्रकाशित किया। दयानन्द-तिमिर-भास्कर में सत्यार्थप्रकाश के खण्डनरूप में जो बातें लिखी गई थीं वे अधिकांश में बहुत सामान्य कोटि की ही थीं। तथापि वागाडम्बरपूर्ण शैली में लिखे गये इस ग्रन्थ से उत्पन्न भ्रांतियों का निराकरण करने के लिए आर्यसमाज के प्रखर विद्वान् पण्डित तुलसीराम स्वामी ने लेखनी उठाई और

'भास्कर प्रकाश' शीर्षक एक प्रौढ़ ग्रन्थ लिखकर मिश्रजी की स्थापनाओं का खण्डन किया। भास्कर-प्रकाश के प्रकाशन ने पौराणिक समुदाय को पुनः व्याकुल कर दिया। अब पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र के अनुज पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने 'धर्म-दिवाकर' लिखकर भास्कर-प्रकाश का खण्डन करने का प्रयास किया। परन्तु पण्डित तुलसीराम स्वामी की प्रखर लेखनी ने विश्राम लेना कहाँ सीखा था ! उन्होंने तुरन्त 'दिवाकरप्रकाश' लिखकर धर्म-दिवाकर में उठाई गई आपत्तियों का सप्रमाण खण्डन किया। निश्चय ही पण्डित तुलसी-राम स्वामी के प्रखर पाण्डित्य तथा शास्त्रों के तलस्पर्शी अध्ययन का ही परिणाम था कि भास्करप्रकाश जैसा एक उत्कृष्ट ग्रन्थ अस्तित्व में आ सका। भास्करप्रकाश का उर्दू अनुवाद श्री देवीदास डस्कवी ने १९१३ ई० में किया था।

समय-समय पर अन्य पौराणिकों द्वारा भी सत्यार्थप्रकाश पर नाना प्रकार की शंकायें और आपत्तियाँ उठाई जाती रहीं। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में असाव-धानीवश प्रकाशित हो जाने वाले मांसाहार तथा मृतक-श्राद्ध-विषयक प्रकरणों से लाभ उठाने की दृष्टि से पण्डित कालूराम शास्त्री ने 'असली सत्यार्थप्रकाश' शीर्षक से इस प्रथम संस्करण को १९१६ ई० में पुनः प्रकाशित कराया। अब यह आवश्यक हो गया कि प्रथम संस्करण के इस प्रकाशन से उत्पन्न भ्रान्तियों का निराकरण किया जाए। फलतः महात्मा मुन्शीराम जिज्ञासु ने 'आदिम सत्यार्थप्रकाश और आर्यसमाज के सिद्धान्त' शीर्षक ग्रन्थ लिखकर यह स्पष्ट कर दिया कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में भी लेखक के वे ही ओजस्वी विचार व्यक्त हुए हैं जिनके कारण इस ग्रन्थ को इतनी लोक-प्रियता तथा ख्याति प्राप्त हुई है। अतः केवल एक या दो सिद्धान्त-विरुद्ध बातों के समा-वेश के कारण ही इस संस्करण के गौरव की हानि नहीं होती। उन्होंने प्रथम संस्करण के लेखन और प्रकाशन का सम्पूर्ण वृत्तान्त देकर बता दिया कि किस प्रकार ग्रन्थ के लिपि-कर्त्ता की धूर्तता के कारण ही यज्ञों में पशु-हिंसा और मृतक श्राद्ध जैसे विषयों का इस संस्करण में प्रवेश सम्भव हो सका था। इस प्रकार पण्डित कालूराम शास्त्री की कपटता-पूर्ण चालों का पर्दाफाश किया गया। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अरबी के प्रोफेसर पण्डित महेशप्रसाद ने सत्यार्थप्रकाश-विषयक ऐतिहासिक सामग्री का नाना स्रोतों से संग्रह किया तथा अनेक लघु ग्रन्थों में उसे प्रकाशित किया। उनके द्वारा लिखी गई सत्यार्थप्रकाश की व्यापकता, सत्यार्थप्रकाश-विषयक भ्रम, सत्यार्थप्रकाश पर विचार, अमर सत्यार्थ-प्रकाश आदि पुस्तकें इस ग्रन्थ के अध्ययन को एक नवीन आयाम प्रदान करती हैं। स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने 'सत्यार्थप्रकाश का प्रभाव' तथा 'सत्यार्थप्रकाश की रचना का प्रयोजन' शीर्षक दो उल्लेखनीय पुस्तकें लिखीं। तत्कालीन मुस्लिम लीग की प्रेरणा से सिंध प्रान्त में सत्यार्थप्रकाश की जब्ती का आन्दोलन इस आधार पर चलाया गया कि इसके १४वें समुल्लास में इस्लाम और उसके प्रवर्त्तक की कटु आलोचना की गई है। आर्यसमाज ने मुस्लिम लीग सरकार द्वारा सत्यार्थप्रकाश के १४वें समुल्लास पर प्रतिबन्ध लगाये जाने का घोर विरोध किया। उस समय सामयिक पत्रों और सभा-सम्मेलनों में सत्यार्थप्रकाश की व्यापक रूप में चर्चा हुई तथा इस ग्रन्थ के लेखन के इतिहास, ग्रन्थलेखन की मूल प्रेरणा, ग्रन्थ के व्यापक प्रचार एवं उसकी लोकप्रियता को सिद्ध करते हुए अनेक ग्रन्थ लिखे गये। ऐसे ग्रन्थकारों में प्रोफेसर सुधाकर, श्री हितैषी अलावलपुरी, पण्डित धर्मदेव विद्या-वाचस्पति के नाम उल्लेनीखय हैं। अरबी के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित रामचन्द्र देहलवी ने

चतुर्दश समुल्लास में उद्धृत कुरान की आयतों का देवनागरी में रूपान्तर तथा उनके हिन्दी अर्थ करके यह सिद्ध किया कि दयानन्द ने इन आयतों के जो अर्थ किये हैं वे सर्वथा निर्दोष हैं। पण्डित नरेन्द्र ने भी चौदहवें समुल्लास की रचना के प्रयोजन पर विस्तार-पूर्वक प्रकाश डाला।

सत्यार्थप्रकाश की लोकप्रियता का अनुमान इस बात से भी लगाया जा सकता है कि सामान्य जनों के लाभार्थ गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस की शैली में उसका पद्यानुवाद करने के भी अनेक प्रयत्न हुए हैं। पण्डित रामलाल अग्निहोत्री ने इसके प्रथम समुल्लास का पद्यानुवाद १९७२ वि० में किया। पण्डित गदाधरप्रसाद वैद्य ने सम्पूर्ण ग्रन्थ को दोहा-चौपाई शैली में प्रस्तुत किया। महाकवि जयगोपाल ने 'सत्यार्थप्रकाश कविता-मृत' लिखकर इसका एक अन्य काव्यानुवाद प्रस्तुत किया। सत्यार्थप्रकाश की महिमा-विषयक स्फुट काव्यों की रचना भी हुई। महाशय मथुरादास ने प्रथम समुल्लास का भाव लावणी काव्य में प्रकट किया था।

सत्यार्थप्रकाश धर्म, दर्शन, अध्यात्म तथा लोक-व्यवहार सभी की संतुलित व्याख्या प्रस्तुत करता है। लौकिक एवं पारलौकिक दोनों प्रकार के विषयों की विवेचना करनेवाले इस ग्रन्थ के अनेक स्थलों का कठिन एवं दुरूह हो जाना स्वाभाविक ही था। अतः कालान्तर में इसमें प्रतिपादित विषयों का सरलीकरण करने का भी प्रयत्न किया गया तथा इसके अनेक संक्षिप्त संस्करण प्रकाशित किये गये। इस प्रकार बालकों तथा महिलाओं की अभिरुचि के विषयों को पृथक्तया संकलित कर बाल-सत्यार्थप्रकाश और महिला-सत्यार्थप्रकाश सम्पादित किये गये।

सत्यार्थप्रकाश में पौराणिक मतों की समीक्षा के साथ-साथ बौद्ध, जैन, ईसाई एवं मुसलमानी धर्म की समालोचना भी की गई थी। अतः यह स्वाभाविक ही था कि इन सम्प्रदायों के प्रवक्तागण सत्यार्थप्रकाशकारकृत आलोचना के वास्तविक अभिप्राय को न समझकर अनेकानेक कटूक्तियों की वर्षा करते और इस ग्रन्थ के खण्डन में अपनी लेखनी उठाते। ज्ञानी दित्तसिंह ने सिक्ख मत के दृष्टिकोण से सत्यार्थप्रकाश की आलो-चना लिखी, तो पण्डित अजितकुमार शास्त्री ने सत्यार्थप्रकाश के जैनमत-विषयक द्वादश समुल्लास के खण्डन में सत्यार्थदर्पण लिखा। स्वामी दयानन्द के जीवनकाल में ही गुजराँ-वाला (पंजाब)निवासी ठाकुरदास मूलराज भाभड़ा नामक एक दिगम्बर जैन से सत्यार्थ-प्रकाश (प्रथम संस्करण) में लिखी गई जैनमत की आलोचना को लेकर स्वामीजी का विवाद हो चुका था। पादरी जे० एल० ठाकुरदास तथा मौलवी सनाउल्ला ने क्रमशः ईसाइयत तथा इस्लाम के प्रवक्ताओं के रूप में सत्यार्थप्रकाश पर आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे। सनाउल्ला की आक्षेपात्मक पुस्तक 'हक प्रकाश' का उत्तर स्वामी दर्शनानन्द ने 'तकजीवे हक प्रकाश' शीर्षक से दिया था।

सत्यार्थप्रकाश के अन्तिम भाग में लेखक ने स्वमन्तव्यों को प्रकाशित कर यह स्पष्ट कर दिया है कि उनका किसी नवीन मत की स्थापना का लेशमात्र भी प्रयोजन नहीं है अपितु वे तो उन्हीं मन्तव्यों को स्वीकार करते हैं जो ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त प्राचीन ऋषि-मुनियों को मान्य रहे हैं। स्वामी दयानन्द के इन मन्तव्यामन्तव्यों को पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित किया गया है। विभिन्न भाषाओं में इसके अनुवाद भी छपे हैं।

(ग) संस्कारविधि

मानव-जीवन को सुसंस्कृत तथा समुन्नत बनाने की दृष्टि से पुराकालीन आर्य ऋषियों ने षोडश संस्कारों का विधान किया था। गर्भ-धारण से लेकर अन्त्येष्टि पर्यन्त सोलह संस्कार मनुष्य के शारीरिक, मानसिक, आत्मिक तथा सामाजिक विकास में अपूर्व योगदान करते हैं। न्यूनाधिक रूप में इन संस्कारों का प्रचलन सभी देशों तथा कालों के लोगों में रहा है। जन्म से लेकर शरीर की अन्त्येष्टि तक के विविध धार्मिक, सांस्कृतिक तथा सामाजिक कृत्यों की गणना संस्कारों में ही होती है। इन संस्कारों का मूल हमें वेदों की संहिताओं में ही मिल जाता है। कालान्तर में कल्प-सूत्रों के अन्तर्गत परिगणित गृह्य-सूत्रों में संस्कारों के विधिविधानों को सुव्यवस्थित तथा क्रमबद्ध किया गया। स्मृतियों में भी संस्कारों की विधियाँ विस्तृत रूप में उल्लिखित हुई हैं तथा धर्मशास्त्र के प्रकरण-ग्रन्थों में भी इनका विवेचन मिलता है।

यह अवश्य है कि संस्कारों के विधि-विधानों में सर्वत्र समानता दृष्टिगोचर नहीं होती। विभिन्न गृह्यसूत्रों में संस्कारों की संख्या तथा उनकी विधियों को लेकर विभिन्नता दिखाई पड़ती है। स्मृतियों का तो निर्माण ही युगविशेष की परिस्थितियों को ध्यान में रखकर किया गया था, अतः यदि उनमें वर्णित संस्कार-कृत्यों में विषमता दिखाई पड़े, तो आश्चर्य ही क्या? कालगति से अनेक संस्कारों का तो प्रचलन ही वन्द हो गया और वचे-खुचे संस्कारों के विधि-विधानों में भी नाना प्रकार के परिवर्तन, व्यतिक्रम तथा नाना-विध विकृतियों का समावेश होता रहा। वर्तमान युग में तो बालक के नामकरण और मुण्डन तथा समय आने पर विवाह एवं शरीरान्त पर अन्त्येष्टि जैसे संस्कार ही लोक-प्रचलित रूढ़ियों के आधार पर किये जाते हैं। ब्राह्मणों में यज्ञोपवीत संस्कार भी यथा-तथा प्रथापालन की दृष्टि से किया जाता है। वेदारम्भ, समावर्तन आदि संस्कार तो सर्वथा लुप्त ही हो गये हैं।

स्वामी दयानन्द ने मानव-समाज को समुन्नत बनाने के लिए जिन विभिन्न योजनाओं का सूत्रपात किया था, उनमें षोडश संस्कारों का शास्त्रीय विधि से पुनः प्रचलन एक प्रमुख कार्यक्रम था। संस्कारों के पुनः प्रचलन के लिए उन्होंने बहुविध प्रयत्न किये। उनके जीवन में ऐसे प्रसंग वर्णित हैं जब हम उन्हें क्षत्रियों को यज्ञोपवीत ग्रहण करने के लिए प्रेरणा देते देखते हैं। उन्होंने अनुभव किया था कि षोडश संस्कारों को आचरण में लाने के पीछे जो दर्शन तथा तत्त्व था वह तो लोगों की दृष्टि से सर्वथा ओझल ही हो गया है। इन संस्कारों को यथासमय, यथाविधि तथा पूर्ण गरिमा के साथ सम्पन्न करने की प्रथा तो कभी की समाप्त हो चुकी है। अब तो मात्र लकीर पीटना ही शेष रहा है। जब द्विजों में अग्रगण्य ब्राह्मण ही संस्कारभ्रष्ट हो चुके हैं तो अन्य वर्णों से तो आशा करना ही व्यर्थ है। दयानन्द सरस्वती के युग में (और आज भी) संस्कारों की शास्त्रीय विधियों का प्रायः लोप हो चुका था और उनके स्थान पर नाना प्रकार के लोकाचार, समयाचार तथा ग्राम्य विधि-विधान प्रचलित हो चुके थे। अतः उन्होंने शास्त्रोक्त संस्कारविधि के निर्माण की आवश्यकता अनुभव की। वे चाहते थे कि षोडश संस्कारों से सम्बन्धित एक ऐसा ग्रन्थ तैयार किया जाय जिसमें इन संस्कारों की विधि का संकलन तो रहे ही, साथ ही संस्कारों के शरीरशास्त्रीय, समाजशास्त्रीय,

मनोवैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक महत्त्व का भी उद्घाटन किया जा सके। संस्कारविधि की रचना में लेखक का यही प्रयोजन था।

संस्कारविधि का लेखनकाल—संस्कारविधि का लेखनकार्य कार्तिक अमावस्या १९३२ वि० शनिवार को बम्बई में आरम्भ हुआ और पौष शुक्ला ७ सं० १९३२ वि० सोमवार को समाप्त हुआ। इस समय स्वामी दयानन्द बड़ौदा में थे। आरम्भ और समाप्ति की तिथियों से ज्ञात होता है कि पुस्तक का लेखन १ मास और आठ दिन की अल्पावधि में ही पूरा हो गया था। संस्कारविधि का प्रथम संस्करण १९३३ वि० के अन्त में एशियाटिक प्रेस बम्बई से छपकर प्रकाशित हुआ। इस संस्करण का संशोधन पण्डित लक्ष्मण शास्त्री ने किया था तथा ग्रन्थ के मुद्रण में श्री केशवलाल निर्भयराम की आर्थिक सहायता प्राप्त हुई थी।

प्रथम संस्करण के प्रकाशन के लगभग साढ़े सात वर्ष पश्चात् ही इसके द्वितीय संशोधित संस्करण को प्रकाशित करने की आवश्यकता अनुभव हुई। इसका एक कारण तो यह था कि प्रथम संस्करण प्रायः समाप्त हो चुका था, किन्तु एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण यह भी था कि स्वामीजी इस ग्रन्थ को नवीन शैली में लिखना चाहते थे। प्रथम संस्करण में संस्कृतपाठ एक स्थान पर और भाषापाठ उससे पृथक् एकत्र लिखा गया था, जिसके फलस्वरूप संस्कार करानेवालों को संस्कृत के प्रमाणभाग और विधिभाग तथा उसके भाषानुवाद के दूर-दूर होने से कठिनाई पड़ती थी। संस्कारविधि के प्रथम संस्करण में गृह्यसूत्रों से कहीं-कहीं ऐसे प्रमाण भी दे दिये गये थे, जिनमें मांस-भक्षण का विधान था। यद्यपि ऐसा करने में स्वामीजी का प्रयोजन तत्-तत् ग्रन्थ का मत दिखाना मात्र ही था और वे इसे एकदेशीय मत ही समझते थे, तथापि अनेक पाठकों को सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण से उत्पन्न होनेवाली भ्रान्ति की ही तरह संस्कारविधि के इस संस्करण से भी यह भ्रम होने लगा था कि स्वामी दयानन्द मांस-भक्षण के पक्षपाती हैं। संस्कारविधि के द्वितीय संस्करण में ऐसे सभी स्थल पृथक् कर दिये गये।

संस्कारविधि के संशोधन का विचार स्वामीजी के मन में आषाढ कृष्णा १३ रविवार १९४० वि० को आया और तदनुकूल शीघ्र ही यह कार्य सम्पन्न कर दिया गया। द्वितीय संस्करण के अन्त में प्रकाशित एक श्लोक से ज्ञात होता है कि इस संशोधित संस्करण का मुद्रणकार्य आश्विन शुक्ला ५ बुधवार १९४१ वि० को समाप्त हो गया था। संस्कारविधि के द्वितीय संस्करण के प्रूफों का संशोधन पण्डित ज्वालादत्त एवं पण्डित भीमसेन ने किया। यद्यपि संस्कारविधि का संशोधित द्वितीय संस्करण स्वामीजी के निधन के लगभग ११ मास पश्चात् प्रकाश में आया, परन्तु इस संस्करण की पाण्डुलिपियों को देखने से ज्ञात होता है कि लेखक ने स्वयं अपने हाथ से इसमें संशोधन, परिवर्तन एवं परिवर्द्धन किये हैं, अतः यह आक्षेप निरर्थक है कि संस्कारविधि का वर्तमान संस्करण स्वामी दयानन्द की कृति नहीं है।

संस्कारविधि में मुख्यतया आश्वलायन, पारस्कर, गोभिल तथा शौनक गृह्यसूत्रों को ही उद्धृत किया गया है। लेखक संस्कारों के महत्त्व-निरूपण के लिए प्रायः वेदों, ब्राह्मणों तथा मनुस्मृति के शतशः उद्धरणों को प्रस्तुत करता चलता है। दयानन्द-सरस्वतीकृत संस्कारविधि की एक विशेषता यह भी है कि जहाँ उन्होंने सभी संस्कारों की विधियों का संग्रह करने में गृह्यसूत्रों का यथेच्छ उपयोग किया है, वहाँ उन्होंने इस

बात का भी ध्यान रखा है कि इन ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र जो वेदविरुद्ध तथा अंध-विश्वासों को प्रश्रय देनेवाली पाखण्डपूर्ण विधियाँ सम्मिलित हो गई हैं, उन्हें सावधानीपूर्वक पृथक् कर दिया जाग। ऐसा करके उन्होंने युगानुकूल एक ऐसी पद्धति का निर्माण कर दिया है जो पुराकालीन कर्मकाण्डों की जटिलना, व्यर्थता तथा नीरसता से सर्वथा मुक्त है। उनका ध्यान संस्कारों की विधि को जिस परिपूर्णता के साथ लिखने में रहा उतना ही इन कृत्यों की महत्ता, उपयोगिता और इनके औचित्य का प्रतिपादन करने में भी था।

स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा ने संस्कार-विधि के अब तक कई संस्करण प्रकाशित किये हैं। सभा का प्रकाशनाधिकार समाप्त हो जाने पर अन्य प्रकाशकों ने भी इसे प्रकाशित किया। आर्ष साहित्य-प्रचार ट्रस्ट दिल्ली ने अपनी स्वीकृत नीति के अनुसार संस्कारविधि के द्वितीय संशोधित संस्करण को यथावत् छापा। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने स्वसम्पादित संस्करण की आलोचनात्मक भूमिका में इस ग्रन्थ के सम्पादन, मुद्रण में हुए अनेक प्रमादों का आलोचनात्मक विश्लेषण किया है। वैदिक यंत्रालय में मुद्रित सभी संस्करणों के पाठों की तुलना के पश्चात् उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि प्रायः इन सभी संस्करणों में संशोधकों तथा सम्पादकों की असावधानी के कारण अनेक स्थानों पर पाठ-परिवर्तन, भ्रष्ट-पाठ आदि के प्रसंग उपस्थित हुए हैं। उन्होंने इन पाठ-परिवर्तनों तथा मूलपाठ के भ्रष्ट हो जाने के कारणों की भी मीमांसा की है। उनके अनुसार ग्रन्थ में दिये गये उद्धरणों के सही पतों को ढूंढने में अक्षम होने के कारण यदा-कदा संशोधकों ने ग्रन्थगत मूल उद्धरण को ही अस्तव्यस्त कर दिया है। इसका एक रोचक उदाहरण उन्होंने दिया है, जो निम्नलिखित है—

संस्कारविधि के गृहाश्रम प्रकरण में संस्कार के प्रमाणरूप में लेखक ने अथर्ववेद के २७ मन्त्र उद्धृत किये हैं। इनमें से प्रथम मन्त्र—'सोमो वधू' तो यथावत् ऋग्वेद (१०-८५-९) में आया है, जबकि द्वितीय मन्त्र 'इहैव स्तं मा' अन्तिम पद के भेद से ऋग्वेद (१०-८५-४२) में मिलता है। संस्कारविधि के ७वें संस्करण का सम्पादक भूल से इन मन्त्रों पर ऋग्वेद का पता लिख देता है, परन्तु जब उसके समक्ष यह कठिनाई आती है कि द्वितीय मन्त्र का अन्तिम पद अथर्ववेदानुसारी 'स्वस्तकौ' है और इसे ही ग्रन्थ की पाण्डुलिपि में भी लिखा गया, जबकि ऋग्वेदीय मन्त्र का अन्तिम पद 'स्वे गृहे' है, तो वह असमंजस में पड़ जाता है। अब इसका समाधान वह कैसे करे? यहाँ सम्पादक की स्वेच्छा-चारिता उसके विवेक पर हावी हो जाती है और वह संस्कारविधि में उद्धृत अथर्ववेदीय मन्त्र का अन्तिम पद 'स्वस्तकौ' हटाकर उसे ऋग्वेद के अनुसार 'स्वे गृहे' बना देता है। मूल उद्धरण में यह मनमाना परिवर्तन कर देने पर भी उसे यह ध्यान नहीं रहता कि चाहे उसने मूल उद्धरण के पाठ को तो स्वकल्पनानुसार ऋग्वेद का मानकर परिवर्तित कर दिया, किन्तु स्वामी दयानन्द ने तो इस मन्त्र की हिन्दी भाषा में जो व्याख्या लिखी है वह अथर्ववेदीय पाठ 'स्वस्तकौ' की ही है और उद्धरण के पाठ को बदलकर भी उसने स्वामी जी कृत भाषार्थ को यथावत् रहने दिया है। उसे यह ध्यान ही नहीं रहा कि ग्रन्थकार ने जो व्याख्या लिखी है वह 'स्वस्तकौ' पद की है न कि 'स्वे गृहे' की। जब स्वामी स्वतन्त्रा-नन्दजी का ध्यान इस ओर गया तो उन्होंने २२वें संस्करण के लिए तैयार की गई प्रेस-कापी में मन्त्रपाठ के अनुसार हिन्दी अर्थ में भी 'स्वस्तकौ' पद को हटाकर 'स्वे गृहे' कर दिया। परन्तु ऐसा करते समय उन्हें यह ध्यान नहीं रहा कि स्वामीजी कृत व्याख्या में

'स्वस्तकौ' का जो अर्थ 'उत्तम गृह वाले' किया गया है, वह 'स्वे गृहे' का नहीं हो सकता।

वेदोक्त संस्कारप्रकाश और संस्कारविधि—पण्डित वालाजी विट्ठल गावस्कर नामक एक महाराष्ट्रीय सज्जन ने १९३८ वि० में वेदोक्तसंस्कारप्रकाश नामक एक मराठी ग्रन्थ लिखा। इसका द्वितीय भाग १९३९ वि० में प्रकाशित हुआ। ग्रन्थ के प्रथम भाग का गुजराती अनुवाद श्री प्राणजीवनदास कहानदास ने किया था। यह अनुवाद भी १९३८ वि० में ही छपा है। संस्कारविधि तथा वेदोक्त संस्कारप्रकाश का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे इस प्रकार हैं—(१) वेदोक्त संस्कारप्रकाश के लेखक ने इस ग्रन्थ के निर्माण में संस्कारविधि के प्रथम संस्करण, सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण तथा पंचमहायज्ञविधि (१९३४ वि० का संस्करण)से पर्याप्त सहायता ली है। (२)ग्रन्थकार पण्डित वालाजी विट्ठल गावस्कर स्वामी दयानन्द के परिचित एवं भक्त थे और उन्होंने अपने प्रान्त महाराष्ट्र में वैदिक संस्कारों का प्रचलन कराने की दृष्टि से ही इस ग्रन्थ की रचना की थी। इस पद्धति से हुए एक उपनयन संस्कार का उल्लेख आर्यसमाज वम्बई की १६ अप्रैल १८८२ की कार्यवाही में मिलता है। (३) संस्कारविधि के विधिभाग में जहाँ कुछ गड़वड़ अथवा भूलें हैं उनका कारण वेदोक्त संस्कारप्रकाश ही है।

संस्कारविधि के अनुवाद, टीका, व्याख्या आदि ग्रन्थ—कर्मकाण्ड का सम्बन्ध मनुष्य के दैनन्दिन जीवन से रहता है। संस्कारविधि कर्मकाण्डपरक ग्रन्थ है, अतः भारत की विभिन्न भाषाओं में समय-समय पर उसके अनुवाद हुए हैं। गुजराती भाषा में इस ग्रन्थ के दो अनुवाद प्रकाशित हुए। प्रथम अनुवाद इच्छाशंकर पाठक तथा गिरधरलाल-गोविन्दजी के सम्मिलित प्रयत्नों से किया गया। द्वितीय अनुवाद पण्डित मायाशंकर शर्मा ने किया जो १९२४ ई० में मुम्बई प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित हुआ। कालान्तर में इसके अन्य संस्करण भी प्रकाशित हुए। मराठी अनुवादक पण्डित हरिसखाराम तुंगार तथा स्नातक सत्यव्रत थे। इन्होंने संस्कारविधि के दो पृथक्-पृथक् अनुवाद किये। स्नातक जी का किया मराठी अनुवाद २०२४ वि० में प्रकाशित हुआ। बंगला में संस्कारविधि को अनूदित करने का श्रेय पण्डित शंकरनाथ को है। एक अन्य अनुवाद पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री ने भी किया। उड़िया भाषा में संस्कारविधि के अनुवादक स्वामी ब्रह्मानन्द हैं। उड़िया संस्करण का प्रकाशन १९७७ ई० में हुआ। तमिल संस्कार-विधि आर्यसमाज मद्रास द्वारा १९३४ ई० में प्रकाशित हुई। तेलुगु में पण्डित गोपदेव ने इस ग्रन्थ का अनुवाद किया। उर्दू में संस्कारविधि के एकाधिक अनुवाद हुए हैं। दिलुसिंह राईकृत नेपाली अनुवाद २०३४ वि० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। मॉरिशस-निवासी श्री वी० वख्तावरसिंह ने अंग्रेजी में संस्कारविधि का एक संक्षिप्त संस्करण १९६६ ई० में प्रकाशित किया। सम्पूर्ण अंग्रेजी अनुवाद पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री ने किया जो सार्वदेशिक सभा द्वारा १९७६ ई० में प्रकाशित हुआ।

संस्कारविधि पर जो व्याख्या-ग्रन्थ लिखे गये हैं वे दो प्रकार के हैं। प्रथम कोटि में वे ग्रन्थ आते हैं जो संस्कारों के महत्त्व का शरीरशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र तथा अध्यात्मविद्या की दृष्टि से निरूपण करते हैं। ऐसे ग्रन्थों में पण्डित भीमसेन शर्मा (आगरा) तथा पण्डित आत्माराम अमृतसरी के संयुक्त लेखन में लिखित संस्कारचन्द्रिका को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन १९१३ ई० में हुआ था। पण्डित

भीमसेन शर्मा के पुत्र स्व० डॉ० हरिदत्त शास्त्री ने इसका एक संशोधित एवं उपबृंहित संस्करण सत्य प्रकाशन मथुरा से प्रकाशित किया था। पण्डित अत्रिदेव गुप्त विद्यालंकार का ग्रन्थ संस्कारविधि-विमर्श आयुर्वेद की दृष्टि से संस्कारों की व्याख्या प्रस्तुत करता है। पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने संस्कारचन्द्रिका लिखकर सर्वांगीण दृष्टि से संस्कारों के महत्त्व का विवेचन किया है। पण्डित मदनमोहन विद्यासागर ने संस्कार-समुच्चय में षोडश संस्कारों के अतिरिक्त वर्षगाँठ, वाग्दान, व्यापार-स्थापना आदि अनेक मांगलिक कृत्यों पर करणीय विधियों का समावेश किया है।

समय-समय पर पौराणिक विद्वानों द्वारा दयानन्दकृत संस्कारविधि पर विभिन्न प्रकार के आक्षेप लगाये जाते रहे हैं। आर्यसमाज के विद्वानों ने इनके निराकरण में अनेक प्रौढ़ ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें पण्डित रामगोपाल शास्त्री लिखित संस्कारविधिमण्डन, पण्डित रामगोपाल विद्यालंकार लिखित संस्कारप्रकाश तथा पण्डित बुद्धदेव मीरपुरीकृत संस्कारविधि की व्याख्या उल्लेखनीय हैं। विश्वविद्यालयों में शोध-उपाधि प्राप्त करने के लिए जो शोधप्रबन्ध लिखे जाते हैं, उनमें भी कतिपय संस्कारविधि को लेकर ही लिखे गये हैं। पंजाब विश्वविद्यालय के अन्तर्गत कार्यरत दयानन्द शोधपीठ से डॉ० विक्रमकुमार ने महर्षि "दयानन्दकृत संस्कारविधौ विवाहगृहाश्रमप्रकरणयोरध्ययनम्" शीर्षक से पी-एच०डी० उपाधि के लिए शोधप्रबन्ध लिखा था। १९८५ ई० में डॉ० धर्मदेव शर्मा ने "गृह्यसूत्रों के संदर्भ में महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि का एक अध्ययन" शीर्षक से शोधप्रबन्ध लिखा है। पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द शोध-पीठ के अन्तर्गत सम्पन्न इस शोध-कार्य पर लेखकों को पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त हुई है।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने स्वामी दयानन्द की बृहत्त्रयी का विवरण प्रस्तुत किया है। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय ने डॉ० सत्यप्रकाश रामवहाल द्वारा स्वामी दयानन्द की बृहत्त्रयी का समालोचनात्मक अध्ययन विषय पर लिखे गये उनके शोधप्रबन्ध को पी-एच० डी० उपाधि से पुरस्कृत किया है।

(ध) स्वामी दयानन्दकृत वेदभाष्य

स्वामी दयानन्द ने अपने धर्मान्दोलन की नींव वेदप्रामाण्यवाद पर रक्खी थी। उनकी समस्त मान्यताएँ वेदमूलक हैं। इस कारण उन्होंने यह आवश्यक समझा कि वेदों के वास्तविक अर्थों को जनता के समक्ष प्रस्तुत किया जाय, ताकि शताब्दियों से लुप्त वैदिक ज्ञान के प्रकाश से एक बार पुन: दिग्दिगन्त आलोकित हो सके। एक बात और भी थी कि शताब्दियों से धार्मिक चर्चा और दार्शनिक ऊहापोह करते समय प्रमाणरूप में वेदों का नाम तो लिया जाता रहा, किन्तु वेदों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा के लुप्त हो जाने के कारण उनके वास्तविक कथ्य और प्रतिपाद्य से लोग अनभिज्ञ ही थे।

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का लेखन समाप्त कर स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेद-भाष्य का लेखन आरम्भ किया। ऐसा अनुमान होता है कि वेदभाष्य लिखने का संकल्प तो स्वामीजी ने बहुत पहले ही कर लिया था, क्योंकि १९३१ वि० में ही उन्होंने ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का भाष्य नमूने के रूप में लिखकर प्रकाशित किया था, जिसका मराठी एवं गुजराती अनुवाद भी साथ में छपा था। आज हमें ऋग्वेद के प्रथम सूक्त के इस भाष्य की कोई प्रति उपलब्ध नहीं होती। कालान्तर में उन्होंने ऋग्वेद के प्रारम्भिक अंश का एक

वृहद् भाष्य लिखा और उसे १९३३ वि० में लाजरस प्रेस काशी से प्रकाशित किया। इस समय वे पंजाब की यात्रा पर थे। इस बीच उनके मन में विचार आया कि यदि पंजाब-सरकार से वेदभाष्य-प्रकाशन के कार्य में सहायता ली जा सके तो यह महत् अनुष्ठान शीघ्र ही पूरा हो सकेगा। इस अभिप्राय से उन्होंने १४ मई १८७७ ई० को पंजाब के लेफ्टिनेंट-गवर्नर से भेंट की और उनसे वेदभाष्य में सहायता देने का अनुरोध किया। राज्य सरकार ने इस कार्य में सहायता देने से पूर्व कतिपय विद्वानों के पास दयानन्द-कृत वेदभाष्य को उनका अभिप्राय जानने के लिए भेजा। जिन विद्वानों के पास वेद-भाष्य का यह नमूना उनके विचार जानने हेतु भेजा गया था, वे थे राजकीय संस्कृत कॉलेज बनारस के प्रिंसिपल आर० टी० एच० ग्रिफिथ, प्रेसिडेंसी कॉलेज कलकत्ता के प्रिंसिपल श्री सी० एच० टॉनी, ओरियण्टल कॉलेज लाहौर के प्रधान पण्डित गुरुप्रसाद शास्त्री तथा सहायक पण्डित हृषीकेश भट्टाचार्य और गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर के पण्डित भगवानदास। स्वामी दयानन्दकृत वेद-भाष्य मध्यकालीन याज्ञिक शैली के भाष्यों की प्रणाली से हटकर था, इसलिए उपर्युक्त विद्वानों ने उसके प्रतिकूल ही सम्मति दी। इसी बीच कलकत्तास्थित संस्कृत कॉलेज के स्थानापन्न प्राचार्य पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न ने भी स्वामीजी की वेदभाष्य-शैली का खण्डन करते हुए "दयानन्द सरस्वतीकृत वेद-भाष्येऽभिप्रायम्" शीर्षक पुस्तक लिखकर दयानन्द के वेदार्थ-विषयक दृष्टिकोण का खण्डन किया। स्वामीजी ने उपर्युक्त आक्षेपों का तो यथोचित निराकरण किया ही, किन्तु अब वे सरकारी सहायता की अपेक्षा न कर स्व-उद्योग से ही वेदभाष्य के द्रुतलेखन व प्रकाशन में जुट गये।

व्यवस्थित रूप से ऋग्वेद-भाष्य का लेखन मार्गशीर्ष शुक्ला ६ संवत् १९३४ से आरम्भ हुआ। यह भाष्य मासिक रूप में छपता और ग्राहकों को भेजा जाता था। वेद-भाष्य के नियमित ग्राहकों में अनेक स्वदेशी एवं विदेशी विद्वान् थे। प्रो० मोनियर विलियम्स तथा प्रो० मैक्समूलर जैसे पाश्चात्य संस्कृतज्ञ वेदभाष्य के पाठक थे तो भारत में महादेव गोविन्द रानाडे, गोपालराव हरि देशमुख, सर टी० माधवराव, केशवचन्द्र सेन, महेन्द्रलाल सरकार, राजा जयकृष्णदास, महाराजा होल्कर आदि महानुभावों को भी वेदभाष्य नियमित रूप से भेजा जाता था। स्वामी दयानन्द ऋग्वेद का भाष्य सातवें मण्डल के ६१वें सूक्त के द्वितीय मन्त्र पर्यन्त ही कर सके थे। स्वामीजी के जीवनकाल में यह भाष्य प्रथम मण्डल के ८६वें सूक्त के ५वें मन्त्र पर्यन्त छपा। अवशिष्ट भाग उनके निधन के उपरान्त छपा। ऋग्वेद का दयानन्दकृत यह आंशिक भाष्य १८९९ ई० में नौ खण्डों में पूरा हुआ।

यजुर्वेद-भाष्य—ऋग्वेद-भाष्य आरम्भ करने के कुछ समय पश्चात् ही पौष शुक्ला १३ सं० १९३४ वि० के दिन स्वामीजी ने यजुर्वेद-भाष्य-प्रणयन आरम्भ किया। इसका समाप्तिकाल मार्गशीर्ष कृष्णा प्रतिपदा सं० १९३९ वि० है। इस प्रकार उसे पूरा करने में स्वामीजी को ४ वर्ष १० मास लगे। स्वामीजी के जीवनकाल में यजुर्वेद-भाष्य के ५१ मासिक अंक प्रकाशित हुए और उनमें १५वें अध्याय के ११वें मन्त्र तक का भाष्य छप सका। अवशिष्ट भाष्य उनके निधन के उपरान्त प्रकाशित हुआ।

स्वामी दयानन्द की वेदभाष्य-लेखन की निजी शैली है। प्रथम वे मन्त्र के ऋषि, देवता, छन्द और स्वर का निर्देश कर मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय का उल्लेख करते हैं। यहाँ

यह भी ध्यातव्य है कि दयानन्द ही प्रथम वेदभाष्यकार हैं जिन्होंने वेदमन्त्रों के स्वरों का निर्देश किया है। इस प्रारम्भिक सूचना के पश्चात् वे मन्त्र का मूल पाठ रखते हैं तथा उसका पदपाठ देते हैं। तत्पश्चात् वे संस्कृत में पदार्थ, अन्वय और भावार्थ लिखते हैं। अपने द्वारा किये गये वेदार्थ की पुष्टि में वे शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थों, निरुक्त, निघण्टु आदि वेदाङ्गों के प्रमाण भी देते हैं। उनका वेदभाष्य मुख्यतया यास्क-प्रोक्त नैरुक्त प्रक्रिया को लेकर चलता है। तदनुसार वे मन्त्रगत पदों के निरुक्तिमूलक अर्थों को प्रधानता देते हुए एक ही मन्त्र के प्रकरणानुसार विभिन्न अर्थ करने पर जोर देते हैं। तथापि इससे यह अभिप्राय नहीं निकालना चाहिए कि मन्त्रों के याज्ञिक अर्थों से उनकी असहमति है। वे प्रकरणानुकूल मन्त्रों के कर्मकाण्डपरक अर्थ किये जाने के विरुद्ध नहीं हैं। इस दृष्टि से वे ब्राह्मण व सूत्रग्रन्थों में आये मन्त्रों के कर्मकाण्ड में विनियोगपरक अर्थों की यथार्थता को भी स्वीकार करते हैं, परन्तु उनकी स्वयं की रुचि मन्त्रों के आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक (मानवजीवन के लिए उपयोगी) अर्थ करने में ही है।

स्वामीजी ने यह वेदभाष्य मूलतः संस्कृत में ही लिखा था। इसको हिन्दी में अनूदित करने का कार्य पण्डित भीमसेन शर्मा तथा पं० ज्वालादत्त शर्मा को सौंपा गया। उनके निधन के पश्चात् भी संस्कृत-भाष्य के भाषानुवाद का कार्य परोपकारिणी सभा की देखरेख में दीर्घकाल तक चलता रहा। इस सभा के प्रारम्भ-कालीन सभासद पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा को यह शिकायत थी कि उपर्युक्त पण्डितद्वय द्वारा किया हुआ वेदभाष्य का यह हिन्दी अनुवाद पर्याप्त त्रुटिपूर्ण होता है। उन्होंने तो यहाँ तक कहा था कि इस प्रकार का भ्रष्ट भाषानुवाद कराकर छपाना कदापि उचित नहीं है। किन्तु उक्त सभा के तत्कालीन उपप्रधान रायबहादुर मूलराज इससे सहमत नहीं थे। उनकी धारणा थी कि जनसाधारण के उपयोग की दृष्टि से वेदभाष्य का हिन्दी अनुवाद तो छपना ही चाहिए। यदि इसमें कोई त्रुटियाँ रह गई हैं तो उन्हें सुधारना उचित होगा। साथ ही उन्होंने श्यामजी को पत्र लिखते हुए यह भी कहा कि हमें पाठकवर्ग से तथ्य को छिपाना नहीं चाहिए कि वेदभाष्य का संस्कृतभाग ही स्वामी दयानन्दप्रणीत है और इसका भाषाभाग पण्डितों द्वारा तैयार किया गया है।

स्वामी दयानन्दकृत वेदभाष्यों का प्रकाशन पर्याप्त समय तक तो परोपकारिणी सभा ही करती रही। इधर आर्यसमाज की स्थापना-शताब्दी के अवसर पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा तथा दयानन्द संस्थान ने इन भाष्यों का मात्र हिन्दी-भाग जनसाधारण के लाभार्थ प्रकाशित किया। ऋग्वेद-भाष्य का सुव्यवस्थित सम्पादन पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका-सहित यह भाष्य प्रथम मण्डल के १०५ सूक्त पर्यन्त तीन जिल्दों में रायसाहब चौधरी प्रतापसिंह, करनाल द्वारा प्रकाशित हुआ है। पण्डित सुदर्शनदेव शास्त्री ने ऋग्वेद-भाष्यभास्कर लिखकर दयानन्दकृत ऋग्वेद-भाष्य को सरलीकृत किया है। आचार्य विश्वश्रवा ने कई वर्ष पूर्व दयानन्दीय ऋग्वेद-भाष्य पर एक महाभाष्य लिखने का संकल्प किया था। इस योजना के अन्तर्गत इस महाभाष्य का प्रथम भाग २०३४ वि० में प्रकाशित हुआ। 'अन्वितार्थ प्रदीप' नामक इस महाभाष्य में एक विस्तृत भूमिका लिखकर विद्वान् भाष्यकार ने ऋग्वेद की ऋक्-संख्या से सम्बन्धित पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विद्वानों के मतों की विस्तृत समीक्षा की है तथा एतद्विषयक दयानन्दीय दृष्टिकोण की यथार्थता प्रतिपादित की है। इस भाग में

ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के अर्थों के सम्बन्ध में भाष्यकार ने तुलनात्मक समीक्षा बहुत विस्तार में की है। ऋग्वेद-भाष्य का केवल हिन्दी भाषा-भाष्य भी पृथक् रूप से छपा है।

ऋग्वेदभाष्य की तुलना में स्वामीजी के यजुर्वेदभाष्य पर टीका-टिप्पणी-लेखन का कार्य अधिक मात्रा में हुआ है। सर्वप्रथम पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने इसके १५ अध्यायों पर विस्तृत विवरण लिखा जिसमें दयानन्दकृत वेदार्थ की पुष्टि में विविध शास्त्रीय प्रमाण जुटाये गये तथा भाष्य के भाषागत प्रयोगों के साधुत्व की भी समीक्षा की गई। डॉ० सुदर्शनदेव शास्त्री का यजुर्वेद-भाष्य-भास्कर दयानन्दकृत वेदार्थ को सरल और सुगम रीति से प्रस्तुत करता है। यजुर्वेद के भाष्य के उन अंशों का एक सुसम्पादित संस्करण पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने तैयार किया था जो पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा के पाठ्यक्रम में रक्खा गया था। यह ग्रंथ आर्यकुमार महासभा बडौदा द्वारा २०१६ वि० में प्रकाशित हुआ। शाहपुरानरेश राजाधिराज नाहरसिंह वर्मा ने यजुर्वेदीय रुद्राष्टाध्यायी का प्रकाशन किया। इसमें यजुर्वेद के प्रचलित रुद्राध्यायों का दयानन्दकृत भाषार्थ संगृहीत किया गया था।

स्वामी दयानन्दकृत वेदभाष्य के अन्य भाषाओं में अनुवाद—स्वर्गीय पण्डित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड ने दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य का अंग्रेजी-अनुवाद आरम्भ किया था, जिसे वे अपने जीवनकाल में पूरा नहीं कर सके। इसका कुछ अंश सार्वदेशिक सभा ने दो खण्डों में प्रकाशित किया है। हाल ही में इसका तृतीय खण्ड पण्डित ब्रह्मदत्त स्नातक द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हो चुका है। लाला देवीचन्द ने यजुर्वेदभाष्य का अंग्रेजी-अनुवाद किया था। दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य का तेलुगु-अनुवाद पण्डित अन्नेकेशवार्य शास्त्री तथा पी० एस० आचार्य ने सम्मिलित रूप से किया है। यजुर्वेद-भाषा-भाष्य का गुरुमुखी लिपि का एक संस्करण लाहौर के सरदार अमरसिंह ने तैयार किया था जो १९०७ ई० में प्रकाशित हुआ। इसकी एक दुर्लभ प्रति ब्रिटिश म्यूजियम लंदन में सुरक्षित है।

वेदार्थ कोश—स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य में प्रयुक्त वैदिक शब्दों के अर्थों के कोश तैयार करने के कुछ प्रशंसनीय प्रयत्न हुए हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्त्वावधान में पण्डित चमूपति तथा स्वामी वेदानन्दतीर्थ के सम्पादन में वेदार्थ कोश तीन खण्डों में प्रकाशित हुआ। इसमें दयानन्द-भाष्य में प्रयुक्त वैदिक पदों के विभिन्न अर्थों का संग्रह तो है ही, इन्हीं पदों के ब्राह्मण, निरुक्त आदि ग्रन्थों में दिये गये अर्थ भी साथ ही साथ संगृहीत किये गये हैं। इसी सरणि पर पण्डित राजवीर शास्त्री ने दयानन्द वैदिक कोश का सम्पादन किया है। डॉ० सुदर्शनदेव शास्त्री तथा पण्डित राजवीर शास्त्री ने यजुर्वेद-देवतार्थविषयसूची का भी सम्पादन किया। इसमें दयानन्दीय यजुर्वेदभाष्य में उल्लिखित देवताओं तथा मन्त्रों के विषयों की सूची प्रस्तुत की गई है। स्वामी दयानन्द के यजुर्वेदीय भाष्य की विषयानुक्रमणिका पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने तैयार की थी जो गुरुकुल कांगड़ी से १९१७ ई० में प्रकाशित हुई।

दयानन्दीय वेदभाष्य-विषयक शोधकार्य—विश्वविद्यालय-स्तर पर किये जाने वाले शोधकार्यों में स्वामी दयानन्दकृत वेदभाष्य नाना प्रकार से चर्चित एवं आलोचित हुआ है। सर्वप्रथम डॉ० सुधीरकुमार गुप्त ने 'वेदभाष्य-पद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन' विषय पर अपना शोधप्रबन्ध प्रस्तुत किया। इसमें दयानन्दकृत वेदभाष्य-शैली

के वैशिष्ट्य को विभिन्न तथ्यों के आधार पर निरूपित किया गया था। डॉ० विमला ने सायण तथा दयानन्द के वेदभाष्यों का तुलनात्मक अनुशीलन उपस्थित किया। डॉ० सत्यव्रत राजेश ने 'दयानन्दकृत यजुर्वेद-भाष्य में समाज का स्वरूप' विषय लेकर गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय की दयानन्द पीठ के अन्तर्गत कुमारी परमजीत कौर ने 'दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य में सामाजिक एवं राजनैतिक संदर्भ : एक अध्ययन' शीर्षक शोधप्रवन्ध लिखकर पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की है। इसी विश्वविद्यालय की कुमारी रमा ने दयानन्दकृत 'ऋग्वेद-भाष्य और सविता देवता' विषय पर एक लघु शोधप्रवन्ध लिखा है।

पंजाब विश्वविद्यालय के अन्तर्गत कार्यरत अनुसंधान पीठ के तत्त्वावधान में डॉ० वेदपाल वर्णी ने दयानन्दीय यजुर्वेदभाष्य तथा शतपथ ब्राह्मण का तुलनात्मक अध्ययन विषय लेकर पी-एच० डी० उपाधि ग्रहण की। इसी शोधपीठ की डॉ० (श्रीमती) वसुन्धरा रिहानी ने 'दयानन्दीय यजुर्वेदभाष्य में देवता तत्त्व' पर अपना शोधकार्य सम्पन्न किया है। काशी विद्यापीठ से आर्य जगत् के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् डॉ० प्रशस्यमित्र शास्त्री ने 'आचार्य महीधर और महर्षि दयानन्द का माध्यन्दिन यजुर्वेद भाष्य—एक तुलनात्मक अध्ययन' शीर्षक विषय लेकर शोध-उपाधि प्राप्त की। इसमें लेखक ने दोनों आचार्यों द्वारा यजुर्वेद पर लिखे गये भाष्यों की विविध दृष्टियों से तुलना कर कुछ निर्णय लिये हैं। एक इसी प्रकार का शोधप्रवन्ध डॉ० रमासिंह पाठिका ने आगरा विश्वविद्यालय को प्रस्तुत किया था जिसका शीर्षक था—'स्वामी दयानन्दकृत यजुर्वेद भाष्य का उव्वट-महीधरकृत यजुर्वेदभाष्य से तुलनात्मक अध्ययन'। 'स्वामी दयानन्द—वेद भाष्यकार के रूप में' शीर्षक विषय पर विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन से डॉ० राधेश्याम मिश्र ने शोध-कार्य सम्पन्न किया है। सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् डॉ० फतहसिंह ने 'दयानन्द और उनका वेदभाष्य' शीर्षक ग्रन्थ में दयानन्दीय भाष्य-प्रणाली की सम्यक् समीक्षा की है।

(ङ) खण्डनात्मक ग्रन्थ

स्वामी दयानन्द ने वेदवाह्य साम्प्रदायिक मतों का खण्डन विशेष उत्साहपूर्वक किया था। एतदर्थ उन्होंने कुछ ग्रन्थों की भी रचना की। उनकी प्रथम खण्डनात्मक कृति थी भागवतखण्डनम्। इसकी रचना उन्होंने उस समय की जब वे द्वितीय बार आगरा आये। स्वामीजी के जीवनचरितों में इस ग्रन्थ के 'वैष्णवमत खण्डन' तथा 'पाखण्डखण्डन' नाम भी उपलब्ध होते हैं। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण पण्डित ज्वालाप्रसाद भार्गव के प्रवन्ध में ज्वालाप्रकाश प्रेस से १९२३ वि० में मुद्रित हुआ था। इसकी कई हजार प्रतियाँ १९२४ वि० के कुम्भ के अवसर पर हरिद्वार में वितीर्ण की गई थीं। पर्याप्त काल तक यह ग्रन्थ अनुपलब्ध रहा। अन्ततः पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने इसे रामलाल कपूर ट्रस्ट के पुस्तकालय से एक विचित्र रीति से ढूँढ निकाला। इस संग्रह में उन्हें किन्हीं विश्वेश्वरनाथ गोस्वामी की लिखी एक पुस्तक 'पाषंडिमुखमर्दन' शीर्षक मिली। लीथो की छपी इस पुस्तक में दयानन्दरचित भागवतखण्डन को अक्षरशः उद्धृत कर उसका खण्डन किया गया था। इस प्रकार मीमांसक जी को भागवतखण्डन का मूल पाठ अनायास ही उपलब्ध हो गया। उन्होंने इसे सम्पादित कर २०१८ वि० में प्रकाशित किया। भागवतखण्डन के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ की रचना के समय तक स्वामी दयानन्द

वैष्णव भागवत का तो खण्डन करते थे, किन्तु अन्य पुराणों के सम्बन्ध में उनकी सम्मति परम्परानुमोदित ही थी। तभी तो वे मार्कण्डेय तथा बृहन्नारदीय पुराणों को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं तथा ग्रन्थान्त में अध्ययन-योग्य ग्रन्थों में हरिवंशपुराण (महाभारत के परिशिष्ट रूप में प्रणीत) की गणना करते हैं। शास्त्रीय शैली में लिखित इस लघु आकार के ग्रंथ का महत्त्व इस कारण भी है कि यह स्वामीजी के ग्रन्थलेखन का प्रारम्भिक प्रयास था।

वेदविरुद्धमतखण्डन—स्वामीजी को वल्लभाचार्य-प्रवर्तित वैष्णव मत के विरुद्ध संस्कार तो स्वामी विरजानन्द के निकट रहते समय मथुरा में ही प्राप्त हो गये थे। जिस समय उन्होंने बम्बई तथा गुजरात प्रान्त का भ्रमण किया तो वल्लभ सम्प्रदाय में प्रचलित अवैदिक रीति-नीति एवं अनाचारों का परिचय उन्हें अधिक विस्तार से मिला। फलतः उन्होंने इस मत के खण्डन में "वेदविरुद्धमतखण्डन" शीर्षक ग्रन्थ लिखा। इसका प्रथम संस्करण भणशाली द्वारिकादास लल्लूभाई के आर्थिक सहयोग से १९३१ वि० में निर्णय-सागर प्रेस बम्बई में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ। प्रथम संस्करण में मूल संस्कृत ग्रन्थ का गुजराती-अनुवाद भी छपा था जो स्वामीजी के प्रख्यात संस्कृतज्ञ शिष्य पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा के द्वारा किया गया था। वर्तमान संस्करणों में जो इसका हिन्दी-अनुवाद छपता है वह पण्डित भीमसेन शर्मा द्वारा किया गया है। हिन्दी-अनुवादयुक्त प्रथम संस्करण वैदिक यंत्रालय प्रयाग से १८८७ ई० में छपा।

शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण (स्वामिनारायणमतखण्डन)—गुजरात में प्रचलित स्वामिनारायण मत का मूल ग्रन्थ शिक्षापत्री है जो इस सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक सहजानन्द द्वारा लिखित है। संस्कृत में प्रचलित खण्डनात्मक शैली में लिखा गया शिक्षापत्रीध्वान्त-निवारण प्रथम बार ओरियण्टल प्रेस बम्बई से १९३३ वि० (१८७६ ई०) में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ। प्रथम संस्करण में श्यामजी कृष्ण वर्मा कृत गुजराती-अनुवाद भी छपा। हिन्दी-अनुवादसहित शिक्षापत्रीध्वान्तनिवारण का प्रथम संस्करण १९०१ ई० में वैदिक यंत्रालय अजमेर से प्रकाशित हुआ। वैदिक यंत्रालय के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकाशक ने इसे पृथक् रूप से प्रकाशित नहीं किया। यजुर्वेदभाष्य के अंक १५ के अन्त में विज्ञापनरूप में छपी पुस्तकों की सूची से विदित होता है कि यह पुस्तक केवल गुजराती में भी छपी थी।

वेदान्तिध्वान्तनिवारण—नवीन वेदान्त (शंकरप्रतिपादित अद्वैतवाद) के खण्डन में स्वामी दयानन्द ने "वेदान्तिध्वान्तनिवारण" शीर्षक ग्रन्थ बम्बई-प्रवास के समय लिखा। इस पुस्तक की रचना केवल दो दिन में ही हो गई थी। इसका प्रथम संस्करण १८७६ ई० (१९३३ वि०) में ओरियण्टल प्रेस बम्बई से मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ। द्वितीय संस्करण भी स्वामी दयानन्द के जीवनकाल में ही वैदिक यंत्रालय प्रयाग से १८८२ ई० में प्रकाशित हुआ। इस संस्करण की भाषा का संशोधन मुन्शी समर्थदान ने किया था। नव्य वेदान्त की आलोचना में लिखे गये इस ग्रन्थ में वेदान्तस्वीकृत महावाक्यों के वास्तविक अर्थों का उद्घाटन करने के साथ-साथ वेदान्तियों में प्रचलित पंचीकरण जैसी प्रक्रियाओं की भी तर्कपूर्ण समीक्षा की गई है। साथ ही बादरायण के वेदान्तसूत्रों में से जीवेश्वर-भेदवाद के पोषक सूत्रों का संग्रह भी किया गया है।

पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री ने इस ग्रन्थ का बंगला-अनुवाद किया था। एक गुरुमुखी-अनुवाद का भी पता चला है। अंग्रेजी में इसका अनुवाद बावा अर्जुनसिंह ने

Neo Vedantism Refuted शीर्षक से किया जो १८९९ ई० में वैदिक यंत्रालय अजमेर से छपा। पण्डित बालादत्त दौर्गादत्ति ने इस ग्रन्थ के खण्डन में "द्वैतध्वान्त-निवारण" शीर्षक ग्रन्थ लिखा जो भारतजीवन प्रेस काशी से १८८९ ई० में छपा था।

चतुर्वेदविषयसूची—वेदभाष्य का प्रणयन करने से पूर्व स्वामी दयानन्द ने चारों वेदों के मंत्रों के प्रतिपाद्य विषयों की एक सूची बनाई थी जिसे हम 'चतुर्वेदविषयसूची' के नाम से जानते हैं। पर्याप्त समय तक यह ग्रन्थ अप्रकाशित ही रहा, यद्यपि इसे प्रकाश में लाने का आग्रह समय-समय पर आर्यसमाज के विद्वानों की ओर से किया जाता था। अन्ततः परोपकारिणी सभा ने इसे १९७१ ई० में प्रकाशित किया। आर्यसमाज के अनेक विद्वानों की धारणा है कि यदि यह सूची वेदभाष्यकर्त्ता विद्वानों को उपलब्ध होती तो सम्भवतः उनके द्वारा रचित वेदभाष्य अधिक उत्कृष्ट, प्रामाणिक तथा स्वामी दयानन्द की विचारधारा के निकट होते। चतुर्वेदविषयसूची में वेदों का क्रम इस प्रकार है—ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद और यजुर्वेद। परोपकारिणी सभा के द्वारा इस ग्रन्थ को २०२८ वि० में प्रकाशित किये जाने के पश्चात् पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने स्वसम्पादित दयानन्दीय लघुग्रन्थसंग्रह में इस ग्रन्थ को सम्मिलित किया। इस ग्रन्थ के पाठ की शुद्धि की ओर उन्होंने पूर्ण ध्यान दिया है।

पंचमहायज्ञविधि—अपने प्रथम बम्बई-निवासकाल के समय स्वामीजी ने पंचमहायज्ञविधि की रचना की। इसका प्रथम संस्करण १९३१ वि० में बम्बई से तथा संशोधित संस्करण १९३४ वि० में काशी से छपा था। प्रथम संस्करण में संध्योपासना के अन्तर्गत आचमन, इन्द्रियस्पर्श, मार्जन, प्राणायाम, अघमर्षण और उपस्थान तथा गायत्री मन्त्र तो वर्तमान प्रचलित संस्करण के ही समान थे जबकि मनसा परिक्रमा के मन्त्र सर्वथा भिन्न थे। इस संस्करण में ग्रन्थान्त में ऋग्वेद परिशिष्ट के अन्तर्गत आनेवाले लक्ष्मी सूक्त के १५ मन्त्र संस्कृत-व्याख्यासहित दिये गये हैं।

इस ग्रन्थ का संशोधित संस्करण १९३४ वि० में लाजरस प्रेस, काशी में छपकर प्रकाशित हुआ। वैदिक यंत्रालय प्रयाग से पंचमहायज्ञविधि का प्रथम बार प्रकाशन १८८६ ई० में हुआ। विभिन्न प्रकाशकों ने इसे छापा है। पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने इसे सम्पादित कर रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रथम बार १९८८ वि० (१९३१ ई०) में प्रकाशित किया था। इसके गुजराती, मराठी, बंगला और तमिल भाषा में अनुवाद हो चुके हैं किन्तु वे शब्दशः न होकर बहुत-कुछ स्वतन्त्र हैं। पंचमहायज्ञविधि का एक अंग्रेजी-अनुवाद स्वामीजी के जीवनकाल में हो चुका था, इसकी जानकारी स्वामी सहजानन्द के उस पत्र से होती है जो उन्होंने स्वामी दयानन्द को १२ अगस्त १८८३ ई० को लिखा था। यह अनुवाद मूल ग्रन्थ के आशय से कई स्थानों पर विरुद्ध था। दयानन्द सरस्वती-कृत पंचमहायज्ञविधि की लोकप्रियता का लाभ उठाकर कुछ प्रकाशकों ने नकली पंचमहायज्ञविधियाँ स्वामीजी के नाम पर छापीं। इनमें से एक विद्यासागर प्रेस बनारस से तथा दूसरी नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से छपी थी। इनमें यत्र-तत्र स्वामीजी के आशय के विरुद्ध मृतकश्राद्ध आदि के प्रसंग उपलब्ध होते हैं।

भ्रान्तिनिवारण—कलकत्ता के राजकीय संस्कृत कालेज के स्थानापन्न प्रिंसिपल पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न ने स्वामी दयानन्दकृत वेदभाष्य के सम्बन्ध में अपनी आलोचनात्मक पुस्तक कलकत्ता से १८७६ ई० में छपाई थी। इसमें मुख्य आपत्ति तो इस

बात पर की गई थी कि स्वामीजी ने वेदार्थ करते हुए मन्त्रों में प्रयुक्त "अग्नि" शब्द का अर्थ साधारण आग से भिन्न 'ईश्वर' अर्थ किया है। उन्होंने दृढ़तापूर्वक कहा कि मन्त्रों में प्रयुक्त 'अग्नि' शब्द का 'आग' से भिन्न अर्थ हो ही नहीं सकता। न्यायरत्न जी के इन और ऐसे ही आक्षेपों के उत्तर में स्वामीजी ने 'भ्रान्तिनिवारण' ग्रन्थ लिखा जिसमें नाना शास्त्रीय प्रमाण देकर स्वमत को पुष्ट किया गया था। भ्रान्तिनिवारण का रचना-काल १९३४ वि० है। ग्रन्थ का प्रथम संस्करण आर्यभूषण प्रेस शाहजहाँपुर से प्रकाशित हुआ था, जिसपर प्रकाशनकाल अंकित नहीं है। इसका द्वितीय संस्करण १८८३ ई० में वैदिक यंत्रालय प्रयाग से छपा था।

भ्रमोच्छेदन—राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द का ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के वेदसंज्ञाप्रकरण को लेकर स्वामी दयानन्द से कुछ विचार हुआ था। राजा महोदय ने स्वामीजी के दृष्टिकोण से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए 'निवेदन' शीर्षक स्ववक्तव्य १९३७ वि० में प्रकाशित कराया। स्वामीजी जानते थे कि स्वयं राजा शिवप्रसाद की तो वैदिक विषयों में अधिक गति है ही नहीं, इसलिये उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि जबतक राजा साहब अपने वक्तव्य को स्वामी विशुद्धानन्द से प्रमाणित नहीं करा देंगे, तबतक उनके कथन का कोई उत्तर नहीं दिया जायगा। जब राजा शिवप्रसाद के 'निवेदन' पर स्वामी विशुद्धानन्द ने अपने हस्ताक्षर कर दिये, तो स्वामी दयानन्द के लिए भी उत्तर देना आवश्यक हो गया। फलतः 'भ्रमोच्छेदन' की रचना हुई जिसमें राजा शिवप्रसाद के मन्त्र व ब्राह्मण के एक होने और उनकी समान रूप से वेद संज्ञा मानने के विचार का खण्डन किया गया है। ग्रन्थ का रचनाकाल १९३७ वि० तथा प्रकाशनकाल भी १९३७ वि० ही है। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र सम्पादित 'कविवचन सुधा' ने २६ जुलाई १८८० के अंक में तथा भारतबन्धु ने अपने ३० जुलाई १८८० के अंक में भ्रमोच्छेदन की समीक्षा छापी तथा लिखा कि इस पुस्तक में स्वामीजी ने बहुत कठोर शब्दों का प्रयोग किया है। आर्यदर्पण (शाहजहाँपुर) में इस आक्षेप का यथोचित उत्तर दिया गया था।

शास्त्रार्थ ग्रन्थ—स्वामी दयानन्द ने धर्मान्दोलन को तीव्र करने के लिए प्राचीन काल में प्रचलित शास्त्रार्थ-प्रणाली को अपनाया था। सत्यासत्य के ज्ञान की दृष्टि से शास्त्रार्थ-प्रणाली की उपयोगिता निर्विवाद है। स्वामीजी ने अपने धर्मप्रचार के काल में इतर मतावलम्बियों से सैकड़ों शास्त्रार्थ किये। पौराणिक विद्वानों के अतिरिक्त जैन साधुओं, मुसलमान मौलवियों तथा ईसाई पादरियों से शास्त्रचर्चा करने के भी अनेक अवसर उन्हें मिले थे। उनके सभी शास्त्रार्थ न तो लिपिबद्ध किये जा सके और न वे प्रकाशित ही हुए। यहाँ उनके उन्हीं शास्त्रार्थों का विवरण दिया जा रहा है, जो पुस्तक-रूप में प्रकाशित हुए हैं।

काशी शास्त्रार्थ—कार्तिक शुक्ला १२ सं० १९२६ वि०, तदनुसार १६ नवम्बर १८६९ ई० को काशी के दुर्गाकुण्ड-स्थित आनन्दबाग में स्वामी दयानन्द का मूर्तिपूजा पर प्रसिद्ध शास्त्रार्थ काशी के गण्यमान्य विद्वानों से हुआ। इस शास्त्रार्थ की अध्यक्षता काशीनरेश महाराजा ईश्वरीनारायणसिंह ने की थी। सर्वप्रथम इस शास्त्रार्थ का विवरण मुंशी हरिवंशलाल की सम्मति से लाइट प्रेस बनारस में मुद्रित होकर 'शास्त्रार्थ व सत्यधर्म-विचार' शीर्षक से १९२६ वि० में प्रकाशित हुआ। पुस्तक के प्रथम भाग का नाम 'शास्त्रार्थ' तथा द्वितीय का 'सत्यधर्मविचार' था। आज यह पुस्तक अनुपलब्ध है।

काशीनिवासी बंगाली विद्वान् पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी ने काशी-शास्त्रार्थ का विवरण अपनी संस्कृत मासिक पत्रिका 'प्रत्नकम्रनन्दिनी' के दिसम्बर, १८६९ ई० के अंक में प्रकाशित किया था।

कालान्तर में संस्कृत मूल और हिन्दी-अनुवादसहित 'काशी शास्त्रार्थ' वैदिक यन्त्रालय काशी से १८८० ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ। १८६९ ई० में जब काशी-शास्त्रार्थ की शताब्दी मनाई गई तो परोपकारिणी सभा ने 'काशी शास्त्रार्थ' का एक विशिष्ट संस्करण प्रकाशित किया जिसमें दी गई परिशिष्ट सामग्री का संकलन इन पंक्तियों के लेखक ने किया था। इसमें काशीशास्त्रार्थ-विषयक अनेक ऐतिहासिक सन्दर्भों को एकत्रित करने के साथ-साथ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित शास्त्रार्थ-विषयक सम्मतियों को भी संकलित किया गया था।

शाहजहाँपुर से प्रकाशित होनेवाले मासिक आर्यदर्पण के जनवरी १८८० ई० के अंक में काशी-शास्त्रार्थ का हिन्दी-भाषानुवाद छपा; साथ के दूसरे कालम में उर्दू-अनुवाद भी प्रकाशित हुआ। यह अनुवाद पत्र के सम्पादक मुंशी बख्तावरसिंह ने किया था। इसे ही बाद में पुस्तकाकार भी छापा गया। काशी-शास्त्रार्थ का बंगला-अनुवाद पण्डित प्रियदर्शन सिद्धान्तभूषण ने किया है। रा० व० रतनलाल ने काशी-शास्त्रार्थ का अंग्रेजी-अनुवाद किया, जो परोपकारिणी सभा द्वारा १९७४ ई० में प्रकाशित हुआ।

काशी में हुए १८६९ ई० के शास्त्रार्थ में हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी विद्यमान थे। यद्यपि वे शास्त्रों के उत्कृष्ट पण्डित नहीं थे, किन्तु पौराणिक विचारधारा में दीक्षित होने के कारण उनके लिए स्वामी दयानन्द द्वारा किये जाने वाले मूर्तिपूजादि पाखण्डों का खण्डन सह्य नहीं था। अतः भारतेन्दु ने १९२७ वि० में 'दूषण-मालिका' नामक एक पुस्तक स्वामी दयानन्द की निन्दा में लिखकर लाजरस कम्पनी के मेडिकल हाल प्रेस से प्रकाशित की। इसका द्वितीय संस्करण १८८८ ई० में खड्गविलास प्रेस पटना में छपा। पुस्तक में स्वामी दयानन्द से ६४ प्रश्न किये गये थे, परन्तु इन प्रश्नों में सारतत्त्व कुछ भी नहीं था। काशी-शास्त्रार्थ में स्वामी दयानन्द के दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए काशीनिवासी पण्डितों ने उस समय दो अन्य ग्रन्थ भी लिखे। एक ग्रन्थ 'दयानन्दपराभूति' संस्कृत में तथा द्वितीय 'दुर्जनमुख-मर्दन' हिन्दी भाषा में लिखा गया। दोनों ग्रन्थ काशिराज यन्त्रालय रामनगर (बनारस) से मुद्रित हुए। ये ग्रन्थ भी आज प्राप्त नहीं होते। पर्याप्त काल पश्चात् पं० मथुराप्रसाद दीक्षित ने 'काशी के विद्वानों और दयानन्द जी का सच्चा काशी शास्त्रार्थ'' शीर्षक एक पुस्तक १९१६ ई० में प्रकाशित की। इसमें पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी द्वारा प्रत्नकम्रनन्दिनी में प्रकाशित शास्त्रार्थ के संस्कृत-विवरण को ही पूर्वाग्रह-युक्त दृष्टिसहित, प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया गया है। १९६९ ई० में शास्त्रार्थ की शताब्दी के अवसर पर सनातनी संन्यासी स्वामी केशवपुरी ने दीक्षित जी की इस पुस्तक को पुनः प्रकाशित किया था।

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध विद्वान् पंडित विश्वश्रवा ने शास्त्रार्थ-शताब्दी के अवसर पर 'काशीशास्त्रार्थ का इतिवृत्त' शीर्षक एक लघु पुस्तक प्रकाशित की। इसमें शास्त्रार्थ का विवरण स्वामी जी के जीवनी ग्रन्थों के आधार पर दिया गया है। इधर काशी-विश्वविद्यालय के अवकाशप्राप्त संस्कृत प्रोफेसर पण्डित बलदेव उपाध्याय ने 'काशी की पाण्डित्य परम्परा' शीर्षक ग्रन्थ में काशी-शास्त्रार्थ का एकांगी विवरण सनातनी परंपरा

के अनुसार दिया है। इसके प्रतिवाद में पण्डित उमाकान्त उपाध्याय ने "काशी की पाण्डित्य परम्परा में काशी शास्त्रार्थ—एक समीक्षा" पुस्तक लिखी है जो आर्यसमाज कलकत्ता द्वारा १९८३ ई० में प्रकाशित हुई। इन पंक्तियों के लेखक ने पण्डित बलदेव उपाध्याय के काशीशास्त्रार्थ-विषयक आपत्तिजनक उल्लेखों का सटीक उत्तर अपने एक लेख में दिया है जो परोपकारी (अजमेर) में प्रकाशित हो चुका है। डाक्टर ज्वलन्तकुमार शास्त्री काशी-शास्त्रार्थ पर एक महत्त्वपूर्ण गवेषणात्मक ग्रन्थ लिख रहे हैं, जिसके प्रकाशन से इस शास्त्रार्थ-विषयक अनेक ऐतिहासिक तथा अबतक अप्रकाशित पक्षों का उद्‌घाटन हो सकेगा।

हुगली शास्त्रार्थ—भाटपाड़ा (जिला चौबीस परगना) के प्रसिद्ध पण्डित तथा काशीराज की सभा में सम्मानप्राप्त विद्वान् पण्डित ताराचरण तर्करत्न के साथ स्वामी दयानन्द का 'प्रतिमापूजन की शास्त्रीयता' विषय पर प्रसिद्ध शास्त्रार्थ चैत्र शुक्ला ११ सं० १९३० वि० को हुगली-स्थित श्रीयुत वृन्दावनचन्द्र मण्डल के बाग में हुआ था। पण्डित लेखराम रचित स्वामी दयानन्द के उर्दू जीवनचरित से ज्ञात होता है कि १८७३ ई० में (यही शास्त्रार्थ का वर्ष था) इसे बंगला में प्रकाशित किया गया। परन्तु हुगली-शास्त्रार्थ का यह बंगला-विवरण आज उपलब्ध नहीं होता। १८७३ ई० में ही इस शास्त्रार्थ का विवरण भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने पण्डित गोपीनाथ पाठक के लाइट प्रेस बनारस से मुद्रित कराकर प्रकाशित किया। इसी का एक अन्य संस्करण खड्गविलास प्रेस पटना से 'प्रतिमापूजनविचार' शीर्षक १८८८ ई० में भी छपा था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे कट्टर वैष्णव और मूर्तिपूजक द्वारा प्रतिमा-पूजन का खण्डन करनेवाले हुगली-शास्त्रार्थ को प्रकाशित कराना सचमुच एक आश्चर्यप्रद प्रसंग है। हम देख चुके हैं कि इन्हीं हरिश्चन्द्र ने १९२७ वि० में 'दूषणमालिका' जैसी निकृष्ट पुस्तक लिखकर स्वामी दयानन्द को निन्दित करने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी थी। किन्तु तीन वर्ष पश्चात् भारतेन्दु ने ही स्वामीजी के मूर्तिपूजा-विषयक शास्त्रार्थ को यथावत् छपा दिया। इससे अनुमान होता है कि इस समय तक उन्होंने स्वामीजी के व्यक्तित्व एवं विचारों की उपयोगिता एवं महत्ता को भलीभाँति अनुभव कर लिया था।

स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के अधिकृत प्रकाशक वैदिक यन्त्रालय ने हुगली-शास्त्रार्थ का प्रकाशन आज तक नहीं किया, जबकि गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली ने १९५३ ई० में इसे पुस्तकरूप में प्रकाशित किया था। पण्डित प्रियदर्शन ने इसका बंगला-अनुवाद भी किया है।

सत्यधर्मविचार (मेला चाँदापुर)—उत्तरप्रदेश के शाहजहाँपुर जिले में चाँदापुर नामक एक कस्बा है। यहाँ मुंशी प्यारेलाल नामक कबीरपन्थ के अनुयायी एक कायस्थ सज्जन निवास करते थे। उन्होंने विभिन्न धर्मों के आचार्यों को एकत्रित कर धर्म-चर्चा करने के उद्देश्य से १९, २० मार्च १८७७ ई० को एक मेले का आयोजन किया। इस धार्मिक गोष्ठी में वैदिक धर्म के प्रतिनिधिरूप में स्वामी दयानन्द एवं मुरादाबाद के मुंशी इन्द्रमणि को आमन्त्रित किया गया था। मुसलमानों की ओर से मौलवी मोहम्मद कासिम (देवबन्द में दारुल उलूम के संस्थापक) तथा मौलवी अब्दुल मंसूर (दिल्ली) एवं ईसाइयों की ओर से पादरी नोवेल और पादरी टी० जे० स्कॉट (बरेली) उपस्थित थे। दो दिन तक चलनेवाली इस धर्मचर्चा में मुख्यतः निम्न विषयों पर ही विचार किया

जा सका—(१) ईश्वर ने जगत् को किस वस्तु से, किस समय और किस उद्देश्य से रचा ? (२) मुक्ति क्या पदार्थ है और किस प्रकार प्राप्त हो सकती है ?

चाँदापुर की इस धर्मचर्चा का विवरण सर्वप्रथम १८७८ ई० में उर्दू में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। यह पुस्तक आज उपलब्ध नहीं है। मार्च १८८० ई० के आर्य-दर्पण में मुंशी बख्तावरसिंह ने चाँदापुर-शास्त्रार्थ को 'सत्यधर्मविचार' शीर्षक देकर हिन्दी व उर्दू में पृथक्-पृथक् समानान्तर कालमों में छापा। लगता है कि इसे ही इसी वर्ष वैदिक यन्त्रालय काशी से पुस्तकरूप में भी छपा दिया गया। सत्यधर्मविचार का यही प्रथम पुस्तकरूप में संस्करण था जो हिन्दी व उर्दू दोनों भाषाओं में छपा। केवल हिन्दी का द्वितीय संस्करण १८८७ ई० में वैदिक यन्त्रालय प्रयाग से छपा। सत्यधर्म-विचार के गुरुमुखी तथा गुजराती में भी अनुवाद हुए हैं। अंग्रेजी में एक अनुवाद बावा अर्जुनसिंह ने किया था जो लाहौर से छपा। दूसरा अनुवाद रा० ब० रतनलालकृत है जिसे परोपकारिणी सभा ने १९७४ ई० में प्रकाशित किया।

सत्यासत्यविवेक-शास्त्रार्थ, बरेली—बरेली के प्रसिद्ध पादरी डाक्टर टी० जे०-स्कॉट के साथ स्वामी दयानन्द का एक रोचक शास्त्रार्थ २५, २६, २७ अगस्त १८७९ ई० को बरेली में ही हुआ था। इसमें विचारणीय विषय थे—आत्मा का पुनर्जन्म, ईश्वर का देहधारण तथा ईश्वर के द्वारा मनुष्य के पापों का क्षमा किया जाना। तीनों दिन तक यह धार्मिक चर्चा अत्यन्त सौहार्दपूर्ण वातावरण में होती रही। शास्त्रार्थ का समग्र विवरण तत्काल लिख लिया गया, अतः उसे प्रकाशित करने में भी कोई कठिनाई नहीं हुई। पण्डित लेखराम ने स्वरचित दयानन्द सरस्वती के उर्दू जीवनचरित में इसके पाठ को उद्धृत करते हुए शास्त्रार्थ के अनेक उर्दू संस्करणों का विवरण दिया है। हिन्दी में इसे प्रथम बार प्रकाशित करने का श्रेय गोविन्दराम हासानन्द को है जिन्होंने १९५३ ई० में स्वप्रकाशित 'दयानन्द ग्रन्थसंग्रह' में इसे स्थान दिया और पृथक् पुस्तकरूप में भी छापा। वैदिक यन्त्रालय ने इसका कोई संस्करण आज तक प्रकाशित नहीं किया।

कुछ अन्य शास्त्रार्थ-विवरण—उपर्युक्त शास्त्रार्थ-ग्रन्थों के अतिरिक्त 'प्रश्नोत्तर हलधर' तथा 'शास्त्रार्थ जालन्धर' (जालन्धर की बहस) शीर्षक स्वामी दयानन्द के शास्त्रार्थ-ग्रन्थ किसी समय पृथक् पुस्तकाकार छपे अवश्य थे, किन्तु वे ग्रन्थरूप में अब हमें उपलब्ध नहीं हैं। 'प्रश्नोत्तर हलधर' का उल्लेख स्वामी दयानन्द द्वारा दानापुर-निवासी बाबू माधोलाल को लिखे एक पत्र में हुआ था। स्वामी दयानन्द का पण्डित हलधर से दो बार शास्त्रार्थ हुआ था। प्रथम शास्त्रार्थ फर्रुखाबाद में तथा द्वितीय कानपुर में हुआ। दोनों शास्त्रार्थ संस्कृत में ही हुए थे। ग्रन्थरूप में 'प्रश्नोत्तर हलधर' के अनुप-लब्ध होने के कारण इस सम्बन्ध में अधिक कुछ लिखना सम्भव नहीं है। यह भी ज्ञात नहीं होता कि शास्त्रार्थ का विवरण हिन्दी में था या संस्कृत में।

२४ सितम्बर १८७७ ई० को जालन्धर में स्वामी दयानन्द का एक शास्त्रार्थ मौलवी अहमदहसन से हुआ था। इसमें विचारणीय विषय थे आवागमन (पुनर्जन्म) की सत्यता तथा करामातों (पैगम्बरों तथा फरिश्तों द्वारा किये गये तथाकथित चमत्कारपूर्ण कृत्य) की वास्तविकता। पण्डित लेखराम ने स्वरचित स्वामी दयानन्द के जीवनचरित में इस शास्त्रार्थ के कुछ प्रकाशित संस्करणों का उल्लेख किया है। उन्होंने स्वयं भी इस शास्त्रार्थ का विवरण अपने ग्रन्थ में दिया है। स्वामी दयानन्द के प्रथम हिन्दी जीवन-

चरित 'दयानन्ददिग्विजयार्क' (प्रथम खण्ड, पंचम मयूख) में इस शास्त्रार्थ के एक उर्दू-संस्करण की भूमिका प्रकाशित की गई है।

जैन साधु सिद्धकरण से स्वामीजी का शास्त्रार्थ अजमेर जिले के ग्राम मसूदा में हुआ था। इसका विवरण देशहितैषी (अजमेर) के ६ अंकों में लगातार प्रकाशित हुआ। इस वृत्तान्त को पण्डित वृद्धिचन्द्र श्रीमाली ने प्रकाशनार्थ भेजा था। इस विवरण में साधु सिद्धकरण व स्वामीजी के बीच हुए प्रश्नोत्तरों के अतिरिक्त मसूदा के रायसाहब बहादुर-सिंह और व्यावर के पादरी बिहारीलाल तथा स्वामी दयानन्द एवं ब्यावर के एक कबीर-पन्थी साधु के बीच हुए प्रश्नोत्तर भी संगृहीत हैं। उदयपुर में स्वामीजी का एक शास्त्रार्थ मौलवी अब्दुलरहमान से लिखित रूप में हुआ था। इसका विवरण पण्डित लेखराम-रचित स्वामी दयानन्द के जीवनचरित में उपलब्ध होता है।

स्वामी दयानन्द के समस्त शास्त्रार्थों का एक संग्रह पण्डित रघुनन्दनसिंह निर्मल के सम्पादन में आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट द्वारा १९६९ ई० में प्रकाशित हुआ। तत्-पश्चात् स्वामी जी के पुस्तकरूप में प्रकाशित तथा पत्रों में प्रकाशित (लिपिबद्ध) शास्त्रार्थों का ऐतिहासिक विवरणयुक्त आलोचनात्मक संस्करण इन पंक्तियों के लेखक ने तैयार किया जो १९७० ई० में रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हुआ। इसका द्वितीय संस्करण भी १९८२ ई० में निकल चुका है। स्वामीजी के शास्त्रार्थों की पूर्ण जानकारी के लिए इस ग्रन्थ का अध्ययन आवश्यक है।

(च) अन्य ग्रन्थ

वेदाङ्गप्रकाश—संस्कृत व्याकरण का सरल-सुबोध रीति से ज्ञान कराने की दृष्टि से स्वामी दयानन्द ने चौदह भागों में वेदाङ्गप्रकाश शीर्षक ग्रंथमाला का प्रकाशन किया। इनमें प्रकाशित वर्णोच्चारणशिक्षा (पाणिनीय शिक्षा), धातुपाठ, गणपाठ, उणादिसूत्र तथा निघण्टु तो व्याकरणशास्त्र के प्राचीन ग्रन्थ हैं जबकि अवशिष्ट दस ग्रन्थों का प्रणयन स्वामीजी की योजना के अधीन स्वतन्त्र रूप से किया गया था। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक के विचारानुसार वेदाङ्गप्रकाश के इन दस भागों की रचना स्वामीजी के निर्देश से उनके सहवर्ती पण्डितों ने की थी। ये पण्डित थे—भीमसेन, ज्वालादत्त तथा दिनेश-राम। वे यह भी मानते हैं कि इन ग्रन्थों के कुछ स्थल अवश्य ही स्वामी दयानन्द-प्रणीत हैं। यहाँ वेदाङ्गप्रकाश के सभी भागों का विस्तृत परिचय दिया जाता है—

(१) वर्णोच्चारण शिक्षा—यह पठनपाठन-व्यवस्था की प्रथम पुस्तक है। इसमें पाणिनीय शिक्षा (सूत्रात्मक) की हिन्दी व्याख्या की गई है। पर्याप्त काल तक पाणिनि-कृत सूत्रात्मक शिक्षाग्रन्थ लुप्त रहा और उसके स्थान पर एक श्लोकात्मक पाणिनीय-शिक्षा का प्रचलन रहा। इस ग्रन्थ की प्रथम पंक्ति "अथ शिक्षां प्रवक्षामि पाणिनीयं मतं यथा" से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि यह ग्रन्थ पाणिनिकृत नहीं है, अपितु पाणिनि के मत को लेकर किसी अन्य व्यक्ति द्वारा बनाया गया है। स्वामीजी ने महत् परिश्रम करके सूत्रात्मक पाणिनि शिक्षा को खोज निकाला और उसकी व्याख्या 'वर्णोच्चारण शिक्षा' के नाम से प्रकाशित की। ग्रन्थ का रचनाकाल माघ शुक्ला ४ सं० १९३६ वि० है। इसी वर्ष यह वैदिक यन्त्रालय काशी से छपा। उस समय तक यन्त्रालय अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही था, अतः 'वर्णोच्चारण शिक्षा' के मुद्रण में त्रुटियाँ रह गई थीं जिन्हें दूसरे

संस्करण (१९४१ वि०) में सुधार लिया गया।

(२) सन्धिविषय—इसका लेखन, मीमांसकजी के अनुसार, पण्डित भीमसेन ने किया है। इसमें संज्ञा, परिभाषा और साधन, इन तीन प्रकरणों का समावेश किया गया है। प्रथम संस्करण १९३७ वि० में मुद्रित हुआ।

(३) नामिक—इसमें सुबन्त का विषय वर्णित है। ग्रन्थ का रचनाकाल व प्रकाशनकाल १९३८ वि० है। ग्रन्थ की रचना पण्डित भीमसेन ने की थी।

(४) कारकीय—कारकों की व्याख्या होने से इसका नाम कारकीय है। ग्रन्थ का रचनाकाल और मुद्रणकाल १९३८ वि० है। ग्रन्थ के मुख्य भाग का लेखन तथा संशोधन पण्डित भीमसेन ने किया था।

(५) सामासिक—समासों की व्याख्यारूप में इसकी रचना हुई है। लेखन का काल तथा प्रकाशनकाल १९३८ वि० है। इसके मूल भाग का लेखन पण्डित दिनेशराम ने किया था।

(६) स्त्रैणताद्धित—वेदाङ्गप्रकाश के इस छठे भाग में स्त्री प्रत्यय तथा तद्धित प्रत्ययों का विवेचन है। लेखन तथा प्रकाशन का वर्ष १९३८ वि० है। इस ग्रन्थ का संशोधन पण्डित भीमसेन ने किया था।

(७) अव्ययार्थ—इसमें अव्ययों का विवेचन है। ग्रन्थ का लेखन व प्रकाशन १९३८ वि० में हुआ। ग्रन्थ का संशोधन पण्डित भीमसेन ने किया था।

(८) आख्यातिक—आकार की दृष्टि से वेदाङ्गप्रकाश के खण्डों में यह सबसे बड़ा है। इसमें धातु-प्रक्रिया और कृदन्त-प्रक्रिया लिखी गई है। ग्रन्थ का लेखन पण्डित दिनेशराम तथा संशोधन पण्डित भीमसेन ने किया था। संशोधन में स्वल्प योग पण्डित ज्वालादत्त ने भी किया था। इसका मुद्रण १९३९ वि० में हुआ।

(९) सौवर—इसमें उदात्तादि स्वरों की विवेचना है। ग्रन्थ की रचना तथा मुद्रण १९३९ वि० में हुआ।

(१०) पारिभाषिक—महाभाष्य में ज्ञापित परिभाषा वचनों की व्याख्या है। इसके लेखन में नागेश भट्ट के परिभाषेन्दुशेखर की सहायता ली गई है। रचना तथा मुद्रणकाल १९३९ वि० है। ग्रन्थ के संशोधक पण्डित ज्वालादत्त थे।

(११) धातुपाठ—पाणिनि-प्रणीत मूल ग्रन्थ धातुपाठ का यह संस्करण १९४० वि० में प्रकाशित हुआ। इसका संशोधन पण्डित ज्वालादत्त ने किया था।

(१२) गणपाठ—यह ग्रन्थ भी मूल रूप में पाणिनिरचित ही है। भूमिका से विदित होता है कि इसका सम्पादन १९३९ वि० में किया गया था। मुद्रण का वर्ष १९४० वि० था। संशोधन का कार्य पण्डित ज्वालादत्त शर्मा ने किया।

(१३) उणादि कोष—स्वामी दयानन्द के मतानुसार पंचपादी उणादिसूत्र पाणिनि मुनि रचित हैं। इन्हीं सूत्रों की यह सरल, सुबोध व्याख्या पण्डित मीमांसक जी के अनुसार स्वयं स्वामीजी ने लिखी थी। इसका रचनाकाल तथा प्रकाशनकाल क्रमशः १९३९ वि० तथा १९४० वि० है।

(१४) निघण्टु—मूलरूप में यह ग्रन्थ यास्कप्रणीत है। सर्वसाधारण के लाभार्थ निघण्टु की अनेक हस्तलिखित प्रतियों का मिलान कर स्वामीजी ने इस शुद्ध संस्करण को प्रकाशित कराया था। इसका संशोधन तो स्वामीजी ने १९३९ वि० में ही कर लिया था

किन्तु ग्रन्थ का प्रकाशन १९४० वि० में हुआ।

पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने वेदाङ्गप्रकाश के सभी भागों का सुव्यवस्थित सम्पादन कर आर्य साहित्य मण्डल अजमेर से प्रकाशित कराया है। वर्णोच्चारण-शिक्षा तथा धातु-पाठ के सम्पादित संस्करण उन्होंने रामलाल कपूर ट्रस्ट से भी प्रकाशित कराये। उणादि-कोष का एक शुद्ध संस्करण उन्होंने २०३१ वि० में राय बहादुर चौधरी नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट से प्रकाशित किया। सन्धिविषय, नामिक, स्त्रैणताद्धित, आख्यातिक तथा धातुपाठ के संस्करण गुरुकुल काँगड़ी ने भी प्रकाशित किये थे।

संस्कृतवाक्यप्रबोध—विद्यार्थियों और बालकों में संस्कृत भाषा को लोकप्रिय बनाने तथा उन्हें संस्कृत-सम्भाषण में पटुता प्राप्त कराने की दृष्टि से स्वामी दयानन्द ने १९३६ वि० में 'संस्कृतवाक्यप्रबोध' शीर्षक संवादशैली का एक ग्रन्थ लिखकर प्रकाशित किया। यह पठनपाठन-व्यवस्था के अन्तर्गत द्वितीय पुस्तक थी। इस ग्रन्थ से जहाँ छात्रों को संस्कृत बोलने का अभ्यास होता था, वहाँ व्यावहारिक ज्ञान की दृष्टि से भी इसका महत्त्व था। संवाद-शैली में लिखित इस ग्रन्थ में निबद्ध प्रकरणों की कुल संख्या ५२ है। इन प्रकरणों में जो विषय विवेचित हुए हैं वे गुरु-शिष्य-संवाद, गृहस्थ-प्रकरण, राज-व्यवहार, वर्णाश्रमधर्म, लोकव्यवहार, पशुपक्षी-विवरण, वानप्रस्थ-संन्यास-विषय, व्यवसाय आदि हैं। मुद्रण की असावधानी तथा प्रूफशोधन में की गई अनवधानता के कारण इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में अनेक भयंकर भूलें रह गई थीं जिनके कारण काशी की ब्रह्मामृतवर्षिणी सभा के पण्डित अम्बिकादत्त व्यास आदि पण्डितों ने 'अबोधनिवारण' पुस्तक लिखकर इसपर आक्षेप किये। वैदिक यन्त्रालय के तत्कालीन प्रबन्धक मुंशी बख्तावरसिंह को लिखे एक पत्र में स्वामीजी ने स्वयं स्वीकार किया था कि कतिपय कारणों से संस्कृतवाक्यप्रबोध के प्रथम संस्करण में अनेक भूलें रह गई हैं, तथापि अबोध-निवारण में किये गये अनेक आक्षेप सर्वथा अळीक एवं निर्मूल ही थे। इनका उत्तर आर्य-दर्पण मासिक में 'एक पण्डित' द्वारा दिया गया। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने इस 'उत्तर' की लेखन-शैली का अध्ययन कर यह अनुमान किया है कि इसे स्वयं स्वामीजी ने ही लिखा या लिखवाया था। मीमांसकजी ने अबोध-निवारण में किये गये सभी आक्षेपों का उत्तर देते हुए संस्कृतवाक्यप्रबोध का एक संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित किया है। पण्डित वीरेन्द्र शास्त्री ने इस ग्रन्थ का एक अन्य व्याख्यायुक्त संस्करण लखनऊ से प्रकाशित किया है। रामलाल कपूर ट्रस्ट के संस्करण में ग्रन्थ का अंग्रेजी-अनुवाद भी दे दिया गया है।

अष्टाध्यायी भाष्य—स्वामी दयानन्द ने संस्कृत व्याकरण में प्रौढ़ता प्राप्त करने के लिए पाणिनिकृत अष्टाध्यायी और उसपर लिखे गये पंतजलिकृत महाभाष्य की उपयोगिता निर्विवाद रूप से स्वीकार की थी। स्वामीजी ने अपने जीवनकाल में अष्टा-ध्यायी पर संस्कृत-हिन्दी-भाष्य लिखने का एक उपक्रम किया था, किन्तु अत्यधिक व्यस्तता के कारण वे उसे पूरा नहीं कर सके। जिस समय अष्टाध्यायी के इस उपलब्ध भाष्य को प्रकाशित करने का विचार परोपकारिणी सभा के सम्मुख आया, तो स्वामी वेदानन्द तीर्थ तथा अन्य कई विद्वानों ने समाचारपत्रों में लेख लिखकर यह बताना चाहा था कि इस भाष्य को स्वामी दयानन्दकृत नहीं कहा जा सकता। उनके द्वारा प्रस्तुत तर्कों का भलीभाँति समाधान अष्टाध्यायी-भाष्य के सम्पादक डॉ० रघुवीर ने भाष्य के प्रथम

भाग की भूमिका में कर दिया है। यह प्रथम भाग १९२७ ई० में छपा। इसमें अष्टाध्यायी के प्रथमाध्याय के प्रथम पाद के ६०वें सूत्र तक अंश व्याख्यात हुआ है। द्वितीय भाग (३ अध्याय पर्यन्त) १९४० ई० में प्रकाशित हुआ। पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु तथा पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने अष्टाध्यायी-भाष्य के तृतीय एवं चतुर्थ अध्यायों का सम्पादन किया था। वे इस भाष्य की स्थिति से सुपरिचित थे। इसी आधार पर मीमांसक जी की यह दृढ़ धारणा है कि चतुर्थाध्याय पर्यन्त भाष्य तो स्वामी दयानन्द प्रणीत ही है क्योंकि इसके कई स्थल अत्यन्त प्रौढ़ और गम्भीर हैं। पाण्डुलिपिरूप में यह भाष्य सप्तम अध्याय के द्वितीय पाद के दो-तिहाई अंश पर्यन्त है। अवशिष्ट भाग का अभी तक सम्पादन व प्रकाशन नहीं हो सका है।

आर्याभिविनय—स्वामी दयानन्द का व्यक्तित्व, चिन्तन तथा उनकी साधना बहुमुखी एवं बहुआयामी थी। उन्होंने धर्म की बुद्धि पर आधारित तर्कानुमोदित व्याख्या की है। मानव की सर्वतोमुखी उन्नति के लिए वे शास्त्रप्रतिपादित ज्ञान, कर्म एवं उपासना की त्रिपुटी के समन्वित आचरण के पक्षपाती थे। उनकी धारणा थी कि कर्म से विरहित ज्ञान यदि शुष्क तर्कवाद तथा वाग्विलास को जन्म देता है तो ज्ञान से शून्य भक्ति भा मानव को अपने चरम गन्तव्यस्थल तक ले-जाने में असमर्थ है। इसी धारणा के आधार पर उन्होंने विशुद्ध वैदिक भक्तिवाद तथा ज्ञानयुक्त उपासना-सिद्धान्त का प्रवर्त्तन किया। उनका यह भक्तिसिद्धान्त आर्याभिविनय नामक ग्रन्थ में प्रस्फुटित हुआ है, जिसकी रचना उन्होंने अपने प्रथम बम्बई-प्रवास के समय की थी। इसका रचनाकाल १९३२ वि० तथा प्रथम संस्करण के मुद्रण का काल १९३३ वि० है। इसमें ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के कुल १०८ मन्त्रों की भक्तिभावापन्न व्याख्या की गई है। सम्भवतः स्वामीजी सामवेद और अथर्ववेद के मन्त्रों को लेकर आर्याभिविनय का द्वितीय खण्ड भी निर्मित करना चाहते थे, परन्तु समयाभाव के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। इसका द्वितीय संस्करण स्वामीजी के निधन के दो मास पश्चात् माघ १९४० वि० में वैदिक यन्त्रालय प्रयाग से छपा। द्वितीय संस्करण में भाषा का परिशोधन और यत्र-तत्र परिवर्तन भी मिलता है।

आर्याभिविनय भक्तिप्रतिपादक ग्रन्थ है, किन्तु दयानन्द का यह भक्ति-सिद्धान्त मध्यकालीन सन्तों तथा साकारवादी वैष्णव भक्तों के भक्तिवाद से नितान्त भिन्न है। दयानन्द की भक्ति न तो प्रारब्धवाद, अकर्मण्यता तथा निठल्ले होकर बैठने की ही शिक्षा देती है और न मनुष्य को इहलौकिक कर्त्तव्यों से उदासीन होना ही सिखलाती है। इसके विपरीत दयानन्द के इस ग्रन्थ में व्यक्त भक्त के उद्गार तो व्यक्ति की ही भाँति राष्ट्र को भी विदेशी दासता एवं पराधीनता से मुक्त करने की कामना लिये हुए हैं। आर्याभिविनय में प्रकट ऐसे ही उद्गारों को देखकर एक बार तो विदेशी शासकों को भी यह भ्रम हो गया था कि यदि दयानन्दकृत इस प्रार्थनापुस्तक से आर्यसमाजी लोग प्रेरणा लेते रहे, तो वे निश्चय ही विदेशी शासनसत्ता को उखाड़ फेंकने तथा स्वराज्य-स्थापना के लिए बद्ध-परिकर हो जायेंगे।

आर्याभिविनय के भिन्न-भिन्न संस्करण तथा अनुवाद—यों तो इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के अनेक संस्करण भिन्न-भिन्न प्रकाशकों ने प्रकाशित किये हैं, किन्तु इनमें सर्वश्रेष्ठ संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट का है जिसके सम्पादन का श्रेय पण्डित वाचस्पति को है। इस संस्करण को तैयार करने में विद्वान् सम्पादक ने पर्याप्त श्रम किया था। पण्डित

ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने दयानन्द के भक्तिवाद पर एक उपयोगी निवन्ध (भक्त की भावना तथा भक्ति एवं कर्मयोग) लिखकर इस संस्करण की उपयोगिता को और भी बढ़ा दिया था। लाला जीवनदास पैंशनर ने आर्याभिविनय की भाषा-टीका लिखी। इसमें मन्त्र-व्याख्यान की भाषा को सरल और सुबोध बनाया गया था। पण्डित सत्यानन्द शास्त्री ने इसका जो संस्करण तैयार किया है उसमें ग्रन्थ की महत्तासूचक एक उपयोगी भूमिका भी दी गई है। ज्ञानी पिण्डीदास ने मन्त्र-व्याख्यानों में स्फुट भक्तितत्त्व का विशदीकरण किया है तथा प्रत्येक मन्त्र का पदच्छेद, पदार्थ, अन्वय, भावार्थ तथा व्याख्यान देने के पश्चात् स्वाध्याय शीर्षक से मन्त्रगत अभिप्राय को भी स्पष्ट किया है। इसके साथ ही मन्त्र का विस्तृत अंग्रेजी अर्थ तथा पद्यानुवाद भी दिया है। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित तथा पण्डित सुदर्शनदेव शास्त्री सम्पादित आर्याभिविनय मुख्यतः इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण का आधार लेकर तैयार किया गया है।

वंगला एवं गुजराती भाषा में आर्याभिविनय के एकाधिक अनूदित संस्करण छपे हैं। वंगला-अनुवाद पण्डित शंकरनाथ तथा पण्डित प्रियदर्शन ने किये हैं। गुजराती के पाँच अनुवादों का पता चलता है। इनमें पण्डित ज्ञानेन्द्रकृत अनुवाद १९९९ वि० में प्रकाशित हुआ। मुम्बई प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा तभा आर्यसमाज काकडवाड़ी बम्बई ने भी गुजराती-अनुवाद प्रकाशित किये। मलयालम में आर्याभिविनय का अनुवाद पण्डित नरेन्द्रभूषण ने किया जो 'वेदगीतामृतम्' शीर्षक से छपा। उर्दू-अनुवाद श्री गणेशदत्त स्यालकोटी ने किया था जो "स्वराज्यपथप्रदर्शक अर्थात् प्रार्थनारहस्य" के उपशीर्षक के साथ प्रकाशित हुआ। श्री विश्वेश्वरप्रसाद मुनव्वर ने उर्दू-पद्यानुवाद किया जो रायसाहब प्रतापसिंह चौधरी, करनाल द्वारा प्रकाशित किया गया।

भक्ति-प्रधान प्रार्थनापुस्तक होने के कारण आर्याभिविनय का हिन्दी में पद्यानुवाद भी किया गया। श्री भद्रजित भद्र, डॉ० सूर्यदेव शर्मा तथा श्री रामकृष्ण भारती ने आर्याभिविनय को काव्य का रूप दिया है। अंग्रेजी पाठकों के लिए आर्याभिविनय को सुगम वनाने का प्रथम श्रेय पण्डित दुर्गाप्रसाद को हैं जिन्होंने Aryan Litany शीर्षक इसका अंग्रेजी-अनुवाद किया। स्वामी भूमानन्दकृत अंग्रेजी-अनुवाद भी छपा। पण्डित सत्यानंद शास्त्री ने इसे The Devotional Texts of the Aryas शीर्षक देकर अनूदित किया। प्रेमनाथ चड्ढा के अंग्रेजी-अनुवाद को सार्वदेशिक सभा ने प्रकाशित किया है। एक अन्य अनुवाद स्वामी ईश्वरानन्द सरस्वती ने भी किया था। आर्यसमाज पानीपत ने अंधों के लिए प्रयुक्त होनेवाली ब्रेल लिपि में आर्याभिविनय प्रकाशित किया है।

आर्योद्देश्यरत्नमाला—अपने पंजाब-प्रवास के समय स्वामी दयानन्द को एक ऐसी लघु पुस्तक की आवश्यकता अनुभव हुई थी जिसमें वेदप्रतिपादित सिद्धान्तों और तत्त्वों को परिभाषासहित संक्षेप में व्याख्यात किया गया हो। इसी विचार से उन्होंने आर्योद्देश्यरत्नमाला की रचना की जिसमें १०० विषय वर्णित हुए हैं। ग्रन्थ का लेखन श्रावण शुक्ला सप्तमी १९३४ वि० को समाप्त हुआ और प्रथम संस्करण अमृतसर के चश्मएनूर प्रेस में लीथो से छपा। तव से इस ग्रन्थ के अनेक संस्करण अनेक प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित हुए हैं। विभिन्न भारतीय भाषाओं में अनूदित होने के साथ-साथ इसका अंग्रेजी-अनुवाद भी छप चुका है। अंग्रेजी-अनुवाद लाहौर के वावा अर्जुनसिंह ने किया था। यह अनुवाद वैदिक यन्त्रालय अजमेर ने प्रकाशित किया है।

आर्योद्देश्यरत्नमाला में परिभाषित सिद्धान्तों की विस्तृत व्याख्या पण्डित ईश्वर-दत्त मेधार्थी विद्यालंकार ने आर्यमन्तव्यदर्पण लिखकर की। पण्डित सत्यपाल शास्त्रीकृत व्याख्या वैदिक सिद्धान्तरत्नावली प्रत्येक सिद्धान्त की विस्तृत शास्त्रीय विवेचना प्रस्तुत करती है। पण्डित अखिलानन्द शर्मा ने आर्योद्देश्यरत्नमाला में वर्णित सभी विषयों का संस्कृत काव्यानुवाद 'आर्यशिरोभूषण काव्य' लिखकर किया। उन्होंने स्वयं ही इस काव्य की संस्कृत तथा हिन्दी टीका भी लिखी थी। इस काव्य का प्रकाशन १९६४ वि० में स्वामी प्रेस, मेरठ से हुआ था। डॉ० हरिदत्त शास्त्री ने भी संस्कृत वर्णवृत्तों में रत्नमाला का अनुवाद किया है। वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार की दृष्टि से इस ग्रन्थ की उपयोगिता निर्विवाद है। इसलिए इस पुस्तक की हजारों प्रतियों के अनेक संस्करण समय-समय पर छपते रहे। परोपकारिणी सभा ने २००७ वि० में इसका एक विशिष्ट कुम्भप्रचार-संस्करण छापा था।

व्यवहारभानु—बालकों को लौकिक व्यवहारों का ज्ञान कराने तथा उन्हें आर्यो-चित शिष्टाचार की शिक्षा देने के उद्देश्य से स्वामी दयानन्द ने १९३६ वि० में 'व्यवहार-भानु' नामक ग्रन्थ लिखकर वैदिक यन्त्रालय काशी से प्रकाशित किया। स्वामीजी द्वारा प्रवर्तित पठनपाठन-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रकाशित होनेवाला यह तृतीय ग्रन्थ था। प्रथम संस्करण में भूलवश इसे "वेदाङ्गप्रकाश का तृतीय भाग पाणिनि मुनि प्रणीत" कहा गया है जो निश्चय ही अशुद्ध है। व्यवहारभानु में अनेक रोचक उपाख्यानों और दृष्टान्तों की सहायता से बालोपयोगी शिक्षाओं को निबद्ध किया गया है। व्यवहारभानु का प्रकाशन भी आर्यसमाज के अनेक प्रकाशकों ने किया है। इनमें सर्वश्रेष्ठ संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट का है जो पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक द्वारा सम्पादित होकर प्रथम बार २०००वि० (१९४३ ई०) में लाहौर से छपा था। व्यवहारभानु के अनुवाद भारतीय आर्य भाषाओं के अतिरिक्त अंग्रेजी में भी हुए हैं। एक अनुवाद बाबा अर्जुनसिंह का था जो लाहौर से प्रकाशित हुआ। रायबहादुर रतनलालकृत अंग्रेजी-अनुवाद परोपकारिणी सभा ने १९७४ ई० में प्रकाशित किया।

व्यवहारभानु का संस्कृत वर्णवृत्तों में प्रौढ़ काव्यानुवाद पण्डित विद्यानिधि शास्त्री ने किया था जो गुरुकुल चित्तौड़गढ़ द्वारा १९९९ वि० में प्रकाशित हुआ। प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् पण्डित गोपालशास्त्री दर्शनकेसरी ने इसका संस्कृत गद्य में अनुवाद किया जिसे आर्यसमाज चौक, प्रयाग ने २०२७ वि० में प्रकाशित किया।

गोकरुणानिधि—स्वामी दयानन्द का यह दृढ़ विश्वास था कि भारत जैसे कृषि-प्रधान देश की आर्थिक स्थिति बहुत-कुछ पशुधन की वृद्धि तथा उसके समुचित संरक्षण पर निर्भर है। गोवंश की रक्षा के लिए वे अपने जीवनकाल में सदा यत्नशील रहे। गो-रक्षा-विषयक अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करने के लिए उन्होंने गोकरुणानिधि शीर्षक एक लघु ग्रन्थ लिखा। इस ग्रन्थ का प्रथम प्रकाशन १९३७ वि० (१८८१ ई०) में हुआ। गोकरुणानिधि के दो भाग हैं। प्रथम में गोरक्षा के महत्त्व तथा उसके लाभों को अनेक युक्तियों तथा आँकड़ों से सिद्ध किया है। द्वितीय भाग में गोरक्षा के लिए स्थापित की जाने वाली गोकृष्यादिरक्षिणी सभा के विधान तथा उसके नियमोपनियमों को निबद्ध किया गया है। गोकरुणानिधि की अबतक लाखों प्रतियाँ विभिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित की गई हैं। विभिन्न भारतीय भाषाओं में इस ग्रन्थ के अनुवाद भी हो चुके हैं।

ग्रन्थ की उपयोगिता को ध्यान में रखते हुए स्वामी दयानन्द ने अपने विश्वासपात्र रायबहादुर मूलराज से अनुरोध किया था कि वे इसका अंग्रेजी-अनुवाद करें ताकि उसे ब्रिटिश अधिकारियों तक पहुँचाया जा सके। स्वामीजी के पत्र-व्यवहार का अध्ययन करने से विदित होता है कि लाला मूलराज ने इस ग्रन्थ का अनुवाद नहीं किया। फलतः स्वामीजी को निराश होकर अंग्रेजी-अनुवाद की कोई अन्य व्यवस्था करनी पड़ी। ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी ने गोकरुणानिधि का जो अंग्रेजी-अनुवाद करवाया था वह छप नहीं सका। किन्तु कालान्तर में इस उपयोगी ग्रन्थ के तीन अंग्रेजी-अनुवाद हुए जो क्रमशः मास्टर दुर्गाप्रसाद, स्वामी भूमानन्द तथा रायबहादुर रतनलाल द्वारा किये गये थे। गोकरुणानिधि के द्वारा स्वामी दयानन्द ने गाय के अर्थशास्त्र के महत्त्व का सतर्क निरूपण किया है।

स्वामी दयानन्द की आत्मकथा—महाराष्ट्र की पुणे नगरी में स्वामी दयानन्द ने १८७५ ई० में जो अपने प्रसिद्ध प्रवचन किये, उनमें अन्तिम प्रवचन ४ अगस्त को दिया था। इसमें उन्होंने स्वजीवनवृत्त को आत्मकथा की शैली में प्रस्तुत किया। स्वामीजी की इस आत्मकथा को अन्य प्रवचनों की ही भाँति सर्वप्रथम मराठी भाषा में निबद्ध किया गया। कुछ वर्ष पश्चात् थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापकों में से एक कर्नल एच०-एस० ऑल्काट ने स्वामीजी से स्वजीवन-वृत्तान्त को लिखकर भेजने के लिए कहा जिसे वे अपनी संस्था के पत्र The Theosophist में प्रकाशित करना चाहते थे। यद्यपि इन दिनों स्वामीजी का कार्यक्रम अत्यन्त व्यस्त रहता था, तथापि समय निकालकर उन्होंने थियोसोफिस्ट में प्रकाशनार्थ अपना आत्मवृत्तान्त भेजा। यह वृत्तान्त उक्त पत्र के तीन अंकों में निम्न प्रकार छपा—

प्रथम किश्त—अक्टूबर १८७९—जन्म से लेकर ऋषिकेश यात्रा (१९१२ वि० पर्यन्त)।

द्वितीय किश्त—दिसम्बर १८७९—टिहरी से लेकर जोशीमठ पर्यन्त प्रवास का वृत्तान्त।

तृतीय किश्त—नवम्बर १८८०—बद्रीनाथ से लेकर नर्मदा स्रोत तक के प्रवास का विवरण।

दयानन्द सरस्वती की यह अपूर्ण आत्मकथा मूलतः हिन्दी में ही लिखी गई थी। थियोसोफिस्ट में प्रकाशनार्थ भेजने से पूर्व उसकी दो प्रतिलिपियाँ स्वामीजी के दो भक्तों ने अपने पास रख ली थीं। ये थे अजमेर-निवासी श्री मथुराप्रसाद माहेश्वरी और मसूदा के कामदार पण्डित छगनलाल श्रीमाली। इन पंक्तियों के लेखक को श्री माहेश्वरी के पुराने कागजों को टटोलते समय आत्मवृत्तान्त की वह प्रति उपलब्ध हुई। इसी प्रकार परोपकारिणी सभा के पुराने बस्तों में इस वृत्तान्त का वह प्रथम मूल आलेख भी अंशतः मिल गया जिसे थियोसोफिस्ट में प्रकाशनार्थ भेजा गया था। जोशीमठ जाने तक के वृत्तान्त की ये दो किश्तें इन पंक्तियों के लेखक द्वारा सम्पादित "महर्षि दयानन्द की आत्मकथा" में फोटो-कापी के रूप में जोड़ दी गई हैं। इसका द्वितीय संस्करण १९८३ ई० में प्रकाशित हुआ है।

कालान्तर में पुणे में प्रदत्त प्रवचन तथा थियोसोफिस्ट में प्रकाशित आत्मवृत्तान्त को अनेक पत्रों ने प्रकाशित किया तथा इनके पुस्तकाकार संस्करण भी प्रकाशित हुए।

यहाँ इनका कुछ विवरण दिया जा रहा है। निम्न पत्रों में यह आत्मवृत्तान्त अंशतः छपा—

१. श्री रतनचन्द बेरी सम्पादित अंग्रेजी मासिक The Arya (लाहौर) ने अपने जुलाई १८८२ के अंक में The Autobiography of Swami Dayanand शीर्षक से थियोसोफिस्ट में प्रकाशित इतिवृत्त के प्रारम्भिक अंश (मूलशंकर के विवाह की तैयारियाँ तक का भाग) को उद्धृत किया।

२. फर्रुखाबाद से प्रकाशित 'भारत सुदशाप्रवर्त्तक' ने इसे अपनी संख्या ६, ७, ८ में उद्धृत किया।

३. आर्यसमाचार, मेरठ।

४. आर्य अखबार, बम्बई।

५. पताका अखबार, कलकत्ता।

६. दि रिजेनेरेटर ऑफ आर्यावर्त (लाहौर) ने भी थियोसोफिस्ट में प्रकाशित आत्मवृत्तान्त को उद्धृत किया, यह पण्डित लेखराम ने अपने ग्रन्थ में लिखा है।

पण्डित गोपालराव हरि (शर्मा) ने स्वसम्पादित दयानन्द-दिग्विजयार्क (प्रथम खण्ड) में स्वामी दयानन्द का जो इतिहास निबद्ध किया है उसका आधार भी थियोसोफिस्ट में प्रकाशित वृत्तान्त ही था। कालान्तर में जब पण्डित लेखराम ने उर्दू में स्वामी दयानन्द का वृहद् जीवनचरित लिखना आरम्भ किया तो उन्होंने पूनाप्रवचन तथा थियोसोफिस्ट में प्रकाशित विवरण को समन्वित कर उसे व्यवस्थित रूप में अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में संगृहीत किया। फर्रुखाबाद-निवासी पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा ने 'श्रीयुत स्वामी दयानन्द सरस्वती महाराज की कुछ दिनचर्या' शीर्षक एक पुस्तक लीथो में १८८७ ई० में प्रकाशित की थी। इसमें भारतसुदशाप्रवर्त्तक में प्रकाशित आत्मवृत्त (जन्म से लेकर जोशीमठ पर्यन्त प्रवास का वृत्तान्त) को उद्धृत किया गया है। दो वर्ष पश्चात् १८८९ ई० में पण्डित दुर्गाप्रसाद ने A Triumph of Truth शीर्षक पुस्तक लिखी जिसमें थियोसोफिस्ट में प्रकाशित आत्मवृत्तान्त (जोशीमठ पर्यन्त) को उद्धृत किया। १९०८ ई० में पण्डित दुर्गाप्रसादकृत सत्यार्थप्रकाश का अंग्रेजी-अनुवाद प्रकाशित हुआ। इसके प्रारम्भ में उन्होंने The Autobiography and Travels of Swami Dayanand Saraswati शीर्षक ६४ पृष्ठों का एक लेख प्रकाशित किया। इसमें भी उन्होंने नर्मदातटवर्ती प्रान्त के भ्रमण तक का वृत्तान्त थियोसोफिस्ट से ही उद्धृत किया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वामी दयानन्द की यह आत्मकथा विभिन्न रूपों और माध्यमों से पाठकों के समक्ष आई। कुछ अन्य विद्वानों ने भी आत्मकथा का सम्पादन व प्रकाशन किया तथा अन्य भाषाओं में इसके अनुवाद भी हुए। पण्डित लेखराम रचित स्वामीजी के जीवनचरित में इस आत्मकथा का जो उर्दू रूपान्तर संकलित किया गया था उसे सर्वप्रथम हिन्दी रूप मुंशी दयाराम तहसीलदार ने दिया। उनका यह ग्रन्थ आर्य पुस्तकालय, लाहौर से १९०४ ई० में प्रकाशित हुआ। कुछ काल पश्चात् पण्डित भगवद्दत्त ने आत्मकथा के उपलब्ध संस्करणों तथा अनुवादों की सहायता से इसका एक सम्पादित संस्करण 'ऋषि दयानन्द सरस्वती स्वरचित (लिखित वा कथित) जन्मचरित्र' शीर्षक तैयार किया जो रामलाल कपूर ट्रस्ट से अब तक कई बार छप चुका है।

लाला लाजपतराय के अनुज दलपतराय विद्यार्थी ने "खुदनविशत स्वानेह उमरी" शीर्षक से स्वामी दयानन्द की आत्मकथा का उर्दू-अनुवाद किया जो इस्लामी प्रेस, लाहौर से मुद्रित होकर १९४५ वि० (१८८८ ई०) में प्रकाशित हुआ। यह अनुवाद उन्होंने थियोसोफिस्ट के अंग्रेजी पाठ से ही किया होगा क्योंकि तबतक पण्डित लेखराम द्वारा तैयार किया उर्दू-अनुवाद (स्वामीजी के जीवनचरित में संकलित) प्रकाशित नहीं हुआ था। स्वामी दयानन्द के एक अन्य शिष्य भाई जवाहरसिंह ने भी इसे उर्दू का जामा पहनाया था।

स्वामी दयानन्द के आत्मवृत्तान्त को बंगला भाषा में प्रस्तुत करने का श्रेय पण्डित देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को है। उन्होंने १८९६ ई० में प्रकाशित 'दयानन्दचरित' की अवतरणिका में पूना-प्रवचन तथा थियोसोफिस्ट में प्रकाशित दोनों आत्मवृत्तों को बंगला में अनूदित कर प्रकाशित किया था। इसका पृथक् रूप में प्रकाशन १९०८ ई० में कलकत्ता से हुआ।

"दयानन्द सरस्वती स्वामीनुं स्वरचित जीवनवृत्तान्त" शीर्षक से पूना में कथित आत्मवृत्त तथा थियोसोफिस्ट में प्रकाशित आत्मकथा को एक ही ग्रन्थ में समाविष्ट किया गया है। गुजराती में यह अनुवाद देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के बंगला-अनुवाद से श्री बलवन्तराय कल्याणराय ठाकोर ने किया। मकनलाल मथुरभाई गुप्त ने इसे १९१४ ई० में बड़ौदा से प्रकाशित किया था। पूना-प्रवचनों में आये आत्मवृत्तान्त का एक अन्य अनुवाद श्री नटवरलाल दवे ने भी किया है।

हम पण्डित दुर्गाप्रसाद द्वारा प्रकाशित स्वामीजी की आत्मकथा के अनुवादों की चर्चा कर चुके हैं। थियोसोफिकल प्रकाशनगृह अड्यार से Autobiography of Pandit Dayanand Saraswati शीर्षक एक पुस्तक १९५२ में प्रकाशित हुई। इसमें थियोसोफिस्ट में प्रकाशित आत्मवृत्तान्त की तीनों किश्तें मूल रूप में प्रकाशित की गई हैं। इसके प्रकाशकीय वक्तव्य में थियोसोफिस्ट पत्र के जिन अंकों में यह आत्मकथन छपा था उनका विवरण इस प्रकार दिया गया है—अक्टूबर १८७९, दिसम्बर १८८१, जुलाई १८८२, फरवरी १८८२, मार्च १८८२, मई १८८२ तथा मार्च १८८३। इस प्रकार इस सम्पादकीय वक्तव्य के अनुसार यह विवरण थियोसोफिस्ट की सात किश्तों में छपा था। किन्तु सम्पादक का यह कथन भ्रमपूर्ण है। हम यह लिख चुके हैं कि थियोसोफिस्ट पत्र के मात्र तीन अंकों में ही यह आत्मवृत्तान्त छपा था। अड्यार से प्रकाशित इस आत्मवृत्तान्त के परिशिष्ट रूप में कुछ अन्य सामग्री भी दी गई है जो स्वामी दयानन्द के जीवनचरित के अन्वेषकों के लिए उपयोगी है।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय में इतिहास-विभाग के प्राध्यापक डॉक्टर कृपालचन्द्र यादव ने Autobiography of Swami Dayanand Saraswati शीर्षक से स्वामीजी की आत्मकथा का एक सम्पादित संस्करण तैयार किया, जिसका प्रकाशन १९७६ ई० में हुआ। विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका के साथ-साथ इस ग्रन्थ के परिशिष्टों में स्वामीजी के मन्तव्यामन्तव्यों का अनुवाद, उनका वंशवृक्ष, स्वामीजी की जीवनघटनाओं को सूचित करनेवाली कालतालिका तथा उनके ग्रन्थों का विवरण, स्वामी दयानन्द के स्वीकारपत्र का अनुवाद तथा एक विस्तृत संदर्भग्रन्थसूची भी दी गई है। आत्मकथा के पाठ का आलोचनात्मक संस्करण तो यह है ही, यत्र-तत्र पादटिप्पणियाँ दे देने के कारण

ग्रन्थ की उपयोगिता और भी बढ़ गई है। इस ग्रन्थ का एक परिवर्धित एवं संशोधित संस्करण १९७८ ई० में प्रकाशित हुआ। प्रथम संस्करण में रह गई अनेक त्रुटियों का शोधन करने के साथ-साथ इस संस्करण में स्वामी दयानन्द के पत्र-व्यवहार में आये जीवनचरितपरक अंशों के आधार पर इस वृत्त को १८८३ तक बढ़ा दिया गया है।

प्रोफेसर श्रीराम शर्मा ने The Earliest Autobiography of Swami Dayanand शीर्षक एक शोधनिबन्ध लिखा था जो पंजाब विश्वविद्यालय के रिसर्च-बुलेटिन (कला संकाय) में (अक्टूबर १९७२ ई० में) प्रकाशित हुआ। इसमें पूनाप्रवचन में प्रदत्त आत्मकथा को अनेक पाद-टिप्पणियों के साथ प्रकाशित किया गया है। परिशिष्ट के रूप में काशीशास्त्रार्थ का अंग्रेजी-अनुवाद, बम्बई में स्वीकार किये गए आर्यसमाज के २८ नियमों का अंग्रेजी-अनुवाद, स्वामीजी की जीवन-घटनाओं की कालतालिका तथा एक संक्षिप्त सन्दर्भग्रन्थसूची भी दी गई है।

उपदेशमंजरी (पूनाप्रवचन)—१८७५ ई० में बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना करने के पश्चात् स्वामी दयानन्द पूना गये। वहाँ उन्होंने महादेव गोविन्द रानाडे तथा अन्य समाजसुधारकों के अनुरोध पर भिड़े के वाड़े नामक स्थान पर अनेक व्याख्यान दिये थे। इनमें से कुछ व्याख्यानों के नोट्स उपस्थित लोगों ने लिये और उन्हें कुछ समय पश्चात् मराठी में प्रकाशित कर दिया गया। पण्डित देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अनुसार व्याख्यानों को लिपिबद्ध करनेवाले सज्जन पूना हाईस्कूल के सहायक मुख्याध्यापक रा० रा० गणेश जनार्दन अगाशे थे। इन्हीं व्याख्यानों को उस समय के मराठी पत्रों में भी प्रकाशित किया गया था। कालान्तर में ये पुस्तकाकार भी छपे। पूना-व्याख्यानों का यह मराठी रूपान्तर पुस्तकरूप में कलकत्ता-स्थित राष्ट्रीय पुस्तकालय में विद्यमान है। अब तो पुणे के भण्डारकर प्राच्य विद्या शोध संस्थान के पुस्तकालय से मराठी व्याख्यानों का यह पुस्तकाकार संस्करण फोटो-प्रतियों के रूप में रामलाल कपूर ट्रस्ट तथा इन पंक्तियों के लेखक ने अपने व्यक्तिगत संग्रह के लिए प्राप्त कर लिया है।

पूना की इस व्याख्यानमाला का आरम्भ ४ जुलाई १८७५ से हुआ और ४ अगस्त को अन्तिम व्याख्यान हुआ, जिसमें स्वामीजी ने अपने जीवन-वृत्तान्त का कथन किया था। लाला लाजपतराय लिखित स्वामी दयानन्द के जीवनचरित से यह विदित होता है कि मराठी में प्रकाशित इन व्याख्यानों का गुजराती में भी अनुवाद हुआ था। "स्वामी दयानन्द सरस्वती नुं भाषण" शीर्षक एक पुस्तक का उल्लेख मिलता है जो गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद के पुस्तकालय में थी। सम्प्रति यह उपलब्ध नहीं है। गत शताब्दी के अन्त होने से पूर्व ही पूना में दिये गये प्रवचनों का हिन्दी तथा उर्दू में अनुवाद हो चुका था। कलम्ब-(महाराष्ट्र)-निवासी पण्डित भगवतीप्रसाद शुक्ल नामक एक महानुभाव ने पण्डित नरदेव शास्त्री के पिता पण्डित श्रीनिवासराव की प्रेरणा से मराठी व्याख्यानों का हिन्दी-अनुवाद किया था। परन्तु इस बात का पता नहीं चलता कि यह अनुवाद कब किया गया और प्रकाशित भी हुआ या नहीं? मुंशीराम जिज्ञासु द्वारा 'उपदेश मंजरी' का उर्दू-अनुवाद अनूदित होकर सद्धर्मप्रचारक प्रेस जालंधर से १८९८ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ। इसका द्वितीय संस्करण १९०१ ई० में निकला।

हिन्दी में उपदेशमंजरी (केवल ९ व्याख्यानों का) का सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध

अनुवाद पण्डित गणेश रामचन्द्र शर्मा नामक एक महाराष्ट्र विद्वान् का है जो जोधपुर (मारवाड़) राज्य की ओर से धर्म-प्रचारक का कार्य करते थे। पण्डित गणेश रामचन्द्र शर्मा द्वारा अनूदित पूना के ये प्रवचन छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के रूप में आर्य-पुस्तक-प्रचारिणी-सभा अजमेर द्वारा १९५० वि० में प्रकाशित हुए थे। इसी अनुवाद के आधार पर तथा उपदेशमंजरी के मुंशीराम जिज्ञासुकृत उर्दू-अनुवाद से सहायता लेकर पण्डित बद्रीदत्त शर्मा ने उपदेशमंजरी का एक अन्य हिन्दी-अनुवाद प्रस्तुत किया जो श्यामलाल-सत्यदेव वर्मा बरेली द्वारा एकाधिक बार छप चुका है। पण्डित बद्रीदत्त के संस्करण के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस संस्करण के आरम्भ के ९ व्याख्यानों का भाषानुवाद तो प्रायः गणेश रामचन्द्र शर्मा कृत अनुवाद पर ही आधारित है। अवशिष्ट ६ व्याख्यानों के अनुवाद में उन्होंने इस ग्रन्थ के उर्दू-संस्करण से सहायता ली है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि पण्डित गणेश रामचन्द्र ने ९ व्याख्यानों का ही अनुवाद किया था, सम्पूर्ण उपदेशमंजरी का नहीं।

आगरा के पण्डित श्रीराम शर्मा ने १९३७ ई० में पूना-प्रवचन का एक परिशोधित संस्करण निकाला। इसमें उन्होंने अनुवाद की भाषा का यथेष्ट परिष्कार किया था। २०२६ वि० में पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने पूना-प्रवचनों का एक आलोचनात्मक तथा पाठालोचन की दृष्टि से पूर्ण परिष्कृत संस्करण प्रकाशित किया। इसकी भूमिका तथा पादटिप्पणियों में उन्होंने व्याख्यानों की भाषा, पाठशोधन तथा इन प्रवचनों में उद्धृत शास्त्रीय वचनों के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण बातों का उल्लेख किया। २०३३ वि० में इन पंक्तियों के लेखक ने उपदेशमञ्जरी का जो सम्पादित संस्करण वैदिक यन्त्रालय, अजमेर से प्रकाशित कराया उसमें ग्रन्थ का पाठ तो मीमांसकजी के २०२६ वि० के संस्करण के अनुरूप ही रखा, किन्तु ग्रन्थ के आरम्भ में व्याख्यानों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा व्याख्यानों में वर्णित एवं विवेचित विषयों के सम्बन्ध में एक विस्तृत प्रस्तावना दी गई थी। इस दृष्टि से पूना-प्रवचनों का यह संस्करण महत्त्वपूर्ण बन गया है। १९८२ ई० में जब भण्डारकर शोध संस्थान, पूना से इन व्याख्यानों में से १३ के मूल मराठी पाठ मीमांसकजी को उपलब्ध हो गये, तो उन्होंने 'दयानन्द प्रवचन संग्रह' शीर्षक ग्रन्थ के अन्तर्गत इन प्रवचनों का प्रामाणिक हिन्दी-भाषानुवाद प्रस्तुत किया। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि पंजाब के भूतपूर्व राज्यपाल स्व० नरहरि विष्णु गाडगिल ने १५ पूना-व्याख्यानों में से ८ का मराठी-अनुवाद परोपकारिणी सभा को उपलब्ध कराया था जिसे उक्त सभा ने श्री गाडगिल के प्राक्कथन के साथ २०२० वि० में प्रकाशित किया। मराठी में एक अन्य अनुवाद स्व० हरि सखाराम तुंगार ने भी किया था जो दयानन्द-जन्म-शताब्दी के अवसर पर छपा। गुजराती-अनुवाद कृष्णलाल मोहनलाल झावेरी ने किया है। हिन्दी में पूना-प्रवचन के कुछ अन्य संस्करण भी प्रकाशित हुए हैं परन्तु उनमें सम्पादन-विषयक परिश्रम या मौलिकता के दर्शन नहीं होते। बंगला में पण्डित प्रियदर्शनकृत तथा गुजराती में प्रोफेसर दयाल आर्य के अनुवाद प्रकाशनाधीन हैं।

स्वामी दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—महापुरुषों का पत्र-व्यवहार उनके व्यक्तित्व, विचार तथा हार्दिक भावों का अभिव्यंजक होता है। इस दृष्टि से विशिष्ट व्यक्तियों (राजनीतिज्ञ, साहित्यकार, धर्माचार्य, समाजसुधारक आदि) के पत्र-व्यवहार का भी अध्ययन एक स्वतन्त्र साहित्यिक विधा के रूप में होने लगा है। नवजागरण के

सूत्रधार महापुरुषों में दयानन्द सरस्वती अन्यतम हैं, जिनके पत्र-व्यवहार को तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय चेतना के सन्दर्भ में परखना होगा। उनके पत्र और विज्ञापन उनके दिव्य व्यक्तित्व की झाँकी तो प्रस्तुत करते ही हैं, समकालीन युग की विभिन्न सार्वजनिक गतिविधियों पर भी प्रकाश डालते हैं।

स्वामी दयानन्द के पत्र-व्यवहार को सर्वप्रथम प्रकाशित करने का प्रयास परोपकारिणी सभा के मुखपत्र 'परोपकारी' द्वारा किया गया। यह पत्र षण्मासिक प्रकाशन के रूप में १८८६ ई० में प्रकाशित हुआ और इसके प्रथम अंक में स्वामी दयानन्द तथा थियोसोफिकल सोसाइटी के संस्थापकों के बीच के पत्र-व्यवहार तथा स्वामी दयानन्द एवं कर्नाटक की संस्कृत विदुषी रमाबाई के बीच हुए पत्र-व्यवहार को संकलित किया गया था। इस अंक में कुल १२ पत्र छपे थे। पुस्तकरूप में स्वामी दयानन्द द्वारा लिखे गये संस्कृत भाषा के पत्रों का एक संकलन वैदिक यन्त्रालय के एक भूतपूर्व प्रबन्धक भक्त रैमल ने दयानन्द लेखावली (भाग १)शीर्षक से किया जो १६०३ ई० में प्रकाशित हुआ। स्वामीजी के अनेक पत्र पण्डित लेखरामरचित दयानन्द सरस्वती के उर्दू जीवनचरित तथा रावसाहब रामविलास शारदा लिखित आर्यधर्मेन्द्र जीवन (स्वामी दयानन्द का जीवनचरित) में भी उद्धृत किये गये थे।

स्वामीजी के पत्र-व्यवहार का ग्रन्थाकार में प्रथम बार व्यवस्थित प्रकाशन मुंशीराम जिज्ञासु (स्वामी श्रद्धानन्द) ने किया। उन्होंने स्वामीजी के नाम लिखे गये विभिन्न व्यक्तियों के पत्रों का यह संग्रह "ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार" भाग १ शीर्षक से सम्पादित कर १६६६ वि० में प्रकाशित किया। हिन्दी साहित्य के इतिहासकार की दृष्टि में यह पत्र-संग्रह समूचे हिन्दी साहित्य में पहला प्रकाशित पत्र-संग्रह था। तत्पश्चात् १६७२ वि० में पण्डित भगवद्दत्त ने स्वामी दयानन्द के पत्रों और विज्ञापनों का संग्रह आरम्भ किया और ज्यों-ज्यों उन्हें अपने कार्य में सफलता मिलती गई उन्होंने इस पत्र-व्यवहार का प्रकाशन भी जारी रक्खा। इस प्रकार "ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन" शीर्षक से चार भागों में उन्होंने २४६ पत्र एवं विज्ञापन प्रकाशित किये। ये चारों भाग क्रमश: १६७५ वि०, १६७६ वि०, १६८३ वि० तथा १६८४ वि० में प्रकाशित हुए। पत्रों की खोज का यह काम जारी रहा और २००१ वि० (१६४५ ई०) में रामलाल कपूर ट्रस्ट, लाहौर से ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन शीर्षक एक ही जिल्द में समस्त उपलब्ध पत्रव्यवहार को प्रकाशित किया गया। इस बृहत् संग्रह का द्वितीय संस्करण २०१२ वि० में उक्त ट्रस्ट द्वारा छपा।

पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने पण्डित भगवद्दत्त द्वारा संगृहीत और सम्पादित 'पत्र और विज्ञापन' का एक परिष्कृत, परिवर्धित और संशोधित संस्करण ४ खण्डों में प्रकाशित किया है। इसमें पण्डित भगवद्दत्त एवं मुंशीराम जिज्ञासु द्वारा संगृहीत सामग्री तो समाविष्ट है ही, कुछ नवीन उपलब्ध पत्र भी सम्मिलित किये गये हैं। अनेक उपयोगी टिप्पणियों तथा परिशिष्टों से युक्त पत्र-व्यवहार का यह संस्करण स्वामी दयानन्द के जीवन-विषयक शोध के लिए महत्त्वपूर्ण उपादान-सामग्री प्रस्तुत करता है। पत्र और विज्ञापन का यह संशोधित संस्करण २०३७–२०४० वि० की अवधि में प्रकाशित हुआ। स्वामीजी के पत्रों और विज्ञापनों से सम्बन्धित कुछ उपयोगी सामग्री का संग्रह पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन के परिशिष्ट' शीर्षक

से संकलित कर १९५८ ई० में प्रकाशित किया था। इसमें पत्र-व्यवहार में उल्लिखित विशिष्ट व्यक्तियों का परिचय, दयानन्द सरस्वती के स्थानान्तर में आगमन-प्रतिगमन की तिथि और तारीख, स्वामीजी के वास्तविक चित्रों का परिचय, बंगाल में स्वामीजी के प्रवास की डायरी (पण्डित हेमचन्द्र चक्रवर्ती लिखित) आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों से सम्बद्ध सामग्री एकत्रित की गयी थी।

स्वामी दयानन्द के पत्र-व्यवहार के प्रसंग में पण्डित चमूपति का नाम भी उल्लेखनीय है। उन्होंने १९९२ वि० में ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार भाग २ प्रकाशित किया। इसमें पत्र-व्यवहार का वह अंश प्रकाशित हुआ जो राजस्थान से सम्बन्धित था। अधिकांश पत्र उन्हें पटियाला राज्य के इतिहास-विभाग के एक अधिकारी ठाकुर किशोरसिंह से प्राप्त हुए थे। पण्डित भगवद्दत्त द्वारा स्वामी दयानन्द के पत्र-व्यवहार का संग्रह और सम्पादन कथमपि संभव न होता यदि उन्हें इस कार्य में खतौली (मुजफ्फरनगर) निवासी स्व० मामराज आर्य का सहयोग न मिलता। वस्तुतः मामराज जी को स्वामीजी से सम्बन्धित दुर्लभ दस्तावेजों, पत्र-विज्ञापनों तथा पुराने अभिलेखों के संग्रह करने की अद्भुत लगन थी। उन्होंने इस शोधकार्य में अपने जीवन के अधिकांश वर्ष लगाये थे। यदि वे पत्रों और विज्ञापनों के संग्रह के रूप में यह प्रारम्भिक कार्य न करते तो पण्डित भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित उपर्युक्त पत्र-संग्रह कदापि प्रकाशित नहीं हो सकता था। स्वामीजी के कुछ पत्रों का अंग्रेजी-अनुवाद श्री भारतभूषण ने किया जो चौधरी नारायणसिंह प्रताप-सिंह धर्मार्थ ट्रस्ट, करनाल द्वारा १९७९ ई० में प्रकाशित हुआ है।

दयानन्दग्रन्थमाला—स्वामी दयानन्दरचित समग्र वाङ्मय का सिंहावलोकन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि अपने अत्यन्त संक्षिप्त कार्यकाल तथा संक्षिप्ततर लेखन-काल में उन्होंने गुण तथा मात्रा की दृष्टि से उच्चकोटि का साहित्य दाय रूप में हमें प्रदान किया है। उन्हें साहित्य-प्रणयन के लिए लगभग १० वर्ष का ही समय मिला था और इसी अल्पावधि में उन्होंने सहस्रों मुद्रित पृष्ठों में समानेवाला साहित्य लिखा और प्रकाशित किया। १९२५ ई० में दयानन्द-जन्म-शताब्दी के अवसर पर परोपकारिणी सभा के मंत्री हरविलास सारड़ा ने दयानन्दग्रन्थमाला के दो खण्डों में (वेद-भाष्य और वेदाङ्ग-प्रकाश को छोड़कर) स्वामीजी की समस्त कृतियों को सम्पादित कर प्रकाशित किया। इस ग्रन्थमाला के आरम्भ में स्वामी श्रद्धानन्द लिखित स्वामी दयानन्द के जीवन की एक संक्षिप्त रूपरेखा भी प्रस्तुत की गई थी। इस ग्रन्थमाला का दूसरा संस्करण पचास वर्ष पश्चात् दयानन्द-निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर उक्त सभा ने पुनः दो खण्डों में प्रकाशित किया। इस संस्करण में इन पंक्तियों के लेखक द्वारा सम्पादित स्वामी दयानन्द की आत्म-कथा को भी सम्मिलित किया गया है। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट द्वारा ३ भागों में दयानन्द ग्रन्थमाला का प्रकाशन २०३८ वि० में हुआ।

स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों की इस विवेचना के आरम्भ में हम उनकी प्रस्थानत्रयी—सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा संस्कारविधि पर विस्तारपूर्वक विचार कर चुके हैं। इन बृहद् ग्रन्थों के अतिरिक्त उनके लघु ग्रन्थों का महत्त्व भी कम नहीं है। स्वामीजी के ये लघु ग्रन्थ समय-समय पर सम्पादित होकर एकत्र प्रकाशित किये गये हैं। इस प्रकार का प्रथम प्रयास १९५३ ई० में पण्डित जगत्कुमार शास्त्री द्वारा किया गया। उन्होंने 'दयानन्दग्रन्थसंग्रह' शीर्षक से स्वामी दयानन्द के २० ग्रन्थों का सम्पादन

किया। इनमें आत्मकथा तथा स्वीकार-पत्र के अतिरिक्त पण्डित भीमसेन शर्मा लिखित अनुभ्रमोच्छेदन भी था। प्रत्येक ग्रन्थ के प्रारम्भ में सम्पादक ने ग्रन्थ की परिचयात्मक ऐतिहासिक भूमिकाएँ प्रस्तुत की थीं।

दयानन्दीय लघु ग्रन्थों के सम्पादन का एक अन्य श्लाघनीय प्रयास पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने किया। इसमें उन्होंने चौदह ग्रन्थों का समावेश किया है। उन्होंने स्वामीजी के शास्त्रार्थ-विषयक ग्रन्थों का समावेश इसमें नहीं किया, क्योंकि इनका पृथक् सम्पादित संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया जा चुका था। मीमांसक जी द्वारा सम्पादित इस ग्रन्थ में भागवत-खण्डन तथा चतुर्वेदविषयसूची को भी समाविष्ट किया गया है। विस्तृत भूमिका तथा उपयोगी परिशिष्टों सहित इस ग्रन्थ का विशिष्ट महत्त्व है। डा० सुदर्शनदेव आचार्य द्वारा सम्पादित दयानन्दलघुग्रन्थसंग्रह में स्वामीजी के १२ लघुग्रन्थों के अतिरिक्त आर्यसमाज के नियम एवं उद्देश्यों को भी सम्मिलित किया गया है। इस संस्करण की मुख्य विशेषता है—प्रत्येक ग्रन्थ के प्रथम अथवा द्वितीय संस्करण के पाठों को यथातथा प्रस्तुत करना। इस सम्बन्ध में सम्पादक की यह धारणा है कि स्वामी दयानन्द के जीवनकाल में जो ग्रन्थ छपे, उनके प्रथम संस्करण ही पाठ की शुद्धता की दृष्टि से प्रामाणिक माने जा सकते हैं। कालान्तर में प्रकाशित होनेवाले संस्करणों को अवान्तरकालीन सम्पादकों और संशोधकों ने स्वबुद्धि-अनुसार यथातथा संशोधित कर उनके मूलपाठ को भ्रष्ट एवं विकृत कर दिया है। यह धारणा बनाते समय सम्पादक ने यह विचार नहीं किया कि प्रथम संस्करणों में रही मुद्रणजन्य भूलों का सुधारना क्या आगे के संस्करणों में आवश्यक नहीं होता ?

दयानन्द साहित्य विषयक संदर्भ ग्रन्थ—स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में प्रयुक्त संदर्भों और शास्त्रीय प्रमाणों को सुविधापूर्वक ढूँढने की दृष्टि से पण्डित विश्वनाथ शर्मा (मथुरा-निवासी) ने प्रकरण-प्रमाण-दर्शिका शीर्षक एक सन्दर्भग्रन्थ तैयार किया था। इसका प्रकाशन १९०८ ई० में हुआ। इसके दो भाग हैं। प्रथम में ३५० विषयों की सूची अकारादि-क्रम से देकर स्वामीजी के ग्रन्थों में उनकी विवेचना के स्थानों का पता (ग्रन्थ की पृष्ठ-संख्या) दिया गया है। द्वितीय भाग में ग्रन्थों में प्रयुक्त शास्त्रवाक्यों को अकारादि-क्रम से देकर जिन-जिन ग्रन्थों से वे उद्धृत हुए हैं वहाँ की पृष्ठ-संख्या दी गयी है।

पण्डित धर्मपाल व्याकरणाचार्य ने 'प्रमाण-सूची' का संकलन किया है। इसमें विभिन्न शास्त्र-ग्रन्थों के उन प्रमाणों का अकारादि-क्रम से संग्रह किया गया है जो स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में उद्धृत किये गए हैं। शास्त्रों से उद्धृत प्रमाणवाक्यों के प्रतीक व पते देकर उनके सामने स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में उनके स्थान का पता दे दिया गया है। इससे यह सुविधापूर्वक ज्ञात हो जाता है कि स्वामीजी ने अमुक शास्त्र के अमुक वाक्य को अपने अमुक ग्रन्थ में अमुक स्थान पर उद्धृत किया है। संग्रहकर्ता ने स्वामीजी द्वारा अन्य सम्प्रदायों के ग्रन्थों की समीक्षा के प्रसंग में उद्धृत तत्-तत् ग्रन्थों के उद्धरणों का भी इसी प्रकार पता दे दिया है। शोध-ग्रन्थ-लेखकों के लिए ऐसे ग्रन्थ की उपयोगिता निर्विवाद है।

दयानन्द वाङ्मय का इतिहास—पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास लिखकर दयानन्द वाङ्मय की ऐतिहासिक समीक्षा की है। उनका ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास शीर्षक ग्रन्थ १९४९ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमें

स्वामीजी के ग्रन्थों का सम्पूर्ण इतिहास कालक्रमानुसार निबद्ध किया गया है। प्रत्येक ग्रन्थ के लेखन की पृष्ठभूमि, प्रेरणा, मुद्रण, प्रकाशन, विभिन्न संस्करण, अनुवाद आदि के विस्तृत विवरणों के साथ-साथ परोपकारिणी सभा के ग्रन्थ-संग्रह में विद्यमान तत्-तत् ग्रन्थ के अनेकानेक हस्तलेखों का भी इस ग्रन्थ में विस्तृत परिचय दिया गया है। इसका एक संशोधित और परिवर्धित संस्करण २०४० वि० में दयानन्द-बलिदान-शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित हुआ है।

इन पंक्तियों के लेखक द्वारा सम्पादित दयानन्द-साहित्य-सर्वस्व (Bibliography of Swami Dayanand) का प्रकाशन दयानन्द अनुसन्धान पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा १९८३ ई० में हुआ। इसमें दयानन्दरचित सभी ग्रन्थों के सभी प्रकाशित संस्करणों का विवरण प्रकाशन-काल के उल्लेखसहित दिया गया है। साथ ही दयानन्द-साहित्य पर लिखे गये भाष्य, टीका, व्याख्या तथा खण्डन-मण्डनात्मक ग्रन्थों का भी समग्र इति-वृत्त उपस्थित किया गया है। दयानन्द-वाङ्मय की जानकारी के लिए यह सन्दर्भग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। दयानन्दरचित साहित्य के साथ-साथ इसमें स्वामी दयानन्द के जीवन-चरित एवं उनके व्यक्तित्व तथा कार्य की विवेचना से सम्बन्धित साहित्य की भी समग्र सूची दी गयी है।

(छ) स्वामी दयानन्द के अनुपलब्ध ग्रन्थ

सन्ध्या—अपने १९२० वि०. के आगरा-प्रवासकाल में स्वामी दयानन्द ने इसी नगर के निवासी श्री रूपलाल की आर्थिक सहायता से 'सन्ध्या' की पुस्तक लिखकर तीस हजार की संख्या में मुद्रित करायी। इस कार्य में डेढ़ हजार रुपया व्यय हुआ था। यह लघु पुस्तक आगरा के ज्वालाप्रकाश प्रेस में छपी थी और इसे निःशुल्क वितरित किया गया था। आज इसकी कोई प्रति उपलब्ध नहीं होती।

अद्वैतमत खण्डन—स्वामी दयानन्द के जीवनचरितों से ज्ञात होता है कि १९२७ वि० में उन्होंने अद्वैतमत खण्डन शीर्षक कोई पुस्तक लिखी थी। इसका प्रकाशन स्वामी जी के काशी-निवासकाल में हुआ था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने स्वसम्पादित कविवचनसुधा के दो अंकों में इस पुस्तक को प्रकाशित किया था। यह ग्रन्थ भी अनुपलब्ध है।

गौतम-अहल्या की कथा—स्वामीजी के पत्र-व्यवहार को देखने से पता चलता है कि उन्होंने १९३७ वि० से पूर्व 'गौतम अहल्या की कथा' नामक कोई पुस्तक लिखी थी। दयानन्ददिग्विजयार्क द्वितीय खण्ड के पृष्ठ पर छपे विज्ञापन से ज्ञात होता है कि यह पुस्तक विक्रयार्थ उपलब्ध भी थी। किन्तु आज यह अनुपलब्ध है, अतः इसके सम्बन्ध में कुछ भी कहना कठिन है। यों स्वामीजी ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में गौतम-अहल्या की कथा के पीछे विद्यमान रूपक-तत्त्व की विस्तृत समीक्षा प्रस्तुत की है।

खेद है कि स्वामीजी के उपर्युक्त प्रकाशित, किन्तु सम्प्रति अनुपलब्ध ग्रन्थों की खोज का कार्य पूर्ण गम्भीरता से नहीं किया गया।

तीसरा अध्याय

आर्यसमाज का वैदिक साहित्य

(१) मूल वेद-संहिताओं का प्रकाशन

स्वामी दयानन्द के धर्मान्दोलन की नींव वेदप्रामाण्यवाद का सिद्धान्त रहा है। उनकी समस्त मान्यताएँ वेदमूलक थीं और उन्होंने मानव के सार्वत्रिक हित और कल्याण के लिए वेदों की सार्वभौम शिक्षाओं को स्वीकार करना आवश्यक बताया था। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर जब उन्होंने संसार का सर्वविध उपकार करने के लिए आर्यसमाज की स्थापना की, तो उसके नियमों में वेद-विषयक नियम को इस प्रकार सूत्रित किया— 'वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। वेद का पढ़ना-पढ़ाना और सुनना-सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।' स्वयं स्वामी दयानन्द ने वैदिक ज्ञान के प्रचारार्थ वेद-भाष्यलेखन का एक महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान अपने जीवन में आरम्भ किया था जो १८८३ ई० में उनके निधन के कारण पूरा नहीं हो सका। तथापि स्वामीजी के दिवंगत होने पर उनके अनुयायी आर्यसमाजी विद्वानों ने अपने आचार्य द्वारा प्रतिपादित वेदभाष्य-शैली का ही अनुकरण करते हुए चारों वेद-संहिताओं का भाष्य लिखा। केवल वेदभाष्य-प्रणयन ही नहीं अपितु वैदिक साहित्य के अन्तर्गत समाविष्ट होनेवाले ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषदादि ग्रंथों पर भी उन्होंने अपने भाष्य-टीकादि ग्रन्थ लिखे तथा वेदाध्ययन में सहायक वेदाङ्ग, उपाङ्ग तथा एतद्-विषयक अन्य ग्रन्थों पर भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थरचना की। इस अध्याय में हम आर्यसमाजी लेखकों के इसी साहित्य की चर्चा करेंगे जो मुख्यतया वैदिक-वाङ्मय से सम्बन्ध रखता है।

स्वामी दयानन्द ने अनेक युक्तियों एवं प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया था कि वेद का मन्त्रभाग ही 'वेद' संज्ञा का अधिकारी है। ब्राह्मणग्रन्थ वेदों की ऋषिप्रणीत व्याख्याएँ हैं। दयानन्द की दृष्टि में ईश्वरोक्त होने के कारण मन्त्र-संहिताएँ स्वतःप्रमाण हैं जबकि ब्राह्मणादि ग्रन्थ वेदानुकूल होने से परतःप्रमाण हैं। इस प्रकार मन्त्रसंहिताओं का सर्वोपरि प्रामाण्य स्थापित हो जाने पर यह आवश्यक था कि चारों वेदों की संहिताओं का सुन्दर एवं प्रामाणिक संस्करण आर्यसमाज के द्वारा तैयार कराया जाता। स्वामी दयानन्द के युग में भारत में वेदों के मुद्रण एवं प्रकाशन का कार्य तो प्रारम्भ भी नहीं हुआ था, जबकि ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय को अपना केन्द्र बनाकर प्रोफेसर मैक्समूलर ने ऋग्वेद-संहिता तथा उसपर लिखे गये सायण-भाष्य का व्यवस्थित सम्पादन एवं प्रकाशन विगत शताब्दी के मध्य में ही कर डाला था। स्वामी दयानन्द को भी उपयोग के लिए वेद-संहिताओं की मुद्रित प्रतियाँ यूरोपीय देशों से ही मँगानी पड़ी थीं, क्योंकि भारत में मन्त्र-संहिताओं की हस्तलिखित प्रतियाँ ही यत्र-तत्र उपलब्ध थीं और जन-साधारण के लिए तो उन्हें प्राप्त करना कठिन ही था।

चारों वेदों की संहिताओं को सर्वप्रथम ऋषि, देवता, छन्द तथा स्वर के संकेत-पूर्वक प्रकाशित करने का श्रेय विरजानन्द यन्त्रालय, लाहौर को है। इसकी स्थापना पण्डित दुर्गाप्रसाद ने की थी। अनेक पाण्डुलिपियों के मिलान के पश्चात् बहुरंगी छपाई में चारों वेद-संहिताओं को विरजानन्द प्रेस से प्रकाशित किया गया। सामवेद संहिता (१९४६ वि०), यजुर्वेद संहिता (१९४७ वि०), ऋग्वेद संहिता (१९६६ वि०) तथा अथर्ववेद संहिता (मुद्रणकाल अज्ञात) का प्रकाशन कर वैदिक संहिताओं के मूलपाठ को जनसाधारण तक पहुँचाने का श्रेय विरजानन्द प्रेस के संचालक पण्डित दुर्गाप्रसाद को ही जाता है। पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द) ने सामवेद के दो संस्करण प्रकाशित किये थे—प्रथम काशी के विक्टोरिया प्रेस से तथा द्वितीय तिमिरनाशक प्रेस से छपा था। अथर्ववेद संहिता का प्रकाशन स्वामी दयानन्द के शिष्य श्री सेवकलाल कृष्णदास ने १८८४ ई० में बम्बई से किया था। कालान्तर में स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित वैदिक यन्त्रालय ने भी वेद-संहिताओं के मूलपाठ का प्रकाशन किया। वैदिक यन्त्रालय से वेद-संहिताओं का प्रकाशन निम्न कालक्रम से हुआ—यजुर्वेदसंहिता १८९९ ई०, सामवेद संहिता १९०० ई०, अथर्ववेद संहिता १९०० ई० तथा ऋग्वेदसंहिता १९१९ ई०। वैदिक यन्त्रालय ने मन्त्र-पाठ में सुविधा की दृष्टि से यजुर्वेद और सामवेद को गुटका आकार में भी प्रकाशित किया है। अथर्ववेद को छोड़कर अन्य संहिताओं का मूलपाठ आर्य-साहित्य-मण्डल, अजमेर ने भी प्रकाशित किया।

वेदमन्त्रों की सुरक्षा के लिए प्राचीनकाल से ही जिन विकृति-पाठों की व्यवस्था की गयी है, उनके रहते यह सोचना भी असम्भव है कि मन्त्र-संहिताओं के मूलपाठ में किसी भी प्रकार की गड़बड़ हो सकती है। द्वितीयतः, विभिन्न शाखाओं के वैदिकों ने स्व-स्व-शाखा में मान्य संहिताओं को परम्परा से कण्ठस्थ कर उनके समग्र पाठ को इतना सुरक्षित रक्खा है कि उसमें विन्दु, विसर्ग तक का व्यतिक्रम होने की भी सम्भावना नहीं रह गई है। पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का प्रयास था कि वेद-संहिताओं के पाठ को अत्यन्त प्रामाणिक रीति से सम्पादित किया जाय। वहुत-कुछ सावधानियाँ वरतने पर भी वैदिक यन्त्रालय से मुद्रित वेद-संहिताओं में अनेक मुद्रणजन्य भूलें तथा संशोधनगत प्रमाद के कारण त्रुटियाँ रह गयी थीं। इस प्रकार की सम्भावित त्रुटियों का निराकरण करने में सातवलेकर जी ने पर्याप्त सावधानी बरती है। मन्त्र-संहिताओं के प्रामाणिक पाठ का निर्धारण भी उन्होंने उन दाक्षिणात्य वैदिकों की साक्षी के आधार पर किया, जिन्हें परम्परा से वेद मुखाग्र उपस्थित थे। इस प्रकार मूलपाठ की सुरक्षा की दृष्टि से पण्डित सातवलेकर-सम्पादित तथा स्वाध्याय मण्डल पारडी (जिला वलसाढ़) से प्रकाशित चतुर्वेद संहिताओं को सर्वाधिक प्रामाणिक माना जायगा।

यजुर्वेद-संहिता का एक सम्पादित संस्करण पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली के लिए तैयार किया था। इसमें विद्वान् सम्पादक ने यजुर्वेद से सम्वन्धित विभिन्न प्रश्नों का समाधान करते हुए एक महत्त्वपूर्ण भूमिका भी लिखी। २०२८ वि० में मीमांसक जी द्वारा सम्पादित माध्यन्दिन यजुर्वेद-संहिता का पदपाठ प्रकाशित हुआ। इसका सम्पादन उन्होंने १४७१ वि० में लिखी गयी माध्यन्दिन पदपाठ-कोश की एक पाण्डुलिपि के आधार पर किया है। इसके अतिरिक्त अन्य उपलब्ध पद-पाठों का भी तुलनात्मक विवेचन उन्होंने ग्रन्थ के आरम्भ में किया है। इस ग्रन्थ के

सम्पादन-कार्य हेतु राजस्थान के संस्कृत शिक्षा-विभाग ने मीमांसक जी को तीन वर्ष तक १५० रुपये मासिक आर्थिक सहायता प्रदान की थी। हरयाणा साहित्य संस्थान ने साम-पद संहिता का प्रकाशन किया है। इसकी एक दुर्लभ प्रति परोपकारिणी सभा के पुस्त-कालय में विद्यमान थी। वहीं से लेकर इसे प्रकाशित किया गया है।

(२) वेदों के भाष्य व अनुवाद

ऋग्वेद पर भाष्य-लेखन—स्वामी दयानन्द का ऋग्वेद-भाष्य उनके जीवनकाल में पूरा नहीं हो सका था। उनके निधन के पश्चात् आर्यसमाज के कुछ विद्वानों ने ऋग्वेद के उस अवशिष्ट अंश का भाष्य करने का प्रयत्न किया जिसपर स्वामीजी अपनी लेखनी नहीं चला पाये थे। मेरठ-निवासी पण्डित तुलसीराम स्वामी ने ऋग्वेद के ७वें मण्डल के ६१वें सूक्त के तृतीय मन्त्र से आरम्भ कर आगे का भाष्य लिखने की योजना बनायी। उन्होंने इसे संस्कृत तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में लिखना आरम्भ किया। यह भाष्य उनके द्वारा सम्पादित 'वेदप्रकाश' मासिक के जुलाई १९१६ के अंक से धारावाही रूप में छपता रहा। किन्तु पण्डित तुलसीराम स्वामी की मृत्यु हो जाने के कारण ऋग्वेद-भाष्य-लेखन का यह क्रम टूट गया। उनके अनुज पण्डित छुट्टनलाल स्वामी ने आगे का कुछ भाष्य लिखा, किन्तु वे उसे पूरा नहीं कर सके।

महामहोपाध्याय पण्डित आर्यमुनि ने भी स्वामी दयानन्द द्वारा छोड़े गये ऋग्वेद के अवशिष्ट भाग का भाष्य लिखने का एक अन्य श्लाघनीय प्रयास किया था। पण्डित आर्यमुनि आर्यसमाज के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् तथा डी.ए.वी. कॉलिज, लाहौर में संस्कृत के प्राध्यापक थे। उन्होंने ऋग्वेद के सप्तम मण्डल के ६१वें सूक्त के तीसरे मन्त्र से आरम्भ कर नवम मण्डल पर्यन्त भाष्य संस्कृत तथा हिन्दी में, स्वामी दयानन्द की शैली पर ही लिखा। यह भाष्य ६ खण्डों में समाप्त हुआ और इसका प्रकाशन १९७४ वि० से १९८० वि० की अवधि में काशी से हुआ। भाष्य के प्रथम खण्ड में भाष्यकार ने वेद-विषयक विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की है तथा भाष्य-लेखन-विषयक अपने वक्तव्य को निम्न प्रकार उपस्थित किया है—

> दयानन्दः समाख्यातो यस्यान्ते च सरस्वती।
> एतन्नामान्वितः स्वामी दयानन्दः सरस्वती॥
> सेतुर्लोकव्यवस्थायाः नौरासीद्वेदवारिधेः।
> वेदस्य स्थापना तेन ह्यकारि भूतले पुनः॥
> एकषष्ठितमे सूक्ते सप्तमे मण्डले तथा।
> द्वितीय मन्त्रे सम्प्राप्य तद्भाष्यमन्ततां गतम्॥
> इत्यालोच्य प्रखिन्नेन मयाऽऽर्यमुनिनाऽधुना।
> शेषं विधास्यते भाष्यं स्वामिमार्गानुगामिना॥

अर्थात् स्वामी दयानन्द सरस्वती नामक जो महात्मा हुए हैं उन्होंने धराधाम पर वेद की व्यवस्था और मर्यादा स्थापित की। उन्होंने सप्तम मण्डल के ६१वें सूक्त के द्वितीय मन्त्र-पर्यन्त ऋग्वेद का भाष्य किया, तत्पश्चात् वे दिवंगत हो गये। इस स्थिति का दुःखपूर्वक अनुभव कर मुझ आर्यमुनि द्वारा शेष ऋग्वेद का यह भाष्य स्वामी दयानन्द-प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करते हुए ही किया जायगा।

मिथिला-निवासी पण्डित शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ ने भी ऋग्वेद के उस अवशिष्ट अंश का भाष्य-लेखन आरम्भ किया था जिसे स्वामी दयानन्द पूरा नहीं कर पाये थे, किन्तु वे भी ऋग्वेद के ७वें मण्डल के ६१वें सूक्त के तीसरे मन्त्र से आरम्भ कर ८वें मण्डल के २९वें सूक्त पर्यन्त अंश का ही भाष्य कर सके। पण्डित शिवशंकर शर्मा का यह ऋग्वेद-भाष्य वैदिक यन्त्रालय, अजमेर में मुद्रित होकर दो खण्डों में (१९८० वि० तथा १९८७ वि० में) प्रकाशित हुआ था।

बहुत काल पश्चात् परोपकारिणी सभा के अनुरोध पर स्वामी ब्रह्ममुनि ने ऋग्वेद के दशम मण्डल का भाष्य स्वामी दयानन्द-निर्दिष्ट पद्धति पर लिखा। इसका प्रथम खंड उक्त सभा द्वारा २०३१ वि० में प्रकाशित हुआ। उसमें ८० सूक्त तक का भाष्य छप सका। अवशिष्ट सूक्तों का भाष्य अप्रकाशित पाण्डुलिपि के रूप में परोपकारिणी सभा के संग्रह में है। स्वामी शुक्लानन्द नामक एक अन्य आर्य संन्यासी ने भी ऋग्वेद पर भाष्यलेखन आरम्भ किया था, जिसे वे पूरा नहीं कर सके। प्रथम मण्डल के १३ सूक्तों का यह भाष्य अमृतसर से २००१ वि० में छपा था।

अन्य भाषाओं में ऋग्वेद के अनुवाद, भाष्य आदि—स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वेदार्थ-प्रणाली का अनुकरण करते हुए पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री ने ऋग्वेद के प्रथम मण्डल का बंगला भाषा में अनुवाद किया जो कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध तमिल विद्वान् श्री एम० आर० जम्बुनाथनकृत ऋग्वेद का तमिल अनुवाद १९७८ ई० में प्रकाशित हो चुका है। पण्डित धर्मदेव विद्यामार्त्तण्ड (स्वामी धर्मानन्द सरस्वती) ने ऋग्वेद का अंग्रेजी में भाष्य किया है, जो अब प्रकाशित किया जा रहा है।

स्वामी सत्यप्रकाश के मुख्य सम्पादकत्व में चारों वेदों का धारावाही अंग्रेजी-अनुवाद प्रकाशित कराने की एक योजना वेद प्रतिष्ठान दिल्ली के अन्तर्गत प्रारम्भ की गई है। इसके तत्त्वावधान में पण्डित सत्यकाम विद्यालंकारकृत ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद (मूलसहित) प्रकाशित हो चुका है। इसके प्रारम्भ में सम्पादक स्वामी सत्यप्रकाश ने वेदों के सम्बन्ध में एक विवेचनात्मक भूमिका लिखी है। हाल ही में चण्डीगढ़-निवासी पण्डित आशुराम आर्य ने उर्दू में ऋग्वेद के प्रारम्भिक अंश का अनुवाद किया है।

यजुर्वेद पर भाष्य-लेखन—आकार में लघु होने, कर्मकाण्ड में प्रयुक्त होने तथा नानाविध लौकिक एवं आध्यात्मिक विद्याओं का स्रोत होने के कारण यजुर्वेद पर भाष्यलेखन के प्रयत्न जहाँ संख्या की दृष्टि से अधिक हैं, वहीं इन भाष्यों की गुणवत्ता को भी नकारा नहीं जा सकता। १९०४ ई० में पण्डित पूर्णचन्द्र शर्मा ने दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य का साररूप "यजुर्वेद-भाषा-भाष्य" वेदप्रकाश यंत्रालय, इटावा से प्रकाशित किया था। इसके सम्पादक ने मौलिकता का दावा तो नहीं किया था, किन्तु उसका प्रयास यजुर्वेद के मंत्रों के अभिप्राय को हिन्दी भाषा में सरलता से समझाना ही था। कालान्तर में गुरुकुल वृन्दावन में वैदिक संस्थान नामक एक शोधपीठ की स्थापना की गई और उसके तत्त्वावधान में यजुर्वेद का भाष्य आर्यसमाज के गण्यमान्य विद्वानों के एक मण्डल द्वारा तैयार कराया गया। जिन विद्वानों को भाष्य-लेखन का कार्य सौंपा गया, वे थे सर्वश्री पण्डित रामदत्त शुक्ल, द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री, प्रियरत्न आर्ष तथा ब्रह्मानन्द त्रिपाठी। इस भाष्य का प्रथम खण्ड १९९४ वि० तथा द्वितीय खण्ड १९९८ वि० में प्रकाशित हुआ। भाष्य-लेखन में इन विद्वानों ने स्वामी दयानन्द से भिन्न स्वतन्त्र सरणि अपनाई थी, इस-

लिये आर्यसमाज के विद्वत्-समुदाय में यत्र-तत्र इस भाष्य की आलोचना भी हुई। स्वामी ब्रह्ममुनि (पं० प्रियरत्न आर्ष) ने दश अध्याय पर्यन्त 'यजुर्वेदान्वयार्थ' तैयार किया जो २०२५ वि० में प्रकाशित हुआ। पण्डित आर्यमुनि द्वारा यजुर्वेद का भाषा-भाष्य (केवल २ अंक) किये जाने की भी सूचना मिली है।

यजुर्वेद के उर्दू अनुवाद—पंजाब तथा उत्तरप्रदेश के कई भागों में उर्दू का प्रचलन पर्याप्त रहा है। उर्दूभाषी आर्य-जनों की सुविधा के लिए यजुर्वेद का उर्दू अनुवाद करने के अनेक प्रयास किये गये हैं। हमारी शोध के अनुसार कम से कम तीन ऐसे प्रयासों का पता चलता है। मुन्शी दयारामकृत यजुर्वेद का उर्दू अनुवाद मेरठ से छपा। जहाँगीर-पुर निवासी एक आर्य (अज्ञातनामा) ने यजुर्वेद का दस अध्याय पर्यन्त अनुवाद किया जो प्रकाशित भी हुआ। पण्डित लक्ष्मण आर्योपदेशककृत यजुर्वेद के प्रथम अध्याय का उर्दू तर्जुमा भी छपा था। हाल ही में चण्डीगढ़-निवासी पण्डित आशुराम आर्य ने यजुर्वेद के प्रथम चार अध्यायों का विस्तृत उर्दू भाष्य स्वामी दयानन्दकृत भाष्य के आधार पर किया है। यह १९८४ ई० में चण्डीगढ़ से ही प्रकाशित हुआ है।

यजुर्वेद के अन्य भाषाओं में अनुवाद—अंग्रेजी में यजुर्वेद का दस अध्याय पर्यन्त अनुवाद पण्डित चमूपति ने किया था जो राय साहब चौधरी प्रतापसिंह की आर्थिक सहायता से विश्वेश्वरानन्द वैदिक संस्थान लाहौर ने प्रकाशित किया। स्वामी भूमानंद ने भी यजुर्वेद का सटिप्पण अंग्रेजी अनुवाद किया। देश-विभाजन के समय इसकी पाण्डु-लिपि के नष्ट हो जाने का संकेत मिलता है। पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री ने प्रथमाध्याय का मूलसहित बंगला भाषानुवाद (पदार्थयुक्त) किया जो कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है। एम० आर० जम्बुनाथन ने शुक्ल एवं कृष्ण यजुर्वेद का तमिल अनुवाद किया जो १९३८ ई० में प्रकाशित हुआ। वेद प्रतिष्ठान दिल्ली की योजना के अन्तर्गत सत्यकाम-विद्यालंकारकृत अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

सामवेद पर भाष्य-रचना—यजुर्वेद की ही भाँति सामवेद पर भाष्य-लेखन का कार्य भी बहुतायत से हुआ है। सर्वप्रथम पण्डित तुलसीराम स्वामी ने सामवेद पर संस्कृत एवं हिन्दी में उपासनामूलक भाष्य लिखा। पण्डित स्वामी ने इसका लेखन १८९८ ई० में ही आरम्भ कर दिया था और कुछ काल तक यह भाष्य मासिक पुस्तक रूप में छपता रहा। १९५७ वि० में इसे पुस्तकाकार स्वामी प्रेस मेरठ ने छापा। इसका द्वितीय संस्करण १९६४ वि० में छपा। आर्यसमाज-स्थापना-शताब्दी के अवसर पर जब सार्वदेशिक सभा ने चारों वेदों के हिन्दी-भाष्य प्रकाशित करने की योजना बनाई तो सामवेद का तुलसी-राम स्वामीकृत भाषा-भाष्य ही उस योजना के अधीन छपा। दयानन्द संस्थान ने भी इसी भाष्य को अपनी चतुर्वेद भाष्य प्रकाशन योजना में छापा।

सामवेद के अन्य भाष्यकारों में पण्डित वीरेन्द्र शास्त्री, पण्डित हरिश्चन्द्र विद्या-लंकार, पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री, ब्रह्ममुनि परिव्राजक, पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार तथा प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार ने नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० रामनाथ विद्यालंकार द्वारा महर्षि दयानन्द सरस्वती की शैली पर सामवेद का जो भाष्य किया जा रहा है, उसके भी कुछ अंश प्रकाशित हो गये हैं, जो बहुत महत्त्व के हैं। पण्डित जगदीशचन्द्र शास्त्री ने सामवेद पर यशोवर्धनी शीर्षक व्याख्या लिखी थी। सामवेद के मंत्रों की काव्यात्मकता तथा इसमें विद्यमान उपासना-तत्त्व की प्रचुरता के कारण कतिपय कवि-

हृदय विद्वानों ने इसका हिन्दी काव्य में सुन्दर अनुवाद भी किया है। पण्डित विद्यानिधि शास्त्री का सामवेद पद्यानुवाद तथा पण्डित रामनिवास विद्यार्थीकृत सामवेद सहस्रधारा इस वेद के काव्यशैली में किये गये भावानुवाद हैं।

अन्य भाषाओं में सामवेद के अनुवाद—सामवेद के पूर्वार्चिक (आग्नेय पर्व) का संस्कृत व बंगला भाषा में अधियाज्ञिक एवं आध्यात्मिक शैली का भाष्य पण्डित सत्य-चरणदेव शर्मा ने किया था जो १९२१ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इसमें मन्त्र का अन्वय, पद-पाठ तथा व्याकरण-विषयक टिप्पणियाँ भी दी गई थीं। सामवेद के पूर्वा-र्चिक एवं महानाम्नी ऋचाओं का एक अन्य बंगला अनुवाद पण्डित दीनबंधु वेदशास्त्री ने भी किया। मुंशी दयाराम के उर्दू अनुवाद तथा एम०आर० जम्बुनाथनकृत तमिल अनुवाद (१९३५ ई० में प्रकाशित)का उल्लेख भी आवश्यक है। अंग्रेजी में सामवेद के दो अनुवाद क्रमशः लाला देवीचन्द तथा पण्डित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड द्वारा किये गये। इनका प्रका-शनकाल १९६३ ई० तथा १९६७ ई० है। पण्डित सत्यकाम विद्यालंकारकृत अंग्रेजी-अनुवाद भी छप चुका है।

अथर्ववेद पर भाष्य-रचना—प्रतिपाद्य विषयों की विविधता, भाषा की जटिलता तथा रहस्यपूर्ण रचनाशैली के कारण अथर्ववेद पर प्रामाणिक भाष्य-रचना सुकर नहीं है। परन्तु पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने अपने जीवन का प्रमुख लक्ष्य ही अथर्ववेद पर भाष्य-लेखन बनाया। यह अतीव आश्चर्य का प्रसंग है कि उर्दू-फारसी में प्रारम्भिक शिक्षण प्राप्त करनेवाले और जीवन का अधिकांश भाग रेलवे की नौकरी में व्यतीत करनेवाले पण्डित क्षेमकरणदास ने अपने स्वाध्याय के बल पर ही संस्कृत का उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त किया, बड़ौदा में रहकर 'त्रिवेदी' की उपाधि प्राप्त की और अथर्ववेद जैसे जटिल ग्रंथ पर भाष्य लिखने का श्रमसाध्य कार्य पूर्ण सफलता से सम्पन्न किया। त्रिवेदीजी ने अथर्व-वेद पर भाष्य-रचना १९६९ वि० में प्रारम्भ की और उसी वर्ष प्रथम काण्ड का भाष्य ओंकार प्रेस प्रयाग से छपा। अन्तिम २०वें काण्ड का प्रकाशन १९७७ वि० में सम्पन्न हुआ। इसप्रकार अथर्ववेद भाष्य प्रकाशन का यह महत् अनुष्ठान आठ वर्ष की अवधि में पूरा हो सका। पर्याप्त काल तक क्षेमकरणदास त्रिवेदी का अथर्ववेद-भाष्य अनुपलब्ध रहा। अन्ततः डॉ० प्रज्ञादेवी ने सम्पादित कर उसे पुनः प्रकाशित किया। सार्वदेशिक सभा तथा दयानन्द संस्थान ने अपनी वेद भाष्य प्रकाशन योजना में इसे क्रमशः २०३० वि० तथा २०३१ वि० में प्रकाशित किया है।

डी० ए० वी० कालेज, लाहौर में संस्कृत के प्रोफेसर पण्डित राजाराम ने चार खण्डों में अथर्ववेद का एक भाष्य हिन्दी में लिखा। इसका प्रकाशन १९२९ ई० में आरम्भ हुआ था। बिजनौर जिले के नगीना कस्बे के निवासी पण्डित हरिशंकर शर्मा दीक्षित ने अथर्ववेद का आयुर्वेदपरक भाष्य लिखा है। तीन कांड पर्यन्त अथर्व-भाष्य स्वामी ब्रह्ममुनि ने भी लिखा जो २०३१ वि० में प्रकाशित हुआ। गुरुकुल काँगड़ी के भूतपूर्व वेदोपाध्याय पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार ने अथर्ववेद का एक प्रामाणिक एवं विशद भाष्य लिखना आरम्भ किया है। यह कई खण्डों में पूरा होगा। अब तक ११ से २० काण्ड पर्यन्त भाष्य चौधरी प्रतापसिंह ट्रस्ट द्वारा छप चुका है।

अथर्ववेद के अन्य भाषाओं में अनुवाद—पं० दीनबन्धु वेदशास्त्री ने अथर्ववेद के प्रथम काण्ड का बंगलानुवाद किया है। गुजराती में पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

का 'अथर्ववेद नो सुबोध भाष्य' छप चुका है। तमिल अनुवाद भी एम०आर० जम्बुनाथन ने किया था जिसका प्रकाशन १९४० ई० में हुआ। सार्वदेशिक सभा के तत्त्वावधान में पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री ने इस वेद का अंग्रेजी अनुवाद किया जो १९८४ ई० में दो खण्डों में उक्त सभा द्वारा प्रकाशित किया गया। पं० सत्यकाम विद्यालंकारकृत अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

चारों वेदों का भाष्य—जिन आर्य विद्वानों ने वेदों का भाष्य व अनुवाद करने के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उनमें पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार का नाम विशद रूप से उल्लेखनीय है। पण्डित जयदेव जी गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के स्नातक थे और उन्होंने चारों वेदों का भाष्य कर जहाँ आर्यसमाज की अनुपम सेवा की, वहाँ अपनी कुलमाता का नाम भी उज्ज्वल किया। जयदेव जी के रूप में सदियों बाद एक ऐसा विद्वान् उत्पन्न हुआ, जिसने चारों वेदों का गम्भीर अध्ययन कर उनका भाष्य किया, और स्वामी दयानन्द सरस्वती द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण कर वैदिक ज्ञान को प्रकाश में लाने में सफलता प्राप्त की। यह भाष्य आर्यसाहित्य मण्डल अजमेर द्वारा प्रकाशित किया गया था। इस प्रसंग में पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार के वेदभाष्यों का उल्लेख भी आवश्यक है। पण्डित जी ने चारों वेदों पर भाष्य किये हैं। उनका सामवेद-भाष्य प्रकाशित हो चुका है। अन्य वेदों के भाष्य भी पूरे किये जा चुके हैं, यद्यपि वे अभी प्रकाशित नहीं हुए हैं। महामहोपाध्याय पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने चारों वेदों का गम्भीर अध्ययन कर उनके विषय में जो ग्रंथ लिखे, उनका अपना विशेष महत्त्व है। उन्होंने अथर्ववेद का विशद भाष्य किया और अन्य वेदों के बड़े भागों की भी सुविस्तृत व्याख्याएँ कीं।

वैदिक संहिताएँ एवं शाखाएँ—स्वामी दयानन्द ने मूल वेदों से भिन्न शाखाओं को वेदों का व्याख्यान माना है। शाखाओं का प्रवचन भिन्न-भिन्न ऋषियों ने किया था। शाखा-प्रवचन के द्वारा यत्र-तत्र संहिताओं के मूल पाठ में स्वल्प परिवर्तन कर उसे अधिक बोधप्रद बनाने का प्रयत्न किया जाता रहा है। कई शाखाओं में कहीं-कहीं वेद-मन्त्रों की प्रतीकें धरकर उनकी व्याख्या की गई है, तो अन्य शाखाओं में मंत्रभाग के साथ ब्राह्मण-भाग का मिश्रण भी मिलता है। आर्यसमाज के विद्वानों ने शाखाओं पर बहुत कम कार्य किया है। अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा का पता कुछ वर्ष पूर्व ही लगा। डॉ० रघुवीर ने उसका सम्पादित संस्करण १९३६ ई० में प्रकाशित किया था। डॉ० रघुवीर द्वारा सम्पादित पैप्पलाद संहिता को आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट ने पुनः प्रकाशित किया है। इसी आथर्वण पैप्पलाद संहिता के कुछ मन्त्रों का संकलन पण्डित रामदत्त शुक्ल और वासुदेव-शरण अग्रवाल ने हिन्दी तथा अंग्रेजी अनुवाद के साथ १९९४ वि० में आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त के पण्डित घासीराम प्रकाशन विभाग से प्रकाशित किया था।

यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता के मूल पाठ का सम्पादित संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया गया है। तैत्तिरीय संहिता में ब्राह्मणभाग का मिश्रण अधिक मात्रा में है। यजुर्वेद की कतिपय शाखाओं के सम्पादन का कार्य पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने अत्यन्त तत्परता के साथ किया है। उनके द्वारा सम्पादित कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी तथा काठक एवं शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेयी तथा काण्व शाखाओं का प्रकाशन एक उल्लेखनीय कार्य था। यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता की सूक्तियों

का एक संग्रह पण्डित विद्यानिधि शास्त्री ने किया था जो गुरुकुल पत्रिका (माघ २०२० के अंक तथा उससे आगे के अंकों में) में धारावाही प्रकाशित हुआ।

वैदिक अनुक्रमणिकायें—विभिन्न प्रकार की अनुक्रमणिकायें अध्ययन, शोध तथा संदर्भों को ढूंढने में सहायक होती हैं। अनुक्रमणिकाओं को विभिन्न दृष्टियों से तैयार किया जाता रहा है, यथा—वेदमन्त्रों की अनुक्रमणियाँ, वैदिक पदों की अनुक्रमणियाँ, देवतानुक्रमणिकायें आदि। वैदिक यंत्रालय ने चारों वेदों की मूल संहिताओं के प्रकाशन के साथ-साथ उनके मन्त्रों की वर्णानुक्रम से सूचियाँ भी प्रकाशित कीं। चारों वेदों के मन्त्रों की ये वर्णानुक्रम-सूचियाँ १६०१ ई० में प्रकाशित हुई थीं। चारों वेदों में प्रयुक्त पदों की अकारादि क्रम से अनुक्रमणिकायें तैयार कराने का एक महत्त्वपूर्ण उद्योग आर्यसमाज के प्रसिद्ध संन्यासी-युगल स्वामी नित्यानन्द एवं स्वामी विश्वेश्वरानन्द ने किया था। बड़ौदा-नरेश सर सयाजीराव गायकवाड़ की सहायता से चारों वेदों का यह पदानुक्रम-कोश चार भागों में निर्णयसागर प्रेस बम्बई में मुद्रित होकर १६०८ ई० में प्रकाशित हुआ। अथर्ववेद का भाष्य समाप्त करने के अनन्तर पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने अथर्ववेद-संहिता के पदों का वर्णानुक्रम-सूचीपत्र तैयार किया जो नारायण यन्त्रालय, प्रयाग से १६७८ वि० में प्रकाशित हुआ। उधर डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर के शोधविभाग के तत्त्वावधान में पण्डित रामगोपाल शास्त्री तथा पण्डित भगवद्दत्त ने अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका का सम्पादन किया जो १६७६ वि० में प्रकाशित हुई। वेंकटमाधवकृत ऋग्वेदानुक्रमणी का सम्पादन डॉ० विजयपाल ने किया है। इसे रामलाल कपूर ट्रस्ट ने २०३६ वि० में प्रकाशित किया। आचार्य अर्जुनदेव वर्णी ने चतुर्वेदमन्त्रानुक्रम-सूची तैयार की है। इसमें चारों वेदों में आये समस्त मन्त्रों को अकारादि क्रम से रखकर उनके समक्ष ग्रन्थों के वे पते दे दिये गये हैं जहाँ से मन्त्र उद्धृत किये गये हैं। उदाहरणार्थ, यदि कोई मन्त्र एकाधिक वेद-संहिताओं में आया है तो उन संहिताओं के पते तो दिये ही हैं, साथ ही यदि यही मन्त्र किसी ब्राह्मण, शाखा, उपनिषद्, आरण्यक, निरुक्त, यहाँ तक कि स्वामी दयानन्द के किसी ग्रन्थ में भी उद्धृत हुआ है तो उस ग्रन्थ में उसकी स्थिति का निर्देश पता देकर किया गया है। इस उपयोगी सूची का प्रकाशन आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली ने १६४० वि० में किया है। इसी ट्रस्ट द्वारा ब्राह्मण मंत्र विनियोग सूची भी प्रकाशित हुई है जिसमें ब्राह्मण-ग्रन्थों में व्याख्यात वेदमन्त्रों की अकारादि क्रम से सूची तथा उन मन्त्रों का विनियोग ब्राह्मण-ग्रन्थों में किस विषय में और किस जगह है, इसका दिग्दर्शन कराया गया है।

वैदिक कोश—डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर के शोधविभाग में कार्य करनेवाले पं० हंसराज ने ब्राह्मणवाक्यों का एक कोश बनाया, जो पण्डित भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित होकर 'वैदिक कोश' नाम से १६८२ वि० में प्रकाशित हुआ था।

(३) ब्राह्मण-ग्रन्थ

वैदिक साहित्य में मन्त्रसंहिताओं के पश्चात् ही ब्राह्मण-ग्रन्थों का स्थान है। इनकी रचना विभिन्न ऋषियों द्वारा वेदार्थ का तात्त्विक विवेचन करने, मन्त्रों में निहित गूढ़ार्थ को स्पष्ट करने, वेदाधारित यज्ञ-यागों के रहस्यपूर्ण अभिप्राय को स्पष्ट करने तथा मन्त्रों में यत्र-तत्र पाई जानेवाली आलंकारिक शैली को व्याख्यात करने की दृष्टि से की गई थी। स्वामी दयानन्द ऐतरेयादि ब्राह्मण-ग्रन्थों को मन्त्रसंहिताओं से भिन्न एवं ऋषि-

प्रोक्त होने के कारण परतःप्रमाण मानते हैं, किन्तु वेदार्थ का निर्णय करने में उनकी उपयोगिता को निर्विवाद रूप से स्वीकार भी करते हैं।

आर्यसमाज में ब्राह्मण-ग्रन्थों पर लेखन एवं शोध का कार्य प्रारम्भिक अवस्था का ही माना जाएगा क्योंकि बहुत कम विद्वानों ने इन ग्रन्थों पर परिश्रम किया है। वैदिक यन्त्रालय से माध्यन्दिनीय शतपथ का मूल पाठ १९५९ वि० में प्रकाशित हुआ था, किन्तु शतपथ अथवा अन्य किसी ब्राह्मण पर भाष्य, टीका आदि लिखने का कार्य बहुत बाद में प्रारम्भ हुआ। उल्लेखनीय है कि आर्य विद्वानों ने ऐतरेय, शतपथ तथा गोपथ ब्राह्मणों पर ही कुछ कार्य किया है, जो इस प्रकार है—

ऐतरेय ब्राह्मण—ऋग्वेदीय ऐतरेय ब्राह्मण का सरल हिन्दी में भाषानुवाद पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने किया, जिसे हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ने २००६ वि० में प्रकाशित किया था। उपाध्याय जी का यह अनुवाद मात्र शब्दानुवाद ही है, अतः इससे ब्राह्मण-ग्रन्थ के मूल प्रतिपाद्य को समझने में अधिक सहायता नहीं मिलती। परन्तु इसका इतना महत्त्व तो स्वीकार करना ही होगा कि किसी भी भारतीय भाषा में किया जाने-वाला ऐतरेय ब्राह्मण का यह प्रथम अविकल अनुवाद है। पण्डित वीरेन्द्रमुनि शास्त्री ने भी ऐतरेय ब्राह्मण का सरल आर्यभाषानुवाद किया है जो विश्ववेदपरिषद् लखनऊ से २०४० वि० में छपा। सम्प्रति वे शतपथ ब्राह्मण का ऐसा ही भाषानुवाद कर रहे हैं।

शतपथ ब्राह्मण—यजुर्वेद के मन्त्रों तथा उनमें निहित यज्ञप्रक्रिया का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने की दृष्टि से शतपथ ब्राह्मण का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। शतपथ-ब्राह्मण द्वारा यजुर्वेद के मन्त्रार्थ को स्पष्ट किया जाना स्वामी दयानन्द को भी अभीष्ट रहा था। अतः उन्होंने अपने यजुर्वेदभाष्य में यत्र-तत्र शतपथ में की गई मन्त्र-व्याख्याओं का संकेत एवं निर्देश दिया है। शतपथ के तात्त्विक अध्ययन का प्रारम्भ पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार ने किया। उन्होंने शतपथ ब्राह्मण पर गम्भीरता से चिन्तन कर उसका एक विस्तृत भाष्य लिखना आरम्भ किया। दुर्भाग्य से वह पूर्ण नहीं हो सका। इसका एक भाग आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब ने प्रकाशित किया था। पुनः दयानन्द-संस्थान ने प्रथम काण्ड पर्यन्त इस भाष्य को १९७३ ई० में प्रकाशित किया। शतपथ ब्राह्मण के प्रतिपाद्य की विवेचना करते हुए पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार ने 'शतपथ में एक पथ' शीर्षक ग्रन्थ लिखा था जिसे गुरुकुल काँगड़ी ने १९८६ वि० में प्रकाशित किया। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने शतपथ ब्राह्मण का धारावाही अनुवाद हिन्दी में किया था, जिसे उनके निधन के उपरान्त उनके सुपुत्र डॉक्टर सत्यप्रकाश ने अपनी विस्तृत भूमिकासहित १९६९ ई० में तीन खण्डों में प्रकाशित किया है। तमिल विद्वान् एम० आर० जम्बुनाथन ने तमिल भाषा में 'शतपथ ब्राह्मण की कथायें' शीर्षक पुस्तक लिखी है। श्री वेदपाल वर्णी ने शतपथ ब्राह्मण में प्रयुक्त कतिपय सुभाषितों का संग्रह कर उनकी रोचक व्याख्या लिखी। इसका प्रकाशन २०३९ वि० में हुआ। प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार ने शतपथ ब्राह्मण के अग्नि-चयन (काण्ड ६–१०) प्रकरण की समीक्षा लिखी है। यह २०४२ वि० में प्रकाशित हुई।

अथर्ववेदीय गोपथ ब्राह्मण—अथर्ववेद के भाष्यकार पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने अथर्ववेद-भाष्यलेखन का कार्य समाप्त कर गोपथ ब्राह्मण पर अपनी लेखनी चलाई। उनका गोपथ ब्राह्मणभाष्य नारायण यन्त्रालय, प्रयाग से मुद्रित होकर १९२४ ई० में प्रकाशित हुआ था। वर्षों से यह अप्राप्य था। अतः पाणिनि कन्या महाविद्यालय,

वाराणसी की आचार्या डॉक्टर प्रज्ञाकुमारी तथा उनकी अनुजा सुश्री मेधाकुमारी ने इसका सम्पादन कर २०३४ वि० में इसे पुनः प्रकाशित किया। गोपथ ब्राह्मण का एक सम्पादित संस्करण डॉक्टर विजयपाल विद्यावारिधि ने तैयार किया है। विस्तृत आलोचनात्मक उपोद्घातसहित यह ग्रन्थ सावित्री देवी बागड़िया ट्रस्ट, कलकत्ता द्वारा २०३७ वि० में प्रकाशित हुआ।

ब्राह्मण वाङ्मय-विषयक इतर साहित्य—डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर के शोध-विभाग के तत्त्वावधान में प्रोफेसर रामदेव द्वारा सम्पादित जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण का प्रकाशन १९२७ ई० में हुआ था। यह उक्त ब्राह्मण का मूल पाठ मात्र था। डॉक्टर केशवदेव शास्त्री ने गुरुकुल काँगड़ी की साहित्य-परिषद् में अपना एक निवन्ध 'ब्राह्मणालोचनम्' शीर्षक पढ़ा था। कालान्तर में यही शोधनिबन्ध नवजीवन कार्यालय, बनारस ने ग्रन्थाकार प्रकाशित किया। आरण्यकों पर किसी विशिष्ट कार्य की सूचना नहीं मिलती। दयानन्द शोध पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय से डॉ० बी०डी० धवन ने ऐतरेय एवं तैत्तिरीय आरण्यकों में प्रतीकवाद एवं रहस्यवाद पर शोधकार्य सम्पन्न किया है।

(४) उपवेद

स्वामी दयानन्द के अनुसार आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अर्थवेद को चारों वेदों के उपवेदों की संज्ञा प्राप्त है। इनका सम्बन्ध क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा अथर्ववेद से माना जाता है। यहाँ इन उपवेदों पर रचित आर्यसामाजिक साहित्य का संक्षिप्त उल्लेख किया जाएगा।

आयुर्वेद—आयुर्वेद मनुष्य को शारीरिक, मानसिक और आत्मिक दृष्टि से नीरोग, स्वस्थ तथा सबल रखने की प्राचीन आर्ष-पद्धति है। आयुर्वेद के प्रचार एवं प्रसार में आर्यसमाज का सक्रिय योगदान रहा है। आर्यसमाज के गुरुकुलों में आयुर्वेद विषय का सुव्यवस्थित प्रशिक्षण कराने की सुविधा आरम्भकाल से ही रही है तथा गुरुकुलों से संलग्न रसायनशालाओं (pharmacy) में शास्त्रोक्त विधियों से आयुर्वेदिक औषधियों का निर्माण भी किया जाता रहा है। गुरुकुल काँगड़ी से आयुर्वेद की स्नातक उपाधिप्राप्त आयुर्वेदालंकारों ने चिकित्सा-व्यवसाय में पर्याप्त ख्याति अर्जित की है। आर्यसमाजी लेखकों का आयुर्वेदशास्त्र-विषयक लेखनकार्य स्वल्प होने पर भी महत्त्वपूर्ण है।

सर्वप्रथम इटावा-निवासी पण्डित भीमसेन शर्मा ने आयुर्वेद-शब्दार्णव का प्रकाशन किया था। पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने चरकसंहिता का हिन्दी अनुवाद किया जो आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर से छपा। गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक पण्डित अत्रिदेव गुप्त विद्यालंकार ने चरक एवं सुश्रुत संहिताओं का अनुवाद किया। इन्होंने आयुर्वेद का इतिहास भी लिखा है। पण्डित सूरमचन्द वैद्यवाचस्पति का आयुर्वेद का इतिहास एक शोधपूर्ण कृति है। गुरुकुल झज्जर के भूतपूर्व आयुर्वेद-विभागाध्यक्ष पण्डित सत्यदेव वासिष्ठ ने संस्कृत में 'नाड़ी तत्त्वदर्शन' नामक एक महाग्रन्थ लिखा है जो अपने विषय का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। स्वामी ओमानन्द सरस्वती ने विभिन्न जड़ी-बूटियों की आयुर्वेदिक उपयोगिता का प्रतिपादन करते हुए अनेक लघु ग्रन्थ लिखे हैं। इन्हें हरयाणा साहित्य संस्थान द्वारा प्रकाशित किया गया है।

धनुर्वेद—यजुर्वेद का उपवेद धनुर्वेद माना गया है। पण्डित भगवद्दत ने धनुर्वेद

का इतिहास लिखा है। पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार लिखित धनुर्वेद का इतिहास स्टार प्रेस, प्रयाग से १९७४ वि० में प्रकाशित हुआ था। पण्डित राजाराम ने 'औशनस धनुर्वेद संकलन' का सम्पादन किया जो आर्षग्रन्थावली, लाहौर से १९८० वि० में प्रकाशित हुआ। गुरुकुल वृन्दावन के एक स्नातक पं० महेन्द्रकुमार वेदशिरोमणि ने पौरस्त्य धनुर्वेद शीर्षक से एक उपयोगी ग्रन्थ लिखा था जो १९८८ वि० में उक्त गुरुकुल से ही प्रकाशित हुआ। गुरुकुल झज्जर के स्नातक डॉक्टर देवव्रत ने धनुर्वेद पर शोधकार्य पूरा कर लालबहादुर शास्त्री संस्कृत विद्यापीठ दिल्ली से पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है।

प्राचीन काल में विमान विद्या पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये थे। स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में नौ-विमानादि विद्या-विषयक एक स्वतन्त्र प्रकरण लिखकर वेदों में वैमानिक विद्या का मूल सिद्ध किया है। महर्षि भारद्वाज प्रणीत यन्त्रसर्वस्व नामक ग्रन्थ के वैमानिक प्रकरण का अनुवाद, मूल ग्रन्थ पर लिखी गई बोधायनवृत्तिसहित प्रियरत्न आर्ष ने विमानशास्त्र शीर्षक से किया जो १९४३ ई० में प्रकाशित हुआ। आर्षजी (स्वामी ब्रह्ममुनि) ने ही वृहद्विमानशास्त्र का सम्पादन किया। यह ग्रंथ उन्हें हस्तलेख के रूप में उपलब्ध हुआ था। इसे सार्वदेशिक सभा ने १९५९ ई० में प्रकाशित किया था।

अर्थवेद—अर्थशास्त्र एवं राजनीति से सम्बन्धित ग्रन्थों की गणना अर्थवेद के अन्तर्गत की जा सकती है। प्राचीनकाल में राजनीति, शासन-व्यवस्था तथा अर्थशास्त्र से सम्बन्धित सैकड़ों ग्रन्थ पुरातन ऋषियों द्वारा लिखे गये थे, जो आज हमें उपलब्ध नहीं होते। आचार्य बृहस्पतिरचित राजधर्म सूत्र १९१६ ई० में यूरोप की किसी पत्रिका में रोमन लिपि में छपे थे। १९२० ई० में गुरुकुल काँगड़ी की मासिक पत्रिका वैदिक मैगजीन में ये प्रकाशित किये गये। इन्हें नागरी लिपि में प्रकाशित करने का श्रेय पण्डित भगवद्दत्त को है जिन्होंने इन बार्हस्पत्य सूत्रों की विद्वत्तापूर्ण भूमिका भी लिखी थी। ६ अध्यायों में विभक्त इन राजसूत्रों की कुल संख्या ४३० है। पण्डित शिवदयालु ने इनमें से २२७ सूत्रों को छाँटकर उनका हिन्दी तथा अंग्रेजी में अनुवाद किया। यह सर्वप्रथम आर्यमित्र के २४ जनवरी १९५९ के विशेषांक रूप में छपा। कालान्तर में इसे 'बृहस्पतिराजधर्मसूत्रम्' शीर्षक से दयानन्द संस्थान ने २०३० वि० में प्रकाशित किया।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र की गणना भारतीय राजनीति के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थों में होती है। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के यशस्वी स्नातक डॉक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार ने कौटिलीय अर्थशास्त्र सदृश दुरूह ग्रन्थ का सर्वप्रथम हिन्दी अनुवाद किया। उनके पश्चात् पण्डित उदयवीर शास्त्री ने उसका अनुवाद जयचन्द्रिका टीकासहित किया था जो मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर द्वारा १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ। गुरुकुल महाविद्यालय, ज्वालापुर के स्नातक पण्डित रामावतार विद्याभास्कर ने 'चाणक्य सूत्राणि' शीर्षक से चाणक्यरचित राजनीति-सूत्रों की विशद व्याख्या लिखी है। पण्डित रामदत्त शुक्ल ने भी चाणक्य-सूत्रों का अनुवाद किया था। कौटिलीय अर्थशास्त्र का एक अन्य अनुवाद पं० गंगाप्रसाद शास्त्री ने किया जो महाभारत कार्यालय, दिल्ली से १९९७ वि० में प्रकाशित हुआ। गान्धर्ववेद पर किसी उल्लेखनीय कार्य की जानकारी नहीं मिलती।

(५) वेदाङ्ग साहित्य

वेदों के अध्ययन को सुकर बनाने की दृष्टि से वेद के ६ अंगों का अनुशीलन आवश्यक माना गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि की वह उक्ति प्रसिद्ध है, जिसमें कहा

गया है कि वेद के अभ्यासी ब्राह्मण के लिए षडंगोंसहित वेद का अध्ययन और ज्ञान आवश्यक है—ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडंगो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष की गणना वेद के ६ अंगों में की जाती है। यहाँ हम वेदाङ्ग-विषयक आर्यसामाजिक साहित्य का अनुशीलन प्रस्तुत करते हैं—

शिक्षा—वेदमन्त्रों के यथायोग्य उच्चारण का शिक्षण देनेवाले शास्त्र को शिक्षा कहा जाता है। प्राचीन काल में पाणिनि, वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, कात्यायन, पराशर आदि ऋषियों ने विभिन्न शिक्षाग्रन्थों की रचना की थी। इनमें सर्वाधिक लोकप्रिय एवं प्रचलित श्लोकात्मक पाणिनि-शिक्षा है। किन्तु स्वामी दयानन्द श्लोकबद्ध पाणिनीय-शिक्षा को महर्षि पाणिनिप्रणीत नहीं मानते। वास्तव में पाणिनि ने सूत्रात्मक शिक्षाग्रन्थ लिखा था जो वर्षों तक अनुपलब्ध रहा। तत्पश्चात् स्वामी दयानन्द ने ही परिश्रमपूर्वक पाणिनीय शिक्षा के इस सूत्रात्मक ग्रन्थ को खोज निकाला और वेदाङ्गप्रकाश के प्रथम भाग में 'वर्णोच्चारण शिक्षा' के अन्तर्गत प्रकाशित किया। डॉक्टर मनोमोहन घोष नामक एक विद्वान् ने स्वामी दयानन्द द्वारा अनूदित और सम्पादित सूत्रात्मक पाणिनीय शिक्षा के सम्बन्ध में शंका उपस्थित करते हुए सन्देह व्यक्त किया था कि सम्भवतः ये सूत्र महा-भाष्य तथा चन्द्रगोमिन् के वर्णसूत्रों से संगृहीत किये गये हैं। डॉक्टर सुधीरकुमार गुप्त ने अपने शोधनिबन्ध—Authorship of the Phonetic Sutras edited by Dayanand (अ० भा० प्राच्य विद्या-परिषद् के १६वें अधिवेशन में प्रस्तुत) में डॉक्टर घोष की उपर्युक्त धारणा का खण्डन करते हुए स्वामी दयानन्द द्वारा सम्पादित पाणिनीय शिक्षासूत्रों को प्रामाणिक सिद्ध किया है। डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर के शोधविभाग ने पण्डित रामगोपाल शास्त्री द्वारा सम्पादित अथर्ववेदीय दन्त्योष्ठ्यविधि का प्रकाशन १९२१ ई० में किया था। यह अथर्ववेद का शिक्षाग्रन्थ है। उपर्युक्त शोध-विभाग से ही पं० भगवद्दत्त ने अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा का सम्पादित संस्करण प्रकाशित कराया।

सामवेद से सम्बन्धित नारदीय शिक्षा का पाठ पण्डित तुलसीराम स्वामी ने १९६३ विक्रमी में प्रकाशित किया। १४१ श्लोकों में समाप्त यह ग्रन्थ सामगान में प्रयुक्त स्वरों का विवेचन प्रस्तुत करता है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने आपिशलि, पाणिनि तथा चन्द्रगोमि विरचित शिक्षासूत्रों का एक सम्पादित संस्करण २००५ वि० में प्रकाशित किया। इसका द्वितीय संस्करण २०२४ वि० में छपा। इसकी भूमिका में विद्वान् सम्पादक ने उपर्युक्त शिक्षाग्रन्थों का आलोचनात्मक परिचय दिया है तथा पाणिनिकृत सूत्रात्मक शिक्षाग्रन्थ के स्वामी दयानन्द द्वारा ढूंढ निकाले जाने का महत्त्व भी दर्शाया है। पाणिनि शिक्षा की एक व्याख्या पण्डित इन्द्रदेव ने लिखी है। स्वामी ब्रह्ममुनि ने यजुर्वेद से सम्बन्धित याज्ञवल्क्यशिक्षा पर हिन्दी भाष्य लिखा जो २०२४ वि० में प्रतापसिंह ट्रस्ट करनाल द्वारा प्रकाशित हुआ। याज्ञवल्क्य के नाम से प्रसिद्ध यह शिक्षा भी श्लोकात्मक ही है जो गुरुकुल शाही (पीलीभीत) से १९८० ई० में प्रकाशित हुई।

स्वरविद्या-विषयक ग्रन्थ—वेदों के ज्ञान के लिए स्वरशास्त्र का अध्ययन आवश्यक माना गया है। उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद से स्वर तीन प्रकार के होते हैं। इनसे वेदों के उच्चारण तथा अर्थविचार में उल्लेखनीय सहायता मिलती है। महा-भाष्यकार पतञ्जलि के अनुसार किंचित् स्वर-भेद से ही अर्थ का अनर्थ हो जाता है। स्वरशास्त्र-विषयक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने लिखा था जो

१९५७ ई० में रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हुआ। इसमें स्वर से सम्बन्धित सभी विषयों की समग्र विवेचना की गई है। इसी ग्रन्थ का एक अंश 'वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कन प्रकार' शीर्षक से २०२१ वि० में छपा। इसमें वैदिक ग्रन्थों में उदात्तादि स्वरों के जितने प्रकार के विविध चिह्न व्यवहृत होते हैं, उनकी व्याख्या तथा संहिता-पाठ से पद-पाठ बनाने और उनमें होनेवाले स्वर-विपर्यय के नियम भी दिये गये हैं। 'सामवेद स्वराङ्कन प्रकार' उनकी एक अन्य पुस्तक है जिसमें सामवेद के पदपाठ के स्वरों का निर्देश किया गया है। स्वर-विषयक एक अन्य ग्रन्थ पण्डित सोमदेव शास्त्री ने 'वैदिक और लौकिक संस्कृत में स्वर सिद्धान्त' शीर्षक लिखा है जिसे आर्यसमाज सान्ता-क्रूज बम्बई ने १९८३ ई० में प्रकाशित किया।

व्याकरण-विषयक साहित्य—व्याकरण की गणना प्रमुख वेदाङ्ग के रूप में होती है। इसे वेद का मुख कहा गया है। व्याकरण-ज्ञान के अभाव में वैदिक ज्ञान असम्भव-सा ही है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने संस्कृत-व्याकरण का प्रौढ़ ज्ञान अद्वितीय वैयाकरण स्वामी विरजानन्द सरस्वती के सान्निध्य में रहकर प्राप्त किया था। उन्हीं से स्वामी दयानन्द ने व्याकरण शास्त्र में पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा पातञ्जल महाभाष्य जैसे ऋषिकृत ग्रन्थों की प्रामाणिकता तथा भट्टोजि दीक्षित प्रणीत सिद्धान्त-कौमुदी आदि के अनार्ष होने के कारण उनसे पार्थक्य तथा उनके गुणावगुणों का विचार ग्रहण किया था। तदुपरान्त स्वामी दयानन्द अपने अवशिष्ट जीवन में अष्टाध्यायी और महाभाष्य का ही प्रचार करते रहे तथा उनकी उपयोगिता को भी समय-समय पर घोषित करते रहे। स्वामीजी ने स्वयं अष्टाध्यायी की एक टीका लिखी थी, जिसका उल्लेख हम पूर्व अध्याय में कर चुके हैं। स्वामी दयानन्द के परवर्ती आर्यसमाजी विद्वानों ने संस्कृत-व्याकरण से सम्बन्धित शतशः ग्रन्थों की रचना की है जो व्याकरणशास्त्र के पठन-पाठन की दृष्टि से नितान्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। यहाँ व्याकरण-विषयक उस साहित्य का परिचय दिया जाना अभीष्ट है जो आर्यसमाज के विद्वानों द्वारा लिखा गया है।

अष्टाध्यायी-सूत्रपाठ—पाणिनि के मूल सूत्र 'शब्दानुशासन' के नाम से विख्यात हैं। आठ अध्यायों में विभक्त होने के कारण इस ग्रन्थ को अष्टाध्यायी भी कहा जाता है। पाणिनीय सूत्रों की समग्र संख्या ३९६३ है। अष्टाध्यायी के मूल सूत्रों को अनेक विद्वानों द्वारा सम्पादित कर प्रकाशित किया गया है। स्वामी दयानन्द के निधन के स्वल्प-काल पश्चात् (१९४१ वि० ज्येष्ठ कृष्णा ६ को) ही वैदिक यन्त्रालय ने 'अष्टकं पाणिनीयम्' शीर्षक से इसे प्रकाशित किया था। तत्पश्चात् पण्डित भीमसेन शर्मा, पण्डित जीवाराम उपाध्याय, पण्डित शंकरदेव पाठक तथा पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने इन्हें सम्पादित कर प्रकाशित किया। पण्डित शंकरदेव पाठक के संस्करण में वार्तिक, गणपाठ तथा अनुवृत्ति-निर्देश समन्वित सूत्रपाठ प्रकाशित किया गया था। रामलाल कपूर ट्रस्ट ने पाणिनीय सूत्रों के विविध पाठभेद तथा सूत्र-सूचीसहित एक संस्करण प्रकाशित किया है।

अष्टाध्यायी भाष्य—स्वामी दयानन्द के शिष्यद्वय पण्डित ज्वालादत्त शर्मा तथा पण्डित भीमसेन शर्मा ने सर्वप्रथम अष्टाध्यायी पर भाष्यलेखन का कार्य किया। पण्डित ज्वालादत्तकृत भाष्य (प्रथमाध्याय पर्यन्त) १९८५ वि० में 'विद्यामार्त्तण्ड' मासिक पत्र में प्रकाशित हुआ। इसका मुद्रण दयानन्द प्रेस, प्रयाग में हुआ था। पण्डित भीमसेन शर्मा ने अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति संस्कृत तथा हिन्दी में लिखी। इसका क्रम इस प्रकार था—

मूलसूत्र, पदच्छेद, विभक्ति, पदार्थ, समास और अनुवृत्ति। पुनः सरल संस्कृत वृत्ति, सूत्र का अन्वितार्थ, उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वार्तिक, परिभाषा और शंका-समाधान। पण्डित जीवाराम उपाध्याय, पण्डित शंकरदेव पाठक तथा स्वामी अमृतानन्द सरस्वती-लिखित भाष्यों का भी विवरण उपलब्ध होता है। गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य पण्डित गंगादत्त शास्त्री ने अष्टाध्यायी पर 'तत्त्वप्रकाशिका' वृत्ति लिखी जो १९६२ वि० में प्रकाशित हुई। पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासुकृत अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति तीन भागों में प्रकाशित हुई है। तृतीय भाग पण्डित जिज्ञासुजी के निधन के उपरान्त उनकी शिष्या डाक्टर प्रज्ञा कुमारी द्वारा लिखा गया है। इस महत्त्वपूर्ण वृत्ति को रामलाल कपूर ट्रस्ट ने प्रकाशित किया है। जिज्ञासुजी ने इस ग्रन्थ को पाँच अध्याय पर्यन्त ही लिखा था। प्रथम और द्वितीय भाग १९६४ तथा १९६५ में तथा तृतीय भाग १९७८ ई० में छपा।

अष्टाध्यायी की व्याख्या में कुछ अन्य ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। प्रथमाध्याय की व्याख्या पण्डित देवदत्त शर्मा शास्त्री नामक स्वामी दयानन्द के एक समकालीन विद्वान् ने लिखी थी, जो १९४३ वि० में प्रकाशित हुई। लाहौर के पण्डित गोपालदास देवगण शर्माकृत एक अन्य व्याख्या भी उपलब्ध हुई है। पण्डित अखिलानन्द शर्मा के पाणिनीय सूत्रार्थप्रकाश में सूत्रों का सुगमार्थ प्रकाशित किया गया है। पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार की पाणिनीयप्रवेशिका (१९३७ ई०) तथा डॉ० देवप्रकाश पातंजलकृत अष्टाध्यायी-प्रकाशिका व्याकरण में प्रवेश कराने में सहायक ग्रन्थ हैं। पण्डित जयदत्त शास्त्री उप्रेती ने पाणिनीय सूत्रों को विषयानुसार वर्गीकृत किया है। यह पाणिनीयाष्टक विषयसूची गोपेश्वर (जिला चमोली) से प्रकाशित हुई है। पण्डित बलदेव नैष्ठिककृत अष्टाध्यायी-प्रवेश संस्कृत व्याकरण का सुगम रीति से परिज्ञान कराने में उपयोगी ग्रन्थ है।

पतंजलिकृत महाभाष्य—महर्षि पतंजलि के महाभाष्य की गणना व्याकरण के शीर्ष ग्रन्थों में होती है। जिस युग में इस महाग्रन्थ का मुद्रण व प्रकाशन सामान्य साधन-सम्पन्न व्यक्तियों तथा संस्थाओं के लिए सर्वथा दुष्कर था, उस समय पण्डित कृपाराम शर्मा (चतुर्थाश्रम में स्वामी दर्शनानन्द के नाम से प्रसिद्ध) ने स्व-स्थापित तिमिरनाशक प्रेस, काशी से इसे प्रकाशित किया। वे इस ग्रन्थ को दरिद्र तथा साधनहीन छात्रों को विना मूल्य अथवा स्वल्प मूल्य में दे देते थे। गुरुकुल काँगड़ी ने महाभाष्य के पस्पशाह्निक तथा अङ्गाधिकार को प्रकाशित किया। महाभाष्य को विमर्श एवं उद्योत नामक टीकाओं तथा विमर्श शीर्षक टिप्पणीसहित सम्पादित करने का श्रेय पण्डित वेदव्रत शास्त्री को है। हरयाणा साहित्य संस्थान से महाभाष्य का यह महत्त्वपूर्ण संस्करण १९६२–६३ ई० में छपा। व्याकरणशास्त्र के अद्वितीय विद्वान् पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने महाभाष्य पर एक विस्तृत हिन्दी भाष्य लिखना आरम्भ किया था। इसके ३ भाग २०२९–२०३१ वि० की अवधि में प्रकाशित हो चुके हैं। पण्डित भीमसेन शर्मा ने कात्यायनकृत वार्त्तिक-सूत्रपाठ का सम्पादन व प्रकाशन १९६२ वि० में किया था। महाभाष्य की आचार्य भर्तृहरिविरचित टीका की एकमात्र पाण्डुलिपि जर्मनी में है। वहाँ से पंजाब विश्व-विद्यालय लाहौर द्वारा उसकी फोटोप्रति प्राप्त की गई। उसकी प्रतिलिपि पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने उपलब्ध की तथा उसका सम्पादन किया। यह ग्रन्थ काशी की सुप्रभातम् पत्रिका (१९३५ ई०) में ४ फार्म पर्यन्त छपा, किन्तु समग्र ग्रन्थ अमुद्रित अवस्था में ही पड़ा रह गया।

व्याकरण-विषयक अन्य ग्रन्थ—अष्टाध्यायी तथा महाभाष्य के अतिरिक्त व्याकरण के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों पर भी आर्यसमाज के विद्वानों ने पर्याप्त श्रम किया है। इन ग्रन्थों के सम्पादन, टीका-लेखन एवं प्रकाशन-विषयक कार्यों का विवरण यहाँ उपस्थित किया जा रहा है। पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द का पूर्वाश्रम का नाम) ने काशिका ग्रन्थ का मुद्रण व प्रकाशन १८९० ई० में स्वस्थापित तिमिरनाशक यन्त्रालय काशी से किया तथा छात्रों को स्वल्प मूल्य पर इसे सुलभ कराया। स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा ने गणरत्नमहोदधि (वर्धमानरचित वृत्तिसहित) का सम्पादन किया था। उनके द्वारा वार्तिक-सूत्रपाठ तथा धातुपाठ का भी सम्पादन किया गया। पण्डित चारुदेव शास्त्री ने भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड को उन्हीं द्वारा रचित स्वोपज्ञ टीका तथा वृषभदेवविरचित व्याख्यासहित सम्पादित किया। तदनन्तर उन्होंने इसके द्वितीय काण्ड के आधे भाग पर भी स्वोपज्ञ टीका तथा पुण्यराज-कृत टीका का एक सुन्दर संस्करण प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ के अवशिष्ट द्वितीय एवं तृतीय काण्ड की सम्पादित प्रेसकापी देशविभाजन के समय में लाहौर में नष्ट हो गई।

संस्कृत व्याकरण पर पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक का कार्य सारस्वतजगत् में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाएगा। उनके द्वारा सम्पादित व्याकरणग्रन्थों में दशपादी-उणादिवृत्ति, क्षीरतरंगिणी, दैवम् पुरूषकार वार्तिकोपेतम्, काशकृत्स्नकृत धातुव्याख्यानम् (चन्नवीरकृत कन्नड़ टीका के अनुवादसहित), भागवृत्तिसंकलनम् आदि उल्लेखनीय हैं। उन्होंने आचार्य काशकृत्स्नकृत व्याकरणसूत्रों का भी सम्पादन किया है। यह ग्रन्थ समग्र रूप में नहीं मिलता। उपलब्ध सूत्रों को ही मीमांसक जी ने संगृहीत कर सम्पादित किया है।

सुश्री वेदवती व्याकरणोपाध्याया ने वामनीय लिंगानुशासन (३० कारिकाओं में समाप्त) का सम्पादन किया है। इसे भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान अजमेर ने २०२१ वि० में प्रकाशित किया था। स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने डी० ए० वी० कालेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय तथा राजकीय संस्कृत पुस्तकालय, बड़ौदा में प्राप्त हस्तलेखों को देखकर अव्ययार्थनिबन्धनम् शीर्षक व्याकरणग्रन्थ का सम्पादन किया। डाक्टर सुदर्शनदेव शास्त्री ने 'व्याकरण-कारिका-प्रकाश' लिखकर महाभाष्य और काशिका में आई कारिकाओं की सारगर्भित व्याख्या सरल संस्कृत में लिखी है। बम्बई के सुप्रसिद्ध पित्ती परिवार के सेठ स्व० गोविन्दलाल बंसीलाल ने पण्डित रुद्रमित्र शास्त्री के सहयोग से वैदिक व्याकरणभास्कर ग्रन्थ लिखा जो अपने विषय की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। उन्होंने लिट् और लुङ् लकारों की रूपबोधक सरल विधि भी लिखी है। व्याकरण-शिक्षण की दृष्टि से पण्डित धर्मदेव वेदवाचस्पति लिखित सरलधातुरूपावली तथा सरलशब्दरूपा-वली और पण्डित युधिष्ठिर मीमांसककृत शब्दरूपावली का उल्लेख भी आवश्यक है।

व्याकरणशास्त्र-विषयक विवेचनात्मक ग्रन्थ—व्याकरण के प्राचीन एवं अर्वा-चीन ग्रन्थों की टीका तथा व्याख्या-लेखन से भिन्न इस शास्त्रविषयक शोध, आलोचना तथा विवेचनापरक ग्रन्थों का निर्माण भी कम महत्त्व का नहीं है। इस संदर्भ में पण्डित युधिष्ठिर मीमांसकरचित तीन खण्डों में समाप्त संस्कृत व्याकरणशास्त्र के इतिहास का उल्लेख आवश्यक है। यह अपने विषय का एकमात्र ग्रन्थ है जिसमें आरम्भ से लेकर २०वीं शताब्दी पर्यन्त के वैयाकरणों तथा उनकी रचनाओं का क्रमबद्ध इतिवृत्त

प्रस्तुत किया गया है। वस्तुतः यह संस्कृत व्याकरण-वाङ्मय की क्रमबद्ध ऐतिहासिक विवेचना प्रस्तुत करनेवाला ग्रन्थ है जो विभिन्न विश्वविद्यालयों के संस्कृत पाठ्यक्रमों में स्वीकार किया गया है। इसे उत्तरप्रदेश सरकार ने १९५२ ई० में पुरस्कृत किया था। मीमांसक जी ने 'आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृत वाङ्मय' शीर्षक जो शोध-निबन्ध लिखा था, उसका भी प्रकाशन हो चुका है। डा. कपिलदेव शास्त्री का पी-एच.डी. के लिए लिखा गया शोधप्रबन्ध "संस्कृत व्याकरण में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि" २०१८ वि० में प्रकाशित हुआ है। आर्यसमाज के विद्वानों ने मुनिद्वय (पाणिनि और पतंजलि) लिखित अष्टाध्यायी एवं महाभाष्य के महत्त्व का प्रतिपादन करने के साथ-साथ सिद्धान्तकौमुदी जैसे नवीन अनार्ष व्याकरण-ग्रन्थों का खण्डन भी किया। इन प्रक्रिया-ग्रन्थों की युक्तियुक्त समालोचना करने में आर्य विद्वान् सदा सन्नद्ध रहे हैं। पण्डित राजेन्द्रनाथ शास्त्री ने "सिद्धांतकौमुदी की अन्त्येष्टि" शीर्षक ग्रन्थ लिखा जो १९९४ वि० में प्रकाशित हुआ। गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के स्नातक पण्डित विश्वनाथ शास्त्री ने म० म० पण्डित शिवदत्त दाधिमथ द्वारा सम्पादित सिद्धान्तकौमुदी का खण्डन करते हुए एक ग्रन्थ लिखा है।

व्याकरण-विषयक शोधकार्य—डा० देवप्रकाश पातंजल ने ऋग्वेद के कुछ अंश (मण्डल १, सूक्त १३७–१६२ तक) का व्याकरणशास्त्रीय अध्ययन किया है। इसपर उन्हें पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त हुई थी।

दयानन्द शोध पीठ, पंजाब विश्वविद्यालय के एक शोध-छात्र श्री राजकुमार "स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज का संस्कृत व्याकरण शास्त्र को योगदान" विषय पर शोधकार्य कर रहे हैं।

निरुक्त—वेदार्थज्ञान में निरुक्त शास्त्र की उपयोगिता को स्वामी दयानन्द ने सर्वोपरि महत्त्व दिया था। वर्तमान में महर्षि यास्करचित जो निरुक्त ग्रन्थ उपलब्ध होता है उसमें उद्धृत औपमन्यव, शाकपूणि, औदुम्बरायण आदि प्राचीन निरुक्ताचार्यों के मतों को भी उद्धृत किया गया है, जिससे विदित होता है कि यास्क से पूर्व के काल में अनेक आचार्यों ने निरुक्त-शास्त्र-विषयक ग्रन्थों की रचना की थी। यास्क ने निघण्टु के रूप में वैदिक शब्दों का संग्रह किया है। इसी निघण्टु की व्याख्या निरुक्त में की गई है। स्वामी दयानन्द ने यास्कीय निघण्टु का प्रकाशन अपनी वेदाङ्गप्रकाश ग्रन्थमाला के अन्तर्गत किया था। निघण्टु शास्त्र पर किये गये अन्य ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—अग्निचित श्री भास्करराय दीक्षितकृत श्लोकबद्ध वैदिक निघण्टु का एक संस्करण पण्डित तुलसीराम स्वामी ने सम्पादित कर १८९८ ई० में प्रकाशित किया। इसी ग्रन्थ को मूल पाठ तथा समस्त पदों की अकारादि क्रम-सूचीसहित पण्डित रामदत्त शुक्ल ने सम्पादित कर १९९४ वि० में पुनः प्रकाशित किया। पण्डित राजाराम ने कौत्सव्य निघण्टु तथा अथर्ववेद के निघण्टु का सम्पादन कर आर्य ग्रन्थावली, लाहौर से प्रकाशित किया। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने आचार्य वररुचिलिखित निरुक्तसमुच्चय के हस्तलेख को प्राप्त कर उसका सुचारु रूप से सम्पादन किया। चार कल्पों में समाप्त हुए इस ग्रन्थ में १०२ मंत्र व्याख्यात हुए हैं। इसका प्रथम संस्करण विरजानन्दाश्रम शाहदरा, लाहौर से १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ था। द्वितीय परिवर्धित संस्करण २०२२ वि० में अजमेर से छपा। गार्ग्य नीलकण्ठ विरचित निरुक्त श्लोकवार्तिक का सम्पादन डॉ० विजयपाल ने

किया। विस्तृत आलोचनात्मक भूमिकासहित इस ग्रन्थ का प्रकाशन रामलाल कपूर ट्रस्ट ने २०३६ वि० में किया है। निरुक्त श्लोक-वार्तिक यास्कीय निरुक्त की आचार्य स्कन्द-स्वामी लिखित व्याख्या को आधार बनाकर लिखा गया है।

निरुक्त व्याख्या ग्रन्थ—आर्यसमाज में मूल निरुक्त का प्रकाशन प्रथम बार वैदिक यंत्रालय ने किया था। यह संस्करण १९५० वि० में छपा। अबतक इसकी अनेक आवृत्तियाँ निकल चुकी हैं। आर्यसमाज के विद्वानों ने समय-समय पर निरुक्त ग्रन्थ पर विभिन्न भाष्यों का प्रणयन किया हैं। पण्डित अखिलानन्द शर्मा तथा पण्डित राजाराम के वैदिक भाष्य बहुत पहले प्रकाशित हुए थे। पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार का 'वेदार्थ-दीपक' शीर्षक निरुक्तभाष्य दो खण्डों में १९८१-८२ वि० में प्रकाशित हुआ। यह निरुक्त की सुबोध व्याख्या प्रस्तुत करता है। पर्याप्त समय तक अनुपलब्ध रहने के पश्चात् हरयाणा साहित्य संस्थान ने २०३३ वि० में इसका दूसरा संस्करण निकाला। पण्डित भगवद्दत्त ने निरुक्त की आधिदैविक प्रक्रियामूलक व्याख्या लिखी है। इसमें उन्होंने पश्चिमी विद्वानों तथा काशीनाथ राजवाड़े तथा सिद्धेश्वर वर्मा आदि भारतीय भाषा-शास्त्रियों द्वारा निरुक्त पर किये गये आक्षेपों का प्रमाण-पुरस्सर निराकरण किया है। स्वामी ब्रह्ममुनि ने निरुक्त-सम्मर्श शीर्षक निरुक्त का विस्तृत संस्कृत-भाष्य लिखा है। इसमें इस शास्त्र की विशद गम्भीर विवेचना की गई है। आचार्य विश्वेश्वर ने निरुक्त के नैघण्टुक तथा नैगम काण्ड की विस्तृत एवं सुबोध हिन्दी व्याख्या लिखी, जो ज्ञानमण्डल, काशी से २०२२ वि० में प्रकाशित हुई। व्याख्याकार के असमय में दिवंगत हो जाने के कारण 'निरुक्त दीपिका' नामक यह सुगम व्याख्या अधूरी ही रह गई।

निरुक्त-विषयक आलोचनात्मक साहित्य—निरुक्त-प्रतिपादित निर्वचन-प्रणाली तथा तत्सम्बन्धी समस्याओं पर आर्यसमाज के विद्वानों ने कतिपय शोधनिबन्ध लिखे हैं। इनसे निरुक्त के प्रतिपाद्य तथा तद्विषयक आनुषंगिक विषयों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। शान्तस्वामी अनुभवानन्दरचित "निरुक्त का मूल वेद में" एक ऐसा ही निबन्ध था, जिसमें निरुक्त-प्रक्रिया के मूल तत्त्वों का वेदों में अस्तित्व सिद्ध किया गया था। अखिल भारतीय आर्यविद्वत्परिषद् के प्रथम अधिवेशन में पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने 'वेद और निरुक्त' तथा 'निरुक्तकार और वेद में इतिहास' शीर्षक अपने शोधनिबन्ध पढ़े थे, जो बाद में पुस्तकाकार भी छपे। आचार्य विश्वश्रवा ने 'वेद और निरुक्त' तथा 'निरुक्त को समझने में प्राचीन आचार्यों की भूल' शीर्षक निबन्ध लिखे हैं। गुरुकुल काँगड़ी के साहित्य-परिषद् के अधिवेशन में ब्रह्मचारी जयचन्द्र (बाद में पण्डित जयचन्द्र विद्यालंकार के नाम से प्रसिद्ध इतिहास के विद्वान्) ने "यास्कीया सिद्धान्ता आर्यमतानुकूला न वा" शीर्षक अपना शोधनिबन्ध प्रस्तुत किया था। बंगाल के सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी ने निरुक्तालोचन नामक अपना प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा था। उन्हीं के शिष्य पण्डित नरदेव शास्त्री ने इसके प्रारम्भिक भाग का हिन्दी अनुवाद किया जो परोपकारी मासिक के (वैशाख, ज्येष्ठ तथा श्रावण १९६५ वि०) अंकों में प्रकाशित हुआ।

कल्प-सूत्र—कल्प साहित्य के अन्तर्गत श्रौत, गृह्य तथा धर्मसूत्रों की गणना होती है। श्रौत सूत्रों में सोमयाग, अश्वमेध, वाजपेय, राजसूय आदि श्रौत यज्ञों की विधियाँ उल्लिखित हैं। गृह्यसूत्रों में उन कर्मकाण्ड-विधियों का उल्लेख मिलता है जो गृहस्थियों द्वारा संस्कारों के रूप में सम्पादित की जाती हैं। गृहस्थोपयोगी सभी कृत्यों

का विधि-विधान गृह्यसूत्रों का वर्ण्य विषय है। धर्मसूत्रों में वर्णाश्रम-विधान तथा अन्यान्य सामाजिक संस्थाओं का विवेचन हुआ है। आर्यसमाज की यद्यपि याज्ञिक कर्म-काण्ड में महती आस्था है, किन्तु कल्प-साहित्य पर किया गया उसका कार्य मात्रा तथा गुणवत्ता की दृष्टि से सामान्य कोटि का ही है। इसका एक कारण तो सम्भवतः यही रहा है कि आज के भौतिक मूल्यप्रधान युग में 'अदृष्ट' उत्पन्न करनेवाले श्रौत यज्ञ-यागों के प्रति आस्तिक समुदाय में भी श्रद्धा का भाव नगण्य-सा ही है। द्वितीयतः, जहाँ तक गृह्यसूत्रों का सम्बन्ध है, आर्यसमाज के प्रवर्त्तक ने संस्कारविधि का प्रणयन कर अपने अनुयायियों के लिए विशेषतः, और अन्य हिन्दुओं के लिए सामान्यतः, गृह्यकर्मों को सम्पन्न कराने की एक सरल एवं व्यावहारिक पद्धति बना दी है। अतः आर्यसमाज के कर्मकाण्डवेत्ता भी संस्कारविधि के आगे जाकर उसके उपजीव्य गृह्यसूत्रों का ऊहापोह करने की आवश्यकता नहीं समझते।

तथापि आर्यसमाज के कुछ विद्वानों द्वारा कल्प-साहित्य पर किया गया कार्य उल्लेख योग्य अवश्य है। इस प्रसंग में सर्वप्रथम पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द) का नाम स्मरणीय है जिन्होंने कात्यायन श्रौतसूत्र (यजुर्वेदीय कर्मकाण्ड-विधायक ग्रन्थ) को मूल रूप में काशी से प्रकाशित किया। इधर डा० विजयपाल ने बौधायन श्रौतसूत्र के दर्शपूर्णमास प्रकरण का सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ में उन्होंने भवस्वामी तथा सायण के भाष्य को उद्धृत करते हुए इस प्रकरण की विवेचना की है। रामलाल कपूर ट्रस्ट ने इसे २०३९ वि० में प्रकाशित किया है।

श्रौत सूत्रों की अपेक्षा गृह्यसूत्रों पर कुछ अधिक काम हो सका है। इसका प्रमुख कारण गृह्य कर्मों की सरलता तथा उनकी व्यावहारिक उपयोगिता ही है। स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा ने मानव तथा आपस्तम्ब गृह्यसूत्रों का भाषानुवाद किया था जो उनके वेदप्रकाश यंत्रालय इटावा द्वारा १९६१ वि० में प्रकाशित हुआ। उन्होंने आपस्तम्बीय यज्ञपरिभाषासूत्र का भी संस्कृत तथा हिन्दी में भाष्य लिखा जो उनके द्वारा सम्पादित आर्यसिद्धान्त मासिक के मई १८९८ ई० के अंक से प्रारम्भ होकर सितम्बर १८९८ तक के अंकों में धारावाही छपता रहा। १९०८ ई० में यह ब्रह्मप्रेस इटावा से ग्रन्थाकार छपा, किन्तु तब तक पण्डित भीमसेन शर्मा आर्यसमाज का परित्याग कर चुके थे। पारस्कर गृह्यसूत्र को पण्डित कृपाराम शर्मा ने मूल रूप में काशी से प्रकाशित किया। तदनन्तर श्री शुकदेव वर्मा, पण्डित छुट्टनलाल स्वामी तथा लाहौर के पण्डित राजाराम ने उसपर हिन्दी टीकाएँ लिखीं। कात्यायन गृह्यसूत्र का मूलमात्र रामलाल कपूर ट्रस्ट ने प्रकाशित किया है। पारस्कर-गृह्यसूत्र के उपनयन-सूत्रों (द्वितीय काण्ड, कण्डिका ३—७) की एक व्याख्या डा० सुधीरकुमार गुप्त ने लिखी है जो उनके ग्रन्थ वेदलावण्यम् (भाग १) के अन्तर्गत छपी। धर्मसूत्रों पर किसी उल्लेखनीय कार्य की सूचना नहीं मिलती। पण्डित राजाराम ने वसिष्ठ-धर्मसूत्र की एक व्याख्या अवश्य लिखी थी जिसे आर्ष ग्रन्थावली लाहौर ने प्रकाशित किया। डी०ए०वी० कालेज लाहौर के शोधविभाग से काठक गृह्यसूत्र का एक सम्पादित संस्करण प्रकाशित हुआ था।

शुल्वसूत्र—यज्ञवेदियों के निर्माण तथा यज्ञ-कुण्डों के परिमाण आदि का परिज्ञान कराने के लिए पुराकालीन ऋषियों ने शुल्वसूत्रों की रचना की थी। आपस्तम्ब शुल्वसूत्र का अनुवाद डॉक्टर (स्वामी) सत्यप्रकाश ने किया है। इस संस्करण में मूल-

ग्रन्थ का कपर्दि भाष्य तथा अरविंद एवं सुन्दरराज की व्याख्यायें भी सम्मिलित की गई हैं। डॉक्टर सत्यप्रकाश ने बौधायन शुल्वसूत्र का एक सुन्दर सम्पादित संस्करण प्रकाशित किया है जिसमें इस ग्रन्थ पर द्वारकानाथ यज्वाकृत 'शुल्वदीपिका' व्याख्या तथा डॉक्टर जी० थीबो का अंग्रेजी अनुवाद सम्मिलित है। उन्होंने डॉक्टर उषा ज्योतिष्मती के सहयोग से बौधायन, आपस्तम्ब, कात्यायन तथा मानव शुल्वसूत्रों का मूल पाठ सम्पादित कर प्रकाशित किया है। यह ग्रन्थ रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान, प्रयाग ने १९७९ ई० में प्रकाशित किया है।

ज्योतिष—ज्योतिष को वेद का नेत्रस्थानीय कहा गया है। विविध ऋतुओं में विविध प्रकार के यज्ञों का अनुष्ठान वेदज्ञों के लिए ज्योतिष-ज्ञान की आवश्यकता सूचित करता है। आर्यसमाज में ज्योतिष-विषयक साहित्य प्रायः नहीं के बराबर है। स्वामी दयानन्द ने पाठ्यग्रन्थों का उल्लेख करते समय सूर्यसिद्धान्त आदि ज्योतिष के आर्ष ग्रन्थों को परिगणित किया है। सूर्यसिद्धान्त का एक संस्करण स्वामी प्रेस, मेरठ से छपा था। पण्डित भगवद्दत्त ने 'आथर्वण ज्योतिष' नामक ग्रन्थ लिखा। ज्योतिष-विषयक कुछ स्फुट ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। पण्डित गंगाप्रसाद (जज) लिखित ज्योतिषचन्द्रिका अपने समय में बड़ी लोकप्रिय रही। इसका प्रथम बार प्रकाशन १८८९ ई० में संयुक्त प्रान्तीय आर्यप्रतिनिधि सभा द्वारा हुआ था। आचार्य विश्वेश्वर ने ज्योतिष के ही एक अंग खगोलविद्या पर संस्कृत में 'खगोलप्रकाश' नामक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा है। स्वामी ब्रह्ममुनि ने वैदिक ज्योतिषशास्त्र लिखकर वेदोक्त ज्योतिष की प्रामाणिक मीमांसा की है। कुछ वर्ष पूर्व पण्डित वेदव्रत मीमांसक ने विधिवत् ज्योतिष शास्त्र का अध्ययन किया और ज्यौतिषविवेक शीर्षक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखा। इसमें ज्योतिष के गणितीय सिद्धान्तों की समुचित विवेचना तो है ही, फलित ज्योतिष से सम्बन्धित मन्तव्यों का सप्रमाण एवं सतर्क खण्डन भी किया गया है। डॉक्टर धर्मदेव मेहता ने ज्योतिष से सम्बन्धित नक्षत्रविद्या (ASTRONOMY) का मूल वेद में सिद्ध करते हुए—The Base of Astronomy in the Vedas शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा था। इसे दिल्ली की Academy of Vedic Research ने प्रकाशित किया।

छन्द-ग्रन्थ—वैदिक छन्दःशास्त्र पर बहुत कम साहित्य लिखा गया है। इस विषय पर प्रथम बार लेखनी चलानेवाले पण्डित अखिलानन्द शर्मा थे जिन्होंने आचार्य पिंगलकृत छन्दःसूत्रम् का वैदिक भाष्य लिखा। इसे स्वामी प्रेस, मेरठ ने १९६५ वि० में प्रकाशित किया था। पण्डित मेधाव्रत ने पिंगल के छन्दःशास्त्र पर व्रतिमंगला टीका लिखी है। पण्डित वीरेन्द्र शास्त्री ने वेदाङ्ग छन्दःपरिचय लिखकर छन्दःशास्त्र का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है। किन्तु पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक लिखित वैदिकछन्दोमीमांसा इस विषय का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। विद्वान् लेखक ने वैदिक छन्दों से सम्बन्धित प्रचुर सामग्री को एक ही स्थान पर संगृहीत कर दिया है। वैदिक छन्दों के भेद-प्रभेद दिखाकर उनके वैदिक उदाहरण भी परिश्रमपूर्वक एकत्रित कर दिये गये हैं।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वेदार्थ में सहायक छः अंगों की व्याख्या-विवेचना में आर्यसमाज के विद्वानों ने जिस साहित्य का प्रणयन किया है, वह पर्याप्त सन्तोषजनक चाहे न हो, किन्तु वह सर्वथा नगण्य भी नहीं है।

(६) वेद-विषयक व्याख्या-ग्रन्थ

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द के सिद्धान्त एवं मन्तव्य, उनकी आस्थाएँ एवं धारणाएँ पूर्णतया वैदिक चिन्तन पर आधारित थीं। वेद के पठन-पाठन को धार्मिक दृष्टि से तो उन्होंने अनिवार्य ठहराया ही, अपितु यहाँ तक कह दिया कि मानव-जीवन के समक्ष प्रस्तुत सभी प्रश्नों एवं समस्याओं का समुचित समाधान वैदिक विचार-धारा में ही निहित है। स्वामीजी के निधन के पश्चात् वैदिक अध्ययन को अधिकाधिक व्यापक एवं प्रभावी बनाने के लिए आर्यसमाज के सरस्वतीपुत्रों ने जो प्रयास किये हैं उनका किंचित् विवरण हम पूर्व भी दे चुके हैं तथा यहाँ भी देने का प्रयास कर रहे हैं। वेदों का महत्त्व केवल आर्य जाति, भारतीयों अथवा पुरातन वैदिक संस्कृति में आस्था रखनेवालों के लिए ही नहीं, अपितु उन सभी के लिए है जो मानव-जाति के वैयक्तिक तथा सामूहिक हित एवं कल्याण की बात सोचते हैं। चाहे भारतीय तथा पश्चिमी विद्वानों की वेद-विषयक निष्ठाओं में कितना ही अन्तर क्यों न रहा हो, यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि इन प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन पौरस्त्य एवं पाश्चात्य विपश्चित् समुदाय ने हार्दिक लगन एवं तत्परता से किया है।

वेदों का सर्वोपरि महत्त्व स्वीकार करनेवाले तथा आर्य जीवन-मीमांसा को वेदाधारित मानने के कारण आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने वेदमन्त्रों की सुगम, सरल तथा सुबोध व्याख्या करने का सफल प्रयत्न किया। फलतः ऐसे ग्रन्थ प्रचुर संख्या में लिखे गये जो विभिन्न वैदिक सूक्तों तथा वेदांशों के अर्थों का स्पष्टीकरण करने तथा वेद-मन्त्रों में निहित विचारों एवं शिक्षाओं को प्रांजल भाषा तथा शैली में प्रस्तुत करने में सफल रहे हैं। आगे की पंक्तियों में हम पृथक्-पृथक् संहिताओं के क्रम से ऐसे ही वेद-व्याख्या-ग्रन्थों तथा उनके लेखकों का नामोल्लेख करेंगे।

ऋग्वेद-व्याख्या-ग्रन्थ—वेदसंहिताओं में आकार तथा प्रतिपाद्य की गुरुता की दृष्टि से ऋग्वेद का प्रथम स्थान है। दस मण्डलों में विभक्त तथा दस हजार से अधिक मन्त्रों के समूहवाले इस ग्रन्थ को भारतीय परम्परा यदि अपौरुषेय—ईश्वरीय ज्ञान की प्रथम अभिव्यक्ति के रूप में सम्मानित करती है तो पश्चिमी विद्वान् भी उसे मानवी मस्तिष्क की सर्वाधिक प्राचीन मनीषा के सहज उद्रेक के रूप में समादृत करते हैं। ऋग्वेद के अनेक सूक्त नितान्त रहस्यपूर्ण, गूढ़ तथा जटिल हैं। तथापि आर्य विद्वानों ने इनकी सुगम एवं सुव्यवस्थित व्याख्या करने के प्रयास किये हैं। दशम मण्डलान्तर्गत यमयमी सूक्त सर्वाधिक विवादपूर्ण माना जाता है। स्वामी दयानन्द ने नियोग प्रथा की विवेचना के प्रसंग में इस सूक्त के एक मन्त्रांश—"अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिम्" को इस प्रथा के समर्थन में प्रमाणरूपेण उद्धृत किया है। पण्डित भीमसेन शर्मा ने इस सूक्त की संस्कृत एवं हिन्दी भाषा में व्याख्या लिखी थी जो १८९५ ई० में सरस्वती यन्त्रालय, प्रयाग से प्रकाशित हुई। स्वामी दयानन्द के ही समकालीन तथा उनसे दीक्षाप्राप्त पण्डित भूमित्र शर्मा ने यमयमीसूक्तालोचनम् शीर्षक एक अन्य विवेचना लिखी है। इस सूक्त के अन्य व्याख्याकारों में पण्डित प्रियरत्न आर्ष, पण्डित चमूपति तथा पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार के नाम आते हैं।

पण्डित प्रियरत्न आर्ष ने मित्र वरुण की शिक्षा (ऋग्वेद मन्त्र ७, सूक्त ६१-६२)

तथा वैदिक सूर्य विज्ञान शीर्षक ग्रन्थों में ऋग्वेद के तीन सूक्तों का व्याख्या लिखी है। स्वाध्याय में उपयोगी ऋग्वेदीय मन्त्रों का एक संग्रह सर्वप्रथम स्वामी अच्युतानन्द ने किया। उनका ऋग्वेदशतकम् अत्यन्त लोकप्रिय सिद्ध हुआ तथा उसके कई संस्करण निकले। इसी प्रकार के अन्य संकलन भी समय-समय पर प्रकाशित हुए हैं। जगत्कुमार शास्त्री की ऋग्वेदमञ्जरी और जगदीश विद्यार्थी सम्पादित ऋग्वेदशतक स्वामी दयानन्द-कृत ऋग्वेदभाष्य पर आधारित हैं। वेदों के मौलिक अर्थों की विवेचना में लब्धख्याति पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार ने मरुत्सूक्त तथा सप्तसिंधुसूक्त की नवीन ऊहायुक्त व्याख्यायें लिखीं। ऋग्वेदान्तर्गत स्वराज्यसूक्त की एक प्रभावशाली व्याख्या स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने लिखी थी जो उनके ग्रन्थ वैदिक स्वदेशभक्ति के अन्तर्गत प्रकाशित हुई। विक्रमादित्य 'वसन्त' ने इसी सूक्त को "स्वराज्य की अर्चना" शीर्षक देकर व्याख्यात किया है। पण्डित जगत्कुमार शास्त्री ने मातृमन्दिर (१०—१५६)जीवन प्रभात (७—१४) तथा श्रद्धामाता (१०—१५१) शीर्षकों के अन्तर्गत ऋग्वेद के कतिपय सूक्तों का व्याख्यान किया। दशम मण्डलान्तर्गत प्रसिद्ध अक्षसूक्त की तीन व्याख्यायें क्रमशः आचार्य विश्वश्रवा, जगदीश विद्यार्थी तथा भवानीलाल भारतीय द्वारा प्रस्तुत की गई हैं। ऋग्वेद का प्रथम अग्निसूक्त पण्डित सातवलेकर द्वारा व्याख्यात होकर १९२७ वि० में प्रकाशित हुआ तो अन्तिम संज्ञानसूक्त की व्याख्या गोविन्दराम हासानन्द ने १९३७ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित की। ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध इन्द्रसूक्त की भावपूर्ण व्याख्या पण्डित जगत्कुमार शास्त्री ने 'ईश्वरदर्शन' शीर्षक से की है।

हिन्दी से इतर भारतीय भाषाओं में भी ऋग्वेद के अनेक अंशों के अनुवाद आर्य विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। श्री प्रियव्रत दास ने उड़िया में ऋग्वेदसौरभ शीर्षक से कुछ मन्त्रों के अर्थों का संकलन किया है। केशवार्य शास्त्री ने तेलुगु में ऋग्वेदभावार्थमुलु नामक एक ग्रन्थ लिखा।

यजुर्वेद-व्याख्या-ग्रन्थ—आकार में लघु होने तथा कर्मकाण्ड में उपयोगी होने के कारण यजुर्वेद के विभिन्न अंशों तथा अध्यायों की स्वतन्त्र व्याख्यारूप में लिखे गये ग्रन्थों की संख्या पर्याप्त है। सर्वाधिक व्याख्याएँ ३१वें अध्याय की लिखी गई हैं जिसमें पुरुष (परमात्मा) द्वारा सृष्टिरचना करने का उल्लेख मिलता है। पुरुषसूक्त के व्याख्याकारों में पण्डित ज्वालादत्त शर्मा, पण्डित गंगाप्रसाद जज, पण्डित आत्माराम अमृतसरी, श्री चाँदकरण शारदा, डॉक्टर मुंशीराम शर्मा 'सोम' आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉक्टर सूर्यदेव शर्मा, श्री कृष्णलाल कुसुमाकर तथा पण्डित ओंकार मिश्र 'प्रणव' ने इस सूक्त के सुन्दर हिन्दी पद्यानुवाद भी प्रस्तुत किये हैं। यजुर्वेद के रुद्राध्याय(१६वें अध्याय) पर पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी की टीका प्रसिद्ध है। श्री रणवीर ने इस अध्याय का भक्तिप्रवण शैली में 'रुद्रस्तोत्र' शीर्षक व्याख्यान लिखा है। इस वेद का १८वाँ अध्याय भी रुद्रदेवताक है। इसकी व्याख्या पण्डित ब्रह्मानन्द त्रिपाठी ने लिखी है। स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने यजुर्वेद के "युञ्जते मन उत युञ्जतो धियः" आदि मन्त्रों की व्याख्या यजुर्वेदीय-योगोपनिषद् शीर्षक से लिखी है। इसी वेद के २३वें अध्याय का व्याख्यान उन्होंने 'ब्रह्मोद्योपनिषद्' शीर्षक से किया है। स्वामी आत्मानन्द सरस्वती ने यजुर्वेद के 'शिव-संकल्प' मन्त्रषट्क का मनोविज्ञान पर आधारित विस्तृत भाष्य "मनोविज्ञान तथा शिवसंकल्प" शीर्षक से लिखा जो सर्वप्रथम गुरुकुल पोठोहार (जिला रावलपिंडी) से

२००० वि० में प्रकाशित हुआ था। कालान्तर में इसके दो अन्य संस्करण भी निकले। शिवसंकल्प-मन्त्रों की एक अन्य व्याख्या पण्डित सुरेशचन्द्र वेदालंकार ने "मन की अपार शक्ति" शीर्षक से लिखी है। स्वामी ब्रह्ममुनि ने यजुर्वेद के ३४वें अध्याय के ६ठे मन्त्र 'सविता प्रथमऽहनि' की व्याख्या 'वेद के एक संदिग्ध प्रकरण का विवेचन' शीर्षक से की है। यह ग्रन्थ १९६३ ई० में छपा था। यजुर्वेद के मन्त्र 'त्रयम्बकं यजामहे सुगंधि पुष्टिवर्धनम्" को महामृत्युञ्जयमन्त्र की संज्ञा से अभिहित किया गया है। मन्त्र के अर्थ-गौरव तथा उसके जपानुष्ठान से प्राप्त लाभों की विवेचना करते हुए आचार्य कृष्ण ने 'मृत्युञ्जय सर्वस्व' ग्रन्थ लिखा है। स्वामी वेदमुनि परिव्राजक ने भी इस मंत्र की व्याख्या लिखी है।

यजुर्वेद का ४०वाँ अध्याय अध्यात्म-भावापन्न होने के कारण वेद के स्वाध्याय-प्रेमी व्यक्तियों में अधिक सम्मानित रहा है। इसी अध्याय को किंचित् परिवर्तन के साथ ईशावास्योपनिषद् के रूप में उपनिषद्-वाङ्मय में शीर्षस्थान दिया गया है। आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने ४०वें अध्याय को अपनी व्याख्या का विषय बनाया है। इनमें स्वामी वेदानन्द तीर्थ, वेदमुनि परिव्राजक, नारायणदत्त सिद्धान्तालंकार, श्रीराम आर्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पण्डित वीरेन्द्र शास्त्री ने इस अध्याय का अंग्रेजी अनुवाद हिन्दी पद्यार्थसहित प्रकाशित किया। शारदा देवी ने 'वेद कविता' शीर्षक से इस अध्याय का काव्यानुवाद किया है। कतिपय विद्वानों ने यजुर्वेद के एकाधिक अध्यायों को एक ही ग्रन्थ में व्याख्यात किया है। पण्डित शिवदयालु की 'उपनिषद्त्रयी' में यजुर्वेद के ३१-३२ तथा ३६वें अध्याय की व्याख्या की गई है, यद्यपि वेद के व्याख्यान को 'उपनिषद्' नाम देने से पाठक को भ्रान्ति अवश्य होती है। डॉक्टर प्रज्ञा देवी ने 'मन्त्रमालिका' में इसी वेद के ३१, ३२, ३६ तथा ४०वें अध्यायों का संक्षिप्त भावार्थ प्रस्तुत किया है। स्वामी अच्युतानन्द के यजुर्वेदशतक ने अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त की थी। पण्डित जगत्कुमार शास्त्री सम्पादित यजुर्वेदमञ्जरी तथा जगदीश विद्यार्थी सम्पादित यजुर्वेदशतक भी स्वाध्यायशील पाठकों द्वारा अपनाये गये।

हिन्दी से भिन्न भारतीय भाषाओं में भी यजुर्वेद के कई मन्त्र-संग्रह अर्थसहित प्रकाशित हुए हैं। इनमें उड़िया में प्रियव्रत दास का 'यजुर्वेद सौरभ' तथा गुजराती में श्रीकान्त भगतजी का 'यजुर्वेदशतक' उल्लेखनीय हैं।

सामवेद-व्याख्या-ग्रन्थ—सामवेद उपासनापरक मन्त्रों का संग्रह है। पण्डित चमूपति ने सोम सरोवर (पवमान पर्व) तथा जीवनज्योति (आग्नेय पर्व) लिखकर साम-वेद के साम तथा अग्निदेवताक मन्त्रों की भावपूर्ण व्याख्यायें लिखी थीं। इन व्याख्याओं में भक्तितत्त्व की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने भी उपासना-तत्त्व को मुख्यता देते हुए 'सामवेद उपासना' तथा 'प्रभु के चरणों में' शीर्षक ग्रन्थ लिखे। अन्य व्याख्याओं में अच्युतानन्द सरस्वती का सामवेदशतक तथा ब्रह्ममुनि परिव्राजककृत सामसुधा उल्लेख योग्य हैं। पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने सामसंगीतसुधा तथा विद्यानिधि शास्त्री ने सामवेद (पद्यानुवाद) लिखकर सामवेद के मन्त्रों को पद्य-शैली में निबद्ध किया है। श्री विक्रमादित्य 'वसन्त' ने सामवेद की महा-नाम्नी ऋचाओं की व्याख्या 'परमधाम के पथिक' शीर्षक से लिखी है। पण्डित जगत्-कुमार शास्त्री की सामवेदमञ्जरी तथा जगदीश विद्यार्थी सम्पादित सामवेदशतक

तुलसीराम स्वामी के सामवेद-भाष्य पर आधारित हैं।

अन्य वेदों के संग्रहों की ही भाँति श्री प्रियव्रत दास ने सामवेद-सौरभ का प्रणयन कर उत्कल प्रान्तवासियों के लिए इस वेद के मन्त्रों को स्वाध्यायार्थ सुलभ बनाया है।

अथर्ववेद-व्याख्या-ग्रन्थ—विषय-वैविध्य, शैली-वैविध्य तथा अनेक रहस्यों से आच्छन्न किन्तु उपयोगी सामग्री से भरपूर अथर्ववेद वेदार्थ-रसिकों को सदा से आकृष्ट करता रहा है। अथर्ववेद में आध्यात्मिक विषयों की विवेचना के साथ-साथ व्यक्ति, परिवार, समाज तथा राष्ट्र के अभ्युत्थान में सहायक प्रसंगों की भी उद्भावना पदे-पदे उपलब्ध होती है। इस वेद के १२वें काण्ड का प्रथम सूक्त पृथिवीसूक्त के नाम से विख्यात है। ६३ मन्त्रों के इस सूक्त में धरती माता की महिमा का काव्यपूर्ण उदात्त शैली में वर्णन मिलता है। इस प्रसिद्ध सूक्त की नानाविध व्याख्यायें प्रस्तुत कर आर्यसमाज के विद्वानों ने वेद के राष्ट्रवाद को ही स्फुट नहीं किया है, अपितु वेद-प्रतिपादित स्वदेशभक्ति से भाव को भी उजागर किया है। जब पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने देश की पराधीनता के युग में अथर्ववेदीय पृथिवीसूक्त की प्रसन्न गम्भीर व्याख्या लिखकर राष्ट्रवाद का पांचजन्य फूंका था, तो विदेशी सरकार ने उनपर अभियोग चलाकर इस वेदमनीषी को दण्डित करने में कोई कोर-कसर नहीं उठा रक्खी थी। पृथिवीसूक्त के मन्त्रों में निहित भावों की उदात्तता तथा गरिमा का अनुमान इसी एक बात से लगाया जा सकता है। यही कारण है कि आर्यसमाज के एकाधिक विद्वानों ने इस सूक्त को 'वेद के राष्ट्रगीत' के नाम से अभिहित किया है।

पृथिवीसूक्त के व्याख्याकारों में स्वामी वेदानन्द तीर्थ, पं० प्रियव्रत वेदवाचस्पति, पण्डित सुरेशचन्द्र वेदालंकार, पण्डित शिवदयालु, पण्डित जगत्कुमार शास्त्री, पण्डित गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र', पण्डित राजनाथ पाण्डेय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने "राष्ट्ररक्षा के वैदिक साधन" लिखकर अथर्ववेदीय पृथिवीसूक्त के प्रथम मन्त्र "सत्यं बृहद्ऋतमुग्रं" मन्त्र में वर्णित उन सात तत्त्वों की रुचिर व्याख्या की है जिन्हें वेद ने पृथिवी का धारक बताया है। उन्होंने अपने 'वेदोपदेश' नामक एक अन्य ग्रन्थ में इस सूक्त को समग्र रूप में व्याख्यात किया है। पण्डित प्रियव्रत की व्याख्या "वेद का राष्ट्रीय गीत" शीर्षक से गुरुकुल काँगड़ी की स्वाध्याय-मंजरी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत २०१२ वि० में प्रकाशित हुई। लेखक ने ग्रन्थारम्भ में विस्तृत भूमिका लिखकर वेदार्थ के मूल-तत्त्वों की विवेचना करने के साथ-साथ वैदिक राष्ट्रवाद के आधारभूत बिन्दुओं की भी समीक्षा की है। सूर्यदेव शर्मा, शिवदयालु, सुरेशचन्द्र वेदालंकार तथा गणेशदत्त शर्मा इन्द्र ने पृथिवीसूक्त के मन्त्रों का पद्यानुवाद कर इसे काव्यशैली में भी प्रस्तुत किया है।

पण्डित प्रियरत्न आर्ष (स्वामी ब्रह्ममुनि) ने यमपितृपरिचय शीर्षक बृहद् ग्रन्थ लिखकर अथर्ववेद में प्रयुक्त यम तथा पितृविषयक मन्त्रों का विशद स्पष्टीकरण किया है। उन्होंने अपनी इस विवेचना से यह स्पष्ट कर दिया है कि अथर्ववेदोक्त यम और पितृ-देवताक मन्त्रों का मृत पितरों अथवा उनके लिए करणीय श्राद्ध-तर्पणादि अवैदिक कृत्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है। पृथिवी-सूक्त के अतिरिक्त अथर्ववेद के ब्रह्मचर्य-सूक्त ने भी व्याख्याकारों का ध्यान आकृष्ट किया है। स्वामी ब्रह्ममुनि ने इस सूक्त की वैदिक ब्रह्मचर्य-विज्ञानम् शीर्षक व्याख्या संस्कृत में लिखी। पण्डित जगत्कुमार शास्त्रीकृत एक अन्य व्याख्या भी उपलब्ध होती है। स्वामी समर्पणानन्द ने अथर्ववेद के १४वें काण्ड की

व्याख्या लिखी थी जो उनकी मृत्यु के पश्चात् वर्णाश्रम संघ, प्रभाताश्रम से प्रकाशित हुई। पूर्णचन्द्र एडवोकेट ने अथर्ववेदोक्त वरुण-सूक्त के प्रसिद्ध मन्त्र की व्याख्या "कहाँ छिपोगे कहाँ बचोगे ?" शीर्षक से लिखी है। पण्डित जगत्कुमार शास्त्री की अथर्ववेद मंजरी तथा ब्रह्मचारी जगदीश विद्यार्थी द्वारा सम्पादित अथर्ववेदशतक पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी के अथर्ववेद-भाष्य से चयनित मन्त्रों को प्रस्तुत करते हैं।

अथर्ववेद का ब्रह्मगवी सूक्त भी गम्भीर विचार-तत्त्वों से परिपूर्ण है। ब्राह्मण की गौ (वाणी)अवध्य है। यदि कोई निरंकुश शासक वेदज्ञ, वीतराग, तपस्वी तथा लोक-मंगलविधायक ब्राह्मण की वाणी तथा उससे अभिव्यक्त होनेवाले विचारों के दमन की कुचेष्टा करता है तो उसका सर्वनाश निश्चित है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करनेवाले अथर्ववेद के इस सूक्त की प्रभावपूर्ण व्याख्या पण्डित देव शर्मा 'अभय' ने लिखी थी, जो 'ब्राह्मण की गौ' शीर्षक से गुरुकुल काँगड़ी द्वारा प्रकाशित हुई। श्री प्रियव्रत दास ने अथर्व-वेदसौरभ लिखकर उड़िया भाषा में इस वेद के कतिपय मन्त्रों की लोकसुलभ व्याख्या लिखी है। स्वामी अच्युतानन्द का अथर्ववेदशतक स्वाध्याय-प्रेमियों में अत्यन्त लोकप्रिय रहा।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि चारों वेदों के विभिन्न अंशों की सुलभ व्याख्याएँ प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास आर्यसमाज के विद्वानों ने अत्यन्त मनोयोगपूर्वक किया है। इन ग्रन्थों से लोगों की वेदाध्ययन के प्रति रुचि बढ़ी है तथा वैदिक साहित्य की उदात्तता तथा महनीयता का उन्हें आभास हुआ है।

वेदव्याख्या-विषयक स्फुट ग्रन्थ—अबतक हमने उन ग्रन्थों का विचार किया, जो ऋगादि चार वेदसंहिताओं के भिन्न-भिन्न सूक्तों, अध्यायों अथवा अंशों की व्याख्या-रूप में लिखे गये हैं। किन्तु ऐसे ग्रन्थों की संख्या तो बहुत अधिक है जिनमें स्वाध्यायशील पाठक-समुदाय के उपयोगार्थ विभिन्न वेदों के विभिन्न विषयों से सम्बन्धित मन्त्रसमूह व्याख्यात हुए हैं। इस कोटि के ग्रन्थों की लोकप्रियता तथा उपयोगिता तो स्पष्ट ही है। वेद के प्रति श्रद्धा रखनेवाले ऐसे व्यक्तियों की संख्या बहुत अधिक है जो किसी वेद-संहिता का आद्योपान्त अध्ययन करने की क्षमता तो नहीं रखते, किन्तु जो वेदमहार्णव में उपलब्ध होनेवाले मन्त्र-रूपी रत्नों की उज्ज्वलता, उत्कृष्टता तथा महार्घता से परिचित होने के कारण उनका यत्किञ्चित् परिचय प्राप्त करना अवश्य चाहते हैं। ऐसे ही पाठक-वर्ग को लक्ष्य में रखकर शताधिक ग्रन्थ ऐसे लिखे गये हैं जिनमें वेद-मन्त्रों में निहित महत्त्वपूर्ण विषयों की सर्वांगीण विवेचना की गई है। यहाँ हम संकेतमात्र के लिए ही कुछ लेखकों तथा उनकी कृतियों का नामोल्लेख करना उचित समझते हैं। पण्डित दुर्गा-प्रसादकृत स्वाध्याय मंजरी (विरजानन्द यन्त्रालय, लाहौर से १९१६ ई० में प्रकाशित); पं० राजाराम के आर्ष ग्रन्थावली के अन्तर्गत प्रकाशित—वेदोपदेश, उपदेशकुसुमांजलि, वेदप्रकाश, स्वाध्याययज्ञ आदि ग्रन्थ; स्वामी वेदानन्द तीर्थ के वेदामृत, स्वाध्यायसुमन, स्वाध्यायसन्दोह आदि ग्रन्थ; पण्डित देव शर्मा 'अभय' की वैदिक विनय शीर्षक तीन खंडों में प्रकाशित ग्रन्थमाला, जिसमें वर्ष के ३६५ दिनों में स्वाध्याय-हेतु वेदमन्त्रों का सार्थ संकलन किया गया है; स्वामी ब्रह्ममुनिकृत वैदिक वन्दन, वेदाध्ययनप्रवेशिका आदि ग्रन्थ; डॉक्टर रामनाथ वेदालंकारकृत वैदिकवीरगर्जना (वेदों में निहित वीररसपूर्ण उक्तियों का संग्रह), प्रार्थनापुष्पांजलि तथा वेदमंजरी आदि ग्रन्थ; पण्डित प्रियव्रत वेद-

वाचस्पति-लिखित वरुण की नौका (वरुण देवताक मन्त्रों की व्याख्या) तथा वेदोद्यान के चुने हुए फूल। प्रोफेसर रामविचार-लिखित वेदसन्देश में कुछ चुने हुए मन्त्रों की हृदयग्राही व्याख्या की गई है।

पण्डित जगत्कुमार शास्त्री ने 'वैदिक युद्धवाद' ग्रन्थ में वेदमन्त्रों का ऐसा संग्रह प्रस्तुत किया है जो आर्यों की युद्ध-नीति पर प्रकाश डालते हैं। वैदिक प्रवचनमाधुरी, वैदिक प्रार्थना, श्रुतिसुधा तथा आर्यविनय आदि उनके अन्य वेद-व्याख्या-विषयक ग्रन्थ हैं। आर्यसमाज के विख्यात साहित्यकार पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने भी 'वैदिक मणिमाला' तथा 'वेद प्रवचन' शीर्षक उपयोगी व्याख्या-ग्रन्थ लिखे हैं। पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी का वैदिक भक्तिस्रोत वेदों के उपासनामूलक मन्त्रों की हृदयग्राही व्याख्या प्रस्तुत करता है। वेद-व्याख्याकारों में अन्य गणनीय नाम हैं—शांतस्वामी अनुभवानंद (भक्त की भावना, १९८१ वि०), स्वामी सत्यानंद (वैदिक भक्तिप्रदर्शन—वेदपाठ, १९९४ वि०), प्रिंसिपल दीवानचंद (स्वाध्यायसंग्रह), जगदीशचन्द्र विद्यार्थी (वेद सौरभ, चतुर्वेदशतक), पण्डित शिवदयालु (माँ गायत्री, शतकत्रयी), देवेन्द्रकुमार कपूर (वैदिक पीयूषधारा), डॉ० कपिलदेव द्विवेदी (वेदामृतम्), देवव्रत धर्मेन्दु (वेद-सन्देश), श्री किशोरीलाल गुप्त (बाल-वेदामृत), पण्डित जगदेवसिंह सिद्धान्ती (वैदिक वीर-तरंग), मॉरिशस के आर्य विद्वान् वासुदेव विष्णुदयाल (वेद भगवान् बोले) आदि। गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी के वैदिक साहित्य विभाग के प्राध्यापक पण्डित रामप्रसाद वेदालंकार ने शतशः वेद-मन्त्रों की लोकोपयोगी सरल व्याख्याएँ लिखी हैं जो अनेक शीर्षकों में प्रकाशित हो चुकी हैं। पण्डित वीरसेन वेदश्रमी ने अनेक वैदिक सूक्तों को नित्यपाठ की दृष्टि से सुरुचिपूर्ण ढंग से प्रकाशित किया है। उनके द्वारा प्रकाशित वैदिक सूक्त हैं—श्रीसूक्त, सरस्वती-सूक्त, सुमंगल सूक्त आदि।

पुरानी पीढ़ी के आर्य संन्यासी स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती ने वैदिकेश्वरस्तोत्रम् अर्थात् आर्याभिविनय द्वितीय भाग शीर्षक वेदमन्त्रों का एक संकलन तैयार किया था। इसमें उन्होंने सामवेद तथा अथर्ववेद के उपासनाप्रधान मन्त्रों का अर्थ दिया है। इसे आर्याभिविनय का द्वितीय भाग इसीलिये कहा गया था, क्योंकि स्वामी दयानन्दरचित आर्याभिविनय में तो ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के भक्तिप्रधान मन्त्रों की ही व्याख्या उपलब्ध थी। अवशिष्ट दो वेदों के स्तुतिपरक मन्त्रों को उक्त स्वामीजी ने उपर्युक्त पुस्तक में संगृहीत कर दिया है। पुराने आर्य विद्वानों में पण्डित शिवशंकर काव्यतीर्थ का नाम प्रमुख है। उनके वेद-व्याख्या-ग्रन्थ वेदसुधा तथा वैदिकपीयूषबिन्दु स्वाध्यायशील जनता के लिए उपयोगी सिद्ध हुए हैं। स्वामी श्रद्धानन्द के वेदोपदेशों को धर्मोपदेश शीर्षक से सम्पादित कर श्री लब्भूराम नैयड़ ने गुरुकुल काँगड़ी से प्रकाशित किया था।

चतुर्वेदशतक तथा वैदिक सूक्ति-संग्रह—प्रसंगवशात् हम स्वामी अच्युतानन्दकृत चतुर्वेद-शतकों की चर्चा कर आये हैं। इसी शैली का अनुकरण करते हुए जगदीश-विद्यार्थी तथा जगत्कुमार शास्त्री ने भी चारों वेदों के सूक्तों का संग्रह एवं सम्पादन किया था। इन महानुभावों ने स्वसम्पादित शतकों में ऋग्वेद तथा यजुर्वेद की मन्त्र-व्याख्यायें दयानन्द-भाष्य से तथा सामवेद एवं अथर्ववेद के मन्त्रों की व्याख्यायें क्रमशः पण्डित तुलसीराम स्वामी तथा पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी के भाष्यों से ग्रहण कीं। वेदों में जीवनोपयोगी जो सहस्रों सूक्तियाँ बिखरी पड़ी हैं उनका चयन एवं सम्पादन भी

ग्रन्थरूप में किया गया है। पण्डित रामचन्द्र मेहता ने वैदिक-सूक्ति शीर्षक ग्रन्थ १९८१ वि० में लिखा, जिसे आर्य प्रादेशिक सभा ने लाहौर से प्रकाशित किया था। इसी क्रम में स्वामी वेदान्दकृत श्रुतिसूक्तिशती, पण्डित देवव्रत धर्मेन्दुकृत वैदिक सूक्तिसुधा, रामनाथ वेदालंकार रचित वैदिक सूक्तियाँ, स्वामी सुव्रतानन्द लिखित वेदसूक्तिसुधा, स्वामी जगदीश्वरानन्द सम्पादित चतुर्वेद-सूक्ति संग्रह आदि ग्रन्थों के नाम उल्लेनीय हैं।

हिन्दी से भिन्न भारतीय भाषाओं में वेद-व्याख्या-ग्रन्थ—हिन्दी से भिन्न भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी वेद-व्याख्या-ग्रन्थ लिखे गये हैं। इनका समग्र विवरण प्रस्तुत करना तो कठिन ही है। बंगला भाषा में पण्डित दीनबंधु वेदशास्त्री ने वेदामृत तथा वेदसार नामक पुस्तकें लिखकर वेदमन्त्रों के अभिप्राय को बंगला-भाषी जनों के लिए सुलभ बनाया। उड़िया में पण्डित प्रियव्रत दास ने चारों वेदों की एक सहस्र सूक्तियों का संग्रह अनुवादसहित प्रकाशित किया है। गुजराती में पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर-संकलित वेदामृत तथा देव शर्मा 'अभय' रचित वैदिक विनय(३ भाग) तथा ब्राह्मण की गौ (अथर्ववेद के ब्रह्मगवी सूक्त की व्याख्या) का अनुवाद प्रकाशित हो चुका है।

वेदमन्त्रों की हिन्दी पद्यात्मक व्याख्या—अधिकांश वेदमन्त्र आध्यात्मिक भावापन्न होने के कारण काव्यतत्त्वों से परिपूर्ण हैं। अतः हिन्दी के अनेक काव्यप्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों का यह प्रयत्न रहा है कि वे इन्हें काव्यबद्ध कर दें ताकि सहृदय समाज द्वारा उनका रस ग्रहण किया जा सके। आर्यसमाज के कतिपय ऐसे ही कविप्रतिभायुक्त विद्वानों ने वेदमन्त्रों को पद्य-शैली में व्याख्यात करने की चेष्टा की है। पण्डित सत्यकाम विद्यालंकाररचित वैदिक वन्दना गीत तथा वेदगीतांजलि ऐसे ही ग्रन्थ हैं। कालान्तर में उनकी वेद-पुष्पांजलि सरस्वती विहार, नई दिल्ली से १९७४ ई० में प्रकाशित हुई। इसमें ५२ वेद-मन्त्रों को सरल भाषार्थ तथा काव्यानुवाद के साथ प्रस्तुत किया गया है। कवि ने यह ध्यान रक्खा है कि मन्त्रों को गीतों में निबद्ध करते समय उनकी संगीतात्मकता अविचलित रहे। हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् तथा समीक्षक डॉक्टर मुंशीराम शर्मा 'सोम' ने सोमसुधा तथा श्रुतिसंगीतिका नामक ग्रन्थों के माध्यम से वेदमन्त्रों का पद्यानुवाद किया है। कुछ ऐसा ही प्रयत्न पण्डित मनोहर विद्यालंकार का भी है जिन्होंने दुर्गा-विजय और श्रीलक्ष्मी शीर्षक ग्रन्थों में वेदमन्त्रों को हिन्दी काव्य का जामा पहनाया है। पण्डित सूर्य-देव शर्मा ने अनेक वेदमन्त्रों का समश्लोकी पद्यानुवाद किया था जो आर्यमित्र में धारावाही छपता रहा।

अंग्रेजी में वेद-व्याख्या-ग्रन्थ—अंग्रेजी भाषाविज्ञ समुदाय तक वेदमन्त्रों के अभि-प्राय को पहुँचाने की दृष्टि से आर्यसमाजी विद्वानों ने अथक प्रयत्न किये हैं। इस सम्बन्ध में प्रथम सार्थक प्रयास पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का था। उनके द्वारा लिखित Vedic Texts शीर्षक तीन लघु ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिनमें क्रमशः ऋग्वेद के १-२-१, १-२-७ तथा १-५०-१, १,२,३ मन्त्रों की व्याख्या The Atmosphere, The Composition of Water तथा गृहस्थ शीर्षकों के अन्तर्गत की गई है। विगत शताब्दी के अन्तिम वर्ष १९०० ई० में पण्डित गंगाप्रसाद जज ने पण्डित गुरुदत्त के अनुकरण पर Vedic Texts के दो अन्य भाग प्रकाशित किये। इनमें से प्रथम यजुर्वेदीय मन्त्र 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्' (३१-११) की व्याख्यारूप में लिखा गया था। इसे The Constitution of the Human Society का शीर्षक दिया गया था। द्वितीय भाग ऋग्वेद के 'सप्त त्वा हरितो

रथे' तथा 'अयुत सप्त शुन्ध्युवः' (१-५०-८, ९) इन मन्त्रों की व्याख्या प्रस्तुत करता है और लेखक ने इसे Septenary Composition of Solor Light शीर्षक दिया है। आर्यसमाज लंदन के मन्त्री लक्ष्मीनारायण ने, जो उस समय इंग्लैण्ड में रहकर वकालत (बार एट-लॉ) का अध्ययन कर रहे थे, १८८६ ई० में Hymn Book of the Arya Samaj शीर्षक से एक पुस्तक प्रकाशित की जिसमें गायत्री मन्त्र की अंग्रेजी व्याख्या के अतिरिक्त कुछ अंग्रेजी भजन तथा अंग्रेजी भाषा के कवियों के देशभक्तिपूर्ण गीतों का संग्रह था। श्री लक्ष्मीनारायण रोहतक जिले के साँपला ग्रामनिवासी तहसीलदार श्री अंगनलाल के पुत्र थे। स्वामी दयानन्द के निधन के कुछ समय पश्चात् ही उन्होंने लन्दन में आर्यसमाज की स्थापना कर दी थी।

आर्यसमाज के अंग्रेजी साहित्य-प्रणेताओं में पण्डित (मास्टर) दुर्गाप्रसाद का नाम प्रमुखता रखता है। उन्होंने दयानन्द हाई स्कूल लाहौर सीरीज के अन्तर्गत वैदिक रीडर के सात खण्ड तैयार किये। इनमें वेदमन्त्रों की सुगम व्याख्या हिन्दी और अंग्रेजी दोनों भाषाओं में सुलभ की गई थी। लाहौर से प्रकाशित होनेवाले अंग्रेजी मासिक The Arya Magazine के सम्पादक श्री रतनचन्द बेरी ने ऋग्वेद के प्रथम तीन सूक्तों का अंग्रेजी भाषानुवाद किया था। पण्डित दुर्गाप्रसाद ने Vedas made Easy शीर्षक ग्रन्थ-माला के द्वारा चारों वेदों का सुगम अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत करने का एक अन्य प्रयास भी किया। यद्यपि उनकी यह योजना पूर्ण नहीं हो सकी, किन्तु इस ग्रन्थमाला के ६ खण्डों में ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के ५७ सूक्त अंग्रेजी अनुवादसहित प्रकाशित हुए थे।

स्वामी ईश्वरानन्द सरस्वती ने Benediction Mantras शीर्षक से स्वामी दयानन्दकृत संस्कारविधि के प्रारम्भ में संगृहीत ईश्वरस्तुतिप्रार्थनोपासना, स्वस्ति-वाचन तथा शान्तिकरण के मन्त्रों का अंग्रेजी-भावानुवाद किया, जो १९१३ ई० में विरजानन्द प्रेस लाहौर से छपा। राय ठाकुरदत्त धवन पुरानी पीढ़ी के आर्य पुरुष थे। उन्होंने पण्डित गुरुदत्त की Vedic Texts Series को आगे बढ़ाया और ऋग्वेदीय संज्ञान सूक्त (१०-१९३) के द्वितीय मन्त्र 'संगच्छध्वं संवदध्वं' की विस्तृत व्याख्या लिखकर १८९७ ई० में लाहौर से प्रकाशित की। १९२५ ई० में राय ठाकुरदत्त धवन लिखित Truth and the Vedas शीर्षक ग्रन्थ दयानन्द-जन्म-शताब्दी समिति द्वारा प्रकाशित हुआ।

पण्डित अयोध्याप्रसाद आर्यसमाज के प्रसिद्ध विचारक, चिन्तक एवं व्याख्याता थे। उन्होंने स्वामी दयानन्द के निर्वाण की अर्द्धशताब्दी के अवसर पर The Gems of Vedic Wisdom शीर्षक ग्रन्थ लिखकर वेदमन्त्रों के भावार्थ का प्रकाशन किया। इसकी भूमिका प्रेसीडेण्सी कॉलेज कलकत्ता के प्रोफेसर डॉक्टर महेन्द्रनाथ सरकार ने लिखी थी। कालान्तर में इसे सार्वदेशिक सभा ने Vedic Thoughts शीर्षक से पुनः प्रकाशित किया। श्री पूर्णचन्द्र एडवोकेट के अग्रज तथा भूतपूर्व कोटा राज्य में न्यायाधीश के पद पर कार्यरत श्री हीरालाल सूद ने ऋग्वेद के यम सूक्त का अंग्रेजी में अनुवाद किया था। पण्डित चमूपति ने ऋग्वेद के दशम मण्डलान्तर्गत यम-यमी-सूक्त (१०-१०) का अनुवाद Dia-logue between Yama and Yami शीर्षक से किया था।

वेदमन्त्रों के अंग्रेजी व्याख्याकारों में स्वामी भूमानन्द सरस्वती का नाम अन्यतम है। इस विद्वान् संन्यासी ने १९३५ ई० में Anthology of Vedic Hymns तैयार की जो

रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर से प्रकाशित हुई। इसमें चारों वेदसंहिताओं से मन्त्रों का संग्रह कर उनके पदपाठ एवं अन्वयसहित अंग्रेजी भाषा में व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इनकी एक अन्य कृति Ecclesia Divina आर्यसमाज नई दिल्ली द्वारा १९३६ ई० में प्रकाशित हुई थी। गुरुकुल काँगड़ी के पुराने स्नातक पण्डित केशवदेव ज्ञानी तथा पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति का एतद्विषयक कृतित्व भी उल्लेखनीय है। ज्ञानी जी ने Verses from the Vedas शीर्षक ग्रन्थ लिखा तथा पण्डित धर्मदेव ने सामवेद के १०४ मन्त्रों का अंग्रेजी काव्य में भावानुवाद Some Psalms of the Sama Veda शीर्षक से प्रस्तुत किया। स्वामी सत्यप्रकाश ने The Nectareal Songs of the Vedas तथा Enchanted Island शीर्षक ग्रंथों में वेदमन्त्रों की विस्तृत व्याख्याएँ लिखी हैं। दयानन्द-निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर पण्डित सत्यकाम वेदालंकाररचित ग्रन्थ The Holy Vedas का प्रकाशन हुआ है। इसमें भी वेदमन्त्रों का ललित अंग्रेजी भाषा में अभिप्राय प्रकट किया गया है।

वेदों के विशिष्ट मन्त्रों की अंग्रेजी व्याख्याएँ भी समय-समय पर प्रकाशित हुई हैं। श्री विज्ञानदीपक ने The Vedic Trinity लिखकर त्रैतवाद के प्रतिपादक ऋग्वेदीय मन्त्र 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' (१-१६४-२०) की सुन्दर व्याख्या लिखी है। राजस्थान कॉलेज शिक्षा विभाग के प्रोफेसर बलजीतसिंह ने ऋग्वेद के अस्यवामीय सूक्त (१-१६४) के प्रसिद्ध मन्त्र "अस्यवामस्य पलितस्य" की व्याख्या भौतिक विज्ञान का आधार लेकर लिखी है। इसका प्रकाशन स्वयं लेखक द्वारा ही १९६७ ई० में किया गया था। जामनगर के श्री मगनलाल जोशी ने यजुर्वेद के ३१ व ३२वें अध्याय की व्याख्या The Vedic Concept of God and Creation लिखी है। यह १९७१ ई० में प्रकाशित हुई है।

उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्यसमाज के विद्वानों ने वेदों में निहित शिक्षाओं को अंग्रेजी भाषाविज्ञ जनसमुदाय तक पहुँचाने के लिए जो वेद-व्याख्या-ग्रन्थ लिखे हैं उनसे वेदों के विश्वव्यापी प्रचार में अपूर्व सहायता मिली है।

वैदिक विवेचन-विषयक साहित्य—वेदाध्ययन की पाश्चात्य तथा पौरस्त्य पद्धतियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। भारतीय वैदिक चिन्तन जिन मान्यताओं का अनुसरण करके चलता है उनके प्रति पाश्चात्य विद्वानों की आस्था किंचिन्मात्र भी नहीं है। पाश्चात्य वेदज्ञ तुलनात्मक भाषाविज्ञान, देवगाथावाद, विकासवाद आदि मतवादों को आधार बनाकर वेदाध्ययन में प्रवृत्त होते हैं, जबकि भारतीय वेदवेत्ताओं की दृष्टि में वेद परमात्मा-प्रदत्त ज्ञान है जिसे सृष्टि के आदिकाल में उसी दिव्य शक्ति ने मानव-हित के लिए, विमल मेधा के धनी पवित्रात्मा ऋषियों के माध्यम से प्रकट किया था। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने अपने वेदविषयक विचारों का निर्धारण अति प्राचीन काल में प्रचलित वेदार्थवाद-विषयक ब्राह्मण, निरुक्त, प्रातिशाख्य आदि ग्रन्थों के आधार पर किया था। वे मध्यकाल में लिखे गये सायण, स्कन्दस्वामी, उव्वट, महीधर आदि वेदभाष्यकारों द्वारा अपनाई गई वेदार्थ की याज्ञिक प्रक्रिया से भी पूर्णतया सहमत नहीं थे। स्वामी दयानन्द के अनुसार वेद-संहिताओं में ज्ञान, कर्म, उपासना और विज्ञान इन चार विषयों का निरूपण किया गया है। अतः इन्हें केवल याज्ञिक कर्म-काण्ड का विधायक मानना समीचीन नहीं है। दयानन्द के अनुसार वैदिक अध्यात्म-शास्त्र, परमेश्वर के एकत्व, जीवात्माओं के बहुत्व तथा सृष्टि के उपादानभूत जड़ प्रकृति

के अस्तित्व का समर्थक है। वेद-विषयक आर्यसमाजी धारणाओं की पुष्टि में शतशः ग्रन्थ विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। यहाँ हम विषयक्रमानुसार वेद-विवेचना-विषयक इस साहित्य की समीक्षा प्रस्तुत करते हैं।

विभिन्न वेदसंहिताओं-विषयक आलोचनात्मक साहित्य—सर्वप्रथम हम उन ग्रन्थों का परिचय प्राप्त करेंगे जो ऋगादि चार वेद-संहिताओं से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं का समाधान करते हुए लिखे गये हैं। प्रथम ऋग्वेद को लें। पण्डित लेखराम ने "सदाकत ऋग्वेद" शीर्षक एक उर्दू ग्रन्थ लिखा, जिसमें ऋग्वेद में प्रतिपादित ज्ञान की सत्यता को सिद्ध किया गया था। आर्यसमाज में वैज्ञानिक प्रणाली के शोध के प्रवर्त्तक पण्डित भगवद्दत्त ने "ऋग्वेद पर व्याख्यान" शीर्षक एक शोधपूर्ण ग्रन्थ की रचना उस समय की, जब वे डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर में शोधविभाग के अध्यक्ष थे। इस ग्रन्थ में ऋग्वेद से सम्बद्ध निम्न प्रश्नों का विवेचन मिलता है—(१) क्या ऋग्वेद-संहिता को शाकल शाखा के नाम से पुकारना समीचीन है? (२) क्या भिन्न-भिन्न ऋषियों को ऋग्वेद का कर्त्ता माना जा सकता है? यह ग्रन्थ उक्त कॉलेज के शोधविभाग की संस्कृत-ग्रन्थमाला में १९२० ई० में प्रकाशित हुआ था। पण्डित नरदेव शास्त्री ने 'ऋग्वेदालोचन' शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ लिखा था। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने ऋग्वेद की ऋक्संख्याओं की विवेचना करते हुए जो ग्रन्थ लिखा था उसे आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर ने २००६ वि० में प्रकाशित किया था। उनका यही ग्रन्थ संस्कृत तथा हिन्दी, दोनों भाषाओं में रामलाल कपूर ट्रस्ट से संशोधित रूप में २०३० वि० में पुनः प्रकाशित हुआ। मीमांसक जी का एक अन्य शोध-निबन्ध "ऋग्वेद की कतिपय दानस्तुतियों पर विचार" शीर्षक है जिसमें ऋग्वेद के उन मन्त्रों की समीक्षा की गई है जो दानस्तुतियों से सम्बन्धित हैं। ऋग्वेद की मन्त्र-गणना से सम्बन्धित स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी का ग्रन्थ "वेद की इयत्ता" ज्ञानचन्द्र आर्य हीरादेवी ट्रस्ट दिल्ली से छपा था।

पण्डित अलगूराय शास्त्री ने 'ऋग्वेद रहस्य' लिखकर वेद से सम्बद्ध अनेक विषयों की विस्तृत विवेचना की है। इसे आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश के घासीराम-साहित्य विभाग ने १९५१ ई० में प्रकाशित किया था। 'ऋग्वेद के ऋषि' शीर्षक ग्रन्थ पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार ने लिखा है। इसमें ऋग्वेद के मन्त्रद्रष्टा ऋषियों पर विचार किया गया है। पाश्चात्य मनीषियों ने ऋग्वेद के दशम मण्डल के सम्बन्ध में नाना प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ प्रचलित कर रक्खी हैं। उनके अनुसार इस मण्डल की संरचना, भाषा तथा प्रतिपाद्य विषयों को देखने से यह निष्कर्ष निकालना सहज हो जाता है कि अन्य मण्डलों की तुलना में इसकी रचना पश्चात्वर्ती है। इस तथा ऐसे ही अन्य आक्षेपों के समाधान में पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने "ऋग्वेद के दशम मण्डल पर पाश्चात्य विद्वानों का कुठाराघात" शीर्षक ग्रन्थ लिखा। पण्डित विहारीलाल शास्त्री ने "ऋग्वेद के दशम मण्डल के रहस्य" शीर्षक ग्रन्थ में इस मण्डल के प्रतिपाद्य विषयों की समीक्षा की है।

ऋग्वेद के दसों मण्डलों में प्रतिपादित विषयों की पारस्परिक संगति लगाना कठिन कार्य है। तथापि पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार ने 'ऋग्वेद मण्डल मणिसूत्र' लिखकर यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि प्रथम से लेकर अन्तिम दशम मण्डल पर्यन्त इस ग्रन्थ में जो विषय प्रतिपादित हुए हैं वे क्रमबद्ध हैं तथा उनका पौर्वापर्य सम्बन्ध भी

है। लेखक को इस महाग्रन्थ के लिखने में अपनी मौलिक कल्पनाशक्ति तथा ऊहायुक्त प्रतिभा का अत्यधिक प्रयोग करना पड़ा है। ऋग्वेदमण्डलमणिसूत्र लेखक के निधनोपरान्त पण्डित सत्यानन्द वेदवागीश द्वारा सम्पादित होकर समर्पण शोध संस्थान, नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ है।

'यजुर्वेद-परिचय' शीर्षक ग्रन्थ डॉक्टर (श्रीमती) महाश्वेता चतुर्वेदी ने लिखा है। इसमें अध्वर्यु वेद से सम्बद्ध विवेचना के साथ-साथ कतिपय मन्त्रों की व्याख्या भी की गई है। सामवेद-विषयक विवेचनात्मक ग्रन्थ भी नगण्य ही हैं। कई वर्ष पूर्व शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने 'सामवेद का स्वरूप' लिखकर इस संहिता का सामान्य परिचय जनसाधारण के लिए प्रस्तुत किया था।

आकार की दृष्टि से तो अथर्ववेद ऋग्वेद से छोटा तथा यजु एवं साम से बड़ा है, किन्तु ब्रह्मवेद के नाम से अभिहित होनेवाले इस वेद को लेकर नाना प्रकार की त्रुटिपूर्ण धारणाएँ तथा प्रवाद वेदज्ञों में प्रचलित हैं। अथर्ववेद के वर्ण्य विषयों की विविधता को देखकर प्रायः यह कह दिया जाता है कि यह वेद क्या है मानो भानमती का पिटारा ही है। तथ्य तो यह है कि अथर्ववेद में शारीरिक एवं मानसिक आधिव्याधियों से मुक्ति पाने के उपायों के वर्णन के साथ-साथ चिकित्साशास्त्र, मनोविज्ञान, सैन्यविज्ञान, राजनीति, अध्यात्मविद्या, सृष्टि-विद्या आदि अनेक विषयों से सम्बद्ध सहस्रों मन्त्र संगृहीत हैं। अथर्ववेद के मन्त्रों में प्रयुक्त भाषा को देखकर अनेक विद्वानों ने इसके अर्वाचीन होने की आशंका प्रकट की है। मनुष्य को पीड़ित करनेवाले नाना शारीरिक और मानस रोगों की चिकित्सा में प्रयुक्त की जानेवाली जड़ी-बूटियों तथा क्रिया-पद्धतियों के रहस्य से अनभिज्ञ लोगों ने अथर्ववेद को जादू-टोना, गण्डे-तावीजों तथा विभिन्न अन्धविश्वासपूर्ण क्रियाकलापों का जनक कहा है। इन तथा इसी प्रकार की भ्रान्त धारणाओं के निराकरण-हेतु आर्यसमाजी विद्वानों को एड़ी से चोटी तक का श्रम करना पड़ा है।

पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने "अथर्ववेद का स्वाध्याय" शीर्षक ग्रन्थ लिखा जिसे महाशय राजपाल ने १९१८ ई० में लाहौर से छापा था। पण्डित भगवद्दत्त ने अथर्ववेद के लक्षण-ग्रन्थ "अथर्ववेदीय पंचपटलिका" का सम्पादन किया है। यह डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर के शोधविभाग से १९२० ई० में छपा। अथर्ववेद की चिकित्सा-विद्या तथा मन्त्रविद्या का विस्तृत अध्ययन कर पण्डित प्रियरत्न आर्ष ने अथर्ववेदीय चिकित्साशास्त्र तथा अथर्ववेदीय-मन्त्रविद्या शीर्षक ग्रन्थ लिखे, जो प्रिय ग्रन्थमाला (१३-१४) के अन्तर्गत छपे। अथर्ववेदीय मन्त्रों में जो लोग जादू-टोना पाये जाने की शंका करते हैं उनकी आपत्तियों का निराकरण करने के लिए पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने "अथर्ववेद और जादूटोना" शीर्षक ग्रन्थ लिखा। अथर्ववेद की प्राचीनता को शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने इसी नाम के ग्रन्थ में सिद्ध किया है। पण्डित अखिलानन्द शर्मा ने आर्यसमाज को त्यागकर जब सनातन धर्म की दीक्षा ली तो उन्होंने 'अथर्ववेदालोचन' शीर्षक एक ग्रन्थ लिखकर अथर्ववेद के सम्बन्ध में नाना आक्षेपमूलक बातें लिखी थीं। इनका उत्तर पण्डित हरिशंकर शर्मा दीक्षित ने 'अथर्ववेदालोचनमीमांसा' लिखकर दिया। यह ग्रन्थ के०सी० भल्ला ने प्रयाग से १९७५ वि० में प्रकाशित किया था। कुछ वर्ष पूर्व पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार का ग्रन्थ अथर्ववेदपरिचय प्रकाशित हुआ है, जो इस वेद के प्रतिपाद्य विषयों तथा अन्य पक्षों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करता है।

पूर्वोक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि चारों वेदसंहिताओं से सम्बद्ध अनेकानेक प्रश्नों एवं समस्याओं के समाधान में विभिन्न ग्रन्थ लिखकर आर्यसमाज के वैदिक विद्वानों ने वैदिक अध्ययन के मार्ग को अधिकाधिक प्रशस्त किया है।

वैदिक वाङ्मय का इतिहास—वैदिक वाङ्मय अत्यन्त विशाल, प्राचीन तथा नाना उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण है। वैदिक साहित्य के अन्तर्गत चतुर्वेद-संहिताओं तथा उनके व्याख्यानरूप में लिखे गये शाखा, ब्राह्मण, आरण्यक आदि ग्रन्थों की गणना होती है। यद्यपि पाश्चात्य विद्वानों ने चारों वेदसंहिताओं का रचनाकाल अथवा संकलन-काल भिन्न-भिन्न माना है किन्तु भारतीय परम्परा के अनुसार चारों वेद ईश्वर-निःश्वसित होने के कारण कालावधि से परे हैं। समयान्तर में वेदों की विभिन्न शाखाओं का प्रचलन हुआ और वेदाभ्यासियों ने भिन्न-भिन्न शाखाओं के अनुरूप ही मन्त्रार्थ-विवेचन की दृष्टि से ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषदादि ग्रन्थों की रचना की। इस प्रकार संहिताओं से भिन्न वैदिक साहित्य की रचना शताब्दियों तक के ही नहीं, अपितु सहस्राब्दियों तक विस्तृत काल-खण्ड के भीतर हुई थी। सहस्रों वैदिक ग्रन्थों के नाम तो उपलब्ध होते हैं, किन्तु आज वे हमें अप्राप्य हैं। इनमें अनेक ग्रन्थों की विभिन्न पाण्डुलिपियाँ विदेशों के पुस्तकालयों में तो मिलती हैं, किन्तु भारत के पुस्तक-संग्रहालय उनसे वंचित हैं।

आर्यसमाज के विद्वानों में सर्वप्रथम पण्डित भगवद्दत्त ने वैदिक वाङ्मय के व्यवस्थित इतिहास-लेखन का उपक्रम किया था। उस समय वे डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर के शोधविभाग के अधिष्ठाता थे और उन्होंने उक्त कॉलेज के पाण्डुलिपि-विभाग में ७००० हस्तलिखित ग्रन्थों का संग्रह किया था। वैदिक साहित्य के ऐतिहासिक अध्ययन में पण्डित भगवद्दत्त की गहरी पैठ थी और उनका एतद्विषयक गवेषण भी उच्च कोटि का था। वैदिक साहित्य के उपलब्ध और अनुपलब्ध ग्रन्थों की गहरी छानबीन करने के पश्चात् पण्डित भगवद्दत्त ने अनेक खण्डों में वैदिक वाङ्मय का विस्तृत इतिहास लिखने की योजना बनाई। इसके अन्तर्गत ब्राह्मणों और आरण्यक ग्रन्थों से सम्बन्धित प्रथम खण्ड १९२७ ई० में प्रकाशित हुआ। ठीक चार वर्ष पश्चात् १९३१ ई० में वेदों के भाष्यकारों का विवरण उपलब्ध कराते हुए उन्होंने इस इतिहास का द्वितीय खण्ड प्रकाशित किया। इसी क्रम में १९३५ ई० में वेदों की शाखाओं से सम्बन्धित तृतीय खण्ड भी प्रकाशित हुआ। परन्तु अब वे डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर के शोधविभाग से पृथक् हो चुके थे। कहना नहीं होगा कि पण्डित भगवद्दत्त-लिखित वैदिक वाङ्मय का इतिहास हिन्दी में अपने विषय का प्रथम किन्तु सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ था। देश-विभाजन के पश्चात् इसे पुनः प्रकाशित करने का उद्योग किया गया। वेदों के शाखा-विषयक खण्ड को कतिपय नवीन विषयों की विवेचनासहित उपबृंहित रूप में २०१३ वि० में रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया गया। इसमें विद्वान् लेखक ने पश्चिमी विद्वानों द्वारा आविष्कृत तुलनात्मक भाषाविज्ञान-विषयक मत की तथ्यपूर्ण समालोचना की है तथा भाषा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को सत्य सिद्ध किया है।

१९६८ ई० में पण्डित भगवद्दत्त का निधन हो गया। तदनन्तर उनके पुत्र पण्डित सत्यश्रवा ने प्रणव प्रकाशन नई दिल्ली के द्वारा पण्डित भगवद्दत्त-रचित वैदिक वाङ्मय के इतिहास के तीनों खण्डों को सम्पादित कर पुनः प्रकाशित किया। ब्राह्मण और

आरण्यक (१९७४), वेदों के भाष्यकार (१९७६) तथा अपौरुषेय वेद तथा शाखा (१९७८) शीर्षकों के अन्तर्गत यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ एक बार पुनः वैदिक विद्वानों को उपलब्ध कराया गया। पण्डित सत्यश्रवा ने 'ब्राह्मण और आरण्यक' विषयक खण्ड को स्वतन्त्र रूप से अंग्रेजी में भी लिखा और १९७७ ई० में प्रकाशित किया। खेद है कि पण्डित भगवद्दत्त द्वारा आरम्भ किया गया यह प्रयास उपर्युक्त ग्रन्थों तक ही सीमित रहा और वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत समाविष्ट होनेवाले आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदाङ्ग साहित्य का विस्तृत गवेषणात्मक इतिहास नहीं लिखा जा सका।

'वेद' संज्ञा विषयक साहित्य— स्वामी दयानन्द ने मन्त्र-भाग को ही वेदसंज्ञा से अभिहित किया था। उनके मतानुसार ब्राह्मणों की गणना वेदों के अन्तर्गत नहीं की जा सकती। अपने मत की पुष्टि में उन्होंने स्वग्रन्थों में अनेक प्रमाण भी जुटाये हैं। इस प्रसंग में उन्हें कात्यायन के नाम से प्रचलित "मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्" सूत्र की समुचित समीक्षा करनी पड़ी। यह तो सत्य है कि कर्मकाण्ड की प्रक्रिया में मन्त्र और ब्राह्मण-वाक्यों का तुल्य रूप से प्रयोग होने के कारण यत्र-तत्र मन्त्रों तथा ब्राह्मणों की समान रूप से 'वेद' संज्ञा मानी गई है, किन्तु उपर्युक्त सूत्र के निर्माण की आवश्यकता ही तब हुई होगी जब कि यज्ञविधियों में मन्त्रों के ही समान ब्राह्मणग्रन्थों में उल्लिखित विधि-वाक्यों का भी प्रामाण्य स्वीकार किया जाने लगा। तथापि यह सिद्धान्त नितान्त निर्विवाद, अकाट्य तथा तथ्याधारित है कि मन्त्रसंहितायें ईश्वरोक्त होने से स्वतःप्रमाण हैं, जब कि ऐतरेय, शतपथ, गोपथ आदि ब्राह्मण ऋग्, यजु तथा अथर्ववेद की व्याख्या-रूप में लिखे गये ऋषिप्रणीत ग्रन्थ हैं।

स्वामी दयानन्द-प्रतिपादित मन्त्रों एवं ब्राह्मणों को पृथक्-पृथक् मानने के सिद्धांत को लेकर कालान्तर में अनेक वाद-विवाद एवं शास्त्रार्थ हुए। आर्यसमाजी विद्वानों ने वेद संज्ञा विषयक स्वामी दयानन्द के अभीष्ट मत को नाना युक्तियों एवं प्रमाणों से पुष्ट किया। "वेदसंज्ञा मन्त्र-संहिता की ही है, ब्राह्मणभाग की नहीं" इस विषय पर आर्य-समाज के प्रसिद्ध संन्यासीयुगल स्वामी विश्वेश्वरानन्द तथा ब्रह्मचारी नित्यानन्द का बूंदी (राजस्थान) के राज-पण्डितों से १९४५ वि० में संस्कृत में लेखबद्ध शास्त्रार्थ हुआ था। इसे पण्डित ब्रह्मानन्द त्रिपाठी ने सम्पादित किया और पण्डित भगवानस्वरूप न्यायभूषण ने २०२३ वि० में प्रकाशित किया। इसका प्रथम संस्करण कई दशाब्दियों पूर्व छपा था। "वेदनिर्णय" शीर्षक इसी विषय से सम्बन्धित एक अन्य शास्त्रार्थ शाहपुरा के राजगुरु यमुनादत्त शर्मा और करौली (राजस्थान) के राजपण्डित चन्द्रशेखर शर्मा के मध्य १९५५ वि० में हुआ। पण्डित यमुनादत्त शर्मा ने स्वामी दयानन्द के पक्ष को स्वीकार करते हुए मन्त्र-भाग को ही वेदसंज्ञा प्रदान करने की पुष्टि की। यह शास्त्रार्थ भी संस्कृत-पत्राचार रूप में हुआ था जिसे शाहपुराधीश राजाधिराज नाहरसिंह की आज्ञानुसार १९५६ वि० में मुद्रित कराया गया।

पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने "क्या ब्राह्मणग्रन्थ वेद हैं ?" शीर्षक एक विवेचना-युक्त ग्रन्थ लिखा जो २००९ वि० में प्रकाशित हुआ। कालान्तर में इसे "वेद-संज्ञा-मीमांसा" शीर्षक से उपबृंहित रूप में २०२३ वि० में पुनः प्रकाशित किया गया। मीमांसक जी ने कात्यायन के उपर्युक्त सूत्र की मनोज्ञ मीमांसा करते हुए स्वामी दयानन्द के एतद्विषयक मत को पुष्ट किया है। सनातनधर्मी विद्वान् स्वामी हरिहरानन्द करपात्री

ने 'सर्ववेद शाखा सम्मेलनों' के माध्यम से वैदिक विषयों पर गम्भीर शास्त्र-चर्चा करने की परिपाटी डाली थी। उनके द्वारा संचालित धर्म-संघ के तत्त्वावधान में इस प्रकार के सम्मेलन वाराणसी, कानपुर, अमृतसर तथा दिल्ली आदि स्थानों पर हुए। कानपुर में आयोजित 'सर्ववेद शाखा सम्मेलन' के अवसर पर आर्यसमाजी विद्वानों ने वेद संज्ञा विषयक स्वदृष्टिकोण को विस्तृत पत्रों के माध्यम से प्रकट किया था। इस पत्रव्यवहार को पं० विद्याधर ने सम्पादित किया और वैदिक अनुसंधानमाला के अन्तर्गत डी०ए०वी० कालेज, कानपुर से २०१६ वि० में प्रकाशित किया।

वस्तुतः मन्त्र-भाग और ब्राह्मण-भाग की पृथक्ता को सिद्ध कर संहिता-भाग को ही वेद संज्ञा से अभिहित करना वैदिक अध्ययन की परम्परा में एक क्रान्तिकारी कदम था, जिसे स्वामी दयानन्द तथा उनके अनुयायी विद्वानों ने अपने प्रखर तर्कों एवं युक्तिवादों द्वारा सुदृढ़ किया था।

वेदार्थपद्धति-विषयक ग्रन्थ—स्वामी दयानन्द ने वेदार्थ की वास्तविक प्रणाली का विस्तृत निरूपण ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में विस्तारपूर्वक किया है। उनके अनुसार वेदार्थ की यथार्थ पद्धति वही है जिसे ऐतरेय, शतपथ आदि ब्राह्मणकारों तथा निरुक्तकार यास्क ने स्वीकार किया है। वे मन्त्रों के कर्मकाण्डपरक अर्थ करने के नितान्त विरोधी तो नहीं हैं, किन्तु वे यह भी मानते हैं कि वेद-मन्त्रों का अर्थ करते समय प्रकरण की ओर ध्यान देना आवश्यक है। उन्होंने मन्त्रों के पारमार्थिक और व्यावहारिक—द्विविध अर्थ करने पर जोर दिया और साथ ही यह भी कहा कि किसी भी मन्त्र का अर्थ करते समय उसमें निहित ईश्वरविषयक अभिप्राय का सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता।

स्वामी दयानन्द-प्रतिपादित वेदार्थ-प्रणाली की पुष्टि में आर्यसमाज के विद्वानों ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। गुरुकुल काँगड़ी के सुयोग्य स्नातक पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने वेदार्थ करने की विधि (१९७३ वि०) लिखी। पण्डित चमूपति ने यास्क युग की वेदार्थ शैलियाँ (१९९२ वि०) लिखकर निरुक्त में उल्लिखित यौगिकवाद, ऐतिहासिकवाद, परिव्राजक मत आदि विभिन्न वेदार्थ-पद्धतियों का समीक्षण किया तथा नैरुक्त पद्धति का वैशिष्ट्य स्थापित किया। पण्डित रुलियाराम ने वेद से वेदार्थ करने की प्रक्रिया प्रतिपादित करते हुए "वैदिक प्रमाणों से वेद का अर्थ" तथा "वेद से वेदार्थ" शीर्षक दो लघु ग्रन्थ लिखे थे। इन्हें आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब ने क्रमशः १९९० वि० तथा १९९२ वि० में प्रकाशित किया था।

स्वामी दयानन्द के मतानुकूल वेदार्थ-प्रक्रिया के आधारभूत मौलिक सिद्धान्तों की स्थापना में पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु तथा उनके विद्वान् शिष्य पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक का योगदान नगण्य नहीं है। जिज्ञासु जी ने दयानन्दकृत यजुर्वेद-भाष्य के प्रथम दस अध्यायों पर विस्तृत विवरण लिखते समय इस ग्रन्थ की भूमिका में वेदार्थ-प्रक्रिया के विविध सिद्धान्तों का निरूपण किया था। कालान्तर में उनका स्वतन्त्र ग्रन्थ "वेदार्थ प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त" १९५४ ई० में प्रकाशित हुआ। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने "वेदार्थ की विविध प्रक्रियाओं का ऐतिहासिक अनुशीलन" शीर्षक शोध-निबन्ध २००९ वि० में लिखा। इसे संशोधित एवं परिवर्धित रूप में २०३३ वि० में पुनः प्रकाशित किया गया।

स्वामी दयानन्द ने सायण आदि मध्यकालीन वेदभाष्यकारों की जो आलोचना

की, वह निराधार नहीं थी। वेदविषयक मध्यकाल में प्रचलित धारणाओं से बँधे होने के कारण सायण आदि मध्ययुगीन वैदिक भाष्यकार वेदों के तत्त्वार्थ को पूर्णतया हृदयंगम करने में असमर्थ थे। यही कारण है कि ये भाष्यकार वेद के अपौरुषेय तथा ईश्वरीय ज्ञान होने की पदे-पदे घोषणा करते हुए भी वेदमन्त्रों में विभिन्न ऋषियों, राजाओं तथा अन्य व्यक्तियों के लौकिक इतिहासों का वर्णन करने में किंचिन्मात्र भी संकोच नहीं करते। ऐसी स्थिति में आर्यसमाज के वैदिक विद्वानों द्वारा आचार्य सायण के वेदार्थ की आलोचना करना अनुपयुक्त नहीं था। स्वामी धर्मानन्द सरस्वती ने श्री सायणाचार्य के वेदभाष्य की कुछ भयंकर भूलों का दिग्दर्शन अपनी इसी नाम की पुस्तक में कराया है। कुछ वर्ष हुए उदासीन साधु स्वामी गंगेश्वरानन्द जी ने वेदार्थ की एक अन्य साम्प्रदायिक प्रणाली को जन्म दिया है। वे वैदिक शब्दों का मनमाना अर्थ करते हुए उनसे राम, लक्ष्मण, सीता, हनुमान आदि रामायणकालीन पात्रों से सम्बद्ध कथाओं को वेदों से सिद्ध करने का प्रयास कर रहे हैं। स्वामी धर्मानन्द ने "स्वामी गंगेश्वरानन्द द्वारा वेदमन्त्रों का घोर अनर्थ" शीर्षक पुस्तक लिखकर वेदार्थ-विषयक इस अनाचार की कटु आलोचना की है।

डा० रामनाथ वेदालंकार लिखित 'वैदिक शब्दार्थ विचार' वेदार्थ को सही धरातल पर प्रतिष्ठित करने का एक सफल प्रयास है। इसमें विद्वान् लेखक ने अज, असुर, उक्षा, वृषभ, गंधर्व, अप्सरा, पतंग, महिष, वराह, सुरा, हंस तथा हरि—इन शब्दों को लेकर स्व विवेचन प्रस्तुत किया है। आलोच्य शब्दों के विविध अर्थों का निरूपण करते हुए लेखक ने स्पष्ट किया है कि सामान्यतया एक ही अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले 'अज' आदि शब्द वेदों में विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुए हैं। स्वामी दयानन्द के वेदार्थ-विषयक मन्तव्यों को कालान्तर में सभी विचारशील विद्वानों ने स्वीकार कर लिया। योगी अरविन्द ने तो वेदार्थ-प्रक्रिया में यज्ञवाद को सर्वोपरि महत्त्व देने के कारण जहाँ सायण की कटु आलोचना की, वहाँ उन्होंने दयानन्द-प्रतिपादित यौगिकवाद की भूरि-भूरि प्रशंसा भी की। काशी की पण्डित-सभा के अध्यक्ष स्व० पण्डित गोपाल शास्त्री दर्शन-केसरी यद्यपि सनातनधर्मानुयायी थे, किन्तु वे स्वामी दयानन्द की ही भाँति यह मानते थे कि वेद का अर्थ मात्र यज्ञपरक ही करना उचित नहीं है। उनका "वेद का अर्थ यज्ञपरक ही नहीं" शीर्षक एक लघु ग्रन्थ आर्यसमाज अमरोहा (जिला मुरादाबाद) ने प्रकाशित किया था। उपर्युक्त ग्रन्थों के द्वारा आर्यसमाजी विद्वानों ने वेदार्थ की उस पद्धति की पुष्टि की है, जो ब्राह्मण, प्रातिशाख्य, निरुक्तादि प्राचीन ग्रन्थों में निरूपित की गई थी और जिसका आधार लेकर ही वेदों के वास्तविक अभिप्राय को समझा जा सकता है।

वैदिक यज्ञों के अहिंसक होने के प्रमाण रूप में लिखे गये ग्रन्थ—जैन और बौद्ध मतों के प्रादुर्भावकाल में वेदों के प्रति जनसामान्य की आस्था समाप्त हो जाने का एक प्रमुख कारण था वेदप्रतिपादित यज्ञ-यागों में पशुहिंसा का प्रचलन। प्रायः सभी याज्ञिक भाष्यकार वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा को विधेय मानते हैं। उनका प्रसिद्ध मत है—वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति। किन्तु स्वामी दयानन्द ने वैदिक यज्ञों को अहिंसाप्रधान घोषित किया। उनके अनुसार वेदों में यज्ञ के लिए जिस "अध्वर" शब्द का प्रयोग किया गया है, वह अपने-आपमें हिंसा के प्रतिषेध का सूचक है। यह तो सत्य है कि वेदों में अश्वमेध, गोमेध आदि यज्ञों की विधियाँ वर्णित हैं, किन्तु वैदिक मन्त्रों में प्रयुक्त गो, अश्व आदि

शब्द मात्र गाय या घोड़े आदि पशुओं के ही ज्ञापक नहीं हैं। स्वामी दयानन्द ने यास्कीय निरुक्त तथा शतपथ ब्राह्मण के आधार पर गो का "वाणी" एवं "पृथिवी" तथा अश्व से "राष्ट्र" का अर्थ लिया है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने वैदिक यज्ञों के पशुहिंसा-विधेयक होने का सर्वथा प्रत्याख्यान किया और देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशु-बलि को सर्वथा त्याज्य बतलाया।

कालान्तर में आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा ऐसे साहित्य का प्रचुर मात्रा में लेखन हुआ जिसमें वैदिक यज्ञों की अहिंसक प्रवृत्ति का दिग्दर्शन कराते हुए उन आक्षेपों का प्रबल तर्कों से निराकरण किया गया था जो यज्ञों में पशु-हिंसा के समर्थन में प्रस्तुत किये जाते थे। दयानन्द-जन्म-शताब्दी के अवसर पर मैनपुरी-निवासी श्री श्यामसुन्दरलाल ने "वेद और गोमेध" शीर्षक पुस्तक लिखी जिसमें गोमेध के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए सिद्ध किया गया था कि वेदोक्त यज्ञों में गोहिंसा का विधान परवर्ती कल्पना है। पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने "क्या वैदिक समय में गोमांस भक्षण की प्रथा थी?" शीर्षक पुस्तक लिखी जिनमें अनेक युक्तियों एवं प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया था कि वैदिक काल में गोमांस-भक्षण का प्रचलन नहीं था। पण्डित सातवलेकर ने इस ग्रन्थ की रचना प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित चिन्तामणि विनायक वैद्य द्वारा लिखे गये एक लेख के उत्तर में की थी जिसमें वैदिक कालीन आर्यों को गोमांसभक्षी बताया गया था। आर्यसमाज के एक पुराने पण्डित जे० पी० चौधरी ने पादरी विनोदबिहारीराय लिखित "ऋषियों का खानपान" शीर्षक ग्रन्थ के उत्तर में "वेद और पशुयज्ञ" शीर्षक ग्रन्थ लिखा। इसे भास्कर प्रेस मेरठ ने १६१८ ई० में प्रकाशित किया था। गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के आचार्य पण्डित नरदेव शास्त्री ने 'यज्ञे पशुवधो वेदविरुद्धः' शीर्षक संस्कृत निबन्ध इसी विषय पर लिखा जो पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकारकृत हिन्दी-अनुवाद सहित १६६२ वि० में प्रकाशित हुआ। इसी विषय पर गुरुकुल काँगड़ी के वेदोपाध्याय पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार ने "वैदिक पशुयज्ञ मीमांसा" नामक एक विस्तृत आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखा था। यज्ञ में पशु-हिंसा-निषेध का प्रतिपादन करनेवाले अन्य ग्रन्थों में निम्न उल्लेखनीय हैं—पशुबलि वेदशास्त्र-विरुद्ध है (ले० पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार), पशुबलि और वेद (पण्डित बिहारीलाल शास्त्री), वेद में पशुहिंसा विषयक पाश्चात्य विद्वानों के लेखों की समालोचना (रामशरण वसिष्ठ), क्या वैदिक काल में गोमांस खाया जाता था? (राधेमोहन) आदि। स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने अथर्ववेद (६-८-६) के "अधिगवं क्षीरं मसं वा" वचन के अर्थ को स्पष्ट करते हुए "अथर्ववेदीय अतिथि-सत्कार और मांस शब्द विवेचन" नामक एक लघु ग्रन्थ लिखा है। बंगाल के आर्य विद्वान् पण्डित शंकरनाथ ने बंगला में "वैदिक यज्ञे हिंसा निषेध" शीर्षक एक ग्रन्थ भी इसी विषय से सम्बन्धित लिखा था। प्रो० विश्वनाथ विद्यालंकार का 'यजुर्वेद-स्वाध्याय और पशुयज्ञ समीक्षा' इसी विषय की विवेचना प्रस्तुत करता है।

वेद और इतिहास-विषयक समीक्षात्मक ग्रन्थ—वेद के अध्येताओं के समक्ष एक अत्यन्त विवादास्पद प्रश्न वेदों में इतिहास की सत्ता को मानने या न मानने से सम्बन्धित उपस्थित होता रहा है। वेदों के तत्त्वार्थ के प्रकाशक महर्षि यास्क ने भी "इत्यैतिहासिकाः" लिखकर एक ऐसे सम्प्रदाय का संकेत दिया है जो वेद में किसी-न-किसी प्रकार के इतिहास का अस्तित्व स्वीकार करता था। यह अनित्य लोगों का अनित्य इतिहास था या सृष्टि

के शाश्वत नियमों की आलंकारिक व्याख्या करने की दृष्टि से निरूपित किया गया इतिहास था, यह भिन्न बात है। स्वामी दयानन्द का स्पष्ट मत था कि वेदों में किसी जाति या व्यक्तिविशेष का लौकिक इतिवृत्त निबद्ध नहीं किया गया है। इस दृष्टि से जो लोग वेदों में किन्हीं ऋषियों, राजाओं, नगरों, नदियों तथा घटनाओं का वर्णन मानते हैं, वे वेदार्थ की यौगिक प्रक्रिया से अनभिज्ञ हैं। अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में एक स्वतन्त्र प्रकरण लिखकर उन्होंने यह स्पष्ट कर दिया कि वेदों में दिखलाई पड़नेवाले व्यक्तिवाचक नाम वस्तुतः किन्हीं ऐतिहासिक व्यक्तियों के वाचक नहीं, अपितु अन्य अर्थों के द्योतक हैं। स्वामी दयानन्द के इस मत की पुष्टि मीमांसा दर्शन से भी होती है।

स्वामी दयानन्द के पश्चात्वर्ती विद्वानों ने वेदों में लक्षित होनेवाले तथाकथित इतिहास की वास्तविकता बताने की दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। सर्वप्रथम पण्डित शिवशंकर शर्मा ने वैदिक इतिहासार्थ निर्णय (१९०९ ई०) लिखा, जिसमें वेदों में पाये जानेवाले ऐतिहासिक संदर्भों के वास्तविक अर्थों को स्पष्ट किया गया था। पण्डित प्रियरत्न आर्ष का ग्रन्थ "वेद में इतिहास नहीं" एक अत्यन्त गवेषणापूर्ण कृति थी, जिसका प्रकाशन आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के आर्य साहित्य-विभाग ने १९९२ वि० में किया था। पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री ने "वैदिक इतिहास विमर्श" लिखकर पाश्चात्य विद्वानों की उन धारणाओं का सप्रमाण खण्डन किया जो वेदों में लौकिक इतिहास को स्वीकार करते हैं।

इस प्रसंग में उन ग्रन्थों का उल्लेख किया जाना भी आवश्यक है जो वेद के तत्-तत् प्रसंगों की यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत करते हैं जिनके आधार पर सामान्यतया वेदों में इतिहास की कल्पना की गई है। पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने 'देवापि और शन्तनु' के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप लिखकर यह स्पष्ट किया कि वेदों में उल्लिखित देवापि और शन्तनु महाभारत के पात्र नहीं हैं। पण्डित जिज्ञासुजी के ही अन्तेवासी पण्डित धर्मदेव निरुक्ताचार्य ने ऋग्वेद (मण्डल १०, सूक्त १७, मन्त्र १-२) में प्रयुक्त त्वाष्ट्री एवं सरण्यू के अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए इस आख्यान के वास्तविक रहस्य को प्रकट किया है। इसी प्रकार पं० युधिष्ठिर मीमांसक ने यजुर्वेद ३०/१८ में प्रयुक्त 'दुष्कृताय चरकाचार्यम्' वचन का स्पष्टीकरण करते हुए इस मान्यता का खण्डन किया है कि यजुर्वेद के इस मन्त्र में किसी चरक ऋषि का वर्णन है। यहाँ यह लिखना भी आवश्यक है कि प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पण्डित सातवलेकर प्रारम्भ में स्वामी दयानन्द के वैदिक मन्तव्यों का अनुसरण करते हुए ही वेदाध्ययन में प्रवृत्त हुए थे, किन्तु कालान्तर में उनके वेद-विषयक विचारों में पर्याप्त परिवर्तन आ गया और उन्होंने वेदों के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों के अनेक मतों को स्वीकार कर लिया। अब वे वेदों में लौकिक इतिहास का अस्तित्व मानने लगे थे। पण्डित सातवलेकर की एतद्विषयक धारणाओं का खण्डन चतुर्वेद-भाष्यकार पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने 'क्या वेद में इतिहास है?' शीर्षक ग्रन्थ में किया है। पण्डित रामगोपाल शास्त्री ने 'क्या वेदों में आर्यों और आदिवासियों का युद्ध है?' (२०२६ वि०), 'वेद में आर्य-दास युद्ध सम्बन्धी पाश्चात्य मत का खण्डन' (२०२७ वि०) तथा 'वेद के आख्यानों का यथार्थ स्वरूप' (२०२९ वि०) शीर्षक ग्रन्थ इसी विषय पर लिखे हैं।

डी० ए० वी० कालेज लाहौर के शोध-पुस्तकालय के पुस्तकालयाध्यक्ष पण्डित हंसराज ने 'वेद में मानुष इतिहास नहीं है' लिखकर इस तथ्य की पुष्टि की है कि वेदों

में प्रयुक्त होनेवाले व्यक्तिवाचक नामों के अर्थ सामान्य संस्कृत कोश की सहायता से करना उपयुक्त नहीं है। यह ध्यातव्य है कि विगत काल में आर्यसमाज में ही पण्डित विश्वबन्धु, पण्डित राजाराम तथा पण्डित चारुदेव आदि ऐसे विद्वान् थे जो स्वामी दयानन्द की सिद्धान्तसरणि से हटकर वेदों में लौकिक इतिहास की सत्ता मानने लगे थे। उधर पण्डित भगवद्दत्त, पण्डित ब्रह्मदत जिज्ञासु, पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी, पण्डित प्रियरत्न आर्ष आदि अन्य विद्वान् भी थे जो स्वामी दयानन्द के एतद्विषयक मन्तव्यों की पुष्टि करते हैं। १८ मई से २२ मई १९३१ तक लाहौर में महात्मा हंसराज की अध्यक्षता में उपर्युक्त विद्वानों के मध्य एक शास्त्रार्थ आयोजित किया गया, जिसमें विचार का विषय था—निरुक्तकार यास्क वेद में इतिहास मानते थे या नहीं ? इस रोचक शास्त्रचर्चा के समय स्वामी सर्वदानन्द जी, लाला देवीचन्द जी, ठाकुर अमरसिंह जी, पण्डित आर्यमुनि जी आदि आर्य विद्वान् भी उपस्थित थे। पाँच दिन की इस शास्त्रचर्चा को उसी समय लिपिबद्ध कर लिया गया था। इस लेखबद्ध शास्त्रार्थ की एक प्रति पण्डित ब्रह्मदत जिज्ञासु के पास थी जिसे पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने सम्पादित कर 'आर्यसमाज के दिग्गज विद्वानों का शास्त्रार्थ' शीर्षक से २०३१ वि० में प्रकाशित किया। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द के वेद-विषयक मन्तव्यों की पुष्टि तथा उपबृंहण में आर्यसमाज के लेखक विद्वानों ने नितान्त मनोयोगपूर्वक कार्य किया है।

वेद और विज्ञान-विषयक साहित्य—स्वामी दयानन्द के वेद-विषयक विचारों का अध्ययन करते समय हम यह देख चुके हैं कि उन्होंने वेदों को सम्पूर्ण अध्यात्म-विद्याओं का आकर होने के कारण धर्मग्रन्थों में सर्वाधिक सम्मान दिया, साथ ही वे यह भी मानते हैं कि वेदों में भौतिक विद्याओं का अस्तित्व भी बीजरूप में विद्यमान है। ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका में उन्होंने वेदों में पाई जानेवाली सृष्टिविद्या, पृथिव्यादिलोकभ्रमणविद्या, गणितविद्या, नौविमानादि विद्याओं का उल्लेख किया है। कालान्तर में स्वामी दयानन्द के अनुयायी आर्य विद्वानों ने अनेक ग्रन्थ लिखकर वेदों में विभिन्न भौतिक विज्ञानों की सत्ता प्रदर्शित की और वेद के सर्वज्ञानमय होने की पुष्टि की। स्वामी दयानन्द ने आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद माना है। वेदों में आयुर्वेद, शरीरशास्त्र तथा चिकित्साशास्त्र प्रतिपादक तथ्यों को उजागर करनेवाले अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। पण्डित निवारणचन्द्र भट्टाचार्य ने 'वेदों से आयुर्वेद का क्रमविकास' शीर्षक एक शोधनिबन्ध का पाठ गुरुकुल काँगड़ी में १९७० वि० में किया था, जो पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुआ। पण्डित राम-गोपाल शास्त्री लिखित वेदों में आयुर्वेद(१९५९ ई०), वेदों में शरीर-विज्ञान और शल्य-क्रिया (पण्डित आत्माराम अमृतसरी), वेदों में शरीरविज्ञान (पण्डित सत्यपाल शास्त्री) आदि इसी कोटि के ग्रन्थ हैं। पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने 'वैदिक रोगजन्तु-शास्त्र' विषय पर एक निबन्ध गुरुकुल काँगड़ी की साहित्य परिषद् में पढ़ा था जो १९६९ वि० में प्रकाशित हुआ। इसमें वैदिक कृमि-विज्ञान पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। वेदों में अन्य भौतिक विद्यायें भी वर्णित हैं। इस तथ्य को पुष्ट करनेवाले ग्रन्थों में पण्डित शिवशंकर शर्मा रचित 'वैदिक विज्ञान' (१९६८ वि०), पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी लिखित 'वेद विद्यायें' (गुरुकुल काँगड़ी के उत्सव पर प्रदत्त व्याख्यान), पण्डित ब्रह्मानन्द आयुर्वेदशिरोमणि लिखित शोधनिबन्ध 'वेद और पश्चिमी विज्ञान' (प्रथम आर्य विद्वत्-सम्मेलन दिल्ली में पठित तथा 'वैदिक साहित्य और भौतिक विज्ञान' शीर्षक से

१९९२ वि० में आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त द्वारा प्रकाशित), पण्डित प्रेमचन्द शास्त्रीकृत 'वेद और विज्ञानवाद', पण्डित प्रियरत्न आर्ष लिखित 'वैदिक सूर्य-विज्ञान' और 'वेद में दो बड़ी वैज्ञानिक शक्तियाँ', पं० वैद्यनाथ शास्त्री लिखित 'वैदिक विज्ञान-विमर्श' (२०२० वि० में सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित) आदि महत्त्वपूर्ण हैं। पण्डित भगवद्दत ने अपने प्रगाढ़ वैदिक स्वाध्याय के बल पर 'वेद-विद्या-निदर्शन' (१९५६ ई०) नामक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखा जिसमें वेद-प्रतिपादित सिद्धान्तों और विज्ञान-निरूपित तथ्यों का समन्वय किया गया है। वेद-प्रतिपादित अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तों पर विचार करने का अवसर भी आर्य विद्वानों को मिला है। इस सम्बन्ध में पण्डित भारतेन्द्रनाथ लिखित 'वैदिक अर्थशास्त्र-परिचय' तथा श्रीपाद दामोदर सातवलेकरकृत 'वैदिक अर्थनीति और स्वामित्व का अधिकार' जैसे ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं। स्वप्नविज्ञान को मनोविज्ञान का ही अंग माना गया है। पण्डित भगवद्दत्त वेदालंकार ने 'वैदिक स्वप्नविज्ञानम्' शीर्षक शोध-निबन्ध संस्कृत में लिखा जिसका हिन्दी अनुवाद गुरुकुल काँगड़ी द्वारा स्वाध्याय मञ्जरी ग्रन्थमाला में प्रकाशित हुआ। पण्डित वीरसेन वेदश्रमी ने वैदिक वृष्टिविज्ञान पर जो शोधकार्य किया है, वह उनके इसी नाम से प्रकाशित ग्रन्थ में लिपिबद्ध हुआ है।

उपर्युक्त विवरण से यह नितान्त स्पष्ट हो जाता है कि आर्यसमाज के विद्वानों ने वेदों में निरूपित वैज्ञानिक सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण में विभिन्न ग्रन्थ लिखकर वेदाचार्य दयानन्द की इस धारणा को ही परिपुष्ट किया है कि वेद सब सत्य विद्याओं के ग्रन्थ हैं और संसार की समस्त लौकिक एवं अलौकिक, भौतिक और पारमार्थिक, प्राकृतिक तथा आध्यात्मिक विद्याओं के आदि-स्रोत भी हैं।

अबतक हमने उन ग्रन्थों पर विचार किया है जो वेदों से सम्बन्धित विभिन्न समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करने हेतु लिखे गये हैं। किन्तु आर्यसमाज के विद्वानों द्वारा लिखित ऐसे ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है जो वेद-निरूपित विभिन्न विषयों का सांगोपांग विवेचन करने के साथ वेदाध्ययन के विभिन्न पहलुओं पर विस्तृत रूप से विचार करते हैं। वेद और तत्सम्बद्ध विषयों की चतुर्दिक् मीमांसा करनेवाले इन सभी ग्रन्थों का विस्तारपूर्वक परिचय देना भी शक्य नहीं है, तथापि हमारा प्रयास है कि वेद की विवेचना करनेवाले इस विशाल ग्रन्थसमूह से हम पाठकों को परिचित करायें, जिसकी रचना स्वामी दयानन्द के अनुयायी विद्वानों द्वारा हुई है।

वेद-विषयक विवेचनात्मक ग्रन्थ—वेद के स्वरूप, उसके कथ्य एवं प्रतिपाद्य तथा अन्य आनुषंगिक विषयों की विवेचना करनेवाले ग्रन्थों में पण्डित रघुनन्दन शर्मा लिखित 'वैदिक सम्पत्ति' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। पण्डित रघुनन्दन शर्मा कानपुर जिले के निवासी थे, किन्तु उनका विस्तृत जीवनपरिचय उपलब्ध नहीं है। यद्यपि वे आर्यसमाज के पंजीकृत सदस्य नहीं थे, किन्तु उनका वेद-विषयक चिन्तन मूलतः आर्यसमाज की वेद-विषयक विचारधारा से पूर्णतया प्रभावित था। उन्होंने 'वैदिक सम्पत्ति' शीर्षक एक विपुलकाय ग्रन्थ लिखा जिसमें वेदों तथा उनके प्रतिपाद्य का तलस्पर्शी विवेचन तो था ही, वैदिक आर्य-सभ्यता एवं संस्कृति के महनीय तत्त्वों का भी मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया था। इस ग्रन्थ की भूमिका महात्मा गांधी द्वारा लिखी जानी थी, किन्तु किन्हीं कारणों से महात्माजी ऐसा नहीं कर सके। ग्रन्थ का प्रकाशन बम्बई के प्रसिद्ध आर्य व्यवसायी सेठ शूरजी वल्लभदास ने १९८७ वि० में किया। तब से इसके अनेक संस्करण

प्रकाशित हुए। वैदिक सम्पत्ति की लोकप्रियता का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि बृहत्-काय होने पर भी स्वाध्यायशील आर्यजनों में यह बहुतायत से पढ़ा जाता रहा है। यह बात नहीं कि वैदिक सम्पत्ति में व्यक्त किये गये सभी विचारों से आर्यसमाज के विद्वानों की सहमति थी। इस ग्रन्थ के लेखक ने वेद-संहिताओं में भी प्रक्षिप्त अंशों की कल्पना की है तथा उपनिषदों के अनेक अंशों को आर्यों के विरोधी द्रविड़ समुदाय द्वारा प्रक्षिप्त सिद्ध किया है। वैदिक सम्पत्ति में उठाये गये ऐसे ही विवादास्पद मुद्दों की समीक्षा महात्मा नारायण स्वामी ने वेद-रहस्य (१९४४ ई०) में की है।

गुरुकुल काँगड़ी में अर्थशास्त्र के प्राध्यापक डाक्टर बालकृष्ण ने 'ईश्वरीय ज्ञान वेद' शीर्षक एक शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखा था। आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त ने इसे १९७३ वि० में प्रकाशित किया। डाक्टर बालकृष्ण ने इसमें वेद-विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर विस्तृत विचार किया है। गुरुकुल झज्जर के पण्डित वेदव्रत शास्त्री का वेद-विमर्श तथा पण्डित वीरसेन वेदश्रमी की 'वैदिक सम्पदा' भी इसी श्रेणी के ग्रन्थ हैं। कुछ विद्वानों के वेद-विवेचन-विषयक स्फुट लेख भी पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं जिनमें वेदों के अध्ययन से सम्बन्धित अनेक पहलुओं पर विचार हुआ है। ऐसे ग्रन्थों में नारायण-स्वामी का वेद-रहस्य, वैद्यनाथ शास्त्री की वैदिक ज्योति, पण्डित विहारीलाल शास्त्री की वेदवाणी, पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक की वैदिक सिद्धान्त-मीमांसा तथा डाक्टर मुंशीराम शर्मा 'सोम' कृत चतुर्वेद-मीमांसा आदि उल्लेखनीय हैं।

वेदाध्ययन में मन्त्रों के देवता, ऋषि, छन्द तथा स्वर आदि का महत्त्व निर्विवाद है। इन विषयों पर भी कुछ उल्लेखनीय कार्य हुआ है। वैदिक देवताओं के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् अध्ययन हुए हैं और उनमें से कतिपय ग्रन्थाकार प्रकाशित भी हो गये हैं। पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार ने सोमदेवता-विषयक अपना निबन्ध प्रस्तुत किया था। ब्रह्मचारी उषर्बुध लिखित रुद्रदेवता-विषयक लघु निबन्ध आर्यसमाज दीवानहाल दिल्ली ने २००७ वि० में प्रकाशित किया। पं० भगवद्दत्त वेदालंकार ने वेद के विभिन्न देवताओं के स्वरूप तथा तत्त्व का विचार करते हुए अनेक शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं यथा विष्णु देवता, ऋभु देवता, सविता देवता, बृहस्पति देवता आदि। देवताओं के साथ-साथ वैदिक ऋषियों के सम्बन्ध में भी कुछ विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखे गये हैं। पण्डित भगवद्दत्त वेदा-लंकार ने ऋषि-रहस्य (२०१९ वि०) तथा स्वामी ब्रह्ममुनि ने मन्त्रों के ऋषि (२०३० वि०) शीर्षक ग्रन्थों में मन्त्रद्रष्टा ऋषियों के सम्बन्ध में स्वविचारों का निबन्धन किया है।

वेदों के अध्ययन के अधिकार का निरूपण करते हुए स्वामी दयानन्द ने अत्यन्त क्रान्तिकारी घोषणा की थी। उनके विचारानुसार वेद परमात्मा की कल्याणी वाणी है, अतः इसे पढ़ने और पढ़ाने तथा सुनने और सुनाने के अधिकारी सभी मनुष्य हो सकते हैं। उन्होंने आब्राह्मण-चाण्डाल पर्यन्त सभी वर्गों के मनुष्यों को शक्ति एवं योग्यता के आधार पर वेदाध्ययन का अधिकारी घोषित किया था। कालान्तर में आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने इसी मन्तव्य की पुष्टि में अनेक ग्रन्थ लिखे। स्वामी दर्शनानन्द का लघु ग्रन्थ 'क्या वेदों के पढ़ने का अधिकार सबको नहीं ?' इस विषय की प्रथम कृति मानी जा सकती है। बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में अरबी-फारसी के प्रोफेसर श्री महेशप्रसाद मौलवी आलिमफाजिल की विदुषी पुत्री कल्याणी देवी को जब उक्त विश्वविद्यालय की

वेद तथा पौरोहित्य कक्षा में प्रविष्ट करने से इन्कार कर दिया गया तो आर्यसमाज में एक आन्दोलन की-सी स्थिति उत्पन्न हो गई। हिन्दू विश्वविद्यालय के वेद-विभाग के ब्राह्मण अध्यापकवर्ग की धारणा थी कि एक अब्राह्मण लड़की को वेद और कर्मकाण्ड के अध्ययन का अधिकार नहीं दिया जा सकता। इस पृष्ठभूमि में पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने 'स्त्रियों का वेदाध्यापन और वैदिक कर्मकाण्ड में अधिकार' शीर्षक एक शोधपूर्ण ग्रन्थ लिखा जिसमें अनेक शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर नारी जाति के वेदाध्ययन तथा वैदिक कर्मकाण्ड के अधिकार की पुष्टि की गई थी। सार्वदेशिक सभा ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ को १९४८ ई० में प्रकाशित किया। स्वामी मुनीश्वरानन्द ने 'यज्ञोपवीत तथा वेद में स्त्री शूद्रों का अधिकार' शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ इसी विषय पर लिखा है।

वेदों के सम्बन्ध में समय-समय पर अनेक प्रकार के विवादास्पद प्रसंग तथा विसंवादी स्वर उभरते रहे हैं। आर्यसमाज के विद्वानों ने अपनी अविचलित वेदनिष्ठा के कारण वेदों पर लगाये जानेवाले ऐसे ही आक्षेपों तथा आरोपों का खण्डन करने तथा विभिन्न शंकाओं के समाधान करने का भरसक प्रयत्न किया है। फलतः आर्यसमाज के वैदिक साहित्य के अन्तर्गत एक बड़ी संख्या ऐसे ही ग्रन्थों की मिलती है जिनमें वेद-विषयक विभिन्न आपत्तियों का निराकरण किया गया है। महामहोपाध्याय आर्यमुनि ने वैदिक मुनि पण्डित हरिप्रसाद के वेद-विषयक मन्तव्यों की समीक्षा में वेद-मर्यादा (१९७४ वि०) ग्रन्थ की रचना की। इलाहाबाद विश्वविद्यालय में रसायनशास्त्र के प्राध्यापक श्री सत्यप्रकाश ने 'वेदों पर अश्लीलता का व्यर्थ आक्षेप' शीर्षक ग्रन्थ लिखकर आक्षेपकर्ता के उन आक्षेपों का प्रबल प्रतिवाद किया जिनके आधार पर उसने वेद-मन्त्रों में अश्लीलता बताई थी।

पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने समय-समय पर वेद-विषयक अनेक विवाद उठाये। उनके कथनानुसार ऋग्वेदीय मन्त्र—'अघोर चक्षु' (१०/८५/४४) में 'देवकामा' पाठ है न कि 'देवृकामा'। इस विवाद की पृष्ठभूमि इस प्रकार थी। उपर्युक्त मन्त्र स्वामी दयानन्द ने संस्कारविधि के विवाह-प्रकरण में उद्धृत किया है और मन्त्रार्थ करते समय 'देवृकामा' पद का अर्थ 'नियोग का प्रसंग उपस्थित होने पर देवर की कामना करनेवाली' किया है। सातवलेकर जी को इस अर्थ में सुरुचि का अभाव नजर आया। उनकी आपत्ति थी कि विवाह जैसे मंगल-प्रसंग में नियोग की चर्चा करना ही असभ्यता तथा अशालीनता है। किन्तु आर्यसमाज के विद्वान् उनके इस कथन से असहमत थे। फलतः पण्डित सातवलेकर की आपत्तियों का उत्तर देते हुए 'ऋग्वेद में देवृकामा पाठ प्राचीन तथा देवकामा नवीन इस पर विचार' (पण्डित लक्ष्मीशंकर मिश्र १९९८ वि०) तथा 'वेद में देवृकामा या देवकामा' (प्रियरत्न आर्ष १९९९ वि०) शीर्षक ग्रन्थ लिखे गये। इन ग्रन्थों में स्वामी दयानन्द द्वारा उद्धृत पाठ 'देवृकामा' को ही प्रामाणिक सिद्ध किया गया था।

कई वर्ष पूर्व गुजराती के शीर्षस्थ साहित्यकार स्व० कन्हैयालाल माणेकलाल मुंशी द्वारा स्थापित भारतीय विद्याभवन द्वारा भारतवर्ष के इतिहास को कई खण्डों में प्रकाशित करने की योजना स्वीकार की गई थी। इस ग्रन्थमाला के प्रथम खण्ड के रूप में 'वैदिक एज' नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जिसमें वेद-विषयक अनेक भ्रान्तिपूर्ण

स्थापनायें की गई थीं। आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने वैदिक एज के प्रत्युत्तर में ग्रन्थ लिखे जिनमें पण्डित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड की कृति 'वेदों का यथार्थ स्वरूप' सर्वश्रेष्ठ कही जा सकती है। अपने विशाल अध्ययन के बल पर लेखक ने वैदिक एज के लेखकों द्वारा प्रस्तुत अलीक धारणाओं का सप्रमाण खण्डन किया और वेदों के वास्तविक स्वरूप को उजागर किया। पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने १९५८ ई० में 'वैदिक एज पर समीक्षात्मक दृष्टि' लिखकर प्रकाशित की। पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री ने 'वैदिक युग और आदि मानव' ग्रन्थ में वैदिक एज की भ्रममूलक बातों का सप्रमाण निराकरण किया।

आर्यसमाज के वैदिक विवेचन में पण्डित लक्ष्मीदत्त दीक्षित प्रणीत सूत्रात्मक ग्रन्थ (हिन्दी व्याख्या-सहित) वेद मीमांसा का पृथक् महत्त्व है। आठ अध्यायों में विभक्त इस ग्रन्थ में लेखक ने वेद-संज्ञा, वेदाविर्भाव, वेद-नित्यत्व, वेद में पुनरुक्ति, वेदार्थ-प्रक्रिया, वेद में इतिहास, वेद-विषय तथा वेदाध्ययन में अधिकार, इन आठ विषयों को प्रथम सूत्रशैली में प्रस्तुत कर पुनः उनकी विस्तृत व्याख्या की है। इसका नवीन संस्करण गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली ने प्रकाशित किया है।

अन्य भाषाओं में वैदिक विवेचन—हिन्दी के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में भी आर्यसमाजी लेखकों ने वेद-विषयक अनेक उल्लेखनीय ग्रन्थों का प्रणयन किया है। लाला जीवनदास-रचित 'मसलाए इल्हाम' तथा स्वामी श्रद्धानन्द रचित 'सुवह उमीद' उर्दू में वैदिक चर्चा का सूत्रपात करनेवाले ग्रन्थ थे। पण्डित कृपाराम रचित 'वेदों की अज़मत' आकार में छोटा होने पर भी वेदों के महत्त्व का निरूपक था। मराठी में पण्डित हरि सखाराम तुंगार ने 'वेद ईश्वरप्रणीत क्यों ?' शीर्षक ग्रंथ लिखा। प्रभाकर शामराव बोरकर ने डा० कृष्णवल्लभ की 'हिन्दी कृति वेदों में क्या है ?' का मराठी अनुवाद 'वेदों मध्ये काय आहे ?' शीर्षक से किया है। श्री प्रियव्रत दास ने उड़िया में 'वेद मनुष्यकृत की ?' नामक पुस्तक लिखी है।

तमिल विद्वान् एम०आर० जम्बुनाथन की कृति 'वेद चन्द्रिका' अपने विषय की तमिल भाषा में लिखी गई एक उत्तम कृति है।

चौथा अध्याय

आर्यसमाज का उपनिषद्-विषयक साहित्य

(१) उपनिषदों के भाष्य और व्याख्यान

उपनिषदों का भारतीय आर्ष साहित्य में प्रमुख स्थान है। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में शतशः उपनिषद्-वचनों को प्रमाण-रूप में उद्धृत किया है। यद्यपि उपनिषदों के ऋषिप्रणीत होने के कारण उनका प्रामाण्य वेदानुकूल होने से ही होता है, तथापि आध्यात्मिक विद्याओं का मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत करने के कारण इन ग्रन्थों को भारतीय मनीषा में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। शंकराचार्य तथा परवर्ती वेदान्ताचार्यों ने तो प्रस्थानत्रयी की कल्पना करते हुए उपनिषदों को 'श्रुति-प्रस्थान' के नाम से ही अभिहित किया है। वस्तुतः शंकर तथा अन्य वेदान्तवादी आचार्यगण अपने वेदान्त-भाष्यों में श्रुति के नाम से प्रायः उपनिषदों के वचनों को ही उद्धृत करते रहते हैं।

यों तो 'उपनिषद्' नामधारी ग्रन्थों की संख्या पर्याप्त अधिक है, किन्तु शंकराचार्य ने ईश से लेकर बृहदारण्यक पर्यन्त दस उपनिषदों पर ही भाष्य लिखे हैं। परम्परानुसार यही प्रामाणिक भी माने जाते हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् का प्रामाण्य भी दशोपनिषदों के तुल्य ही माना जाता है, किन्तु अवशिष्ट उपनिषद् साम्प्रदायिक धारणाओं से ओतप्रोत होने के कारण प्रमाणकोटि में नहीं आते। यहाँ हम आर्यसमाज के विद्वानों द्वारा उपनिषद्-ग्रन्थों पर लिखे गये भाष्य, टीका, व्याख्या, विवेचना आदि से सम्बन्धित साहित्य का संक्षिप्त परिचय कराने का प्रयत्न कर रहे हैं। उपनिषदों पर भाष्यलेखन का सर्वप्रथम प्रयत्न स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा ने किया था। उन्होंने छान्दोग्य व बृहदारण्यक को छोड़कर (श्वेताश्वतर सहित) नौ उपनिषदों पर संस्कृत तथा हिन्दी में प्रौढ़ भाष्य लिखे। पण्डित भीमसेन शर्मा शास्त्रों के उत्कृष्ट विद्वान् थे और संस्कृत भाषा पर उनका असाधारण अधिकार था। अतः उनका यह उपनिषद्-भाष्य भी अनेक दृष्टियों से अपूर्व था। इसमें जीवेश्वर-भेद के सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए उपनिषद्-वाक्यों की पारस्परिक संगति लगाई गई थी। प्रारम्भ में यह भाष्य देशोपकारक यन्त्रालय, प्रयाग से मुद्रित होकर मासिक रूप में प्रकाशित होता रहा, पश्चात् इसे शर्माजी ने स्वयं पुस्तकाकार छापा। इस भाष्य का रचनाकाल १८८८ ई० से १८९१ ई० पर्यन्त है। कालान्तर में चौधरी एण्ड सन्स बनारस ने 'उपनिषद् समुच्चय' शीर्षक से इस भाष्य को एक ही जिल्द में प्रकाशित किया। वर्षों तक अप्राप्य रहने के पश्चात् अब हरयाणा साहित्य संस्थान ने इसको पुनः प्रकाशित किया है। यहाँ यह लिख देना मनोरंजक होगा कि जब पण्डित भीमसेन शर्मा ने आर्यसमाज का परित्याग कर दिया तो

उन्होंने अपने पूर्वकृत द्वैतवाद-(भेदवाद)-प्रतिपादक उपनिषद्-भाष्य को नकारते हुए अद्वैतवादी दृष्टिकोण से उपनिषदों पर एक अन्य भाष्य लिखा और ब्रह्मप्रेस इटावा से प्रकाशित किया।

पण्डित भीमसेन के पश्चात् उपनिषद्-भाष्य लिखनेवालों में पण्डित आर्यमुनि का नाम उल्लेखनीय है। आर्यमुनि ने बृहदारण्यक पर्यन्त दस उपनिषदों पर अपना विद्वत्तापूर्ण आर्य-भाष्य लिखा है। इसका प्रथम संस्करण लाहौर से छपा था। पुनः गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली ने छान्दोग्य और बृहदारण्यक को छोड़कर आठ उपनिषदों के भाष्य को २००६ वि० में प्रकाशित किया। आर्यमुनि का उपनिषद्-भाष्य अद्वैतवादी विचारधारा का तीव्र प्रत्याख्यान करता है। उनके विचार में शंकराचार्य ने उपनिषदों से अद्वैतवाद और मायावाद को सिद्ध कर मूल ग्रन्थों के साथ न्याय नहीं किया है। पण्डित आर्यमुनि के अनुसार—

उपनिषदों में है नहीं माया मत को गन्ध।
आद्योपान्त विचार बिन भणत हैं मतिमन्द॥

लाहौर के ही एक अन्य आर्यविद्वान् पण्डित राजाराम ने ईश से बृहदारण्यक पर्यन्त दस उपनिषदों पर सरल भाष्य लिखा था जो आर्ष-ग्रन्थावली के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। पण्डित बद्रीदत्त शर्मा ने ईश से छान्दोग्य पर्यन्त नौ उपनिषदों पर भाष्य लिखा। माण्डूक्य उपनिषद् का भाष्य लिखते समय उन्होंने इस उपनिषद् पर आचार्य गौड़पाद-कृत कारिकाओं को भी अर्थसहित उद्धृत किया था। उपनिषदों के अन्य भाष्यकारों में स्वामी सत्यानन्द (एकादशोपनिषद् संग्रह), पण्डित देवेन्द्रनाथ शास्त्री (नव-उपनिषद्-संग्रह), स्वामी ब्रह्ममुनि (उपनिषद् सुधा-सार), महात्मा नारायण स्वामी (उपनिषद्-रहस्य) तथा पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार (एकादशोपनिषद्) के नाम उल्लेखनीय हैं। महात्मा नारायण स्वामीजी ने उपनिषद्-विद्या को जिस सरल तथा सुगम शैली में व्याख्यात किया, वह अनूठी थी। यही कारण है कि उपनिषद्शास्त्र के जिज्ञासुओं ने उनके भाष्य का सर्वाधिक लाभ उठाया।

स्वामी दर्शनानन्दकृत उपनिषदों का उर्दू भाष्य—आर्यसमाज के प्रसिद्ध शास्त्रज्ञ तथा तार्किक विद्वान् स्वामी दर्शनानन्द ने प्रारम्भिक ६ उपनिषदों पर उर्दू भाषा में विस्तृत तर्कपूर्ण भाष्य लिखा है। इसके अनेक अनुवाद एवं संस्करण हिन्दी में प्रकाशित हुए हैं। श्री अवधविहारीलाल तथा पण्डित गोकुलचन्द्र दीक्षित ने इसका हिन्दी अनुवाद किया है। आचार्य विश्वश्रवा तथा स्वामी वेदानन्द तीर्थ द्वारा सम्पादित संस्करण भी छपे। पण्डित ईश्वरीप्रसाद प्रेम द्वारा सम्पादित संस्करण तपोभूमि के विशेषांक के रूप में निकला। दर्शनानन्दकृत भाष्य का वैशिष्ट्य प्रश्नोत्तर तथा शंका-समाधान की शैली का आश्रय लेते हुए ग्रन्थ के मर्म को उद्घाटित करना है। आज तक इस भाष्य के अनेक संस्करण प्रकाशित हुए हैं और हो रहे हैं। स्वामी दर्शनानन्द ने दसों उपनिषदों को मूल रूप में भी छपवाया था। वैदिक यन्त्रालय से भी ईशादि दशोपनिषद् : मूल १९६० वि० में छपे थे।

एक या अधिक उपनिषदों के भाष्यकार—अबतक हमने एकाधिक उपनिषदों पर समष्टि रूप से लिखनेवाले विद्वानों एवं उनकी कृतियों पर विचार किया है। किन्तु अन्य रीति से विचार करने से स्पष्ट होता है कि उपनिषदों में व्यक्त विचारों की

उदात्तता, शैली की रमणीयता तथा प्रतिपाद्य सामग्री की गुरु गम्भीरता के कारण अधिकाधिक विद्वानों ने एक या एक से अधिक उपनिषदों पर अपनी लेखनी चलाई है। यहाँ हम पृथक्शः इन उपनिषदों के भाष्यों एवं भाष्यकारों का उल्लेख करेंगे।

ईशोपनिषद्—यजुर्वेद के ४०वें अध्याय का किंचित् परिवर्तित रूप ही ईशोपनिषद् या वाजसनेयोपनिषद् के नाम से प्रसिद्ध है। यही एक उपनिषद् है जिसमें वेद-मन्त्रों को यथावत् रक्खा गया है, अतः इसे ईश्वरोक्त कहना न्यायोचित ही है। मन्त्र-संख्या की दृष्टि से चाहे यह उपनिषद् कितना ही छोटा हो, किन्तु विचार-सामग्री की गूढ़ता के कारण यह विद्वत्समाज में सदा से आदरणीय रहा है। आर्यसमाज के सर्वाधिक विद्वानों के भाष्य इस उपनिषद् पर ही मिलते हैं। पूर्वोल्लिखित भाष्यकारों के अतिरिक्त पण्डित भूमित्र शर्मा, पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार, पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय, पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति, स्वामी वेदानन्द वेदवागीश, पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकार, पण्डित जगदीश विद्यार्थी, स्वामी विद्यानन्द सरस्वती आदि विद्वानों ने ईशोपनिषद् के स्वयोग्यता के अनुसार भाष्य लिखे हैं। पण्डित गुरुदत्त ने इसपर एक विद्वत्तापूर्ण अंग्रेजी टीका लिखी थी जो पण्डित आत्माराम अमृतसरी द्वारा हिन्दी में अनूदित हुई। पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री ने बंगला तथा पण्डित श्रीकान्त भगतजी ने गुजराती में इसपर भाष्य लिखे हैं। इस ग्रन्थ के लेखक की सूचना के अनुसार इस उपनिषद् पर आर्य विद्वानों द्वारा लिखे गये भाष्य-टीकादि ग्रन्थों की संख्या लगभग ५० है। पण्डित प्रियरत्न विद्यार्थी ने 'ईशोपनिषद् का स्वरूप' शीर्षक एक विवेचनात्मक ग्रन्थ लिखकर इस उपनिषद् के गूढ़ रहस्यों को खोला है।

ईशोपनिषद् की महत्ता और लोकप्रियता का ज्ञान उसपर लिखे हुए विभिन्न टीका-ग्रन्थों की संख्या से ही हो जाता है। ऊपर हमने पण्डित गुरुदत के अंग्रेजी भाष्य की चर्चा की है। बाबा छज्जूसिंह तथा पण्डित दुर्गाप्रसाद के अंग्रेजी अनुवादों का भी पता चला है। महात्मा नारायण स्वामीकृत भाष्य का अंग्रेजी अनुवाद पण्डित घासीराम ने A Commentary on the Ishopanishad शीर्षक से किया था जो आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त द्वारा प्रकाशित हुआ। बंगला एवं गुजराती अनुवादों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ की उड़िया एवं तेलुगु में भी टीकायें लिखी गई हैं। पण्डित मेधाव्रताचार्य ने तो ईशोपनिषद् का संस्कृत पद्यों में अनुवाद कर उसे संस्कृत काव्य के रूप में परिणत किया था। आकार में लघु किन्तु गम्भीर भावों से युक्त होने के कारण कतिपय कवि-हृदय विद्वानों ने ईशोपनिषद् को हिन्दी काव्य का जामा भी पहनाया है। श्री सत्यप्रकाश ने ब्रह्मविज्ञान शीर्षक से ईश एवं श्वेताश्वतरोपनिषद् का काव्यानुवाद किया था। हितैषी अलावलपुरी, मुंशीलाल गुप्त तथा ओमशरण विजयकृत पद्यानुवाद भी प्रकाशित हुए हैं।

केनोपनिषद्—आकार की दृष्टि से केनोपनिषद् भी छोटा ही है। सरल गद्य-पद्य मिश्रित शैली में यक्ष एवं देवताओं के प्रश्नोत्तर के रूपक का आधार लेकर लिखा जाने के कारण केनोपनिषद् का उपनिषद्-वाङ्मय में विशिष्ट महत्त्व है। प्रसिद्ध भाष्यकारों के अतिरिक्त इस ग्रन्थ पर पण्डित भूमित्र शर्मा, पण्डित रामगोपाल शास्त्री आदि की टीकायें भी मिलती हैं। बाबा छज्जूसिंह, पण्डित दुर्गाप्रसाद तथा पण्डित गंगाप्रसाद जज ने केनोपनिषद् का अंग्रेजी अनुवाद किया है। गुजराती, बंगला, उड़िया तथा तेलुगु भाषाओं में भी अनुवाद हुए हैं।

कठोपनिषद्—नचिकेता-यम-संवाद के माध्यम से ब्रह्मतत्त्व का मार्मिक निरूपण करने के कारण कठोपनिषद् को उपनिषद्-वाङ्मय में उच्च स्थान प्राप्त है। नाना रूपकों, दृष्टान्तों एवं भावस्फूर्त शैली के माध्यम से सर्वोच्च आत्मतत्त्व की व्याख्या करने वाले इस उपनिषद् पर प्रसिद्ध भाष्यकारों ने तो अपनी लेखनी चलाई ही है, पण्डित प्रियरत्न विद्यार्थी लिखित 'कठोपनिषद् का स्वरूप' तथा प्रिंसिपल दीवानचन्द का हिन्दी भाष्य इस ग्रन्थ के रहस्य को खोलने में अपूर्व सहायता देते हैं। श्री दीवानचन्द एवं गंगाप्रसाद जज की अंग्रेजी टीकाओं के अतिरिक्त इसके गुजराती, उड़िया, तमिल तथा तेलुगु में भी अनुवाद हुए हैं।

प्रश्नोपनिषद्—ऋषियों के पारस्परिक प्रश्नोत्तर के रूप में निबद्ध इस उपनिषद् में अनेक रहस्यपूर्ण आध्यात्मिक तथ्य उभरे हैं। आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वानों के भाष्यों के अतिरिक्त प्रिंसिपल दीवानचन्द, स्वामी शुक्लानन्द तथा मौरिशसदेशीय आर्य विद्वान् पण्डित वासुदेव विष्णुदयाल (जिज्ञासु के ६ प्रश्न) द्वारा लिखित व्याख्या-ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। गुजराती, मराठी तथा तेलुगु में इसके अनुवाद छपे हैं। पण्डित दुर्गाप्रसाद ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया था। अनेक विद्वानों ने प्रश्नोपनिषद् की "प्राचीन सत्यनारायण की कथा" का शीर्षक देकर व्याख्याएँ लिखी हैं। इन व्याख्याओं के लेखकों में महात्मा आनन्द स्वामी, आचार्य विश्वश्रवा, पण्डित गंगाधर शास्त्री आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

मुण्डकोपनिषद्—कठ की ही भाँति मुण्डकोपनिषद् भी आध्यात्मिक भावों की काव्यपूर्ण अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है। हिन्दी भाष्यों के अतिरिक्त पण्डित मायाशंकर शर्मा तथा पण्डित गोपदेव ने इसे क्रमशः गुजराती तथा तेलुगु में अनूदित किया है। पण्डित गुरुदत्त ने जो अंग्रेजी अनुवाद किया था उसका संशोधित संस्करण पंण्डित दुर्गाप्रसाद ने प्रकाशित किया तथा पण्डित आत्माराम अमृतसरी ने उसका हिन्दी में अनुवाद किया।

माण्डूक्योपनिषद्—आकार में अत्यन्त लघु होने पर भी ओंकार (प्रणव) की गुरु-गम्भीर व्याख्या प्रस्तुत करनेवाले माण्डूक्य उपनिषद् का अध्यात्मविद्या के उपासकों में बड़ा महत्त्व है। पण्डित गुरुदत्त ने इस गूढ़ ग्रन्थ की सरल एवं स्पष्ट अंग्रेजी व्याख्या कर इसके रहस्यों को सुगम बना दिया था। पण्डित आत्माराम अमृतसरी द्वारा इसका हिन्दी अनुवाद किया गया जो १८९१ ई० में छपा। स्वामी दर्शनानन्दकृत माण्डूक्योपनिषद् के उर्दू अनुवाद का गुजराती भाषान्तर अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। पण्डित गोपदेव ने इसे तेलुगु में भी अनूदित किया है। पण्डित प्रियरत्न आर्ष ने "माण्डूक्योपनिषद् का स्वरूप" लिखकर इसमें व्याख्यात विषय का सुगम स्पष्टीकरण किया था।

ऐतरेयोपनिषद्—स्वल्पाकार वाले ऐतरेयोपनिषद् की व्याख्या पण्डित भीमसेन, पण्डित आर्यमुनि, पण्डित राजाराम आदि पुराने विद्वानों ने लिखी है। पण्डित तुलसीराम स्वामी के अनुज पण्डित छुट्टनलाल स्वामी ने भी ऐतरेय तथा तैत्तिरीय उपनिषद् पर सुबोध भाष्य लिखा है। उनके ये दोनों भाष्य स्वामी प्रेस, मेरठ से छपे थे।

तैत्तिरीयोपनिषद्—इस उपनिषद् के प्रमुख भाष्यकार वही हैं, जिनका ऊपर उल्लेख हो चुका है। इसके अंग्रेजी, गुजराती तथा तेलुगु में भी अनुवाद हुए हैं। पण्डित दुर्गाप्रसाद ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद किया। पण्डित वसनजी मुकुन्दजी देसाई का

गुजराती अनुवाद १९०८ ई० में बम्बई से छपा था। तेलुगु अनुवाद पण्डित गोपदेव ने किया है।

छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक उपनिषद्—प्रसिद्ध मैथिल विद्वान् शिवशंकर शर्मा ने छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषदों पर बृहद्-भाष्य संस्कृत तथा हिन्दी में लिखे हैं। इनका प्रकाशन वैदिक यन्त्रालय अजमेर ने किया था। पण्डित आर्यमुनि, पण्डित राजाराम, पण्डित बद्रीदत्त जोशी तथा महात्मा नारायण स्वामी के भाष्य भी उपलब्ध हैं। ब्रह्ममुनि ने छान्दोग्योपनिषद्-कथामाला तथा बृहदारण्यक-उपनिषद्-कथामाला शीर्षक ग्रन्थ लिखे जिनमें इन उपनिषदों में वर्णित उपाख्यानों को सरल शैली में प्रस्तुत किया गया है। छान्दोग्य एवं बृहदारण्यक का तेलुगु अनुवाद पण्डित गोपदेव ने किया है। मुंशी केवलकृष्ण ने बृहदारण्यक का उर्दू में भी अनुवाद किया था।

श्वेताश्वतरोपनिषद्—दशोपनिषदों के पश्चात् श्वेताश्वतर की गणना भी महत्त्वपूर्ण एवं प्रामाणिक उपनिषद् के रूप में होती है। ईश्वर, जीव एवं प्रकृति की पृथक्ता को सिद्ध करने में श्वेताश्वतर-उपनिषद् ने बड़ी स्पष्टता से काम लिया है। आर्यसमाज के दार्शनिक मतवाद की पुष्टि में श्वेताश्वतर के वचनों को अधिक सुगमता से प्रस्तुत किया जाता रहा है। पण्डित भीमसेन शर्मा और पण्डित तुलसीराम स्वामी ने श्वेताश्वतर के संस्कृत एवं हिन्दी में प्रौढ़ भाष्य लिखे। पण्डित राजाराम तथा पण्डित जगत्कुमार शास्त्री के भाष्य विषय को सुगम रीति से प्रस्तुत करते हैं। मेधारथी स्वामी ने श्वेताश्वतरशतक में इस उपनिषद् के सौ वचनों का संग्रह किया है। पण्डित गोपदेव ने तेलुगु में भाष्य लिखा है।

यहाँ तक हमने प्रमुख उपनिषदों पर लिखे गये भाष्य, टीकादि ग्रन्थों का विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु कुछ गौण एवं लघु आकार के उपनिषदों का भी अनुवाद एवं सम्पादन आर्य विद्वानों ने किया है। स्वामी मंगलानन्द पुरी ने वज्रसूची उपनिषद् का अनुवाद किया था। पण्डित रामदत्त शुक्ल ने आत्मोपनिषद्, गायत्री उपनिषद् तथा शारीरिकोपनिषद् शीर्षक तीन लघु उपनिषदों का अनुवाद किया। ये तीनों ग्रन्थ घासीराम प्रकाशन विभाग, आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश से छपे थे।

उपनिषदों में वर्णित सिद्धान्तों को सरल कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत करने का प्रयत्न भी हुआ है। उपनिषदों पर आधारित कथामालाओं के लेखकों का प्रयोजन सरल भाषा में उपनिषद्-वर्णित तथ्यों को पाठकों तक पहुँचाने का ही रहा है। ऐसे लेखकों में महात्मा नारायण स्वामी (उपनिषद्-कथामाला), पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय (भगवत्-कथा), श्री चिरंजीवलाल वानप्रस्थ (उपनिषद्-कथा) तथा पण्डित शिवदयालु (उपनिषद्-कथामृत) के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने औपनिषद्-श्रुतिसंग्रह तथा पण्डित दीनानाथ सिद्धान्तालंकार ने उपनिषद्-वचनामृत शीर्षक ग्रन्थों में उपनिषदों की सूक्तियों एवं महत्त्वपूर्ण वचनों का संग्रह किया है।

(२) उपनिषदों पर आलोचनात्मक साहित्य

उपनिषद्-साहित्य की महत्ता तथा उनमें निहित आध्यात्मिक विषयों की उत्कृष्टता का दिग्दर्शन करानेवाले कतिपय विवेचनामूलक ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। इन ग्रन्थों में उपनिषद्-वाङ्मय का सामान्य परिचय देने के पश्चात् उनके विवेचनीय विषयों

को संक्षिप्त रूप से प्रस्तुत किया गया है। साथ ही स्वदेश एवं विदेश के विद्वानों द्वारा उपनिषदों के महत्त्व का प्रतिपादन करनेवाली सम्मतियों का भी संग्रह किया गया है। ऐसे ग्रन्थों में पण्डित राजाराम और पण्डित इन्द्र वेदालंकार लिखित उपनिषदों की भूमिका (दोनों लेखकों की इसी नाम की पृथक्-पृथक् पुस्तकें), पण्डित प्रियरत्न आर्षकृत उपनिषदों का वेदान्त, पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा-लिखित उपनिषदों की उत्कृष्टता, प्रिंसिपल दीवानचन्दकृत उपनिषद्-दिग्दर्शन, आनन्द स्वामी लिखित 'उपनिषदों का सन्देश' आदि उल्लेखनीय हैं। पण्डित जयदेव वेदालंकार का 'उपनिषदों का तत्त्वज्ञान' तथा पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार-रचित 'उपनिषद्प्रकाश' एवं 'एकादशोपनिषद्' गम्भीर चिन्तनयुक्त ग्रन्थ हैं। महात्मा आनन्द स्वामी रचित "उपनिषदों का सन्देश" का श्री दयाल आर्य ने गुजराती में अनुवाद किया है, जबकि प्रिंसिपल दीवानचन्द ने The Studies in the Upanishads शीर्षक अंग्रेजी ग्रन्थ में उपनिषदों के प्रतिपाद्य का सुन्दर विश्लेषण किया है। लाला लाजपतराय के अनुज दलपतराय विद्यार्थी ने The Sacred Books of India ग्रन्थमाला के अन्तर्गत The Upanishads : An Introduction to their study शीर्षक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा था। यह अरोड़वंश प्रेस, लाहौर से १८९७ में छपा।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि उपनिषद्-साहित्य को लोक-भाषाओं के माध्यम से जनसाधारण तक पहुँचाने में आर्यसमाजी लेखकों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। यों तो रामकृष्ण मिशन, थियोसोफिकल सोसाइटी आदि संस्थाओं ने भी उपनिषद्-विद्या पर अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है, किन्तु उनके ये प्रयत्न मुख्यतः अंग्रेजी भाषा में ही थे, अतः भारत के जनसाधारण के लिए उनकी उपयोगिता अधिक नहीं मानी जा सकती। इस दृष्टि से आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा किये गये उपर्युक्त साहित्यिक योगदान की महत्ता निर्विवाद है।

पाँचवाँ अध्याय

आर्यसमाज का दर्शनविषयक साहित्य

(१) आर्यसमाज का दर्शन-विषयक साहित्य

स्वामी दयानन्द की धार्मिक एवं आध्यात्मिक विचारधारा वेदाधारित तत्त्व-चिन्तन से प्रेरणा ग्रहण करती है। वेदों के आविर्भाव के शताब्दियों पश्चात् इन ग्रन्थों में निहित दार्शनिक तत्त्वों को ही षड्दर्शनों के रूप में व्यवस्थित किया गया। वैदिक साहित्य में इन्हें वेदों का उपाङ्ग कहा गया है। सभी दर्शन वेदों को परम प्रमाण स्वीकार करते हैं, अतः पाश्चात्य विद्वानों ने इन्हें Orthodox Systems की संज्ञा प्रदान की है। इसके विपरीत चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शनों को Hetrodox कहा जाता है, जो वेद के प्रमाणत्व से इन्कार करते हैं। स्वामी दयानन्द ने षड्दर्शनों को एक-दूसरे का विरोधी न मानकर एक-दूसरे का पूरक कहा है। उनके विचारानुसार ये दर्शन सृष्टि-प्रपंच की व्याख्या एक निश्चित दृष्टिकोण से करते हैं, अतः वे परस्पर सामंजस्यमूलक हैं, न कि विरोधमूलक। उनके अनुसार सांख्यदर्शन सृष्टिरचना की प्रक्रिया की व्याख्या करता है तो योगदर्शन में परमात्मा के साक्षात्कार करने में उपायभूत समाधि-सिद्धि तथा उसके साधनरूप योगांगों की व्याख्या की गई है। वैशेषिक दर्शन यदि पदार्थों की व्याख्या करके परमाणुवाद को सिद्ध करता है तो न्याय में भारतीय तर्कशास्त्र एवं युक्तिविज्ञान का ऊहापोह किया गया है। वेदान्त यदि सृष्टि के निमित्त कारण परमात्मतत्त्व की व्याख्या करता है तो मीमांसा में याज्ञिक कर्मकाण्ड का विचार किया गया है। इस प्रकार स्वामी दयानन्द के मत में षड्दर्शनों की समन्वयमूलक व्याख्या करने से ही दर्शनकार ऋषियों के वास्तविक अभिप्राय को समझा जा सकता है।

स्वामी दयानन्द षड्दर्शनों की साम्प्रदायिक दृष्टि से व्याख्या करने के विरुद्ध थे। उन्होंने मध्यकालीन विद्वानों को दर्शनों की साम्प्रदायिक एवं एकांगी व्याख्या करने के लिए दोषी ठहराया है। जैसाकि हम देखते हैं, शंकराचार्य ने बादरायणकृत वेदान्त-सूत्रों की व्याख्या करते हुए अद्वैतवाद तथा मायावाद का पोषण करने के मोह में पड़कर सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक और मीमांसा का अनावश्यक खण्डन किया है। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द न तो सांख्य और मीमांसा को अनीश्वरवादी ही मानते हैं और न वे इनको परस्पर प्रतिद्वन्द्वी विचारधाराएँ ही स्वीकार करते हैं। स्वामी दयानन्द ने यद्यपि अपने ग्रन्थों में सांख्यादि वैदिक दर्शनों के सैकड़ों सूत्रों को प्रयोजनवशात् उद्धृत किया है, किन्तु वे स्वजीवन में इन ग्रन्थों पर विस्तृत भाष्य लिखने का अवसर नहीं निकाल पाये थे। उनके जीवनचरित में एक प्रसंग आता है जबकि उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह ने उन्हें षड्दर्शनों का भाष्य लिखने की प्रेरणा दी थी और आश्वासन दिया कि इसके प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय भी वे उठायेंगे। ऐसा लगता है कि वेदभाष्य-प्रणयन

में व्यस्त रहने के कारण स्वामीजी को दर्शनों पर लेखनी चलाने का समय नहीं मिल सका।

आर्यसमाजी विद्वानों के षड्दर्शन-विषयक ग्रन्थ—सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से पण्डित प्रभुदयालु ने मीमांसा को छोड़कर अवशिष्ट पाँच दर्शनों का भाष्य लिखा था। कालान्तर में आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने षड्दर्शनों पर टीका, भाष्य, व्याख्या, विवेचना आदि ग्रन्थों के लेखन के अतिरिक्त स्वतंत्र रूप से मौलिक दार्शनिक कृतियों का भी प्रणयन किया। यहाँ हम किंचित् विस्तारपूर्वक इस साहित्य का विवरण दे रहे हैं—

सांख्य दर्शन—सांख्य-दर्शन का प्रवर्त्तन महर्षि कपिल ने किया था। पश्चिमी विद्वानों के अनुसार कपिलप्रोक्त जिस षडध्यायी सांख्यदर्शन को हम सांख्य-सूत्रों के नाम से जानते हैं, वह इतना प्राचीन नहीं है जितना कि उसे माना जाता है। यहाँ तक कहा गया है कि पण्डित ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिका इस दर्शन का प्राचीनतम ग्रन्थ है और इन कारिकाओं के आधार पर ही उपलब्ध सांख्यसूत्रों की रचना की गई है। परन्तु प्राचीन भारतीय मत इससे भिन्न है। पुरातन भारतीय परम्परा के अनुसार कपिल का काल अत्यन्त प्राचीन है और उपलब्ध सांख्यसूत्र इन्हीं महर्षि के द्वारा रचित हैं। आर्यसमाज की भी यही मान्यता है। इस दर्शन पर आर्यसमाज के प्रख्यात विद्वानों के भाष्य उपलब्ध हैं। स्वामी दर्शनानन्द के उर्दू अनुवाद के अतिरिक्त पण्डित आर्यमुनि, पण्डित राजाराम, पण्डित तुलसीराम स्वामी, पण्डित गोपाल आदि के सांख्यभाष्य उल्लेखनीय हैं। स्वामी ब्रह्ममुनि ने सांख्यदर्शन का संस्कृत में विस्तृत भाष्य लिखा है। किन्तु सांख्यदर्शन का अधिकृत भाष्य करने का श्रेय पण्डित उदयवीर शास्त्री को है जिनका विद्योदयभाष्य इस शास्त्र की सारी गुत्थियों को सुलझा देता है। गुजराती भाषा में पण्डित मायाशंकर शर्मा की टीका उल्लेखनीय है। पण्डित गोपदेव ने इस दर्शन का तेलुगु अनुवाद भी किया है।

कापिल सूत्रों के अतिरिक्त सांख्यदर्शन के स्फुट ग्रन्थों पर भी टीकाएँ लिखी गई हैं। पण्डित कृपाराम शर्मा ने विज्ञानभिक्षुकृत सांख्य-प्रवचनभाष्य तथा सांख्यसूत्रों को भारतजीवन प्रेस काशी से मुद्रित कराकर प्रकाशित किया था। पण्डित राजाराम ने कपिलकृत सांख्यतत्त्वसमास, पञ्चशिखाचार्यकृत सांख्यसूत्र तथा ईश्वरकृष्णरचित सांख्यकारिका का सुगम हिन्दी अनुवाद किया। ये तीनों ग्रन्थ एक ही जिल्द में १९१२ ई० में प्रकाशित हुए थे। स्वामी ओमानन्द तीर्थरचित सांख्य-योगसार में सांख्यतत्त्व-समास एवं सांख्यसार ग्रन्थों की व्याख्या की गई है।

जैसाकि हम संकेत कर चुके हैं पण्डित उदयवीर शास्त्री का विद्योदयभाष्य इस दर्शन की प्रामाणिक तथा विश्वसनीय व्याख्या प्रस्तुत करता है। विद्योदयभाष्य के अतिरिक्त पण्डित उदयवीर शास्त्री ने "सांख्यदर्शन का इतिहास" तथा "सांख्य सिद्धान्त" शीर्षक दो अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी लिखे हैं। सांख्यदर्शन का इतिहास अपने विषय का अनुपम शोधग्रन्थ है। सांख्य के समस्त उपलब्ध तथा अनुपलब्ध (किन्तु उल्लिखित) ग्रन्थों का कालक्रमानुसार विवेचन उसकी प्रमुख विशेषता है। 'सांख्य सिद्धान्त' में इस शास्त्र का सैद्धान्तिक विवेचन पुरुष, प्रकृति तथा विकार आदि शीर्षकों के अन्तर्गत किया गया है। साथ ही इस उपपत्ति का भी सप्रमाण खण्डन किया गया है कि कपिलप्रोक्त

सांख्य एक अनीश्वरवादी दर्शन है।

योगदर्शन—सांख्य और योग समान तन्त्र हैं। आकार में अत्यन्त लघु होने पर भी पातंजल योगदर्शन कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। समाधिपाद, साधनापाद, विभूतिपाद तथा कैवल्यपाद शीर्षक चार पादों में विभक्त इस दर्शन की समस्त सूत्रसंख्या १६५ है। योगदर्शन के भाष्यकारों में पण्डित आर्यमुनि, पण्डित राजाराम, पण्डित तुलसीराम-स्वामी आदि की गणना आर्यसमाज के पुराने विद्वानों में होती है। महात्मा नारायण-स्वामी (योगरहस्य), वेदानन्द तीर्थ (योगोपनिषद्), पण्डित गोपाल (योगामृत), स्वामी ब्रह्ममुनि (आर्ष-योग-प्रदीपिका), स्वामी विद्यानन्द विदेह (योगालोक) आदि भाष्यकारों ने इस दर्शन की सुबोध व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। योगदर्शन पर व्यास का भाष्य तथा भोज की वृत्ति प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। योगदर्शन के सूत्रों की व्यास-भाष्यसहित टीका प्रस्तुत करनेवालों में पण्डित रुद्रदत्त शर्मा, पण्डित भीमसेन शर्मा (आगरा), स्वामी विज्ञानाश्रम तथा पण्डित राजवीर शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं। अन्तिम विद्वान् ने योगदर्शन के कतिपय उन सूत्रों के स्वामी दयानन्दकृत अर्थों का भी संकलन कर दिया है जो स्वामी जी के ग्रन्थों में यत्र-तत्र निबद्ध हुए हैं।

योगदर्शन तथा उसपर लिखे गए व्यास-भाष्य को विरजानन्द प्रेस लाहौर ने अंग्रेजी में छापा था। योगदर्शन को व्यास-भाष्यसहित मूल रूप में पण्डित कृपाराम शर्मा ने प्रकाशित किया था। योगसाधना के मर्मज्ञ साधक स्वामी ओमानन्द तीर्थ ने 'पातंजल योग प्रदीप' लिखकर व्यास-भाष्य तथा भोज-वृत्तिसहित योगदर्शन का विस्तृत एवं अधिकृत भाष्य प्रस्तुत किया है। इस दर्शन के रहस्यों को उद्घाटित करने में पण्डित उदयवीर शास्त्री का परिश्रम प्रशंसनीय है जो उनके द्वारा लिखित विद्योदय भाष्य के रूप में दिखायी पड़ा है। लाहौर के विरजानन्द प्रेस से योगदर्शन (मूल व व्यास-भाष्य) का अंग्रेजी रूपान्तर भी प्रकाशित हुआ था। पण्डित गोपाल ने 'The Yoga of Patanjali' शीर्षक से इस दर्शन का सुगम अंग्रेजी अनुवाद किया था जो १६४६ ई० में प्रकाशित हुआ था। पण्डित मायाशंकर शर्मा का गुजराती अनुवाद तथा पण्डित गोपदेव का तेलुगु अनुवाद भी उपलब्ध होता है। पण्डित धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री की अंग्रेजी टीका 'दि एक्सपोजिशन ऑफ योग' शीर्षक से छपी थी।

योगदर्शन की व्यावहारिक और आध्यात्मिक उपयोगिता सर्व प्रकार से मान्य है। योग के आसन एवं प्राणायाम आदि अंगों का मानव के शरीर तथा उसके प्राणों को बलवान् एवं स्वस्थ बनाये रखने में जो योगदान है उसे सभी ने स्वीकार किया है। फलतः यौगिक आसनों पर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। काशी के स्वामी अभयानन्द सरस्वती ने योगविषयक अनेक स्फुट ग्रन्थ लिखे। स्वामी दयानन्द के साक्षात् योगशिष्य स्वामी लक्ष्मणानन्द सरस्वतीरचित 'ध्यानयोगप्रकाश' योग-तत्त्वों की व्याख्या का एक अतीव लोकप्रिय ग्रन्थ है, जिसके अब तक कई संस्करण विभिन्न स्थानों से छप चुके हैं। पण्डित भगवान्देव शर्मा, स्वामी सच्चिदानन्द योगी, ओंकारानन्द सरस्वती आदि लेखकों की अनेक कृतियाँ योग के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालती हैं। योग-विषयक अन्य विवेचनात्मक ग्रन्थों में स्वामी ओमानन्द तीर्थकृत 'पातंजल योग' तथा श्री अरविन्द की 'योगपद्धति', डॉक्टर योगेन्द्र पुरुषार्थीकृत 'वेदों में योगविद्या' तथा स्वामी सत्यपति परि-व्राजकलिखित 'योग-मीमांसा' उल्लेखनीय हैं। स्वामी ओमानन्द तीर्थ ने पातंजल योग

और अरविन्द द्वारा प्रवर्तित योगपद्धति की तुलना करते हुए पातंजल योग की श्रेष्ठता सिद्ध की है। डॉक्टर पुरुषार्थी ने अपने शोध-प्रबन्ध में योग-दर्शन का मूल वेदसंहिताओं में खोजते हुए सभी योगांगों को वेदमूलक सिद्ध किया है। स्वामी सत्यपति ने योग-विषयक प्रचलित अनेक अलीक एवं मिथ्या धारणाओं का निराकरण करते हुए स्वामी दयानन्द के योग-विषयक मन्तव्यों की पुष्टि की है।

न्यायदर्शन—प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजनादि १६ पदार्थों की व्याख्या प्रस्तुत करनेवाला न्यायदर्शन महर्षि अक्षपाद गोतम की रचना माना जाता है। इस दर्शन पर स्वामी दयानन्द के प्रत्यक्ष शिष्य तथा गवर्नमेंट कॉलेज, अजमेर के भूतपूर्व संस्कृत-प्राध्यापक पण्डित शालिग्राम शास्त्री मिश्र ने 'न्याय-तत्त्वबोधिनी' शीर्षक से एक संस्कृत टीका लिखी थी जो १९५० वि० में राजस्थान यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित हुई। न्याय-दर्शन के प्रसिद्ध भाष्यकारों में पण्डित आर्यमुनि, पण्डित तुलसीराम स्वामी, पण्डित उदयवीर शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं। न्याय के वात्स्यायन-भाष्य का अनुवाद पण्डित राजाराम ने किया था। स्वामी ब्रह्ममुनि ने वात्स्यायन-भाष्य (प्रथमाध्याय मात्र) का हिन्दी अनुवाद २०२५ वि० में प्रकाशित किया। पण्डित भीमसेन शर्मा तथा पण्डित कृपाराम शर्मा ने गोतम के मूल सूत्रों को प्रकाशित किया। स्वामी दर्शनानन्द का उर्दू अनुवाद तथा पण्डित मायाशंकर शर्मा का गुजराती अनुवाद भी उल्लेखनीय हैं। तेलुगु में पण्डित गोप-देव ने इस दर्शन का भाष्य लिखा है।

पण्डित राजाराम ने न्याय-प्रवेशिका में इस दर्शन का परिचयात्मक विवरण भी दिया है। पण्डित बालचन्द्र शास्त्री ने 'तार्किकोन्मूलिनी' नामक संस्कृत ग्रन्थ लिखकर अन्नंभट्टकृत तर्क-संग्रह का खण्डन किया है। किन्तु छात्रों के उपयोग की दृष्टि से पण्डित कृपाराम ने न्यायदर्शन के पाठ्यग्रन्थ के रूप में प्रयुक्त होनेवाले तर्क-संग्रह को मूल तथा न्यायबोधिनी शीर्षक टीकासहित काशी से पृथक्-पृथक् प्रकाशित किया था। न्याय-दर्शन के इतिहास में न्याय कुसुमांजलि तथा उसके लेखक उदयनाचार्य का विशिष्ट स्थान है। न्याय कुसुमांजलि ईश्वरसिद्धि-विषयक प्रौढ़ ग्रन्थ है जिसमें नाना तर्कों एवं पुष्ट युक्तियों द्वारा जगन्नाटक-सूत्रधार परमात्मा की अस्तित्व-सिद्धि अत्यन्त विद्वत्तापूर्वक की गयी है। आचार्य विश्वेश्वर ने कुसुमांजलि की प्रौढ़ टीका लिखी जिसपर उन्हें हरजीमल डालमिया पुरस्कार प्राप्त हुआ था। इस ग्रन्थ की एक अन्य सुगम व्याख्या पण्डित जगदीशचन्द शास्त्री ने भी लिखी है जिसे आर्यसमाज काकड़वाड़ी बम्बई ने २०१५ वि० में प्रकाशित किया था।

वैशेषिक दर्शन—महर्षि कणादप्रणीत वैशेषिक दर्शन द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, समवाय, विशेष और अभाव—इन सात पदार्थों की व्याख्या करता है। वैशेषिक दर्शन की चिन्तन-प्रक्रिया बहुत-कुछ विज्ञानमूलक है। यह क्लिष्ट भी है, अतः इस दर्शन पर बहुत अधिक टीकायें उपलब्ध नहीं होतीं। पण्डित कृपाराम ने शंकर मिश्रकृत उपस्कार-सहित वैशेषिक सूत्र का प्रकाशन काशी से १९४५ वि० में किया था। एक अन्य पुराने आर्य विद्वान् पण्डित देवदत्त शर्मा ने वैशेषिक दर्शन की संस्कृत में टीका (विवृत्ति) लिखी थी जो १९५० वि० में छपी। स्वामी दर्शनानन्दकृत उर्दू अनुवाद के कई हिन्दी संस्करण छप चुके हैं। इस दर्शन पर पं० आर्यमुनि, पण्डित राजाराम तथा पं० तुलसीराम स्वामी के भाष्य मिलते हैं। वैशेषिक पर सूर्यदत्त शर्माकृत भाष्य गुरुकुल होशंगाबाद से तथा

पण्डित गोकुलचन्द्र दीक्षितकृत भगवती भाष्य आगरा से छपे थे। स्वामी ब्रह्ममुनि ने इस दर्शन पर संस्कृत में पाण्डित्यपूर्ण भाष्य लिखा, जिसका हिन्दी अनुवाद अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका। पण्डित उदयवीर शास्त्री का विद्योदय भाष्य इन सूत्रों का प्रामाणिक व्याख्यान प्रस्तुत करता है। डॉक्टर श्रीनिवास शास्त्री ने वैशेषिक दर्शन पर प्रशस्तपाद भाष्य का सम्पादन किया है जो १९८४ ई० में प्रकाशित हुआ है। पण्डित गोपदेव तथा पण्डित मायाशंकर शर्मा के तेलुगु तथा गुजराती भाष्यों का उल्लेख भी आवश्यक है।

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में जहाँ दर्शनशास्त्र-विषयक पठनीय ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की है वहाँ उन्होंने वैशेषिक दर्शन पर 'गौतम ऋषिप्रणीत प्रशस्तपाद-भाष्य' को पढ़ने को लिखा है। इसी अभिप्राय से लाहौरस्थ विरजानन्द यन्त्रालय से जब वैशेषिक दर्शन पर प्रशस्तपाद भाष्य का एक अंश (प्रवेश प्रकरण) प्रकाशित किया गया तो उसके मुख-पृष्ठ पर निम्न पंक्ति अंकित की गयी—

अथवैशेषिकदर्शनस्य प्रशस्तपादभाष्यम्

महामतिगोतमाचार्येण विरचितम्

श्रीयुतपण्डित लेखरामेण महत्परिश्रमेणान्वेष्य श्रीमत्पण्डित गणेशदत्त शास्त्रिणः सकाशादानीतम्

लवपुरे विरजानन्द यन्त्रालये मुद्रितम्।

इस दर्शन पर अन्य विवेचनमूलक ग्रन्थ आर्य विद्वानों द्वारा नहीं लिखे गए, यद्यपि स्वामी दयानन्द का यह प्रिय दर्शन था।

वेदान्तदर्शन—महर्षि बादरायणकृत वेदान्तदर्शन को अनेक नामों से पुकारा जाता है। ब्रह्म की जिज्ञासा से आरम्भ किये गए इस दर्शन के लिए 'ब्रह्मसूत्र' शब्द का भी प्रयोग होता है। कर्मकाण्ड की निवृत्ति के पश्चात् ज्ञानमूलक ब्रह्म-विचार इस दर्शन का प्रतिपाद्य होने के कारण इसे 'पूर्व-मीमांसा' की तुलना में 'उत्तरमीमांसा' नाम दिया गया है। शरीर के भीतर विद्यमान आत्म-तत्त्व एवं परमात्म-तत्त्व (चेतन तत्त्व) की विवेचना करने के कारण इसे शारीरिक सूत्र भी कहा जाता है। इसमें सृष्टि के निमित्त कारण(संसार के सर्जक, पालक तथा संहारक) ब्रह्म की व्याख्या की गयी है। वेदान्त पर आज शंकर से पूर्व के किसी भाष्यकार की कृति उपलब्ध नहीं होती। तथापि यह भी निश्चित है कि शंकराचार्य से भी पूर्व आचार्य बोधायन ने इस दर्शन की जीवेश्वरभेद-परक व्याख्या लिखी थी। इस बात का संकेत रामानुजकृत वेदान्तभाष्य में मिलता है। स्वामी दयानन्द ने भी पाठ्य ग्रन्थों की सूची में वेदान्तदर्शन पर बोधायन मुनि-प्रणीत भाष्य पढ़ने की ही संस्तुति की है।

शंकराचार्य ने वेदान्तदर्शन पर प्रौढ़ भाष्य लिखकर इस दर्शन की धाक संसार के समस्त विद्वानों पर बिठा दी है। तथापि यह समझना भूल होगी कि शंकर ने स्वभाष्य में सूत्रकार के अभिप्राय के साथ सर्वथा न्याय-ही-किया है। वस्तुतः शंकर द्वारा वेदान्त-सूत्रों की जो अद्वैतवाद-मूलक तथा मायावाद की पोषक व्याख्या की गई है उसके लिए मूल सूत्रों में कोई दृढ़ आधार नहीं है। फलतः अद्वैतवाद के विश्वव्यापी विस्तार एवं प्रचार को देखते हुए स्वामी दयानन्द तथा उनके अनुयायी दार्शनिकों के लिए यह आवश्यक ही था कि वे वेदान्तसूत्रों की यथार्थ व्याख्या प्रस्तुत करते। स्वामीजी ने तो अद्वैत वेदान्त खंडन के प्रसंग में बादरायण-सूत्रों की भेदपरक व्याख्या की ही है, परवर्ती आर्य विद्वानों ने भी

इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय कार्य किया है। यहाँ हम इस विषय पर कुछ विस्तारपूर्वक लिख रहे हैं।

पण्डित कृपाराम शर्मा ने अपने काशी-निवासकाल में वेदान्तदर्शन (मूल) तथा इस दर्शन पर शंकरानन्द की वृत्ति को मूल रूप में प्रकाशित किया था। पण्डित आर्यमुनि का वेदान्तार्य-भाष्य किसी आर्यसमाजी विद्वान् का प्रथम भाष्य है जो अद्वैतवाद के निराकरण के दृष्टिकोण से लिखा गया है। इसका प्रथम बार प्रकाशन १९०३ ई० में लाहौर से हुआ था। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का अनुमान इसी बात से हो सकता है कि अंग्रेजी में इसका अनुवाद रांची के एक आर्य महानुभाव श्री बालकृष्ण सहाय ने १८९१ ई० में किया तथा पण्डित मणिशंकर शर्मा ने इसे गुजराती में अनूदित किया। वेदान्त पर पण्डित राजाराम, पण्डित तुलसीराम स्वामी, पण्डित गोपाल आदि के भाष्य भी समय-समय पर प्रकाशित हुए। स्वामी दर्शनानन्द का उर्दू भाष्य अपूर्ण रह गया जिसे कालांतर में इस भाष्य के हिन्दी अनुवादकों ने पूरा किया। स्वामी दर्शनानन्द का भाष्य वेदान्त-दर्शन के द्वितीय अध्याय के प्रथम पाद की समाप्ति तक का ही उपलब्ध होता है। व्याख्या और विवेचना की दृष्टि से स्वामी ब्रह्ममुनिकृत संस्कृतभाष्य तथा पण्डित उदयवीर शास्त्रीकृत विद्योदय भाष्य महत्त्वपूर्ण हैं। नेपाल देशवासी आर्य विद्वान् पण्डित शुक्रराज शास्त्री ने वेदान्त-सूत्रों पर लिखित शांकर भाष्य का एक सम्पादित संस्करण हिन्दी अनुवादसहित तैयार किया था जो प्रकाशित भी हुआ। पण्डित मायाशंकर शर्माकृत गुजराती टीका तथा पण्डित गोपदेवप्रणीत तेलुगु टीका का उल्लेख भी प्रासंगिक है। आर्यसमाज के उपर्युक्त विद्वानों द्वारा लिखे गए इन विभिन्न वेदान्त-भाष्यों से आचार्य बादरायणकृत मूल सूत्रों के वास्तविक एवं निरपेक्ष अभिप्राय को समझने में जिज्ञासु जनों को अभूतपूर्व सहायता मिली है।

मीमांसा दर्शन—वैदिक संहिताओं तथा ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित यज्ञादि कर्मकाण्डों को व्यवस्थित करने की दृष्टि से लिखा गया जैमिनिप्रणीत मीमांसा दर्शन षड्दर्शनों में सर्वाधिक विशाल किन्तु उतना ही जटिल, क्लिष्ट तथा दर्शनशास्त्र के सामान्य पाठक के लिए दुरूह है। इसका अध्ययन गुरुमुख से ही किया जा सकता है। इसपर भाष्य लिखने के लिए भी उत्कृष्ट पाण्डित्य, अप्रतिम विद्वत्ता तथा अगाध परिश्रम की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि मीमांसा-दर्शन का तलस्पर्शी ज्ञान रखनेवाले तथा इस दर्शन पर अधिकारपूर्वक लिखनेवाले विद्वान् आर्यसमाज में नगण्य ही हैं। पण्डित कृपाराम ने मीमांसा के मूल सूत्रों का प्रकाशन तो स्वस्थापित तिमिरनाशक यन्त्रालय से १९४६ वि० में ही कर दिया था, किन्तु इसके अधांश पर भाष्य लिखा पण्डित आर्यमुनि ने, जो १९६४ वि० में लाहौर से छपा। पण्डित तुलसीराम स्वामी मीमांसा के प्रारम्भिक २५ सूत्रों पर ही टीका लिख सके थे कि उनकी मृत्यु हो गयी। पण्डित गोकुलचन्द्र दीक्षित ने तृतीय अध्याय के अष्टम पाद पर्यन्त 'भगवती भाष्य' हिन्दी में लिखा है। पण्डित देवदत्त शर्मोपाध्याय ने भी तृतीय अध्याय पर्यन्त लिखा। मीमांसा पर सर्वाधिक प्रशंसनीय कार्य पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक का है। इन्होंने शाबर-भाष्य के हिन्दी अनुवादसहित मीमांसा की विस्तृत हिन्दी व्याख्या (आर्षमत-विमर्शिनी) प्रकाशित करने का संकल्प किया है। पाँच अध्याय तक की यह टीका चार खण्डों में प्रकाशित हो चुकी है तथा आगे का कार्य चल रहा है। मीमांसा पर शाबर-भाष्य का हिन्दी अनुवाद पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय

ने किया था, जो अप्रकाशित ही है। 'मीमांसा-प्रदीप' शीर्षक उपाध्याय जी का एक अन्य ग्रन्थ इस दर्शन के प्रतिपाद्य का सुगम रीति से परिचय कराता है। पण्डित मायाशंकर शर्मा ने मीमांसा-दर्शन का स्वल्प शब्दों में गुजराती भाष्य लिखा था जो दो खण्डों में २००८ वि० में नारणजी पुरुषोत्तम ट्रस्ट बम्बई द्वारा प्रकाशित हुआ। इसके ७ से १२वें अध्याय पर्यन्त द्वितीय खण्ड का भाषानुवाद इन पंक्तियों के लेखक ने किया था जो हरयाणा साहित्य संस्थान द्वारा २०३८ वि० में छपा है।

अद्वैतवाद के समीक्षात्मक ग्रन्थ—अब तक हमने षड्दर्शनों के भाष्य, टीका, व्याख्यादि रूप में लिखे गए ग्रन्थों की चर्चा की है। किन्तु आर्यसमाज के दार्शनिक विद्वानों द्वारा स्वतन्त्र रूप से भारतीय दर्शन के विभिन्न पहलुओं पर भी ग्रन्थ लिखे गए हैं। यह हम देख चुके हैं कि स्वामी दयानन्द की मान्यता के अनुसार बादरायण के वेदान्तसूत्र जीवेश्वर ऐक्य का प्रतिपादन नहीं करते। उन्होंने शंकराचार्यकृत वेदान्त-भाष्य से असहमति प्रकट करते हुए स्पष्ट सिद्ध किया है कि वेदान्त-दर्शन से अद्वैतवाद को पुष्ट करना नवीन वेदान्त के भाष्यकारों की खींचातानी मात्र है। आर्यसमाज के तत्त्वचिंतकों ने अद्वैतवाद की समीक्षा में अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थों की रचना की है। इस प्रकार की कृतियों में सर्वप्रथम पण्डित भीमसेन शर्मा का उल्लेख करना आवश्यक है जिन्होंने 'द्वैता-द्वैत-संवाद' शीर्षक ग्रन्थ लिखकर जीवेश्वर-भेद की पुष्टि की। पण्डित आर्यमुनिकृत वेदान्त-कथा तथा वेदान्त-तत्त्व-कौमुदी भी अद्वैतवाद की समालोचना प्रस्तुत करते हैं। अद्वैतवाद की समीक्षा में दार्शनिकमूर्धन्य पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय का कृतित्व सर्वाधिक मूल्यवान् है। उन्होंने १९८५ वि० में अपनी प्रसिद्ध कृति 'अद्वैतवाद' का प्रकाशन किया। इसके प्रकाशन की भी एक रोचक कहानी है।

वर्ष १९२३ ई० में उपाध्याय जी ने दर्शन विषय लेकर एम० ए० पास किया तो उन्हें वेदान्त के शांकरभाष्य को पाठ्य-ग्रन्थ के रूप में पढ़ना पड़ा था। शांकरमत का तलस्पर्शी अध्ययन करने के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वस्तुतः अद्वैतवाद का भवन जिस आधार पर खड़ा किया गया है, वह बहुत ठोस नहीं है। तब उन्होंने अद्वैतवाद की समीक्षा में इसी नाम का एक ग्रन्थ लिख डाला। ग्रन्थ तो तैयार हो गया किन्तु उसे प्रकाशित करने की कठिनाई सामने आई। उस समय सुप्रसिद्ध कहानीकार मुंशी प्रेमचन्द, जो किसी समय ट्रेनिंग कॉलेज में उपाध्यायजी के सहपाठी रह चुके थे, लखनऊ की प्रसिद्ध साहित्यिक पत्रिका 'माधुरी' का सम्पादन करते थे। प्रेमचन्दजी के आग्रह पर 'अद्वैतवाद' की पाण्डुलिपि 'माधुरी' में धारावाही रूप से छपने के लिए भेज दी गयी। कुछ लेख छप भी गए। अब ज्यों ही शंकराचार्य के मान्य सिद्धान्त की यह तर्कपूर्ण समीक्षा माधुरी में प्रकाशित हुई, सनातनी क्षेत्रों में भूचाल-सा आ गया। माधुरी के संचालक भार्गव ब्राह्मण थे। उनपर दबाव डाला गया कि माधुरी में ऐसी लेखमाला नहीं छपनी चाहिए जो महान् ब्राह्मण दार्शनिक शंकराचार्य की आलोचना में एक अब्राह्मण द्वारा लिखी गयी है। इस प्रकार यह अद्वैतवाद पर समीक्षात्मक लेखमाला माधुरी में पूरी नहीं निकल सकी। कालान्तर में उसे पुस्तक रूप में प्रकाशित कर दिया गया।

'मैं और मेरा भगवान्' उपाध्याय जी की अन्य महत्त्वपूर्ण दार्शनिक कृति है जो मूल रूप में I and my God शीर्षक से अंग्रेजी में प्रकाशित हुई थी। इसमें विद्वान् लेखक ने 'तत्त्वमसि' तथा वेदान्त के अन्य तथाकथित महावाक्यों के वास्तविक अभिप्राय का

निरूपण करते हुए उनसे अद्वैतवाद की पुष्टि किये जाने की आलोचना की है। साथ ही शांकर अद्वैतवाद तथा रामानुज-प्रतिपादित विशिष्टाद्वैतवाद की समीक्षा में भी अनेक हेतु एवं तर्क प्रस्तुत किये हैं। आधुनिक युग के स्वामी विवेकानन्द तथा स्वामी रामतीर्थ आदि वेदान्ताचार्यों के उन कथनों की समीक्षा लेखक ने 'कुछ लुभावने हेत्वाभास' शीर्षक से की है जो इन वेदान्तवादी स्वामियों ने अद्वैतवाद की पुष्टि में अपने ग्रन्थों या व्याख्यानों में प्रस्तुत किये हैं। मूल अंग्रेजी ग्रन्थ का अनुवाद स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने किया था तथा इसे लाहौर के राजपाल एण्ड सन्स ने प्रकाशित किया था।

अद्वैतवाद की समीक्षा में उपाध्याय जी का तीसरा महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ शांकरभाष्यालोचन है जो १९४७ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें ब्रह्मसूत्र के शांकरभाष्य में विद्यमान असंगतियों, तर्कविरुद्ध स्थापनाओं तथा हेत्वाभासों का विवेचन कर लेखक ने स्पष्ट कर दिया है कि शंकर के दर्शन में वागाडम्बर ही अधिक है, किन्तु अद्वैत की पुष्टि में दिये गये उनके हेतु, प्रमाण तथा युक्तियाँ अधिक बलशाली नहीं हैं। अद्वैतवाद की समीक्षा में पण्डित रामगोपाल शास्त्री (वेदान्त—प्राचीन और नवीन), पण्डित राजेन्द्र (शांकर मायावाद) तथा पिण्डीदास ज्ञानी (नवीन वेदान्तमत-खण्डन) आदि विद्वानों ने भी अपनी लेखनी उठाई है। किन्तु अद्वैतवाद की समीक्षा में स्वामी विद्यानन्द सरस्वती द्वारा लिखा गया सूत्रात्मक (विस्तृत व्याख्या सहित) ग्रन्थ 'तत्त्वमसि अथवा अद्वैत मीमांसा' सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने अद्वैतवाद की मीमांसा का आधार स्वनिर्मित सूत्रों को ही बनाया है और उनकी व्याख्या लिखकर नाना युक्तियों एवं प्रमाणों से शांकर मत की उपपत्तियों का खण्डन किया है। पण्डित उदयवीर शास्त्री ने वेदान्तदर्शन का इतिहास लिखकर इस दर्शन के सम्पूर्ण वाङ्मय तथा उसके लेखकों का ऐतिहासिक विवरण विस्तृत अनुसंधान के आधार पर प्रस्तुत किया है।

(२) दर्शन-विषयक अन्य ग्रन्थ

भारतीय दर्शन-विषयक परिचयात्मक ग्रन्थ—भारतीय दर्शनों की सामान्य प्रवृत्तियों तथा उनकी विशेषताओं से साधारण पाठकों को परिचित कराने की दृष्टि से भी कुछ ग्रन्थ निर्मित हुए हैं। पण्डित राजाराम ने नव-दर्शन-संग्रह (१८९९ ई० में प्रकाशित) लिखा जिसमें वैदिक षड्दर्शन के अतिरिक्त चार्वाक, जैन और बौद्ध दर्शन का सामान्य परिचय उपलब्ध कराया गया है। पण्डित गोपालरचित सर्वदर्शन-मीमांसा भी एक ऐसा ही ग्रन्थ है। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने शंकराचार्य के नाम से उपलब्ध 'सर्वदर्शन-सिद्धान्त-संग्रह' नामक एक प्राचीन ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया था जिसमें सर्वदर्शन संग्रह (माधवाचार्यकृत) की ही शैली पर भारतीय दर्शनों का परिचय दिया गया है। यद्यपि इस ग्रन्थ को शंकरप्रणीत बताया गया है, किन्तु इसका आद्य शंकर की कृति होना विवादास्पद ही है।

षड्दर्शनों का समन्वयमूलक अध्ययन—स्वामी दयानन्द की षड्दर्शनों के विषय में समन्वयमूलक दृष्टि का उल्लेख ऊपर आ चुका है। अपने आचार्य-प्रवर की उपर्युक्त धारणा की पुष्टि करते हुए आर्य विद्वानों द्वारा अनेक ऐसे ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें षड्दर्शनों का सामंजस्यमूलक चरित्र उभरकर सामने आता है। स्वामी दयानन्द के समकालीन पण्डित प्रभुदयालु ने 'समीक्षाकर' नामक एक ग्रन्थ षड्दर्शनों में अविरोध दर्शाने

के लिए लिखा था। यह मूलतः संस्कृत में लिखा गया था किन्तु लेखक ने स्वयं ही इसका हिन्दी अनुवाद भी किया। इसका प्रकाशन १८९८ ई० में स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित वैदिक पुस्तक प्रचारक-फण्ड मेरठ द्वारा हुआ। स्वामी दर्शनानन्द की लघु कृति 'षड्दर्शनों की उत्पत्ति का क्रम' भी इसी विषय से सम्बन्धित है। पण्डित आर्यमुनि का 'षड्दर्शनादर्श' तथा पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी का 'षड्दर्शन समन्वय' छः वैदिक दर्शनों में पारस्परिक विरोध बतानेवालों के आक्षेपों का युक्तियुक्त समाधान प्रस्तुत करते हैं। सांख्य-योग-तन्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् स्वामी ओमानन्द तीर्थ ने पातंजल योग-प्रदीप की भूमिका के रूप में 'षड्दर्शन समन्वय' शीर्षक एक विस्तृत विद्वत्तापूर्ण प्रबन्ध लिखा था जो बाद में स्वतन्त्र पुस्तक रूप में भी प्रकाशित हुआ। इसमें लेखक ने अनेक मौलिक तर्क प्रस्तुत कर वैदिक दर्शनकारों के मतों का परस्पर अभेद सिद्ध किया है। गुरुकुल काँगड़ी की साहित्य परिषद् ने पण्डित शिवशंकर शर्माकृत निबन्ध 'षड्दर्शन-विरोधाविरोधविचार' को प्रकाशित किया, जिसमें आलोच्य विषय की विस्तृत विवेचना की गई थी।

त्रैतवाद प्रतिपादक ग्रन्थ—आर्यसमाज का दार्शनिक मत त्रैतवाद के नाम से जाना जाता है जिसमें ईश्वर, जीव तथा प्रकृति की तीन अनादि सत्ताओं को स्वीकार किया गया है। त्रैतवाद का मूल वेदसंहिताओं में ही मिल जाता है जहाँ 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' आदि मन्त्रों में जीव एवं ईश्वर की चेतन सत्ताओं के साथ-साथ सृष्टि की उपादानरूप प्रकृति को भी 'वृक्ष' संज्ञा से संकेतित किया गया है। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में इस वैदिक त्रैतवाद का अनेक युक्ति, तर्क एवं प्रमाणों से विस्तृत ऊहापोह किया है। उनके निधन के पश्चात् आर्यसमाज के चिन्तनशील दार्शनिकों ने त्रैतवाद की पुष्टि में प्रचुर साहित्य लिखा, जिसका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है। पण्डित देवदत्त त्रिपाठी लिखित 'जीवेश्वर प्रकृतिवाद' में जीव, ब्रह्म तथा प्रकृति की तीन अनादि सत्ताओं का तार्किक निरूपण उपलब्ध होता है। पण्डित दुर्गाप्रसाद मिश्र कृत 'त्रित्ववाद' भी इसी विषय का उपपादन करता है। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्यायरचित लघु ग्रन्थ 'त्रैतवाद' आर्यसमाज चौक प्रयाग की ट्रैक्टमाला में प्रकाशित हुआ था। स्नातक सत्यव्रत ने संस्कृत में 'वैदिक त्रैतवाद' शीर्षक एक महाप्रबन्ध लिखा था, जो गुजराती अनुवाद रूप में तो १९८२ वि० में प्रकाशित हुआ, किन्तु मूल संस्कृत ग्रन्थ अप्रकाशित ही रहा। श्री पूर्णचन्द्र एडवोकेट ने 'विश्व की पहेली' शीर्षक ग्रन्थ में ईश्वर, जीव एवं प्रकृति का तात्त्विक विवेचन किया है। पण्डित लक्ष्मीदत्त दीक्षितप्रणीत 'अनादि तत्त्व-दर्शन' एक सूत्रात्मक (विस्तृत हिन्दी व्याख्यायुक्त) ग्रन्थ है जिसमें उपर्युक्त तीनों अनादि सत्ताओं के अतिरिक्त पुनर्जन्म, मुक्ति, सृष्टिरचना जैसे अन्य दार्शनिक प्रश्नों पर भी विचार किया गया है।

त्रैतवाद पर विश्वविद्यालय स्तर के शोधप्रबन्ध भी लिखे गये हैं। डाक्टर योगेन्द्र-कुमार शास्त्री ने जम्मू विश्वविद्यालय से 'त्रैतवाद का उद्भव और विकास' शीर्षक शोध-ग्रन्थ लिखकर पी-एच० डी० की शोध-उपाधि प्राप्त की। इस ग्रन्थ को आर्यसमाज विधानसरणी कलकत्ता ने प्रकाशित किया। पंजाब विश्वविद्यालय के अन्तर्गत दयानन्द अनुसन्धान पीठ के शोधार्थी डाक्टर आनन्दकुमार ने चतुर्वेदसंहिताओं से त्रैतवाद को पुष्ट करते हुए अपना शोध-प्रबन्ध 'वैदिक संहितानामालोके महर्षि दयानन्दीय त्रैत-

सिद्धांतस्य पर्यालोचनम्' लिखा। यह संस्कृत में लिखी गई शोध-कृति अभी अप्रकाशित ही है। पण्डित चमूपति की कृति 'जवाहरेजावेद', श्री काशीराम, डाक्टर चिरंजीव भारद्वाज तथा पण्डित घासीराम के संयुक्त लेखन में लिखित 'तीन हस्तियाँ' तथा श्री वजीरचन्द शर्मा लिखित 'वैदिक तसलीस' त्रैतवाद के समर्थन में लिखे गये उर्दू ग्रन्थ हैं।

दर्शन शास्त्रविषयक मौलिक ग्रन्थ—आर्यसमाज के विद्वानों की लेखनी से दर्शन-विषयक मौलिक विवेचना-प्रधान ग्रन्थ भी लिखे गये हैं। पण्डित राजारामलिखित आर्यदर्शन तथा पण्डित चमूपतिरचित वैदिकदर्शन और आर्षदर्शन वैदिक आर्य-चिन्तन का स्वतन्त्र निरूपण करते हैं। पण्डित रामचन्द्र देहलवीकृत 'दो सनातन सत्ताएँ' चेतन ब्रह्म और जीव तथा जड़ प्रकृति का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत करनेवाला ग्रन्थ है। पण्डित देवेन्द्रनाथ शास्त्री ने 'नास्तिकवाद' में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करनेवाले मतों का आलोचनात्मक विश्लेषण किया है। पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री लिखित दर्शन-तत्त्व-विवेक भारतीय दर्शनों की विवादास्पद गुत्थियों को सुलझाने का एक विद्वत्तापूर्ण प्रयास है। पण्डित जयदत्त शास्त्री ने 'सिद्धान्तशतकम्' लिखकर वैदिक त्रैतवाद को संस्कृत में पद्यवद्ध कर दिया है। इसमें वैदिक दर्शन की स्थापना के साथ-साथ शांकर मायावाद का प्रत्याख्यान भी किया गया है।

अंग्रेजी में दर्शनविषयक ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है। बंगाल के विद्वान् पण्डित शंकरनाथ ने Dwaita and Adwaita Philosophy being an exposition of Theism and Monism शीर्षक ग्रन्थ लिखा था। पण्डित केशवदेव ज्ञानी ने आर्यसमाज के विद्वानों के अंग्रेजी में लिखे गये कुछ दार्शनिक लेखों का सम्पादन The Arya Philosophy शीर्षक से किया जो आर्यसमाज मद्रास द्वारा १९३४ ई० में प्रकाशित हुआ। पण्डित लक्ष्मीदत्त दीक्षित ने दर्शनविषयक स्वनिर्मित सूत्रों की व्याख्या Theory of Reality शीर्षक से लिखी है। उर्दू में 'वैदिक फिलासफी की अज़मत' शीर्षक एक ग्रंथ का पता चलता है, किन्तु इसके लेखक का नाम ज्ञात नहीं हो सका। गुजराती में श्री विजयशंकर जानी ने 'जगत् ना उपादान कारण नी समीक्षा' में प्रकृति का विवेचन किया है। भाई शंकर शास्त्रीलिखित 'द्वैताद्वैतप्रकाश' में अद्वैतवाद की समीक्षा की गई है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्यसमाज के दार्शनिक विद्वानों ने वैदिक षड्दर्शनों की टीका, व्याख्या, भाष्यादि लिखने के साथ-साथ इन दर्शनों के इतिहास, सिद्धांत तथा उनके समन्वयमूलक तत्त्वों के अन्वेषण में भी प्रचुर श्रम किया है। एक ओर जहाँ उन्होंने प्राचीन दार्शनिक ग्रन्थों पर कार्य किया वहाँ मौलिक दार्शनिक साहित्य के प्रणयन में भी वे पीछे नहीं रहे। इस प्रकार संस्कृत तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में दार्शनिक विषयों पर उत्कृष्ट साहित्य लिखने का श्रेय इन लेखकों को स्वतः ही मिल जाता है।

छठा अध्याय

स्मृति, धर्मशास्त्र, आर्ष इतिहास तथा नीति-ग्रन्थ

(१) स्मृति आदि का प्रामाण्य

स्वामी दयानन्द की प्रमाण-मीमांसा में शब्द-प्रमाण को सर्वोच्च महत्त्व प्राप्त है। वे वेदों को परम आप्त परमात्मा की वाणी होने के कारण सर्वोपरि मान्य समझते हैं। वेदों से भिन्न अन्य ग्रन्थों का प्रामाण्य उनके वेदानुकूल होने से ही होता है। इस सम्बन्ध में वे मनु तथा जैमिनि आदि उन प्राचीन आचार्यों के मत का पूर्णरूपेण समर्थन करते हैं जिन्होंने अपौरुषेय और ईश्वरप्रदत्त होने के कारण वेद के संहिताभाग को धर्म-मीमांसा में सर्वाधिक प्रामाणिक माना है। परन्तु वेदातिरिक्त साहित्य की कसौटी इसका वेदानुकूल होना ही है; जैसाकि मनुस्मृति में कहा गया है—

> या वेदबाह्या स्मृतयो याश्च काश्चकुदृष्टयः।
> सर्वास्ता निष्फलाः प्रेत्य तमोनिष्ठा हि ताः स्मृता ।।१२/९५

जो वेद के विरुद्ध ग्रन्थ हैं वे कुत्सित पुरुषों द्वारा बनाये गये हैं। वे संसार को दुःखसागर में डुबोनेवाले हैं, निष्फल हैं तथा अज्ञानान्धकार से परिपूर्ण हैं। इन ग्रन्थों का अनुसरण करनेवालों के लोक और परलोक दोनों ही बिगड़ जाते हैं।

अगले ही श्लोक में मनु ने वेदविरुद्ध आधुनिक ग्रन्थों को मनुष्य के लिए हानि-कारक कहा है। यथा हि,

> उत्पद्यन्ते च्यवन्ते च यान्यतोऽन्यानि कानिचित्।
> तान्यर्वाक्कालिकतया निष्फलान्यनृतानि च ।। १२/९६

वेदों से विरुद्ध जो ग्रन्थ उत्पन्न होते हैं वे आधुनिक होने से शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। उनका मानना निष्फल तथा मिथ्या है। इस प्रकार वेदेतर साहित्य की यथार्थता और प्रामाणिकता की जाँच करने के लिए स्वामी दयानन्द ने जो कसौटी बताई, उसी के अनुकूल वैदिक साहित्य से भिन्न शास्त्रग्रन्थों की परीक्षा कर उनका प्रामाण्य अथवा अप्रामाण्य स्वीकार किया जाना चाहिए। संहिताभाग से भिन्न ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में वैदिक मन्त्रों में निहित अभिप्रायों को ही विशद किया गया है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि इन ग्रन्थों में ऐसा कुछ भी नहीं है जो वेदों के प्रतिकूल न हो। ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् तथा वेदांग साहित्य की रचना भी ऋषियों ने ही की है, किन्तु कालान्तर में इन ग्रन्थों में भी वेदविरुद्ध अनेक बातें मिला दी गईं। पण्डित रघुनन्दन शर्मा तो यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा तथा उपनिषदों के कतिपय अंशों को इसी आधार पर अप्रामाणिक ठहराते हैं, क्योंकि उनके अनुसार इनमें बहुत-सी बातें वेदविरुद्ध भी हैं जो प्रक्षेपकारों

द्वारा समय-समय पर इनमें मिलाई गई हैं। स्वामी दयानन्द भी संस्कारविधि की एक पादटिप्पणी में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि वेदविरुद्ध ब्राह्मण-वचनों और सूत्र-ग्रन्थों के वाक्यों को मान्यता देना उचित नहीं है।

विगत अध्यायों में हमने आर्य विद्वानों द्वारा प्रणीत उस साहित्य की चर्चा की है जो वैदिक साहित्य की सीमा में आता है। वेद और वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त ब्राह्मण, उपनिषद् आदि भी व्यापक अर्थ में वैदिक साहित्य में ही परिगणित होते हैं। किन्तु स्मृतियों का साहित्य वैदिक साहित्य से भिन्न है। स्मृतियों की प्रामाणिकता के विषय में सर्वाधिक मान्य स्मृतिकार मनु ही कहते हैं—

वेदोऽखिलोधर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम्।
आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च॥ २/६

अर्थात् सम्पूर्ण वेद और वेदवेत्ताओं द्वारा प्रणीत स्मृतियाँ, साधु पुरुषों का आचरण तथा अपनी आत्मा की सन्तुष्टि, इन चारों को ही धर्म का मूल मानना चाहिए। इसी प्रकार आगे के श्लोकों में मनु ने श्रुति एवं स्मृति-प्रतिपादित धर्म का आचरण ही मनुष्य के लिए कर्त्तव्य बताया है। इसी धर्म का अनुष्ठान करनेवाला व्यक्ति ही इस लोक में कीर्ति और परलोक में सर्वोत्तम सुख प्राप्त करता है। यह लिखने के तुरन्त बाद मनु स्पष्ट कर देते हैं कि श्रुति से हमें वेद का अर्थ लेना चाहिए क्योंकि वेद ही श्रुति-परम्परा से हमें प्राप्त हुए हैं, जबकि स्मृतियों के अन्तर्गत उन धर्मशास्त्रों की गणना होती है जो वेदानुकूल धर्मों का विस्तार से प्रतिपादन करते हैं। स्मृतियों में भी मनु को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है, क्योंकि मनुप्रणीत स्मृति में उन्हीं धर्मों का कथन किया गया है जो वेदविहित हैं। जैसा कि स्वयं मनु ही कहते हैं—

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥२/७

स्मृतियों के पश्चात् रामायण, महाभारत आदि वे आर्ष इतिहासग्रन्थ भी प्रामाणिक माने जाते हैं जिनमें राम, कृष्ण, युधिष्ठिर आदि महापुरुषों के चरित्र-कथन के व्याज से आर्यधर्म के आदर्शों और मर्यादाओं को व्याख्यात किया गया है। यद्यपि शताब्दियों पूर्व लिखे जाने, और समय-समय पर अनेक क्षेपक प्रसंगों के इनमें डाल दिये जाने के कारण आज रामायण व महाभारत आदि के वास्तविक स्वरूप का निर्धारण करना अत्यन्त कठिन है, किन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ता है कि वाल्मीकीय रामायण तथा कृष्ण-द्वैपायन रचित महाभारत आज भी आर्य जीवन, आर्य संस्कृति तथा आर्य विचारधारा को अत्यन्त उज्ज्वल रूप में प्रस्तुत करते हैं। उनकी तुलना परवर्ती पुराणों से नहीं जा सकती जो साम्प्रदायिक तत्त्वों से भरपूर हैं तथा जिनमें मध्ययुगीन धार्मिक अन्धविश्वास, मिथ्या रूढ़ियाँ तथा जड़ताग्रस्त कर्मकाण्ड पदे-पदे मुखरित हुआ है।

संस्कृत साहित्य में नीति-ग्रन्थों की भी एक सुस्पष्ट परम्परा रही है। चाणक्य, शुक्र, कामंदक आदि द्वारा प्रणीत नीति-ग्रन्थ, भर्तृहरि द्वारा रचित शतक तथा इसी कोटि के अनेक ऐसे ग्रन्थ हैं जिनसे मानव को अपने चरित्र का विकास करने की प्रेरणा मिलती है। इन ग्रन्थों के शतशः श्लोक सूक्तियों के रूप में भी प्रयुक्त होते हैं। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र चाणक्य तथा भर्तृहरि जैसे नीतिकारों के वाक्यों को सप्रसंग उद्धृत किया है। यह बात नहीं कि ये ग्रन्थ पूर्णतया आर्ष कोटि में ही परिगणित होते हैं,

सच तो यह है कि इनमें बहुत-से तो ऐसे हैं जिनके लेखकों के बारे में केवल कुछ प्रचलित किंवदन्तियों के अतिरिक्त हमारा ज्ञान नितान्त स्वल्प ही है, तथापि इन ग्रन्थों की व्यावहारिक उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता। आगामी पंक्तियों में हम मनुस्मृति, रामायण, महाभारत, भगवद्गीता तथा चाणक्य एवं भर्तृहरिप्रणीत ग्रन्थों की टीका-व्याख्यादि में लिखे गये उस आर्य साहित्य का उल्लेख कर रहे हैं जो समय-समय पर आर्यसमाजी विद्वानों की लेखनी से प्रसूत हुआ है।

(२) मनु-स्मृति

मनुस्मृति-व्याख्या तथा विवेचना—स्मार्त साहित्य में स्वामी दयानन्द ने मनुस्मृति को सर्वोच्च स्थान प्रदान किया है। वे मनु से भिन्न अन्य किसी स्मृति को आर्ष तथा प्रामाणिक नहीं मानते। स्वामीजी ने स्वग्रन्थों में मनुस्मृति के सैंकड़ों प्रमाण यत्रतत्र अपने मन्तव्यों की पुष्टि में उद्धृत किये हैं। यह बात नहीं कि वर्तमान में उपलब्ध मनुस्मृति उन्हें सर्वांश में मान्य थी। उनकी यह धारणा थी कि उपलब्ध मनुस्मृति में मृतकश्राद्ध, मांसभक्षण तथा अन्य अनेक विवादास्पद विषयों से सम्बन्धित श्लोक समय-समय पर प्रक्षिप्त किये गये हैं। स्वामी दयानन्द के परवर्ती आर्यसमाजी विद्वानों ने मनुस्मृति के अनेक भाष्य, टीका, व्याख्यादि ग्रन्थ लिखें हैं तथा इस ग्रन्थ के कतिपय विषयों पर भी आलोचनात्मक साहित्य का प्रणयन हुआ है। हम यहाँ इसी साहित्य का विस्तृत परिचय दे रहे हैं।

मनुस्मृति-भाष्य व टीकादि ग्रन्थ—आर्यसमाज के विद्वानों में सर्वप्रथम पण्डित भीमसेन शर्मा ने मनुस्मृति पर विस्तृत आलोचनात्मक टीका लिखने का प्रयत्न किया था। उन्होंने 'मानव-धर्मशास्त्रम्' शीर्षक से इस ग्रन्थ को संस्कृत तथा लोकभाषा में व्याख्यात किया। हमारे संग्रह में इस ग्रन्थ का षष्ठ अध्यायपर्यन्त भाष्य उपलब्ध है। यह कहना कठिन है कि शर्मा जी सम्पूर्ण मनुस्मृति पर अपनी यह विद्वत्तापूर्ण टीका पूरी कर सके थे या नहीं। पण्डित तुलसीराम स्वामी का मनु-भाष्य १६६६ वि० में प्रकाशित हुआ। विद्वान् भाष्यकार ने अपनी इस व्याख्या में प्रक्षिप्त समझे गये श्लोकों पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ दी हैं। पण्डित आर्यमुनि, पण्डित राजाराम तथा स्वामी दर्शनानन्दकृत मनुस्मृति की टीकायें भी अपने युग में पर्याप्त प्रचार प्राप्त करती रहीं। पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार तथा पण्डित सत्यकाम सिद्धान्तशास्त्री ने स्वनिर्मित मनुस्मृति टीकाओं में प्रक्षिप्त समझे जानेवाले श्लोकों को हटा दिया है तथा यथासम्भव स्वामी दयानन्द द्वारा किये गये श्लोकार्थों को ही दिया है। पण्डित हरिश्चन्द्र विद्यालंकार ने मनुस्मृति की एक सुगम टीका लिखी जो २०१६ वि० में प्रकाशित हुई। एक ऐसा ही प्रयास पण्डित ईश्वरीप्रसाद प्रेम ने भी किया है। इसमें पूर्ववर्ती टीकाकारों की टीकाओं से पर्याप्त सहायता ली गई है।

मनुस्मृति के लेखक, लेखनकाल तथा ग्रन्थविषयक अन्य गवेषणाएँ करनेवाले लेखकों में पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय का नाम महत्त्वपूर्ण है। अपनी मनुस्मृति-टीका के आरंभ में उपाध्यायजी ने एक विस्तृत भूमिका लिखकर उपर्युक्त विषयों की गम्भीर विवेचना की है। आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली से प्रकाशित तथा श्री सुरेन्द्रकुमार द्वारा सम्पादित मनुस्मृति में से प्रक्षिप्त श्लोकों को पृथक् करने की प्रक्रिया का तार्किक विवेचन

किया गया है तथा किसी श्लोक को प्रक्षिप्त घोषित करने के हेतुओं की भी विस्तृत आलोचना की है। इस प्रकार मनुस्मृति का यह संस्करण सम्पादन तथा विवेचना की दृष्टि से आदर्श कहा जा सकता है। पण्डित राजवीर शास्त्री द्वारा सम्पादित मनुस्मृति में से प्रक्षिप्त समझे गये श्लोकों को पृथक् कर दिया गया है। मनुस्मृति की उर्दू टीका पण्डित कृपाराम ने लिखी थी जो वैदिक धर्म प्रेस दिल्ली से प्रकाशित हुई।

मनुस्मृति के कुछ संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित हुए हैं। मुरादाबाद-निवासी मुन्शी इन्द्रमणि के शिष्य जगन्नाथदास ने "मानवधर्म-विचार" शीर्षक ग्रन्थ १८८३ ई० में लिखा। इसमें मनुस्मृति का एक संक्षिप्त संस्करण प्रस्तुत किया गया था। महात्मा हंसराज ने डी०ए०वी० कालेज लाहौर में धर्मशिक्षा के पाठ्यक्रम की दृष्टि से तथा स्वामी श्रद्धानन्द ने गुरुकुल काँगड़ी के पाठ्यक्रम में रखने के लिए क्रमशः मानवसंग्रह तथा वेदानुकूला-संक्षिप्त-मनुस्मृति का सम्पादन किया। पण्डित शिवशर्मा-सम्पादित बाल-मनुस्मृति तथा पण्डित ईश्वरदत्त मेधार्थी विद्यालंकारप्रणीत आर्यकुमार-स्मृति (मनुस्मृतिशतक) भी मनुस्मृति को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने के प्रयत्न थे।

मनुस्मृति-विषयक आलोचनात्मक ग्रन्थ—मनुस्मृति में प्रतिपादित विचारों की विस्तृत समीक्षा आर्य विद्वानों ने स्वरचित ग्रन्थों में की है। सर्वप्रथम पण्डित भीमसेन शर्मा ने "मानव-धर्मशास्त्रस्य उपोद्घात" लिखकर इस शास्त्र की मार्मिक समालोचना की। "मानवधर्म मीमांसाभूमिका" नाम से यह ग्रन्थ पृथक्तया (मनुस्मृति-भाष्य से पूर्व) प्रकाशित हुआ था। मुलतान-निवासी पण्डित घनश्याम शर्मा गोस्वामी ने 'मनुमांसाशन-निषेध' लिखकर मनुस्मृति में आनेवाले मांसभक्षण-विषयक प्रसंगों की समीक्षा की है। पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार ने गुरुकुल काँगड़ी की विद्वत्परिषद् में "मनु और मास" विषय पर अपना एक शोधप्रबन्ध पढ़ा था जो १९७२ वि० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। महात्मा मुन्शीराम जिज्ञासुकृत 'मानव धर्म-शास्त्र तथा शासन पद्धतियाँ' एवं श्री चिन्तामणि "मणि" लिखित 'मनु और स्त्रियाँ' मनुस्मृति में विवेचित उपर्युक्त विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं। लाहौर के पण्डित दुर्गाप्रसाद ने मद्रास क्रिश्चियन सोसाइटी द्वारा मनुस्मृति के खण्डन में लिखित पुस्तक The Code of Manu के उत्तर में The Defence of Manu against Caulumny of the Christian Priests शीर्षक पुस्तक लिखी जो लाहौर से १८९१ ई० में प्रकाशित हुई। उनके द्वारा लिखित Manu and Vegetarianism शीर्षक एक ग्रन्थ भी लाहौर से प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार मनुस्मृति की व्याख्या और विवेचना से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ आर्य विद्वानों की लेखनी से प्रसूत हुए हैं।

(३) वाल्मीकीय रामायण

स्वामी दयानन्द ने महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण को आर्षकाव्य होने के कारण पठनीय साहित्य में प्रमुख स्थान प्रदान किया है। महर्षि वाल्मीकि आदिकवि भी कहे जाते हैं जिन्होंने राम जैसे धीरोदात्त नायक को आधार बनाकर शास्त्रीय लक्षणों से युक्त संस्कृत भाषा के प्रथम महाकाव्य की रचना की। रामायण आर्य संस्कृति और वैदिक मर्यादाओं का दिग्दर्शन करानेवाला ऐतिहासिक महाकाव्य है। महर्षि वाल्मीकिकृत रामायण षट्काण्डात्मक ही था, तथापि कालान्तर में उसमें उत्तर काण्ड का प्रक्षेप किया

गया जिसमें सीता के वनवास, शम्बूक नामक शूद्र का राम द्वारा वध किया जाना आदि अनेक अवान्तर प्रसंग मिलते हैं। निश्चय ही यह काण्ड महाकवि वाल्मीकि प्रणीत नहीं है क्योंकि उन्होंने तो युद्धकाण्ड की समाप्ति पर ही ग्रन्थ के उपसंहारात्मक श्लोक लिख दिये थे।

आर्यसमाज में वाल्मीकीय रामायण अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखी जाती है। इसपर अनेक विद्वानों ने अपनी टीकायें लिखी हैं तथा रामायण के कथा-प्रसंग, रामायण का कालविवेचन, रामायण में उल्लिखित पात्रों की चरित्र-विवेचना तथा ग्रन्थ से सम्बद्ध अन्य समस्याओं पर समीक्षापूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं। आगामी पंक्तियों में हम रामायण-विषयक इसी साहित्य का विवरण उपस्थित कर रहे हैं।

वाल्मीकीय रामायण पर टीका व अनुवाद-ग्रन्थ—डी०ए०वी० कालेज, लाहौर में स्वीकृत धर्मशिक्षा-विषयक पाठ्यक्रम में अनेक आर्ष ग्रन्थों के संक्षिप्त संस्करणों को स्थान मिला था। इसी दृष्टि से आदिकाव्य का 'रामायण संग्रह' नामक एक संक्षिप्त संस्करण तैयार किया गया। आर्यसमाज के जिन मनीषी विद्वानों ने रामायण की टीकाएँ और हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किये हैं उनमें पण्डित आर्यमुनि, पण्डित राजाराम, पण्डित रघुवीरशरण दुबलिस तथा पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार के नाम उल्लेखनीय हैं। पण्डित आर्यमुनि का रामायणार्य भाष्य १६१२ ई० में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ था। पण्डित राजाराम ने इस ग्रन्थ के प्रथम तीन काण्डों की टीका लिखी थी। पण्डित रघुवीरशरण दुबलिस ने ६ खण्डों में रामायण का हिन्दी अनुवादयुक्त संस्करण भास्कर प्रेस मेरठ से प्रकाशित किया। इसमें सम्पादक ने रामायण के प्रक्षिप्त अंशों की आलोचना करते हुए ग्रन्थ के आर्षस्वरूप का सम्यक् उद्घाटन किया है। पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने ग्रन्थ के मूल श्लोकों के साथ-साथ धारावाही हिन्दी अनुवाद भी दिया है।

रामायण के उपलब्ध विभिन्न पाठों की तुलनात्मक समीक्षा करने के पश्चात् शुद्ध पाठ का निर्धारण कर इसे सम्पादित करने का श्रेय पण्डित भगवद्दत्त को है जिन्होंने आदिकाव्य के बाल, अयोध्या व अरण्य काण्डों का सम्पादित संस्करण डी०ए०वी० कालेज, लाहौर की संस्कृत-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित किया। इसी प्रकार रामायण के मर्मज्ञ विद्वान् पण्डित अखिलानन्द ब्रह्मचारी ने रामलाल कपूर ट्रस्ट के तत्त्वावधान में बालकाण्ड से सुन्दरकाण्ड पर्यन्त पाँच काण्डों का आलोचनात्मक एवं पादटिप्पणीयुक्त संस्करण प्रकाशित किया। उनके निधन के उपरान्त पण्डित विजयपाल ने अवशिष्ट युद्धकाण्ड का सम्पादन किया। रामायण के संक्षिप्त किन्तु धारावाही अनुवाद के दो अन्य प्रयत्न पण्डित प्रेमचन्द शास्त्री तथा पण्डित जगदीश विद्यार्थी द्वारा किये गये हैं। विद्यार्थी जी के संस्करण में रामायण-विषयक अनेक गुत्थियों को सुलझाने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया गया है।

रामायण-विषयक अन्य साहित्य—रामायण और रामकथा की लोकप्रियता सर्वविदित है। किसी समय रामायण की कथा भारत की सीमाओं को लाँघकर पूर्वी एशिया के सुदूरवर्ती देशों तक पहुँच गई थी। इण्डोनेशिया में रामायण-कथा-विषयक जो चित्र तथा अन्य पुरातात्त्विक सामग्री मिलती है उससे यह अनायास सिद्ध हो जाता है कि समुद्रपारीय पूर्वी देशों तक रामायण के कथानक ने लोकप्रियता अर्जित कर ली थी। आर्यसमाज के विद्वानों ने रामायण की शिक्षाओं को व्यापक बनाने तथा अधिकाधिक

जनता तक उसे पहुँचाने की दृष्टि से अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ विभिन्न शैलियों में लिखे हैं जिनका परिचय दिया जाना आवश्यक है।

रामायण पर काव्यरचना तथा अन्य ग्रन्थ—हिन्दी-भाषी प्रदेश में जगनिक भाट द्वारा लिखित आल्हा काव्य अत्यन्त लोकप्रिय है। कृषक वर्ग में यह लोक-काव्य के रूप में प्रचलित है तथा जन-जन का कण्ठहार बना हुआ है। पण्डित छुट्टनलाल स्वामी ने रामायण की कथा को आल्हा शैली में लिखा था। आर्यसमाज के प्रसिद्ध लोककवि यशवन्तसिंह टोहानवी ने 'आर्य संगीत रामायण' लिखी। जनसाधारण तथा अल्प-शिक्षित वर्ग में रामायण की शिक्षाओं के प्रचार की दृष्टि से टोहानवी जी की संगीत रामायण का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। हितैषी अलावलपुरी ने भी रामायण को पद्य बद्ध किया था।

पण्डित सन्तराम वेदरत्न ने शुद्धरामायण का सम्पादन कर रामायण के सार-गर्भित प्रसंगों को सरल भाषा में प्रस्तुत किया था। यह ग्रन्थ शिरोमणि-पुस्तकालय लाहौर से छपा। वर्षों पश्चात् इसे पण्डित ईश्वरीप्रसाद प्रेम ने सत्य प्रकाशन, मथुरा से पुनः सम्पादित कर प्रकाशित किया। पण्डित हनुमानप्रसाद शर्मा ने 'रामचरित चिन्तामणि' नामक ग्रन्थ में रामायण-कथा-विषयक विभिन्न संस्कृत ग्रन्थों के अनेक पद्यों तथा स्वनिर्मित पद्यों का संग्रह एवं हिन्दी अनुवाद किया है। स्वामी दर्शनानन्दकृत रामायण-सार तथा रामजीलाल शर्मा लिखित बाल-रामायण इस काव्य के संक्षिप्त कथानकसार के रूप में लिखे गये हैं। पृथिवी के अनेक देशों में धर्मप्रचारार्थ भ्रमण करनेवाले भूमण्डल-प्रचारक पण्डित जैमिनि मेहता ने इण्डोनेशिया के जावा द्वीप में प्रस्तर चट्टानों पर अंकित चित्रलिपि रामायण का पता लगाया और इसका विस्तृत परिचय "जावा में पाषाण-चित्रलिपि रामायण" शीर्षक ग्रन्थ में दिया। पण्डित विश्वम्भरसहाय प्रेमी ने इसे १९३२ ई० में मेरठ से प्रकाशित किया था। स्वामी रामानन्द सरस्वती ने रामायण-रहस्य लिखा। स्वामी श्रद्धानन्दकृत 'रामायण-कथा-रहस्य' भी प्रकाशित हुई है। स्वामी ब्रह्ममुनि की 'रामायणदर्पण' भी एक महत्त्वपूर्ण कृति है। श्री चिम्मनलाल वैश्य ने रत्न-भंडार शीर्षक से रामायण के कतिपय उपदेशप्रद श्लोकों का संग्रह किया है। उनका एक अन्य ग्रन्थ भरतोपदेश भी वाल्मीकीय रामायण पर ही आधारित है।

रामायण-विषयक आलोचनात्मक ग्रन्थ—जैसाकि हम देख चुके हैं रामायण एक अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है, तथापि इसका प्रकृत, कवि-निर्मित स्वरूप कैसा था, मूलरूप में रामायण का कलेवर कितना था तथा उसमें कौन-से प्रसंग आदिकवि द्वारा विवेचित हुए थे, यह सब जानना कठिन अवश्य है। यह भी सत्य है कि रामायण में समय-समय पर ऐसे अनेक उपाख्यान, अवान्तर कथानक तथा प्रसंग जोड़ दिये गये हैं जिनका मूल-कथा से कोई सम्बन्ध ही नहीं था। आज उपलब्ध रामायण में पौराणिक तत्त्वों की भी कमी नहीं है। आर्यसमाज ने सभी शास्त्रों के प्रति वैज्ञानिक तथा बुद्धिवादी दृष्टिकोण अपनाया था तथा उसके विचारानुसार इन शास्त्रों में यदि कहीं तर्क-विरुद्ध, विज्ञान या युक्ति-विरुद्ध अथवा सृष्टि-नियमों के विपरीत बातें आती हैं तो उन्हें शास्त्र-प्रणेता ऋषियों द्वारा लिखित न मानकर मध्यकालीन अंधकार के युग में इन शास्त्रों में प्रक्षिप्त अंश ही मानना चाहिए। रामायण में वर्णित हनुमान, सुग्रीव, अंगद आदि मनुष्य थे या बन्दर ? क्या रावण का वध विजयादशमी के दिन ही हुआ था ? क्या अहल्या पत्थर की

शिला रूप में थी ? क्या रावण दस सिर तथा बीस भुजायुक्त था ? ये तथा इनसे मिलते-जुलते प्रश्नों के समाधान में आर्य विद्वानों ने अत्यन्त महत्त्वपूर्ण गवेषणायुक्त ग्रन्थ लिखे हैं। आकार की दृष्टि से लघु होने पर भी इन ग्रन्थों के लेखकों का युक्तिकौशल तथा उनकी समीक्षा-दृष्टि सर्वथा श्लाघनीय है। हनुमान आदि वानर नाम से अभिहित किये जानेवाले राम की सेना के नायकगण वास्तव में बन्दर ही थे या मनुष्य, अकेले इसी समस्या पर मुन्शी राजबहादुर, पण्डित रामसहाय शर्मा, पण्डित अमरसिंह आर्यपथिक, पण्डित रघुनाथदत्त बन्धु तथा डा० श्रीराम आर्य ने अनेक उल्लेखनीय ग्रन्थ लिखे हैं। रामायण के प्रचलित रूप से उत्पन्न इन समस्याओं के निराकरण में पण्डित अमरसिंह आर्यपथिक (अमरस्वामी सरस्वती) का श्रम विशेषतया सराहनीय है। उन्होंने रावण-वध की वास्तविक तिथि का निर्धारण करते हुए इस प्रचलित मान्यता का खण्डन किया है कि आश्विन शुक्ला दशमी (विजयादशमी) को राम ने रावण को मारा था। जे०पी० चौधरी ने अहल्या-विषयक प्रचलित धारणा का खण्डन किया तथा हनुमानादि वानरों को मनुष्य सिद्ध किया है। पण्डित ईश्वरीप्रसाद प्रेम ने तुलसीदासकृत रामचरितमानस की लोकप्रियता को दृष्टिगत रखते हुए 'मानसपीयूष' शीर्षक मानस का एक संक्षिप्त संस्करण सम्पादित किया है जिसमें से राम की ईश्वरावतार रूप में प्रतिष्ठा तथा अलौकिक एवं सृष्टिक्रम विरुद्ध बातों को पृथक् कर दिया गया है। यद्यपि स्वामी दयानन्द ने स्व-पाठ्य-प्रणाली में तुलसीदास के "मानस" को स्थान नहीं दिया और उसे अनार्ष ग्रन्थ ही माना है तथापि श्री प्रेम ने लोकरुचि को देखते हुए इस ग्रन्थ का प्रकाशन किया है।

हिन्दी से विभिन्न भाषाओं में भी रामायण-विषयक आर्य विद्वानों के कृतित्व का परिचय मिलता है। रतिलाल ह० पटेल ने "रामायण ना रत्नों नी रौनक" तथा "रामायण नी रत्नप्रभा" शीर्षक ग्रन्थ लिखे थे। स्वामी श्रद्धानन्द की रामायण-विषयक कृति का अनुवाद गुजराती में "रामायण नी रहस्य कथा" शीर्षक से हुआ था। पण्डित अनन्त-गणेश धारेश्वर ने 'The Ramayana—what can it teach us' शीर्षक एक उपयोगी ग्रन्थ लिखा था। स्मर्तव्य है कि श्री धारेश्वर 'ATMA' नाम से लिखते थे। एच०एन०-कपूर की पुस्तक Ramayana Reviewed दयानन्द संस्थान से १९७५ ई० में प्रकाशित हुई थी।

(४) महाभारत और तद्विषयक साहित्य

वाल्मीकीय रामायण के तुल्य ही व्यासरचित महाभारत को आर्ष काव्य और आर्ष इतिहास की संज्ञा प्राप्त है। महाभारत के सम्बन्ध में यहाँ तक कहा गया है कि महर्षि व्यास ने महाभारत की रचना कर मानो वेदार्थ को ही स्पष्ट किया है। इसे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की व्याख्या करनेवाला एक उत्कृष्ट ग्रन्थ माना गया है। स्वामी दयानन्द ने आर्ष इतिहास-ग्रन्थ होने के नाते महाभारत की प्रामाणिकता और महत्ता को स्वीकार किया है। यह दूसरी बात है कि अन्य ग्रन्थों की भाँति वे इसमें भी समय-समय पर किये जानेवाले प्रक्षेपों का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उनका यह सुदृढ़ मत था कि स्वार्थी लोगों ने अपने संकुचित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए यदा-कदा इस आर्ष ग्रन्थ में ऐसे अनेक प्रसंग प्रक्षिप्त कर दिये हैं जिनका ग्रन्थ के मूल रचयिता महर्षि व्यास के विचारों से कोई मेल नहीं है। स्वयं महाभारत की अन्तःसाक्षी से ही विदित होता है कि यह ग्रन्थ

अपने मूल रूप में चौबीस हजार श्लोक परिमाण वाला था, किन्तु धीरे-धीरे अनेक प्रक्षिप्त अंशों के समाविष्ट हो जाने के कारण इसकी वर्तमान श्लोकसंख्या एक लाख से भी कुछ अधिक हो गई है। अस्तु, स्वामी दयानन्द ने पाठ्योपयोगी ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत करते समय महाभारत के एक प्रकरण 'विदुरनीति' को प्रमुख स्थान दिया है। एक अन्य प्रसंग में उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि कृष्ण जैसे महापुरुषों का वास्तविक जीवनवृत्त महाभारत जैसे आदर्श ग्रन्थ में ही उपलब्ध होता है। स्वामी दयानन्द के परवर्ती आर्य विद्वानों ने इस ग्रन्थ की टीका, व्याख्या आदि लिखने में पर्याप्त परिश्रम किया है, साथ ही महाभारत के विभिन्न प्रकरणों के अनुवाद एवं व्याख्यान तथा इस ग्रन्थ के अनेक आलोचनीय प्रसंगों की समीक्षा में भी विवेचनापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। इन सब का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

पण्डित आर्यमुनि ने महाभारत का प्रक्षिप्त भाग छोड़कर हिन्दी भाष्य लिखा जो लाहौर से दो भागों में प्रकाशित हुआ। पण्डित राजाराम ने भी अपनी आर्ष ग्रन्थावली के अन्तर्गत महाभारत का एक संक्षिप्त संस्करण हिन्दी-अनुवादसहित प्रकाशित किया था। यह १९१३ ई० में प्रकाशित हुआ। पण्डित सन्तराम ने महाभारत के महत्त्वपूर्ण प्रसंगों की मार्मिक विवेचना करते हुए 'संक्षिप्त महाभारत' शीर्षक ग्रन्थ लिखा जो १९८१ वि० में प्रकाशित हुआ था। कई वर्ष पश्चात् श्री ईश्वरीप्रसाद प्रेम ने इसे 'शुद्ध महाभारत' शीर्षक से प्रकाशित किया। स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती ने महाभारत का एक अन्य प्रक्षिप्तांशरहित शुद्ध संक्षिप्त संस्करण सम्पादित किया है जिसे गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली ने १९८३ ई० में प्रकाशित किया।

लोकरुचि की दृष्टि से यशवन्तसिंह वर्मा टोहानवी ने आर्यसंगीत-महाभारत का प्रणयन किया जिसमें महाभारत की कथा को काव्य और संगीत के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। सामान्य पाठकों की अभिरुचि को ध्यान में रखते हुए लिखा गया यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय हुआ और इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हुए। पण्डित रामस्वरूप वानप्रस्थी ने महाभारत की कथा को हिन्दी के जन-काव्य 'आल्हा' की शैली में प्रस्तुत किया है। आर्यसमाज के रससिद्ध कवि पण्डित प्रकाशचन्द्र कविरत्न ने काव्यमय महाभारत लिखकर इस आर्ष इतिहास के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसंगों को पद्यबद्ध किया है।

महाभारत के विभिन्न प्रकरण एवं उपाख्यान—वर्तमान उपलब्ध महाभारत जहाँ आकार की दृष्टि से एक महासागर के तुल्य है, इसी भाँति उसमें कौरव-पाण्डवों के युद्ध की मुख्य कथा के साथ-साथ अनेक गौण प्रकरण, उपकथाएँ तथा उपाख्यान आदि भी उपलब्ध होते हैं। यह कहना तो कठिन है कि ये सभी उपाख्यान तथा उपकथाएँ स्वयं महाभारतकार की लेखनी से ही प्रसूत हुए हैं, तथापि यह तो निश्चित है कि इन प्रकरणों के व्याज से नीति, धर्म, दर्शन, अध्यात्म और समाज से सम्बद्ध अनेक महत्त्वपूर्ण प्रसंगों की उद्भावना कर अनेक लोकोपयोगी शिक्षाएँ दी गई हैं। इस दृष्टि से महाभारत के इन उपाख्यानों का निश्चित महत्त्व है। आर्यसमाज के विद्वानों ने समय-समय पर महाभारत के इन प्रकरणों की टीकाएँ, व्याख्याएँ आदि लिखी हैं। स्वामी दयानन्द के आद्य-शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा ने महाभारत के अन्तर्गत तुलाधारजांजलि संवाद को 'धर्म-रक्षण-वर्णन' तथा वनपर्वान्तर्गत सावित्री-उपाख्यान को "पतिव्रता माहात्म्य" शीर्षक से व्याख्यात किया है। इसी प्रकार उन्होंने गीता-संग्रह के अन्तर्गत महाभारतोक्त 'गीता'

संज्ञा से अभिहित आठ प्रकरणों का सम्पादित संस्करण तैयार किया। महाभारत के प्रसिद्ध विदुलोपाख्यान को पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार ने अनूदित किया तथा इसी ग्रन्थ के अन्य प्रकरण द्रौपदी-सत्यभामा संवाद को पण्डित उदयवीर शास्त्री ने अनूदित किया है। वनपर्व के अन्तर्गत यक्ष-धर्म-प्रश्नोत्तर एक प्रसिद्ध प्रसंग है जिसमें धर्मराज युधिष्ठिर तथा जलाशय के रक्षक यक्ष के परस्पर प्रश्नोत्तर के रूप में अनेक महत्त्वपूर्ण बातें महाभारतकार ने लिखी हैं। पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी ने इसी प्रसंग को "यक्ष-युधिष्ठिर प्रश्नोत्तरी" शीर्षक से सम्पादित किया है। स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने महाभारत के नीतिशास्त्र-विषयक प्रकरणों को मूल ग्रन्थ से पृथक् कर "भारतीय नीतिमाला" के अन्तर्गत प्रकाशित किया। इस ग्रन्थ-माला में विदुरनीति, नारदनीति और कणिकनीति का प्रकाशन किया गया।

विदुर-नीति—महाभारत के उद्योग पर्व में ३३–४० अध्याय पर्यन्त प्रकरण विदुर-नीति के नाम से जाना जाता है। स्वामी दयानन्द ने इसे 'विदुर प्रजागर' के नाम से उल्लिखित किया है तथा आर्ष पाठ्य ग्रन्थों में इसे उच्च स्थान दिया है। धृतराष्ट्र और महामति विदुर का यह संवाद आर्य नीतिशास्त्र का नवनीत है, जिसमें नीति, सदाचार, धर्म, न्याय तथा राजधर्म-विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण विषय वर्णित हुए हैं। आर्यसमाज के विद्वानों ने इस ग्रन्थ की उपयोगिता तथा महत्ता को दृष्टि में रखते हुए इसपर अनेक टीकाएँ तथा व्याख्याएँ लिखी हैं। पण्डित भीमसेन शर्मा ने विदुर-नीति पर एक टिप्पणीयुक्त व्याख्या लिखी थी, ऐसा उल्लेख मिलता है। आर्यसमाज के पुराने विद्वान् श्री चिम्मनलाल वैश्य ने विदुर-नीति का एक संस्करण 'नीति-शिरोमणि' शीर्षक से १८९४ ई० में प्रकाशित किया था। विदुर-नीति के अन्य व्याख्याकारों में पण्डित तुलसीराम स्वामी, पण्डित जीवाराम उपाध्याय, पण्डित प्रेमशरण 'प्रणत' आदि मुख्य हैं। स्वामी वेदानन्द तीर्थ तथा पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने विशेष परिश्रमपूर्वक इस ग्रन्थ पर अपनी टीकाएँ लिखी हैं। मीमांसकजी ने तो महाभारत के एक अन्य प्रकरण 'हंस-गीता' का भी अनुवाद किया है। इस प्रकार 'विदुरनीति' जैसे उपयोगी ग्रन्थ को लोकप्रिय बनाने की दृष्टि से उपर्युक्त विद्वानों के प्रयास प्रशंसनीय हैं।

महाभारत के अन्तर्गत कुछ ऐसे प्रसंग भी वर्णित हैं जो किन्हीं कारणों से अत्यन्त विवादास्पद बन गए हैं। इनमें द्रौपदी का बहु-पतित्व एक ऐसा ही विवादास्पद प्रसंग है। प्रचलित धारणा तथा महाभारत में सम्प्रति उपलब्ध प्रसंग को देखकर इस मत की निश्चित रूप से पुष्टि होती है कि द्रौपदी सभी पाण्डवों की पत्नी थी। परन्तु इस कथा के साथ जुड़े हुए समस्त सन्दर्भों की तार्किक दृष्टि से छानबीन करने पर यह ज्ञात होता है कि कालान्तर में इन प्रसंगों को जानबूझकर मूल ग्रन्थ में प्रक्षिप्त किया गया है। आर्यसमाज के तीन विद्वानों ने द्रौपदी के बहु-पतित्व को अपनी आलोचना का विषय बनाया है तथा इस प्रसंग की पूर्वापर समीक्षा करने पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि द्रौपदी के बहु-पतित्व की कथा काल्पनिक है और वह महाभारत के मूल अंश से मेल नहीं खाती। इन ग्रन्थकारों में एक थे श्री सुखरामदास, जिन्होंने उर्दू में "क्या द्रौपदी के पाँच पति थे?" शीर्षक ग्रन्थ लिखा। यह लाहौर से १९०८ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसका हिन्दी अनुवाद श्री ईशानदेव वाजपेयी ने किया। पण्डित राजाराम का इसी नाम का ग्रन्थ आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर से प्रकाशित हुआ। अमर स्वामी परिव्राजक ने द्रौपदी के विवाह-प्रसंग

की महाभारत में उपलब्ध प्रकरण से गम्भीर छानबीन की है तथा इसी ग्रन्थ के अन्तः-साक्ष्य के आधार पर उन्होंने इस धारणा का सोपपत्तिक खण्डन किया है कि द्रौपदी के पाँच पति थे।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक ने "महाभारत-शिक्षा-सुधा" में इस ग्रन्थ की उपयोगी शिक्षाओं का संकलन किया है तथा पण्डित चन्द्रभानु सिद्धान्तभूषण ने 'महाभारत सूक्ति-सुधा' लिखकर महासागर से रत्नों के चयन के तुल्य ही इस ग्रन्थ में पाई जाने वाली कतिपय सुन्दर उक्तियों का संग्रह किया है।

रामायण तथा महाभारत-विषयक साहित्य के प्रणेता आर्य साहित्यकारों द्वारा लिखित साहित्य-सम्पदा का मूल्यांकन करने से यह निष्कर्ष निकालना स्वाभाविक ही है कि भारतीय वाङ्मय के रत्नरूप इन ग्रन्थों की व्याख्या एवं विवेचना में लिखा गया यह साहित्य अत्यन्त मूल्यवान् तथा महत्त्वपूर्ण है। प्रायः रामायण एवं महाभारतादि का अध्ययन इस देश में श्रद्धापूत भावों से युक्त होकर ही किया जाता है, किन्तु आर्य विद्वानों ने विवेक एवं तर्क की दृष्टि को भी शास्त्राध्ययन में महत्त्व देने की बात कही तथा इन पुराकालीन आख्यानों का अध्ययन इसी दृष्टि से किया, यही इनकी प्रमुख उपलब्धि है।

(५) श्रीमद्भगवद्गीता-विषयक व्याख्या एवं विवेचनामूलक साहित्य

यों तो भगवद्गीता महाभारत के भीष्म पर्व के अन्तर्गत आती है, किन्तु उसमें वर्णित विषयों की दृष्टि से उसे स्वतन्त्र महत्त्व प्राप्त है। युद्ध के आरम्भ में उत्पन्न अर्जुन के विषाद का शमन करने के लिए कृष्ण ने जो उपदेश दिये, उन्हें ही भगवद्गीता के रूप में संगृहीत किया गया है। आर्यसमाज में गीता को लेकर दो प्रकार की धारणाएँ प्रचलित हैं। अधिकांश विद्वानों की दृष्टि में महाभारत का एक अंश होने के कारण गीता की गणना प्रामाणिक ग्रन्थों के अन्तर्गत होनी चाहिए। कथ्य की दृष्टि से भी गीता में जिन विषयों का प्रतिपादन हुआ है वे प्रायः वेद, उपनिषद् आदि प्राचीन ग्रन्थों के अनुकूल ही हैं, विशेषतया आत्मा के अमरत्व तथा कर्मयोग जैसे उपयोगी विषयों की मीमांसा गीता में जिस भावस्फूर्त शैली में की गई है, उसे देखते हुए इस ग्रन्थ की महनीयता और उपयोगिता को निरपवाद रूप से स्वीकार करना ही पड़ता है। किन्तु आर्यसमाज में ही कुछ ऐसे विद्वान् हैं जो गीता को न तो प्रामाणिक ग्रन्थ ही मानते हैं और न उन्हें खुद उसकी उपयोगिता ही स्वीकार्य है। इस प्रकार गीता की प्रामाणिकता और अप्रामा-णिकता को लेकर आर्यसमाज के विद्वान् स्पष्टतया दो शिविरों में बँटे हुए हैं।

जहाँ तक स्वामी दयानन्द का सम्बन्ध है, उन्होंने गीता के विषय में अपनी कोई स्पष्ट सम्मति प्रकट नहीं की थी। सम्भवतः इसीलिए कि वे गीता को स्वतन्त्र ग्रन्थ न मानकर महाभारत का ही एक अंश स्वीकार करते थे। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में गीता के कुछ श्लोकों को यत्र-तत्र उद्धृत किया है तथा एक स्थान पर तो ईश्वर के अवतार लेने के प्रसंग का खण्डन करते हुए उन्होंने गीता के प्रसिद्ध श्लोक "यदा यदा ही धर्मस्य" को उद्धृत कर उसकी स्वमतानुकूल व्याख्या भी की है। यह कहना तो उचित नहीं होगा कि वर्तमान रूप में उपलब्ध गीता स्वामीजी को उसी रूप में स्वीकार्य थी, तथापि यह भी उतना ही सत्य है कि वे इस ग्रन्थ को पुराणों और तन्त्रों के तुल्य न तो तिरस्कार्य मानते थे और न त्याज्य।

भारतीय धर्म और दर्शन को गीता ने जिस समग्रता के साथ चित्रित किया है उसके कारण इस ग्रन्थ की लोकप्रियता अत्यधिक बढ़ गई है। यह भी सत्य है कि अधिकांश में वैदिक और उपनिषद्-प्रतिपादित विचारसरणि का अनुकरण करने पर भी गीता में कुछ न कुछ पौराणिक तत्त्व मिलते ही हैं। तथापि इस ग्रन्थ का बहुलांश प्रायः उत्कृष्ट तथा दोषरहित है। आर्यसमाज के विद्वानों ने गीता पर विभिन्न भाष्य, टीकाएँ और व्याख्याएँ लिखी हैं जिनकी संख्या बहुत अधिक है। अनेक विद्वानों ने स्वमति के अनुसार प्रक्षिप्त समझे जानेवाले श्लोकों को पृथक् कर गीता के शुद्ध एवं संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित किये हैं। ऐसे ग्रन्थों की संख्या भी पर्याप्त है जिनमें गीता में वर्णित कुछ उदात्त प्रसंगों को संकलित किया गया है, साथ ही गीता की प्रामाणिकता तथा स्वामी दयानन्द की गीता-विषयक दृष्टि को ध्यान में रखकर भी कुछ ग्रन्थ लिखे गए हैं। कतिपय ग्रन्थ उस वर्ग के विद्वानों द्वारा भी लिखे गए हैं जो इस ग्रन्थ के कठोर आलोचक हैं। यहाँ हम भगवद्गीता-विषयक सम्पूर्ण साहित्य का किंचित् विस्तार से परिचय देना उपयुक्त समझते हैं।

गीता के भाष्य, टीकादि ग्रन्थ—सर्वप्रथम हम गीता पर लिखे गए भाष्य और टीका आदि की चर्चा करेंगे। स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा ने गीता पर भी अपनी लेखनी उठाई थी। उन्होंने गीता पर संस्कृत में विस्तृत भाष्य लिखा तथा उसका भावानुवाद हिन्दी में प्रस्तुत किया। पण्डित भीमसेन ने गीता में प्रक्षिप्त किये गए श्लोकों पर भी विचार किया है। उनके विचारानुसार आज उपलब्ध गीता में सात, नौ, दस, ग्यारह और बारह—ये पाँच अध्याय तो पूर्णतया प्रक्षिप्त माने जा सकते हैं। अन्य में भी उन्होंने जिन-जिन श्लोकों को प्रक्षिप्त माना है उसका संकेत उन्होंने ग्रन्थ की प्रस्तावना में कर दिया है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सर्वप्रथम १८९७ ई० में सरस्वती यन्त्रालय, इटावा से हुआ। पण्डित आर्यमुनि का "गीता-योग प्रदीपार्य-भाष्य" लाहौर से १९६२ वि० में छपा। आर्यमुनि ने सम्पूर्ण ग्रन्थ की संगति लगाने में अत्यधिक श्रम किया है। वे गीता में केवल एक श्लोक को ही प्रक्षिप्त मानते हैं, और वह है "पत्रं पुष्पं फलं तोयम्"। पण्डित तुलसीराम स्वामी का गीताभाष्य भी अपनी दृष्टि से अपूर्व है क्योंकि इसमें सम्पूर्ण ग्रन्थ को वैदिक सिद्धान्तों के अनुकूल सिद्ध किया गया है। पण्डित राजाराम, स्वामी दर्शनानन्द, स्वामी सत्यानन्द, पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार, पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार आदि के गीताभाष्य भी अनेक दृष्टियों से उपयोगी तथा उल्लेखनीय हैं। पण्डित भूमित्र शर्मा स्वामी दयानन्द के सम-कालीन थे जिन्हें स्वामीजी से ही यज्ञोपवीत धारण करने का अवसर मिला था। उन्होंने गीता पर 'वेदानुगरत्नसंग्रह' शीर्षक भाष्य लिखा है। इसकी भूमिका में उन्होंने स्वामी दयानन्द के जीवन का एक प्रसंग वर्णित करते हुए बताया है कि ऋषि दयानन्द के अनुसार वर्तमान गीता में ७, ९, १०, ११, १२ अध्याय समग्र रूप से प्रक्षिप्त किये गए हैं। सम्भवतः स्वामीजी के गीता-विषयक इसी दृष्टिकोण को ध्यान में रखकर पण्डित भीमसेन और पण्डित भूमित्र शर्मा ने अपने गीता के संस्करणों में इन अध्यायों को प्रक्षिप्त मानकर स्थान ही नहीं दिया है।

गीता के प्रक्षिप्त श्लोकों को छाँटने में पण्डित मुक्तिराम उपाध्याय (स्वामी आत्मानन्द सरस्वती) का परिश्रम विशेष रूप से प्रशंसनीय है। उन्होंने प्रक्षेप चुनने की

एक मौलिक पद्धति निर्धारित की, जिसका विस्तृत विश्लेषण उन्होंने ग्रन्थ की भूमिका में किया। उनका यह तो आग्रह नहीं है कि जिन श्लोकों को उन्होंने प्रक्षिप्त माना है उन्हें अन्य विद्वान् भी प्रक्षिप्त मान लें, तथापि प्रक्षिप्त अंशों को निर्धारित करने में उन्होंने जिस युक्तिसरणि तथा तार्किकता का सहारा लिया है वह सर्वथा प्रशंसनीय है। गीता पर किये गए भाष्यों में पण्डित कृष्णस्वरूप विद्यालंकार का 'गीतामर्म' तथा स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती का 'समर्पणभाष्य' मौलिक विवेचना की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने पण्डित ईश्वरीप्रसाद प्रेम के आग्रह पर गीता के एक शुद्ध संस्करण का सम्पादन किया था जो सत्यप्रकाशन, मथुरा से प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ की विस्तृत भूमिका में गीता-विषयक सभी विषयों का ऊहापोह किया गया है। महाभारत में गीता की स्थिति का विवेचन करने के पश्चात् इसमें आर्यसमाज के उन विद्वानों की आपत्तियों का उत्तर भी दिया गया है जो गीता के कठोर आलोचक हैं। ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में स्वामी आत्मानन्द सरस्वतीकृत वैदिक गीता के क्रम के अनुसार ही गीता के श्लोकों का सरल और संक्षिप्त भावार्थ प्रस्तुत किया गया है। स्वामी वेदानन्द वेदवागीश ने गीता पर 'ज्योतिष्मती' और 'दीप्तिमती' शीर्षक टीकाएँ लिखी हैं। इनमें से ज्योतिष्मती टीका संस्कृत में और 'दीप्तिमती' टीका हिन्दी में है।

हिन्दी से भिन्न भाषाओं में भी आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा गीता पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए हैं। उर्दू में भाई परमानन्द लिखित 'गीता के राज़' तथा फिरोजपुर के पण्डित विष्णुदत्त वकील द्वारा लिखित 'गीता-शतक' उल्लेखनीय हैं। पण्डित घासीराम ने सम्पूर्ण गीता का उर्दू पद्यानुवाद किया था तथा पण्डित गोपदेव शास्त्री ने तेलुगु में गीता की टीका लिखी है।

आर्यसमाज के विद्वानों ने समग्र गीता को यथावत् मान्यता चाहे न दी हो, तथापि उन्होंने यह तो स्वीकार किया ही है कि इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र अनेक गम्भीर उपदेश तथा उदात्त शिक्षाएँ संगृहीत हैं। अतः गीता के कुछ मार्मिक श्लोकों को पृथक् ग्रन्थ के रूप में संकलित करने की प्रवृत्ति आर्य विद्वानों में आरम्भ से ही रही है। स्वामी मंगलानन्द पुरी ने भगवद्गीता के ७० श्लोकों को ही प्राचीन ठहराया था और इसी के आधार पर उन्होंने 'प्राचीन भगवद्गीता' शीर्षक ग्रन्थ का सम्पादन किया। उनकी एक अन्य पुस्तक 'सप्तश्लोकी गीता' भी छपी थी। पण्डित ईश्वरदत्त मेधार्थी विद्यालंकार ने गीता से सौ श्लोकों का संग्रह कर 'आर्यकुमार गीता' का सम्पादन किया। पण्डित जगतकुमार शास्त्री ने द्वितीय अध्याय के अन्तिम श्लोकों की टीका 'स्थितप्रज्ञोपनिषद्' शीर्षक से की है। बंगला में पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री ने 'प्राचीन गीता' शीर्षक से गीता के कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोकों का अनुवाद प्रकाशित किया।

भगवद्गीता के हिन्दी पद्यानुवाद—गीता जैसे लोकप्रिय ग्रन्थ का काव्यरुचि-सम्पन्न पाठकों के लिए पद्यानुवाद किया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। हमारी जानकारी में ऐसे आठ पद्यानुवाद समय-समय पर किये जा चुके हैं। गुरुकुल वृन्दावन के डॉक्टर देवदत्त ने 'गीतायन' शीर्षक पद्यानुवाद किया। हितैषी अलावलपुरी लिखित 'हितैषी की गीता' गीता के श्लोकों का दोहानुवाद प्रस्तुत करती है। श्री ज्ञानप्रकाश ने राधेश्याम-तर्ज पर गीता का पद्यानुवाद किया। अन्य अनुवादों में स्वामी धीरानन्द संन्यासी का गीतागान, रामकृष्ण भारती का भगवद्गीता पद्यानुवाद, प्रकाशवीर शर्मा

'व्याकुल' का 'गीता-ज्ञान प्रकाश' तथा डॉक्टर वेदप्रकाश का वैदिक भगवत्गीता-दोहानुवाद उल्लेखनीय हैं।

गीता-विषयक आलोचनात्मक ग्रन्थों की संख्या भी पर्याप्त है। भाई परमानन्द ने गीतामृत लिखकर गीता में विवेचित विषयों की समीक्षा की थी। पण्डित नरदेव शास्त्री-लिखित गीता-विमर्श इस ग्रन्थ का सर्वांगीण अध्ययन प्रस्तुत करता है। पण्डित गोपाल तथा प्रिंसिपल दीवानचन्द ने गीता-विषयक उल्लेखनीय ग्रन्थ लिखे हैं। पण्डित कृष्ण-स्वरूप विद्यालंकार ने 'गीता-विज्ञान-विवेचन' शीर्षक ग्रन्थ में गीता के प्रतिपाद्य विषयों की व्यापक समीक्षा की है।

गीता को अप्रामाणिक माननेवाले विद्वानों में पण्डित राजेन्द्र तथा डॉ० श्रीराम आर्य आदि हैं। इन्होंने अपने दृष्टिकोण को गीता-विमर्श, गीता की पृष्ठभूमि, ऋषि दयानन्द और गीता तथा गीता-विवेचन आदि ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है। उक्त विद्वानों द्वारा किये गए आक्षेपों के समाधान रूप में तथा गीता और वेद की शिक्षाओं में परस्पर अविरोध स्थापित करने की दृष्टि से अमर स्वामी सरस्वती ने कुछ ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें गीता और वेद, ऋषि दयानन्द और गीता आदि मुख्य हैं। निश्चय ही गीता जैसे लोक-प्रिय धार्मिक ग्रन्थ पर विस्तृत टीका, भाष्य, व्याख्या और आलोचना लिखकर आर्य-समाजी विद्वानों ने इसके अध्ययन और प्रचार में अपना बहुमूल्य योगदान दिया है।

यहाँ तक हमने मनुस्मृति, रामायण तथा महाभारत-विषयक टीका, व्याख्या, भाष्य एवं आलोचना-विषयक उस साहित्य पर प्रकाश डाला है जो आर्यसमाजी विद्वानों की लेखनी द्वारा प्रसूत हुआ है। परन्तु संस्कृत साहित्य में ऐसे ग्रन्थों की भी कमी नहीं है जो विशुद्ध आर्षकोटि में न आने पर भी अपनी नीति एवं सदाचारमूलक शिक्षाओं के कारण पठन-पाठन में प्रयुक्त होते हैं। आगे की पंक्तियों में हम नीतिविषयक कुछ ऐसे ही ग्रन्थों का परिचय दे रहे हैं। हमारी सूचना के अनुसार स्वामी दर्शनानन्द ने आद्य शंकरा-चार्य द्वारा प्रणीत कुछ ऐसे लघु ग्रन्थों का भी सानुवाद प्रकाशन किया था जो ज्ञान, वैराग्य तथा अध्यात्म का निरूपण करते हैं। इन ग्रन्थों के नाम निम्न हैं—मोह-मुद्गर कौपीन पञ्चक, यति पञ्चक, आत्मपूजा तथा निरञ्जनाष्टव।

(६) नीति-विषयक ग्रन्थ

भर्तृहरि शतकत्रय—व्याख्या व अनुवाद—संस्कृत साहित्य में महाराज भर्तृहरि के तीन शतकों का एक विशिष्ट स्थान है। नीति, वैराग्य और शृंगार—इन तीन विषयों को लेकर लिखे गए शतक संस्कृत काव्य के भूषण तुल्य हैं। विशेषतः नीति और वैराग्य-शतकों में मानव-जीवन के विभिन्न पहलुओं को लेकर जो महत्त्वपूर्ण सूक्तियाँ ग्रथित की गई हैं, वे कवि के व्यापक जीवनानुभव को तो प्रकाशित करती ही हैं, उसकी काव्य-प्रतिभा को भी उजागर करती हैं। स्वामी दयानन्द को महाराज भर्तृहरि की निम्न सूक्ति अत्यन्त प्रिय थी और इसे वे अपने जीवन का प्रमुख निर्देशक सिद्धान्त मानते थे। स्वमन्तव्या-मन्तव्यप्रकाश के आरम्भ में ही उन्होंने नीतिशतक के इस श्लोक को उद्धृत किया है—

निन्दन्तु नीतिनिपुणाः यदि वा स्तुवन्तु।
लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्॥

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा ।
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ॥

नीतिनिपुण लोग निन्दा करें या स्तुति, लक्ष्मी आवे या चली जाए, मृत्यु चाहे आज ही आ जाए अथवा युगान्तरों तक जीवित रहें, न्याय के मार्ग से धीर पुरुष कभी विचलित नहीं होते।

आर्य विद्वानों ने भर्तृहरि शतकों की टीकाएँ और व्याख्याएँ पर्याप्त संख्या में लिखी हैं। मुख्यतः नीति और वैराग्य शतकों की टीकाएँ ही लिखी गयीं। शृंगार शतक का एकमात्र प्रकाशन तो पण्डित कृपाराम ने १८९५ ई० में लाहौर से किया था। यहाँ हम इन्हीं शतकों की कतिपय व्याख्याओं का उल्लेख कर रहे हैं। सर्वप्रथम नीतिशतक को लें। नीतिशतक की न्यूनातिन्यून दस व्याख्याओं अथवा संस्करणों का पता चलता है। सबसे पुरानी टीका पण्डित कृपाराम शर्मा (स्वामी दर्शनानन्द) की है जो तिमिरनाशक प्रेस काशी से छपी थी। पण्डित भीमसेन शर्मा की टीका का संपादन पण्डित श्यामलाल शर्मा ने किया था। इसका दूसरा संस्करण इटावा से १८९७ ई० में छपा था। सत्यव्रत शर्मा की टीका भी इटावा से ही छपी। पण्डित रघुवीरशरण दुबलिस (भास्कर प्रेस मेरठ), पंडित छुट्टनलाल स्वामी (स्वामी प्रेस मेरठ से १९१३ ई० में प्रकाशित), पण्डित जीवाराम उपाध्याय (१९८२ वि०) तथा पण्डित शिवकुमार शास्त्री (सार्वदेशिक प्रकाशन, दिल्ली से २०१३ वि० में प्रकाशित) की टीकाएँ भी उल्लेखनीय हैं। गुरुकुल काँगड़ी के पाठ्यक्रम हेतु तैयार किया गया संशोधित नीतिशतक गुरुकुल के ही पण्डितों द्वारा सम्पादित होकर १९९० वि० में छपा था। मेधारथी स्वामी ने इसका एक संक्षिप्त संस्करण निकाला तथा लाहौर के पण्डित दुर्गाप्रसाद ने अपने विरजानन्द प्रेस से नीतिशतक मूल (१९४६ वि०) तथा उसका अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया था।

वैराग्यशतक के पण्डित कृपाराम शर्मा, पं० भीमसेन शर्मा तथा पण्डित सत्यव्रत शर्माकृत अनुवादों का पता चलता है। पण्डित रामजी शर्मा मधुवनी ने तीनों शतकों का सरल भाषानुवाद किया जो श्यामलाल सत्यदेव, बरेली द्वारा प्रकाशित किया गया। स्वामी जगदीश्वरानन्द द्वारा तीनों शतकों का भाषानुवाद १९७२ ई० में छपा।

चाणक्य नीति—व्याख्या व अनुवाद—मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त को राजनीति की शिक्षा देनेवाले महामति चाणक्य का भारत के कूटनीतिक इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। चाणक्य द्वारा लिखे गये तीन ग्रन्थों का पता चलता है—अर्थशास्त्र, चाणक्यसूत्र तथा श्लोकबद्ध चाणक्यनीति। नीतिग्रन्थों में चाणक्यप्रणीत नीति का महत्त्व सर्वविदित है। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में चाणक्यनीति के अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं। 'चाणक्य नीतिशास्त्रम्' शीर्षक से इसका एक संस्करण विरजानन्द प्रेस लाहौर से १९४५ वि० में छपा था। उक्त प्रेस के संचालक पण्डित दुर्गाप्रसाद ने इसकी अंग्रेजी टीका Chanakya's Niti Darpana or Compendium of Morals शीर्षक से लिखी जो १८८९ ई० में छपी। इसकी अन्य महत्त्वपूर्ण व्याख्याएँ पं० छुट्टनलाल स्वामी, पं० शेरसिंह शास्त्री, पण्डित प्रेमशरण प्रणत तथा पण्डित बिहारीलाल शास्त्री ने लिखीं। स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती ने चाणक्यनीतिदर्पणः शीर्षक एक सर्वोत्कृष्ट व्याख्या (भगवतीभाष्य शीर्षक) लिखी है। इसकी भूमिका में चाणक्य का इतिवृत्त तथा चाणक्यप्रणीत ग्रन्थों का विस्तृत ऐतिहासिक अनुशीलन प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ के मूल पाठ का निर्धारण करने में

टीकाकार ने महत् परिश्रम किया है तथा श्लोकों के पाठभेद को पादटिप्पणियों में भी दर्शाया है। पण्डित रामस्वरूप पाठक ने पाठक-नीतिमाला में चाणक्य के १०८ नीति-श्लोकों का पद्यानुवाद किया। करनाल-निवासी श्री निहालसिंह ने हितशिक्षा शीर्षक से चाणक्यनीति का दोहानुवाद किया था, जो १९५० वि० में सरस्वती यन्त्रालय प्रयाग से छपा। उर्दू में भी चाणक्यनीति का अनुवाद हो चुका है। आचार्य चाणक्य का मुख्य ग्रन्थ 'कौटिलीय अर्थशास्त्र' है, जिसे मौर्य साम्राज्य की 'शासन विधि' के रूप में लिखा गया था। यह विशाल ग्रन्थ अत्यन्त दुरूह तथा महत्त्वपूर्ण है। गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक डा० प्राणनाथ विद्यालंकार ने इसे सबसे पूर्व हिन्दी में अनूदित किया था। बाद में अन्य भी अनेक आर्य विद्वानों ने इसके अनुवाद किये, और व्याख्यापरक पुस्तकें भी लिखीं।

स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती ने शुक्रनीतिसार की व्याख्या अत्यन्त मनोयोग-पूर्वक की है। विस्तृत आलोचनात्मक भूमिका में इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक परिचय दिया गया है। विस्तृत विषयसूची, श्लोकों का सरल भावार्थ तथा ग्रन्थान्त में श्लोकानुक्रमणी देने से ग्रन्थ की उपयोगिता बढ़ गयी है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन ऋषिदेवी रूपलाल कपूर धर्मार्थ ट्रस्ट द्वारा १९८३ ई० में किया गया था।

पंचतन्त्र तथा हितोपदेश—पशु-पक्षी तथा मनुष्य-जीवन की कथाओं के व्याज से संस्कृत में जो अनेक रोचक एवं शिक्षाप्रद कथा-कहानियाँ लिखी गयी हैं, उनमें पंच-तन्त्र तथा हितोपदेश सर्वाधिक विख्यात हैं। इन कथाओं के प्रवक्ता कोई आचार्य विष्णु-शर्मा नामक थे जिन्होंने महिलाशेप्य नगर के राजकुमारों को नीति-निपुण तथा व्यवहार-कुशल बनाने के लिए राजा अमरशक्ति के अनुरोध पर इन कथाओं का प्रवचन किया। कालान्तर में यही कहानियाँ अरबी तथा फारसी में अनूदित हुईं तथा इसी माध्यम से यूरोप में पहुँचीं, जहाँ उनका अनेक यूरोपीय भाषाओं में भी अनुवाद हुआ। विद्यार्थियों की शिक्षा तथा चरित्र-निर्माण के लिए इन कथाग्रन्थों का सदा से ही उपयोग किया जाता रहा है। पंचतन्त्र तथा हितोपदेश में कई कथाएँ स्त्री-पुरुष के यौन जीवन को लेकर भी लिखी गयी हैं। निश्चय ही अल्पमति छात्रों के लिए अनुपयुक्त समझकर ये कथाएँ पाठ्य-क्रम के लिए सम्पादित संस्करणों से पृथक् कर दी गयी हैं। इस प्रकार के संशोधित पंच-तन्त्र तथा संशोधित हितोपदेश का प्रकाशन गुरुकुल काँगड़ी ने किया था। पंचतन्त्र का यह संशोधित संस्करण दो भागों में पण्डित विष्णुमित्र द्वारा सम्पादित होकर १९७१ वि० में प्रकाशित हुआ। पंचतन्त्र की कुछ कथाओं को सरल संस्कृत में निबद्ध कर गुरुकुल काँगड़ी द्वारा बालनीतिकथामाला शीर्षक से प्रकाशित किया गया। इसका प्रथम संस्करण १९८२ वि० में छपा था। चतुर्थ संस्करण (२०१६ वि० में प्रकाशित) पण्डित धर्मदेव वेदवाचस्पति द्वारा सम्पादित किया गया था। हितोपदेश का संशोधित गुरुकुलीय संस्करण भी काँगड़ी से ही छपा। स्वामी प्रेस मेरठ ने मूल तथा भाषानुवाद सहित हितोपदेश प्रकाशित किया। पण्डित राजाराम की इस ग्रन्थ पर टीका भी छपी। पंचतन्त्र तथा हितोपदेश के छात्रोप-योगी संस्करण पण्डित जीवाराम उपाध्याय ने भी तैयार किये थे।

सातवाँ अध्याय

आर्यसिद्धान्त-विषयक साहित्य

(१) दार्शनिक विषयों पर लिखे गये ग्रन्थ

स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों एवं प्रवचनों में पदे-पदे इस बात का स्पष्टीकरण किया था कि उनका उद्देश्य किसी नवीन मत का प्रवर्तन करना नहीं है। इसके विपरीत वे तो उन्हीं सिद्धान्तों की स्थापना एवं प्रचार कर रहे हैं जो ब्रह्मा से लेकर जैमिनि मुनि पर्यन्त भारत की आर्य-परम्परा को मान्य रहे हैं। निश्चय ही स्वामी दयानन्द ने पुरातन वैदिक सिद्धान्तों की सामयिक संदर्भों में व्याख्या एवं विवेचना की है। वे वेदों में प्रतिपादित तथा ऋषि-मुनियों द्वारा अनुमोदित एवं प्रचारित उन सभी मन्तव्यों को यथावत् स्वीकार करते हैं जिनकी वर्तमान युग में भी महत्ता तथा उपयोगिता पूर्ववत् अक्षुण्ण है। स्वामी दयानन्द द्वारा पुन: प्रतिष्ठित वैदिक सिद्धान्त उनके ग्रन्थों में यत्र-तत्र-सर्वत्र निरूपित, व्याख्यात एवं विवेचित हुए हैं। कालान्तर में इन सिद्धान्तों की पुष्टि में सहस्रों छोटे-बड़े ग्रंथों का निर्माण हुआ। यहाँ हम कुछ विशिष्ट शीर्षकों के अन्तर्गत इन सिद्धान्तों पर निर्मित साहित्य का उल्लेख करेंगे।

सर्वप्रथम हम ईश्वर, जीवात्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष तथा कर्मसिद्धान्त जैसे दार्शनिक विषयों पर लिखे गये आर्य साहित्य का परिचय प्रस्तुत करेंगे। तत्पश्चात् ओंकार-माहात्म्य तथा गायत्री जैसे उपासना-विषयक प्रकरणों की चर्चा साहित्य के सन्दर्भ में की गयी है। अध्याय के अवशिष्ट भाग में आर्यसमाज के कुछ आचार-विषयक तथा सामाजिक सिद्धान्तों से सम्बन्धित साहित्य पर विचार किया जाएगा। इस प्रसंग में आर्य शब्द का महत्त्व, आर्य-जाति का अभिवादन—नमस्ते, गोरक्षा, ब्रह्मचर्य तथा गृहस्थ-आश्रम, नियोग-व्यवस्था, मांस-भक्षण-निषेध, मादक द्रव्य-निषेध, वैदिक राज्य-व्यवस्था, वर्ण-व्यवस्था, विधवा-विवाह, शुद्धि जैसे विषयों पर रचित साहित्य का विवरण दिया जाएगा। धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन तथा वृक्षों में जीव जैसे स्फुट विषयों की चर्चा के साथ-साथ सिद्धांतों पर लिखे गये विशिष्ट एवं सामान्य साहित्य का परिचय तथा कुछ लेखकों की ग्रंथमालाओं का भी परिचय देने का प्रयत्न किया गया है। इनके अतिरिक्त दृष्टान्त-साहित्य, धर्म-शिक्षा-साहित्य तथा आर्य विद्वानों के पारस्परिक मतभेद जैसे विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थों का भी प्रसंगोपात्त उल्लेख किया गया है।

ईश्वर-विषयक विवेचनात्मक साहित्य—आर्यसमाज आस्तिक मान्यता स्वीकार करनेवाला समुदाय है। स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की आधारशिला रखते समय इस संस्था के जो नियम निर्धारित किये थे उनमें प्रथम दो ईश्वर से ही सम्बन्धित हैं। स्वामी दयानन्द की ईश्वर-विषयक धारणा वेद, उपनिषद्, दर्शन आदि प्राचीन धर्म-ग्रन्थों पर आधारित है जिसे उन्होंने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र व्याख्यात किया है। सत्यार्थप्रकाश के

प्रथम व सप्तम समुल्लासों में तो ईश्वर-विषयक विवेचन हुआ ही है, अन्य अध्यायों में भी प्रसंगोपात्त इस विषय की चर्चा हुई है। जैन, बौद्ध आदि नास्तिक मतों की समीक्षा के प्रसंग में भी स्वामीजी ने सृष्टिकर्ता ईश्वर की सत्ता सप्रमाण स्थापित की तथा स्वमन्त-व्यामन्तव्यप्रकाश एवं आर्योद्देश्यरत्नमाला जैसे ग्रन्थों में सर्वथा अनिर्वचनीय तथा अव्याख्येय परमात्मा को भी यथाकथंचित् परिभाषित किया।

आर्यसमाज की ईश्वर-विषयक धारणाओं की पुष्टि में आर्य साहित्यकारों द्वारा अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनकी चर्चा हम यहाँ कर रहे हैं। फर्रुखाबाद-निवासी पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा के ईश्वर-विषयक निम्न ग्रन्थों की जानकारी हमें उपलब्ध है—(१) ईश्वर-सिद्धि, (२) ईश्वर की सत्ता,(३) ईश्वर का स्वरूप, गुण, कर्म और स्वभाव, (४) ईश्वर-प्राप्ति के उपाय, (५) ईश्वर-भक्ति और उसकी प्राप्ति। स्वामी दर्शनानन्द ग्रन्थ-माला में हमें 'ईश्वर विचार' (३ भाग) तथा 'ईश्वर प्राप्ति' (३ भाग) जैसे लघु ग्रन्थ भी मिलते हैं। आर्यसमाज के संन्यासियों में प्रमुख स्वामी सर्वदानन्द तथा स्वामी सत्यानन्द ने ईश्वर-विषयक कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थों की रचना की है। स्वामी सर्वदानन्द के एतद्-विषयक प्रवचनों के संग्रह 'परमात्मा के दर्शन' तथा 'ईश्वर भक्ति' शीर्षक से प्रकाशित हुए हैं, जबकि स्वामी सत्यानंद की 'भक्ति-योग और ईश्वरसिद्धि' तथा 'ईश्वर-दर्शन'(उसकी राह पर) आदि कृतियाँ आस्तिक समुदाय में अत्यन्त लोकप्रिय रहीं। पण्डित गणपति शर्मा उच्चकोटि के तार्किक, व्याख्याता तथा शास्त्रों के मार्मिक विद्वान् तो थे, किन्तु उन-की लेखनी से प्रसूत होकर बहुत कम सामग्री प्रकाश में आ सकी। तथापि उनका 'ईश्वर-भक्ति विषयक व्याख्यान' वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद द्वारा प्रकाशित हुआ था। वैदिक ईश्वरवाद पर पं० गंगाप्रसाद, पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर तथा पण्डित घासीराम लिखित लेखों का संग्रह व सम्पादन पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने किया जो १९७३ वि० में प्रकाशित हुआ। लाहौर-निवासी एक पुराने लेखक श्री शाहजादाराम की ईश्वर-विषयक दो रचनाएँ—(१) ईश्वर-पूजा तथा (२) ईश्वर-मिलाप वजीरचन्द शर्मा लाहौर द्वारा १९८० वि० तथा १९८१ वि० में क्रमशः प्रकाशित हुई थीं।

तथापि ईश्वर जैसे सर्वथा दुर्ज्ञेय तत्त्व की तार्किक समीक्षा प्रस्तुत करने के प्रयास बहुत अधिक नहीं हैं। पण्डित देवप्रकाश ने 'आस्तिक विचार' शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा था। इसमें न्यायदर्शन के प्रौढ़ विद्वान् पण्डित उदयनाचार्यरचित 'न्यायकुसुमां-जलि' की ईश्वरसिद्धि-विषयक प्रसिद्ध कारिका—

कार्यायोजनधृत्यादेः पदात् प्रत्ययतः श्रुतेः ।
वाक्यात् संख्या विशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः ।।

के आधार पर ईश्वर का मनोज्ञ विवेचन किया गया है। 'आस्तिक विचार' का प्रकाशन भक्त मुकुन्दलाल धर्मार्थ ट्रस्ट अमृतसर द्वारा १९४० ई० में हुआ था। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखित आस्तिकवाद ग्रन्थ की ख्याति तो आर्यसमाज की सीमाओं का उल्लंघन कर समस्त देश तक व्याप्त हो चुकी है। हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग की ओर से उपाध्यायजी को उनकी इस महनीय कृति पर १९३१ ई० में मंगलाप्रसाद पुरस्कार प्रदान किया गया था। इस ग्रन्थ को उस समय हिन्दी में लिखी गयी सर्वश्रेष्ठ दार्शनिक कृति समझा गया। इस ग्रन्थ की भूमिका महात्मा नारायण स्वामी ने लिखी थी। महात्मा हंसराज ने आस्तिकवाद को पढ़कर कहा था—"मेरी तीव्र इच्छा है कि हमारे नवयुवक

इस पुस्तक को पढ़कर अपने जीवनकेन्द्र को स्थिर तथा सुखदायक बनाएं।" हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक प्रोफेसर रामदास गौड़ ने आस्तिकवाद के सम्बन्ध में एक बार उपाध्यायजी से कहा था, "आप पर ईश्वर की बड़ी कृपा होगी क्योंकि इस युग में किसी ने ईश्वर की इतनी वकालत नहीं की, जितनी आपने।" आस्तिकवाद के लेखक ने जहाँ नाना युक्तियों एवं प्रमाणों से ईश्वर की सत्ता को सिद्ध किया है, वहाँ उसने कतिपय पश्चिमी लेखकों की कृतियों को भी उद्धृत किया है। इनमें फ्लिटकृत थीज़म (Theism) का नाम उल्लेखनीय हैं। आस्तिकवाद का अनुवाद बंगला तथा गुजराती में भी हुआ है। पण्डित क्षितीश वेदालंकार द्वारा सम्पादित 'ईश्वर वैज्ञानिकों की दृष्टि में' एक संग्रहात्मक ग्रन्थ है।

महात्मा आनन्द स्वामीरचित 'प्रभुभक्ति' और 'प्रभुदर्शन' भक्तिमार्ग को प्रशस्त करने की दृष्टि से लिखी गयी हैं। बाबा छज्जूसिंह ने 'नेचर एण्ड एट्रीब्यूट्स ऑफ गॉड एकॉर्डिंग टु दि शास्त्राज़' शीर्षक एक विचारोत्तेजक ग्रन्थ लिखा था जो स्वामी प्रेस मेरठ से प्रकाशित हुआ।

अंग्रेजी में स्वामी विद्यानन्द सरस्वती लिखित ग्रन्थ The Concept of God ईश्वर-तत्त्व की सतर्क समीक्षा प्रस्तुत करता है।

जीवात्मा-विषयक विवेचनात्मक साहित्य—आर्यसमाज का दार्शनिक सिद्धान्त जीवेश्वर भेद पर आधारित है। वैदिक साहित्य में ईश्वर से भिन्न अल्पज्ञ, अल्पशक्तियुक्त अणु परिमाणवाले जीव का उल्लेख सर्वत्र मिलता है। यह जीव चेतन होने पर भी आनंदयुक्त नहीं है, किन्तु ईश्वर का साक्षात्कार होने पर ही उसे आनन्द की अनुभूति होती है। आर्यसमाज के दार्शनिक लेखकों ने जीवात्मा की सत्ता, स्वरूप एवं उसके गुणों व कार्यों की विवेचना में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे हैं। पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा का 'जीव-विचार' सरस्वती यन्त्रालय इटावा से प्रकाशित हुआ था। स्वामी दर्शनानन्द का 'जीवात्मा' शीर्षक लघु ग्रन्थ भी उपलब्ध होता है, परन्तु जीवात्मा का सर्वांगीण विवेचन पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अपने इसी शीर्षक वाले ग्रन्थ में किया है जो कला प्रेस प्रयाग से १९४० ई० में प्रकाशित हुआ।

महात्मा नारायण स्वामी लिखित 'आत्मदर्शन' में आत्मा-विषयक प्राच्य एवं पाश्चात्य दार्शनिक मतों का विस्तृत ऊहापोह किया गया है। इसका प्रथम संस्करण इन्द्रजीत एण्ड संस शाहजहाँपुर से १९४७ वि० में प्रकाशित हुआ था। जीवात्मा-विषयक कतिपय प्रश्नों एवं समस्याओं की मीमांसा में जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनमें से निम्न उल्लेखनीय हैं—जीवात्मा द्रव्य है या गुण (दर्शनानन्द सरस्वती), जीव सान्त विवेक (भीमसेन शर्मा) तथा जीव का परिणाम (स्वामी आत्मानन्द सरस्वती)। स्वामी नित्यानंद ब्रह्मचारी का 'जीवात्मा' तथा गुरुकुल काँगड़ी के दर्शनशास्त्र के उपाध्याय प्रोफेसर नन्दलाल खन्नाकृत 'आत्ममीमांसा' जीवात्मा-विषयक विशद विवेचनायुक्त ग्रन्थ हैं। पं० मनसाराम वैदिक तोप ने उर्दू में 'मौत के बाद रूह की हालत' शीर्षक पुस्तक में मरणांतर में आत्मा की स्थिति का विवेचन किया है।

पुनर्जन्म-विषयक साहित्य—वैदिक दर्शन आत्मा के पुनर्जन्म के सिद्धांत को स्वीकार करता है। वेद, उपनिषद्, दर्शन तथा अवान्तर ग्रन्थों में पुनर्जन्म की चर्चा सर्वत्र उपलब्ध होती है। निरुक्त परिशिष्ट में जीव के बार-बार नाना योनियों में जन्म लेने की बात को अत्यन्त मार्मिक ढंग से कहा गया है—

मृतश्चाहं पुनर्जातो जातश्चाहं पुनर्मृतः।
नानायोनिसहस्राणि मयोषितानि यानि वै॥
आहारा विविधा भुक्ता पीता नानाविधा स्तनाः।
मातरो विविधा दृष्टा पितरः सुहृदस्तथा॥

अर्थात् मरकर मैंने पुनः जन्म लिया, जन्म लेकर पुनः मरा। इस प्रकार मैं सहस्रों योनियों में रह चुका हूँ। अनेक प्रकार के आहार किये, नानाविध स्तनों से दुग्धपान किया। अनेक माता, पिता तथा बंधुओं को देखा। श्री मद्भगवद्गीता में भी पुनर्जन्म के सिद्धांत को निम्न प्रकार से वर्णित किया गया है—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप॥४-५

आद्य शंकराचार्य ने अपने चर्पटपंजरिका स्तोत्र में लिखा—

पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरेशयनम्॥

वैदिक दर्शन से भिन्न जैन तथा बौद्ध दर्शन में भी पुनर्जन्म को स्वीकार किया गया है। एकमात्र भौतिकवादी चार्वाक दर्शन ने ही पुनर्जन्म या आवागमन को अस्वीकार कर भोगवाद का नारा दिया—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः॥

स्वामी दयानन्द ने पुनर्जन्म व आवागमन-सिद्धान्त की चर्चा अपने ग्रन्थों में अनेक स्थलों पर की है। कालान्तर में अनेक आर्य विद्वानों ने भी पुनर्जन्म की पुष्टि में अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। इस प्रसंग में सर्वप्रथम पण्डित लेखरामरचित पुस्तक 'सुबूते तनासुख' का उल्लेख आवश्यक है। यह विस्तृत खोजपूर्ण ग्रन्थ दो भागों में लिखा गया है। प्रथम भाग में पुनर्जन्म पर उठाई गई अनेक आपत्तियों का उत्तर दिया गया था, जबकि द्वितीय भाग में पुनर्जन्म की सिद्धि में पारसी, बौद्ध, ईसाइयत तथा इस्लाम के मान्य ग्रन्थों से अनेक प्रमाण संगृहीत किये गये थे। आर्यसमाज के एक पुराने लेखक महता राधाकृष्ण ने भी 'सुबूते तनासुख' नामक ग्रन्थ पुनर्जन्म की सिद्धि में लिखा था। इसका प्रकाशन लाहौर से १८८८ ई० में हुआ।

हिन्दी में पुनर्जन्म व आत्मा के आवागमन-विषयक अनेक प्रौढ़ एवं युक्तियों से परिपूर्ण ग्रन्थ लिखे गये हैं। पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा लिखित 'आवागमन' भाग १ का प्रकाशन रसिक यंत्रालय, कानपुर से १८९७ ई० में हुआ। पण्डित भीमसेन शर्मा लिखित 'पुनर्जन्म' का प्रकाशन सरस्वती यंत्रालय, इटावा से १९५४ वि० में हुआ। गुरुकुल काँगड़ी के एक पुराने स्नातक श्री नन्दकिशोर विद्यालंकार ने पुनर्जन्म पर एक गवेषणा-पूर्ण ग्रन्थ १९२५ ई० में लिखा तथा इसी गुरुकुल के दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक प्रो० नन्दलाल खन्ना के ग्रन्थ 'पुनर्जन्म-मीमांसा' का प्रकाशन १९३७ ई० में हुआ। किन्तु पुनर्जन्म, मृत्यु तथा परलोक-विषयक महात्मा नारायण स्वामी लिखित पुस्तक "मृत्यु और परलोक" अपने विषय की सर्वांगीण समीक्षा प्रस्तुत करती है। इसका प्रथम प्रकाशन १९२५ ई० में हुआ। अब तक इसके बीस से अधिक संस्करण छप चुके हैं जो ग्रन्थ की लोकप्रियता के परिचायक हैं। महात्मा जी का ही एक अन्य ग्रन्थ "मृत्यु रहस्य" १९८२ विक्रमी में छपा था। पण्डित राजेन्द्र ने पूर्वजन्म-स्मृति शीर्षक ग्रन्थ लिखा था, जो

दर्शनानन्द ग्रन्थागार मथुरा द्वारा २०१२ वि० में प्रकाशित हुआ।

मोक्ष-विषयक ग्रन्थ—भारतीय चिन्तन में मोक्ष को परम पुरुषार्थ कहा गया है। धर्म, अर्थ और काम के पश्चात् मोक्ष की गणना मनुष्य के चरम लक्ष्य के रूप में की गई है। सांख्यदर्शन में प्रदत्त परिभाषा के अनुसार त्रिविध दुःखों से अत्यन्त निवृत्त होना ही अत्यन्त पुरुषार्थ है। मोक्ष प्राप्त होने पर जीव को जिस दिव्य सुख व आनन्द की प्राप्ति होती है, वह अनिर्वचनीय कही गई है। आवागमन से मुक्त होना भी मोक्षप्राप्ति का ही पर्याय है। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के नवम समुल्लास में बंधन एवं मुक्ति के विषय को विस्तारपूर्वक निरूपित किया है। दयानन्द ने मोक्ष-विषयक चिन्तन में एक नवीन आयाम उस समय जोड़ा जबकि उन्होंने मुक्तावस्था से जीव के पुनः लौट आने का सिद्धान्त नाना युक्तियों एवं प्रमाणों से प्रस्तुत किया। यद्यपि प्रत्यक्षतया मुक्ति से पुनरा-वृत्ति का सिद्धान्त सर्वथा नवीन प्रतीत होता है किन्तु स्वामी दयानन्द ने अपने इस मत को वेद, उपनिषद् तथा वेदान्तदर्शन से उद्धृत नाना शास्त्रीय प्रमाणों तथा युक्तियों से पुष्ट किया है। उनका प्रमुख तर्क यही है कि सान्त कर्मों का फल अनन्तकाल का मोक्ष नहीं हो सकता। वे मुक्ति की एक निश्चित अवधि मानते हैं और उसके पश्चात् जीवात्मा का पुनः संसार में जन्म लेना भी स्वीकार करते हैं।

आर्यसमाज के लेखकों द्वारा मुक्ति-विषयक जो साहित्य लिखा गया है उसमें स्वामी दर्शनानन्दप्रणीत 'तत्त्ववेत्ता ऋषि की कथा'(मुक्ति का स्वरूप)पर्याप्त पुराना है। इसमें लेखक ने ऋषियों के संवाद के माध्यम से मोक्ष तथा तत्सम्बन्धी अन्य विषयों का आख्यान-शैली में विवेचन किया है। पण्डित मदनमोहन विद्यासागर ने "मुक्ति और उसके साधन" ग्रन्थ लिखा। आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री व पण्डित जगन्नाथ पथिक के संयुक्त लेखन में "मोक्ष का वैदिक मार्ग" शीर्षक ग्रन्थ दयानन्द संस्थान से छपा। स्वामी श्रद्धानन्दरचित 'मुक्ति सोपान' सर्वप्रथम राजपाल एण्ड सन्स द्वारा प्रकाशित किया गया, जबकि लक्ष्मण आर्योपदेशक की पुस्तक "मुक्ति" आर्य साहित्य पुस्तकालय लाहौर से प्रकाशित हुई।

मुक्ति से पुनरावृत्ति की पुष्टि में जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, वे इस प्रकार हैं—मुक्ति से पुनरावृत्ति (स्वामी दर्शनानन्द), मुक्ति से वापसी (लक्ष्मण आर्योपदेशक की उर्दू पुस्तक), मोक्ष से पुनरावृत्ति (रामेश्वरानन्द सरस्वती) तथा मुक्ति से पुनरावृत्ति (गंगाप्रसाद उपाध्याय)।

कर्म-सिद्धान्त-विषयक साहित्य—वैदिक चिन्तनधारा में कर्म को प्रमुख महत्त्व प्राप्त है। वेद, उपनिषद्, दर्शन तथा गीता आदि सभी ग्रन्थों में कर्म-सिद्धान्त का दार्शनिक ऊहापोह किया गया है। सर्वत्र ही मनुष्य को कर्ममय जीवन बिताने की प्रेरणा की गई है। वेदों में मनुष्य को क्रतुमय (कर्मशील) कहा गया है तो उपनिषदों में कर्म करते हुए ही उसे सौ वर्ष पर्यन्त जीवन धारण करने की प्रेरणा की गई है। मनुष्य की कर्म करने की स्वतंत्रता किन्तु कर्मफलों को भोगने की परतन्त्रता भी शास्त्रों में सर्वत्र व्याख्यात की गई है। भगवद्गीता में कर्म में कुशलता दिखाने को ही योग कहा गया है तथा निष्काम भाव से कर्म करने को ही मनुष्य के लिए परम श्लाघ्य माना है।

आर्यसमाजी विद्वानों ने कर्म-सिद्धान्त के विभिन्न पहलुओं पर उच्चकोटि के साहित्य का प्रणयन किया है। स्वामी दर्शनानन्द ने "कर्मव्यवस्था" शीर्षक ट्रैक्ट लिखा

था। "कर्म-रहस्य" में महात्मा नारायण स्वामी ने कर्म-विषयक सुगूढ़ मीमांसा प्रस्तुत करते हुए एतद्-विषयक पौरस्त्य तथा पाश्चात्य मतों की विस्तृत समीक्षा की है। तीस अध्यायों में विभक्त यह ग्रन्थ लेखक के विशाल अध्ययन का परिचायक है। इसे आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान ने अपनी स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर १९३८ ई० में प्रकाशित किया था। कर्मसिद्धान्त के दार्शनिक निरूपण में पण्डित वैद्यनाथ शास्त्रीकृत कर्म-मीमांसा, श्री पूर्णचन्द्र एडवोकेट लिखित कर्म-रहस्य, पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्यायरचित कर्म-फल सिद्धान्त, स्वामी वेदमुनि परिव्राजकप्रणीत कर्म-व्यवस्था तथा स्वामी अखिलानन्द सरस्वती (भूतपूर्व श्री कालीचरण) कृत कर्म-सिद्धान्त आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। पण्डित सुरेन्द्र शर्मा गौड़ ने कर्मफल शीर्षक नाटक लिखकर इस विषय की विवेचना की है।

(२) ओंकार, गायत्री, आर्य तथा नमस्ते विषयक ग्रन्थ

ओंकार माहात्म्य—स्वामी दयानन्द ने ईश्वर तत्त्व का विवेचन करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि यद्यपि परमात्मसत्ता अपने नाना दिव्य गुणों, कर्मों एवं शक्ति के कारण विभिन्न नामों से पुकारी जाती है, किन्तु आर्य शास्त्रों में उस परम तत्त्व का प्रमुख नाम ओम् या ओंकार ही बताया गया है। वेद, उपनिषद् तथा परवर्ती समस्त साहित्य "ओम्" की महिमा का अनवरत गायन करता है। योगदर्शनकार महर्षि पतंजलि ने इस ओंकार (प्रणव) को ही परमपुरुष परमात्मा का वाचक कहा है। गीता जैसे लोकप्रिय धर्मग्रन्थ में भी ओंकार को ही एकाक्षर ब्रह्म कहा है। अतः आर्यसमाज में ईश्वर के प्रमुख नाम के रूप में "ओम्" की महत्ता सर्वत्र प्रचलित है। आर्यलेखकों ने विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों को उद्धृत करते हुए ओंकार के माहात्म्य की स्वग्रन्थों में विवेचना की है।

सर्वप्रथम हमें परोपकारिणी सभा के उपमंत्री पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या लिखित 'आर्य सिद्धान्त मार्तण्ड' शीर्षक पुस्तक का संकेत मिलता है। ओंकार के महत्त्व-निरूपण में लिखा गया यह ग्रन्थ १८९० ई० में राजस्थान यंत्रालय, अजमेर से छपा था। फर्रुखाबाद-निवासी तथा स्वामी दयानन्द के प्रत्यक्ष शिष्य पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा ने 'ओंकार की व्याख्या' लिखी। किन्तु ओंकार का प्रमाणपुरस्सर शास्त्रीय विवेचन करने का प्रमुख श्रेय मिथिला-निवासी प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पण्डित शिवशंकर शर्मा को है, जिन्होंने आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की प्रेरणा से "ओंकार-निर्णय" शीर्षक विशद ग्रन्थ लिखा। वेदतत्त्वप्रकाशमाला—१ के अन्तर्गत 'ओंकारनिर्णय' का प्रथम प्रकाशन १९६३ वि० में उक्त सभा ने ही किया। स्वामी वेदानन्द तीर्थ तथा पण्डित जगत्कुमार शास्त्री के संयुक्त सम्पादन में ओंकार-निर्णय का एक अन्य संस्करण गोविन्दराम-हासानन्द ने १९५३ ई० में प्रकाशित किया था। इसमें पण्डित शिवशंकर शर्मा के जीवन-चरित्र तथा लेखनकार्य का विस्तृत विवेचन भूमिका-भाग में किया गया था। ओंकार की व्याख्या के रूप में लिखे गये अन्य कुछ प्रमुख ग्रन्थ हैं—स्वामी सत्यानन्द रचित ओंकार-उपासना, पण्डित अयोध्याप्रसाद लिखित ओंकार व्याख्या, स्वामी सर्वदानन्द प्रणीत प्रणवपरिचय (सन्मार्गदर्शन का एक अंश)। पण्डित अयोध्याप्रसाद लिखित ओंकार व्याख्या का बंगला में अनुवाद हो चुका है। स्वामी अमृतानन्द सरस्वती

ने संस्कृत में ओंकारदर्शनम् शीर्षक एक सुन्दर प्रवन्ध शास्त्रीय शैली में लिखा है। गुजराती तथा उर्दू में भी ओम्-माहात्म्य-प्रतिपादक कुछ लघु ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

गायत्री मन्त्र-विषयक व्याख्यात्मक साहित्य—विश्वामित्र ऋषि और सविता देवता वाला यजुर्वेद अध्याय ३६ का तृतीय मन्त्र वैदिक धर्म और आर्य संस्कृति में विशिष्ट महिमायुक्त माना गया है। प्रत्येक आर्य नैत्यिक सन्ध्योपासना में तो इसका पाठ एवं जप करता ही है, इस गायत्री मन्त्र के पुरश्चरण, जप तथा साधन के अनेक लाभ भी शास्त्रों में सर्वत्र वर्णित हैं। स्वामी दयानन्द ने गायत्री जप की विधि अपने ग्रन्थों में लिखी है तथा इस महत्त्वपूर्ण मन्त्र की विशद व्याख्या भी सत्यार्थप्रकाश में की है। स्वामी दयानन्द के अनुसार गायत्री जप का अधिकार चतुर्वर्ण मात्र को है। मध्यकाल में सविता देवताक इस प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र का अधिकारी केवल ब्राह्मण वर्ण को ही माना गया था तथा क्षत्रियों एवं वैश्यों के लिए इस ब्रह्म गायत्री से भिन्न अन्य मन्त्रों का विधान किया गया था। स्वामी दयानन्द ने इसका तीव्र प्रतिवाद किया और मनुष्यमात्र को गायत्री का अधिकारी घोषित किया।

आर्यसमाज के विद्वानों ने गायत्री मन्त्र की व्याख्या तथा जप एवं अनुष्ठान की विधि को लेकर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। इस विषय का सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा (फर्रुखाबाद निवासी) लिखित गायत्री-व्याख्या है। गायत्री के माहात्म्य का वर्णन करते हुए स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने "सावित्रीप्रकाश" शीर्षक ग्रन्थ लिखा। पण्डित मदनमोहन विद्यासागर ने "जनकल्याण का मूल मन्त्र" ग्रन्थ में गायत्री के महत्त्व का निरूपण किया है। इस विषय से सम्बन्धित अन्य ग्रन्थ हैं—पण्डित जगत्कुमार शास्त्री व ब्रह्मचारी जगदीश विद्यार्थी के गायत्री-माता शीर्षक लघु ग्रन्थ, महात्मा प्रभु आश्रितकृत गायत्री-रहस्य, पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहारचित गायत्री-माहात्म्य तथा पण्डित ईश्वरीप्रसाद प्रेमलिखित गायत्री-गौरव। स्मरणीय है कि मथुरा के आचार्य श्रीराम शर्मा ने गायत्री के नाम पर मूर्तिपूजा-युक्त कर्मकाण्डों का विधान करते हुए गायत्री परिवार अथवा युग-निर्माण-योजना शीर्षक बृहद् साम्प्रदायिक आन्दोलन चलाया है। श्री प्रेम ने अपने उपर्युक्त ग्रन्थ में श्रीराम शर्मा के इसी गायत्री आन्दोलन की सतर्क समीक्षा की है। श्री चिरंजीवलाल वानप्रस्थ लिखित "गायत्री-महत्त्व" का प्रकाशन आर्य प्रतिनिधिसभा पंजाब ने किया था।

महात्मा आनन्द स्वामी ने गायत्री के महत्त्व का विवेचन करते हुए "महामन्त्र" शीर्षक एक सुन्दर ग्रन्थ लिखा जो राजपाल एण्ड सन्स से १९५६ ई० में प्रकाशित हुआ। गायत्री-विषयक उनके प्रवचनों का संग्रह "आनन्द गायत्री कथा" गायत्री भक्तों में अत्यधिक लोकप्रिय है तथा गुजराती भाषा में भी उसका अनुवाद हो चुका है। गुजराती में स्वामी शंकरानन्द सरस्वतीकृत गायत्रीकथा तथा प्रो० दिलीप वेदालंकाररचित गायत्री-रहस्य पठनीय कृतियाँ हैं। अंग्रेजी में के०सी० जन्मेजा ने Gayatri—Its Beauty and Significance शीर्षक ग्रन्थ लिखा था जो अरोड़वंश प्रेस, लाहौर से छपा। श्री चिरंजीवलाल वानप्रस्थ की गायत्री-विषयक उपर्युक्त पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद श्री परमेश्वरन ने The Grandeur of Gayatri शीर्षक से किया है। पण्डित नरदेव वेदालंकारलिखित The Great Gayatri (दयानन्द संस्थान से १९६९ ई० में प्रकाशित) हिन्दी में "गायत्री मन्त्र की महान् महिमा" शीर्षक से अनूदित होकर प्रकाशित

हो चुकी है।

'आर्य' शब्द के महत्त्वनिरूपक ग्रन्थ—स्वामी दयानन्द ने वैदिक विचारधारा के प्रचार एवं प्रसार का कार्य अपने अनुयायियों की जिस टोली को सौंपा था, उन्होंने उसे 'आर्यसमाज' का नाम दिया। स्वामीजी की दृष्टि में 'आर्य' शब्द गुणवाचक तो है ही, वह आर्यावर्त में रहनेवाले उस पुरातन सभ्य मनुष्यसमाज का भी वाचक है जिसने वेदों को परम प्रमाण स्वीकार करते हुए आर्य सभ्यता का प्रवर्त्तन एवं विकास किया था। स्वामी दयानन्द ने 'आर्य' को श्रेष्ठ तथा आदर्श मर्यादाओं के पालक व्यक्ति का पर्याय माना है। उनके विचारानुसार 'हिन्दू' नाम अत्यन्त परवर्ती है जो परकीय जातियों के लोगों ने भारतवासियों को उस समय दिया, जबकि इस देश के लोग नितान्त शक्तिहीन, पराधीन तथा दुर्बल मनोवृत्तियुक्त हो चुके थे। स्वामीजी की यह भी मान्यता थी कि पुरातन भारतीय वाङ्मय में इस देश के निवासियों को सर्वत्र 'आर्य' नाम से ही अभिहित किया है। अतः उन्होंने भारतवासी, वैदिक धर्म एवं संस्कृति के उपासक नागरिक समुदाय के लिए सर्वत्र 'आर्य' शब्द का ही प्रयोग किया तथा अपने अनुयायी संगठन को भी आर्य-समाज—श्रेष्ठ पुरुषों के समुदाय की संज्ञा प्रदान की।

कालान्तर में आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने 'आर्य' शब्द के अर्थगौरव तथा उसकी महिमामण्डित प्रशस्ति का बखान करने की दृष्टि से अनेक उपयोगी ग्रन्थों की रचना की। इस प्रसंग में पण्डित लेखराम की उर्दू में लिखी 'हिन्दू, आर्य, नमस्ते की तहकीकात' शीर्षक पुस्तक स्मरणीय है। इसका प्रथम प्रकाशन १८९० ई० में फिरोजपुर से हुआ था। विद्वान् लेखक ने इसमें 'आर्य' शब्द की प्राचीनता तथा 'हिन्दू' शब्द की नवीनता विभिन्न ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध की है, और आर्यजाति के सर्वानु-मोदित अभिवादन के रूप में 'नमस्ते' के प्रयोग को प्राचीन तथा प्रामाणिक ठहराया है। इसका हिन्दी अनुवाद रामविलास शर्मा ने किया था। 'आर्य, हिन्दू और नमस्ते का अन्वेषण' शीर्षक यह अनुवाद १८९७ ई० में वैदिक पुस्तकप्रचारक फण्ड, मेरठ से छपा। इसका एक अन्य संस्करण वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद ने भी प्रकाशित किया।

'आर्य' शब्द की श्रेष्ठता तथा प्रामाणिकता की सिद्धि में जो अन्य ग्रन्थ लिखे गये हैं उनमें पण्डित अमीचन्द शर्मा कृत 'आर्य-मीमांसा', स्वामी दर्शनानन्द प्रणीत 'तुम हिन्दू हो या आर्य', रामचन्द्र द्विवेदी लिखित 'हिन्दू-आर्य मीमांसा', आचार्य भद्रसेन लिखित 'हम आर्य हैं', वेदानन्द तीर्थ लिखित 'हमारा नाम आर्य है, हिन्दू नहीं' तथा पं० रघुनाथप्रसाद पाठक लिखित 'आर्यशब्द का महत्त्व' उल्लेखनीय हैं। भारत में प्रति दस वर्ष पश्चात् जनगणना होती है। प्रत्येक जनगणना में आर्यसमाज के सम्मुख यह प्रश्न उपस्थित होता रहा है कि इस संस्था के सभासदों को अपना धर्म 'आर्य' लिखाना चाहिए अथवा हिन्दू ? सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा इस विषय में अपना निर्देश भी प्रसारित करती है। १९४१ ई० की जनगणना के समय इस सभा ने जनगणना में 'आर्य' शीर्षक ट्रैक्ट प्रकाशित किया, जिसमें इसी बात पर बल दिया गया था कि आर्यसमाज के अनुयायी अपने-आपको जनगणना के समय 'आर्य' ही अंकित करायें।

'नमस्ते' विषयक साहित्य—स्वामी दयानन्द राष्ट्रीय एकता के सूत्रधार थे तथा उनकी यह हार्दिक इच्छा थी कि नाना मतों, पंथों व सम्प्रदायों में विभक्त भारत का बृहत्तम हिन्दू समाज अपने भीतर व्याप्त विभाजक तत्त्वों से पूर्णतया मुक्त होकर वास्तविक ऐक्य

के लाभों को प्राप्त करे। इसी दृष्टिकोण को प्रमुखता देने के कारण स्वामी दयानन्द जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में एकता, समानता तथा सौमनस्य देखने के इच्छुक थे। उनकी सर्वग्रासिनी दृष्टि ने यह भी अनुभव किया था कि हिन्दू-समाज के लोग तो पारस्परिक अभिवादन तथा आदर-सत्कार के लिए भी विभिन्न प्रकार के शब्दों तथा वाक्यों का प्रयोग करते हैं। इस प्रकार के अनेक अभिवादन-प्रकार जहाँ हिन्दुओं की विभिन्न साम्प्रदायिक आस्थाओं के प्रतीक थे, वहाँ इस्लामी एवं ईसाइयत की संस्कृति के अनुकरण पर वंदगी, सलाम अथवा गुड मार्निंग जैसे अभिवादन-प्रतीकों को स्वीकार करने में भी उन्होंने कोई संकोच नहीं किया था। फलतः स्वामी दयानन्द ने समस्त आर्यजगत् में ऐक्य-भाव को सुदृढ़ करने की दृष्टि से 'नमस्ते' को अभिवादन की एक सर्वमान्य प्रणाली के रूप में स्वीकार करने पर वल दिया। उन्होंने अपने ग्रन्थों में यह स्पष्ट किया है कि प्राचीन आर्य परस्पर मिलते समय 'नमस्ते' को ही आपस के सम्मानप्रदर्शक वाक्य के रूप में प्रयुक्त करते थे। जव आर्यसमाज के द्वारा 'नमस्ते' का व्यापक प्रचार हो गया और इस अभि-वादन को भारत का सर्वमान्य अभिवादन—प्रतीक मान लिया गया तो पौराणिक वर्ग की ओर से इसके खण्डन में अनेक पुस्तकें लिखी गईं। इस स्थिति में आर्य लेखकों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे 'नमस्ते' की शास्त्रीय व्याख्या करें तथा ऐतिहासिक प्रमाणों से यह सिद्ध करें कि पुरातन काल में इसी अभिवादनसूचक शब्द का प्रयोग आर्यों में सर्वत्र प्रचलित था।

'नमस्ते' की पुष्टि में जो साहित्य लिखा गया है वह आर्य लेखकों की गवेषण-प्रियता तथा शास्त्रों के व्यापक आलोडन-विलोडन का परिचायक है। उन्होंने 'नमस्ते' की सिद्धि में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। सर्वप्रथम शेरसिंह वर्मा (कर्णवास जिला बुलन्दशहर-निवासी) ने 'नमस्ते' शीर्षक पुस्तक लिखी। इसका प्रथम संस्करण १८६० ई० में प्रकाशित हुआ। द्वितीय संस्करण का संशोधन पण्डित भूमित्र शर्मा ने किया जो १८६५ ई० में ब्रह्मानन्द सरस्वती द्वारा लखनऊ से छपा। पण्डित तुलसीराम स्वामी का नमस्ते पर व्याख्यान, मोगानिवासी पण्डित सन्तराम शर्मा लिखित 'नमस्ते-प्रकाश', शेरसिंह आर्यो-पदेशक प्रणीत 'नमस्ते की प्राचीनता' आदि ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं। आधुनिक लेखकों में पं० सुखदेव विद्यावाचस्पति ने 'नमस्ते की व्याख्या' तथा स्वामी रामेश्वरानन्द ने 'नमस्ते-प्रदीप' शीर्षक पुस्तकें लिखीं। स्वामी मुनीश्वरानंद त्रिवेदतीर्थकृत 'नमस्ते-प्रकाशिका' में अनेक शास्त्रीय प्रमाणों के द्वारा नमस्ते की पुष्टि की गई है। यह खेद की बात है कि एक विचारधारा-विशेष के अनुयायियों को 'नमस्ते' में भी संकीर्णता की गंध आई और उन्होंने 'नमस्ते' के स्थान पर 'नमस्कार' का प्रचलन आरम्भ किया। धीरे-धीरे नमस्ते का अभि-वादन भारतीय समाज के मानस से विलुप्त होता गया और उसका स्थान 'नमस्कार' ने ले लिया। पण्डित राजेन्द्र ने 'नमस्ते बनाम नमस्कार' तथा पण्डित जगदीशचन्द्र वसु ने 'नमस्ते ही क्यों, नमस्कार क्यों नहीं?' शीर्षक पुस्तकों में इसी समस्या पर विचार किया है तथा 'नमस्ते' को ही आर्य जाति की सर्वमान्य प्राचीन अभिवादन-प्रणाली सिद्ध किया है। पं० लेखराम ने तो बहुत पहले ही 'हिन्दू, आर्य, नमस्ते की तहकीकात' शीर्षक अपनी उर्दू पुस्तक में नमस्ते की प्राचीनता तथा ऐतिहासिकता प्रमाणित कर दी थी।

(३) गोरक्षा-विषयक साहित्य

भारतीय संस्कृति में गाय का अत्यन्त सम्मानास्पद स्थान रहा है। अनेक वेद-मन्त्रों में गाय की महिमा वर्णित की गई है। बिना किसी प्रकार का भेद-भाव किये, मनुष्य मात्र को अमृततुल्य दुग्ध प्रदान करनेवाली 'गाय' की रक्षा कितनी आवश्यक है, यह सब जानते हैं। भारत में मुसलमानी शासनकाल में भी, हिन्दू जाति की भावनाओं को ध्यान में रखते हुए अनेक बार गोवध पर प्रतिवन्ध लगाया जाता रहा, किन्तु अंग्रेजी शासन-काल में गोरी सेना तथा अंग्रेज नौकरशाहों के लिए गोमांस उपलब्ध कराने के लिए गोवध निर्द्वन्द्व भाव से किया जाने लगा। स्वामी दयानन्द ने अपनी दूरगामिनी दृष्टि से गोहत्या के अभिशाप को पूर्णतया लक्षित किया था। उन्होंने गोकरुणानिधि लिखकर गोरक्षा की आर्थिक उपयोगिता तो वताई ही, लाखों भारतीय नागरिकों के हस्ताक्षर कराकर तत्कालीन महारानी विक्टोरिया के सम्मुख गोरक्षा हेतु याचिका प्रस्तुत करने का महा अभियान भी चलाया।

स्वामीजी के निधन के तुरन्त पश्चात्, आर्यसमाज ने गोरक्षा के लिए अनेक ठोस कदम उठाये। स्थान-स्थान पर गोशालाएँ स्थापित की गईं तथा गोहत्या की हानियों से देशवासियों को अवगत कराया गया। आर्यसमाज द्वारा प्रवर्तित गोरक्षा-आन्दोलन एक ऐसा अभियान था, जिसे विशाल हिन्दू समाज के सभी वर्गों का सहयोग प्राप्त हुआ। यहाँ गोरक्षा तथा गोमाहात्म्य-विषयक आर्यसमाजी साहित्य का विवरण दिया जा रहा है।

गोरक्षा-विषयक सर्वाधिक प्राचीन पुस्तक गोरक्षिणी-सभा हरिद्वार के सभापति श्री मोहनलाल लिखित 'गोधर्मसार' है। इसे वैदिक यन्त्रालय, प्रयाग ने १९४३ वि० में मुद्रित किया था। आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द के प्रति कालान्तर में शत्रुवत् आचरण करनेवाला आलाराम सागर किसी समय स्वयं आर्यसमाज का उपदेशक था। उसके द्वारा लिखित गोरक्षा-प्रकाश पुस्तक १८८७ ई० में छपी। हिन्दी के भारतेन्दुकालीन लेखक श्री काशीनाथ खत्री ने १८८८ ई० में 'गोरक्षा प्रवन्ध' शीर्षक पुस्तक लिखी। जोधपुर के महाराजा प्रतापसिंह के विश्वसनीय एवं कृपापात्र संन्यासी स्वामी प्रकाशानन्द द्वारा लिखित 'गोमाहात्म्य' नामक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है।

गाय के प्रश्न को पण्डित प्रकाशवीर शास्त्री ने 'गोहत्या या राष्ट्रहत्या' शीर्षक पुस्तक में उठाया है। ज्ञानी पिण्डीदास ने अपने ग्रन्थ 'गौ—विश्व की माँ' में गोरक्षा से सम्बन्धित सभी प्रश्नों पर विस्तृत विचार किया है। पण्डित लक्ष्मीदत्त दीक्षित ने 'स्वामी दयानन्द और गोरक्षा' में स्वामीजी का एतद्-विषयक दृष्टिकोण स्पष्ट किया है। गाय की रक्षा की समस्या आर्यसमाज के सभी नये-पुराने लेखकों द्वारा चर्चित होती रही है। स्वामी दर्शनानन्द का ट्रैक्ट 'गोहत्या कौन करता है?' वैदिक पुस्तकालय, लाहौर से १९७९ वि० में छपा था। इस विषय के अन्य पुराने लेखकों में महता रामचन्द्र शास्त्री (गोरक्षा), सन्नूलाल गुप्त (सुरभि-सन्ताप) तथा स्वामी मंगलानन्द पुरी (गोरक्षा का मुख्य उपाय) उल्लेखनीय हैं। हरिश्चन्द्र विद्यार्थी ने 'गाय का अर्थशास्त्र' लिखकर गोरक्षा की अर्थशास्त्रीय मीमांसा की है। स्वामी स्वतन्त्रानन्द ने सिख मत में गौ की स्थिति को लेकर 'सिख और गो' पुस्तक लिखी। इसका पंजावी संस्करण 'सिख अते गौ' भी प्रकाशित हुआ है।

आर्यसमाज के लेखकों को यदा-कदा उन आपत्तियों का उत्तर भी देना पड़ता था, जो प्रायः उन लोगों के द्वारा की जाती थीं, जिनकें मतानुसार प्राचीन आर्यों में गोमांस-भक्षण एक सामान्य बात थी तथा जो यह कहने में भी संकोच नहीं करते कि गाय को पूज्य एवं अवध्या पशु के रूप में बहुत काल बाद में मान्यता मिली है। जब विवादास्पद मासिक पत्रिका 'सरिता' में 'आज का सबसे बड़ा देशद्रोह—गोपूजा' शीर्षक श्री रतनलाल बंसल का एक लेख प्रकाशित हुआ, तो आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने उसका युक्तियुक्त खण्डन किया। पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार ने 'किसकी सेना में भर्ती होगे ? कृष्ण की या कंस की' शीर्षक पुस्तक लिखकर बंसल द्वारा प्रदत्त उन प्रमाणों का खण्डन किया जो प्रायः पाश्चात्य शैली के संस्कृत-अध्येता पुरातन शास्त्रों में गोमांस-भक्षण के विधान की पुष्टि में दिया करते हैं। पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पतिकृत 'गोरक्षा—परमकर्त्तव्य' तथा पण्डित गंगाप्रसाद शास्त्री लिखित 'भारत का सबसे बड़ा गौरव—गोपूजा' बंसल के लेखों के खण्डन में ही लिखी गई अन्य पुस्तकें हैं।

गोरक्षा के प्रश्न को लेकर भारत के किसी भी वर्ग, प्रांत या प्रदेश में कभी वैमत्य नहीं रहा। यही कारण है कि आर्यसमाज द्वारा चलाये गये गोरक्षा-आन्दोलन को सार्वत्रिक समर्थन मिला।

आर्यसमाजी लेखकों ने अपनी गोरक्षा-विषयक भावनाओं को कविता तथा नाटक के माध्यम से भी प्रकट किया है। गोसंकट नाटक, अकबर गोरक्षा-न्याय नाटक (जगतनारायण शर्मा) तथा जय गोमाता नाटक (लालतासिंह आर्य कलकत्ता) इसी तथ्य की घोषणा करते हैं। गोरक्षा-विषयक कविताएँ तथा भजन भी प्रचुर मात्रा में लिखे गये। काशीनाथ वर्मा कृत गो गुहार गीतावली (भारत जीवनप्रेस, बनारस से १८८८ ई० में प्रकाशित) तथा आलाराम संन्यासी रचित गोविलाप भजनावली (३ भाग) एवं भजन गोरक्षा (१८९२ ई० में प्रकाशित) तो विगत शताब्दी में ही छप गये थे। पण्डित प्रकाशचन्द्र कविरत्न कृत गोगीत-प्रकाश भी गोमहत्त्व-प्रतिपादक कविताओं का संग्रह है। इसी प्रसंग में सुशीला आर्या लिखित गोगीताञ्जलि तथा कृपालाल कुसुमाकरप्रणीत गोगौरव के नाम भी उल्लेखनीय हैं। इन गीत-संग्रहों में गोरक्षा की आवश्यकता निरूपित की गई है। स्फुट भजन-लेखकों ने गाय की रक्षा-विषयक सैकड़ों भजन, गीत आदि लिखे हैं। वस्तुतः गाय की महत्ता के प्रतिपादन में आर्यसमाजी लेखकों ने उल्लेखनीय भूमिका निभाई है।

(४) आश्रम व्यवस्था-विषयक ग्रन्थ

ब्रह्मचर्य-महत्त्व-प्रतिपादक साहित्य— स्वामी दयानन्द के प्रामाणिक जीवनचरित का लेखन करनेवाले पण्डित देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने जहाँ अपने इस ग्रन्थ की भूमिका में कथानायक की वैयक्तिक एवं चरित्रगत विशेषताओं का उल्लेख किया है, वहाँ उन्होंने आधुनिक युग में दयानन्द को ब्रह्मचर्य का महान् प्रचारक भी बताया है। वस्तुतः विलासिता, विषयवासना तथा चारित्रिक ह्रास के इस युग में दयानन्द प्रथम व्यक्ति था, जिसने ब्रह्मचर्य के महत्त्व का प्रतिपादन कर उसे मानव-जीवन का उद्धारक तथा वीरभावों का पोषक सिद्ध किया। इस दृष्टि से दयानन्द अपने समकालीन धर्माचार्यों, समाजसुधारकों तथा देशहित के लिए कार्य करनेवाले अनेक महापुरुषों से कहीं आगे चले गये हैं, क्योंकि उन्होंने इस

तथ्य को दृढ़ता से अनुभव किया था कि ब्रह्मचर्य का पालन न होने से ही हमारे देशवासी कदर्य, पुरुषार्थहीन, निर्वीर्य तथा पराधीन हुए हैं। बाल-विवाह-प्रथा का ब्रह्मचर्य-पालन से प्रत्यक्ष विरोध है। फलतः उन्होंने बाल्यकाल में ही विवाह कर देने की परिपाटी का भी घोर विरोध किया। उनकी ध्रुव धारणा थी कि ब्रह्मचर्य का दीर्घकाल तक पालन करने से ही कोई भी पुरुष अथवा स्त्री शरीर, मन और बुद्धि से पूर्ण परिपक्व, विकसित तथा शक्तिशाली हो सकता है।

आर्य विद्वानों ने ब्रह्मचर्य के महत्त्व का निरूपण करते हुए अनेक छोटे-बड़े ग्रन्थ लिखे हैं। पुराने लेखकों में पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा कृत वीर्य-रक्षा तथा आलाराम सागर कृत ब्रह्मचर्य-दर्पण (सरस्वती यन्त्रालय, प्रयाग से १९४८ वि० में प्रकाशित) का उल्लेख आवश्यक है। किन्तु ब्रह्मचर्य का सर्वांगीण विवेचन प्रोफेसर सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार रचित 'ब्रह्मचर्य सन्देश' में मिलता है। अब तक इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के कई संस्करण छप चुके हैं। आचार्य भगवान्देव ने 'ब्रह्मचर्य के साधन' शीर्षक उपयोगी पुस्तक लिखी है। स्वामी आत्मानन्द सरस्वती ने 'कन्या और ब्रह्मचर्य' लिखकर नारीवर्ग के लिए ब्रह्मचर्य की महत्ता बताई। इस विषय के अन्य ग्रन्थों में पण्डित देवव्रत धर्मेन्दु लिखित ब्रह्मचर्य-साधना, श्री जगदीश विद्यार्थी लिखित ब्रह्मचर्य-गौरव तथा श्री सत्यप्रिय व्रती लिखित ब्रह्मचर्य-विवेक आदि उल्लेखनीय हैं। प्रोफेसर सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की ब्रह्मचर्य-विषयक पुस्तक का तो अंग्रेजी अनुवाद भी हो चुका है। विगत शताब्दी में आर्यसमाज के प्रख्यात अंग्रेजी लेखक बावा छज्जूसिंह ने Brahmacharya versus Child marriage लिखकर ब्रह्मचर्य के महत्त्व तथा बालविवाह की हानियों का विवेचन किया। यह ग्रन्थ १८९३ ई० में अरोड़वंश प्रेस लाहौर से मुद्रित हुआ था। उर्दू में जैमिनि मेहता की "ब्रह्मचर्य की अजमत" एक ग्रन्थ उल्लेखनीय कृति है।

गृहस्थाश्रम-महत्त्व-प्रतिपादक साहित्य—मनुस्मृति में गृहस्थाश्रम की श्लाघा करते हुए उसे ज्येष्ठ आश्रम कहा गया है। जिस प्रकार नदी, नाले आदि जलप्रवाह अन्ततोगत्वा सागर में जाकर स्थिरता प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार अन्य आश्रमवासी भी गृहस्थाश्रम पर ही स्वजीवन-निर्वाह के लिए निर्भर करते हैं। मनु ने गृहस्थाश्रम की श्रेष्टता तथा वरिष्ठता की घोषणा करते हुए यहाँ तक कहा है—

सर्वेषामपि चैतेषां वेदस्मृतिविधानतः।
गृहस्थ उच्यते श्रेष्ठः स त्रीनेतान्बिभर्ति हि ॥६।८९

अर्थात् श्रुतियों एवं स्मृतियों के विधान के अनुसार सभी आश्रमों में गृहस्थ ही श्रेष्ठ है क्योंकि यह आश्रम ही अन्य आश्रमों का धारण करता है। स्वामी दयानन्द ने गृहस्थ धर्म की मीमांसा के प्रसंग में सत्यार्थप्रकाश का चतुर्थ समुल्लास लिखा तथा संस्कारविधि में गृहस्थाश्रम को एक पृथक् संस्कार की संज्ञा प्रदान की। कालान्तर में आर्यसमाज के अनेक विद्वान् लेखकों ने गृहस्थाश्रम का महत्त्व प्रतिपादन करते हुए उच्च कोटि के ग्रन्थों की रचना की। यहाँ हम इनमें से कुछ का विवरण दे रहे हैं।

महात्मा नारायण स्वामी ने गृहस्थ-जीवन-रहस्य लिखा। इसका प्रथम प्रकाशन राजपाल लाहौर ने १९३३ ई० में किया। गोविन्दराम हासानन्द तथा सत्य प्रकाशन मथुरा से इसके अन्य संस्करण भी छपे हैं। गुरुकुल काँगड़ी के पुराने स्नातक पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार ने वैदिक गृहस्थाश्रम की रचना की। भास्कर प्रेस देहरादून से यह

ग्रन्थ १९४९ ई० में प्रकाशित हुआ। गृहस्थाश्रम की महिमा एवं कर्त्तव्य-निरुपक अन्य ग्रन्थ हैं—पण्डित रघुनाथप्रसाद पाठककृत आर्य-जीवन—गृहस्थ धर्म, पण्डित हरिशरण सिद्धान्तालंकाररचित वैदिक परिवार-व्यवस्था, पण्डित शिवकुमार शास्त्रीप्रणीत धरती का स्वर्ग—गृहस्थाश्रम, महात्मा आनन्दस्वामीरचित सुखी गृहस्थ, पण्डित युगलकिशोर चतुर्वेदी लिखित आदर्श परिवार तथा श्री ईश्वरीप्रसाद प्रेम लिखित वैदिक स्वर्ग की झाँकियाँ। स्वामी धीरानन्द के गृहस्थ-सुधार नामक एक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है।

'नियोग' विषयक साहित्य—पुरातन काल में किसी पुरुष के निस्सन्तान मर जाने पर उसकी विधवा को यह अधिकार प्राप्त था कि अपने पति की वंश-परम्परा को चलाने के लिए वह किसी अन्य पुरुष से अस्थायी सम्पर्क कर सन्तानोत्पादन कर ले। जिस युग में समाज में मनुष्यों की संख्यावृद्धि को महत्त्व प्राप्त था, उस समय ऐसी प्रथा के औचित्य के विषय में किसी को कोई शंका भी नहीं होती थी। निश्चय ही नियोग की इस प्रथा के द्वारा सन्तान उत्पन्न करना आपद्धर्म था और किन्हीं विशेष परिस्थितियों में ही समाज की अनुज्ञा प्राप्त कर नियोग किया जाता था। महाभारत तथा पुराणों में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे सिद्ध होता है कि पुराकाल में नियोग का सामान्य रूप में प्रचलन था और नियोगज सन्तान को भी समाज में उतना ही सम्मान प्राप्त था जितना औरस सन्तान को।

स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में नियोग-प्रथा को शास्त्रमूलक बताते हुए आपद्धर्म के रूप में उसे स्वीकार करने की आवश्यकता प्रतिपादित की है। मनुस्मृति में एक ओर जहाँ नियोग को उचित और विधेय माना है, वहाँ उसी ग्रन्थ में अन्यत्र उसकी निन्दा में भी बहुत-कुछ कहा गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में जब नियोग प्रथा समाप्त हो गई और उसे दूषित माना जाने लगा तो नियोग के खण्डन में ये श्लोक मनुस्मृति में प्रक्षिप्त कर दिये गये। स्वामी दयानन्द द्वारा नियोग का प्रतिपादन किये जाने पर सनातनी पण्डितों ने उनपर नाना प्रकार के आक्षेप किये तथा नियोग के प्रचलन को सदाचार का नाशक घोषित किया। किन्तु आक्षेपकर्ताओं ने इस बात का ध्यान नहीं रक्खा कि यदि नियोग-प्रथा को सामाजिक स्वीकृति मिल जाती है तो गुप्त व्यभिचार तो समाप्त हो ही जायगा, समाज में प्रचलित अन्य अनेक अनाचारों का भी मूलोच्छेद हो सकता है।

शास्त्रार्थ-युग में प्रायः आर्य पण्डितों तथा सनातनी विद्वानों के बीच नियोग की शास्त्रीयता को लेकर पर्याप्त वाद-विवाद होता था। नियोग की पुष्टि में आर्यसमाजी लेखकों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—उर्दू में पण्डित आत्माराम अमृतसरी ने मसलए-नियोग लिखा जो मुफीदए-आम प्रेस लाहौर से १८८८ ई० में छपा। मास्टर मुंशीराम लिखित 'नियोग के मूजिद कौन थे?' तथा स्वामी दर्शनानन्दप्रणीत 'नियोग और उसके दुश्मन' उर्दू में नियोग के पक्ष में लिखे गये अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। स्वामी योगेन्द्रपाललिखित ग्रन्थ 'मुता वा नियोग' इस्लाम में प्रचलित नियोग-प्रथा के समवर्ती रिवाज 'मुता' की नियोग से तुलना प्रस्तुत करता है। पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी ने 'नियोग और पौराणिक धर्मी' शीर्षक उर्दू पुस्तक में पौराणिक मतावलम्बियों द्वारा नियोग की आलोचना के अनौचित्य को प्रतिपादित किया है।

नियोग पर आक्षेप करनेवाले केवल सनातनधर्मी ही रहे हों, ऐसी बात नहीं थी। अहमदिया सम्प्रदाय के मुसलमानों तथा ईसाई प्रचारकों नें भी अवसर आने पर नियोग को लेकर स्वामी दयानन्द की कटु आलोचना की थी। पादरी टी० विलियम्स ने जब स्वामीजी के नियोग-विषयक मन्तव्य की तीखी आलोचना की तो पण्डित गुरुदत्त ने अत्यन्त सशक्त भाषा में इसका उत्तर देते हुए A Reply to Mr. Williams' Criticism on Niyoga पुस्तक लिखी जो १८९० ई० में छपी। पण्डित लक्ष्मण ने 'तहज़ीबुल मिरजा या नियोग फिलासफी" लिखकर अहमदियों द्वारा की गई नियोग की टीका का सप्रमाण उत्तर दिया। सनातनी विद्वानों द्वारा नियोग के खण्डन में लिखे गये ग्रन्थों के उत्तर रूप में निम्न साहित्य लिखा गया—रघुवीरशरण दुबलिस द्वारा लिखित नियोग-तत्त्व-प्रकाश, पण्डित छुट्टनलाल स्वामी रचित नियोग-निर्णय, पण्डित कालूराम की पुस्तक नियोग-मर्दन का पण्डित भूमित्र शर्मा द्वारा प्रदत्त उत्तर नियोगमर्दन का विमर्दन, नियोग प्रमाण (पण्डित लक्ष्मण आर्योपदेशक) एवं नियोग-मीमांसा (पण्डित शेरसिंह आर्योपदेशक) आदि ग्रन्थ।

(५) मांसभक्षण तथा मादक द्रव्य-सेवन

मांसभक्षणनिषेध-विषयक साहित्य—मांसभक्षण के समर्थक प्रायः यह दलील देते हैं कि शरीर की पुष्टता के लिए मांसभक्षण आवश्यक है, किन्तु शरीरशास्त्रियों का निश्चित मत है कि मांस की तुलना में दूध, दही, घृत, दालें, फल आदि पदार्थ कहीं अधिक पौष्टिक, लाभकारी तथा दोषमुक्त होते हैं। पाचनक्रिया की दृष्टि से तो मांसाहार को गरिष्ठ ही कहा जायगा। मांसाहार मनुष्य की मानसिक, बौद्धिक तथा नैतिक प्रवृत्तियों का विघातक है तथा इससे मनुष्य में क्रूरता, नृशंसता, अत्याचार, हिंसा, उत्पीड़न आदि की दोषपूर्ण वृत्तियाँ बढ़ती हैं। स्वामी दयानन्द ने एकाधिक प्रसंगों में मांसाहार की हानियाँ बताईं तथा शुद्ध, सात्त्विक शाकाहार का समर्थन किया। उनके जीवन में भी ऐसे अनेक प्रसंग आये थे जबकि उन्हें मांसभक्षण के समर्थकों से वादविवाद में उतरना पड़ा और युक्तियों एवं प्रमाणों से उन्होंने मांस को अभक्ष्य सिद्ध किया।

आर्यसमाज के इतिहास में एक दुर्भाग्यपूर्ण अध्याय उस समय लिखा गया, जब कि स्वामी दयानन्द के परलोकगमन के थोड़े समय पश्चात् ही पंजाब के आर्यों के एक वर्ग ने खुलकर मांसभक्षण का समर्थन ही नहीं किया, उसे शास्त्रानुकूल तथा स्वामी दयानन्द की दृष्टि में भी शास्त्रसम्मत ठहराने का दुस्साहसपूर्ण प्रयास किया। लाहौर के इन मांसलोलुप आर्यों को एक अन्य दिशा से भी प्रोत्साहन मिला। जोधपुर के महाराज प्रतापसिंह यद्यपि स्वामी दयानन्द के अनुयायी, भक्त तथा आर्यसमाज के प्रशंसक थे, किन्तु वे संस्कारवश मांस-भक्षण से अपने को पृथक् नहीं कर सके थे। प्रतापसिंह यदि व्यक्तिशः मांस-भक्षण का समर्थन करते, तब भी अधिक अनिष्ट की आशंका नहीं थी, किन्तु उन्होंने कुछ स्वार्थी एवं द्रव्यलोलुप पण्डितों को अपनी ओर मिलाकर उनसे मांसाहार के लिए शास्त्रीय प्रमाण जुटाने और वेदों से पशुहिंसा तथा मांसभक्षण की पुष्टि करानी चाही। इस कार्य में उन्हें जोधपुर-निवासी पण्डित देवीचन्द्र शास्त्री तथा पण्डित लालचन्द्र विद्याभास्कर का सहयोग प्राप्त हुआ। महाराज प्रतापसिंह का संरक्षण एवं वरदहस्त प्राप्त कर इन पण्डितों ने 'आमिष-समीक्षा' तथा 'मांस-भोजन-विचार' शीर्षक

ग्रन्थ लिखे। इनमें वैदिक मन्त्रों के अन्यथा अर्थ कर तथा मनुस्मृति आदि परवर्ती ग्रन्थों में समयान्तर में प्रक्षिप्त यज्ञीय हिंसा, पशुवध तथा मांसभक्षण के विधायक पाठों के आधार पर यह सिद्ध किया गया था कि मांसभक्षण दोषरहित ही है। इसी प्रकार लाहौर से भी कुछ ऐसे ग्रन्थ छपे, जिनमें मांसभक्षण का खुला समर्थन किया गया था। रायबहादुर मूलराज ने तो अपनी आत्मकथा में यह स्पष्ट लिखा है कि उनके मांसभक्षण की बात स्वामी दयानन्द भली-भाँति जानते थे, तथापि उन्होंने कभी उनको मांसाहार से विरत करने की चेष्टा नहीं की। लाला मुल्कराज, लाला लाजपतराय तथा प्रारम्भ में कुछ सीमा तक लाला हंसराज भी मांसाहार को अनुचित नहीं मानते थे। कालान्तर में महात्मा हंसराज ने मांसाहार को दोषयुक्त स्वीकार कर लिया था।

उधर मांसभक्षण के विरोध में पण्डित गुरुदत्त, लाला मुंशीराम, मास्टर आत्माराम तथा पण्डित दुर्गाप्रसाद आदि आर्य पुरुषों का वह वर्ग था, जो मांसाहार को शास्त्रविरुद्ध तो मानता ही था, उसकी यह भी दृढ़ धारणा थी कि स्वामी दयानन्द के किसी भी वाक्य से इसकी पुष्टि नहीं की जा सकती। तथापि आर्यसमाज के इतिहासकार इस बात से सहमत हैं कि दोनों दलों में उत्पन्न वैमनस्य का एकमात्र कारण मांस-भोजन का औचित्यानौचित्य ही नहीं था, अपितु इसके कुछ अन्य कारण भी थे। जो लोग मांसाहार को निर्दोष मानते थे, वे डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर में संस्कृत शिक्षण को उपेक्षित न कर अंग्रेजी शिक्षा-नीति को प्रोत्साहित करने के पक्षपाती थे, जबकि मांसाहार से घृणा करनेवाले लोग स्वामी दयानन्द की स्मृति में स्थापित इस महाविद्यालय में वेदादि शास्त्रों के पठन-पाठन तथा संस्कृत की प्राचीन शिक्षणप्रणाली को बढ़ाने के समर्थक थे।

जो हो, इस काल में मांसभक्षण के पक्ष एवं विपक्ष में बहुत-कुछ लिखा गया। यह साहित्य प्रायः उर्दू में ही था, क्योंकि तत्कालीन पंजाब में उर्दू ही सभ्य हिन्दुओं की भाषा थी और आर्यसमाज के अनुयायी भी हिन्दी के समर्थक होने पर भी आर्यभाषा में अभी तक अपने भावों को व्यक्त करने की पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त नहीं कर सके थे। मांस का यह विवाद विगत शताब्दी के अन्तिम दशक के प्रारम्भ में ही उठा था। इस काल में मांसभक्षण-निषेध में निम्न उर्दू पुस्तकें छपीं—

शब्द तरदीद ए गोश्तखोरी (जन्मदेव कृत), लाला ज्वालासहायलिखित विनती (कोहनूर प्रेस लाहौर से १८९३ ई० में छपी), केवलराम कसौली लिखित नक़ायसे गोश्तखोरी, पण्डित गंगाराम लिखित वकीलेहैवानात तथा मुंशी नारायणकृष्ण लिखित अहिंसा प्रचार। मास्टर आत्माराम अमृतसरी ने 'क्या मांसभक्षण आर्य धर्मानुकूल है?' तथा 'मांसभक्षण-निषेध' शीर्षक दो ग्रन्थ लिखकर मांसाहार-विरोधियों के मत को पुष्ट किया।

पण्डित लेखराम मांस के विवाद को आर्यसमाज की पारस्परिक कलह का मूल कारण मानते थे। इसलिए उन्होंने "आर्यसमाज में शान्ति फैलाने का असली उपाय" शीर्षक एक ग्रन्थ १८९३ ई० में लिखा। इसका प्रथम खण्ड मांसभक्षण-निषेध में विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों को प्रस्तुत करता है, जबकि द्वितीय खण्ड में वाल्मीकीय रामायण के अन्तःसाक्ष्य से यह सिद्ध किया है कि मर्यादा-पुरुषोत्तम राम मांसाहारी नहीं थे। हम इस प्रकरण में जोधपुर से प्रकाशित मांस-भोजन-विचार शीर्षक पुस्तक की चर्चा कर आये हैं जिसमें जोधपुर के पण्डितों द्वारा मांसाहार के समर्थन में महाराज प्रतापसिंह के आदेश से अनेक शास्त्रीय प्रमाण जुटाये गये थे। स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पण्डित भीमसेन

शर्मा ने तीन भागों में मांस-भोजन-विचार का उत्तर लिखा जो सरस्वती-यन्त्रालय इटावा से १९५३ वि० में छपा। मुलतान-निवासी पण्डित घनश्याम गोस्वामी ने मांस-निषेध-पुराण लिखा तथा फर्रुखाबाद-निवासी पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा ने "मांस खाने के दोष" इसी शीर्षक की पुस्तक में वर्णित किये। सम्पादकाचार्य पण्डित रुद्रदत्त शर्मा आर्यसमाज की पुरानी पीढ़ी के विद्वान् लेखक तथा पत्रकार थे। उनके अनुज पण्डित दामोदरप्रसाद ने "भोजन-विवेक" लिखा तो पण्डित बाबूराम शर्मा का मांसभक्षण-निषेध इटावा से प्रकाशित हुआ। मुंशी इन्द्रजीत ने 'मांस भक्ष्याभक्ष्य-विचार' शीर्षक एक विशद ग्रन्थ लिखकर मांसाहार के अनौचित्य को सिद्ध किया।

स्वामी दर्शनानन्द ने मांसभक्षण-निषेध के समर्थन में कुछ लघु पुस्तिकायें लिखी हैं। इनके नाम हैं—मांसभक्षण-निषेध तथा मांस मत खाओ आदि। मांसाहार की हानियों का शारीरिक, मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक दृष्टि से पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ "हम क्या खावें ? घास या मांस" में विस्तृत विवेचन किया है। आचार्य भगवान्-देव लिखित 'मांस मनुष्य का भोजन नहीं है' शीर्षक ग्रन्थ भी उल्लेखनीय है।

प्रायः यह कहा जाता रहा है कि प्राचीनकाल के आर्य ऋषि-मुनि भी मांसाहारी थे। एक ईसाई पादरी विनोदबिहारी राय ने यही मत व्यक्त करते हुए "ऋषियों का खानपान" शीर्षक एक पुस्तक लिखी थी। पण्डित जे०पी० चौधरी ने इसी शीर्षक से पादरी राय की उक्त पुस्तक का सप्रमाण खण्डन किया है। भास्कर प्रेस मेरठ ने इसे १९७५ वि० में प्रकाशित किया था। पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने 'क्या वेदों में मांसाहार का विधान है ?' शीर्षक ग्रन्थ में इस प्रवाद का खण्डन किया है कि वेद मांसाहार की आज्ञा देता है। मांसभक्षण-निषेध की दृष्टि से पण्डित यशपाल सिद्धान्तशिरोमणि लिखित 'शक्ति रहस्य' तथा स्वामी स्वतन्त्रानन्द कृत 'मांस-मदिरा-निषेध' भी पठनीय ग्रन्थ हैं।

आधुनिक काल में मांस के साथ-साथ अण्डों का प्रचलन बढ़ा है। यद्यपि कई लोग अण्डों को निरामिष खाद्य मानते हैं, तथापि आर्यसमाज की दृष्टि से उनका यह मानना निरापद नहीं है। कई लेखकों ने अण्डों को अखाद्य ठहराते हुए कुछ ग्रन्थ लिखे हैं। यथा, स्वास्थ्य का महान् शत्रु—अण्डा (जगदीश विद्यार्थी), अण्डों में विष (विष्णु कविरत्न) तथा स्वास्थ्य का मित्र अथवा शत्रु—अण्डा (कन्हैयालाल आर्य)।

मांसविरोध में लिखी गई कुछ उर्दू पुस्तकों का उल्लेख हम ऊपर कर आये हैं। इस प्रसंग में कुछ अन्य ग्रन्थ भी उल्लेख योग्य हैं। जैमिनि मेहता ने 'चौपायों की बरकतें' लिखकर दूध देनेवाले पशुओं का महत्त्व बताया तथा उनके मांसाहार को अनुचित सिद्ध किया। अयोध्याप्रसाद लिखित तथा उर्दू एवं हिन्दी दोनों लिपियों में प्रकाशित 'बकरा-विनय' व्यंग्यात्मक शैली में लिखित कविता है जिसमें मांसाहारी समुदाय के समक्ष बकरा अपने प्राणों की भीख माँगता है।

मांसाहार के अनौचित्य को सिद्ध करते हुए अंग्रेजी में भी अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना हुई है। प्रसिद्ध लेखक पण्डित दुर्गाप्रसाद ने मांस-निषेध-समर्थन में एक सशक्त अभियान चलाया था। उन्होंने मांसभक्षण के विरोध में डॉक्टर एल० सालाजार तथा डॉक्टर ए० सी० खास्तगीर की दो पुस्तकें सम्पादित कर प्रकाशित कीं तथा स्वयं भी Vegetarianism शीर्षक एक ग्रन्थ लिखा। पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी का एक लघु ग्रन्थ Righteousness or Unrighteousness of Flesheating प्रकाशित हुआ था।

श्री मदनमोहन सेठ ने Vegetarianism versus Flesheating लिखकर शाकाहार की मांसाहार पर वरीयता सिद्ध की।

डॉक्टर सत्यप्रकाश ने Humanitarian Diet शीर्षक ग्रंथ में विज्ञान एवं शरीर-शास्त्र की दृष्टि से मांसाहार को मनुष्य के लिए घातक सिद्ध किया है। एक वैज्ञानिक की लेखनी से प्रसूत होने के कारण इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता निर्विवाद मानी जायगी।

मादक द्रव्य निषेध—आर्यसमाज शराब, तम्बाकू, भंग, गांजा, अफीम आदि सभी प्रकार के मादक द्रव्यों के सेवन को स्वास्थ्य-विनाशक तो मानता ही है, उसका यह भी विचार है कि मादक द्रव्यों का प्रयोग मनुष्य की शारीरिक, मानसिक एवं बौद्धिक शक्तियों का भी घातक है। आध्यात्मिक साधना की ओर उन्मुख व्यक्ति के लिए तो इन पदार्थों का प्रयोग कदापि उचित नहीं है।

आर्यसमाज ने सभी प्रकार के नशीले पदार्थों का खण्डन किया। जिस युग में हुक्का पीना सामाजिक मर्यादा का अंग माना जाता था तथा जाति के पंचों द्वारा किसी को हुक्का पेश किया जाना, उसके सम्मान की वृद्धि का कारण बनता था, उस युग में हुक्का पीने के दोषों को वर्णित कर आर्यसमाज के प्रचारकों ने अत्यन्त साहस तथा स्व-सिद्धान्तों के प्रति निष्ठा का परिचय दिया। आर्यसमाजी भजनोपदेशकों द्वारा गाये गीतों ने लोगों में प्रचलित दुर्व्यसनों को दूर करने में जो उल्लेखनीय भूमिका निभाई, वह अब तो इतिहास की वस्तु बन गई है। आर्यसमाज के लेखकों ने व्यसन-त्याग के सभी पहलुओं पर विस्तार से लिखा है तथा सभी प्रकार के दुर्व्यसनों की भरपूर निन्दा की है। मदिरा-पान के दोष पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा ने 'मद्य-दोष' नामक पुस्तक में वर्णित किये। यह पुस्तक १८९६ ई० में वैदिक पुस्तक प्रचारक फण्ड, फर्रुखाबाद से प्रकाशित हुई थी। इसी विषय पर पण्डित ज्ञानचन्द आर्यसेवक ने 'मदिरानिषेध' पुस्तक लिखी तथा पण्डित शिव-शर्मा ने 'मद्यपान महापाप है' शीर्षक पुस्तक की रचना की। पण्डित रघुनाथप्रसाद पाठक ने कानूनन मद्यनिषेध की आवश्यकता बताते हुए 'शराबबन्दी क्यों आवश्यक है?' शीर्षक एक लघु ग्रन्थ लिखा। पण्डित होमनिधि शर्मा ने दो भागों में 'हुक्का-दोष-दर्पण' नामक पुस्तक लिखी थी। भारतवर्षीय आर्य कुमार परिषद् के एक पुराने कार्यकर्ता ह० ग० पौनीकर ने "तम्बाकू का नशा" पुस्तक लिखी जिसे उक्त परिषद् ने १९४० ई० में प्रकाशित किया। धूम्रपान पर पण्डित ज्ञानचन्द आर्यसेवक की 'सिग्रेट, बीड़ी' तथा प्रेम-कुमार पाण्डेय की 'धूम्रपान' शीर्षक पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। जनसाधारण में प्रचलित चायपान को भी दोषमुक्त सिद्ध करना कठिन है। चायपान की हानियों को श्री परमेश शर्मा ने स्वपुस्तक में विस्तारपूर्वक वर्णित किया है। इसे मधुर प्रकाशन, दिल्ली ने प्रकाशित किया है।

जैसाकि हम देख चुके हैं, आर्यसमाज के कवियों, गीतकारों तथा भजनों के माध्यम से प्रचार करनेवाले उपदेशकों ने मादक द्रव्य-निषेध में उल्लेखनीय योग दिया है। आलाराम सागर की पुस्तक भजनमदमर्दनमञ्जरी विगत शताब्दी में प्रचार पा चुकी थी। ब्रह्मानन्द बन्धु ने 'धूम्रपान या सर्वनाश' शीर्षक पद्यकृति में वर्तमान युग में सर्वाधिक प्रचलित धूम्रपान के व्यसन का कृष्णपक्ष चित्रित किया है। गत शताब्दी में ही सक्खर (सिंध) से मद्यपान-विषयक अंग्रेजी पुस्तकें भी प्रकाशित हुई थीं। १८९३ ई० में Lectures on Drunkenness—Its effect and Cure तथा Dangers of

Moderate drinking शीर्षक पुस्तकें शराबखोरी के खिलाफ लिखी गईं। जैमिनि मेहता ने "शराबनोशी के नक़ायस" लिखकर मदिरापान के खतरों की ओर उर्दूविज्ञ पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया।

(६) वैदिक शासनपद्धति और वर्णव्यवस्था

वैदिक राज्यव्यवस्था—स्वामी दयानन्द की दृष्टि में राजव्यवस्था एवं शासन-तन्त्र भी मनुष्य के धर्म के अन्तर्गत ही आते हैं। यही कारण है कि उन्होंने अपने प्रमुख ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में मनुष्य के सर्वतोमुखी कर्त्तव्यों का विधान करते हुए राज्यव्यवस्था तथा राजधर्म की आदर्श परिपाटी का भी विशद निरूपण किया है। दयानन्द के अनुसार वेद तथा मन्वादि स्मृतिग्रन्थों पर आधारित राज्य-व्यवस्था एवं शासन-प्रणाली ही मनुष्यसमाज के लिए हितकर तथा वांछनीय है। मनुष्य के वैयक्तिक तथा समष्टिगत धर्मों के निरूपण के प्रसंग में शासकवर्ग के इतिकर्त्तव्यों का विधान कर स्वामी दयानन्द ने धर्म को अत्यन्त व्यापक तथा सर्वग्रासी रूप प्रदान किया, जो उनके चिन्तन की एक मौलिक विशेषता कही जा सकती है।

कालान्तर में आर्यसमाजी विद्वानों ने वेदों तथा परवर्ती शास्त्रग्रन्थों के आधार पर वैदिक राजव्यवस्था तथा आर्य-राजनीति का विशद ऊहापोह किया। इस प्रकार आर्य शासनप्रणाली का जो रूप उभरकर सामने आया, उसे इन विद्वान् लेखकों ने स्व-ग्रन्थों में अत्यन्त मनोनिवेशपूर्वक रूपायित किया है। इस प्रकार आर्य राजनीति-तन्त्र तथा वैदिक शासनप्रणाली के अनेक महत्त्वपूर्ण सूत्र इन ग्रन्थों में ग्रथित किये गए हैं। वैदिक राजव्यवस्था-विषयक कुछ ऐसे ही ग्रन्थों का विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

मुंशी नारायणप्रसाद (महात्मा नारायण स्वामी) ने "वेद और प्रजातन्त्रीय राज-व्यवस्था" शीर्षक ग्रन्थ लिखा। इसमें विद्वान् लेखक ने सिद्ध किया था कि जनतान्त्रिक शासनपद्धति का मूल वेदों में उपलब्ध होता है। महता रामचन्द्र शास्त्री ने महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित असहयोग और सविनय अवज्ञा आन्दोलनों को वैदिक सन्दर्भों में देखा तथा "वर्तमान राष्ट्रीय आन्दोलन और वैदिक धर्म" शीर्षक ग्रन्थ लिखा। यह १९२२ ई० में प्रकाशित हुआ था। श्री चिम्मनलाल वैश्य ने 'वैदिक निर्वाचनपद्धति' शीर्षक ग्रन्थ १९२१ ई० में लिखा। प्रो० बालकृष्ण गुरुकुल काँगड़ी में अर्थशास्त्र तथा राजनीति-विज्ञान के प्राध्यापक थे। उन्होंने 'वेदोक्त राज्य और प्राचीन भारत में राज्य-प्रणाली" शीर्षक ग्रन्थ लिखकर वेदप्रतिपादित राज्यव्यवस्था का निरूपण किया। उनका यह ग्रन्थ गुरुकुल काँगड़ी से ही १९७१ वि० में प्रकाशित हुआ।

पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का वैदिक राजनीति-विषयक चिन्तन नितान्त गम्भीर तथा प्रौढ़ था। उनकी वैदिक राज्य-पद्धति आगमनिबंधमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुई थी। उत्तरप्रदेश के विद्वान् पण्डित शिवदयालु ने आर्य राजनीति, वैदिक राष्ट्रधर्म तथा राष्ट्रसुरक्षा और वेद शीर्षक तीन उपयोगी ग्रन्थ लिखे हैं। पण्डित लक्ष्मी-दत्त दीक्षित ने स्वराज्य-दर्शन लिखा जिसमें प्राचीन सूत्र-प्रणाली का उपयोग करते हुए वेदों के राजनैतिक दर्शन को स्फुट किया गया है। स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक की वैदिक राष्ट्रीयता तथा पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहालिखित वैदिक शासन-पद्धति भी पठनीय ग्रन्थ हैं। प्रसिद्ध वैदिक गवेषक पण्डित भगवद्दत्त आर्य राजनीति के प्रौढ़

व्याख्याता थे। उन्होंने आर्य महासम्मेलन, मेरठ के अवसर पर आयोजित वैदिक राजनीति परिषद् के अध्यक्षपद से जो विद्वत्तापूर्ण भाषण दिया था, उसे ही रामलाल कपूर ट्रस्ट ने आर्य राजनीति के मूल तत्त्व शीर्षक से ग्रन्थाकार प्रकाशित किया। विद्वान् लेखक ने संस्कृत भाषा में लिखे गये राजनीति-विषयक शतशः ग्रन्थों का परिचय देने के पश्चात् वैदिक राजनीति के मूल सूत्रों को प्रौढ़ शैली में निवद्ध किया है।

श्रीमती डॉक्टर शान्ता मलहोत्रा ने Political Thought of Swami Dayanand नामक ग्रन्थ में स्वामीजी के उन राजनैतिक मन्तव्यों का विशद रूप से प्रतिपादन किया है, जिनका आधार वेद है।

वेदों के राजनैतिक सिद्धान्तों पर अर्धशताब्दी से भी अधिक समय तक शोध करनेवाले पण्डित प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने अपने निष्कर्षों को तीन खण्डों में समाप्त 'वेदों के राजनैतिक सिद्धान्त' शीर्षक विशाल ग्रन्थ में समाविष्ट किया है। उन्होंने वेदों के अनेक सूक्तों के राजनीतिपरक अर्थ लगाते हुए संविधान काण्ड, अभ्युदय काण्ड तथा प्रतिरक्षा काण्ड शीर्षकों के अन्तर्गत वेदों के राजनैतिक चिन्तन का मौलिक विवेचन किया है।

वर्ण-व्यवस्था और जातिभेद—आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने आर्यों की वर्ण-व्यवस्था को जन्माधारित न मानकर गुण एवं कर्मों के आधार पर स्वीकार किया था। वस्तुतः कार्यविभाजन अथवा श्रमविभाजन की दृष्टि से ही चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था का विधान आर्य ऋषियों ने पुराकाल में किया था। यह अवश्य है कि कालान्तर में ब्राह्मणादि वर्ण-विधान जन्मना माना जाने लगा और धीरे-धीरे वर्णों में भी ऊँच-नीच के भाव पैदा हो गये। भारतीय समाज का घोर पतन उस समय हुआ जबकि आर्यों की सामाजिक व्यवस्था सैकड़ों जातियों एवं उपजातियों की संकीर्ण काराओं में जकड़ी जाकर छिन्न-भिन्न हो गई तथा समाज के एक बहुत बड़े वर्ग को नीच, अस्पृश्य तथा घृणास्पद माना जाने लगा। स्वामी दयानन्द ने वर्ण-व्यवस्था के मौलिक आधार को पुनः स्थापित किया तथा स्पष्ट किया कि जन्म से न तो कोई ब्राह्मण होता है और न कोई शूद्र। उन्होंने प्राचीन शास्त्रों तथा इतिहास-ग्रन्थों से वर्ण-परिवर्तन के अनेक उदाहरण देकर सिद्ध किया कि गुण, कर्म तथा स्वभाव के अनुसार, इसी जन्म में व्यक्ति का वर्ण-परिवर्तन भी हो सकता है। वर्ण-व्यवस्था-विषयक अपने विचारों को स्वामी दयानन्द ने संस्कारविधि, सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रंथों में सर्वत्र व्याख्यात किया है।

स्वामी दयानन्दनिर्दिष्ट वर्ण-व्यवस्था-विषयक इन्हीं विचारों को कालान्तर में विभिन्न आर्यविद्वानों ने स्वरचित ग्रन्थों में विस्तारपूर्वक विवेचित किया है। मुरादाबाद-निवासी मुंशी इन्द्रमणि के शिष्य जगन्नाथदास ने वर्ण-व्यवस्था शीर्षक एक लघु पुस्तक १९४१ वि० में लिखी। उस समय तक उन्होंने आर्यसमाज का त्याग नहीं किया था। अतः उनके वर्ण-व्यवस्था-विषयक विचार स्वामी दयानन्द के एतद्विषयक चिन्तन के अनुकूल ही थे। पण्डित गंगाप्रसाद ने अंग्रेजी में कास्ट-सिस्टम शीर्षक एक लघु ग्रन्थ जाति-व्यवस्था की विवेचना में लिखा। इसकी लोकप्रियता का अनुमान इसी बात से हो जाता है कि अब तक हिन्दी के अतिरिक्त मराठी, गुजराती, तेलुगु तथा मलयालम भाषाओं में इस पुस्तक का अनुवाद हो चुका है। वर्ण-व्यवस्था पर लेखनी चलानेवाले

प्राचीन आर्य लेखकों में पण्डित होमनिधि शर्मा (जाति-परीक्षा), पण्डित विश्वनाथ शर्मा (वर्णव्यवस्था-मीमांसा) तथा स्वामी दर्शनानन्द (वर्ण-व्यवस्था) उल्लेखनीय हैं। किन्तु जाति तथा वर्ण का सांगोपांग विवेचन पण्डित शिवशंकर शर्माप्रणीत जातिनिर्णय ग्रन्थ में हुआ है। यह विशाल ग्रन्थ आर्यप्रतिनिधि सभा, पंजाब की साहित्य प्रकाशन योजना के अधीन वेदतत्त्वप्रकाशमाला ३ में प्रथम बार १९६४ वि० में प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् इसके दो संस्करण क्रमशः राजपाल एण्ड सन्स लाहौर तथा वैदिक पुस्तकालय, वनारस ने १९२६ तथा १९५६ ई० में प्रकाशित किये।

प्रौढ़ विद्वान् तथा संस्कृत के रससिद्ध कवि पण्डित अखिलानन्द शर्मा ने वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में जो विचार प्रस्तुत किये, उनके कारण आर्यसमाज में एक बार खलबली मच गई थी। वर्ण-निर्धारण में गुण तथा कर्म की अपेक्षा 'स्वभाव' पर अधिक जोर देकर पण्डित अखिलानन्द ने प्रकारान्तर से यह कहना चाहा था कि वर्ण-व्यवस्था मूलतः जन्माधारित ही हो सकती है। उनके मतानुसार मनुष्य का स्वभाव तो जन्म से ही निर्धारित हो जाता है। निश्चय ही वर्ण-व्यवस्था की यह निराली व्याख्या स्वामी दयानन्द के मन्तव्यों के नितान्त प्रतिकूल थी। अतः इसे आर्यसमाज द्वारा स्वीकार किये जाने का तो प्रश्न ही नहीं था। आर्यसमाज के प्रख्यात विद्वान् तथा स्वामी दयानन्द के प्रत्यक्ष शिष्य पण्डित भूमित्र शर्मा ने 'वास्तविक वैदिक वर्ण-व्यवस्था' नामक ग्रन्थ लिखकर पण्डित अखिलानन्द के उपर्युक्त मत का तीव्र प्रतिवाद किया। महात्मा नारायण स्वामी ने भी "वर्ण व्यवस्था के सम्वन्ध में कुछ आक्षेप और उनके उत्तर" लिखकर इस विवाद में आर्यसमाज के दृष्टिकोण को प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया।

आर्यसमाज में एक वर्ग ऐसा भी उभरकर आया, जो वर्तमान प्रचलित जात-पाँत के लिए सर्वात्मना वर्ण-व्यवस्था को ही उत्तरदायी ठहराता था। उनके विचारानुसार गुण एवं कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था मात्र कल्पना ही है तथा ऐसी व्यवस्था को उस समाज में क्रियान्वित करना तथा व्यावहारिक रूप देना तो सर्वथा असम्भव ही है जो समाज पहले ही जन्मगत जात-पाँत की कठोर काराओं में शताब्दियों से बँध चुका है। लाहौर में पण्डित सन्तराम बी० ए० ने जातपाँत-तोड़क मण्डल का गठन किया और प्रचलित जाति-व्यवस्था पर चोट करने के साथ-साथ इस मण्डल ने वर्ण-व्यवस्था का भी विरोध किया। उनकी दृष्टि में गुण-कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था का अस्तित्व न तो अतीत में ही कभी रहा है और न भविष्य में भी उसका होना सम्भव है। पण्डित सन्तराम तथा उनके सहयोगी वर्ण को 'मरण व्यवस्था' ही कहते थे। दक्षिण अफ्रीका में आर्यसमाज का कार्य करनेवाले स्वामी भवानीदयाल संन्यासी तथा गुरुकुल काँगड़ी के पुराने स्नातक पण्डित ईश्वरदत्त मेधार्थी विद्यालंकार भी गुण-कर्माधारित वर्ण-व्यवस्था को अव्यवहार्य मानते थे। स्वामी भवानीदयाल ने तो "वर्ण-व्यवस्था या मरण-व्यवस्था" शीर्षक एक पुस्तक भी इसी अभिप्राय से लिखी थी जो प्रवासी ग्रन्थमाला-२ के अन्तर्गत प्रकाशित हुई। जब लाहौर में जातपाँत-तोड़क मण्डल जोर-शोर से वर्ण-व्यवस्था के विरोध में अभियान चला रहा था तो आर्यसमाज में उसकी स्वाभाविक प्रतिक्रिया भी हुई। पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार ने "वर्णव्यवस्था और उस पर आक्षेप" शीर्षक पुस्तक लिखकर जातपाँत-तोड़क मण्डल के समर्थकों को सावधान किया कि वे जात-पाँत के विरोध की आड़ में कर्माधारित वर्ण-व्यवस्था पर निरर्थक आक्षेप करने से विरत रहें।

किन्तु वर्ण-व्यवस्था की सर्वाधिक रचनात्मक, बुद्धिग्राह्य तथा प्रौढ़ व्याख्या करने का श्रेय पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार को है। उन्होंने अपना विख्यात ग्रन्थ कायाकल्प (प्रथम प्रकाशन १९९६ वि०) लिखकर सिद्ध किया कि मानव-समाज प्रायः अज्ञान, अन्याय और अभाव से पीड़ित एवं त्रस्त रहता है और इन तीनों से मानव का त्राण करने में क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य ही समर्थ होते हैं। जहाँ तक शूद्र का प्रश्न है, वह अपनी मानसिक और बौद्धिक क्षमता की कमी के कारण उपर्युक्त त्रैवर्णिक समुदाय की सेवा करने में ही अपने जीवन की सफलता समझता है। लेखक के अनुसार जबतक संसार में अज्ञान, अन्याय और अभाव रहेंगे तबतक ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य वर्णों की आवश्यकता एवं उपयोगिता बनी ही रहेगी। "वर्ण-व्यवस्था का वैदिक रूप" शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ श्री ज्ञानचन्द आर्य ने लिखा जो सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा २००६ वि० में प्रकाशित हुआ।

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में गुण-कर्म पर आधारित वर्ण-व्यवस्था की चर्चा के प्रसंग में पुत्र-परिवर्तन की समस्या भी उठाई है। उनके अनुसार यदि किसी ब्राह्मण पिता का पुत्र शूद्रवृत्ति ग्रहण कर ले, तो उस ब्राह्मण को अधिकार होगा कि वह राज-व्यवस्था के अधीन किसी अन्य ऐसे बालक को पुत्ररूप में स्वीकार करे, जो ब्राह्मणत्व से युक्त है। प्रकारान्तर से वे यह कहते हैं कि गुण-कर्मानुसार सन्तान का परिवर्तन भी हो सकता है। स्वामी दयानन्द का यह सिद्धान्त कई लोगों को सर्वथा अव्यावहारिक अपितु अशास्त्रीय दिखाई दिया और उन्होंने इसकी कटु आलोचना भी की, किन्तु पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी ने "पुत्र-परिवर्तन वैदिक है" शीर्षक पुस्तक लिखकर दयानन्द के उपर्युक्त मत का पोषण किया। दयानन्द स्वाध्याय मण्डल लाहौर से पण्डित मीरपुरी की उक्त पुस्तक प्रकाशित हुई थी।

आर्यसमाज का वर्ण-व्यवस्था-विषयक दृष्टिकोण हिन्दी से भिन्न भाषाओं में भी विवेचित हुआ है। "एक आर्य सभासद" मेरठ ने १८८७ ई० में वर्ण-व्यवस्था पर उर्दू में पुस्तक लिखी थी। महाशय मुंशीराम जिज्ञासु की इसी विषय से सम्बन्धित उर्दू पुस्तक १८९१ ई० में प्रकाशित हुई। बंगला में पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री ने ब्राह्मण शूद्रेर संघर्ष, जातिर बड़ाई, हिन्दू जाति तत्त्व आदि अनेक ग्रन्थ वर्ण-व्यवस्था एवं जाति-व्यवस्था पर लिखे हैं। कन्नड़ में पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने 'जातिभेद विचार' ग्रन्थ लिखा।

अंग्रेजी में भी वर्ण-व्यवस्था, अस्पृश्यता तथा दलित जातियों की समस्या पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ आर्यसमाज के दृष्टिकोण को प्रधानता देते हुए लिखे गये हैं। पण्डित गंगाप्रसाद के 'कास्टसिस्टम' की चर्चा हम पहले कर आये हैं। लाला लाजपतराय ने दलित जातियों के प्रति उच्च वर्णस्थ लोगों के कर्त्तव्यों का विचार अपनी पुस्तक The Depressed classes and our Duty शीर्षक ग्रन्थ १९१४ ई० में लिखा था। ध्यातव्य है कि तबतक न तो महात्मा गांधी का ही देश के सार्वजनिक क्षितिज पर आविर्भाव हुआ था और न कांग्रेस ने ही हरिजनोत्थान तथा दलित जातियों के उद्धार का कोई कार्यक्रम बनाया था। बंगाल के सुप्रसिद्ध आर्य विद्वान् पण्डित शंकरनाथ ने Varna Vyavastha or the Vedic Classification of Caste लिखकर वर्ण-व्यवस्था को सही रूप में परिभाषित किया। इसके साथ ही उन्होंने The Hindu Sangathan and

Our Depressed Classes तथा Duty towards our Depressed Classes जैसे ग्रन्थ दलितोद्धार की समस्या को लेकर लिखे। पण्डित केशवदेव ज्ञानी (The Vedic Caste System and the Panchan Problem), पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय (The Vedic Caste System) तथा पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री (Vedic Caste System or Varna Vyavastha) ने भी इस विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखे हैं।

निष्कर्षत: हम कह सकते हैं कि वर्ण-व्यवस्था जैसे आदर्श सामाजिक विधान को तर्कसंगत ढंग से विवेचित करके आर्यसमाज के विद्वानों ने एक महनीय कार्य किया है। प्राय: वर्णव्यवस्था को जन्माधारित मान लिये जाने के कारण उसके आलोचकों को उसकी आलोचना करने का अवसर मिल जाता है, परन्तु आर्यसमाज द्वारा की गई उसकी उपर्युक्त व्याख्या नितान्त दोषरहित तथा सभी के द्वारा स्वीकार्य मानी जाएगी।

(७) विधवा-विवाह

विधवाविवाह-समर्थक साहित्य—हिन्दू समाज में अल्पवयस्क विधवाओं की दयनीय स्थिति को देखकर स्वामी दयानन्द अत्यन्त दु:खी थे। विगत शताब्दी में बाल-विवाह की राक्षसी प्रथा ने हिन्दू विधवाओं की संख्या को अनायास ही बढ़ा दिया था। उधर पौराणिक पण्डित विधवाओं के पुनर्विवाह के कट्टर विरोधी थे। पण्डित ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने १८५६ ई० में ही सरकार पर जोर देकर विधवाओं के पुनर्विवाह के समर्थन में कानून बनवा लिया था, परन्तु समाज-सुधारकों की सुधारवादी प्रवृत्तियों पर सनातन वर्ग ने कभी अनुकूल प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं की। काशी के पं० राजाराम शास्त्री ने १८५५ ई० में विधवोद्धारशंका-समाधि नामक ग्रन्थ लिखकर शास्त्रों के आधार पर विधवाविवाह का निषेध किया। सनातनी पण्डितों के ऐसे प्रयास नितान्त हास्यास्पद ही थे क्योंकि मनु, पाराशर तथा अन्य अनेक स्मृतिकारों ने विशेष परिस्थितियों में विधवाओं के पुनर्विवाह को शास्त्र-सम्मत ठहराया है।

स्वामी दयानन्द ने द्विजों के लिए नियोग तथा शूद्रों के लिए विधवाविवाह को शास्त्रसम्मत माना था, तथापि देश-काल की परिवर्तित परिस्थितियों में विधवाविवाह का वे भी समर्थन करते थे। आर्यसमाज ने न केवल विधवाविवाह के समर्थन में प्रचुर मात्रा में साहित्य ही लिखा, अपितु बाल एवं युवती विधवाओं के विवाह कराकर समाज के समक्ष एक व्यावहारिक आदर्श भी प्रस्तुत किया। रायबहादुर गंगाराम द्वारा स्थापित विधवाविवाह-सहायक सभा ने इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है।

विधवाविवाह के समर्थन में लिखे गये साहित्य का सर्वेक्षण करने पर विदित होता है कि स्वामी दयानन्द के जीवनकाल में ही इस प्रकार के ग्रंथों का लेखन व प्रकाशन आरम्भ हो गया था। इलाहाबाद जिले के सिरसा ग्राम निवासी श्री काशीनाथ खत्री ने १८८२ ई० में पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर लिखित 'विधवाविवाह' शीर्षक बंगला ग्रन्थ का हिन्दी में अनुवाद किया जो खड्गविलास प्रेस पटना से छपा। बहुत काल पश्चात् पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने भी विद्यासागर के ग्रन्थ विधवाविवाह-मीमांसा का हिन्दी भाषानुवाद किया जिसे गोविन्दराम हासानन्द कलकत्ता ने १९२६ ई० में प्रकाशित किया। विधवाविवाह-विषयक आर्यसमाज का प्रारम्भिक साहित्य मुख्यत: उर्दू में लिखा

गया। लाला जीवनदास ने 'सदाए हक' (विधवा नारी अधिकार) लिखा जो कोहेनूर प्रेस लाहौर ने १८८२ ई० में छपा। १८८३ ई० में पण्डित लेखराम लिखित 'रिसालाए नवेदए बेवगान' प्रकाशित हुआ। लाला जीवनदास की ही एक अन्य उर्दू पुस्तक 'दो हिन्दू बेवा औरतों की बातचीत' १८८४ ई० में छपी। इसका हिन्दी अनुवाद एच०एल० सक्सेना ने किया, जिसे आर्य पुस्तकालय लाहौर ने १८९१ ई० में प्रकाशित किया। अथर्ववेदभाष्यकार पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी का 'विधवा मंगल' भी उर्दू में ही प्रकाशित हुआ था।

लाहौर की विधवाविवाह-सहायक सभा ने हिन्दू विधवाओं के पुनर्विवाह की पुष्टि में वेदों तथा अन्य शास्त्रों के प्रमाण एकत्र कर प्रकाशित किये तथा १८५६ ई० में स्वीकृत पुनर्विवाह-समर्थक कानून को भी पुस्तकाकार छपाया। वैदिक यन्त्रालय के प्रथम व्यवस्थापक मुंशी बख्तावरसिंह लिखित 'विधवाविवाह प्रचार' शीर्षक ग्रन्थ शाहजहाँपुर से छपा। यों तो विधवाविवाह की पुष्टि में लिखे गये ग्रन्थों की संख्या पर्याप्त है, किन्तु इस विषय की शास्त्रीय विवेचना की दृष्टि से पण्डित बद्रीदत्त जोशी लिखित 'विधवोद्धारमीमांसा', स्वामी कर्मानन्दप्रणीत 'नारी-पुनर्विवाह-मीमांसा' तथा पण्डित जे०पी० चौधरी लिखित 'विधवाविवाह प्रश्नोत्तरी' आदि ग्रन्थ विशेषतया उल्लेखनीय हैं।

पौराणिक पण्डित जब विधवाविवाह को शास्त्रीय दृष्टि से अवैध घोषित करने का यत्न करते थे तो आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा उन्हीं पण्डितों के मान्य पुराणादि ग्रन्थों में वर्णित इतिहास के आधार पर पुराकाल में विधवाविवाह का अस्तित्व सिद्ध करना अवश्यम्भावी हो जाता था। पण्डित छुट्टनलाल स्वामी ने 'पद्मपुराण में वर्णित दिव्यादेवी की कथा के आधार पर 'पद्मपुराण में एक कन्या के २१ विवाह' शीर्षक खोजपूर्ण ग्रन्थ लिखा। बंगला में पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री ने 'विधवाविवाहेर आपत्ति खण्डन' तथा 'विधवाविवाहेर शास्त्रीय व्यवस्था' जैसे ग्रन्थ लिखे थे। गुजराती के समर्थ आर्य साहित्यकार बालाभाई जमनादास वैश्य लिखित 'पुनर्लग्न सशास्त्र छे' आर्योत्कर्ष मण्डल अहमदाबाद द्वारा १९५३ वि० में प्रकाशित हुआ था।

विधवाविवाह के समर्थन में केवल शास्त्रीय दृष्टि से ही ग्रन्थ लिखे गये हों, ऐसी बात नहीं है। संस्कृत के प्रतिभाशाली कवि पण्डित अखिलानन्द शर्मा ने संस्कृत में 'वैधव्य विध्वंसन' चम्पू काव्य की रचना की। इसमें एक कल्पित कथा का आश्रय लेकर विधवा-विवाह का शास्त्रसम्मत होना गद्य-पद्यमिश्रित चम्पू शैली में वर्णित किया गया है। ओंकार प्रेस, प्रयाग में मुद्रित यह चम्पू-काव्य १९६७ वि० में प्रकाशित हुआ था। हिन्दी के रससिद्ध कवि पण्डित नाथूराम शंकर शर्मा 'शंकर' ने अपना प्रसिद्ध काव्य 'गर्भरण्डा रहस्य' लिखा। गर्भ में ही विधवा हो जानेवाली कन्याओं की दुर्दशा दिखानेवाला यह काव्य हिन्दी में करुणरसप्रधान व्यंग्यात्मक कविता का उत्कृष्ट उदाहरण है। उर्दू के युगप्रवर्तक कवि मौलाना अल्ताफहुसैन हाली पानीपत ने 'मुनाजाते बेवा' शीर्षक एक शोकात्मक कविता उर्दू में लिखी थी। विधवाओं की मानसिक पीड़ाओं तथा उनके दुःखद जीवन का यथार्थवादी चित्रण करनेवाली हाली की यह कविता उर्दू साहित्य में पर्याप्त सराही गई। गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के मुख्याध्यापक पण्डित भीमसेन शर्मा (आगरा) ने सरस संस्कृत पद्यों में इसका अनुवाद किया। उनका यह अनुवाद परोपकारी के १९६५ वि० के चार अंकों में धारावाही प्रकाशित हुआ। पण्डित भीमसेन शर्मा के

सुपुत्र स्वर्गीय पण्डित हरिदत्त शर्मा इसे पुस्तकाकार छपाना चाहते थे। उनकी इस इच्छा के अनुसार इन पंक्तियों के लेखक ने 'विधवाभिविनय:' शीर्षक इस काव्य की प्रेस कॉपी तैयार कर स्वर्गीय पण्डित हरिदत्त जी को प्रेषित की थी, किन्तु वह प्रकाशित नहीं हो सकी। श्रीमती वसन्ती देवी नामक एक आर्य महिला ने हाली की उक्त काव्यकृति का हिन्दी पद्यानुवाद 'एक विधवा की प्रार्थना' शीर्षक से किया है।

(८) शुद्धिविषयक साहित्य

मध्यकालीन हिन्दू धर्म में जो बहुविध पतनशीलता आई, उसके कारण इस धारणा का प्रचलन हुआ कि इस धर्म को छोड़कर कोई व्यक्ति अन्य धर्म में प्रविष्ट तो हो सकता है, किन्तु अन्य मतावलम्बी का हिन्दू धर्म में प्रवेश करना सम्भव नहीं है। अकबर-बीरबल के चुटकुलों की ऐतिहासिकता विवादास्पद हो सकती है, किन्तु महान् बुद्धिमान् तथा हाजिरजवाब बीरबल ने भी उस समय बुद्धिमत्ता का परिचय नहीं दिया जबकि सम्राट् अकबर द्वारा हिन्दू धर्म में प्रविष्ट होने की इच्छा व्यक्त करने पर उसने उत्तर में कहा—'जहाँपनाह, जैसे गधा घोड़ा नहीं बन सकता, उसी प्रकार मुसलमान भी हिन्दू नहीं हो सकता।' यहाँ बीरबल द्वारा दी गई युक्ति की दुर्बलता सहज सिद्ध है। गधा और घोड़ा तो पशुओं की दो भिन्न जातियों से होने के कारण परस्पर में नहीं बदले जा सकते, किन्तु हिन्दू और मुसलमान तो एक ही मनुष्य जाति के अंग हैं। पृथक्-पृथक् धर्म तो उनकी वैयक्तिक आस्था एवं विश्वास के ही प्रतीक हैं, जो परिवर्तित भी हो सकते हैं।

इतिहास साक्षी है कि भारतीय धर्म सदा से ही अपने से भिन्न विश्वासों एवं आस्थावाले मनुष्य-समुदाय को अपने भीतर समाविष्ट करता रहा है। मध्य एशिया की आक्रमणकारी जातियाँ शक, हूण आदि भारत में आईं, किन्तु कालान्तर में वे अपने मूल विचारों एवं विश्वासों को तिलांजलि देकर बृहद् भारतीय समाज में इस प्रकार घुल-मिल गईं कि आज उनकी पृथक् पहचान भी शेष नहीं रही है। वस्तुत: किसी युग में समस्त धरती पर या उसके अधिकांश भाग पर आर्य धर्म तथा संस्कृति का बोलबाला था, किन्तु कालान्तर में, जैसाकि मनुस्मृति कहती है, ब्राह्मणों का सम्पर्क न रहने से आर्यावर्त्त से भिन्न देशों का अधिकांश मनुष्य-समाज आर्य सभ्यता छोड़ बैठा तथा अनार्योचित आचार-व्यवहार धारण करने लगा। मनु ने पौण्ड्रक, औड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, किरात, दरद तथा खश जातियों को प्रारम्भ में क्षत्रिय वर्ण का माना है जो ब्राह्मणों का उपदेश एवं मार्गदर्शन न पाकर समयान्तर में अनार्य जातियों की गणना में आईं।

मध्यकाल में हिन्दू धर्म अपनी स्वाभाविक गतिशीलता खोकर पोखरे के जल के तुल्य स्थित तथा अविचल बन गया। परिणामस्वरूप लाखों की संख्या में दलित वर्ग के लोगों ने उच्च वर्णों की असहिष्णुता तथा कठोर व्यवहार से क्षुब्ध होकर इस्लाम ग्रहण कर लिया। अंग्रेजों के शासनकाल में ईसाइयत ग्रहण करनेवालों की संख्या भी पर्याप्त रही। इस प्रकार जब स्वधर्मावलम्बियों द्वारा धर्म त्यागकर अन्य मत स्वीकार कर लेने की भयावह परिस्थितियों ने हिन्दू धर्म एवं संस्कृति के अस्तित्व का ही संकट उपस्थित कर दिया तो स्वामी दयानन्द ने आर्य-धर्म के द्वार इतर मतावलम्बियों के लिए खोल देने

की प्रेरणा दी। उन्होंने शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध किया कि आर्यधर्म से भिन्न आस्थाओंवाले व्यक्ति भी यदि चाहें तो वैदिकधर्म की दीक्षा लेकर वेद-धर्माव-लम्वी बन सकते हैं। उन्होंने स्वयं देहरादून-निवासी मुहम्मद उमर नामक एक मुसल-मान को आर्यधर्म की दीक्षा दी और उसे 'अलखधारी' नाम से अलंकृत किया।

आर्यसमाज में यों तो छुटपुट रूप से शुद्धि के कार्यक्रम सम्पन्न होते ही रहते थे किन्तु बड़े पैमाने पर शुद्धिकार्य का प्रारम्भ उस समय हुआ, जब पंजाब में मेघ, ओड व रहतिया आदि दलित एवं अस्पृश्य समझी जानेवाली जातियों को शुद्ध कर उनसे समानता का व्यवहार करने का अभियान चलाया गया। राजपूत तथा उच्च वर्णस्थ लोगों ने इन तथाकथित निम्न जातियों के अभ्युत्थान के लिए किये जानेवाले प्रयत्नों का डटकर विरोध किया, किन्तु आर्यसमाज के निष्ठावान् अनुयायियों ने पिछड़ी जातियों को सुधारने तथा सामाजिक दृष्टि से उन्हें समान स्तर पर लाने का अपना अभियान जारी रक्खा। कहना नहीं होगा कि इस कार्य में उन्हें नाना प्रकार की बाधाओं तथा अत्याचारों का भी सामना करना पड़ा था, किन्तु वे कभी कर्त्तव्य-विमुख नहीं हुए।

देश में राजनैतिक चेतना के प्रबल होने के साथ-साथ विशाल हिन्दू-समाज में करोड़ों की संख्या में विद्यमान अछूतों की स्थिति को लेकर भी नाना प्रकार के मनसूबे बाँधे जाने लगे। कांग्रेस के एक अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए मौलाना मुहम्मद अली ने तो सात करोड़ अछूतों को हिन्दुओं तथा मुसलमानों में समान रूप से बांट लेने का प्रस्ताव रक्खा था। यों मुल्ला-मौलवियों द्वारा चलाये गए तबलीग-आन्दोलन के परि-णामस्वरूप दलित जातियों को इस्लाम में दीक्षित करना जारी ही था। इन परिस्थितियों में आर्यसमाज के तेजस्वी नेता स्वामी श्रद्धानन्द ने उन नवमुस्लिम जातियों को पुनः हिन्दू धर्म में आने के लिए आमन्त्रित किया, जो मुसलमानी शासनकाल में बलपूर्वक इस्लाम के दायरे में ले जाई गई थीं। मलकाने राजपूतों तथा भूले जाटों ने स्वामी श्रद्धानन्द के इस निमन्त्रण को स्वीकार किया। परिणामस्वरूप उत्तरप्रदेश के पश्चिमी जिलों में तथा राजस्थान के अलवर, भरतपुर आदि राज्यों में शुद्धि का महान् आन्दोलन प्रभावी ढंग से चलाया जाने लगा। शुद्धि-आन्दोलन को आर्यसमाज के सभी पक्षों का तो सहयोग प्राप्त था ही, सनातन धर्म के पण्डित मदनमोहन मालवीय आदि उदार विचारों वाले नेता भी उसके समर्थक थे। भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा के संगठित प्रयासों से लाखों की संख्या में नवमुस्लिमों को शुद्ध किया गया तथा जन्म के मुसलमान एवं ईसाई भी शुद्ध होकर अपने पैतृक हिन्दूधर्म में आने लगे।

शुद्धिकार्य को उत्तेजना देने के लिए शुद्धि-विषयक प्रचुर साहित्य लिखा गया। इस साहित्य को निम्न वर्गों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

१. शुद्धि के शास्त्रीय पक्ष को उद्घाटित करनेवाला साहित्य। इसके अन्तर्गत शुद्धि के पक्ष में शास्त्रीय प्रमाणों को जुटाने के साथ-साथ ऐतिहासिक प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया था कि शुद्धि का प्रचलन सर्वदा रहा है।
२. शुद्धि-विषयक प्रचारात्मक साहित्य। इसमें शुद्धि की महत्ता तथा शुद्ध हुए लोगों के संख्यात्मक आंकड़े एकत्र किये जाते थे।

स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पं० ज्वालादत्त शर्मा ने प्रायश्चित्तादर्श भाग १

लिखा। सम्भवत: इसमें अन्य मतावलम्बियों के आर्यधर्म-प्रवेश के अवसर पर किये जाने वाले प्रायश्चित्त-विधान का ही विवरण रहा होगा। आर्यदर्पण यन्त्रालय मुरादाबाद ने इसे १६०० ई० में प्रकाशित किया था। शुद्धि के शास्त्रीय तथा ऐतिहासिक पक्ष को उद्घाटित करनेवाले प्रमुख ग्रन्थ निम्न हैं—महता रामचन्द्र शास्त्री लिखित पतितों की शुद्धि सनातन है, स्वामी चिदानन्द सरस्वती लिखित शुद्धि-व्यवस्था, कुमारी चाँदकरण शारदा का खोजपूर्ण ग्रन्थ शुद्धिचन्द्रोदय, पण्डित राजारामकृत शुद्धि-शास्त्र, पं० जे० पी० चौधरी लिखित शुद्धि सनातन है तथा शुद्धि-प्रश्नोत्तरी आदि। मध्यकाल में हुए शुद्धिकार्य की पुष्टि करनेवाले ग्रन्थ भी छपे, यथा—श्री गंगाप्रसाद गुप्त लिखित पुराणों में दस हजार मुसलमानों की शुद्धि है तथा गोविन्दप्रसाद शर्मा लिखित सनातन-शुद्धिशास्त्र और आर्यों का चक्रवर्ती राज्य।

जो लोग ईसाई अथवा इस्लाम को त्यागकर वैदिक धर्म में प्रवेश करते थे, उन्हें विधिवत् शुद्ध कर हिन्दूसमाज का अंग बना लेने की दृष्टि से शुद्धि-पद्धति का भी निर्माण किया गया। भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा के मन्त्री स्वामी चिदानन्द संन्यासी ने शुद्धि-संस्कार-पद्धति का प्रणयन किया। पण्डित सत्यदेव सिद्धान्तशिरोमणि ने शुद्धि-विधान के समर्थन में लिखित एक प्राचीन देवलस्मृति का सानुवाद प्रकाशन किया तथा ग्रन्थान्त में शुद्धिप्रवेश-पद्धति लिखी।

भारत के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् भी शुद्धि का महत्त्व कम नहीं हुआ है। आज भी पैट्रो डालरवाले मुसलमान देशों से करोड़ों रुपया भारतवासी हिन्दुओं का धर्मान्तरण कर उन्हें इस्लाम की दीक्षा दिलाने के लिए निर्बाध रूप में आ रहा है। ईसाई प्रचारक अंग्रेजी शासनकाल की तुलना में अधिक सक्रिय होकर पूर्वांचल प्रदेशों, केरल तथा तमिलनाडु के दक्षिणी राज्यों तथा राजस्थान, बिहार, मध्यप्रदेश के आदिवासीबहुल क्षेत्रों में ईसाई मत का जाल अधिक चतुरता के साथ फैला रहे हैं। इन्हीं सन्दर्भों को ध्यान में रखकर दयानन्द साल्वेशन मिशन के लाला देवीचन्द ने 'स्वतन्त्र भारत में शुद्धि' पुस्तक लिखी तथा ठाकुर अमरसिंह ने 'विधर्मियों की शुद्धि अर्थात् भारतीयकरण' शीर्षक ग्रन्थ का प्रणयन किया। पण्डित रामगोपाल शास्त्री ने 'हिन्दुत्व के द्वार फिर खोल दो' की रचना की।

शुद्धि के विषय को लेकर सिन्धी, बंगला तथा गुजराती में भी कुछ साहित्य लिखा गया था। नारायणजी विशनजी ठाकुर ने 'धर्मभ्रष्टोनु शुद्धिकरण' शीर्षक ग्रन्थ गुजराती में १६८२ वि० में लिखकर प्रकाशित किया। उर्दू में पण्डित लेखराम का पतित-उद्धारण (हिन्दी में 'पतितोद्धार' शीर्षक से मुंशी जगदम्बाप्रसाद द्वारा अनूदित तथा १६०० ई० में प्रकाशित) तथा ख्वाजा हसन निजामी लिखित दाइये इस्लाम के उत्तर में ठाकुर इन्द्रवर्मा लिखित 'शमशीरए शुद्धि' का उल्लेख आवश्यक है। अंग्रेजी में पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने शुद्धि शीर्षक एक लघु पुस्तक लिखी तथा प्राचार्य श्रीराम शर्मा ने अनेक ऐतिहासिक प्रमाण देकर Conversion and Reconversion to Hinduism लिखा।

(६) तुलनात्मक धर्म-विषयक साहित्य

संसार में प्रचलित विभिन्न मत, पन्थ एवं संप्रदाय समय और परिस्थितियों की आवश्यकता के अनुरूप ही उत्पन्न हुए हैं। कालक्रम की दृष्टि से वैदिक धर्म को सर्वाधिक

प्राचीन माना जाना चाहिए। पारसी, यहूदी, ईसाई तथा इस्लाम—ये सभी मत वैदिक धर्म के परवर्ती ही हैं। भारतीय धर्मों में वैदिक धर्म के पश्चात् जैन तथा बौद्ध धर्मों की गणना होती है। महावीरआदि २४ तीर्थंकरों तथा गौतम बुद्ध की शिक्षाओं से अनुप्राणित जैन तथा बौद्ध धर्म मूलतः वैदिक धर्म में आयी विकृतियों की प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न विद्रोहमूलक आन्दोलन ही थे।

स्वामी दयानन्द सम्भवतः प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने विभिन्न धर्मों एवं मतों के तुलनात्मक अध्ययन का सूत्रपात किया था। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध में आर्यावर्त में उत्पन्न मत-मतान्तरों, जैन, बौद्ध तथा चार्वाक आदि अवैदिक मतों तथा ईसाइयत और इस्लाम जैसे सामी(Semetic)मजहबों की तात्त्विक आलोचना कर तथा उनकी तुलना में वैदिक धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन कर स्वामी दयानन्द ने धर्मों की तुलनात्मक विवेचना का आरम्भ किया था। उनसे पूर्व राजा राममोहन राय ने बाइबिल आदि ईसाई शास्त्रों का गहन अध्ययन अवश्य किया था और वे अपने इस अध्ययन के आधार पर ईसाइयत की शिक्षाओं में निहित नैतिकता और आचार की उच्चता का उद्घोष तो कर सके थे, किन्तु तुलनात्मक अध्ययन में उनकी रुचि उनके साहित्य से प्रतिबिम्बित नहीं होती।

आर्यसमाज के अध्ययनशील विपश्चित समाज ने विभिन्न मतों का पारस्परिक तुलनात्मक अध्ययन कर अपने निष्कर्षों को ग्रन्थरूप में प्रस्तुत किया है। यहाँ इसी कोटि के कुछ साहित्य का परिचय दिया जा रहा है। हमारी जानकारी के अनुसार आर्यसमाज अमृतसर के एक सभासद लाला रामनाथ ने 'तहकीकुल इल्हाम' शीर्षक एक उर्दू निबंध उक्त आर्यसमाज की वादविवाद सभा में पढ़ा था और इस निबन्ध का हिन्दी अनुवाद दिल्ली-निवासी श्री जगन्नाथ भारतीय ने सतमत परीक्षा शीर्षक से किया था। १९४३ वि० में दिल्ली से लीथो की छपाई में छपी यह लघु पुस्तक आर्यसमाज में धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन विषय का प्रथम प्रयास मानी जा सकती है। इसमें ईश्वरीय ज्ञान की दृष्टि से वेद, बाइबिल तथा कुरान की तुलनात्मक समीक्षा की गयी है। उत्तरप्रदेश के एक आर्य उपदेशक पण्डित हनुमानप्रसाद शर्मा ने मत-पर्येक्षणा नामक तुलनात्मक अध्ययन-विषयक ग्रन्थ लिखा जो आर्य भास्कर प्रेस, मुरादाबाद से छपा था। महाशय मुंशीराम जिज्ञासु ने पारसी मत और वैदिक धर्म शीर्षक ग्रन्थ लिखा जो आर्य-धर्म ग्रन्थमाला ८ के अन्तर्गत १९१६ ई० में प्रकाशित हुआ।

स्वामी दर्शनानन्द ईसाइयत एवं इस्लाम के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उन्होंने वैदिक धर्म और अहले इस्लाम तथा वैदिक धर्म और दीने इस्लाम का मुकाबला शीर्षक ग्रन्थ उर्दू में लिखे। पं० लक्षण आर्योपदेशक ने 'वैदिक धर्म और दीने इस्लाम' शीर्षक ग्रन्थ में कुरान की शिक्षाओं को वेदानुकूल सिद्ध किया है। पण्डित शिवशर्मा ने मैनपुरी जिले के भोगांव कस्बे में १९२३ ई० में मौलवियों से उनका जो शास्त्रार्थ हुआ, उसका विवरण वैदिक धर्म और इस्लाम शीर्षक ग्रंथ में प्रकाशित किया। वैदिक धर्म और मुहम्मदी मत शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ ज्ञानेन्द्र प्रभु ने लिखा था। लेखक और उसकी इस कृति का अधिक विवरण प्राप्त नहीं है। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्यायकृत 'वैदिकधर्म और इस्लाम' तुलनात्मक अध्ययन का एक सारगर्भित एवं गम्भीर प्रयास है जिसमें दोनों विचारधाराओं की तुलनात्मक समीक्षा पूर्ण सतर्कता तथा भावावेश को दूर रखकर की गयी है।

धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में आर्यसमाज की सबसे बड़ी देन पण्डित गंगाप्रसाद जज द्वारा लिखित धर्म का आदि स्रोत Fountain Head of Religion शीर्षक महत्त्व-पूर्ण ग्रंथ है जो १९०९ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रांत द्वारा प्रकाशित हुआ था। विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ में सप्रमाण सिद्ध किया है कि प्राचीन पारसी मत वैदिक धर्म की शिक्षाओं का ही अनुवर्तन करता है तथा बौद्ध धर्म की नैतिक शिक्षाओं का मूल भी वेद, उपनिषद्, गीता एवं योगदर्शन की आचार-विषयक शिक्षाएँ ही हैं। उनके अनुसार यहूदी मत पारसी मत के आधार को लेकर चला जबकि ईसाइयत और इस्लाम ने अपनी अधिकांश धारणाएँ, आस्थाएँ तथा विश्वास यहूदियों से ग्रहण किये। इस प्रकार वैदिक धर्म को संसार के प्रचलित सभी मतों का मूल सिद्ध करने में लेखक को कोई कठिनाई नहीं हुई। लेखक ने अपनी इस महत्त्वपूर्ण कृति को ग्रन्थाकार प्रकाशित कराने से पूर्व गुरुकुल काँगड़ी की मासिक पत्रिका 'दि वैदिक मैगजीन' में धारावाही प्रकाशित किया था। इस तुलनात्मक लेखमाला ने विभिन्न मतों के अनुयायियों में एक विचित्र खलबली पैदा कर दी। एक मुसलमान सज्जन ने इलाहाबाद से प्रकाशित होनेवाले मुस्लिम रिव्यू में इस लेखमाला की आलोचना प्रकाशित की। फिर तो आलोचनाओं और प्रत्यालोचनाओं का एक सिलसिला ही चल पड़ा। लखनऊ से प्रकाशित होनेवाले 'दि इण्डियन विटनेस' ने १९१४ ई० के तीन अंकों में एक ईसाई लेखक जे० आर० राय के लेख उक्त ग्रन्थ की समीक्षा में छापे। इन लेखों का अभिप्राय यह बतलाना था कि न तो वेद संसार के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं और न उन्हें धर्म का आदिस्रोत ही कहा जा सकता है। उक्त ईसाई लेखक का यह भी कहना था कि ईसाइयत ने बौद्ध धर्म या किसी अन्य धर्म से कुछ भी ग्रहण नहीं किया है।

जहाँ एक ओर ईसाई तथा मुसलमान लेखक 'फाउण्टेन हेड ऑफ रिलिजन' के लेखक की स्थापनाओं से अपनी असहमति व्यक्त करते हुए उसकी आलोचना कर रहे थे, उसी समय आर्यसमाज के आर्यपत्रिका, दि० डी० ए० वी० कॉलेज यूनियन मैगजीन लाहौर तथा सद्धर्मप्रचारक आदि पत्रों ने इस ग्रन्थ की प्रशंसापूर्ण समालोचनाएँ प्रकाशित कीं। इतना ही नहीं, लीडर (इलाहाबाद), इन्दुप्रकाश (बम्बई) तथा इण्डियन सोशल रिफ़ॉर्मर आदि आर्यसमाज से भिन्न पत्रों ने भी लेखक के प्रयास की सराहना करते हुए उसकी दाद दी। 'फाउण्टेन हेड-ऑफ रिलिजन' का हिन्दी अनुवाद आगरा-निवासी प्रसिद्ध साहित्यकार पण्डित हरिशंकर शर्मा ने किया था। इसका प्रथम संस्करण आर्य-प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त ने १९७६ वि० में प्रकाशित किया। राजपाल एण्ड सन्स लाहौर तथा आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर ने इसकी अन्य आवृत्तियाँ प्रकाशित कीं। पण्डित घासीराम ने 'धर्म का आदिस्रोत' का उर्दू अनुवाद 'सरचश्मए मजाहिब' शीर्षक से किया जिसे संयुक्त प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा ने १९१२ ई० में छापा।

धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन-विषयक एक अंग्रेजी ग्रन्थ Comparative Religions (एफ० वी० जेकन्स कृत) का हिन्दी अनुवाद पण्डित आत्माराम अमृतसरी ने किया, जिसे जयदेव ब्रदर्स बड़ौदा ने १९२१ ई० में प्रकाशित किया। श्री कृष्णानंदरचित कौन धर्म श्रेष्ठ है तथा चार धर्मों की तुलना एवं पण्डित सुरेन्द्र शर्मा गौड़कृत वेद और संसार के मतमतान्तर भी इसी विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं। पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने बौद्ध मत और वैदिक धर्म के मूल सिद्धान्तों की तुलना कर दोनों विचारधाराओं की

एकता तथा समानता प्रतिपादित की है। अंग्रेजी में केशवदेव ज्ञानी की कृति Hinduism versus Christianity मद्रास से १९३६ ई० में छपी। डॉक्टर केशवदेव शास्त्री ने Christianity and Hinduism Compared तथा World's Great Religions शीर्षक कृतियाँ इसी विषय पर लिखी हैं।

(१०) आर्य-सिद्धान्त-विषयक अन्य साहित्य

वृक्षों में जीव-विषयक साहित्य—वनस्पतियों में जीव की सत्ता का प्रश्न आर्य-समाजी विद्वानों में विवादास्पद रहा है। स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों में मनुस्मृति के प्रमाणों के आधार पर स्वीकार किया है कि मरणोपरान्त कोई जीव कर्म-व्यवस्था के अनुसार स्थावर योनियों में भी प्रविष्ट होता है। वृक्षों में जीव की स्थिति सुषुप्ति अवस्था में मानी गयी है। प्रसिद्ध वैज्ञानिक श्री जगदीशचन्द्र वसु के आविष्कारों ने भी वृक्षों में चेतना तथा किसी-न-किसी प्रकार की मानसिक क्रियाशीलता को सिद्ध किया है। आर्य-समाज के विद्वानों का एक दल वृक्षों में जीव का अस्तित्व नहीं मानता। उनकी दृष्टि में वृक्ष जड़ हैं। इस विवादास्पद समस्या को लेकर अनेक विद्वानों ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं जिनमें स्वमतानुसार वृक्षों में जीव के अस्तित्व या अनस्तित्व की विवेचना की गयी है।

इस विषय से सम्बन्धित सबसे पुरानी पुस्तक पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा रचित 'वृक्षों में जीव निर्णय' फर्रुखाबाद से प्रकाशित हुई थी।' स्वामी दयानन्द के शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा ने भी 'स्थावर में जीव विचार' शीर्षक ग्रन्थ १८९७ ई० में लिखा। मथुरा-निवासी पण्डित विश्वनाथ शर्मा कृत 'वृक्षों में जीव विचार' शीर्षक ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है। इसे स्वामी प्रेस मेरठ ने प्रकाशित किया था। स्वामी दर्शनानन्द ने वृक्षों में जीव की सत्ता से इन्कार किया तथा अपने मत के प्रतिपादन में 'स्थावर में जीव विचार' शीर्षक पुस्तक लिखी। उनकी एक अन्य लघु कृति 'स्वामी दयानन्द और वृक्षों में जीव' भी छपी थी। आर्यसमाज के एक अन्य विद्वान् पं० गणपति शर्मा से स्वामी दर्शना-नंद का वृक्षों में जीव की सत्ता के प्रश्न पर एक महत्त्वपूर्ण शास्त्रार्थ ८ अप्रैल १९१२ ई० को गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के प्रांगण में हुआ था। सुप्रसिद्ध समालोचक तथा लेखक पं० पद्मसिंह शर्मा ने इस शास्त्रार्थ की अध्यक्षता की थी। एक घण्टे तक चलनेवाले इस शास्त्रार्थ में दोनों पक्षों द्वारा प्रस्तुत युक्तियों एवं प्रमाणों को तत्काल ही पण्डित रलाराम ने लिपिबद्ध कर दिया था। उसी वर्ष (१९६९ वि०) यह शास्त्रार्थ पण्डित पद्मसिंह शर्मा द्वारा पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया गया। इसी वर्ष पण्डित गणपति शर्मा का ३९ वर्ष की आयु में निधन हो गया। स्थावर में जीव-विषयक इस प्रसिद्ध शास्त्रार्थ को कालांतर में तपोभूमि के विशेषांक के रूप में मथुरा से पुनः प्रकाशित किया गया।

वृक्षों में जीव की सत्ता का निषेध करनेवाले परवर्ती आर्य-विद्वान् पण्डित ओम्-प्रकाश शास्त्री ने 'वृक्ष जड़ हैं' शीर्षक ग्रन्थ लिखा और अपनी धर्मपत्नी श्रीमती सुखदा-देवी की स्मृति में स्थापित ग्रन्थमाला में खतौली (जिला मुजफ्फरनगर) से प्रकाशित भी किया। पण्डित रामदयालु शास्त्री भी वृक्षों में जीव का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते थे। उन्होंने स्वमत की पुष्टि में 'वृक्षों में जीव—एक भ्रांति' शीर्षक ग्रंथ १९८१ ई० में लिखा। पूर्वोक्त विद्वानों के मत के प्रतिकूल स्वामी मंगलानन्द पुरी, रामलाल जाट आर्य, पण्डित महामुनि शास्त्री तथा पण्डित पूर्णचन्द्र आर्य (स्वामी पूर्णानन्द सरस्वती) वृक्षों में जीव

का अस्तित्व स्वीकार करते हैं। उपर्युक्त चारों विद्वानों ने क्रमशः वृक्षों में जीव है, वृक्ष-जीव मीमांसा-दर्शन, स्थावर-जीव-मीमांसा तथा वृक्ष जीवधारी हैं शीर्षक ग्रन्थों में अपने मत को नाना युक्तियों एवं प्रमाणों से पुष्ट किया है। पण्डित चमूपति (वृक्षों का आत्मा), पण्डित नारायण प्रसाद बेताब (वृक्ष निर्जीव हैं) तथा पण्डित जैमिनि मेहता (क्या वृक्षों में जीव है?) ने भी इस विषय पर स्वदृष्टिकोण के अनुसार ग्रन्थ लिखे हैं।

आर्यसिद्धान्त-विषयक सामान्य साहित्य—ऊपर हमने आर्य-सिद्धान्तों पर लिखे गये साहित्य का वर्गीकृत मूल्यांकन किया है। परन्तु सिद्धान्त-विषयक ऐसे ग्रन्थों की संख्या तो बहुत अधिक है जिनमें वैदिक धर्म, आर्य विचारधारा तथा आर्य चिन्तन को नाना रूपों में व्याख्यात किया गया है। अतः ऐसे ग्रन्थों को एक निश्चित वर्ग में रखना उपयुक्त जान नहीं पड़ता। यहाँ स्थालीपुलाक न्याय से आर्य सिद्धान्तों के प्रतिपादक कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का ही उल्लेख किया जा रहा है जिनसे आर्यसमाज की विचारधारा को समझने में पाठक को पूरी सहायता मिलती है।

आर्यसमाज के प्रारम्भिक काल में स्वामी दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश को भी सिद्धान्त-निरूपक एकमात्र आदर्श ग्रन्थ की मान्यता प्राप्त रही। फलतः अनेक लेखकों ने सत्यार्थप्रकाश की शैली का ही अनुकरण करते हुए कुछ ऐसे ग्रन्थों की रचना की जिनमें आर्यधर्म और वैदिक विचारधारा को स्फुट किया गया था। शाहपुराधीश राजाधिराज नाहरसिंह की प्रेरणा से आर्यसमाज के संन्यासी-युगल स्वामी नित्यानन्द और स्वामी विश्वेश्वरानन्द ने पुरुषार्थ-प्रकाश लिखा। इसमें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और राजनीति-विषयक तीन प्रकरण लिखे गये थे, किन्तु प्रथम संस्करण में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ शीर्षक दो प्रकरणों का ही समावेश हो सका। पुरुषार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण १९५० वि० में अजमेर से प्रकाशित हुआ। उसके पश्चात् उसके तीन अन्य संस्करण कलकत्ता (१९०१ ई०), दिल्ली (१९३३) तथा अजमेर (आर्य साहित्य मण्डल) से छपे। विषय-निरूपण की दृष्टि से यह एक उत्कृष्ट रचना थी। पुरुषार्थप्रकाश का गुजराती अनुवाद गिरधरलाल गोस्वामी मेहता ने तथा उर्दू अनुवाद दीनानाथ व देवीदास उस्कवी ने किया था।

सत्यार्थप्रकाश की शैली का ही अनुकरण करते हुए महामहोपाध्याय पण्डित आर्य-मुनि ने दो खण्डों में आर्यमन्तव्यप्रकाश लिखा। इसमें अध्यायों को सत्यार्थप्रकाश की ही भाँति 'समुल्लास' नाम से अभिहित किया गया है। आर्यमन्तव्यप्रकाश के प्रथम भाग में निम्न विषय वर्णित हुए हैं—

प्रथम समुल्लास—ईश्वर-विषयक मन्तव्य
द्वितीय समुल्लास—अर्थाभास निदर्शन
तृतीय समुल्लास—मिथ्यार्थ समीक्षण
चतुर्थ समुल्लास—तर्क निरीक्षण
पंचम समुल्लास—पौराणिक मन्तव्य निरास
षष्ठ समुल्लास—स्वमन्तव्यप्रकाश

वस्तुतः आर्यमुनि का यह ग्रन्थ पौराणिक विद्वानों द्वारा ईश्वर-विषयक वैदिक मान्यताओं के खंडन में लिखे गये अनेक ग्रंथों के उत्तर रूप में लिखा गया था। इसका प्रथम भाग १९०२ ई० में तथा द्वितीय भाग १९०३ ई० में प्रकाशित हुआ था। रामलाल कपूर ट्रस्ट ने लगभग पौन शती पश्चात १९७६ ई० में आर्यमन्तव्यप्रकाश के प्रथम भाग को

पुनः प्रकाशित किया। द्वितीय भाग अनुपलब्ध होने के कारण पुनः प्रकाशित नहीं हो सका। सिद्धान्तों से परिचय कराने की दृष्टि से आर्य-तत्त्व-दर्पण (नथुनीप्रसाद शाह, दानापुर), आर्यसिद्धान्त मार्तण्ड (मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या), सुनीति संग्रह (जनकधारीलाल, दानापुर) आदि ग्रन्थ इसी श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं।

इसी प्रसंग में महात्मा नारायण स्वामी तथा स्वामी सर्वदानन्दरचित उन ग्रंथों का उल्लेख भी आवश्यक है जो उपर्युक्त संन्यासियों के स्फुट लेखों, प्रवचनों तथा कथाओं के संकलनरूप में प्रकाशित हुए हैं। नारायण स्वामी के लेखों के संग्रह अमृतवर्षा (भाग २) तथा नारायणोपदेश शीर्षकों से छपे जबकि स्वामी सर्वदानन्द के उपदेश आनन्दसंग्रह, कल्याण-मार्ग, आनन्द-उपदेशमाला, सर्वदानन्द-वचनामृत आदि शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकाशित हो चुके हैं। इन ग्रन्थों के पाठकों की संख्या पर्याप्त रही है क्योंकि सरल शैली में विषय-प्रतिपादन इन ग्रन्थों की विशेषता थी। स्वामी सर्वदानन्दलिखित सन्मार्ग-दर्शन किसी युग में अत्यन्त लोकप्रिय रहा था। यद्यपि यह आकार की दृष्टि से बड़ा ग्रन्थ था, तथापि इसके कई संस्करण छपे। पण्डित अमरसिंह आर्यपथिक ने आर्यसिद्धान्त-सागर में वैदिक मन्तव्यों की पुष्टि में सहस्रों शास्त्रीय प्रमाण एकत्रित किये हैं। खेद है कि इसका द्वितीय खण्ड प्रकाशित नहीं हो सका और प्रथम खण्ड की भी दूसरी आवृत्ति नहीं निकल सकी।

सैद्धान्तिक लेखों के संग्रह की दृष्टि से दयानन्द-जन्म-शताब्दी के अवसर पर विभिन्न लेखकों द्वारा लिखे गये लेखों के संकलनरूप में प्रकाशित 'वैदिक सिद्धान्त' का उल्लेख आवश्यक है। इसका सम्पादन महात्मा नारायण स्वामी ने किया था। १९-२१ अक्तूबर १९३३ ई० को दिल्ली में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से प्रथम आर्य-विद्वत्-सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें स्वलिखित उच्चकोटि के शोध-निबन्धों का वाचन विभिन्न विद्वानों से कराया गया और ये निबन्ध आर्य-सिद्धान्त-विमर्श शीर्षक से १९९० वि० में प्रकाशित किये गये। इस संग्रह में पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति का ऋषि दयानन्द की भाष्यशैली पर, पण्डित ब्रह्मानन्द आयुर्वेदशिरोमणि का लेख वेद और पश्चिमी विज्ञान शीर्षक, स्वामी वेदानन्द तीर्थ का वैदिक ऋषि-विषयक, पं० गोपालदत्त शास्त्री का वेद में इतिहास शीर्षक, पण्डित ईश्वरचन्द्र शास्त्री का जाति-विवेचना सम्बन्धी, तथा ब्रह्मचारी युधिष्ठिर का क्या वैदिक ऋषि मन्त्र-रचयिता थे? शीर्षक लेख संकलित हुए हैं। इनके अतिरिक्त पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के निरुक्त-विषयक दो लेख भी इस संग्रह में छपे थे। ये थे—वेद और निरुक्त तथा निरुक्तकार और वेद में इतिहास। खेद है कि आगे न तो इस प्रकार के विद्वत्-सम्मेलनों की परम्परा ही चल सकी और न इस कोटि के उच्च शोधात्मक निबन्ध ही लेखकों द्वारा लिखे गये।

वैदिक सिद्धान्तों का सामान्य जनता को ज्ञान कराने की दृष्टि से भी कुछ अच्छी पुस्तकें अवश्य लिखी गयीं। इनमें लाला रामप्रसाद बी० ए० लिखित वैदिक सिद्धान्त तथा पण्डित सिद्धगोपाल काव्यतीर्थकृत बहनों की बातें विशेषतया उल्लेख योग्य हैं। प्रथम पुस्तक में प्रश्नोत्तर-शैली को अपनाया गया है, जबकि दूसरी में संवाद-शैली का प्रयोग हुआ है। काव्यतीर्थ जी की इस पुस्तक की लोकप्रियता का अनुमान तो इसी बात से हो सकता है कि अनेक प्रकाशकों ने प्रकाशन-स्वत्वों के नियमों का उल्लंघन करके भी इसे कभी 'दो मित्रों की बातें' तो कभी 'दो बहिनों की बातें' नाम देकर प्रकाशित किया।

पण्डित रूपराम शर्मा ने तो इसका पद्यानुवाद भी कर दिया है। पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के लेखन की यह विशेषता थी कि वे दार्शनिक उलझनों को सुलझानेवाले गम्भीर ग्रन्थों का प्रणयन जिस प्रकार अनायास ही कर लेते थे, उसी प्रकार सरल शैली और सुबोध भाषा में धर्म के मूलभूत तत्त्वों की व्याख्या करने में भी उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती थी। उनका धर्म-सुधासार (१९५४ ई०) इसी कोटि का ग्रन्थ है। पं० मदनमोहन विद्यासागर लिखित आर्य-सिद्धान्त-दीप और आर्य-सिद्धान्त-मुक्तावली भी उल्लेखनीय हैं।

आर्यसिद्धान्तों के प्रति अनन्य निष्ठा रखनेवाले स्वर्गीय पण्डित राजेन्द्र ने 'भारतीय संस्कृति के तीन प्रतीक' ग्रन्थ ओम् आर्य, और नमस्ते की व्याख्या के रूप में लिखा है। इसी प्रसंग में पण्डित जगदीशचन्द्र विद्यार्थी के ग्रन्थ "वैदिक संस्कृति के दो महान् प्रतीक" का भी उल्लेख आवश्यक है। इसमें चोटी और जनेऊ (शिखा व सूत्र) की विवेचना की गई है। अनेक लेखकों के स्फुट निबन्धों के संग्रह भी छपे हैं जिनमें विभिन्न विषयों पर सैद्धान्तिक चर्चाएँ तथा अन्य फुटकर विषयों की विवेचना उपलब्ध होती है। यहाँ इनमें से कुछ के नामोल्लेख ही किये जा रहे हैं—पण्डित नरदेव शास्त्री का निबन्ध-संग्रह पत्र-पुष्प, पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय का निबन्ध-संकलन गंगाज्ञानधारा, पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पतिलिखित आर्यकुमार-निबन्धमाला आदि। आर्यसमाज पानीपत ने अपनी स्थापना-शताब्दी के अवसर पर धर्म और संस्कृति शीर्षक एक उत्तम निबन्ध-संग्रह प्रकाशित किया है।

इसी प्रसंग में कुछ ऐसे ग्रन्थों की भी चर्चा अपेक्षित है जो मूलतः लेखनी के माध्यम से सर्जित नहीं हुए, अपितु वक्ताओं द्वारा दिये गये प्रवचनों के संग्रह रूप में जिन्हें पुस्तक का आकार मिला है। आर्य-जगत् के सर्वाधिक लोकप्रिय महापुरुष महात्मा आनन्द स्वामी जी के प्रवचनों को सर्वाधिक ख्याति तथा प्रतिष्ठा मिली थी। उनके अनेक प्रवचन छपकर लाखों की संख्या में पाठकों तक पहुँचे हैं। पण्डित रामचंद्र देहलवी के अन्त्य-कालीन प्रवचनों को भी टेपरिकार्डर द्वारा सुरक्षित किया गया तथा उन्हें देहलवी प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किया गया—ईश्वर ने दुनिया क्यों बनाई ? पूजा क्या, क्यों, कैसे ? आदि प्रकाशित प्रवचन देहलवी जी के वक्तृत्व-कौशल को उजागर करने के साथ-साथ उनके अगाध पाण्डित्य के भी सूचक हैं। इधर स्वामी सत्यप्रकाश के अनेक प्रवचन हिन्दी तथा अंग्रेजी ग्रन्थों के रूप में संगृहीत किये जाकर प्रकाशित हुए हैं। उनका Vincit Veritas (सत्यमेव जयते) शीर्षक अंग्रेजी प्रवचनों का संग्रह प्रथम बार १९७१ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसमें 'विज्ञान और धर्म', 'आर्यसमाज तथा वैदिक धर्म' एवं 'गीता और उसका कर्म दर्शन' शीर्षक तीन खण्डों में २६ प्रवचन संकलित हैं। ये प्रवचन स्वामीजी ने १९६९ की अपनी दक्षिण अफ्रीका की यात्रा के समय दिये थे। उनके इसी कोटि के अन्य ग्रन्थ हैं—मनुष्य और मानव धर्म, प्रभु के मार्ग पर (बर्मा में प्रदत्त व्याख्यान), अध्यात्म और आस्तिकता (लातूर में दिये गये प्रवचन) तथा ईश्वर और ईश्वरीय ज्ञान (प्रयाग में प्रदत्त प्रवचन)।

इस प्रकरण में हमने आर्य सिद्धान्तों की विवेचना में लिखे गये कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का तिलतण्डुल न्याय से ही विचार किया है, अन्यथा यह साहित्य इतना विशाल है कि उसका समग्र विवेचन एक पृथक् ग्रन्थ में ही सम्भव है।

(११) विभिन्न लेखकों की ग्रन्थमालाएँ

प्राय: देखा जाता है कि प्रसिद्ध लेखकों की सभी कृतियाँ एक ही संग्रह में संगृहीत कर "ग्रन्थमाला" के रूप में प्रकाशित की जाती हैं। इससे पाठकों को उस ग्रन्थकार की समस्त रचनाओं को एक साथ प्राप्त कर पढ़ने की सुविधा रहती है। आर्यसमाज में एकाधिक लेखकों की रचनाएँ ग्रन्थमालाओं तथा ग्रन्थावलियों के रूप में प्रकाशित हुई हैं। हम यहाँ कतिपय लेखकों के इन्हीं ग्रन्थसंग्रहों का उल्लेख करेंगे।

आर्यसमाज के प्रारम्भिक युग में पण्डित लेखराम आर्यमुसाफिर का कृतित्व सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रहा। इनके समस्त ग्रन्थ उर्दू में लिखे गये थे। जिन लोगों ने आर्यमुसाफिर के ग्रन्थों का उर्दू से हिन्दी में अनुवाद किया है, उनकी धारणा है कि पण्डित लेखराम की उर्दू भाषा पर्याप्त क्लिष्ट तथा फारसी शब्दबहुला है। अत: उनके ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद करना बहुत सुगम नहीं है। पण्डित लेखराम के समस्त ग्रन्थों की संख्या ३३ है। इन्हें सर्वप्रथम "कुलियात-आर्यमुसाफिर" के शीर्षक से श्री मुन्शीराम जिज्ञासु ने सम्पादित किया और तीन खण्डों में यह ग्रन्थमाला आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब से १६०३-४ में प्रकाशित हुई। पण्डित लक्ष्मण आर्योपदेशक ने आर्यपथिक ग्रन्थावली शीर्षक से इसका एक अनूदित संस्करण प्रकाशित किया था। हिन्दी में पण्डित लेखराम के ग्रन्थों के अन्य अनूदित संग्रह भी प्रकाशित हुए हैं। श्री प्रेमशरण प्रणत ने एकाधिक खण्डों में आर्यपथिक ग्रन्थावली का अनुवाद कर प्रेम पुस्तकालय आगरा से प्रकाशित किया था। शान्तस्वामी अनुभवानन्द ने भी आर्यपथिक ग्रन्थावली का सम्पादन किया। इसके प्रथम खण्ड में अनुवादक ने ग्रन्थावली की भूमिका तथा आर्यपथिक का जीवन-चरित प्रस्तुत किया है। द्वितीय तथा तृतीय खण्डों में 'सृष्टि का इतिहास' (पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध)शीर्षक ग्रन्थ का समावेश किया गया था। इस ग्रंथावली का प्रकाशन स्टार प्रेस, प्रयाग ने १६७४ वि० में किया गा। लेखराम-ग्रन्थावली का एक अन्य हिन्दी संस्करण सुखदेव पुस्तकालय बनारस से १६७४ में श्री सुखदेवलाल अध्यापक द्वारा अनूदित होकर दो खंडों में छपा। निश्चय ही इसमें पं० लेखराम के सभी ग्रंथ समाविष्ट नहीं हो सके थे।

देश-विभाजन के पश्चात् जब उर्दू पढ़नेवालों और जाननेवालों की संख्या आर्यसमाज में कम हो गई तो यह अनुभव किया गया कि पण्डित लेखराम के ग्रन्थों का पुन: प्रामाणिक अनुवाद कराकर प्रकाशित किया जाय। अब इस कार्य का दायित्व आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब जालंधर ने लिया। अनुवाद का कार्य पण्डित जगत्कुमार शास्त्री तथा पण्डित शान्तिप्रकाश को सौंपा गया। फलत: आर्यपथिक-ग्रन्थमाला का प्रथम भाग १६६५ ई० में प्रकाशित हुआ। इस खण्ड में पण्डित लेखराम के निम्न ८ ग्रन्थ छपे—१. सृष्टि का इतिहास(दो भाग), २. श्रीकृष्ण का जीवनचरित, ३. स्त्री शिक्षा, ४. आर्य, हिन्दू और नमस्ते की खोज, ५. मुर्दा अवश्य जलाना चाहिए, ६. पतितोद्धार, ७. धर्मप्रचार, ८. पुनर्जन्मप्रमाण(प्रथम भाग)। इनमें से संख्या १ तथा ८ का अनुवाद पण्डित जगत्कुमार शास्त्री ने और अवशिष्ट ग्रन्थों(संख्या २ से ७)का अनुवाद पण्डित शान्तिप्रकाश ने किया था। आर्यपथिक-ग्रंथमाला द्वितीय भाग का अनुवादकार्य पूर्णत: पण्डित शान्तिप्रकाश ने ही किया। इसमें आर्यपथिक के निम्न ग्रन्थ अनूदित होकर संकलित किये गये हैं—पुनर्जन्म-विस्तृत खोज(द्वितीय भाग), पुराण किसने बनाए ?, साँच को आँच नहीं, आर्यसमाज में

शान्ति का सत्योपाय और रामचन्द्र जी का सच्चा दर्शन, मांस खाना पाप है, कृश्चियन मत दर्पण, सदाकते इल्हाम, सत्यधर्म का संदेश, निजात की असली तारीफ (मोक्ष का वास्तविक लक्षण), सदाकते ऋग्वेद, नियोग का मन्तव्य, सत्य सिद्धान्त और आर्यसमाज की शिक्षा अर्थात् पक्षपाती पादरियों की नासमझी का यथार्थ निदान।

इस प्रकार आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा दो भागों में प्रकाशित इस ग्रन्थ-माला में आर्यपथिक के द्वारा अहमदिया सम्प्रदाय की आलोचना में लिखित ग्रन्थों को छोड़कर प्राय: अन्य सभी ग्रन्थों का समावेश किया गया है। स्वामी ओमानन्द सरस्वती ने इस ग्रन्थमाला को हरियाणा साहित्य संस्थान से पुन: प्रकाशित किया है।

पण्डित गुरुदत्त ग्रन्थमाला—आयु में पण्डित गुरुदत्त पण्डित लेखराम से सात वर्ष छोटे थे, किन्तु उनकी मानसिक एवं बौद्धिक क्षमताएँ अद्वितीय थीं। पण्डित गुरुदत्त का समस्त लेखन मूलत: अंग्रेजी में हुआ है। यह खेद की बात है कि बहुत कम आयु में ही निधन हो जाने के कारण पण्डित गुरुदत्त आर्यसमाज के साहित्य की बहुत अधिक सेवा नहीं कर सके, तथापि उन्होंने जो कुछ लिखा, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, विचारोत्तेजक तथा प्रभविष्णु है। पण्डित गुरुदत्त के ही एक वरिष्ठ सहयोगी तथा साथी लाला जीवन-दास ने उनके समस्त ग्रन्थों का संकलन कर The Works of Late Pt. Gurudatta Vidyarthi शीर्षक से १८९७ ई० में प्रकाशित किया था। इसका द्वितीय संस्करण आर्यन प्रिंटिंग पब्लिशिंग एण्ड जनरल कम्पनी लाहौर ने १९०२ ई० में प्रकाशित किया। ग्रन्थ के आरम्भ में लाला जीवनदास ने पण्डित गुरुदत्त का एक संक्षिप्त जीवनचरित भी दिया है। इस संग्रह में पण्डित गुरुदत्तकृत उपनिषदों की व्याख्या(ईश तथा माण्डूक्य की विस्तृत व्याख्या करने)के अतिरिक्त पण्डित गुरुदत्त ने पण्डित दुर्गाप्रसादकृत माण्डूक्योपनिषद् के अंग्रेजी अनुवाद का संशोधन भी किया था। उस समय वे अपनी अन्तिम रोगशय्या पर ही थे। The Terminology of the Vedas, Evidences of the Human Spirit, The Realities of Inner Life, Pecuniomania आदि लघु ग्रन्थ, Vedic Texts शीर्षक तीन लघु निबंध, प्रोफेसर मोनियर विलियम्सकृत 'इण्डियन विज़डम' की आलोचना, टी० विलियम्सकृत नियोग की आलोचना का उत्तर तथा श्री हेनरी पिंकाट के वेदविषयक विचारों की समीक्षा को संगृहीत किया गया है। इस ग्रन्थ का एक अन्य संस्करण १९१२ ई० में भी प्रकाशित हुआ था।

राजपाल एण्ड सन्स लाहौर ने पण्डित गुरुदत्त के ग्रन्थों का एक अन्य संकलन Wisdom of the Rishis शीर्षक से प्रकाशित किया। इसका सम्पादन स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने किया था। इसमें पण्डित गुरुदत्त के उपरिवर्णित ग्रन्थों के अतिरिक्त The Nature of the Conscience and the Brahmo Samaj, Conscience and the Vedas, Religious Sermons, A Reply to some criticism of Swamiji's Veda Bhashya, Origion of Thought and Language, Man' s Progress downwards तथा Righteousness or Unrighteousness of Flesh eating शीर्षक निबन्ध भी संगृहीत किये गये थे। Wisdom of the Rishis का एक संस्करण सार्वदेशिक पुस्तकालय दिल्ली ने प्रकाशित किया था। गुरुदत्त-ग्रन्थावली का हिन्दी-अनुवाद पण्डित भगवद्दत्त तथा पण्डित सन्तराम ने मिलकर किया था। गुरुदत्त-लेखावली शीर्षक यह ग्रन्थ राजपाल एण्ड सन्स द्वारा १९७५ वि० में प्रकाशित किया गया। कई

वर्ष पश्चात् इसे गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली ने १९६० ई० में पुनः प्रकाशित किया। आज पण्डित गुरुदत्त की ग्रन्थावली का कोई भी संस्करण उपलब्ध नहीं है।

स्वामी दर्शनानन्द ग्रन्थमाला—आर्यसमाज के उर्दू साहित्य में स्वामी दर्शनानन्द का योगदान चिरस्मरणीय है। स्वामीजी ने सैकड़ों की संख्या में ट्रैक्ट लिखे जो अपने युग में लाखों की संख्या में पढ़े गये और प्रचारित किये गये। हिन्दी पाठकों के लिए इन ट्रैक्टों का अनुवाद भी अविलम्ब उपलब्ध कराया जाता था तथा दर्शनानन्द-ग्रन्थमाला अथवा दर्शनानन्द-ग्रन्थसंग्रह के रूप में उन्हें अनेक खण्डों में प्रकाशित भी किया जाता रहा। उनका उर्दू ग्रन्थसंग्रह "कुलियात स्वामी दर्शनानन्द" भी प्रकाशित हुआ है। दर्शनानन्दग्रन्थसंग्रह (पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध)का प्रथम प्रकाशन गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर ने १९७१ वि० तथा १९७३ वि० में किया। इनके ट्रैक्टों का अनुवाद पण्डित गोकुलचन्द्र दीक्षित ने किया था। वैदिक पुस्तकालय कलकत्ता (गोविन्दराम हासानन्द) ने आर्य सिद्धान्त मुक्तावली शीर्षक स्वामी दर्शनानन्द के ग्रन्थों का एक संग्रह १९८४ वि० में प्रकाशित किया। श्यामलाल सत्यदेव बरेली, वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद, वैदिक पुस्तकालय लाहौर, गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली, राजपाल एण्ड सन्स दिल्ली तथा आर्य प्रकाश पुस्तकालय आगरा आदि प्रकाशकों ने भी दर्शनानन्द-ग्रन्थसंग्रह के विभिन्न संस्करण समय-समय पर प्रकाशित किये हैं। इधर कुछ वर्ष पूर्व दर्शनानन्द ग्रन्थागार मथुरा ने दो खण्डों में स्वामी दर्शनानन्द के लगभग सभी उपलब्ध ट्रैक्टों को प्रकाशित करने का साहसपूर्ण प्रयत्न किया। मधुर प्रकाशन, दिल्ली ने ५ प्रसूनों में स्वामीजी के ६२ ट्रैक्टों को प्रकाशित किया है। प्रथम प्रसून में इन पंक्तियों के लेखक द्वारा लिखित स्वामीजी की जीवनी भी दी गई है। आज का आर्यसमाजी पाठक भी स्वामी दर्शनानन्द की कृतियों में उतनी ही रुचि लेता है, जितना आधी सदी पूर्व का पाठक लेता था। यही इस लेखक की लोकप्रियता का प्रमाण है।

कुछ अन्य ग्रन्थमालाएँ—स्वामी श्रद्धानन्द आर्यसमाज के मूर्धन्य संन्यासी एवं नेता ही नहीं, एक कुशल लेखक भी थे। उनकी उर्दू रचनाओं का संग्रह 'कुलियाते संन्यासी' (भाग १) अथवा 'स्वामी श्रद्धानन्द की तसानीफ' शीर्षक से शान्तस्वामी अनुभवानन्द द्वारा सम्पादित किया जाकर १९२७ ई० में दिल्ली से प्रकाशित हुआ था। १९७६ ई० में स्वामीजी के ५०वें बलिदान के अवसर पर सत्य प्रकाशन मथुरा ने श्रद्धानन्द ग्रन्थसंग्रह (प्रथम भाग) का प्रकाशन किया। इसमें स्वामीजी के मुक्तिसोपान (तीन भाग), धर्मोपदेश (दो भाग) तथा कल्याणमार्ग का पथिक (संक्षिप्त) शीर्षक ग्रन्थों का संग्रह किया गया है।

स्वामी स्वतन्त्रानन्द तथा स्वामी आत्मानन्द के स्फुट लेखों के संग्रह श्री रामचन्द्र जावेद द्वारा सम्पादित होकर स्वामी स्वतन्त्रानन्द लेखमाला तथा स्वामी आत्मानन्द लेखमाला शीर्षक से आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने क्रमशः १९६३ तथा १९६४ ई० में प्रकाशित किये। पण्डित रामचन्द्र देहलवी ग्रन्थावली का सम्पादन श्री जगदीशचन्द्र विद्यार्थी ने किया है। इसे गोविन्दराम हासानन्द ने १९६८ ई० में प्रकाशित किया। स्वामी वेदानन्द, स्वामी ओमानन्द तथा हरियाणा के विख्यात गायक-प्रचारक पण्डित बस्तीराम की ग्रन्थमालाएँ अनेक खण्डों में हरियाणा साहित्य संस्थान ने प्रकाशित की हैं। आर्यसमाज के तेजस्वी नेता तथा ओजस्वी वक्ता पण्डित प्रकाशवीर शास्त्री के लेखों,

पत्रों तथा भाषणों का एक संग्रह उनकी प्रथम पुण्य तिथि पर १९७८ ई० में अभिनव प्रकाशन देहरादून ने प्रकाशित किया। इसका सम्पादन श्री विश्वेश्वरकुमार तथा श्री ज्ञानेन्द्रकुमार ने सम्मिलित रूप से किया था।

(१२) आर्यसमाज का फुटकर साहित्य

दृष्टान्त साहित्य—आर्यसमाज के उपदेशकों ने कथा-साहित्य के अन्तर्गत एक नवीन विधा—दृष्टान्त-साहित्य का प्रवर्त्तन किया है। पुरातन संस्कृत साहित्य में ऐसी कथा-कहानियाँ प्रचलित रही हैं जो किसी कल्पित कथा के व्याज से मानव के लिए किसी उपदेश अथवा नीति का विधान करती थीं। पंचतन्त्र तथा हितोपदेश आदि ग्रन्थों में संगृहीत पशु-पक्षियों तथा मानव-जीवन से सम्बद्ध अनेक रोचक कथायें नीति-उपदेश के लिए ही लिखी गई थीं। यह भिन्न बात है कि उनसे पाठकों का पर्याप्त मनोरंजन भी होता था। आर्यसमाज के उपदेश-लेखकों ने संस्कृत के ऐसे ही ग्रन्थों से प्रेरणा लेकर हिन्दी में दृष्टान्त-कथाओं का प्रणयन किया। उन्हें इस प्रकार के दृष्टान्तों को लिखने में स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों से भी प्रेरणा मिली थी। हम देखते हैं कि सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में ही स्वामी दयानन्द ने जाट-पोप सम्वाद, खाखी-पण्डित सम्वाद, नारायणदर्शी (नकटा) सम्प्रदाय की कथा जैसे लोकरुचिवाले दृष्टान्त लिखकर धर्म के नाम पर प्रवर्तित अनेक पाखण्डों का खण्डन किया है। इसी प्रकार उन्होंने व्यवहारभानु में भी शेखचिल्ली की कथा, जड़-बुद्धि और तीव्र-बुद्धि सम्वाद, प्रियदास के चेले भगवानदास का संस्कृत अध्ययन, लालबुझक्कड़ उपाख्यान, बजाज-ग्राहक-प्रसंग, मूर्ख ब्राह्मण और राजा का दानाध्यक्ष, अन्धेर नगरी की कथा, आदि रोचक दृष्टान्तों के द्वारा बालकों को नीति, धर्म तथा लोकव्यवहार का ज्ञान कराया है।

आर्यसमाज के जिन विद्वान् उपदेशकों ने कथा-कहानी और दृष्टान्तों को धर्मोपदेश के माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया उनमें स्वामी दर्शनानन्द का नाम सर्वप्रथम आता है। उन्होंने उर्दू में कथापच्चीसी लिखी जिसका हिन्दी अनुवाद मदनमोहन शुक्ल 'मदनेश' ने किया था। पच्चीस दृष्टान्तों का यह संग्रह १९२५ ई० में श्यामलाल सत्यदेव बरेली द्वारा प्रकाशित हुआ था। दृष्टान्त-साहित्य के लेखकों में निम्न नाम गणनीय हैं—पण्डित हनुमानप्रसाद शर्मा—ये उत्तरप्रदेश के प्रसिद्ध उपदेशक थे। इन्होंने दृष्टान्त-रत्नाकर शीर्षक ग्रन्थ की रचना की है। सम्भल (जिला मुरादाबाद) निवासी पण्डित शिव शर्मा ने दृष्टान्तसमुच्चय लिखा जो १९१५ ई० में छपा। पण्डित बिहारीलाल शास्त्री तथा पण्डित रामजी शर्मा मधुबनी लिखित दृष्टान्तसागर भी अनेक संस्करण देख चुके हैं। पण्डित जगत्कुमार शास्त्री ने दृष्टान्तमञ्जरी की रचना की है जो विश्वम्भर वैदिक पुस्तकालय से प्रकाशित हुई। पण्डित कालीचरण शर्मा ने हास्यरस के कुछ रोचक चुटकुलों का संग्रह हास्यरत्नमाला शीर्षक से किया है।

किसी युग में दृष्टान्तों के रूप में लिखी गई इन कथाओं को सामान्य जनता बड़ी रुचि के साथ पढ़ती थी।

व्याख्यान-संग्रह—महापुरुषों की वक्तृताओं के संग्रहों का प्रकाशन उन लोगों के लिए लाभदायक सिद्ध होता है जो प्रत्यक्षतया इन व्याख्यानों को सुनने का अवसर प्राप्त नहीं कर पाते। दयानन्द साहित्य की विवेचना के प्रसंग में हम पूना-प्रवचनों की विस्तार-

पूर्वक चर्चा कर चुके हैं। अब तो स्वामी दयानन्द के बम्बई में दिये गये प्रवचनों का सार भी प्रकाशित हो चुका है। स्वामी दयानन्द के परवर्ती आर्य विद्वानों के भी अनेक व्याख्यान प्रकाश में आये और पाठक-समुदाय उनमें व्यक्त विचारों से लाभान्वित हुआ। यहाँ हम कुछ महत्त्वपूर्ण प्रकाशित व्याख्यानों का उल्लेख कर रहे हैं।

स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा का 'पुनर्जन्म तथा मुक्ति' विषयक व्याख्यान प्रकाशित हुआ था। प्रसिद्ध शास्त्रार्थी तथा विद्वान् पण्डित रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य का 'धर्म-विषयक व्याख्यान' आर्यावर्त कार्यालय, कलकत्ता ने प्रकाशित किया। पण्डित शिवचरणलाल के देशोन्नति-विषयक व्याख्यान के आर्यावर्त प्रेस दानापुर से १८९५ ई० में प्रकाशित होने की सूचना मिलती है। नीमच-निवासी प्रसिद्ध आर्य लेखक सेठ मांगीलाल गुप्त 'कविकिंकर' का वीरता-विषयक व्याख्यान १९५१ वि० में प्रकाशित हुआ था। सैद्धान्तिक विषयों पर दिये गये पण्डित तुलसीराम स्वामी के व्याख्यान भी छपे। स्वामी दर्शनानन्द के व्याख्यानों को 'व्याख्यान मुक्तावली' शीर्षक से दयानन्द वेद प्रचारक मिशन, लाहौर ने छापा। स्वामी नित्यानन्द ब्रह्मचारी की वैदिक सिद्धान्त व्याख्यानमाला प्रथम वार गोविन्दराम हासानन्द कलकत्ता द्वारा १९९० वि० में प्रकाशित की गई। पंजाब के एक पुराने आर्य उपदेशक पण्डित पूर्णानन्द के ब्रह्मविचार व्याख्यान के छपने का भी पता चलता है। उत्तरप्रदेश के विद्वान् उपदेशक पण्डित मुसद्दीराम शर्मा के व्याख्यान-पंचक (वैदिक धर्म निरूपण, यथार्थ शान्ति निरूपण, यथार्थ सुखाप्ति निरूपण, ब्रह्माप्ति निरूपण तथा संध्योपासन मीमांसा) में पाँच व्याख्यान संगृहीत किये गये थे। पण्डित चमूपति द्वारा आर्यसमाज वच्छोवाली लाहौर के वार्षिकोत्सव के अवसर पर दिया गया 'नीहारिकावाद और उपनिषद्' शीर्षक व्याख्यान आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा प्रकाशित किया गया। काशी के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित विद्यानन्द मन्तकी के व्याख्यानों का संग्रह 'व्याख्यान-मुक्तावली' शीर्षक से १९६९ ई० में प्रकाशित हुआ।

आर्यसमाज के सम्मेलनों, समारोहों तथा विशिष्ट अवसरों पर दिये गये आर्यसमाज के नेताओं के व्याख्यानों के संग्रह भी छपे हैं। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने दयानन्द-जन्म-शताब्दी मथुरा के अवसर पर दिये गये आर्य नेताओं के व्याख्यान तथा विभिन्न आर्यमहासम्मेलनों के अध्यक्षपदों से दिये गये भाषणों के संग्रह प्रकाशित किये। आर्यसमाज के प्रत्येक समारोह में वेदसम्मेलन का आयोजन अवश्य किया जाता है। वेदसम्मेलनों के अध्यक्षीय भाषण विद्वत्तापूर्ण, ज्ञानवर्धक तथा सैद्धान्तिक होते हैं। दयानन्द-दीक्षा-शताब्दी के अवसर पर आयोजित वेदसम्मेलन की अध्यक्षता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्रो० डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने की थी। उनका यह भाषण वेदार्थ-विषयक अनेक समस्याओं का समाधानकारक था। अन्य वेदसम्मेलनों के अध्यक्षपदों से दिये गये पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति तथा डॉ० सत्यप्रकाश के प्रकाशित भाषण भी वेद-विषयक गम्भीर विवेचना प्रस्तुत करते हैं। दयानन्द-दीक्षा-शताब्दी मथुरा के अवसर पर सम्मानित पण्डित गंगाप्रसाद जज का भाषण आत्म-कथात्मक है, जिसमें उन्होंने स्वजीवनवृत्त को रोचक शैली में प्रस्तुत किया था। बिहार राज्य द्वादश आर्य महासम्मेलन के अवसर पर आयोजित कवि सम्मेलन की अध्यक्षता प्रख्यात हिन्दी कवि तथा लेखक श्री क्षेमचन्द्र सुमन ने की थी। इस अवसर पर उन्होंने जो विद्वत्तापूर्ण तथा अनुसंधानयुक्त भाषण दिया उसमें आर्यसमाज की हिन्दी सेवा का

विस्तृत विवरण तथ्यात्मक शैली में प्रस्तुत किया गया था। लेखक ने इस लम्बे भाषण को अपनी दिल्ली से पटना तक की यात्रा में लिखकर तैयार कर लिया था।

उर्दू में आर्यसमाज अमृतसर के सभासद बाबू मैयासिंह का 'लेक्चर' छपा। महात्मा मुन्शीराम मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल काँगड़ी के 'सात लेक्चरों का मजमूआ' (संग्रह) ठाकुरदास भण्डारी गुरुकुल काँगड़ी द्वारा १९६० वि० में प्रकाशित हुआ। गुजराती में स्वामी नित्यानन्द ब्रह्मचारी के दो व्याख्यान-संग्रह छपे थे—'नित्यानन्द जी ना व्याख्यानों' माणेकलाल अ० दवे द्वारा सम्पादित होकर १८९४ ई० में छपे। उनके 'चार भाषणों' को आर्योत्कर्ष मण्डल, अहमदाबाद ने १९५३ वि० में प्रकाशित किया। दयानन्द-जन्म-शताब्दी के अवसर पर आयोजित विद्वत्परिषद् के सभापति-पद से बम्बई के पण्डित बालकृष्ण शर्मा ने जो भाषण दिया था वह संस्कृत में था। यह 'श्रीमद्दयानन्द शतसंवत्सरीय जन्म-महोत्सवान्तर्गतविद्वत्परिषत्सभापतेः श्री बालकृष्ण शास्त्रिणो भाषणम्' शीर्षक से छपा था।

धर्मशिक्षा-विषयक साहित्य—आर्यसमाज के विद्यालयों में धर्मशिक्षा का विषय अनिवार्य रूप से पाठ्यक्रम में सम्मिलित रहता है। यह एक प्रसिद्ध बात है कि डी.ए.वी. कॉलेज, लाहौर में धर्मशिक्षा का अध्यापन स्वयं महात्मा हंसराज करते थे। छात्रों को वैदिक धर्म के मौलिक सिद्धान्तों, आर्यसमाज की विचारधारा तथा स्वामी दयानन्द के जीवन एवं कृतित्व से परिचित कराने की दृष्टि से धर्मशिक्षा-विषयक अनेक ग्रन्थों की रचना समय-समय पर हुई। प्रथम श्रेणी से लेकर विद्यालयों की उच्चतम श्रेणी तक का धर्मशिक्षा का पाठ्यक्रम निर्धारित करने के अनन्तर उसी क्रम से धर्मशिक्षा की पाठमालाएँ लिखी जाती हैं। स्वामी प्रकाशानन्दरचित शिशुवर्णबोध इस विषय की बहुत पुराने पुस्तक है जिसमें वर्णमाला के ज्ञान के साथ-साथ धर्म-सम्बन्धी कुछ प्रारम्भिक बातें अंकित हैं। यह जोधपुर से प्रकाशित हुई थी।

आर्यसमाज के उच्चकोटि के अनेक लेखकों ने धर्मशिक्षा-विषयक ग्रन्थ लिखे हैं। अजमेर के श्री मथुराप्रसाद माहेश्वरी ने जो 'धर्मशिक्षा' पुस्तक लिखी उसे मथुराप्रसाद गुलाबदेवी आर्य कन्यापाठशाला अजमेर के पाठ्यक्रम में रखा गया था। इसका प्रकाशन १९८७ वि० में हुआ। कुछ अन्य प्रसिद्ध धर्मशिक्षा-लेखकों के नाम हैं—पं० वंशीधर पाठक, (धर्मशिक्षा), पण्डित राजाराम (धर्मशिक्षा), स्वामी दर्शनानन्द (बालशिक्षा), पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय (धर्मशिक्षापद्धति—१६ भाग), पण्डित शिव शर्मा (धर्मशिक्षा—४ भाग)। अजमेर के डॉक्टर सूर्यदेव शर्मा लिखित १० भागात्मक धर्मशिक्षा को अनेक डी० ए० वी० स्कूलों में पाठ्य ग्रन्थ के रूप में रक्खा गया। आर्यसमाज के जिन पुराने लेखकों ने धर्मशिक्षा पर अपने ग्रन्थ लिखे हैं उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण नाम हैं—वजीरचन्द विद्यार्थी (धर्मशिक्षा), स्वामी अनुभवानन्द 'शान्त' (बाल शिक्षा), डा० केशवदेव शास्त्री (धर्मशिक्षाप्रवेशिका) और पण्डित जे० पी० चौधरी (वैदिक धर्मशिक्षा)। पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने बालोपयोगी वैदिक धर्म तथा पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने 'बालकों की धर्मशिक्षा' लिखी। इसका एक सम्पादित संस्करण इन पंक्तियों के लेखक ने जोधपुर से प्रकाशित किया। पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति की वैदिक धर्म प्रश्नोत्तरी प्रश्नोत्तर-शैली में लिखी गई है। इन्होंने डी० ए० वी० कालेज कमेटी दिल्ली के अनुरोध पर हाईस्कूलों की ९वीं व १०वीं श्रेणी के लिए धर्मशिक्षा के दो भाग भी लिखे थे।

डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर से तो धर्मशिक्षक ११ भाग १९०६ ई० में ही छप चुके थे।

कुछ अन्य लेखक, जिन्होंने इस विषय पर अपनी लेखनी चलाई, स्वातन्त्र्योत्तर युग के हैं। इनमें से कुछ नाम उल्लेखनीय हैं—पण्डित वीरेन्द्र शास्त्री (धर्मशिक्षा), पण्डित चन्द्रभानु सिद्धान्तभूषण (धर्मशिक्षा), पण्डित सत्यभूषण वेदालंकार (वैदिक धर्मशिक्षा ८ भाग), स्वामी विद्यानन्द विदेह (वैदिकबालशिक्षा ४ भाग) तथा विश्वनाथ आर्योपदेशक (धर्मशिक्षा ६ भाग)। आर्यसमाज शिक्षा सभा अजमेर ने प्रथम से लेकर ११वीं श्रेणी तक के विद्यार्थियों के लिए धर्मशिक्षा के ११ भाग अजमेर के विभिन्न आर्य शिक्षकों से लिखवाये। सभी कक्षाओं के पाठ्यक्रम का क्रमिक निर्धारण करने के पश्चात् योजनाबद्ध शैली में लिखी गई ये पुस्तकें धर्मशिक्षा की आदर्श ग्रन्थमाला कही जा सकती हैं। गुजराती में पण्डित ज्ञानेन्द्र सिद्धान्तभूषण लिखित बालोपयोगी धर्मशिक्षा महागुजरात प्रकाशन मण्डल मरोली से प्रकाशित हुई थी। आर्यसमाज हिम्मतनगर तथा द० ए० वी० स्कूल भावनगर ने गुजराती में धर्मशिक्षा की पुस्तकें प्रकाशित की हैं।

आर्य विद्वानों के पारस्परिक सैद्धान्तिक मतभेद-विषयक साहित्य—एक ही विचारधारा के अनुयायी विद्वानों में भी यदा-कदा सिद्धान्त-विषयक बातों में मतभेद उत्पन्न हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। स्वामी दयानन्द ने धर्मजिज्ञासा में वेदों को परम प्रमाण माना था, किन्तु आर्यसमाज में स्वयं स्वामीजी के वचनों की प्रामाणिकता को लेकर कभी-कभी मतभेद की स्थिति उत्पन्न होती रही है। हम पहले लिख चुके हैं कि परोपकारिणी सभा के प्रथम उपप्रधान राय मूलराज ने आर्यसमाज की सदस्यता के लिए केवल दस नियमों को स्वीकार करना ही पर्याप्त माना था, किन्तु कालान्तर में आर्यसमाज के विद्वानों ने पर्याप्त विचारविमर्श के पश्चात् यह आवश्यक समझा कि आर्यसमाज के सभासद के लिए वेदादि शास्त्रों के उन सभी मन्तव्यों को सत्य स्वीकार करने की बाध्यता रक्खी जाय जिन्हें स्वामी दयानन्द ने स्व-ग्रन्थों में प्रतिपादित किया है। इसी आशय का एक वाक्य आर्यसमाज की सदस्यता के लिए दिये जानेवाले प्रार्थना-पत्र में अंकित रहता है और उसपर सदस्यता के प्रार्थी को हस्ताक्षर करने पड़ते हैं।

स्वामी दयानन्द के वेद-विषयक मन्तव्यों से सर्वप्रथम असहमति व्यक्त करने का साहस दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, लाहौर के आचार्य पण्डित विश्वबन्धु ने किया। वे डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर के शोधविभाग के अध्यक्ष रहे थे और उन्होंने अनेक महत्त्वपूर्ण शास्त्र-ग्रन्थों का सम्पादन भी किया था। कालान्तर में जब उनके वेद-विषयक विचारों में परिवर्तन आया तो वे वेद को पौरुषेय ज्ञान मानने लगे तथा वेदमन्त्रों की रचना के लिए उन्होंने विश्वामित्र, कण्व, मेधातिथि आदि ऋषियों को श्रेय देना चाहा। पश्चिमी वेदज्ञों की ही भाँति अब उनकी यह भी धारणा बन गई कि वेदों में अनित्य इतिहास का वर्णन है तथा विभिन्न राजाओं, ऋषियों आदि के कथानक इन मन्त्रों में वर्णित हुए हैं। दयानन्द की वेद-विषयक धारणाओं को स्पष्ट चुनौती देनेवाले पण्डित विश्वबन्धु का आर्यसमाज में विरोध होना स्वाभाविक ही था। अनेक आर्य विद्वानों ने उनके उपर्युक्त विचारों की आलोचना करते हुए कुछ ग्रन्थ लिखे। पण्डित अमरसिंह आर्यपथिक ने 'पण्डित विश्वबन्धु के आर्यसिद्धान्त-विरुद्ध विचारों का सार' शीर्षक ग्रन्थ लिखा। पण्डित वाचस्पति (सत्यार्थप्रकाश के प्रथम दो समुल्लासों के भाष्यकार) ने 'आर्यसमाज से स्वामी दयानन्द को बाहर निकालने का प्रयत्न' शीर्षक पुस्तक लिखी

जिसमें पण्डित विश्वबन्धु और आर्यसमाज के सिद्धान्तों के मौलिक अन्तर को स्पष्ट किया गया था। पण्डित भगवद्दत्तलिखित 'सिद्धान्त-विरोधियों के सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द की व्यवस्था' भी इसी विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ था। पण्डित विश्वबन्धु ने अपनी सफाई में उर्दू में एक पुस्तक 'अर्जेहाल' लिखा, जिसमें उन्होंने यह बताने का प्रयास किया था कि उनके वेद-विषयक विचार स्वामी दयानन्द के विचारों के प्रतिकूल नहीं हैं। वस्तुतः उनका यह वक्तव्य वास्तविकता पर आधारित नहीं था। इसके उत्तर में पण्डित अमरसिंह आर्य-पथिक ने 'पण्डित विश्वबन्धु का चालीसा' उर्दू में लिखा।

आर्यसमाज में सैद्धान्तिक विप्लव की एक घटना उस समय घटी जब दयानन्द-प्रकाश जैसी ऋषि दयानन्द की उत्कृष्ट साहित्यिक जीवनी के लेखक तथा अपने प्रवचनों के द्वारा पीयूषवर्षण करनेवाले स्वामी सत्यानन्द को यकायक यह इल्हाम हुआ कि राम नाम का जप करने से मनुष्य की मुक्ति हो सकती है और रामनाम का माहात्म्य प्रणव-माहात्म्य से कथमपि कम नहीं है। अब वे अपने भक्तों को 'राम' नाम की दीक्षा देने लगे और उन्होंने राम-भक्तिप्रतिपादक ग्रन्थों की रचना भी कर डाली। आर्यसमाज द्वारा स्वामी सत्यानन्द का यह सिद्धान्तविरुद्ध प्रचार देखा नहीं गया। मर्यादापुरुषोत्तम राम के प्रति समुचित सम्मान प्रकट करते हुए भी आर्यसमाज ने उन्हें कभी ईश्वर नहीं माना और न रामनाम के जप को ही मुक्ति का साधन स्वीकार किया था। ऐसी स्थिति में स्वामी सत्यानन्द के इन अवैदिक विचारों का विरोध होना स्वाभाविक ही था। सार्व-देशिक सभा ने भी स्वामी सत्यानन्द से एतद्विषयक स्पष्टीकरण माँगा, किन्तु उनके उत्तर को समाधानकारक नहीं समझा गया। तथापि स्वामी सत्यानन्द ने रामनाम की दीक्षा देने से अपने को विरत नहीं किया, फलतः आर्यसमाज में उक्त स्वामीजी की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचा। अब तो स्वामी सत्यानन्द ने राम-भक्ति का एक पृथक् सम्प्रदाय ही चला दिया और खुले आम राम-कथाओं के द्वारा अपनी साम्प्रदायिक धारणाओं का प्रचार करने लगे। उन्होंने अपनी मान्यताओं को भक्तिप्रकाश नामक ग्रन्थ में निबद्ध किया। आर्यसमाज के तेजस्वी विद्वान् पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार ने सत्यानन्दी सम्प्रदाय की पाखण्डपूर्ण मान्यताओं का सर्वप्रथम खण्डन किया और 'सत्यानन्दी पाखण्ड खण्डन' तथा 'भक्तिप्रकाश-दर्पण' शीर्षक दो ग्रन्थ लिखकर आर्यसमाज में प्रच्छन्न रूप में पनपाये जानेवाले अवतारवाद के विषाक्त कीटाणुओं को नष्ट करने का उद्योग किया।

मेरठ जिले के एक ग्राम-निवासी ब्रह्मचारी कृष्णदत्त के द्वारा, सर्वथा अपठित होने पर भी, सुषुप्तावस्था में वैदिक प्रवचन करने को आर्यसमाज के कुछ क्षेत्रों में अनावश्यक रूप से प्रचारित किया गया। जब आर्यसमाज के सिद्धान्तनिष्ठ क्षेत्रों से इसका विरोध किया गया तो उक्त ब्रह्मचारी के समर्थकों ने एक स्वतन्त्र 'वैदिक अनुसंधान समिति' की स्थापना की और उसी के माध्यम से कृष्णदत्त के ऐसे कार्यक्रम कराने लगे। आर्यसमाज में बढ़नेवाली इस अन्धविश्वासपूर्ण कार्यवाही का भी विरोध हुआ। स्वामी ब्रह्ममुनि ने 'भ्रमनिवारण' और स्वामी पूर्णानन्द ने 'ब्र० कृष्णदत्त बनाम शृंगी-ऋषि पोलप्रकाश' शीर्षक पुस्तकें लिखकर इस पाखण्ड का जबरदस्त खण्डन किया।

आठवाँ अध्याय

कर्मकाण्ड-विषयक साहित्य

(१) आर्यसमाज का कर्मकाण्डीय साहित्य

संसार में विद्यमान समस्त धर्मसंस्थाओं में कर्मकाण्ड का विधान स्वतन्त्र रूप से पाया जाता है। प्रत्येक धर्म अथवा मत में उसके दार्शनिक पहलू के साथ-साथ कर्मकाण्डीय पक्ष को भी महत्ता प्राप्त रहती है। मनुष्य के विचार जहाँ उसके मन तथा मस्तिष्क में ही रहते हैं, उसका कर्मकाण्डपरक आचरण बाह्य रूप से भी दिखाई पड़ता है। यह तो सत्य है कि केवल कर्मकाण्डीय आचरण करनेवाला व्यक्ति ही अपने-आपको परम धार्मिक, सत्यनिष्ठ अथवा ईश्वर-विश्वासी होने का दावा नहीं कर सकता, तथापि यह भी सत्य है कि कर्मकाण्डों के पालन तथा तदनुकूल आचरण से मानवी व्यक्तित्व के विकास में सहायता ही मिलती है।

वैदिक कर्मकाण्ड के आदिस्रोत चतुर्वेद-संहिताएँ ही हैं। प्रत्येक वैदिक कर्म में इन्हीं का आधार लिया जाता है। "ऋग्वेदेन होता करोति" आदि सूत्रों के द्वारा यज्ञकर्म में चारों वेदों के जानकार ऋत्विकों के पृथक्-पृथक् कर्त्तव्यों का विधान किया गया है। कर्मकाण्डपरक भाष्य करनेवाले आचार्यों ने यजुर्वेद की व्याख्या ही याज्ञिक आधार पर की है। सामवेद के मन्त्रों का गायन यज्ञ-समाप्ति के पश्चात् महावामदेव्य गान के रूप में किया जाता है। यज्ञ के अधिष्ठाता ब्रह्मा को चतुर्वेदवित् होना चाहिए। मन्त्रसंहिताओं में याज्ञिक कर्मों को संकेतरूप में प्रस्तुत किया गया है, जबकि इनकी व्याख्यारूप में लिखे गये ब्राह्मणग्रन्थों में उन्हीं यज्ञों का सविस्तार निरूपण मिलता है। उदाहरणार्थ—शतपथ ब्राह्मण में यजुर्वेदोक्त दर्श, पौर्णमास, सोमयाग, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध आदि का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है। कालान्तर में सूत्रग्रन्थों में इसी कर्मकाण्ड को श्रौत और गृह्यभेद से पृथक्-पृथक् व्याख्यात किया गया। कात्यायन, आश्वलायन आदि श्रौतसूत्रकारों ने श्रौत विधियों को अत्यन्त विस्तार से निरूपित किया है, जबकि आपस्तम्ब, गोभिल, पारस्कर आदि गृह्यसूत्र-निर्माताओं ने गृहस्थ जीवन में प्रयोजनीय कर्त्तव्यों की विधियाँ लिखीं। स्मृतियों के काल में भी कर्मकाण्ड की विविध विधियाँ देश-काल-भेद से विवेचित हुईं। यह अवश्य है कि पूर्ववर्ती कर्मकाण्डीय ग्रन्थों की अपेक्षा परवर्ती ग्रन्थों में अनेक नवीन और अनावश्यक विधि-विधानों का समावेश कर दिया गया, जिनके बारे में प्राचीन ग्रन्थकार मौन हैं। यह भी कहा गया कि देश-काल के भेद से कर्मकाण्ड में भी भिन्नता आ जाना स्वाभाविक है और इसी प्रकार युग-भेद से भी कर्मविधान भिन्न हो जाते हैं। मध्यकालीन स्मृतियों ने तो कलिवर्ज्य का प्रपंच खड़ा किया और कहा कि अश्वमेध, गोमेध, संन्यास-धारण, पितरों के लिए मांसमय पिण्डों का दान तथा नियोग-विधि से सन्तानोत्पादन कलियुग में निषिद्ध हैं। स्वामी दयानन्द ने ऐसे वचनों की

निरर्थकता अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में सिद्ध करते हुए बताया है कि जो सदाचरण है, वह प्रत्येक काल और युग में कर्त्तव्य है, जबकि यज्ञों और श्राद्धों में पशुहिंसा आदि के कर्म गर्हित होने के कारण प्रत्येक स्थिति में अकरणीय ही हैं।

भारत के धार्मिक इतिहास का सर्वेक्षण करने से ज्ञात होता है कि इस देश के अधिकांश धर्मान्दोलन पूर्ववर्ती विचारधारा के विरोध में उस समय उत्पन्न हुए जबकि पूर्वकालिक धर्म में जड़ता, रूढ़िवादिता, प्रतिगामिता तथा अनाचार की प्रवृत्तियों को निर्बाध रूप से पनपने का अवसर मिला। भारतीय धर्मों के इतिहास का विद्यार्थी इस बात को जानता है कि वैदिक यज्ञों में पशुहिंसा, ब्राह्मणों के प्रभुत्व तथा उनकी तानाशाही, वर्णव्यवस्था के नाम पर जातिगत वैषम्य व वैमनस्य, तथा शूद्र वर्ग के प्रति घृणाभाव जैसी बातों ने ही जैन और बौद्ध आदि उन अवैदिक मतों को जन्म दिया, जिन्होंने वेदाधारित कर्मकाण्ड का खुलकर विरोध करने के साथ-साथ धार्मिक मामलों में ब्राह्मणों के सर्वाधिकार को अस्वीकार किया तथा आडम्बरपूर्ण याज्ञिक कर्मों के स्थान पर तप, त्याग, सादगी तथा निराडम्बर भिक्षुजीवन बिताने पर जोर दिया। जैनों और बौद्धों की यह श्रमण-परम्परा उस ब्राह्मणवाद की नितान्त विरोधिनी थी, जिसमें ब्राह्मण-कुलोत्पन्न पुरोहित को ही धार्मिक मामलों में मनमाने अधिकार प्राप्त थे।

आचार्य शंकर ने जब जैन एवं बौद्ध विचारधाराओं का खण्डन दार्शनिक स्तर पर किया तो वे यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड का वाचिक समर्थन तो करते रहे, किन्तु उन्हें वैदिक यज्ञ-यागादि में प्रविष्ट उन विकृतियों का खुलकर समर्थन करने का साहस भी नहीं हुआ जिनके विरोध में जैन-बौद्ध आदि लोकायत विचार-सरणियाँ चल पड़ी थीं। बल्कि यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि अपने समग्र दार्शनिक ऊहापोह में शंकर ने कर्म को ज्ञान से अवर स्थान देकर एक प्रकार से स्वीकार किया कि मनुष्य की सर्वोच्च उपलब्धि तो आत्मसाक्षात्कार और आत्मदर्शन है तथा इसे प्राप्त करने के लिए किसी भी बाह्य कर्मकाण्ड का आचरण अनिवार्य नहीं है। उन्होंने तो ज्ञान और कर्म में विरोध ही बताया, किन्तु इतना अवश्य स्वीकार किया कि अन्तःकरण-शुद्धि के लिए कर्मकाण्ड का आचरण भी आवश्यक है।

परन्तु मनुष्य जैसे कर्मशील प्राणी का सतत चिन्तन और विचार के क्षेत्र में ही विचरण करना सम्भव नहीं है। प्रकृत्या वह कर्म करने में प्रवृत्त होता है, अतः कर्मवाद का सार्वत्रिक निराकरण करना और उसे हेय बताना भी अतिवादिता ही थी। फलतः हम देखते हैं कि जब वैष्णव भक्ति के प्रवर्त्तक आचार्यों ने वैचारिक स्तर पर शंकर के शुष्क ज्ञानवाद का खण्डन किया तो मनुष्य-प्रकृति की सहजता को अनुभव कर उन्होंने विष्णु के अवताररूप राम, कृष्णादि की षोडशोपचार पूजा तथा एतदर्थ मन्दिर-निर्माण आदि के स्थूल कृत्यों का आडम्बरपूर्ण विधान किया। यह दूसरी बात है कि राम, कृष्णादि तथाकथित अवतारों की मूर्तियों की पूजा तथा उससे सम्बद्ध बहुविध साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड तथा विधियाँ पुराकालीन श्रौत तथा स्मार्त कर्मों से सर्वथा भिन्न एवं नवीन ही थीं। परन्तु आचार्य शंकर के चिन्तन-स्तर तक न पहुँच सकनेवाले सामान्य धर्मप्राण हिन्दू के लिए राम, कृष्ण, शिव आदि देवताओं की अर्घ्य, पाद्य, नैवेद्य, आचमन और नीराजन जैसी स्थूल विधियों से पूजा भी परम तुष्टिदायक थी। यह भी हमसे अविदित नहीं है कि शैवों और वैष्णवों के उस परम आडम्बरमय मूर्तिपूजाविधानों तथा

अन्य स्थूल कर्मकाण्डों के प्रति उत्पन्न वितृष्णा ने ही उत्तरापथ की सन्त-परम्परा को जन्म दिया जिसने प्रतिमार्चन, अवतारवाद, तीर्थादि-सेवन तथा अन्य बाह्याचारों को महत्त्व न देकर अमूर्त परमात्मा की ज्ञानमयी भक्ति को ही मनुष्य के आत्यन्तिक कल्याण का साधन माना। परन्तु यह भी एक विडम्बना ही थी कि कबीर, नानक, दादू आदि उत्तरभारतीय तथा नामदेव, तुकाराम आदि दाक्षिणात्य सन्तों के परलोकगमन के तुरन्त बाद ही उनके शिष्यों ने अपने इन सन्त गुरुओं को ही स्व-आस्था का केन्द्र बनाकर पृथक् सम्प्रदाय स्थापित कर लिये और इन मत-पन्थों के धर्म-स्थानों में राम-कृष्णादि की मूर्तियों के स्थान पर गुरुओं की खड़ाउओं, कमण्डलों, चौकियों और गद्दियों की ही पूजा चल पड़ी। स्वामी दयानन्द द्वारा प्रयुक्त मुहावरा "जैसे नागनाथ वैसे साँपनाथ" वैष्णवों के साम्प्रदायिक कर्मकाण्ड तथा सन्त मतों में प्रचलित अर्वाचीन कर्मकाण्ड पर पूर्णतया घटित होता है।

मध्यकालीन हिन्दू धर्म की इन्हीं साम्प्रदायिक कर्मकाण्डीय प्रवृत्तियों तथा इनसे उत्पन्न बहुदेवता अथवा उपास्य देवताओं के अनेकत्व से खिन्न होकर राममोहन राय जैसे मनस्वी पुरुष को जहाँ वैदिक और औपनिषदिक एकेश्वरवाद की स्थापना के लिए घोर प्रयत्न करने पड़े वहाँ वैष्णवों और सन्तमतों में समान रूप से प्रचलित पौत्तलिक उपासना का तीव्र खण्डन करना पड़ा। परन्तु ब्रह्मसमाज के प्रवर्तक की प्रतिमार्चन-विषयक कर्मकाण्ड के प्रति क्षोभ एवं उदासीनता आगे चलकर ब्राह्म नेताओं के उस अतिवाद में परिवर्तित हो गई जबकि उन्होंने षोडश संस्कार, यज्ञादि वैदिक कर्म तथा तत्सम्बन्धित निर्दोष कर्मों को भी पौत्तलिक उपासना के ही अन्तर्गत मान लिया। इसी के परिणामस्वरूप एक ओर यदि केशवचन्द्र सेन ने यज्ञोपवीतधारी आचार्यों को ब्रह्मसमाज की वेदी से हटाने का अभियान चलाया तो दूसरी ओर ब्राह्म-विवाहविधि में से गणेशपूजादि पौराणिक कृत्यों को पृथक् करने के साथ-साथ गृह्य-सूत्रों में वर्णित निर्दोष होम-विधियों तथा अन्य वैदिक कृत्यों को भी हटा दिया गया। यहाँ तक कि ब्राह्म उपासना-मन्दिरों में यज्ञादि उन विधियों को करने का भी निषेध कर दिया गया, जो भारतीय धर्म-परम्परा में सदा से प्रचलित रही थीं। सम्भवतः ब्राह्मों को यह भय था कि यज्ञादि कर्म भी आगे चलकर मूर्तिपूजा जैसे जड़ कृत्यों में परिवर्तित हो सकते हैं।

हिन्दू कर्मकाण्ड की इसी विकास-यात्रा तथा परम्परा को हृदयंगम कर स्वामी दयानन्द ने उस वैदिक कर्मकाण्ड के पुनः प्रचलन का संकल्प लिया जिसमें षोडश संस्कार, पंचमहायज्ञ तथा अन्य वैदिक कृत्यों का समावेश है। उनका यह मत था कि ये वैदिक और आर्ष कर्म मनुष्य की शारीरिक, मानसिक, आत्मिक तथा सामाजिक उन्नति के प्रमुख साधन हैं, अतः इनकी उपयोगिता निर्विवाद है एवं अवहेलना और उपेक्षा हानिकारक है। आगे के पृष्ठों में हम इसी क्रम से (संस्कार, पञ्चमहायज्ञ, अन्य इष्टियाँ एवं विशिष्ट यज्ञपद्धतियाँ) आर्यसामाजिक कर्मकाण्डीय साहित्य का विचार करेंगे।

(२) षोडश संस्कार : व्याख्या-ग्रन्थ

संस्कारविधि की विवेचना के प्रसंग में हम षोडश संस्कारों के महत्त्व पर विचार कर चुके हैं। इन संस्कारों की उपयोगिता तथा उनके लाभों का प्रसंगोपात्त संकेत तो स्वामी दयानन्द ने संस्कारविधि के सम्बन्धित प्रकरणों में दिया ही है, किन्तु आर्य विद्वानों

ने अपने ग्रन्थों में इन संस्कारों का समग्रतः विचार करते हुए उनके महत्त्व तथा इति-कर्त्तव्यता का विवेचन भी किया है। पण्डित राजाराम की 'संस्कार क्या हैं?' शीर्षक कृति १९१२ ई० में आर्ष ग्रंथावली लाहौर से छपी। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय का संस्कार प्रकाश एक सुन्दर व्याख्यात्मक ग्रन्थ है। पण्डित मदनमोहन विद्यासागर का संस्कार-महत्त्व तथा संस्कारसमुच्चय संस्कारों के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी प्रदान करता है। संस्कारसमुच्चय तो स्वामी दयानन्द की संस्कारविधि की एक स्वतन्त्र व्याख्या ही है, जिसमें षोडश संस्कारों के अतिरिक्त जन्मदिन मनाने, वाग्दान तथा व्यापार-स्थापना जैसे लौकिक अवसरों पर करणीय कर्मों की विधियाँ भी संगृहीत हैं। उर्दू में जैमिनि मेहता का संस्कारदर्पण तथा गुजराती में 'आर्यो ना संस्कार' (मोतीलाल जेठालाल मेहता लिखित) संस्कार-विषयक विवेचनात्मक कृतियाँ हैं। कविप्रकृति के लोगों ने जहाँ संस्कारविधियों को पद्यबद्ध करने के प्रयास किये हैं वहाँ संस्कारों के अवसरों पर गाये जानेवाले गीतों की रचना भी की है। पण्डित गदाधरप्रसाद इष्ट का संस्कारसंगीत (१९३६ ई०), पण्डित नारायणप्रसाद वेताब का संस्कारसंगीत तथा पण्डित रामस्वरूप वानप्रस्थी की संस्काररहस्य शीर्षक कृतियाँ इसी कोटि की हैं।

अब हम १६ संस्कारों से सम्बद्ध साहित्य का पृथक्शः विवेचन करेंगे। इन सभी संस्कारों को जन्म से पूर्व के, शैशवकालीन, विद्याध्ययन-विषयक तथा आश्रम-विधान से सम्बन्धित—इन चार कोटियों में विभक्त किया जा सकता है। गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन जन्मधारण-पूर्व के हैं। जातकर्म से कर्णवेधपर्यन्त छः संस्कार शैशवकालीन कहे जा सकते हैं। उपनयन, वेदारम्भ तथा समावर्तन को विद्यासम्बन्धी तथा विवाह, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास को आश्रमों से सम्बद्ध संस्कार कहा जा सकता है। अन्त्येष्टि तो किसी भी वर्ग में नहीं आता। उसका सम्बन्ध तो शव की अन्त्य क्रिया से ही है।

गर्भाधान संस्कार—कामक्रीड़ा को ही गृहस्थ का चरम काम्य समझनेवाले इस युग में गर्भाधान संस्कार की बात ही विचित्र-सी लगती है। तथापि लेखकों ने इस परमावश्यक संस्कार की विवेचना अपनी-अपनी दृष्टि से की है। चिम्मनलाल वैश्य लिखित गर्भाधानविधि तथा पण्डित शिवदयालु लिखित गर्भाधानसंस्कार के अतिरिक्त ईश्वरचन्द्र आर्य ट्रैक्ट सोसाइटी लाहौर से प्रकाशित एक पुस्तक 'गर्भाधान' का उल्लेख इस संदर्भ में किया जाना आवश्यक है। पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी ने पौराणिक विद्वानों के उन आक्षेपों का युक्तियुक्त उत्तर दिया है जो स्वामी दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास के गृहस्थ-प्रकरण में गर्भाधानविधि और योनि-संकोचन जैसे विषयों पर लिखने के कारण किये गये थे। उनकी "गर्भाधान और योनि-संकोच" शीर्षक तर्कपूर्ण पुस्तक लाहौर से छपी थी।

पुंसवन और सीमन्तोन्नयन पर कोई उल्लेखनीय पुस्तक पृथक्शः नहीं लिखी गई। एक गुजराती पुस्तक 'सीमन्तोन्नयन' (वैदिक कर्मकाण्ड मण्डल सूरत से १९८८ वि० में प्रकाशित) का उल्लेख अवश्य मिलता है। जातकर्मसंस्कार-विषयक कोई पृथक् उल्लेखनीय कृति हमारे समक्ष नहीं आई। नवजात बालक को धाया (धात्री, दाई) का दूध पिलाने-विषयक स्वामी दयानन्द के विधान के खण्डन में किये गये पौराणिक विद्वानों के आक्षेपों का उत्तर पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी ने "धाया का दूध" शीर्षक एक ट्रैक्ट में

अवश्य दिया है। यह पुस्तिका दयानन्द स्वाध्याय मण्डल, लाहौर से छपी थी। नामकरण, अन्नप्राशन, कर्णवेध तथा चूड़ाकर्ण संस्कारों के सम्बन्ध में पण्डित आत्माराम अमृतसरी तथा श्री विश्वप्रकाश की पुस्तकें उपलब्ध हैं। पण्डित अमृतसरी की प्रसिद्ध कृति संस्कार-चन्द्रिका के उपर्युक्त संस्कारों से सम्बन्धित प्रकरणों को पृथक् पुस्तकरूप में प्रकाशित किया गया है, जबकि श्री विश्वप्रकाश की पुस्तक कलाप्रेस प्रयाग से प्रकाशित हुई है। निष्क्रमण संस्कार पर कोई पृथक् पुस्तक दृष्टिगोचर नहीं हुई। नामकरण संस्कार पर सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा का है। जैमिनि मेहता ने भी इसपर एक पुस्तक लिखी थी। चूड़ाकर्म संस्कार शीर्षक एक गुजराती ग्रन्थ आर्य प्रतिनिधि सभा बम्बई ने १९९० वि० में प्रकाशित किया था।

उपनयन—उपनयन संस्कार पर द्विविध ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। एक कोटि उन ग्रन्थों की है जिनमें इस संस्कार की विधि वर्णित है, जबकि दूसरे प्रकार के ग्रन्थों में यज्ञोपवीत-विषयक व्याख्या और शंका-समाधान आदि विषय वर्णित हैं। पण्डित भीमसेन शर्मा ने उपनयन पद्धति (१९०० ई० में सरस्वती प्रेस इटावा से प्रकाशित) लिखी। संस्कार-चन्द्रिका में उल्लिखित उपनयन संस्कार की विधि को पृथक् ग्रन्थाकार छापा गया। पं० शंकरदत्त शर्मा ने प्राचीनोपनयन पद्धति १९०४ ई० में लिखी। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय और उनके अनुज पण्डित सत्यव्रत उपाध्याय के संयुक्त लेखन में वैदिक-उप-नयन-वेदारम्भ-पद्धति की रचना हुई जिसे आर्यसमाज चौक प्रयाग ने १९३० ई० में प्रकाशित किया। वेदारम्भ संस्कार-विषयक पण्डित आत्माराम अमृतसरी की पुस्तक संस्कारचन्द्रिका का ही एक अंश है।

यज्ञोपवीत-विवेचन-विषयक ग्रन्थों की संख्या पर्याप्त अधिक है। इनके लेखकों में निम्न उल्लेखनीय हैं—भीमसेन शर्मा (यज्ञोपवीतशंका समाधि, १९४९ वि०), स्वामी दर्शनानन्द (यज्ञोपवीत शंका समाधान), जे० पी० चौधरी तथा पण्डित वजीरचन्द्र शर्मा की कृतियाँ भी इसी नाम की हैं। पण्डित प्रयागदत्त अवस्थी (यज्ञोपवीत, ५ दयानन्दाब्द में प्रकाशित) यज्ञोपवीत और जनेऊ शीर्षक ट्रैक्ट के लेखक पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय थे जो आर्यसमाज चौक प्रयाग की ट्रैक्टमाला के अन्तर्गत सहस्रों की संख्या में प्रकाशित हुआ। ये सभी ग्रन्थ उपनयन संस्कार और यज्ञोपवीत-धारण की महत्ता का सामान्य निरूपण ही करते हैं। यज्ञोपवीत का विशिष्ट विवेचन पण्डित विश्वनाथ शास्त्रीकृत यज्ञोपवीत मीमांसा (१९३८ ई० में कलकत्ता से प्रकाशित) तथा आचार्य कृष्णकृत उप-नयन सर्वस्व (१९६८ ई० में प्रकाशित) में मिलता है। डॉक्टर श्रीराम आर्यलिखित 'यज्ञोपवीत' भी उल्लेखनीय है।

उपनयन संस्कार से सम्बन्धित दो अन्य महत्त्वपूर्ण पहलू ऐसे थे जिनकी ओर आर्य साहित्यकारों का ध्यान जाना आवश्यक था। प्रथम तो स्वामी दयानन्द के उपदेशा-नुसार बालकों की ही भाँति कन्याओं का भी उपनयन होना आवश्यक है, इस मत को सिद्ध करने के लिए साहित्य लिखा जाना था। द्वितीय, मध्यकाल में वैश्यों में द्विजोचित संस्कारों का प्रचलन समाप्त हो जाने के कारण प्रायः यह मान लिया जाता था कि इन्हें यज्ञोपवीत-धारण का अधिकार नहीं है। स्वामी दयानन्द ने तो उपनयन में द्विजमात्र का अधिकार स्वीकार किया है। वे स्वयं अपने जीवनकाल में क्षत्रियों और वैश्यों का यज्ञोप-वीत संस्कार कराते थे और उन्हें द्विजोचित संध्या-अग्निहोत्र आदि कर्मकाण्ड का पालन

करने के लिए प्रेरित करते थे। अतः कालान्तर में ऐसे ग्रन्थ भी लिखे गये जिनमें वैश्यों को यज्ञोपवीत ग्रहण करने के अधिकार का प्रतिपादन किया गया था। १८८७ ई० में दिल्लीनिवासी श्री जगन्नाथ भारतीय ने "वैश्यप्रति यज्ञोपवीत व्यवस्था" लिखी। टीकाराम वैश्य ने "वैश्योपनयन विधान" लिखा। कालपी (जिला कानपुर) के पण्डित शिवचरणलाल सारस्वतकृत "वैश्यप्रति यज्ञोपवीतादर्श" आर्य भास्कर यन्त्रालय, मुरादाबाद से १९०२ ई० में प्रकाशित हुआ।

कन्याओं के उपनयन धारण करने के समर्थन में पण्डित इन्द्र शर्मा भारद्वाजकृत कन्योपनयनसंस्कार (१९६५ वि०) तथा पण्डित महाराणीशंकर शर्माकृत कन्योपनयन-विधि का उल्लेख आवश्यक है। शर्मा जी ने किन्हीं वीरभानु शर्मा मिश्र लिखित 'कन्योप-नयन निषेध' के खण्डन में यह ग्रन्थ लिखा था। इसका प्रथम संस्करण १९७१ वि० में छपा। लगभग सत्तर वर्ष पश्चात् पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने इसे २०४० वि० में स्वामी दयानन्द की निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर पुनः प्रकाशित किया। संवाद-शैली में लिखे गये इस ग्रन्थ में अनेक शास्त्रीय एवं ऐतिहासिक प्रमाणों से कन्याओं का यज्ञोपवीत धारण करना सिद्ध किया गया है। गुजराती में ठाकुर हमीरसिंह ने स्त्रीउपनयनविज्ञान (१९८९ वि० में प्रकाशित) लिखा।

हिन्दी से भिन्न भाषाओं में उपनयन-विषयक साहित्य का विचार करना भी आवश्यक है। उर्दू में यज्ञोपवीत शीर्षक एक पुस्तिका लाहौर की ईश्वरचन्द्र आर्य ट्रैक्ट सोसाइटी ने प्रकाशित की। बंगला में गौरमोहनदेव वर्मनकृत "यज्ञोपवीत" छपी। उड़िया में श्री प्रियव्रत दास ने "उपनयन संस्कार" शीर्षक ग्रन्थ लिखा। गुजराती में रेवाशंकर शुक्लकृत यज्ञोपवीत संस्कार रहस्य, श्रीकान्त भगतजी प्रणीत उपवीत रहस्य(१९६५ई०), पण्डित दिनेश त्रिवेदी रचित उपनयन संस्कार नु रहस्य (१९६६ ई०) तथा हरिशंकर विद्यार्थी लिखित 'जनोई' (आर्यसमाज अहमदाबाद से २०३० वि० में प्रकाशित) आदि कृतियाँ उल्लेखनीय हैं।

विवाह संस्कार-पद्धति व व्याख्या-ग्रन्थ—षोडश संस्कारों में विवाह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। संस्कार की क्रियाओं की दृष्टि से भी यह अधिक लम्बा, जटिल तथा विधिसंकुल है। यों तो स्वामी दयानन्द ने संस्कारविधि में विवाह के अवसर पर किये जानेवाले सभी कृत्यों का पूर्वापर-क्रम से स्पष्ट उल्लेख किया ही है, तथापि पौरोहित्य कर्म करानेवालों की सुविधा की दृष्टि से पृथक्-पृथक् विवाह-पद्धतियों का भी संकलन किया गया है। संस्कारविधि से पृथक् कर विवाह पद्धति वैदिक यन्त्रालय ने प्रकाशित की है जिसके अब तक कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। वैदिक यन्त्रालय के प्रथम प्रबन्धक मुंशी बख्तावरसिंह द्वारा सम्पादित विवाहपद्धति शाहजहाँपुर से १८९४ ई० में प्रकाशित हुई। जालौन के मुंशी दयाराम तहसीलदार ने जिस विवाह-पद्धति का सम्पादन किया वह १९०१ ई० में छपी। इस शताब्दी में प्रकाशित अन्य उल्लेखनीय विवाह पद्धतियाँ पण्डित शिवदयालु(१९९३ वि०), पण्डित हरिदत्त शास्त्री(१९५४ ई०) पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय व पण्डित सत्यव्रत उपाध्याय (१९५६ ईसवी), स्वामी रामेश्वरानन्द, श्री विश्वप्रकाश (१९६५ ई०), श्री ज्ञानेश्वरानन्द वानप्रस्थ, डॉक्टर श्रीराम आर्य (१९७८ ई०), आदि द्वारा सम्पादित हुई हैं। श्री मित्रसेन (२०२६ वि०) और श्री ईश्वरीप्रसाद प्रेम ने स्वसम्पादित पद्धतियों को 'सुमंगली' शीर्षक दिया है।

किन्हीं विशिष्ट दम्पतियों के विवाह के अवसर पर भी विवाहपद्धतियाँ सम्पादित कर प्रकाशित की गईं। इसका एक उदाहरण राजगुरु धुरेन्द्र शास्त्री द्वारा सम्पादित "वर वधू के विवाह में बोलने के अर्थसहित मन्त्रों का संग्रह" है जो शाहपुरा (राजस्थान) की राजकुमारी के विवाह के अवसर पर १९३८ ई० में प्रकाशित हुआ था। पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने वैदिक विवाह संस्कार के कुछ मुख्य मन्त्रों का पद्यानुवाद किया है तथा श्री रामकृष्ण भारती ने वैदिक विवाहपद्धति का काव्यानुवाद किया है। भारती प्रकाशन मन्दिर दिल्ली से इसका प्रकाशन १९७८ ई० में हुआ।

अंग्रेजी में विवाहपद्धति का एक अनुवाद लाहौर से १९४० ई० में न्यायमूर्ति बख्शी टेकचन्द की पुत्री सावित्री तथा दीवान राधाकृष्ण पुरी के पुत्र श्री योगेन्द्रकृष्ण के विवाह के अवसर पर प्रकाशित हुआ था। Vedic Marriage Ceremony शीर्षक एक अन्य अनुवाद पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री ने किया है जिसे सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने प्रकाशित किया। गुजराती में वैदिक लग्नविधि शीर्षक से जो तीन पुस्तकें निकली हैं उनका सम्पादन पण्डित मायाशंकर शर्मा (२००१ वि०), श्रीकान्त भगतजी (१९६२ ई०), तथा मगनलाल भगवानजी जोशी (१९६८ ई०) ने किया है। "विवाह प्रतिज्ञाना मन्त्रो" का सम्पादन व अनुवाद अम्बालाल प्रभुदास पटेल ने (नड़ियाद से १९८४ वि० में प्रकाशित) किया।

विवाह-विवेचन—विवाह-प्रथा के विवेचन में लिखी गई पुस्तकों में अधिकांश वे हैं जिनमें विवाह करने की उपयुक्त आयु का विचार करते हुए बालविवाह की हानियाँ वर्णित की गई हैं। काशीनाथ वर्मा (बालकों के विवाह कर देने की कुरीति), गणेश प्रसाद शर्मा (रजस्वलाविवाह विवेक १९०३ ई० में प्रकाशित), छुट्टनलाल शर्मा स्वामी (विवाहवयोदर्पण १९०७ ई०), ठाकुरप्रसाद शास्त्री (बालविवाह विचार), केशवदेव शास्त्री (बालविवाह कैसे चला ?) आदि लेखकों की उपर्युक्त कृतियाँ इसी विषय से सम्बद्ध हैं। आचार्य भगवान्देव ने बालविवाह से हानियाँ (सर्वहितकारी पुस्तकमाला-१४) लिखी। उर्दू में लाला रामजीदास (लुधियाना) लिखित नुकसानात शादी सुगरसानी वा फवायदे तालीमे नसवाँ (१८९२ ई०) पुस्तक इसी विषय पर है।

विवाह-विषयक अन्य ग्रन्थों में पण्डित भीमसेन शर्मा लिखित विवाहव्यवस्था (१९४५ वि०), पण्डित आत्माराम अमृतसरीकृत वैदिक विवाहादर्श (१९१० ई०), पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय रचित विवाह और विवाहित जीवन, नन्दकिशोर विद्यालंकारकृत विवाह का वैदिक आदर्श तथा आचार्य कृष्णकृत उपहार-सर्वस्व (१९६९ ई०) आदि वे हैं जो दाम्पत्य जीवन के आदर्शों का विवेचन करते हैं। पण्डित आत्माराम अमृतसरी की उपर्युक्त कृति मूलतः उर्दू में थी जिसका हिन्दी अनुवाद उन्हीं के ससुर मुंशी वृन्दावन ने किया था।

स्वामी दयानन्द ने विवाह की जिस पद्धति का निबन्धन किया है, उसकी अनेक बातों को लेकर नाना शंकायें एवं प्रश्न उपस्थित किये जाते रहे हैं। पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने ऋग्वेद के मन्त्र (१०/८५/४४) "अघोर चक्षुरपतिघ्न्येधि" को विवाह के अवसर पर बोलने पर आपत्ति की थी। इस मन्त्र में जो शब्द 'देवृकामा' आया है, उसका अर्थ स्वामीजी ने नियोगपरक किया है। देवृकामा—देवर की कामना करती हुई अर्थात् नियोग की भी इच्छा करनेहारी। पण्डित सातवलेकर के अनुसार विवाह के

अवसर पर नियोग को स्मरण करना उचित नहीं है, अतः उन्होंने "क्या विवाह संस्कार में नियोग की प्रतिज्ञा योग्य है?" शीर्षक पुस्तक लिखी। सनातनी पण्डितों द्वारा दयानन्द-निर्मित विवाहपद्धति के विभिन्न अंगों पर किये जानेवाले आक्षेपों का उत्तर पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी ने 'विवाह संस्कार' लिखकर दिया। यह दयानन्द स्वाध्याय मण्डल, लाहौर से छपा था। पण्डित फूलचन्द्र शर्मा निडरकृत आर्य विवाह रीति निर्णय(२०१८ वि०) भी विवेचनप्रधान ग्रन्थ हैं।

अंग्रेजी में गंगाप्रसाद उपाध्यायकृत Marriage and Married Life का प्रकाशन आर्यसमाज चौक, प्रयाग ने किया। गुजराती में पण्डित दिनेश नर्मदाशंकर त्रिवेदी ने "लग्न नो वैदिक आदर्श" ग्रन्थ लिखा जो १९४३ ई० में सूरत से छपा। उड़िया के आर्य साहित्यकार श्री प्रियव्रत दास ने वैदिक विवाह पद्धति व्याख्या लिखी है।

अन्त्येष्टि संस्कार—संस्कारों में अन्तिम मानव-शरीर की चरम परिणति रूप अन्त्येष्टि संस्कार है। संसार की विभिन्न जातियों में मृत शरीर की अन्त्यविधि की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं। ईसाई, मुसलमान तथा अन्य सेमेटिक जातियों में मुर्दे को भूमिस्थ किया जाता है, जबकि पारसी अपने मुर्दे को चील और गिद्ध आदि को खाने के लिए एक विशेष स्थान पर रख देते हैं। हिन्दुओं में यदा-कदा संन्यासियों और शिशुओं के मृत शरीरों को गाड़ने की प्रथा है, जबकि कई लोग अपने मुर्दों को नदियों में प्रवाहित कर देते हैं। किन्तु मृत शरीर को चिता में जलाकर भस्म कर देने की विधि अत्यन्त वैज्ञानिक तथा निर्दोष है। स्वामी दयानन्द ने अन्त्येष्टि कर्म का संस्कारविधि में विस्तृत विधान किया है। अन्त्येष्टि से सम्बन्धित ग्रन्थ भी दो श्रेणियों में आते हैं। प्रथम अन्त्येष्टि कर्मपद्धति-विषयक ग्रन्थों को लें। पं० बाबूराम शर्माकृत पद्धति १९०३ ई० में छपी। पण्डित हरिदत्त शास्त्री ने अन्त्येष्टि कर्म विधि लिखी। इसमें स्वामी दयानन्द-प्रतिपादित विधि से कुछ भिन्न बातें भी लिखी हैं, जो लोकाचार में समाविष्ट हो सकती हैं। यह ग्रन्थ सेकसरिया पुस्तकमाला के अन्तर्गत २००७ वि० में आगरा से छपा था। श्री विश्वप्रकाश की पुस्तक मृतक संस्कार (१९६५ ई०) तथा पण्डित फूलचन्द शर्मा निडरकृत आर्यमृतक रीति निर्णय (१९६५ ई०) इस विषय के अन्य उपयोगी ग्रन्थ हैं। श्री निडर ने अन्त्येष्टि सम्पन्न होने के पश्चात् की उत्तरवर्ती विधियों को भी स्वविचारानुसार लिखा है। श्री प्रियव्रत दास ने उड़िया में वैदिक अन्त्येष्टि संस्कार ग्रन्थ का प्रणयन किया।

अन्त्येष्टि कर्म-विषयक दूसरे प्रकार के ग्रन्थ वे हैं जिनमें वेदोक्त अन्त्येष्टि (मुर्दे को जलाना) के महत्त्व का निरूपण किया गया है। पण्डित लेखराम ने 'अन्त्येष्टि कर्म आवश्यक है' शीर्षक पुस्तक उर्दू में लिखी थी। इसका हिन्दी अनुवाद शेरसिंह वर्मा ने किया जो वैदिक पुस्तक प्रचारक फण्ड, मेरठ से १८९८ ई० में छपा। उर्दू में इस पुस्तक का नाम था—मुर्दा जरूर जलाना चाहिए। "मुर्दा क्यों जलाना चाहिए" शीर्षक दो कृतियों के प्रणेता पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय एवं पण्डित रघनाथ प्रसाद पाठक हैं। पण्डित प्रेमशरण प्रणत ने "मुर्दा क्यों जलावें" शीर्षक एक लघु पुस्तक लिखी जो वेदप्रकाशमाला-संख्या ५४ के अन्तर्गत प्रकाशित हुई।

(३) ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना तथा पंचमहायज्ञ-विषयक ग्रन्थ

संसार के सभी आस्तिक मत ईश्वर-प्रार्थना को अत्यधिक महत्त्व देते हैं। आर्य-समाज ईश्वर की निर्गुण, निराकारोपासना का समर्थक है। वैदिक ईश्वरस्तुति-प्रार्थनोपासना की पद्धति स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में उल्लिखित की है। उन्होंने स्तुति, प्रार्थना और उपासना, तीनों शब्दों के वास्तविक अभिप्राय को स्पष्ट करते हुए इन्हें सुष्ठु रीत्या परिभाषित भी किया है। आर्योद्देश्यरत्नमाला में भी इन शब्दों की व्याख्या देखी जा सकती है। आर्यसमाज के पूर्ववर्ती ब्रह्मसमाज में भी 'एकमेवाद्वितीयम्' निराकार परमात्मा की स्तुति-प्रार्थना का विधान किया गया था। स्वामी दयानन्द जब कलकत्ता गये थे, तो उन्होंने ब्रह्मसमाज के माघोत्सव के अवसर पर देवेन्द्रनाथ ठाकुर के जोड़ासांकोस्थित निवासस्थान पर आयोजित ब्राह्म समारोह को देखा था तथा ब्राह्म उपासना-प्रणाली से भी परिचित हुए थे। आर्यसमाज में भी प्रार्थना-उपासना के वैदिक मन्त्रों तथा उनके भाषागत अर्थ बोलने की परिपाटी प्रारम्भ से ही रही है। साप्ताहिक सत्संगों, उत्सवों आदि में इसी शैली से एक विद्वान् सामूहिक प्रार्थना का नेतृत्व करता है। स्वयं स्वामी दयानन्द ने आर्याभिविनय में ऋग्वेद तथा यजुर्वेद के १०८ प्रार्थना-परक मन्त्रों का संकलन एवं व्याख्या कर इस सन्दर्भ में मार्गदर्शक का कार्य किया है।

आर्यसमाज के दयानन्द-परवर्तीकाल के लेखकों ने भी स्तुति-प्रार्थना-विषयक अनेक सुन्दर ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इन ग्रन्थों से पाठकों को द्विविध लाभ मिलता है। प्रथम तो वेद के स्वाध्याय में उनकी रुचि बढ़ती है। वे मन्त्रों के भावार्थ को हृदयंगम कर उनमें निहित उपासनापरक अभिप्राय को जानने में समर्थ होते हैं। द्वितीयतः, उनका प्रार्थनाकर्म में अनुराग उत्पन्न होता है तथा वेदोक्त प्रार्थना-पद्धति में उनकी आस्था दृढ़ होती है। स्तुति-प्रार्थनापरक वैदिक ग्रन्थ भी दो प्रकार के हैं। अनेक ग्रन्थ तो ऐसे हैं जिनमें स्वामी दयानन्द द्वारा संकलित उन आठ प्रार्थनामन्त्रों की विशद व्याख्या की गई है जिन्हें स्वामीजी ने संस्कारविधि के आरम्भ में रक्खा है तथा जिनके अर्थसहित पाठ करने का विधान प्रत्येक संस्कार के आरम्भ में किया है। द्वितीय प्रकार के ग्रन्थ वे हैं जिनके लेखकों ने विस्तृत वैदिकमन्त्रसमूह से स्वेच्छानुसार व्याख्येय मन्त्रों का संग्रह कर उनकी स्वतन्त्र व्याख्या की है।

सबसे पुरानी प्रार्थना-उपासना-विषयक पुस्तक पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा रचित "सामाजिक ईश्वर स्तुति प्रार्थनोपासना है" जिसका प्रकाशन १८९७ ई० में हुआ। पण्डित राजाराम के प्रार्थना-विषयक ग्रन्थ वैदिक स्तुति प्रार्थना तथा प्रार्थना पुस्तक आर्ष ग्रन्थावली लाहौर से प्रकाशित हुए। शाहजादाराम नामक एक अनतिप्रसिद्ध लेखक की कृति 'वैदिक प्रार्थना' पुस्तक वैदिक पुस्तकालय, लाहौर से १९२२ ई० में छपी थी। इन्दु शर्मा भारद्वाजकृत ईश्वरप्रार्थना कन्या गुरुकुल पुस्तकालय, काशी से १९१७ ई० में तथा स्वामी मंगलदेव संन्यासी की 'ईश्वरस्तुति विचार' आगरा से प्रकाशित हुई।

स्वातन्त्र्योत्तरकाल के लेखकों में पण्डित मदनमोहन विद्यासागर (आर्य-स्तोत्र), श्री विश्वनाथ (प्रार्थना-सुमन), श्री नित्यानन्द वेदालंकार (प्रार्थना-प्रदीप), पण्डित अवध-बिहारीलाल (प्रार्थना पुस्तक), ताराचन्द वानप्रस्थी (प्रार्थना पुस्तक) तथा चन्द्रभानु सिद्धान्तभूषण (प्रार्थना सुमन) आदि वे हैं जिनकी प्रार्थना-विषयक उपर्युक्त कृतियाँ

पाठकों में लोकप्रियता प्राप्त कर सकी हैं। स्वामी दयानन्दसंकलित आठ प्रार्थनामन्त्रों के व्याख्याकारों में पण्डित ओमप्रकाश शास्त्री (प्रार्थनाप्रबोध), पण्डित सुरेशचन्द्र वेदालंकार (प्रार्थनामन्त्र) तथा पण्डित जगदीश विद्यार्थी (प्रार्थना प्रकाश) के नाम उल्लेखनीय है। इन पंक्तियों के लेखक ने आठ प्रार्थनामन्त्रों की एक रोचक व्याख्या लिखी थी जिसे पण्डित जगत्कुमार शास्त्री ने अपनी भक्तिप्रदीप नामक पुस्तक में संकलित किया है। प्रातःकाल शैयात्याग के समय बोलने के 'प्रातरग्नि' आदि पाँच मन्त्रों की एक व्याख्या पण्डित रामदीन ने 'वैदिक नित्य प्रातः ईश्वर स्तुति प्रार्थना' लिखी थी जो गुरुकुल वृन्दावन से १९३७ ई० में छपी। पण्डित जगदीश विद्यार्थी ने भी प्रभातवंदन शीर्षक से इन मन्त्रों की व्याख्या लिखी है। पण्डित भगवानस्वरूप न्यायभूषण सम्पादित "वेदोक्त प्रभात वंदन, संकल्प, शयनादि मन्त्रों का संकलन" भी छपा है। बंगला में पण्डित दीनबंधु वेदशास्त्री रचित 'वैदिक शतनाम ओ उपासना' तथा 'वैदिक उपासना पद्धति' ग्रन्थ इसी विषय से सम्बद्ध हैं।

पंचमहायज्ञ-विषयक साहित्य—स्वामी दयानन्द ने मनुप्रोक्त पंचमहायज्ञों को प्रत्येक गृहस्थ के लिए आवश्यक इतिकर्त्तव्य बताया है। ये पाँच महायज्ञ हैं—ब्रह्मयज्ञ (इसके अन्तर्गत संध्योपासना तथा स्वाध्याय की गणना होती है), देवयज्ञ (अग्निहोत्र-विधान), पितृयज्ञ (जीवित माता-पिता, गुरु-आचार्य आदि की सेवा), बलिवैश्वदेवयज्ञ (क्षुद्र जीवों तथा इतर प्राणियों को अन्नादि देना) तथा अतिथियज्ञ (आगन्तुक विद्वान् अतिथि का सेवा-सत्कार)। स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में वर्णित गृहस्थ प्रकरण में पंचमहायज्ञों की विधि तथा उनके क्रियात्मक पालन की आवश्यकता बताई है। प्रसंगोपात्त संस्कारविधि तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में भी पंचमहायज्ञों की विधि वर्णित की गई है। स्वामी दयानन्द के जीवन में भी हम देखते हैं कि वे अपने गंगातटवर्ती भ्रमणकाल में उपदेशार्थ आनेवाले लोगों को पंचमहायज्ञों के करने की ही प्रेरणा देते थे। उनकी प्रथम प्रकाशित कृति भी संध्याविधि ही थी जिसे उन्होंने १९२० वि० में छपाकर वितरित किया था।

कालान्तर में दयानन्दरचित पंचमहायज्ञविधि के विविध संस्करण तो प्रकाशित हुए ही, अन्य लेखकों ने भी यत्किंचित् परिवर्तन कर इस प्रकार की विधियाँ लिखीं और प्रकाशित कीं। ऐसा करने में उनका अभिप्राय इतना ही था कि जनता में पंचयज्ञों का अधिकाधिक प्रचलन हो तथा पंचमहायज्ञों की विधि सामान्य लोगों को भी उपलब्ध हो सके। कुछ ग्रन्थ ऐसे भी लिखे गये जिनमें पंचयज्ञों की महत्ता, उपयोगिता तथा उनकी पद्धति का उल्लेख करने के साथ-साथ मानव-जीवन के उत्थान में उनकी प्रासंगिकता पर प्रकाश डाला गया था। यहाँ हम इन दोनों प्रकार के ग्रन्थों का ही विवरण उपस्थित कर रहे हैं। प्रथम, पद्धतिनिरूपक ग्रन्थों को लें। स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा ने "पंचमहायज्ञ" शीर्षक ग्रन्थ लिखा। सम्भवतः स्वामी दयानन्दकृत पंचमहायज्ञविधि के पश्चात् लिखा गया यह इस विषय का प्रथम ग्रन्थ है। अन्य पुराने लेखकों में से निम्न नामांकित लेखकों की रचनाएँ उल्लेख योग्य हैं—पण्डित राजाराम—आर्य पंचमहायज्ञपद्धति (१९१० ई०), पण्डित देवदत्त शर्मा—पंचमहायज्ञ (१९१३ ई०), स्वामी परमानन्द—पंचमहायज्ञविधि (१९६८ वि०), मुंशीराम जिज्ञासु—पंचमहायज्ञ-विधि (आर्यधर्म ग्रन्थमाला-२ के अन्तर्गत १९७४ वि० में प्रकाशित), पण्डित शंकरदत्त

शर्मा—पंचमहायज्ञ विधि तथा पण्डित ललिताप्रसाद अग्निहोत्रीकृत पंचयज्ञपद्धति।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् जो ग्रन्थ इस विषय पर लिखे गये उनमें प्रमुख हैं—पण्डित सत्यपाल शास्त्री सम्पादित वैदिक पंचमहायज्ञपद्धति (२०१८ वि०), मेधारथी स्वामी सम्पादित पंचयज्ञप्रकाश तथा पण्डित सोमदत्त विद्यालंकार सम्पादित पंचयज्ञ-प्रकाशिका (१९७५ ई०)। बंगला में पण्डित शंकरनाथ ने संक्षिप्त पंचमहायज्ञविधि का सम्पादन किया था तथा अंग्रेजी में सर्वप्रथम पण्डित दुर्गाप्रसाद ने The Five Great Duties of the Aryas लिखी जो लाहौर से १८९५ ई० में प्रथम बार छपी। इसका द्वितीय संस्करण १९१३ ई० में निकला। यंगमैन आर्यसमाज ट्रैक्ट सोसाइटी लाहौर ने भी इसे प्रकाशित किया था। श्री हीरालाल सूद ने पंचमहायज्ञों का अंग्रेजी संस्करण The Fivefold Path to Salvation शीर्षक से लिखा और १९२७ में आगरा में छपाया। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने यज्ञ के लिए अंग्रेजी शब्द Sacrifice का प्रयोग करते हुए The Five Great Sacrifices of the Aryas लिखी जो आर्यसमाज चौक प्रयाग से प्रकाशित हुई।

व्याख्या-ग्रन्थ—जिन विद्वानों ने पंचमहायज्ञों की विस्तृत व्याख्या करते हुए मानव-जीवन के लिए उनकी उपयोगिता का विवेचन किया है उनमें से निम्न उल्लेखनीय हैं—पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार—पंचयज्ञ प्रकाश, प्रथम संस्करण गुरुदत्त भवन लाहौर से १९४० ई० में प्रकाशित, कालान्तर में वर्णाश्रम संघ प्रभाताश्रम मेरठ (१९६३) तथा राजधर्म प्रकाशन दिल्ली (१९७०) से प्रकाशित, पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय—पंचयज्ञमहिमा, पण्डित मदनमोहन विद्यासागर—पंचमहायज्ञदीप(१९६८ ई०), पण्डित बलदेव नैष्ठिक(पंचमहायज्ञ संदेश), स्वामी जगदीश्वरानन्द—आर्य मानव जीवन पद्धति अर्थात् पंचयज्ञ-माहात्म्य। प्रसिद्ध नाटककार एवं कवि पण्डित नारायणप्रसाद बेताब ने इसी विषय से सम्बन्धित अमृतांजलि शीर्षक ग्रन्थ भी लिखा था।

संध्योपासना-व्याख्याग्रन्थ—पंचमहायज्ञों की सामान्य व्याख्या-विषयक साहित्य का विवरण देने के पश्चात् इन यज्ञों की पृथक्-पृथक् विवेचना से सम्बन्धित ग्रन्थों का परिचय देना भी आवश्यक है। स्वामी दयानन्द ने स्वतन्त्र रूप से संध्या-विधि का निर्माण किया था। यह संध्या-पद्धति किंचित् परिवर्तनों के साथ संस्कारविधि तथा पंचमहायज्ञ-विधि में उल्लिखित है। आज विश्व के करोड़ों आर्य स्वामी दयानन्द-प्रतिपादित उसी पद्धति से नित्य प्रातः-सायं संध्या कर प्रभु का स्मरण करते हैं। सनातनी संध्या-पद्धति में जहाँ भस्मधारण, सूर्योपस्थान आदि अनेक पौराणिक कृत्य समाविष्ट हो गये हैं वहाँ स्वामी दयानन्दनिर्मित पद्धति सर्वथा वेदमन्त्रों पर आधारित तथा जड़पूजा-निर्देशक तत्त्वों से पूर्णतया विरहित है। इस संध्याविधि में आचमन, अंगस्पर्श, मार्जन, प्राणायाम, मनसा-परिक्रमा, उपस्थान, गायत्री-समर्पण मन्त्र तथा नमस्कार मन्त्र जैसी क्रियायें तथा विधियाँ सम्मिलित हैं। संध्या के महत्त्व-प्रतिपादन, संध्योपासना से होनेवाले लाभ आदि विषयों से सम्बन्धित प्रचुर साहित्य आर्य विद्वानों द्वारा लिखा गया है।

संध्या पर कलम चलानेवाले पुराने लेखक तथा उनकी कृतियाँ निम्न हैं—मुन्शीराम जिज्ञासु—विस्तारपूर्वक संध्याविधि (१९५३ वि०), पण्डित आत्माराम अमृतसरी—ब्रह्मयज्ञ (१९५३ वि०), पण्डित चमूपति—संध्यारहस्य (१९७४ वि०), पं० बुद्धदेव विद्यालंकार प्रणीत 'अथ ब्रह्मयज्ञ' उनके पंचयज्ञप्रकाश का ही एक अंश

है जो गुरुदत्त भवन लाहौर से १९९० वि० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ था। इसे ही गुरुकुल काँगड़ी की स्वाध्याय मंजरी ग्रन्थमाला-१४ में २००० वि० में पुनः प्रकाशित किया गया। महात्मा हंसराज रचित 'संध्या पर व्याख्यान' वैदिक पुस्तकालय लाहौर से छपा था। स्वामी आत्मानन्द सरस्वती (पण्डित मुक्तिराम उपाध्याय) ने संध्या में आचरित अंगों की तुलना योगप्रतिपादित अष्टांगों से की है। उनका एतद्विषयक ग्रन्थ संध्या-अष्टांगयोग प्रथम बार अध्यात्म ग्रन्थमाला-३ के अन्तर्गत छपा था। एक अन्य विद्वान् मास्टर नत्थनलाल ने संध्या-प्रदीपिका शीर्षक एक सुन्दर व्याख्या-ग्रन्थ लिखा था जिसे राजपाल एण्ड संस ने १९८३ वि० में प्रकाशित किया। पण्डित हरिप्रसाद वैदिक मुनि(स्वामी जवाहरदास उदासीन के शिष्य)यद्यपि आर्यसमाजी मान्यताओं को पूर्णतया स्वीकार नहीं करते थे, किन्तु उन्होंने वैदिक संध्या-भाष्यम् नामक ग्रन्थ में दयानन्दप्रोक्त संध्याविधि का ही संस्कृत में पाण्डित्यपूर्ण भाष्य किया है। यह निर्णयसागर प्रेस बम्बई से १९७४ वि० में प्रकाशित हुआ था। एक अन्य विद्वान् जिनका आर्यसमाज से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था, पण्डित केशव शर्मा (गोपेश्वर, जिला चमोली-निवासी) थे, जिन्होंने संध्या पर 'विश्वव्यापी संध्या' तथा संध्या-विज्ञान' शीर्षक दो सुन्दर ग्रन्थ लिखे जो कैलाश योगाश्रम गोपेश्वर से क्रमशः १९८९ तथा १९९३ वि० में प्रकाशित हुए।

महात्मा नारायण स्वामी द्वारा संध्या-व्याख्या वैदिक संध्या-रहस्य शीर्षक से लिखी गई। यह अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त कर चुकी है। फलतः इसे अनेक प्रकाशकों ने प्रकाशित किया है। गुरुकुल काँगड़ी के सुयोग्य स्नातक पण्डित नित्यानन्द पटेल वेदालंकार ने संध्यासुमन शीर्षक जो व्याख्या लिखी उसे गुरुकुल की स्वाध्याय मंजरी ग्रन्थमाला-१० के अन्तर्गत १९९६ वि० में प्रकाशित किया गया। महात्मा प्रभुआश्रित (जो गृहस्थाश्रम में महात्मा टेकचन्द के नाम से जाने जाते थे) का साहित्य आर्यसमाज के अनेक क्षेत्रों में पर्याप्त लोकप्रिय है। इनके द्वारा रचित 'संध्या सोपान' देशविभाजन से पूर्व मथुरादास भीमसेन (टोबाटेकसिंह निवासी) ने १९९८ वि० में छपाया था। श्री पूर्णचन्द्र एडवोकेट ने संध्या की व्याख्या 'मनमन्दिर' शीर्षक से लिखी थी जो आगरा से १९९८ वि० में छपी। श्री दीनदयालु सोनी लिखित ग्रन्थ 'संध्यारहस्य' संन्ध्याप्रकरण की वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करता है। यह आर्ष स्वाध्याय सदन दिल्ली से १९४२ ई० में प्रकाशित हुआ था। स्वामी सत्यप्रकाश यति लिखित ब्रह्मबोधिनी संध्या को के० सी० भल्ला ने इलाहाबाद से १९७४ वि० में प्रकाशित किया था। स्वामी धीरानन्द ने संध्या-ज्ञानप्रकाश लिखी और १९३६ ई० में लाहौर से प्रकाशित की। आर्यसमाज के सिद्धहस्त लेखक पण्डित जगत्कुमार शास्त्री ने ब्रह्म-यज्ञ शीर्षक जो लघु व्याख्या लिखी उसे आर्यसमाज दीवान हॉल दिल्ली ने १९४६ ई० में छपाया था। संध्या पर उनकी दो अन्य पुस्तकें ब्रह्मयज्ञप्रदीप तथा संध्यामाता क्रमशः १९५३ तथा १९५७ ई० में छपीं। विश्वनाथ विद्यालंकारकृत संध्यारहस्य भी स्वाध्याय मंजरी के अन्तर्गत ही १९९४ वि० में छपी थी। गुरुकुल काँगड़ी के ही एक अन्य स्नातक चन्द्रमणि विद्यालंकार की सुबोधसंध्या देहरादून से १९९० ई० में प्रकाशित हुई थी।

स्वातन्त्र्योत्तर युग में प्रकाशित होनेवाले संध्या-विषयक कुछ ग्रन्थ हैं—हरिशरण सिद्धान्तालंकारकृत संध्यामन्त्रों का विशेष व्याख्यान, स्वामी वेदानन्द तीर्थ

कृत संध्यालोक, चन्द्रानन्द वानप्रस्थी (चाँदकरण शारदा) कृत संध्या—आर्यों की दैनिक उपासना, पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखित सरल संध्याविधि तथा संध्या क्या, क्यों कैसे ? रामेश्वरानन्द सरस्वती ने संध्या-भाष्यम् में स्वामी दयानन्दप्रणीत संध्याविधि एवं व्याख्या को व्यवस्थित रूप से प्रस्तुत किया है। संध्याविधि तथा व्याख्या पर शास्त्रीय विवेचना करने का परिश्रमसाध्य कार्य आचार्य विश्वश्रवा ने किया है। उनकी संध्यापद्धतिमीमांसा इस दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। पण्डित वीरसेन वेदश्रमी का संध्यायोगरहस्य ब्रह्मयज्ञ की उपासनापरक व्याख्या प्रस्तुत करता है। पण्डित प्रकाशवीर शास्त्री ने वैदिक संध्यासार लिखकर संध्या की आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक उपयोगिता प्रकाशित की है। पण्डित ज्ञानेश्वरानन्द वानप्रस्थ ने 'अमृतमंथन अर्थात् ब्रह्मयज्ञ' शीर्षक ग्रन्थ लिखा जो २०१२ वि० में प्रकाशित हुआ।

नवीन सूचनाओं से पता चलता है कि उत्तर प्रदेश के एक पुराने विद्वान् और उपदेशक पण्डित मुसद्दीलाल शर्मा ने संध्योपासनामीमांसा लिखी थी जो १९०० ई० में छपी। उसी युग के चिम्मनलाल वैश्य की संध्यादर्पण, स्वामी मंगलानन्द पुरी कृत ब्रह्मयज्ञ तथा लक्ष्मण आर्योपदेशक लिखित वैदिक संध्या शीर्षक पुस्तकें भी छपीं।

कतिपय आर्य संन्यासियों ने भी संध्या पर स्वव्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख ऊपर आ चुका है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद के काल में स्वामी योगानन्द (वैदिक संध्या), स्वामी विद्यानन्द विदेह (संध्यायोग), स्वामी सत्यानन्द (संध्यायोग) तथा स्वामी शंकरानन्द (आत्म-ज्योति-प्रकाश अथवा संध्या रहस्यार्थ-प्रकाशिका) आदि चतुर्थाश्रमियों ने संध्या पर उल्लेखनीय ग्रन्थरचना की है।

संध्या के विभिन्न अंगों का पृथक्-पृथक् विवेचन—जैसाकि हम देख चुके हैं संध्या की सर्वांगीण विधि की विस्तृत व्याख्या करते हुए अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। कुछ ग्रन्थ ऐसे भी हैं जो संध्यांगों की पृथक् रूप से व्याख्या करते हैं। पण्डित रामदुलारेलाल चतुर्वेदी ने अघमर्षणरहस्य (१९८१ वि०) में "ऋतंच सत्यंच" आदि अघमर्षण-विषयक तीन मन्त्रों की विशद व्याख्या की है। मनसा-परिक्रमा की व्याख्या में पण्डित आत्माराम अमृतसरी का ग्रन्थ दिग्विज्ञान (१९८१ वि०) तथा पण्डित प्रियरत्न आर्षकृत विश्व-विज्ञान और परमात्मबोध उल्लेखनीय हैं। पण्डित मुक्तिराम उपाध्याय ने "संध्या के तीन अंग" में प्राणायाम, अघमर्षण तथा मनसापरिक्रमा की व्याख्या लिखी। वैदिक पुस्तकालय लाहौर से उनकी यह कृति १९९० वि० में प्रकाशित हुई थी। अमर स्वामी ने संध्या के दो मन्त्रों की व्याख्या लिखी है।

संध्यांगों में सर्वाधिक विवेचित विषय प्राणायाम का रहा है। संध्या के एक अंग के रूप में तो उसकी उपयोगिता है ही, योगांगों में भी उसका महत्त्वपूर्ण स्थान होने तथा शरीर, मन और आत्मा के संतुलित विकास में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहने के कारण प्राणायाम योगसाधकों के लिए अनिवार्यतः आचरणीय है। प्राणायाम के मर्मज्ञ साधक विद्वानों ने इसपर अनेक उत्तम ग्रन्थ लिखे हैं। भास्कर प्रेस, मेरठ से प्राणायामशिक्षा का प्रकाशन हुआ था। ब्रह्मानन्द सरस्वती की कृति 'प्राणायाम की सरल विधि' वाराणसी से छपी थी। महात्मा नारायण स्वामी जहाँ उच्च कोटि के विद्वान् तथा लेखक थे, वहाँ वे एक उत्कृष्ट योगसाधक भी थे। उनके द्वारा लिखित प्राणायामविधि का प्रथम संस्करण १९७१ वि० में प्रेम पुस्तकालय, आगरा से प्रकाशित हुआ था। उसके

अन्य संस्करण इन्द्रजीत शाहजहाँपुर, राजपाल लाहौर, गोविन्दराम हासानन्द कलकत्ता-दिल्ली तथा सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित हुए। स्वामी अभयानन्द सरस्वती एक अन्य प्रसिद्ध योगी साधक थे जिन्होंने काशी में योगमण्डल की स्थापना की थी। १९८० वि० में इनकी प्राणायामविधि प्रकाशित हुई। आचार्य भद्रसेन का प्राणायाम पर लिखा गया ग्रंथ योगसाधकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

संध्या के पद्यानुवाद—संध्या ईश्वरोपासना की एक शास्त्र-सम्मत विधि है। संध्या पर विविध व्याख्याएँ लिखी गयीं तथा अनेक भाषाओं में उसके अनुवाद भी हुए हैं। मन्त्रार्थ को सुगम रीति से हृदयंगम किया जा सके, इस दृष्टि से कविप्रतिभा-सम्पन्न पुरुषों ने संध्या के अनेक काव्यानुवाद प्रस्तुत किये हैं। यहाँ कुछ ऐसी ही कृतियों का परिचय दिया जा रहा है। स्वामी दयानन्द के समकालीन मुंशी केवल कृष्ण (गुजराँवाला निवासी)ने उर्दू पद्यों में संध्या का अनुवाद संध्यामंजूम शीर्षक से किया। इसका प्रकाशन १९७० वि० में हुआ था। अक्सीर स्यालकोटी के द्वारा लिखित संध्यामंजूम का भी उल्लेख मिलता है। मेरठ के प्रसिद्ध हिन्दी कवि हरिशरण मरालकृत संध्या पद्यानुवाद १९५२ ई० में छपा। इसी वर्ष हितैषी अलावलपुरी का संध्यागान प्रकाशित हुआ। स्वामी आत्मानन्द सरस्वतीकृत संध्या के मन्त्रों का पद्यानुवाद उनके आत्म-तरंग शीर्षक काव्य-संग्रह में संकलित हुआ है। इष्टानन्द सरस्वती (पूर्वाश्रम में पण्डित गदाधरप्रसाद इष्ट) का संध्या पद्यानुवाद आर्य आदर्श ग्रन्थमाला लखनऊ से छपा था। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय, योगानन्द दण्डी, धर्मदत्त विद्यालंकार, तथा सूर्यदेव शर्माकृत काव्यानुवाद भी सन्ध्या के मन्त्रों को पद्यबद्ध करने के सफल प्रयत्न हैं। पण्डित रामचन्द्र विद्यालंकारकृत वैदिक-संध्यागीत इस विधा का नवीनतम ग्रन्थ है जो १९८१ ई० में प्रकाशित हुआ है। पण्डित ताराचंद आर्य वानप्रस्थी ने सिक्खों के जपजी की शैली में ब्रह्मस्तोत्र शीर्षक से संध्या का पद्यानुवाद किया है। रांची के बैरिस्टर श्यामकृष्ण सहाय ने संध्या के मन्त्रों का सोरठा छंद में अनुवाद किया था। इसका प्रथम संस्करण १९०० ई० में प्रकाशित हुआ।

हिन्दी से भिन्न भाषाओं में संध्याविधि के ग्रन्थ—संध्योपासना आर्यों का नैत्यिक कर्त्तव्य है। अतः इसकी विधि हिन्दी से भिन्न भाषाओं में भी प्रकाशित हुई है। हिन्दी में संध्या-सम्बन्धी पुस्तकों का बाहुल्य है। विभिन्न प्रकाशकों ने संध्या-पद्धतियाँ प्रकाशित की हैं। अनेक आर्यसामाजिक संस्थाओं ने भी संध्या-विषयक पुस्तकें छापी हैं। इन सबका सामान्य परिचय देना कठिन है। हिन्दी से भिन्न जिन भाषाओं में संध्याविधि की पुस्तकें छपी हैं, उनका स्वल्प परिचय यहाँ दिया जा रहा है। गुजराती में आर्य सेवा संघ सूरत ने संगीतमय संध्या, संध्या वंदना, वैदिक संध्या-यज्ञ तथा दैनिक संध्या-यज्ञ शीर्षक चार पुस्तकें प्रकाशित कीं। पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने संध्या-उपासना का प्रकाशन स्वाध्याय मण्डल पारड़ी से १९५३ ई० में किया। इसके अतिरिक्त आर्य प्रतिनिधि सभा बम्बई, आर्यसमाज आनन्द, आर्यसमाज जामनगर आदि ने भी संध्या की पुस्तकें गुजराती में प्रकाशित कीं। बंगला में पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री (वैदिक संध्याविधि तथा वैदिक संध्या ओ गायत्रीर व्याख्यान) तथा पण्डित प्रियदर्शन सिद्धान्तभूषण ने ('संध्योपासनम्') संध्या-विधियाँ सम्पादित की हैं। पंजाबी तथा सिंधी भाषा में भी संध्या-पद्धति प्रकाशित हो चुकी है।

अन्तर्राष्ट्रीय धर्मसंस्था होने के कारण आर्यसमाज का प्रचार भारतेतर देशों में

भी है। अंग्रेजी भाषा ने आज अन्तर्राष्ट्रीय रूप धारण कर लिया है तथा वह अखिल विश्व के स्तर पर वैचारिक आदान का माध्यम बन चुकी है। देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् भी भारत में अंग्रेजी के प्रचार-प्रसार में न तो कमी आई है और न उसका प्रभाव एवं वर्चस्व ही न्यून हुआ है। स्वतन्त्रता-पूर्व के समय तो वह शासक जाति की भाषा होने के कारण अपना महत्त्व एवं प्रभुत्व रखती ही थी। ऐसी स्थिति में यदि संध्योपासना के ग्रन्थ अंग्रेजी में तैयार किये गये तथा संध्या की व्याख्या में अंग्रेजी में ग्रन्थ-रचना हुई तो आश्चर्य ही क्या ?

विगत शताब्दी में जब लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हुई तो उसी नगर के निवासी श्री रतनचन्द बेरी ने Sandhya or the Prayer Book of Aryans लिखी। पण्डित दुर्गाप्रसाद की संध्या-विषयक कृति संध्या और प्रेयरबुक वजीरचन्द शर्मा लाहौर ने १९२५ ई० में प्रकाशित की। हीरालाल सूद ने Sandhya or the Song of the Soul पुस्तक लिखी जिसे स्टार प्रेस इलाहाबाद ने प्रकाशित किया। महात्मा नारायण स्वामी की संध्या-विषयक पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद प्रोफेसर सुधाकर ने किया जो १९८५ वि० में शारदा मन्दिर लाहौर से छपा। कालान्तर में इसके दो अन्य संस्करण १९५८ ई० तथा १९६८ ई० में भी छपे। श्री धनपति का संध्या अनुवाद The Song of Soul शीर्षक से छपा। श्री के० सी० जन्मेजा ने संध्या—इट्स ब्यूटी एण्ड सिगनिफिकेन्स लिखा जिसमें संध्या के महत्त्व का निरूपण किया गया है। प्रिंसिपल दीवानचन्दकृत Vedic Prayer, लाला दीवानचन्दकृत Vedic Sandhya and Prayer, पण्डित शिवदयालुकृत संध्या (अंग्रेजी अनुवाद) तथा पं० वैद्यनाथ शास्त्रीकृत Vedic Sandhya—Daily Aryan Prayer भी इसी विषय पर रचित ग्रन्थ हैं। अन्तिम का प्रकाशन १९७० ई० में सार्वदेशिक सभा ने किया है।

अग्निहोत्र विषयक व्याख्या ग्रन्थ—ब्रह्मयज्ञ के व्याख्या-ग्रन्थों का विवरण उपलब्ध कराने के पश्चात् देवयज्ञ (अग्निहोत्र) की विधि एवं व्याख्या-विषयक साहित्य पर विचार करना आवश्यक है। स्वामी दयानन्द ने दैनिक यज्ञ की विधियाँ सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि तथा पंचमहायज्ञविधि में कहीं संक्षिप्त, तो कहीं विस्तार के साथ दी हैं। आपाततः देखने से विभिन्न ग्रन्थों में उल्लिखित इन विधियों में अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है, किन्तु आर्यसमाज के कर्मकाण्ड-मर्मज्ञ विद्वानों ने इस अन्तर अथवा विरोध का स्वविचार-अनुसार समाधान भी किया है। स्वामी दयानन्द ने अग्निहोत्र के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष—दोनों प्रकार के लाभ स्वीकार किये हैं। एक ओर यदि वे ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित अग्निहोत्र के फल—स्वर्ग (सुखप्राप्ति) को स्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर यज्ञ के भौतिक लाभों को भी महत्त्व प्रदान करते हैं। उनके अनुसार यज्ञों से वायु, जल आदि भूतों की शुद्धि, वातावरण और पर्यावरण की स्वच्छता, रोगोत्पादक कीटाणुओं का विनाश होता है। वे यज्ञों के द्वारा मीमांसा-प्रतिपादित 'अपूर्व' के उत्पन्न होने का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं, तो साथ ही यह भी कह देते हैं कि यज्ञों में मन्त्र-पाठ करने से मन्त्र-प्रतिपादित कर्मों के महत्त्व का ज्ञान तो होता ही है, मन्त्रों का स्मरण भी यज्ञकर्त्ता को हो जाता है। इस प्रकार वे अग्निहोत्र कर्म को प्रत्येक गृहस्थ दम्पती के लिए आवश्यक कर्त्तव्य मानते हैं। यज्ञों से जल, वायु आदि जड़ देवताओं का शोधनरूपी सत्कार तथा यज्ञकर्त्ता विद्वान् ऋत्विकों का आदर होता है। उनकी दृष्टि में यही वास्तविक देवपूजा है।

आर्यसमाज के विद्वानों ने अग्निहोत्र कर्म के लाभों और उसकी उपयोगिता को निर्दिष्ट करने की दृष्टि से अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। देवयज्ञ-विषयक ग्रन्थ भी दो प्रकार के हैं। प्रथम कोटि में वे ग्रन्थ आते हैं जिनमें यज्ञ-विधि का वर्णन मिलता है। ऐसे ग्रन्थों की संख्या अत्यधिक है। प्रायः स्वामी दयानन्दकृत पंचमहायज्ञविधि तथा संस्कारविधि के सामान्य (यज्ञ) प्रकरण के आधार पर ही ये यज्ञ-विधियाँ तैयार की गई हैं। प्रचार की दृष्टि से छपनेवाली यज्ञ-विषयक इन पद्धतियों की लाखों प्रतियाँ अब तक पाठकों तथा यज्ञप्रेमी व्यक्तियों तक पहुँच चुकी हैं।

दूसरी कोटि के ग्रन्थ वे हैं जिनमें यज्ञ कर्म की महत्ता, उपयोगिता तथा इति-कर्त्तव्यता सिद्ध की गई है। ऐसे ग्रन्थ भी पर्याप्त संख्या में प्रकाशित हुए हैं। इनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियों का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है। विगत शताब्दी के अन्तिम वर्षों में पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा ने हवन के लाभ तथा होमयज्ञ शीर्षक दो ग्रन्थ लिखे। स्वामी दर्शनानन्दकृत 'यज्ञ' एक उपयोगी लघु पुस्तिका है। स्वामी प्रकाशानन्द सरस्वती का "अग्निहोत्र पर व्याख्यान" आर्यसमाज जोधपुर द्वारा १८९६ ई० में प्रकाशित हुआ। किन्तु अग्निहोत्र पर कुछ सुन्दर, सारगर्भित तथा गम्भीर व्याख्यायें इसी शताब्दी में लिखी गईं। इनमें पण्डित चमूपति की देवयज्ञ पर आध्यात्मिक दृष्टि (१९८६ वि०), पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकारकृत अथ देवयज्ञ (१९९३ वि०), प्रोफेसर बालकृष्ण रचित अग्निहोत्र-व्याख्या (१९६८ वि०), और मास्टर नत्थनलाल लिखित हवन-यज्ञ-प्रदीपिका (१९२७ ई०) आदि उल्लेखनीय हैं।

गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक पण्डित देवराज विद्यावाचस्पति ने यज्ञ-कर्म का विशिष्ट अध्ययन किया था। उनकी 'अग्निहोत्र' (स्वाध्यायमंजरी के अन्तर्गत २००८ वि० में प्रकाशित) तथा "वैदिक भारत में यज्ञ और उसका आध्यात्मिक स्वरूप" यज्ञ-विषयक महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। महात्मा नारायण स्वामी की वैदिक यज्ञ-रहस्य उनकी अन्य रचनाओं की भाँति विषय का सुगम प्रतिपादन करने की दृष्टि से लिखी गई है। महात्मा प्रभुआश्रित की पुस्तक 'यज्ञ रहस्य' उनकी भक्तमण्डली में पर्याप्त लोकप्रिय है। पण्डित जगत्कुमार शास्त्री ने देवयज्ञप्रदीप लिखा जो उन्हीं की प्रकाशन-संस्था साहित्य मण्डल दिल्ली से छपा। श्री पूर्णचन्द्र एडवोकेट ने यज्ञ और पूर्णता शीर्षक एक लघु ग्रन्थ लिखा है।

यज्ञ-विषयक शास्त्रीय मीमांसा तथा यज्ञविधियों की सतर्क व्याख्या करने की दृष्टि से जो ग्रन्थ लिखे गये हैं, उनकी संख्या अधिक नहीं है। आचार्य विश्वश्रवा ने १९५१ ई० में यज्ञपद्धतिमीमांसा लिखकर स्वामी दयानन्द-निर्धारित यज्ञपद्धति की विवेचना की है। उन्होंने यज्ञ-विषयक कर्मों के औचित्य तथा उनकी प्रामाणिकता को विभिन्न तर्कों एवं युक्तियों से सिद्ध किया है। पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री ने यज्ञ के शास्त्रीय पक्ष को वैदिकयज्ञ दर्शन में प्रतिपादित किया है। आर्यसमाज में प्रचलित कर्मकाण्ड के विभिन्न रूपों की भी उन्होंने सतर्क समीक्षा की है। उनकी विवेचन-क्षमता प्रौढ़ तथा शैली शास्त्रीय एवं पाण्डित्यपूर्ण हैं। इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्री वैद्यनाथ जी की पत्नी श्रीमती उर्मिलादेवी शास्त्री ने बड़ौदा से १९८० ई० में किया था। डॉक्टर रामनाथ वेदालंकार का यज्ञमीमांसा अर्थात् अग्निहोत्र-दर्पण यज्ञ कर्म की आध्यात्मिक एवं विद्वत्तापूर्ण व्याख्या प्रस्तुत करता है। इसे दयानन्द संस्थान दिल्ली ने १९८१ ई० में प्रकाशित किया था। श्री विन्ध्यवासिनीप्रसाद ने भी "अग्निहोत्र की प्रतीकात्मक व्याख्या"

लिखी है।

स्वामी दयानन्द ने यज्ञ की, वैज्ञानिक व्याख्या की, तथा उसे पर्यावरण की शुद्धि का एक प्रमुख साधन बताया। यज्ञ का चिकित्साशास्त्र से भी सम्बन्ध है क्योंकि विभिन्न ओषधियों, जड़ी-बूटियों आदि को शाकल्य के रूप में अग्नि में छोड़ने से जो धुंआ निकलता है वह अनेक प्रकार के कीटाणुओं का नाश करता है। विभिन्न रोगों का निवारण करने की दृष्टि से भी विभिन्न यज्ञों का सम्पादन किया जाता है। अनेक आर्य विद्वानों ने यज्ञ की वैज्ञानिक व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं। पण्डित शिव शर्मा का यज्ञ और विज्ञान इस विद्या का प्रथम ग्रन्थ है जो १९३६ ई० में छपा था। डॉक्टर कुन्दनलाल वर्मा ने क्षय रोग की चिकित्सा के लिए एक विशिष्ट यज्ञपद्धति का निर्माण किया था। उनकी 'यज्ञ चिकित्सा' तथा "हवन यज्ञ द्वारा क्षय रोग की चिकित्सा" इसी श्रेणी के ग्रन्थ हैं। डॉक्टर रामप्रकाश ने 'हवन यज्ञ और विज्ञान' एक रसायनशास्त्री की दृष्टि से लिखा है। इसे चण्डीगढ़ के आर्ययुवक समाज ने १९६३ ई० में प्रकाशित किया था। पण्डित वीरसेन वेदश्रमी ने यज्ञ के चिकित्सा-विषयक पहलू का विशेष विचार किया है। उनका 'यज्ञ चिकित्सा और विज्ञान' इसी कोटि का ग्रन्थ है। उन्होंने 'याज्ञिक वृष्टि विज्ञान' तथा 'वृष्टि यज्ञों के परीक्षण एवं परिणाम' शीर्षक ग्रन्थ भी लिखे हैं।

यज्ञ करते-कराते समय अनेक प्रकार की समस्याएँ तथा अनेक प्रश्न उपस्थित हो जाते हैं। यज्ञ-विषयक पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के एक ऐसे ही लेख की आलोचना करते हुए पण्डित सत्यभूषण वानप्रस्थी ने 'देव यज्ञ मर्यादा यथार्थ में क्या है?' शीर्षक पुस्तक लिखी तो मेधारथी स्वामी ने एक अन्य विवादास्पद विषय 'क्या संन्यासी को यज्ञ में ब्रह्मा का पद दिया जा सकता है?' पर अपनी लेखनी चलाई। उनकी लघु पुस्तक 'यज्ञों में ब्रह्मा संन्यासी ही क्यों?' इस धारणा का प्रतिवाद करती है कि यज्ञ कराने का अधिकार संन्यासी को नहीं है।

यज्ञ-विषयक उर्दू एवं अंग्रेजी के ग्रन्थ—उर्दू में जैमिनि मेहता की पुस्तक 'वैदिक यज्ञ और कुर्बानी' तथा काशीराम प्लीडर की कृति 'यज्ञ कुर्बानी नहीं है' यज्ञ में पशुहिंसा का निषेध करती हैं। डॉक्टर बालकृष्ण की यज्ञ-विषयक महत्त्वपूर्ण पुस्तक 'अग्निहोत्र' का उर्दू अनुवाद व्रजलाल आजिज़ ने 'फलसफाए अग्निहोत्र' शीर्षक से किया था।

अंग्रेजी में पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय तथा पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री ने 'अग्निहोत्र विधि' को प्रस्तुत किया है। इनके द्वारा लिखे गये इन ग्रन्थों के क्रमशः नाम हैं—Daily Homage or Agnihotra तथा Havan Mantras। अग्निहोत्र पर एक अंग्रेजी पुस्तक प्रोफेसर ताराचन्द गाजरा ने लिखी थी जो १९१७ ई० में स्टार प्रेस, प्रयाग से छपी। डॉक्टर सत्यप्रकाश का अग्निहोत्र-विषयक ग्रन्थ विवेचन-प्रधान तथा यज्ञ की वैज्ञानिक व्याख्या से युक्त है। उपाध्याय जी की Yajna or Sacrifice एक परिचयात्मक लघु पुस्तक है जो आर्यसमाज विश्व-प्रचार ग्रन्थमाला में छपी थी। पण्डित वीरसेन वेदश्रमी ने पर्यावरण-शुद्धि तथा वृद्धि-लाभ के लिए जो यज्ञविधियाँ स्वयं निर्मित की हैं उनका परिचय उन्हीं के ग्रन्थों—Three main Current Problems—A Solution through Science of Yajna तथा The Science of Yajna in Rain Formation से मिल जाता है।

अन्य तीन महायज्ञ—पितृ-यज्ञ सम्बन्धी ग्रन्थ अल्पसंख्या में उपलब्ध होते

हैं। श्री भक्तराम उपदेशक लिखित 'आर्ष पितृ-यज्ञ' वैदिक यन्त्रालय, अजमेर से मुद्रित हुआ था। उस समय इसके लेखक इस यन्त्रालय में प्रबन्धक के पद पर कार्य करते थे। श्री देवीदास आर्य मेरठ-निवासीकृत 'पितृयज्ञ' तथा स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वतीकृत 'पितृयज्ञ प्रसाद' इस विषय से सम्बन्धित दो अन्य कृतियाँ हैं।

क्षुद्र जीवों को अन्नादि देने के प्रयोजन से ऋषियों ने बलिवैश्वदेवयज्ञ का विधान किया था। इससे प्राणियों (भूतों) की क्षुधापूर्ति होती है, इसलिए इसे भूतयज्ञ भी कहते हैं। आर्यसंघ मेरठ से श्री हरिशरण श्रीवास्तव तथा पण्डित शिवदयालु के संयुक्त लेखन में लिखित "बलिवैश्वदेव यज्ञ की वैदिक व्याख्या" इस यज्ञ के स्वरूप को प्रस्तुत करती है। शाहपुरा के दिवंगत राजाधिराज श्री उम्मेदसिंह श्रेयार्थी ने 'बलिवैश्वदेव पर विचार' शीर्षक ग्रन्थ लिखकर शाहपुरा राज्य के वेद-प्रचार कोष से प्रकाशित कराया था।

स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती रचित "अतिथि-यज्ञ-प्रसाद" तथा वैदिक भक्ति साधन आश्रम रोहतक से प्रकाशित "अतिथि यज्ञ का स्वरूप" इस यज्ञ-विषयक उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं।

विविध इष्टियज्ञ तथा अन्य यज्ञपद्धतियाँ—अब तक हमने आर्यसमाजीय कर्मकाण्ड साहित्य के अन्तर्गत उन ग्रन्थों का विचार किया है जो संस्कारों तथा पंचमहायज्ञों से सम्बन्धित हैं। किन्तु वैदिक कर्मकाण्ड के अन्तर्गत ऐसे नैमित्तिक कर्मों का भी समावेश होता है जो यदा-कदा किसी विशिष्ट प्रयोजनवश अथवा उपलक्ष्य में किये जाते हैं। पुरातन यज्ञपद्धतियों से सम्बद्ध ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि ऐसे विशिष्ट यज्ञों को इष्टि, याग आदि की संज्ञाएँ प्राप्त थीं। आर्यसमाज ने पुरातन श्रौत कर्मकाण्ड को पुनरुज्जीवित करने का प्रयास तो नहीं किया किन्तु उसके कर्मकाण्ड-प्रवण विद्वानों ने कुछ नवीन प्रकार के यज्ञ प्रचलित किये हैं जिनका आयोजन किसी विशिष्ट समारोह के अवसर पर किया जाता है। ऐसे कर्मों में वेदपारायण या चतुर्वेदपारायण यज्ञों को अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई है। पारायण-यज्ञकर्त्ता याज्ञिक को कुछ अधिक श्रम नहीं करना पड़ता। वेदमन्त्रों के उच्चारणपूर्वक स्वाहान्त के साथ आहुतियाँ दी जाती हैं और वेदपारायण यज्ञ समाप्त हो जाता है। यहाँ हम उन सभी यज्ञविधियों का परिचय दे रहे हैं, जो ग्रन्थाकार प्रकाशित हुई हैं।

इष्टि याग—पण्डित भीमसेन शर्मा ने पुत्रकामेष्टि-पद्धति का संकलन किया जो १८९७ ई० में सरस्वती यन्त्रालय इटावा से प्रकाशित हुई। उन्होंने प्राचीन ग्रन्थों से अन्य अनेक इष्टियों का संग्रह किया और इस इष्टि-संग्रह को १८९९ ई० में प्रकाशित किया। यजुर्वेद के प्रारम्भिक मन्त्रों पर आधारित दर्श एवं पौर्णमास यागों की विधि का भी उन्होंने शास्त्रीय रीति से सम्पादन किया। उनकी यह दर्श-पौर्णमास-पद्धति १८९९ ई० में छपी। लगभग ८० वर्ष पश्चात् इसे रामलाल कपूर ट्रस्ट ने पुनः प्रकाशित किया है। पं० भीमसेन शर्मा ने स्मार्तकर्मपद्धति तथा स्वस्तिपुण्याहवाचन का भी सम्पादन किया। ये दोनों ग्रन्थ १९०० ई० में छपे थे।

पुत्रेष्टि यज्ञपद्धति का संकलन एवं सम्पादन पण्डित सुरेन्द्र शर्मा गौड़ ने भी किया था। एक अन्य पुत्रेष्टि-यज्ञ पद्धति स्वामी ज्ञानेश्वरानन्द वानप्रस्थी द्वारा १९६२ ई० में प्रकाशित की गई। पण्डित शिवदयालु ने नवसस्येष्टि-यज्ञ-पद्धति का निर्माण किया। इसे आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तर प्रदेश ने प्रकाशित किया था। आचार्य विश्वश्रवा ने

चान्द्रायणव्रत-पद्धति सम्पादित की जो वेद-मन्दिर, बरेली से २००७ वि० में प्रकाशित हुई थी। यह प्रायश्चित्त-कर्म की पद्धति है। जैसा कि हम पहले लिख चुके हैं, आर्यसमाज में वेदपारायण यज्ञों का प्रचलन अत्यधिक बढ़ गया है। आर्यसमाजों के वार्षिक उत्सवों, वेदप्रचार-सप्ताहों तथा अन्य विशिष्ट पर्वों पर इन यज्ञों का आयोजन किया जाता है। अनेक गृहस्थ अपनी सन्तानों के विवाह की तिथि से एक सप्ताह पूर्व से ही किसी एक वेद का पारायण यज्ञ रखते हैं। जब पारायण यज्ञों की शास्त्रीयता को चुनौती दी गई तो पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने "ब्रह्मपारायण यज्ञ की शास्त्रीयता" शीर्षक पुस्तक लिखी और अनेक प्रमाणों से समग्र वेदमन्त्रों के पाठपूर्वक किये जानेवाले इन यज्ञों के औचित्य को सिद्ध किया। श्री देवीचरण देवेश ने "वेदपारायण यज्ञों का विधि विधान" संकलित किया है। इसे नई दिल्ली की वैदिक अनुसंधान समिति ने १६८३ ई० में प्रकाशित किया।

आर्यसमाज ने जो पर्व-पद्धति निर्धारित की है, उसके अनुसार श्रावण की पूर्णिमा को श्रावणी उपाकर्म सम्पन्न किया जाता है। उपाकर्म की सम्पूर्ण विधि आर्यपर्वपद्धति (लेखक—पण्डित भवानीप्रसाद) में दी हुई है। यज्ञ तथा चारों वेदों के प्रतीकरूप कुछ मन्त्रों का पाठ आदि इस पर्व के करणीय कृत्य हैं। श्रावणी पर्व की उपाकर्म पद्धति का संकलन पण्डित सुरेन्द्र शर्मा गौड़ (२०१२ वि०), श्री ज्ञानचन्द (१६३१ ई०), प्रोफेसर उमाकान्त उपाध्याय आदि विद्वानों ने किया है। ब्रह्मचारी उषर्बुध ने सुपथदर्शन में श्रावणी के आगे के कर्मों की विधि लिखी है। आदर्श प्रकाशन दिल्ली से यह १६४६ ई० में छपी थी।

आर्यसमाज द्वारा भी अनेक पर्व मनाये जाते हैं। ये पर्व प्रायः वही हैं, जिन्हें हिन्दू धर्म के अन्य सम्प्रदायों द्वारा भी मनाया जाता है, पर इन्हें मनाने की आर्यपद्धति अनेक अंशों में भिन्न है। आर्यसमाज में पर्वों को किस पद्धति से मनाया जाए, इसका निर्धारण करने का कार्य सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा पण्डित भवानीप्रसाद जी के सुपुर्द किया गया था। पण्डित जी ने इसी के अनुसार 'आर्यपर्वपद्धति' नामक ग्रन्थ लिखा था, जिसे पहली बार सार्वदेशिक सभा ने स्वामी दयानन्द सरस्वती की जन्म-शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित किया था।

श्रावणी उपाकर्म-विषयक गुजराती भाषा में लिखे गये ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है। वेदोक्त उपाकर्म-विधि का सम्पादन विट्ठल बावजी गावस्कर तथा मंछाशंकर त्रिवेदी ने सम्मिलित रूप से किया। १६६६ वि० में यह बम्बई से छपी थी। पण्डित विजयशंकर जानी ने एक अन्य उपाकर्म-विधि प्रस्तुत की। आर्यसमाज अहमदाबाद, (१६८१ वि०), आर्यसमाज सूरत (१६८७ वि०) तथा आर्यसमाज काकडवाड़ी बम्बई (१६५० ई०) ने भी पृथक्शः उपाकर्म-विधियों का प्रकाशन किया है।

अब हम आर्यसमाज के विशिष्ट सम्मेलनों तथा समारोहों के अवसर पर सम्पन्न विशिष्ट यागों की पद्धतियों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। पण्डित हरिदत्त शास्त्री ने वैदिक विष्णु याग का विवरण २००० वि० में सम्पादित कर प्रकाशित किया। आर्य महासम्मेलन मेरठ के अवसर पर राष्ट्रभृत यज्ञ सम्पन्न हुआ। इसकी विधि पण्डित द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री ने तैयार की, जो १६५१ ई० में प्रकाशित हुई। स्वामी आत्मानन्द सरस्वती ने गोमेध-यज्ञ-पद्धति तैयार की जिसे वैदिक साधन आश्रम यमुनानगर ने

२००८ वि० में प्रकाशित किया। आचार्य रामदेव (वर्तमान में स्वामी सत्यानन्द) तथा पण्डित महेन्द्रप्रताप शास्त्री ने वैश्वानर-याग पद्धतियाँ बनाईं। इन्हें क्रमशः पंजाब तथा उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभाओं ने प्रकाशित किया था।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि आर्यसमाज ने वैदिक कर्मकाण्ड को प्रोत्साहित करने हेतु जो साहित्य तैयार किया, उसके परिणामस्वरूप आर्य संस्कृति के अनुयायियों में षोडश संस्कारों के प्रति आस्था उत्पन्न हुई तथा पंचमहायज्ञों को नियम-पूर्वक करने की प्रेरणा मिली। आर्यसमाजों में समय-समय पर विशिष्ट यज्ञ-याग आदि किये जाते हैं तथा श्रावणी एवं अन्य पर्वों पर भी पृथक्-पृथक् विधियों से यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं। आजकल प्राचीनकाल में प्रचलित दर्श पौर्णमास तथा पुत्रेष्टि आदि विधियों का चलन तो नहीं रहा, किन्तु उन इष्टियों से सम्बन्धित कुछ विधियाँ अवश्य तैयार की गई हैं।

नौवाँ अध्याय

आर्यसमाज का खण्डनात्मक साहित्य

(१) खण्डनात्मक साहित्य की परम्परा

भारत के धार्मिक एवं दार्शनिक चिन्तन की परम्परा में सैद्धान्तिक खण्डन-मण्डन, आलोचना-प्रत्यालोचना एवं उत्तर-प्रत्युत्तर की शैली को सदा से ही प्रश्रय मिलता रहा है। यद्यपि वैदिक साहित्य में ज्ञान और कर्म को सदा से ही तुल्य महत्त्व मिला है, किन्तु कालान्तर में जब कर्मकाण्ड का बाहुल्य हो गया और ज्ञानकाण्ड की उपेक्षा होने लगी तो उपनिषद्कार ने यज्ञों पर आधारित क्रिया-अनुष्ठानों को उस कमजोर नौका की संज्ञा प्रदान की जो मनुष्य को संसाररूपी दुस्तर सागर से पार कराने में असमर्थ है—'प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा' आदि। कालान्तर में बौद्ध मत के रूप में जो महान् वैचारिक क्रान्ति हुई उसने तो वेद के प्रामाण्य, सृष्टि के कर्त्ता रूप में स्वीकार किये गये ईश्वर, तीर्थों में स्नान करने से मुक्ति, जाति की श्रेष्ठता का आग्रह तथा देहपीड़न से पापों के क्षय होने को जड़ता का चिह्न ही बतलाया। चार्वाक सम्प्रदाय ने तो तीनों वेदों के कर्ताओं को धूर्त, भाण्ड और निशाचर की संज्ञा देने और वेदों के दुनियादार लोगों का ढकोसला तक बताने में संकोच नहीं किया। इधर ब्राह्मण दार्शनिकों ने भी बौद्ध, जैन आदि वैदिकेतर मतों की आलोचना करने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी।

यह बात नहीं कि खण्डन-मण्डन और आलोचना-प्रत्यालोचना की यह परम्परा वैदिक एवं बौद्ध जैसे परस्पर विरोधी शिविरों में बँटे लोगों में ही प्रचलित रही। समान रूप से वेदों में आस्था व्यक्त करनेवाले सांख्यादि वैदिक दर्शनों के परवर्ती भाष्यकारों, टीकाकारों तथा व्याख्याकारों ने भी एक-दूसरे के सिद्धान्तों की आलोचना कहीं-कहीं अत्यन्त मुखर शैली में की है। यहाँ तक कि उनकी यह समीक्षा यत्र-तत्र कटुता, विद्वेष तथा असहिष्णुता की सीमा तक पहुँच गई है। शंकराचार्य ने अपने ब्रह्मसूत्र भाष्य में कपिल-प्रोक्त सांख्य को श्रुतिविरुद्ध कहने में कोई संकोच नहीं किया, जबकि सांख्य ने वेद-प्रामाण्य का कहीं भी तिरस्कार नहीं किया है। नव्य न्याय के अनुयायियों में तो आपसी खींचतान यहाँ तक बढ़ गई कि पक्षधर मिश्र ने अपने ही शिष्य रघुनाथ शिरोमणि का उपहास करते हुए लिखा—

वक्षोपजानकृत काण ! संशये जाग्रति स्फुटे।
सामान्य लक्षणा कस्मादकस्मादपलक्ष्यते !!

यह तो बात हुई दर्शन के क्षेत्र की। धार्मिक सम्प्रदायों में पारस्परिक खण्डन-मण्डन तो सीमातीत अवस्था तक पहुँच चुका था। वैष्णवों के मान्य भागवतपुराण में शैव मत के अनुयायियों को स्पष्ट ही 'पाषण्डी' संज्ञा से अभिहित किया गया है—

भवव्रतधरा ये च ये च तान् समनुव्रताः।
पाषण्डिन्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिनः।। ४/२/२८

शैवों ने भी वैष्णवों को निन्दित बताने में कोई कसर बाकी नहीं रक्खी। चक्रांकित वैष्णवों को निम्न श्लोक में श्मशानकाष्ठतुल्य विगर्हित कहा गया है—

यथा श्मशानकाष्ठं सर्वकर्मसु गर्हितम्।
तथा चक्रांकितो विप्रः सर्वकर्मसुगर्हितः।।

धार्मिक खण्डन-मण्डन के ये तौर-तरीके शालीन अथवा अशालीन, भद्र अथवा अभद्र, मृदु अथवा कटु दोनों प्रकार की शैलियों में अबाध रूप में प्रचलित रहे।

यदि हम मध्यकालीन सन्तों के खण्डन-मण्डन-विषयक दृष्टिकोण पर विचार करें तो विदित होता है कि इस परम्परा में एक ओर कबीर जैसे अलमस्त, फक्कड़ तथा हद दर्जे के स्पष्टवक्ता लोग थे जिन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को समान रूप से उनकी साम्प्रदायिक संकीर्णताओं के लिए फटकारा तथा अपनी खण्डनात्मक उक्तियों को अत्यन्त कठोर भाषा में व्यक्त किया, किन्तु दूसरी ओर नानक, दादू तथा रैदास आदि अन्य वर्ग के सन्त भी थे, जिनकी खण्डन-शैली में पर्याप्त कोमलता तथा मार्दव पाया जाता है। उन्नीसवीं शताब्दी के पुनर्जागरण आन्दोलनों के पुरस्कर्ताओं ने भी धार्मिक और दार्शनिक चर्चाओं में खण्डन-मण्डन शैली का प्रचुर प्रयोग किया है। राममोहन राय को एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म की सत्ता को सिद्ध करने के लिए बहुदेववादी पौराणिक हिन्दुओं से लोहा लेना पड़ा था। साथ ही वे ईसाई मत के उन प्रचारकों से भी टक्कर ले रहे थे जो ईसाइयत में विश्वास लाने के लिए पिता, पुत्र और पवित्रात्मा के त्रैत में आस्था व्यक्त करना आवश्यक समझते थे तथा ईसामसीह द्वारा प्रदर्शित चमत्कारों और अलौकिक कृत्यों पर विश्वास करना भी जरूरी मानते थे। नवजागरण के पुरोधाओं द्वारा खण्डन-मण्डन के मार्ग को अपनाना इसलिये भी आवश्यक हो गया था, क्योंकि हिन्दू धर्म की आस्थाओं और मान्यताओं पर प्रहार करनेवाले ईसाई और मुसलमान प्रचारक अत्यन्त तीखी एवं विद्वेषपूर्ण भाषा का प्रयोग कर रहे थे। अतः 'शठे प्रति शाठ्यं कुर्यात्' की नीति का प्रयोग कर उनके इन आक्रमणों का जवाब देना अपरिहार्य हो गया था।

इसी सन्दर्भ में हमें दयानन्द सरस्वती की खण्डन-मण्डन की कार्यशैली की समीक्षा करनी चाहिए। स्वामीजी ने स्वलिखित सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध में सम्मिलित खण्डन-प्रधान चारों अध्यायों के प्रारम्भ में दी गई अनुभूमिकाओं में अपने एतद्विषयक दृष्टिकोण को अत्यन्त स्पष्टतापूर्वक प्रस्तुत किया है। मत-मतान्तरों की समालोचना में स्वामी दयानन्द पूर्णतया पूर्वाग्रहमुक्त दृष्टिकोण को लेकर प्रवृत्त हुए थे। वे यह अनुभव करते थे कि वैदिक धर्म के दिव्य आलोक से जो मत और सम्प्रदाय जितने दूर चले गये हैं, मानव-जाति को पथ-भ्रष्ट करने में वे उतने ही अधिक सक्षम सिद्ध हुए हैं। इस प्रकार ईसाइयत और इस्लाम जहाँ पैगम्बरवाद, स्वर्ग एवं नरक की मिथ्या कल्पनाओं तथा अनेक प्रकार के विद्याविरुद्ध, युक्ति तथा विज्ञानविरुद्ध मतवाद एवं कर्मकाण्ड के पुंज रह गये हैं, वहाँ भारत में उत्पन्न बौद्ध एवं जैन आदि लोकायत मत भी आस्तिक-भावनाशून्य, वेद-विरोधी विचारों का प्रचार करने में कारण बने हैं। यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि स्वामी दयानन्द ने एक ओर जैन, बौद्ध तथा चार्वाक आदि वैदिकेतर मतों तथा ईसाइयत एवं इस्लाम जैसे सैमेटिक विश्वासों का खण्डन किया, तो साथ ही आर्यावर्त्त

देशोत्पन्न शैव, शाक्त, वैष्णव आदि उन पौराणिक मतों का खण्डन करने में भी उन्हें संकोच नहीं हुआ जो येन-केन-प्रकारेण अपनी मान्यताओं को वेदों से जोड़ने के लिए प्रयत्नशील रहते थे। इस सम्बन्ध में उन्होंने अपनी धारणा को इस प्रकार प्रकट किया है—"यद्यपि मैं आर्यावर्त देश में उत्पन्न हुआ और बसता हूँ, तथापि जैसे इस देश के मत-मतान्तरों की झूठी बातों का पक्षपात न कर यथातथ्य प्रकाशित करता हूँ वैसे ही दूसरे देशस्थ वा मतवालों के साथ भी वर्तता हूँ।...क्योंकि मैं भी जो किसी एक का पक्षपाती होता तो जैसे आजकल के स्वमत की स्तुति, मण्डन और प्रचार करते हैं, और दूसरे मत की निन्दा, हानि और बन्द करने में तत्पर होते हैं, वैसे ही मैं भी होता, किन्तु ऐसी बातें मनुष्यपन के बाहर हैं।"

स्वामी दयानन्द ने जिन मत-सम्प्रदायों के दोषपूर्ण सिद्धान्तों का खण्डन किया, उन्हें वे अपनी अनुप्रासप्रियता के कारण पुराणी, जैनी, किरानी और कुरानी कहते हैं। 'पुराणी' से उनका अभिप्राय भारतदेशोत्पन्न उन सभी मतों से है जो वैदिक धर्म के विकृत रूप में महाभारत युद्ध के समाप्त होने के पश्चात् प्रचार प्राप्त करते रहे हैं। इनमें वाममार्ग, शाक्त मत, शैव मत, वैष्णवों के विविध सम्प्रदाय आदि सम्मिलित किये गये हैं। स्वामीजी ने 'जैनी' वर्ग के अन्तर्गत चार्वाक, बौद्ध तथा जैन मतों को परिगणित किया है जो वेदप्रामाण्य को स्पष्टतया अस्वीकार करते हैं तथा जिन्होंने ब्राह्मण-परम्पराओं का तिरस्कार कर श्रमण धर्मों का प्रवर्त्तन किया। इन सम्प्रदायों की न तो वैदिक दर्शन में ही आस्था है और न ये यज्ञादि कर्मकाण्डों की उपयोगिता ही स्वीकार करते हैं। 'किरानी' और 'कुरानी' शब्द क्रमशः ईसाइयत एवं इस्लाम के द्योतक हैं। सत्यार्थप्रकाश में इन सभी मतों की तथ्यात्मक समीक्षा की गई है। यहाँ हम स्वामी दयानन्द के परवर्ती आर्य विद्वानों द्वारा रचित उस खण्डनात्मक साहित्य का सर्वेक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं जो मुख्यतः उपर्युक्त चारों वर्गों में समाहित होनेवाले मतों को लक्ष्य कर लिखा गया है।

(२) पौराणिकमत-खण्डन के ग्रन्थ

आरम्भ काल से ही आर्यसमाज का तीव्र संघर्ष पौराणिक मतावलम्बियों से रहा है। स्वामी दयानन्द ने सोरों-निवासी स्वामी कैलासपर्वत नामक एक वृद्ध संन्यासी से एक बार विचार-विमर्श करते हुए स्पष्ट कर दिया था कि जब तक इस देश से पौराणिक साम्प्रदायिकता का सर्वथा उच्छेद नहीं हो जाता, तब तक न तो वैदिक धर्म का पुनरुत्थान ही सम्भव है और न देश के स्वर्णिम युग के लौट आने की ही कोई आशा है। स्वामी दयानन्द ने देश में सर्वत्र घूम-घूमकर जब से पौराणिक साम्प्रदायिकता के विरुद्ध अपना संघर्ष छेड़ा और वैदिक धर्म की पुनःस्थापना के लिए प्रयत्न आरम्भ किये, तभी से प्रतिक्रियावादी पुराणमतावलम्बियों ने भी अपने पृथक् संगठन बनाये और आर्यसमाज की प्रगतिशील विचारधारा का विरोध करना आरम्भ किया। स्थान-स्थान पर धर्मसभाओं और सनातन-धर्म-सभाओं की स्थापना हुई। इस प्रतिगामी विचारधारा ने अन्ततः भारत धर्म-महामण्डल का अखिल भारतीय रूप धारण किया। पण्डित दीनदयालु शर्मा, पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र, पण्डित अम्बिकादत्त व्यास, पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी आदि सनातनधर्मी विद्वानों ने आर्यसमाज के वैदिक सिद्धान्तों और मन्तव्यों पर कटाक्ष-वर्षा आरम्भ की। कालान्तर में आर्यसमाजी विद्वानों से मूर्तिपूजा, मृतक श्राद्ध, अवतार आदि

विषयों पर ये पण्डितगण शास्त्रार्थ भी करने लगे। धीरे-धीरे आर्यसमाज की धर्मप्रचार-प्रणाली को सनातनधर्म सभाओं ने भी अपना लिया। अब सनातनधर्म सभाओं ने भी वार्षिक उत्सव, नगर-कीर्तन, भजनोपदेश, व्याख्यान आदि कार्यक्रम आर्यसमाज के अनुकरण पर ही प्रचलित किये। यह भिन्न बात है कि इनके द्वारा गतानुगतिकता तथा प्रतिगामिता को ही प्रोत्साहन दिया जाता था।

सनातनधर्म आन्दोलन को उस समय और बल मिला जब आर्यसमाज के ही कई विद्वान् भिन्न-भिन्न कारणों से वैदिक विचारधारा को तिलांजलि देकर पौराणिकों की मण्डली में सम्मिलित हो गये। संन्यासी आलाराम सागर, पण्डित भीमसेन शर्मा, पण्डित अखिलानन्द शर्मा आदि का मत-परिवर्तन किन्हीं सैद्धान्तिक कारणों पर आधारित नहीं था। ये सभी किसी-न-किसी स्वार्थ से प्रेरित होकर ही सनातनधर्मी शिविर में सम्मिलित हुए थे। इनके अतिरिक्त कानपुर जिले के अमरोधा ग्राम निवासी पण्डित कालूराम शास्त्री तथा करनाल जिले के कौल ग्राम निवासी पण्डित माधवाचार्य ने सनातनधर्म के उत्साही प्रवक्ता बनकर आर्यसमाज के सिद्धान्तों के खण्डन में जमीन-आसमान एक कर दिया।

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में पौराणिक मान्यताओं का विस्तृत खण्डन कर आगे आनेवाले विद्वानों के लिए पुराणाश्रित मतों से लोहा लेने का सुदृढ़ आधार तैयार कर दिया था। कालान्तर में आर्य विद्वानों ने पौराणिक विचार-धारा के खण्डन में विपुलकाय साहित्य लिखा। हम यहाँ किंचित् विस्तार में जाकर इस साहित्य की समीक्षा करेंगे। पौराणिक विचारधारा के खण्डन में जो ग्रन्थ लिखे गये, उन पर दृष्टि डालने से पूर्व यह बता देना आवश्यक है कि इस साहित्य की विविधता तथा प्रचुरता ही पाठकों को चकित कर देने के लिए काफी है। प्रथम हम पौराणिक मत के खण्डन में सामान्य रीति से लिखे गये ग्रन्थों की चर्चा करेंगे, तत्पश्चात् मूर्तिपूजा, अवतारवाद, मृतक-श्राद्ध, पुराणग्रन्थ, तीर्थ-यात्रा, फलित ज्योतिष जैसे शीर्षकों के अन्तर्गत उस वृहत् सामग्री का समीक्षण करेंगे जो विगत ११० वर्षों की अवधि में आर्य-समाज के अध्ययनशील, विवेचन-पटु तथा सजग लेखकों द्वारा लिखी गई है।

पौराणिक मत का सामान्य खण्डन—पण्डित मनसाराम वैदिक तोप, पण्डित शिव शर्मा, पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी, पण्डित तुलसीराम स्वामी तथा उनके अनुज पण्डित छुट्टनलाल स्वामी आदि आर्यसमाजी लेखकों ने पुराणाश्रित मतों का खण्डन जिस तर्क-पूर्ण शैली में किया है, उसे अद्वितीय के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है! पौराणिक साम्प्रदायिक मान्यताओं के खण्डन में लिखा गया यह साहित्य इतना विशाल और विविधता लिये हुए है कि उसकी सम्पूर्ण समीक्षा के लिए एक पृथक् पुस्तक की आवश्यकता होगी। अतः हम यहाँ इन ग्रन्थों में से कुछ का ही सिंहावलोकन करने का प्रयास करेंगे। सर्वप्रथम हम पण्डित मनसाराम लिखित पौराणिक-पोल-प्रकाश (२ भाग) की चर्चा करें। सनातनधर्मी पण्डित कालूराम शास्त्री द्वारा लिखित 'आर्यसमाज की मौत' के उत्तर में लिखे गये इस महाग्रन्थ के लेखक के अध्ययन की व्यापकता तथा उसके विवेचन-कौशल का कायल होना ही पड़ता है। इसका प्रथम खण्ड ही १३०० पृष्ठों में समाप्त हुआ है। लेखक ने अत्यन्त विस्तार में जाकर आर्यसमाज की मान्यताओं के खण्डन में प्रस्तुत की गई सनातनी युक्तियों का सप्रमाण खण्डन तो किया ही है, पौराणिकों के मान्य ग्रन्थों

के सहस्रों उद्धरण देकर स्वयं उनकी मान्य बातों का भी प्रबल निराकरण किया है। यह ग्रन्थ १६३६ ई० में लाहौर से छपा था। पण्डित शिव शर्मा का 'सत्यार्थ-निर्णय' (प्रथम खण्ड, १६३८ ई० में प्रकाशित) तथा 'शास्त्रार्थ-महारथी' पौराणिक मत-खण्डन के अन्य शक्तिशाली ग्रन्थ हैं। पण्डित जे० पी० चौधरी लिखित 'सनातनधर्म रहस्य', पण्डित राजेन्द्र रचित 'सनातनधर्म' तथा पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखित 'सनातनधर्म' में भी सनातनधर्म के नाम से प्रसिद्ध पौराणिक मत की दुर्बलताओं को वर्णित किया गया है। पुराने लेखकों में स्वामी दर्शनानन्दकृत सनातनधर्मियों का चर्खा, पण्डित व्रजमोहन झा लिखित सनातनधर्मियों की पोल आदि पुस्तकें भी उल्लेखनीय हैं।

इस प्रकरण में हम उन कृतियों की भी चर्चा करेंगे जो सनातनी पण्डितों द्वारा लिखी गई आक्षेपात्मक पुस्तकों के उत्तररूप में आर्य विद्वानों द्वारा समय-समय पर लिखी गई हैं। ऐसे ग्रन्थों में सनातनी प्रचारक स्वामी बालराम उदासीन के अबोधध्वान्तमार्तण्ड के उत्तररूप में पण्डित बालकृष्ण शर्मा रचित मार्तण्ड-प्रकाश (इसका गुजराती अनुवाद मणिलाल दामोदरदास मोदी ने १६०६ ई० में किया था), महाराज वेंकटगिरि के प्रश्नों के उत्तररूप में पण्डित भीमसेन शर्मा द्वारा लिखित सद्विचार निर्णय, सद्धर्मदूषणोद्धार के उत्तर में पण्डित रुद्रदत्त शर्मा लिखित सद्धर्म भास्कर, काशी के स्वामी केशवपुरी की पुस्तक 'नहले पर दहला' के उत्तर में पण्डित शान्तिप्रकाश द्वारा लिखित 'दहला पागल हो गया' आदि उल्लेखनीय हैं। प्रसिद्ध लेखक पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने पण्डित माधवाचार्य शास्त्री लिखित पुस्तक 'दूध का दूध पानी का पानी' के उत्तर में 'नीरक्षीर-विवेक' तथा पण्डित दीनानाथ शास्त्री सारस्वत लिखित 'सनातन धर्मालोक' (खण्ड ७) के उत्तर में 'वैदिक सिद्धान्त मार्तण्ड' ग्रन्थ लिखे।

इसी प्रसंग में पौराणिकों के समक्ष शंका और प्रश्न रूप में उपस्थित की गई सामग्री को पुस्तकाकार दिये जाने के प्रयत्नों का उल्लेख भी आवश्यक है। ऐसे कतिपय ग्रन्थों के नाम हैं—महाशंकावली (ले० एक आर्य, स्वामी प्रेस, मेरठ से १८६७ ई० में छपी), पौराणिकों से प्रश्न (ले० इन्द्रदत्त, आर्यसमाज भरतपुर से १६०३ में प्रकाशित), शंका-कोष या शंकापंचशतक (हनुमानप्रसाद शर्मा द्वारा लिखित तथा स्वामी प्रेस, मेरठ से १६०४ ई० में प्रकाशित) प्रश्नोत्तरीय (हरिश्चन्द्र त्रिवेदी द्वारा वैदिक यंत्रालय अजमेर से मुद्रित), प्रश्नार्णव अर्थात् पौराणिक मत निराकरण प्रश्नावली, सूर्यदत्त शर्मा द्वारा १६१० ई० में लिखित रामायण मण्डल के प्रति प्रश्न, हरिश्चन्द्र त्रिवेदी लिखित प्रश्नोत्तर रत्नमाला (पण्डित छुट्टनलाल स्वामी लिखित तथा स्वामी प्रेस, मेरठ से मुद्रित)। खण्डन-मण्डन ग्रन्थमाला के लेखक डॉक्टर श्रीराम आर्य ने संसार के पौराणिक विद्वानों से ३१ प्रश्न शीर्षक पुस्तक १६६१ ई० में लिखकर प्रकाशित की।

पौराणिक मत खण्डन के उर्दू ग्रन्थ—पंजाब में आर्यसमाज के प्रचार की धूम विगत शताब्दी के अन्तिम तीन दशकों में सर्वाधिक रही। इस युग में पंजाब के शिष्टजनों के विचार-विनिमय तथा पठन-पाठन की प्रमुख भाषा उर्दू थी, यद्यपि आर्यसमाज के कारण हिन्दी का प्रचार भी निरन्तर बढ़ रहा था। पौराणिक मत-खण्डन में उस समय जो पुस्तकें छपीं उनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है। लुधियाना-निवासी लाला चिरंजीलाल यद्यपि उच्च शक्षित नहीं थे, किन्तु धर्म-प्रचार में नित नई रीतियों को तलाश कर लेना उनके बायें हाथ का खेल था। उनकी कुछ उर्दू पुस्तकों के नाम यहाँ

दिये जा रहे हैं—पोप स्यापा, पोप मुख चपट, पोपों की सरकोबी, चिरंजीलाल का पोपों से पहला मुकद्दमा आदि। ध्यातव्य है कि श्री चिरंजीलाल के प्रखर खण्डन से रुष्ट होकर पौराणिकों ने उनपर कई अभियोग दायर कर दिये थे। पण्डित मनसाराम वैदिकतोप ने चेतावनीप्रकाश लिखकर पण्डित राजनारायण अरमान की "चेतावनी" शीर्षक पुस्तक का खण्डन किया। गंगोह (जिला सहारनपुर) निवासी श्री रहतूलाल ने 'सनातनधर्म का मुगालता' लिखा तो बुद्धदेव मीरपुरी ने 'पौराणिक ईश्वर की पड़ताल' लिखी। कुछ ऐसी पुस्तकों की भी सूचना मिल सकी है जिनके लेखकों का पता नहीं चलता, यथा—सुर्मए चश्म (धर्मसभा फर्रुखाबाद के नाम खुला पत्र), दीदए बसीरत (रिसाला ए तनसीख, सुर्मए चश्म का उत्तर), दायरे हकीकत (पण्डित दीनदयालु शर्मा को उत्तर), नुस्खाए जुनूं, मुगालते से बचो आदि। पंजाब के कुछ अन्य लेखकों की उर्दू में लिखी कृतियों के नाम हैं—पोप सियापा (पण्डित गोविन्दसहाय, लुधियाना), पोपनाशमाला (लाला मूलराज, लुधियाना), काग हंस परीक्षा (हंसस्वरूप का खण्डन, ले० लाला गणेशदास आनन्द स्यालकोट), पौराणिक धर्म का जनाजा (विश्वामित्र दीनानगरी), जेबी पिस्तौल (प्रेमचन्द लाहौर), लाहौरी स्यापा (गिरधारीलाल), पोप उपद्रव (भाई हरनामसिंह बटाला), पं० मनसाराम ने 'सनातनधर्म की मौत' शीर्षक सहस्राधिक पृष्ठों का बृहद् उर्दू ग्रन्थ लिखकर मानो इस साहित्य-यज्ञ में पूर्णाहुति डाली थी।

(३) शास्त्रार्थों के प्रकाशित विवरण

स्वामी दयानन्द ने शताब्दियों से लुप्त शास्त्रार्थ-प्रणाली को पुनरुज्जीवित किया था। उन्होंने स्वजीवन में विभिन्न मतावलम्बियों से सैकड़ों शास्त्रार्थ किये और प्रतिपक्षी विद्वानों पर वैदिक सिद्धांतों की धाक बिठाई। स्वामी दयानन्द के दिवंगत होने के पश्चात् भी शास्त्रार्थों का सिलसिला चलता रहा। आर्य विद्वानों को शास्त्रार्थों के लिए चतुर्मुखी तैयारियाँ करनी पड़ती थीं। अधिकांश शास्त्रार्थ पौराणिक विद्वानों से होते थे, जिनमें मूर्तिपूजा, अवतारवाद, मृतकश्राद्ध, स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों की वैदिकता, पुराणों की प्रामाणिकता, वर्णव्यवस्था की गुण-कर्म पर निर्भरता आदि विषयों पर चर्चा होती। शास्त्रार्थ सुनने के लिए हजारों लोग उपस्थित होते और दोनों पक्षों द्वारा प्रदत्त युक्तियों और प्रतियुक्तियों पर गम्भीरता से चिन्तन कर विवादास्पद विषयों पर स्वमत-निर्धारित करते। पौराणिकों की ही भाँति मुसलमानों और ईसाइयों से भी आर्य पण्डित शास्त्रार्थ करते थे। इनसे शास्त्रार्थ करते समय विवाद के विषय बदल जाते थे। इस्लाम और ईसाइयत की मान्यताओं को लेकर दोनों पक्षों में वाद-विवाद होता, परन्तु शायद ही कभी आर्यसमाज के अनुयायियों और समर्थकों का अन्य मतावलम्बियों से शास्त्रार्थों में कलह या झगड़ा हुआ हो। सिद्धान्त-भेद होने पर भी परस्पर सौहार्द को कायम रखने का प्रयास दोनों पक्षों की ओर से बराबर किया जाता था। यदा-कदा जैन विद्वान् भी शास्त्रार्थ के लिए आर्य पण्डितों के सामने आते थे।

शास्त्रार्थ सम्पन्न हो जाने के पश्चात् सुविधानुसार शास्त्रार्थ की सम्पूर्ण कार्यवाही पुस्तक रूप में प्रकाशित की जाती, ताकि जो लोग शास्त्रार्थ-समय में अनुपस्थित रहे हों, उन्हें भी उसकी जानकारी मिल सके तथा वे दोनों पक्षों की तर्क-सरणि पर तुलनात्मक रूप से स्वसम्मति दे सकें। आगे की पंक्तियों में हम कुछ प्रकाशित शास्त्रार्थ-

ग्रन्थों का परिचय पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं।

स्वामी दयानन्द के निधन के कुछ मास पश्चात् शास्त्रार्थ पीलीभीत का प्रकाशन हुआ। इसका प्रकाशन आर्यसमाज बरेली ने किया था। इसमें आर्यसमाज का पक्ष स्वामी सहजानन्द ने ग्रहण किया था। प्रतिपक्ष में प्रसिद्ध पण्डित अंगदराम थे जो स्वामी दयानन्द से भी शास्त्रार्थ-साम्मुख्य कर चुके थे। उन दिनों विहार तथा बंगाल में सुप्रसिद्ध आर्य पत्रकार तथा विद्वान् पण्डित रुद्रदत्त शर्मा आर्यसमाज के उपदेशक के रूप में भ्रमण कर शास्त्रार्थों के लिए सनातनी विद्वानों को ललकार रहे थे। छपरा शास्त्रार्थ का वृत्तान्त आर्यावर्त्त प्रेस, कलकत्ता से मुद्रित होकर १८८८ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसका विवरण बाबू महावीरप्रसाद ने संकलित किया है, जो आर्यसमाज के प्रधान भी रहे थे। यह शास्त्रार्थ पण्डित रुद्रदत्त शर्मा तथा सनातनी पण्डित अम्बिकादत्त व्यास के मध्य हुआ था। पण्डित रुद्रदत्त शर्मा का एक अन्य शास्त्रार्थ रानीगंज में पण्डित गोविन्दराम शास्त्री से हुआ। इसे आर्यसमाज कलकत्ता ने १९५६ वि० में प्रकाशित किया। शास्त्रार्थ देवरिया भी पण्डित रुद्रदत्त शर्मा तथा पण्डित विष्णुदत्त के मध्य हुआ। इसका विवरण १९०२ ई० में प्रकाशित हुआ।

सनातनी विद्वानों से किये गये अनेक शास्त्रार्थ आर्यसमाज के इतिहास में स्थायी महत्त्व रखते हैं। संन्यासी द्वय—स्वामी विश्वेश्वरानन्द तथा स्वामी नित्यानन्द का 'ब्राह्मण ग्रन्थ वेद हैं या नहीं' विषय पर बूंदी के राजपण्डितों से प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ। यह शास्त्रार्थ लिखित रूप में हुआ था जिसमें दोनों पक्षों ने संस्कृत पत्रों में अपने विचारों का आदान-प्रदान किया। इस शास्त्रार्थ को आर्यसमाज शाहपुरा ने १९४६ वि० में प्रकाशित किया। वर्षों पश्चात् पण्डित ब्रह्मानन्द त्रिपाठी से सम्पादित करवाकर इसे आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान ने २०२३ वि० में प्रकाशित किया। इसी प्रकार आगरा में पण्डित भीमसेन शर्मा तथा पण्डित तुलसीराम स्वामी और अन्य आर्य पण्डितों के बीच हुआ वह शास्त्रार्थ भी ऐतिहासिक महत्त्व रखता है जिसमें पराजित होकर पण्डित भीमसेन शर्मा ने अन्तिम रूप से आर्यसमाज का परित्याग कर दिया था। स्वामी प्रेस मेरठ ने इसे १९५८ वि० में प्रकाशित किया। रोसड़ा शास्त्रार्थ पण्डित अखिलानन्द शर्मा तथा पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र (मुरादाबाद निवासी) के बीच हुआ। उस समय तक पण्डित अखिलानन्द शर्मा आर्यसमाज के ही अंग थे। इस शास्त्रार्थ को पण्डित अखिलानन्द के अनुज पण्डित सुबोधचन्द्र शर्मा ने प्रकाशित किया था।

आर्यसमाज के जिन अन्य शास्त्रार्थ-महारथियों द्वारा किये गए शास्त्रार्थ ग्रन्थाकार प्रकाशित हुए हैं उनमें पण्डित तुलसीराम स्वामी (शास्त्रार्थ खुर्जा, देशोपकारक यंत्रालय प्रयाग से १९४७ वि० में प्रकाशित), पण्डित शिव शर्मा (शास्त्रार्थ कोपागंज), पण्डित देवेन्द्रनाथ शास्त्री (शास्त्रार्थ सिकन्दराबाद), पण्डित मंगलदत्त पुराणमार्तण्ड (शास्त्रार्थ भिवानी १९२९ ई० में प्रकाशित), पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार (शास्त्रार्थ नीमच १९२६ वि० में प्रकाशित) उल्लेखनीय हैं। स्वतन्त्रता प्राप्त होने के पूर्व के युग में जिन शास्त्रार्थ-महारथियों ने इस क्षेत्र में स्वकीर्ति स्थापित की थी उनमें गणनीय नाम हैं—पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार, पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी, पण्डित अमरसिंह आर्य-पथिक, पं० मनसाराम वैदिकतोप, पं० बिहारीलाल शास्त्री आदि, यद्यपि इन विद्वानों द्वारा किये गये सभी शास्त्रार्थ पुस्तक रूप में नहीं आ सके हैं। पण्डित अमरसिंह आर्य

पथिक (अमरस्वामी सरस्वती) ने अपने सभी प्रमुख शास्त्रार्थों का विवरण लिखकर 'निर्णय के तट पर' शीर्षक से १६७६ ई० में प्रकाशित किया है। पण्डित शान्तिप्रकाश के अधिकांश शास्त्रार्थ ईसाई पादरियों एवं मुसलमान मौलवियों से हुए। श्री अशोक आर्य ने उनका सम्पादन "पण्डित शान्तिप्रकाश के शास्त्रार्थ" शीर्षक से किया है। द्वितीय महायुद्ध के समय जब बंगाल में घोर दुष्काल के कारण अन्न का अभाव हो रहा था, सनातनधर्मियों ने दिल्ली में यमुना के किनारे एक बृहद् यज्ञ का आयोजन किया जिसमें कई मन अन्न तथा अन्य खाद्य पदार्थों की आहुतियाँ दी जानी थीं। उस अवसर पर आर्यसमाज तथा सनातनधर्म के बीच एक शास्त्रार्थ सम्पन्न हुआ। इनमें आर्यसमाज के प्रमुख प्रवक्ता पण्डित व्यासदेव शास्त्री थे जबकि सनातनधर्म पक्ष के स्थापक पण्डित माधवाचार्य थे। यह शास्त्रार्थ लिखित रूप में हुआ था। इसे पण्डित हरिदत्त शास्त्री ने सम्पादित कर प्रथम सेकसरिया ग्रन्थमाला के अन्तर्गत आगरा से प्रकाशित किया। इसका द्वितीय संस्करण आर्यसमाज नयाबाँस दिल्ली ने १६७६ ई० में प्रकाशित किया।

देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् शास्त्रार्थों की संख्या घटने लगी। तथापि कहीं-कहीं शास्त्रार्थों का आयोजन हो ही जाता था। स्वातन्त्र्योत्तर काल के कुछ प्रमुख प्रकाशित शास्त्रार्थ निम्न हैं—राजधनवार के दो शास्त्रार्थ (सम्पादक पण्डित रामानन्द शास्त्री, १६५३ ई० में प्रकाशित), १६५३ ई० में डीडवाना (जिला नागौर, राजस्थान) में सनातनी विद्वान् पण्डित माधवाचार्य तथा आर्यसमाज के पण्डितद्वय बुद्धदेव विद्यालंकार एवं लोकनाथ तर्कवाचस्पति के बीच चार भिन्न-भिन्न विषयों पर प्रचण्ड शास्त्रार्थ हुआ। शास्त्रार्थ में आर्यसमाज के विद्वानों की सहायता करने के लिए पण्डित हरिदत्त शास्त्री उपस्थित थे। सनातनधर्मी विद्वान् पण्डित माधवाचार्य के साथ पण्डित अखिलानन्द शर्मा भी शास्त्रार्थ-मंच पर विद्यमान थे, यद्यपि उन्होंने वादविवाद में कोई भाग नहीं लिया। कालान्तर में इसे आर्यसमाज डीडवाना की ओर से १६५४ ई० में प्रकाशित किया गया। महात्मा अमरस्वामी का पुरी के शंकराचार्य स्वामी निरंजनदेव तीर्थ से पुरानी सब्जीमण्डी दिल्ली में १८ दिसम्बर १६८० को जो शास्त्रार्थ हुआ, उसका विवरण श्री विक्रम ठाकुर द्वारा प्रकाशित किया गया है। बंगला में पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री ने पौराणिक विद्वानों से भाटपाडा (जिला हुगली) में जो शास्त्रार्थ किया, उसका विवरण बंगला काव्य रूप में भाटपाडा-बध नाम से प्रकाशित हुआ है। शास्त्रार्थ चीखली का विवरण गुजराती भाषा में प्रकाशित हुआ था।

उर्दू भाषा में लिखित व प्रकाशित शास्त्रार्थ-ग्रन्थ—आर्यमुसाफिर पण्डित लेखराम ने अनेक मुल्ला-मौलवियों से समय-समय पर शास्त्रार्थ किये थे। उनका सय्यद गुलाम कादिरशाह से निजात की असली तारीफ (मोक्ष का वास्तविक स्वरूप) विषय पर एक प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ जो लेखराम ग्रन्थावली (आर्यपथिक ग्रन्थमाला भाग २, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब द्वारा प्रकाशित) में संगृहीत है। इसे मूलतः उर्दू में ही लिखा और प्रकाशित किया गया था। स्वामी दर्शनानन्द के तीन उर्दू शास्त्रार्थ प्रकाशित हुए हैं—आगरा शास्त्रार्थ, देवरिया शास्त्रार्थ (१६०३ ई० में प्रकाशित) तथा वैदिक धर्म प्रचारक ट्रैक्ट सोसाइटी पेशावर द्वारा प्रकाशित शास्त्रार्थ पेशावर। पण्डित भोजदत्त शर्मा तथा मौलाना निसारउल्ला के बीच नाहन (हिमाचल प्रदेश) में जो शास्त्रार्थ हुआ,

वह "मुबाहसा नाहन" शीर्षक से स्वामी स्वतन्त्रानन्द आर्य पुस्तकालय, अमृतसर द्वारा प्रकाशित हुआ। पण्डित भोजदत्त जी के पुत्र डा० लक्ष्मीदत्त भी व्यवसाय से चिकित्सक होने पर भी शास्त्रार्थ करते थे। मौलाना अबू पानीपती से हुआ उनका "शास्त्रार्थ मक्खनपुर" श्री ताराचन्द द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ था। पण्डित मनसाराम वैदिकतोप के कई शास्त्रार्थ उर्दू में छपे हैं जिनमें से निम्न उल्लेखनीय हैं—शास्त्रार्थ जाखलमण्डी, शास्त्रार्थ संगरूर(अपर नाम—मेरे पच्चीस मिनट)तथा शास्त्रार्थ भटिण्डा (अपर नाम—रावण-जोगी के भेस में), पं० रामचन्द्र देहलवी द्वारा दिल्ली में किया गया शास्त्रार्थ 'मुबाहिसा देहली' शीर्षक से आर्य बुक एजेन्सी दिल्ली से १६१७ ई० में प्रकाशित हुआ। १६०३ ई० में नगीना (जिला बिजनौर)में एक प्रसिद्ध शास्त्रार्थ मास्टर आत्माराम अमृतसरी का मौलवी सनाउल्ला से लगातार १५ दिनों तक होता रहा। इसका विवरण 'शास्त्रार्थ नगीना' शीर्षक से छपा है। पण्डित शान्तिप्रकाश का पौराणिक पण्डित श्रीकृष्ण शास्त्री से कोट अद्दू (पाकिस्तान)में शास्त्रार्थ हुआ। यह भी पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। उर्दू की लोकप्रियता कम हो जाने से उर्दू में प्रकाशित ये शास्त्रार्थ अब पुस्तकालयों में ही दिखाई पड़ते हैं।

(४) पुराणालोचन-विषयक साहित्य

स्वामी दयानन्द ने प्रचलित हिन्दू धर्म को पौराणिक मत की संज्ञा प्रदान की है। यह वह धर्म है जो कहने को तो वेद, उपनिषद्, दर्शन, स्मृति आदि सभी प्राचीन धर्मग्रन्थों की मान्यता स्वीकार करता है, किन्तु जहाँ तक आचरण का प्रश्न है, इस धर्म में उन्हीं कृतियों और आचरणों को विधेय माना गया है जो अष्टादश पुराणों में वर्णित हैं। स्वामी दयानन्द को "पुराण" शब्द से न तो घृणा ही थी और न वे इस संज्ञा को धारण करनेवाले शास्त्रों को अप्रामाणिक ही मानते थे। यों तो अथर्ववेद (११/७/२४) में भी पुराण शब्द आता है, किन्तु यहाँ इसका अर्थ किसी ग्रन्थविशेष से लेना उचित नहीं होगा। पुरातन कथानक के लिए ही यहाँ "पुराण" शब्द प्रयुक्त हुआ है। अन्यत्र, छान्दोग्य उपनिषद् के नारद-सनत्कुमार-संवाद में भी पुराण शब्द उल्लिखित हुआ है। स्वामी दयानन्द "पुराण" शब्दवाचक साहित्य के सम्बन्ध में स्वधारणा प्रकट करते हुए लिखते हैं—"ऐतरेय, शतपथ, साम और गोपथ ब्राह्मण ग्रन्थों ही के इतिहास, पुराण, कल्प, गाथा, नाराशंसी—ये पाँच नाम हैं।"

किन्तु कालान्तर में महर्षि व्यास के नाम से १८ पुराणों का प्रणयन भिन्न-भिन्न समयों में हुआ। अनेक अन्तःसाक्ष्यों और बहिःसाक्ष्यों के द्वारा यह सिद्ध किया जा सकता है कि प्रचलित १८ पुराणों में कोई भी महाभारत के काल से प्राचीन नहीं है। इनमें से अधिकांश गुप्तवंश के शासनकाल में लिखे गये, जबकि भारत में वैष्णव और शैव सम्प्रदायों का बोलबाला था। पुराणों के रचनाकाल की अर्वाचीनता सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण दिये गये हैं। यदि कुछ पुराणों को दो-ढाई हजार वर्ष पुराना भी मान लिया जाय, तो यह भी स्वीकार करना होगा कि इन ग्रन्थों में, इनके रचनाकाल के बाद भी समय-समय पर अनेक नये श्लोक गढ़कर प्रक्षिप्त किये जाते रहे हैं। भविष्य-पुराण में महारानी विक्टोरिया तक का उल्लेख पाया जाना इस तथ्य का पोषक है कि पुराणों में मिलावटें होती रही हैं।

सामान्यतया यह कहा जाता है कि सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वन्तर और वंशानुचरित—ये पाँच लक्षण पुराणों में पाये जाते हैं। किन्तु यदि 'पुराण' नामधारी इन कृतियों का गम्भीर अनुशीलन किया जाय तो विदित होता है कि अधिकांश पुराणों में तो ये लक्षण नहीं मिलते। यदि सृष्टिरचना आदि का कहीं उल्लेख मिलता भी है तो वह सर्वथा अस्तव्यस्त हालत में, तथा पुरातन दर्शनग्रन्थों के मत के प्रतिकूल ही मिलता है। राजवंशों के वर्णन अवश्य मिलते हैं, परन्तु इन ग्रन्थों में पाई जानेवाली साम्प्रदायिकता, विभिन्न उपास्य देवी-देवताओं के माहात्म्य-विषयक किस्से-कहानियाँ, सम्प्रदायविशेष से सम्बद्ध व्रत, तीर्थ, उपासना-पद्धतियाँ आदि के आडम्बरपूर्ण वर्णन तथा महत्त्व-कथन ने इन ग्रन्थों को निश्चय ही संकीर्ण साम्प्रदायिक कोटि में डाल दिया है। अष्टादश पुराणों का विभाजन कई प्रकार से किया गया है। कहीं तो इन्हें सात्त्विक, राजस और तामस के वर्गों में बाँटा गया है तो अन्यत्र इन्हें वैष्णव, शैव, सौर, गाणपत्य आदि सम्प्रदायों के प्रमाणभूत ग्रन्थ मान लिया गया है। निश्चय ही पुराणों ने वेदों की उदात्त, व्यापक और सार्वजनीन शिक्षाओं को समाप्त कर देने में प्रमुख भूमिका निभाई है। अतः स्वामी दयानन्द द्वारा पुराणों की आलोचना करना और उन्हें अनार्ष ग्रन्थों की कोटि में डालना अकारण नहीं था।

स्वामी दयानन्द ने पुराणों की आलोचना सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में विस्तारपूर्वक की है। उन्होंने अनेक ऐतिहासिक प्रमाण देकर यह भी सिद्ध किया है कि इनका रचनाकाल भिन्न-भिन्न है और यदाकदा इनमें साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के लोगों ने प्रक्षेप भी किये हैं। स्वामीजी के परलोक-प्रस्थान करने के अनन्तर अष्टादश पुराणों की आलोचना में लिखे गये साहित्य का हम यहाँ किंचित् विवरण दे रहे हैं। प्रथम हम पुराणों की सामान्य आलोचना में लिखे गये साहित्य की चर्चा करेंगे और तब भिन्न-भिन्न पुराणों की समीक्षा में रचित स्वतन्त्र ग्रन्थों का परिचय देंगे।

पण्डित लेखराम रचित पुस्तक 'पुराण किसने बनाये ?' यद्यपि मूलतः उर्दू में लिखी गई थी किन्तु उसे हिन्दी में अनूदित कर अनेक प्रकाशकों ने प्रकाशित किया। हमारी जानकारी के अनुसार आर्यपथिकप्रणीत इस लघु ग्रन्थ को निम्न प्रकाशकों ने छापकर पाठकों को सुलभ किया था—(१)विरजानंद प्रेस लाहौर(१८९१ ई०),(२)वैदिक पुस्तक प्रचारक फण्ड मेरठ(१८९४ व १८९६ ई०)(३)आर्यसमाज अजमेर (१९०० ई०) (४) आर्य भास्कर प्रेस आगरा तथा (५) आर्य पुस्तकालय इटावा। आर्यपथिक ने इसमें अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया था कि १८ पुराणों की रचना न तो एक काल में हुई है और न एक व्यक्ति के द्वारा। पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा लिखित पुराणोत्पत्ति तथा पुराणलीला क्रमशः १८९४ तथा १८९७ ई० में प्रकाशित हुई। पण्डित रुद्रदत्त शर्मा (सम्पादकाचार्य) ने पुराणपरीक्षा लिखी जिसका प्रथम संस्करण दानापुर से १८९८ ई० में छपा। 'एक सदस्य' आर्यसमाज देहरादून लिखित तीन भागों में पुराणादर्श १८९०-९१ ई० में प्रकाशित हुई। इस पुस्तक के लेखक देहरादून के प्रसिद्ध आर्य नेता मुंशी ज्योतिस्वरूप थे। पण्डित छुट्टनलाल स्वामी (पुराणपरिचय), पण्डित बाबूराम शर्मा (पुराणशिक्षा), पण्डित विश्वनाथ शर्मा (पुराण मीमांसा), पण्डित जे० पी० चौधरी (पुराणपर्यालोचन) आदि लेखकों की पुस्तकों ने भी पुराणों की वास्तविकता को पाठकों तक पहुँचाया।

पुराणों के विस्तृत अध्ययन के पश्चात् श्री चिम्मनलाल वैश्य ने तीन खण्डों में पुराणतत्त्वप्रकाश लिखा। इसमें पुराणों के परस्परविरोध तथा उनकी संकीर्ण साम्प्रदायिक शिक्षाओं को विशेष परिश्रम के साथ विवेचित किया गया है। इसका प्रकाशन १९०७ ई० में हुआ था। पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार तथा प्रोफेसर रामदेव के सहलेखन में पुराणमतपर्यालोचन का प्रकाशन १९१९ ई० में गुरुकुल काँगड़ी से हुआ। गुरुकुल काँगड़ी के ही एक अन्य स्नातक ब्रह्मचारी विद्यासागर लिखित शोधनिबन्ध पुराणविमर्श १९७२ वि० में प्रकाशित हुआ। पण्डित सुखदेव विद्यावाचस्पतिकृत पुराणरहस्य को आर्यसमाज कलकत्ता ने १९३६ ई० में प्रकाशित किया। कतिपय ग्रन्थ पौराणिक विद्वानों द्वारा पुराणों के समर्थन में लिखे गये, तो उनका उत्तर भी आर्य विद्वानों द्वारा ग्रन्थरूप में ही दिया गया। पण्डित कालूराम शास्त्री की पुस्तक पुराणकलंकाभासमार्जन का प्रत्युत्तर पण्डित भूमित्र शर्मा ने पुराणकलंकप्रकाश शीर्षक से १९१७ ई० में दिया। आधुनिक आर्य लेखकों में पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहाकृत 'अष्टादशपुराणपरिशीलन' तथा डॉक्टर श्रीराम आर्य लिखित 'पुराण किसने बनाये ?' उल्लेखनीय हैं।

उर्दू में पुराणों पर प्रथम बार कलम चलानेवाले पण्डित लेखराम थे, यह हम लिख चुके हैं। महाशय मुंशीराम जिज्ञासु की उर्दू पुस्तक "पुराणों की नापाक तालीम से बचो" १८९९ ई० में जालंधर से छपी। इसका हिन्दी अनुवाद "पुराणों की शिक्षा से बचो" शीर्षक से छपा था। बंगला लेखक पण्डित शंकरनाथ ने अपनी मातृभाषा में "पुराण ओ व्यासदेव" शीर्षक ग्रन्थ लिखा जिसमें यह सिद्ध किया गया था कि प्रचलित पुराणों को व्यासरचित मानना ठीक नहीं है। पण्डित दुर्गाप्रसाद की अंग्रेजी पुस्तक 'हू रोट दि पुरानाज' १८९१ ई० में छपी।

विभिन्न पुराणों की पृथक् समीक्षाएँ—अब तक हमने उन ग्रन्थों पर विचार किया है जो पुराणों की सामान्य समीक्षा प्रस्तुत करते हुए उनके काल एवं रचयिता, प्रतिपाद्य, उनके पारस्परिक विरोध तथा उनमें पाई जानेवाली संकीर्ण साम्प्रदायिकता को उजागर करते हैं। अब हम भिन्न-भिन्न पुराणों पर लिखी गई आलोचनात्मक कृतियों का पृथक्-रूपेण विश्लेषण प्रस्तुत करते हैं। स्वामी दयानन्द ने स्वयं 'भागवत खण्डन' नामक पुस्तक लिखकर मानो इस दिशा में आगे कार्य करनेवालों का पथ-निर्देशन कर दिया था। अठारह पुराणों में आलोचना का सर्वाधिक लक्ष्य श्रीमद्भागवत रहा। पुराणों के अनुयायियों में इस बात को लेकर सदा से ही विवाद रहा है कि 'महापुराण' की संज्ञा वैष्णव भागवत को दी जाय या देवीभागवत को। वैष्णव मतानुयायियों में श्रीमद्भागवत(द्वादश स्कन्धात्मक) को सदा से ही आदरास्पद स्थान प्राप्त रहा है जबकि शाक्त मतानुयायियों के लिए देवीभागवत ही वास्तविक भागवत है और इसे ही महापुराण कहना उचित है। आर्यसमाजी विद्वानों ने भी वैष्णव भागवत की आलोचना में ही अपनी लेखनी को सर्वाधिक गतिमान् बनाया। न्यूनातिन्यून दस ग्रन्थ भागवत-खण्डन को लेकर लिखे गये हैं। आर्यसमाज के पुराने लेखक पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा ने भागवत-व्यवस्था, भागवत के दोष तथा नमूनाभागवत लिखे। पण्डित छुट्टनलाल स्वामी ने भागवतपरीक्षा, भागवत-समीक्षा तथा भागवतविचार (इस पुस्तक के लेखक की जगह 'एक आर्य' लिखा मिलता है) लिखे। गंगोह(सहारनपुर)निवासी रहतूलाल आर्य ने उर्दू में आईनाएभागवत लिखा। उनकी एक अन्य कृति "भागवत का रचयिता कौन है ?" का भी उल्लेख मिलता है।

आधुनिक लेखकों में डॉक्टर श्रीराम आर्य ने भागवतसमीक्षा लिखी जो १९६५ ई० में प्रकाशित हुई। गुजराती में गिरिजाशंकर निर्भयराम शर्मा ने भागवतसमीक्षा लिखी थी। पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने श्रीमद्भागवत महापुराण में व्याकरण-सम्बन्धी अशुद्धियाँ गिनाई हैं।

भागवत के पश्चात् भविष्यपुराण पर एकाधिक लेखकों की कलम चली। महाशय मुंशीराम जिज्ञासु ने भविष्यपुराण की प्रैक्षा (परीक्षा) लिखी। इसका हिन्दी अनुवाद पण्डित सूर्यप्रसाद शर्मा ने १९०० ई० में किया जो आर्य भास्कर प्रेस मुरादाबाद से छपा। भविष्यपुराण की एक अन्य आलोचना पण्डित मनसाराम वैदिकतोप ने लिखी। यह उस प्रसिद्ध पुराणालोचन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत निकली जिसके प्रधान सम्पादक स्वामी वेदानन्द तीर्थ थे और जिसका प्रकाशन राजपाल एण्ड सन्स लाहौर ने किया था। हमारी जानकारी के अनुसार इस ग्रन्थमाला में निम्न पुराणों की आलोचनाएँ छपीं थीं—

१. भविष्यपुराण की आलोचना—पण्डित मनसाराम लिखित
२. शिवपुराण की आलोचना—पण्डित मनसाराम लिखित
३. गरुड़पुराण की आलोचना—पण्डित व्रतपाल स्नातक लिखित
४. वराहपुराण की आलोचना—पण्डित श्रुतिकान्त शास्त्री लिखित
५. लिंगपुराण की आलोचना—पण्डित भीमसेन विद्यालंकार लिखित
६. कूर्मपुराण की आलोचना—पण्डित भक्तराम लिखित

उपर्युक्त के अतिरिक्त भागवत, देवी भागवत, ब्रह्मपुराण, मार्कण्डेयपुराण तथा ब्रह्माण्डपुराण की आलोचनाओं के छपने का भी उल्लेख मिलता है, किन्तु इन समीक्षाओं के लेखकों का पता नहीं चलता। भविष्यपुराण की आलोचना पर एक उर्दू ग्रन्थ पण्डित लक्ष्मण ने भी लिखा था। गरुड़पुराण की आलोचना पण्डित गंगाप्रसाद जज ने लिखी, जो आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर से प्रकाशित हुई।

पुराण-समीक्षाओं के लेखन का एक अन्य दौर गत वर्षों में भी दिखाई पड़ा जब कि पण्डित जगदीश विद्यार्थीकृत विष्णुपुराण की आलोचना का प्रकाशन गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली ने किया तथा इन पंक्तियों के लेखक ने ब्रह्मवैवर्तपुराण की समीक्षा लिखी जिसे सत्य प्रकाशन, मथुरा ने प्रकाशित किया। पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने नारद तथा मार्कण्डेयपुराण की समीक्षाएँ लिखीं। उनका एक शोधपत्र "श्रीमद्भागवत महापुराण में व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियाँ" भी प्रकाशित हुआ है। उपर्युक्त विवरण में पुराणसमीक्षा-विषयक उर्दू ग्रन्थों का यत्र-तत्र उल्लेख हुआ ही है। श्री रहतूलाल का 'शिवपुराणदर्पण' भी उर्दू में ही लिखा गया था। भविष्यपुराण पर दो स्फुट उर्दू ग्रन्थ और लिखे गये—श्री रघुनाथसहाय का 'मौरूसी ब्राह्मण और भविष्यपुराण' तथा श्री महाशय वजीरचन्द का 'भविष्यपुराण में ईसा व मोहम्मद'।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि आर्यसमाज के विद्वानों ने विभिन्न पुराणों का तलस्पर्शी अध्ययन कर उनके सम्बन्ध में विस्तृत समीक्षाएँ लिखी हैं। तुलनात्मक अध्ययन के लिए यह आवश्यक भी था कि पुराणों के कथ्य से पाठकों को परिचित कराया जाता, ताकि वे सापेक्षिक दृष्टि से वेदों की महत्ता तथा वेदप्रतिपादित शिक्षाओं की गम्भीरता तथा उदात्तता को हृदयंगम कर सकें।

(५) मूर्तिपूजा-खण्डन-विषयक साहित्य

स्वामी दयानन्द द्वारा मूर्तिपूजा का खण्डन और उसे ईश्वरप्राप्ति में सहायक न बताना एक युगान्तरकारी कार्य था। यों तो शंकराचार्य ने भी अपनी निर्गुण-मानस-पूजा (परापूजा) नामक कृति में—

पूर्णस्यावाहनं कुत्र सर्वाधारस्य चासनम्।
स्वच्छस्य पाद्यमर्घं च शुद्धस्याचमनं कुतः।। श्लोक संख्या २

आदि कतिपय श्लोक लिखकर यह स्पष्ट किया था कि सर्वत्र परिपूर्ण तथा सर्वाधार परमात्मा की कल्पित प्रतिमा बनाकर उनमें उसका आवाहन करना और उसके पश्चात् उसकी षोडशोपचार विधि से पूजा सर्वथा असम्भव तथा हास्यास्पद ही है, तथापि शंकर ने ही अपने वेदान्त तथा उपनिषद्-भाष्यों में सर्वत्र विष्णु के प्रतीकरूप में शालिग्राम-शिला के पूजन को विधेय माना है। यह भी एक विडम्बना ही थी कि कबीर, नानक, दादू, रैदास आदि मध्यकालीन संतों ने अपनी वाणी एवं उपदेशों में यद्यपि सर्वत्र निराकार, निरंजन, निर्लेप तथा निर्गुण ईश्वर का ही वर्णन किया है तथा यत्र-तत्र, कहीं मृदु और कहीं कठोर शब्दों में, मूर्तिपूजा का खण्डन भी किया है, तथापि इन सन्तों के नाम पर कालान्तर में जो मत एवं पन्थ प्रचलित हुए उनमें रामकृष्णादि की प्रतिमाओं के स्थान पर इनके प्रवर्त्तक गुरुओं की खडाऊं, कमण्डल, पुस्तक अथवा गद्दी आदि की पूजाएँ ही प्रचलित हो गईं। जड़ पूजा का यह निकृष्टतम रूप था, क्योंकि पौराणिक लोग तो राम-कृष्णादि की मूर्तियों की पूजा विष्णु के अवतार मानकर करते थे, जबकि इस सन्त मतों के अनुयायियों ने स्वगुरुओं द्वारा प्रयुक्त जड़ वस्तुओं को ही पूज्य मान लिया था।

उन्नीसवीं शताब्दी में ब्रह्मसमाज की स्थापना के साथ एक बार पुनः प्रतिमा-पूजन के विरुद्ध चर्चा आरम्भ हुई। राममोहन राय ने उपनिषदादि ग्रन्थों का अध्ययन कर स्पष्ट किया कि आर्यजाति के मूल शास्त्रों में जड़ पूजा की कहीं स्वीकृति नहीं है। जहाँ कहीं प्रतिमा-पूजन का विधान किया भी गया है वहाँ उसे स्वल्प बुद्धिवालों के लिए ही विधेय माना है। तथापि मूर्तिपूजा का सर्वतोभावेन खण्डन करने का श्रेय स्वामी दयानन्द को ही है। स्वामीजी ने प्रतिमा-पूजन के निषेध में कोई पृथक् ग्रन्थ तो नहीं लिखा, किन्तु अपने सत्यार्थप्रकाशादि सभी प्रमुख ग्रन्थों में मूर्तिपूजा का शास्त्रीय युक्तियों, प्रमाणों तथा तर्कों द्वारा सर्वत्र खण्डन किया है। काशी तथा हुगली शास्त्रार्थों में उन्होंने पौराणिक पण्डितों को वेदों के आधार पर मूर्तिपूजा सिद्ध करने के लिए ही कहा था। स्वामी दयानन्द की दृष्टि में मूर्तिपूजा दर्शन, धर्म एवं अध्यात्म की दृष्टि से तो अनावश्यक तथा व्यर्थ है ही, सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक दृष्टि से भी वह भारत के लिए विनाश-कारी सिद्ध हुई है। मूर्तिपूजा के इस सामाजिक तथा आर्थिक एवं राजनैतिक दृष्टि से हानिकर पक्ष को उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में विस्तारपूर्वक सिद्ध किया है।

मूर्तिपूजा का खण्डन तथा निराकार, अद्वितीय परमेश्वर की स्थापना आर्यसमाज का एक ऐसा सिद्धान्त है जिसे लेकर उसने कभी किसी से, किसी भी परिस्थिति में समझौता नहीं किया और न वह कर सकता है। हम यहाँ मूर्तिपूजा के खण्डन में लिखे गये इस साहित्य का उल्लेख करने जा रहे हैं जो विगत शताब्दी से लेकर इस समय तक

के आर्य विद्वानों द्वारा लिखा गया है। इसमें कुछ ग्रन्थ तो ऐसे हैं जो सनातनी विद्वानों द्वारा मूर्तिपूजा के समर्थन में लिखे गये ग्रन्थों के उत्तर अथवा खण्डनरूप में लिखे गये थे। डुमराँव के पण्डित दुर्गादत्त, जिनके साथ स्वामी दयानन्द का शास्त्रार्थ भी हुआ था, के पुत्र पण्डित बालादत्त ने 'अप्रतिम प्रतिमा' शीर्षक पुस्तक मूर्तिपूजा के समर्थन में लिखी थी। इसका उत्तर "एक सभासद आर्यसमाज देहरादून" ने अप्रतिम निरूपण शीर्षक ग्रन्थ लिखकर दिया, जिसे आर्यावर्त प्रेस कलकत्ता ने १८८६ ई० में प्रकाशित किया था। पण्डित दुर्गाप्रसाद ने इसका एक अन्य उत्तर "अप्रतिम प्रतिमा की परीक्षा" शीर्षक से १८९६ ई० में दिया।

पण्डित मधुसूदन गोस्वामीकृत प्रतिमातत्त्वनिरूपण का उत्तर पण्डित सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी ने प्रतिमातत्त्वप्रकाश लिखकर दिया। यह ग्रन्थ सरस्वती यन्त्रालय, इटावा से १९०२ ई० में छपा था। पण्डित तुलसीराम स्वामीकृत मूर्तिप्रकाश समीक्षा पण्डित रामलाल षट्शास्त्री लिखित मूर्तिप्रकाश के खण्डन में लिखी गयी जो १९५७ वि० में स्वामी प्रेस मेरठ से छपी। मुरादाबाद के मुंशी इन्द्रमणि के शिष्य पण्डित जगन्नाथदास ने मूर्तितत्त्वनिरूपण ग्रन्थ लिखा। उस समय तक वे आर्यसमाज के विरोधी नहीं बने थे। आर्यसमाज के जिन पुराने लेखकों ने मूर्तिपूजा पर अपनी सशक्त लेखनी चलाई, उनके तथा उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों के कुछ नाम इस प्रकार हैं—पण्डित बाबूराम शर्माकृत मूर्तिपूजा विचार (हिन्दी तथा उर्दू दोनों में प्रकाशित)। मूर्तिपूजा विचार—पण्डित मुसद्दीराम शर्मा लिखित, दर्शनानन्द सरस्वतीकृत मूर्तिपूजा खण्डन, पण्डित विश्वनाथ शर्मा (मथुरा निवासी) प्रणीत मूर्तिपूजा। (इसी नाम का एक अन्य ग्रन्थ पण्डित छुट्टनलाल स्वामी ने भी लिखा था।) पण्डित भूमित्र शर्माकृत मूर्तिपूजा समीक्षा (भास्कर प्रेस, मेरठ से १९७४ वि० में प्रकाशित), पण्डित चिम्मनलाल वैश्य तथा पण्डित शिव शर्मा के मूर्तिपूजाविचार शीर्षक ग्रन्थ, पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी द्वारा नाना शास्त्रीय प्रमाणों से युक्त मूर्तिपूजामीमांसा (आर्यप्रादेशिक सभा, लाहौर से १९९४ वि० में प्रकाशित), स्वामी कर्मानन्द लिखित 'मूर्तिपूजा कब से चली?' (आर्यसमाज हैदराबाद से १९३१ ई० में प्रकाशित) आदि।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में जब खण्डनात्मक साहित्य के लेखन में न्यूनता आई, तब भी मूर्तिपूजा-विषयक कुछ उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे गये। अतरौली (जिला अलीगढ़) निवासी पण्डित राजेन्द्र जी का भारत में मूर्तिपूजा (२००७ वि० में प्रकाशित) अत्यन्त गवेषणापूर्वक लिखा गया ग्रन्थ है। इसमें लेखक ने भारत में मूर्तिपूजा के आरम्भ होने की ऐतिहासिक मीमांसा करते हुए उसके विकास के विभिन्न चरणों का विस्तृत समीक्षण किया है। पण्डित जे० पी० चौधरी लिखित 'मूर्तिपूजा वेदविरुद्ध', 'ज्ञानी पिण्डीदासकृत' 'मूर्तिपूजा मत खण्डन', पण्डित अमरसिंह आर्यपथिक कृत 'मूर्तिपूजा की हानियाँ', डॉक्टर श्रीराम आर्यकृत 'मूर्तिपूजा-खण्डन', पण्डित बिहारीलाल शास्त्रीकृत 'क्या मूर्तिपूजा वेदोक्त है?' प्रोफेसर उमाकान्त उपाध्याय लिखित 'मूर्तिपूजा समीक्षा' आदि ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं।

पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने पण्डित कालूराम शास्त्री लिखित आर्यसमाज में मूर्तिपूजा का उत्तर "आर्यसमाज में मूर्तिपूजा ध्वान्त निवारण" शीर्षक पुस्तक लिखकर दिया है। पण्डित बिहारीलाल शास्त्री का "मूर्तिपूजा पर प्रामाणिक शास्त्रार्थ"

१९५१ ई० में प्रकाशित हुआ। महात्मा अमरस्वामी ने शंकराचार्यकृत परापूजा का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित किया तथा पण्डित ईश्वरीप्रसाद प्रेम ने 'शंकराचार्य और मूर्ति-पूजा' लिखकर शंकराचार्य के मूर्तिपूजा-विरोधी मत को व्याख्यात किया।

मूर्तिपूजा-विषयक उर्दू साहित्य—मूर्तिपूजा के खण्डन में पण्डित लेखराम ने मूर्तिप्रकाश नामक पुस्तक का प्रणयन १८८८ ई० में किया जो चश्मएनूर प्रेस, अमृतसर में छपी थी। इसका हिन्दी अनुवाद १८९२ ई० में ठाकुरप्रसाद शाह दानापुर ने प्रकाशित किया। पण्डित किशननारायण लिखित 'मूर्तिखण्डन अर्थात् बुतपरस्ती की तरदीद' १८८९ ई० में मुलतान से प्रकाशित हुई। लाला देवीदयाल का 'रिसालाए तरदीद बुत-परस्ती' १८९० ई० में छपा। पण्डित लक्ष्मणकृत मूर्तिपूजा-खण्डन तथा पण्डित मनसाराम वैदिकतोप लिखित 'मूर्तिपूजा' भी उर्दू में इस विषय का प्रामाणिक विवेचन करनेवाली पुस्तकें हैं। ज्वालाप्रसाद आर्य विद्यार्थी द्वारा पण्डित दीनदयालु के खण्डन में 'अमूर्त सिद्धान्त' नामक पुस्तक लिखने का भी उल्लेख मिलता है।

अन्य भाषाओं में मूर्तिपूजा-विषयक साहित्य—गुजराती में पण्डित सत्यव्रत स्नातक ने 'मूर्तिमीमांसा' शीर्षक पुस्तक लिखी जो आर्य प्रतिनिधि सभा मुम्बई से १९९१ वि० में छपी। पण्डित ज्ञानेन्द्र सिद्धान्तभूषण की मूर्तिपूजारहस्य भी गुजराती ग्रन्थ हैं। बंगला में पण्डित शंकरनाथकृत मूर्तिपूजा तथा पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्रीकृत 'देवी-देवता ओ मूर्तिपूजा' कलकत्ता से प्रकाशित हुई। अंग्रेजी में पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखित प्रसिद्ध पुस्तक Worship में मूर्तिपूजा के सम्बन्ध में दी जानेवाली युक्तियों का तर्कपूर्ण खण्डन किया गया है। उपाध्यायजी का यह विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ रिलिजियस रेनेसां सिरीज के अन्तर्गत १९४० ई० में छपा था। अंग्रेजी में ही स्वामी मंगलानन्द पुरी ने Idolalatory Unvedic लिखा।

कतिपय लेखकों ने मूर्तिपूजा के खण्डन में दृश्यकाव्य (नाटक) तथा पद्य-शैली का भी प्रयोग किया है। पण्डित रघुनाथप्रसाद मिश्रकृत "कलियुगी मूर्तिपूजा प्रहसन" का प्रकाशन १९१९ ई० में द्वारकाप्रसाद अत्तार शाहजहाँपुर ने किया था। एक 'प्रतिमा-पूजननिषेध' (नौटंकी) का भी उल्लेख मिलता है। दुरौली ग्राम (जिला कानपुर) निवासी पण्डित कुंजबिहारीलाल ने सत्यभास्कर लिखकर दोहा-चौपाई शैली में मूर्तिपूजा का खण्डन किया। इसका प्रकाशन १९५५ वि० में हुआ था। ठाकुर सज्जनसिंह वर्माकृत 'प्रतिमापूजननिषेध छन्द' भी पद्यात्मक ग्रन्थ था।

(६) अवतारवाद-विषयक समीक्षात्मक साहित्य

पौराणिक मत का सुदृढ़ आधार अवतारवाद का सिद्धान्त है। महाभारत-पूर्व के किसी ग्रन्थ में अवतारवाद का उल्लेख नहीं मिलता। महाभारत के मौलिक अंश में भी ईश्वरावतार के संकेत प्राप्त नहीं होते। यह अवश्य है कि जब वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार स्वीकार कर लिया गया, तो महाभारत में भी ऐसे अंश प्रक्षिप्त कर दिये गये जिनसे कृष्णचरित में दैवत्व, अलौकिकत्व तथा उनके ईश्वरावतार होने की मान्यता को प्रश्रय मिला। शताब्दियों पश्चात् दयानन्द सरस्वती ने प्रबल शास्त्रीय प्रमाणों एवं युक्तियों से अवतारवाद के सिद्धान्त का खण्डन किया और बताया कि वेदों में जिस परमेश्वरीय सत्ता को अज, अकाय, अस्नाविर और निष्पाप कहा है उसके लिए यह कहना

कि वह भक्तों के परित्राण तथा अधर्म के विनाश के लिए मनुष्य-जन्म धारण करती है, सर्वथा मिथ्या तथा कपोलकल्पित है। वेद, उपनिषद्, दर्शन तथा स्मृतिसाहित्य में भी अवतारवाद का लेशमात्र उल्लेख नहीं मिलता।

स्वामी दयानन्द ने ईश्वर के स्वरूप की विवेचना के प्रसंग में सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास में अनेक बातें लिखी हैं। इसी प्रकरण में उन्होंने विभिन्न युक्तियाँ देकर ईश्वर के अवतार लेने का निषेध भी किया है। आगे चलकर आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा अवतारवाद-खण्डन में जो ग्रन्थ लिखे गये, उनका विवरण यहाँ दिया जा रहा है। पण्डित जे० पी० चौधरी की पुस्तक अवतारवाद-मीमांसा १९३२ ई० में त्रिवेणी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत काशी से प्रकाशित हुई। पण्डित बुद्धदेव मीरपुरीकृत 'अवतारवाद-मीमांसा' लाहौर से १९३६ ई० में छपी। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखित 'अवतार' शीर्षक ट्रैक्ट आर्यसमाज चौक (प्रयाग) से प्रकाशित ट्रैक्टमाला में छपा। पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने 'वामनावतार की कल्पना' में ऋग्वेद के विष्णुदेवताक मन्त्र 'इदं विष्णुर्विचक्रमे' (१/२२/१७) की व्याख्या करके यह सिद्ध किया है कि आलोच्य मन्त्र के आधार पर विष्णु के वामन अवतार की कल्पना हास्यास्पद तथा मन्त्र के मूल अभिप्राय के प्रतिकूल है। उनकी यह मौलिक विवेचनापूर्ण कृति दयानन्द-वैदिक-शोध-संस्थान कानपुर से १९०७ ई० में प्रकाशित हुई थी। डॉक्टर श्रीराम आर्य ने अवतारवाद पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। अवताररहस्य तथा अवतारवाद पर ३१ प्रश्न के अतिरिक्त उन्होंने नृसिंह-अवतार-वध शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा है। इसमें शिवपुराण (शतरुद्र संहिता अध्याय ११-१२) तथा लिंगपुराण (पूर्वार्द्ध अध्याय ९३) वर्णित उस कथा की आलोचना की गई है जिसमें वीरभद्र द्वारा नृसिंह के वध का उल्लेख मिलता है। श्री सुरेन्द्रसिंह कादियाण ने 'अवतारों की बाढ़' शीर्षक पुस्तक लिखी जो आर्यसमाज नयाबाँस दिल्ली से प्रकाशित हुई।

उर्दू में लिखी गई महाशय वजीरचन्द की पुस्तक 'क्या ईश्वर अवतार धारण करता है ?' (आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब से प्रकाशित) तथा बंगला में पण्डित दीनबंधु वेदशास्त्री लिखित 'अवतार' में भी अवतारवाद की सम्यक् समीक्षा की गई है।

(७) मृतकश्राद्ध-विषयक खण्डनात्मक साहित्य

स्वामी दयानन्द ने जीवित माता-पिता तथा अन्य पूज्य पुरुषों के आदर-सत्कार तथा उनकी सेवा-पूजा को ही श्राद्ध अथवा तर्पण कहा है। उनकी दृष्टि में जो कार्य श्रद्धापूर्वक किया जाय, वही श्राद्ध है; जिनके करने से अन्यों की तृप्ति हो, वही तर्पण है। वेद तथा अन्य शास्त्रों में श्राद्ध एवं तर्पण-विषयक अनेक प्रकरण आते हैं, जिनमें पितरों के लिए नाना इतिकर्त्तव्यों का विधान किया गया है। स्वामी दयानन्द ने ऐसे सभी वेदमन्त्रों के वास्तविक अर्थ को स्पष्ट किया तथा मध्यकालीन भाष्यकारों ने इन मन्त्रों में प्रयुक्त 'पितर' शब्द का जो 'मृत पितर' अर्थ किया था, उसका भी प्रबल प्रतिवाद किया। स्वामी दयानन्द जीवित पितरों का ही श्राद्ध एवं तर्पण सम्भव मानते थे, क्योंकि देहान्त के पश्चात् किसी पितर या पूर्वज का उसकी सन्तान से कोई दैहिक या भौतिक सम्बन्ध अवशिष्ट नहीं रहता। दिवंगत जीव तो स्वकर्मानुसार तथा ईश्वर की व्यवस्था के अनुरूप किसी अन्य योनि में जन्म धारण कर लेता है। ऐसी स्थिति में उस मृत व्यक्ति को स्मरण

कर ब्राह्मणों को खिलाया जानेवाला भोजन कथमपि उसकी तृप्ति का कारण नहीं बन सकता। इस प्रकार स्वामी दयानन्द ने विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों एवं युक्तियों से मृतक श्राद्ध की दूषित प्रथा को त्याज्य बताया तथा जीवित पितरों के सत्कार को ही यथार्थ पितृयज्ञ अथवा श्राद्ध कहा।

मृतकश्राद्धप्रथा के खण्डन में आर्यसमाज के लेखकों ने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है जिनमें उल्लेख योग्य कृतियों का यहाँ विवरण दिया जा रहा है। १८९२ ई० में पण्डित दुर्गाप्रसाद ने श्राद्ध-विषयक एक पुस्तक लिखी। इसका अंग्रेजी संस्करण भी उसी समय छपा था। स्वामी स्वात्मानन्दकृत मृतक-श्राद्ध-खण्डन १८९३ ई० में विरजानन्द प्रेस, लाहौर से प्रकाशित हुआ। इसका एक अन्य संस्करण पाँच वर्ष पश्चात् १८९८ ई० में वैदिक पुस्तक प्रचारक फण्ड मेरठ से भी निकला। वजीरचन्द नामक दो लेखक आर्य-समाज में हुए हैं। दोनों ने श्राद्ध पर आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे। वजीरचन्द शर्मा लिखित 'मृतक श्राद्ध खण्डन' स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती ने लखनऊ से १८९४ ई० में प्रकाशित किया। वजीरचन्द विद्यार्थीकृत 'मृतक श्राद्ध-विषयक प्रश्न' १८९६ ई० में छपे। स्वामी दर्शनानन्दकृत श्राद्धव्यवस्था तथा मृतक-श्राद्ध-खण्डन के अनेक संस्करण उर्दू तथा हिन्दी में प्रकाशित हुए। पण्डित बाबूराम शर्मा लिखित मृतक श्राद्ध इटावा से प्रकाशित हुआ।

श्राद्ध-विषयक विस्तृत शास्त्रीय विवेचनायुक्त ग्रन्थ पण्डित शिवशंकर शर्मा ने लिखा। श्राद्धनिर्णय नामक यह ग्रन्थ आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब की वेद-तत्त्वप्रकाश ग्रन्थमाला के अन्तर्गत १९०८ ई० में लाहौर से छपा। पण्डित तुलसीराम स्वामी ने पिण्डपितृ यज्ञ (१९७१ वि० में स्वामी प्रेस, मेरठ से प्रकाशित) शीर्षक ग्रन्थ में यजुर्वेद, शतपथ ब्राह्मण, कात्यायन श्रौत सूत्र में वर्णित पिण्डपितृ यज्ञ के प्रकरण का तत्सम्बद्ध मीमांसासूत्रों के साथ विवेचन कर सिद्ध किया है कि वेद के इस संदर्भ का मृत पितरों से कोई सम्बन्ध नहीं है। महात्मा मुंशीराम जिज्ञासु ने 'मृतक श्राद्ध पर विचार' शीर्षक जो ग्रन्थ लिखा, उसे गुरुकुल काँगड़ी ने १९७३ वि० में प्रकाशित किया था। पण्डित भूमित्र शर्मा ने भिवानी-निवासी लाला हरद्वारीमल चोखानी लिखित पुस्तक 'पितृ यज्ञ की संहृति' का उत्तर पितृ-यज्ञ-समीक्षा में दिया। लालाजी स्वयं आर्यसमाजी थे किन्तु कालान्तर में 'श्राद्ध' विषय को लेकर उनके विचारों में परिवर्तन आ गया और वे मृतक श्राद्ध के समर्थक बन गये। अब उन्होंने श्राद्ध-विषयक स्वविचारों के समर्थन में उक्त पुस्तक लिखी। पण्डित भूमित्र शर्मा ने उनकी पुस्तक के उत्तर में जो उपर्युक्त ग्रन्थ लिखा, उसे भास्कर प्रेस, मेरठ ने १९७४ वि० में प्रकाशित किया था। पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी रचित मृतक-श्राद्ध-खण्डन का प्रकाशन दयानन्द स्वाध्याय मण्डल लाहौर ने १९३६ ई० में किया। पण्डित जे० पी० चौधरी ने 'गरुड पुराणोक्त श्राद्ध वेदविरुद्ध है' शीर्षक ग्रन्थ लिखकर पौराणिक-श्राद्ध-पद्धति का खण्डन किया है।

स्वातन्त्र्योत्तर काल में भी श्राद्ध-विषयक कुछ ग्रन्थ लिखे गये। इनमें पण्डित अमरसिंह आर्यपथिक का जीवित पितर (२०१७ वि० में प्रकाशित) उल्लेखनीय है। आर्यपथिक जी ने वेद के अनेक प्रमाण देकर सिद्ध किया है कि वैदिक पितृ प्रकरण में वर्णित पितरों को जीवित ही मानना युक्तिसंगत है। डॉक्टर श्रीराम आर्य ने मृतक श्राद्ध-खण्डन तथा मृतक श्राद्ध पर २१ प्रश्न दो पुस्तकें लिखी हैं। पण्डित उमाकान्त उपाध्याय की लघु पुस्तक श्राद्धतर्पण आर्यसमाज बड़ा बाजार कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हुई।

गुजराती में सेठ रणछोड़दास भवान लोटवाला ने 'श्राद्ध नी आवश्यकता' लिखी जिसे आर्यसमाज सूरत ने प्रकाशित किया। बंगला में पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री ने 'श्राद्ध ओ परलोक' लिखकर मृतक श्राद्ध की तर्कपूर्ण समीक्षा प्रस्तुत की। उर्दू में कन्हैयालाल गहलोत लिखित तथा १८९८ ई० में प्रकाशित 'श्राद्धनिर्णय' का उल्लेख मिलता है।

(८) तीर्थ-समीक्षा में लिखा गया साहित्य

स्वामी दयानन्द ने किसी विशेष जल-स्थल में तीर्थ की भावना का खण्डन किया है। वे यह तो मानते हैं कि किसी समय में हरिद्वार, काशी, प्रयाग आदि स्थान सन्त प्रकृति के पुरुषों के निवास के कारण अत्यन्त रम्य एवं पवित्र माने जाते होंगे तथा इन्हीं साधु-सन्तों का सत्संग प्राप्त करने के लिए सामान्य जनता भी तत्-तत् स्थानों की यात्रा करती होगी। किन्तु वे यह स्वीकार नहीं करते कि किसी नदी, सरोवर अथवा जलाशय में स्नान करने मात्र से ही मनुष्य की पापनिवृत्ति हो जाती है, किसी स्थानविशेष की यात्रा करने अथवा वहाँ निवास करने से ही मनुष्य मोक्ष प्राप्त करने का अधिकारी हो जाता है। इस विचार के अनुसार वे—

गंगा गंगेति यो ब्रूयात् योजनानां शतैरपि।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकं स गच्छति ॥ ब्रह्मपुराण १७५/८२

तथा 'काशिमरणान्मुक्तिः' जैसे वाक्यों को सर्वथा मिथ्या तथा पाखण्डपूर्ण मानते हैं। सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में स्वामी दयानन्द ने विभिन्न तीर्थस्थानों के सम्बन्ध में प्रचलित माहात्म्य-कथनों, तत्सम्बन्धी चमत्कारपूर्ण घटनाओं तथा प्रशस्तिपूर्ण उक्तियों का विस्तृत खण्डन किया है। वे स्वयं भी भारत के अधिकांश तीर्थों का भ्रमण कर चुके थे अतः वहाँ प्रचलित ढोंग, आडम्बर तथा पाखण्डों से भलीभाँति परिचित थे।

स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा ने गंगादितीर्थत्व-विचार लिखकर यह सिद्ध किया है कि नदियों तथा अन्य जलाशयों में तीर्थबुद्धि रखना अप्रशस्त है। पण्डित राजाराम शास्त्री के उत्तर में उन्होंने 'तीर्थ विषय' नामक एक अन्य ग्रन्थ लिखा, जो १९४५ वि० में प्रयाग प्रेस, इलाहाबाद से छपा था। पण्डित गंगासहाय शर्मा कृत 'गंगाफल दीपिका' (१८९७ ई०) तथा पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा लिखित 'गंगा की महिमा' (१९०१ ई०) दो अन्य ग्रन्थ हैं जिनमें गंगा के माहात्म्य का खण्डन किया गया है। सम्पादकाचार्य पण्डित रुद्रदत्त शर्मा के अनुज पण्डित दामोदरप्रसाद शर्मा ने तीर्थों पर किये जानेवाले दान की विकृत प्रथा तथा तीर्थों के पुरोहित-पण्डों की धाँधली को अपनी पुस्तक 'दानदर्पण ब्राह्मण-अर्पण अर्थात् तीर्थ-दर्पण पण्डा-अर्पण' में दर्शाया हैं। यह पुस्तक मथुरा से १९०९ ई० में छपी थी। पण्डित छुट्टनलाल स्वामी ने गंगा का मेला (१९६७ वि०) शीर्षक एक लघु पुस्तक लिखी। पण्डित वंशीधर पाठक लिखित गंगा-माहात्म्य नाटक-शैली में लिखा गया ग्रन्थ है जिसमें गंगास्नान-विषयक प्रवादों का कटाक्ष-पूर्ण शैली में खण्डन किया गया है। पण्डित जे० पी० चौधरी ने पौराणिक तीर्थ-मीमांसा में जल-स्थलविशष को तीर्थ मानने का प्रत्याख्यान करते हुए पौराणिक तीर्थों के मिथ्या-माहात्म्य की आलोचना की है। अयोध्या मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् राम की जन्मभूमि है, किन्तु वहाँ के पण्डे-पुजारियों ने धर्म के नाम पर जो पाखण्ड और अनाचार फैला रखा है उसका यथार्थवादी चित्र फैजाबाद के श्री केदारनाथ आर्य ने अपनी पुस्तक

'वर्तमान श्री अयोध्यामाहात्म्य' में किया है। तीर्थों से पण्डों की आजीविका जुड़ी रहती है। अतः 'पण्डों की लीला' पुस्तक में श्री विश्वप्रकाश ने इस वर्ग के लोगों की कुत्सित प्रवृत्तियों का चित्रांकन किया है। पण्डित रघुनाथप्रसाद पाठक ने 'तीर्थ और मोक्ष' लिखकर बताया है कि गंगादि तीर्थस्थानों की यात्रा से न तो पुण्यसंचय ही होता है और न मोक्षप्राप्ति। उर्दू में मूलचन्द मुदर्रिस द्वारा लिखित 'तवारीखए हरिद्वार' में हरिद्वार के पुरातन इतिहास को प्रस्तुत किया गया है।

(९) फलित ज्योतिष-समीक्षा

स्वामी दयानन्द ने ज्योतिष को वेदांग के रूप में मान्यता दी है किन्तु वे फलित ज्योतिष को मिथ्या, कपोलकल्पित एवं तथाकथित ज्योतिषियों की जीविका का साधन-मात्र समझते हैं। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय समुल्लास में फलित ज्योतिष से सम्बन्धित जन्मपत्रिका बनवाने तथा लग्न, मुहूर्त आदि देखने का प्रबल खण्डन किया है। इसी ग्रन्थ के तृतीय समुल्लास में उन्होंने पाठ्यग्रन्थों के निर्धारण के प्रसंग में मुहूर्त-चिन्तामणि, शीघ्रबोध आदि को अनार्ष ग्रन्थों की कोटि में रखकर सूर्यसिद्धान्त आदि गणितीय ज्योतिष के ग्रन्थों के पढ़ने की संस्तुति की है।

आर्यसमाजी विद्वानों ने फलित ज्योतिष के खण्डन में जो ग्रन्थ लिखे हैं, उनमें निम्न उल्लेखनीय हैं—जगन्नाथदास रचित जन्मपत्र-समालोचन, जनार्दन ज्योतिषी लिखित ज्योतिष-चमत्कार। पण्डित व्रतपाल ने ग्रहण-मीमांसा लिखी। पण्डित सन्तराम शर्मा ने नव-ग्रह-समीक्षा लिखी जो १९६५ वि० में प्रकाशित हुई। कुछ वर्ष पूर्व पण्डित वेदव्रत मीमांसक ने ज्योतिष का गम्भीर अनुशीलन कर ज्योतिष विवेक नामक एक प्रौढ़ ग्रन्थ लिखा है जिसमें फलित ज्योतिष के सभी अंगों की साधिकार आलोचना की गई है। फलित ज्योतिष पर लिखे गये उर्दू ग्रन्थों में जनार्दन जोशी की उपर्युक्त पुस्तक का पण्डित नारायणप्रसाद बेताबकृत उर्दू अनुवाद 'करिश्मए नजूम' (१९०८ ई०), पं० मनसाराम वैदिक तोप लिखित फलित-ज्योतिष-मीमांसा आदि उल्लेखनीय हैं। पण्डित गंगाप्रसाद ने मुहूर्त-फल पुस्तक भी उर्दू में ही लिखी थी। तेलुगु में पण्डित केशवार्य शास्त्री ने नवग्रहा-राधनसमीक्षा लिखकर नवग्रहपूजन का खण्डन किया है और गुजराती में श्री अमृतलाल गोकुलदास मेहता की पुस्तक 'जोशी ना पाखण्ड' ज्योतिषियों के पाखण्डों से परिचित कराती है।

(१०) शिवलिंगपूजा-खण्डन

शैव सम्प्रदाय में शिवलिंग पूजा का माहात्म्य अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णित है। किन्तु शिव-आराधना की स्थानापन्न यह लिंगपूजा कैसे प्रचलित हुई, इसके सम्बन्ध में एक अत्यन्त अश्लील तथा वीभत्स कथा शिवपुराण के दारुवन प्रसंग में दी गई है। यदा-कदा पौराणिक विद्वान् इस कथा में प्रस्तुत प्रसंग की अश्लीलता पर पर्दा डालने की दृष्टि से इसकी रहस्यात्मक तथा आलंकारिक व्याख्या करने लगते हैं, किन्तु ऐसा करना वास्तविकता से मुंह मोड़ना ही है। शिवलिंग-पूजा के खण्डन में उक्त शिवपुराणोक्त आख्यान को आधार बनाकर अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं। उदाहरणार्थ—शिवलिंग-पूजा-विधान (पण्डित रामविलास शर्मा लिखित तथा वैदिक प्रचारक फण्ड मेरठ से १८९७ ई०

में प्रकाशित), शिवलिंगपूजा (पण्डित बाबूराम शर्मा), इसी नाम की एक अन्य पुस्तक पण्डित लक्ष्मण ने भी लिखी थी। शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने शिवलिंग-पूजा-पर्यालोचन (१९६० ई० में जयदेव ब्रदर्स, बड़ौदा से प्रकाशित) लिखी। डॉक्टर श्रीराम शर्मा ने अपनी विशिष्ट खण्डनात्मक शैली में शिवजी के चार विलक्षण बेटे, शिवलिंग-पूजा-रहस्य तथा शिवलिंग-पूजा क्यों? शीर्षक तीन ग्रन्थ लिखे।

(११) पौराणिक पण्डितों को प्रत्युत्तर रूप में लिखे गये ग्रन्थ

आर्यसमाज के सिद्धान्तों का साम्प्रदायिक शक्तियों द्वारा विरोध तो उसके जन्म-काल से ही आरम्भ हो गया था। स्वामी दयानन्द के जीवनकाल में ही उनके मन्तव्यों तथा उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों की आलोचना में अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी थीं। जैसाकि हम दयानन्द वाङ्मय की विवेचना के प्रसंग में देख चुके हैं कि उनके द्वारा रचित वेदभाष्य के खण्डन में पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्नकृत समीक्षा, उनके सत्यार्थ-प्रकाश की आलोचना में पण्डित श्रीगोपाल लिखित वेदार्थप्रकाश तथा काशीशास्त्रार्थ में स्वामीजी को पराजित घोषित करनेवाले ग्रन्थ 'दयानन्दपराभूति' तथा 'दुर्जन-मुख-मर्दन' आदि ग्रन्थ स्वामीजी के जीवनकाल में ही छपे थे। इसी प्रकार उनके व्यक्तित्व पर प्रहार करनेवाले ग्रन्थ, यथा भारतेन्दु हरिश्चन्द्रकृत 'दूषणमालिका' आदि भी उनकी विद्यमानता में ही प्रकाशित हुए थे।

स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् तो विरोधी शिविरों से आर्यसमाज तथा उसकी विचारधारा पर बहुमुखी आक्रमण आरम्भ हुए। इनमें सनातनधर्मी पण्डितों का स्वर सर्वाधिक मुखर ही नहीं, यदा-कदा अत्यन्त आपत्तिजनक, बेहूदा तथा असभ्यतापूर्ण भी था। किन्तु आर्यसमाजी विद्वान् भी इन आक्रमणों का मुकाबिला करने में, और अवसर आने पर उतनी ही प्रखरता से उनका जवाब देने में भी पीछे नहीं रहे। यदि आर्य विद्वानों द्वारा इस प्रकार का सुरक्षात्मक और साथ ही आक्रमणात्मक (Defensive and offensive) रवैया एक साथ नहीं अपनाया जाता तो इस बात की पूर्ण आशंका थी कि आर्यसमाज की लोकमंगल-विधायक तथा प्रगतिशील विचारधारा का अभीष्ट प्रचार नहीं हो पाता। इस प्रसंग में हम आर्य विद्वानों द्वारा लिखित उसी साहित्य की चर्चा कर रहे हैं जो पौराणिक पण्डितों द्वारा लिखे गये आक्षेपात्मक ग्रन्थों के प्रत्युत्तर में आक्षेपकर्ता को ही विशेष लक्ष्य में रखकर लिखा गया है।

मुरादाबाद-निवासी मुंशी इन्द्रमणि को जब उनकी गलत कार्यवाहियों के कारण आर्यसमाज से पृथक् कर दिया गया तो उनके एक मुखर शिष्य जगन्नाथदास ने आर्यसमाज तथा स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में अनेक आक्षेपात्मक पुस्तकें लिखीं। यद्यपि इन पुस्तकों में मात्र वितण्डावाद तथा हेत्वाभासयुक्त कथन ही थे, किन्तु इन्हें पढ़कर सामान्य पाठक का स्वामीजी तथा आर्यसमाज के प्रति कुछ अन्यथा सम्मति बना लेना कठिन नहीं था। अतः जगन्नाथदास को प्रत्युत्तर देने की दृष्टि से निम्न पुस्तकें लिखी गईं—जगन्नाथ कुतर्क कुठार (शम्भुनाथ शर्मा लिखित), जगन्नाथ-भ्रम-नाशक (उर्दू, कुंवरसेन शर्मा लिखित), जगन्नाथ का बेसुरा तराना तथा जगन्नाथ की लीला (दोनों के लेखक स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती)। सिंधप्रान्त निवासी आलाराम सागर नामक संन्यासी पहले आर्य-समाज का प्रचारक रहा, किन्तु थोड़े समय पश्चात् वह आर्यसमाज का कट्टर विरोधी

बन गया। अब स्वामी दयानन्द को गाली देना ही उसका एकमात्र काम था। उसने तत्कालीन शासकों को यह कहकर भड़काना चाहा कि आर्यसमाज एक षड्यन्त्रकारी संस्था है, जिसका उद्देश्य ही अंग्रेजी सत्ता को भारत से समाप्त करना है। वस्तुतः आलाराम के भाषण इतने भड़कानेवाले होते थे कि यदि आर्यसमाजी उस समय धैर्य खो देते, तो एक बहुत बड़ा बवण्डर ही मच जाता। अन्ततः सरकार को ही आलाराम के विरुद्ध भारतीय दण्ड विधान की धारा १०८ के अनुसार अभियोग चलाना पड़ा और उससे पूछा गया कि उसकी दो वर्गों के पारस्परिक सम्बन्धों को बिगाड़नेवाली अश्लील और भद्दी वक्तृताओं के कारण क्यों नहीं उससे नेकचलनी की जमानत देने के लिए कहा जाय? इस अभियोग का निर्णय इलाहाबाद के जिलाधीश पी० हैरिसन ने दिया। यह एक ऐतिहासिक फैसला था जिसमें यह साफ कहा गया था कि स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की शिक्षाओं को राजद्रोह भड़कानेवाली कदापि नहीं कहा जा सकता; हाँ, उनमें राष्ट्रीयता की भावनाएँ अवश्य मौजूद हैं। इसी आलाराम की दुष्टतापूर्ण कार्यवाहियों का पर्दाफाश करते हुए पण्डित रुद्रदत शर्मा ने 'आला-हृदयांधकार' नामक पुस्तक लिखी। इलाहाबाद के जिलाधीश का दिया आलाराम-विषयक अभियोग का निर्णय भी (The Judgement in the case of Alaram) शीर्षक से पुस्तकाकार छपा था।

आर्यसमाज के इतिहास में एक सनसनीखेज मुकद्दमा वह था जो पंजाब के पौराणिक पण्डित गोपीनाथ द्वारा महात्मा मुंशीराम पर 'सद्धर्म प्रचारक' के सम्पादक तथा प्रकाशक होने के नाते भारतीय दण्डसंहिता की धारा ५००, ५०१ तथा ५०२ के अधीन जिला मजिस्ट्रेट लाहौर की अदालत में दायर किया गया था। यह अभियोग पण्डित गोपीनाथ के लिए ही हानिकारक सिद्ध हुआ क्योंकि इसकी सुनवाई के दौरान कुछ ऐसे रहस्य सामने आये, जिनसे यह सिद्ध हो गया कि पं० गोपीनाथ ईसाइयों का एजेण्ट था और उसे पादरियों से रिश्वत मिलती थी। इस प्रकार महात्मा मुंशीराम का बुरा करने वाला पण्डित गोपीनाथ खुद ही अपने षड्यन्त्र-जाल में फँस गया। इस मुकद्दमे का विस्तृत वर्णन उर्दू तथा हिन्दी में स्वयं महात्मा मुंशीराम ने पुस्तकाकार प्रकाशित किया। हिन्दी में यह 'सत्यधर्म-प्रचारक' पर पहला मानहानि का अभियोग शीर्षक से १९५८ वि० में छपा।

पण्डित भीमसेन शर्मा (इटावा) के आर्यसमाज से पृथक् होने की चर्चा अन्यत्र कई प्रसंगों में आ चुकी है। चूरू(राजस्थान)के सेठ माधवप्रसाद खेमका के आग्रह से शर्मा जी ने यज्ञ किया और उसमें पशुबलि के प्रतीकरूप में आटे के बने मेष-मेषी का बलिदान किया गया। इस घटना से आर्यसमाज में शर्माजी की सिद्धान्तनिष्ठा को लेकर अनेक संदेह प्रकट किये गये। प्रारम्भ में तो पण्डित भीमसेन डाँवाडोल की-सी स्थिति में रहे। कभी कहते कि स्वामी दयानन्द के सभी सिद्धान्तों में उनकी निष्ठा है, और कभी कहते कि वे मृतक-श्राद्ध तथा यज्ञ-विषय को छोड़कर स्वामीजी के विचारों से पूर्णतया सहमत हैं। वे यदा-कदा यह भी कहते थे कि स्वामी दयानन्द के श्राद्ध-तर्पण तथा यज्ञविषयक सिद्धान्तों पर पुनः विचार करने तथा उनका पुनरावलोकन करने की आवश्यकता है। इसी उधेड़बुन में कुछ समय व्यतीत कर अन्ततः वे आर्यसमाज से किनाराकशी कर गये और खुलेआम सनातनधर्मी शिविर में प्रविष्ट हो गये। अब शर्मा जी आर्यसमाज के विरोध में लिखने लगे। उन्होंने इटावा से ब्राह्मणसर्वस्व पत्र निकाला। इसमें पौराणिक

मन्तव्यों की पुष्टि और दयानन्दप्रतिपादित सिद्धान्तों के खण्डन में वे अपनी प्रतिभा को व्यय करने लगे। पण्डित भीमसेन शर्मा जब आर्यसमाज के विरोध में खुलकर सामने आये तो पण्डित देवदत्त शर्मा ने भीमहृदयान्धकार मार्तण्ड (भाग १) लिखकर उनकी सिद्धान्तहीन गतिविधियों की पोल खोली। यह ग्रन्थ आर्यसमाज कासगंज से १९५७ वि० में छपा था। पण्डित छुट्टनलाल स्वामी ने भीमप्रश्नोत्तरी लिखकर पण्डित भीमसेन के समक्ष कुछ प्रश्न रक्खे। स्वामी प्रेस मेरठ से यह पुस्तक १९१४ ई० में छपी थी।

लायलपुर (पाकिस्तान)निवासी एक पौराणिक शम्भुदयाल त्रिशूली ने दयानन्द-भाव-चित्रावली नामक पुस्तक लिखकर स्वामी दयानन्द के निष्कलंक जीवन एवं चरित्र को कलंकित करने का व्यर्थ प्रयास किया था। इसका उत्तर पण्डित भूमित्र शर्मा ने त्रिशूलीत्रिशूलोच्छेदन लिखकर १९२७ ई० में दिया। सनातनधर्म का सर्वाधिक कुख्यात पण्डित कालूराम शास्त्री आर्य सिद्धान्तों के विरुद्ध लिखने का कोई अवसर नहीं छोड़ता था। उसके आर्य विद्वानों से अनेक शास्त्रार्थ भी होते रहते थे। पण्डित कालूराम की आक्षेपपूर्ण पुस्तकों का उत्तर तो आर्य विद्वान् देते ही थे, कुछ लेखकों ने नामोल्लेखपूर्वक उसकी शरारतपूर्ण बातों का खण्डन अधोलिखित पुस्तकों में किया है—व्रजमोहन झा कृत कालूराम-मुख-मर्दन (१९७२ वि० में कानपुर से प्रकाशित), कालूराम की कालिमा (पण्डित जितेन्द्र शर्मा लिखित तथा जगाधरी से १९७३ वि० में प्रकाशित), स्वामी कर्मानन्दकृत कालूतिमिर-प्रकाश।

पण्डित अखिलानन्द शर्मा भी पण्डित भीमसेन की भाँति अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में आर्यसमाजी रह चुके थे। वर्णव्यवस्था पर दकियानूसी विचारों के कारण वे आर्यसमाज में पूर्णतया खप नहीं सके और अपने प्रकृत रूप में आ गये। अब पण्डित अखिलानन्द ने अपनी सम्पूर्ण लेखन-प्रतिभा का व्यय आर्यसमाज की आलोचना में किया और स्वामी दयानन्द तथा उनके सिद्धान्तों के प्रवंचनापूर्ण खण्डन में ही अपने-आपको सर्वात्मना झोंक दिया। सनातनधर्म के गम्भीर और शालीन प्रकृति के नेता तो पण्डित अखिलानन्द की उछलकूद को अच्छा नहीं समझते थे, क्योंकि वे जानते थे कि जो व्यक्ति अपने पैतृक धर्म के प्रति भी वफादार नहीं रह सका, वह भला सनातनधर्म का क्या भला करेगा? तथापि कुछ उपद्रवप्रिय तथा संकीर्ण मनोवृत्ति के पौराणिक अखिलानन्द के गाली-गलौचभरे व्याख्यान कराकर एक निराली मनस्तुष्टि का अनुभव करते थे। पण्डित लक्ष्मण ने 'अखिलानन्द की शरारत' (उर्दू व हिन्दी में प्रकाशित) लिखकर इसके उपद्रवप्रिय स्वभाव का परिचय दिया तो पण्डित शिव शर्मा ने 'अखिलानन्द का हृदय' लिखकर इसके कल्मषपूर्ण अन्तःकरण से पाठकों को परिचित कराया।

पण्डित माधवाचार्य ने भी आर्यसमाज के खिलाफ बहुत-कुछ लिखा था और वे स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों की खिल्ली उड़ानेवालों में सबसे आगे रहे। कासगंज-निवासी डॉक्टर श्रीराम आर्य ने 'माधवाचार्य की चुनौती का उत्तर' शीर्षक पुस्तक लिखकर उक्त पौराणिक विद्वान् की मिथ्या हेकड़ी का जवाब दिया। जब पण्डित माधवाचार्य के पुत्र पण्डित प्रेमाचार्य ने 'शल्यो जेष्यति पाण्डवान्' शीर्षक पुस्तक डॉक्टर आर्य की उपर्युक्त कृति के उत्तर में लिखी तो डाक्टर आर्य ने 'माधवाचार्य को डबल उत्तर' से इसका प्रत्युत्तर दिया। इस शताब्दी के छठे दशक में एक हिन्दी पत्रकार शिवकुमार गोयल के सम्पादन में पण्डित माधवाचार्य के सम्मान में एक अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशित

हुआ। इस ग्रन्थ में उक्त पण्डित जी द्वारा आर्य विद्वानों से किये गये शास्त्रार्थों का अतिशयोक्ति तथा मिथ्या उक्तियों से पूर्ण अतिरंजित वर्णन किया गया था तथा इन सभी शास्त्रार्थों में पण्डित माधवाचार्य की विजय दिखाई गई थी। पण्डित बिहारीलाल शास्त्री ने अभिनन्दन-ग्रन्थ के सम्पादक की इस गलतबयानी का नोटिस लिया और दम्भदमन (२०२१ वि० में प्रकाशित) लिखकर बताया कि माधवाचार्य तो आर्य विद्वानों से शास्त्रार्थों में सदा पराजित ही होते रहे हैं। अपने अभिनन्दन-ग्रन्थ में इसके विपरीत लिखना या लिखवाना हद दर्जे की गलतबयानी है। वस्तुतः पौराणिकों की अत्यन्त बीभत्स, अश्लील तथा आपत्तिजनक पुस्तकों के विरोध में ही आर्यसमाजी लेखकों को विवश होकर अपनी लेखनी उठानी पड़ती थी, अन्यथा वे कभी नहीं चाहते थे कि वे भी पौराणिकों के ही स्तर पर उतरकर 'शठे प्रति शाठ्यं कुर्यात्' की नीति को अपनायें। किन्तु कभी-कभी इन्हें इस नीति को अपनाने के लिए विवश भी होना पड़ता था। जैसा कि हम देखते हैं, पण्डित शम्भुदयाल त्रिशूली की दयानन्द-भाव-चित्रावली, पण्डित माधवाचार्य की पण्डित बुद्धदेव का जूता, पण्डित गोपाल मिश्र (हरियाणा, जिला होशियारपुर निवासी) कृत कलियुग इन्साफ के लिबास में, शिवपूजा और दयानन्द की तालीम, राम-पूजा और शैतान की तालीम, आदि अत्यन्त घृणित पुस्तकों के उत्तर में पण्डित मनसाराम को 'पौराणिक दम्भ पर वैदिक बम्ब' जैसी पुस्तक लिखनी पड़ी। पण्डित मनसाराम ने इसे धर्मनारायण शर्मा के प्रच्छन्न नाम से लिखा और प्रकाशित किया था। कहना नहीं होगा कि इसकी शैली 'ईंट का जवाब पत्थर' की ही थी। आज के युग में भी पण्डित अखिलानन्द और पण्डित माधवाचार्य का अनुवर्तन करनेवालों की कमी नहीं है। मेरठ कालेज मेरठ के दर्शन-विभाग के प्राध्यापक राजेन्द्रकुमार गर्ग ने दयानन्द गाली पुराण और गीतास्वरूप-निर्णय जैसे ग्रन्थों में अत्यन्त अशालीन एवं अभद्र भाषा में स्वामी दयानन्द और आर्य-समाज को स्मरण किया है। राजेन्द्र गर्ग की इन कृतियों का तर्कपूर्ण किन्तु शालीनता-युक्त उत्तर पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने गर्ग मुख चपेटिका में तथा डॉक्टर श्रीराम आर्य ने किंचित् आक्रोशयुक्त भाषा में 'मेरठ का जंगली कुत्ता' शीर्षक से दिया है।

(१२) आर्यसमाज का जैन-मत-समीक्षा-विषयक साहित्य

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के त्रयोदश समुल्लास में चार्वाक, बौद्ध तथा जैन—इन तीनों अवैदिक मतों की समीक्षा लिखी है। दयानन्द वाङ्मय की विवेचना के प्रसंग में हम एक अन्य अध्याय में यह लिख चुके हैं कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण की रचना करते समय तक स्वामी दयानन्द जैन एवं बौद्ध ग्रन्थों का अधिक अध्ययन नहीं कर पाये थे। इसके स्पष्ट कारण भी थे। बौद्ध धर्म का तो भारत से शताब्दियों पूर्व ही लोप हो चुका था तथा उसके ग्रन्थों के अध्ययन की कोई परम्परा उस समय यहाँ विद्यमान नहीं थी, अतः स्वामीजी को बौद्ध धर्म के ग्रन्थों को प्राप्त करने में कठिनाई हुई। जहाँ तक जैन मत का सम्बन्ध है, यद्यपि इसके करोड़ों अनुयायी भारत में विद्यमान थे और हैं, किन्तु वे अपने शास्त्रग्रन्थों को परमतावलम्बियों को नहीं दिखाते थे। यही कारण है कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में जैन-मत की समालोचना अत्यन्त संक्षिप्त रूप में लिखी गई। इस आलोचना में जिन आधारभूत जैन ग्रन्थों का स्वामीजी ने उपयोग किया उन्हें लेकर भी एक विवाद उत्पन्न हो गया। गुजरां-

वाला (पंजाब) के निवासी ठाकुरदास मूलराज भाभड़ा नामक एक जैनी ने स्वामीजी को पत्र लिखकर उनसे यह जानकारी चाही थी कि त्रयोदश समुल्लास में उन्होंने जिन ग्रंथों के आधार पर जैन-मत की समीक्षा लिखी है, क्या वे ग्रन्थ वास्तव में जैनियों द्वारा मान्यता प्राप्त हैं ? यह विवाद जब बढ़ता ही गया तो स्वामी दयानन्द ने निश्चय किया कि इस ग्रन्थ के द्वितीय संस्करण के प्रकाशित होने से पूर्व वे जैन-मत-विषयक आलोचना को आद्योपान्त संशोधित करेंगे और जैन-मत के ग्रन्थों की अधिकाधिक जानकारी प्राप्त कर इस आलोचना को अपेक्षाकृत अधिक ठोस तथा प्रामाणिक बनायेंगे। इसी बीच उन्हें बम्बई के श्री सेवकलाल कृष्णदास के सौजन्य से जैन शास्त्रों की अनेक दुर्लभ पुस्तकें मिलीं, जिनकी सहायता से सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण के १२वें अध्याय का पुनर्लेखन किया गया। सत्यार्थप्रकाश (द्वितीय संस्करण) की भूमिका में स्वामीजी ने उन जैन ग्रन्थों की सूची दे दी है जिनको संदर्भ रूप में उन्होंने प्रयुक्त किया था।

स्वामी दयानन्द के दिवंगत होने के पश्चात् अनेक आर्य विद्वानों ने जैन-मत पर समीक्षात्मक दृष्टि से बहुत-कुछ लिखा। यहाँ इस साहित्य का किंचित् विस्तारपूर्वक उल्लेख किया जा रहा है। जैनाचार्य मुनि आनन्दविजय ने आर्यसमाज के सिद्धान्तों के खण्डन में अज्ञानतिमिरभास्कर नामक ग्रन्थ लिखा था। स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा ने इसके उत्तर में जैनास्तिकत्वविचार शीर्षक पुस्तक लिखी। इसमें लेखक ने जैनमत को नास्तिक सिद्ध किया था। आर्यसमाज में जैन धर्म का सुगूढ़ अध्ययन करनेवाले विद्वानों में स्वामी दर्शनानन्द का नाम मूर्धास्थानीय है। स्वामीजी ने जैन शास्त्रों का व्यापक परिशीलन किया था। उनके जैन विद्वानों से अनेक स्थानों पर शास्त्रार्थ भी हुए थे। स्वामी दर्शनानन्द जी ने जैनमत के खण्डन में जो ट्रैक्ट लिखे वे अधिकांश में दयानन्द वेद-प्रचारक मिशन लाहौर से प्रकाशित हुए। इनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—जैन भ्रान्ति निवारण, जैनियों का जीव, जैनियों की मुक्ति, स्याद्वाद-समीक्षा, ईश्वर कर्तृत्व समीक्षा, जैन भ्रान्ति निवारण। उन्होंने भूमण्डल के समस्त जैनियों से १०० प्रश्न पूछे। ये समस्त प्रश्न तथा उनके प्राप्त उत्तरों की समीक्षा भी पुस्तकाकार प्रकाशित हुई।

स्वामी दर्शनानन्द के पश्चात् जैनमत के मर्म को जाननेवाले आर्यसमाजी विद्वान् स्वामी कर्मानन्द थे। वे स्वयं जैनकुलोत्पन्न थे, किन्तु कालान्तर में आर्यसमाजी बन गये और जैनमत की आलोचना में दर्जनों ग्रन्थ लिखे। यह एक विडम्बना ही कही जायगी कि स्वामी कर्मानन्द आर्यसमाज का त्याग कर पुनः अपने पैतृक जैन धर्म के अनुयायी बन गये और वैदिक मान्यताओं के खण्डन में अनेक पुस्तकों का प्रणयन किया। स्वामी कर्मानन्द ने जैन-मत-दर्पण शीर्षक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत जैन मत प्राचीन नहीं है, जैन मत-लीला, जैन गप्पाष्टक, जैनमत परिचय, जैन मत प्रकाश, भूमण्डल के जैनियों से १०० प्रश्न, जैनियों का काल और ईश्वर, जैन पोल प्रकाश आदि पुस्तकें लिखीं। यह ग्रन्थ-माला ओंकार प्रेस अजमेर से प्रकाशित हुई थी। इनकी कुछ पुस्तकें आर्यसमाज पानीपत ने भी छापी थीं। पण्डित सत्यदेव (मौलाना गुलाम हैदर) ने जैनकाल भ्रमोच्छेद तथा जैन शास्त्रों की काट-छाँट शीर्षक दो पुस्तकें लिखीं। शास्त्रार्थ-महारथी पण्डित देवेन्द्र-नाथ शास्त्री भी जैन धर्म के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनके अतिरिक्त पण्डित लक्ष्मण, पण्डित कालीचरण शर्मा, स्वामी आत्मानन्द सरस्वती तथा समाना (जिला पटियाला) निवासी

श्री राधाकृष्ण आर्य ने भी जैन मत समीक्षा-विषयक कुछ ग्रन्थ लिखे हैं। पण्डित रामचन्द्र देहलवी के अनुज श्री जियालाल वर्मा ने 'जैनों के ५० उत्तरों की समीक्षा' लिखी जो आगरा से १९३३ ई० में प्रकाशित हुई।

धार्मिक एवं दार्शनिक दृष्टि से जैनों और आर्यों में पार्थक्य एवं भिन्नता हैं, किन्तु सांस्कृतिक और सामाजिक दृष्टि से वे वृहत्तर हिन्दू धर्म और समाज के ही एक घटक हैं। कालान्तर में जब धार्मिक वादविवादों और शास्त्रार्थों का युग समाप्त हुआ तो जैन धर्म का अध्ययन कर उसपर समालोचनात्मक दृष्टि से लेखनी चलानेवाले आर्य विद्वानों की संख्या भी नगण्य रह गई। सार्वदेशिक सभा के भूतपूर्व प्रधान स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती की प्रेरणा से पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री ने तत्त्वार्थादर्श शीर्षक एक तर्कपूर्ण ग्रन्थ लिखकर जैन सिद्धान्तों का प्रभावशाली ढंग से खण्डन किया है। इसमें लेखक ने सत्यार्थ-प्रकाश के १३वें समुल्लास के खण्डन में लिखे गये जैन विद्वान् पण्डित अजितकुमार शास्त्री रचित सत्यार्थदर्पण को पूर्वपक्ष में रक्खा है। प्रौढ़ युक्तियों और खंडन-मण्डन की परम्परागत शैली में लिखा गया यह ग्रन्थ लेखक के प्रगल्भ पाण्डित्य का परिचायक है। सार्वदेशिक सभा द्वारा इसे २०२४ वि० में प्रकाशित किया गया था।

जैन विद्वानों से हुए शास्त्रार्थों का प्रकाशित विवरण—समय-समय पर आर्य विद्वानों और जैन पण्डितों के बीच जो शास्त्रार्थ हुए थे, उन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित करने का उद्योग किया गया। स्वामी दयानन्द के शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा तथा पण्डित देवदत्त शर्मा का जैन पण्डितों से एक प्रसिद्ध शास्त्रार्थ फीरोजाबाद में १९४५ वि० में हुआ था। इसका विवरण शास्त्रार्थ फीरोजाबाद शीर्षक से वैदिक यन्त्रालय, अजमेर से प्रकाशित हुआ है। शास्त्रार्थ संस्कृत पत्रों के माध्यम से हुआ था।

स्वामी दर्शनानन्द ने प्रसिद्ध जैन पण्डित गोपालदास वरैया से जो शास्त्रार्थ किया था वह 'शास्त्रार्थ अजमेर' शीर्षक से छपा। एक अन्य शास्त्रार्थ दिल्ली में भी हुआ। इसका विवरण आर्यकुमार सभा दिल्ली ने देहली शास्त्रार्थ शीर्षक से १९१७ ई० में प्रकाशित किया। आर्यसमाज के विद्वान् पण्डित भगवानस्वरूप न्यायभूषण तथा जैन विद्वान् पण्डित वर्धमान शास्त्री के बीच लिखित शास्त्रचर्चा शाहपुरा (राजस्थान) में हुई थी। इस चर्चा का विवरण 'शाहपुरा शास्त्रार्थप्रकाश' शीर्षक से आर्यसमाज शाहपुरा ने १९३० ई० में प्रकाशित किया था।

(१३) ईसाइयत-विषयक खण्डनात्मक साहित्य

शासक जाति के मत के विरुद्ध लिखना साहस की बात मानी जाती है। जबतक भारत में मुसलमानों का राज्य रहा, शायद ही किसी भारतीय हिन्दू लेखक ने इतना साहस बटोरा होगा कि वह इस्लाम की आलोचना में कोई ग्रन्थ लिखता। यही स्थिति ईसाइयत पर कलम चलाने के सम्बन्ध में कही जा सकती है। ब्रह्मसमाज के संस्थापक राजा राममोहन राय प्रथम व्यक्ति ने जिन्होंने ईसाई धर्मशास्त्र बाइबिल का गहन गम्भीर अध्ययन किया और इसके आधार पर Precepts of Jesus Christ : The Guide to Peace and Happiness शीर्षक एक पुस्तक लिखी। राय महाशय ने ईसाई आचार-शास्त्र का गहन अध्ययन किया था और उनकी यह बलवती धारणा थी कि ईसाइयत की इन नैतिक शिक्षाओं को स्वीकार करने से ही समग्र मानवजाति का त्राण हो सकता है।

तथापि राममोहन राय न तो ईसाई मत में स्वीकार किये गये त्रैतवाद (ईश्वर, ईसा तथा पवित्रात्मा) को ही स्वीकार करते थे और न वे ईसा द्वारा प्रदर्शित किये गये चमत्कारों एवं अलौकिक कृत्यों की सत्यता में ही विश्वास रखते थे। इसके विपरीत उन्होंने ईसाई शास्त्रों के आधार पर ही यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि मूलतः बाइबिल भी ईश्वराद्वैत में ही विश्वास करती है तथा ईसाई मत का वर्तमान त्रैतवादी विश्वास ईसाइयत की मूल धारणाओं के प्रतिकूल है।

इस प्रकार ईसाई धर्मशास्त्रों के आधार पर ही ईसाई मत को एकेश्वरवादी सिद्ध करने का राय महाशय का यह अभिनव प्रयास था। किन्तु इससे उन ईसाई पादरियों की तुष्टि नहीं हो सकती थी जो ईसाइयत की आधारभूत—पिता, पुत्र तथा पवित्रात्मा जैसी तीन हस्तियों में विश्वास रखने, ईसा द्वारा मानव मात्र के पापों को लेकर सूली पर चढ़ जाने तथा ईसा में विश्वास लाने मात्र से ही मानव की मुक्ति जैसी मान्यताओं का प्रचार करना चाहते थे। उनकी दृष्टि में तो ईसा द्वारा प्रदर्शित चमत्कारों तथा बाइबिलवर्णित अलौकिक घटनाओं पर विश्वास किये बिना कोई व्यक्ति सच्चा ईसाई कहलाने का अधिकारी नहीं हो सकता। फलतः राममोहन राय द्वारा प्रकाशित Precepts of Christ की अनुकूल प्रतिक्रिया ईसाई जगत् में नहीं हुई। श्रीरामपुर (बंगाल) स्थित ईसाई पादरियों ने Friend of India नामक पत्र में राममोहन राय की स्थापनाओं का खण्डन किया और राय महाशय से कहा कि यदि वे बाइबिल को मान्य ग्रन्थ स्वीकारते हैं तो उन्हें पूरी बाइबिल को ही प्रामाणिक मानना होगा। इस सन्दर्भ में अर्धजरतीय न्याय नहीं चल सकता कि बाइबिल की उन आयतों को तो प्रमाण मानें जिनमें एक ईश्वर की सत्ता वर्णित है और उसी बाइबिल के उन अंशों को प्रामाणिकता से खारिज कर दें जिनमें ईसा के दैवत्व, पवित्रात्मा के अस्तित्व तथा ईसा द्वारा प्रदर्शित चमत्कार वर्णित किये गये हैं। यहाँ इस विवरण को देने का प्रयोजन इतना ही है कि आर्यसमाज की स्थापना से वर्षों पूर्व राजा राममोहन राय द्वारा ईसाइयत का समीक्षात्मक अध्ययन करने की प्रवृत्ति चल पड़ी थी।

राममोहन राय के पश्चात् ब्रह्मसमाज में ईसाइयत के प्रति प्रशंसात्मक धारणाएँ तो बढ़ीं किन्तु उनके प्रति आलोचनात्मक तथा यथार्थवादी दृष्टिकोण नहीं पनप सका। यह एक सुविदित तथ्य है कि केशवचन्द्र सेन ने तो ब्रह्मसमाज के मत, विश्वास तथा कर्मकाण्ड को भी ईसाइयत के अनुकूल ढालने में अपनी समस्त शक्तियाँ लगा दी थीं और इसी कारण उन्हें ब्रह्मसमाज के उस वर्ग का कोपभाजन भी बनना पड़ा था जो अपनी संस्था को हिन्दू धर्म की व्यापक धारा के साथ जोड़े रखना चाहते थे।

स्वामी दयानन्द ने ईसाई पादरियों की गतिविधियों का सूक्ष्मता से निरीक्षण किया और इसके पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ईसाइयत का द्रुत गति से प्रचार भारतीय आर्य धर्म के लिए एक प्रमुख चुनौती है। उन्होंने बाइबिल के हिन्दी तथा संस्कृत अनुवादों का गम्भीर अनुशीलन किया और उसके पश्चात् ही वे सत्यार्थप्रकाश के त्रयोदश समुल्लास के लेखन में प्रवृत्त हुए। स्वामी दयानन्द अपने जीवनकाल में अनेक स्वदेशी तथा विदेशी पादरियों के सम्पर्क में आये थे। उन्होंने ईसाई प्रचारकों की प्रचारप्रणाली का भी सूक्ष्म अध्ययन किया था तथा पादरी प्रचारकों से उनके कई स्थानों पर शास्त्रार्थ भी हुए थे। स्वामी दयानन्द की प्रेरणा से ही जयपुर के एक राज्याधिकारी ठाकुर नन्दकिशोरसिंह ने

Self Contradictions of the Bible शीर्षक ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया जो 'बाइबिल के परस्पर विरोध' शीर्षक से १८९७ ई० में प्रकाशित हुआ। स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् आर्यसमाज के अध्ययनशील विद्वानों ने ईसाई मत का विस्तृत समीक्षण किया और समय-समय पर इसकी आस्थाओं, मान्यताओं तथा विश्वासों के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। आगे की पंक्तियों में इसी साहित्य का उल्लेख किया जायगा।

स्वामी दयानन्द के विश्वासपात्र तथा वैदिक यन्त्रालय के कुशल प्रवन्धक मुन्शी समर्थदान ने १७ अगस्त १८८४ ई० को प्रयाग में ईसाई पादरियों की राष्ट्र एवं धर्म-विरोधी गतिविधियों का परिचय कराते हुए एक व्याख्यान दिया जो भारतजीवन प्रेस, काशी से १९४५ वि० (१८८८ ई०) में स्वधर्मरक्षा शीर्षक से प्रकाशित हुआ। कई दशाब्दियों पश्चात् इसे आर्यसमाज दीवानहाल दिल्ली ने २०३० वि० में पुनः प्रकाशित किया। ईसाई मत की समीक्षा में छोटे-बड़े ग्रन्थ तो स्वामी दयानन्द के परलोक-गमन के पश्चात् ही लिखे जाने लगे थे किन्तु ईसाइयत की विस्तृत समीक्षा करते हुए पं० लेखराम ने क्रिश्चियनमतदर्पण शीर्षक एक शोधपूर्ण पुस्तक लिखी। आठ अध्यायों में विभक्त यह ग्रन्थ १८९६ ई० में लिखा गया था। इसमें लेखक का गम्भीर अध्ययन, सूक्ष्म विवेचन-शक्ति तथा विषय की विस्तृत जानकारी दिखाई पड़ती है। पण्डित रामविलास ने इसका हिन्दी अनुवाद किया था जो आर्यसमाज शाहाबाद (जिला हरदोई) से १८९७ ई० में छपा। उनकी एक अन्य पुस्तक 'आईनाए इंजील' उर्दू में लिखी गई थी।

ईसाई प्रचारक भी यह समझ गये थे कि आर्यसमाज के रूप में एक ऐसी शक्ति भारत में उभर आई है जो उनके अनुचित मनसूबों को कभी पूरा नहीं होने देगी। आर्य-समाज फर्रुखाबाद के मासिक मुखपत्र भारतसुदशाप्रवर्त्तक के जनवरी १८८४ ई० के अंक में यह तथ्य इस प्रकार उल्लिखित हुआ है—"पादरियों ने यह स्वीकार किया है कि दयानन्द सरस्वती के कारण ईसाइयत को ग्रहण करने में रुकावट आई है।" ईसाइयत पर बढ़ते हुए आर्यसमाज के आक्रमणों को दृष्टि में रखकर ईसाई प्रचारकों ने भी आर्य सिद्धान्तों के खण्डन में लिखना आरम्भ कर दिया। नॉर्थ इण्डिया क्रिश्चियन बुक एण्ड ट्रैक्ट सोसाइटी प्रयाग से आर्यतत्त्व-प्रकाश शीर्षक एक पुस्तक कई खण्डों में निकली जिसमें आर्यसमाज की आलोचना की गई थी। स्वामी आलाराम संन्यासी ने इसका उत्तर 'ईसाईकपटदर्पण' (भाग १) लिखकर दिया। स्मरणीय है कि यही आलाराम संन्यासी कालान्तर में आर्यसमाज का कट्टर विरोधी बन गया था। जोधपुर के तत्कालीन प्रधान-मन्त्री तथा आर्यसमाज के अनुयायी कर्नल सर प्रतापसिंह के गुरुतुल्य स्वामी प्रकाशानन्द ने 'ईसाई मत—ढोल की पोल' शीर्षक पुस्तक मारवाड़ राज्य यंत्रालय, जोधपुर से प्रकाशित की। इसमें मुख्यतः सत्यार्थप्रकाश के १३वें समुल्लास के कतिपय अंशों को ही उद्धृत किया गया था।

ईसा के जन्म के प्रारम्भिक वृत्तान्त के सम्बन्ध में एक रूसी पादरी निकोलस नोटोविच ने एक सनसनीखेज पुस्तक विगत शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में प्रकाशित की थी। इसमें लद्दाख के बौद्ध लामाओं की किसी गुफा से प्राप्त एक प्राचीन पुस्तक के आधार पर यह सिद्ध किया गया था कि ईसा के जीवन का एक प्रमुख अंश भारत में व्यतीत हुआ और उन्होंने दीर्घकाल तक यहाँ रहकर भारतीय ब्राह्मणों से बहुत-कुछ सीखा। पादरी

नोटोविच ने तो ईसा की मृत्यु भी भारत में ही सिद्ध की थी। यद्यपि नोटोविच की इस पुस्तक में प्रदर्शित तथ्यों को ईसाई जगत् ने स्वीकार नहीं किया किन्तु उस समय इस ग्रन्थ ने समस्त संसार में हलचल मचा दी थी। आर्यसमाज के कतिपय लेखकों ने भी इस पुस्तक के आधार पर कुछ ग्रन्थ लिखे। पण्डित वजीरचन्द्र विद्यार्थी ने उर्दू में 'ईसामसीह की तीस साला जिन्दगी के नामालूम हालात' नामक पुस्तक लिखी जो आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब से प्रकाशित हुई। नोटोविच की मूल पुस्तक के अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी भाषान्तर गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के अध्यापक श्री हरिद्वारीसिंह वेदिल ने 'भारतशिष्य ईसा' शीर्षक से किया जो पण्डित भीमसेन शर्मा ज्वालापुर द्वारा १९१४ ई० में प्रकाशित हुआ। अनेक अनुशीलनकर्ताओं ने कृष्ण और क्राइस्ट के जीवन की घटनाओं का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि कृष्ण की जीवन-घटनाओं को ही क्राइस्ट के व्यक्तित्व पर थोप दिया गया है। वास्तव में क्राइस्ट जैसा कोई व्यक्ति धराधाम पर हुआ ही नहीं था। श्री सन्नूलाल गुप्त ने १९१३ ई० में 'कृष्ण के क्राइस्ट' शीर्षक पुस्तक लिखकर दोनों महापुरुषों की जीवन-घटनाओं में मिलनेवाले अद्भुत साम्य के आधार पर ही उक्त निष्कर्ष निकाला है। इस ग्रन्थ को श्याममनोहर शुक्ल ने बुलन्दशहर से प्रकाशित किया था।

स्वामी दर्शनानन्द का ईसाई मत का अध्ययन भी पर्याप्त व्यापक तथा गम्भीर था। इसके परिणामस्वरूप उन्होंने समय-समय पर उर्दू में अनेक ग्रन्थ लिखे। इनमें से निम्न उल्लेखनीय हैं—ईसाई मत परीक्षा, ईसाई विद्वानों से प्रश्न, ईसाई-मत-खण्डन, ईसाई मत से मुक्ति असम्भव है, पादरी साहब और रामदास, पादरी साहब और भोंदू जाट का मुबाहिसा, मसीही मज़हब के नियमों पर अकली नजर आदि। प्रचार की दृष्टि से लिखी गई उनकी ये पुस्तकें हिन्दी में भी अनूदित हुईं और पर्याप्त संख्या में पाठकों तक पहुँचाई गईं। पण्डित लक्ष्मण भी अपने युग के महान् विद्वान् तथा विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में अपना समस्त जीवन खपा देनेवाले समर्पित व्यक्ति थे। उन्होंने 'ईसाई मत में जलवए वेद' तथा 'बाइबिल का कच्चा चिठ्ठा' (भाग १) शीर्षक पुस्तकें लिखीं। स्वामी श्रद्धानन्द ने 'ईसाई पक्षपात और आर्यसमाज' शीर्षक एक पुस्तक १९१६ ई० में लिखी थी। इसमें पादरी लेखक जे० एन० फर्कुहर द्वारा लिखित ग्रन्थ 'माडर्न रिलिजियस मूवमेंट्स इन इण्डिया' में आर्यसमाज के सम्बन्ध में उल्लिखित पक्षपातपूर्ण टिप्पणियों की कड़ी टीका की गई है। उन्होंने एक जर्मन लेखक सी० जे० वॉन हैम्मर लिखित पुस्तक का अंग्रेज़ी अनुवाद The History of the Assassins शीर्षक से १९२६ ई० में प्रकाशित किया। मूल जर्मन ग्रन्थ १७६० ई० में प्रकाशित हुआ था और उसका अंग्रेजी अनुवाद १८३५ ई० में इंग्लैण्ड में निकला। स्वामीजी ने इस पुस्तक का भारतीय संस्करण प्रकाशित करते समय एक विस्तृत भूमिका भी लिखी, जिसमें ईसाइयत तथा इस्लाम जैसे सामी मजहबों के क्रूरतापूर्ण कारनामों तथा धर्मप्रचार के नाम पर किये गये अत्याचारों और अनाचारों की कलई खोली गई थी। प्रेम पुस्तकालय, आगरा ने इसी भूमिका को Religious Intolerance शीर्षक से पृथक् पुस्तकाकार छपाया था। The History of Assassins को दयानन्द संस्था नई दिल्ली ने १९८३ ई० में पुनः प्रकाशित किया।

आर्यमुसाफिर विद्यालय आगरा के संस्थापक पण्डित भोजदत्त शर्मा लिखित

'ईसाई मत का जनाज़ा' तथा उसी विद्यालय के स्नातक पण्डित कालीचरण शर्माकृत 'ईसाईमत दर्पण तथा बाइबिल परीक्षा' (वैदिक यज्ञ में मसीही मत की आहुति) पुस्तकें प्रचार की दृष्टि से लोकप्रिय सिद्ध हुईं। अरबी-संस्कृत महाविद्यालय, अमृतसर के आचार्य पण्डित देवप्रकाश ने बाइबिल के विस्तृत अध्ययन के पश्चात् 'इंजीलों में परस्पर विरोधी कल्पनाएँ' तथा 'ईसाई मत का वास्तविक रूप' शीर्षक खोजपूर्ण ग्रन्थ लिखे। लाला लाजपतराय ने ईसाई पत्रकार मिस कैथरिन मेयो की बदनाम पुस्तक मदर इण्डिया का करारा उत्तर दुःखी भारत (Unhappy India) लिखकर दिया था। इसमें अमेरिका और यूरोप की उस ईसाई संस्कृति को धिक्कारा गया है जो स्वयं की बुराइयों को तो नजरअन्दाज करती हैं किन्तु पराधीन भारत की दुरवस्था का नाजायज फायदा उठाकर भारतवासियों को बदनाम करने में कभी पीछे नहीं रहती। लालाजी की इस पुस्तक का एक अध्याय 'ईसाइयों के देश में मानव चाण्डाल से भी बदतर' शीर्षक से पृथक् रूप से प्रकाशित किया गया। भारत में दलित और अछूत जातियों की दुर्दशा को देखकर मगरमच्छ के-से आँसू बहानेवाली मिस मेयो को इसमें बताया गया था कि दीनों का परित्राता कहलाने का दम्भ भरनेवाले ईसाई मत का अनुयायी देश अमेरिका अपने ही देश के नीग्रो तथा रेड इण्डियनों के साथ किस प्रकार का बर्बर एवं अमानुषिक व्यवहार करता है।

देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् ईसाई मत के प्रति आर्यसमाज की धारणा में एक नवीन आयाम उत्पन्न हुआ। अबतक तो केवल शास्त्रीय तथा धार्मिक धरातल पर ही आर्य लेखक ईसाइयत के खण्डन में ग्रन्थ-रचना करते थे, किन्तु स्वतन्त्र भारत में भारतीय शासन की धर्मनिरपेक्षता की घोषित नीति की आड़ में ईसाई प्रचारकों के मनसूबे जब सीमा का अतिक्रमण करने लगे और उन्होंने अस्पतालों, शिक्षा-संस्थाओं, आदिवासी कल्याण, अकाल-पीड़ितों की सहायता जैसे जनसामान्य को प्रभावित करने-वाले कार्यक्रमों की ओट में अधिसंख्य भारतवासियों को ईसाइयत में दीक्षित करने का स्वप्न देखा तो आर्यसमाज की जागरूकता और भी बढ़ी। स्वातन्त्र्योत्तर काल में जहाँ ईसाई सिद्धान्तों की समालोचना में अनेक लेखक प्रवृत्त हुए, वहाँ अधिकांश साहित्य प्रचारात्मक कोटि का ही लिखा गया, जिसमें ईसाई प्रचारकों की षड्यन्त्रपूर्ण गति-विधियों, धर्म-परिवर्तन के लिए प्रयुक्त किये जानेवाले उनके आपत्तिजनक कारनामों, अशिक्षित जनता और पिछड़े वर्ग को बहकाने के लिए प्रयुक्त की जानेवाली उनकी चाल-बाजियों का भण्डाफोड़ किया गया था। प्रथम कोटि के ग्रन्थों में लालताप्रसाद यादव लिखित 'बाइबिल की विध्वंसकारी शिक्षा तथा ईसाई मत का कच्चा चिट्ठा' एवं शिवपूजनसिंह कुशवाहा लिखित 'बाइबिल में वर्णित बर्बरता तथा अश्लीलता का दिग्दर्शन', 'ईसाई दम्भ का प्रत्युत्तर', 'आर्य दयानन्द सरस्वती और मसीही मत पर्या-लोचन' (एक ईसाई पादरी लिखित पुस्तक का उत्तर) आदि ग्रन्थों का समावेश किया जा सकता है। ईसाइयों की प्रचार-प्रणाली तथा उनके षड्यन्त्रों का पर्दाफाश करते हुए पण्डित ओम्प्रकाश त्यागी, पण्डित शिवदयालु, पण्डित शान्तिप्रकाश आदि ने अनेक लघु ग्रन्थ लिखे। रोमन कैथलिक धर्माचार्य पोप पॉल के १९६४ ई० में भारत आने पर आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने अनेक ट्रैक्ट हिन्दी तथा अंग्रेजी में प्रकाशित किये जिनमें ईसाइयत के कृष्णपक्ष का पर्दाफाश किया गया था। ईसाइयत के सैद्धान्तिक पक्ष की समीक्षा में

कासगंज के डॉक्टर श्रीराम आर्य ने कई ग्रन्थ लिखे हैं, यथा—बाइबिल-दर्पण, ईसाई मत का पोलखाता, मरियम और ईसा, ईसा मसीह मुक्तिदाता नहीं था, बाइबिल पर सप्रमाण ३१ प्रश्न आदि।

उर्दू में ईसाईमत-विषयक साहित्य—उर्दू भाषा में ईसाईमत-विषयक खण्डनात्मक साहित्य विगत शताब्दी से ही लिखा जाने लगा था। 'इंजील कलामे-इलाही नहीं' तथा 'बाइबिल कलामे-इलाही नहीं' शीर्षक दो पुस्तकें क्रमशः श्री महासिंह तथा श्री काशीराम द्वारा लिखी जाकर जालंधर से १८९९ तथा १९०० ई० में प्रकाशित हुई थीं। आर्यसमाज कादियाँ ने श्री गंगाराम लिखित 'बाइबिल का खुदावन्द' प्रकाशित की तो गुजरात (पाकिस्तान) के श्री दयाराम ने उर्दू में इंजील-परीक्षा लिखी। फिरोजपुर से प्रकाशित होनेवाले उर्दू आर्यगजट के सम्पादक श्री गोविन्दलाल प्रणवधारी आर्य-भटनागर लिखित पुस्तक 'रहनुमाए हक' का उल्लेख मिलता है जो १८८६ ई० में छपी थी। पण्डित लेखराम, स्वामी दर्शनानन्द, पण्डित लक्ष्मण, पण्डित भोजदत्त शर्मा आदि की एतद्-विषयक पुस्तकें मूलतः उर्दू में लिखी गई थीं। आगरानिवासी पं० कालीचरण शर्मा ने 'ईसा भारत के कदमों पर' शीर्षक पुस्तक पादरी नोटोविच के पूर्ववर्णित ग्रन्थ का आधार लेकर ही लिखी थी।

अंग्रेजी में ईसाइयत-विषयक खण्डनात्मक साहित्य—भारत में ईसाइयत का प्रचार करनेवाले विदेशी पादरी अंग्रेजी भाषा से सुपरिचित होते थे। उनका यह भी प्रयत्न रहता था कि वे अंग्रेजी-पठित भारतीय जन-समाज को अधिकाधिक प्रभावित करें और उन्हें ईसाइयत को स्वीकार करने के लिए प्रेरित करें। परिणामस्वरूप जब ईसाइयों के प्रतिकार में आर्यसमाज ने साहित्य-लेखन व प्रकाशन का कार्य आरम्भ किया तो अंग्रेजी में भी ईसाइयत की समीक्षा में उच्चस्तरीय साहित्य लिखने की आवश्यकता अनुभव की गई। यहाँ हम अत्यन्त संक्षेप में अंग्रेजी भाषा में लिखे गये ईसाइयत की आलोचना-विषयक ग्रन्थों का परिचय दे रहे हैं। लाहौर के पण्डित दुर्गाप्रसाद ने Dogmas of Christianity शीर्षक पुस्तक गत शताब्दी के अन्तिम दशक में लिखी थी जो विरजानन्द प्रेस, लाहौर से छपी। बंगाल के आर्य नेता तथा प्रौढ़ लेखक पण्डित शंकरनाथ ने The Bible Exposed (2 Parts)तथा Christ—who and what he was ?आदि ग्रन्थ लिखे। ये पुस्तकें इस शताब्दी के प्रारम्भ में छपी थीं। ऊपर हम निकोलस नोटोविच की 'ईसा मसीह का प्रारम्भिक वृत्तान्त' शीर्षक पुस्तक का उल्लेख कर आये हैं। इसी ग्रन्थ का आधार लेकर पण्डित शंकरनाथ ने Christ—An Indian Disciple and a Buddhist Saint तथा Christ—A Pure Vedantist शीर्षक दो पृथक्-पृथक् ग्रन्थ लिखे। डॉक्टर केशवदेव शास्त्री ने इसी विषय को अपनी पुस्तक The Unknown Life of Jesus में प्रस्तुत किया।

श्री काहनचंद्र वर्मा ने Chrisrt : A Myth लिखकर यह सिद्ध किया कि वास्तव में ईसा मसीह जैसे पुरुष का अस्तित्व ही नहीं था; बाइबिल में वर्णित ईसा-विषयक गाथाओं को वे काल्पनिक सिद्ध करते हैं। उनकी एक अन्य पुस्तक Is not Christianity false and fabulous Religion लाहौर से प्रकाशित हुई थी। दयानन्द जन्म-शताब्दी के अवसर पर शताब्दी-समारोह समिति की ओर से एक पुस्तक प्रकाशित की गई जिसका शीर्षक था—Crucification by an Eye Witness। इसमें एक प्रत्यक्षदर्शी

की साक्षी के आधार पर यह सिद्ध किया गया था कि वास्तव में ईसा की सूली पर चढ़ाने से ही मृत्यु हो गई थी, अतः उनका सूली पर चढ़ाये जाने के तीसरे दिन बाद पुनः जीवित हो जाना दन्तकथा मात्र है। इसी पुस्तक का हिन्दी अनुवाद 'हजरत ईसा की मृत्यु का वृत्तान्त--एक दृष्ट साक्षी द्वारा' श्यामलाल सत्यदेव बरेली ने प्रकाशित किया था।

आर्यसमाज के आधुनिक विद्वानों में पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय तथा पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने अपेक्षाकृत गम्भीर अध्ययन के आधार पर ईसाइयत-विषयक अपने ग्रन्थों का प्रणयन किया है। पण्डित धर्मदेव ने The Concept of God in Christianity and Vedic Dharma में ईसाइयत तथा वैदिक धर्म में ईश्वर की अवधारणा की तुलनात्मक समीक्षा की है। उनका Christianity and Vedas : A Critical Study भी तुलनात्मक अध्ययन का ग्रन्थ है। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय लिखित Christianity in India रिलिजियस रेनेसां सीरीज के अन्तर्गत १९४१ ई० में प्रकाशित हुई थी। आर्यसमाज की ओर से यदा-कदा उन पुस्तकों का भी प्रकाशन हुआ है जो पाश्चात्य लेखकों द्वारा ईसाइयत की आलोचना में लिखी गईं। उदाहरणार्थ, चार्ल्स स्मिथ की पुस्तक The Bible in the Balance तथा एस० डब्लू० फुटे और जे० एम० व्हीलर के संयुक्त लेखन में लिखित The Crimes of Christianity आर्योदय कार्यालय दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुईं। टॉमस पेन के ईसाइयत-विषयक आलोचनात्मक विचारों को श्री शिवदयालु ने Thomas Paine and Christianity में संगृहीत किया। उनकी एक लघु पुस्तक Christ versus Christianity आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश द्वारा प्रकाशित हुई। पोप पॉल की भारत-यात्रा के अवसर पर आर्योदय के सम्पादक श्री भारतेन्द्रनाथ ने अंग्रेजी के एक सुयोग्य लेखक श्री ब्रह्मदत्त भारती को प्रेरणा देकर कुछ लघु पुस्तकें लिखवाईं। इन्हें आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने १९६४ ई० में प्रकाशित किया था। इनके नाम हैं—Christianity Unmasked, The Christian Love, The Conflict between Science and Christianty. श्री भारती लिखित The Vedas and the Bible इन दोनों ग्रन्थों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। The Truth Behind the Re-Surrection of Christ ईसा के पुनरुज्जीवित होने की किंवदन्ती का मिथ्यात्व सिद्ध करती है। बंगला भाषा में पण्डित शंकरनाथ की पुस्तक बाईबिलेर आत्म-खण्डन Self Contradictions of Bible का ही अनुवाद है। पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री की 'भारते खृष्टान समस्या ओ ताहार प्रतिकार' भारत में ईसाइयत की प्रचार-प्रणाली का भण्डाफोड़ करती है। तेलुगु में लिखित 'फेरर नग्नस्वरूप' शीर्षक पुस्तक में आन्ध्रप्रदेश में अराष्ट्रीय गतिविधियों को प्रश्रय देनेवाले विदेशी पादरी फेरर के दुष्कर्मों का उद्घाटन किया गया है।

(१४) आर्यसमाज का इस्लाम-विषयक खण्डनात्मक साहित्य

पण्डित लेखराम के अनुसार इस्माइल नामक मौलवी ने 'रद्दे हनूद' नामक एक पुस्तक लिखी थी, जो बम्बई से छपी थी। चौबे बद्रीदास नामक एक सज्जन ने इसका उत्तर 'रद्दे मुसलमान' लिखकर दिया। १२७४ हिजरी में ओबेदुल्ला नामक मुसलमान ने 'तुहफतुलहिन्द' नामक पुस्तक लिखी जिसमें हिन्दू देवताओं तथा पूज्यपुरुषों की कठोर शैली में निन्दा की गई थी। मुरादाबाद-निवासी मुंशी इन्द्रमणि ने इसका

उत्तर 'तुहफतुलइस्लाम' लिखकर दिया। मुंशीजी ने इस्लाम की प्रत्यालोचना कर मानो बर्रे के छत्ते को छेड़ दिया। मौलवी सैयद महमूद हुसैन ने मुंशीजी की उक्त पुस्तक के खण्डन में फारसी भाषा में 'खिलअत अल-हनूद' १२८१ हिजरी(१९२२ वि०)में लिखी। किन्तु अपनी पुस्तक का यह खण्डन देखकर मुंशी इन्द्रमणि निराश नहीं हुए। उन्होंने १९२५ वि० में 'पादाशे इस्लाम' लिखकर सैयद साहब की पुस्तक का उत्तर दिया। अब तो मुंशीजी का साहस बढ़ गया और वे इस्लाम के मतान्ध लेखकों द्वारा हिन्दू धर्म की कुत्सित आलोचना के उत्तर में अपनी लेखनी चलाने में सिद्धहस्त हो गये। इसी बीच बरेली के किसी अज्ञातनामा मुसलमान ने "मसनवी उसूले दीने हिन्दू" नामक एक तुकबंदी लिखी जो हिन्दू धर्म की आलोचना प्रस्तुत करती थी। इसका उत्तर मुंशी इन्द्रमणि ने मसनवी शैली में "उसूले दीने अहमद" लिखकर दिया जो १८६९ ई० में प्रकाशित हुई। इस बीच कुछ अन्य पुस्तकें भी मुसलमानों द्वारा लिखी गईं जिनमें अत्यन्त अभद्र तथा अश्लील भाषा का प्रयोग किया गया था। "तेगेफकीर बरगर्दन शरीर" नामक एक ऐसी ही पुस्तक १८६३ ई० में छपी। मुरादाबाद के मौलवी अहमददीन की 'एजाजे मुहम्मदी' तथा मौलवी कुतुब आलम की 'हदियाउल अस्नाम' भी इसी कोटि की पुस्तकें थीं। इन तीनों पुस्तकों के उत्तर में मुंशी इन्द्रमणि ने 'हमलाएहिन्द', 'समसामेहिन्द'(दोनों १९२२ वि० में प्रकाशित)तथा 'सौलतेहिन्द'(१९६८ वि० में प्रकाशित)नामक तीन पुस्तकें लिखीं। इस प्रकार लिखित रूप में हिन्दू धर्म पर आक्षेप करनेवाले इस्लामी प्रचारकों का उसी शैली में उत्तर देनेवालों में मुंशी इन्द्रमणि का नाम शीर्षस्थानीय है।

स्वामी दयानन्द की मुंशी इन्द्रमणि से प्रथम भेंट चाँदापुर (जिला शाहजहाँपुर) के धार्मिक मेले में मार्च १८७७ ई० में हुई। उस समय तक मुंशीजी इस्लाम की आलोचना में लिखी गई अपनी कृतियों के कारण पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके थे। वे चाँदापुर शास्त्रार्थ में वैदिक धर्म के प्रतिनिधि स्वामी दयानन्द के सहयोगी के रूप में भी उपस्थित रहे और जैसा कि हम स्वामीजी के जीवनचरित में पढ़ते हैं, इस्लाम की आलोचना में लिखी गई पुस्तकों के कारण जब उनपर अदालत में अभियोग चलाया गया और उसके परिणामस्वरूप न्यायाधीश ने उनपर जुर्माना किया, तो इस अभियोग में मुंशीजी की सहायता करने के लिए स्वामी दयानन्द ने उन्हें आर्थिक मदद देने की अपील निकाली और पत्रों में आन्दोलन कर मुंशीजी के पक्ष में जनमत एकत्रित किया। हम यह भी पढ़ चुके हैं कि आर्थिक सहायता में प्राप्त इसी द्रव्यराशि पर एकान्त अधिकार जताने के कारण मुंशीजी का स्वामीजी से मतभेद हुआ। बात इतनी बढ़ी कि मुंशीजी को आर्यसमाज से पृथक् कर दिया गया और वे सैद्धान्तिक दृष्टि से भी आर्यसमाज से दूर हो गये। जो हो, यह स्मरणीय है कि आर्यसमाज में इस्लाम-विषयक आलोचनात्मक लेखन का प्रारम्भ मुंशीजी से ही हुआ। इस्लाम की समीक्षा में उनके कुरान-समीक्षा तथा मिशकात नामक दो अन्य ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है।

स्वामी दयानन्द के दिवंगत होने के पश्चात् इस्लाम के सम्बन्ध में गहन अध्ययन कर तथ्यपूर्ण साहित्य लिखनेवालों में पण्डित लेखराम का नाम अग्रगण्य है। वे अरबी-फारसी के प्रकाण्ड विद्वान् थे तथा उन्होंने इस्लामी साहित्य का गहन अध्ययन किया था। पण्डित लेखराम का साहित्य मुख्यतः इस्लाम के एक नवीन फिर्के—कादियानी मत की आलोचना में लिखा गया है। इसका इतिहास इस प्रकार है। मुसलमानों के एक नवीन

सम्प्रदाय कादियानी मिर्जाई मत के प्रवर्त्तक मिर्जा गुलामअहमद ने 'बुराहीन अहमदिया' नामक एक ग्रन्थ लिखा था। इसमें मिर्जा साहब ने अपने-आपको इस्लाम का नवीनतम पैगम्बर तो सिद्ध किया ही, ग्रन्थ के चौथे भाग में आर्यसमाज की आलोचना भी की। पण्डित लेखराम ने इसके उत्तर में 'तकजीब बुराहीन अहमदिया' (भाग १) लिखी। यह जुलाई १८८७ ई० में प्रकाशित हुई। मिर्जा गुलामअहमद का आर्यसमाज के एक कट्टर अनुयायी मास्टर मुरलीधर से मार्च १८८६ ई० में विभिन्न विषयों पर शास्त्रार्थ हुआ था। मिर्जा ने इसी शास्त्रार्थ के विवरण को अतिशयोक्तिपूर्ण शैली में "सुरमाए चश्म आरिया" शीर्षक देकर २६० पृष्ठों की पुस्तक रूप में छपा दिया। पण्डित लेखराम पहले तो प्रतीक्षा करते रहे कि सम्भवतः मास्टर मुरलीधर ही इसका उत्तर छपायेंगे, किन्तु जब उन्होंने देखा कि सरकारी नौकर होने के कारण वे मिर्जा की पुस्तक का उत्तर नहीं दे पायेंगे तो स्वयं पण्डित लेखराम ने ही 'नुस्खाए खब्त अहमदिया' शीर्षक ग्रन्थ लिखकर मिर्जा साहब को प्रत्युत्तर दिया। इस्लाम की 'जिहाद' विषयक मान्यताओं की समीक्षा में उन्होंने इसी शीर्षक की एक लेखमाला अजमेर से प्रकाशित होनेवाले उर्दू पत्र वैदिकविजय (मासिक) में लिखी जो बाद में ग्रन्थाकार भी छपी। अब इसका शीर्षक था "रिसालाए जिहाद यानी दीने मुहम्मदी की बुनियाद"। अरोड़वंश प्रेस लाहौर से यह १८९२ ई० में छपी। पण्डित लेखराम के इस्लाम-विषयक अन्य ग्रन्थ हैं—लेक्चर इशायते इस्लाम पर (१८९३), हुज्जतुल इस्लाम (१८९७), अबताले बशारते अहमदिया, रद्दे खिलअते इस्लाम, तथा आईनाए शफायत इस्लाम। हुज्जतुल इस्लाम का हिन्दी अनुवाद पण्डित बद्रीदत्त शर्मा ने यवनमतपरीक्षा शीर्षक से किया था जो वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद द्वारा प्रकाशित हुआ। तकजीब बुराहीन अहमदिया का हिन्दी अनुवाद मास्टर लक्ष्मण आर्य ने यवनमत समीक्षा शीर्षक से किया था।

पण्डित लेखराम के पश्चात् इस्लाम-विषयक आलोचनात्मक साहित्य लिखनेवालों में स्वामी दर्शनानन्द का नाम उल्लेखनीय है। स्वामीजी ने अपना समस्त साहित्य उर्दू में ही लिखा था। उनकी इस्लाम-विषयक कतिपय रचनाओं के नाम इस प्रकार हैं—कुरान की छानबीन, अक़ायद इस्लाम पर अक़ली नजर, वैदिक धर्म और अहले-इस्लाम के अक़ायद का मुक़ाबिला, अहले-इस्लाम के वेदों पर नाजायज़ हमले, कुरान की जान वेद का एक मन्त्र है, मयारे सदाकत, जबाब रद्दे-तनासुख, प्रश्नोत्तर अहले-इस्लाम, इस्लाम में नजात की वाक़फियत आदि। कुरान की छानबीन के हिन्दी में दो अनुवाद क्रमशः प्रेमशरण प्रणत तथा शिव शर्मा ने किये थे।

इस्लाम की मान्यताओं के आलोचना-विषयक ग्रन्थों के लेखन में एक जन्मना मुसलमान मुन्शी अब्दुलगफूर का नाम आर्यसमाज के इतिहास में उल्लिखित हुआ है। १९०३ ई० में गुजराँवाला (पाकिस्तान) में इनकी शुद्धि की गई और इन्हें महाशय धर्मपाल का नाम प्रदान किया गया। धर्मपाल ने आर्यसमाज में रहकर इस्लाम-विषयक जो साहित्य लिखा उसमें तहजीबुलइस्लाम तथा नख्ले-इस्लाम नामक दो ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। तहजीबुलइस्लाम के दो हिन्दी अनुवादों का पता चलता है। प्रथम अनुवाद पण्डित सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी ने किया था जो यवनमतपरीक्षा नाम से वेदप्रकाश यन्त्रालय इटावा से १९०३ ई० में प्रकाशित हुआ। द्वितीय अनुवाद कर्ण कविकृत था जिसे वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद ने १९०४ में छापा। यही पुस्तक तर्के-इस्लाम शीर्षक से भी छपी

हैं। नख्ले-इस्लाम का हिन्दी अनुवाद पण्डित शिवचरणलाल शर्मा ने 'विषलता या इस्लाम का फोटो' शीर्षक से किया था।

महाशय धर्मपाल की ही भाँति पण्डित सत्यदेव भी जन्मना मुसलमान थे। मौलाना गुलामहैदर के नाम से प्रख्यात ये महानुभाव पण्डित भोजदत्त शर्मा आर्यमुसाफिर द्वारा शुद्ध किये गये थे। कालान्तर में इन्होंने काशी में रहकर इस्लाम-विषयक अनेक मौलिक ग्रन्थ लिखे। पण्डित सत्यदेव ने कुरान में समय-समय पर किये गये परिवर्तनों की गूढ़ गवेषणा की थी। उनका इस विषय से सम्बन्धित ग्रन्थ इख्तिलाफाते कुरान दो भागों में छपा। इसका हिन्दी अनुवाद "कुरान में परिवर्तन" आदर्श पुस्तक भण्डार बनारस से १९२४ ई० में प्रकाशित हुआ। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—एतराज़ाते कुरान, इख्तिलाफात अकायदे इस्लाम (भाग २), वहशते हिन्द, मुसलमानों के ३१४ फिरके, अफशाए राज, नाराए हैदरी आदि। पण्डित सत्यदेव ने हिन्दी में भी इस्लाम-विषयक कुछ पुस्तकें लिखी हैं। 'इस्लाम का परिचय', 'अर्श सवार' तथा 'इस्लामी धर्मानुसार सृष्टि-उत्पत्ति' आदि इनकी अन्य खोजपूर्ण पुस्तकें हैं।

आगरा में पण्डित लेखराम की स्मृति में आर्यमुसाफिर विद्यालय की स्थापना करनेवाले पण्डित भोजदत्त शर्मा इस्लाम के मर्मज्ञ विद्वान् थे। उनके लगभग सभी ग्रन्थ उर्दू में हैं। इनमें से कुछ के नाम यहाँ दिये जा रहे हैं—हैयत इस्लाम, आसमानी किताब, नाराएहैदरी आदि। पण्डित मुरारीलाल शर्मा ने गुरुकुल सिकन्दराबाद को अपना केन्द्र बनाकर धर्मप्रचार का अद्भुत कार्य किया था। वे अपने युग के अद्वितीय शास्त्रार्थकर्ता तथा इस्लाम के तलस्पर्शी विद्वान् थे। यद्यपि वे व्याख्यान देने, शास्त्रार्थ करने तथा गुरुकुल का संचालन करने जैसी प्रवृत्तियों में अत्यन्त व्यस्त रहते थे, किन्तु समय निकालकर साहित्य-रचना भी करते थे। उनके इस्लाम-विषयक निम्न ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है—गड़बड़ ग्रन्थमाला में प्रकाशित ग्रन्थ (१) रूह की माहियत में उलेमाए इस्लाम की गड़बड़, (२) मज़हबे इस्लाम में साइन्स की गड़बड़, (३) मज़हबे इस्लाम में सभ्यता की गड़बड़, (४) तहारत-मज़हबे इस्लाम में पवित्रता की गड़बड़। उनके अन्य ग्रन्थ हैं—इस्लामी तौहीद का नमूना, मुसलमानी के बानी की कहानी, कुरान की पोल, फलसफा मोहम्मदी, इस्लामी दर्पण, इस्लाम की दुर्गति, आईनाए इस्लाम, इस्लामी ढोल की पोल, इस्लामी मजहब की छानबीन, बारहखड़ी भाग १ आदि।

मास्टर लक्ष्मण आर्योपदेशक रामनगर (जिला गुजराँवाला) के निवासी थे। इन्होंने इस्लाम का गहन अध्ययन किया और इस अध्ययन के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि कुरान की प्रायः अधिकांश शिक्षाएँ वेदमूलक हैं। इस दृष्टिकोण को प्रमुखता देते हुए उन्होंने 'आर्य मुस्लिम मिलाप' शीर्षक ग्रन्थमाला प्रकाशित की और इसके अन्तर्गत उन्होंने 'इस्लाम में जलवाए वेद' शीर्षक ग्रन्थ लिखा। उनके अन्य ग्रन्थ हैं—कुरान-मजीद और आवागमन तथा वैदिक स्वर्ग और इस्लामी बहिश्त। प्रथम ग्रन्थ में कुरान से आवागमन की पुष्टि की गई है और द्वितीय में इस्लामी बहिश्त की कल्पना के मूल में वैदिक स्वर्ग की अवधारणा को सिद्ध किया गया है। दक्षिण में सिद्दीक दीनदार नामक एक मुसलमान ने अपने-आपको लिंगायत धर्म के प्रवर्तक महात्मा बसवेश्वर का अवतार घोषित किया और इस प्रकार लिंगायतों को मुसलमान बनाने का एक षड्यन्त्र रचा। पण्डित लक्ष्मण ने नकली चन्न बसवेश्वर अर्थात् खंजरे जालिम शीर्षक पुस्तक लिखकर

दीनदार के इस पाखण्ड का खण्डन किया। इन्होंने कादियानी मिर्जा गुलामअहमद के पाखण्डों का खण्डन करते हुए "मिर्जाई दागोफरेब" शीर्षक पुस्तक भी लिखी तथा महाशय धर्मपाल (मुन्शी अब्दुल गफूर) के पुनः इस्लाम ग्रहण करने और आर्यसमाज का विरोधी बन जाने पर "धर्मपाल और दीने इस्लाम" शीर्षक पुस्तक लिखकर उसके षड्यन्त्र का भण्डा-फोड़ किया। धर्मपाल के धूर्त आचरण का खण्डन उन्होंने मक्रतोड़ (धर्मपाल का कच्चा चिट्ठा) शीर्षक पुस्तक में भी किया है। ये हिन्दी तथा उर्दू दोनों भाषाओं में छपी थीं। मौलाना हसन निज़ामी की पुस्तक दाइएइस्लाम के उत्तर में उन्होंने तबाही इस्लाम शीर्षक पुस्तक लिखी। पण्डित लक्ष्मण ने आगाखानी मुसलमानों के मत का भी स्वग्रन्थों में खण्डन किया है। आगाखानियों से सम्बन्धित उनके ग्रन्थ हैं—आगाखानी दामेफरेब, आगाखानी ढोल की पोल तथा आगाखानी इलियत। उनका हक़ीकतुलक़ुरान एक अन्य शोधपूर्ण ग्रन्थ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पण्डित लक्ष्मण ने इस्लाम-विषयक तुलनात्मक साहित्य प्रस्तुत करने के साथ-साथ आगाखानी, कादियानी आदि इस्लाम के उन फिर्कों पर भी लेखनी चलाई है जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में हिन्दू धर्म का अहित कर रहे थे। उत्तर प्रदेश के सम्भल कस्बे के निवासी प्रसिद्ध आर्य विद्वान् पण्डित शिव शर्मा ने कब्रपरस्ती और इस्लाम, मुसलमानी की जिन्दगानी, चमन इस्लाम की सैर आदि ग्रन्थ लिखे।

इस्लाम के मर्मज्ञ आर्य विद्वानों में पण्डित धर्मभिक्षु लखनवी का नाम उल्लेखनीय है। यद्यपि पण्डित धर्मभिक्षु ने अधिक आयु नहीं पाई (जन्म १९०१, मृत्यु १९३०) किन्तु स्वल्प जीवन में ही वे अपने लेखन, वक्तृता तथा शास्त्रार्थ-कौशल के कारण प्रचुर ख्याति अर्जित कर सके थे। अरबी-फारसी के वे अधिकारी विद्वान् थे तथा इस्लाम के ग्रन्थों का उन्होंने प्रगाढ़ अध्ययन किया था। उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों के नाम हैं—चश्मए कुरान, आसमानी दुल्हन, कलामुर्रहमान वेद है या कुरान ? मिर्जा कादियानी को हमल, अजाला ओहाम याने तहक़ीकाते क़ुरान। उन्होंने कुरान की शैली में ही एक पुस्तक अरबी भाषा में लिखी जिसे उन्होंने "असली कुरान जो लाहौर में नाजिल हुई" शीर्षक से १९२४ ई० में प्रकाशित किया। जिन आर्य प्रचारकों ने आगरा के आर्यमुसाफिर विद्यालय में रहकर शिक्षा पाई थी, समय आने पर उनमें से अनेक उच्च कोटि के उपदेशक तथा शास्त्रार्थकर्त्ता बने। इस विद्यालय के स्नातकों में पण्डित कालीचरण शर्मा भी थे। इन्होंने आगरा में आर्य मुसाफिर बुक डिपो की स्थापना की और इस्लाम की समीक्षा में अनेक छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं। मूलतः ये ट्रैक्ट उर्दू में लिखे गये थे जिनका हिन्दी अनुवाद कुं० राममनोहरसिंह लखीमपुरी ने किया था। इनमें से कुछ के नाम दिये जा रहे हैं—अल्लामियाँ का हुलिया, इस्लामी गप्पें, अल्लामियाँ का फोटो, मुसलमानी बुर्क़ा, कुरान और उसकी शिक्षा आदि। मुसाफिर विद्यालय के ही एक अन्य स्नातक पण्डित महेशप्रसाद मौलवी आलिम फाजिल ने 'गाय और कुरान' तथा 'बकर ईद' शीर्षक पुस्तकें लिखकर यह सिद्ध किया है कि इस्लाम में गाय की कुर्बानी को कहीं भी अनिवार्य नहीं बताया गया है।

यदा-कदा आर्यसमाज के विद्वानों द्वारा ऐसे ग्रन्थ भी लिखे गये जिनमें इस्लाम के पैगम्बरों के जीवन और चरित्रविषयक आलोचनाएँ प्रकाशित हुई थीं। प्रेमशरण प्रणत लिखित देवदूत दर्पण (इस्लाम की छानबीन) एक ऐसी ही पुस्तक थी जिसमें सैमेटिक

मजहबों के मान्य प्राय: सभी पैगम्बरों की चारित्रिक दुर्बलताओं को प्रस्तुत किया गया था। किन्तु जो पुस्तक सर्वाधिक विवादास्पद बनी, वह थी पण्डित चमूपति रचित रंगीला रसूल। इसके प्रकाशन की भी एक कहानी है। १९२४ ई० में कादियानियों के प्रकाशन-गृह से 'उन्नीसवीं सदी का महर्षि' नामक एक पुस्तक प्रकाशित हुई जिसमें स्वामी दयानन्द के जीवन पर अनुचित आक्षेप किये गये थे। इसके कुछ समय बाद उक्त पुस्तक के उत्तर रूप में महाशय राजपाल (लाहौर निवासी) ने 'रंगीला रसूल' नामक पुस्तक प्रकाशित की। इसके लेखक पण्डित चमूपति थे किन्तु मुद्रित पुस्तक पर लेखक का नाम नहीं दिया गया था। प्रारम्भ में तो इस पुस्तक को लेकर कोई विशेष प्रतिक्रिया दृष्टि-गोचर नहीं हुई, किन्तु जब महात्मा गांधी ने इस पुस्तक के विरुद्ध अपने पत्र में प्रतिकूल टिप्पणी की, तो पंजाब सरकार द्वारा पुस्तक के प्रकाशक महाशय राजपाल पर अभियोग दायर किया गया। मुकद्दमा लम्बा खिचता गया और प्रकाशक महाशय राजपाल को अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। किन्तु वे अन्त तक डटे रहे। हाईकोर्ट ने तो उनको निरपराध घोषित कर दिया, किन्तु कट्टर मुसलमानों ने उन्हें क्षमा नहीं किया। ६ अप्रैल १९२९ ई० को महाशय राजपाल पर इल्मदीन नामक एक आततायी ने छुरे से प्रहार किया जिससे उनकी मृत्यु हो गई। महाशय राजपाल ने घातक के प्रहार को सहन किया किन्तु मरणपर्यन्त रंगीला रसूल के लेखक के नाम को प्रकट नहीं किया। यह उनकी दृढ़ता तथा विश्वसनीयता का परिचायक है।

महाशय राजपाल की ही भाँति सिंध प्रान्त (हैदराबाद नगर) के निवासी महाशय नाथूराम को भी मुस्लिम कट्टरता का शिकार होना पड़ा। उनका अपराध(?) तो इतना ही था कि उन्होंने उर्दू में लिखी एक पुस्तक तारीखे-इस्लाम का सिंधी भाषा में अनुवाद कर प्रकाशित किया। इसपर सरकार ने उनपर मुकद्दमा चलाया। अपनी सफाई पेश करते हुए महाशय नाथूराम ने इतना ही कहा था कि यह पुस्तक मूल रूप में किसी ईसाई लेखक की लिखी हुई है, मैंने तो इसका अनुवाद-मात्र किया है। इसपर भी उन्हें डेढ़ वर्ष के कठोर कारावास की सजा सुना दी गई। परन्तु निर्णय सुनाये जाने के समय ही एक कातिल अब्दुलकयूम ने भरी अदालत में नाथूराम को छुरा भोंककर मार डाला। वैचारिक स्वतन्त्रता के लिए महाशय नाथूराम का यह बलिदान आर्यसमाज के इतिहास का एक ज्वलन्त पृष्ठ है। स्वामी श्रद्धानन्द ने इस्लाम-विषयक दो ग्रन्थ लिखे। प्रथम था मुहम्मदी साजिश का इन्कशाफ। चन्द्रशेखर शास्त्री ने इसका अनुवाद मुहम्मदी षड्यन्त्र का रहस्य-भेद शीर्षक से किया। अखिल भारतीय शुद्धि सभा दिल्ली ने इसे प्रकाशित किया था। उनकी एक अन्य पुस्तक 'अन्धा एतकाद और खुफिया जिहाद' स्वामी रामानन्द ने प्रकाशित की।

अमृतसर-स्थित अरबी-संस्कृत महाविद्यालय के संचालक पण्डित देवप्रकाश ने कुरान का विस्तृत एवं सुगूढ़ अध्ययन कर तीन खण्डों में कुरान-परिचय लिखा जो १९७०-७३ ई० की अवधि में रतलाम (मध्य प्रदेश) से प्रकाशित हुआ। इस समय पण्डित देवप्रकाश रतलाम को केन्द्र बनाकर मध्य प्रदेश के आदिवासी क्षेत्रों में ईसाइयों के मुकाबिले पर शुद्धि का कार्य कर रहे थे। उनकी अन्य कृतियाँ मैदाने महशर तथा कयामत-जन्नत-दोजख इस्लामी मान्यताओं की समीक्षा प्रस्तुत करती है। इस्लाम के धर्मग्रन्थों के गम्भीर अध्येता तथा प्रसिद्ध वाग्मी पण्डित रामचन्द्र देहलवी को लेखन-

कार्य के लिए पर्याप्त समय नहीं मिल सका। उनका अधिकांश जीवन धर्म-प्रचार हेतु यात्राओं तथा अन्य मत वालों से शास्त्रार्थ करने में ही व्यतीत हुआ था। जिस समय सिन्ध की मुस्लिम लीगी सरकार ने सत्यार्थप्रकाश की जब्ती का आन्दोलन चलाया और कहा कि स्वामी दयानन्द ने इस्लाम के मतप्रवर्त्तक तथा उसके उपदेशों के रूप में निबद्ध कुरान पर अशोभनीय तथा कठोर प्रहार किये हैं तो पण्डित रामचन्द्र देहलवी ने कुरान में अन्य मतावलम्बियों के लिए प्रयुक्त कुछ अति कठोर एवं उत्तेजक वाक्यों का संग्रह किया। इसे सार्वदेशिक सभा ने १९४४ ई० में प्रकाशित किया था। इसी का अंग्रेजी अनुवाद Punishment Prescribed for the unbelievers in the Quran शीर्षक से १९४५ ई० में उक्त सभा द्वारा प्रकाशित किया गया। इसमें कुरान के जो उद्धरण संगृहीत किये गये, वे मौलवी मोहम्मदअलीकृत इस ग्रन्थ के अंग्रेजी अनुवाद से लिये गये थे।

सभी इतिहासकार इस बात से सहमत हैं कि इस धरती पर इस्लाम का प्रचार शान्तिपूर्ण तरीकों से नहीं हुआ है। इस्लाम के प्रचार का इतिहास इस बात का साक्षी है कि इसके प्रचारकों ने एक हाथ में कुरान और दूसरे में तलवार लेकर अपने धर्माभियान चलाये। आर्यसमाज के कतिपय लेखकों ने इस्लामी इतिहास के इस कालिमापूर्ण पहलू को अत्यन्त प्रामाणिक ढंग से उजागर किया है। स्वामी मंगलानन्द पुरी की पुस्तक 'क्या इस्लाम शान्तिदायक है ?' ऐतिहासिक तथ्यों पर आधारित है। श्री गणपतिराय अग्रवाल लिखित खूनी इतिहास, विश्वासघात, तथा इस्लाम धर्म की समीक्षा आदि इसी श्रेणी के ग्रन्थ हैं। प्रीतम अमृतसरी तथा विश्वप्रचारक पण्डित अयोध्याप्रसाद ने 'इस्लाम कैसे फैला ?' शीर्षक से जो पुस्तकें लिखीं, उनमें भी इस्लाम की धर्मान्धतापूर्ण प्रचार-प्रणाली का भण्डाफोड़ किया गया था।

देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् इस्लाम के खण्डन में कुछ लिखने तथा प्रकाशित कराने में आर्य लेखकों को कठिनाई अनुभव होने लगी। यह एक विरोधाभास ही कहा जायगा कि विदेशी शासन में तो आर्य लेखक स्वतन्त्रतापूर्वक एवं निर्भीक मनःस्थिति में वैदिकेतर मतों की खुलकर आलोचना कर सकते थे, किन्तु अपने ही शासन में तथाकथित धर्मनिरपेक्षता की नीति के कारण उन्हें सैमेटिक मजहबों की आलोचना करने में कठिनाई अनुभव हुई। तथापि स्वतन्त्र्योत्तर युग में भी इस्लाम-विषयक कुछ अध्ययनपूर्ण गम्भीर रचनाएँ प्रकाश में आईं। इस दृष्टि से पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय कृत मुसाबिहुल इस्लाम(हिन्दी में 'इस्लाम के दीपक') का उल्लेख आवश्यक है। यों तो उपाध्यायजी ने आर्यसमाज चौक प्रयाग से प्रकाशित होनेवाली ट्रैक्टमाला में हिन्दू-मुसलमानों के सम्बन्धों में दरार पैदा करनेवाली कतिपय समस्याओं पर अपना सुविचारित मत व्यक्त किया था—(उदाहरणार्थ मसजिद के सामने बाजा—द्वितीय ट्रैक्टमाला का १०वाँ ट्रैक्ट) किन्तु मुसाबिहुल इस्लाम में उन्होंने जिस तर्कपूर्ण शैली तथा सन्तुलित ढंग से इस्लाम के मन्तव्यों पर अपना समीक्षात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया, उसे देखकर इस्लाम के कट्टर मुल्ला-मौलवियों को भी लेखक की सन्तुलित लेखनी और प्रभावपूर्ण युक्ति-सरणि का लोहा मानना पड़ा।

पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने अपने व्यापक अध्ययन के बल पर "पाश्चात्यों की दृष्टि में इस्लामी मतप्रवर्त्तक" शीर्षक पुस्तक लिखी जिसमें इस्लाम के संस्थापक

हजरत मुहम्मद के सम्बन्ध में पश्चिम के विचारकों के मतों का संग्रह किया गया है। इसी प्रकार इस्लाम की स्वर्ग और नरक-विषयक अवधारणाओं पर प्रकट की गई स्वामी दयानन्द की समालोचनाओं की पुष्टि में उनकी एक अन्य पुस्तक दयानन्द वैदिक शोध-संस्थान कानपुर से १९६३ ई० में प्रकाशित हुई। कासगंज (जिला एटा) निवासी डॉक्टर श्रीराम शर्मा ने खण्डन-मण्डन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत इस्लाम-विषयक लगभग दो दर्जन ग्रन्थ लिखे हैं। केवल कुरान की समीक्षा में ही उनके निम्न ग्रन्थ निकले हैं—कुरान दर्पण, कुरान की विचारणीय बातें, कुरान खुदाई किताब नहीं, कुरान पर सप्रमाण १७६ प्रश्न, कुरान की छानबीन, कुरानप्रकाश, कुरान खुदाई कैसे ?, कुरान में परस्पर विरोधी स्थल, कुरान में पुनर्जन्म तथा कुरान में बुद्धि एवं विज्ञानविरुद्ध स्थल। कुछ वर्ष पूर्व इस्लाम का परित्याग कर वैदिक धर्म ग्रहण करनेवाले डॉक्टर अमरेश आर्य ने "इस्लामी वहदानियत और शिर्क की हकीकत" लिखी तथा अपने इस्लाम-परित्याग के कारणों पर प्रकाश डालते हुए हिन्दी और अंग्रेजी में क्रमशः 'मैंने दीने-इस्लाम क्यों तर्क किया ?' तथा Why I gave up, Islam ? शीर्षक पुस्तकें लिखीं जो १९८२ ई० में हैदराबाद से छपीं।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने विगत एक शताब्दी में आर्यसमाजी लेखकों द्वारा लिखे गये इस्लाम-विषयक साहित्य का विहंगावलोकन किया है। इस्लाम जैसा अपने-आपको विश्वधर्म कहनेवाला मजहब भी विभिन्न सम्प्रदायों और आस्था-केन्द्रों में विभक्त हो गया, इसे एक विडम्बना ही कहा जाएगा, किन्तु यह आश्चर्यजनक होने पर भी अस्वाभाविक नहीं है। कादियानी, आगाखानी, बहाई आदि विभिन्न सम्प्रदायों की आलोचना में लिखे गये ग्रन्थों का यहाँ कुछ विवरण दिया जा रहा है। कादियानी मत की आलोचना का सूत्रपात पण्डित लेखराम ने किया था। तत्पश्चात् पण्डित लक्ष्मण ने कादियानी मसीह का कच्चा चिट्ठा तथा स्वामी योगेन्द्रपाल ने जाली कृष्ण (मिर्जा गुलामअहमद का खण्डन) शीर्षक पुस्तकें लिखीं। आगाखानियों के सम्बन्ध में पण्डित लक्ष्मण द्वारा लिखित साहित्य की चर्चा ऊपर आ चुकी है। इस प्रसंग में आर्य साहित्य सदन आगरा से प्रकाशित 'आगाखानी मत रहस्य' भी उल्लेखनीय है। ईरान में जन्मे बहाई मत की विवेचना करते हुए पण्डित देवप्रकाश ने "बहाई-मत-दर्पण" लिखा तथा बहाई मत को इस्लाम की शाखा सिद्ध करते हुए इसी शीर्षक की एक अन्य पुस्तक लिखी। हिन्दू धर्म की निर्बलता को लक्ष्य में रखकर इस्लाम के प्रचार-तन्त्र में कुछ अवांछनीय एवं प्रच्छन्न प्रवृत्तियों को समाविष्ट करनेवाले सिद्दीक दीनदार, ख्वाजा हसन निजामी आदि के कुचक्रों का पर्दाफ़ाश करने में भी आर्य लेखक पीछे नहीं रहे। पण्डित देवप्रकाश ने "ख्वाजा हसन निजामी का वास्तविक स्वरूप" लिखा जो भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा लखनऊ द्वारा प्रकाशित हुआ। निश्चय ही इस्लाम-विषयक आलोचनात्मक साहित्य लिखकर आर्यसमाज ने धार्मिक अध्ययन को नूतन दिशा प्रदान की है।

(१५) आर्यसमाज का सिक्खमत-विषयक आलोचनात्मक साहित्य

स्वामी दयानन्द ने सिक्ख मत के प्रवर्तक गुरु नानक के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि उनका आशय तो अच्छा था, किन्तु वे अधिक पढ़े-लिखे नहीं थे। जैसाकि हम जानते हैं सिक्ख मत की अधिकांश बातें आर्यसमाजी विचार-

धारा के अनुकूल ही हैं। गुरु ग्रन्थसाहिब में परमात्मा को निराकार, अकालपुरुष कहकर सम्बोधित किया गया है। सिक्ख मूर्तिपूजा में विश्वास नहीं करते, यह दूसरी बात है कि उनके लिए गुरु ग्रन्थसाहिब की पुस्तक ही परमात्मा एवं गुरु की स्थानापन्न बन गई है। पौराणिक हिन्दू धर्म में व्याप्त अनेक कुसंस्कारों को दूर करने में सिक्ख मत ने अभूतपूर्व योगदान दिया है। स्वामी दयानन्द ने गुरु गोविन्दसिंह की वीरता, धर्मप्रेम तथा देश-भक्ति की भी प्रशंसा की है, किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों में सिक्खों द्वारा पंच 'ककारों' का धारण करना उन्होंने अनावश्यक बताया।

स्वयं स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में अनेक विचारशील सिक्ख आये थे और उन्होंने उनकी विचारधारा को ग्रहण कर लिया था। सरदार दयालसिंह मजीठिया, सरदार विक्रमसिंह अहलूवालिया आदि उस समय के गण्यमान्य सिक्ख स्वामीजी के प्रशंसक तथा सहयोगी थे। कालान्तर में जब लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हुई तो ज्ञानी दित्तसिंह और भाई जवाहरसिंह आदि कई सिक्ख महानुभावों ने आर्यसमाज की सदस्यता ग्रहण की और वैदिक धर्म के प्रचार में अपना सहयोग प्रदान किया। इस प्रसंग में एक अन्य तथ्य यह भी स्मरणीय है कि आर्यसमाज के प्रारम्भिक दिनों में आर्य सत्संगों में भजनादि गाने के लिए विधिवत् प्रशिक्षित संगीतज्ञों का अभाव ही था। इसलिए गुरुद्वारों में शबद-कीर्तन करनेवाले सिक्ख रागियों (गायकों) को ही समाजमंदिरों में भक्तिसंगीत प्रस्तुत करने के लिए आमंत्रित किया जाता था। आर्यसमाज का प्रारम्भिक इतिहास इस बात का साक्षी है कि उस समय आर्य और सिक्खों में पर्याप्त सौमनस्य तथा स्नेह-भाव था।

किन्तु परिस्थितियाँ सदा एक-सी नहीं रहतीं। कतिपय राजनैतिक कारणों से अंग्रेज शासकों ने सिक्खों को हिन्दू समाज से पृथक् करने का बीड़ा उठाया। सरकारी संरक्षण में गुरु सिंह सभाओं का संगठन किया गया और सिक्खों में यह भावना भरी जाने लगी कि वे हिन्दू नहीं हैं। मैकालिफ नामक एक अंग्रेज ने तो बाकायदा सिक्ख धर्म अंगीकार किया और सिक्ख धर्म तथा इतिहास की व्याख्या इस ढंग से की, जिससे सिक्खों और हिन्दुओं के बीच अलगाव की प्रवृत्तियाँ बढ़ीं। जब आर्यसमाज ने सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से सिक्ख मत के खण्डन में साहित्य लिखना आरम्भ किया तो परस्पर वाद-विवाद के स्वर और भी उभरे तथा दोनों ओर से खण्डन-मण्डनात्मक साहित्य लिखा जाने लगा। आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा लिखा गया सिक्खमत-विषयक साहित्य का अधिकांश उर्दू में है। कुछ लेखकों ने हिन्दी तथा पंजाबी में भी इस विषय पर ग्रन्थ लिखे हैं। स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में आनेवाले ज्ञानी दित्तसिंह और भाई जवाहरसिंह भी आर्यसमाज से किनारा कर बैठे और उन्होंने सिक्खों को आर्यसमाज से दूर ले जाने में भी अपनी भूमिका निभाई।

यहाँ हम क्रमशः उर्दू तथा हिन्दी में लिखे गये उस साहित्य की चर्चा कर रहे हैं जो आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा सिक्ख मत के विषय में लिखा गया है। राधाकृष्ण महता आर्यसमाज के प्रारम्भिक युग के उर्दू के तेजस्वी लेखक थे। उन्होंने नुस्खाये ग्रन्थी फोबिया १८८९ ई० में लिखा। इस ग्रन्थ के प्रकाशन की तिथि से ही अनुमान किया जा सकता है कि स्वामी दयानन्द के निधन के कुछ वर्ष पश्चात् ही सिक्खों और आर्यों के सम्बन्धों में कारणवश दरारें पड़ गई थीं। एक कारण तो ज्ञानी दित्तसिंह और जवाहर-सिंह जैसे लोगों का आर्यसमाज-विरोधी बन जाना ही था। साहबदयाल ने 'इलाज वहमत

दित्तसिंहिया' शीर्षक उर्दू पुस्तक लिखी जो १९०२ ई० में छपी। सिक्खों और आर्यसमाज में तनाव का एक दूसरा दौर उस समय आया जब पटियाला रियासत के ग्राम भदौर के निवासी महाशय रौनकराम 'शाद' ने "खालसा पंथ की हकीकत" लिखी। यह पुस्तक १९१४ ई० में छपी थी। इसमें एक प्रकरण नियोग-विषयक भी था। यद्यपि महाशय रौनकराम की पुस्तक में कुछ भी आपत्तिजनक नहीं था, किन्तु कुछ सिक्खों ने इसके विरुद्ध आन्दोलन की-सी स्थिति पैदा कर दी। लॉयल गजट में एक उत्तेजनापूर्ण लेख उक्त पुस्तक के बारे में छपा। अन्ततः पटियाला राज्य ने महाशय रौनकराम को गिरफ्तार कर लिया। उनके एक अन्य साथी, समीपवर्ती गाँव के निवासी महाशय विश्वम्भरदत्त भी, जो 'खालसामत प्रकाश' नामक ग्रन्थ के लेखक थे, गिरफ्तार कर लिये गये। जब पटियाला की अदालत में दोनों अभियुक्तों पर मुकद्दमा चलाया गया, तो आर्य लेखकों के बचाव के लिए रावलपिंडी के वकील लाला वजीरचन्द आगे आये। दस मास तक मुकद्दमा चलता रहा, किन्तु अन्त में अदालत के निर्णयानुसार अभियुक्तों को एक वर्ष के कारावास और दो-दो सौ रुपये के जुर्माने की सजा सुनाई गई। एक बार फिर आर्यों ने सत्य की रक्षा के लिए जेल जाना स्वीकार किया। इस मुकद्दमे का पूरा विवरण लाला रामलाल ने 'तारीख मुकद्दमा खालसापंथ की हकीकत' शीर्षक पुस्तक में लिखा है जो लाहौर से १९१४ ई० में प्रकाशित हुई थी।

यह बात नहीं कि आर्यसमाजी लेखकों द्वारा लिखे गये सिक्खपंथ-विषयक साहित्य में खालसा मत की आलोचना ही होती थी। आर्य लेखकों के द्वारा रचित एतद् विषयक साहित्य का मुख्य स्वर तो यह सिद्ध करने का ही रहता था कि सिक्ख धर्म के सिद्धान्त मूलतः आर्य धर्म के अनुकूल ही हैं और सिक्खों की मौलिक मान्यताएँ भी हिन्दुओं से भिन्न नहीं हैं। स्वामी दर्शनानन्द ने 'क्या सिक्ख हिन्दू नहीं हैं?' शीर्षक ट्रैक्ट में यही सिद्ध किया है कि सिक्खों को हिन्दुओं से पृथक् समझना ही भूल है। उनकी एक अन्य पुस्तक "खालसा धर्म और वेद" दोनों विचारधाराओं की समानता घोषित करती है। देश के लिए आत्माहुति देनेवाले अमरशहीद भगतसिंह के पितामह सरदार अर्जुनसिंह ने तो स्वामी दयानन्द के प्रत्यक्ष दर्शन किये थे और उनके उपदेश भी सुने थे। वे तभी से कट्टर आर्यसमाजी बन गये। उन्होंने एक पुस्तक उर्दू में लिखी—हमारे गुरु साहबान वेदों के पैरों थे। बर्मन एण्ड कम्पनी लाहौर से छपी इस पुस्तक में गुरुओं की शिक्षाओं को वेदाधारित सिद्ध किया गया था। इन्हीं सरदार अर्जुनसिंह के पुत्र सरदार किशनसिंह ने गुरु मर्यादा (भाग १) में बताया था कि सभी सिक्ख गुरुओं के विवाह वैदिक पद्धति से ही हुए थे। पण्डित लक्ष्मण ने तो आर्य-खालसा-मिलाप लिखकर आर्य सिद्धान्तों और सिक्ख मन्तव्यों में समानता के सूत्रों को ढूंढा था। यहाँ हमने जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया है, वे सब उर्दू में लिखे गये थे। पंजाबी भाषा में लिखे गये कुछ ग्रन्थ हैं—ग्रन्थ साहब अते वेद, खालसामत-प्रकाश, वैदिक गुरुमत (अनन्तसिंह द्वारा लिखित) तथा दित्तसिंह दा घुग्घु आदि।

सिक्ख मत पर हिन्दी में लेखनी उठानेवालों में स्वामी स्वतन्त्रानन्द तथा सरगोधा-निवासी महाशय ताराचन्द आर्य (संन्यास आश्रम में स्वामी अमृतानन्द सरस्वती) के नाम प्रमुख हैं। स्वामी स्वतन्त्रानन्द तो जन्मना सिक्ख ही थे और उन्होंने सिक्ख साहित्य का गम्भीर अनुशीलन किया था। इन स्वामीजी द्वारा लिखे गये ग्रन्थों से

यह स्पष्ट प्रकट हो जाता है कि सिक्ख गुरुओं ने जिस विचारधारा का प्रतिपादन किया है वह वैदिक आर्य सिद्धान्तों से भिन्न नहीं है। सिक्ख गुरु अते आर्य सिद्धान्त (हिन्दी में आर्य सिद्धान्त और सिक्ख गुरु) शीर्षक उनका ग्रन्थ प्रथम वार २००० वि० में प्रकाशित हुआ था। 'सिक्ख और यज्ञोपवीत' लिखकर उन्होंने सिद्ध किया कि सभी गुरुओं द्वारा उपनयन संस्कार कराये जाने का उल्लेख सिक्ख इतिहास में उपलब्ध होता है। सिक्ख और गौ (पंजाबी में सिक्ख अते गऊ) में उन्होंने सिक्ख मत में गाय की मान्यता प्रतिपादित की है। श्री ताराचन्द आर्य ने सिक्ख गुरुओं का सच्चा दर्शन, सिक्ख गुरुओं की मातृ-भाषा आदि ग्रन्थ लिखे। देशविभाजन के पश्चात् वे स्वामी आत्मानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित वैदिक-साधन आश्रम यमुनानगर में रहने लगे। यहाँ रहते हुए उन्होंने संन्यास धारण किया और स्वामी अमृतानन्द के नाम से प्रसिद्ध हुए। स्वामी अमृतानन्द के नाम से उन्होंने जो ग्रन्थ सिक्ख मत-विषयक लिखे, उनमें से निम्न प्रमुख हैं—गुरुमत-सार, सिक्ख गुरु और यज्ञोपवीत, गुरु ग्रन्थसाहब की आत्मकथा, खालसा ज्ञान प्रकाश आदि। दिल्ली-निवासी श्री मेहरसिंह यमतोल ने 'सिक्ख पंथ तथा वैदिक धर्म में एकता' शीर्षक ग्रन्थ लिखकर तुलनात्मक रूप से वैदिक एवं सिक्ख विचारधारा की एकात्मता की तलाश की है। महात्मा मुन्शीराम लिखित 'गुरुमत दिवाकर' शीर्षक एक पुस्तक का भी उल्लेख मिलता है। पण्डित लक्ष्मण आर्योपदेशक ने 'गुरुमुख मनमुख' लिखकर वर्तमान सिक्ख मान्यताओं को गुरुओं द्वारा प्रतिपादित प्राचीन मान्यताओं से विपरीत सिद्ध किया है।

(१६) मध्यकालीन सम्प्रदायों व आधुनिक मतों के विषय में लिखे गये खण्डनात्मक ग्रन्थ

स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में भारत-देशोत्पन्न विभिन्न मत-सम्प्रदायों की तात्त्विक आलोचना कर धार्मिक अध्ययन एवं विवेचना के क्षेत्र में एक नवीन आयाम उपस्थित किया था। पौराणिक धर्म की विभिन्न मान्यताओं तथा उसके आधारभूत पुराण, तंत्रादि ग्रन्थों के खण्डन में आर्यविद्वानों द्वारा जो प्रचुर साहित्य लिखा गया है उसका विस्तृत उल्लेख हम पूर्वपृष्ठों में कर चुके हैं। यहाँ हम कुछ ऐसे ग्रन्थों की चर्चा करेंगे जो मध्यकालीन भारतीय धर्मों एवं सम्प्रदायों की समीक्षा में लिखे गये हैं।

स्वामी दयानन्द ने महाभारत-काल के पश्चात् वाममार्ग को देश की दुर्दशा का एक प्रमुख कारण ठहराया था। उन्होंने तन्त्राश्रित वाममार्ग की विस्तृत आलोचना भी सत्यार्थप्रकाश के एकादश के समुल्लास में की है। यद्यपि इस सम्प्रदाय पर कोई प्रौढ़ ग्रन्थ आर्य विद्वानों की लेखनी से नहीं निकला, किन्तु इस दिशा में कुछ छोटे-मोटे प्रयत्न अवश्य किये गये। किशनलाल शरसोदे ने वाममार्ग पर एक छोटी पुस्तिका लिखी। स्वामी भास्करानन्द ने राजस्थान में प्रचलित वाममार्ग की किसी शाखा का परिचय "वामपन्थ का दिग्दर्शन" शीर्षक पुस्तक में दिया जिसे आर्यसमाज डाँगावास (राजस्थान) ने १९९३ वि० में प्रकाशित किया। अमृतसर-निवासी ज्ञानी पिण्डीदास ने 'महानिर्वाण तन्त्र क्या है?' लिखकर इस तन्त्र-ग्रन्थ के प्रतिपाद्य से पाठकों को परिचित कराया।

जैनमत-विषयक आर्य साहित्य की चर्चा हम पृथक् प्रकरण में कर चुके हैं। बौद्ध

धर्म के सम्बन्ध में कोई उत्कृष्ट ग्रन्थ आर्य विद्वानों की लेखनी से नहीं निकल सका। इसके दो कारण हमें दिखाई देते हैं। प्रथम तो यह है कि भारत से बौद्ध धर्म को लुप्त हुए कई शताब्दियाँ बीत चुकी हैं। आर्यसमाज के सामने बौद्धमत कभी चुनौती के रूप में उस प्रकार नहीं आया जिस प्रकार इस्लाम, ईसाइयत या पौराणिक मत आये। इसलिये आर्य विद्वानों ने अपनी लेखनी को इस ओर प्रवृत्त नहीं किया। दूसरा कारण बौद्ध साहित्य की भारत में अनुपलब्धता भी मानी जा सकती है। इतना अवश्य है कि वैदिक मन्तव्यों तथा बौद्धमत की कतिपय धारणाओं में अभिन्नता प्रतिपादित करते हुए पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने 'बौद्धमत और वैदिक धर्म' शीर्षक ग्रन्थ लिखा। इनका एक अन्य ग्रन्थ Mahatma Buddha—An Arya Reformer भी इसी की टीका है। यहाँ यह उल्लेख कर देना आवश्यक है कि किसी समय आर्यसमाज में प्रगाढ़ आस्था रखने-वाले महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत तथा लंका आदि देशों में जाकर वहाँ के ग्रन्थागारों में विद्यमान बौद्ध ग्रन्थों को भारत लाने का श्लाघनीय प्रयास किया था। राहुल जी का यह विद्याव्यासंग आर्यसमाज की ही देन था, क्योंकि बौद्ध भिक्षु का बाना धारण करने के पहले वे आगरा के आर्यमुसाफिर विद्यालय में पढ़ चुके थे और लाहौर के आर्यसमाजी वातावरण में भी कुछ काल बिता चुके थे। गुलामहैदर से पण्डित सत्यदेव बने महानुभाव ने 'बौद्ध धर्मसमीक्षा' शीर्षक एक ग्रन्थ लिखा। इसी नाम की एक अन्य पुस्तक पण्डित कालीचरण शर्मा द्वारा लिखी जाकर तिमिरनाशक ग्रन्थमाला—११ के अन्तर्गत प्रकाशित हुई। कासगंज के डॉक्टर श्रीराम आर्य की पुस्तक बौद्धमत का भण्डा-फोड़ १९८३ ई० में प्रकाशित हुई है। निश्चय ही इन पुस्तकों में लिखी गई समीक्षा सामान्य कोटि की ही है।

मध्यकालीन सन्तमत के सर्वाधिक श्रेष्ठ प्रतिनिधि कबीर थे। कबीर की शिक्षाओं में जो तेजस्विता, ओज तथा क्रान्तदर्शिता थी, वह उस समय लुप्त हो गई जब कबीर के मतानुयायियों ने अपने गुरु के नाम पर एक पृथक् पन्थ स्थापित कर लिया। ऐसी स्थिति में गुरुडम के सभी पाखण्ड तथा जड़पूजा की प्रवृत्तियों का कबीरपन्थ में समाविष्ट हो जाना स्वाभाविक ही था। कबीर मत खण्डन (पाखण्डमत कुठार) नामक एक पुस्तक स्वामी सत्यानन्द सरस्वती ने लिखी जो सरस्वती यंत्रालय प्रयाग से १९५० वि० में छपी। ये सत्यानन्द पंजाब के स्वामी सत्यानन्द (श्रीमद्दयानन्दप्रकाश के लेखक) से भिन्न थे और आर्यसमाज में दीक्षित होने से पूर्व वे स्वयं कबीरपन्थी थे। डॉक्टर श्रीराम आर्य ने कबीरमत-गर्व-मर्दन शीर्षक एक अन्य समालोचनात्मक ग्रन्थ १९६५ ई० में लिखा।

जहाँ तक विभिन्न वैष्णव सम्प्रदायों का सम्बन्ध है, आर्यसमाजी लेखकों ने इनके सम्बन्ध में कुछ अधिक नहीं लिखा है। स्वामी दयानन्द के जीवनचरित में हम देखते हैं कि उन्हें बम्बई के कुछ भाटिया सेठों ने एक विशिष्ट प्रयोजन से अपने नगर में आमंत्रित किया था। तत्कालीन बम्बई प्रदेश (जिसमें गुजरात और कच्छ भी सम्मिलित थे) के निवासी धनाढ्य भाटिया लोग प्रायः वैष्णवों के वल्लभ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। किन्तु ये लोग उस समय के वैष्णव महन्तों (जो महाराज या गोस्वामी कहलाते थे) की दुश्च-रित्रता तथा लोभवृत्ति के कारण अत्यन्त दुःखी थे। स्वामीजी को उन्होंने बम्बई बुलाया ही इसी प्रयोजन से था कि वहाँ आकर वे वल्लभ सम्प्रदाय की पाखण्डपूर्ण प्रवृत्तियों का

खण्डन करें ताकि महाराजों के दुराचारपूर्ण कृत्यों का पर्दाफाश हो सके। स्वामी दयानन्द ने बम्बई में रहकर ही वेद-विरुद्ध-मत-खण्डन शीर्षक ग्रन्थ लिखा, जिसमें वल्लभ मत की सैद्धान्तिक समीक्षा संस्कृत में अत्यन्त प्रौढ़ शैली में की गई है। स्वामीजी के निधन के सात वर्ष पश्चात् गुजराती भाषा में "पुष्टिमार्ग अथवा महाराज नो पन्थ" शीर्षक एक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जिसके लेखक के स्थान पर "भेद जानने वाला एक वैष्णव गृहस्थ" शब्द अंकित थे। इसका प्रकाशन स्वामीजी के अत्यन्त विश्वासपात्र तथा आर्यसमाज बम्बई के कर्मठ सदस्य श्री सेवकलाल कृष्णदास ने किया था। लगभग ६०० पृष्ठों में समाप्त इस विशालकाय ग्रन्थ में वल्लभ सम्प्रदाय का सम्पूर्ण इतिवृत्त तथा महाराजों के आचार आदि का दिग्दर्शन अत्यन्त प्रभावोत्पादक शैली में किया गया है। लेखक स्वयं वैष्णव सम्प्रदाय की इस शाखा में रह चुका था, इसलिये उसे सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य के इतिवृत्त, परवर्ती आचार्यों के चरित्र, वल्लभ-सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थों, सम्प्रदाय के कृष्ण मंदिरों की पूजा-पद्धति तथा कर्मकाण्ड एवं विगत शताब्दी के महाराजों की चरित्रहीनता की कथाओं का सम्पूर्ण ज्ञान था। इस ग्रन्थ में लेखक ने अपनी इस समग्र जानकारी का उपयोग कर इसे पुष्टिमार्ग के एक प्रामाणिक आलोचनात्मक अध्ययन का रूप दे दिया है। गोविन्दराम हासानन्द कलकत्ता ने 'वल्लभाचार्य और उनके पुष्टिमार्ग का संक्षिप्त इतिहास' शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ प्रकाशित किया। यहाँ यह ध्यातव्य है कि इस प्रकाशन-संस्था के स्वामी श्री गोविन्दराम आर्यसमाज में दीक्षित होने से पूर्व स्वयं वल्लभमतानुयायी रह चुके थे।

राधास्वामी मत विषयक आलोचनात्मक ग्रन्थ—राधास्वामी मत की स्थापना विगत शताब्दी में आगरा के एक सज्जन श्री शिवदयालसिंह ने की थी जो अपने सम्प्रदाय में 'स्वामीजी महाराज' के नाम से जाने जाते हैं। स्वामी दयानन्द ने जिस समय सत्यार्थप्रकाश की रचना की थी, उस समय तक यह सम्प्रदाय विशेष प्रसिद्धि प्राप्त नहीं कर सका था, अतः स्वामीजी ने अपने ग्रन्थ में इसकी चर्चा करना भी आवश्यक नहीं समझा। कालांतर में इस सम्प्रदाय का उत्तर भारत में पर्याप्त प्रचार हुआ और आगरा के दयालबाग में मुख्यालय बना। अब तो राधास्वामियों में भी अनेक अवान्तर शाखाएँ हो गई हैं। राधास्वामी मत की मूल विचारधारा कबीर तथा अन्य निर्गुणपन्थी सन्तों की शिक्षाओं का ही उपबृंहित रूप हैं।

आर्यसमाजी लेखकों ने इस सम्प्रदाय की कतिपय तथ्यहीन एवं अवैदिक मान्यताओं का खण्डन स्वग्रन्थों में किया है। सर्वप्रथम स्वामी आलाराम सागर लिखित राधास्वामी गप्पदर्पण प्रकाशित हुआ। पण्डित वजीरचन्द विद्यार्थी का 'राधास्वामीमत खण्डन' आर्य पुस्तक प्रचारिणी सभा अजमेर से छपा। लाला रामलाल ने उर्दू में 'राधास्वामी मत परीक्षा' लिखी जिसका हिन्दी अनुवाद चिम्मनलाल वैश्य ने किया। यह ग्रन्थ आगरा से १९०२ ई० में छपा। पण्डित लक्ष्मण द्वारा लिखित तुलनात्मक अध्ययन पर आधारित 'राधास्वामी मत और वैदिक धर्म' हिन्दी तथा उर्दू दोनों भाषाओं में छपा। दिल्ली के एक अन्य अल्पज्ञात लेखक हरिसिंह खलीफा ने उर्दू में 'अफशाए राज' तथा 'राधास्वामी-मत-प्रकाश' शीर्षक पुस्तकें लिखीं। राधास्वामी मत के सिद्धान्तों का गम्भीर अध्ययन करने के पश्चात् पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी तथा महता सावनमल्ल ने 'राधास्वामी मतालोचन' शीर्षक ग्रन्थ लिखा जो १०९ दयानन्दाब्द में आर्यसिद्धान्त रक्षक मण्डल

लाहौर से प्रकाशित हुआ। इस विषय की एक महत्त्वपूर्ण कृति पण्डित जगदीश विद्यार्थी-कृत राधास्वामी-मत दर्पण है जिसे गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली ने १९६१ ई० में प्रकाशित किया था।

ब्रह्मसमाज-विषयक समीक्षात्मक ग्रन्थ—राजा राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्मसमाज को आर्यसमाज का अग्रज आन्दोलन कहना अनुपयुक्त नहीं है। दोनों समाजों के धार्मिक एवं सामाजिक मन्तव्यों में हमें पर्याप्त समानता दृष्टिगोचर होती है। दोनों ही एकेश्वरवाद के कट्टर समर्थक, मूर्तिपूजा-विरोधी, अवतार, तीर्थ, श्राद्ध आदि पौराणिक विश्वासों के विरोधी तथा सामाजिक सन्दर्भों में सर्वत्र क्रान्तिकारी कदम उठाने के पक्षपाती रहे हैं। तथापि यह समझना भूल होगी कि दोनों संस्थाओं में असमानता भी कुछ कम है। स्वयं स्वामी दयानन्द ने ही सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में विभिन्न आर्यावर्तीय मतमतान्तरों की समीक्षा के प्रसंग में ब्रह्मसमाज की भी आलोचना की है तथा उनकी कतिपय न्यूनताओं को स्पष्ट किया है। पुनर्जन्म तथा वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास न करना, यज्ञादि वैदिक कर्मकाण्ड को भी मूर्तिपूजा के भीतर परिगणित कर उसकी अवहेलना करना, यज्ञोपवीत आदि वैदिक संस्कारों का तिरस्कार आदि बातें आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज के बीच स्पष्ट विभेदक रेखायें खींच देती हैं। दोनों के दार्शनिक मन्तव्यों की तुलना करते हुए कहा जा सकता है कि ब्रह्मसमाज यद्यपि शांकर अद्वैतवाद तथा मायावाद को अस्वीकार करता है, किन्तु वह सृष्टि के उपादान कारण के रूप में आर्यसमाज की भाँति प्रकृति को स्वतन्त्र अनादि सत्ता स्वीकार नहीं करता। उसके विचारानुसार परमात्मा स्वसामर्थ्य से ही, बिना किसी उपादान-सामग्री का प्रयोग किये सृष्टि की रचना कर देता है।

स्वामी दयानन्द अपने कलकत्ता-प्रवास के समय ब्रह्मसमाज के नेताओं के सम्पर्क में आये और उनके विचारों से परिचित हुए। देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने तो उन्हें कलकत्ता आने के लिए आमन्त्रित ही किया था और केशवचन्द्र सेन ने उनसे अनेक बार भेंट कर पारस्परिक सुहृदता स्थापित कर ली थी। स्वामी दयानन्द को पंजाब में आमन्त्रित करनेवाले भी ब्रह्मसमाज के ही लोग थे। पंजाब ब्रह्मसमाज के प्रमुख पुरुष श्री नवीनचन्द्र राय तो स्वामीजी द्वारा आमन्त्रित तथा दिल्ली में १८७७ ई० में आयोजित विभिन्न धार्मिक नेताओं के सम्मेलन में उपस्थित भी हुए थे। स्वामी जी के पंजाब-प्रवास के समय ही ब्रह्मसमाजियों को यह आभास हो गया था कि वेद और पुनर्जन्म आदि सिद्धान्तों पर दृढ़ मत रखनेवाले स्वामी दयानन्द को उनके निर्धारित मार्ग से हटाकर ब्रह्मसमाज के मत के अनुकूल बनाना सरल नहीं है। उधर स्वामीजी भी समझ गये कि चाहे ब्रह्मसमाज और आर्यसमाज में धार्मिक विषयों को लेकर अनेक समानताएँ भी हैं, किन्तु वेदप्रामाण्य जैसे मौलिक और महत्त्वपूर्ण बिन्दु पर ब्रह्मसमाज का जो रवैया है, उसके रहते दोनों संस्थाओं में समन्वय स्थापित होना कठिन है। स्वामीजी की मृत्यु के पश्चात् जब पंजाब के ब्रह्मसमाजी क्षेत्रों में आर्यसमाज के विरोध के स्वर कुछ उभरने लगे तो आर्यसमाज की ओर से भी कुछ खण्डनात्मक साहित्य लिखा गया। ब्रह्मसमाज द्वारा प्रकाशित एक पुस्तक 'स्वामी दयानन्द और उनका नया पंथ' के उत्तर में राधाकृष्ण महता एवं मनोहरलाल ने उर्दू में 'असरारए ब्रह्म पंथ' लिखा जो लाहौर से १८८६ ई० में छपा। महता जी के दो अन्य ग्रन्थ 'ब्रह्मसमाज की अस्लियत' तथा 'आर्य-

समाज और ब्रह्मसमाज की तालीम' १८८८ ई० में छपे। उधर प्रयाग से पण्डित भीमसेन शर्मा लिखित ब्राह्ममत-परीक्षा १९४८ वि० में प्रकाशित हुई। यह हम पहले लिख चुके हैं कि ब्रह्मसमाज ने वेद की प्रामाणिकता के सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया था। स्वामी दयानन्द के समकालीन तथा अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक श्री ए० ओ० ह्यूम ने 'दलाएल अग़लाते इल्हाम' नामक एक पुस्तक लिखी थी जिसे पंजाब के ब्रह्मसमाज ने प्रकाशित किया था। निश्चय ही श्री ह्यूम ने उसे अंग्रेजी में लिखा था और यह पुस्तक उसका उर्दू अनुवाद ही थी। लेखक ने आरम्भ में ही स्वामी दयानन्द के वेद-प्रामाण्य के सिद्धान्त पर आक्षेप किया और लिखा—"स्वामी दयानन्द साहब ने आर्य-समाज के मौलिक नियमों को किसी पुस्तक की पूर्ण पवित्रता पर आधारित क्यों रखा है?" पण्डित लेखराम ने अपनी पुस्तक 'सदाकते इल्हाम' में इसका उत्तर दिया और सिद्ध किया कि वेद को ईश्वरीय ज्ञान के रूप में स्वीकार करना मानव-जाति के हित में ही है। बावा छज्जूसिंह ने भी ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता का प्रत्याख्यान करनेवाले ब्रह्मसमाजियों के विचारों की समीक्षा में एक अंग्रेजी पुस्तक A Word with Non-believers in Revealation लिखी जो १८८९ ई० में ट्रिब्यून प्रेस, लाहौर से छपी।

थियोसोफिकल सोसाइटी-विषयक साहित्य—आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटी के पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना तथा उसके विच्छेद का प्रसंग स्वामी दयानन्द के जीवन-चरितों तथा आर्यसमाज के इतिहासों में सर्वत्र वर्णित हुआ है। यहाँ तो हम केवल उस साहित्य की ही चर्चा करेंगे जो इन दोनों संस्थाओं के सम्बन्धों में आये परिवर्तन को लेकर लिखा गया अथवा थियोसोफी के सिद्धान्तों की आलोचना में प्रणीत हुआ। जब स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटी के सम्बन्ध-विच्छेद की घोषणा बम्बई की एक सार्वजनिक सभा में कर दी, तो सोसाइटी के संस्थापकों में से एक कर्नल आॅल्काट ने अपनी संस्था के मुखपत्र थियोसोफिस्ट के जुलाई १८८२ के अंक का एक अतिरिक्त पूरक अंक निकाला और उसमें आर्यसमाज-विषयक अपनी संस्था के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए स्वामीजी की उक्त कार्यवाही की आलोचना की। रुड़की आर्यसमाज के मन्त्री पण्डित उपरावसिंह ने A Reply to Extra Supplement to the Theosophist शीर्षक पुस्तक (लाहौर से १८८२ में प्रकाशित) लिखकर कर्नल महाशय के आक्षेपों का प्रत्युत्तर दिया। इसी प्रकार फर्रुखाबाद-निवासी पण्डित गोपालराव हरि ने आर्यसमाज-थियोसोफी-विवाद-विषयक पत्र-व्यवहार को 'पाखण्ड तिमिरनाशक पत्र चन्द्रिका' शीर्षक से प्रकाशित किया। यह सम्भवतः वही सामग्री थी जिसका उल्लेख स्वामी दयानन्द के जीवनचरित में 'थियोसोफिस्टों का गोलमाल-पोलपाल' शीर्षक से हुआ है। सैद्धान्तिक आलोचना की दृष्टि से आर्यसमाज मेरठ के एक सभासद ने 'पौराणिक धर्म और थियोसोफी' शीर्षक पुस्तक लिखी जो स्वामी प्रेस मेरठ से १९०० ईसवी में छपी। स्वामी शंकरानन्द सरस्वती लिखित एक पुस्तक थियोसोफी तन्त्र (१९०४ ई०) का भी उल्लेख मिलता है। श्री श्यामसुन्दरलाल की अंग्रेजी पुस्तक A Treatise on the Arya Samaj and the Theosophical Society as once amalgamated bodies का उल्लेख भी आवश्यक है। दयानन्द-जन्म-शताब्दी समिति द्वारा १९२५ ई० में प्रकाशित इस पुस्तक में दोनों संस्थाओं के विचारों की समानता एवं अन्तर का तार्किक निरूपण किया गया है।

देवसमाज खण्डन-विषयक साहित्य—देवसमाज की स्थापना शिवनारायण अग्नि-होत्री (जो कालान्तर में सत्यानन्द के नाम से जाने गये) ने की थी। अग्निहोत्री महाशय का जन्म २० दिसम्बर १८५० को कानपुर जिले के अकबरपुर ग्राम में एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनकी शिक्षा रुड़की में हुई जहाँ से उन्होंने पैमाइश की परीक्षा पास की। १८७३ में वे गवर्नमेंट हाई स्कूल लाहौर में ड्राइंग के अध्यापक नियुक्त हुए और १८७७ में स्वामी दयानन्द के लाहौर आने पर उनकी विचारधारा से प्रभाव ग्रहण किया। इसके पूर्व वे ब्रह्मसमाज के सम्पर्क में आकर उसकी सदस्यता स्वीकार कर चुके थे। थोड़े समय बाद स्वामी दयानन्द से भी उनकी नहीं पटी और वे पुनः ब्रह्मसमाज में चले गये। २० दिसम्बर १८७८ ई० को उन्होंने ब्राह्म पद्धति से संन्यास की दीक्षा ग्रहण की और अपना नाम सत्यानन्द रख लिया। कुछ समय पश्चात् वे ब्रह्मसमाज से भी पृथक् हो गये और १६ फरवरी १८८७ को उन्होंने देवसमाज की स्थापना की। अब वे अपने-आपको भगवान् देव-आत्मा कहने लगे तथा देवसमाज में स्वयं की तथा ईश्वर की पूजा चलाई। १८९५ ई० में उन्होंने ईश्वर की सत्ता से बिलकुल इन्कार कर दिया और देवसमाज को पूर्णरूपेण अनीश्वरवादी बना दिया। अब भगवान् देव-आत्मा ही देव-समाजियों के एकमात्र आराध्य, उपास्य और पूज्य रह गये। ३ अप्रैल १९२९ ई० को इनका निधन हुआ।

आर्यसमाज और देवसमाज के सिद्धान्तों में जमीन आसमान का अन्तर था। स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की नींव परमात्मा में अटल विश्वास तथा वेदों के प्रमाण के सिद्धान्त पर रक्खी, जबकि शिवनारायण अग्निहोत्री ने देवसमाज की स्थापना अपने वैयक्तिक गुरुडम के प्रसार के लिए की थी। स्वामी दयानन्द से अकारण ही रुष्ट होकर अग्निहोत्री ने लाहौर में उनके विरुद्ध कैसा विषैला प्रचार किया और स्वामीजी के पंजाब से चले जाने के पश्चात् भी इस प्रदेश में आर्यसमाज और उसके संस्थापक के विरोध में निन्दापूर्ण प्रवाद प्रचलित करता रहा, यह सभी तथ्य इस इतिहास के प्रथम भाग में विस्तार-पूर्वक वर्णित हो चुके हैं। अग्निहोत्री ने स्वामीजी के कृतित्व एवं व्यक्तित्व को लांछित करने की दृष्टि से कुत्सापूर्ण अनेक पुस्तिकाएँ प्रकाशित कीं। अतः आर्यसमाज द्वारा इनका प्रतिवाद कर सत्यानन्दी पाखण्ड का खण्डन करना आवश्यक हो गया। सर्वप्रथम १८८८ ई० में किन्हीं 'आजाद' नाम के एक सज्जन ने 'शिवनारायण की शोखी का जवाब' शीर्षक पुस्तक प्रकाशित की। इसी वर्ष पण्डित मुन्नालाल उप्रैती शर्मा ने 'नवीनचन्द्री अग्निहोत्री का गृहस्थ संन्यास' शीर्षक पुस्तक लिखी। बात यह हुई कि सत्यानन्द अग्नि-होत्री ने संन्यासी का वाना धारण कर लेने के बाद अपनी एक अल्पवयस्क शिष्या से विवाह कर लिया, जिसके कारण लाहौर के समाज में उनकी खूब निंदा हुई। श्री उप्रैती की पुस्तक इसी सन्दर्भ में लिखी गई थी। मास्टर मुरलीधर ने अग्निहोत्री द्वारा लिखित एक पुस्तक 'पण्डित दयानन्द का संन्यास' शीर्षक के उत्तर में 'सत् असत् प्रकाश' (अर्थात् सत्यानन्द अग्निहोत्री के रिसाला पण्डित दयानन्द का संन्यास का जवाब) उर्दू में लिखी। यह अहमदी प्रेस लाहौर से १८९० ई० में मुद्रित हुई थी। स्वामी दर्शनानन्द ने 'देवसमाज से प्रश्न' शीर्षक ट्रैक्ट लिखकर देवसमाज की मान्यताओं को चुनौती दी। पानीपती आर्य लिखित उर्दू पुस्तक 'कप्तान डाकू' भी देवसमाज की समीक्षा प्रस्तुत करती है। मौलवी अब्दुलगफूर से धर्मपाल का नाम धारण कर आर्यसमाजी बने इस व्यक्ति ने अपनी

पुस्तक 'लाहौरी पाखण्ड' (१९०८ में प्रकाशित) में सत्यानन्द अग्निहोत्री का ही भण्डा-फोड़ किया है।

वस्तुतः आर्यसमाज ने देवसमाज तथा उसके संस्थापक पर अपनी कलम तभी चलाई जब सत्यानन्द अग्निहोत्री ने स्वामी दयानन्द के अमल-धवल व्यक्तित्व को बदनाम करने की कुचेष्टा की, अन्यथा देवसमाज अपनी विचारधारा का कोई प्रभाव जनसाधारण पर नहीं छोड़ सका था और न उसके अनुयायियों की संख्या ही अधिक थी। अग्निहोत्री ने स्वामी दयानन्द पर प्रहार करते हुए अंग्रेजी में भी एक पुस्तक लिखी—Dayanand Unveiled जिसके उत्तर में पण्डित दुर्गाप्रसाद ने १८९१ ई० में A Reply to Pt. Agnihotri's Dayanand Unveiled लिखी, जबकि श्री रामभजदत्त (चौधरी) की पुस्तक Agnihotri Demolished : Being a thorough refutalion of the Dayanand Unveiled and its rejoinder १८९२ में लाहौर से प्रकाशित हुई।

नवीन गुरुओं द्वारा प्रवर्तित सम्प्रदायों की समीक्षा का साहित्य—भारत के धार्मिक जगत् में इन दिनों एक नवीन प्रवृत्ति लक्षित हो रही है। वेदशास्त्राधारित अथवा स्मृति-पुराणाधारित धर्म के स्थान पर आजकल तथाकथित भगवानों अथवा गुरुओं को सर्वोपरि समझने और उन्हीं के द्वारा निर्दिष्ट पद्धतियों को स्वीकार करने का ढर्रा चल पड़ा है। नये-नये गॉडमैन (Godmen) भारत के धर्माकाश पर अवतरित हो चुके हैं और उनके ये व्यक्ति-आधारित मत शिक्षित एवं अशिक्षित, सभी प्रकार के लोगों में प्रचार पा रहे हैं। आर्यसमाज ने इन व्यक्ति-आधारित नवीन मत-सम्प्रदायों को अत्यन्त चिन्ता की दृष्टि से देखा है। उसका यथासम्भव प्रयत्न रहा है कि इन नये-नये गुरुओं, बाबाओं और भगवानों के मायाजाल से लोगों को मुक्त कराकर उन्हें धर्म के उसी मूल-भूत सत्य का साक्षात्कार कराया जाय जो श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित तथा महापुरुषों द्वारा सदा से आचरित रहा है। यहाँ हम संक्षेप में इन्हीं नवीन गुरुओं के मत-पन्थों के खण्डन में लिखे गये आर्य साहित्य का परिचय पाठकों को करा रहे हैं।

सिंध के एक निवासी लेखराज खूबचन्द कृपलानी ने ब्रह्माकुमारी नामक एक संस्था की स्थापना की थी। शुरू में इसका नाम ओम् मण्डली था। साधु टी. एल. वास्वानी ने इस मत में प्रचलित अवांछनीय कृत्यों की ओर जनता का ध्यान आकृष्ट किया। स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् आबू पर्वत पर अपना मुख्यालय स्थापित कर यह संस्था ब्रह्माकुमारी नाम से प्रसिद्ध हुई। इसमें स्त्रियों का ही प्राधान्य है, वे ही इस संस्था का संचालन करती हैं। राजयोग के नाम से ये त्राटक जैसी कुछ क्रियायें सिखाती हैं। ब्रह्मा-कुमारी संस्था का संस्थापक दादा लेखराज ही उनकी दृष्टि में प्रजापति ब्रह्मा है। इस सम्प्रदाय में 'सच्ची गीता' नामक पुस्तक को सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है और ये कृष्ण-प्रोक्त गीता को कोई महत्त्व नहीं देते।

सार्वदेशिक सभा के वर्तमान प्रधान लाला रामगोपाल शालवाले ने 'ब्रह्माकुमारी संस्था' नामक पुस्तक में इस सम्प्रदाय की आपत्तिजनक कार्यवाहियों का उद्घाटन किया है। इस पुस्तक का गुजराती अनुवाद 'ब्रह्माकुमारी संस्था नी पोल' शीर्षक से आर्यसमाज अहमदाबाद ने प्रकाशित किया है। ब्रह्माकुमारी-मत-दर्पण शीर्षक से पण्डित शिवदयालु तथा पण्डित जगदीश विद्यार्थी ने पृथक्-पृथक् पुस्तकें लिखी हैं। डॉक्टर श्रीराम आर्य ने ब्रह्माकुमारी-पाखण्ड-खण्डन लिखा है।

देहरादून-निवासी प्रेमपालसिंह रावत द्वारा प्रवर्तित हंसामत पर डॉक्टर श्रीराम आर्य, पण्डित शिवदयालु तथा प्रो० उमाकान्त उपाध्याय ने क्रमशः हंसामत का पोल-खाता, हंसामत-दर्पण, तथा हंसामत की मिथ्या वाणी शीर्षक पुस्तकें लिखी हैं। उत्तर-प्रदेश में प्रचलित मुनिसमाज का खण्डन श्रीराम आर्य ने मुनिसमाज-मुख-मर्दन लिखकर किया। पण्डित हृदयप्रकाश वैद्य लिखित 'मुनि व मानव-समाज की पोल' भी इसी सम्प्रदाय के खण्डन में लिखी गई है। पण्डित शिवदयालु ने मेहेरबाबा-मत-दर्पण लिखकर मेहेरबाबा द्वारा प्रचलित सम्प्रदाय की समीक्षा प्रस्तुत की।

भारत के पठित वर्ग में आन्ध्रप्रदेश के साईं बाबा, आचार्य रजनीश तथा प्रभात-रंजन सरकार (आनन्दमूर्ति) द्वारा प्रचलित आनन्द मार्ग की विचारधारा अधिकाधिक प्रचार प्राप्त कर रही है। रजनीश कई वर्ष पूर्व जबलपुर में दर्शन-शास्त्र के प्राध्यापक थे। उन्होंने कुछ लेख लिखकर लोगों को अपनी विचारधारा की ओर आकृष्ट किया और थोड़े समय पश्चात् पूना के निकट अपना आश्रम स्थापित किया जिसमें उनके सैकड़ों स्वदेशी-विदेशी शिष्य-शिष्याएँ एकत्रित होकर रजनीश-पद्धति की साधना करने लगे। बाद में रजनीश अमेरिका में स्थाई रूप से बस गये जहाँ से उन्हें सरकारी तौर पर बहिष्कृत कर दिया गया और वह भारत लौट आए। अब वह भारत या पड़ौसी देशों में अपना मठ जमाने की ताक में हैं, किन्तु अभी तक कोई भी देश उन्हें अपनी भूमि पर स्थायी प्रश्रय देने को तैयार नहीं। उनके विचार से संयम, नियम, ब्रह्मचर्य आदि का कोई महत्त्व नहीं है। उनकी दृष्टि में नारी-संयोगजन्य आनन्द और योगज समाधि से उत्पन्न आनन्द में कोई अन्तर नहीं है। आचार्य रजनीश के विचारों के खण्डन में पण्डित देवप्रकाश लिखित पुस्तक 'आचार्य रजनीश बनाम धर्म और योग' सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित हुई है। ब्रह्मचारी आर्य नरेश ने 'भोग और भगवान्', 'वाममार्ग से काम-भोग तक' आदि पुस्तकें लिखकर रजनीश के कामाध्यात्म की आलोचना की है।

बिहार के आर्य विद्वान् पण्डित रामानन्द शास्त्री ने 'आनन्द मार्ग क्या है?' लिखकर प्रभातरंजन सरकार द्वारा प्रवर्तित आनन्दमार्ग का वास्तविक रूप पाठकों के आगे प्रकट किया है। प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासुकृत सत्यसाईं बाबा में शीरड़ी के मुसलमान फकीर साईं बाबा का अपने-आपको अवतार घोषित करनेवाले आन्ध्र प्रान्त निवासी सत्य साईं बाबा के पाखण्डों और चमत्कारों का पर्दाफाश किया गया है।

दसवाँ अध्याय

स्वामीजी के जीवनचरित तथा व्यक्तित्व के मूल्यांकन-विषयक ग्रन्थ

(१) स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनचरित

दयानन्द सरस्वती वैदिक जीवन-प्रणाली में स्वीकृत वर्णाश्रमविधान को मान्यता देते थे। वे स्वयं चतुर्थाश्रमी संन्यासी थे, अतः इस आश्रम की स्वीकृत मर्यादाओं के अनुसार उन्होंने अपने जन्मस्थान, माता-पिता तथा इसी प्रकार की अन्य बातों को बताने में सदा ही संकोच किया। फिर भी उनके जीवन में एकाधिक प्रसंग ऐसे भी आए, जबकि उन्हें अपने विषय में बहुत-कुछ बताना पड़ा। प्रथम बार उन्होंने अपने जीवन के विषय में कतिपय तथ्यों का उद्‌घाटन उस समय किया, जब वे पूना (महाराष्ट्र) में महादेव गोविन्द रानाडे के अनुरोध पर एक व्याख्यानमाला प्रस्तुत कर रहे थे। इस माला के अन्तिम भाषण में उन्होंने ४ अगस्त १८७५ ई० को अपने जीवन का वृत्तान्त श्रोताओं के समक्ष प्रस्तुत किया। इस आत्म-कथन में दयानन्द ने जन्म से लेकर काशी की पण्डित-मण्डली से हुए अपने शास्त्रार्थ (१६ नवम्बर १८६९ ई०) तक की घटनाओं का किंचित् विस्तारपूर्वक उल्लेख किया।

स्वदेशवासियों की ही भाँति अन्य देशवासी भी दयानन्द के जीवन तथा विचारों से परिचित होने के लिए उत्सुक थे। उनके द्वारा संस्थापित आर्यसमाज की कीर्तिपताका को अल्पकाल में ही सर्वत्र फहराते देखकर अमेरिका में स्थापित थियोसोफिकल सोसाइटी के सभासदों का ध्यान भी इस महापुरुष की ओर आकृष्ट हुआ। कालान्तर में जब इस संस्था का मुखपत्र 'थियोसोफिस्ट' बम्बई से प्रकाशित होने लगा, तो पत्र-सम्पादक के आग्रह पर स्वामीजी अपने जीवनवृत्त को उसमें धारावाही रूप में प्रकाशित कराने के लिए राजी हो गए। यद्यपि इस पत्र में छपा यह जीवन-वृत्तान्त पूना में दिये गए व्याख्यान में वर्णित घटनाओं से भी संक्षिप्त है; और यह नर्मदास्रोतगवेषण काल तक समाप्त होता है, तथापि लिखित रूप में उपस्थित होने के कारण उनके जीवन-प्रभात को प्रामाणिक रूप में चित्रित करने के कारण इस विवरण का महत्त्व निर्विवाद है।

स्वामी दयानन्द के जीवनकाल में ही उनका इतिवृत्त लिखने का एक प्रयत्न तत्कालीन पश्चिमोत्तरप्रदेश (वर्तमान उत्तरप्रदेश) की शिक्षा-सेवा के अधिकारी पण्डित गोपालराव हरि द्वारा किया गया। ये महानुभाव मूलतः महाराष्ट्रवासी थे, तथा फर्रुखाबाद में स्कूलों के सब-डिप्टी-इन्स्पेक्टर के पद पर नियुक्त होकर इस नगर में आए थे। १९३७ वि०(१८८० ई०)में इन्होंने 'दयानन्ददिग्विजयार्क' शीर्षक से स्वामीजी

के जीवन-वृत्तान्त का प्रणयन आरम्भ किया। ग्रन्थ का प्रथम खण्ड १९३८ वि० में समाप्त हुआ। इसमें चरितनायक के संक्षिप्त जीवनवृत्त के पश्चात् उनके कुछ शास्त्रार्थों का विवरण दिया गया है, जो पौराणिक, जैन, मुसलमान तथा ईसाई विद्वानों से हुए थे। द्वितीय खण्ड में दयानन्दकृत वेदभाष्य-विषयक चर्चा और आलोचनाओं की समीक्षा के पश्चात् उनके द्वारा किए गए धर्मप्रचार का विवरण प्रस्तुत किया गया है। यह खण्ड भी १९३८ वि० में प्रकाशित हो गया था। ग्रन्थ का तृतीय और अन्तिम खण्ड यद्यपि १९४२ वि० (स्वामीजी के निधन के दो वर्ष पश्चात्) में ही लिखा जा चुका था, किन्तु इसका प्रकाशन १९४४ वि० में हुआ। यह खण्ड प्रथम दो खण्डों से आकार में बड़ा है तथा इसमें स्वामी दयानन्द द्वारा किए गए गोरक्षा आन्दोलन, थियोसोफिस्टों से उनके मतभेद, मुंशी इन्द्रमणि का मुकद्दमा तथा उससे उत्पन्न विवाद, उदयपुर, शाहपुरा तथा जोधपुर की यात्रा, अस्वस्थ होने तथा अजमेर में परलोकगमन आदि घटनाओं का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया गया है। स्वामीजी के देहावसान के पश्चात् तत्कालीन पत्रिकाओं में जो शोकोद्गार तथा श्रद्धांजलियाँ प्रकाशित हुई थीं, उनका संकलन करते हुए ग्रन्थकार ने स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित परोपकारिणी सभा के प्रथम अधिवेशन की कार्यवाही को भी उद्धृत किया है। वस्तुतः, इस ग्रन्थ में स्वामीजी की जीवनी-विषयक आधारभूत सामग्री को प्रथम बार प्रस्तुत किया गया था, जिसे उपादान रूप में परवर्ती जीवनी-लेखकों ने प्रयुक्त किया है। इसमें तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं के उद्धरणों, अनेक लघु पुस्तिकाओं, प्रत्यक्ष-दर्शियों के कथनों तथा स्वामीजी के पत्रव्यवहार को भी प्रचुर मात्रा में उद्धृत किया गया है।

दिसम्बर १८८५ ई० में परोपकारिणी सभा के द्वितीय अधिवेशन में एक प्रस्ताव स्वीकार कर यह निश्चय किया गया कि सभा के उपमन्त्री पं० मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या स्वामीजी का विशद एवं तथ्यपूर्ण जीवनचरित लिखें। देशवासियों से अपील की गयी कि वे स्वामीजी के सम्बन्ध में जो कुछ जानकारी रखते हैं, पण्ड्याजी को भेज दें। परन्तु जीवनचरित-लेखन का यह प्रयास क्रियान्वित नहीं हो सका, शायद पण्ड्याजी का अनुत्साह ही उसमें कारण रहा हो। दयानन्द सरस्वती के परलोक-गमन के पाँच वर्ष पश्चात् आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने जुलाई १८८८ ई० को सम्पन्न हुई अपनी अन्तरंग सभा की बैठक में यह निश्चय किया कि पण्डित लेखराम आर्यपथिक को स्वामीजी की प्रामाणिक जीवनी लिखने के लिए नियुक्त किया जाय। नवम्बर १८८८ ई० से आर्यपथिक ने जीवनी की आधारभूत सामग्री का संग्रह प्रारम्भ किया। १८९२ ई० तक देश के विभिन्न भागों में घूमकर उन्होंने उन सहस्रों व्यक्तियों से सम्पर्क किया, जिन्होंने स्वामीजी को प्रत्यक्ष देखा था तथा उनके उपदेश-श्रवण का अवसर भी प्राप्त किया था। ऐसे व्यक्तियों के वक्तव्यों को उन्होंने सिलसिलेवार लिपिबद्ध किया। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में प्रकाशित विभिन्न समाचारों, सूचनाओं तथा विज्ञापनों का भी उन्होंने संग्रह किया। यह निश्चित है कि यदि पण्डित लेखराम अकाल में ही काल-कवलित नहीं हुए होते, तो दयानन्द का एक व्यवस्थित एवं प्रामाणिक जीवनचरित उन्हीं की लेखनी से लिखा जाकर तैयार हो जाता, किन्तु इससे पूर्व कि वे इस कार्य को समाप्त कर लेते, ६ मार्च १८९७ ई० को एक आततायी के घातक प्रहार से आहत होकर वे परलोकगामी हुए। यह एक संयोग ही था कि पण्डित लेखराम जिस समय स्वामीजी के जीवनचरित

के लेखन का कार्य कर रहे थे, उसी समय उन पर छुरी का प्रहार हुआ। दयानन्द के विचारों और आदर्शों से अनुप्राणित आर्यपथिक के रक्त से वह पाण्डुलिपि सिंचित हो गई, जिसमें वे अपने गुरु और आचार्य के जीवन की कथा लिख रहे थे।

२१ मार्च १८९७ को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अन्तरंग सभा ने एक प्रस्ताव स्वीकार कर पण्डित लेखराम द्वारा अधूरे छोड़े हुए कार्य को पूरा करने का दायित्व पण्डित आत्माराम अमृतसरी को सौंपा। पण्डित आत्माराम ने पण्डित लेखराम द्वारा लिखित अपूर्ण जीवनी तथा संकलित सामग्री को आद्योपान्त देखकर उसे एक व्यवस्थित रूप प्रदान किया। अन्ततः २५ अक्टूबर १८९७ ई० को मुंशीराम जिज्ञासु (स्वामी श्रद्धानन्द) लिखित भूमिका के साथ यह ग्रन्थ उर्दू भाषा में प्रकाशित हुआ।

पण्डित लेखराम द्वारा संगृहीत यह जीवनचरित अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। यह एक प्रकार से दयानन्द सरस्वती के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आने वाले तथा उनके जीवन की विभिन्न घटनाओं से सीधा परिचय रखने वाले लोगों के बयानों पर आधारित है। यदि एक ही घटना या स्थिति का वर्णन भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से किया, तो भी पण्डित लेखराम ने उन सभी लोगों के वक्तव्यों को एक ही स्थान पर संगृहीत कर लिया था। शायद वे स्वतन्त्र रूप से कोई निष्कर्ष भी निकालते अथवा उन लोगों द्वारा वर्णित बयानों का कोई समन्वित रूप भी प्रस्तुत करते, परन्तु यह कार्य पूरा होने से पहले ही उनकी मृत्यु हो गयी। अतः पाठकों को दयानन्द का यह जीवनचरित प्रत्यक्षदर्शियों के द्वारा बताए गए विवरणों का एक संग्रह-सा प्रतीत होता है। निश्चय ही यह सामग्री-संग्रह का एक प्रयास मात्र था, किन्तु इसी के आधार पर भविष्य में जीवनचरित लिखे गये।

यह कथन तो अत्युक्तिपूर्ण ही होगा कि पण्डित लेखराम द्वारा संगृहीत जीवनी अपने-आप में समग्र एवं परिपूर्ण थी और उसमें कथानायक के जीवन की सारी घटनाओं व तथ्यों का सही ढंग से समावेश हो गया था। इसके विपरीत, सत्य यह है कि कतिपय कारणों से पण्डित लेखराम स्वामीजी के जन्मस्थान, वंश, उनके पिता के नाम आदि की सही जानकारी प्राप्त नहीं कर सके थे। इसके कुछ वास्तविक कारण थे। इन सारी बातों का पता लगाने के लिए पण्डित लेखराम ने गुजरात की यात्रा भी की थी, किन्तु उनके समक्ष कुछ अपरिहार्य कठिनाइयाँ ऐसी आयीं, जिनके कारण वे वास्तविक तथ्यों का पता नहीं लगा सके। प्रथम बात तो यह थी कि सौराष्ट्र देशवासी उस समय तक न तो स्वामी दयानन्द की महत्ता को ठीक-ठीक अनुभव ही कर सके थे और न उन्हें यही पता था कि उन्हीं के प्रान्त में जन्म लेने वाला एक संन्यासी भारत की धार्मिक एवं सामाजिक क्रान्ति का जनक बनकर अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुका है। इसके विपरीत स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में उनकी धारणाएँ, नाना कुत्साओं तथा निन्दास्पद प्रवादों के प्रचलित हो जाने के कारण, कुछ अन्यथा ही थीं। उन्हें तो यही बताया गया था कि दयानन्द ने हिन्दू धर्म की सर्वमान्य आस्थाओं—मूर्तिपूजा, मृतकश्राद्ध, अवतारों के प्रति श्रद्धा आदि का तीव्र खण्डन किया है, अतः वे प्रचलित धर्म के विरोधी के रूप में ही जाने जाते थे। फलतः उनके जन्म-स्थान का कोई भी निवासी अथवा उन्हीं की जाति एवं वंश का व्यक्ति भी उनसे अपनी कुलागत निकटता तथा वंशगत सामीप्य को स्वीकार करना तो दूर रहा, उन्हें अपने प्रान्त का निवासी स्वीकार करने में भी संकोच करता था। जैसाकि पण्डित गणपति

केशवराम शर्मा ने आर्य प्रतिनिधि सभा मुंबई के मन्त्री को २२ सितम्बर, १९११ ई० के अपने पत्र में लिखा था—"टंकारा के ब्राह्मण स्वामीजी के जीवन के सम्बन्ध में तथ्य प्रकाशित करना नहीं चाहते, उसका एक मुख्य कारण यह है कि अधिकांश लोग यजमान-वृत्ति से निर्वाह करते हैं और उन्हें भय है कि यदि स्वामीजी के विषय में अधिक बातें बताई गयीं तो आर्यसमाजी उपदेशक यहाँ (टंकारा) आयेंगे और उनके यजमानों की परम्परागत आस्थाओं को खण्डित कर उनकी व्यावसायिक क्षति करेंगे।"

पण्डित लेखराम की एक अन्य कठिनाई यह भी थी कि फारसी-शब्दबहुला उर्दू भाषा बोलने तथा वेषभूषा में पंजाबी मुसलमानी ढंग का कोट, पाजामा तथा पगड़ी पहनने के कारण सौराष्ट्र के पुराणपन्थी, धर्मभीरु लोगों ने सम्भवत: उन्हें मुसलमान ही समझा तथा एक सहज अविश्वासभाव के कारण उनके समक्ष स्वामी दयानन्द विषयक तथ्यों को प्रकट करने में संकोच करते रहे।

तथापि यह तो स्वीकार करना ही होगा कि कालान्तर में स्वामीजी की जीवनी लिखने के जो भी प्रयत्न हुए, उनका आधार पण्डित लेखराम द्वारा संकलित यह उर्दू जीवनचरित ही था। दयानन्द के उल्लेखनीय कार्यों तथा धर्म, समाज एवं राष्ट्र के बहुविध क्षेत्रों में प्राप्त की गयी उनकी महत्त्वपूर्ण उपलब्धियों का यह एक ऐतिहासिक दस्तावेज है, जिसे तैयार करने में उन्हें घोर अध्यवसाय तथा परिश्रम करना पड़ा था। सहस्रों व्यक्तियों की प्रत्यक्ष साक्षियों, नाना भाषाओं में प्रकाशित तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं तथा अन्य महत्त्वपूर्ण आलेखों के आधार पर तैयार किया गया यह ग्रन्थ लेखक की एतद्विषयक निष्ठा तथा साधना का परिचायक है।

हम यह देख चुके हैं कि देशवासियों की भाँति ही विदेश में रहने वालों ने वैदिक विचारधारा के पुनरुद्धारक तथा आर्यों के प्राचीन जीवनदर्शन के पुरस्कर्ता इस महापुरुष के जीवन-विषयक तथ्यों से परिचित होने में अपनी रुचि प्रदर्शित की थी। यही कारण था कि यूरोपीय भाषाओं का एक शब्द भी न जानने वाले तथा पाश्चात्य चिन्तन-धारा से सर्वथा अपरिचित इस व्यक्ति के अदम्य विचारों तथा व्यापक प्रभाव को परिलक्षित कर सुप्रसिद्ध प्राच्यविद्याविशारद प्रोफेसर मैक्समूलर भी उनकी जीवनी लिखने के लिए लालायित हो उठा। स्वामीजी के निधन के एक वर्ष पश्चात् ही उसने लंदन से प्रकाशित होने वाले पॉल माल गजट में उनके विषय में एक निबन्ध प्रकाशित कराया। यही निबन्ध उनकी 'बॉयोग्रैफिकल एसेज' नामक पुस्तक में पृष्ठ १३७ से १८० तक उद्धृत किया गया। इसी प्रकार जब रामकृष्णमिशन की प्रेरणा से प्रसिद्ध फ्रेंच साहित्यिक रोमां रोलां ने भी रामकृष्ण परमहंस का जीवनचरित लिखा तो उन्होंने Builders of Unity (एकता के निर्माता) शीर्षक एक अध्याय लिखकर स्वामी दयानन्द के जीवन एवं कृतित्व का आलोचनात्मक मूल्यांकन किया।

इधर पण्डित लेखराम द्वारा लिखित जीवनचरित का ही आधार लेकर अंग्रेजी, उर्दू तथा हिन्दी में स्वामी दयानन्द के कुछ अन्य जीवनचरित लिखे गये। लाला लाजपतराय ने १९५५ वि० में "दुनिया के महापुरुषों के जीवन" शीर्षक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत 'महर्षि दयानन्द सरस्वती और उनका काम' नामक जीवनचरित लिखा। यह मूलत: उर्दू में लिखा गया था। हिन्दी में रामविलास शारदा ने 'आर्य धर्मेन्द्रजीवन' लिखा, जिसका प्रकाशन १९६१ वि० में हुआ। इससे पूर्व चिम्मनलाल वैश्य ने 'सरस्वतीन्द्र-

जीवनचरित' लिखा था, जिसका प्रकाशन १९०२ ई० में हुआ। हिन्दी में लिखी गईं ये दोनों जीवनियाँ सामग्री की दृष्टि से पण्डित लेखराम द्वारा संगृहीत जीवनचरित पर ही आधारित हैं। उर्दू में महता राधाकृष्ण लिखित जीवनचरित भी मौलिकता का दावा नहीं करता। अंग्रेजी में बाबा अर्जुनसिंह तथा बाबा छज्जूसिंह ने सर्वप्रथम स्वामी दयानन्द के जीवनचरित लिखे। बाबा अर्जुनसिंह द्वारा लिखित "Dayanand Saraswati—The Founder of the Arya Samaj" अपेक्षाकृत लघु है, जबकि बाबा छज्जूसिंह द्वारा लिखित "The Life and Teachings of Swami Dayanand" शीर्षक जीवनचरित बृहदाकार कृति है। इन दोनों का प्रकाशन क्रमशः १९०१ ई० तथा १९०३ ई० में हुआ। बाबा छज्जूसिंह अपने ग्रन्थ की भूमिका में यह स्पष्ट कर देते हैं कि उनकी रचना मुख्यतः लाला लाजपतराय तथा महता राधाकृष्ण द्वारा निबद्ध उर्दू जीवनचरितों पर आधारित है तथा यदाकदा उन्होंने पण्डित लेखराम द्वारा संगृहीत जीवनचरित से भी सहायता ली है। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि इस शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों तक हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी में स्वामी दयानन्द के जो छोटे-बड़े जीवनचरित लिखे गये, वे सभी पण्डित लेखराम द्वारा संगृहीत सामग्री को ही उपादान के रूप में स्वीकार करते हैं।

सुदूर बंगप्रदेश में स्वामीजी के जीवन-लेखन के कुछ अभूतपूर्व प्रयास हुए। १८८६ ई० में नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय ने बंगला भाषा में स्वामीजी की एक लघु जीवनी लिखी। कहते हैं कि चट्टोपाध्याय महाशय ब्रह्मसमाज के आचार्य तथा स्वामी दयानन्द के भक्त थे। इससे भी महत्त्वपूर्ण प्रयास देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का था, जिन्होंने आर्यसमाज कलकत्ता के प्रधान राजा तेजनारायणसिंह प्रदत्त आर्थिक सहायता से स्वामी दयानन्द के जीवनचरित-विषयक तथ्यों का संग्रह करने के लिए विभिन्न प्रान्तों में भ्रमण किया तथा महत्त्वपूर्ण सामग्री का संकलन किया। पण्डित दीनबन्धु के अनुसार प्रसिद्ध इतिहासकार श्री रमेशचन्द्र दत्त ने मुखोपाध्याय जी को इस जीवनीलेखन के लिए प्रेरित किया था। इससे पूर्व वे बंगला भाषा में ईसाई सन्त पॉल का जीवनचरित लिखकर साहित्यजगत् में पर्याप्त ख्याति अर्जित कर चुके थे। देवेन्द्रनाथ द्वारा लिखा गया दयानन्दचरित सर्वप्रथम १८९६ ई० (१३०२ बंगाब्द) में प्रकाशित हुआ। यद्यपि यह ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से अपूर्ण ही था, अनेक घटनाओं के पौर्वापर्य को लेकर स्वयं लेखक को सन्देह था तथा लेखक स्वयं भी अपने इस कार्य से पूर्णतया सन्तुष्ट नहीं था, तथापि ग्रन्थकार ने दयानन्दचरित की जो विस्तृत 'अवतरणिका' लिखी है, वह साहित्य की एक अमूल्य निधि समझी जाएगी। दयानन्द के आविर्भाव के पूर्व की एतद्देशीय परिस्थितियों का विश्लेषणात्मक मूल्यांकन इस विशद भूमिका की प्रमुख विशेषता है। मुखोपाध्याय महाशय ने भारतवर्ष के पुराकालीन धर्मान्दोलनों की सूक्ष्म मीमांसा करने के पश्चात् स्वामी दयानन्द के पूर्ववर्ती राजा राममोहन राय तथा उनके द्वारा प्रवर्तित ब्रह्मसमाज के धर्मविषयक दृष्टिकोण को भी विश्लेषित किया है तथा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वस्तुतः राममोहन राय ने जो कार्य नहीं किया या नहीं कर सके, उसी को करने के लिए दयानन्द का आविर्भाव हुआ था।

इस ग्रन्थ के प्रकाशित होने के पश्चात् देवेन्द्र बाबू ने नये सिरे से स्वामीजी के जीवन-सम्बन्धी उपादानों का संग्रह करने का प्रयत्न किया। वे विविध स्थानों पर जाकर

स्वामी दयानन्द के समकालीन तथा उनके सम्पर्क में आये पुरुषों से मिले। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वामीजी के सम्बन्ध में प्रकाशित सम्पूर्ण सामग्री का अवलोकन किया। इसके अन्तर्गत उन्हें उर्दू, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला तथा अंग्रेजी की विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं, पुस्तकों तथा अन्य प्रकार के विवरणों को देखना पड़ा, जिनमें प्रसंगोपात्त दयानन्द का उल्लेख या चर्चा हुई थी। मुखोपाध्यायजी के परिश्रम और अध्यवसाय का अनुमान तो इसी बात से लगाया जा सकता है कि उन्होंने अपने जीवन के बहुमूल्य १५ वर्ष दयानन्द की जीवनी के उपादानों का संग्रह करने में ही लगाये। इस कार्य में जो धनराशि व्यय हुई, वह तो अलग बात है। उन्हें इसी बात का खेद रहा कि उनके एतद्-विषयक प्रयत्नों में आर्यसमाजों का कोई विशेष योगदान नहीं रहा। देवेन्द्र बाबू धनाढ्य व्यक्ति नहीं थे। स्वलिखित पुस्तकों की बिक्री से जो आय होती, वही उनकी जीविका का मुख्य स्रोत थी। तथापि दयानन्दचरित-विषयक तथ्यों का संग्रह करने में उन्होंने जो लगन, पुरुषार्थ तथा परिश्रम किया, वह सर्वथा स्तुत्य है। यही कारण है कि वे चरितनायक-विषयक उस समय तक अज्ञात, अल्पज्ञात अथवा अन्यथाज्ञात तथ्यों की सही जानकारी प्राप्त करने में सफल हुए।

देवेन्द्रनाथ ने स्वामी दयानन्द के सम्बन्ध में जिन विशिष्ट तथ्यों का उद्घाटन किया, उनमें उनके पिता के नाम की सही जानकारी तथा जन्मस्थान का निर्णय महत्त्वपूर्ण हैं। पण्डित लेखराम ने इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए मोरवी नगर को उनका जन्मस्थान तथा उनके पिता का नाम अम्बाशंकर ठहराया था। परन्तु एकाधिक बार काठियावाड़ का भ्रमण करने तथा सम्बन्धित अनेक व्यक्तियों से मिलने के पश्चात् देवेन्द्रनाथ को यह निश्चय हो गया कि मोरवी राज्य के अन्तर्गत 'टंकारा' ग्राम ही दयानन्द की जन्मभूमि है तथा उनके पिता थे करसन जी लालजी तिवारी (त्रिवेदी)। इस प्रकार जीवनचरित-लेखन के उपयोग में आने वाली सम्पूर्ण सामग्री को एकत्रित कर, वे बनारस में लेखनकार्य आरम्भ करने लगे। वे अभी भूमिका तथा चार अध्याय ही लिख पाये थे कि १० जनवरी १९१७ को उनका बनारस में ही निधन हो गया।

यह एक दैवदुर्विपाक ही था कि दयानन्द के जीवन को समग्र रूप से लिखने में न तो पण्डित लेखराम को ही सफलता मिली और न देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ही इसमें कृतकार्य हो सके। देवेन्द्रनाथ के दिवंगत हो जाने पर आर्यसमाज के एक अन्य संन्यासी स्वामी सत्यानन्दजी ने जीवनी-लेखन का कार्य अपने हाथों में लिया। उन्होंने भी निरन्तर पाँच वर्षों तक विभिन्न स्थानों पर भ्रमण कर स्वामीजी से सम्बन्धित अनेक बातों का पता लगाया। काशी में देवेन्द्रनाथ द्वारा संग्रह की गयी सामग्री को भी देखा, तत्पश्चात् वे जीवनचरित-लेखन में प्रवृत्त हुए और उनके द्वारा लिखित स्वामीजी का यह जीवन-वृत्तान्त 'श्रीमद्दयानन्दप्रकाश' के नाम से १९७५ वि० में प्रकाशित हुआ। 'दयानन्दप्रकाश' को लिखने में लेखक का कुछ भिन्न ही अभिप्राय था। वे इसे एक ऐतिहासिक कृति न बनाकर चरितनायक के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति के भाव उत्पन्न करने वाली गद्यकाव्यात्मक कृति का रूप देना चाहते थे। फलतः इस ग्रन्थ में जैसी भाषा और शैली प्रयुक्त हुई है, उसके कारण यह जीवनचरित एक उच्च कोटि का गद्यकाव्य बन गया है। लेखक की अपने कथानायक के प्रति जैसी अविचल श्रद्धा और भक्ति थी, उसके अनुसार यह स्वाभाविक ही था। भाषा-सौन्दर्य, शैली-लालित्य तथा अभिव्यंजना-कौशल की दृष्टि से

'श्रीमद्दयानन्दप्रकाश' दयानन्द के चरित-वाङ्मय में ही नहीं अपितु हिन्दी साहित्य में भी अपना वैशिष्ट्य रखता है।

मेरठनिवासी पण्डित घासीराम का देवेन्द्र बाबू से परिचय १९१० ई० अथवा उससे पूर्व ही हो चुका था। भास्कर प्रेस मेरठ के स्वामी रघुवीरशरण दुबलिश के अनुरोध पर वे मुखोपाध्यायजी के १८९६ ई० में प्रकाशित बंगला 'दयानन्दचरित' का अनुवाद कर उसे प्रकाशित भी करा चुके थे। परन्तु जब देवेन्द्रनाथ अपनी साधना को अधूरा छोड़कर परलोकवासी हुए तो घासीराम जी ने काशी के तत्कालीन डिप्टी कलेक्टर श्री ज्वालाप्रसाद एम० ए० के सहयोग से उस सामग्री को स्वायत्त कर लिया, जो मुखोपाध्याय महाशय द्वारा संग्रह की गयी थी। पण्डित घासीराम के शब्दों में यह सामग्री विचित्र दशा में थी—"सैकड़ों छोटे कागज के टुकड़ों, नोटबुकों, पोस्टकार्डों, पत्रों, समाचारपत्रों की कतरनों के रूप में थी, जो कहीं पेंसिल से और कहीं स्याही से, बंगाली अथवा अंग्रेजी अक्षरों में लिखी हुई थी।" उस सामग्री को व्यवस्थित कर घासीरामजी ने पढ़ा तथा उसका पूरा-पूरा उपयोग करते हुए देवेन्द्रनाथ के द्वारा लिखे गये अध्यायों के आगे के कथा-सूत्र को व्यवस्थित रूप में ग्रन्थाकार निबद्ध किया। उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना करते समय पण्डित लेखराम तथा स्वामी सत्यानन्दलिखित जीवनचरितों का भी उपयोग किया। इस प्रकार मुखोपाध्यायजी द्वारा संकलित सामग्री के आधार पर (जिसमें भूमिका तथा चार अध्याय तो स्वयं देवेन्द्रनाथ की लेखनी से ही लिखे गए हैं) महर्षि दयानन्द सरस्वती का जो जीवनचरित पण्डित घासीराम ने लिखा वह १९९० वि० में आर्य साहित्य मण्डल अजमेर द्वारा प्रथम बार दो भागों में प्रकाशित हुआ। स्वयं लेखक के ही अनुसार 'यह पुस्तक एक प्रकार से उक्त दोनों ग्रन्थों (पण्डित लेखराम तथा स्वामी सत्यानन्दरचित जीवनचरित) और देवेन्द्र बाबू की संगृहीत सामग्री का सारसंग्रह मात्र है। उसमें मेरा कुछ नहीं है।" जो हो, आज पचास वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी पण्डित घासीराम द्वारा लिखित अथवा सम्पादित इस जीवनचरित से भिन्न अन्य कोई ऐसी पुस्तक नहीं है, जिसे स्वामी दयानन्द के विशद एवं प्रामाणिक जीवन की संज्ञा दी जा सके। खेद है कि आज यह ग्रन्थ पाठक को अनुपलब्ध है।

कहने के लिए तो विगत अर्द्ध शताब्दी में स्वामी दयानन्द के अनेक जीवनचरित विभिन्न भाषाओं में लिखे गये हैं, परन्तु उनमें कुछ भी मौलिकता या नूतन गवेषणा दिखाई नहीं पड़ती। अंग्रेजी भाषा में हरविलास सारडा ने एक विशद जीवनचरित लिखा, जिसमें तथ्यों का वस्तुनिष्ठ चित्रण तो था ही, विश्लेषण तथा विवेचन भी प्रचुर मात्रा में था। इस दृष्टि से यह जीवनी उन पाठकों के लिए उपयोगी सिद्ध हुई जो अंग्रेजी माध्यम से स्वामी दयानन्द के जीवन तथा कृतित्व से परिचित होना चाहते थे।

जीवनी-लेखन का कार्य पर्याप्त कठिन होता है। जीवनी-लेखक से मात्र यही अपेक्षा नहीं की जाती कि वह अपने चरितनायक से सम्बन्धित घटनाओं का स्थूल चित्रण करके ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री मान ले। जहाँ वह कथानायक के सम्पूर्ण जीवन में घटित घटनाओं और क्रिया-व्यापारों का विस्तृत और ब्यौरेवार लेखाजोखा उपस्थित करता है, वहाँ उसे यह भी बताना होता है कि इन घटनाओं और कर्मसंकुल जीवनचर्या के पीछे कौन-सी परिस्थितियाँ सक्रिय थीं। नायक का चरित्र-विश्लेषण कर उसके जीवन के महत्त्वपूर्ण एवं उदात्त तत्त्वों को उभारकर प्रस्तुत करना भी आवश्यक होता है। इस

प्रकार जीवनचरित के माध्यम से नायक की जो प्रभविष्णु तथा महनीय छवि उभरकर आती है, उसे ही इस कृति की फलश्रुति समझना चाहिए। डा० सेमुअल जॉनसन का अधिकृत जीवनचरित लिखने वाले डाक्टर वासवेल ने इन्हीं मापदण्डों को अपनाकर उक्त जीवनी लिखी थी। जीवनचरित की उपर्युक्त कसौटी पर दयानन्द सरस्वती के अद्यावधि उपलब्ध चरितग्रन्थों में एक-आध को छोड़कर शायद ही कोई खरा उतरे। पण्डित इंद्र विद्यावाचस्पति लिखित जीवनचरित में चरितनायक के व्यक्तित्व-विश्लेषण का सार्थक प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है जब कि अंग्रेजी भाषा में लिखित डॉक्टर जे० टी० एफ० जॉर्डन्स की कृति 'दयानन्द सरस्वती : लाइफ एण्ड आइडियाज' में घटनाओं के प्रस्तुतीकरण पर अधिक जोर न देकर नायक के व्यक्तित्व और विचारों में पायी जाने वाली सतत गतिशीलता को उभारा गया है।

यह बात नहीं कि देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के पश्चात् दयानन्द सरस्वती के जीवन-विषयक तथ्यों एवं उपादानों के अन्वेषण का कार्य सर्वथा रुका ही रहा। विभिन्न व्यक्तियों ने एतद्विषयक प्रयत्न किये तथा दयानन्द के जीवन-विषयक अनेक आयामों को उद्घाटित करने की चेष्टा भी की। फलतः प्रभूत मात्रा में ऐसा साहित्य लिखा गया, जो भावी जीवनीकार के लिए अतीव उपयोगी सिद्ध हो सकता था। यह दूसरी बात है कि इस समस्त सामग्री का समग्रतः उपयोग किसी लेखक द्वारा अभी तक नहीं किया गया। इन पंक्तियों के लेखक को इस बात का सन्तोष है कि विगत पचास वर्षों में किये गये अन्यान्य अन्वेषणों तथा उपलब्ध सामग्री को उसने सतर्क दृष्टि से देखा तथा उसके आधार पर उसने दयानन्द की एक बृहद् जीवनी लिखी। यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ 'नवजागरण के पुरोधा दयानन्द सरस्वती' शीर्षक से दयानन्द निर्वाण शताब्दी के अवसर पर परोपकारिणी सभा अजमेर द्वारा २०४० वि० में प्रकाशित किया गया।

इस ग्रन्थ में जहाँ पण्डित लेखराम तथा पण्डित देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय द्वारा अन्वेषित सभी जीवन-घटनाओं का प्रामाणिक उल्लेख हुआ है, वहाँ अनेक ऐसे नवीन प्रसंगों, घटनाओं तथा सन्दर्भों का भी समावेश किया गया है, जो अब तक प्रकाश में नहीं आये थे।

(२) दयानन्द के जीवनचरित के उपादान

यहाँ संक्षेप में उस गवेषणा-कार्य का उल्लेख कर देना भी आवश्यक है जिसे 'दयानन्द के जीवनचरित के उपादान' की संज्ञा देना उपयुक्त होगा। सर्वप्रथम डी० ए० वी० कालेज लाहौर के शोधविभाग के अधिष्ठाता स्वर्गीय पण्डित भगवद्दत्त ने स्वामीजी के पत्रों और विज्ञापनों का संग्रह कर उसे सम्पादित एवं प्रकाशित किया। इसमें उन्हें एक ऐसे व्यक्ति से सहायता मिली, जो यद्यपि प्रचलित अर्थ में न तो इतिहासकार था और न लेखक या साहित्यकार, परन्तु स्वामी दयानन्द-विषयक विविध सामग्री का संग्रह करने में उसकी सर्वाधिक रुचि थी। मुजफ्फरनगर जिले के खतौली नगर के निवासी श्री मामराजसिंह एक ऐसे ही दीवाने पुरुष थे, जिन्होंने स्वामी दयानन्द के पत्रों, चित्रों, विज्ञापनों तथा उनसे सम्बद्ध सामग्री का संग्रह करने में अपने जीवन का पर्याप्त भाग लगाया। यद्यपि पत्र-व्यवहार को संगृहीत करने का काम महात्मा मुंशीराम ने ही प्रारम्भ कर दिया था और १९१० ई० में उन्होंने ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार भाग-१

प्रकाशित भी किया था जिसमें स्वामीजी के नाम लिखे गये विभिन्न व्यक्तियों के पत्रों का संग्रह प्रथम किस्त के रूप में संगृहीत किया गया था। पण्डित भगवद्दत्त द्वारा वे पत्र संगृहीत किये गये जिन्हें स्वामीजी ने अन्यों को लिखा था। इस प्रकार उनके द्वारा सम्पादित 'ऋषि दयानन्द सरस्वती के पत्र और विज्ञापन' महात्मा मुंशीराम द्वारा प्रकाशित किये गये 'पत्र-व्यवहार' का पूरक अंश ही कहा जाएगा। जीवनी-लेखन में पत्र-व्यवहार कितना उपयोगी होता है; यह कहने की आवश्यकता नहीं है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने इस पत्र-व्यवहार-संग्रह के लिए उपयोगी परिशिष्ट लिखकर तथा पत्र-व्यवहार के अनेक उपयोगी अंशों—यथा, तिथिसंकेतों आदि को पण्डित घासीराम लिखित जीवनचरित की पाद-टिप्पणियों में यथास्थान निर्दिष्ट कर महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। हाल ही में मीमांसक जी ने चार खण्डों में पण्डित भगवद्दत्त द्वारा सम्पादित पत्र और विज्ञापन ग्रन्थ को पुन: संशोधित एवं परिवर्धित रूप में प्रकाशित किया है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के स्वर्गीय प्रोफेसर पण्डित महेशप्रसाद मौलवी का भी एतद्विषयक योगदान उल्लेखनीय है। उन्होंने 'महर्षि दयानन्द कहाँ और कब ?', 'दयानंद के काल में रेलमार्ग' तथा 'महर्षि जीवन दर्शक' आदि कतिपय शोधपूर्ण पुस्तकें लिखीं, जिनकी महत्ता निर्विवाद है। मौलवीजी सम्भवत: इस आशा में थे कि उनके द्वारा अन्वेषित और प्रस्तुत इस सामग्री का उपयोग किसी लेखक द्वारा किया जाएगा और स्वामी दयानन्द की एक विशद तथा सर्वांगीण जीवनी शीघ्र ही अस्तित्व में आ जाएगी। खेद है कि उनके जीवनकाल में ऐसा कार्य नहीं हुआ। राजकोटनिवासी श्री कृष्ण शर्मा ने दयानन्द के जन्मस्थान, बाल्यकाल तथा जन्मतिथि-विषयक कतिपय महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर गवेषणात्मक सामग्री प्रस्तुत की है। पण्डित भीमसेन शास्त्री (कोटा निवासी) ने एक ओर दयानन्द की जन्मतिथि का निर्धारण करने में घटनाओं के पौर्वापर्य तथा उल्लेखों का तार्किक समीक्षण किया, तो साथ ही स्वामीजी के विद्यागुरु दण्डी विरजानन्द के जीवन-सम्बन्धी अनेक नवीन तथ्यों का पता लगाकर दयानन्द के अध्ययनकाल की परिस्थितियों को उजागर किया। हाल ही में जामनगर के प्रोफेसर दयाल आर्य ने स्वामी दयानन्द के प्रारम्भिक जीवन के सम्बन्ध में एक शोधपूर्ण लेखमाला लिखी है।

दयानन्द के जीवन-विषयक उपादानों को एक अन्य दृष्टि से भी प्रस्तुत किया गया। परिव्राजक होने के कारण स्वामी दयानन्द ने अपने जीवन का अधिकांश भाग देश-भ्रमण तथा नाना स्थानों के पर्यटन में लगाया था। प्रारम्भ में वे एक ही स्थान पर पर्याप्त लम्बे समय तक भी रहते रहे, परन्तु जब वे सर्वात्मना सार्वजनिक जीवन व्यतीत करने लगे तथा आर्यसमाज के संस्थापक, प्रमुख धर्म-संशोधक तथा विख्यात समाज-सुधारक के रूप में उनकी पहचान होने लगी तो उनके कार्यक्रम भी पूर्व-प्राप्त सूचनाओं के आधार पर निर्धारित होने लगे। साथ ही, एक ही स्थान पर अधिक काल तक रहना भी उनके लिए सम्भव नहीं रहा। अनेक ग्रन्थ ऐसे भी लिखे गये जिनमें स्वामी दयानन्द के स्थान-विशेष पर निवास तथा वहाँ किये गये कार्यों का विस्तृत विवरण उपलब्ध कराया गया है। जीवनी-लेखकों के लिए ऐसे ग्रन्थों की उपयोगिता निर्विवाद है।

सर्वप्रथम पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा ने फर्रुखाबाद का इतिहास इसी दृष्टि से लिखा। यों तो लेखक ने इस ग्रन्थ में सम्पूर्ण फर्रुखाबाद जिले का इतिहास कालक्रमानुसार प्रस्तुत किया है, साथ ही इस प्रदेश के भौगोलिक पर्यावरण का भी विस्तृत उल्लेख

किया है, परन्तु ग्रन्थलेखन में लेखक की प्रमुख दृष्टि इस नगर में स्वामी दयानन्द के अनेक बार आने तथा यहाँ रहकर किये गये उपदेश, शास्त्रार्थ आदि का विस्तृत विवरण उपस्थित करने पर ही रही है। सभी जीवनीकारों ने इस ग्रन्थ की उपयोगिता देखते हुए इससे लाभ उठाया है। ऐसे ही ग्रन्थों की शृंखला में जो अन्य ग्रन्थ समय-समय पर लिखे गये, उनमें स्वामी दयानन्द के उत्तराखण्ड-भ्रमण, मथुरा, कर्णवास, मेरठ, अमृतसर, दानापुर, बिहार, कलकत्ता, गुजरात, अजमेर आदि नगरों व प्रान्तों में उनकी अवस्थिति तथा कार्यों पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला गया है।

स्वामी दयानन्द के जीवनचरितों का उल्लेख करने के प्रसंग में हमारा ध्यान कतिपय उन निन्दात्मक पुस्तकों की ओर भी जाता है जो स्वामीजी के वैयक्तिक विरोधियों द्वारा लिखी गई थीं। यद्यपि ऐसी रचनाओं का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, परन्तु इनसे यह तो सिद्ध होता ही है कि संसार में ऐसे पुरुषों की भी कमी नहीं है जो अकारण या सकारण किसी महापुरुष को तिरस्कृत तथा अपमानित करने में ही सन्तोष का अनुभव करते हैं। स्वामी दयानन्द के लाहौर-प्रवास के समय भाई जवाहरसिंह कपूर उनके सम्पर्क में आये थे। ये कालान्तर में आर्यसमाज के मन्त्री भी बने, किन्तु कुछ वर्ष पश्चात् कतिपय कारणों से इनका सम्बन्ध आर्यसमाज से समाप्त हो गया। १८८६ ई० में भाई जवाहरसिंह ने 'पं० दयानन्द सरस्वती साहब की स्वानेह उमरी मय नोट्स भाग १' लिखकर प्रकाशित की। फर्रुखनगर (जिला गुड़गाँव) निवासी जैनी जियालाल का 'दयानंद चरितदर्पण' यूनियन प्रिंटिंग प्रेस, अहमदाबाद से १८९४ में प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ में लेखक ने स्वामी दयानन्द के वंश, माता-पिता और उनके शैशवकाल के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तिपूर्ण बातों का उल्लेख किया था, किन्तु कालान्तर में जब पण्डित लेखराम एवं देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के अन्वेषणों से स्वामीजी के वंश, परिवार, जाति तथा पिता के नाम आदि का समुचित निर्धारण हो गया तो पण्डित जियालाल द्वारा प्रस्तुत मत स्वतः ही खण्डित हो गया। मुरादाबादनिवासी मुंशी इन्द्रमणि के शिष्य जगन्नाथदास ने भी स्वामी दयानन्द के प्रति पूर्वाग्रह एवं द्वेषपूर्ण दृष्टि रखकर ही उनके आत्मकथन की समालोचना की थी। इसी प्रकार देवसमाज तथा तबलीग सोसाइटी के द्वारा भी कुछ ऐसी पुस्तकें प्रकाशित हुई जिन्हें दयानन्द-विषयक निन्दात्मक साहित्य में स्थान मिला है।

इधर कुछ ऐसे प्रयास भी हुए जिनमें स्वामी दयानन्द के १८५७ ई० की क्रान्ति में उनके तथाकथित योगदान, विद्रोह के नेताओं से उनके सम्पर्क तथा उस युग में स्वामीजी की गतिविधियों आदि के सम्बन्ध में प्रकाश डाला गया है। कलकत्ता के स्वर्गीय दीनबन्धु वेदशास्त्री द्वारा वह सामग्री संगृहित की गई, जो कालान्तर में 'योगी का आत्म-चरित' अथवा 'स्वामी दयानन्द की अज्ञात जीवनी' शीर्षक से पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई थी। इसमें वेदशास्त्रीजी ने स्वामीजी के जीवन की उस अवधि की विविध घटनाओं का समायोजन किया है, जिसके सम्बन्ध में अभी तक जीवनचरित-लेखकों को जानकारी नहीं थी।

परन्तु 'अज्ञात जीवनी' की प्रामाणिकता को सब विद्वान् स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं हुए। ऐसे कतिपय विद्वानों का यह मत है कि 'अज्ञात जीवनी' शीर्षक से संगृहीत यह सम्पूर्ण सामग्री स्वामी दयानन्द की जीवन-घटनाओं से पूर्वापर विरुद्ध, नाना प्रकार के वदतोव्याघात आदि दोषों से दूषित, इतिहास के प्रामाणिक तथ्यों से सर्वथा

प्रतिकूल एवं नितान्त कल्पनामूलक ही है। इस मत की पुष्टि में अनेक लेख लिखे गये, और इसकी अप्रामाणिकता को सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया।

श्री दीनबन्धु शास्त्री का यह कथन था कि कलकत्ता-निवास के समय स्वामी जी ने अपनी जीवनी के सम्बन्ध में कुछ परिचय दिया था, जिसे उसी समय कतिपय वंग-देशीय विद्वानों ने अपनी भाषा में लेखबद्ध कर लिया। चिरकाल तक इन हस्तलेखों की ओर किसी का ध्यान नहीं गया। श्री शास्त्री जी ने इन्हें प्राप्त कर प्रकाशित किया, और इन द्वारा स्वामीजी के जीवन की कतिपय ऐसी महत्त्वपूर्ण घटनाओं पर प्रकाश पड़ा, जो अब तक पूर्णतया अज्ञात थीं। पर अनेक विद्वान् इन हस्तलेखों की प्रामाणिकता को स्वीकार करने के लिए उद्यत नहीं हुए, और इन्हें 'जाली' तथा 'षड्यन्त्र का परिणाम' जैसी संज्ञाएँ भी प्रदान कीं। दूसरी ओर ऐसे भी अनेक विद्वान् हैं, जो इन हस्तलेखों की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं, और अपने पक्ष की तर्क द्वारा पुष्टि भी करते हैं। श्री दीनबन्धु वेदशास्त्री द्वारा प्रस्तुत इस उपादान-सामग्री के सम्बन्ध में इस 'इतिहास' के प्रथम भाग में भी विवेचन किया जा चुका है, अतः यहाँ अधिक लिखने की आवश्यकता नहीं।

(३) स्वामी दयानन्द के बालोपयोगी जीवनचरित तथा चित्रकथाएँ

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने स्वामी दयानन्द के जीवनी-लेखन के प्रयासों, कुछ प्रमुख जीवनचरितों तथा जीवनीलेखन के उपादानों की चर्चा की है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि महापुरुषों के जीवनचरित विभिन्न वर्गों के लोगों की समझने की क्षमता तथा उनके बौद्धिक स्तर को ध्यान में रखकर भी लिखे जाते हैं। इस दृष्टि से स्वामी दयानन्द के बालोपयोगी जीवनचरितों का उल्लेख भी आवश्यक है। स्वामीजी के जीवन की प्रमुख घटनाओं को सरल, बालोपयोगी शैली में लिखने के अनेक प्रयास हुए हैं। पण्डित चमूपति तथा पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने 'हमारे स्वामी' शीर्षक लघु जीवनचरित लिखे। प्रोफ़ेसर सुधाकर लिखित बाल-दयानन्द-चरित तथा पण्डित त्रिलोकचन्द्र विशारद कृत 'ऋषि दयानन्द' भी इसी कोटि की रचनाएँ हैं।

स्वामीजी की जीवन-घटनाओं को चित्रों के माध्यम से प्रस्तुत करने का भी प्रयास किया गया है। सर्वप्रथम दयानन्द जन्मशताब्दी के अवसर पर गोविन्दराम हासानन्द, कलकत्ता ने श्रीमद्दयानन्दचित्रावली का प्रकाशन किया। इसमें स्वामी दयानन्द के जीवन की प्रमुख घटनाओं को सचित्र प्रकाशित किया गया था। कालान्तर में दयानन्द संस्थान से दयानन्दचित्रकथा तथा ऋषि दयानन्द-चित्र-दर्शन का प्रकाशन हुआ। सार्वदेशिक सभा ने १९७६ ई० में 'दयानन्द-दिव्य-दर्शन' प्रकाशित किया। पर्याप्त श्रम तथा धन-व्यय से तैयार किये गये इस ग्रन्थ में तथ्य-विषयक अनेक भूलें रह गई हैं जो सम्पादन-कार्य में प्रमाद की सूचक हैं। बम्बई से प्रकाशित लोकप्रिय अमरचित्रकथामाला के अन्तर्गत भी स्वामी दयानन्द के जीवन को हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं में सचित्र प्रकाशित किया जा चुका है।

स्वामी दयानन्द-विषयक संस्मरणात्मक ग्रन्थ—स्वामी दयानन्द का जीवन जितना घटना-संकुल रहा, उतना ही प्रेरणाप्रद तथा उद्बोधक भी था। अनेक लेखकों ने स्वामीजी के जीवन की विभिन्न रोचक, प्रेरणादायी तथा बोधप्रद घटनाओं एवं संस्मरणों का पुस्तकाकार लेखन व सम्पादन किया है। ऐसे ग्रन्थों में श्री खुशहालचन्द

'खुर्सन्द' लिखित 'प्यारा ऋषि', वेदानन्द तीर्थ कृत 'ऋषिबोध कथा', श्री बाबूराम गुप्त रचित 'अमृतवाणी' तथा पण्डित राजेन्द्र लिखित 'ऋषि दयानन्द के पुण्य संस्मरण' आदि उल्लेखनीय हैं। सभी वर्गों के पाठकों ने इन विभिन्न ग्रन्थों से पर्याप्त लाभ उठाया है।

विभिन्न भारतीय एवं विदेशी भाषाओं में लिखे गये जीवनचरित—भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी में स्वामी दयानन्द के जो जीवनचरित लिखे गये, वे अन्य भाषाओं में लिखी गई जीवनियों से संख्या में अधिक ही हैं। तथापि देश के विभिन्न भाषा-भाषी समुदाय तथा अन्य देशस्थ पाठकों के उपयोग की दृष्टि से भी अनेक जीवनचरित हिन्दी से भिन्न भाषाओं में लिखे गये हैं। यहाँ उनका संक्षिप्त उल्लेख किया जा रहा है—

बंगला—हम पूर्व अवतरणों में नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय तथा देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय के बंगला जीवनचरितों का उल्लेख कर चुके हैं। बंगला में एक उल्लेखनीय जीवनी पण्डित शंकरनाथ ने लिखी थी जो ऋषीन्द्रजीवन शीर्षक से दो भागों में प्रकाशित हुई।

उड़िया—उत्कल प्रदेश की भाषा उड़िया में श्री यज्ञप्रकाश दास तथा श्री अखिलेश आचार्य लिखित स्वामी दयानन्द के दो जीवनचरित प्रकाशित हुए हैं।

मराठी—मराठी में स्वर्गीय हरि सखाराम तुंगार ने 'महर्षि दयानन्द यांचे चरित्र व कामगिरि' शीर्षक एक सुन्दर विवेचनापूर्ण जीवनचरित लिखा था जो १९२० ई० में प्रकाशित हुआ। श्री सदाशिव कृष्ण फडके वकील नामक एक सनातनधर्मावलम्बी महानुभाव ने श्रीमद्दयानन्द शीर्षक मराठी ग्रन्थ में स्वामीजी के जीवन एवं कृतित्व का विश्लेषण किया है। इसे स्वयं लेखक ने ही १९२८ ई० में पनवेल(महाराष्ट्र)से प्रकाशित किया था। पण्डित सत्यवीर शास्त्री ने स्वामी दयानन्दाचें चरित्र शीर्षक एक अन्य मराठी जीवनी १९८२ ई० में लिखी।

गुजराती—गुजराती स्वामी दयानन्द की मातृभाषा थी। गुजराती में यों तो उनके छोटे-बड़े अनेक जीवनचरित लिखे गये हैं, किन्तु उल्लेखनीय ग्रन्थों में बालाभाई जमनादास वैश्य लिखित 'स्वामी दयानन्द सरस्वती नुं जीवनचरित' (१८९७ ई० में प्रकाशित) तथा श्री धनवन्त ओझा लिखित 'दयानन्द सरस्वती'(१९६२ ई० में प्रकाशित) के नाम गणनीय हैं।

सिन्धी तथा पंजाबी में भी कुछ ग्रन्थ छपे जिनमें स्वामी दयानन्द का जीवनचरित निबद्ध हुआ है। सिंधी में प्रोफेसर ताराचन्द गाजरा तथा श्री दीपचन्द त्रिलोकचंद ने संक्षिप्त जीवनियाँ लिखी हैं। पंजाबी के सिद्धहस्त लेखक स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी द्वारा लिखित जीवनी 'महर्षि दयानन्द दा जन्मचरित' 'आर्य ज्योति' (जालंधर) में धारावाही छपती रही, किन्तु, उसे ग्रन्थाकार प्रकाशित नहीं किया जा सका। दक्षिण भारतीय भाषाओं में भी स्वामीजी के जीवनचरित छपे हैं। तमिल में शुद्धानन्द भारती लिखित, तेलुगु में आर० सत्यनारायण प्रणीत, कन्नड़ में पण्डित सुधाकर चतुर्वेदी लिखित तथा मलयालम में पण्डित नारायणदत्त रचित जीवनचरित उल्लेखनीय हैं।

स्वामी दयानन्द के उर्दू जीवनचरित—पंजाब के आर्यसमाजियों में उर्दू का प्रचलन आरम्भ से ही रहा। इस प्रान्त के उर्दूभाषी पाठकों की रुचि को प्रधानता

देने के कारण आर्यसमाज के प्रारम्भकाल में उर्दू साहित्य का लेखन प्रमुखता प्राप्त करता रहा। उपर्युक्त विवेचन में हम यह भी देख चुके हैं कि पण्डित लेखराम ने स्वामी दयानन्द के जीवनचरित-लेखन का जो महत्त्वपूर्ण समारम्भ किया, वह उर्दू में ही था। बहुत वर्षों के पश्चात् आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट के संस्थापक स्वर्गीय श्री दीपचन्द आर्य ने श्री रघुनन्दनसिंह निर्मल से पण्डित लेखरामकृत उर्दू जीवनचरित का हिन्दी अनुवाद कराकर आर्यसमाज, नयाबाँस दिल्ली से प्रकाशित किया। इन पंक्तियों के लेखक ने इसे आद्योपान्त संशोधित कर अनेक महत्त्वपूर्ण टिप्पणियों, परिशिष्टों तथा भूमिका सहित इसका एक नवीन संस्करण तैयार किया है जो आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट दिल्ली से प्रकाशन की प्रतीक्षा में है।

उर्दू में लिखे गये स्वामीजी के लाला लाजपतराय तथा महता राधाकृष्ण रचित जीवनचरितों का उल्लेख हम कर चुके हैं। पण्डित लक्ष्मण आर्योपदेशक ने उर्दू में एक अन्य वृहद्काय जीवनचरित लिखा था। इसमें स्वामी दयानन्द के जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण, साथ ही नवीन तथ्यों का भी समावेश किया गया था। पण्डित नरेन्द्र लिखित 'दयानन्द आजम' शीर्षक उर्दू जीवनचरित का प्रकाशन १९५३ ई० में हुआ।

पण्डित कालीचरण शर्मा आर्यमुसाफिर ने फारसी भाषा में 'स्वानेह उमरी आरिफ कामिल दयानन्द सरस्वती' शीर्षक से एक जीवनचरित लिखा था।

स्वामी दयानन्द के अंग्रेजी जीवनचरित—हिन्दी की ही भाँति अंग्रेजी में भी स्वामी दयानन्द के जीवनचरित पर्याप्त संख्या में लिखे गये हैं। हम बावा अर्जुनसिंह तथा बावा छज्जूसिंह लिखित जीवनचरितों का उल्लेख कर चुके हैं। अन्य जीवनलेखकों में पण्डित शंकरनाथ, गोकुलचन्द नारंग, ताराचन्द गाजरा, सूरजभान, विश्वप्रकाश, दीवानचन्द, शिवनन्दनप्रसाद कुल्यार आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। ताराचन्द गाजरा लिखित स्वामीजी की जीवनी गुरुकुल काँगड़ी की मुखपत्रिका Vedic Magazine में धारावाही प्रकाशित होती रही, तत्पश्चात् १९१५ ई० में वह ग्रन्थाकार प्रकाशित हुई। श्री कुल्यार लिखित जीवनचरित के कई अंश भी गुरुकुल काँगड़ी की उक्त पत्रिका में प्रकाशित हुए। इसका ग्रन्थरूप में प्रकाशन १९३८ ई० में पटना से हुआ था। नेशनल बुक ट्रस्ट ने स्वामीजी का एक संक्षिप्त जीवनचरित प्रोफेसर बी०के० सिंह से लिखवाकर १९७० ई० में नेशनल बायोग्राफी सिरीज के अन्तर्गत प्रकाशित किया था। ट्रस्ट के नियमानुसार इसका अनुवाद भारत के संविधान में स्वीकृत सभी प्रमुख भाषाओं में हो चुका है।

मॉरिशस-निवासी श्री प्रह्लाद रामशरण ने १९८३ ई० में स्वामीजी का जीवनचरित फ्रेंच भाषा में लिखा। यह आर्यभवन पोर्ट लुई द्वारा प्रकाशित हुआ है। अफ्रीका की स्वाहिली भाषा में भी एक संक्षिप्त जीवनचरित लिखा गया जिसे Indo-African Literary Society Mombasa ने १९५३ ई० में प्रकाशित किया था।

(४) स्वामी दयानन्द के जीवनपरक काव्य

दयानन्द सरस्वती के उदात्त एवं घटना-संकुल जीवन ने विभिन्न भाषाओं के कवियों को काव्य-सर्जन करने की प्रेरणा दी है। आगे की पंक्तियों में हम देखेंगे कि संस्कृत, हिन्दी, उर्दू यहाँ तक कि अंग्रेजी भाषा में भी दयानन्द के महनीय चरित

को लक्ष्य कर विभिन्न छोटे-बड़े काव्य लिखे गये हैं। वस्तुतः महापुरुषों का तो चरित अपने-आप में काव्य ही होता है। उनके महिमामण्डित जीवन को काव्य का विषय बनाने का संकल्प ही कृतिकार में नूतन प्रेरणा, उत्साह तथा कारयित्री प्रतिभा का संचार कर देता है जैसा कि 'साकेत' महाकाव्य के रचयिता मैथिलीशरण गुप्त ने राम को लक्ष्य कर कहा था—

राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है।
कोई कवि बन जाय सहज संभाव्य है।

स्वामी दयानन्द के जीवनपरक संस्कृत महाकाव्य—संस्कृत के साहित्यशास्त्रियों ने महाकाव्यों के लक्षणों का विवरण देते हुए स्पष्ट लिखा है कि धीरोदात्तगुणयुक्त महापुरुष ही महाकाव्य का नायक बन सकता है। आर्यसमाज के अनेक रससिद्ध कवियों ने स्वामी दयानन्द के जीवन को आधार बनाकर महाकाव्यों का प्रणयन किया है।

पण्डित अखिलानन्द शर्मा अपूर्व काव्यप्रतिभा-सम्पन्न पुरुष थे जिन्होंने अपने जीवनकाल में अनेक उत्तम कोटि के काव्य लिखे। 'दयानन्द दिग्विजय' उनकी सर्वश्रेष्ठ कृति मानी जाती है। पण्डित अखिलानन्द का जन्म माघ शुक्ला तृतीया १९३७ वि० को उत्तरप्रदेश के बदायूं जिलान्तर्गत चन्दू नगला (चन्द्रनगर) नामक एक ग्राम में हुआ था। इनके पिता पण्डित टीकाराम शास्त्री की भेंट स्वामी दयानन्द से कर्णवास (जिला बुलन्दशहर) में हुई और वे स्वामीजी के दृढ़ अनुयायी बन गये। इनका प्रारम्भिक अध्ययन पण्डित जीवाराम के सान्निध्य में हुआ, जो पण्डित अखिलानन्द के ज्येष्ठ पितृव्य (ताऊ) थे। कुछ काल तक उन्हें स्वामी दयानन्द के सहाध्यायी पण्डित युगलकिशोर से पढ़ने का अवसर भी मिला था। शास्त्रग्रन्थों के अतिरिक्त उन्होंने काव्य एवं साहित्यशास्त्र का भी विशद अध्ययन किया तथा संस्कृत के अलंकारशास्त्र में पारंगामिता प्राप्त की। उनमें काव्यप्रतिभा का उदय तो बाल्यकाल में ही हो गया था, जो अवस्था के साथ प्रौढ़ होती गई। 'दयानन्द दिग्विजय' शीर्षक २१ सर्गात्मक महाकाव्य का प्रथम प्रकाशन १९१० ई० में इण्डियन प्रेस, प्रयाग से मुद्रित होकर हुआ। इस महाकाव्य की समस्त श्लोक-संख्या २३४८ है। 'दयानन्द दिग्विजय' में रचियता की कारयित्री प्रतिभा साकार हुई है। भाव, भाषा, रस, अलंकार, छन्दोयोजना—प्रत्येक दृष्टि से इस महाकाव्य को एक सफल कृति माना जा सकता है। श्री चतुरसेन गुप्त के प्रयत्न से २०२७ वि० में इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ था जिसकी विस्तृत भूमिका(लेखक तथा उसकी कृतियों के विस्तृत परिचय से युक्त) इन पंक्तियों के लेखक ने लिखी थी।

पण्डित दिलीपदत्त शर्मा रचित 'मुनिचरितामृतम्' महाकाव्य—गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर (हरिद्वार)के अध्यापक पण्डित दिलीपदत्त शर्मा प्रणीत 'मुनिचरितामृतम्' एक अपूर्ण महाकाव्य है जिसके पूर्वार्द्ध में स्वामी दयानन्द के मथुरा में रहकर अध्ययन करने तक की घटनाओं को काव्यबद्ध किया गया है। पण्डित दिलीपदत्त का जन्म बुलन्दशहर जिले के कृष्णपुर नामक ग्राम में हुआ था। ये वर्षों तक गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में संस्कृत का अध्यापन करते रहे। अध्यापनकार्य से निवृत्त होने पर अपने गाँव में कृषिकार्य में लग गये। २८ नवम्बर १९५२ ई० को इनका निधन हुआ। मुनचरितामृतम् (पूर्वार्द्ध) का प्रकाशन महाविद्यालयदर्शन प्रेस ज्वालापुर से १९७१ वि० में हुआ था। एकादश विन्दुओं (सर्गों) में समाप्त यह काव्य कवि की प्रौढ़ प्रतिभा का

परिचायक है। खेद है कि इसकी हिन्दी टीका नहीं लिखी गई और न इसका द्वितीय संस्करण ही प्रकाशित हो सका।

पण्डित मेधाव्रताचार्यकृत दयानन्द-दिग्विजय—महाकाव्योचित लक्षणों से परिपूर्ण 'दयानन्ददिग्विजय' शीर्षक महाकाव्य के लेखक पण्डित मेधाव्रत का जन्म महाराष्ट्र प्रदेशान्तर्गत नासिक जिले के येवला नामक ग्राम में एक मध्यवित्त गृहस्थ श्री जगजीवन के यहाँ ४ जनवरी १८९३ ई० को हुआ। इनकी माता का नाम श्रीमती सरस्वती देवी था। इनकी शिक्षा गुरुकुल वृन्दावन में हुई, जहाँ उन्होंने पण्डित तुलसीराम स्वामी, पण्डित देवदत्त तथा पण्डित हरिप्रसाद वैदिकमुनि जैसे विद्वानों के चरणों में बैठकर नाना शास्त्रों का अध्ययन किया।

काव्य-प्रतिभा का उदय इनमें छात्रावस्था में ही हो गया था। अस्वस्थ हो जाने के कारण गुरुकुल वृन्दावन में ये अपना अध्ययन पूरा नहीं कर पाये, किन्तु संस्कृत भाषा पर इनका असाधारण अधिकार हो चुका था। गुजराती की विभिन्न आर्य शिक्षण संस्थाओं में अध्यापन करने के पश्चात् ये आर्यकन्या महाविद्यालय बड़ौदा में आचार्यपद पर भी रहे। जीवन के अन्तिम वर्षों में ये कन्या गुरुकुल नरेला, गुरुकुल झज्जर तथा गुरुकुल चित्तौड़गढ़ में रहकर अध्यापन करते रहे। २१ नवम्बर १९६४ ई० को गुरुकुल चित्तौड़गढ़ में ही इनका निधन हुआ।

२७ सर्गों तथा २७०० श्लोकों में समाप्त 'दयानन्द दिग्विजय' महाकवि मेधाव्रत की सर्वोत्कृष्ट कृति है। इसका पूर्वार्द्ध १९९४ वि० में तथा उत्तरार्द्ध २००२ वि० में प्रकाशित हुआ था। पूर्वार्द्ध के अनुवादक पण्डित श्रुतबन्धु शास्त्री थे जो स्वयं संस्कृत के उत्कृष्ट विद्वान् हैं। उत्तरार्द्ध का हिन्दी अनुवाद कवि के अनुज श्री सत्यव्रत तीर्थ ने किया है। महाकवि मेधाव्रत के व्यक्तित्व एवं काव्य पर डॉ० सुशीला आर्या ने शोधप्रबन्ध लिखा है जिस पर उन्हें राजस्थान विश्वविद्यालय ने पी-एच० डी० की उपाधि प्रदान की है।

अन्य महाकाव्य—गुरुकुल वृन्दावन के स्नातक तथा प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री ने दयानंदोदय नामक एक महाकाव्य लिखा था जो ग्रंथाकार प्रकाशित नहीं हो सका। इसका "महर्षिदयानन्दस्य प्रादुर्भाववृत्तम्" शीर्षक ४४ श्लोकात्मक अंश पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय अभिनन्दन ग्रन्थ में प्रकाशित हुआ था। आर्यसमाज कलकत्ता के भूतपूर्व आचार्य पण्डित रमाकान्त शास्त्री ने २० सर्ग युक्त एक अन्य 'दयानन्दचरित' महाकाव्य का प्रणयन किया। यह कृति भी ग्रन्थाकार प्रकाशित नहीं हो सकी, किन्तु इसके प्रथम एवं तृतीय सर्ग 'आर्यसंसार' मासिक कलकत्ता में प्रकाशित हुए थे।

स्वामी दयानन्द विषयक अन्य संस्कृत काव्य—महाकाव्य से भिन्न संस्कृत काव्य की अन्य शैलियों (लहरी काव्य, शतक काव्य आदि) में भी स्वामी दयानन्द के जीवनवृत्त को निबद्ध करने वाले अनेक उत्कृष्ट काव्य लिखे जा चुके हैं। यहाँ इनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

दयानन्द लहरी—संस्कृत में पण्डितराज जगन्नाथ रचित 'गंगालहरी' एक श्रेष्ठ काव्यकृति मानी जाती है। शिखरिणी वृत्त में लिखित इस काव्य का माधुर्य सर्वविदित है। पण्डित अखिलानन्द शर्मा ने इसी शैली में 'दयानन्द-लहरी' की रचना की, जिसका प्रथम प्रकाशन १९६४ वि० में स्वामी प्रेस, मेरठ से हुआ। कवि ने स्वयं इस पर अपनी संस्कृत तथा हिन्दी टीकाएँ लिखी थीं। इसके दो अन्य संस्करण १९६४ ई० व १९७६ ई०

में निकले। पं० मेधाव्रत ने भी 'दयानन्दलहरी' शीर्षक काव्य का प्रणयन किया जिसका प्रथम प्रकाशन १९२५ ई० में दयानन्द जन्म शताब्दी समिति द्वारा किया गया। इस काव्य पर ब्रह्मचारी सत्यव्रत लिखित 'सुषमा' नाम्नी संस्कृत टीका तथा वेदानन्द वेद-वागीश लिखित 'ज्योतिष्मती' संस्कृत टीका उपलब्ध हैं।

श्रीमद्दयानन्दचरितामृतम्—उन्नाव जिले के रावतपुर ग्रामवासी पण्डित देवीदत्त शर्मा रचित ३४६ श्लोकों का यह काव्य १९९२ वि० में कवि के पुत्र पण्डित लक्ष्मीशंकर मिश्र की हिन्दी टीका सहित हैदराबाद से प्रकाशित हुआ था। जटिल सामासिक शैली में लिखित इस काव्य में स्वामी दयानन्द के जीवनवृत्त को कवि ने अत्यन्त सफलता के साथ प्रस्तुत किया है।

आर्योदय उत्तरार्द्ध—पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने संस्कृत में आर्योदय शीर्षक एक काव्य की रचना की थी। इस काव्य का उत्तरार्द्ध स्वामी दयानन्द के जीवनवृत्तान्त को उपस्थित करता है। सरल प्रासादिक शैली में लिखा गया यह काव्य संस्कृत की एक अनुपम कृति है। इसका प्रकाशन कला प्रेस प्रयाग से हुआ था।

महर्षि दयानन्दचरित—वल्लभदास भगवानजी गणात्रा नामक एक गुजराती सज्जन की यह कृति गद्य तथा पद्य मिश्रित शैली में लिखी गई है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में कवि ने स्वामी दयानन्द की प्रशस्ति में २० शार्दूलविक्रीड़ित छन्द लिखे हैं जो उसकी काव्य-शक्ति के परिचायक हैं। ग्रन्थ के अवशिष्ट भाग में स्वामी दयानन्द का संक्षिप्त जीवन संस्कृत गद्य में प्रस्तुत किया गया है। लेखक ने स्वयं इस ग्रन्थ की गुजराती टीका भी लिखी थी। इसका प्रकाशन १९८८ वि० में हुआ था।

पण्डित केवलानन्द शर्मा प्रणीत यतीन्द्रशतक—श्लोकों में समाप्त इस काव्य के रचयिता श्री केवलानन्द शर्मा का जीवन-परिचय अज्ञात ही है। ओजगुणयुक्त यह शतक-काव्य दुरूह शैली में लिखा गया है। स्वर्गीय श्री शंकरसिंह वेदालंकार ने इसका हिन्दी पद्यानुवाद किया था जो 'परोपकारी' मासिक में धारावाही रूप में छपा। श्री रामगोपाल आर्य (मऊनाथ भंजन उत्तरप्रदेश) ने इसे १९३८ ई० में प्रकाशित किया था।

कुमारी सन्तोष श्रीवास्तव रचित जगज्ज्योति—फतहपुर(उत्तरप्रदेश)निवासिनी कुमारी श्रीवास्तव की उपर्युक्त कृति स्वामी दयानन्द के जीवन को सरल संस्कृत काव्य के रूप में प्रस्तुत करती है। इसका प्रकाशन अवधविहारीलाल सर्राफ फतहपुर ने २०२८ वि० में किया था।

उपर्युक्त पंक्तियों में स्वामी दयानन्द के जीवनपरक संस्कृत काव्यों की चर्चा की गई है। संस्कृत गद्य में पण्डित विद्यानिधि शास्त्री ने 'दयानन्दर्षिचरितम्' शीर्षक जीवन-चरित लिखा है। प्रौढ़, प्राञ्जल तथा यत्र-तत्र दुरूहता लिये हुए इस ग्रन्थ का प्रकाशन हरयाणा साहित्य संस्थान ने २०३० वि० में किया था। श्रव्य काव्य से भिन्न दृश्यकाव्य (नाटक तथा रूपक के अन्तर्गत परिगणित अन्य विधायें) शैली में स्नातक सत्यव्रत लिखित 'महर्षिचरितामृतम्' पाँच अंकों में विभक्त एक नाटक है। वस्तु, नेता तथा रस—नाटक के तीनों तत्त्वों के निर्वाह की दृष्टि से इसे एक सफल नाट्य-रचना माना जाएगा। इसका प्रकाशन २०२१ वि० में बम्बई से हुआ। इसका हिन्दी टीका युक्त एक अन्य संस्करण भी प्रकाशित हो चुका है। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि संस्कृत के कवियों तथा गद्य एवं नाटक-लेखकों ने भी स्वामी दयानन्द के प्रेरणादायी जीवन को अपनी कृतियों का उपादान

बनाया है।

स्वामी दयानन्द के जीवनपरक हिन्दी काव्य—संस्कृत की ही भाँति हिन्दी कवियों ने भी आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द के जीवन एवं कृतित्व को अपने काव्य का विषय बनाया है। स्वामी दयानन्द के जीवन एवं व्यक्तित्व का काव्यात्मक वर्णन करने वाले आर्यसमाजी हिन्दी कवियों की संख्या बहुत अधिक है। हम यहाँ इनमें से कुछ कवियों तथा उनके काव्यों का ही विस्तृत परिचय देना उपयुक्त समझते हैं।

सर्वप्रथम हम उन प्रबन्ध काव्यों का विवेचन करेंगे जिनमें स्वामीजी का जीवन-वृत्त आद्यन्त प्रबन्ध शैली में वर्णित हुआ है।

कवि कुमार शेरसिंह वर्मा कृत धर्मदिवाकरोदय—कविवर शेरसिंह वर्मा कर्णवास (जिला बुलन्दशहर) के निवासी थे। स्वामी दयानन्द का कर्णवास में एकाधिक बार आगमन हुआ था तथा उन्होंने इस स्थान के निकटवर्ती ग्रामों के क्षत्रिय समुदाय को वैदिक धर्म की दीक्षा भी दी थी। स्वामीजी से दीक्षा ग्रहण करने वालों में शेरसिंह वर्मा भी थे। कालान्तर में उन्होंने स्वामी दयानन्द के जीवनचरित को आधार बनाकर धर्मदिवाकरोदय महाकाव्य लिखा। इस ग्रन्थ की समाप्ति १८८६ वि० में हुई तथा यह आर्य भास्कर प्रेस में मुद्रित हुआ। दोहा, चौपाई, सोरठा, रोला, आल्हा आदि छन्दों में लिखित यह काव्य द्वादश मयूखों में समाप्त हुआ है। ग्रन्थ के परिशिष्ट में वियोग-सन्ताप-चालीसा शीर्षक से चालीस कवित्तों को संग्रह किया गया है जो स्वामी दयानन्द के दिवंगत होने पर कवि ने श्रद्धांजलि रूप में लिखे थे। काव्य की भाषा खड़ी बोली तथा ब्रज का एक मिश्रित रूप है।

दयानन्द जीवन काव्य—इसके लेखक रामबुझारथलाल कायस्थ नामक एक सज्जन थे, जिन्होंने अपना नाम परिवर्तन कर हरिदत्त वर्मा रख लिया था। चौपाई-दोहा शैली में लिखे गये इस काव्य का प्रकाशन सरस्वती पुस्तकालय बम्बई से १९१३ ई० में हुआ था। इसकी भूमिका स्वामी मंगलानन्द पुरी ने लिखी थी। कविता साधारण कोटि की है।

दयानन्दचरितामृत—रामचरितमानस में प्रयुक्त दोहा-चौपाई-शैली में लिखा गया यह महाकाव्य लाहौर के कविराज जयगोपाल द्वारा प्रणीत है। महामहोपाध्याय पण्डित आर्यमुनि ने रामचरितमानस की शैली में ही दयानन्द महाकाव्य(दयानन्दचरित-मानस) इस महाकाव्य का प्रणयन आरम्भ किया था। इसका प्रथम खण्ड जन्म-काण्ड शीर्षक से १९८१ वि० में प्रकाशित हुआ था।

बोधरात्रि—श्री विज्ञानमार्तण्ड वात्स्यायन नामक एक बौद्ध भिक्षु ने 'बोधरात्रि' शीर्षक काव्य में स्वामी दयानन्द के जीवनवृत्त को प्रस्तुत किया था। पण्डित रामचन्द्र भारती लिखित टीकासहित यह ग्रन्थ सरस्वती प्रकाशन मन्दिर माण्डले (बर्मा) से १९३९ ई० में प्रथम बार छपा। कालान्तर में इसका एक संस्करण जनज्ञान प्रकाशन नई दिल्ली ने भी छापा।

दयानन्दचरितामृत—विद्यानन्द 'आनन्द' (कालान्तर में स्वामी विद्यानन्द विदेह नाम से प्रसिद्ध) ने दोहा-चौपाई-शैली में यह प्रबन्ध काव्य लिखा जो १९८४ वि० में रामस्वरूप स्वाधीन द्वारा अजमेर से प्रकाशित हुआ। इसका एक अन्य संस्करण वेद-संस्थान अजमेर ने प्रकाशित किया है।

दयानन्दायन(दयानन्द चरितामृत)—गुरुकुल काँगड़ी में किसी समय अध्यापन-

कार्य करने वाले ठाकुर गदाधरसिंह ने दोहा-चौपाई-शैली में इस काव्य का प्रणयन १९२७-१९२८ ई० की अवधि में किया। इसका प्रकाशन कवि के निधन के पश्चात् उसके अनुज डॉक्टर सूबाबहादुरसिंह ने लखनऊ से किया।

ऋषि गाथा महाकाव्य—श्री विमलचन्द्र विमलेश लिखित ऋषि गाथा महाकाव्य खड़ी बोली में लिखा गया है। पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध दो खण्डों में प्रकाशित इस काव्य में स्वामी दयानन्द के जीवन-प्रसंगों को भावस्फूर्त शैली में व्यक्त किया गया है।

दयानन्दप्रकाश (प्रथम खण्ड)—आर्यसमाज के रससिद्ध कवि, संगीतज्ञ तथा भजनोपदेशक पं० प्रकाशचन्द कविरत्न ने इस महाकाव्य का प्रणयन किया है। गुरु विरजानंद की पाठशाला में स्वामी दयानन्द के अध्ययन तक के जीवन-प्रसंगों को इस काव्य में चित्रित किया गया है। इसका प्रकाशन १९७२ ई० में हुआ। स्वामी दयानन्द के जीवनीपरक हिन्दी महाकाव्यों का आलोचनात्मक अध्ययन श्रीमती ज्योत्स्ना ने प्रस्तुत किया है।

लोककाव्य शैली में लिखित दयानन्द चरित—साहित्यशास्त्र में निर्दिष्ट शैली से भिन्न लोकप्रचलित काव्यशैलियों में रचित काव्य का भी अपना महत्त्व होता है। लोककाव्य जनसाधारण में सुगमता से प्रचार प्राप्त करता है तथा जनसामान्य के भावों के परिष्कार का कारण बनता है। आर्यसमाज का आन्दोलन भी लोक-जीवन को सदा से स्पर्श करता रहा है। अतः जनसाधारण तक आर्यसमाज के प्रवर्त्तक की जीवन-घटनाओं को पहुँचाने की दृष्टि से विविध लोक-शैलियों में भी काव्यरचना हुई है। हरयाणा प्रान्त के पण्डित बस्तीराम ने महर्षि जीवन कथा लिखी थी। इसमें सरल ग्रामीण तर्जों में तथा जनसाधारण की भाषा में स्वामीजी की जीवनगाथा वर्णित की गई है। गुरुकुल झज्जर ने इसे २०१६ वि० में प्रकाशित किया था।

पण्डित राधेश्याम कथावाचक प्रणीत रामायण-कथा अपने युग का एक अत्यन्त लोकप्रिय तथा व्यापकरूप में प्रचलित काव्य था। इसमें संगीत तत्त्व की प्रधानता तो थी ही, सरल शब्दावली का प्रयोग होने के कारण इसका जनसाधारण में अत्यधिक प्रचार हुआ। कथावाचक जी के ही अनुज पण्डित मदनमोहनलाल शर्मा ने राधेश्याम रामायण की ही तर्ज पर चार भागों में महर्षिचरित का लेखन किया है। श्री राधेश्याम पुस्तकालय बरेली से यह ग्रन्थ १९५१ ई० में प्रकाशित हुआ था। हरयाणा के एक अन्य लोककवि तथा लोकनाट्यकार यशवन्तसिंह वर्मा टोहानवी ने 'संगीत दयानन्द' की रचना की थी। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का परिचायक इसके संस्करणों की संख्या ही है।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने स्वामी दयानन्द के जीवनचरित को निबद्ध करने वाले उन काव्यों का उल्लेख किया है जो महाकाव्य या प्रबंध काव्य की सीमा में आते हैं। ऐसे काव्यों की संख्या तो और भी अधिक है जिनमें स्वामी दयानन्द के जीवन के एक या एकाधिक प्रसंगों का खण्ड-काव्य शैली में चित्रण किया गया है अथवा स्वामीजी के जीवन, व्यक्तित्व, उनकी गुणावली तथा उनके लोकोपकारी कार्यों का प्रशस्तिपाठ किया गया है। स्वामी दयानन्द के जीवन में घटित शिवरात्रि-प्रसंग तथा मूषक द्वारा शिव-प्रतिमा के अनादर की घटना को अनेक कवियों ने स्वकाव्य का विषय बनाया है। मेरठ के श्री हरिशरण श्रीवास्तव 'मराल' ने 'शिवबोध' किंवा 'ऋषि दयानन्द के ज्ञानोन्मेष' का काव्यमय वर्णन अनेक ललित पद्यों में किया है। दयानन्द जन्म शताब्दी समिति मथुरा द्वारा यह ग्रन्थ १९८१ वि० में प्रकाशित किया गया था। हिन्दी के विख्यात कवि पण्डित हरिशंकर शर्मा

रचित "मूलशंकर का शंकर विवेक" भी इसी शिवरात्रि-प्रसंग को काव्य-शैली में प्रस्तुत करता है।

दयानन्द के गुणों एवं कार्यों की प्रशंसा में लिखे गये स्फुट काव्यों की संख्या बहुत अधिक है। स्वामी दयानन्द के समकालीन लखनऊ-निवासी पण्डित बलभद्र मिश्र ने "देशोपकारक स्वामी दयानन्द का पद्यमय संक्षिप्त जीवन चरित" लिखा था। अजमेर-निवासी श्री जेठमल सोढा का 'दिग्विजयी दयानन्द' भी श्रद्धांजलिमूलक काव्य है। पण्डित अखिलेश शर्मा ने सशक्त एवं प्रांजल व्रजभाषा में दयानन्दलहरी काव्य का प्रणयन किया। कवित्त एवं छप्पय छन्दों में रचित यह कविता ओजगुणयुक्त शैली में लिखी जाने के कारण यत्र-तत्र महाकवि भूषण के वीररसात्मक काव्य का स्मरण कराती है। कवित्त-शैली में ही लिखित श्री दुलेराम काराणी रचित दयानन्द बावनी का उल्लेख भी आवश्यक है। कवि की मातृभाषा गुजराती है किन्तु उसने ५२ कवित्तों में दयानन्द के अनेक लोकोत्तर गुणों का सरल खड़ी बोली में कीर्तन किया है। पण्डित लोकनाथ तर्कवाचस्पति ने 'महर्षिमहिमा' और 'ऋषिराज-चालीसा' का प्रणयन किया। महर्षि-महिमा के पद्य एक नवीन एवं विचित्र शैली में रचे गये हैं। प्रत्येक पद्य के प्रत्येक चरण का प्रथम अंश संस्कृत में जबकि द्वितीय अंश हिन्दी में है। इस प्रकार संस्कृत व हिन्दी की मिश्रित काव्य-भाषा का प्रयोग कर पण्डित लोकनाथ ने इस काव्य में अपूर्व चमत्कार उत्पन्न कर दिया है। 'ऋषि-राजचालीसा' लोकप्रसिद्ध "हनुमान-चालीसा" की शैली में लिखा गया है जिसमें दोहा, चौपाई, सोरठा आदि छन्द प्रयुक्त हुए हैं। स्वामी दयानन्द विषयक स्फुट काव्य रचने वाले सभी कवियों का तो नाम निर्देश करना भी सम्भव नहीं है। अनेक काव्य संकलनों में दयानन्द की प्रशस्तिमूलक कविताओं का संग्रह किया गया है। पण्डित पन्नालाल पीयूष-सम्पादित 'दयानन्दगुणगान' तथा पण्डित क्षेमचन्द्र सुमन सम्पादित 'वन्दना के स्वर' ऐसे ही काव्य संकलन हैं।

स्वामी दयानन्द विषयक उर्दू काव्य—आर्यसमाज में उर्दू का प्रचलन प्रारम्भ से ही रहा है। संयुक्त पंजाब प्रान्त तथा तत्कालीन पश्चिमोत्तरप्रदेश में स्वामी दयानन्द के अनुयायियों में से बहुसंख्य लोग उर्दू भाषाभिज्ञ थे। अतः उर्दू काव्य को माध्यम बनाकर स्वामी दयानन्द के जीवन तथा उनके कृतित्व का वर्णन करना उनके लिए स्वाभाविक ही था। सुप्रसिद्ध विद्वान् पण्डित चमूपति ने 'दयानन्द आनन्दसागर' में स्वामी दयानन्द के अनेक जीवन-प्रसंगों का भावपूर्ण वर्णन किया है। नौबहारसिंह साबिर टोहानवीकृत 'ऋषि-दर्शन' तथा त्रिलोकचन्द महरूम कृत 'महर्षि-दर्शन' भी उच्चकोटि की उर्दू काव्य-कृतियाँ हैं। सुप्रसिद्ध हिन्दी नाटककार तथा कवि पण्डित नारायणप्रसाद बेताब ने उर्दू पत्र 'प्रकाश' के ऋष्यंकों के लिए मुसद्दस शैली में कुछ नज्में लिखी थीं जो पाठकों में अत्यधिक लोकप्रिय हुईं। कालान्तर में "बुतपरस्ती का शुक्रिया", "स्वामीजी का समावर्तनसंस्कार", "ऋषि की जिन्दगीबख्श मौत" तथा "शास्त्र और शस्त्र दोनों बस में हैं" शीर्षक चार मुसद्दस 'महर्षि दयानन्द-दिग्दर्शन' शीर्षक से नागरी लिपि में पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। इन पंक्तियों के लेखक ने इनका सम्पादन कर कवि के जीवनपरिचय-सहित 'महर्षि दयानन्द प्रशस्ति' शीर्षक से इन्हें पुनः प्रकाशित किया था। इस संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द के जीवन तथा व्यक्तित्व को अपना विषय बनाकर अनेक हिन्दी एवं उर्दू कवियों ने काव्यरचना की है।

स्वामी दयानन्द के जीवन को अंग्रेजी पद्य-शैली में निबद्ध किये जाने के दो उदाहरण मिलते हैं। ए० क्रिस्टिना एल्वर्स नामक एक जर्मन महिला ने कलकत्ता के पण्डित अयोध्याप्रसादजी की प्रेरणा से १९३९ में 'स्वामी दयानन्द' शीर्षक एक लम्बी अंग्रेजी कविता लिखी। इसका प्रथम संस्करण १९३९ ई० में कलकत्ता के जागृति प्रिंटिंग प्रेस से मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ था। दयानन्द निर्वाण शताब्दी के अवसर पर स्वामी सत्यप्रकाश ने इसे पुनः प्रकाशित किया है। जयपुर के स्वर्गीय सुन्दरलाल भाटिया ने सरल अंग्रेजी पद्यों में The Life and Mission of Maharishi Dayanand Saraswati शीर्षक ग्रन्थ १९६३ ई० में लिखा।

स्वामी दयानन्द के जीवन पर आधारित हिन्दी नाटक—काव्य की ही भांति कतिपय नाटक-लेखकों ने स्वामी दयानन्द के जीवन को आधार बनाकर नाटक भी लिखे हैं। इस प्रसंग में सर्वप्रथम हिन्दी के प्रख्यात कहानीकार पण्डित सुदर्शन का नाम लिया जा सकता है। इनके द्वारा रचित 'दयानन्द' नाटक अर्थात् महर्षि स्वामी दयानन्द जी महाराज का पवित्र जीवनचरित्र (नाटक रूप में) राम कुटिया लाहौर से १९१७ ई० के नवम्बर मास में प्रकाशित हुआ। नाटक-लेखक ने अपनी भूमिका में लिखा है कि उसके मन में स्वामी दयानन्द को आधार बनाकर नाटक लिखने का विचार तो बहुत पहले से ही था, किन्तु उसके समक्ष यह दुविधा भी थी कि आर्यसमाज का संगठन नाटक-लेखन के विचार से, कहाँ तक, पता नहीं, सहमत है या नहीं ? जब लाहौर के आर्यसामाजिक पत्रों में इस विषय पर खुलकर चर्चा हुई तथा महाशय कृष्ण, प्रोफेसर रामदेव तथा महात्मा मुंशीराम आदि आर्य नेताओं ने यह स्पष्ट विचार व्यक्त किया कि मूलतः नाटक-लेखन में कोई दोष नहीं है, तथा महापुरुषों के जीवन पर आधारित नाटक लिखे जा सकते हैं, तो लेखक ने महर्षि दयानन्द के जीवन व व्यक्तित्व का आश्रय लेकर नाटक लिखने का निश्चय कर ही लिया।

दयानन्द नाटक तीन अंकों में लिखा गया है। इसमें पारसी रंगमंचीय शैली के अनुसार गद्यात्मक संवादों के बीच-बीच में पात्रों से पद्यात्मक अंश भी बुलवाये गये हैं। नाटक की भाषा साधारण बोलचाल की है। इसे लेखक ने उर्दू तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में प्रकाशित किया था। स्वामी दयानन्द के ओजस्वी व्यक्तित्व को लेखक ने निम्न पद्यात्मक स्वकथन में उभारा है—

मुझे छेदे मुझे बेधे कहाँ यह तीर की शक्ति।
मुझे पकड़े मुझे जकड़े कहाँ जंजीर की शक्ति।
तपाने की जलाने की नहीं है आग में शक्ति।
मुझे डस कर सुलाने की नहीं है नाग में शक्ति।
कहाँ हिम्मत है वायु में मुझे ऊपर उठाने की।
कहाँ ताकत है पृथिवी में मुझे नीचे दबाने की॥

हरयाणा के लोकनाट्य शैली के प्रख्यात नाटककार यशवन्तसिंह टोहानवी ने "संगीत ऋषि दयानन्द" शीर्षक काव्य-तत्त्वों से भरपूर संगीत-प्रधान नाटक की रचना की है। यद्यपि इस नाटक में गद्य-अंश भी हैं, तथापि रचना के शीर्षक से ही विदित होता है कि इसमें लेखक ने गीतितत्त्व को प्रधानता दी है। नाटक का पद्यभाग विविध राग-रागिनियों पर आधारित है। 'संगीत ऋषि दयानन्द' की लोकप्रियता तो इसी बात से

प्रकट होती है कि अब तक उसके पाँच संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

परोपकारी मासिक में नीमच-निवासी सेठ माँगीलाल कविकिंकर लिखित 'मुमुक्षु दयानन्द' शीर्षक नाटक का धारावाही प्रकाशन आरम्भ हुआ था। यह नाटक उक्त पत्र के वैशाख तथा ज्येष्ठ १९६५ वि० के दो अंकों में अधूरा ही छपा। सम्भवत: लेखक इसे पूरा नहीं कर सका था। नाटक के प्रारम्भ में पर्दे के भीतर स्वामी दयानन्द की काव्यात्मक स्तुति प्रस्तुत की गई है—

"जय जय जय अद्भुत अवतारी।
दयानिधि अमित आनन्द प्रद
सरस्वति जासु हृदय हितकारी।"

इस कविता में दयानन्द की विष्णु के दशावतारों से तुलना करते हुए एक रूपक बाँधा गया है। यदि यह नाटक पूरा प्रकाशित हो जाता, तो साहित्य की मूल्यवान् निधि सिद्ध होता।

बरेली-निवासी श्री चन्द्रनारायण सक्सेना ने स्वामी दयानन्द के मथुराकालीन अध्ययन को आधार बनाकर 'गुरुधाम' शीर्षक एक एकांकी नाटक का प्रणयन किया है। सात दृश्यों में समाप्त यह एकांकी २०११ वि० में गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ। गुरुधाम में ऐतिहासिक पात्रों के साथ-साथ कुछ कल्पित पात्रों की भी योजना की गई है जो कथा की रोचकता को बढ़ाने तथा नाट्य रस उत्पन्न करने में सहायक सिद्ध हुए हैं। दण्डी विरजानन्द की पाठशाला में जहाँ प्रतिभाशाली तथा सुबोध छात्र पाठनार्थ आते थे, वहाँ कूढ़-मग्ज तथा निरक्षर भट्टाचार्यों का जाना भी स्वाभाविक था। एक ऐसे ही ढपोलसंख छात्र चन्दन चौबे को एक अन्य ब्रह्मचारी सत्यकाम "को नामाऽसि" का अर्थ पूछता है, तो चौबे कहता है—"को नामाऽसि—सुपुत्र बारहमासी, माता पूरनमासी, भाई घासी, जात का पासी, स्वभाव का अन्नवासी, कासी का निवासी, समझा वे सत्यानासी।" गुरुधाम की भूमिका आर्यसमाज के विख्यात विद्वान् पण्डित बिहारीलाल शास्त्री ने लिखी है। मथुरा-निवासी श्री शर्मनलाल अग्रवाल लिखित 'अमर बलिदान' नाटक को सत्य प्रकाशन मथुरा ने छापा है।

स्वामी दयानन्द की निर्वाण शताब्दी वर्ष में श्रीमती सियासुन्दरी आर्या का नाटक 'महर्षि दयानन्द नाटकम्' प्रकाशित हुआ है। चार अंकों में समाप्त इस नाटक में लेखिका ने स्वामी दयानन्द के जीवन से सम्बन्धित प्रसंग दिये हैं। नट एवं नटी के संवाद से इस नाटक का आरम्भ होता है। यत्र-तत्र संवादों के बीच-बीच में पद्य भी दिये गये हैं।

(५) स्वामी दयानन्द के विचार, सिद्धान्त तथा उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकनपरक साहित्य

उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय नवजागरण के विधायक महापुरुषों में स्वामी दयानन्द का जीवन एवं व्यक्तित्व सर्वाधिक बहुमुखी तथा बहुआयामी था। मानव-जीवन का कोई ऐसा क्षेत्र या पहलू दिखाई नहीं पड़ता, जिस पर उन्होंने विचार न किया हो। धर्म, दर्शन और अध्यात्म की ही भाँति तत्कालीन समाज, संस्कृति तथा राष्ट्र के समक्ष प्रस्तुत चुनौतियों का सामना करने की शक्ति भी उनमें थी। फलत: उन्होंने उपर्युक्त सभी विषयों पर अपने सुलझे हुए विचार समय-समय पर प्रस्तुत किये थे। कालान्तर में जब

स्वामी दयानन्द के जीवनचरित के लेखन का अवसर आया, तो उसके साथ ही उनके विचारों, सिद्धान्तों तथा मन्तव्यों की आलोचना एवं विवेचना की भी आवश्यकता समझी गई। आर्यसमाज के अनुयायियों ने तो स्वामीजी के वैचारिक अवदान का ऊहापोह किया ही है, अन्य लोगों ने भी स्वामीजी की विचारधारा को परखने तथा समझने की चेष्टा की है। यहाँ हम स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व एवं विचारों के मूल्यांकनपरक साहित्य का लेखा-जोखा प्रस्तुत कर रहे हैं।

स्वामी दयानन्द के वेदविषयक विचारों की समीक्षा में लिखा गया साहित्य— स्वामी दयानन्द के लिए वेद केवल वैयक्तिक आस्था की वस्तु ही नहीं थी, किन्तु उनके विचारानुसार तो वेदप्रतिपादित सिद्धान्तों पर आचरण करने से ही मानवता के समक्ष उपस्थित प्रश्नों एवं समस्याओं का समाधान किया जा सकता है। उनका समग्र चिन्तन, कर्तृत्व तथा लेखन भी वेदाधारित था। उन्होंने अपने वेदविषयक विचारों को स्वरचित ग्रन्थों एवं व्याख्यानों में यत्र-तत्र व्याख्यात किया है। यह खेद की बात है कि यद्यपि स्वामी दयानन्द की वेदविषयक धारणाएँ भारत के प्राचीन वैदिक अध्ययन तथा चिन्तन की प्रणालियों से सर्वांश में मेल खाती हैं, तथापि आधुनिक काल के वैदिक विद्वानों ने (जिनमें भारतीय तथा पश्चिमी विद्वान् सम्मिलित हैं) स्वामी दयानन्द के वैदिक दृष्टि-कोण के सम्बन्ध में अनेक अलीक तथा भ्रमोत्पादक विचार प्रकट किये हैं। इनमें से अनेक ने स्वामी दयानन्द की वेदार्थ-पद्धति को सर्वथा कपोलकल्पित, स्वेच्छापूर्ण तथा परम्परा से हटकर चलने वाली बताया है। यहाँ हम स्वामीजी के वेदविषयक विचारों के औचित्य का प्रतिपादन करने के लिए किसी मौलिक विवेचना का आरम्भ न कर केवल उन ग्रन्थों का ही विवरण प्रस्तुत करेंगे जो इन विचारों की पुष्टि में लिखे गये हैं।

दयानन्द के वेदविषयक विचारों के समर्थन में पाण्डिचेरी के साधक योगी अरविंद ने १९१६ ई० में जो लेख वैदिक मैगजीन के लिए लिखा था, वह पुराना हो जाने पर भी महत्त्वपूर्ण तथा उपयोगी बना हुआ है। वस्तुतः वैदिक मैगजीन के सम्पादक प्रो० रामदेव के आग्रह पर श्री अरविन्द ने स्वामीजी के व्यक्तित्व तथा उनके वेदविषयक विचारों की समीक्षा में दो लेख लिखे। प्रथम लेख में दयानन्द के विराट् एवं अभ्रस्पर्शी व्यक्तित्व को उसकी सम्पूर्ण ऊँचाइयों के साथ प्रस्तुत किया गया था। द्वितीय लेख में स्वामी दयानन्द की वेदार्थ-प्रणाली के औचित्य की घोषणा करते हुए सायण के वेदार्थ की याज्ञिक पद्धति तथा पश्चिमी वेदविदों द्वारा आविष्कृत तथाकथित ऐतिहासिक प्रणाली के दोषों का समुचित उद्‌घाटन किया गया है। अत्यन्त संक्षिप्त होने पर भी अरविन्द का यह लेख इतना सारगर्भित था कि स्वामी दयानन्द के वेदार्थ की चर्चा के प्रसंग में कोई भी परवर्ती लेखक इसको एकाधिक बार उद्धृत करने का लोभ संवरण नहीं कर पाया। श्री अरविन्द के ये लेख मूलतः अंग्रेजी में लिखे गये थे, अतः बहुसंख्य पाठकों तक उन्हें पहुँचाने के लिए इनका हिन्दी अनुवाद भी किया गया जो अनेक स्थानों से छपा।

यह हम लिख चुके हैं कि स्वामी दयानन्द के वेदविषयक मन्तव्य प्राचीन आर्ष मान्यताओं के नितान्त अनुकूल होने पर भी भारत के उस पौराणिक समाज के गले नहीं उतर सके जो मध्यकालीन याज्ञिक भाष्यकारों द्वारा प्रतिपादित वेदार्थ-विधि के पक्षपोषक हैं। जब आर्यसमाज की सभी प्रगतिशील नीतियों के विरोध में पुरातन रूढ़ियों की अंधी वकालत करने वाला सनातनधर्म का आन्दोलन अधिक मुखर होने लगा, तो स्वामी

दयानन्द की वेदार्थ-प्रणाली पर भी अनेक प्रकार के आक्षेप किये जाने लगे। इस स्थिति में आर्य विद्वानों के लिए यह आवश्यक हो गया था कि वे स्वामीजी की वेदार्थ-प्रणाली की पुष्टि तो करें ही, साथ ही उनके द्वारा लिखित वेदभाष्य पर किये जाने वाले आक्षेपों का भी निराकरण करें। पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी ने "ऋषि दयानन्द का वेदभाष्य" शीर्षक एक लघु ग्रन्थ में दयानन्दरचित वेदभाष्य पर पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र प्रभृति पौराणिक पण्डितों द्वारा उठाई गई आपत्तियों का निराकरण किया है। पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने भी "ऋषि दयानन्दकृत वेद-भाष्यानुशीलन" में दयानन्दीय वेदभाष्य के वैशिष्ट्य का प्रतिपादन किया है। पण्डित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड ने "महर्षि दयानन्द के वेदभाष्य की विशेषताएँ" शीर्षक ग्रन्थ में ऐतिहासिक एवं तुलनात्मक दृष्टि से दयानन्द के वेद-भाष्य की समीक्षा की है।

दयानन्द के वेदविषयक विचारों के वैज्ञानिक समीक्षण का अवसर उन शोध-कर्ताओं को भी प्राप्त हुआ जो विश्वविद्यालय की शोध-उपाधि के लिए ऐसे ही किसी विषय को लेकर प्रवृत्त हुए थे। इस क्षेत्र में सर्वप्रथम उल्लेखनीय कार्य डॉ० सुधीरकुमार गुप्त का था, जिन्होंने 'वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन' शीर्षक अपने शोध-प्रबन्ध में दयानन्द की वेदार्थ-प्रणाली की सर्वांगीण मीमांसा करते हुए उसके महत्त्व को निरूपित किया। डॉ० गुप्त का यह शोध-प्रबन्ध भारतीय अनुसंधानशाला जयपुर से १९८० ई० में प्रकाशित हुआ, जब कि यह प्रबन्ध शोध-उपाधि के लिए तो राजस्थान विश्वविद्यालय द्वारा १९५७ ई० में ही स्वीकृत हो चुका था। वेद-भाष्यकार के रूप में स्वामी दयानन्द की सायण, महीधर आदि अन्य वेदभाष्यकारों से तुलना करते हुए भी कतिपय अन्य शोधग्रन्थ भी लिखे गये हैं। डॉ० विमला ने पटना विश्वविद्यालय से "सायण तथा दयानन्द के वेदभाष्यों का तुलनात्मक अध्ययन" विषय पर शोधप्रबन्ध लिखकर पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की। उनके इस शोधप्रबन्ध को १९७४ ई० में सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने प्रकाशित किया। जिस समय यह ग्रन्थ आर्यसमाज की शिरोमणि सभा ने प्रकाशित किया, उस समय ग्रन्थ में उद्धृत विचारों के परिप्रेक्ष्य में एक बार तो आन्दोलन जैसी स्थिति उत्पन्न हो गई। आपत्तिकर्ताओं की ओर से कहा गया कि आलोच्य शोधग्रन्थ से स्वामी दयानन्द के वेदविषयक विचारों की पुष्टि होना तो दूर रहा, उससे दयानन्दीय वेद-भाष्य की कतिपय दुर्बलताएँ ही उजागर हुई हैं। आन्दोलनकारियों का कथन बहुत-कुछ तथ्याधारित ही था। यदि ग्रन्थ का प्रकाशन करने से पूर्व उसका समुचित सम्पादन करा लिया जाता तथा यत्र-तत्र, कथित आपत्तिजनक अंशों पर टिप्पणियाँ लिख दी जातीं तो सम्भवतः इस प्रबन्ध के विरुद्ध आवाज नहीं उठती। अस्तु।

इधर हाल ही में डॉ० प्रशस्यमित्र शास्त्री का दयानन्द तथा महीधरकृत यजुर्वेद-(माध्यन्दिन संहिता) भाष्य की तुलनात्मक समीक्षा विषयक शोध-ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। लेखक ने उपर्युक्त तुलनात्मक अध्ययन में बहुत-कुछ यथार्थवादी दृष्टि से काम लिया है; तथापि यह लिखना अनुपयुक्त नहीं होगा कि यदि लेखक अधिक गम्भीरता से काम लेता तो उसे स्वामी दयानन्द के यजुर्वेद-भाष्य में उन छिद्रों के दर्शन नहीं होते, जिन्हें वह अपने ग्रन्थ में यत्र-तत्र दिखा सका है। विक्रम विश्वविद्यालय उज्जैन से डॉ० राधेश्याम मिश्र ने 'स्वामी दयानन्द वेद भाष्यकार के रूप में' शीर्षक शोधप्रबन्ध पर

शोध-उपाधि प्राप्त की है, किन्तु उनका यह शोधकार्य अभी तक प्रकाश में नहीं आया है।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय के भूतपूर्व प्रोफेसर डॉ० श्रीनिवास शास्त्री ने स्वामी दयानन्द के वेदविषयक विचारों की समीक्षा में कुछ उल्लेखनीय शोधपरक ग्रन्थ लिखे हैं। इन ग्रन्थों का प्रकाशन कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय ने ही किया है। ये ग्रन्थ हैं—'वेद तथा ऋषि दयानन्द' (१९७९), 'वेद प्रामाण्य मीमांसा तथा स्वामी दयानन्द' (१९८२), 'वेद नित्यता तथा ऋषि दयानन्द'। दयानन्द अनुसन्धान पीठ पंजाब विश्वविद्यालय के भूतपूर्व अध्यक्ष डॉ० रामनाथ वेदालंकार लिखित ग्रन्थ "वेदभाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएँ" भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय है। उन्होंने मध्यकालीन वेदभाष्य-प्रणालियों का ऐतिहासिक मूल्यांकन करने के पश्चात् स्वामी दयानन्द द्वारा प्रतिपादित वेदार्थ की उन विधियों की मौलिक विवेचना की है, जिन्हें लेखक ने मोटे तौर पर पारमार्थिक और व्यावहारिक प्रक्रिया कहा है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा संचालित विश्वेश्वरानन्द-विश्वबन्धु संस्कृत-भारती शोध-संस्थान होशियारपुर द्वारा १९८० ई० में किया गया।

इधर हाल में ही पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द-अनुसंधान पीठ के तत्त्वावधान में दो अन्य उल्लेखनीय शोधकार्य सम्पन्न हुए हैं। प्रथम, डॉ० वेदपाल वर्णी ने दयानन्दकृत यजुर्वेद-भाष्य की माध्यन्दिन-शतपथ ब्राह्मण से विस्तृत तुलना की है। शतपथ ब्राह्मण के संदर्भ में दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य को परखने का यह प्रथम किन्तु सर्वाधिक गम्भीर प्रयास है। द्वितीय, डॉ० (श्रीमती) वसुन्धरा रिहानी ने दयानन्दीय यजुर्वेद-भाष्य में देवता तत्त्व का निरूपण करते हुए एक अन्य अध्ययन प्रस्तुत किया है।

स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचारों के ऊहापोह में लिखित साहित्य— दयानन्द के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के समीक्षकों ने यह तो स्वीकार किया है कि वे एक महान् धर्मसुधारक, समाजसंस्कारक, देशभक्त तथा राष्ट्रीय भावनाओं को उत्तेजना देने वाले महापुरुष थे, परन्तु स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचारों का मूल्यांकन करने की ओर बहुत कम लोगों का ध्यान गया है। तथापि यह निश्चित है कि स्वामी दयानन्द का दार्शनिक चिन्तन मौलिक, यथार्थवादी तथा प्राचीन वैदिक चिन्तन का अनुसरण करते हुए चलता है। प्रव्रज्या ग्रहण करने के कुछ समय पूर्व ही वे शांकर वेदान्त से परिचित हुए थे और दयानन्द सरस्वती के रूप में अवतरित होने के कुछ समय पश्चात् तक वे एक निष्ठावान् अद्वैतवादी की भूमिका का निर्वाह करते रहे। कालान्तर में दार्शनिक ग्रन्थों के अधिकाधिक अध्ययन, मनन और विश्लेषण ने उनकी अद्वैत-निष्ठा को विचलित कर दिया और अब वे ईश्वर की ही भाँति जीव तथा प्रकृति के अनादित्व की घोषणा करने लगे। दयानन्द-दर्शन के अध्येताओं ने उनके दार्शनिक सिद्धान्त को 'त्रैतवाद' के नाम से अभिहित किया है, किन्तु यदि उन्हें एक अर्थ में 'द्वैतवादी' अथवा 'भेदवादी' भी कहा जाए तो अनुचित नहीं होगा। द्वैतवादी इस अर्थ में कि वे ईश्वर और जीव की दो विभिन्न चेतन सत्ताओं को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार ईश्वर एवं जीव की चेतन सत्ता तथा सृष्टि के उपादान कारण जड़ प्रकृति की पृथक् सत्ता को स्वीकार कर वे इस अर्थ में भी द्वैतवादी कहला सकते हैं। भेदवादी तो वे हैं ही, क्योंकि शंकर की भाँति जीव-ब्रह्मैक्य के सिद्धान्त को अस्वीकार कर वे जीवेश्वर भेद की स्थापना करते हैं। इसी प्रकार सृष्टि की उपादानभूता प्रकृति को शंकर की तरह 'माया' अथवा 'विवर्त' से उत्पन्न मिथ्या

न मानकर प्रत्यक्ष जड़ सत्ता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार चेतन सत्ता (ईश्वर तथा जीव) तथा जड़ सत्ता (प्रकृति) का स्पष्ट भेद स्वीकार करने के कारण वे भेदवादी भी हैं।

स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचार उनके ग्रन्थों में दो रूपों में मिलते हैं। सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका आदि ग्रन्थों में उन्होंने यथाप्रसंग अपनी दार्शनिक मान्यताओं का उद्घाटन किया है तो अन्यत्र प्रसंगोपात्त उन्होंने शंकराचार्य के अद्वैतवादी दर्शन का युक्तियों एवं प्रमाणों से खण्डन भी किया है। यह दूसरी बात है कि उन्होंने स्वतन्त्र रूप से किसी दार्शनिक ग्रन्थ का प्रणयन नहीं किया।

कालान्तर में दयानन्दीय दर्शन की व्याख्या के रूप में कतिपय महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे गए। आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान की स्वर्णजयन्ती के अवसर पर प्रकाशित डॉक्टर सत्यप्रकाश लिखित ग्रन्थ—A Critical Study of the Philosophy of Dayanand दयानन्दीय दर्शन की अधिकृत व्याख्या प्रस्तुत करता है। विद्वान् लेखक ने स्वामी दयानन्द की प्रमाण-मीमांसा, तत्त्व-चिन्तन तथा उनके आचार-दर्शन का विस्तार से निरूपण करने के पश्चात् जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे वस्तुतः महत्त्वपूर्ण हैं। १९५५ में पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्यायकृत Philosophy of Dayanand शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। उपाध्यायजी ने अपनी दार्शनिक कृतियों के द्वारा, न केवल आर्यसमाज में, अपितु सम्पूर्ण हिन्दी जगत् में, एक दार्शनिक लेखक के रूप में अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। अब दयानन्द-दर्शन को अंग्रेजी माध्यम से प्रस्तुत कर उन्होंने एक बड़े अभाव की पूर्ति की। उपाध्यायजी के इस ग्रन्थ में जहाँ स्वामीजी की दार्शनिक मान्यताओं का समग्र विवेचन हुआ है, वहाँ उन्होंने दयानन्द के सामाजिक दर्शन को भी पूर्ण तत्परता के साथ विवेचित किया है।

हिन्दी में भी दयानन्द-दर्शन की विवेचना करते हुए कुछ ग्रन्थ लिखे गए हैं। डॉक्टर वेदप्रकाश गुप्त का 'दयानन्द दर्शन' एक शोधप्रबन्ध है, जिसमें शोध की वैज्ञानिक प्रणाली का अनुसरण करते हुए स्वामी दयानन्द की दार्शनिक दृष्टि को उद्घाटित किया गया है। डॉक्टर श्रीनिवास शास्त्री लिखित 'दयानन्द दर्शन—एक अध्ययन' (१९७७ में कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से प्रकाशित) तथा डॉक्टर जयदेव वेदालंकार लिखित 'महर्षि दयानन्द की विश्वदर्शन को देन' (गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार से १९७७ में प्रकाशित) इस विषय की अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। काशी के स्वर्गीय पण्डित गोपाल-शास्त्री ने संस्कृत में 'महर्षि दयानन्द प्रतिपादित वैदिक दर्शनम्', शीर्षक एक लघु ग्रन्थ लिखा था जिसका सम्पादन डॉक्टर प्रज्ञा देवी ने किया। इसे करनाल के चौधरी प्रतापसिंह ने १९८१ ई० में प्रकाशित किया। पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द-अनुसन्धान पीठ के तत्त्वावधान में स्वामी दयानन्द के दार्शनिक विचारों पर १९८१ ई० में एक संगोष्ठी आयोजित की गई थी। इस अवसर पर प्रस्तुत किये गये शोधनिबन्ध "स्वामी दयानन्द के दार्शनिक सिद्धान्त" शीर्षक से इसी अनुसन्धान पीठ के अध्यक्ष द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित किये गये हैं। दयानन्द अनुसन्धान पीठ पंजाब विश्वविद्यालय के ही शोधछात्र डॉक्टर आनन्दकुमार ने' 'वैदिक संहितानां आलोके महर्षि दयानन्दीय त्रैतसिद्धान्तस्य पर्यालोचनम्" शीर्षक शोधप्रबन्ध लिखा था। इसमें वेदमन्त्रों के आधार पर दयानन्द-प्रतिपादित त्रैतवाद की पुष्टि की गई है। गुरुकुल काँगड़ी के शोधछात्र डॉक्टर रमेशचन्द्र शर्मा बन्धु ने आचार्य रामानुज तथा स्वामी दयानन्द की दार्शनिक

मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। उपर्युक्त दोनों शोधप्रबन्ध अभी अप्रकाशित ही हैं।

दयानन्द के राष्ट्रवाद-प्रतिपादक ग्रन्थों का विवरण—दयानन्द मूलत: राष्ट्रवादी थे। श्रीमती ऐनी बेसेंट के शब्दों में दयानन्द ही प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने "भारत—भारतीयों के लिए" की घोषणा की। योगी अरविन्द ने लिखा है कि दयानन्द में राष्ट्रीय चेतना थी और उसे वे उद्दीप्त भी कर सके थे। स्वामी दयानन्द की यही राष्ट्रीय चेतना कालान्तर में उनके अनुयायियों में संचरित हुई। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण आर्यसमाज के इतिहास के प्रारम्भिक अध्यायों में देखा जा सकता है, जबकि पंजाब तथा उत्तर प्रदेश आदि प्रान्तों में देशभक्ति तथा राष्ट्र के सर्वतोमुखी उत्थान को क्रियान्वित करने के लिए आर्यसमाज के मंच से अनेक महत्त्वपूर्ण एवं रचनात्मक कार्यक्रमों की घोषणा की गई थी। ध्यान रखना होगा कि उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम दशक तक अखिल भारतीय कांग्रेस के नेता विदेशी शासकों से प्रशासन सेवाओं में भारतीयों को अधिक हिस्सा देने की ही प्रार्थना करते थे। उस समय आर्यसमाज की विचारधारा के अनुयायी स्वराज्य और स्वदेशी को वरीयता देते हुए विदेशी शासकों के प्रति नितान्त उदासीनता तथा असहयोग का रुख अपनाने में भी संकोच नहीं करते थे।

यह तो सत्य है कि आर्यसमाज के सदस्यों में जहाँ स्वतन्त्र व्यवसाय करने वाले वकील, डॉक्टर, व्यवसायी आदि थे, वहाँ सरकारी कर्मचारी भी बहुत बड़ी संख्या में आर्यसमाज में प्रविष्ट होते थे। अत: संस्था के रूप में आर्यसमाज के लिए प्रचलित राजनीति में भाग लेना न तो उचित ही था और न शक्य ही। किन्तु जहाँ तक देश को पराधीनता के पाशों से मुक्त कराने का प्रश्न था, सभी आर्यसमाजी—चाहे वे सरकारी कर्मचारी हों या अन्य, एक मत थे। यही कारण है कि आर्यसमाज की उग्र राष्ट्रवादी प्रवृत्तियों को देखकर विदेशी शासकों को नाना प्रकार की आशंकाएँ होने लगी थीं और उनमें से कइयों ने तो यह धारणा भी बनाई थी कि आर्यसमाज एक क्रान्तिकारी संगठन है, जिसका अन्तिम लक्ष्य गोरे हुक्कामों को इस देश से बाहर निकालना ही है, किन्तु प्रत्यक्षतया इस संस्था ने एक धार्मिक संगठन का लवादा ओढ़ रक्खा है।

दयानन्द के राष्ट्रवादी विचारों को सर्वप्रथम ग्रन्थरूप में प्रस्तुत करने का श्रेय सुप्रसिद्ध पत्रकार तथा लेखक स्वर्गीय सत्यदेव विद्यालंकार को है, जिन्होंने दयानन्द-जन्म-शताब्दी के अवसर पर 'दयानन्द-दर्शन' शीर्षक ग्रन्थ के द्वारा दयानन्द की राष्ट्रीय चेतना को अभिव्यक्ति प्रदान की। स्वामीजी के जीवन एवं कार्यों से अनेक दृष्टान्त देकर विद्वान् लेखक ने उनकी स्वदेश, स्वराज्य, स्वधर्म तथा स्वभाषा के प्रति अनन्य निष्ठा को प्रमाणित किया है। कालान्तर में इसी ग्रन्थ को "राष्ट्रवादी दयानन्द" शीर्षक से अनेक प्रकाशकों ने प्रकाशित किया। स्वामी दयानन्द के राष्ट्रवाद पर जो अन्य छोटे-बड़े ग्रन्थ लिखे गये हैं उनका उपजीव्य भी सत्यदेव विद्यालंकार का यह ग्रन्थ ही है। इधर कुछ विश्वविद्यालय-स्तर के शोध-प्रबन्धों में स्वामी दयानन्द की राष्ट्रीय भावनाएँ अधिक तर्कसंगत, युक्तिपूर्ण तथा इतिहास के वास्तविक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत की गई हैं। इन शोधग्रन्थों में डॉक्टर दण्डेश्वरदास लिखित The Contribution of Maharshi Dayanand to Indian National Movement, डॉक्टर शान्ति देवबाला लिखित Social and Political Ideas of Swami Dayanand, डॉक्टर सत्यवीर गौतम-

लिखित 'महर्षि दयानन्द और उनका राष्ट्रीय उत्थान में योगदान' आदि उल्लेखनीय हैं। ये सभी शोधग्रन्थ अभी प्रकाशन की प्रतीक्षा में ही हैं, किन्तु डॉक्टर शान्ता मल्होत्रा का ग्रन्थ Political Thought of Swami Dayanand आर्य स्वाध्याय केन्द्र दिल्ली से प्रकाशित हो चुका है।

दयानन्द के राजनैतिक चिन्तन का पता तो सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में लिखे गए राजधर्म-प्रकरण तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में संकलित राजप्रजाधर्म प्रकरण से ही चल जाता है। कालान्तर में कुछ लेखकों ने उनके राजनैतिक विचारों को एक व्यवस्थित दर्शन का रूप देने का प्रयत्न किया। इसी अभिप्राय से जो ग्रन्थ लिखे गए, उनमें उल्लेखनीय हैं—प्रोफेसर श्रीप्रकाश लिखित 'स्वामी दयानन्द का राजनैतिक दर्शन' तथा डॉक्टर प्रशान्त कुमार वेदालंकार रचित 'महर्षि दयानन्द द्वारा प्रतिपादित राज्य-व्यवस्था'। पं० लक्ष्मीदत्त दीक्षित ने स्वामी दयानन्द के राजनैतिक विचारों को संस्कृत-सूत्रों में निबद्ध कर उनकी स्वोपज्ञ व्याख्या लिखी है। आकार में लघु किन्तु विषय-विवेचन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण यह ग्रन्थ "महर्षि दयानन्द का राजनीति शास्त्र" शीर्षक से प्रकाशित हुआ है।

इसी प्रसंग में कतिपय उन ग्रन्थों का उल्लेख किया जाना भी आवश्यक है जो स्वामी दयानन्द के १८५७ की क्रान्ति में संलिप्त होने की पुष्टि के रूप में लिखे गए हैं। सर्वप्रथम "हमारा राजस्थान" शीर्षक ग्रन्थ के लेखक पृथ्वीसिंह मेहता विद्यालंकार ने यह सम्भावना प्रकट की थी कि स्वामी दयानाद जैसे मनस्वी, राष्ट्रभक्त तथा जागरूक महापुरुष के लिए अपने जीवन की यौवन वेला में उस महान् राजनैतिक हलचल से पृथक् रहना कैसे सम्भव हो सकता था, जो देश को स्वतन्त्र कराने के लिए की गयी थी। श्री मेहता ने अपनी उपर्युक्त स्थापना को विभिन्न युक्तियों एवं प्रमाणों से पुष्ट करने का एक युक्तिसंगत प्रयास किया था। किन्तु कालान्तर में कुछ ऐसे ग्रन्थ लिखे गए जिनमें स्वामी दयानन्द को १८५७ ई० की गतिविधियों का एक प्रमुख सूत्रधार सिद्ध करने का प्रयास किया गया। इस कोटि के ग्रन्थों में उल्लेखनीय हैं—श्री वासुदेव वर्मा लिखित '१८५७ ई० और स्वामी दयानन्द' तथा श्री पिण्डीदास ज्ञानी लिखित '१८५७ ई० के स्वतन्त्रता संग्राम में स्वराज्य प्रवर्तक महर्षि दयानन्द का क्रियात्मक योगदान'। वर्तमान समय में अनेक विद्वान् यह जानने के प्रयत्न में हैं कि क्या सचमुच १८५७ की क्रान्ति में स्वामी दयानन्द का सक्रिय व प्रमुख योगदान था ? इसी कारण इस विषय पर अनेक लेख प्रकाशित किये जा रहे हैं।

(६) स्वामी दयानन्द विषयक तुलनात्मक अध्ययन

महापुरुषों के जीवन, उनके विचारों तथा कार्यों की पारस्परिक तुलना करते हुए जो ग्रन्थ लिखे जाते हैं, उन्हें तुलनात्मक अध्ययन नामक पृथक् विधा के रूप में विवेचित किया जाता है। स्वामी दयानन्द की तुलना उनके समकालीन धर्माचार्यों तथा समाज-सुधारकों से तो प्रायः की ही जाती है, उनके पूर्ववर्ती दार्शनिकों, मतप्रवर्तकों आदि से भी उनके विचारों की तुलना की गयी है। दयानन्दविषयक तुलनात्मक अध्ययन का सूत्रपात दर्शनानन्द सरस्वती लिखित दो पुस्तिकाओं से माना जा सकता है जो उन्होंने शंकराचार्य

और गुरु नानक से उनकी तुलना करते हुए लिखी थीं। किन्तु विस्तृत तथा तर्कपूर्ण तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने में पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय का योगदान सर्वाधिक रहा है— १९३० ई० में उन्होंने "शंकर, रामानुज, दयानन्द" लिखकर स्वामी दयानन्द की तुलना दार्शनिक-मूर्धन्य शंकराचार्य तथा विशिष्टाद्वैत के प्रवर्तक आचार्य रामानुज से की। १९३४ ई० में उनका 'राममोहनराय, केशवचन्द्रसेन, दयानन्द' शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ प्रकाशित हुआ जिसमें उन्होंने ब्रह्मसमाज के उक्त दो महापुरुषों से स्वामी दयानन्द के विचारों की तुलना की है। उपाध्यायजी कृत "सायण और दयानन्द" दोनों वेदभाष्यकारों की वेदविषयक धारणाओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करता है। पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने महात्मा गांधी और स्वामी दयानन्द के विचारों का तुलनात्मक अध्ययन २००८ वि० में प्रस्तुत किया। परन्तु इससे पूर्व वे कन्नड़ भाषा में स्वामी दयानन्द तथा आचार्य मध्व के विचारों की तुलनात्मक समीक्षा लिख चुके थे। शंकर और दयानन्द के विचारों की तुलनाविषयक महात्मा आनन्द स्वामी के प्रवचन पुस्तकाकार प्रकाशित हुए हैं। अंग्रेजी में हरविलास सारडा ने इसी विषय पर Shankar and Dayanand शीर्षक ग्रन्थ लिखा है।

स्वामी दयानन्दविषयक तुलनात्मक साहित्य के प्रणयन में इन पंक्तियों के लेखक का योगदान भी उल्लेखनीय है। सर्वप्रथम अपने विद्यार्थी-काल में ही उन्होंने 'ऋषि दयानन्द और अन्य भारतीय धर्माचार्य" शीर्षक एक लघु पुस्तिका लिखकर इस अध्ययन का सूत्रपात किया था। कालान्तर में भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन के आद्य प्रवर्तक राजा राममोहनराय तथा स्वामी दयानन्द के जीवन एवं विचारों की तुलनाविषयक उनका एक अन्य ग्रन्थ १९५७ ई० में आर्यप्रकाश पुस्तकालय, आगरा द्वारा प्रकाशित हुआ। इसी बीच स्वामी विवेकानन्द के सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन कर उनके वेद, मूर्तिपूजा, समाजसुधार तथा विभिन्न मत-सम्प्रदायों विषयक विचारों का स्वामी दयानन्द के एतद् सम्बन्धी विचारों से तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जो आर्ययुवक समाज अबोहर द्वारा २०२९ वि० में प्रकाशित हुआ। कालान्तर में उसी अध्ययन को व्यापक रूप देकर 'महर्षि दयानन्द और स्वामी विवेकानन्द' शीर्षक से १९७६ ई० में वैदिक यन्त्रालय, अजमेर द्वारा प्रकाशित कराया गया। इस ग्रन्थ पर लेखक को उसी वर्ष पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय स्मारक साहित्य पुरस्कार प्राप्त हुआ। कई वर्ष पूर्व गुजराती में श्री नरेन्द्र दवे ने गुजराती में "मार्क्स अने दयानन्द" शीर्षक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। डॉक्टर ज्ञानचन्द्र लिखित 'महर्षि दयानन्द का मार्क्सवादी अध्ययन' भी एक विचारोत्तेजक पुस्तक है।

स्वामी दयानन्द की अन्य महापुरुषों से तुलना में लिखे गये अंग्रेजी ग्रन्थों की संख्या तो नगण्य ही है। प्रोफेसर टीकमदास डी० गाजरा ने वर्षों पूर्व 'प्लेटो, ऐरिस्टोटल एण्ड दयानन्द' शीर्षक एक लघु आकार का किन्तु उपयोगी ग्रन्थ लिखा था, जिसमें यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिकों से स्वामी दयानन्द की वैचारिक धरातल पर तुलना की गयी थी। महात्मा बुद्ध के २५००वें जन्मदिवस के अवसर पर पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने Social Reconstruction by Buddha and Dayanand शीर्षक ग्रन्थ लिखा। इसमें बुद्ध तथा दयानन्द के सामाजिक पुनर्निर्माण विषयक विचारों की तुलनात्मक समीक्षा की गयी थी।

पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय के 'शंकर, रामानुज, दयानन्द' तथा 'राजा राममोहन

राय, केशवचन्द्रसेन, दयानन्द'—इन दो ग्रंथों का गुजराती अनुवाद श्री चन्द्रमणि ने किया था। महात्मा आनन्द स्वामी के 'शंकर और दयानन्द' शीर्षक प्रवचन का भी गुजराती अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

(७) स्वामी दयानन्द के मूल्यांकनपरक स्फुट ग्रन्थ

स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व एवं विचारों के अध्ययन एवं मूल्यांकन-विषयक सैकड़ों छोटे-बड़े ग्रन्थ हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में प्रकाशित हुए हैं। इन सबका संक्षिप्त विवरण देना भी यहाँ सम्भव नहीं है। तथापि यह लिखना अनुपयुक्त न होगा कि दयानंद के क्रान्तदर्शी वैचारिक धरातल को समझने तथा उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने में जैसी सफलता कतिपय गैरआर्यसमाजी लेखकों एवं विचारकों को प्राप्त हुई है, वैसी आर्यसमाजी लेखकों को नहीं मिल सकी। उदाहरणार्थ, अमेरिका के प्रसिद्ध विचारक ए०जी० डेविस ने अपने Beyond the Valley नामक ग्रन्थ में दयानन्द के व्यक्तित्व का मूल्यांकन करते हुए जो उद्गार व्यक्त किये थे, वे सौ वर्ष पुराने हो जाने पर भी आज भी पूर्ण प्रासंगिकता रखते हैं। इसी प्रकार योगी अरविन्द, दीनबन्धु सी० एफ० एण्ड्रूज, साधु टी० एल० वास्वानी तथा फ्रैंच लेखक रोमां रोलाँ के दयानन्द-विषयक उद्गार अत्यन्त विचारोत्तेजक तथा मूल्यवान् हैं। कहना नहीं होगा कि उपर्युक्त सभी लेखकों का दयानन्द-विषयक लेखन पुस्तक रूप में आ चुका है। इसी प्रकार दयानन्द के जीवन तथा चरित के मार्मिक समालोचक बंगाली लेखक पण्डित देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने 'आदर्श संस्कारक दयानन्द' लिखकर दयानन्द के समाज-सुधारक रूप का यथार्थवादी मूल्यांकन किया है। उनके द्वारा लिखित दयानन्द चरित (१८९४ ई०) तथा कालान्तर में लिखी गयी स्वामीजी की अधूरी जीवनी (पण्डित घासीराम द्वारा सम्पादित) की विस्तृत भूमिकाओं में लेखक ने दयानन्द के कार्यों और विचारों पर जिस गम्भीर किन्तु भाव-स्फूर्त शैली में विचार किया है, वह साहित्य की एक स्थायी सम्पत्ति बन गयी है। १९८३ ई० में स्वामी दयानन्द की निर्वाण-शताब्दी के अवसर पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उनके व्यक्तित्व एवं कार्यों के अनेक पहलुओं को स्पर्श करते हुए प्रकाशित हुए हैं। डॉक्टर सत्यप्रकाश के सम्पादन में 'दयानन्द निर्वाण शती स्मृति ग्रन्थ' परोपकारिणी सभा ने प्रकाशित किया। डॉक्टर गंगाराम गर्ग ने World Perspective on Swami Dayanand शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ का सम्पादन किया जिसमें अनेक भारतीय तथा विदेशी लेखकों के स्वामी दयानन्दविषयक लेखों का संग्रह किया गया है। नरेन्द्र दवे ने Dayanand—A Pointer towards Reassessment लिखकर दयानन्द के विचारों के मूल्यांकन को एक नवीन आयाम दिया है। स्वामी दयानन्दविषयक उनके यही विचार गुजराती ग्रन्थ 'क्रान्तिगुरु दयानन्द' (१९८३ ई०) में भी प्रकाशित हुए हैं।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है स्वामी दयानन्द के जीवन एवं विचारों का बहुविध मूल्यांकन करने के अनेक प्रयास विगत १०० वर्षों की अवधि में हुए हैं। इनमें से कई गम्भीर तथा महत्त्वपूर्ण हैं तो अन्य अनेक अति सामान्य भी हैं। तथापि दयानन्द के मूल्यांकन को लेकर लिखा गया यह विशाल ग्रन्थसमूह ही इस बात का साक्षी है कि उस महापुरुष ने समसामयिक मानव-समुदाय को किस प्रकार प्रभावित किया था।

ग्यारहवाँ अध्याय

आर्यसमाज-विषयक साहित्य

(१) आर्यसमाज के विविध इतिहास

आर्यसमाज की स्थापना हुए आज एक शताब्दी से भी अधिक एक दशाब्द बीत चुका है। इस बीच इस आन्दोलन के इतिहास लिखने के जो प्रयत्न हुए हैं उनका मूल्यांकन किया जाना आवश्यक है। हमारी जानकारी के अनुसार १६०३ ई० में महता राधाकृष्ण ने 'तारीखे-आर्यसमाज' शीर्षक उर्दू ग्रन्थ लिखकर इस दिशा में प्रथम प्रयत्न किया था। महता जी स्वामी दयानन्द के समकालीन तो थे ही, उन्होंने पंजाब में आर्यसमाज की स्थापना तथा उसके विस्तार को भी प्रत्यक्ष देखा था। निश्चय ही वे अपने इस ग्रंथ में विगत शताब्दी के अन्त तक का ही आर्यसामाजिक इतिवृत्त उपस्थित कर सके। आज यह ग्रन्थ दुर्लभ सामग्री के अन्तर्गत आ चुका है। आर्यसमाज के समर्थ एवं तेजस्वी नेता लाला लाजपतराय ने आर्यसमाज तथा उसके संस्थापक की गतिविधियों से अंग्रेजी पाठक-समुदाय को परिचित कराने की दृष्टि से 'दि आर्यसमाज' शीर्षक ग्रन्थ की रचना की, जो १६१५ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुआ। लाला जी आर्यसमाज के उस वर्ग से सम्बन्ध रखते थे जो उन दिनों कॉलेज पार्टी या 'कल्चर्ड दल' के नाम से जाना जाता था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि वे आर्यसमाज के मन्तव्यों एवं सिद्धान्तों की समीक्षा उसी दृष्टि-कोण से करते जो उनके दल को स्वीकार्य था। इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का एक अन्य संस्करण लाहौर के प्रसिद्ध प्रकाशक अतरचन्द कपूर एण्ड सन्स ने भी प्रकाशित किया था। वर्षों तक यह ग्रन्थ पाठकों के लिए अनुपलब्ध रहा। १६३७ ई० में स्वर्गीय प्रिंसिपल श्रीराम शर्मा ने इसे सम्पादित किया और 'ए हिस्ट्री ऑफ दि आर्यसमाज' शीर्षक से पुनः प्रकाशित कराया। सम्पादक ने मूल ग्रन्थ में अनेक समयोचित परिवर्तन किये हैं तथा कुछ नवीन परिशिष्ट भी जोड़े हैं। यद्यपि मूल ग्रन्थ ७० वर्ष पूर्व लिखा गया था, किन्तु लेखक की प्रभावशाली विचाराभिव्यक्ति तथा सर्वोपरि, उसके आर्यसमाज आन्दोलन से सर्वात्मना जुड़े रहने के कारण विषय-विवेचन में आयी वस्तुनिष्ठता के कारण आज भी यह ग्रन्थ अंग्रेजीभाषी पाठकों के लिए अत्यधिक उपयोगी है। इन पंक्तियों के लेखक ने इसका हिन्दी अनुवाद किया था, जो आर्यसमाज अजमेर द्वारा १६८२ ई० में प्रकाशित हो चुका है।

अंग्रेजी-भाषाभिज्ञ लोगों के लिए तो लाला लाजपतराय की उपर्युक्त पुस्तक से आर्यसमाज के इतिहास की आवश्यकता किंचित् रूप से पूरी हो सकी, किन्तु भारत की राष्ट्रभाषा हिन्दी में एक ऐसे ग्रन्थ की आवश्यकता बनी हुई थी जो आर्यसमाज-आन्दोलन का सर्वांगीण परिचय करा सके। गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के भूतपूर्व

मुख्याधिष्ठाता और आचार्य पण्डित नरदेव शास्त्री ने एतद्विषयक प्रयत्न किया। उन्होंने दो खण्डों में आर्यसमाज का इतिहास लिखा जो क्रमश: १९१८ ई० तथा १९१९ ई० में छपा। वस्तुत: पण्डित नरदेव शास्त्री लिखित यह इतिहास वास्तविक अर्थ में इतिहास-कोटि में नहीं आता। इसके प्रथम खण्ड में संस्था के प्रवर्तक का संक्षिप्त परिचय तथा उनके विचारों का निरूपण करने के पश्चात् विभिन्न पन्थों एवं मतों से आर्यसमाज की तुलना-विषयक कुछ परिच्छेद संकलित किये गये हैं। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में इतिहास के तत्त्व तो नगण्य ही हैं। कुछ ऐसे विषय भी जोड़ दिये गये हैं जिनसे आर्यसमाज का दूर का भी सम्बन्ध नहीं है। ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में आर्यसमाज की प्रमुख संस्थाओं, उसके मुख्य कार्यकर्त्ताओं, समाचारपत्रों आदि का विवरण संग्रह किया गया है। दोनों खण्डों को पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ में न तो लेखक का सूक्ष्म पर्यवेक्षण ही है जो कि इतिहासकार में आवश्यक रूप से होना चाहिए और न इससे आर्यसमाज के प्रभावशाली आन्दोलन का कोई शक्तिशाली चित्र ही उभरता है। इसके विपरीत लेखक ने अपनी इस कृति में कुछ ऐसे विवादास्पद मुद्दों को उठा लिया था जिसके कारण उसे आगे चलकर तीव्र आलोचना का पात्र बनना पड़ा। उदाहरणार्थ, यजुर्वेद के मन्त्र 'यथेमां वाचं कल्याणीं' के स्वामी दयानन्दकृत अर्थ पर शंका उपस्थित करना तथा यजुर्वेद के अश्वमेधाध्याय के महीधरकृत अर्थों के सम्बन्ध में स्वसम्मति प्रस्तुत करना आदि। इस ग्रन्थ के अनेक प्रकरण लेखक द्वारा न लिखे जाकर अन्यों द्वारा लिखे गये लेखों का संकलन-मात्र थे। अत: आर्यसमाज की दृष्टि से भिन्न दृष्टिकोण रखनेवालों के अनेक विवादास्पद लेख भी इस ग्रन्थ में समाविष्ट हो गये। स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा का जीवनवृत्त उनके पुत्र पण्डित ब्रह्मदेव मिश्र द्वारा लिखवाकर पण्डित नरदेव शास्त्री ने इतिहास के द्वितीय खण्ड में संकलित किया। पण्डित भीमसेन के इस जीवन-वृत्तान्त में अनेक आपत्तिजनक स्थल थे जिन पर इतिहास-लेखक ने कोई टिप्पणी लिखने की भी आवश्यकता नहीं समझी। अस्तु, इन्हीं कारणों से पण्डित नरदेव शास्त्री रचित आर्यसमाज का यह इतिहास जागरूक आर्यसमाजी पाठकों का कोपभाजन ही बना।

आर्यसमाज के दूरदर्शी नेता स्वामी श्रद्धानन्द ने आर्यसमाज का एक प्रामाणिक एवं विस्तृत इतिहास लिखने की आवश्यकता एवं इस कार्य की गुरुता को भलीभाँति अनुभव किया था। वे स्वयं भी तो आर्यसमाज के इतिहास-निर्माताओं में थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि समय निकालकर इस इतिहासलेखन का काम स्वयं करें। उन्होंने इतिहास-लेखन की उपादानभूत प्रचुर सामग्री का संग्रह भी कर रक्खा था, किन्तु अपनी बहुमुखी सार्वजनिक प्रवृत्तियों तथा व्यस्त कार्यक्रमों के कारण वे इस कार्य को हाथ में नहीं ले सके। अत: उन्होंने आर्यसमाज के इतिहास-लेखन के इस गुरुतर कार्य को अपने सुयोग्य पुत्र पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति के सुपुर्द किया। पिता की आज्ञा को शिरोधार्य कर इन्द्रजी इस कार्य में जुट गये। वे स्वयं भी इतिहास के गम्भीर विद्वान् तथा सिद्धहस्त लेखक थे। फलत: १९८१ वि० में उनके द्वारा लिखा हुआ आर्यसमाज के इतिहास का प्रथम खण्ड प्रकाश में आया। कतिपय कारणों से इन्द्रजी इस ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड तत्काल प्रकाशित नहीं करा सके, किन्तु पर्याप्त समय पश्चात् उन्होंने सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा को आर्यसमाज के इतिहास के प्रकाशन-विषयक उसके दायित्व का बोध कराया और वे स्वलिखित इतिहास (दो भागों में) को उक्त संस्था द्वारा प्रकाशित भी

करा सके। २०१३ वि० में प्रकाशित इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में स्वामी दयानन्द के प्रादुर्भाव से पूर्व का इतिहास, उनके युग की परिस्थितियों का आकलन, तथा उनका जीवनवृत्त दिया गया है। साथ ही आर्यसमाज की स्थापना के प्रारम्भिक काल की विभिन्न प्रवृत्तियों का सिंहावलोकन भी किया गया है।

इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग में इस शताब्दी में घटित आर्यसामाजिक इतिवृत्त को विस्तारपूर्वक निबद्ध किया गया है। हैदराबाद दक्षिण में किये गये सत्याग्रह तक के घटना-चक्र का विवरण देने के पश्चात् लेखक ने ग्रन्थान्त में कुछ उपयोगी परिशिष्ट जोड़े हैं जिनमें 'स्वामी दयानन्द की मृत्यु का कारण—विष' तथा 'आर्यसमाज एवं थियोसोफिकल सोसाइटी के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना' जैसे विषय आलोचित हुए हैं। इस ग्रन्थ का तृतीय खण्ड प्रकाशित नहीं हो सका। सम्भवतः वह लिखा भी नहीं गया। पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति रचित आर्यसमाज का यह इतिहास यद्यपि सूक्ष्म विवेचनाप्रधान, यत्र-तत्र विवरणप्रधान तथा ऐतिहासिक तथ्यों की विवेचना से युक्त भी था, किन्तु उसे 'एरण्डद्रुम न्याय' से ही सन्तोषजनक कहा जा सकता है। उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना करते समय आर्यसमाजों तथा उनके अंगभूत संगठनों के विवरणों, पुरानी पत्र-पत्रिकाओं तथा सभा-संस्थाओं के पुरावृत्तान्तों का भूरिशः उपयोग किया था; तथापि यत्र-तत्र घटनाओं की विवरण-बहुलता तथा इतिहास के वैज्ञानिक लेखन की दृष्टि का सर्वत्र उपयोग न किये जाने के कारण यह ग्रन्थ भी इतिहास की यथार्थ कसौटी पर खरा नहीं उतरता।

यहाँ पण्डित हरिश्चन्द्र विद्यालंकार लिखित "आर्यसमाज का संक्षिप्त एवं सुबोध इतिहास" का उल्लेख करना भी आवश्यक है। भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद् द्वारा संचालित धार्मिक परीक्षाओं के पाठ्यक्रम को ध्यान में रखकर लिखा गया यह सुबोध इतिहास आर्यसमाज के विगत कार्यकलाप का संक्षिप्त किन्तु रोचक शैली में विवरण उपस्थित करता है। वर्षों तक यह उक्त परिषद् के पाठ्यक्रम में लगा रहा, किन्तु जब से परिषद् की प्रवृत्तियों का खात्मा हुआ, तब से इस उपयोगी ग्रन्थ की कोई नवीन आवृत्ति नहीं हो सकी।

१९७९ ई० में प्रख्यात इतिहासविद् डॉक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार ने आर्यसमाज के बृहद् इतिहास-लेखन की एक महत्त्वाकांक्षी योजना बनाई। सात खण्डों में प्रकाशित होने वाले इस इतिहास में आर्यसमाज के अतीतकालीन कार्यों एवं प्रवृत्तियों का सर्वांगीण विवेचन तो उन्हें अभीष्ट था ही, यह भी आवश्यक समझा गया कि धर्म, दर्शन, समाज, राष्ट्र, शिक्षा आदि के क्षेत्रों में प्राप्त की गयी आर्यसमाज की सभी उपलब्धियों का सम्यक् मूल्यांकन भी इस ग्रन्थ में रहे। इस इतिहासमाला के अब तक चार खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। प्रथम खण्ड के अन्तर्गत भारतीय इतिहास का विस्तृत ऊहापोह करने के पश्चात् नव-जागरण के आन्दोलनों की पृष्ठभूमि तथा उनके आविर्भाव की परिस्थितियों का विस्तृत विश्लेषण किया गया है। तदनन्तर स्वामी दयानन्द के जीवन-वृत्तान्त को किंचित् विस्तार से प्रस्तुत करने के पश्चात् उनके निधनकाल १८८३ ई० तक की आर्य-सामाजिक गतिविधियों का लेखा-जोखा किया गया है। इसका दूसरा खण्ड १९८४ ई० में प्रकाशित हुआ जिसमें आर्यसमाज के प्रवर्त्तक के निधनकाल से लेकर भारत के स्वतंत्र होने तक के काल की आर्यसमाज की प्रवृत्तियों का विस्तारपूर्वक निरूपण किया गया है। भारत के विभिन्न प्रांतों की आर्यसामाजिक गतिविधियों की चर्चा के साथ-साथ भारतेतर

देशों में आर्यसमाज की स्थिति एवं उसके कार्यों की भी मनोज्ञ मीमांसा की गयी है। इस प्रकार इन दोनों खण्डों में १८७५ ई० से लेकर १९१७ ई० तक की धार्मिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय प्रवृत्तियों का तथ्यात्मक निरूपण सम्भव हो सका है।

आर्यसमाज के इतिहास की इस माला का द्वितीय पुष्प १९८३ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें आर्यसमाज के शिक्षाविषयक अवदान का सम्यक् आलोचन हो सका है। ग्रन्थारम्भ में भारत की शिक्षा-प्रणाली का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण करने के पश्चात् ब्रिटिश शासन-काल में अपनाई गई शिक्षानीति का सतर्क विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। आर्यसमाज द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में किये गये द्विविध प्रयोगों—गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली तथा प्रचलित स्कूलों, कॉलेजों की शिक्षा-पद्धति का विस्तृत इतिहास उपस्थित करने के साथ-साथ प्रमुख शिक्षण-संस्थाओं का अद्यावधि वृत्तान्त उपस्थित करना भी इस ग्रन्थ का लक्ष्य रहा है। फलतः भारत में सरकार के पश्चात् शिक्षा के क्षेत्र में सर्वाधिक योगदान करनेवाले आर्यसमाज के एतद्विषयक अनुष्ठान का समग्र चित्र प्रस्तुत करनेवाले इतिहास के इस खण्ड का महत्त्व निर्विवाद है। इस ग्रन्थमाला का चतुर्थ खण्ड आर्यसमाज और राजनीति शीर्षक १९८५ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें आर्यसमाज की राष्ट्रीय एवं राजनैतिक गतिविधियों की भारतीय इतिहास के सन्दर्भ में विस्तृत समीक्षा की गयी है।

(२) आर्यसमाज के इतिहास की उपादान सामग्री

इतिहास का लेखन तथ्याधारित होता है। अतः इतिहास-लेखक के लिए यह आवश्यक है कि वह वास्तविक लेखनकार्य आरम्भ करने से पूर्व उस सामग्री का संग्रह कर लें, जिसकी सहायता से उसे अपने कार्य में प्रवृत्त होना है। यहाँ हम साहित्य रूप में उपलब्ध उस सामग्री का संक्षिप्त विवरण देने का प्रयास करेंगे जो आर्यसमाज के इतिहास-लेखन की दृष्टि से तो उपयोगी है ही, साथ ही उससे यह भी ज्ञात होगा कि आर्यसमाज तथा उसकी आनुषंगिक सभा-संस्थाओं ने अपने क्रियाकलापों के विवरणों को सुरक्षित करने के कैसे प्रयास किये हैं।

विगत शताब्दी के अन्त तक भारत के अनेक प्रान्तों में आर्य प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना हो चुकी थी। इन सभाओं के द्वारा प्रत्येक प्रान्त में विभिन्न आर्यसमाजों के कार्यों और प्रवृत्तियों का सामंजस्य एवं समन्वय किया जाता था तथा यही सभायें आर्यसमाजों की इकाइयों को आवश्यक दिशानिर्देश भी देती थीं। समय-समय पर इन प्रान्तीय सभाओं ने अपने इतिहास प्रकाशित किये हैं। सर्वप्रथम आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) ने अपनी रजत-जयन्ती के अवसर पर "वैदिक वैजयन्ती" शीर्षक से अपना २५ वर्षीय कार्य-वृत्तान्त प्रस्तुत किया। इसका सम्पादन करने में स्व० मदनमोहन सेठ ने प्रभूत परिश्रम किया था। १९६३ ई० में जब उत्तर प्रदेशीय आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपनी हीरक जयन्ती मनाई, तो पण्डित शिवदयालु ने इस सभा का ७५ वर्षीय इतिहास संकलित किया।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के इतिहास को लिपिबद्ध करने का श्रेय स्वर्गीय पण्डित चमूपति को है। उन्होंने उक्त सभा की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर "आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का इतिहास" लिखा जो १९३५ ई० में प्रकाशित हुआ। स्वामी दयानन्द के पंजाब-आगमन एवं वैदिक धर्म-प्रचार का विवरण देने के पश्चात् विद्वान्

इतिहासकार ने इस ग्रन्थ को पण्डित गुरुदत्त काल, पण्डित लेखराम काल, महात्मा मुंशीराम काल तथा वर्तमान काल—इन चार खण्डों में विभाजित किया है। ग्रन्थ का परिशिष्ट भाग पण्डित विश्वनाथ शास्त्री द्वारा लिखा गया था। इसमें वृहत्तर पंजाव (जिसमें पश्चिमी पाकिस्तान का पंजाव एवं सीमाप्रान्त तथा भारत के हिमाचलप्रदेश एवं हरियाणा के वर्तमान राज्य भी सम्मिलित थे) की समाजों का यथोपलब्ध विवरण एकत्रित किया गया था। कालान्तर में श्री रामचन्द्र जावेद ने इस ग्रन्थ का संक्षिप्त रूप "पंजाव का आर्यसमाज" शीर्षक से प्रकाशित किया। यद्यपि आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान व मालवा (भारत के स्वतन्त्र होने से पूर्व तक मध्यभारत व मालवा प्रान्त की आर्यसमाजें इसी संगठन में सम्मिलित थीं) की स्थापना भी इस शताब्दी के प्रारम्भ होने से पूर्व ही हो चुकी थी, किन्तु इस सभा का कोई व्यवस्थित इतिहास अद्यावधि नहीं लिखा जा सका। आशा करनी चाहिए कि आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान की स्थापना शताब्दी तक यह कार्य हो सकेगा।

पंजाव, संयुक्त प्रान्त तथा राजस्थान के अतिरिक्त अन्य प्रान्तों में आर्य प्रतिनिधि सभाओं का संगठन बीसवीं शताब्दी में हुआ। "बृहद् गुजरात मां आर्यसमाज" श्रीकान्त रणछोड़जी भगत द्वारा सम्पादित ग्रन्थ है, जिसमें गुजरात एवं सौराष्ट्र प्रान्तों की आर्यसामाजिक गतिविधियों का विवरण एकत्रित किया गया है। यह प्रयास सर्वतोभावेन प्रशंसनीय है क्योंकि श्री भगत ने गुजरात की आर्यसमाजों तथा आर्य पुरुषों का विवरण देने के साथ-साथ गुर्जर गिरा में लिखित आर्यसमाज-विषयक साहित्य का परिचयात्मक ब्यौरा भी दे दिया है। निजाम-शासित हैदराबाद के भूतपूर्व राज्य में आर्यसमाज के कार्यकलापों का विवरण प्रस्तुत करने का श्रेय स्वर्गीय पण्डित नरेन्द्र को है। उन्होंने "हैदरावाद के आर्यों की साधना और संघर्ष" लिखकर निजाम-राज्य में आर्यों द्वारा किये गये धर्मप्रचार के कार्यों का रोचक विवरण दिया है। इसके साथ "हैदरावाद का स्वाधीनता संघर्ष और आर्यसमाज" शीर्षक एक लघु पुस्तक लिखकर उन्होंने भारत के स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के पश्चात् निजाम की तानाशाही तथा मुस्लिम रज़ाकारों की आतंकपूर्ण कार्यवाहियों से इस प्रान्त की जनता को मुक्त कराने के आर्यसमाजियों के प्रयासों का विवरण भी दिया है। श्री हरि सखाराम तुंगार ने "महाराष्ट्र व आर्यसमाज" शीर्षक मराठी भाषा का ग्रन्थ लिखा था। इसमें वर्तमान महाराष्ट्र (भूतपूर्व वम्वई प्रान्त) की आर्यसामाजिक गतिविधियों का उल्लेख है। १९६६ ई० में हरियाणा राज्य को पृथक् राजनैतिक मान्यता प्राप्त हुई। कुछ काल पश्चात् हरियाणा प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा भी पृथक् रूप से अस्तित्व में आई। प्रान्त की आर्यसमाजों के कार्यों का इतिवृत्त डॉक्टर रणजीतसिंह ने लिखा है, जो २०३३ वि० में प्रकाशित हुआ।

आर्यसमाज का अन्तर्राष्ट्रीय संगठन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा है जिसके अन्तर्गत भारत तथा अन्य देशों की आर्य प्रतिनिधि सभायें कार्यरत हैं। प्रारम्भ में तो इस सभा का गठन आर्यावर्त (भारत) देश की समस्त आर्यसमाजों की शिरोमणि सभा के रूप में ही किया गया था, किन्तु कालान्तर में उसे यथार्थ रूप में 'सार्वदेशिक' तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय' रूप मिल गया। इस सभा का २७ वर्षीय इतिहास महात्मा नारायण स्वामीजी की देखरेख में तैयार किया जाकर १९९६ वि० में प्रकाशित हुआ था। यह ग्रन्थ मुख्यतः सभा के वार्षिक विवरणों पर ही आधारित है, तथापि सार्वदेशिक सभा की प्रारम्भिक

गतिविधियों की जानकारी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसका एक संक्षिप्त संस्करण २०१८ वि० में सार्वदेशिक सभा की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित किया गया था।

स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित परोपकारिणी सभा का इतिहास इन पंक्तियों के लेखक द्वारा लिखा जाकर १९७५ ई० में प्रकाशित हुआ। यह सभा मुख्य रूप से स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के मुद्रण एवं प्रकाशन के कार्य को अपने हाथों में लिये हुए है। स्वामी दयानन्द द्वारा संस्थापित वैदिक यंत्रालय की प्रबन्ध-व्यवस्था भी यही सभा करती है। परोपकारिणी सभा की वार्षिक रिपोर्टों के आधार पर लिखा गया यह इतिहास स्वामी दयानन्द की उत्तराधिकारिणी संस्था की समस्त प्रवृत्तियों का वस्तुनिष्ठ विवरण प्रस्तुत करता है।

सार्वदेशिक तथा प्रान्तीय सभाओं से भिन्न आर्यसमाज का संगठन मण्डलों एवं जिलों के अन्तर्गत आर्यसमाजों की जिलास्तरीय उपप्रतिनिधि सभाओं तथा मण्डलीय सभाओं का रूप लेता है। इस प्रकार के जिलास्तर के आर्यसामाजिक संगठनों के क्रिया-कलापों का इतिहास लिखे जाने के भी कुछ प्रयत्न हुए हैं। उदाहरणार्थ पण्डित भवानी-प्रसाद लिखित "बिजनौर मण्डल आर्यसमाज का इतिहास" को लिया जा सकता है। इसमें उत्तरप्रदेश के एक जिले—बिजनौर के अन्तर्गत आने वाली आर्यसमाजों के कार्यों एवं उपलब्धियों की समीक्षा प्रस्तुत की गई है। आर्यसमाज की प्रथम स्थापना बम्बई में हुई थी। श्री दामोदर सुन्दरदास लिखित "मुम्बई आर्यसमाज नो इतिहास" आर्यसमाज की स्थापना के काल से लेकर १९३३ ई० तक की बम्बई महानगर की आर्यसामाजिक प्रवृत्तियों का विवरण प्रस्तुत करता है। आर्यसमाज के इतिहास की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ का महत्त्व निर्विवाद है क्योंकि इसमें स्वामी दयानन्द के बम्बई-प्रवास, आर्यसमाज की स्थापना एवं उसके प्रारम्भकालीन २८ नियम, आर्यसमाज बम्बई के प्रारम्भिक सभासदों का विवरण तथा इस आर्यसमाज द्वारा संचालित अनेक प्रवृत्तियों का विस्तृत उल्लेख मिलता है। गुजराती में लिखा गया यह ग्रन्थ आर्यसमाज के इतिहासकार के लिए मूल्य-वान् उपादान है। आर्यसमाज मुजफ्फरपुर की रजत जयन्ती के अवसर पर प्रकाशित "जयन्ती स्मारक ग्रन्थ" सामान्यतया बिहार की आर्यसामाजिक चेतना को उजागर करता है, किन्तु प्रधानतया वह मुजफ्फरपुर आर्यसमाज की कार्य-प्रवृत्तियों का ही विवरण देता है। इसके लेखक श्री रामरीझन रसूलपुरी थे, तथा इसका प्रकाशन २००४ वि० में हुआ था।

अनेक आर्यसमाजों ने समय-समय पर अपने इतिहास भी प्रकाशित किये हैं जिनसे इतिहास-लेखन में पर्याप्त सहायता मिलती है। ऐसे आर्यसमाजों में आर्यसमाज गणेशगंज लखनऊ, मेस्टनरोड कानपुर, लुधियाना, फैजाबाद, लश्कर (ग्वालियर), चौक प्रयाग, मेरठ आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। अनेक आर्यसमाजों ने समय-समय पर प्रकाशित अपनी स्मारिकाओं में इतिहास-विषयक बहुमूल्य सामग्री संकलित की है। यहाँ यह ध्यातव्य है कि पुस्तक रूप में प्रकाशित वृत्तान्त स्थायित्व ग्रहण कर लेता है जब कि स्मारिकाओं का महत्त्व सामयिक होता है चाहे उन्हें तैयार करने में कितना ही श्रम एवं द्रव्य व्यय क्यों न किया गया हो।

आर्यसमाज जैसी कर्मठ एवं सक्रिय संस्था को समय-समय पर ऐसे आन्दोलनों

एवं संघर्षों के दौर से भी गुजरना पड़ा है जो उसने धर्म, समाज तथा राष्ट्र के व्यापक हितों को ध्यान में रखकर चलाये। केरल के मलाबार प्रान्त निवासी मोपला मुसलमानों ने स्थानीय हिन्दुओं पर अमानुषिक अत्याचार किये तथा सहस्रों की संख्या में उनका मत-परिवर्तन किया, तो आर्यसमाज के अनेक स्वयंसेवक तथा कार्यकर्ता उत्तर भारत से मलाबार के पीड़ित हिन्दुओं की सहायतार्थ वहाँ गये थे। मुख्यतया यह सहायता-कार्य आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में महात्मा हंसराज के निर्देशानुसार महात्मा खुशहालचन्द खुर्सन्द (कालान्तर में महात्मा आनन्दस्वामी) के नेतृत्व में सम्पन्न किया गया। प्रादेशिक सभा द्वारा मोपलाकाण्ड से पीड़ित हिन्दू जनता को राहत पहुँचाने वाले इस सहायता-कार्य का विवरण "मलाबार और आर्यसमाज" शीर्षक से संगृहीत किया गया था।

१९३९ ई० में निज़ाम हैदराबाद रियासत में धार्मिक अधिकारों की रक्षा के लिए आर्यसमाज को सत्याग्रह करना पड़ा। महात्मा नारायण स्वामीजी के कुशल नेतृत्व में संचालित इस सत्याग्रह आन्दोलन में आर्यसमाज को पूर्ण सफलता मिली। सत्याग्रह के इस समस्त घटनाचक्र को आर्यसमाज के अनेक मनस्वी लेखकों ने ग्रन्थबद्ध किया है। हरियाणा राज्य में स्थित भूतपूर्व मुसलमानी रियासत लोहारू में एक समय आर्यसमाज के प्रचार-कार्य को सहन न करने के कारण तत्कालीन नवाब की सरकार ने स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी सहित आर्यसमाज के प्रचारकों पर अमानुषिक अत्याचार किये तथा उन्हें असह्य शारीरिक यंत्रणायें भी दीं। यह समस्त घटनाचक्र आर्यसमाज के त्याग और बलिदान के इतिहास का एक ज्वलन्त पृष्ठ है। श्री भगवन्तसिंह आर्य लिखित "आर्यसमाज लोहारू का रोमांचक इतिहास" इसी मर्मभेदी घटना का हृदयविदारक चित्र प्रस्तुत करता है।

आर्यसमाज के इतिहास की उपादान सामग्री में विभिन्न सभा-संस्थाओं के वार्षिक विवरणों, विशिष्ट आयोजनों के वृत्तान्तों तथा आर्यसमाज की आनुषंगिक प्रवृत्तियों से सम्बद्ध संस्थाओं के इतिहासों का भी समावेश किया जा सकता है। १९२५ ई० में मथुरा में स्वामी दयानन्द की जन्मशताब्दी का समारोह सम्पन्न हुआ था। उसके तत्काल बाद सार्वदेशिक सभा के तत्कालीन मन्त्री डॉक्टर केशवदेव शास्त्री ने 'श्रीमद्दयानन्द जन्मशताब्दी वृत्तान्त' को सम्पादित कर पुस्तकाकार प्रकाशित किया। इसी प्रकार 'दयानन्द निर्वाण अर्द्धशताब्दी वृत्तान्त' भी ग्रन्थाकार छपा। परोपकारिणी सभा ने १८८३ ई० से लेकर १९२६ ई० तक की अपनी वार्षिक रिपोर्टों को एक ही जिल्द में प्रकाशित किया है। समय-समय पर आयोजित आर्य महासम्मेलनों में स्वीकृत प्रस्ताव भी पुस्तकाकार छपे हैं तथा इन सम्मेलनों के अध्यक्षों द्वारा दिये गये अभिभाषणों को भी संकलित कर प्रकाशित किया गया है।

सभा-संस्थाओं के विवरण-संग्रह की दृष्टि से समय-समय पर निर्देशिकाओं (Directories) का भी प्रकाशन किया जाता है। सार्वदेशिक सभा ने आर्यसमाज विषयक विस्तृत जानकारी सुलभ कराने के विचार से "आर्य डाइरेक्टरी" का एकाधिक बार प्रकाशन कराया। यह दूसरी बात है कि भूमण्डल की समस्त आर्यसमाजों का समग्र तथा पूर्ण विवरण एक बार ही संग्रह कर प्रकाशित करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। कतिपय व्यक्तियों एवं संस्थाओं के प्रयत्नों से विगत काल में अनेक यंत्रियाँ तथा

दर्शयित्रियाँ नियमित रूप से प्रकाशित की जाती रहीं।

आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं के इतिहास भी इस आन्दोलन के सर्वांगीण इतिहास-लेखन में उपादान रूप में प्रयुक्त किये जा सकते हैं। गुरुकुल काँगड़ी के प्रारम्भिक वर्षों के इतिहास के सम्बन्ध में अनेक विवरण एवं वृत्तान्त प्रकाशित हैं, और इस संस्था की हीरक जयन्ती के अवसर पर "गुरुकुल-काँगड़ी के ६० वर्ष" शीर्षक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ। गुरुकुल काँगड़ी के ही समीपवर्ती गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के वृत्तान्त लिखने के भी कुछ प्रयत्न हुए हैं। इस महाविद्यालय की स्वर्ण जयन्ती के अवसर पर 'गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर का ५० वर्षीय इतिहास' प्रकाशित हुआ जिसका सम्पादन पं० नरदेव शास्त्री तथा उनके कतिपय साथियों ने किया था। इस ग्रन्थ में इतिहास के तत्त्व तो नगण्य ही हैं, किन्तु महाविद्यालय तथा उसके कार्यकर्ताओं से सम्बन्धित इतस्ततः बिखरी सामग्री का यह एक संकलन मात्र है। गुरुकुल काँगड़ी से उपाधिप्राप्त स्नातकों की एक परिचायिका डॉक्टर विनोदचन्द्र विद्यालंकार द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित की गई है। इसमें गुरुकुल काँगड़ी के आद्य स्नातक पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति से लेकर १९७६ ई० तक के स्नातकों (विद्यालंकार, वेदालंकार, आयुर्वेदालंकार आदि उपाधिप्राप्त) के जीवन एवं कृतित्व का संक्षिप्त विवरण निबद्ध किया गया है। साथ ही १९३१ से लेकर १९७६ ई० तक कन्या गुरुकुल देहरादून से उपाधिप्राप्त स्नातिकाओं का परिचय भी इस ग्रन्थ में समाविष्ट हुआ है।

डी० ए० वी० संस्थाओं का कोई व्यवस्थित इतिहास अब तक नहीं लिखा गया है। यह दूसरी बात है कि समय-समय पर अनेक डी० ए० वी० संस्थाओं ने अपने कार्य-वृत्त को स्मारिकाओं तथा वार्षिक पत्रिकाओं के विशेषांकों के रूप में अवश्य प्रस्तुत किया है। दयानन्द कालेज, अजमेर के अवकाशप्राप्त प्राचार्य श्री दत्तात्रेय वाब्ले ने भारत तथा विदेशों की आर्यसामाजिक शिक्षण संस्थाओं का परिचयात्मक विवरण 'डाइरेक्टरी' के रूप में प्रकाशित किया है। यह अपने-आप में एक परिश्रमसाध्य फलतः श्लाघनीय प्रयास था।

भारत से भिन्न देशों में हुए आर्यसामाजिक कार्यों के वृत्त को लिपिबद्ध करने के भी अनेक प्रयास समय-समय पर हुए हैं। सुदूर मॉरिशस देश में आर्यसमाज का प्रचार इस शताब्दी के प्रारम्भ में ही हो चुका था। स्वल्प जनसंख्या वाले इस देश में आर्यसमाज एक प्रबुद्ध क्रान्तिकारी आन्दोलन के रूप में उभर चुका है। इस देश की आर्यसामाजिक गतिविधियों का चित्रण श्री मोहनलाल मोहित ने स्वरचित "आर्यसभा मॉरिशस का इतिहास" शीर्षक ग्रन्थ में किया है। इसी प्रकार के कुछ अन्य प्रयत्न मॉरिशस देशीय अन्य आर्यसमाजी लेखकों द्वारा भी किये गये हैं। दक्षिण अफ्रीका में आर्यसमाज के कार्यों का विवरण श्री नरदेव वेदालंकार ने प्रस्तुत किया है। 'दक्षिण अफ्रीका में धर्मोदय' शीर्षक यह ग्रन्थ हिन्दी तथा अंग्रेजी दोनों भाषाओं में प्रकाशित हुआ है। आर्यसमाज नैरोबी का इतिहास भी पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ है। विदेशों में आर्यसमाज की समग्र गतिविधियों का चित्रण सार्वदेशिक सभा द्वारा प्रकाशित "विदेशों में आर्यसमाज" शीर्षक ग्रन्थ में हुआ था। इसकी भूमिका महात्मा नारायण स्वामी ने लिखी थी। विगत ५० वर्षों में विदेशों में आर्यसमाज की गतिविधियों में निरन्तर वृद्धि होती रही है। फलतः सार्वदेशिक सभा ने "आर्यसमाज एण्ड इण्डियन्स एब्रॉड" तथा "ए गाइड टु आर्यसमाज एब्रॉड" शीर्षक ग्रन्थ

प्रकाशित कर इन प्रवृद्धमान गतिविधियों से पाठकों को परिचित कराया है।

आवश्यकता इस बात की है कि आर्यसमाज के इतिहास से सम्बद्ध इस सारी सामग्री को एक केन्द्रीय स्थान पर संगृहीत कर शोधार्थियों के लिए उसे सुलभ बनाया जाय। भिन्न-भिन्न आर्यसमाजों के पुस्तकालयों में ऐसे सैकड़ों दुर्लभ एवं अलभ्य ग्रन्थ प्रमाद के कारण पड़े-पड़े नष्ट हो रहे हैं। यदि समय रहते आर्यसमाज के इतिहास की इस उपादानभूत सामग्री को सुरक्षित नहीं किया गया तो आने वाला इतिहासकार वड़ी कठिनाई में पड़ जायगा और इस आन्दोलन के गत्यात्मक स्वरूप को लिपिवद्ध करने में असमर्थ ही रहेगा।

(३) आर्यसमाज के नियम और उनके व्याख्या-ग्रन्थ

आर्यसमाज की स्थापना चैत्र शुक्ला पंचमी १९३२ वि० शनिवार, तदनुसार १० अप्रैल १८७५ ई० को बम्बई में हुई थी। उस समय इस संस्था के २८ नियम स्वीकार किये गये थे जिनमें सिद्धान्तों तथा संगठन-विषयक धाराओं को एकसाथ सम्मिलित कर लिया गया था। इन नियमों का सर्वप्रथम प्रकाशन बम्वई से ही १९३२ वि०(१८७६ ई०) में एक लघु पुस्तक के रूप में हुआ। इस पुस्तक का नाम था "श्री आर्यसमाज ना नियमो" और यह यूनियन प्रेस मुम्बई में मुद्रित हुई थी। इस पुस्तक के प्रारम्भ में आर्यसमाज की स्थापना-तिथि के सम्बन्ध में निम्न उल्लेख मिलता है—

श्री
आर्यसमाज
स्थापना संवत् १९३१ ना चैत्र शुद्ध ५ ने शनिवार।

यह ध्यातव्य है कि विक्रम संवत् १९३१ का यहाँ जो उल्लेख हुआ है वह गुजराती पंचांग के अनुसार है। उत्तर भारत में प्रचलित कालगणना के अनुसार उसे १९३२ वि० समझना होगा। इस पुस्तक की लिपि देवनागरी किन्तु भाषा गुजराती है। पुस्तक के अन्तिम भाग में आर्यसमाज बम्बई के प्रारम्भिक सभासदों के नाम अंकित हैं तथा प्रत्येक सभासद के नाम के आगे, उसकी जाति, व्यवसाय तथा शिक्षा का भी उल्लेख किया गया है। इस सूची में संख्या ३१ पर स्वामी दयानन्द का उल्लेख निम्न प्रकार से मिलता है—

क्रमांक	नाम	जाति	व्यवसाय	शिक्षा
३१	पण्डित दयानन्द सरस्वती स्वामी	ब्राह्मण	संन्यासी	संस्कृत और वैदिक संस्कृत

यह पुस्तक आर्यसमाज वम्वई की स्थापना के ११ मास पश्चात् ही प्रकाशित हुई थी। इस अवधि में आर्यसमाज वम्बई के साप्ताहिक सत्संगों में विविध विषयों पर विभिन्न वक्ताओं के लगभग ५० व्याख्यान हुए थे। पुस्तक के अन्त में इनमें से कुछ व्याख्यानों के शीर्षक तथा वक्ताओं के नाम भी उल्लिखित हुए हैं। इस प्रकार धरती के प्रथम आर्यसमाज के प्रथम वर्ष का विवरण जानने की दृष्टि से इस पुस्तक का महत्त्व निर्विवाद है।

१८७७ ई० में लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना हुई। इस समय यह आवश्यक समझा गया कि आर्यसमाज के उद्देश्यों अथवा नियमों के अन्तर्गत तो उन्हीं सिद्धान्तों

को सूचित किया जाना चाहिए जो इस संस्था की मूलभूत मान्यताओं के आधारविन्दु हैं, परन्तु उपनियमों के अन्तर्गत इस संगठन को संचालित करने वाले सांवैधानिक ढाँचे को सूत्रवद्ध किया जाना उचित है। इस प्रकार आर्यसमाज के नियमों के अन्तर्गत जिन वातों का उल्लेख हुआ है वे सार्वभौम, सार्वकालिक तथा अपरिवर्तनीय हैं जबकि उपनियमों में देश, काल और परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन किया जा सकता है। इस प्रकार नियमों और उपनियमों का पृथक्शः निर्धारण हो जाने पर उन्हें प्रथम बार आर्यसमाज लाहौर ने मेडिकल हाल प्रेस बनारस में मुद्रित कराकर प्रकाशित किया। कालान्तर में इन नियमों और उपनियमों का प्रकाशन अनेक संस्थाओं और प्रकाशकों द्वारा हुआ है। सार्वदेशिक सभा ने समय-समय पर उपनियमों के अधिकृत रूप को प्रकाशित किया है। आर्यसमाज के नियमों के अनुवाद अनेक प्रान्तीय तथा विदेशी भाषाओं में हुए हैं जबकि उपनियमों का अंग्रेजी अनुवाद राय ठाकुरदत्त धवन तथा पण्डित गंगाप्रसाद जज द्वारा किया गया था।

आर्यसमाज के इन नियमों को सर्वाधिक व्यापक तथा सर्वसामान्य के लिए स्वीकरणीय कहा जा सकता है। इस दृष्टि से उन्हें विश्वमानवता के लिए निर्मित आदर्श विधान कहना अधिक उपयुक्त होगा। समय-समय पर इन नियमों की सारगर्भित व्याख्यायें प्रबुद्ध आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा उपस्थित की गई हैं। स्वामी दयानन्द के समकालीन तथा उन्हीं के द्वारा परोपकारिणी सभा के उपमंत्री-पद पर नियुक्त पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या ने इन नियमों की प्रथम बार व्याख्या लिखी तथा उनका शास्त्रीय आधार प्रस्तुत किया। यह व्याख्या १८९७ ई० में प्रकाशित हुई थी। स्वामी दयानन्द की जन्मशताब्दी के अवसर पर स्वामी सत्यप्रकाश यति द्वारा लिखी गई आर्यसमाज के नियमों की एक अन्य व्याख्या प्रकाशित हुई। इसमें इन नियमों की पुष्टि में वेदमन्त्रों के प्रमाण प्रस्तुत किये गये थे। कालपी (जिला कानपुर) निवासी पण्डित शिवचरणलाल सारस्वत ने भी आर्यसमाज के नियमों की वेदमन्त्रों से संगति स्थापित करने की पुष्टि में एक ग्रन्थ लिखा था जो १८९८ ई० में प्रकाशित हुआ। कुछ अन्य व्याख्याओं में पण्डित रघुनाथप्रसाद पाठक लिखित दशनियम व्याख्या, स्वामी सत्यानन्द रचित आर्यसामाजिक धर्म, जगदीशचन्द्र विद्यार्थीकृत स्वर्ण-सिद्धान्त, प्राध्यापक भद्रसेन लिखित जीवन विकास के सर्वांगीण सूत्र आदि महत्त्वपूर्ण हैं। विशिष्ट नियमों की व्याख्यायें भी पुस्तकाकार छपी हैं। पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा ने वेदविषयक तृतीय नियम की व्याख्या प्रस्तुत की जब कि पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा ने ईश्वर के स्वरूप की व्याख्या रूप में निबद्ध द्वितीय नियम का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है।

आर्यसमाज के इतिहास में एक समय ऐसा भी आया था, जब इस विवाद ने जन्म लिया कि क्या आर्यसमाज की सदस्यता स्वीकार करने के लिए दस नियमों को मानना ही पर्याप्त है अथवा स्वामी दयानन्द के उन सभी मन्तव्यों की यथार्थता को स्वीकार करना भी आवश्यक है जो वेदादि शास्त्रों के आधार पर उनके ग्रन्थों में निबद्ध हुए हैं? दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय लाहौर के प्रथम आचार्य तथा कालान्तर में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान के संस्थापक व संचालक पण्डित विश्वबन्धु शास्त्री ने रायबहादुर मूलराज से प्रोत्साहन पाकर "दश-प्रश्नी" पुस्तिका लिखी तथा उसे दयानन्द निर्वाण अर्धशताब्दी समारोह के अवसर पर अजमेर में एकत्रित आर्य पुरुषों में वितरित किया।

इसमें इस बात पर जोर दिया गया था कि आर्यसमाज के सदस्य बनने के लिए दस नियमों को स्वीकार करना ही पर्याप्त है, स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के प्रति शत प्रतिशत आस्था व्यक्त करना आवश्यक नहीं है। जिस प्रयोजन से "दश-प्रश्नी" का प्रकाशन किया गया था, यदि वह पूरा हो जाता तो निश्चय ही आर्यसमाज में दृष्टिभ्रम तथा बुद्धिभेद पैदा होता। इसी आशंका का निवारण करने के लिए आर्यसमाज के दूरदर्शी नेता तथा स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के प्रति निष्कपट आस्था रखनेवाले महात्मा हंसराज ने "दश-प्रश्नी की समीक्षा" लिखी। इसमें यह स्पष्ट किया गया था कि दस नियमों को स्वामी दयानन्द की मान्यताओं से किसी भी प्रकार अलग नहीं किया जा सकता। महात्मा हंसराज की यह पुस्तक प्रथम "हिन्दी मिलाप" लाहौर के ६ नवम्बर १९३३ के अंक में प्रकाशित हुई। कालान्तर में इसे आर्य प्रादेशिक सभा ने पृथक् पुस्तकाकार भी प्रकाशित किया।

आर्यसमाज के नियमों को संस्कृत छन्दों में काव्यबद्ध करने का श्रेय स्वामी दयानन्द के प्रत्यक्ष शिष्य तथा लेखक पण्डित ज्वालादत्त शर्मा को है। उन्होंने "दशनियम-शिखरिणी" शीर्षक से इनका काव्यानुवाद किया जो वैदिक यंत्रालय, अजमेर से १९५० वि० में प्रकाशित हुआ। संस्कृत के यशस्वी कवि पण्डित अखिलानन्द शर्मा ने "आर्य-नियमोदय काव्य" लिखकर इन नियमों को काव्य रूप प्रदान किया है। इस काव्य पर उन्होंने स्वयं संस्कृत तथा हिन्दी में टीकाएँ लिखीं। भारत की अन्य भाषाओं में भी इन नियमों पर कुछ व्याख्यायें लिखी गई हैं। इनमें से कुछ तो स्वामी सत्यानन्द तथा जगदीश-चन्द्र विद्यार्थी लिखित ग्रन्थों के अनुवाद ही हैं। अंग्रेजी में पण्डित चमूपति ने आर्यसमाज के नियमों की प्रौढ़ एवं प्रभावशाली व्याख्या लिखी, जो 'दि टेन कमाण्डमेंट्स ऑफ स्वामी दयानन्द' शीर्षक से सर्वप्रथम लाहौर से प्रकाशित हुई थी। कालान्तर में इसके अनेक संस्करण अन्य स्थानों से भी निकले। प्राचार्य अविनाशचन्द्र बोस तथा श्री पूर्ण-चन्द्र एडवोकेट लिखित अंग्रेजी व्याख्या-ग्रन्थ भी उपयोगी हैं।

(४) आर्यसमाज विषयक परिचयात्मक साहित्य

आर्यसमाज जैसे प्रबुद्ध, प्रगतिशील तथा जनमानस में गहराई तक प्रविष्ट होकर एक महान् वैचारिक क्रान्ति का प्रवर्तन करने वाले आन्दोलन के लिए यह सर्वथा आवश्यक था कि वह अपने मन्तव्यों और सिद्धान्तों, कार्यों और प्रवृत्तियों तथा उपलब्धियों एवं सफलताओं से जनसामान्य को परिचित भी कराता। इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए आर्यसमाज की गतिविधियों तथा कार्यकलाप से परिचय करानेवाले ग्रन्थ समय-समय पर अनेक भाषाओं में लिखे तथा प्रकाशित किये गये। इस श्रेणी का प्रथम ग्रन्थ वैदिक यंत्रालय के स्वामी दयानन्दकालीन प्रबन्धक मुन्शी समर्थदान द्वारा लिखित "आर्यसमाज परिचय" है जो १८८७ ई० में भारतजीवन प्रेस, काशी में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ था। इसी कोटि के कुछ अन्य ग्रन्थ पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या, पण्डित छुट्टनलाल स्वामी, स्वामी दर्शनानन्द आदि के द्वारा भी लिखे गये। किन्तु आर्यसमाज की सैद्धान्तिक तथा कार्यकारी प्रवृत्तियों का सर्वांगीण परिचय पाठक-समुदाय से कराने का श्रेय पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय, महात्मा नारायण स्वामी, शान्त स्वामी अनुभवानन्द, पण्डित रघुनाथप्रसाद पाठक तथा पण्डित मदनमोहन विद्यासागर आदि

सिद्धहस्त लेखकों को है जिन्होंने एतद्विषयक कुछ उत्तम ग्रन्थों की रचना की है। आर्यसमाज के परिचयात्मक ग्रन्थों की संख्या पर्याप्त अधिक है, क्योंकि प्रचारात्मक दृष्टि से परिचय-प्रधान साहित्य का विशेष महत्त्व होता है। विभिन्न भारतीय भाषाओं में भी ऐसे ग्रन्थ पर्याप्त संख्या में उपलब्ध होते हैं।

अंग्रेजी में आर्यसमाज-विषयक परिचयात्मक ग्रन्थ लिखनेवालों में पुरानी तथा नवीन पीढ़ी के लेखकों ने बराबर-सा योगदान किया है। अंग्रेजी के प्रौढ़ लेखक बाबा छज्जूसिंह, पण्डित विष्णुलाल शर्मा, पण्डित शंकरनाथ, लाला रलाराम, पण्डित केशवदेव ज्ञानी आदि की परिचयात्मक पुस्तकें आर्यसमाज के अंग्रेजी साहित्य की उल्लेखनीय निधि हैं। इसी प्रकार आचार्य दीवानचन्द, पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय तथा पण्डित रघुनाथ प्रसाद पाठक ने कुछ उत्तम ग्रन्थ अंग्रेजीविद् पाठकों से आर्यसमाज को परिचित कराने के लिए लिखे हैं। यह खेद का विषय है कि अंग्रेजी से भिन्न अन्य विदेशी भाषाओं में आर्यसमाज-विषयक परिचयात्मक ग्रन्थों का सर्वथा अभाव ही है। न तो यूरोप की जर्मन, फ्रेंच, रूसी आदि आधुनिक भाषाओं में और न चीनी, जापानी, अरबी आदि एशियाई भाषाओं में ही आर्यसमाज-विषयक साहित्य उपलब्ध होता है। आर्य प्रतिनिधि सभा बर्मा के पुरुषार्थ और प्रयत्न से इस विषय की दो पुस्तकें अनूदित रूप में बर्मी भाषा में प्रकाशित की गई थीं।

यह सब होने पर भी आर्यसमाज के इतिहास, सिद्धान्त तथा उसके कर्तृत्व का विस्तृत समीक्षण करनेवाले एक ऐसे प्रौढ़ ग्रन्थ की आवश्यकता तो बनी हुई ही है जो इस संस्था का सर्वांगीण मूल्यांकन ऐतिहासिक संदर्भ में करे तथा जिससे आर्यसमाज के गरिमामय स्वरूप का जनसाधारण को परिचय मिल सके।

विश्वविद्यालय स्तर के शोधग्रन्थ—विश्वविद्यालय स्तर पर किये जाने वाले शोधकार्यों के अन्तर्गत आर्यसमाज तथा उसकी प्रवृत्तियों के मूल्यांकनपरक विषयों को लेकर गवेषणामूलक शोध-प्रबन्ध लिखने की परिपाटी का आरम्भ आर्यसमाज की स्थापना के ५० वर्ष पश्चात् ही हो गया था। हम देखते हैं कि १९२५ ई० में केलिफोर्निया विश्वविद्यालय में लालचन्द मेहरा नामक एक सज्जन ने 'दि आर्यसमाज एज़ एन एज्यूकेशनल मूवमेंट' शीर्षक शोधप्रबन्ध लिखा। १९४२ ई० में जे० रीड ग्राहम ने 'दि आर्यसमाज एज़ ए रिफॉर्मेशन इन हिन्दुइज़्म विद स्पेशल रेफ्रेंस टु कास्ट' शीर्षक शोधप्रबन्ध अमेरिका की येल यूनीवर्सिटी में उपाधि हेतु प्रस्तुत किया। किन्तु भारतीय विश्वविद्यालयों में आर्यसमाज-विषयक शोधकार्य का आरम्भ देश के स्वाधीन हो जाने के पश्चात् ही हुआ। सर्वप्रथम हम हिन्दी भाषा और साहित्य के क्षेत्र में आर्यसमाज-विषयक योगदान की विवेचना करनेवाले शोधकार्यों का उल्लेख करेंगे।

यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है कि आर्यसमाज ने अपनी विचारधारा तथा सैद्धांतिक आधार को अधिकाधिक प्रचारित करने के लिए लोक-भाषा का आश्रय लिया था। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जनमानस तक अपनी विचारधारा को पहुँचाने के लिए जिन धर्मान्दोलनों ने जनभाषाओं को माध्यम के रूप में स्वीकार किया, वे अपने प्रयोजन में सफल भी रहे। बौद्ध मत के व्यापक प्रचार का श्रेय पालि एवं प्राकृत जैसी जन-भाषाओं को ही है। इसी प्रकार मध्यकालीन सन्तों ने उत्तरभारत में प्रचलित लोक-भाषाओं में अपनी काव्यरचना की और उसी माध्यम से वे लोकप्रियता अर्जित कर

सके। स्वामी दयानन्द की भाषा-विषयक नीति भी इसी आधार को लेकर चली थी। स्वयं की मातृभाषा गुजराती होने तथा संस्कृत पर असीम अधिकार रखने पर भी उन्होंने भारत की सर्वमान्य राष्ट्रभाषा हिन्दी को ही अपनी विचाराभिव्यक्ति का साधन बनाया, जिसे वे "आर्यभाषा" के सम्मानास्पद नाम से अभिहित करते थे। उन्हीं के अनुकरण पर आर्यसमाज ने भी अपनी विचारधारा के प्रचार एवं प्रसार के लिए मुख्य रूप से हिन्दी को ही माध्यम बनाया। समकालीन धर्मान्दोलनों की तुलना में आर्यसमाज को जो व्यापक जनाधार मिला, तथा वह उत्तरभारत के जनमानस में स्वविचारों को प्रविष्ट कराने में अधिक सफल रही, इसका एक प्रमुख कारण उसका वह प्रचार-कार्य था जो लोक-भाषा का आधार लेकर चला था, जबकि ब्रह्मसमाज, थियोसोफिकल सोसाइटी एवं रामकृष्ण मिशन आदि ने अंग्रेजी को अपनी अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम बनाया और वे सीमित, शिक्षित वर्ग तक ही अपनी बात को पहुँचा सके।

इस प्रकार एक शताब्दी की सुदीर्घ अवधि में आर्यसमाज के लेखकों के द्वारा जो प्रचुर लेखन-कार्य हिन्दी में हुआ, उसका शोधपरक मूल्यांकन करने का अवसर भी यथासमय आया। यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि आर्यसमाजी लेखकों द्वारा जिस साहित्य का प्रणयन हुआ है वह ज्ञानात्मक एवं रसात्मक दोनों प्रकार का है। इस प्रकार साहित्य में प्रचलित सभी विधाओं को स्वीकार करते हुए आर्यसमाजी लेखकों ने हिन्दी भाषा और साहित्य की सार्वत्रिक अभिवृद्धि में अपना गणनीय योगदान किया है। कालान्तर में शोध विद्वानों ने इस कार्य का यथार्थवादी मूल्यांकन भी किया। सर्वप्रथम लखनऊ विश्वविद्यालय से डॉक्टर लक्ष्मीनारायण गुप्त ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन' शीर्षक ग्रन्थ लिखकर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की। यह इस विषय का प्रथम एवं प्रास्ताविक ग्रन्थ था जिसमें हिन्दी भाषा के प्रचार एवं प्रसार तथा हिन्दी साहित्य की सर्वतोमुखी उन्नति में आर्यसमाजी लेखकों के कर्तृत्व की समीक्षा की गई थी। १९६२ ई० में प्रकाशित यह शोधप्रबन्ध आर्यसमाज विषयक प्रथम ग्रन्थ था जो किसी भारतीय विश्वविद्यालय की शोध-उपाधि के लिए स्वीकार किया गया। हिन्दी के गद्य-साहित्य (जिसके अन्तर्गत कथा-साहित्य, नाटक, निबन्ध, समालोचना आदि सभी विधाओं को गिना जाता है) को प्रवृद्ध करने में आर्यसमाज के लेखकों के अवदान का मूल्यांकन मराठवाड़ा विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० उपाधि ग्रहण करने वाले डॉक्टर चन्द्रभानु सोनवणे ने किया है। इसे ग्रन्थम कानपुर ने १९७४ ई० में प्रकाशित किया।

आधुनिक युग में विचारधाराविशेष के प्रचार-प्रसार में पत्र-पत्रिकाओं की भूमिका अत्यन्त प्रभावी तथा विश्वसनीय मानी जाती है। जिस युग में आर्यसमाज की स्थापना हुई, उस युग में हिन्दी की पत्रकारिता अपनी शैशवावस्था में ही थी। किन्तु उस काल में भी आर्यसमाज ने पत्रों के माध्यम से अपने आन्दोलन को देशव्यापी बनाने में अप्रतिम पुरुषार्थ का परिचय दिया। इस प्रकार आर्यसमाज की पत्रकारिता का इतिहास भी अपने जीवन की एक शताब्दी पूरी कर चुका है। हिन्दी से भिन्न अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी आर्यसमाज ने अनेक पत्र निकाले। 'हिन्दी पत्रकारिता को आर्यसमाज की देन' का विवेचन डॉक्टर मदनमोहन जावलिया ने अपने शोधग्रन्थ में किया है जो अभी तक अप्रकाशित है। इसे राजस्थान विश्वविद्यालय ने १९७५ ईसवी में पी०-एच० डी० उपाधि हेतु स्वीकृत किया था।

इन पंक्तियों के लेखक ने 'आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार' शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ लिखकर आर्यसमाज के तत्त्वावधान में प्रकाशित विभिन्न भाषाओं के समस्त पत्रों तथा उनसे सम्बद्ध पत्रकारों का विस्तृत परिचय दिया है। इसे परोपकारिणी सभा अजमेर ने १९८१ ई० में प्रकाशित किया।

'हिन्दी काव्य को आर्यसमाज की देन' विषय पर पंजाब विश्वविद्यालय की दयानंद शोध पीठ के तत्त्वावधान में श्रीमती वीणा कल्ला द्वारा शोधकार्य संपादित हो रहा है। डॉ० भक्तराम शर्मा ने अपने लघु शोधप्रबन्ध 'द्विवेदीयुगीन काव्य पर आर्यसमाज का प्रभाव' में पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी के समकालीन कवियों पर आर्यसमाज की विचारधारा के प्रभाव की विवेचना की है। आर्यसमाजी कवियों द्वारा रचित काव्य साहित्य-शास्त्र की मान्य कसौटी पर कितना खरा उतरा है, यह तो अनुसन्धेय है ही, किन्तु इस विषय पर कार्य करनेवाले अनुसन्धानकर्ता को यह ध्यान रखना होगा कि काव्य-रचना का उद्देश्य जहाँ ब्रह्मानन्द तुल्य रसानुभूति प्राप्त करना होता है वहाँ 'कान्तासम्मित उपदेश' देना भी उसका एक मुख्य प्रयोजन माना गया है। इस दृष्टि से आर्यसमाजी कवियों द्वारा रचित काव्य ने हिन्दी-भाषी समुदाय को जिस प्रकार प्रभावित, उद्वेल्लित तथा आनन्दित किया है, उसका सम्यक् समीक्षण साहित्यिक शोध की उपलब्धि ही मानी जाएगी। आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दी के कथा-साहित्य, नाटक-साहित्य, जीवनी एवं आत्म-कथा-साहित्य को आर्यसमाजी लेखकों के अवदान जैसे विषयों पर भी शोध-कार्य सम्पन्न कराये जायें ताकि हिन्दी साहित्य की बहुमुखी अभिवृद्धि में आर्यसमाज के सर्वांगीण सहयोग का यथार्थ मूल्यांकन किया जा सके।

हिन्दी की ही भाँति संस्कृत भाषा एवं साहित्य को समुन्नत बनाने तथा उसमें विविध रंग भरने में आर्यसमाज के विद्वद्वर्ग के योगदान की समीक्षा इन पंक्तियों के लेखक ने १९६८ ई० में प्रकाशित अपने शोधग्रन्थ में की है। आर्यसमाज से सम्बन्धित संस्कृत कवियों, नाटककारों, निबन्धलेखकों तथा अन्य शैलीकारों के कृतित्व का विस्तृत मूल्यांकन उपर्युक्त विषय का उपबृंहण ही होगा। इस क्षेत्र में कुछ कार्य हुआ है और हो भी रहा है।

आर्यसमाज की विचारधारा मानव-जीवन के सभी पहलुओं को स्पर्श करती है तथा व्यक्ति एवं समाज के सर्वतोमुखी उत्थान के लिए एक व्यापक कार्यक्रम प्रस्तुत करती है। यही कारण है कि धर्म, दर्शन एवं अध्यात्म जैसे पारलौकिक विषयों से भिन्न शिक्षा, सामाजिक जीवन, राष्ट्रीय प्रगति एवं आर्थिक उन्नति जैसे लौकिक क्षेत्रों में भी आर्यसमाज ने अपनी सक्रिय भूमिका निभाई है। भारतीय शिक्षा-व्यवस्था में तो आर्य-समाज का योगदान एतद्विषयक शासकीय प्रयत्नों के ठीक बाद में ही गिना जाता है। जैसाकि इस प्रकरण के आरम्भ में हम लिख चुके हैं, आर्यसमाज की एक शैक्षिक आन्दोलन के रूप में क्या भूमिका रही है, उसका विश्वविद्यालय स्तर पर विवेचन १९२५ ई० में ही किया जा चुका था। बड़ौदा के सयाजीराव विश्वविद्यालय से स्वर्गीय डॉक्टर (कुमारी) सरस्वती पण्डित ने 'भारतीय शिक्षा को आर्यसमाज की देन' शीर्षक शोधप्रबन्ध लिखकर शिक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाज के कर्तृत्व का तथ्यपरक अनुशीलन किया है। उनके इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है, यद्यपि मूलतः यह प्रबन्ध अंग्रेजी में लिखा जाकर सार्वदेशिक सभा द्वारा आर्यसमाज-स्थापना-शताब्दी

के अवसर पर प्रकाशित किया जा चुका था। आर्यसमाज द्वारा प्रचलित गुरुकुल-शिक्षा-प्रणाली तथा उसकी सफलता जैसे विषयों पर भी कुछ लघु शोधप्रबन्ध लिखे गये हैं। इसमें से अधिकांश अप्रकाशित ही हैं।

संस्कृति, भाषा और साहित्य से कहीं बढ़कर आर्यसमाज का योगदान सामाजिक एवं राष्ट्रीय जागरण के लिए आवश्यक चेतना उत्पन्न करने में रहा है। इतिहासकार इस तथ्य को स्पष्ट स्वीकार कर चुके हैं कि भारत के स्वाधीनता संग्राम में आर्यसमाज की निर्णायक भूमिका रही है। स्वामी दयानन्द के राष्ट्रवादी चिन्तन में ही स्वाधीनता प्राप्ति हेतु संघर्ष करनेवाले स्वतन्त्रता सेनानियों को कुछ प्रेरणादायक सूत्र मिले थे। कालान्तर में जब भारत की स्वाधीनता के लिए संघर्ष का पाञ्चजन्य फूँका गया, तो आर्यसमाज के अनुयायियों ने उसे सावधानी से सुना और वे देश को आजाद कराने की लड़ाई में सबसे आगे रहे। स्वराज्य प्राप्ति के लिए वैधानिक उपायों तथा सशस्त्र क्रांति और आतंकवादी आन्दोलनों से विदेशी सत्ता का मूलोच्छेद करनेवाले क्रान्तिकारी प्रयत्नों को सफल बनाने में भी स्वामी दयानन्द के अनुयायियों का एक विशाल समूह सदा तत्पर रहा। देश के स्वतन्त्र हो जाने पर आर्यसमाज के राष्ट्रवादी कार्यों का लेखा-जोखा करने का अवसर शोधार्थियों को उपलब्ध हुआ है। ब्रिटिशकाल में आर्यसमाज के स्वाधीनचेता कार्यकर्ताओं की तथाकथित आपत्तिजनक कार्यवाहियों के सम्बन्ध में भेजी गई गुप्तचर-विभाग की खुफिया रिपोर्ट आज भी भारत के राष्ट्रीय अभिलेखागार में देखी जा सकती हैं। इस तथा अन्य उपलब्ध सामग्री के आधार पर भारत की राष्ट्रीय चेतना को जागृत करने, तथा देश के स्वाधीनता संग्राम को सफल बनाने में आर्यसमाज के योगदान का विस्तृत विवेचन शोधार्थी विद्वानों ने सम्यक्तया किया है। यहाँ एतद्विषयक शोधप्रबन्धों का किंचित् परिचय देना आवश्यक है।

भागलपुर विश्वविद्यालय में इतिहास-विभाग के रीडर डॉक्टर धनपति पाण्डेय का शोधप्रबन्ध 'दि आर्यसमाज एण्ड इण्डियन नेशनलिज्म' इस विषय की प्रथम कृति है। मेरठ विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोधप्रबन्ध 'भारतीय राष्ट्रवाद एवं आर्यसमाज आन्दोलन' तथा जीवाजी विश्वविद्यालय ग्वालियर से १९८१ ई० में स्वीकृत शोधप्रबन्ध 'भारतीय राष्ट्रीय जागरण में आर्यसमाज का योगदान' इसी शृंखला की अन्य कड़ियाँ हैं, जिनमें आर्यसमाज के राष्ट्रीय स्वरूप को पूर्ण तन्मयता के साथ उभारा गया है। राजस्थान विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोधप्रबन्ध के लेखक डॉक्टर राधेश्याम पारीक ने तो 'आधुनिक भारत के निर्माण में आर्यसमाज की देन' शीर्षक के अन्तर्गत धर्म, समाज, संस्कृति, शिक्षा एवं राष्ट्रीय जागरण—इन सभी क्षेत्रों में आर्यसमाज के अवदान की चर्चा कर अपने शोध-कार्य को एक व्यापक आधार दे दिया है। इसे सार्वदेशिक सभा ने 'काण्ट्रिब्यूशन ऑफ दि आर्यसमाज इन दि मेकिंग ऑफ मॉडर्न इण्डिया' शीर्षक से १९७३ ई० में प्रकाशित किया है। पंजाब विश्वविद्यालय से डॉक्टर शिवकुमार गुप्त ने 'ब्रिटिश एटीट्यूड एण्ड पॉलिसी टुवार्ड्स आर्यसमाज' (१९७५–१९२० ई०) शीर्षक विद्वत्तापूर्ण शोधप्रबन्ध लिखकर पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है। यह ग्रन्थ अभी तक अप्रकाशित ही है।

भारतीय विश्वविद्यालयों में आर्यसमाज-विषयक अनुसन्धान आरम्भ होने से बहुत पूर्व विदेशों के विश्वविद्यालयों में इस कार्य का प्रारम्भ हो चुका था। जे० रीड

ग्राहम के शोधप्रबन्ध की चर्चा हम कर चुके हैं। जी० थर्स्वी नामक एक अन्य विद्वान् ने १९२३–१९२८ ई० के दौरान भारत के हिन्दू मुसलमानों के सम्बन्धों की विवेचना आर्य-समाज की प्रवृत्तियों, भारत सरकार की नीतियों तथा इस अवधि में हुए साम्प्रदायिक उपद्रवों के संदर्भ में की है। उनका यह शोधप्रबन्ध ड्यूक विश्वविद्यालय द्वारा १९७२ ई० में स्वीकार किया गया था। भारत के विभिन्न प्रदेशों में आर्यसामाजिक प्रवृत्तियों का शोधात्मक अध्ययन भी विदेशी विश्वविद्यालयों में चल रहा है। इस प्रसंग में डॉ० केनेथ डब्ल्यू० जोन्स लिखित 'दि आर्य धर्म' नामक शोधग्रन्थ का उल्लेख आवश्यक है। विद्वान् शोधार्थी डॉ० जोन्स ने १८७७ ई० से लेकर १९०२ ई० तक की अवधि में पंजाब प्रान्त में हुए धार्मिक पुनरुत्थान तथा समाजसुधार के कार्यों का विस्तृत मूल्यांकन इस ग्रंथ में किया है। यह मीमांसा आर्यसमाज के संदर्भ में ही की गई है। तत्कालीन पंजाबप्रान्त की धार्मिक, सामाजिक तथा राजनैतिक पृष्ठभूमि का वैज्ञानिक समीक्षण करने के पश्चात् लेखक ने स्वामी दयानन्द के पंजाब-प्रवास तथा विगत शताब्दी के अन्त तक की आर्यसामाजिक गतिविधियों का तथ्याधारित विवेचन किया है। डॉक्टर जोन्स ने आर्यसमाज के साहित्य (बिब्लियोग्राफी ऑफ दि आर्यसमाज) पर एक उल्लेखनीय लेख लिखा है जिसमें आर्य-समाज के दुर्लभ साहित्य का परिचय देते हुए इस बात पर चिन्ता प्रकट की है कि यदि समय रहते इस अलभ्य वाङ्मय को संरक्षित नहीं किया गया, तो आनेवाले युग में इतिहासकारों के लिए इस सामग्री का उपयोग करना सर्वथा कठिन हो जाएगा। विगत शताब्दी में लिखे तथा छपे ग्रन्थ तो अब सर्वथा दुर्लभ ही हो गये हैं, साम्प्रतिक काल के साहित्य को उपलब्ध करना भी कठिन हो रहा है।

शोधकार्य को गति देने के लिए यह भी आवश्यक है कि जो कुछ लेखन-कर्म सम्पन्न हो, उसे प्रकाशित करने की व्यवस्था भी अविलम्ब की जाय। आर्यसमाज में उच्चस्तरीय साहित्य के लेखन और प्रकाशन में जो शैथिल्य दृष्टिगोचर हो रहा है, वह इस बात का संकेत है कि इस आन्दोलन के वर्तमान नेताओं में युगदृष्टि का अभाव है तथा वे साहित्य द्वारा वैचारिक परिवर्तन लाये जाने में विश्वास नहीं करते।

शोधग्रन्थों को यदि हम छोड़ दें तो यह कहना अनुचित नहीं होगा कि आर्यसमाज के सिद्धान्तों, कार्यों और उसकी उपलब्धियों की गम्भीर विवेचनायुक्त ग्रन्थों की प्रायः कमी है। 'भारतीय स्वतन्त्रता-संग्राम में आर्यसमाज का योगदान' शीर्षक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पण्डित सत्यप्रिय शास्त्री ने लिखा था। लेखक ने विभिन्न स्रोतों से दुर्लभ सामग्री का संग्रह कर इस ग्रन्थ की रचना की। अनेक शोधार्थियों ने अपने शोध-प्रबन्धों में सत्य-प्रिय शास्त्री की इस कृति से सहायता ली है। खेद है कि इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित नहीं हो सका। आर्यसमाज के इतिहास की योजना के अन्तर्गत डॉक्टर सत्यकेतु विद्या-लंकार के सम्पादन में इस ग्रन्थमाला का चतुर्थ भाग आर्यसमाज और भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम से ही सम्बन्धित है। डॉक्टर विद्यालंकार जैसे प्रतिष्ठित इतिहासविद् की लेखनी से लिखा गया इतिहास का यह खण्ड आर्यसमाज के राष्ट्रवाद और स्वाधीनता-संग्राम में उसकी देन को सम्पूर्ण गरिमा के साथ चित्रित करता है। इसका प्रकाशन १९८५ ई० में हुआ है।

विश्वविद्यालय-स्तर के शोध-ग्रन्थों की चर्चा के प्रसंग में हम हिन्दी भाषा और साहित्य को आर्यसमाज की देन से सम्बन्धित कुछ ग्रन्थों का उल्लेख कर चुके हैं। डॉक्टर

सूर्यदेव शर्मा की कृति 'हिन्दी और आर्यसमाज' वस्तुतः डॉक्टर लक्ष्मीनारायण गुप्त के शोध-ग्रन्थ का आधार लेकर लिखी गई है। इसमें मौलिकता के दर्शन नहीं होते। प्रमुख साहित्यकार श्री क्षेमचन्द्र सुमन ने बिहार राज्य द्वादश आर्य महासम्मेलन के अवसर पर आयोजित कविसम्मेलन की अध्यक्षता करते हुए जो विद्वत्तापूर्ण अभिभाषण दिया था, वही कालान्तर में 'हिन्दी साहित्य को आर्यसमाज की देन' शीर्षक से पुस्तकाकार छपा। श्री सुमन ने रोचक शैली में हिन्दी के गद्य, पद्य, नाटक, निबन्ध, पत्रकारिता आदि के क्षेत्रों में आर्यसमाजी लेखकों के योगदान का ऐतिहासिक सिंहावलोकन किया है।

जैसाकि हम लिख चुके हैं आर्यसमाज के सिद्धान्तों एवं कार्यों की गम्भीर विवेचनायुक्त पुस्तकों की संख्या अधिक नहीं है, तथापि यह लिखना भी उचित ही होगा कि एक गतिशील संस्था होने के नाते आर्यसमाज के लेखकों ने अपनी मातृसंस्था के विभिन्न क्रियाकलापों, प्रवृत्तियों तथा भिन्न विचारधारावाली संस्थाओं से तुलना आदि विषयों पर पर्याप्त मात्रा में लिखा है। आर्यसमाज का सामयिक राजनीति से कैसा सम्बन्ध रहे, यह एक ऐसा उलझनभरा प्रश्न है जिसने आर्य चिन्तकों को सदा ही उद्वेलित किया है। स्वामी वेदानन्द तीर्थ तथा स्वामी रामेश्वरानन्द ने 'आर्यसमाज और राजनीति' शीर्षक पुस्तकों में इसी समस्या पर अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं। समसामयिक धार्मिक, राजनैतिक एवं सामाजिक आन्दोलनों के साथ आर्यसमाज के सम्बन्धों की विवेचना करने वाले ग्रन्थों का चाहे स्थायी साहित्य की दृष्टि से महत्त्व न हो, किन्तु आर्यसमाज जैसे प्रगतिशील आन्दोलन का इतिहास लिखनेवालों के लिए इन ग्रन्थों का महत्त्व निर्विवाद है। आर्यसमाज और असहयोग, आर्यसमाज और कांग्रेस, आर्यसमाज और हिन्दू संगठन, साम्यवाद और आर्यसमाज, आर्यसमाज और साम्प्रदायिकता, महात्मा गांधी और आर्यसमाज, आर्यसमाज और सनातनधर्म, इस्लाम और आर्यसमाज आदि ग्रन्थ इसी कोटि में आते हैं।

ब्रिटिश शासनकाल में आर्यसमाज के राष्ट्रीय मन्तव्यों तथा देशभक्तिपूर्ण प्रवृत्तियों के कारण उसे विदेशी शासकों का कोपभाजन बनना पड़ा था। गुप्तचर संस्थाओं की रिपोर्टों में आर्यसमाज को षड्यन्त्रकारी जमात तथा अंग्रेजी साम्राज्य का विनाश करने में तत्पर लोगों की संस्था के रूप में पहचाना गया था। तत्कालीन आर्य नेताओं के लिए शासकों की यह वक्र दृष्टि कभी-कभी चिन्ता का कारण भी बन जाती थी। इसका स्पष्ट कारण यही था कि एक तो आर्यसमाज अपनी राष्ट्रीय विचारधारा से मुंह नहीं मोड़ सकता था, और दूसरी ओर यदि उसका प्रत्यक्ष धार्मिक चरित्र ही लांछित होता रहे तथा उसके समाज-सेवा आदि के कार्यों को भी यदि शंका की दृष्टि से देखा जाता रहे, तो उन लाखों आर्यसमाजियों के विश्वासों को ठेस लगने की सम्भावना थी जिनकी राजनैतिक कार्यों में कोई प्रत्यक्ष रुचि नहीं थी और जो आर्यसमाज के क्रियाकलापों को एक धार्मिक संस्था के निर्दोष क्रियाकलापों के रूप में ही फलते-फूलते देखना चाहते थे।

आर्यसमाज के नेताओं के समक्ष एक बार ऐसी ही परिस्थिति उस समय उत्पन्न हुई, जब पटियाला राज्य में स्थानीय आर्यसमाज के अधिकारियों और कार्यकर्ताओं पर राजद्रोह का मुकद्दमा चलाया गया। उस समय आर्यसमाज के जागरूक नेतृत्व ने महात्मा

मुंशीराम की दूरदर्शिता तथा बैरिस्टर रोशनलाल तथा दीवानबहादुर बद्रीदास जैसे विधि-विशेषज्ञों की कानूनी सहायता से आसन्न विपत्ति पर विजय प्राप्त की गई और पटियाला के आर्यसमाजी राजकोप से बच सके। इस मुकद्दमे में इस्तगासे (अभियोग) के पक्ष को सरकारी वकील ने जिस प्रकार पेश किया, उसे देखकर तो यही जान पड़ता था कि स्वामी दयानन्द के उदात्त मानववाद, प्रखर राष्ट्रवाद तथा देशभक्तिपूर्ण उद्गारों की भी गलत व्याख्या करने के लिए पंजाब के ख्यातनामा बैरिस्टर मिस्टर ग्रे बद्धपरिकर हैं। ऐसी विषम स्थिति में आर्यसमाज की नीतियों को स्पष्ट करने की दृष्टि से महात्मा मुंशी-राम ने आचार्य रामदेव के सहलेखन में जो विशालकाय ग्रन्थ 'दि आर्यसमाज एण्ड इट्स डिट्रेक्टर्स—ए विण्डिकेशन' शीर्षक लिखा, उससे आशंकाओं के बादलों से छाये तमस को दूर करने में पर्याप्त सहायता मिली। पटियाला-अभियोग का तथ्यात्मक विवरण देने के साथ-साथ इस ग्रन्थ में उन दलीलों और तर्कों का भी पुरजोर उत्तर दिया गया है, जो सरकारी वकील द्वारा आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था करार देने के समर्थन में प्रस्तुत किये गये थे। ब्रिटिशकाल की निरंकुश अफसरशाही के कारण उस युग में आर्यसमाज और आर्यसमाजियों को कैसे कष्ट उठाने पड़े, यह उक्त ग्रन्थ से स्पष्ट हो जाता है। इस दृष्टि से उसे आर्यसमाज के तत्कालीन इतिहास का एक प्रामाणिक दस्तावेज माना जाना चाहिए।

संयुक्त प्रान्त के तत्कालीन आर्य नेता श्री मदनमोहन सेठ ने भारत-मन्त्री लॉर्ड मॉर्ले को जो खुला पत्र लिखा, उसमें भी आर्यसमाज के प्रति ब्रिटिश नौकरशाही की वक्र दृष्टि तथा उसके कारण आर्यसमाजियों पर किये जाने वाले अत्याचारों का पूर्ण विवरण दिया गया है। 'आर्यसमाज—ए पोलिटिकल बॉडी—एन ओपन लैटर टु विस्काउण्ट मॉर्ले' शीर्षक यह ग्रन्थ आर्यसमाज को एक षड्यन्त्रकारी राजनैतिक संस्था समझे जाने की भूल का समाधान करता है। 'आर्यसमाज और राजनीति' विषय पर दिया गया लाला मुंशीराम का भाषण जो आर्यसमाज लाहौर के वार्षिकोत्सव के अवसर पर दिया गया था, पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ था। भाई परमानन्द की कृति 'दि आर्य-समाज एण्ड दि कांग्रेस' तथा पं० चमूपति लिखित पुस्तक 'महात्मा गांधी एण्ड दि आर्य-समाज' सामयिक विवेचनप्रधान ग्रन्थ हैं।

ईसाई प्रचारकों ने आर्यसमाज के सम्बन्ध में अनेक भ्रमपूर्ण एवं निन्दात्मक धारणाएँ प्रचलित की हैं। प्रसिद्ध ईसाई प्रचारक-लेखक जे० एन फर्कुहर ने अपनी कृति 'दि मॉडर्न रिलिजियस मूवमेंट्स इन इण्डिया' में आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के विषय में अनेक भ्रमात्मक बातें लिखी थीं। स्वामी श्रद्धानन्द ने इनका उत्तर 'ईसाई पक्षपात और आर्यसमाज' शीर्षक पुस्तक में दिया। ईसाई लेखकों का आर्यसमाज के प्रति दृष्टिकोण यदि हम देखना चाहें तो हमें पादरी फोरमेन, फ्रेंक लिलिंगटन, मर्डक, एच०-डी० ग्रिसवॉल्ड तथा रेवरेण्ड नील जैसे लेखकों की रचनाएँ पढ़नी होंगी। इनके विपरीत आर्यसमाज के प्रति प्रशंसापूर्ण दृष्टि अपनाने वाले पश्चिमी लेखकों में प्रथम नाम अमेरिका के विचारक और चिंतक एण्ड्रू जैक्सन डेविस का आता है। 'बियॉण्ड दि वैली' शीर्षक अपनी कृति में डेविस ने आर्यसमाज की उपमा उस प्रज्वलित अग्नि से दी है, जो संसार के पाखण्ड, अज्ञान, अन्धविश्वास एवं मूढ़ धारणाओं को भस्मसात् करने के लिए ही दयानन्द जैसे तेजस्वी संन्यासी की हृदयस्थली से उत्पन्न हुई थी। इस भावपूर्ण

श्रद्धांजलि को विरजानन्द प्रेस, लाहौर ने १८८८ ई० में 'व्यूज़ ऑन दि आर्यसमाज एण्ड इट्स फाउण्डर— स्वामी दयानन्द सरस्वती' शीर्षक से प्रकाशित किया था।

राय मूलराज के विचारों की चर्चा हम एक अन्य प्रसंग में कर चुके हैं। आर्यसमाज में मांस-भक्षण के समर्थकों में वे अग्रगण्य थे। यह दूसरी बात है कि उनकी बातों को स्वयं उनके दल के नेताओं ने अधिक महत्त्व नहीं दिया। तथापि वे यदा-कदा छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ लिखकर अपने विवादास्पद विचारों को पाठक समुदाय के समक्ष प्रस्तुत करते रहते थे। मैटर ऑफ फैक्ट सिरीज के अन्तर्गत उनके जो ग्रन्थ छपे हैं, उनमें कुछ ऐसे ही विवादास्पद मुद्दे उठाये गये थे।

विगत शताब्दी में अंग्रेजी में आर्यसमाज-विषयक गम्भीर ग्रन्थ-रचना करनेवालों में बावा छज्जूसिंह का नाम लिया जा सकता है। परन्तु बीसवीं शती में इस विषय में अंग्रेजी में लेखनकार्य प्राय: शिथिल ही रहा। प्रिंसिपल दीवानचन्द, पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय, पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति, तथा पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री की कुछ विवेचनप्रधान कृतियाँ आर्यसमाज-विषयक अंग्रेजी साहित्य में गणनीय स्थान रखती हैं। डॉक्टर स्वामी सत्यप्रकाश के अंग्रेजी भाषणों एवं लेखों का संग्रह 'दि आर्यसमाज—ए रेनैसाँ' शीर्षक से रत्नकुमारी शोध संस्थान, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ है। आचार्य दत्तात्रेय वाव्ले ने आर्यसमाज और हिन्दू धर्म के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना से युक्त एक ग्रन्थ 'दि आर्यसमाज हिन्दू विदाउट हिन्दुइज्म' शीर्षक लिखा है जिसे विकास (प्रा०) लिमिटेड जैसी मान्य प्रकाशन संस्था ने प्रकाशित किया है। बृहत्तर हिन्दू समाज को संगठन के सुदृढ़ सूत्र में बँधा देखने का इच्छुक आर्यसमाज हिन्दू धर्म के पर्याप्त निकट होने पर भी उसके अन्धविश्वासों, पाखण्डपूर्ण पूजा-उपासना के तौर-तरीकों तथा सामाजिक कुरीतियों का कितना विरोधी है, इसे सुधी लेखक ने अत्यन्त कुशलता के साथ चित्रित किया है।

(५) आर्यसामाजिक विधि-विधान

प्रत्येक धर्म तथा धार्मिक संस्था के कुछ निश्चित विधि-विधान, कर्मकाण्ड तथा आचार होते हैं। आर्यसमाज ने भी अपनी पूजापद्धति, कर्मकाण्ड के नियम तथा अन्य वैयक्तिक एवं सामाजिक मर्यादाओं के सम्बन्ध में सुनिश्चित आचार-संहिताएँ बनाई हैं। इस प्रकार की विधियाँ तथा आचार-संहिताएँ ही किसी संस्था की संगठनात्मक शक्ति तथा उसके अनुयायियों की समष्टिगत एकता की सूचक होती हैं। फिर यह बात भी स्मरण रखनी चाहिए कि स्वामी दयानन्द ने ईश्वरोपासना को नितान्त वैयक्तिक इतिकर्त्तव्य मानते हुए भी उसकी सामाजिक उपयोगिता का प्रतिपादन किया था। आर्यसमाज का १०वाँ नियम प्रत्येक आर्य को इस बात के लिए बाधित करता है कि वह सार्वजनिक एवं लोकहित के कार्यों में अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को प्रतिबन्धित समझे। इसी आधार पर आर्यसमाज के सर्वोच्च संगठनों के द्वारा समय-समय पर ऐसी पुस्तकें और ग्रन्थ प्रकाशित किए जाते रहे हैं जो विभिन्न धार्मिक विधियों तथा सामाजिक समारोहों के अवसर पर एक समान आचरण-संहिता का काम देते हैं। यहाँ कुछ ऐसे ही साहित्य की चर्चा की जा रही है।

आर्यसमाज में मनाये जानेवाले विभिन्न पर्वों की पद्धति पण्डित भवानीप्रसाद

ने तैयार की है। इस 'आर्यपर्वपद्धति' में ऋतु पर्व (दीपावली, होली, वसन्तपंचमी आदि), महापुरुषों के स्मृति दिवस (स्वामी दयानन्द निर्वाण दिवस, स्वामी दयानन्द बोध दिवस, पण्डित लेखराम का बलिदान दिवस) तथा श्रावणी, विजयदशमी, मकरसंक्रान्ति आदि धार्मिक व सांस्कृतिक पर्वों के इतिहास, महत्त्व तथा मनाने की विधि का संकलन किया गया है। इस ग्रन्थ का प्रथम संस्करण आर्यसमाज बगदाद की आर्थिक सहायता से दयानन्द जन्म शताब्दी समिति ने १९२४ ई० में प्रकाशित किया था। ग्रंथ की भूमिका उक्त समिति के अध्यक्ष महात्मा नारायण स्वामी ने लिखी थी। पण्डित भवानीप्रसाद की इस पर्वविधिसंहिता के अब तक अनेक संस्करण सार्वदेशिक सभा तथा आर्य साहित्य मण्डल अजमेर द्वारा प्रकाशित हो चुके हैं। इन्हीं लेखक की पर्व-विषयक एक अन्य कृति 'आर्य-पर्वावलि' वैदिक पुस्तकालय, मुरादाबाद से १९८१ वि० में छपी थी।

यद्यपि स्वामी दयानन्द ने संन्ध्या व सामान्य यज्ञ की विधियाँ अपने ग्रन्थों में अनेकत्र लिख दी थीं, किन्तु इन विधियों को छापनेवाले ग्रन्थों में यत्र-तत्र अनेकरूपता तथा परस्पर भेद भी दिखलाई पड़ता है। इसका एक कारण तो यह है कि संध्या व यज्ञविधि पुस्तकों के सम्पादक इन विधियों का स्वामीसम्मत रूप न रखकर बहुत-कुछ अपनी ओर से जोड़ देते हैं या कम कर देते हैं। विभिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित होने के कारण भी सन्ध्या एवं हवन के मन्त्रों में यदाकदा व्यतिक्रम दिखाई पड़ता है। इस अव्यवस्था को समाप्त करने तथा सन्ध्या व यज्ञ-विधि में एकरूपता लाने की दृष्टि से सार्वदेशिक सभा द्वारा स्थापित धर्मार्य सभा ने पर्याप्त विचार-विमर्श करने के अनन्तर उक्त विधियों में मन्त्रपाठ तथा क्रियाओं के जो क्रम और नियम निर्धारित किये, उन्हें उक्त सभा ने ही प्रकाशित कर दिया है। इसे "सन्ध्या और हवन के सम्बन्ध में धर्मार्य सभा की आवश्यक घोषणाएँ" शीर्षक से २००३ वि० में प्रकाशित किया गया। इसी वर्ष "आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों का कार्यक्रम, शुद्धिपद्धति तथा आर्य विवाह कानून" भी प्रकाशित किया गया। यहाँ यह स्मरणीय है कि विदेशी शासन के समय ही भारत की केन्द्रीय धारा सभा ने आर्य विवाह विधेयक को स्वीकार कर उसे एक्ट का रूप दे दिया था जिसके अनुसार कोई भी वयस्क लड़का और लड़की अपने को आर्यसमाजी घोषित कर आर्यसमाजी पद्धति से विवाह कर सकते हैं और उनका यह विवाह कानून की दृष्टि से वैध समझा जाता है। इस कानून को बनवाने में केन्द्रीय धारासभा के तत्कालीन सदस्य श्री घनश्यामसिंह गुप्त का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा था। श्री गुप्त जी द्वारा सम्पादित 'आर्य विवाह एक्ट' भी पुस्तकाकार मुद्रित हो चुका है। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने आर्यसमाज चौक प्रयाग द्वारा प्रकाशित ट्रैक्टमाला में आर्यसमाज के साप्ताहिक अधिवेशन का अन्तिम पाठ (संख्या १९), आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संग (संख्या २३) तथा शुद्धिपद्धति (संख्या ५६) प्रकाशित की। घासीराम प्रकाशन विभाग आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त ने स्वामी दयानन्द की निर्वाण अर्धशताब्दी के अवसर पर आर्यसमाज द्वारा मान्य ओमध्वज के आरोहण एवं अवतरण की पद्धति का निर्धारण किया। पण्डित शिवदयालु द्वारा सम्पादित 'आर्यध्वज आरोहण, अवतरण पद्धति' १९९० वि० में छपी तथा 'आर्य-घोष' विषयक पुस्तिका १९९६ वि० में प्रकाशित हुई। पण्डित शिवदयालु ने 'आर्यपर्वपरिचय' भी लिखा था जो उक्त सभा द्वारा १९९१ वि० में प्रकाशित हुआ।

सन्ध्या और यज्ञपद्धति के निर्धारण करने का अवसर एक बार सार्वदेशिक सभा को पुनः मिला। इस बार धर्मार्य सभा के मन्त्रीपद पर आचार्य विश्वश्रवा जैसे सिद्धान्त-निष्ठ तथा कर्मकाण्डप्रवण विद्वान् विराजमान थे। अतः सन्ध्या पद्धति (१९५६ ई० में प्रकाशित) तथा यज्ञपद्धतिप्रकाश (१९६१ ई०) शीर्षक दो ग्रन्थों को प्रकाशित कर सार्वदेशिक धमार्य सभा ने उक्त दोनों कर्मों के सम्बन्ध में उत्पन्न होनेवाली सभी प्रकार की शंकाओं, विरोधों तथा विप्रतिपत्तियों का समाधान कर दिया।

(६) आर्य सत्याग्रह हैदराबाद विषयक साहित्य

आर्यसमाज के इतिहास में हैदरावाद के आर्य सत्याग्रह की चर्चा विस्तारपूर्वक की जा चुकी है।

यहाँ यह द्रष्टव्य है कि इस सत्याग्रह के दौरान जो साहित्य प्रकाशित हुआ वह अधिकांश में प्रचारात्मक ही था, किन्तु सत्याग्रह-विषयक तथ्यों पर प्रकाश डालने तथा हैदरावाद राज्य में आर्यसमाज की निर्दोष भूमिका को स्पष्ट करने की दृष्टि से उसके महत्त्व को नकारा नहीं जा सकता। निजाम राज्य में हिन्दुओं के धार्मिक अधिकार सामान्य रूप से, तथा आर्यसमाजियों के विशेष रूप में कुचले जाते रहे। अन्त में, इन धार्मिक अत्याचारों का प्रतिरोध करने के लिए आर्यसमाज ने अहिंसात्मक सत्याग्रह का सहारा लिया, जिसमें उसे पूर्ण सफलता भी मिली। सत्याग्रह को प्रारम्भ करने से पूर्व सार्वदेशिक सभा तथा निजाम राज्य आर्यप्रतिनिधि सभा ने निजामशाही में धार्मिक स्वतन्त्रता पर कुठारावात को जनता के समक्ष प्रस्तुत करने की दृष्टि से कुछ पुस्तकें प्रकाशित कीं। इनमें एक तो वह थी जिसमें निजाम राज्य के धार्मिक महकमे द्वारा प्रसारित उन आज्ञाओं को संगृहीत किया गया था जो स्पष्ट ही धार्मिक स्वतन्त्रता का हनन करती थीं। हैदरावाद राज्य की आर्य प्रतिनिधि सभा ने निजाम हैदरावाद की मुस्लिमनवाज़ी को उजागर किया और वताया कि इस शासन में मुसलमानों के साथ धार्मिक मामलों में पक्षपात किया जाता है, जब कि इतर धर्मावलम्बियों को अपने धर्म पालने में भी वाधाओं का सामना करना पड़ता है। श्री रामदेव शास्त्री ने निजाम सरकार की नादिरशाही आज्ञाओं को पुस्तक रूप में पेश किया।

हैदरावाद सत्याग्रह के अन्तिम सर्वाधिकारी पण्डित ज्ञानेन्द्र सिद्धान्तभूषण ने 'हैदरावाद आर्य सत्याग्रह साम्प्रदायिक नहीं' पुस्तक लिखकर सत्याग्रह के धर्मनिरपेक्ष स्वरूप को उभारा, तो उन्हीं की लेखनी ने गुजराती में 'हैदरावाद सत्याग्रह नो इतिहास' (१९९५ वि०) का प्रणयन किया। हैदराबाद सत्याग्रह के व्यवस्थित एवं विस्तृत इतिहास लिखे जाने के तो कुछ और प्रयत्न भी हुए हैं। पण्डित चन्द्रगुप्त वेदालंकार ने हैदराबाद का स्वातन्त्र्य आन्दोलन लिखा। पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार ने १९४२ ई० में आर्य सत्याग्रह शीर्षक ग्रन्थ में इसी घटना को लिपिवद्ध किया। बनवारीलाल सेवक ने हैदराबाद का खूनी इतिहास लिखा, तो पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार ने हैदरावाद सत्याग्रह का रक्तरंजित इतिहास लिखा। दिल्ली से एक पुस्तक 'निज़ाम हैदरावाद में धर्मयुद्ध का इतिहास' १९३९ ई० में निकली। पण्डित क्षितीशकुमार वेदालंकार ने 'आर्य सत्याग्रह में गुरुकुल की आहुति' शीर्षक ग्रन्थ लिखकर गुरुकुल काँगड़ी के सत्याग्रह में दिये गये योगदान का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया। बंगाली संन्यासी स्वामी सदानन्द परिव्राजक ने

सत्याग्रह-विषयक तीन ग्रन्थ लिखे। एक में उन्होंने निजाम राज्य और आर्यसमाज के पारस्परिक सम्बन्धों की विवेचना की। स्वतन्त्रानन्द पुस्तकालय अमृतसर से यह ग्रन्थ १९३९ ई० में छपा था। परिव्राजक जी स्वयं सत्याग्रही के रूप में हैदराबाद जाकर वहाँ की कारावास-यन्त्रणाएँ भोग चुके थे। सत्याग्रहियों को जेल में दी जाने जाने वाली इन्हीं अमानुषिक पीड़ाओं का वर्णन उन्होंने "निजाम जेल की कष्ट कहानी" में किया है। 'हैदराबाद के शहीद' लिखकर उन्होंने उन हुतात्माओं का परिचय दिया जिन्होंने धार्मिक स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए अपने प्राणों की बलि दे दी थी। आर्यसमाज अजमेर की इस सत्याग्रह में जो भूमिका रही, उसका उल्लेख 'हैदराबाद सत्याग्रह और आर्यसमाज अजमेर' में किया गया है। अजमेर के ही श्री दत्तात्रेय वाव्ले ने 'हैदराबाद की समस्या' शीर्षक पुस्तक लिखी थी।

हैदराबाद सत्याग्रह-विषयक कतिपय ग्रन्थ अंग्रेजी में भी लिखे गये। सार्वदेशिक सभा ने The Case of Arya Samaj in Hyderabad शीर्षक पुस्तक १९३८ में ही प्रकाशित कर दी थी जिसमें धार्मिक स्वतन्त्रता-विषयक समस्या को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया था। निजाम सरकार ने अपनी नीति के समर्थन में जो युक्तियाँ दीं, उनका परीक्षण और खण्डन Nizam Defence Examined and Exposed शीर्षक ग्रन्थ में किया गया। निजाम राज्य की प्रतिनिधि सभा ने सत्याग्रह का विवरण Arya Satyagraha at a Glance शीर्षक से प्रस्तुत किया तो शोलापुर में आयोजित आर्य महासम्मेलन के अध्यक्ष माननीय माधव श्रीहरि अणे की अध्यक्षीय वक्तृता को Hyderabad Administration शीर्षक से प्रकाशित किया गया। प्रसिद्ध नेता लाला देशबन्धु गुप्त ने सत्याग्रह की समस्या पर Arya Satyagraha : Its Cause and Cure शीर्षक पुस्तक लिखी जब कि The Achievements of Arya Satyagraha in Hyderabad State में सत्याग्रह की उपलब्धियों का मूल्यांकन किया गया। निश्चय ही सत्याग्रह के फलितार्थों से सभी लोगों का सन्तुष्ट होना सम्भव नहीं था। यद्यपि प्रत्यक्षतया हैदराबाद की सरकार को आर्यसमाज की माँगों के आगे झुकना पड़ा था, किन्तु आर्यसमाज के एक विद्वान् प्रोफेसर व्यासदेव शास्त्री की दृष्टि में यह सत्याग्रह आर्यसमाज की कोई उल्लेखनीय सफलता नहीं थी। उन्होंने अपने विचार 'हमें क्या मिला?' शीर्षक पुस्तक में अंकित किए हैं।

(७) पंजाब का हिन्दी रक्षा आन्दोलन

देश-विभाजन के पश्चात् आर्यसमाज को विभाजित पंजाब में हिन्दी की रक्षा के लिए १९५६-५७ में एक विराट् आन्दोलन का संचालन करना पड़ा। उस समय तक पंजाब का एक और विभाजन (हरयाणा का निर्माण) नहीं हुआ था। यहाँ के राजनैतिक नेताओं ने परस्पर की सहमति से भाषा के विषय में एक क्षेत्रीय फार्मूले को स्वीकार किया। किन्तु इस योजना के अधीन जहाँ पंजाबी क्षेत्रों में रहने वाले हिन्दुओं को अपने बच्चों की शिक्षा के माध्यम के रूप में हिन्दी को अपनाने की छूट नहीं थी, वहाँ हिन्दी-भाषी क्षेत्रों में एक स्तर तक पंजाबी पढ़ाना अनिवार्य कर दिया था। आर्यसमाज के बहुत प्रयत्न करने पर भी जब पंजाब राज्य में राष्ट्रभाषा को उसका समुचित स्थान मिलना कठिन हो गया तो आर्यसमाज ने भाषा स्वातन्त्र्य समिति का गठन किया तथा भाषा के

प्रश्न पर जोर-जबरदस्ती किए जाने का विरोध किया। उस समय पंजाब में स्वामी आत्मानन्द सरस्वती जैसे निर्विवाद आर्य नेता विद्यमान थे। हिन्दी रक्षा सत्याग्रह कई महीनों तक चला और हजारों आर्य सत्याग्रही मातृभाषा और राष्ट्र की वाणी के गौरव की रक्षा के लिए कारागार गये। पंजाब की इस उलझी हुई भाषा-समस्या को लेकर भी उस समय अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी गईं।

स्वामी आत्मानन्द सरस्वती ने 'पंजाब की भाषा' शीर्षक पुस्तक लिखी। ओम्-प्रकाश त्यागी तथा घनश्यामसिंह गुप्त ने "पंजाब का हिन्दी आन्दोलन" लिखकर आर्य-समाज की भाषा-विषयक स्थिति को स्पष्ट किया। गुप्तजी ने इसी समस्या पर **The Case of Arya Samaj Regarding Language Agitation in Punjab** शीर्षक अंग्रेजी पुस्तक में भी प्रकाश डाला। श्री भगवतशरण लिखित पंजाब का हिन्दी सत्याग्रह तथा गुजराती लेखक श्रीकान्त भगतजी कृत पंजाब हिन्दी सत्याग्रह (गुजराती पुस्तक) इस सत्याग्रह के इतिहास को प्रस्तुत करती हैं। परन्तु इस सत्याग्रह से बहुत समय पूर्व स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी ने 'पंजाब की भाषा लिपि' शीर्षक पुस्तक लिखकर यह स्पष्ट कर दिया था कि देश के इस सीमान्त प्रान्त में हिन्दी और नागरी को सदा से ही समुचित स्थान मिलता रहा है।

(८) आर्यसमाज का शिक्षा-विषयक साहित्य

जिस शताब्दी में राजा राममोहन राय ने अंग्रेजी शिक्षाप्रणाली के प्रचलन का समर्थन किया था, नवजागरण के उसी युग में स्वामी दयानन्द ने परम्परागत शिक्षा-प्रणाली के पुनरुद्धार का प्रयत्न किया। शिक्षाशास्त्री के रूप में स्वामीजी का जो अवदान है, उसका आकलन किया जाना आवश्यक है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र अपने शिक्षा-सम्बन्धी विचारों को सूत्रबद्ध किया है। सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय व तृतीय समुल्लासों में उन्होंने बालकों के पालन तथा उनकी शिक्षा के विषय में बहुत-कुछ लिखा है। अध्ययन-अध्यापन की विस्तृत विधि बनाकर स्वामीजी ने प्राचीन भारतीय शिक्षापद्धति के कुछ मौलिक तत्त्वों को लेखबद्ध किया है। इन अध्यायों में ब्रह्मचर्य-पालन, स्वाध्याय एवं प्रवचन, अध्ययन-समाप्ति पर दीक्षान्त अनुशासन, संस्कृत के शास्त्रीय वाङ्मय का का अध्ययनक्रम, त्याज्य और ग्राह्य पुस्तकें, स्त्रियों एवं शूद्रों का वेद-पठनाधिकार तथा स्त्री-शिक्षा जैसे विषयों पर स्वामीजी ने सांगोपांग विचार किया है।

कालान्तर में डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर की स्थापना के साथ ही आर्यसमाज ने शिक्षा के क्षेत्र में प्रवेश किया। इसी प्रकार की अन्य शिक्षण-संस्थाओं में जहाँ पाश्चात्य शिक्षा के आवश्यक तत्त्वों को स्वीकार कर विज्ञान, अंग्रेजी तथा अन्य सामाजिक विषयों के अध्ययन की सुचारु व्यवस्था की गई थी, वहाँ आर्य सभ्यता, धर्म व संस्कृति के आधार-भूत संस्कृत भाषा, साहित्य व वैदिक वाङ्मय की सुव्यवस्थित शिक्षा की भी व्यवस्था थी। शीघ्र ही आर्यसमाज की डी० ए० वी० संस्थाओं का उत्तर भारत के अनेक नगरों में जाल-सा बिछ गया।

वस्तुतः डी० ए० वी० कॉलेजों की स्थापना तो इसी लक्ष्य से की गई थी कि इनके माध्यम से शिक्षा के पौरस्त्य एवं पाश्चात्य आदर्शों के समन्वय को एक आधार मिलेगा। चेष्टा यह की गई थी कि भौतिकी, जीवशास्त्र, रसायन आदि विज्ञानों, अंग्रेज़ी

भाषा तथा साहित्य आदि के शिक्षण के साथ-साथ छात्रों को संस्कृत भाषा व वैदिक ग्रंथों का भी उच्चकोटि का ज्ञान कराया जाय। किन्तु शीघ्र ही आर्यसमाज के कुछ गम्भीर प्रकृति के नेताओं ने अनुभव किया कि डी० ए० वी० कॉलेज के तत्कालीन संचालक पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान तथा अंग्रेजी की शिक्षा के प्रति जितने सतर्क, सचेष्ट और आग्रह-शील हैं, उतने वैदिक शास्त्रों और संस्कृत-शिक्षण के लिए नहीं हैं।

इसी विचार ने महात्मा मुन्शीराम को गुरुकुलीय शिक्षा-प्रणाली स्थापित करने की प्रेरणा दी। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की आज्ञा से गुरुकुल-स्थापना के लिए धन-संग्रह हेतु वे लाहौर से निकले और स्वल्प समय में ही आशा से अधिक धनराशि उन्हें गुरुकुल के लिए मिल गई। यहाँ हम आर्यसमाज की शिक्षा-क्षेत्र की उपलब्धियों पर विचार नहीं कर रहे हैं। आर्यसमाज के इतिहास के तृतीय खण्ड में इस विषय पर विस्तार से लिखा जा चुका है। यहाँ तो हम उस साहित्य की चर्चा करने जा रहे हैं जो आर्यसमाज के शिक्षा-शास्त्रियों तथा अन्य लेखकों द्वारा शिक्षा के विभिन्न पहलुओं को लेकर लिखा गया है। शिक्षा-विषयक अधिकांश ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखे गये हैं। कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जो शिक्षा की सामान्य चर्चा करते हैं तथा शिक्षा-विषयक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। कुछ अन्य ग्रन्थों में गुरुकुलीय शिक्षा तथा गुरुकुल कांगड़ी विषयक चर्चा है। डी०ए०वी० संस्थाओं के इतिहास व समस्याओं पर भी कुछ ग्रन्थ लिखे गये हैं।

पहले हम शिक्षा-विषयक सामान्य विवेचना वाले ग्रन्थों को लें। स्वामी श्रद्धानन्द के पश्चात् गुरुकुल कांगड़ी का आचार्य-पद प्रो० रामदेव ने ग्रहण किया था। वे एक उच्च कोटि के विद्वान्, वक्ता तथा शिक्षाशास्त्री थे। उन्होंने "आइडियल्स ऑफ एज्यूकेशन—एनशियेंट एण्ड मॉडर्न" शीर्षक एक भाषण दिया था जो गुरुकुल कांगड़ी से १९०७ ई० में प्रकाशित हुआ। गुरुकुल के ही एक अन्य आचार्य पण्डित चमूपति ने "दि आर्यन आइ-डियल ऑफ एज्यूकेशन" लिखा। गुरुकुल कांगड़ी के किसी समय के अंग्रेजी प्राध्यापक प्रोफेसर ताराचन्द गाजरा ने "एज्यूकेशन इन एनशियेण्ट इण्डिया" लिखकर प्राचीन भारत की शिक्षा-व्यवस्था पर प्रकाश डाला। गाजरा जी के अनुज प्रोफेसर टीकमदास गाजरा भी शिक्षाविद् तथा शिक्षा-समस्याओं पर लिखने वाले सिद्धहस्त लेखक थे। उनकी शिक्षा-विषयक तीन पुस्तकों का उल्लेख मिलता है: "एज्यूकेशनल थ्योरी", "आइडियल ऑफ एज्यूकेशन" तथा "प्रेजेण्ट एज्यूकेशनल अनरेस्ट"।

गुरुकुल-विषयक ग्रन्थों की भी संख्या पर्याप्त है। अनेक पाश्चात्य लोगों ने समय-समय पर गुरुकुल की यात्राएँ कीं तथा इस शिक्षण-संस्था के सम्बन्ध में अपने प्रशंसापूर्ण उद्गार प्रकट किये। ब्रिटेन की संसद के सदस्य तथा बाद में मजदूरदली प्रधान-मन्त्री रेम्ज़े मेकडॉलन भी गुरुकुल को देखने आये तथा वहाँ के सात्त्विक एवं तपोपूत वातावरण को देखकर अत्यन्त प्रभावित हुए। उनके गुरुकुल-विषयक संस्मरणों को लंदन के "डेली क्रॉनिकल" ने प्रकाशित किया था। अमेरिका के एक वकील तथा शिक्षाशास्त्री श्री मायरन एच० फेल्प्स १९११ में गुरुकुल देखने आये। उन्होंने अपने गुरुकुल-विषयक संस्मरणों को "पायनियर" में प्रकाशित कराया था। कालान्तर में गुरुकुलीय शिक्षा-पद्धति तथा उसके राष्ट्रीय लक्ष्य को लेकर ब्रिटिश शासकों के मन में उस समय नाना प्रकार की शंकायें उत्पन्न हो गई थीं और सरकार-समर्थक प्रेस के द्वारा यह धारणा फैलाई जाने लगी कि गुरुकुलों में विदेशी सत्ता को उखाड़ने के षड्यंत्र किये जाते हैं तथा वहाँ के छात्रों को

सरकार का विद्रोही बनाने के लिए विधिवत् प्रशिक्षित किया जाता है। इस परिस्थिति में सत्ताधीशों को वस्तुस्थिति का ज्ञान कराने की दृष्टि से महात्मा मुन्शीराम ने दीनबंधु सी० एफ० एण्ड्रूज के माध्यम से संयुक्तप्रान्त के तत्कालीन गवर्नर सर जेम्स मेस्टन तथा भारत के वायसराय लॉर्ड चेम्सफोर्ड को गुरुकुल में आमन्त्रित किया। इन दोनों की गुरुकुल-यात्रा क्रमशः १९१३ तथा १९१६ ई० में हुई। आर्यसमाज की इस महान् शिक्षण-संस्था को प्रत्यक्ष देखकर गवर्नर तथा वायसराय को पूर्ण सन्तोष हुआ और उनके मन की समस्त शंकाओं का स्वतः ही समाधान हो गया।

१९७१ वि० में "दि गुरुकुल थ्रू यूरोपियन आइज" शीर्षक एक पुस्तक छपी। इसमें ऊपर वर्णित अमरीकी शिक्षाशास्त्री के गुरुकुल-विषयक उन लेखों को उद्धृत किया गया था जो पायनियर में छपे थे। १९७४ वि० में इसका द्वितीय संस्करण निकला। इसकी भूमिका महात्मा मुन्शीराम ने लिखी थी। इसमें मायरन एच० फेल्प्स के लेखों के साथ-साथ रेम्जे मैकडॉनल के गुरुकुल के संस्मरण तथा सर जेम्स मेस्टन और लॉर्ड चेम्सफोर्ड की गुरुकुल-यात्राओं का विवरण भी संकलित किया गया था। लाला मुन्शीराम ने गुरुकुल की सर्वप्रथम स्थापना १९०२ ई० में की थी। काँगड़ी (जिला बिजनौर) में आने से पूर्व यह गुरुकुल पाकिस्तान के गुजराँवाला नगर में चलता था। गुरुकुल की स्थापना के साथ ही साथ उसके नियम तथा शिक्षा की योजना को आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा स्वीकार किया जाकर प्रकाशित किया गया। लाला रलाराम द्वारा तैयार की गई 'दि रूल्ज एण्ड दि स्कीम ऑफ स्टडीज ऑफ दि गुरुकुल" लाहौर से १९०२ ई० में प्रकाशित हुई। राय-बहादुर लाला लालचंद ने "स्पेशियलिटीज ऑफ गुरुकुल' लिखकर गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की विशेषताओं का उद्घाटन किया। पण्डित चमूपति की "जीनिसिस ऑफ गुरुकुल" तथा प्रोफेसर सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार लिखित "दि फण्डामेंटल प्रिंसिपल्स ऑफ दि गुरुकुल सिस्टम ऑफ एज्यूकेशन" गुरुकुलीय शिक्षा-पद्धति की विवेचना प्रस्तुत करती हैं। एक ओर गुरुकुल के प्रशंसकों की संख्या पर्याप्त थी, तो उसके आलोचकों की भी कमी नहीं थी। उनके समाधानार्थ समय-समय पर गुरुकुल के विधाताओं और प्रशंसकों को गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के समर्थन में ग्रन्थ लिखने पड़ते थे। महाशय मुन्शीराम और रामदेव ने तो उर्दू में "गुरुकुल और उसके मुखालिफ" १८९९ ई० में ही लिखकर प्रकाशित कर दिया था, जबकि आर्यसमाज में ही एक दल गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली की सफलता को लेकर नाना प्रकार की आशंकाएँ व्यक्त कर रहा था तथा गुरुकुल-स्थापना का स्वप्न देखने वालों को मूर्खों के स्वर्ग में निवास करने वाला बता रहा था। प्रोफेसर बालकृष्ण ने "दि गुरुकुल सिस्टम एण्ड इट्स क्रिटिक्स" १९११ ई० में लिखा जिसमें इन आलोचकों की आशंकाओं का समाधान किया गया था। गुरुकुलीय शिक्षा-पद्धति को लेकर जयपुर के श्री विजयविहारीलाल माथुर ने "दि गुरुकुल सिस्टम ऑफ एज्यूकेशन" शीर्षक शोधप्रबन्ध एम० एड० परीक्षा के लिए १९५३ ई० में लिखा था। १९५४ ई० में बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय से श्री बी० शरण ने 'दि गुरुकुल सिस्टम ऑफ एज्यूकेशन एण्ड इट्स एप्लीकेशन टु मॉडर्न टाइम्स' विषय पर पी-एच० डी० के लिए शोधप्रबन्ध लिखा।

जहाँ तक डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर तथा तत्सम्बद्ध शिक्षा-प्रणाली का सम्बन्ध

है, डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर के इतिहास तथा उसकी प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में दो ऐतिहासिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए, जिनमें से एक था——"दि ग्रोथ एण्ड डेवलपमेंट ऑफ दि डी० ए० वी० कॉलेज ड्यूरिंग दि लास्ट ट्वेण्टी फाइव इयर्स"। इसमें उक्त कॉलेज की १९११ तक की गतिविधियों का परिचय दिया गया था। दूसरा ग्रन्थ प्रोफेसर श्रीराम शर्मा लिखित "दि डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर (१८८६-१९३६) ए ब्रीफ हिस्ट्री" था जो डी० ए० वी० कॉलेज मैगजीन के परिशिष्टांक के रूप में छपा था। प्रोफेसर शर्मा का एक अन्य ग्रन्थ "ऑवर एज्यूकेशनल मिशन" आर्य प्रादेशिक सभा द्वारा १९२५ ई० में छपा।

बारहवाँ अध्याय

आर्यसमाज का संस्कृत साहित्य

(१) संस्कृत काव्य

भारत का धार्मिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण का आन्दोलन संस्कृत भाषा और साहित्य के पुनरुत्थान और प्रगति का आन्दोलन था। नवोदय का जयघोष करने वाले सांस्कृतिक आन्दोलनों में सर्वाधिक सशक्त, जनव्यापी तथा प्रभविष्णु था आर्य-समाज, जिसने कई दशाब्दियों तक जन-मानस का नेतृत्व किया। धर्म, समाज, संस्कृति और राजनीति के विभिन्न क्षेत्रों में आर्यसमाज ने किस प्रकार देशवासियों का मार्गदर्शन किया, इस पर इस 'इतिहास' में अनेक स्थानों पर प्रकाश डाला गया है। आर्यसमाज की विचारधारा ने अभिव्यक्ति के लिए जिस भाषा को स्वीकार किया, वह यद्यपि भारत की लोकभाषा हिन्दी थी, परन्तु पुरातन आर्यशास्त्रों से प्रेरणा ग्रहण करने वाले आर्यसमाज का संस्कृत भाषा और उसके महनीय साहित्य से सम्बद्ध होना स्वाभाविक ही था।

संस्कृत साहित्य की जो रस-निर्झरिणी सहस्राब्दियों तक इस देश में प्रवहमान रही और जिसकी भाव-राशि से लाखों-करोड़ों का सहस्रों वर्षों तक मनोरंजन और मनो-वृत्तियों का परिष्कार हुआ, वह विगत दो शताब्दियों से सूख-सी गई थी। वर्षों की राज-नैतिक पराधीनता ने भारतवासियों का सर्वांगीण पतन कर दिया था और वे मानसिक दासत्व के शिकार होकर स्वजातीय गौरव की अभिव्यक्ति की भाषा संस्कृत के प्रति अपने सक्रिय दायित्व को विस्मृत कर बैठे थे। इसी बीच पाश्चात्य जातियों से भारत का संपर्क हुआ, जो एक साथ ही इस देश के लिए वरदान और अभिशाप कहा जा सकता है। एक ओर जहाँ हमारे देशवासी पश्चिमी जीवन की भौतिकताप्रधान जीवन-प्रणाली की चाक-चिक्य से दिङ्मूढ़ और पथभ्रष्ट हुए तथा उनमें हीनभावना जागृत हुई, वहाँ पश्चिमी राष्ट्रों में सद्यः उत्पन्न राष्ट्रीयता के भावों, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की भावना तथा वैज्ञानिक दृष्टि से उनमें एक नया दृष्टि-बोध भी उत्पन्न हुआ। उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न भारतीय नवजागरण के आन्दोलन इसी पाश्चात्य-सम्पर्क की एक सुनिश्चित प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुए।

आर्यसमाज उस काल में उत्पन्न एक ऐसा ही सांस्कृतिक आन्दोलन था, जो देश के लुप्त गौरव और आर्य जाति की विगत महनीय संस्कृति के पुनरुत्थान के लिए सतत प्रयत्नशील रहा। इस ध्येय की पूर्ति के लिए आर्यसमाज ने अन्यान्य साधनों के अतिरिक्त संस्कृत भाषा और उसके साहित्य से प्राप्त होने वाली प्रेरणा को भी अपनाया।

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द स्वयं संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका भाषण, लेखन तथा विचाराभिव्यंजन प्रायः संस्कृत पर ही आधारित था। यद्यपि

धर्मप्रचार हेतु जनसाधारण से सम्पर्क करने में लोकभाषा कितनी सहायक होती है, इस तथ्य से वे अनभिज्ञ नहीं थे, तथापि भारत की सर्वमान्य प्राचीन भाषा होने तथा आर्यधर्म और वैदिक संस्कृति के उदात्त तत्त्वों को उत्कृष्ट रूप में अपनी ग्रन्थराशि के भीतर सन्निविष्ट कर रखने वाली संस्कृत भाषा का प्रेरणास्रोत कितना प्रबल हो सकता है, यह भी वे जानते थे। संस्कृत भाषा के प्रचार, प्रसार तथा उसे लोकप्रिय बनाने के लिए स्वामी जी ने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया, उससे उनके अनुयायी आर्यसमाज में एतद्-विषयक कार्य की नींव पड़ गई।

स्वामीजी के परवर्ती आर्यसमाजी संस्कृतज्ञों ने भी संस्कृत के लिए पर्याप्त कार्य किया। शास्त्रीय ग्रन्थों पर भाष्य, टीका, व्याख्या आदि का लेखन तथा साहित्य के क्षेत्र में काव्य, गद्य, नाटक, निबन्ध, चम्पू, आलोचना आदि वाङ्मय की विविध विधाओं को समृद्ध करने में आर्यसमाज के संस्कृत-साहित्य-रसिक रसज्ञों का जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है वह किसी से अप्रकट नहीं है। संस्कृत साहित्य-विषयक शोध-कार्य को भी आर्यसमाज ने निश्चित प्रगति दी है। वैज्ञानिक और ऐतिहासिक शोध-दृष्टिसम्पन्न आर्यसमाज के कतिपय विद्वानों और संस्थाओं ने इस क्षेत्र में जो उल्लेखनीय कार्य किया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। संस्कृत भाषा के शिक्षण और उसके पक्ष में किये जाने वाले आन्दोलन और प्रचार-कार्य में भी आर्यसमाज सदा आगे रहा। आर्यसमाज के गुरुकुलों तथा अन्य शिक्षण-संस्थाओं ने संस्कृत के अध्ययन को व्यापक दिशा प्रदान की है और आर्यसमाज के संस्कृत-प्रचारविषयक कार्यों से जन-मन संस्कृत के प्रति अधिकाधिक उन्मुख हुआ है। आगे की पंक्तियों में हम आर्यसमाज के तत्त्वावधान में प्रणीत उस संस्कृत साहित्य का परिचय देने का प्रयत्न कर रहे हैं जो वाङ्मय की विविध विधाओं के रूप में लिखा गया है।

आर्य कवियों द्वारा रचित संस्कृत काव्य—साहित्यशास्त्र में काव्य का लक्षण करते हुए उसे रसात्मक वाक्य की संज्ञा दी गई है। यह परिभाषा आचार्य विश्वनाथ-प्रदत्त है, जबकि आचार्य मम्मट ने दोषरहित, गुणयुक्त उस शब्दार्थ को काव्य कहा है जिसमें अलंकारों का होना या न होना वैकल्पिक ही होता है। आर्यसमाज ने संस्कृत के रसात्मक साहित्य को भी प्रचुर योगदान दिया है। यहाँ हम आर्यसमाज के संस्कृत कवियों की उन काव्य-कृतियों का परिचय दे रहे हैं जो विगत एक शताब्दी की अवधि में लिखी गई हैं। इन काव्यों को भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित किया जा सकता है, यथा महाकाव्य, चरित-काव्य, ऐतिहासिक काव्य, नीतिकाव्य, स्तोत्र-काव्य, गीति काव्य तथा स्फुट काव्य आदि। यह विभाजन किसी विशिष्ट आधार को लेकर नहीं, अपितु अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से ही किया गया है। संस्कृत महाकाव्यों की चर्चा हम स्वामी दयानन्द के जीवन सम्बन्धी संस्कृत साहित्य के प्रसंग में कर चुके हैं। अतः प्रथम हम चरित-काव्यों को लेते हैं। पं० धर्मदेव विद्यामार्तण्डकृत 'महापुरुषकीर्तनम्' (२०१६ वि०) तथा 'महिलामणिकीर्तनम्' का इस प्रसंग में उल्लेख आवश्यक है। महापुरुषकीर्तनम् में कवि ने भारत के राम, कृष्ण, बुद्ध, वाल्मीकि, व्यास, कालिदास, विक्रमादित्य, अशोक आदि महापुरुषों तथा विदेशस्थ सुकरात, ईसा, लूथर आदि विभूतियों के चारित्रिक गुणों का काव्यबद्ध कीर्तन किया है। महिलामणिकीर्तनम् में भारत तथा विदेशों की अनेक महिमामयी महिलाओं की प्रशस्ति गाई है। स्वामी विरजानन्द तथा महात्मा नारायणस्वामी जैसे महापुरुषों

को चरितनायक बनाकर लिखे गये काव्यों की चर्चा पहले ही आ चुकी है।

ऐतिहासिक काव्य—देश-विदेश के इतिहास को निबद्ध करने वाले काव्यों को ऐतिहासिक काव्य की संज्ञा दी जा सकती है। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्यायलिखित आर्योदय-काव्य (पूर्वार्द्ध) १० सर्गों तथा ५८४ श्लोकों में लिखा गया है। इसका प्रकाशन कला प्रेस प्रयाग से १९५२ ई० में हुआ। इस काव्य में सृष्टि के आरम्भकाल से लेकर भारत के स्वतन्त्रता प्राप्त करने तक के काल की घटनाएँ काव्यबद्ध की गई हैं। पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पतिकृत भारतेतिहासः (प्रथम खण्डः) भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय की आर्थिक सहायता से २०२७ वि० में हरियाणा साहित्य संस्थान द्वारा प्रकाशित हुआ। तीस अध्यायों में समाप्त इस काव्य में संसार की उत्पत्ति, धरती का जन्म, इस देश को 'भारत' नाम देने वाले राजा भरत के माता-पिता दुष्यन्त एवं शकुन्तला की कथा, इक्ष्वाकु-कुलोद्भव भगीरथ, रघु, दिलीप, राम तथा महाभारतोक्त कौरव-पाण्डवों का कथानक अनुष्टुप छन्दों में पद्यबद्ध किया गया है। शाहपुरा के राजगुरु पण्डित यमुनादत्त षट्शास्त्री लिखित वीररतरंगरंग काव्य शाहपुरा राज्य की स्थापना के काल से लेकर राजाधिराज नाहरसिंह के शासनकाल तक की प्रमुख घटनाओं का वर्णन करता है। स्वामी दयानन्द के शाहपुरा आगमन तथा निवास के प्रसंग को भी चार श्लोकों में लिखा गया है। इसकी रचना १९८१ वि० में हुई थी।

नीति काव्य—संस्कृत में नीति काव्यों की एक पृथक् परम्परा रही है। स्मृतियों और धर्म-शास्त्रों में तो नैतिकता के उपदेशों का संग्रथन हुआ ही है, परवर्ती लौकिक साहित्य में भी नीतिग्रन्थों का प्राचुर्य दिखाई पड़ता है। आर्यसमाज को नैतिकता-समर्थक (Puritan) तथा नैतिक जीवन को प्रोत्साहित करने वाला आन्दोलन कहा जाता है। अतः यह स्वाभाविक ही है कि आर्यसमाज के संस्कृत-कवि नीतिविषयक काव्यों के लेखन में रुचि प्रदर्शित करते। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने मनुस्मृति के अनुकरण पर आर्य-स्मृति लिखी जिसके पन्द्रह अध्यायों में आर्यधर्म और वैदिक विचारधारा के अनुसार आचार-व्यवहार तथा धार्मिक एवं लौकिक नियमों एवं कर्त्तव्यों का विधान किया गया है। पण्डित सत्यदेव वासिष्ठ का सत्याग्रह-नीति काव्य २०१५ वि० में छपा। इसकी रचना कवि ने उस समय की थी, जबकि आर्यसमाज को हैदराबाद (निजाम) राज्य में धार्मिक अधिकारों की रक्षा के लिए सत्याग्रह आन्दोलन चलाना पड़ा था और इसी सत्या-ग्रह में भाग लेने के कारण उसे कारावास भोगना पड़ा। इस काव्य में वस्तुतः हैदराबाद-सत्याग्रह का स्थूल विवरण न देकर सत्याग्रह में निहित उच्चकोटि के नैतिक आदर्शों की व्याख्या की गई है। डॉक्टर मंगलदेव शास्त्री लिखित रश्मिमाला (इण्डियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित) तथा अमृतमंथनम् (२०१३ वि० में चौखम्भा विद्या भवन, वाराणसी से प्रकाशित) भी नीतिकाव्यों की श्रेणी में ही रक्खे जा सकते हैं। रश्मिमाला में नीति, सदाचार, चरित्र-निर्माण, लोकनीति, राजनीति, अध्यात्म आदि विषय वर्णित हैं, जब कि अमृतमन्थनम् में वैदिक आदर्शों का उदात्त रूप विवेचित हुआ है। पं० सुखदेव शास्त्री लिखित चार अध्यायों में समाप्त 'चरित्र-रक्षामणिः' एक सुन्दर उपदेशप्रधान नीतिकाव्य है जिसे मधुर प्रकाशन, दिल्ली ने १९७० ई० में प्रकाशित किया था।

शतक काव्य—सौ पद्यों में शतक काव्य लिखने की परिपाटी पर्याप्त प्राचीन है। भर्तृहरि के शतकत्रय, अमरुक का श्रृंगाररसपरक शतक संस्कृत के विख्यात काव्य ग्रन्थ

हैं। आचार्य मेधाव्रत ने कुछ सुन्दर शतक काव्य लिखे हैं, जिनका विवरण निम्न प्रकार है —(१) ब्रह्मचर्य शतक—कवि ने इसकी रचना अपनी छात्रावस्था में की थी। कालान्तर में वेदानन्द वेदवागीश की टीका सहित इसका प्रकाशन गुरुकुल झज्जर से २०१० वि० में हुआ। (२) गुरुकुल शतक—११६ छन्दों में समाप्त इस काव्य की रचना १९५८ ई० में हुई। पण्डित वेदव्रत शास्त्री द्वारा लिखी गई टीका के साथ यह काव्य गुरुकुल झज्जर से प्रकाशित हुआ है, जिसका शान्ति शतक (श्लोक रत्नमाला) एक अन्य काव्य का अनुवाद पण्डित मुसद्दीलाल शर्मा ने किया था। पण्डित अखिलानन्द शर्माकृत भगवद्-वर्णन शतक का भी उल्लेख मिलता है।

स्तोत्रकाव्य—संस्कृत साहित्य में स्तोत्र-काव्य की एक पृथक् विधा है। पौराणिक देवी-देवताओं की स्तुति में जिस विशाल साहित्य का निर्माण किया गया, वह स्तोत्र-साहित्य के अन्तर्गत ही आता है। स्तोत्रों की रचना श्रुतिमधुर शैली में की जाती है। इसमें प्रायः शिखरिणी जैसे छन्दों का प्रयोग किया जाता है जो गान की दृष्टि से उपयुक्त होते हैं। आर्य कवियों द्वारा लिखित कतिपय स्तोत्र-ग्रन्थों का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—

अभिनवमहिम्न स्तोत्र—संस्कृत के सुप्रसिद्ध स्तोत्र शिवमहिम्न(आचार्य पुष्पदत्त-प्रणीत) की ही शैली का अनुकरण कर जोधपुर की वैदिक पाठशाला के प्रथमाध्यापक पण्डित देवीचन्द्र शास्त्री ने अभिनवमहिम्नस्तोत्र की रचना की। इसमें ४२ छन्द हैं। इस काव्य में शिखरिणी वृत्त में निराकार परमात्मा का गुणानुवाद किया गया है। इसका प्रकाशन जोधपुर के प्रधानमन्त्री महाराज प्रतापसिंह के गुरु स्वामी प्रकाशानन्द ने किया था।

आर्य-चर्पट-पंजरिका स्तोत्र—शंकराचार्यकृत प्रसिद्ध चर्पटपंजरिका स्तोत्र के ही अनुकरण पर पण्डित तुलसीराम स्वामी ने आर्य-चर्पट-पंजरिका स्तोत्र लिखा जो स्वामी प्रेस, मेरठ से १८९६ ई० में प्रकाशित हुआ।

दिव्यानन्द लहरी—आचार्य मेधाव्रतरचित ५२ शिखरिणी छन्दों का यह काव्य ईश्वरमहिमा, अष्टांग-योग आदि आध्यात्मिक विषयों से युक्त है। पण्डित सत्यव्रत शास्त्री लिखित टीकासहित इसका प्रकाशन गुरुकुल चित्तौड़गढ़ से २०१५ वि० में हुआ था।

गीति काव्य—गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर से कुलगीतिमाला का प्रकाशन हुआ है। डॉक्टर प्रशस्यमित्र शास्त्री लिखित संस्कृत गीतों का एक संग्रह 'अभिनव संस्कृत गीतमाला' शीर्षक से छपा है। पण्डित अखिलानन्द शर्मा ने 'आर्य संस्कृत गीतयः' शीर्षक एक गीतसंग्रह लिखा था। श्री चैतन्यलिखित 'प्रणवस्तुतिः' उनके एक बृहद् ग्रन्थ चैतन्य नीति सहस्रकम् के मंगलाचरण रूप में लिखा गया स्तोत्र-ग्रन्थ है। गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक तथा राजस्थान कॉलेज शिक्षा-सेवा के डॉ० सुभाष वेदालंकार ने ईशस्तोत्रम् का प्रणयन १९८२ ई० में किया। इसमें मंगलाचरण, गुरुवंदना, ईश्वस्तुति, ईशमहिमा तथा ईशप्रार्थना शीर्षकों के अन्तर्गत ८६ पद्य संगृहीत हैं। इन्हीं के द्वारा अनुष्टुप छन्दों में लिखित संस्कृत सुधा एक अन्य लघु पद्य काव्य है जिसका प्रकाशन अलंकार प्रकाशन, जयपुर से १९८१ ई० में हुआ है।

स्फुट काव्य—आर्यसमाज के संस्कृत कवियों में पण्डित अखिलानन्द शर्मा का नाम सर्वोपरि माना जाता है। यद्यपि वे अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में आर्यसमाज को त्यागकर पौराणिक दल में चले गये थे, किन्तु आर्यसमाज में रहते समय उन्होंने जो

उत्कृष्ट काव्यरचना की, वही उन्हें महाकवि का पद दिलाने में पर्याप्त थी। यहाँ हम उनकी स्फुट काव्यकृतियों का उल्लेख कर रहे हैं। ये काव्य निम्न हैं—लघु काव्य संग्रह इसमें ईश्वर स्तुति काव्य, धर्म लक्षण काव्य, सत्यवर्णन काव्य तथा गप्प वर्णन काव्य इन चार काव्यों का संग्रह किया गया है। इसका प्रकाशन १९०७ ई० में हुआ। बृहत् काव्य-संग्रह—इसमें आर्य वृत्तेन्दु चन्द्रिका, वार्षिकोत्सव चम्पू, परोपकार-कल्पद्रुम, गुरुकुलोदय, उपनयनप्रशंसन, विवाह-विनोद, शोक-सम्मूर्छन, तथा विद्याविनोद शीर्षक काव्य संगृहीत किये गये थे। वैदिकसिद्धान्तवर्णन काव्य १९६९ विक्रमी में प्रकाशित, भामिनीभूषण काव्य १९६७ वि० में प्रकाशित, संगीत-रत्नमंजूषा काव्य, ब्राह्मण-महत्त्वादर्श काव्य १९७१ वि० में प्रकाशित, सनाढ्य विजय काव्य १९७१ वि० में प्रकाशित। इनके अतिरिक्त इनके जिन काव्यों का उल्लेख मिलता है, उनमें से कतिपय निम्न हैं—दशावतार खण्डन-काव्य, दैवोपालम्भ काव्य, आर्य संस्कृत गीतयः, द्विजराज पताका काव्य, भारत-महिमा काव्य, आर्य विनोद काव्य, संस्कृत विद्या मन्दिर काव्य आदि। इनके द्वारा रचित समस्त काव्यों की पूर्ण श्लोकसंख्या ९५००० बताई गई है।

(२) आर्य लेखकों द्वारा लिखित संस्कृत का गद्य साहित्य

अब तक हमने आर्यसमाजी लेखकों द्वारा लिखित काव्य साहित्य का विवरण प्रस्तुत किया है। साहित्य शास्त्र में पद्यरचना की अपेक्षा गद्यलेखन को अधिक क्लिष्ट तथा श्रमसाध्य कहा गया है। उक्ति प्रसिद्ध है—गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति, अर्थात् गद्य कवियों की कसौटी है। संस्कृत साहित्य-परम्परा में बाण, सुबंधु, दण्डी आदि गद्यकार भी 'कवि' नाम से ही प्रसिद्ध हैं, उसी प्रकार जैसे अंग्रेजी नाटककार शेक्सपियर को 'महाकवि' संज्ञा से सम्बोधित किया जाता है। आर्यसमाज के संस्कृत लेखकों द्वारा लिखी गई गद्यकृतियों की संख्या बहुत अधिक नहीं है। जहाँ तक उपन्यासों का सम्बन्ध है, यह गद्य की नवीन विधा मानी जाती है। यद्यपि कादम्बरी, दशकुमारचरित आदि ग्रन्थों को उपन्यासों की श्रेणी में रक्खा जा सकता है, किन्तु आधुनिक भाषाओं में उपन्यास-विधा का जैसा विकास हुआ है और उसमें मनोवैज्ञानिक चरित्र-विश्लेषण आदि के तत्त्व जिस रूप में रहते हैं, उन्हें देखते हुए संस्कृत की इन प्राचीन कथाओं और आख्यायिकाओं को 'उपन्यास' कहने में संकोच ही होता है। आर्यसमाज के प्रसिद्ध संस्कृत लेखक पण्डित मेधाव्रताचार्य ने कुमदिनीचन्द्र नामक एक उपन्यास संस्कृत में लिखा था। एक गुजराती कथा का आधार लेकर लिखी गई यह औपन्यासिक कृति १९७६ वि० में छपी थी। गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक पण्डित आनन्दवर्धन विद्यालंकार ने १९६१ ई० में कुसुमलक्ष्मी शीर्षक एक अन्य उपन्यास लिखा। यह आत्मकथात्मक शैली में लिखा गया उपन्यास है। डॉ० कृष्णकुमार ने भी संस्कृत में अनेक उपन्यास लिखे हैं। पण्डित भवानी प्रसाद ने 'चारु चरितावली' नामक एक उत्कृष्ट गद्यग्रन्थ लिखा था।

निबन्ध लेखन—धार्मिक विषयों पर लिखे गये संस्कृत निबन्धों की चर्चा प्रसंगानुसार ऊपर आ चुकी है। संस्कृत में आर्य विद्वानों द्वारा लिखे गये ललित निबन्ध भारतोदय आदि आर्य पत्रों में छपते ही रहते हैं। डॉक्टर मंगलदेव शास्त्री ने प्रबन्ध प्रकाश (२ भाग) लिखा। पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने वंगदेशीय संस्कृत विद्वान् पण्डित हृषीकेश भट्टाचार्य के संस्कृत निबन्धों का एक संग्रह 'प्रबन्ध मंजरी' शीर्षक से सम्पादित किया

था। इसका प्रकाशन १९८६ वि० में हुआ। प्रस्तुत निबन्ध-संग्रह का सम्पादकीय वक्तव्य स्वयं शर्माजी ने लिखा था जो अपने-आपमें संस्कृत में लिखा गया एक उत्कृष्ट निबन्ध है। गुरुकुल वृन्दावन की विद्यापरिषद् में पठित संस्कृत निबन्ध ग्रन्थाकार भी छपे हैं।

चम्पू काव्य—गद्य व पद्य के मिश्रित रूप को चम्पू की संज्ञा दी गई है—गद्य-पद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते। आर्यसमाजी लेखकों द्वारा लिखे गये चम्पू काव्यों की संख्या नगण्य ही है, तथापि कुछ रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। पण्डित अखिलानन्द शर्माकृत वैधव्य विध्वंसन चम्पू की चर्चा हम प्रसंगोपात्त कर चुके हैं। उनके द्वारा रचित कुछ अन्य चम्पू थे—वार्षिकोत्सव चम्पू, द्विजराज-विजय चम्पू, विज्ञानोदय-चम्पू। स्वामी दयानन्द के समकालीन, पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा के साले तथा संस्कृत के विद्वान्, बैरिस्टर रामदास छबीलदास ने पद्मिनी चम्पू लिखा जो बहुत वर्षों पूर्व प्रकाशित हुआ था। गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के संस्कृत प्राध्यापक पण्डित दिलीपदत्त शर्मा का श्री प्रताप चम्पू १९९० वि० में प्रकाशित हुआ। इसका लेखनकाल १९८६ वि० है। यह काव्य दस निःश्वासों में समाप्त हुआ। लेखक ने इसमें मेवाड़ के देशभक्त महाराणा प्रताप का उज्ज्वल चरित्र अंकित किया है। पण्डित जनमेजय विद्यालंकारकृत अभिनवकाव्य को भी प्रकारान्तर से चम्पू की संज्ञा दी जा सकती है, यद्यपि इसमें एक कथा का निर्वाह न होकर स्वतन्त्र विषयों पर पद्य एवं गद्य की अनेक रचनाएँ संकलित की गई हैं।

संस्कृत नाटक—आर्यसमाजी लेखकों द्वारा लिखित संस्कृत नाटकों की गणना एक हाथ की अंगुलियों पर की जा सकती है। पण्डित सत्यव्रत स्नातक लिखित 'महर्षि-चरितामृतम्' का उल्लेख यथाप्रसंग हम कर चुके हैं। आचार्य मेधाव्रतरचित, काव्य-तत्त्वों से भरपूर प्रकृतिसौन्दर्यम् नाटक गुरुकुल वृन्दावन की विद्या परिषद् से १९१३ वि० में प्रकाशित हुआ। आनन्दवर्धन विद्यालंकारलिखित 'संवादमाला' को संस्कृत के एकांकी नाटकों की श्रेणी में रक्खा जा सकता है। नाटकों के प्रति स्वामी दयानन्द की सम्मति प्रतिकूल ही थी, अतः आर्य लेखकों ने इस साहित्य-विधा को अपनाने में संकोच ही दिखाया। पण्डित अखिलानन्द शर्मा रचित 'वैदिक धर्म विजय' नाटक का उल्लेख उन्हीं के द्वारा लिखित काव्यालंकार सूत्र के वैदिक भाष्य में मिलता है।

(३) अन्य संस्कृत ग्रन्थ

संस्कृत साहित्यशास्त्र-विषयक ग्रन्थ—अब तक हमने आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा लिखे गये जिस संस्कृत-साहित्य का उल्लेख किया है, वह रसपरक साहित्य है। आचार्य राजशेखर ने ऐसे साहित्य को लेखक की कारयित्री प्रतिभा से उत्पन्न माना है। उनके अनुसार काव्यरसिकों में एक अन्य भावयित्री प्रतिभा भी होती है, जिससे काव्य के सौंदर्य का आस्वाद किया जाता है। इस प्रतिभा से सम्पन्न व्यक्ति को 'रसज्ञ आलोचक' की संज्ञा दी गई है। संस्कृत में साहित्यशास्त्र से सम्बन्धित सैकड़ों ग्रन्थ हैं, जिनमें काव्य के मौलिक तत्त्वों—रस, ध्वनि, रीति, वक्रोक्ति, अलंकार, औचित्य आदि की विस्तार से चर्चा हुई है। यद्यपि एक धार्मिक संस्था होने के कारण आर्यसमाज का साहित्य के क्षेत्र में सीधा प्रवेश नहीं है, किन्तु उसके विद्वानों ने प्रसंग आने पर साहित्य-शास्त्रविषयक महत्त्वपूर्ण कृतियों का भी सर्जन किया है। इनमें से अधिकांश ग्रन्थ तो ऐसे हैं जो साहित्यशास्त्र के विद्यार्थियों

के उपयोग की दृष्टि से ही लिखे गये हैं। आर्यसमाज की मौलिक विचारधारा से साहित्यालोचन का सीधा सम्बन्ध न होने के कारण हम इस प्रकरण को अत्यन्त संक्षेप में ही प्रस्तुत कर रहे हैं। प्रसिद्ध विद्वान् कविरत्न पण्डित अखिलानन्द शर्मा ने आचार्य वामनकृत काव्यालंकार-सूत्र का वैदिक भाष्य १९७० वि० में लिखकर प्रकाशित किया था। कविरत्नजी ने इसे 'यास्कप्रणीत काव्यालंकार सूत्र' कहा है। वामनकृत ग्रन्थ को यास्करचित बताने में इस भाष्यकार का प्रयोजन सम्भवतः यही था कि स्वामी दयानन्द ने स्वग्रन्थ संस्कारविधि के वेदारम्भ-प्रकरण में पाठ्य-ग्रन्थों की जो सूची दी है उसमें "यास्क मुनिकृत काव्यालंकार सूत्र को वात्स्यायन भाष्य सहित" पढ़ने की बात कही है। अतः स्वामी दयानन्द के इस निर्देश को ध्यान में रखकर ही पण्डित अखिलानन्द ने वामनरचित काव्यालंकार-सूत्र को यास्कप्रणीत बताया है। इस वैदिक भाष्य की प्रथम विशेषता तो यह है कि इसे भाष्यकार ने इस ग्रन्थ की विभिन्न सात प्रतियों को देखकर सम्पादित किया है। इन सात प्रतियों का विवरण इस प्रकार है—

(१) कलकत्ता से प्रकाशित प्रति,(२) बम्बई से प्रकाशित प्रति, (३) जयपुर के राजकीय पुस्तकालय से प्राप्त प्रति,(४)मथुरा के पण्डित रंगदत्त चौबे से प्राप्त प्रति,(५) अलवर के राजगुरु पण्डित रामचन्द्र शास्त्री से प्राप्त प्रति,(६) आंध्रप्रदेश से प्राप्त ताड़पत्र पर लिखित प्रति, तथा(७)एक अन्य हस्तलिखित प्रति। द्वितीय बात, जो इस संस्करण की विशेषता बताती है, वह यह है कि काव्यालंकार सूत्रों पर वामन ने स्वयं ही जो वृत्ति लिखी है उसमें अश्लील उदाहरणों की भरमार है, जबकि पण्डित अखिलानन्दकृत इस वैदिक भाष्य में प्रदत्त उदाहरणों में यह दोष लेशमात्र भी दिखाई नहीं देता। इसमें भाष्यकार ने स्वकृत काव्य ग्रन्थों से ही अधिकांश उदाहरण दिये हैं।

आचार्य मेधाव्रत ने भी काव्यालंकार सूत्र की एक अन्य टीका 'व्रतिमंगला' शीर्षक से लिखी, जो हरयाणा साहित्य संस्थान से २०१८ वि० में प्रकाशित हुई। इस टीका की विशेषता भी यही है कि इसकी रचना गुरुकुलों में अध्ययनरत छात्रों के दृष्टिकोण से की गई है। अतः सूत्रों की व्याख्यारूप में जो काव्योदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं वे स्वयं टीकाकार आचार्य मेधाव्रतरचित काव्यग्रन्थों से ही लिये गये हैं। सरल संस्कृत में निबद्ध यह टीका वामन के सूत्रों की सुगम व्याख्या प्रस्तुत करती है। पण्डित उदयवीर शास्त्रीकृत वाग्भटालंकार की संस्कृत-हिन्दी टीका (१९२५), डॉक्टर हरिदत्त शास्त्रीकृत काव्यप्रकाश टीका, पण्डित शालिग्राम शास्त्री (महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्यापक) कृत साहित्यदर्पण की विमला टीका तथा गुरुकुल काँगड़ी से १९७८ वि० में प्रकाशित साहित्यदर्पण का संशोधित संस्करण आदि साहित्यशास्त्र के कुछ अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। गुरुकुल वृन्दावन के आचार्य पण्डित विश्वेश्वर का साहित्यशास्त्र-विषयक कार्य तो स्थायी महत्त्व का ही है। उनके द्वारा रचित ध्वन्यालोक, काव्यालंकारसूत्र, वक्रोक्तिजीवित, काव्यप्रकाश और नाट्यदर्पण की टीकायें तथा नाट्यशास्त्र पर लिखित अभिनव भारती टीका की हिन्दी व्याख्या राष्ट्रभाषा में संस्कृत साहित्यशास्त्र के अन्य ग्रन्थों को सुगम शैली में प्रस्तुत करने का एक सफल प्रयास है।

भाषाविज्ञान-विषयक साहित्य—प्राचीनकाल में लिखे गये शिक्षा, व्याकरण तथा निरुक्त आदि वेदांगों में आधुनिक भाषाविज्ञान बीजरूप में मिलता है, किन्तु वर्तमान भाषाविज्ञान जिसे प्रायः तुलनात्मक भाषाविज्ञान भी कहा जाता है, आधुनिक

युग की ही देन है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने प्रकटतः चाहे भाषाविज्ञान पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा, किन्तु उनके ग्रन्थों के अध्ययन से यह पता तो चल ही जाता है कि वे भाषाविज्ञान-विषयक प्राचीन और पाश्चात्य मतों से पूर्णतया परिचित थे। स्वामीजी ने पूना में प्रदत्त वेद-विषयक व्याख्यान में कहा था—"संस्कृत सारी भाषाओं की जननी है। अंग्रेजी सदृश भाषाएँ उससे परम्परा से उत्पन्न हुई हैं। एक भाषा दूसरी भाषा का अपभ्रंश होकर उत्पन्न होती है।...ऐसे-ऐसे अपभ्रंश कुछ नियमों के अनुकूल होते हैं और कुछ अपभ्रंश यथेष्टाचार भी होते हैं।" इसी से मिलते-जुलते विचार स्वामी जी ने सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में भी व्यक्त किये थे, जहाँ उन्होंने लिखा, "संस्कृत जब बिगड़ती है तब अपभ्रंश से देशभाषाएँ होती हैं। जैसे कि घट से घड़ा, घृत से घी, दुग्ध से दूध आदि।" इस प्रसंग में उन्होंने संस्कृत से अपभ्रंश बने कतिपय अंग्रेजी शब्दों के भी उदाहरण दिये—यूयं से यू (you), वयं से वी (we) आदि।

आर्यसमाज के विद्वानों में भाषाविज्ञान पर स्वतन्त्र एवं मौलिक रीति से लेखन-कार्य करने वालों में अकेले पण्डित भगवद्दत्त का ही नाम आता है। उन्होंने पाश्चात्य प्रणाली का अनुसरण न करते हुए तथा भारतीय साहित्य एवं भाषाविज्ञान की पुरातन मान्यताओं को स्वीकार कर "भाषा का इतिहास" शीर्षक अपना मौलिक क्रान्तिकारी ग्रन्थ लिखा। इसे पढ़कर पाश्चात्य भाषाविज्ञान की मान्यताओं को सत्य स्वीकार करना कठिन हो जाता है। पण्डित रघुनन्दन शर्मा का 'अक्षरविज्ञान' भाषा और लिपि-विषयक एक मौलिक ग्रन्थ है। डॉक्टर मंगलदेव शास्त्री का 'तुलनात्मक भाषाशास्त्र' तथा डॉक्टर बाबूराम सक्सेना का 'सामान्य भाषाविज्ञान' पाश्चात्य सरणि का ही अनुसरण करते हैं।

संस्कृत साहित्य के पाठ संकलन—गुरुकुलों में संस्कृत साहित्य के पठन-पाठन के लिए कुछ साहित्य-संकलन ग्रन्थ तैयार किये गये थे। इनमें निम्न उल्लेखनीय हैं। गुरुकुल काँगड़ी से साहित्य के जो संग्रहात्मक ग्रन्थ छपे उनमें पण्डित भवानीप्रसाद तथा पण्डित वागीश्वर विद्यालंकार द्वारा सम्पादित 'साहित्य सुधा संग्रह' उल्लेखनीय है। यह तीन भागों में संकलित किया गया था। तीनों भागों में वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत तथा कालिदास आदि के काव्य एवं नाटक तथा अश्वघोष, भवभूति, बाण, भर्तृहरि, शूद्रक, विशाखदत्त, कृष्णमिश्र आदि संस्कृत के अन्य कवियों, नाटककारों तथा गद्यकारों की कृतियों के अंश सम्मिलित थे। इसका प्रकाशन गुरुकुल की गीर्वाण-वाणी ग्रन्थावली के अन्तर्गत १९८३ वि० में हुआ। काव्यलतिका के सम्पादक पण्डित भीमसेन शर्मा आगरा वाले थे। इसमें किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा भट्टि काव्य के उत्तमोत्तम अंश संगृहीत किये गये थे। संस्कृत की छोटी कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए 'संस्कृत साहित्य पाठावलि' दो भागों में तैयार की गई। गुरुकुल ग्रन्थावली तथा साहित्य पुष्पांजलि शीर्षक ग्रन्थमालायें भी तैयार हुई।

स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने 'संस्कृत-कथा-मंजरी' तथा संस्कृतांकुर का लेखन विरजानन्द संस्कृत परिषद् की परीक्षाओं के लिए किया। आचार्य मेधाव्रत सम्पादित साहित्य-सुधा का प्रथम संस्करण बड़ौदा से तथा द्वितीय १९५४ ई० में स्वाध्याय मण्डल, पारड़ी से प्रकाशित हुआ। पण्डित जीवाराम उपाध्याय ने संस्कृत के कालजयी ग्रन्थों के पाठ्योपयोगी संस्करण तैयार किये। इस क्रम में उनके द्वारा सम्पादित रघुवंश, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध, श्रुतबोध, हलायुधप्रणीत कविरहस्य आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पण्डित

कन्हैयालाल शास्त्री ने बालरघुवंश का सम्पादन बालछात्रों को दृष्टिपथ में रखकर किया था। यह स्वामी प्रेस, मेरठ से १९७३ वि० में छपा।

संस्कृत साहित्य का इतिहास—पश्चिमी एवं भारतीय विद्वानों ने संस्कृत साहित्य के इतिहास-ग्रन्थों का लेखन अत्यन्त मनोयोगपूर्वक किया है। मैक्समूलर, विण्टरनिट्ज, वेबर, कीथ आदि पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत साहित्य के इतिहास-ग्रन्थ विशेष परिश्रम तथा अध्यवसायपूर्वक लिखे हैं। आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने भी इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है। डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर के अनुसंधान विभाग से प्रो० वेदव्यास लिखित संस्कृत साहित्य का इतिहास (प्रथम भाग) का प्रकाशन हुआ। गुरुकुल काँगड़ी की साहित्य-परिषद् ने अखिलानन्द शर्मा लिखित "संस्कृत साहित्यस्य वर्तमान दशा" तथा हरिश्चन्द्र विद्यालंकारकृत 'संस्कृत-साहित्य-विमर्श' का प्रकाशन किया। पण्डित जगदेवसिंह शास्त्री सिद्धान्ती ने "संस्कृत वाङ्मय का संक्षिप्त परिचय" शीर्षक एक छात्रोपयोगी ग्रन्थ लिखा। पण्डित जीवाराम विद्यावाचस्पति का "संस्कृत-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास" भी परीक्षोपयोगी ग्रंथ है। इसमें लेखक ने आर्यसमाज के संस्कृत लेखकों तथा कवियों की रचनाओं का विशेष रूप से विस्तृत उल्लेख किया है। पण्डित द्विजेन्द्रनाथ शास्त्री लिखित "संस्कृत साहित्य विमर्श" संस्कृत के सुगम गद्य में लिखा हुआ संस्कृत साहित्य का इतिहास है। भारती प्रतिष्ठान, मेरठ से २०१६ वि० में प्रकाशित यह ग्रन्थ उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हो चुका है।

संस्कृत के सुभाषित ग्रन्थ—संस्कृत साहित्य में सुभाषितों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। चाणक्य के शब्दों में—

> पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम्।
> मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते॥

संसार में जल, अन्न और सुभाषित यही तीन रत्न हैं। मूर्खों ने व्यर्थ ही पत्थर के टुकड़ों को रत्न की संज्ञा दी है। संस्कृत में सुभाषितों के अनेक संग्रह प्रकाशित हुए हैं। सुभाषितों का प्रयोग सामान्य वाणी-व्यवहार से लेकर उच्चस्तरीय वक्तृताओं, व्याख्यानों तथा प्रवचनों में भी होता है। यहाँ हम आर्यसमाजी लेखकों द्वारा संगृहीत एवं सम्पादित सुभाषित ग्रन्थों का विवरण दे रहे हैं।

आर्यसमाज की पुरानी पीढ़ी के विद्वान् पण्डित रमापति त्रिपाठी ने शिक्षाध्याय: शीर्षक सुभाषित-संग्रह तैयार किया जो सरस्वती यंत्रालय प्रयाग से १८९५ ई० में प्रकाशित हुआ। पण्डित भीमसेन शर्मा (आगरा) का 'आर्य सूक्ति सुधा' गुरुकुल काँगड़ी से १९६२ वि० में छपा। इसी वर्ष पण्डित मुसद्दीराम शर्मा सम्पादित 'सुभाषित-रत्नमाला' का प्रकाशन स्वामी प्रेस, मेरठ ने किया। इसमें १३४ विषयों पर १२०० श्लोकों का संग्रह किया गया था। स्वामी अच्युतानन्द सरस्वती की व्याख्यानमाला वैदिक एवं लौकिक सुभाषितों का अपूर्व संग्रह है। इसमें धर्म, क्षमा, सत्य, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय, दान, अहिंसा, सदाचार, विद्या, सज्जन-प्रशंसा, दुर्जन-निंदा जैसे पचास विषयों का विवेचन करने वाली सूक्तियाँ एकत्रित की गई हैं। इसका प्रथम संस्करण बड़ौदा से १९०५ ई० में छपा। तदनन्तर १९२० ई० में लाहौर से इसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित हुआ। तृतीय संस्करण शान्ति आश्रम लुधियाना से १९९४ वि० में प्रकाशित हुआ। गोविन्दराम हासानन्द ने पण्डित यज्ञदेव शास्त्री से व्याख्यानमाला में उद्धृत सूक्तियों का हिन्दी अनुवाद

कराया। भाषार्थ युक्त यह संस्करण पाठकों के लिए विशेष उपयोगी सिद्ध हुआ है।

आर्य विद्वानों द्वारा संगृहीत सुभाषित ग्रन्थों में पण्डित अवधविहारीलाल द्वारा सम्पादित आर्यरत्नमंजूषा, पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर सम्पादित सूक्तिसुधा, पण्डित कृष्णचन्द्र विद्यालंकार सम्पादित सुभाषित-रत्नमाला, मेधारथी स्वामी रचित सुभाषित-शतक तथा पण्डित मुनिदेव उपाध्याय विरचित संस्कृत-सुभाषित सौरभ विशेषतः उल्लेखनीय हैं। अन्तिम ग्रन्थ में वेद, उपनिषद्, गीता, मनुस्मृति, पंचतंत्र, भर्तृहरिकृत नीतिशतक, चाणक्यनीति आदि ग्रन्थों के अतिरिक्त कालिदास, माघ, भारवि, अमरूक आदि संस्कृत के प्रख्यात कवियों की काव्य-कृतियों से भी सुभाषित-रत्न चयनित किये गये हैं। स्वामी जगदीश्वरानन्द द्वारा सम्पादित चारों वेदों की सूक्तियों के संग्रह प्रकाशित एवं प्रसारित करके गोविन्दराम हासानन्द ने जनसाधारण को वेदों का सार समझाने का अन्यतम उद्योग किया है।

संस्कृत भाषा तथा साहित्य के महत्त्वनिरूपणात्मक ग्रन्थ—आर्यसमाज के लिए संस्कृत भाषा के महत्त्व को सिद्ध करना अनावश्यक ही है। स्वामी दयानन्द ने सर्वप्रथम बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना करते समय इस संस्था के जो २८ नियम बनाये, उनमें से सोलहवाँ नियम प्रत्येक आर्य के लिए संस्कृत के ज्ञान की वांछनीयता घोषित करता है। आर्यसमाज ने संस्कृत के प्रचार एवं प्रसार के लिए जो कुछ किया है आज वह इतिहास का एक पृष्ठ बन चुका है। स्वामी दयानन्द ने स्वयं संस्कृत के प्रचार एवं प्रसार के लिए जो उद्योग एवं पुरुषार्थ किया था, वह किसी से अप्रकट नहीं है। उन्होंने स्वयं ही काशी, मिर्जापुर, छलेसर, कासगंज और फर्रुखाबाद आदि स्थानों में संस्कृत-पाठशालाएँ स्थापित कीं तथा पण्डित उदयप्रकाश आदि अपने सहपाठियों को इनमें अध्यापक नियुक्त किया। यह भिन्न बात है कि कतिपय कारणों से इन पाठशालाओं का कार्य संतोषजनक ढंग से नहीं चल सका और उनमें से अधिकांश स्वामीजी के जीवनकाल में ही बन्द हो गईं। स्वामी दयानन्द के परलोक-गमन के पश्चात् आर्यसमाज द्वारा संचालित शिक्षण-संस्थाओं में भी संस्कृत को उच्च स्थान मिला। डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर में संस्कृत की उच्च शिक्षा की प्रारम्भ में सुचारु व्यवस्था थी, किन्तु आगे चलकर जब इस सम्बन्ध में कॉलेज के संचालकों द्वारा कुछ भिन्न नीति अपनाये जाने की आशंका हुई तो पण्डित गुरुदत्त तथा उनके साथियों ने कॉलेज के प्रबन्ध से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। लाला मुन्शीराम ने तो गुरुकुल के माध्यम से संस्कृत शिक्षा को सर्वोच्च प्राथमिकता प्रदान की थी।

आर्यसमाज के विद्वानों ने संस्कृत भाषा का महत्त्व निरूपित करते हुए अनेक ग्रन्थ लिखे हैं तथा उन्होंने संस्कृत-अध्ययन की उपयोगिता को भी स्थापित किया है। यहाँ संस्कृत भाषा के माहात्म्य का प्रतिपादन करने वाले ऐसे ही साहित्य का उल्लेख किया जा रहा है। आश्चर्य की बात तो यह है कि आर्यसमाज के प्रारम्भिक दौर के लोगों में यद्यपि संस्कृत तो दूर रही, उनमें से अनेक अच्छी हिन्दी तक नहीं जानते थे, किन्तु आर्य सभ्यता एवं संस्कृति का गौरवशाली चित्रण करने वाली भाषा होने के कारण संस्कृत के प्रति उन लोगों के हृदय में सम्पूर्ण सम्मानभाव था। स्वामी दर्शनानन्द (जो स्वयं उर्दू के सिद्धहस्त लेखक थे) ने 'क्या संस्कृत मातृभाषा है ?' शीर्षक ट्रैक्ट उर्दू में १९०४ ई० में लिखा जिसमें संस्कृत को मातृभाषा के तुल्य सम्मान देने का आग्रह था।

जैमिनि मेहता ने "संस्कृत भाषा का महत्त्व" शीर्षक ग्रन्थ लिखा। स्वामी वेदानन्द तीर्थ तथा पण्डित जगदेवसिंह शास्त्री सिद्धान्ती ने 'हम संस्कृत भाषा क्यों पढ़ें ?' शीर्षक लघु पुस्तकें लिखकर संस्कृत के अध्ययन की उपयोगिता बताई। संस्कृत भाषा के महत्त्व का निरूपण यदि संस्कृत-ज्ञाता पण्डित करें, इसमें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है, किन्तु हम देखते हैं कि लाहौर के वयोवृद्ध आर्य लाला जीवनदास संस्कृत भाषा के पतन को देखकर अपना दुःख एक उर्दू पुस्तक लिखकर व्यक्त करते हैं। इस पुस्तक का नाम था— 'संस्कृत जुबान का तनज्जुल और अहले-हुनूद की अफसोसनाक हालत'(संस्कृत भाषा का पतन और हिन्दू जाति की दुःखद अवस्था)। इसका प्रकाशन १८८५ ई० में लाहौर से हुआ था।

स्वामी दयानन्द के महान् संस्कृतज्ञ शिष्य पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा ने अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य विद्या सम्मेलन के पंचम बर्लिन अधिवेशन में संस्कृत भाषा को एक जीवित भाषा के रूप में प्रस्तुत करते हुए एक सारगर्भित भाषण दिया था। 'संस्कृत-ए लिविंग लैंग्वेज' शीर्षक इस भाषण का सारांश १९४२ में आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त ने पुस्तकरूप में प्रकाशित किया था। इन पंक्तियों के लेखक द्वारा लिखित पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा की जीवनी में इस भाषण-सार का हिन्दी रूपान्तर परिशिष्ट भाग में दिया गया है। संस्कृत के महत्त्व पर एक अन्य भाषण स्वामी भास्करानन्द ने अमेरिका में दिया था। स्वामी भास्करानन्द को जोधपुर राज्य की ओर से पश्चिमी देशों में धर्म-प्रचारार्थ भेजा गया था। Lecture delivered on Sanskrit Language शीर्षक यह भाषण १८८८ ई० में मर्चेण्ट प्रेस कानपुर से प्रकाशित हुआ। आन्ध्रदेशीय विद्वान् पण्डित अनन्त गणेश धारेश्वर ने Scientific Beauty of Sanskrit लिखकर इस भाषा की वैज्ञानिकता पर प्रकाश डाला। पण्डित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड ने अपने ग्रन्थ Vedic Sanskrit—Mother of all languages में वैदिक संस्कृत को समस्त भाषाओं की जननी सिद्ध किया है। निश्चय ही संस्कृत भाषा के महत्त्वनिरूपण तथा उसके अध्ययन की आवश्यकता प्रतिपादित करने वाले इस साहित्य से संस्कृत के अध्ययन और प्रचार को प्रगति प्राप्त हुई है।

संस्कृत-भाषा-शिक्षण—यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है कि आर्यसमाज ने संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए उल्लेखनीय कार्य किया है। आर्यसमाज द्वारा स्थापित पाठशालाओं, गुरुकुलों तथा अन्य शिक्षण-संस्थाओं में संस्कृत-शिक्षण की व्यवस्था प्राथमिक स्तर से ही की जाती थी। संस्कृत भाषा के पठनपाठन में छात्र को व्युत्पन्न बनाने की दृष्टि से अनेक सुगम पाठमालाएँ लिखी गईं। उनका उपयोग विद्यालयों के छात्र तो करते ही थें, यदा-कदा प्रौढ़ एवं वयस्क लोग भी, जो संस्कृत सीखने में रुचि लेते थे, इन पुस्तकों से लाभ उठाते रहे। यहाँ हम ऐसी ही संस्कृत पुस्तक का उल्लेख कर रहे हैं जो सरल रीति से संस्कृत भाषा सीखने में उपयोगी सिद्ध हुई हैं।

पण्डित तुलसीराम स्वामी ने "संस्कृत भाषा" (४ भाग) शीर्षक पुस्तक बिना गुरु की सहायता लिये संस्कृत व्याकरण का बोध कराने तथा संस्कृत लिखने, बोलने तथा अनुवाद का प्रशिक्षण देने की दृष्टि से लिखी। चारों भाग क्रमशः १९०४, १९०६, १९०९ तथा १९१० ई० में छपे। इनकी लोकप्रियता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस पुस्तक के सभी भागों के अनेक संस्करण १० लाख से भी अधिक संख्या में

छपे हैं। पण्डित श्यामलाल शर्मा ने भी संस्कृत शिक्षा (१९७१ वि०) लिखी। गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के प्राध्यापक पण्डित दिलीपदत्त शर्मा ने संस्कृतालोक ४ भागों में लिखा। इसका प्रकाशन १९७२ वि० में हुआ था। गुरुकुल काँगड़ी से ही संस्कृत-प्रवेशिका १९६६ वि० में छपी। इसका संशोधित एवं परिवर्धित संस्करण दो भागों में (प्रथम के सम्पादक पण्डित हरिश्चन्द्र विद्यालंकार तथा द्वितीय के पण्डित प्रियव्रत वेद-वाचस्पति) छपा। इसी गुरुकुल से 'संस्कृतस्य प्रथम पुस्तकम्' तथा संस्कृतांकुर (सम्पादक पण्डित भीमसेन शर्मा, आगरा) भी प्रकाशित हुई। गुरुकुल वृन्दावन द्वारा आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि द्वारा सम्पादित संस्कृत शिक्षा सोपानम् १९९६ वि० में प्रकाशित किया गया। इस प्रकार आर्यसमाज के प्रमुख गुरुकुलों (काँगड़ी, ज्वालापुर तथा वृन्दावन) ने संस्कृत-भाषा-शिक्षणविषयक अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये। इनके अतिरिक्त पण्डित बद्रीदत्त शर्मा (संस्कृत प्रबोध, ४ भाग) पण्डित जीवाराम उपाध्याय (संस्कृत शिक्षा, ६ भाग, १९९६ वि०) तथा (बाल संस्कृत पाठ), पं० जे० पी० चौधरी (सरल-संस्कृत-प्रवेशिका, २ भाग), पण्डित राजेन्द्रनाथ शास्त्री (संस्कृत प्रदीपिका), प्रो० किशोरीलाल गुप्त (संस्कृत प्रबोध, २ भाग), वेदानन्द तीर्थ (संस्कृतांकुर, २००९ वि०) तथा स्वामी विद्यानन्द विदेह (संस्कृत-शिक्षा तथा संस्कृत-स्वयं-शिक्षक) आदि ने भी संस्कृतशिक्षण-विषयक कुछ अच्छे ग्रन्थ लिखे हैं। डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर की संस्कृत कक्षाओं के लिए संस्कृत-सोपान शीर्षक संस्कृत पाठमाला तीन भागों में तैयार की गई थी।

यहाँ पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर तथा पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के संस्कृत-शिक्षा हेतु लिखे गये उन ग्रन्थों का उल्लेख भी आवश्यक है जिनमें सुगम रीति से संस्कृत भाषा शिक्षण हेतु क्रमिक पाठ दिये गये हैं। सातवलेकर जी ने इस संदर्भ में संस्कृत-स्वयं-शिक्षक (३ भाग) तथा संस्कृत पाठमाला (२४ भाग) लिखी। बिना किसी अध्यापक की सहायता लिये, संस्कृत का ज्ञान कराने की दृष्टि से इन पुस्तकों की उपयोगिता निर्विवाद है। पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने 'संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि' दो भागों में लिखी है। प्रथम भाग का अंग्रेजी अनुवाद The tested easiest method of Learning Sanskrit शीर्षक से रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इधर हाल ही में प्रकाशित डॉक्टर वेदपाल वर्मा कृत संस्कृत स्वयं-शिक्षक (भाग १) तथा डॉक्टर सोमदेव शास्त्री कृत सरल संस्कृत शिक्षक शीर्षक पुस्तकें संस्कृत भाषा के अध्ययन में प्रचुर सहायक सिद्ध हुई हैं।

तेरहवाँ अध्याय

आर्यसमाज का हिन्दी साहित्य

(१) भारतेन्दु काल पर स्वामी दयानन्द सरस्वती का प्रभाव

साहित्य में जहाँ अपने युग की मान्यताएँ, आदर्श, आचार-विचार, धारणाएँ तथा प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं, वहाँ ऐसे भी क्रान्तदर्शी, प्रगतिशील एवं मौलिक चिन्तन प्रस्तुत करने वाले कवि, लेखक व साहित्यकार होते हैं, जिन द्वारा अपने समय के साहित्य को नई दिशा प्रदान की जाती है, और जिनके कारण साहित्य मानव-समाज की उन्नति व सुख-समृद्धि का साधन बनता है। हिन्दी साहित्य के इतिहास में जिसे 'भारतेन्दु युग' कहा जाता है, उसका प्रारम्भ उन्नीसवीं सदी के चतुर्थ चरण के साथ हुआ था, और उस काल में जिस साहित्य का निर्माण हुआ, उस पर नवजागरण की उन प्रवृत्तियों का स्पष्ट प्रभाव है, जिनका प्रादुर्भाव भारत में उन्नीसवीं सदी के मध्य भाग में शुरू हो गया था। उत्तरी भारत में इन प्रवृत्तियों के प्रादुर्भाव में स्वामी दयानन्द सरस्वती और उनके द्वारा स्थापित आर्यसमाज का प्रमुख कर्त्तृत्व था। यही कारण है कि इस काल में अनेक ऐसे आर्यसमाजी कवि, नाटककार व लेखक हुए, जिनकी रचनाओं ने देश में नवयुग के सूत्रपात में अत्यधिक सहायता पहुँचाई। साथ ही, इस काल के ऐसे साहित्यकारों पर भी, जो आर्यसमाजी नहीं थे, स्वामी दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं तथा सुधार-आन्दोलन का स्पष्ट प्रभाव विद्यमान है।

हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का आरम्भ हम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से मान सकते हैं। यह वह युग था जबकि यूरोप के नवीन ज्ञान-विज्ञान, भौगोलिक दूरी को समाप्त कर देनेवाले तीव्रगामी यातायात-साधनों तथा रेल, तार, डाक आदि विज्ञान की नवीन उपलब्धियों ने भारत के सामाजिक जीवन में भी नवचेतना को उत्पन्न किया। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी का यह युग प्राचीन एवं नवीन तथा पौरस्त्य एवं पाश्चात्य जीवन-मूल्यों के पारस्परिक टकराव, साथ ही एक-दूसरे की जीवनी शक्तियों को परखने का समय था, परन्तु यह स्वीकार करने में हमें कुछ भी विप्रतिपत्ति नहीं है कि इस समय देश असाधारण परिस्थितियों से गुजर रहा था। भारतेन्दुकाल की हिन्दी कविता इसी संक्रमणकालीन भारतीय समाज को वाणी प्रदान करती है। कवि की चेतना धर्म, राजनीति, समाज तथा समसामयिक समस्याओं का संस्पर्श प्राप्त कर नितान्त गतिशील, प्राणवान् एवं स्फूर्त हो उठती है। हिन्दी का यह कवि कभी 'भारत दुर्दशा' की बात करता है तो कभी अकाल, टैक्स, महामारी तथा नाना प्रकार की आधि-व्याधियों से पीड़ित एवं त्रस्त जनसमाज की आकुलता-व्याकुलता का चित्रण करने लगता है। भारतेन्दुकाल के साहित्यकार को पद्य की अपेक्षा निबन्ध, नाटक, उपन्यास तथा पत्र-

कारिता जैसी गद्य की सशक्त विधाओं के माध्यम से अपनी संवेदना को व्यक्त करने में अधिक सुविधा प्रतीत होती थी, किन्तु उस काल की कविता भी जन-भावनाओं को प्रकट करने में कभी पीछे नहीं रही।

स्वयं भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही हिन्दी काव्य-धारा को परिवर्तन की नई दिशा दी थी। उनकी कविता यों तो सगुण (साकार) भक्ति, शृंगार वर्णन आदि पुरातन आदर्शों से बँधी हुई दृष्टिगोचर होती है, किन्तु कविता के लिए नवीन और युगानुकूल विषयों का निर्वाचन करने में भी भारतेन्दु की प्रतिभा कभी कुण्ठित नहीं हुई। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कविता की धारा को भी नये-नये क्षेत्रों की ओर मोड़ा। इस नये रंग में सबसे ऊँचा स्वर देशभक्ति की वाणी का था। उसी से लगे हुए विषय लोकहित, समाजसुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि के थे।" कहना नहीं होगा कि भारतेन्दु की कविता में स्वदेशी भावना, जनजागरण, समाज-संशोधन, कुरीति-निवारण आदि के स्वर मुखरित हुए हैं।[1]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द के समकालीन थे। यद्यपि धार्मिक एवं दार्शनिक विश्वासों की दृष्टि से इन दोनों महापुरुषों की विचारधारा में पर्याप्त अन्तर था, किन्तु स्वामी दयानन्द की ही भाँति भारतेन्दु भी धर्म एवं समाज के क्षेत्र में क्रान्तिकारी सुधार तथा परिवर्तन लाने के पक्षपाती थे। वल्लभाचार्य-प्रोक्त वैष्णव मत के अनुयायी भारतेन्दु धर्म तथा समाज में प्रचलित अंधविश्वासों, रूढ़िबद्ध धारणाओं तथा विज्ञान-विरोधी दृष्टिकोण के कटु आलोचक थे। उन्हें यह कदापि सह्य नहीं था कि धर्म के उदात्त एवं ऊर्ध्वगामी लक्ष्य को भुलाकर भारतवासी उसे जर्जर रूढ़ियों, मिथ्या कर्मकाण्डों तथा अंधविश्वासों का पुञ्ज मात्र समझ लें। उन्होंने यह अनुभव कर लिया था कि आर्य धर्म के मौलिक तत्त्वों का प्रतिपादन करनेवाले वेद, उपनिषदादि ग्रन्थों का जब तक पुनः प्रचार नहीं होगा, तब तक उन साम्प्रदायिक उप-धर्मों का छूटना भी कठिन है जिन्होंने भारतीय आर्य जनता में अनेकता, फूट तथा विद्वेष के बीज बोए हैं, और यह कहने में भी कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि भारतेन्दु के धर्म-विषयक इन प्रगतिशील एवं रूढ़िमुक्त विचारों की निर्मिति में स्वामी दयानन्द के एतद्विषयक विचार ही प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में कारण बने थे।

'तदीय सर्वस्व' नामक ग्रन्थ में भारतेन्दु ने इस देश में प्रचलित धार्मिक विश्वासों को युक्ति एवं विज्ञान-विरुद्ध, सामाजिक विषमता के प्रचारक, समष्टिभाव के बाधक तथा तर्क एवं बुद्धि-विरुद्ध सिद्ध किया है। उनके निम्न उद्धरण पढ़कर यह सहज ही अनुमित होता है कि स्वामी दयानन्द-प्रतिपादित युक्ति, विज्ञान एवं बुद्धि से अविरुद्ध

---

१. "हिन्दी साहित्य में स्वदेशी आन्दोलन के प्रथम प्रवर्तक भारतेन्दु थे। उन्होंने 'परदेशी जुलाहों के गुलाम' भारतीयों की वृत्ति पर खेद प्रकट किया (भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग-२ पृ० ७३५)। उन्होंने 'परदेशी वस्तु और परदेशी भाषा का भरोसा' त्यागकर उन्नति करने के लिए भारतीयों को प्रेरित किया था (भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग-३ पृ० ६०३)। उनका विश्वास था कि स्वदेशी के द्वारा स्वराज्य पाया जा सकता है—'भारतेन्दु के विचार : एक पुनर्विचार' (डॉ० चन्द्रभानु सीताराम सोनवणे) पृ० २८।

धर्म को स्वीकार करना उन्हें भी अभीष्ट था तथा वे साम्प्रदायिक संकीर्णता के पोषक मत-विश्वासों को धर्म की संज्ञा प्रदान करने के विरुद्ध थे। इस ग्रन्थ में वे लिखते हैं—"हम आर्य लोगों में धर्म-तत्त्व के मूल ग्रन्थों का भाषा में प्रचार नहीं। यही कारण है कि भिन्नता स्थान-स्थान पर फैली हुई है। अनेक कोटि देवी-देवताओं का माहात्म्य, छोटी-छोटी बातों में ब्रह्महत्या का पाप और तुच्छ बातों में बड़े-बड़े यज्ञों का पुण्य, अहं ब्रह्म का ज्ञान और मूल धर्म छोड़कर उपधर्मों में आग्रह ने भारतवर्ष से वास्तविक धर्मों का लोप कर दिया है।"

स्पृश्यापृश्य की भावना को भी भारतेन्दुजी स्वामी दयानन्द की ही भाँति समाज के लिए अनुपयोगी तथा हानिकारक मानते थे। तदीयसर्वस्व में वे लिखते हैं—"धर्म हमारा ऐसा निर्बल और पतला हो गया है कि केवल स्पर्श से वा एक चुल्लू पानी से मर जाता है। कच्चे, गले, सड़े सूत व चींटी की दशा हमारे धर्म की हो गई है।" भारतेन्दु ने यह भी अनुभव कर लिया था कि सम्प्रति आर्यसमाज तथा ब्रह्मसमाज के नेता एवं आचार्यगण जिस विशुद्ध धर्म का प्रचार कर रहे हैं वही पुरातन वैदिक धर्म है जो एकेश्वरवाद पर आधारित है तथा सामाजिक समता का प्रचारक है। इस प्रसंग में उन्होंने लिखा था—"इसी धर्म-पथ को समुन्नत करने को एक ईश्वरवादी अनेक आचार्यों ने परिष्कृत और सहज धर्म प्रचलित किये हैं और अनेक लोग इन मार्गों में दीक्षित हैं।"

सुधारक वर्ग के लोगों के प्रति भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की जो सहानुभूतिमिश्रित भावना थी, उसका पता हमें उनके व्यंग्यात्मक निबन्ध 'स्वर्ग में विचार सभा का अधिवेशन' से लगता है। इसमें उन्होंने स्वामी दयानन्द तथा केशवचन्द्र सेन आदि समाज-संशोधकों के द्वारा किये गए सुधार-कार्यों के प्रति प्रशंसामूलक उद्गार व्यक्त किये हैं, यद्यपि इन महापुरुषों के धार्मिक विचारों से वे पूर्णतया सहमत नहीं थे। अपने 'प्रेम-योगिनी' नामक नाटक में तो उन्होंने धर्म एवं समाज में प्रचलित मिथ्या विश्वासों का जिस प्रकार खुलकर उपहास किया है, उसे पढ़कर कोई यह कल्पना भी नहीं कर सकता कि यह आलोचना परम वैष्णव हरिश्चन्द्र की लेखनी से निकली है।

'भारत-दुर्दशा' शीर्षक एक अन्य नाटक में इस लेखक ने देश की दुर्दशा के लिए समाज में व्याप्त कुरीतियों को उत्तरदायी बताते हुए लिखा—

जाति अनेकन करी नीच अरु ऊँच बनायो।
खान पान सम्बन्ध सबन सों बरजि छुड़ायो।
जन्मपत्र विधि मिले व्याह नहिं होन देत अब।
बालापन में व्याहि प्रीति बल नाश कियो सब।
करि कुलीन के बहुत व्याह बल बीरज मार्‌यो।
विधवा व्याह निषेध कियो विभिचार प्रचार्‌यो।
रोकि विलायत गमन कूपमण्डूक बनायो।
औरन को संसर्ग छुड़ाइ प्रचार घटायो॥

उपर्युक्त पंक्तियों में जात-पांत का भेद-भाव, खान-पान में संकीर्णता, जन्म-पत्रिका से विवाह, कुलीन प्रथा, बाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध, विलायत-गमन का प्रतिषेध आदि सामाजिक बुराइयों का तीव्र खण्डन किया गया है। आर्यसमाज ने भी इन

सभी सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध अपने स्थापना-काल से ही संघर्ष प्रारम्भ कर दिया था।

धर्म के नाम पर प्रचलित मदिरा-पान, गुप्त व्यभिचार आदि पर भारतेन्दु ने तीखे कटाक्ष किये हैं। 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' शीर्षक अपने एक प्रहसन में वे लिखते हैं—

वैष्णव लोग कहावहिं कंठी मुद्रा धारि।
छिप-छिप के मदिरा पियहिं यह जिय माँझ विचारि॥

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी-काव्य में युग-परिवर्तन की घोषणा भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने ही की थी। वे ही नवीन युग के प्रथम वैतालिक बनकर आए। वस्तुतः भारतेन्दु के रूप में हिन्दी के साहित्य-गगन में एक ऐसा ज्योतिर्मान् नक्षत्र उदित हुआ था जिसने अपने दिव्य आलोक से साहित्य और काव्य के क्षितिज को उद्भासित कर दिया। काव्य में प्रचलित रीति-परम्परा तथा व्रजभाषा के मोहपाश से कविगण अब अपने को मुक्त करने लगे। शृंगाररसप्रधान नायक-नायिकाओं की विलास-क्रीड़ाओं से साहित्य के पावन क्षेत्र को मुक्त रखने के प्रयास होने लगे तथा इसके स्थान पर स्वस्थ सामाजिक प्रश्नों एवं जन-जीवन के समक्ष प्रस्तुत समस्याओं का चित्रण होने लगा। यद्यपि इस काल के कुछ कवि अपने को परम्परा की दुर्निवार शृंखलाओं से बँधा अनुभव करते थे तथा काव्य की विषयगत एवं शैलीगत रूढ़ियों को तोड़ने में उन्हें अपार कष्ट अनुभव होता था, तथापि वे यह भी मानने लगे थे कि युग-सत्य को नकारने से काम नहीं चलेगा। परम्परा-पालन का मोह भी किसी-न-किसी रूप में विद्यमान था ही, किन्तु अनेक कवियों ने नवीन विषयों को भी अपनाना आरम्भ कर दिया था।

स्वयं भारतेन्दु ही काव्य के क्षेत्र में प्राचीन तथा नवीन के सुखद समन्वय के पक्षपाती थे। उन्होंने जहाँ मध्यकालीन भक्त कवियों के अनुकरण पर वैष्णव प्रपत्ति, भक्ति तथा दास्य भावना को अपनी कविता में अभिव्यक्ति दी है, वहाँ देश की सर्वतोगामी दुर्दशा तथा अधोगति का यथार्थ शैली में चित्रण भी किया है। स्वदेश, स्वभाषा तथा स्वधर्म के प्रति देशवासियों को अपना कर्त्तव्य-पालन करने की प्रेरणा देते हुए भारतेन्दु ने 'हिन्दी-हिन्दू-हिन्दुस्तान' का नारा दिया। यह दूसरी बात है कि भारतेन्दु के साहित्य में व्यक्त राष्ट्रवाद की भावना जहाँ देशवासियों को स्वदेश के प्रति कर्त्तव्यबोध की शिक्षा देती है वहाँ अवसर आने पर दयालु ब्रिटिश राज्य का गुणगान करने से भी नहीं चूकती, जिसकी न्याय-व्यवस्था के अन्तर्गत शेर और बकरी एक घाट पानी पीते हैं। ब्रिटिश शासन के कारण इस समय देशवासियों में सुरक्षा की जो भावना व्याप्त थी तथा विभिन्न प्रकार की लौकिक सुख-सुविधाओं के कारण जन-जीवन में जो एक प्रकार की निश्चिन्तता आ गई थी, उसे नकारने में तो उस युग का कोई कवि समर्थ नहीं था, इसलिए भारतेन्दु ने भी अंग्रेजी राज को 'सुख साज' ही कहा, किन्तु उनकी अन्तर्व्यथा भी उस समय व्यक्त हो गई जब स्वदेश के धन को विदेश जाते देख उन्हें खेद हुआ।

हिन्दी कविता में युगान्तर उपस्थित करने में भारतेन्दु को अपने समसामयिक कवियों और लेखकों का भी भरपूर सहयोग मिला था। प्रतापनारायण मिश्र, बालकृष्ण भट्ट, राधाचरण गोस्वामी तथा बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि उस युग के सभी लेखक एकजुट होकर साहित्य के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन लाने के महत् अनुष्ठान

में संलग्न थे। इस लेखक-मण्डली का नेतृत्व भारतेन्दु के सशक्त कन्धों पर था। भारतेन्दु उत्कृष्ट कवि, प्रभावशाली लेखक होने के साथ-साथ युग-प्रवर्तक, युग-द्रष्टा तथा युगीन साहित्यकारों का मार्गदर्शन करने की भी क्षमता रखते थे।

युग की आवश्यकता को अनुभव करते हुए उन्होंने ब्रजभाषा के साथ-साथ खड़ी बोली को काव्य-भाषा बनाना स्वीकार किया। उनके काव्य में वर्णित विषयों की विविधता तथा शैली-विषयक नवीन प्रयोग कवि की व्यापक दृष्टि तथा मानसिक क्षितिज के विस्तार की सूचना देते हैं। इस युग की कविता में स्वदेशाभिमान तथा राष्ट्रीय अस्मिता की अभिव्यक्ति सर्वत्र दीख पड़ती है। अतीत के गौरव का गान करने के साथ कवि वर्तमान अधोगति एवं दुर्दशा का वर्णन करने का भी कोई अवसर नहीं छोड़ता। परन्तु यह कहना भी अनुचित होगा कि उसका स्वर निराशा से भरा हुआ है। यत्र-तत्र वह देश के उज्ज्वल भविष्य की कामना के आशाप्रद संकेत भी देता चलता है।

भारतेन्दु के समान उनके सहयोगी कवि और लेखक-गण भी अपनी वैचारिक उदारता तथा व्यापक दृष्टि के लिए आर्यसमाज एवं स्वामी दयानन्द के ऋणी हैं। भारतेन्दु को अपना साहित्य-गुरु एवं वन्दनीय स्वीकार करने वाले पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने स्व-सम्पादित 'ब्राह्मण' पत्र से अपनी साहित्य-साधना का प्रारम्भ किया था। इस पत्र के प्रारम्भिक वर्ष की फाइल का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिश्रजी आर्यसमाज की सुधारवादी, प्रगतिशील तथा देशभक्तिपूर्ण नीति एवं कार्यक्रम से पूर्णतया सहमत थे। उनका काव्य यद्यपि गुणवत्ता की दृष्टि से अधिक उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता, किन्तु उसके विवेचनीय विषयों पर दृष्टि निक्षेप करने से पता चलता है कि मिश्रजी अपनी कविता के माध्यम से धर्म एवं समाज में प्रचलित रूढ़ियों तथा अंध-धारणाओं पर निर्मम प्रहार करने के पक्षपाती थे। वे कविता के माध्यम से समाज-सुधार का मार्ग भी प्रशस्त करना चाहते थे।

पण्डित प्रतापनारायण मिश्र का लेखन स्वामी दयानन्द की विचारधारा से पूर्ण-तया प्रभावित था। स्वामी दयानन्द के प्रति अपने प्रशस्ति-मूलक उद्‌गार व्यक्त करते हुए प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा था—"परमेश्वर ने बड़ी दया की कि स्वामी दयानन्द को उत्पन्न कर दिया, जिनके वचनरूपी वरुणास्त्रों से क्रिस्तान की भयानक अग्नि बहुत कुछ शान्त हो गई।" 'ब्राह्मण' के प्रवेशांक में वे रासधारियों द्वारा भगवान् कृष्ण के पावन-चरित्र को वासना-प्रधान शृंगार की पंकिलता में निमज्जित करने के लिए दोषी ठहराते हुए लिखते हैं—"और उन सज्जन महात्माओं को क्यों बदनाम करते हो, हाँ रासधारियों के ठाकुर जी को चाहे जो करो, भगवान् कृष्ण के और ही किसी काम का पक्ष लेते हो? देखो, महाभारत में उनके धर्मनिष्ठता, धीरता, वीरता, गम्भीरता आदि सद्‌गुणों की कैसी स्तुति है। यदि हम एक भी उनकी चाल सीखते तो लोक-परलोक में कैसा कुछ आनन्द होता।" स्वामी दयानन्द ने कृष्ण-विषयक जो उद्‌गार सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में व्यक्त किये हैं, उन्हीं से मिश्रजी को उपर्युक्त लेखन की प्रेरणा मिली है।

पण्डित प्रतापनारायण मिश्र ने समय-समय पर शैव, वैष्णव, शाक्त आदि पौराणिक सम्प्रदायों की कटु आलोचना की तथा संन्यासी, वैरागी, तीर्थ-गुरु, पण्डों आदि में व्याप्त बुराइयों का भी भण्डाफोड़ किया। समाज में व्याप्त नाना कुरीतियों पर भी उन्होंने तीखे व्यंग्य किये हैं। उन्हें इस बात का अत्यन्त खेद था कि हिन्दू जाति को

जगाने हेतु आजीवन प्रयत्न करनेवाले स्वामी दयानन्द के बार-बार उद्बोधन देने पर भी इस जाति में जागृति नहीं आई। हिन्दुओं में प्रचलित बाल-विवाह, वेश्या-नृत्य आदि बुराइयों की कड़ी टीका करते हुए मिश्रजी इस बात पर अफसोस प्रकट करते हैं कि जो लोग वेश्याओं के नृत्य को देखकर उस पर रुपयों की बौछार करते हैं, वे ही वेदभाष्य के के लिए चन्दे की अपील का नाम सुनते ही बेचैन हो जाते हैं—

मरत-मरत दयानन्द मरिगे हिन्दू रहे आजु लगि सोय।
पूत बियाहैं पाँच बरस को गहने धरत फिरैं घर बार।
रुपया फैंके जल्लादन पर घर भरि दिये पतुरिया क्यार।
वेद मंगैवे के चन्दा के सुनतै नाम सूखि जिउ जाय॥

वे उन मृतक श्राद्धभोजी तथा इस आस्था को लेकर जीनेवाले कि मरने के पश्चात् भी उन्हें श्राद्ध के माध्यम से सुस्वादु भोजन मिलता रहेगा, भूदेवों को भी घृणा की दृष्टि से देखते हैं जो स्वोदरपूर्ति हेतु इस प्रकार के पाखण्डों को बढ़ावा देते हैं, जबकि सच्चे ब्राह्मणों को भरपेट भोजन भी नहीं मिलता—

मरेहु खाऊ तुम खीर खांड हम जियहिं छुधा कृश निपट निकाम।

भारतेन्दु काल के एक अन्य लेखक, पत्रकार तथा साहित्यकार पण्डित राधाचरण गोस्वामी तो वैष्णव-कुल में उत्पन्न होने तथा गौड़ीय वैष्णव-सम्प्रदाय के आचार्य होने पर भी स्वामी दयानन्द की उदात्त विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित ही नहीं थे, अपितु उनके द्वारा प्रदर्शित मार्ग पर चलने से ही हिन्दू धर्म एवं समाज की उन्नति हो सकती है, यह कट्टर विश्वास अपने मन में जमाए बैठे थे। उन्होंने स्वामी दयानन्द को 'भगवान् की विभूति' कहकर उल्लिखित किया तथा एक बार वार्तालाप के प्रसंग में यहाँ तक कह दिया था कि "स्वामी दयानन्द के वाक्य मुझे वेदवाक्यवत् मान्य हैं।" गोस्वामीजी की विचार-धारा स्वामीजी की विचारधारा से किस प्रकार एवं किस सीमा तक प्रभावित थी, यह इसी तथ्य से प्रमाणित होता है कि उन्होंने दयानन्द की ही भाँति इस देश का नाम 'आर्यावर्त' तथा देशवासियों का नाम 'आर्य' प्रतिपादित किया था। वे बाल-विवाह-निषेध, विधवा-विवाह-समर्थन, षोडश संस्कार-विधान, समुद्रयात्रा-विधान तथा गोरक्षा आदि उन सभी मन्तव्यों पर स्वामी दयानन्द से पूर्णतया सहमत थे, जिनका प्रचार स्वामीजी को आजीवन अभीष्ट रहा। भारतवर्षीय आर्यों का अभिधान 'आर्य' है हिन्दू नहीं, इस बात पर ज़ोर देते हुए गोस्वामीजी ने एक पुस्तक भी लिखी, जिसका शीर्षक था—'आर्य शब्द का उपपादन—हिन्दू मत कहो'।

भारतेन्दु काल के साहित्यकारों ने प्रचलित धार्मिक एवं सामाजिक बुराइयों तथा पाखण्डों के खण्डन के लिए व्यंग्य, विनोद तथा परिहास की शैली का सहारा लिया था। यही शैली स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र प्रयुक्त हुई है। भारतेन्दु के सम-कालीन लेखकों ने विभिन्न कल्पनामूलक आख्यान, व्यंग्य तथा हास्य-रस का आश्रय लेकर लिखे, जिनमें उन्होंने सामाजिक कुप्रथाओं पर तीखे प्रहार किये हैं। राधाचरण गोस्वामी लिखित 'यमलोक की यात्रा' एक ऐसी ही व्यंग्य-रचना है। इस कथा के लेखक को इस बात का बड़ा खेद है कि "न विलायत जाने की रोक उठी न जाति-पाँति का झगड़ा मिटा"। मृत्यु के समय गोदान करने से आसन्न मृत्यु के ग्रास जीव को वैतरणी नदी को पार करने में सहायता मिलती है, इस लोक-प्रचलित अंधविश्वास पर फब्ती

कसते हुए गोस्वामीजी लिखते हैं—"यदि गौ की पूँछ पकड़कर वैतरणी-पार उतर जाते हैं तो क्या बैल से नहीं उतर सकते ? जब बैल से उतर सकते हैं तो कुत्ते ने क्या चोरी की ?" कितनी कठोर तथा तीखी मार है पौराणिक विश्वासों पर, और यह प्रहार करने वाला और कोई नहीं, पवित्र वैष्णव कुलोत्पन्न गोस्वामी राधाचरण है।

राधाचरण गोस्वामी की दयानन्द-भक्ति इतनी अधिक बढ़ी, जिससे उनके वैष्णव मतानुयायी साथी यह आशंका करने लगे कि कहीं गोस्वामीजी अपने पूर्वजों के मत का परित्याग कर आर्यसमाजी न बन जायें। इस तथ्य का संकेत डॉ० रामविलास शर्मा ने अपनी पुस्तक में किया है—"राधाचरण गोस्वामी ने एक भजन में वैदिक धर्म के पुनरुत्थान की चर्चा की थी जिस पर भारतेन्दु ने गुप्त रीति से कवि-वचन-सुधा में उसका उत्तर छपवाया था। इससे उनके धर्म-प्रिय साथियों में बड़ी खलबली मची कि यह सनातनधर्म छोड़कर नये मतों की ओर झुक रहे हैं। इन्होंने भारतेन्दु के उत्तर का प्रत्युत्तर उन्हीं की पत्रिका में छपाया। इससे इनका जी खुल गया और यह अधिक स्वाधीनता से लिखने लगे। उन्होंने स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ पढ़े और अनेक बार उनसे बातचीत भी की। यह उनके व्याख्यान सुनने न जा सकते थे, क्योंकि कुल-धर्म में किसी के नीचे बैठना मना था। पीछे उन्होंने यह कुल-धर्म भी छोड़ दिया।" यहाँ यह भी स्मरणीय है कि लाहौर से प्रकाशित होने वाले 'मित्रविलास' नामक पत्र में जब स्वामी दयानन्द के विरोध में अनेक प्रकार की अनर्गल सामग्री छपने लगी तो राधाचरण गोस्वामी ने उसका मुँहतोड़ उत्तर दिया था। गोस्वामीजी ने 'भारतेन्दु' नामक मासिक पत्र भी निकाला था, जिसमें वे यदा-कदा स्वामीजी के सम्बन्ध में प्रशंसापूर्ण लेख लिखते रहते थे।

'हिन्दी प्रदीप' के सम्पादक तथा प्रसिद्ध निबन्धकार पण्डित बालकृष्ण भट्ट यद्यपि आस्था और विश्वास की दृष्टि से सनातनधर्मी ही थे, किन्तु वे स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की प्रगतिशील विचारधारा तथा युगसापेक्ष नीतियों के अत्यन्त प्रशंसक भी थे। स्वामीजी के निधन पर उन्होंने स्वसम्पादित हिन्दी प्रदीप में दिवंगत संन्यासी के प्रति अपनी भावपूर्ण श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा था—"इसमें कुछ सन्देह नहीं कि इस अभागे भारत की भलाई और कल्याण के प्रयत्न में आपने अपने जीवन पर्यन्त एक क्षण का भी अन्तर नहीं डाला···आपका यह पवित्र विग्रह यूरोप-खण्ड के किसी देश में इस गुरुभाव से प्रकट हुआ होता तो जिस उन्नति के शैल शिखर तक पहुँचाने की सीढ़ी आप बना रहे थे उसको अवश्य पूर्ण कर देते और देश का देश आपका सहकारी और सहायक बन जाता।" इसी प्रकार आपने आर्यसमाज की जीवन्तता तथा कर्मठता को अनुभव कर एक प्रसंग में लिखा था—"जीवन यदि किसी सम्प्रदाय या समाज में है तो वह आर्यसमाज में है।" निश्चय ही भट्टजी की उदार एवं प्रगतिशील विचारधारा के पीछे स्वामी दयानन्द की प्रेरणाएँ कार्यरत थीं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतेन्दु-काल के हिन्दी काव्य एवं साहित्य में जिस नवचेतना एवं नवप्राणों का पुलक-स्पर्श हमें दिखाई देता है, उसके कारणों का यदि हम अनुसंधान करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द की क्रान्तिकारिणी विचारधारा ही इस काल के कवियों और लेखकों का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मार्गदर्शन कर रही थी। निश्चय ही भारत के सांस्कृतिक नवजागरण के इस युग

में धर्म, समाज एवं संस्कृति की ही भाँति साहित्य भी एक नई अँगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ था। नवोदय के कारण उत्पन्न भारतीय साहित्य में दीख पड़नेवाली यह वैचारिक क्रान्ति केवल हिन्दी काव्य या साहित्य में ही दृष्टिगोचर हुई हो, ऐसी बात नहीं है। हिन्दी की ही भाँति बँगला, मराठी एवं गुजराती साहित्य में भी नवजागरण के नये बोल गूँजने लगे थे। साहित्य में व्यक्त होनेवाले इस नवोत्थान के पीछे उन्नीसवीं शताब्दी में उत्पन्न हुए पुनर्जागरण के उन आन्दोलनों की भावधारा कार्यरत थी जिसने साहित्य से भिन्न धर्म, समाज एवं राजनीति के क्षेत्रों में भी नवपरिवर्तन का सूत्रपात कर दिया था। इस अध्याय में हम प्रमुख रूप से हिन्दी कविता एवं हिन्दी गद्य की विविध विधाओं को अभिव्यक्ति का आधार बनानेवाले आर्यसमाजी कवियों एवं लेखकों के कृतित्व की सामान्य जानकारी प्रस्तुत कर रहे हैं।

(२) हिन्दी के आर्यसमाजी कवि

पिछले प्रकरण में यह लिखा जा चुका है कि किस प्रकार भारतेन्दुकाल के कवि एवं लेखक स्वामी दयानन्द की सुधारवादी विचारधारा से प्रभावित होकर काव्य में नवीन भावों एवं नवीन विषयों का समावेश करने लगे थे। अब हम उन कवियों तथा उनकी कृतियों का संक्षिप्त परिचय देने जा रहे हैं जो स्वामी दयानन्द की विचारधारा से प्रत्यक्षतया प्रभावित ही नहीं थे बल्कि आर्यसमाज के आन्दोलन से सीधे तौर पर जुड़े हुए थे। यद्यपि इन कवियों की संख्या बहुत अधिक है, किन्तु हम स्थालीपुलाक न्याय से केवल ५० कवियों तथा उनकी रचनाओं का ही परिचय दे रहे हैं। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि आर्यसमाज के इन कवियों में हमने उन कवियों की भी गणना की है जिन्होंने हिन्दी के साथ-साथ उर्दू को भी अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है। मुन्शी केवलकृष्ण, पण्डित नारायणप्रसाद बेताब, पण्डित चमूपति तथा प्रो० शरद आदि वे कवि हैं जिनके लिए हिन्दी एवं उर्दू में समान रूप से काव्यरचना करना नितान्त सहज एवं सरल था। वस्तुतः उर्दू को भी हिन्दी की एक शैली ही माना जा सकता है जिसमें फारसी शब्दों का बाहुल्य तो होता है किन्तु फारसी लिपि में लिखी जाने पर भी जिसकी वाक्य-रचना हिन्दी से भिन्न नहीं होती।

आर्यसमाज से सम्बद्ध हिन्दी कवियों के वर्ण्य विषयों में हमें विविधता दृष्टिगोचर होती है। यह तो निश्चित है कि उन्होंने शृंगार रस को प्रायः अस्पृश्य ही समझा है जो सर्वथा उचित ही है। आर्यसमाज के उन कवियों का रचनासंसार भारतेन्दुकाल की समाप्ति के वर्षों से आरम्भ होकर मुख्यतया आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के काल तक की सीमारेखा में आता है। हिन्दी-साहित्य के समीक्षक यह जानते हैं कि इस युग में हमारे देश में राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक नवचेतना उत्पन्न हुई थी, जिसने पराधीन भारत के नागरिकों में पुनः स्वाभिमान, आत्मगौरव तथा आत्मविश्वास के भावों को जागृत किया। ऐसी मनोदशा में जीनेवाले कवियों के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वे नारी के मांसल सौन्दर्य और उद्दाम शृंगार के वर्णन से अपने काव्य को पृथक् रखते। पवित्रतावादी विचारों के प्रचारक आर्यसमाज के लिए तो यह और भी आवश्यक था कि उसके अनुयायी कवि अपनी कविता से शृंगार रस को सर्वथा दूर रखते।

आर्यसमाज की विचारधारा से अनुप्राणित इन कवियों की कविता में वीर,

शान्त, करुण, हास्य आदि रसों का निरूपण तो हुआ ही है, कविता के लिए उन्होंने आर्यों की पुरातन गरिमा, भारत के इतिहास के गौरवपूर्ण प्रसंग, आर्य संस्कृति के उन्नायक महापुरुषों के जीवन एवं चरित्र जैसे विषयों को स्वीकार किया है। साथ ही, धर्म एवं समाज में व्याप्त दोषों--अंधविश्वास, पाखण्ड, नाना कुरीतियों, कदाचारों, तथा मिथ्या रूढ़ियों का तीव्रतम खण्डन करने में भी इन कवियों को कोई संकोच नहीं हुआ है। प्रायः यह धारणा प्रकट की जाती है कि आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित इन कवियों की कविता में रूक्षता, इतिवृत्तात्मकता तथा नीरसता के ही दर्शन होते हैं। अधिकांश हिन्दी-समीक्षकों ने तो वहुत-कुछ पूर्वाग्रहों के वशवर्ती होकर पण्डित नाथूरामशंकर शर्मा जैसे रससिद्ध कवि की कविताओं को भी नितान्त साधारण तथा उपदेशात्मक प्रवृत्ति से भरपूर होने के कारण वास्तविक काव्य स्वीकार करने से भी इन्कार कर दिया है। इसी प्रसंग में पण्डित श्रीराम शर्मा का यह कथन विचारणीय है—"सूर और तुलसी राम और कृष्ण अथवा पौराणिक भक्ति-भावभरी कविताएँ कर सकते हैं परन्तु यदि शंकरजी ने दयानन्द पर कुछ लिख दिया या वैदिक सिद्धान्तों पर कुछ कह दिया तो वे सम्प्रदायवादी हो गए। कवीर कुप्रथाओं और मिथ्या भ्रमों का भण्डाफोड़ कर सकते हैं, यदि शंकरजी ने ऐसी ही कोई वात लिख दी तो वे कवि नहीं रहे उपदेशक वन जाते हैं। कितने आश्चर्य और दुःख की वात है!"

वस्तुतः कविता का प्रयोजन केवल मनोरंजन करना ही नहीं होता, उसके द्वारा लोकमंगल की सिद्धि भी होती है। अतः यदि उसमें उपदेश-तत्त्व की प्रधानता रहती है तो वह आपत्तिजनक कैसे माना जा सकता है? निश्चय ही कवि का यह उपदेश शास्त्रोपदेश के तुल्य प्रभुसम्मित न होकर कान्तासम्मित ही होता है। लोकहित-विधायक इसी उपदेश भाव को काव्य का प्रमुख लक्ष्य स्वीकार करने के कारण आर्यसमाज के कवियों ने जहाँ स्वामी दयानन्द, स्वामी विरजानन्द तथा आर्यसमाज के उन्नायक अन्य महापुरुषों के जीवन-विषयक काव्य लिखे हैं वहाँ भारत के अन्य इतिहासप्रसिद्ध देशभक्तों, वीरों तथा समाजहित के लिए समर्पित व्यक्तियों के जीवन को भी स्वकाव्य का विषय बनाया है। इन आर्यसमाजी कवियों के काव्य में जहाँ वेदों, उपनिषदों तथा प्राचीन आर्ष ग्रन्थों में अभिव्यक्त उदात्त विचारों की झलक मिलती है वहाँ अनेक कृतिकारों ने इन ग्रन्थों के विभिन्न अंशों का पद्यानुवाद करने के भी प्रयास किये हैं। आगे की पंक्तियों से आर्यसमाज के हिन्दी कवियों तथा उनकी कृतियों का विस्तृत परिचय मिल सकेगा।

(१) मुन्शी केवलकृष्ण—उर्दू भाषा के कवि तथा स्वामी दयानन्द के समकालीन मुन्शी केवलकृष्ण का जन्म १८२८ ई० में हुआ था। स्वामीजी से इनकी भेंट पंजाब में हुई। स्वामीजी के सम्पर्क में आने से पूर्व ये अनेक दुर्व्यसनों में फँसे हुए थे, किन्तु उनका सत्संग पाकर इन्होंने पवित्रतापूर्वक जीवनयापन करने का संकल्प ले लिया। ये वर्षों तक आर्यसमाज गुजराँवाला के प्रधान रहे। १५ दिसम्बर १९०९ ई० को इनका निधन हुआ। मुन्शीजी उर्दू के प्रसिद्ध कवि थे। आर्यसमाज के सम्पर्क में आने से पूर्व वे उर्दू काव्य की प्रचलित परिपाटी का पालन करते हुए शृंगाररस की ही काव्यरचना करते थे, किन्तु आर्यसमाज में प्रविष्ट हो जाने पर उनके काव्य में शान्त-रस की धारा प्रवाहित होने लगी। आपने वैदिक संध्या के मन्त्रों तथा आर्याभिविनय के मन्त्रों का उर्दू पद्यानुवाद किया था। संगीत-सुधाकर तथा भजन-मुक्तावली उनके अन्य काव्यसंग्रह हैं। उर्दू

कविता में उनका तखल्लुस (उपनाम) 'उर्फ' रहता था तथा हिन्दी कविता में वे 'केवल' नाम का प्रयोग करते थे।

(२) **चारण ऊमरदान**—स्वामी दयानन्द के समकालीन और भक्त चारण कवि ऊमरदान का जन्म जोधपुर राज्य के फलोदी परगना के अन्तर्गत ठाठरवाड़ा ग्राम में वैशाख शुक्ला २ शनिवार सं० १९०८ वि० (१८५१ ई०) को हुआ था। इनके पिता का नाम बारहठ बख्शीराम था। इनके बड़े भाई नवलदान थे जिन्हें मारवाड़ राज्य की ओर से स्वामी दयानन्द के जोधपुर-आगमन पर उनकी अगवानी करने के लिए पाली रेलवे स्टेशन पर भेजा गया था। ऊमरदान को खेड़ापा (जिला नागौर) के रामस्नेही साधुओं का सम्पर्क मिला और वे शीघ्र ही इस सम्प्रदाय में दीक्षित हो गये। किन्तु रामस्नेही साधुओं के दुराचारपूर्ण कृत्यों को निकटता से देखने पर उन्हें इस सम्प्रदाय से ग्लानि हो गई और वे १९३६ वि० में इनके सम्पर्क से पृथक् हो गए। स्वामी दयानन्द के जोधपुर-आगमन पर इन्हें स्वामीजी का सत्संग-लाभ मिला और ये पूर्णतया आर्यसमाज की विचारधारा के अनुयायी हो गये। ५१ वर्ष की आयु में इनका निधन फाल्गुन शुक्ला १३ सं० १९६० वि० (११ मार्च १९०३) को जोधपुर में हुआ।

चारण ऊमरदान को काव्य-प्रतिभा निसर्ग से ही प्राप्त थी। वे डिंगल (पुरानी राजस्थानी) में उच्च कोटि की काव्यरचना करते थे। उनकी कविता में धर्म, समाज, देशदशा, दुर्व्यसन-निन्दा, सन्त-असन्त लक्षण जैसे अनेक विनय वर्णित हुए हैं। ऊमरदान के समस्त काव्य का प्रथम संग्रह १९६३ वि० में मारवाड़ स्टेट प्रेस जोधपुर में मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ था। इसके पश्चात् आर्यसमाज जोधपुर ने इस संग्रह को १९६९ वि० में पुनः प्रकाशित किया। जोधपुर के विख्यात इतिहासकार स्व० ठा० जगदीशसिंह गहलोत ने ऊमर-काव्य का एक अन्य सम्पादित संस्करण तैयार किया जो १९३० ई० में छपा। इसमें कवि की अधिकांश काव्य-कृतियों को संग्रहीत किया गया था।

ऊमरदान की कविता में वीर, शान्त, हास्य आदि अनेक रसों का पूर्ण निर्वाह हुआ है। ईश्वरोपासना, भजन की महिमा, सन्तों की महिमा आदि आध्यात्मिक विषयों के अतिरिक्त उन्होंने स्वामी दयानन्द की प्रशंसा में दयानन्द-वन्दना, दयानन्द री दया, दयानन्द दर्शन शीर्षक लम्बी कविताएँ लिखी हैं। जसवन्त-जस-जलद में जोधपुरनरेश महाराजा जसवन्तसिंह के राज्यशासन की प्रशंसा की गई है। रामस्नेही साधुओं की करतूतों का पर्दाफाश करते हुए इन्होंने 'खोटे सन्तां रो खुलासो' तथा 'असन्तां री आरसी' शीर्षक कवितायें लिखीं। 'राठौर दुर्गादास री औरंगजेब ने अर्जी' में एक ऐतिहासिक प्रसंग को काव्यवद्ध किया गया है। 'छपना रो छंद' १८९९ ई० (१९५६ वि०) के प्रसिद्ध दुष्काल का यथार्थ चित्र उपस्थित करता है। अमल रा ओगण (अफीम के अवगुण), दारू रा दोस (मदिरापान से हानि), विभचार री बुराई (व्यभिचार-निन्दा) आदि कविताओं में कवि ने उपर्युक्त व्यसनों की निन्दा की है। वस्तुतः चारण ऊमरदान का काव्य स्वामी दयानन्द के विचारों से पूर्णतया प्रभावित होने के कारण क्रान्तिकारी स्वरों को मुखरित करता है।

(३) **कविकुमार शेरसिंह वर्मा**—स्वामी दयानन्द के समकालीन ठाकुर शेरसिंह वर्मा का जन्म ठाकुर सीताराम के यहाँ कर्णवास (जिला बुलन्दशहर) में हुआ था। १९२४ वि० में जब स्वामी दयानन्द ने कर्णवास में आकर गंगातट पर दीर्घकाल तक

निवास किया और समीपवर्ती क्षत्रियों को यज्ञोपवीत ग्रहण कराये, उस समय शेरसिंह वर्मा भी स्वामी-सेवा में उपस्थित थे। पण्डित टीकाराम शास्त्री इनके गुरु थे, जिनसे इन्होंने काव्यरचना सीखी। स्वामी दयानन्द के कर्णवास-निवास तथा पण्डित हीरावल्लभ से हुए उनके शास्त्रार्थ का आँखोंदेखा विवरण कविकुमार शेरसिंह वर्मा ने स्वयं लेखबद्ध किया था। इनके द्वारा अनेक काव्य-ग्रन्थ लिखे गये जिनमें धर्मदिवाकरोदय काव्य का नाम सर्वोपरि उल्लेखनीय है। इस काव्य में कवि ने विभिन्न छन्दों का प्रयोग करते हुए स्वामी दयानन्द की जीवनगाथा को लिपिबद्ध किया है। उनके अन्य काव्य हैं—ब्रह्मनिरूपण, कविविनोद, नित्य-सुमिरिनी, यथार्थ गीता (गीता का पद्यानुवाद) तथा वियोग सन्ताप चालीसा। अन्तिम काव्य में स्वामी दयानन्द के परलोक-प्रस्थानजन्य सन्ताप का कवि ने मार्मिक निरूपण किया है।

(४) **पण्डित बलभद्र मिश्र**—लखनऊ निवासी पण्डित बलभद्र मिश्र स्वामी दयानन्द के समकालीन थे। लखनऊ आर्यसमाज की स्थापना के साथ ही उसके सदस्य बने। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। मिश्रजी १८८२ से १८८६ ई० तक उक्त आर्यसमाज के उपमन्त्री पद पर रहे। इन्होंने स्वामी दयानन्द का पद्यमय जीवन-चरित १८८३ ई० में लिखा जो शाहजहाँपुर से छपा। इनके देशोपकारक व्याख्यान तथा सत्यसिंधु नामक दो अन्य काव्यों का भी उल्लेख मिलता है।

(५) **पण्डित बाबूराम शर्मा**—ये जिला इटावा के ग्राम इन्द्रावली के निवासी तथा अपने युग के अच्छे कवि एवं लेखक थे। इनकी काव्य-कृतियों में 'धर्म बलिदान अर्थात् पथिक वियोग' प्रमुख है। यह १८९८ ई० में पण्डित लेखराम के बलिदान के पश्चात् प्रकाशित हुई। इसमें कवि ने लोककाव्य 'आल्हा' की भाषा व शैली का प्रयोग किया है। संगीत-सुधासार, संजीवनी बूटी (आल्हाशैली) तथा वेश्या-दोष-दर्पण भजनावली इनके अन्य पद्य ग्रन्थ हैं।

(६) **सेठ मांगीलाल गुप्त कविकिंकर**—नीमच (मध्यप्रदेश) निवासी सेठ मांगीलाल गुप्त कविकिंकर का जन्म २ मई १८५८ ई० को एक अग्रवाल वैश्य परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री लादूराम था। आपने स्वाध्याय के बल पर संस्कृत, उर्दू, अंग्रेजी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त कर लिया। आर्यसमाज की ओर रुचि होने पर आपने नीमच नगर में वेद धर्म-प्रचारिणी सभा की स्थापना १९०६ ई० में की तथा १९१० ई० से इसे आर्यसमाज के रूप में संचालित करने लगे। दयानन्द अनाथालय अजमेर के मुखपत्र 'अनाथरक्षक' का इन्होंने १९०३ से १९०८ ई० पर्यन्त सम्पादन किया। कविकिंकर के नाम से इनकी अनेक काव्य रचनाएँ तत्कालीन पत्रों में छपी थीं। १ अप्रैल १९१८ ई० को इनका निधन हो गया। कविकिंकर की मातृभाषा राजस्थानी थी। अतः इन्होंने अपनी मातृभाषा में भी अनेक कविताओं की रचना की है। लावनी छन्द में उन्होंने जो काव्य लिखा वह 'गाने की चन्द चीजें या लावनी-संग्रह' (४ भाग) शीर्षक से छपा। उनकी अन्य काव्यकृतियाँ इस प्रकार हैं—भक्त-मन-रंजन (१८९९ ई०) तथा कलामे-किंकर। भाषा श्रुतबोध (१९७० वि०) में विविध छन्दों के लक्षण उन्हीं छन्दों में रचित पद्यों में दिये गये हैं। काव्योपवन सुमन पुष्पांजलि में कविकिंकर ने संस्कृत एवं हिन्दी के कुछ मार्मिक काव्यांशों को सटीक एवं सानुवाद प्रस्तुत किया है।

(७) **कविताकामिनीकान्त महाकवि नाथूरामशंकर शर्मा 'शंकर'**—आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित जिन कवियों ने हिन्दी काव्य को समृद्ध किया है उनमें पण्डित नाथूरामशंकर शर्मा का नाम सर्वप्रमुख है। शंकरजी का जन्म चैत्र शुक्ला ५ सं० १९१६ वि० (१८५९ ई०) को अलीगढ़ जिले के हरदुआगंज कस्बे में एक गौड़ ब्राह्मण-परिवार में हुआ। इनके पिता का नाम पण्डित रूपराम शर्मा तथा माता का नाम जीवनी-देवी था। शंकरजी की प्रारम्भिक शिक्षा उर्दू, फारसी में हुई। १३ वर्ष की अल्पायु में ही इन्होंने काव्यरचना करना आरम्भ कर दिया था। पहले ये उर्दू में लिखते थे, किन्तु बाद में हिन्दी में लिखने लगे। जीवकानिर्वाह के लिए इन्होंने नक्शानवीसी और पैमाइश का काम सीखा और सिंचाई विभाग में काम करने लगे। धीरे-धीरे सब-ओवरसियर के पद पर पहुँच गये। लगभग साढ़े सात वर्ष तक सरकारी सेवा में रहने के पश्चात् इन्होंने त्यागपत्र दे दिया और आयुर्वेद का अध्ययन किया। कालान्तर में स्वनिवास-स्थान हरदुआगंज में रहकर चिकित्सा द्वारा जीवनयापन करने लगे।

शंकरजी को स्वामी दयानन्द के दर्शन करने का सौभाग्य कानपुर में मिला, जहाँ उन्होंने उनके अनेक व्याख्यान भी सुने। स्वामीजी के विचारों से प्रभावित होकर वे आर्यसमाज कानपुर के सभासद बन गये और प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित देवदत्त शास्त्री से संस्कृत का अध्ययन करने लगे। पण्डित नाथूरामशंकर पहले ब्रजभाषा में काव्यरचना करते थे, किन्तु बाद में उन्होंने खड़ी बोली को अपना लिया और इसी भाषा में काव्य-रचना करने लगे। १९१३ ई० में उनकी प्रथम काव्य-कृति 'अनुरागरत्न' प्रकाशित हुई। इसका समर्पण उन्होंने प्रसिद्ध समालोचक पण्डित पद्मसिंह शर्मा को किया। विविध विषयों से युक्त यह काव्य-संग्रह शंकर की काव्यप्रतिभा का वास्तविक परिचय देता है। कालान्तर में उनके 'शंकर-सरोज' तथा 'गर्भरण्डारहस्य' शीर्षक दो अन्य काव्य-ग्रन्थ भी प्रकाशित हुए। उनकी सैकड़ों समस्यापूर्तियाँ तथा स्फुट काव्य-रचनाएँ समय-समय पर हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाओं में छपी थीं। महाकवि शंकर के पुत्र डॉक्टर हरिशंकर शर्मा ने शंकरजी की रचनाओं का प्रतिनिधि संकलन 'शंकरसर्वस्व' शीर्षक से सम्पादित किया था, जो २००८ वि० में प्रकाशित हुआ।

शंकर के काव्य में वैदिक धर्म के सभी प्रमुख सिद्धान्त निबद्ध किये गये हैं। स्वामी दयानन्द की प्रशस्ति में लिखी गई उनकी अनेक कृतियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हुई हैं। आर्यसमाज के प्रख्यात उपदेशक पण्डित लेखराम तथा पण्डित गणपति शर्मा के निधन पर शंकरजी ने शोकोद्गार व्यक्त करते हुए सुन्दर कविताएँ लिखी थीं। शंकर की कविता में व्यंग्य, विनोद, हास्य, वक्रता के साथ-साथ उपदेशात्मकता, रूढ़ियों और आडम्बरों के प्रति कटाक्ष तथा सुधारवाद के प्रति प्रशंसा के भाव मिलते हैं। मौलिक कविता के अतिरिक्त उन्होंने पंचतन्त्र के काकोलूकीय प्रकरण का वायसविजय शीर्षक से पद्यानुवाद भी किया था। महाकवि शंकर का निधन १९३२ ई० में हुआ।

(८) **पण्डित बद्रीदत्त शर्मा जोशी**—आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् लेखक, तथा पत्रकार पण्डित बद्रीदत्त जोशी हिन्दी के उत्तम कवि भी थे। इनका जन्म नैनीताल जिले के काशीपुर नगर में १८६६ ई० में हुआ था। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा मुरादाबाद में हुई। यहाँ पर ही आप आर्यसमाज के सम्पर्क में आये और 'आर्यविनय' पाक्षिक का सम्पादन करने लगे। कालान्तर में ये आर्य प्रतिनिधि सभा पश्चिमोत्तर प्रान्त (वर्तमान

उत्तरप्रदेश) में उपदेशक रहे। तत्पश्चात् ये डी० ए० वी० कालेज सोसाइटी कानपुर के प्रचारक के रूप में भी कार्य करते रहे। १९२० ई० में ये पुनः मुरादाबाद आ गये और पण्डित शंकरदत्त शर्मा द्वारा प्रकाशित 'शंकर' पत्र का सम्पादन करने लगे। पुनः बलदेवार्य पाठशाला मुरादाबाद, प्रेम विद्यालय ताड़ीखेत तथा गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में अध्यापनकार्य किया। १९४९ ई० में इनका निधन हुआ।

पण्डित बद्रीदत्त शर्मा का काव्य 'मानसविनोद' शीर्षक से दो भागों में प्रकाशित हुआ है। इसकी रचना १९४७ वि० में आपने उस समय की थी जब ये आर्यसमाज मुरादाबाद में उपदेशक के रूप में कार्यरत थे। पण्डित बद्रीदत्त का अधिकांश काव्य 'लावनी' छन्द में लिखा गया है। इसमें ईश्वर-स्तुति, स्वामी दयानन्द की महिमा, देशदशा, बाल-विवाह से हानियाँ, आर्यसमाज विषय, जीव और ब्रह्म का भेद, भारत का अभाग्योदय, गोरक्षा जैसे विषयों पर काव्यरचना की गई है।

(९) **पण्डित नारायणप्रसाद बेताब**—पारसी रंगमंचीय शैली के नाटकों के प्रसिद्ध प्रणेता तथा कवि पण्डित नारायणप्रसाद बेताब का जन्म उत्तरप्रदेश के बुलन्द-शहर जिले के औरंगाबाद कस्बे में १७ नवम्बर १८७२ ई० को हुआ। इनके पिता श्री दुल्लाराय मिर्ज़ा गालिब के शिष्य और उर्दू के शायर थे। आपकी प्रारम्भिक शिक्षा साधारण ही हुई और आर्थिक विवशता के कारण आपको किशोर अवस्था में नौकरी भी करनी पड़ी। कालान्तर में आपने अनेक नाटक कम्पनियों में नाटक लिखने का कार्य किया और धन तथा यश अर्जित किया। आर्यसमाज के प्रति आपकी अपार निष्ठा थी और आपने काव्य तथा नाटकों के अतिरिक्त अनेक सैद्धान्तिक ग्रन्थों की भी रचना की है। १५ सितम्बर १९४५ को इनका निधन हुआ।

पण्डित बेताब ने दिल्ली में प्रिंटिंग वर्क्स की स्थापना कर अपना स्वतन्त्र प्रकाशन-व्यवसाय भी चलाया था। इनके काव्य ग्रन्थों में नारायण-शतक (१०० दोहों का संग्रह), महर्षि दयानन्द दिग्दर्शन (उर्दू के चार मुसद्दसों का संग्रह) आदि प्रमुख हैं। इन्होंने काव्यरीति-विषयक पिंगलसार, प्रास-पुञ्ज, पद्यपरीक्षा शीर्षक ग्रन्थ भी लिखे। बेताब की काव्य-भाषा उनके नाटकों की भाषा के समान हिन्दी एवं उर्दू का एक मिला-जुला रूप होती थी। स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान पर उनकी प्रसिद्ध कविता 'पिस्तौल का पश्चात्ताप' कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाले प्रसिद्ध साप्ताहिक 'मतवाला' में छपी। दण्डी विरजानन्द की ज्योतिहीन एवं निष्प्रभ आँखों का आपने विदग्धतापूर्ण वर्णन अपनी "आँखें" शीर्षक कविता में किया जो 'आर्यकुमार' मासिक के ऋषिबोध-अंक (फरवरी १९२४ ई०) में प्रकाशित हुई। व्यंग्य और विदग्धता बेताब के काव्य के प्रमुख तत्त्व हैं।

(१०) **ठाकुर गदाधरसिंह**—स्वामी दयानन्द के जीवन को आधार बनाकर 'दयानन्दायन' महाकाव्य के रचयिता ठाकुर गदाधरसिंह का जन्म १८७८ ई० में बनारस जिले के ग्राम प्रभुपुर में हुआ था। इनके पिता का नाम ठाकुर जानकीसिंह था। साधारण उर्दू व हिन्दी की शिक्षा ग्रहण कर ये अध्यापक बन गये तथा गुरुकुल काँगड़ी तथा ऋषिकुल हरिद्वार में हिन्दी का अध्यापन करते रहे। कुछ काल तक बर्मा में भी हिन्दी अध्यापक के रूप में रहे। महात्मा गांधी द्वारा प्रवर्तित असहयोग आन्दोलन में भी आपने भाग लिया और कारागार का कष्ट झेला। १८ जनवरी १९३० ई० को इनका निधन हो गया। दयानन्दायन महाकाव्य के अतिरिक्त आपने धर्मवीर हकीकतराय

(खण्डकाव्य), धर्मवीर फतहसिंह व जोरावरसिंह (गुरु गोविन्दसिंह के पुत्रों की बलिदान-गाथा), भृगुवंश बावनी (५२ दोहों का संग्रह) तथा भरत-महिमा-सतसई (७०० छन्द) शीर्षक काव्य ग्रन्थों की रचना की है। दयानन्दायन महाकाव्य का प्रकाशन कवि की मृत्यु के २५ वर्ष पश्चात् उनके छोटे भाई डॉक्टर सूबाबहादुरसिंह ने लखनऊ से किया था।

(११) **पण्डित लोकनाथ तर्कवाचस्पति**—पण्डित लोकनाथ का जन्म पंजाब के पिण्ड दादनखाँ ग्राम में हुआ था। वे आर्यसमाज के प्रसिद्ध तार्किक, वक्ता व शास्त्रार्थ-पटु विद्वान् थे। देश-विभाजन के पश्चात् दिल्ली को केन्द्र बनाकर उन्होंने धर्म-प्रचारार्थ विस्तृत देशभ्रमण किया। १९५७ ई० में उनका निधन हुआ। पण्डित लोकनाथ ने आर्यसमाज को 'यज्ञरूप प्रभो हमारे भाव उज्ज्वल कीजिये' शीर्षक वह प्रसिद्ध भजन प्रदान किया, जो प्राय: सर्वत्र यज्ञों के अन्त में गाया जाता है। उनकी काव्यकृति 'ऋषिराज चालीसा' प्रसिद्ध 'हनुमान चालीसा' की शैली में लिखी गई है। उनकी एक अन्य काव्य-रचना 'महर्षि महिमा' संस्कृत-हिन्दी की मिश्रित पदावली में निर्मित हुई है।

(१२) **स्वामी आत्मानन्द सरस्वती**—आर्यसमाज के महान् दार्शनिक संन्यासी स्वामी आत्मानन्द सरस्वती उच्च कोटि के शास्त्रज्ञ होने के साथ-साथ एक अच्छे कवि भी थे। इनका पूर्वनाम पण्डित मुक्तिराम उपाध्याय था। स्वामीजी का जन्म मेरठ जिले के अन्छाड़ ग्राम में १८७९ ई० में हुआ था। इनके पिता का नाम पण्डित दीनदयालु था जो गौड़ ब्राह्मण थे। इनका प्रारम्भिक अध्ययन पण्डित परमानन्द से हुआ जो निकट-वर्ती बामनोली ग्राम के निवासी थे। कालान्तर में ये काशी चले गये, जहाँ रहकर इन्होंने उच्च कोटि का शास्त्रीय अध्ययन किया। पण्डित विष्णुदत्त की प्रेरणा से ये रावलपिण्डी के निकट चोहा-भक्ताँ गुरुकुल में आ गये जहाँ वे देश-विभाजन पर्यन्त रहे। १९४७ ई० में भारत आकर उन्होंने यमुनानगर में वैदिक-साधन-आश्रम की स्थापना की। १९५५ ई० में वे आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान चुने गये और उन्हीं के नेतृत्व में पंजाब में हिन्दी-रक्षा-आन्दोलन चलाया गया। १८ दिसम्बर १९६० ई० को उनका निधन हो गया। स्वामी आत्मानन्द की कविताएँ आर्यसमाज की पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहीं। इनका एक काव्य-संग्रह 'सुधारक' के विशेषांक के रूप में आत्म-तरंग शीर्षक से मार्गशीर्ष २०१९ वि० में प्रकाशित हुआ था।

(१३) **श्री कर्ण कवि**—आर्यसमाज के विख्यात कवि तथा प्रचारक कर्ण कवि का जन्म अलीगढ़ जिले के चण्डोली खुर्द ग्राम में १८८१ ई० में एक क्षत्रिय परिवार में हुआ। महाकवि नाथूरामशंकर शर्मा उनके काव्यगुरु थे। कर्ण कवि की अनेक काव्य-कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें सुमनमाला, यमुनालहरी, अनुरागवाटिका आदि मुख्य हैं। कर्णामृत स्टार बुक डिपो प्रयाग से १९७४ वि० में प्रकाशित हुआ था। कर्ण कवि ने शुद्ध खड़ी बोली में सरस काव्य की रचना की है। इनके द्वारा प्रयुक्त छन्द हैं—दोहा, सोरठा, हरिगीतिका, षट्पदी आदि। पदों और भजनों की शैली का भी प्रयोग इन्होंने किया है। २० जून, १९४३ ई० को आपका निधन हुआ।

(१४) **सरदार जसवन्तसिंह टोहानवी**—लोकगीतों तथा लोकसंगीत पर आश्रित काव्य की रचना करनेवाले आर्य कवियों में जसवन्तसिंह टोहानवी का नाम सर्वप्रमुख है। इनका जन्म हरियाणा के हिसार जिले के टोहाना ग्राम में १८८१ ई० में हुआ। आप आरम्भ में ही आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन से प्रभावित हुए और संगीत के

माध्यम से आर्यसमाज का प्रचार करने लगे। कुछ काल पश्चात् आपने संगीतमय नाटकों की शैली में अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें गेय तत्त्व की प्रधानता थी। फलतः इनकी ये कृतियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हुईं। आर्य भजनदीपिका तथा आर्य-भजन-सागर के प्रकाशन के अनन्तर इन्होंने रामायण और महाभारत के कथानकों को संगीत-प्रधान नाटक-शैली में निबद्ध किया। सरल भाषा और लोकधुनों पर आधारित होने के कारण उनकी इन कृतियों को असाधारण लोकप्रियता प्राप्त हुई और ये लाखों की संख्या में अनेक संस्करणों में प्रकाशित हुईं। इसी संगीतप्रधान काव्यशैली में आपने सत्यवादी हरिश्चन्द्र, बाल शहीद हकीकतराय, सम्राट् पृथ्वीराज, स्वामी दयानन्द तथा गुरु गोविन्दसिंह के शहीद पुत्रों के कथानकों को पद्यबद्ध किया। टोहानवी की भाषा हिन्दी और उर्दू का मिला-जुला रूप होती थी। अतः इनकी रचनाएँ नागरी तथा फारसी दोनों लिपियों में छपी हैं तथा हिन्दी एवं उर्दू के पाठकों ने उन्हें समान रूप से पसन्द किया है। इनका निधन १९५७ ई० में हुआ।

(१५) **पण्डित भूरालाल कथाव्यास**—राजस्थान के शाहपुरा नगर में श्री रामपाल व्यास के यहाँ कविवर भूरालाल व्यास का जन्म १८८२ ई० में हुआ। आर्य-समाज के सम्पर्क में आने के कारण आपने सुधारवादी स्वर को प्रमुखता देते हुए काव्य-रचना की है। आर्य प्रतिनिधि सभा, राजस्थान के उपदेशक के रूप में आपने धर्मप्रचार किया तथा शाहपुरा राज्य में कथावाचक के पद पर भी रहे। १९४० ई० में इनका निधन हुआ। पण्डित भूरालाल की काव्य-कृतियाँ भारतीय गीत तथा काव्यकुञ्ज (व्यासजी की बाँसुरी) हैं। काव्यकुञ्ज का प्रकाशन आर्य प्रतिनिधि सभा, राजस्थान ने १९८५ वि० में किया था। व्यासजी की कविता में धर्म, अध्यात्म, समाज-सुधार, कुरीति-निवारण आदि विभिन्न विषय वर्णित हुए हैं। इनकी कविता में धार्मिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों पर तीखी एवं चुटीली शैली में प्रखर व्यंग्य किये गये हैं। इनकी अनेक कविताएँ राजस्थानी भाषा में भी उपलब्ध होती हैं।

(१६) **पण्डित हरिशंकर शर्मा**—महाकवि नाथूरामशंकर शर्मा के पुत्र पण्डित हरिशंकर शर्मा का जन्म १८ अगस्त १८९१ ई० को अलीगढ़ जिले के हरदुआगंज कस्बे में हुआ। आपने हिन्दी, संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी, गुजराती, मराठी, बंगला आदि भाषाओं का असाधारण ज्ञान स्वाध्याय से ही प्राप्त किया। आप आर्यसमाज के श्रेष्ठ सम्पादक, लेखक तथा कवि के रूप में सम्मानित हुए हैं। भारत सरकार ने आपकी साहित्य-सेवा के उपलक्ष्य में पद्मश्री की उपाधि से विभूषित किया था, किन्तु केन्द्रीय सरकार द्वारा राजभाषा के रूप में हिन्दी को लागू करने की तिथि को अनिश्चित काल तक बढ़ा देने के विरोध में आपने इस उपाधि को लौटा दिया। ९ मार्च १९६८ ई० को शर्मा जी का निधन हो गया। पण्डित हरिशंकर शर्मा ने स्वामी दयानन्द के जीवन-प्रसंगों को लेकर शिवसंकल्प, महर्षि महिमा, दयानन्द दिग्विजय आदि काव्यों का प्रणयन किया है। उनकी 'घासपात' शीर्षक मौलिक काव्य-कृति पर उन्हें देव पुरस्कार से सम्मानित किया गया था।

(१७) **कविराज जयगोपाल**—सम्पूर्ण सत्यार्थप्रकाश को पद्यबद्ध करनेवाले महाकवि जयगोपाल का जन्म लाहौर में १८९२ ई० में हुआ। इनके पिता लाला राम-दास वधवा दृढ़ आर्यसमाजी थे। अपने अध्यवसाय से श्री जयगोपाल ने हिन्दी तथा

संस्कृत का अध्ययन किया और आयुर्वेदिक चिकित्सा द्वारा जीवनयापन करने लगे। आपकी काव्य-कृतियों में स्वराज्य भजनमाला, संगीत पुष्पावली, दयानन्द-चरितम्, सत्यार्थप्रकाश-कवितामृत आदि उल्लेखनीय हैं। आपने प्रह्लाद, सुदामा, हनुमान, दुर्गादास राठौड़ तथा शिवाजी आदि महापुरुषों के चरित भी लिखे हैं। १९५६ ई० में आपका दिल्ली में निधन हो गया।

(१८) श्री विद्याभूषण विभु—हिन्दी में बाल साहित्य के लेखक तथा स्वामी विरजानन्द के जीवन को आधार बनाकर विरजानन्द-विजय जैसे उत्कृष्ट काव्य के प्रणेता श्री विद्याभूषण विभु का जन्म ४ दिसम्बर १८९२ ई० को हुआ। आप आर्यसमाज के प्रसिद्ध लेखक तथा दार्शनिक विद्वान् पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय के साले थे। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से आपने एम० ए० और डी० फिल० की उपाधियाँ ग्रहण की थीं। आप डी० ए० वी० हाई स्कूल इलाहाबाद में अध्यापक रहे और १९५५ ई० में वहाँ से अवकाश ग्रहण किया। २७ दिसम्बर १९६५ ई० को आपका निधन हो गया। विद्याभूषण ने बालकों के लिए उपर्युक्त काव्य का प्रणयन किया। इनकी काव्य-कृतियों में पद्य-पयोनिधि, चित्रकूट-चित्रण, ज्योत्स्ना, पुरन्दरपुरी आदि उल्लेखनीय हैं। उन्होंने बालोपयोगी मासिक पत्रों—शिशु तथा चमचम का सम्पादन भी किया था।

(१९) पण्डित चमूपति—उर्दू तथा हिन्दी में समान रूप से श्रेष्ठ काव्य-रचना करनेवाले पण्डित चमूपति का जन्म १५ फरवरी १८९३ ई० को बहावलपुर (पाकिस्तान) में महता वसन्दाराम के यहाँ हुआ। इनका बाल्यकाल का नाम चम्पतराय था। शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त आप बहावलपुर रियासत के शिक्षा-विभाग में सम्मिलित हो गये, किन्तु शासकों के असहिष्णुतापूर्ण रवैये के कारण आपको यहाँ की नौकरी छोड़नी पड़ी। दो वर्ष तक वे मुलतान गुरुकुल में रहे और उसके पश्चात् आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब द्वारा प्रवर्तित दयानन्द सेवासदन के अन्तर्गत कार्य करने लगे। सभा के आदेश से वे अफ्रीका भी गये। वहाँ से लौटकर गुरुकुल काँगड़ी में उपाध्याय, मुख्याधिष्ठाता तथा आचार्य के पदों पर रहे। १५ जून १९३७ ई० को उनका निधन हो गया।

१९१८ ई० में पण्डित चमूपति ने दयानन्द-आनन्दसागर नामक एक उत्कृष्ट उर्दू काव्य लिखा। उनकी स्फुट हिन्दी कविताएँ आर्य पत्रों में सर्वत्र प्रकाशित होती थीं। गौमाता की लोरी, मर्सियाए गोखले (पण्डित गोपालकृष्ण गोखले की मृत्यु पर श्रद्धाञ्जलि), गंगातरंग आपकी अन्य उर्दू काव्य-कृतियाँ हैं। वैराग्यदशक का जो उर्दू पद्यानुवाद पण्डित चमूपति ने किया था वह अप्रकाशित ही रहा।

(२०) पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार—आर्यसमाज के महान् वेदज्ञ, उच्चकोटि के व्याख्याता तथा विद्वान् पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार मूलतः एक कवि थे। उनकी अनेक कविताएँ आर्यसमाज की पुरानी पत्रिकाओं में यत्र-तत्र प्रकशित हुई थीं। पण्डित बुद्धदेव का जन्म एक अगस्त १८९५ ई० को देहरादून के निकट कौलागढ़ (जिला सहारनपुर) नामक ग्राम में मुद्गल गोत्र के पण्डित रामचन्द्र के यहाँ हुआ था। इनके नाना पण्डित कृपाराम जी ने स्वामी दयानन्द को देहरादून में आमन्त्रित कर उनके व्याख्यानों की व्यवस्था की थी। पण्डित बुद्धदेव का बचपन का नाम नवीनचन्द्र था। पण्डित बुद्धदेव की शिक्षा गुरुकुल काँगड़ी में हुई जहाँ से आप १९७२ वि० में स्नातक बने और विद्यालंकार

की उपाधि प्राप्त की। तत्पश्चात् आपने अपना सम्पूर्ण जीवन वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा के लिए समर्पित कर दिया। जीवन के अन्तिम वर्षों में आपने संन्यास ग्रहण किया और स्वामी समर्पणानन्द के नाम से जाने गये। १४ जनवरी १९६९ ई० को दिल्ली में आपका निधन हो गया। पण्डित बुद्धदेव का काव्य भक्ति-रस से परिपूर्ण है। आपने मुख्यतः पद-शैली का प्रयोग किया है जो हिन्दी के मध्यकालीन भक्त कवियों द्वारा प्रमुख रूप से अपनायी गई है। स्वामी दयानन्द के जीवन-प्रसंगों—यथा गुरु विरजानन्द द्वारा स्वामी दयानन्द को दण्डित करने तथा काशी-शास्त्रार्थ में स्वामी दयानन्द द्वारा पण्डित-मण्डली को पराजित करने जैसी मार्मिक घटनाओं का आपने नितान्त विदग्धतापूर्ण चित्रण अपनी कविताओं में किया है। 'उसकी राह पर' उनकी कविताओं का प्रतिनिधि संकलन है।

(२१) पण्डित वागीश्वर विद्यालंकार—संस्कृत एवं हिन्दी के रससिद्ध कवि पण्डित वागीश्वर विद्यालंकार का जन्म बिजनौर जिले के जलालाबाद ग्राम में १८९६ ई० में हुआ। गुरुकुल काँगड़ी में अध्ययन कर आपने १९१९ ई० में विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त की। १९२० से १९५८ ई० तक आप गुरुकुल काँगड़ी में संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष, कुलसचिव तथा पुस्तकालयाध्यक्ष के पदों पर कार्य करते रहे। १९७६ ई० में आपका निधन हुआ। आपका हिन्दी काव्य-संग्रह 'नीराजना' १९३९ ई० में प्रकाशित हुआ।

(२२) श्री दुलेराय काराणी—गुजरात के कच्छ प्रदेश में जन्मे श्री दुलेराम काराणी ने गुजरातीभाषी होने पर भी दयानन्द-प्रशस्ति में खड़ी बोली में उत्कृष्ट काव्य-रचना की है। काराणी का जन्म २६ फरवरी १८९६ ई० को भूतपूर्व कच्छराज्य के मुन्द्रा नगर में हुआ। इनके पिता का नाम लाखाभाई था। कच्छ राज्य के शिक्षा-विभाग में इन्होंने अध्यापक तथा निरीक्षक का कार्य किया। इनके द्वारा रचित 'दयानन्द-बावनी' शीर्षक ५२ पद्यों का काव्य २०११ वि० में गुरुकुल सोनगढ़ से प्रकाशित हुआ। 'दयानन्द-बावनी' का द्वितीय संस्करण गुजराती लिपि में २०३३ वि० में कवि ने स्वयं अहमदाबाद से प्रकाशित किया था।

(२३) पण्डित रामप्रसाद बिस्मिल—देश के लिए स्व-प्राणों को न्यौछावर कर देनेवाले अमर हुतात्मा रामप्रसाद बिस्मिल के क्रान्तिकारी रूप से तो हम परिचित हैं, किन्तु उन्होंने एक कवि का हृदय भी पाया था, यह बहुत कम लोग जानते हैं। बिस्मिल का जन्म ज्येष्ठ शुक्ला ११ सं० १९५४ वि० (१८९७ ई०) को शाहजहाँपुर में पण्डित मुरलीधर तिवारी के यहाँ हुआ था। आर्यसमाज के सम्पर्क में आने और सत्यार्थप्रकाश का अध्ययन करने के कारण आपके जीवन में महान् परिवर्तन आया और आप देश को स्वतन्त्र कराने का संकल्प कर बैठे। आपके जीवन में देशभक्ति के भाव भरने में आर्य-समाज के संन्यासी स्वामी सोमदेव ने भी प्रमुख भूमिका निभाई थी। काकोरी षड्यन्त्र में इनकी गिरफ्तारी हुई और १९ दिसम्बर १९२६ ई० को गोरखपुर जेल में इन्हें फाँसी दे दी गई।

बिस्मिल का काव्य-प्रेम उनके द्वारा सम्पादित 'मन की लहर' शीर्षक एक काव्य-संग्रह की भूमिका से प्रकट होता है। यह संग्रह १९७७ वि० में आर्यभास्कर प्रेस, आगरा से मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ था। इस संग्रह के प्रारम्भिक निवेदन में बिस्मिल लिखते

हैं—"मुझे कविता से कुछ प्राकृतिक प्रेम है अतएव नये कवियों की रचना को देखने में मुझे बड़ा आनन्द प्राप्त होता है।" वे स्वयं भी कविता-रचना करते थे, यह उनके इस कथन से जाना जा सकता है—"मेरे मन में भी जब कभी कोई भाव उमड़े हैं तो मैंने उन्हें कुछ शब्दों में गूँथने का प्रयत्न किया है।" मन की लहर में देशभक्तिपूर्ण हिन्दी तथा उर्दू के गीत संग्रहीत हैं। इन कविताओं में 'मेरी भावना' शीर्षक रचना बिस्मिल की ही कृति है क्योंकि कवि ने इस कविता के अन्त में अपमे नाम का प्रयोग किया है।

(२४) **श्री विश्वम्भरसहाय प्रेमी**—मेरठ के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी तथा पत्रकार श्री विश्वम्भरसहाय प्रेमी एक सफल लेखक, सामाजिक कार्यकर्ता तथा राजनैतिक कर्मी के रूप में तो ख्यातिलब्ध हैं ही, कवि के रूप में उनके कृतित्व का विश्लेषण अभी तक नहीं हो सका है। श्री प्रेमी का जन्म १६ जुलाई १८६६ ई० को मेरठ जिले के फरीदनगर नामक कस्बे में हुआ। राष्ट्रीय आन्दोलन, हिन्दी प्रचार तथा आर्यसमाज की विविध प्रवृत्तियों में आप सक्रिय भाग लेते रहे। मातृभूमि, तपोभूमि तथा पंचायती राज आदि पत्रों के प्रकाशन एवं सम्पादन के द्वारा आपने पत्रकार के रूप में विशेष ख्याति अर्जित की थी। २२ जनवरी १९७४ ई० को मेरठ में आपका निधन हुआ।

श्री प्रेमी लिखित 'सत्य हरिश्चन्द्र' काव्य का प्रकाशन विश्व साहित्य-भण्डार, मेरठ से १९७७ वि० में हुआ था। कवि ने इस काव्य का समर्पण आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित घासीरामजी के प्रति किया। सत्य हरिश्चन्द्र खड़ी बोली में लिखा गया इतिवृत्तात्मक शैली का काव्य है। काव्य का कथानक भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के प्रसिद्ध नाटक 'सत्य हरिश्चन्द्र' पर आधारित है।

(२५) **राजकुमार रणवीरसिंह**—अमेठी (जिला सुलतानपुर, उत्तरप्रदेश) का राजपरिवार शुरू से ही आर्यसमाज का अनुयायी रहा है। इसी राजपरिवार में राजकुमार रणवीरसिंह का जन्म २१ जुलाई १८९९ ई० को अमेठी के राजा श्री भगवान्-बख्शसिंह के यहाँ हुआ। अल्पायु में ही आपने विविध भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लिया। स्वामी दयानन्द की विचारधारा में दीक्षित होने के कारण आप मादक द्रव्यपान, आमिष भोजन आदि उन सब बुराइयों से बचे हुए थे जो प्रायः क्षत्रियों में जन्मजात होती हैं। आपने अपने स्वल्प जीवन में ही अनेक काव्य-कृतियों का प्रणयन किया था। इनकी प्रकाशित रचनाओं में सुघोर-संगर, विजयोल्लास, मित्रम् प्रति समुक्ति, सुभट-तरुण, सामाजिक सुधार आदि प्रमुख हैं। २ फरवरी १९२१ ई० को मात्र २२ वर्ष की अल्पायु में ही आपका निधन हो गया। राजकुमार रणवीरसिंह की काव्य-कृतियों का संग्रह उनके अनुज राजा रणञ्जयसिंह ने रणवीर ग्रन्थमाला-१ के अन्तर्गत प्रकाशित 'कविता कंकोष' शीर्षक ग्रन्थ में किया है जिसमें अमेठी के शासकों द्वारा रचित काव्यों का संकलन किया गया है। आपने स्वामी दयानन्द की प्रशस्ति में हरिगीतिका, षट्पदी, घनाक्षरी, सरसी आदि छन्दों में उत्कृष्ट काव्य-रचना की है।

(२६) **पण्डित अनूप शर्मा**—आर्यसमाज के अनुयायी कवियों में पण्डित अनूप शर्मा का नाम प्रमुखता रखता है। इनका जन्म ५ नवम्बर १८९९ ई० को उत्तरप्रदेश के सीतापुर जिले के नबीनगर नामक कस्बे में हुआ। इनके पिता का नाम पण्डित बद्रीप्रसाद त्रिपाठी था जो स्वयं अच्छे कवि थे। उन्होंने १९२० ई० के असहयोग आन्दोलन में भाग लिया और कारावास का दण्ड झेला। बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर पण्डित अनूप

शर्मा ने अनेक पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकीय विभागों में काम किया। तदुपरान्त एम० ए० और एल० टी० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कर शिक्षक बन गए। अनूपजी ने वीर-रसप्रधान काव्य लिखा है। अतः उन्हें 'आधुनिक भूषण' के रूप में स्मरण किया जाता है। स्वामी दयानन्द की प्रशस्ति में आपने अनेक उत्कृष्ट पद्यों की रचना की है जिन्हें श्री पन्नालाल पीयूष ने 'दयानन्द गुणगान' शीर्षक काव्य-संग्रह में संगृहीत किया है। १९६० ई० में इनका लखनऊ में निधन हो गया।

(२७) पण्डित सिद्धगोपाल कविरत्न—प्रसिद्ध गायक, कवि तथा प्रचारक पण्डित सिद्धगोपाल का जन्म इटावा जिले के अजीतमल ग्राम में श्री रामचरण अग्रवाल के यहाँ हुआ। कवित्व-प्रतिभा तथा गायन-कला सिद्धगोपाल को नैसर्गिक रूप से प्राप्त थीं। जब उन्होंने आर्यसमाज का प्रचारकार्य आरम्भ किया तो अपनी गायन-कला तथा वक्तव्य-कौशल से उन्हें कल्पनातीत सफलता मिली। वे घण्टों तक श्रोताओं को मन्त्र-मुग्ध करने की शक्ति रखते थे। आर्यसमाजों के उत्सवों में वे सर्वत्र आमन्त्रित किये जाते। निरन्तर यात्राओं में रहने के कारण वे क्षयरोग से ग्रस्त हो गए और २८ नवम्बर १९४७ ई० को हाथरस में उनका निधन हो गया। कविरत्नजी के तीन काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं—गोपाल कुसुमांजलि, गोपाल पुष्पांजलि तथा गोपाल गीतांजलि।

(२८) पण्डित भद्रजित भद्र—आप गुरुकुल चित्तौड़गढ़ में मुख्याध्यापक थे। आपकी अनेक काव्य-रचनाएँ आर्यमित्र तथा अन्य आर्य-पत्रों में प्रकाशित होती रहीं। इनका विशेष परिचय नहीं मिलता।

(२९) श्री हरिशरण श्रीवास्तव 'मराल'—मेरठ के प्रसिद्ध आर्यसमाजी कवि हरिशरण श्रीवास्तव का जन्म १९०० ई० में हुआ था। आप प्रारम्भ से ही आर्य-सामाजिक गतिविधियों में भाग लेते रहे। आपकी रचनाएँ आर्यसमाजी पत्रों के अतिरिक्त हिन्दी के प्रमुख पत्रों में भी छपती थीं। आपने स्वामी दयानन्द के शिवरात्रि पर मूर्ति-पूजा के प्रति अनास्था उत्पन्न होने के प्रसंग का काव्यात्मक वर्णन अपने 'शिवबोध' नामक काव्य में किया है। आपकी अन्य कृतियाँ हैं—हिमगिरि-सन्देश, प्रार्थना-शतक आदि। हिमगिरि-सन्देश पाल रिचर्ड्स की काव्यकृति 'मैसेज ऑफ दि हिमालयाज टु इण्डिया' का छायात्मक पद्यानुवाद है। कवि 'मराल' का निधन ८ अक्तूबर १९३३ ई० को ३३ वर्ष की अल्पायु में ही हो गया।

(३०) पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति—आर्यसमाज के प्रख्यात वेदज्ञ विद्वान् पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति को निसर्गसिद्ध कविप्रतिभा प्राप्त थी। इनका जन्म १२ फरवरी १९०१ ई० को मुल्तान (पाकिस्तान) जिले के दुनियापुर ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम श्री नन्दलाल था। पण्डित धर्मदेव की प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल मुल्तान में हुई। तत्पश्चात् वे गुरुकुल काँगड़ी में प्रविष्ट हुए और वहाँ से उन्होंने १९२१ ई० में स्नातक बनकर विद्यावाचस्पति एवं सिद्धान्तालंकार की उपाधियाँ ग्रहण कीं। अपने क्रियाशील जीवन के आरम्भिक वर्षों में वे स्वामी श्रद्धानन्द की आज्ञा से कर्नाटक राज्य में धर्मप्रचारार्थ रहे। तत्पश्चात् सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा में अनेक वर्षों तक कार्य किया। १९५४ से १९६३ ई० तक आप गुरुकुल काँगड़ी में वेदोपाध्याय के पद पर रहे। १९७६ ई० में आपने संन्यास की दीक्षा ली और स्वामी धर्मानन्द नाम ग्रहण किया। ८ नवम्बर १९७८ ई० को आपका ज्वालापुर में निधन हो गया। पण्डित धर्मदेव

जी एक असाधारण विद्वान् तथा लेखक तो थे ही, काव्य-रचना में भी व्युत्पन्न थे। आपकी काव्यरचनाओं का संकलन भक्ति-कुसुमांजलि शीर्षक से छप चुका है। साम-संगीत-सुधा में आपने सामवेद के मन्त्रों का काव्यानुवाद किया है। आपकी अनेक स्फुट कविताएँ आर्यपत्रों में प्रकाशित हुई हैं।

(३१) राजा रणञ्जयसिंह—अमेठी (जिला सुल्तानपुर) के भूतपूर्व नरेश राजा रणञ्जयसिंह का जन्म २६ अप्रैल १६०१ ई० को इसी रियासत के राजा भगवानबख्श-सिंह के यहाँ हुआ। इनकी शिक्षा राजमहल में ही सुयोग्य शिक्षकों द्वारा कराई गई। काव्य-प्रतिभा के धनी राजा साहब ने घनाक्षरी, छप्पय, कुण्डलिया, हरिगीतिका आदि छन्दों में सुन्दर काव्यरचना की है। आर्यसमाज के दृढ़ अनुयायी और स्वामी दयानन्द के भक्त होने के कारण इनकी कविता में सत्त्व गुण की ही प्रधानता है। वीर, शान्त, करुण आदि रस इनकी कविता में प्राय: पाए जाते हैं। आपने अपनी कविता में खड़ी बोली तथा कहीं-कहीं अवधी का भी प्रयोग किया है। महर्षि वन्दना, वैदिक धर्मप्रचार, जन्माष्टमी, विजयदशमी, दीपमालिका, नशा-निषेध आदि विविध विषयों पर लिखी गई आपकी काव्य-रचनाएँ आर्यसामाजिक पत्रों में प्रकाशित होती रही हैं। आपने रफी अहमद किदवई, सरोजिनी नायडू, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, लालबहादुर शास्त्री आदि नेताओं के परलोक-प्रस्थान पर शोकांजलिरूप काव्य भी लिखे। आपकी काव्यकृतियाँ आप ही के द्वारा सम्पादित 'कविता कंकोष' में संग्रहीत हैं।

(३२) डॉ० सूर्यदेव शर्मा—आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान्, वक्ता तथा कवि डॉ० सूर्यदेव शर्मा का जन्म १ मार्च १६०० ई० को एटा जिले के बरणा नामक ग्राम में एक साधारण ब्राह्मण परिवार में हुआ। आपकी शिक्षा डी० ए० वी० कॉलेज, कानपुर तथा डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर में सम्पन्न हुई। १६२५ से १६३५ ई० तक आप डी० ए० वी० हाई स्कूल, कानपुर में प्रधानाध्यापक रहे। तदनन्तर आप डी० ए० वी० हाई स्कूल, अजमेर में १६३६ से १६६३ ई० तक प्रधानाचार्य पद पर कार्य करते रहे। शिक्षा-सेवा से अवकाश लेने के पश्चात् भी अजमेर ही आपका कार्यक्षेत्र रहा। आपने भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद् तथा भारतवर्षीय आर्य विद्या परिषद् द्वारा संचालित धार्मिक परीक्षाओं का वर्षों तक सफल संचालन किया। १६८३ ई० में आपका निधन हो गया।

डा० शर्मा उच्चकोटि के कवि थे। आपने अपने सुदीर्घ कवि-जीवन में सहस्रों वेद-मन्त्रों का काव्यानुवाद किया। यजुर्वेद के पुरुषसूक्त तथा अथर्ववेद के भूमिसूक्त के अतिरिक्त स्वामी दयानन्दप्रणीत आर्याभिविनय का पद्यानुवाद आपकी उत्कृष्ट काव्य-कृतियाँ हैं। आपने सैकड़ों मौलिक कविताएँ भी लिखीं, जो आर्यसामाजिक पत्रों में प्रकाशित हुई हैं।

(३३) गायत्रीदेवी—अलीगढ़ जिले के ग्राम जलालपुर निवासी गिरेन्द्रसिंह की पुत्री गायत्रीदेवी का विस्तृत परिचय उपलब्ध नहीं होता। किन्तु उनके द्वारा रचित दो काव्य 'आदर्श त्यागी लक्ष्मण' तथा 'कारुण्य-भारती' को पढ़ने से उनकी काव्यप्रतिभा का सम्यक् परिचय मिल जाता है। 'आदर्श त्यागी लक्ष्मण' एक खण्डकाव्य है जिसे कवयित्री ने प्रतापगढ़ (अवध) की महारानी को समर्पित किया है। इस काव्य की सम्पूर्ण पद्य-संख्या १२१ है। इस कविता पर राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त की काव्यशैली का स्पष्ट

प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। 'कारुण्य-भारती' मैथिलीशरण गुप्त के प्रसिद्ध राष्ट्रोद्बोधक काव्य 'भारत भारती' की शैली पर लिखी गई है। दोनों ग्रन्थ १९७७ वि० में प्रकाशित हुए थे।

(३४) डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम'—हिन्दी के विख्यात समालोचक तथा वैदिक विद्वान् डा० मुंशीराम शर्मा का जन्म ३० नवम्बर १९०१ ई० को आगरा जिले के ओखरा ग्राम में हुआ। इन्होंने हिन्दी तथा संस्कृत में एम० ए० करने के पश्चात् १९५१ ई० में पी-एच० डी० तथा १९५६ ई० में डी० लिट्० की उपाधियाँ प्राप्त कीं। १९२६ से १९६२ ई० पर्यन्त आप डी० ए० वी० कॉलेज, कानपुर में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष रहे। डॉ० शर्मा ने जहाँ वैदिक साहित्य एवं संस्कृति के विविध पहलुओं पर अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं, वहाँ एक सहृदय कवि होने के कारण आपकी काव्य-कृतियाँ भी साहित्य में गौरवास्पद स्थान प्राप्त कर चुकी हैं। सन्ध्या-संगीत तथा यज्ञ-संगीत में आपने सन्ध्योपासना तथा यज्ञ-विषयक मन्त्रों की काव्यबद्ध टीका लिखी है। 'श्रुति-संगीतिका' वेदमन्त्रों के अभिप्रायों की व्याख्या करनेवाले गीतों का संग्रह है। जीवनगीत, सोमसुधा तथा भक्ति-तरंगिणी आदि आपकी अन्य काव्य-कृतियाँ हैं। सोमसुधा की कविताएँ राष्ट्रीय भावना, प्रकृति-वर्णन, महापुरुष-प्रशस्ति जैसे विषयों को लेकर लिखी गई हैं।

(३५) पण्डित प्रकाशचन्द्र कविरत्न—काव्य, संगीत तथा उपदेश की त्रिवेणी प्रवाहित करनेवाले आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध भजनोपदेशक पण्डित प्रकाशचन्द्र एक सफल कवि थे। इनका जन्म १९०३ ई० में अजमेर में पण्डित विहारीलाल के यहाँ हुआ जो मूलतः अलीगढ़ जिले के निवासी थे, किन्तु जीविकावश अजमेर में बस गए थे। प्रारम्भ में पण्डित प्रकाशचन्द्र (जिनका बचपन का नाम दुर्गाप्रसाद था) कट्टर सनातनी थे और गाहे-बगाहे आर्यसमाज की आलोचना करने का कोई अवसर नहीं चूकते थे, किन्तु बाद में आर्यसमाज के प्रसिद्ध राजस्थानी उपदेशक पण्डित रामसहाय शर्मा के सम्पर्क में आने से इनके विचारों में परिवर्तन हुआ और ये आर्यसमाज में प्रविष्ट हो गए।

मथुरा में जब स्वामी दयानन्द की जन्म-शताब्दी समारोह का आयोजन हुआ तो कवि प्रकाश ने उस अवसर पर अपना प्रसिद्ध गीत 'वेदों का डंका आलम में बजवा दिया देव दयानन्द ने' गाया जो शीघ्र ही आर्यसमाजी क्षेत्रों में लोकप्रियता की चरम सीमा पर पहुँच गया। महाकवि नाथूरामशंकर शर्मा प्रकाशजी के काव्यगुरु थे। जीवन के अन्तिम वर्षों में कविवर प्रकाश दीर्घकाल तक वातरोग से ग्रस्त, अपंग-से होकर अजमेर के पहाड़-गंज मोहल्ले में अपनी बहन के मकान में जीवनयापन करते रहे। ११ दिसम्बर १९७७ ई० को उनकी मृत्यु हुई। कविवर प्रकाश के अनेक भजन-संग्रह तो प्रकाशित हुए ही हैं, इनके अतिरिक्त आपका 'दयानन्द-प्रकाश' महाकाव्य (पूर्वार्द्ध) महाभारत के अनेक प्रसंगों के काव्यबद्ध विवरण, कहावतकवितावली, गोगीतप्रकाश, बाल हकीकत आदि काव्यग्रन्थ भी छप चुके हैं।

(३६) पण्डित सत्यकाम विद्यालंकार—वेदमन्त्रों का काव्यानुवाद प्रस्तुत करने वाले पण्डित सत्यकाम विद्यालंकार का जन्म १९०५ ई० में लाहौर में हुआ। गुरुकुल काँगड़ी में अध्ययन समाप्त कर ये १९२५ ई० में स्नातक बने और 'विद्यालंकार' की उपाधि ग्रहण की। आपने हिन्दी पत्रकारिता को व्यवसाय के रूप में चुना और कई

प्रसिद्ध पत्रों के सम्पादक रहे। पण्डित सत्यकाम ने वैदिक वन्दना गीत, वैदिक वन्दन तथा वेद-पुष्पांजलि में वेदमन्त्रों के भावपूर्ण काव्यानुवाद प्रस्तुत किये हैं।

(३७) डॉक्टर (स्वामी) सत्यप्रकाश—आर्यसमाज के प्रसिद्ध लेखक, दार्शनिक विद्वान् तथा नेता पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय के वरिष्ठ पुत्र डॉक्टर सत्यप्रकाश ने किसी समय हिन्दी में सरस काव्यरचना भी की थी। डॉक्टर सत्यप्रकाश का जन्म १९०५ ई० में हुआ। १८ वर्ष की आयु में १९२३ ई० में इन्होंने आर्यसमाज की सदस्यता ग्रहण की। १९२७ ई० में रसायनशास्त्र में एम०एस-सी० की परीक्षा उत्तीर्ण की और इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायन विभाग में १९३० ई० में डिमॉन्स्ट्रेटर के रूप में नियुक्त हुए। १९३२ ई० में इन्हें डी०एस-सी० की उपाधि प्राप्त हुई। इसी विश्वविद्यालय में रसायन-शास्त्र के प्रवक्ता और प्रोफेसर के पदों पर १९६७ ई० पर्यन्त कार्यरत रहे। १९७१ ई० में आपने संन्यास ग्रहण किया।

आपने ईशोपनिषद् तथा श्वेताश्वतरोपनिषद् का समश्लोकी काव्यानुवाद किया जो ब्रह्मविज्ञान शीर्षक से १९८० वि० में प्रकाशित हुआ। हिन्दी की छायावादी काव्य-धारा से प्रभावित होकर आपने जो कविताएँ लिखीं, वे 'प्रतिबिम्ब' शीर्षक काव्यसंग्रह में १९८४ वि० में प्रकाशित हुईं। इस काव्यसंग्रह की अंग्रेजी भूमिका स्वयं कवि ने लिखी थी जिसमें उन्होंने अपने काव्य की समीक्षा की है।

(३८) पण्डित अखिलेश शर्मा—स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व और गुणों को भूषण की-सी ओजस्विनी शैली में अभिव्यक्ति देनेवाले पण्डित अखिलेश शर्मा का जन्म १९६५ वि० (१९०८ ई०) में सीतापुर जिले के एक ग्राम में हुआ था। इनके पिता पण्डित मंगलदत्त त्रिवेदी कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। ये सीतापुर जिले के विद्यालयों में अध्यापक-पद पर कार्यरत रहे। २००२ वि० में शर्माजी ने दयानन्द-लहरी काव्य का प्रणयन किया। सोरठा, दोहा, कवित्त तथा छप्पय आदि छन्दों में लिखित यह ग्रन्थ व्रज-भाषा काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसका एक अन्य संस्करण महर्षि दयानन्द शीर्षक से सस्ता साहित्य मण्डल दिल्ली ने भी प्रकाशित किया।

(३९) पण्डित लक्ष्मीनारायण शास्त्री (नारायणमुनि चतुर्वेदः)—संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् पण्डित लक्ष्मीनारायण शास्त्री का जन्म १९०९ ई० में रुड़की नगर में श्री हरध्यान जी के यहाँ हुआ। आप गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के स्नातक हैं। यहाँ से आपको विद्याभास्कर की उपाधि प्राप्त हुई। आपने बनारस की साहित्याचार्य तथा संस्कृत में एम० ए० की परीक्षाएँ भी उत्तीर्ण की हैं। कई वर्षों तक डी० ए० वी० कॉलेज रुड़की में संस्कृत के प्रवक्ता पद पर रहे। तत्पश्चात् गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में संस्कृत, आयुर्वेद आदि का अध्यापन किया। सम्प्रति इसी गुरुकुल में ही रहकर वहाँ चलने वाली उपदेशक-कक्षाओं में अध्यापन कर रहे हैं। शास्त्रीजी संस्कृत तथा हिन्दी दोनों भाषाओं में काव्य रचना करते हैं। हिन्दी में आपके मुक्तक शतक (१०० दोहों का संग्रह) तथा स्तुतिशतक शीर्षक काव्यग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

(४०) पण्डित विद्यानिधि शास्त्री—सम्पूर्ण सामवेद संहिता के हिन्दी पद्यानु-वादक पण्डित विद्यानिधि शास्त्री का जन्म १९११ ई० में हरयाणा प्रान्त के एक ग्राम में हुआ। शास्त्रीजी ने गुरुकुल भैंसवाल में अध्ययन किया तथा चित्तौड़गढ़, भैंसवाल, कुरुक्षेत्र, रायकोट तथा झज्जर के गुरुकुलों में अध्यापन-कार्य किया। विश्वेश्वरानन्द

वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर में रहकर आपने वैदिक शोधकार्य में भी सहयोग किया। सामवेद का समश्लोकी पद्यानुवाद आपकी काव्यप्रतिभा का परिचायक है।

(४१) **श्री कृष्णलाल कुसुमाकर**—श्री कुसुमाकर का जन्म १९१२ ई० में ग्राम ढोलपुरा (आगरा) में हुआ। आपको काव्यलेखन की प्रेरणा पण्डित हरिशंकर शर्मा से मिली। कुसुमाकरजी ने डी०ए०वी० कॉलेज फीरोजाबाद में अध्यापन-कार्य किया और अवकाश ग्रहण करने के अनन्तर उसी नगर में निवास करने लगे। आर्यसमाज से उनका सम्बन्ध बहुत पुराना है। उनकी अनेक काव्य-कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं जो इस प्रकार हैं—कुसुमांजलि, गोगौरव, शतदल, नववाला, भयंकर भूल, ग्राम गीतांजलि (सुधारवादी लोकगीत), चिता की चिनगारी, वेद-वीणा, आलोक, धारणा, सुमंगली तथा शतदल।

(४२) **पण्डित रमेशचन्द्र शास्त्री**—गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के लब्धप्रतिष्ठ स्नातक पण्डित रमेशचन्द्र शास्त्री का जन्म १४ जनवरी १९१५ ई० को बिजनौर जिले के गंज दारानगर ग्राम में हुआ। १९३३ ई० में ये गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के स्नातक बने और 'विद्याभास्कर' की उपाधि प्राप्त की। अध्ययन-समाप्ति के पश्चात् ये राजस्थान के शाहपुरा राज्य में संस्कृत महाविद्यालय के आचार्य पद पर आए। तत्पश्चात् अजमेर को आपने अपना निवास बनाया। कई वर्षों तक आप आर्यप्रतिनिधि सभा, राजस्थान के मन्त्री भी रहे। वनस्थली विद्यापीठ तथा दयानन्द कॉलेज, अजमेर में संस्कृत के अध्यापक रहे तथा अवकाश ग्रहण करने पर अनेक सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों में लगे रहे। २१ नवम्वर १९८० ई० को आपका निधन हो गया।

पण्डित रमेशचन्द्र शास्त्री की काव्य-सृष्टि 'दयानन्द गुरुपथ' से आरम्भ होती है, जिसका प्रकाशन १९३८ ई० में हुआ था। इसमें आपने स्वामी दयानन्द का दण्डी विरजानन्द की पाठशाला में प्रविष्ट होकर अध्ययन करने के प्रसंग का सरस वर्णन प्रस्तुत किया है। धरानन्दिनी सीता, महाभिनिष्क्रमण तथा देवपुरुष गांधी आपकी अन्य काव्य-कृतियाँ हैं जिनमें क्रमशः सीता, भगवान बुद्ध के गृहत्याग तथा महात्मा गांधी के जीवन-प्रसंगों को चित्रित किया गया है।

(४३) **श्री रामनारायण माथुर (स्वामी ओमप्रेमी)**—मध्यप्रदेश के शाजापुर निवासी श्री रामनारायण माथुर अब चतुर्थाश्रमी बनकर ओमप्रेमी के नाम से जाने जाते हैं। इनका जन्म रामनवमी १९७५ वि० (१९१८ ई०) को हुआ। इनकी शिक्षा हर्बर्ट कॉलेज कोटा में हुई। व्यवसाय से आप वकील थे। १९८१ ई० में आपने संन्यास की दीक्षा ली और गुरुकुल होशंगाबाद में रहने लगे। स्वामी ओमप्रेमी की अनेक काव्य कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं। ऋग्-विनय-गीतिका स्वामी दयानन्दकृत आर्याभिविनय के प्रथम प्रकाश का स्वतन्त्र पद्यानुवाद है। ओमसुकीर्तन भी आर्याभिविनय पर ही आधारित है। इनका 'माण्डवी महाशया' नामक एक पद्योपन्यास इसी वर्ष प्रकाशित हुआ है। उसमें भरत-पत्नी माण्डवी के कथानक को पद्यात्मक उपन्यास की शैली में चित्रित किया गया है।

(४४) **प्रोफेसर उत्तमचन्द शरर**—हिन्दी और उर्दू में समान रूप से काव्यरचना करने वाले प्रो० उत्तमचन्द शरर का जन्म मुजफ्फरनगर जिले के एक ग्राम में १५ नवम्बर, १९१६ को हुआ। इनकी शिक्षा हिन्दी एवं संस्कृत में एम० ए० तक की है। देशविभाजन

के पश्चात् शरर जी ने अपना स्थायी निवास पानीपत को बनाया और आर्य कॉलेज पानीपत में हिन्दी के प्राध्यापक रहे। एक उपदेशक के रूप में उन्हें आर्यसमाज में सर्वत्र ख्याति मिली है। शररजी की उर्दू एवं हिन्दी कविताओं का संग्रह 'आर्य का शिकवा—जवाब शिकवा' आर्य प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित हुआ है।

(४५) **पण्डित ओंकार मिश्र 'प्रणव'**—प्रसिद्ध कवि, व्याख्याता एवं विद्वान् पण्डित ओंकार मिश्र प्रणव का जन्म ८ अगस्त १९१९ ई० को अलीगढ़ जिले के भवीगढ़ ग्राम में हुआ। इनके पिता पण्डित प्यारेलाल मिश्र सामवेदी मैथिल ब्राह्मण थे। प्रणवजी की शिक्षा गुरुकुल बदायूँ में हुई जहाँ से आपने 'विद्याभूषण' की उपाधि प्राप्त की। तदनन्तर पंजाब विश्वविद्यालय से शास्त्री की परीक्षा भी उत्तीर्ण की। आगरा विश्वविद्यालय से संस्कृत में एम० ए० करने के पश्चात् आप डी० ए० वी० कॉलेज फीरोजाबाद में संस्कृत के प्रवक्ता एवं उपाचार्य के पद पर रहे। इससे पूर्व वे जेहलम (पाकिस्तान) के गुरुकुल में व्याकरण के अध्यापक तथा आर्य प्रतिनिधि सभा, उत्तरप्रदेश में उपदेशक भी रहे थे।

प्रणवजी हिन्दी के प्रसिद्ध कवि हैं। आपकी अनेक काव्य-कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें वोस-बावनी, अमर ज्योति (सत्यार्थप्रकाश पर आश्रित खण्डकाव्य), ज्वाला (वीररस के १०० घनाक्षरी छन्द), सुमंगली (वैवाहिक पद्यों का संग्रह), धारणा, पुरुषसूक्त का पद्यानुवाद, मधुमती, बहादुर-बावनी (लालबहादुर शास्त्री-विषयक ५२ कवित्त) तथा विजय-बावनी (बंगलादेश युद्ध से सम्बद्ध काव्य) आदि उल्लेखनीय हैं। प्रणवजी की कविताएँ आर्यसमाज के सभी प्रमुख पत्रों में स्थान प्राप्त करती रही हैं।

(४६) **श्री रामनिवास विद्यार्थी**—वेदमन्त्रों के काव्यानुवादक श्री रामनिवास विद्यार्थी का जन्म ११ अक्टूबर १९२७ ई० को मेरठ जिले के फजलपुर ग्राम में पण्डित कृष्णलाल शर्मा के यहाँ हुआ। इनका अध्ययन एम० ए० एल० टी० तक हुआ। वर्तमान में ये मेरठ जिले के एक इण्टर कॉलेज में उपाचार्य हैं। विद्यार्थीजी ने 'ऋचाओं की छाया में' शीर्षक से ३२० वेदमन्त्रों का गद्य-पद्यमय भाषान्तर किया जो काशी विश्वविद्यालय प्रकाशन वाराणसी द्वारा १९७० ई० में छपा। आपके संध्या-संगीत (उपासना गीतांजलि) तथा सामसहस्रधारा (सामवेद पूर्वार्द्ध का काव्यानुवाद) आदि ग्रन्थ भी प्रकाशित हो चुके हैं।

(४७) **डॉक्टर सुशीला गुप्ता**—आर्यसमाज की महिला कवयित्रियों में डॉक्टर सुशीला गुप्ता का नाम उल्लेखनीय है। इसका जन्म ५ जुलाई १९३० ई० को हरयाणा के नरवाना कस्बे में श्री हजारीलाल गुप्त के यहाँ हुआ। आपने पंजाब विश्वविद्यालय से हिन्दी तथा संस्कृत में एम० ए० की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। आचार्य मेधाव्रत के जीवन एवं कृतित्व पर आपको राजस्थान विश्वविद्यालय ने पी-एच०डी० की उपाधि प्रदान की है। आर्य कन्या पाठशाला नरवाना तथा कन्या गुरुकुल नरेला में अध्यापन करने के अनन्तर आप १९७० ई० से जनता महाविद्यालय चरखी दादरी (जिला महेन्द्रगढ़) में हिन्दी के प्रवक्ता पद पर कार्यरत हैं।

डॉक्टर सुशीला के गीतों का प्रथम संग्रह 'सुशीला गीत शतक' शीर्षक से आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब से १९६४ ई० में प्रकाशित हुआ। इनके द्वारा लिखित गौगीतांजलि प्रथम बार कन्या गुरुकुल नरेला से १९६७ ई० में प्रकाशित हुई। इसका द्वितीय संस्करण भारतीय गोसेवक समाज दिल्ली ने १९६८ ई० में प्रकाशित किया।

(४८) डॉक्टर मदनमोहन जावलिया—आर्यसमाज की हिन्दी पत्रकारिता को देन शीर्षक शोधप्रबन्ध के लेखक डॉक्टर मदनमोहन जावलिया का जन्म १२ दिसम्बर १६३० ई० को शाहपुरा में श्री कल्याणमल जावलिया के यहाँ हुआ। महाराणा भूपाल कॉलेज उदयपुर में शिक्षा प्राप्त कर श्री जावलिया राजस्थान के शिक्षा-विभाग में प्रविष्ट हुए। आपने हिन्दी एवं संस्कृत में एम०ए० की उपाधि ग्रहण की तथा राजस्थान विश्व-विद्यालय से आर्यसमाज की हिन्दी पत्रकारिता को देन विषय पर पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त की। सम्प्रति ये गवर्नमेंट कॉलेज शाहपुरा में हिन्दी के प्रवक्ता पद पर हैं। आपने स्वामी दयानन्द के जीवन पर आधारित 'मृत्युञ्जय दयानन्द' महाकाव्य का प्रणयन किया है। यह महाकाव्य १६८३ वि० में स्वामी दयानन्द की निर्वाण शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित हुआ है। आपकी अनेक अप्रकाशित काव्यरचनाएँ पाठकों तक नहीं पहुँच सकी हैं।

(४६) प्रोफेसर राजेन्द्र जिज्ञासु—आर्यसमाज के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ तथा शोध-विद्वान् प्रोफेसर जिज्ञासु एक सहृदय कवि भी हैं। इनका जन्म २८ मई १६३२ ई० को सियालकोट (पाकिस्तान) जिले के मालोमेह नामक ग्राम में, महाशय जीवनमल के यहाँ हुआ। इनकी शिक्षा एम० ए० (इतिहास) बी० टी० तक हुई। प्रारम्भ में आप डी० ए० वी० कॉलेज शोलापुर में इतिहास के प्राध्यापक पद पर रहे। विगत कई वर्षों से डी० ए० वी० कॉलेज, अबोहर में इतिहास का अध्यापन कर रहे हैं। आपकी काव्यकृति हृदयतन्त्री दो भागों में प्रकाशित हो चुकी है। ओजस्वी एवं वीरतापूर्ण भावों को कविता के माध्यम से प्रयुक्त करने में इन्हें विशेष सफलता मिली है।

(५०) श्री राधेश्याम आर्य—मुसाफिरखाना (सुल्तानपुर) निवासी श्री राधेश्याम आर्य व्यवसाय से वकील हैं। आपकी आर्यसमाज के प्रति गहन निष्ठा है। आपकी कवि-ताएँ आर्य पत्रों में प्रायः प्रकाशित होती रहती हैं। विश्ववंद्य बापू और भरतभूमि आपकी प्रकाशित कृतियाँ हैं। अनेक खण्ड-काव्य तथा अन्य काव्यकृतियाँ अप्रकाशित हैं। आप 'रश्मिरथी' नामक एक काव्यप्रधान पत्रिका भी निकालते हैं।

(३) आर्यसमाज और हिन्दी उपन्यास

साहित्य सदा से मानव के विचारों का वाहक रहा है। साहित्य में भी उपन्यास की विधा लेखक के विचारों को जितनी सफलता एवं सार्थकता से साथ व्यक्त करती है, उतनी अन्य नहीं। आज के युग में तो मानवीय भावों एवं विचारों, समाज की राज-नैतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा आर्थिक स्थितियों, यहाँ तक कि विगत इतिहास के क्रियाकलापों तक का चित्रण करने के लिए उपन्यास को एक सशक्त माध्यम के रूप में प्रयुक्त किया जाता है। प्रेमचन्द के पूर्व जो उपन्यास हिन्दी में लिखे गये थे, उनमें सामाजिक स्वर तो नगण्य ही था, तथापि हिन्दी उपन्यासों पर की गई नवीनतम शोध से यह ज्ञात होता है कि विगत शताब्दी के अन्तिम दशक में लिखे गये कुछ उपन्यास तथा अन्य कथा-कृतियाँ आर्यसमाज के धार्मिक एवं सामाजिक सुधार की नीति से प्रभावित होकर ही लिखी गई थीं। स्वयं प्रेमचन्द के उपन्यासों में भी विधवा विवाह, अछूतोद्धार, धार्मिक पाखण्ड-खण्डन, वेश्यावृत्ति-निवारण आदि के जो सुधारवादी स्वर झंकृत हो रहे हैं, वे आर्य-समाज के वैचारिक प्रभाव की ही सूचना देते हैं। प्रेमचन्द के पुत्र श्री अमृतराय द्वारा

लिखित उनकी जीवनी 'कलम का सिपाही' से तो अब यह स्पष्टतया सिद्ध हो गया है कि प्रेमचन्द अपने अध्यापक-जीवन में आर्यसमाज के नियमित सभासद रहे थे।

आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित होकर जो उपन्यास लिखे गये, वे दो प्रकार के हैं। प्रथम कोटि में वे औपन्यासिक रचनाएँ आती हैं जिनके लेखक चाहे आर्यसमाज के सभासद न रहे हों, किन्तु उनकी रचनाओं में आर्यसमाज की सुधारवादी विचारधारा का ही प्रतिफलन हुआ है। १९१६ ई० में लाहौर से महाशय श्यामकिशोर वर्मा लिखित काशीयात्रा नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ। इसके मुख-पृष्ठ पर इसे "एक धार्मिक उपन्यास" कहा गया है। पाँच परिच्छेदों तथा पचपन पृष्ठों का यह उपन्यास पुरातन रूढ़िवादी विचारधारा पर तीव्र प्रहार करता है। इसमें स्वामी दयानन्द का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—"एक अति बलवान्, विद्या-धुरन्धर, बाल-ब्रह्मचारी, वैद्य इस जाति में था जो वेदरूपी ओषधि से इस कराल विष को हरता था।" (पृष्ठ २२)। कृष्णलाल वर्मा का 'चम्पा' शीर्षक उपन्यास १४ परिच्छेदों तथा ९१ पृष्ठों का है। इसका प्रकाशन भी १९१६ ई० में ही हुआ। लेखक रोहतक (हरयाणा) जिले के गोहाना कस्बे के निवासी थे। आर्यसमाज का इन पर स्पष्ट प्रभाव था। उपन्यास में कन्या-विक्रय और वृद्ध-विवाह के दोषों, पर्दा-प्रथा से हानि तथा भोपा, स्याने आदि के अंधविश्वासपूर्ण कृत्यों का पर्दाफाश किया गया है।

एक अज्ञातनामा लेखक ने, जिसने 'राधा' नामक उपन्यास लिखा, आर्यसमाज की विचारधारा का स्पष्ट प्रचार किया है। उपन्यास की नायिका राधा है जिसे उसके पिता ने सत्यार्थप्रकाशादि स्वामी दयानन्दकृत सभी ग्रन्थ पढ़ाये हैं। उसके विवाह में निम्न शर्तों का पालन किया गया—"विवाह वैदिक विधि से सम्पन्न हुआ, अश्लील गीतों के स्थान पर मंगल गीत गाये गये, वेश्या-भांडों आदि का मनोरंजन वर्जित था, आतिशबाजी पर व्यर्थ व्यय नहीं किया गया। विवाह के अवसर पर नवग्रह, गणेश आदि की पूजा नहीं हुई और न जूतियाँ पुजाई गईं। वैदिक संस्थाओं को दान दिया गया आदि।" 'प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास' नामक ग्रन्थ के लेखक डॉक्टर कैलाश-प्रकाश की सम्मति में, "उपन्यास-लेखक कट्टर आर्यसमाजी है और आर्यसमाज के प्रचार के लिए ही उसने प्रस्तुत उपन्यास की रचना की है।"

अब हम उन उपन्यासों का विवरण दे रहे हैं जो आर्यसमाजी लेखकों द्वारा प्रचारात्मक दृष्टि से लिखे गये। यहाँ यह स्मर्तव्य है कि ये लेखक वास्तविक अर्थों में उपन्यासकार नहीं हैं और न उपन्यासकार के रूप में हिन्दी-साहित्य के इतिहास में इनका कहीं उल्लेख भी हुआ है। इनके सम्बन्ध में तो इतना ही लिखना पर्याप्त है कि इन लेखकों ने अपने सिद्धान्तों और विचारों के प्रचार के लिए उपन्यास की विधा को चुना था। आलोच्य कृतियों में औपन्यासिक गुण किस मात्रा में हैं, यह भी हमारे विचार का विषय नहीं है। हमें तो केवल यही बताना है कि उपन्यास जैसी लोकप्रिय विधा का आश्रय लेकर कोई धर्म-प्रचारक तथा समाजसुधारक अपनी बात अधिसंख्य पाठक-समुदाय तक कैसे पहुँचा सकता है। इन उपन्यासों में कुछ आदर्शवादी स्वर लिये हुए हैं, तो अन्यों में हिन्दू समाज की दुर्दशा के लिए उत्तरदायी धार्मिक एवं सामाजिक कुरीतियों पर निर्मम प्रहार किया गया है। आदर्शवाद को लक्ष्य में रखकर लिखे गये उपन्यासों में कतिपय वे हैं जो सती-साध्वी आर्य नारी के शील एवं चरित्र का चित्रण

करते हैं। पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा का कीचकवध महाभारत के आख्यान पर आधारित है। इसे पातिव्रत धर्म-विषयक उपन्यास कहा गया है। स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती द्वारा प्रकाशित सुशीला देवी (१८९४ ई० में प्रकाशित) भी आदर्श नारी की रूपरेखा प्रस्तुत करता है। श्री दयाराम तहसीलदार लिखित "सती चरित्र" नाविल चार भागों में छपा था। इसमें सीता, तारामती तथा दमयन्ती के चरित्र अंकित किये गये थे। पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द) ने अपने लेखकीय जीवन के आरम्भकाल में कुछ उपन्यास लिखे थे। मूलतः ये उर्दू में ही थे। इनके नाम हैं—सत्यव्रती महानन्द, धर्मवीर, क्षमाचन्द्रोदय तथा चण्डाल चौकड़ी। प्रथम दोनों उपन्यासों का समर्पण पण्डित लेखराम के वलिदान की स्मृति में किया गया था। चण्डाल चौकड़ी एक व्यंग्यात्मक उपन्यास है जिसमें आर्यसमाज के उस प्रारम्भिक काल के कलह पर सटीक व्यंग्य किये गये हैं जो मांसभक्षण को लेकर उत्पन्न हुआ था।

शुद्धि और संगठन के युग में कुछ ऐसी औपन्यासिक कृतियाँ लिखी गईं जिनमें हिन्दू जाति के पतन-काल के उस इतिहास का वर्णन किया गया है जिसमें बंगाल के ब्राह्मण युवक कालिचन्द्र राय का मुस्लिम धर्म को ग्रहण कर कालाचाँद बन जाने और उसके पश्चात् हिन्दुओं पर पाशविक अत्याचार करने जैसी घटनाओं का उल्लेख हुआ है। भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा के महामन्त्री स्वामी चिदानन्द संन्यासी लिखित काला-चाँद (१९८५ वि० में प्रकाशित) एक ऐसी ही कृति है। मुसलमानों द्वारा हिन्दू कन्याओं के अपहरण जैसी घटनाओं को लेकर 'आस्तीन का साँप' तथा 'खून के आँसू' भाग २ (लेखक शिव शर्मा) जैसे उनन्यास लिखे गये। प्रसिद्ध आर्य लेखक मुन्शी चिम्मनलाल वैश्य की पुत्री श्रीमती प्रियंवदा गुप्ता द्वारा लिखे गये तीन उपन्यासों का उल्लेख मिलता है। ये हैं—कलियुगी परिवार का एक दृश्य (१९१६ ई०), आनन्दमयी रात्रि का स्वप्न (१९१७ ई०) तथा धर्मात्मा चाची और अभागा भतीजा (१९१८ ई०)। फर्रुखाबाद-निवासी श्री देवीप्रसाद द्वारा विधवा-समस्या पर लिखित "विधवाविपत्ति" उपन्यास १८८५ ई० में प्रकाशित हो चुका था। राजस्थान के आर्य नेता व लेखक श्री राम-विलास शारदा तथा उनके पुत्र कुंवर चांदकरण शारदा ने क्रमशः 'जोगी का फेरा' तथा 'कालेज होस्टल' शीर्षक उपन्यास लिखे। इनमें आर्यसमाजी विचारधारा का ही प्रतिपादन किया गया है। पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा का उपन्यास 'लड़खड़ाते जीवन' आधुनिक युवकों की अस्थिर मनोवृत्ति तथा उनके पतनशील चरित्र का विवरण प्रस्तुत करता है। इसका प्रकाशन १९६४ ई० में जयदेव ब्रदर्स, वड़ौदा से हुआ था।

(४) कारावास के संस्मरण

राजनैतिक वन्दियों के लिए कारावास का जीवन वरदान एवं अभिशाप दोनों ही होता है। अपराध करके कैद भोगने वाले कैदियों से भिन्न राजनैतिक बंदियों को लिखने-पढ़ने की सुविधा भी दी जाती है तथा दैनन्दिन जीवनयापन के लिए अधिक सुखद वातावरण उपलब्ध कराया जाता है। लोकमान्य तिलक ने बर्मा की माण्डले जेल में रहते समय गीतारहस्य जैसा प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखा था। १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन के समय पण्डित जवाहरलाल नेहरू को जव अहमदनगर जेल में रहना पड़ा तो उन्होंने कारावास की इस अवधि का उपयोग हिन्दुस्तान की कहानी (Discovery

of India) जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना में किया। यदा-कदा कारावास का दण्ड समाप्त हो जाने पर लोग वहाँ के जीवन के संस्मरणों को भी ग्रन्थरूप दे देते हैं।

स्वामी श्रद्धानन्द ने अकाली सिखों द्वारा चलाये गये गुरू का बाग सत्याग्रह में भाग लिया और जेल गये। उनका यह कारावास-जीवन अमृतसर तथा मियाँवाली (पाकिस्तान) जेलों में व्यतीत हुआ। उन्होंने अपने जेल-जीवन के इन अनुभवों को 'बंदीघर के विचित्र अनुभव' शीर्षक पुस्तक में संग्रथित किया है। इसका प्रथम प्रकाशन १९२३ ई० में दिल्ली से हुआ था। इसी वर्ष प्रोफेसर राजेन्द्र जिज्ञासु ने इसका एक सम्पादित संस्करण अबोहर से प्रकाशित किया है। उत्तर प्रदेश के प्रसिद्ध कांग्रेस कार्यकर्ता पण्डित नरदेव शास्त्री जब असहयोग आन्दोलन में भाग लेकर जेल गये तो उन्हें बन्दी-जीवन के कटु अनुभव हुए। इन्हीं अनुभवों को उन्होंने 'कारावास की रामकहानी या १९२१ की धकापेल' शीर्षक से लिखकर प्रकाशित किया। वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद के संस्थापक और आर्यसमाज के प्रसिद्ध साहित्य प्रकाशक पण्डित शंकरदत्त शर्मा भी अपने नगर और जिले के प्रसिद्ध कांग्रेसकर्मी थे। शर्माजी ने अपनी जेलयात्रा के संस्मरणों को 'मेरी जेलयात्रा और उसके रहस्य' (१९८० वि०) में निबद्ध किया है। हैदराबाद सत्याग्रह में आर्य प्रादेशिक सभा के मान्य नेता लाला खुशहालचन्द 'खुर्सन्द' ने सर्वाधिकारी के रूप में भाग लिया था। उन्होंने अपने कारावास के अनुभवों को 'जेल की कहानी' शीर्षक देकर मिलाप कार्यालय लाहौर से प्रकशित किया। स्वामी सदानन्द परिव्राजक लिखित 'निजाम जेल की कष्ट कहानी' का उल्लेख अन्यत्र हैदराबाद सत्याग्रह सम्बन्धी साहित्य के प्रसंग में आ चुका है।

पण्डित रुद्रदत्त का कथा संसार—हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक तथा पत्रकार पण्डित रुद्रदत्त शर्मा आर्यसमाज के प्रख्यात उपदेशक रह चुके थे। उन्होंने वर्षों तक कलकत्ता से प्रकाशित होनेवाले आर्यावर्त साप्ताहिक पत्र का सम्पादन भी किया था। पण्डित रुद्रदत्त शर्मा ने स्वर्ग में महासभा, स्वर्ग में सब्जैक्ट कमेटी तथा कण्ठी जनेऊ का विवाह शीर्षक तीन व्यंग्यात्मक कथाएँ लिखीं। ये कथायें अपने युग में अत्यन्त लोकप्रिय हुई थीं। इन कथाओं के माध्यम से लेखक ने पुराणों में विभिन्न देवी-देवताओं के रूप को विकृत करने तथा उनके चरित्र पर नाना प्रकार के लांछन लगाने की हास्य और व्यंग्यप्रधान शैली में तीखी आलोचना की है। शर्माजी की इन रचनाओं की लोकप्रियता का अनुमान तो इसी बात से लगाया जा सकता है कि इनमें से प्रत्येक के कई-कई संस्करण विभिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित हुए थे। स्वर्ग में महासभा का प्रथम संस्करण १८९७ ई० में दानापुर से छपा था। इसके बाद इसके विभिन्न संस्करण कलकत्ता, इटावा, मुरादाबाद तथा मथुरा से छपे। मथुरा से छपे संस्करण का सम्पादन इन पंक्तियों के लेखक ने किया था जो २०२२ वि० में सत्य प्रकाशन ने रुद्रदत्त ग्रन्थावली भाग-१ में प्रकाशित किया। इसका गुजराती अनुवाद माँगीलाल दामोदर मोदी ने 'स्वर्ग माँ महासभा' शीर्षक से किया था।

स्वर्ग में सब्जैक्ट कमेटी का अन्य नाम था देवलोक में भोज। इसका प्रथम संस्करण १८९५ ई० में दानापुर से छपा था। तत्पश्चात् इटावा (१८९८ ई०), मुरादाबाद तथा मथुरा (रुद्रदत्त ग्रन्थावली भाग-१) से अन्य संस्करण छपे। कण्ठी जनेऊ का विवाह आर्यभास्कर प्रेस आगरा, वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद तथा सत्य प्रकाशन मथुरा

से छपा। इन तीनों कथाओं को सम्पादित कर रुद्रदत्त ग्रन्थावली भाग-१ के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया है। ग्रन्थारम्भ में पण्डित रुद्रदत्त शर्मा का विस्तृत जीवन-परिचय तथा उनकी भाषा एवं शैली की आलोचना भी प्रस्तुत की गई है।

(५) आर्यसमाज का हिन्दी-नाटक साहित्य

पुरातन साहित्याचार्यों ने काव्य को श्रव्य एवं दृश्य भेद से दो प्रकार का माना है। दृश्यकाव्य के अन्तर्गत नाटकों का समावेश किया जाता है जिसे 'रूपक' का एक भेद कहा गया है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में दृश्यकाव्यों का सर्वांगीण विवेचन मिलता है। अवस्था की अनुकृति ही नाट्य है। नाटक की यह परिभाषा धनञ्जय ने अपने 'दशरूपक' नामक ग्रन्थ में दी है। आचार्य भरत के अनुसार नाटकों के मूल तत्त्व भी वेदों से ही प्रादुर्भूत हुए हैं। ऋग्वेद से पाठ्य-तत्त्व ग्रहण किया गया। यजुर्वेद से संवाद-तत्त्व लिया गया। सामवेद से गीति-तत्त्व तथा अथर्ववेद से काव्य का आत्मा रूप रस तत्त्व का ग्रहण किया गया। यद्यपि चारों वेदों को किसी काल में वर्णत्रय के लिए ही निर्धारित कर दिया गया था, किन्तु नाट्य रूपी पंचम वेद सार्ववर्णिक होने से सर्वलोक-ग्राह्य है।

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द संस्कृत साहित्य के उत्तरकालीन नाटकों में पाई जानेवाली शृंगारी प्रवृत्तियों की अधिकता से परिचित थे। फलतः उन्होंने नाटकों के सम्बन्ध में विरति ही प्रदर्शित की है। उन्होंने अध्ययन-अध्यापन की जो व्यवस्था की है, उसमें केवल शास्त्रीय ग्रन्थों को ही स्थान मिला है। काव्य, नाटकादि को पाठ्यक्रम में सम्मिलित किया जाय या नहीं, इस सम्बन्ध में उनकी कोई स्पष्ट धारणा दिखाई नहीं पड़ती। यह अवश्य है कि अपने युग में प्रचलित रासलीला और रामलीला के रूप में उन्होंने नाट्यकला के जिस भद्दे और फूहड़ रूप को देखा था, उससे उनके मन में यह दृढ़ धारणा बन गई थी कि नाटकों को अधिक प्रोत्साहन नहीं मिलना चाहिए। उनकी यह धारणा वास्तविकता पर ही आधारित थी, क्योंकि रामलीलाओं में राम, सीता आदि का अभिनय करनेवाले लोग इन महापुरुषों को उपहासास्पद एवं विद्रूपात्मक शैली में ही प्रस्तुत करते थे। जिस समय फर्रुखाबाद आर्यसमाज के मुखपत्र भारतसुदशाप्रवर्त्तक में 'नाटक' छपने लगे तो स्वामी दयानन्द को विशेष निर्देश देकर इनका प्रकाशन रुकवाना पड़ा।

तथापि नाटकों की सामाजिक उपयोगिता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। आर्यसमाज के परवर्ती लेखकों ने यदा-कदा नाटक शैली को अपनाकर अपने विचारों एवं सिद्धान्तों का प्रचार किया है। यहाँ हम उन नाटककारों एवं उनकी कृतियों पर विचार करते हैं, जो आर्यसमाज की विचारधारा से सम्बद्ध रहे हैं।

श्री जगन्नाथ भारतीय दिल्ली के निवासी थे। उनकी कई रचनाएँ हमें मिलती हैं, परन्तु स्वयं उनके बारे में अधिक जानकारी प्राप्त नहीं होती। विगत शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में उनके लगभग २५ लघु ग्रन्थ छपे जिनमें कुछ नाटकों की श्रेणी में आते हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—

१९४४ वि० में दिल्ली से प्रकाशित वर्णव्यवस्था नाटक में वर्ण-व्यवस्था-सिद्धान्त को नाटक शैली में प्रस्तुत किया गया है। लेखक का प्रयोजन वर्ण-व्यवस्था को गुण एवं कर्म पर आधारित सिद्ध करना है। दो अंकों में समाप्त इस नाटक के पात्रों में भोजनदास

ब्राह्मण तथा पुरुषोत्तम शास्त्री क्रमशः वर्ण-व्यवस्था को जन्माधारित तथा कर्माधारित मानते हैं। लेखक ने अन्ततः गुणकर्माधारित वर्ण-व्यवस्था को ही उचित सिद्ध किया है।

समुद्र-यात्रा नाटक का प्रकाशनकाल १८८७ ई० है। पाँच लघु अंकों में समाप्त होनेवाला यह नाटक सूत्रधार एवं नन्दी के प्रास्ताविक संवाद से आरम्भ होता है। अवशिष्ट अंकों में एक कल्पित कथानक के आधार पर समुद्रयात्रा के औचित्य को स्थापित किया गया है।

नवीन वेदान्त नाटक संस्कृत नाटक प्रबोधचन्द्रोदय (कृष्ण मिश्र) की शैली पर लिखा गया है। यह नाटक शांकर मायावाद की निस्सारता प्रतिपादित करता है। इसका प्रकाशन रामचन्द्र वैश्य मेरठ द्वारा १९४७ वि० में हुआ था।

आर्यसमाजी नाटक-लेखकों में पण्डित रुद्रदत्त शर्मा का नाम उल्लेखनीय है। शर्माजी को हिन्दी पत्रकारिता का यदि पितामह भी कहा जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। उन्होंने अनेक पत्रों का सम्पादन किया तथा अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे। एक लेखक होने के साथ वे उत्कृष्ट कोटि के उपदेशक तथा शास्त्रार्थी भी थे। पण्डित रुद्रदत्त शर्मा लिखित आर्यमतमार्तण्ड नाटक प्रबोधचन्द्रोदय की शैली पर ही लिखा गया है। यह नाटक दो भागों में समाप्त हुआ है। द्वितीय भाग को आर्यमित्र साप्ताहिक के ग्राहकों को उपहारस्वरूप में वितरित करने के लिए आर्य भास्कर प्रेस, आगरा ने प्रकाशित किया था। प्रथम भाग के लेखक पण्डित रुद्रदत्त शर्मा थे, जबकि दूसरा भाग उनके अनुज पण्डित दामोदरप्रसाद ने लिखा। नाटक के व्याज से लेखक ने आर्यवर्तीय मत-मतान्तरों का परिचय तो दिया ही है, इन मतों की साम्प्रदायिक एवं घृणित प्रवृत्तियों का भी पर्दाफाश किया है। संस्कृत नाटकों में पाए जाने वाले सभी तत्त्व यहाँ विद्यमान हैं। नान्दी, प्रस्तावना, गर्भांक, विदूषक आदि की योजना भी इस नाटक में नाट्यशास्त्र की प्रणाली से की गई है। इस नाटक के प्रथम भाग का प्रकाशन १८९५ ई० में आर्यावर्त प्रेस दानापुर से हुआ था।

आर्यसमाज सामाजिक कुप्रथाओं का सदा से ही प्रखर आलोचक रहा है। सामाजिक कुरीतियों की आलोचना की दृष्टि से भी अनेक नाटक लिखे गए। नवलसिंह चौधरी ने वेश्या नाटक लिखकर समाज के कोढ़ के रूप में व्याप्त वेश्यावृत्ति पर तीव्र प्रहार किया है। यह नाटक गुलजार यन्त्र मेरठ (लीथो प्रेस) से मुद्रित होकर १९५० वि० में छपा था। स्वामी प्रेस मेरठ के अधिष्ठाता पण्डित छुट्टनलाल स्वामी ने बाल-विवाह नाटक लिखा जो १८९८ ई० में प्रकाशित हुआ। बालविवाह की कुप्रथा पर ही एक अन्य नाटक गोधर्मप्रकाश पत्र (फर्रुखाबाद) के सम्पादक श्री देवीप्रसाद ने लिखा था। स्वामी दयानन्द के समकालीन तथा विश्वासपात्र लाला कालीचरण फर्रुखाबाद-निवासी के 'कुमति नाटक' का भी उल्लेख मिलता है। सामाजिक बुराइयों के निराकरण में अन्य अनेक लेखकों ने भी नाटकों की रचना की है। शाहपुरा (राजस्थान) निवासी पण्डित भूरालाल कथाव्यास ने दुर्व्यसनदमन नामक नाटक १९७३ वि० में लिखा। ग्रन्थारम्भ में लेखक ने नाटक रचना का प्रयोजन बताते हुए निम्न श्लोक लिखा है—

> प्रारम्भे सुखयन्ति दुःखनिकराण्यन्ते ददतामृति।
> कष्टं दुर्व्यसनानि तानि न तथा जानन्ति सर्वे जनाः ॥
> तेषां दर्शन मन्त्र देश पतनं प्रद्वेषिनिर्देशवत्।
> भूरालाल कृतौ विधाय जनता व्यासं विदेधीयताम् ॥

नाटककार ने दुर्व्यसनों को ही सामाजिक पतन का मूल कारण माना है। कविराज जयगोपालकृत पश्चिमी प्रभाव (१६३० ई० में लाहौर से प्रकाशित) में पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण की आलोचना की गई है। गोपेश्वर लिखित 'पशु बलिदान' नाटक देवताओं की तुष्टि के लिए पशुओं की बलि चढ़ाने की आलोचना करता है। श्री विश्वम्भरसहाय प्रेमी का 'सामाजिक क्रान्ति' प्रहसन शैली में लिखा गया है। किसी अज्ञात लेखक द्वारा लिखा गया वृद्धविवाह नाटक इस सामाजिक बुराई से उत्पन्न हानियों का दिग्दर्शन कराता है।

यह हम स्पष्ट कर चुके हैं कि आर्यसमाज का सामाजिक आन्दोलन अपने प्रचार को अधिक प्रभावशाली तथा लोकव्यापी बनाने की दृष्टि से सदा से ही लोकभाषाओं का उपयोग करता रहा है। हिन्दी के अतिरिक्त अन्य जन-भाषाओं का भी यदा-कदा आर्यसमाजी लेखकों द्वारा प्रयोग किया जाता रहा है। उदाहरणार्थ, अजमेर निवासी पण्डित जगन्नाथ उपाध्याय ने राजस्थानी (मारवाड़ी) भाषा में 'बूढ़ा बनड़े को ख्याल' तथा 'नाटक नियत सुधार' लिखा। राजस्थान में 'ख्याल' का प्रचलन नाटकों की एक रंगमंचीय शैली के रूप में रहा है। इसमें पात्रों के संवाद पद्यात्मक होते थे तथा समस्त कृति में गीतितत्त्व की प्रधानता रहती थी। सिनेमा के प्रचार के पूर्वयुग में इन देशी ख्यालों से ग्रामीण तथा कस्बाई जनता का भरपूर मनोरंजन होता था। इसी प्रसंग में हरियाणा प्रान्त के टोहाना निवासी स्व० यशवन्तसिंह टोहानवी की नाट्यकृतियों का उल्लेख करना आवश्यक है। श्री टोहानवी ने संगीत एवं काव्यतत्त्व से भरपूर ऐसे नाटकों की रचना की है जिनसे साधारण पठित लोगों का मनोरंजन तो होता ही है, वे महापुरुषों के नाटकवर्णित गुणों एवं चरित्र से शिक्षा भी ग्रहण करते हैं। टोहानवी के ये संगीत-तत्त्व-प्रधान नाटक अत्यधिक लोकप्रिय हुए थे। इसका प्रमाण इसी बात से मिलता है कि उनके द्वारा रचित इन नाटकों के अनेक संस्करण छपे हैं तथा इनकी लाखों प्रतियाँ जनता तक पहुँच चुकी हैं। इनकी प्रमुख नाट्यकृतियाँ निम्न हैं—आर्यसंगीत रामायण, आर्यसंगीत महाभारत, संगीत पृथ्वीराज, संगीत बाल-शहीद हकीकतराय तथा संगीत ऋषि दयानन्द। नाटकों के शीर्षकों से ही ज्ञात होता है कि रामायण तथा महाभारत जैसे आर्ष काव्यों को नाट्यरूप देने के साथ-साथ लेखक ने मध्यकालीन वीरों को भी नायक रूप में चुना है। गुरु गोविन्दसिंह के पुत्रों के बलिदान की गाथा संगीत बाल-शहीद में उपस्थित की गई है।

यहाँ आर्यसमाज से सम्बद्ध नाटककारों में प्रसिद्ध नाटक लेखक पण्डित नारायणप्रसाद 'बेताब' का उल्लेख आवश्यक है। 'बेताब' ने पारसी रंगमंचीय शैली में अनेक नाटक लिखे थे। यद्यपि उन्होंने पौराणिक, ऐतिहासिक तथा काल्पनिक कथानकों के आधार लेकर ही अपने नाटक लिखे, तथापि उनके आर्यसमाजी विचारों की झलक उनकी नाट्यकृतियों में सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है। उनके रामायण तथा महाभारत के आख्यानों पर आधारित नाटकों को विशेष सफलता प्राप्त हुई है। आर्य कन्या महाविद्यालय जालन्धर के संस्थापक लाला देवराज का 'सावित्री' नाटक तथा इन्द्र विद्यावाचस्पति प्रणीत 'स्वर्णदेश का उद्धार' शीर्षक नाटक भी उल्लेखनीय हैं।

(६) राष्ट्रभाषा समस्या

स्वामी दयानन्द ने अपनी दूरदर्शिता तथा भविष्यवेधिनी दृष्टि से विगत शताब्दी

में ही यह अनुभव कर लिया था कि सम्पूर्ण भारत में सामान्य लोकव्यवहार तथा जन-साधारण के वैचारिक आदान-प्रदान का यदि कोई माध्यम हो सकता है तो वह हिन्दी भाषा ही है। उन्होंने स्वयं इसी भाषा को अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया तथा अपने अधिकांश ग्रन्थ हिन्दी में ही लिखे। कलकत्ता में उन्हें ब्रह्मसमाज के नेता केशवचन्द्र सेन ने हिन्दी भाषा में प्रवचन एवं उपदेश देने की प्रेरणा दी और सेन महाशय के इस सत्परामर्श को स्वीकार कर स्वामीजी ने अवशिष्ट जीवन में वाचिक व्यवहार में भी हिन्दी का ही प्रयोग किया। राष्ट्रभाषा आन्दोलन के इतिहासकार और जानकार आज इस तथ्य को स्वीकार कर चुके हैं कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित देखने के इच्छुक महापुरुषों में दयानन्द सरस्वती प्रमुख थे।

स्वामी दयानन्द के जीवनकाल में ही अंग्रेजी शासन ने मिस्टर हण्टर की अध्यक्षता में एक शिक्षा आयोग की स्थापना की। इस आयोग के समक्ष विचारणीय विषयों में शिक्षा के माध्यम का प्रश्न भी था। उस समय स्वामी दयानन्द ने भारत की विभिन्न आर्यसमाजों को निर्देश दिया कि वे हण्टर आयोग के समक्ष अपने माँगपत्र प्रस्तुत कर सरकार को बताएँ कि भारत में शिक्षा के माध्यम तथा सरकारी कचहरियों के काम-काज के रूप में हिन्दी को प्रयोग में लाने की कितनी आवश्यकता है। स्वामीजी के आदेशों के अनुसार विभिन्न आर्यसमाजों ने हण्टर कमीशन को अपने माँगपत्र प्रस्तुत करते हुए शिक्षण-संस्थानों में हिन्दी के प्रयोग पर बल दिया। पंजाब के आर्यसमाजियों का एक शिष्टमण्डल हण्टर साहब से मिला और उनसे हिन्दी को उसका समुचित स्थान दिये जाने के लिए आग्रह किया। परोपकारिणी सभा के प्रथम उपप्रधान रायबहादुर मूलराज ने अपनी आत्मकथा में स्वीकार किया है कि उन्होंने स्वयं हण्टर कमीशन के समक्ष गवाही दी तथा पंजाब में उर्दू के स्थान पर हिन्दी को प्रचलित करने का समर्थन किया था। स्वयं रायबहादुर की शिक्षा उर्दू और अंग्रेजी में ही हुई थी। किन्तु आर्य-समाज के कारण ही वे हिन्दी के भक्त बने।

राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को समुचित प्रतिष्ठा दिलाने में आर्यसमाज का संस्थागत और उसके सदस्यों का जो वैयक्तिक योगदान रहा है, उसका समग्र विवेचन तो एक पृथक् ग्रन्थ का ही विषय है, किन्तु यहाँ यही बताना अभीष्ट है कि आर्यसमाज के लेखकों ने भी समय-समय पर राष्ट्रभाषा-समस्या पर लेखनी चलाई है तथा हिन्दी के समर्थन में उचित वातावरण बनाने का प्रयास किया है। आर्यसमाजी लेखकों द्वारा राष्ट्रभाषा समस्या पर लिखे गए साहित्य की चर्चा करना आवश्यक है। १८८२ ई० में लाहौर के लाला जीवनदास ने उर्दू में एक पुस्तक लिखी जिसका शीर्षक था 'हमारी देसी जुबान'। लेखक ने इसमें हिन्दी को कौमी जबान के रूप में स्वीकार करने की पुरजोर हिमायत की है। उसी युग के लाला द्वारकादास आर्यसमाज के धुरीण नेता तथा गम्भीर विचारक थे। उन्होंने हिन्दी वर्सस उर्दू (Hindi versus Urdu) लिखकर इन दोनों भाषाओं के प्रयोग एवं प्रचार के औचित्यानौचित्य की तर्कपूर्ण समीक्षा की। उस समय पंजाब में सर्वत्र उर्दू का ही प्रचलन था, किन्तु आर्यसमाज के द्वारा हिन्दी के पक्ष में प्रबल जनमत तैयार किया जा रहा था। उर्दू के अच्छे जानकार भी हिन्दी को अपने धर्म और संस्कृति की भाषा मानकर उसका समर्थन एवं प्रचार करते थे।

उसी युग में काशीनाथ वर्मा लिखित एक पुस्तक 'मातृभाषा की उन्नति किस

विधि करना योग्य है ?' का भी पता चलता है। यह बनारस से छपी थी। आर्यसमाज की हिन्दी सेवाओं का सम्मान करने की दृष्टि से ही गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य महात्मा मुंशीराम को हिन्दी साहित्य सम्मेलन के भागलपुर अधिवेशन का अध्यक्ष चुना गया। १९७० वि० में सम्पन्न हुए इस समारोह की अध्यक्षता करते हुए महात्माजी ने जो भाषण दिया था वह मुद्रित रूप में उपलब्ध है। इसमें अधिवेशन के अध्यक्ष ने राष्ट्रभाषा की समस्या पर व्यापक सन्दर्भों में विचार किया है तथा जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में हिन्दी को अपनाने पर बल दिया है। यह व्याख्यान 'मातृभाषा का उद्धार' शीर्षक से १९१६ ई० में छपा था। हिन्दी तथा उर्दू के प्रश्न पर आर्यसमाज लखनऊ के सभासद पण्डित बलभद्र मिश्र ने भाषा-दीपिका पुस्तक लिखी जो १८८३ ई० में प्रकाशित हुई थी।

गुरुकुल काँगड़ी के तेजस्वी स्नातक तथा अपने युग के अप्रतिम वक्ता पण्डित चन्द्रगुप्त वेदालंकार ने 'राष्ट्रभाषा क्या हो ?' शीर्षक पुस्तक में हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्थान दिये जाने का प्रबल समर्थन किया था। इसी गुरुकुल के एक अन्य विद्वान् स्नातक पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने 'हमारी राष्ट्रभाषा और लिपि' शीर्षक एक पुस्तक लिखकर राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी तथा राष्ट्रलिपि के रूप में नागरी को अपनाए जाने पर बल दिया। १९४८ ई० में प्रकाशित इस पुस्तक में विभिन्न भारतीय भाषाओं से हिन्दी की तुलना कर लेखक ने यह सिद्ध किया था कि अधिकांश भारतीय भाषाएँ भी हिन्दी की ही भाँति संस्कृतनिष्ठ हैं और नवीन शब्द-निर्माण के लिए भी वे संस्कृत से ही सहायता लेती हैं। अतः राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार करना औचित्यपूर्ण ही है। सार्वदेशिक सभा ने इस पुस्तक के दो संस्करण (१९४८ तथा १९६५) प्रकाशित किये। वैदिक संस्थान बालावाली (जिला बिजनौर) से 'हमारी राष्ट्र-भाषा और उसके कुछ महत्त्वपूर्ण पहलू' शीर्षक एक निबन्ध-संग्रह १९६८ ई० में प्रकाशित हुआ। जैसाकि नाम से ही विदित होता है, इन निबन्ध-लेखकों ने हिन्दी भाषा तथा उसकी समस्याओं पर अनेक पहलुओं से विचार किया है। पिण्डीदास ज्ञानी लिखित 'हमारी मातृभाषा हिन्दी और आगामी जनगणना' शीर्षक पुस्तक १९७१ से सम्पन्न हुई जनगणना को समक्ष रखकर लिखी गई थी। ज्ञानीजी के विचारानुकूल पंजाब के हिन्दुओं को जनगणना में अपनी मातृभाषा हिन्दी ही लिखानी चाहिए।

चौदहवाँ अध्याय

आर्यसमाज का जीवनी साहित्य

(१) आर्य महापुरुषों के जीवनचरित

संसार के महापुरुषों के सहस्रों जीवनचरित विश्व की विभिन्न भाषाओं में लिखे गये हैं तथा लिखे जा रहे हैं। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द के विभिन्न भाषाओं में लिखे गए जीवनचरितों का उल्लेख हम पूर्व अध्याय में कर चुके हैं। यहाँ आर्यसमाजी लेखकों द्वारा लिखे गए आर्यसमाजस्थ तथा आर्यसमाजेतर महापुरुषों के जीवनचरितों का विशेष रूप में उल्लेख किया जा रहा है।

दण्डी विरजानन्द के जीवनचरित—वैयाकरण मूर्धन्य, आर्ष प्रज्ञा के पुनरुद्धारक, प्रज्ञाचक्षु दण्डी विरजानन्द के जीवनविषयक तथ्यों का प्रथम अन्वेषण स्वामी दयानन्द की जीवनी के लेखन के प्रसंग में पण्डित लेखराम ने ही किया था। १८९७ ईसवी में जब पण्डित लेखराम संगृहीत स्वामीजी का उर्दू जीवनचरित प्रकाशित हुआ तो उसके तृतीय खण्ड में दण्डी विरजानन्द की जीवनी भी संकलित की गई थी। हिन्दी में इसका स्वतन्त्र अनुवाद मुन्शी जगदम्बाप्रसाद ने किया जो सर्वप्रथम १८९९ ईसवी में प्रकाशित हुआ। पुस्तकाकार प्रकाशित होने वाली दण्डीजी की यही प्रथम जीवनी थी। पं० शंकरदत्त शर्मा ने मुरादाबाद से इसका एक अन्य संस्करण १९१३ ई० में प्रकाशित किया।

स्वामी दयानन्द के जीवनचरित के प्रमुख गवेषक पण्डित देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने गुरु विरजानन्द के जीवन के अन्वेषण में भी पर्याप्त समय एवं शक्ति लगाई थी। इस कार्य के लिए वे मथुरा गये तथा दण्डीजी के अनेक शिष्यों से भेंट कर विरजानन्द तथा उनके तेजस्वी शिष्य दयानन्द के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ एकत्रित कीं। कालान्तर में उन्होंने दण्डीजी का एक विस्तृत जीवनचरित बंगला में लिखा। मुखोपाध्यायजी द्वारा लिखी गई विरजानन्द की यह जीवनी उनकी अन्तिम कृति थी। यद्यपि यह ग्रन्थ बंगला में लिखा गया था, किन्तु उसका हिन्दी अनुवाद ही प्रकाशित हो सका। १९१७ ई० में मुखोपाध्यायजी की मृत्यु हो जाने के कारण इस ग्रन्थ का बंगला संस्करण अप्रकाशित ही रह गया। विरजानन्दचरित का हिन्दी अनुवाद पण्डित घासीराम ने किया है, जिसका प्रथम बार प्रकाशन १९१९ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त द्वारा किया गया। देवेन्द्रनाथ ने पण्डित लेखराम द्वारा दण्डीजी के सम्बन्ध में उल्लिखित कतिपय बातों का खण्डन किया है। उन्होंने सिद्ध किया है कि दण्डीजी की पाठशाला में स्वामी दयानन्दजी द्वारा झाड़ू लगाने, दण्डजी के लिए यमुना से जल लाने, क्रुद्ध होकर दण्डीजी द्वारा स्वामीजी को शारीरिक दण्ड देने, भट्टोजि दीक्षित की प्रतिमा तथा सिद्धान्तकौमुदी की पुस्तक पर विद्यार्थियों से जूते लगवाने आदि की कथित घटनायें कपोलकल्पित हैं। अस्तु, कुछ भी हो, यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि दण्डीजी के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में प्रारम्भिक

अनुसन्धान करने का श्रेय पण्डित लेखराम तथा पण्डित देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय को ही है। यदि ये महानुभाव इस क्षेत्र में कार्य नहीं करते तो स्वामी दयानन्द की ही भाँति उनके यशस्वी विद्यागुरु का जीवनवृत्तान्त भी अप्रकाशित ही रह जाता।

कालान्तर में हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में विरजानन्द के जो जीवनचरित लिखे गये, वे पण्डित लेखराम अथवा मुखोपाध्याय महाशय द्वारा संगृहीत तथ्यों पर ही आधारित थे। इनमें स्वामी वेदानन्द तीर्थ लिखित जीवनचरित विशेषतया उल्लेखनीय है। लेखक ने ग्रन्थ की उत्थानिका में दण्डी विरजानन्द के आविर्भाव-काल की देशदशा का सांगोपांग चित्रण करते हुए उन परिस्थितियों को विस्तारपूर्वक वर्णित किया है जो उस समय भारत में व्याप्त थीं। लेखक की भाषा और शैली में ओज एवं प्रवाह है, इसीके कारण यह ग्रन्थ आर्यसमाज के जीवनी-साहित्य में विशिष्ट महत्त्व प्राप्त कर सका है। यह ग्रन्थ प्रथम वार २०११ वि० में वैदिक साहित्य सदन दिल्ली से प्रकाशित हुआ। मधुर प्रकाशन दिल्ली तथा विरजानन्द शोध संस्थान गाजियाबाद ने भी इसे प्रकाशित किया।

स्वामी विरजानन्द के जीवन एवं व्यक्तित्व पर एक बार पुनः गम्भीर अनुसन्धान करने का श्रेय कोटा-निवासी स्वर्गीय पण्डित भीमसेन शास्त्री को है। शास्त्रीजी ने दण्डीजी के जीवनविषयक प्राप्त उपादानों की गहरी छानबीन की तथा अनेक नवीन उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर 'विरजानन्दप्रकाश' शीर्षक एक खोज़पूर्ण जीवनचरित लिखा। इसका प्रथम वार प्रकाशन दयानन्द दीक्षाशताब्दी के अवसर पर २०१६ वि० में हुआ। पण्डित भीमसेन शास्त्री को अपने इस ग्रन्थ के लिए दण्डीजी के शिष्य पण्डित उदयप्रकाश के पुत्र पण्डित मुकुन्ददेव लिखित स्वामी विरजानन्द की एक हस्तलिखित जीवनी से पर्याप्त सहायता मिली थी। इस हस्तलिखित सामग्री के अवलोकन के अतिरिक्त शास्त्रीजी ने स्वयं मथुरा, अलवर, हाथरस, मुरसान, सोरों आदि स्थानों का भ्रमण कर अपने चरितनायक के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण जानकारियाँ प्राप्त कीं। ये वे स्थान थे जहाँ दण्डीजी ने अपने जीवन की अनेक घड़ियाँ बिताई थीं। ऐतिहासिक तथ्यों की गवेषणा की दृष्टि से विरजानन्दप्रकाश का महत्त्व निर्विवाद है।

उर्दू, गुजराती तथा अंग्रेजी में भी दण्डीजी के अनेक जीवनचरित लिखे गये हैं। श्री सरबदयाल लिखित उर्दू जीवनी 'स्वानेह उमरी श्री स्वामी विरजानन्द सरस्वती' लाहौर से १९०२ ई० में प्रकाशित हुई थी। वाला भाई जमनादास वैश्य ने १९०५ ई० में गुजराती में दण्डीजी का जीवनचरित प्रकाशित किया। हरविलास शारदा लिखित अंग्रेजी जीवनचरित १९४४ ई० में वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रकाशित हुआ।

दयानन्द की ही भाँति विरजानन्द के जीवन को भी अनेक कवियों ने अपने काव्य का आधार बनाया है। श्री विद्याभूषण विभु ने विरजानन्द-विजय काव्य का प्रणयन किया जो दयानन्द-जन्म-शताब्दी के अवसर पर १९८१ वि० में प्रकाशित हुआ। एक अन्य कवि श्री सन्तलाल दाधिमथ ने 'श्रीमद्विरजानन्ददर्शन' नामक ९ सर्गों में निबद्ध काव्य लिखा जो सरस्वती सदन लुधियाना से १९८२ ई० में प्रकाशित हुआ। संस्कृत में महाकवि मेधाव्रताचार्य ने 'ब्रह्मर्षि विरजानन्दचरितम्' नाम का दश सर्गात्मक काव्य लिखा। पण्डित वेदव्रत भाष्याचार्य लिखित हिन्दी टीका सहित इस काव्य को विश्वम्भर वैदिक पुस्तकालय गुरुकुल झज्जर ने २०१२ वि० में प्रकाशित किया था। दण्डीजी के जीवन को लेकर अन्य भी छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखी गई हैं। स्थानाभाव से इन सबका विवरण

देना सम्भव नहीं है।

आर्यसमाज के महापुरुषों के जीवनचरित-साहित्य के विवेचन के प्रसंग में हम प्रथम स्वामी श्रद्धानन्द, पण्डित लेखराम, पण्डित गुरुदत्त तथा महात्मा हंसराज की जीवनियों का परिचय प्रस्तुत करेंगे। तत्पश्चात् अन्य जीवनचरितों का उल्लेख किया जाएगा।

स्वामी श्रद्धानन्द का जीवनचरित वाङ्मय—आर्यसमाज के इतिहास में स्वामी दयानन्द के पश्चात् सर्वाधिक कीर्ति, प्रतिष्ठा एवं सम्मान अर्जित करनेवाले स्वामी श्रद्धानन्द थे। नाना दुर्व्यसनों, बुराइयों तथा कल्मषयुक्त कृत्यों से परिपूर्ण जीवन व्यतीत करनेवाला अधोगामी पुरुष भी दृढ़संकल्प तथा ऊर्ध्वगामी प्रवृत्तियों को विकसित करने की प्रबल इच्छा लेकर किस प्रकार 'कल्याण मार्ग का पथिक' बन सकता है, यह स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन से भली-भाँति प्रकट होता है। यों तो स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने जीवन की प्रमुख घटनाओं को स्वरचित आत्मकथा 'कल्याण-मार्ग का पथिक' में वर्णित किया ही था, किन्तु उनके बलिदान (२३ दिसम्बर १९२६ ई०) के पश्चात् ही स्वामीजी के जीवनचरित-लेखन के कुछ गम्भीर एवं सार्थक प्रयास हुए।

हमारी जानकारी के अनुसार हिन्दी में स्वामी श्रद्धानन्द के लगभग दो दर्जन छोटे-बड़े जीवनचरित प्रकाशित हुए हैं। इनमें निम्न महत्त्वपूर्ण हैं—पण्डित रामगोपाल विद्यालंकार लिखित 'वीर संन्यासी श्रद्धानन्द' (गोविन्दराम हासानन्द कलकत्ता से १९२९ ई० में प्रकाशित); स्वामी श्रद्धानन्द, पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार लिखित तथा विजय पुस्तक भण्डार दिल्ली से १९३३ ई० में प्रकाशित; स्वामीजी के पुत्र पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति लिखित संस्मरणात्मक जीवनचरित 'मेरे पिता' (वाचस्पति पुस्तक भण्डार दिल्ली से १९५७ ई० में प्रकाशित)। वस्तुतः पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार ने ही स्वामी श्रद्धानन्द के जीवनचरित को पूर्ण तैयारी, तत्परता तथा परिश्रमपूर्वक लिखा था। खेद है कि इस उपयोगी ग्रन्थ को दूसरा संस्करण देखना भी नसीब नहीं हुआ।

महापुरुषों के उदात्त एवं अनुकरणीय जीवनादर्शों से कविगण सदा से ही प्रेरणा लेते आये हैं। स्वामी श्रद्धानन्द जैसे त्यागी, बलिदानी तथा मानवता की सेवा के लिए समर्पित संन्यासी के जीवन को लक्ष्य बनाकर जिन कवियों ने काव्य रचनाएँ कीं, उनका उल्लेख भी आवश्यक है। हमारी जानकारी के अनुसार इस क्षेत्र में प्रथम, कुंमार मनोहरसिंह ने 'अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्दजी का शाखा' (साका) आल्हा छन्द में लिखा जो अजमेर से १९२७ ई० में छपा। रामसिंहासन तिवारी (स्वामी श्रद्धानन्द—दैहिक बलिदान), हीरालाल सूद (श्रद्धांजलि), लोकनाथ तर्कवाचस्पति (श्रद्धांजलि) तथा प्रकाशचन्द्र कविरत्न (स्वामी श्रद्धानन्द गुणगान) आदि कवियों की काव्य-रचनाएँ भी स्वामीजी को लेकर ही लिखी गई हैं। पण्डित बृहद्वल शास्त्री लिखित 'श्रद्धानन्द चित्र-काव्य' सम्भवतः संस्कृत में लिखा गया था। पारसी नाटकों की शैली में टाटाचार्य शैदा तथा किशनचन्द ज़ेबा ने स्वामी श्रद्धानन्द के जीवन पर आधारित दो नाटक लिखे हैं। शैदा का नाटक 'तेज' (दिल्ली) के ५ फरवरी १९२७ को प्रकाशित शहीद अंक में प्रकाशित हुआ था। इसे द्वारकाप्रसाद अत्तार शाहजहाँपुर ने पुस्तक रूप में छापा। किशनचन्द जेबा का नाटक 'शहीद संन्यासी' लाजपतराय एण्ड संस लाहौर से १९२७ ई० में छपा था।

स्वामी श्रद्धानन्द का बलिदान असामान्य परिस्थितियों में हुआ था। मुसलमानों

द्वारा हिन्दुओं के निर्बाध रूप में मत-परिवर्तन के प्रतिकार में जब स्वामी श्रद्धानन्द ने मलकाना मुसलमानों को हिन्दू धर्म में सम्मिलित करने हेतु शुद्धि-चक्र का प्रवर्तन किया तो कट्टरपंथी मुसलमानों की नींद हराम हो गई और सम्प्रदायवादी मुल्ला, मौलवी स्वामीजी के विरुद्ध फतवे देने लगे।

स्वामी श्रद्धानन्द का व्यक्तित्व आर्यसमाज के सीमित क्षेत्र से बाहर निकलकर राष्ट्रव्यापी आयाम ग्रहण कर चुका था। शुद्धि, संगठन, शिक्षा तथा कांग्रेस एवं हिन्दू महासभा के माध्यम से विभिन्न सार्वजनिक प्रवृत्तियों में खुलकर भाग लेनेवाले स्वामीजी को देश का बच्चा-बच्चा जानने लगा था। अतः हिन्दी से भिन्न गुजराती, तमिल तथा बंगला में भी उनके अनेक जीवनचरित लिखे गये। गुजराती में श्री दिनेश त्रिवेदी लिखित 'हुतात्मा श्रद्धानन्द की पुण्यकथा' १९२८ ई० में प्रकाशित हुई। अमृतलाल सेठ तथा ककल भाई कोठारी ने स्वामीजी के लघु जीवन-चरित गुजराती में लिखे तथा गुजरात के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री झवेरचन्द मेघाणी ने स्वामीजी की आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' का गुर्जर भाषानुवाद किया। एम० आर० जम्बुनाथन तथा श्री रमेशचन्द्र बंद्योपाध्याय ने क्रमशः तमिल तथा बंगला में जीवनचरित लिखे।

स्वामी श्रद्धानन्द के प्रथम अंग्रेजी जीवनी-लेखक प्रो० दीवानचन्द शर्मा थे जिन्होंने Makers of the Arya Samaj ग्रन्थमाला के प्रथम भाग में स्वामी श्रद्धानन्द तथा महात्मा हंसराज के जीवन को ग्रथित किया। मैकमिलन एण्ड कम्पनी ने १९३५ ई० में इसे लन्दन से प्रकाशित किया था। एम० आर० जम्बुनाथन ने स्वामीजी की आत्मकथा का संक्षिप्त अंग्रेजी अनुवाद भी किया था जिसे भारतीय विद्या भवन बम्बई ने १९६१ ई० में प्रकाशित किया। कुछ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध आस्ट्रेलियन विद्वान् डॉ० जे० टी० एफ० जॉर्डन्स ने स्वामी श्रद्धानन्द की एक गवेषणापूर्ण जीवनी अंग्रेजी में लिखी थी जिसे ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस दिल्ली ने १९८१ ई० में प्रकाशित किया। उर्दू में स्वामीजी के अनेक जीवनचरित लिखे गये हैं। नानकचन्द 'नाज़' लिखित 'खून ए दर्वेश' (संन्यासी का खून) १९२७ ई० में लाहौर से छपा था। इसी बीच जब स्वामीजी ने असगरी बेगम को शुद्ध कर उसे 'शान्तिदेवी' का नाम दे दिया तो मुसलमानों का आक्रोश पराकाष्ठा पर पहुँच गया। फलतः हत्यारे अब्दुलरशीद ने स्वामीजी की पुण्य-काया को अपनी पिस्तौल का निशाना बना दिया। यद्यपि स्वामी श्रद्धानन्द की राष्ट्रभक्ति तथा हिन्दू-मुसलमानों की परस्पर मैत्री में उनकी प्रगाढ़ आस्था को लेकर देशवासियों में किसी भी प्रकार का वैमत्य नहीं था, किन्तु मुस्लिम साम्प्रदायिकता की तुष्टिकरण की नीति पर चलने वाली कांग्रेस ने स्वामीजी के शुद्धि-कार्य को कभी प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखा। स्वामीजी के बलिदान के पश्चात् राजस्थान के कांग्रेसी कार्यकर्ता पण्डित हरिभाऊ उपाध्याय ने 'स्वामीजी का बलिदान और हमारा कर्त्तव्य' शीर्षक एक पुस्तक लिखी। इसमें यद्यपि लेखक ने स्वामी श्रद्धानन्द के शुद्धिविषयक कार्यों की आलोचना तो नहीं की, किन्तु उसने प्रकारान्तर से आर्यों को सावधान अवश्य किया कि कहीं स्वामीजी के बलिदान से उत्पन्न परिस्थितियों के कारण साम्प्रदायिक वैमनस्य का वातावरण न बन जाय। पण्डित देवेश्वर सिद्धान्तालंकार ने स्वामीजी की हत्या के लिए अन्य धर्मों के प्रति इस्लाम के असहिष्णुतापूर्ण रवैये को उत्तरदायी ठहराया था। इस विषय में महात्मा गांधी से जो उनका पत्र-व्यवहार हुआ, उसको उद्धृत करते हुए उन्होंने 'स्वामी श्रद्धानन्द की हत्या और इस्लाम की शिक्षा'

नामक पुस्तक लिखी।

पण्डित लेखराम आर्य मुसाफिर के जीवनचरित—आर्यसमाज के प्रारम्भकालीन महापुरुषों में पण्डित लेखराम का व्यक्तित्व सर्वथा निराला दिखाई देता है। पुलिस-विभाग में एक साधारण कर्मचारी के रूप में अपना जीवन आरम्भ करनेवाला यह व्यक्ति स्वधर्म-निष्ठा, कर्त्तव्य-भावना, तथा अपने गुरु स्वामी दयानन्द के लक्ष्य की पूर्ति की आकांक्षा लेकर सार्वजनिक जीवन में उतर पड़ता है। एक आततायी के प्रहार से मृत्यु वरण करनेवाले लेखराम को भी जीवन में दीर्घकाल तक धर्म-प्रचार-कार्य करने का अवसर नहीं मिला था। मार्च १८९७ ई० में उन्होंने संसार से प्रस्थान किया और उसी वर्ष उनके जीवन एवं बलिदान पर उर्दू में अनेक लघु ग्रन्थ प्रकाशित हुए। 'लेखराम का कत्ल' पं० ताराचन्द द्वारा उर्दू पद्यों में लिखा गया। लाला लाभचन्द ने पण्डित लेखराम की शहादत को 'आर्यसमाज का दूसरा बलिदान' बताया तो करनाल के लाला बनवारीलाल ने उसे 'धर्म पर सच्चे बलिदान' की संज्ञा दी। दिल्ली के हरगोविन्दप्रसाद निगम ने 'हाय लेखराम' शीर्षक शोकांजलि ४ अप्रैल १८९७ ई० को अर्पित की। लाला जमनादास (कालान्तर में पं० जैमिनि मेहता के नाम से प्रसिद्ध विश्वभ्रमणकर्ता आर्य उपदेशक) ने पण्डित लेखराम और अहमदिया सम्प्रदाय के मिर्जा गुलामअहमद के शास्त्रार्थ-प्रसंगों को लेकर कुछ पुस्तकें उर्दू में लिखीं। स्वामी दर्शनानन्द ने पण्डित लेखराम की हत्या को 'उन्नीसवीं सदी का सच्चा बलिदान' बताया। पण्डित लालताप्रसाद अग्निहोत्री ने स्वामी दर्शनानन्द की इस उर्दू पुस्तक का हिन्दी अनुवाद किया जो आर्य भास्कर प्रेस मुरादाबाद से १८९७ ई० में छपा।

हिन्दी में पण्डित लेखराम की सर्वाधिक प्रामाणिक तथा तथ्यपूर्ण जीवनी लाला मुन्शीराम (जिज्ञासु) ने लिखी थी। महात्मा मुन्शीराम पण्डित लेखराम के घनिष्ठ मित्र, सहयोगी कार्यकर्ता तथा तत्कालीन आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के प्रधान थे। उन्होंने पण्डित लेखराम के जीवन तथा उनके त्यागपूर्ण व्यक्तित्व को खुली पुस्तक की भाँति देखा था, अतः आर्यपथिक के जीवनचरित को लिखने का अधिकारी उनसे बढ़कर और कौन हो सकता था? 'आर्यपथिक लेखराम' शीर्षक यह जीवनी सर्वप्रथम जिज्ञासु उपहरण माला के अन्तर्गत १९७१ वि० में प्रकाशित हुई। इसके अन्य संस्करण भी अन्यान्य प्रकाशकों ने छापे हैं। स्वामी अनुभवानन्द शान्त ने आर्यपथिक ग्रन्थमाला के प्रथम खण्ड में पण्डित लेखराम का विस्तृत जीवन-वृत्तान्त लिखा है। स्टार प्रेस प्रयाग से यह ग्रन्थ १९७४ वि० में छपा। पण्डित लेखराम के अन्य जीवनी-लेखकों में पण्डित गोकुलचन्द्र दीक्षित, पण्डित सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी, पण्डित गणेशदत्त शर्मा गौड़ 'इन्द्र', पण्डित त्रिलोकचन्द्र विशारद, पण्डित रघुनाथप्रसाद पाठक आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ वर्ष पूर्व आर्यसमाज के प्रसिद्ध शोध-विद्वान् प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु ने 'रक्तसाक्षी लेखराम' नामक एक खोजपूर्ण जीवनी लिखी थी जिसे आर्य प्रकाशन दिल्ली ने २०३३ वि० में प्रकाशित किया था।

उर्दू में पण्डित लेखराम विषयक कुछ अन्य कृतियाँ भी लिखी गईं। इनमें 'धर्मवीर की लासानी कुर्बानी' (शेरसिंह आर्योपदेशक) 'हकोबतिल का फैसला' (मौलाना इनायतुल्ला चिश्ती) तथा श्री मेलाराम बर्क लिखित 'पण्डित लेखराम का मुख्तसर जीवनचरित' उल्लेखनीय हैं। हिन्दी में पण्डित बाबूराम शर्मा ने 'धर्म बलिदान' (पथिक वियोग) शीर्षक

'आल्हा शैली' का काव्य लिखकर आर्यपथिक को पद्यबद्ध श्रद्धांजलि अर्पित की है। १८९८ ई० में इसका प्रथम संस्करण छपा। १९१२ ई० तक इसके सात संस्करण प्रकाशित हो चुके थे, जो इस काव्य की लोकप्रियता के परिचायक हैं।

पं० गुरुदत्त विद्यार्थी के जीवनचरित—आर्यसमाज के प्रारम्भिक विद्वानों में पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी सर्वाधिक प्रतिभा एवं कार्यक्षमता-सम्पन्न थे। उनकी बौद्धिक शक्तियाँ जितनी प्रखर एवं तेजस्विनी थीं, उनकी कर्मठता तथा कार्यशक्ति भी उतनी ही अदम्य तथा निर्बाध थी। यद्यपि पण्डित गुरुदत्त दीर्घ जीवन प्राप्त नहीं कर सके, किन्तु स्वल्प काल में ही उन्होंने आर्यजगत् में अपनी विद्वत्ता, कार्यक्षमता तथा सामाजिक सेवाओं के कारण महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया था। १८८९ ई० में केवल २६ वर्ष की आयु में ही पण्डित गुरुदत्त का निधन हो गया। दो वर्ष पश्चात् १८९१ ई० में उनके सहपाठी तथा मित्र लाला लाजपतराय ने The Life of Pt. Gurudatta Vidyarthi शीर्षक एक सुन्दर जीवनचरित लिखा जो विरजानन्द प्रेस लाहौर से छपा। हिन्दी, उर्दू, गुजराती तथा अंग्रेजी में भी उनके कुछ अन्य जीवनचरित छपे हैं। डॉ० रामप्रकाश लिखित 'पं० गुरुदत्त विद्यार्थी—जीवन एवं व्यक्तित्व' विशेष परिश्रम तथा गवेषणा के पश्चात् लिखा गया है। यह १९६९ ई० में प्रकाशित हुआ था। प्रो० दीवानचन्द शर्मा ने The Makers of Arya Samaj शीर्षक ग्रन्थमाला में पण्डित गुरुदत्त तथा पण्डित लेखराम का जीवनचरित एक ही जिल्द में लिखा। इसे मैकमिलन एण्ड कम्पनी लन्दन ने १९३५ ई० में प्रकाशित किया था। आर्यसमाज लाहौर के प्रथम उपप्रधान लाला जीवनदास पैंशनर ने The Complete Works of Pandit Gurudatta शीर्षक स्व-सम्पादित ग्रन्थ के आरम्भ में Biographical Sketch के अन्तर्गत पण्डित गुरुदत्त की एक संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित जीवनी प्रस्तुत की है।

महात्मा हंसराज के जीवनचरित—आर्यसमाज की शिक्षा-नीति को निर्धारित करने तथा स्वामी दयानन्द के स्मारक रूप में स्थापित डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर का सुचारु रूप से संचालन करने के कारण महात्मा हंसराज की गणना आर्यसमाज के युग-पुरुषों में की जाती है। अपने गम्भीर किन्तु लोकोपकार-प्रवण चरित के कारण वे श्वेत वस्त्रों में वीतराग संन्यासी की संज्ञा प्राप्त कर चुके थे। अब तक महात्मा जी के छोटे-बड़े अनेक जीवनचरित प्रकाशित हुए हैं। उनके जीवनकाल में ही पण्डित सत्यव्रत शर्मा द्विवेदी लिखित 'त्यागमूर्ति महात्मा हंसराज' शीर्षक जीवनचरित के० सी० भल्ला प्रयाग द्वारा १९१७ ई० में प्रकाशित किया गया था। किन्तु उनकी सर्वांगपूर्ण जीवनी लिखने का श्रेय उन्हीं के साथी, सहयोगी और कालान्तर में उत्तराधिकारी महाशय खुशहालचन्द 'खुर्सन्द' को है। यह जीवनी 'महात्मा हंसराज—जीवन तथा जनसेवा की कहानी' शीर्षक से आर्य प्रादेशिक सभा ने १९४६ ई० में लाहौर से प्रकाशित की थी। प्रिंसिपल दीवानचन्द ने उनका एक अन्य जीवनचरित लिखा जो नानकचन्द वजीरदेवी ट्रस्ट, कानपुर से १९६५ ई० में प्रकाशित हुआ। अंग्रेजी में प्रिंसिपल श्रीराम शर्मा ने १९४१ में Mahatma Hans Raj : The maker of modern Punjab. शीर्षक जीवनचरित लिखा है। इसके लिए लेखक ने प्रयत्नपूर्वक तथ्यों को जुटाया तथा महत्त्वपूर्ण सामग्री का संग्रह किया था। महात्मा हंसराज की जन्मशताब्दी के अवसर पर १९६५ में आर्य प्रादेशिक सभा ने इसका एक संक्षिप्त संस्करण भी प्रकाशित किया था। इसी वर्ष (१९८६ ई० में) महात्मा

हंसराजजी के जीवन और कर्तृत्व पर गोविन्दराम हासानन्द द्वारा प्रकाशित ग्रन्थावली प्रो० राजेन्द्र 'जिज्ञासु' ने सम्पादित करके सचमुच श्लाघनीय कार्य कर दिखाया है।

(२) आर्यसमाज के प्रमुख संन्यासियों के जीवनचरित

आर्यसमाज की विचारधारा के प्रचार एवं प्रसार में संन्यासी वर्ग का उल्लेखनीय योगदान रहा है। विगत सौ वर्षों में आर्यसमाज के अनेक संन्यासियों ने धर्म, समाज, राष्ट्र तथा मानवता के हित के लिए जो कार्य किये हैं उनका एक गौरवपूर्ण इतिहास निर्मित हो गया है। यहाँ आर्यसमाज के कतिपय महान् संन्यासियों के जीवनचरितों का विवरण दिया जा रहा है—

स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती—स्वामी दयानन्द के विचारों का प्रसार करने में स्वामी दर्शनानन्द का कृतित्व अनेक दृष्टियों से अप्रतिम रहा है। वे शास्त्रार्थ-समर के कुशल नायक तो थे ही, ग्रन्थ-लेखक के रूप में भी उन्होंने ख्याति अर्जित की। उनके द्वारा किये गये विभिन्न दर्शनों के भाष्य तथा सैकड़ों ट्रैक्ट आर्यसमाज के स्वाध्यायशील लोगों के लिए बौद्धिक खाद्य सामग्री प्रस्तुत करते रहे हैं। आगरा के पण्डित श्रीराम शर्मा ने स्वामी दर्शनानन्द का जीवनचरित 'दर्शनानन्ददर्शन' विशेष परिश्रमपूर्वक लिखा है। पण्डित नरदेव शास्त्री तथा डॉ० भवानीलाल भारतीय लिखित जीवनचरित संक्षिप्त हैं।

स्वामी नित्यानन्द ब्रह्मचारी—स्वामी नित्यानन्द ब्रह्मचारी के जीवन-वृत्तान्त को अजमेर के ब्रह्मदत्त सोढा ने लिपिबद्ध किया था। सेठ रणछोड़दास भवान ने इसे १९१८ ई० में बम्बई से प्रकाशित किया, किन्तु लेखक के नाम का इसमें उल्लेख नहीं किया गया है। स्वामी नित्यानन्द की जन्मशताब्दी के वर्ष १९६० ई० में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध-संस्थान, होशियारपुर ने "स्वामी नित्यानन्द—जीवन और कार्य" शीर्षक ग्रन्थ का प्रकाशन किया। इसके लेखक श्री महेन्द्र कुलश्रेष्ठ थे।

महात्मा नारायण स्वामी के जीवनचरित—आर्यसमाज के संन्यासी-वर्ग में महात्मा नारायण स्वामी का आदरास्पद स्थान है। उन्होंने आर्यसमाज को सक्षम नेतृत्व प्रदान किया। वे उच्च कोटि के साधक, लेखक तथा उपदेशक भी थे। अपने जीवन-प्रसंगों को उन्होंने स्वलिखित आत्मकथा में अत्यन्त रोचक शैली में वर्णित किया है। उनके कुछ लघु जीवनचरित भी प्रकाशित हुए हैं जो पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय, श्री विश्वप्रकाश तथा पण्डित रघुनाथप्रसाद पाठक द्वारा लिखे गये हैं। पण्डित मेधाव्रताचार्य ने नारायण स्वामी के जीवन को संस्कृत काव्य "महात्ममहिममणिमंजूषा" (नारायणस्वामीचरितम्) में निबद्ध किया है। विश्वम्भर वैदिक पुस्तकालय ने इसे २०१४ वि० में प्रकाशित किया था।

स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी के जीवनचरित—आर्यसमाज के लौहपुरुष स्वामी स्वतन्त्रानन्द दृढ़ निष्ठा, दृढ़संकल्प, तथा वीर भावनाओं के साकार रूप थे। प्रोफेसर राजेन्द्र जिज्ञासु ने उनके जीवन-प्रसंगों को अत्यन्त परिश्रम तथा पर्याप्त तैयारी के साथ लिखा है। स्वामी जी के सम्बन्ध की विभिन्न घटनाओं तथा संस्मरणों का संग्रह कर उन्होंने इस विशालकाय जीवनी का लेखन किया तथा दयानन्द मठ दीनानगर ने इसे प्रकाशित किया। इसका प्रथम संस्करण १९६६ ई० में तथा परिवर्धित संस्करण १९७५ ई० में प्रकाशित हुआ। स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने भी स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी की एक संक्षिप्त जीवनी लिखी थी।

आर्य संन्यासियों के अन्य जीवनचरित—गुरुकुल काँगड़ी तथा गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में शास्त्रों का परिश्रमपूर्वक अध्यापनकार्य करनेवाले आचार्य गंगादत्त शास्त्री ने कालान्तर में संन्यास लेकर स्वामी शुद्धबोध तीर्थ का नाम ग्रहण किया था। उनका जीवनवृत्तान्त पण्डित नरदेव शास्त्री ने 'सचित्र शुद्धबोध' शीर्षक से लिखा जो गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर से १९९१ वि० में छपा। विदेशों में वैदिक धर्मप्रचार करनेवाले संन्यासियों में स्वामी शंकरानन्द तथा स्वामी भवानीदयाल संन्यासी के नाम उल्लेखनीय हैं। स्वामी शंकरानन्द जन्मना पंजाबी थे, किन्तु सौराष्ट्र के रजवाड़ों में उन्हें पर्याप्त सम्मान एवं प्रतिष्ठा प्राप्त थी। पण्डित श्रीकृष्ण शर्मा ने 'शंकरानन्द संन्यासी' शीर्षक उनका जीवनचरित लिखा था जो राजकोट से १९४० ई० में छपा। स्वामी भवानीदयाल द्वारा लिखित उनकी एक अन्य जीवनी 'शंकरानन्द संदर्शन' प्रवासी ग्रन्थमाला के अन्तर्गत १९४२ ई० में छपी। स्वामी भवानीदयाल मूलतः बिहार के निवासी थे, किन्तु दक्षिण अफ्रीका उनका प्रमुख कार्यक्षेत्र रहा। उनके दो सुन्दर जीवनचरित प्रेमनारायण अग्रवाल तथा राजबहादुरसिंह द्वारा लिखे गये हैं। प्रसिद्ध विद्वान् तथा लेखक स्वामी वेदानन्द तीर्थ के जीवनचरित-लेखन का कार्य उनके शिष्य ब्रह्मचारी जगदीश विद्यार्थी ने किया है। उनके एक अन्य शिष्य पण्डित सत्यानन्द शास्त्री ने भी उनके जीवन-विषयक तथ्यों का संग्रह कर ग्रन्थ-लेखन का कार्य आरम्भ किया है। स्वामी आत्मानन्द सरस्वती की बृहद् जीवनी स्वामी वेदानन्द वेदवागीश ने लिखी जो हरयाणा साहित्य संस्थान से २०२० वि० में प्रकाशित हुई। महात्मा आनन्द स्वामी का जीवनचरित उन्हीं के सुपुत्र श्री रणवीर ने लिखा था जो हिन्दी तथा उर्दू दोनों भाषाओं में गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली ने १९७३ ई० में प्रकाशित किया।

(३) आर्यसमाज के विद्वानों, नेताओं, उपदेशकों तथा अन्य महापुरुषों के स्फुट जीवनचरित

आर्यसमाज के कार्यकर्ताओं ने धर्म, समाज, राष्ट्र और अखिल मानवता के हित के लिए जो कार्य किये हैं, उन सबका समग्र रूप से मूल्यांकन करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। यह तो ठीक है कि किसी निश्चित क्षेत्र में ही अपनी कर्तृ शक्ति का प्रदर्शन करने के कारण ऐसे लोगों को चाहे राष्ट्रव्यापी ख्याति नहीं भी मिल सकी, किन्तु यह भी सत्य है कि जिस-जिस क्षेत्र में भी उन्होंने कार्य किया, उनका योगदान सर्वथा पूर्ण तथा श्लाघनीय रहा। यहाँ हम आर्यसमाज के कतिपय उन विद्वानों, नेताओं, उपदेशकों तथा कार्यकर्ताओं के जीवनचरितों का उल्लेख करेंगे जो विभिन्न क्षेत्रों में अपनी कर्तृत्व क्षमता की पूरी छाप छोड़ गये हैं। इनमें से अनेक जीवनी ग्रन्थ तो सर्वथा दुर्लभ और अप्राप्य हो गये हैं, अतः आर्यसमाज की नवीन पीढ़ी इन लोगों के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व से अपरिचित ही होती जा रही है।

योगी महात्मा कालूराम राजस्थान के शेखावाटी प्रदेश के निवासी थे। वे स्वामी दयानन्द के समकालीन थे और उन्होंने अपने प्रान्त के चूरू, सीकर, झुंझनू, जयपुर, नागौर आदि जिलों में व्यापक धर्मप्रचार कार्य किया। स्वामी कालूराम जी की एक संक्षिप्त जीवनी सेठ जयनारायण पोद्दार ने लिखकर १९६८ वि० में प्रकाशित की। डॉक्टर भवानीलाल भारतीय ने आर्यसमाज टमकोर की प्रेरणा से 'महात्मा कालूराम योगी'

शीर्षक जीवनचरित लिखा जो २०३१ वि० में छपा। डॉ० केशवदेव शास्त्री के अमेरिका प्रवास का वर्णन पण्डित रामनारायण मिश्र ने 'अमेरिका में डॉ० केशवदेव शास्त्री' पुस्तक में किया है। यद्यपि यह शास्त्रीजी की जीवनी नहीं है, परन्तु उनके अमेरिका में रहकर वैदिक धर्मप्रचार करने का विवरण प्रस्तुत करनेवाला संस्मरणप्रधान ग्रन्थ अवश्य है। उत्तर प्रदेश के आर्यनेता पण्डित भगवानदीन मिश्र की एक लघु जीवनी पण्डित व्रजमोहन झा ने लिखी जो आर्यसमाज हरदोई से १९७९ वि० में छपी। आर्यसमाज के महान् विद्वान् तथा शास्त्रार्थ-कला-निष्णात पण्डित तुलसीराम स्वामी की एक लघु जीवनी उनके अनुज पण्डित छुट्टनलाल स्वामी ने लिखी थी। विदेशों में वैदिक धर्म का प्रचार करनेवाले विश्वप्रचारक पण्डित जैमिनि मेहता के जीवनवृत्तान्त को श्रीराम भारती ने प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ १९३३ ई० में प्रेमी प्रेस मेरठ से प्रकाशित हुआ। शुद्धि और संगठन के कार्य में अपना सर्वस्व होम देनेवाले उत्तरप्रदेश के आर्य नेता ठाकुर माधवसिंह का जीवनचरित आगरा के प्रख्यात साहित्यकार पण्डित हरिशंकर शर्मा ने लिखा जो १९९० वि० में आर्यसमाज आगरा द्वारा छपा।

श्री महेशचन्द्र (सुपुत्र पण्डित आत्माराम अमृतसरी) ने अपने पिता राज्यरत्न मास्टर आत्माराम अमृतसरी तथा अजमेर के आर्य नेता, लेखक तथा कुशल कार्यकर्ता रावसाहब रामविलास शारदा की लघु जीवनियाँ लिखीं जो महेश पुस्तकालय अजमेर से छपीं। रामविलास शारदा के पुत्र देशभक्त कुँवर चाँदकरण शारदा की आर्यसमाज के प्रति सेवाएँ इतिहास में अंकित हो चुकी हैं। उनकी एक लघु जीवनी श्री सत्यदेव शास्त्री 'अशोक' ने लिखी थी। कालान्तर में शारदाजी की जीवनी-विषयक विशिष्ट सामग्री का संग्रह कर इन पंक्तियों के लेखक ने १९८१ ई० में एक अन्य जीवनचरित लिखा, जिसे परोपकारिणी सभा अजमेर ने प्रकाशित किया। राजस्थान के प्रमुख कार्यकर्ता और नेता पण्डित जियालाल का एक खोजपूर्ण जीवनचरित डॉ० सूर्यदेव शर्मा तथा सतीश वर्मा के संयुक्त लेखन में तैयार किया गया और आर्यसमाज अजमेर द्वारा १९६४ ई० में प्रकाशित हुआ।

आर्यसमाज के विद्वानों तथा उपदेशकों के भी कुछ महत्त्वपूर्ण जीवनचरित प्रकाशित हुए हैं, जिनमें से निम्न उल्लेख योग्य हैं—आचार्य रामदेव (पण्डित रामगोपाल विद्यालंकार), जीवनयात्रा (पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी की पण्डित जगदीश विद्यार्थी लिखित जीवनी), पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति (पण्डित सत्यकाम विद्यालंकार तथा पण्डित अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार के संयुक्त लेखन में लिखित), पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी (सुशीला देवी जौहरी), पण्डित गणपति शर्मा (जीवनीपरक विभिन्न लेखों का डॉ० भवानीलाल भारतीय द्वारा सम्पादन), पण्डित धर्मभिक्षु लखनवी (पण्डित धर्मभिक्षु जी की पत्नी श्रीमती सुभद्रादेवी द्वारा लिखित), पण्डित भोजदत्त जी का जीवनचरित (पण्डित छुट्टनलाल स्वामी)। इस सूची को और भी बढ़ाया जा सकता है।

आर्य कन्या महाविद्यालय जालन्धर के संस्थापक लाला देवराज का खोजपूर्ण जीवनचरित स्व० सत्यदेव विद्यालंकार ने लिखा था। विद्यालंकार जी ने प्रसिद्ध आर्य नेता और तेजस्वी पत्रकार महाशय कृष्ण का जीवनचरित भी लिखा जो 'जीवन संघर्ष' शीर्षक से १९६४ ई० में प्रकाशित हुआ। हरयाणा में आर्यसमाजरूपी विटप को अपने लहू से सींचने वाले भक्त फूलसिंह का जीवनचरित पण्डित विष्णुमित्र ने लिखा है।

हैदराबाद दक्षिण में धर्मप्रचार के लिए आत्मबलिदान करनेवाले हुतात्मा भाई श्यामलाल जी का प्रेरणाप्रद जीवनचरित श्री खण्डेराव एवं श्री कृष्णदत्त ने लिखा। आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्यदक्षिण ने इसे १९६४ ई० में प्रकाशित किया था।

आर्यसमाज में ऐसे महापुरुषों की भी कभी नहीं रही है जिन्होंने देश की स्वतन्त्रता के लिए अनेक प्रकार के बलिदान किये हैं। अमरशहीद रामप्रसाद बिस्मिल ने आर्यसमाज की दीक्षा लेकर ही मातृभूमि की पराधीनता की बेड़ियों को काटने की प्रतिज्ञा की थी। बिस्मिल की जीवनी श्री महावीर मीमांसक ने लिखी है। क्रान्तिकारी चेष्टा के आद्य-प्रवर्तक तथा महान् देशभक्त पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा स्वामी दयानन्द के साक्षात् शिष्य थे। पण्डित श्यामजी का सर्वाधिक प्रामाणिक जीवनचरित अंग्रेजी में श्री इन्दुलाल याज्ञिक ने लिखा था। श्री हरविलास शारदा ने याज्ञिक लिखित जीवनचरित को ही आधार बनाकर एक अन्य जीवनचरित अंग्रेजी में लिखा, जो उनकी मृत्यु के पश्चात् १९५९ ई० में वैदिक यन्त्रालय अजमेर से छपा। इन पंक्तियों के लेखक ने श्यामजी कृष्ण वर्मा की एक प्रामाणिक जीवनी साहित्यिक शैली में लिखी है जिसे गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली ने १९८४ ई० में प्रकाशित किया है। देवतास्वरूप भाई परमानन्द की एक संक्षिप्त जीवनी पण्डित भगवानदेव शर्मा ने लिखी, जिसे सार्वदेशिक सभा ने प्रकाशित किया।

आर्यसमाज के प्रसिद्ध शोधविद्वान् प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु ने जीवनचरित के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। "रक्तसाक्षी चिरंजीवलाल" शीर्षक जीवनी में उन्होंने आर्यसमाज के प्रारम्भिक युग के एक अल्पज्ञात प्रचारक का जीवनवृत्त निबद्ध किया है। "एक मनस्वी जीवन" शीर्षक से उन्होंने शास्त्रार्थ-महारथी पण्डित मनसाराम 'वैदिक तोप' की जीवनी लिखी तो "व्यक्ति से व्यक्तित्व" शीर्षक से आर्यसमाज के विख्यात दार्शनिक लेखक पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय के जीवनचरित को ग्रन्थरूप दिया। प्रसिद्ध विद्वान् और वक्ता पण्डित मुरारीलाल शर्मा का जीवनचरित डा० हरिशंकर शर्मा तथा श्रीराम शर्मा ने संयुक्त रूप से लिखा था जो १९७२ ई० में दिल्ली से प्रकाशित हुआ।

नेपाल में आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करनेवाले लोगों में स्व० पण्डित शुक्रराज शास्त्री तथा उनके पिता पण्डित माधवराज जोशी का नाम प्रमुख रूप से लिया जाता है। पण्डित शुक्रराज शास्त्री ने तो आर्यसमाज के क्रान्तिकारी एवं प्रगतिशील विचारों को नेपाल के तानाशाही शासक राणाओं के अत्याचारों और स्वेच्छाचारपूर्ण कृत्यों का प्रतिकार करने के लिए प्रयुक्त किया, जिसका परिणाम उन्हें फाँसी के फन्दे के रूप में प्राप्त हुआ। शुक्रराज शास्त्री ने अपने पिता पण्डित माधवराज जोशी का जीवन-चरित लिखकर नेपाल के जड़ताग्रस्त समाज तथा धार्मिक अन्धविश्वासों की लीलास्थली इस देश में सामाजिक एवं धार्मिक चेतना को जागृत करनेवाले उक्त महापुरुष का विस्तृत जीवनवृत्त निबद्ध किया है। जब स्वयं शास्त्री जी ही राणाशाही की भेंट चढ़ गये तो उनके अनुज पण्डित वाक्पतिराज शास्त्री तथा बहिन चन्द्रकान्तादेवी ने उक्त ग्रन्थ को पूरा किया। नेपाल के विगत इतिहास तथा इस देश के रहस्यपूर्ण रीति-रिवाजों की तथ्यात्मक जानकारी देनेवाला यह ग्रन्थ काठमाण्डो से २०१५ वि० में प्रकाशित हुआ था। पण्डित शुक्रराज शास्त्री की एक संक्षिप्त जीवनी महात्मा अमर स्वामी ने भी लिखी है। इसे वैदिक धर्मसंघ गाजियाबाद ने २०२७ वि० में प्रकाशित किया था।

आर्य महिलाओं के जीवनी-लेखन के प्रयास तो नगण्य ही हैं। मेरठ में आर्य कन्या पाठशाला की प्रथम संस्थापिका श्रीमती ज्वालादेवी का जीवनचरित उर्दू में श्री जयराम शर्मा ने लिखा था। इसका अनुवाद श्री सन्तलाल उपदेशक ने किया। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने अपनी सहधर्मिणी श्रीमती कला देवी का जीवनवृत्तान्त लिखा जो १९५७ ई० में प्रकाशित हुआ।

आर्यसमाज के जीवनचरित-साहित्य के अन्तर्गत उन ग्रन्थों की गणना भी आवश्यक है जिनमें एकाधिक महापुरुषों के जीवन-वृत्तों का संग्रह किया गया। ऐसे ग्रन्थों की संख्या भी पर्याप्त है। कुछ ग्रन्थ तो ऐसे हैं जिनमें आर्यसमाज के साधु, संन्यासी, विद्वान्, नेता तथा उपदेशक वर्ग के महानुभावों के संक्षिप्त वृत्तान्त छात्रवर्ग की जानकारी के लिए सरल भाषा में लिखे गये हैं। जिस समय भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद् द्वारा संचालित धार्मिक परीक्षाओं के पाठ्यक्रम में आर्यसमाज के नेता एवं विद्वानों के जीवन-परिचय को सम्मिलित किया गया, तो आर्यसमाज के उज्ज्वल रत्न (जयदेव शर्मा विद्यालंकार), हमारे नेता (जीवानन्द शर्मा आनन्द), आर्यसमाज के जगमगाते हीरे (परमेश्वरीदयाल विद्यार्थी) आदि पुस्तकें इसी प्रयोजनवश लिखी गईं। वनवारीलाल सेवक ने आर्य सत्याग्रह (हैदराबाद) के सप्त महारथियों का जीवन लिखा तो स्वर्णसिंह महोपदेशक ने हैदराबाद के शहीदों की जीवन-गाथा लिपिबद्ध की। इस प्रसंग में स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी लिखित 'आर्यसमाज के महाधन' (सार्वदेशिक सभा द्वारा २०२४ वि० में प्रकाशित) का उल्लेख आवश्यक है। इसमें लेखक ने आर्यसमाज के उन ६५ हुतात्माओं के जीवन-वृत्तों का संकलन किया है जिन्होंने समय-समय पर स्वधर्म-रक्षार्थ अपने प्राणों की वलि दी।

आर्यसमाज के महापुरुषों के जीवन-वृत्तान्तों का संग्रह करने का एक अन्य प्रयास स्व० पण्डित देवप्रकाश जी ने किया था। 'आर्यसमाज के महापुरुषों के जीवन व कार्य' शीर्षक उनकी यह पुस्तक १९६६ ई० में प्रकाशित हुई। इसमें लेखक ने आर्यसमाज के साधु-संन्यासियों, लेखकों, उपदेशकों, विद्वानों, शास्त्रार्थकर्ताओं, नेताओं आदि विभिन्न वर्गों के लोगों का इतिवृत्त संकलित किया है। स्थान-संकोच के कारण वे स्वसंगृहीत समस्त सामग्री को इसमें नहीं दे सके हैं, तथापि आर्यसमाज के प्रख्यात अथवा अनेक अल्पज्ञात महापुरुषों के जीवनवृत्त की जानकारी के लिए इस ग्रन्थ की उपयोगिता निर्विवाद है। प्रिंसिपल दीवानचन्द ने अपने समकालीन अनेक आर्य पुरुषों के रोचक संस्मरण लिखे हैं जो उनकी पुस्तक 'आर्यसमाज के त्यागी व तपस्वी सन्त' में प्रकाशित हुए हैं। इसी प्रकार के अन्य ग्रन्थों में श्री रामचन्द्र जावेद लिखित 'आर्यसमाज के महापुरुष' पण्डित दीनानाथ सिद्धान्तालंकार लिखित 'आर्यसमाज के ज्योतिस्तम्भ,' अशोक कौशिक लिखित 'आर्यसमाज के सौ रत्न' आदि उल्लेखनीय हैं। आर्यसमाज के वलिदानी महापुरुषों की जीवनगाथा आचार्य भगवानदेव (स्वामी ओमानन्द सरस्वती) ने लिखी तो आर्य क्रान्तिकारियों का जीवन-परिचय श्री बनारसीसिंह ने दिया है। प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु ने प्रेरणा-कलश एवं अखण्ड ज्वाला शीर्षक पुस्तकों में आर्य पुरुषों के अनेक प्रेरणादायी संस्मरण तथा रोचक लघु प्रसंग संगृहीत किये हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने आर्यसमाज के वेदसेवक विद्वान्, आर्यसमाज के शास्त्रार्थ-महारथी तथा आर्यसमाज के पत्रकार (आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार का परिशिष्ट भाग) शीर्षक ग्रन्थों के विभिन्न क्षेत्रों में कार्य

करनेवाले आर्य पुरुषों के जीवन एवं कार्यों का निबन्धन किया है। आचार्य मेधाव्रत ने चारुचरितामृतम् ग्रन्थ संस्कृत में लिखा है। इसमें प्रमुख आर्य पुरुषों का जीवन-वृत्त वर्णित हुआ है। इसे कन्या गुरुकुल नरेला ने प्रकाशित किया।

(४) आर्यसमाज का आत्मकथा-साहित्य

जीवनी-साहित्य के अन्तर्गत आत्मकथाओं का विवेचन भी आवश्यक है। हिन्दी आत्मकथा-साहित्य पर शोध करनेवाले डॉ० विश्वबन्धु की धारणा के अनुसार स्वामी दयानन्द लिखित आत्मकथा को हिन्दी साहित्य की प्रथम आत्मकथा स्वीकार किया जाना चाहिए। स्वामी दयानन्द की आत्मकथा के सम्पादित एवं प्रकाशित संस्करणों की विस्तृत चर्चा हम यथास्थान कर चुके हैं। आर्यसमाज के अनेक महापुरुषों ने स्वजीवनवृत्त को स्वयं लिखकर आत्मकथा-साहित्य को समृद्ध बनाया है। भाई परमानन्द लिखित आत्मकथा 'भाई परमानन्द की आपबीती' राजपाल एण्ड सन्स लाहौर ने १९२१ ई० में प्रकाशित की। इसमें भाईजी के विदेशभ्रमण के अनुभव तथा कालापानी के दण्डस्वरूप अण्डमान टापू में पाँच वर्षों तक कारावास का जीवन व्यतीत करने की कथा भी है। आर्यसमाज के जीवनी-साहित्य में स्वामी श्रद्धानन्द की आत्मकथा—"कल्याण मार्ग का पथिक' विशिष्ट स्थान रखती है। इसका प्रथम प्रकाशन ज्ञानमण्डल काशी से १९८१ वि० में हुआ था। इसमें स्वामी श्रद्धानन्द ने अपने जीवन के समस्त उतार-चढ़ावों को नितान्त बेबाकी के साथ चित्रित किया है। नाना दुर्व्यसनों में आकण्ठ मग्न मुन्शीराम के जीवन में परिवर्तन की सुखद घड़ी कब और कैसे आई, इस प्रसंग का वर्णन करते हुए लेखक ने स्वामी दयानन्द के बरेली आगमन तथा वहाँ लाइब्रेरी मैदान में आयोजित उनके प्रभावशाली व्याख्यानों का रोचक वर्णन किया है। आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में लेखक की जो निर्णायक भूमिका रही है, उसे भी लेखक ने अत्यन्त निष्पक्ष भाव से लिखा है।

लाला लाजपतराय ने अपनी जीवनकथा मूलत: उर्दू में लिखी थी जिसका हिन्दी अनुवाद पण्डित भीमसेन विद्यालंकार ने किया। यह नवयुग-ग्रन्थमाला लाहौर के अन्तर्गत १९३२ ई० में प्रकाशित हुई थी। आर्यसमाज के कतिपय संन्यासियों ने भी अपने आत्मवृत्तान्त लिखे हैं जिनमें महात्मा नारायण स्वामी की आत्मकथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। पूर्व आश्रम के मुन्शी नारायणप्रसाद ने स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों के प्रति अनन्य निष्ठा, सेवाभाव, त्याग एवं तपस्या के कारण आर्यसमाज में अपना गौरवपूर्ण स्थान बना लिया था। संन्यासी बनकर वे नारायण स्वामी के नाम से विख्यात हुए। वर्षों तक सार्वदेशिक सभा के प्रधान के रूप में रहकर आर्य-जगत् का मार्गदर्शन करने के अतिरिक्त उन्होंने हैदराबाद सत्याग्रह तथा सिंध में सत्यार्थप्रकाश की जब्ती के विरुद्ध संचालित सत्याग्रह का नेतृत्व किया था। महात्माजी की कार्य-संकुल, व्यस्त जीवनचर्या आत्मकथा के प्रत्येक पृष्ठ से झाँकती प्रतीत होती है। अफ्रीका महाद्वीप में आर्यसमाज का प्रचार करनेवाले स्वामी भवानीदयाल संन्यासी की जीवनगाथा "प्रवासी की आत्मकथा" शीर्षक से छपी थी। स्वामी ब्रह्ममुनि तथा स्वामी वेदानन्द तीर्थ की संक्षिप्त आत्मकथाएँ "निज-जीवन-वृत्त-वनिका" तथा "जीवन की भूलें" शीर्षक से छपीं।

आर्यसमाज के अन्य अनेक प्रमुख पुरुषों ने भी अपनी जीवन-कथाएँ स्वयं लिखी हैं। इनमें निम्न उल्लेखनीय हैं: पण्डित अलगूराय शास्त्री—मेरा जीवन (१९५१ ई०),

पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्यायकृत जीवन-चक्र (१९५४ ई०), पण्डित नरदेव शास्त्री—आपबीती-जगबीती,(१९५७ ई०), प्रिंसिपल दीवानचन्द—मानसिक चित्रावली(१९६०), पूर्णचन्द्र एडवोकेट—जीवन के अनुभव आदि। आचार्य रामदेव जी के जीवन के कुछ स्वलिखित संस्मरण विशाल भारत (कलकत्ता) के १९२६ ई० के अंकों में छपे थे। इन्हीं लेखों को "मेरी आत्मकथा के कुछ पृष्ठ" शीर्षक से संगृहीत कर आर्य मर्यादा (साप्ताहिक) ने १९७७ ई० में विशेषांक रूप में प्रकाशित किया था। आर्य साहित्य मण्डल अजमेर के संस्थापक स्वर्गीय श्री मथुराप्रसाद शिवहरे ने अपनी जीवन-गाथा को 'मेरा परिवार' शीर्षक से लिखा। इसका प्रकाशन २००१ वि० में अजमेर से हुआ। पण्डित गंगाप्रसाद जज की आत्मकथा आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर से २०११ वि० में प्रकाशित हुई थी। सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी रामप्रसाद बिस्मिल की आत्मकथा भारत में सशस्त्र क्रान्ति-चेष्टा का ज्वलन्त इतिहास तो है ही, उससे बिस्मिल के आर्यसमाजी चरित्र पर भी प्रकाश पड़ता है। इस आत्मकथा को राजधर्म के विशेषांक के रूप में १९६८ ई० में प्रकाशित किया गया था। हाल में ही कलकत्ता के प्रसिद्ध आर्य नेता तथा उद्योगपति श्री सीताराम आर्य ने "प्रगति का पथ" शीर्षक ग्रन्थ में स्वजीवन की कहानी लिखी है। एक साधारण ग्रामीण बालक आर्यसमाज के सम्पर्क में आकर अपने जीवन को सभी प्रकार से उन्नत बनाता हुआ सार्वत्रिक प्रगति के ऊँचे सोपानों पर किस प्रकार चढ़ जाता है, यह श्री आर्य की आत्मकथा से प्रकट होता है। हैदराबाद के प्रसिद्ध आर्य नेता पण्डित नरेन्द्र की आत्मकथा 'जीवन की धूपछाँव' उनके निधन के उपरान्त १९८१ ई० में छपी। पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार की संक्षिप्त आत्मकथा भी छपी है। अंग्रेजी में डी० ए० वी० कॉलेज प्रबन्ध-समिति के भूतपूर्व प्रधान तथा सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति मेहरचन्द महाजन ने Looking Back शीर्षक आत्मकथा लिखी जो १९६३ ई० में छपी। रायबहादुर मूलराज की आत्मकथा Beginning of Punjabi Nationalism शीर्षक से १९७५ ई० में विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर से छपी थी। राय मूलराज आर्यसमाज के उस दल का प्रतिनिधित्व करते थे जो मांस-भक्षण का पोषक तो था ही, जिसकी मान्यता थी कि आर्यसमाज की सदस्यता के लिए दस नियमों पर विश्वास करना ही पर्याप्त है, न कि स्वामी दयानन्द की सभी शास्त्रीय मान्यताओं के प्रति आस्था प्रकट करना। इन तथा कुछ अन्य विवादास्पद मुद्दों को उठाने के कारण राय मूलराज का यह आत्मवृत्तान्त नाना प्रकार की आशंकाओं के घेरे में भले ही आ गया हो, किन्तु आर्यसमाज-विषयक अनेक ऐतिहासिक तथ्यों की जानकारी प्राप्त करने की दृष्टि से इसका महत्त्व निर्विवाद है। आर्यसमाज के प्रसिद्ध कवि तथा नाटककार पण्डित नारायणप्रसाद बेताब ने "बेताब चरित्र" शीर्षक से स्वजीवन की संक्षिप्त कथा लिखी थी जो १९३७ ई० में कलकत्ता से छपी। महात्मा मुन्शीराम जिज्ञासु प्रणीत "मेरी जिन्दगी के नशेबोफराज" भी आत्मकथात्मक उर्दू निबन्धों का ही संग्रह है। राजस्थान के एक वैदिक धर्मप्रचारक श्री कमलेशकुमार ने अपने जीवनक्रम को आत्मकथा के रूप में प्रस्तुत किया है। यह 'प्रगति का पथ' शीर्षक से २०३५ वि० में प्रकाशित हुई।

(५) रामायण तथा महाभारत पर आधारित जीवनचरित

अब तक हमने आर्य लेखकों द्वारा लिखे गये उस जीवनचरित-साहित्य की समीक्षा की है जो आर्यसमाज के ही अनुयायी व्यक्तियों से सम्बन्धित है। किन्तु साहित्यकार के रूप में आर्य लेखकों ने उन अनेक महापुरुषों के जीवन-वृत्तान्त भी लिखे हैं जो अपनी चारित्रिक उदात्तता तथा वैयक्तिक महनीयता के कारण विश्व-इतिहास में अमर हो चुके हैं। रामायण तथा महाभारत संस्कृत के ऐतिहासिक महाकाव्य तो हैं ही, उनमें जिन आर्य पुरुषों एवं सन्नारियों के तेजोपूत चरित्रों का आख्यान किया गया है, वे शताब्दियाँ व्यतीत हो जाने पर भी भारतीय समाज के लिए अमर प्रेरणा के स्रोत बने हुए हैं। यहाँ हम रामायण तथा महाभारत के कतिपय पात्रों के उन जीवनचरितों का उल्लेख कर रहे हैं जो आर्य लेखकों की लेखनी से प्रसूत हुए हैं।

आर्यसमाज की पुरानी पीढ़ी के लेखक श्री चिम्मनलाल वैश्य ने रामकथा के प्रमुख पात्र श्रीराम, लक्ष्मण, भरत तथा राजा दशरथ के संक्षिप्त जीवनचरित लिखे। "मर्यादा पुरुषोत्तम राम" शीर्षक तीन ग्रन्थ क्रमशः जगदीश विद्यार्थी, सुशीला आर्या तथा दीनानाथ सिद्धान्तालंकार द्वारा लिखे गये। सती सीता की पुण्य गाथा श्री खुशहाल-चन्द खुर्सन्द तथा सरस्वती प्रभाकर द्वारा लिखी गई। स्वामी प्रेस मेरठ से प्रकाशित दो भागों में लिखे गये सीता-चरित्र का भी उल्लेख मिलता है। श्री ईश्वरीप्रसाद प्रेम ने क्षात्रधर्म के पुण्य प्रतीक राष्ट्रपुरुष राम का जीवनचरित्र लिखने के साथ-साथ स्वामि-भक्ति के प्रतीक महावीर हनुमान का जीवनवृत्तान्त 'शुद्ध हनुमच्चरित्र' शीर्षक से लिखा है।

रामायण की तुलना में महाभारत के पात्रों के चरित्र-लेखन में आर्यसमाजी लेखकों ने अधिक रुचि दिखलाई है। उनकी सर्वाधिक रुचि तो योगेश्वर कृष्ण के जीवन का तथ्यात्मक निरूपण करने में ही दीख पड़ती है। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने एकाधिक स्थानों में यह लिखा है कि महाभारत में ही कृष्ण का जीवन पूर्ण सत्यता तथा वास्तविकता के साथ चित्रित किया गया है, जब कि भागवत आदि पुराणकारों ने कृष्णचरित्र को लांछित और विकृत करने में कोई कसर उठा नहीं रक्खी थी। स्वामीजी के कृष्णविषयक इसी कथन से प्रेरणा लेकर आर्यसमाज के अनेक लेखकों ने महाभारत पर आधारित कृष्णचरित का लेखन किया है। सर्वप्रथम पण्डित लेखराम ने 'कृष्ण जी का जीवनचरित्र' उर्दू में लिखा। इसका हिन्दी अनुवाद पण्डित लेखराम ग्रन्थावली (आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा प्रकाशित) में संगृहीत हुआ है। लाला लाजपतराय ने 'संसार के श्रेष्ठ महापुरुष' माला के अन्तर्गत योगिराज श्री कृष्ण का उर्दू में जीवनचरित्र लिखा। यह भी हिन्दी में अनूदित हो चुका है।

श्री कृष्ण के श्रेष्ठ जीवनचरितों में पण्डित चमूपति लिखित योगेश्वर कृष्ण तथा डॉ० भवानीलाल भारतीय प्रणीत श्रीकृष्णचरित उल्लेखनीय हैं। पण्डित चमूपति ने महाभारत को आधार बनाकर कृष्ण की जीवनकथा को धारावाही शैली में निबद्ध किया है तो डॉ० भारतीय ने पुराणवर्णित कृष्णचरित की तथ्यात्मक आलोचना करते हुए कृष्ण के जीवन के सभी प्रसंगों की सूक्ष्म मीमांसा की है। उनकी यह विवेचना बंगला भाषा में बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय लिखित कृष्णचरित से प्रेरणा तो अवश्य लेती है, किन्तु बंकिम द्वारा मान्य अवतार-सिद्धान्त को स्वीकार न कर उन्होंने कृष्ण के सहज मानवीय

रूप का ही प्रस्तुतीकरण किया है।

कृष्णविषयक अन्य लघु रचनाएँ भी पर्याप्त संख्या में लिखी गई हैं। श्री जगदीश विद्यार्थी लिखित भगवान् श्रीकृष्ण, प्रेमचन्द विद्याभास्करकृत कर्मयोगी कृष्ण, सुशीला आर्या लिखित योगिराज कृष्ण, पण्डित उमाकान्त उपाध्याय रचित भगवान् श्रीकृष्ण आदि इसी कोटि की कृतियाँ हैं। यहाँ हम प्रसंग से थोड़ा हटकर कृष्णविषयक उन कृतियों पर भी विचार करेंगे जो पुराणकारों द्वारा निर्मित कृष्णचरित की विकृतियों की आलोचना में लिखी गई हैं। यह एक तथ्य है कि ऐतिहासिक महापुरुष कृष्ण के जीवन में राधा नामक किसी नारी का प्रवेश नहीं हुआ था। अन्य ग्रन्थों की बात तो दूर रही, श्रीमद्भागवत तथा विष्णुपुराण में भी "राधा" नाम की कृष्ण की किसी प्रेयसी का उल्लेख नहीं मिलता। यों तो राधा को परब्रह्म कृष्ण की आद्या शक्ति अथवा प्रकृति-रूपा कहा जाता है, किन्तु ब्रह्मवैवर्तपुराण में राधा-कृष्ण का प्रसंग वर्णित करते हुए पुराणकार ने घोर शृंगारी वृत्ति का परिचय दिया है। इन वर्णनों में चरम कोटि की अश्लीलता पदे-पदे दृष्टिगोचर होती है। आर्यसमाज के विद्वानों ने पुराणवर्णित कृष्ण को मान्यता प्रदान नहीं की। वे पुराणों में वर्णित उन चमत्कारपूर्ण आख्यानों की भी आलोचना करते हैं जो कृष्ण के प्रसंग में आए हैं। राधा-कृष्ण के पुराणवर्णित प्रसंगों की आलोचना में पण्डित नारायणप्रसाद बेताब, पण्डित रामसहाय शर्मा तथा पण्डित राजेन्द्र ने क्रमशः राधा और कृष्ण का नाता, राधा का रहस्य तथा राधा-कृष्ण शीर्षक पुस्तकें लिखीं। भागवतवर्णित कृष्णोपाख्यान की आलोचना श्री राजबहादुर श्रीवास्तव ने 'भगवान् श्री कृष्ण और भागवत' शीर्षक पुस्तक में की है। यह मथुरा से १९९५ वि० में प्रकाशित हुई थी। श्री ईश्वरीप्रसाद प्रेम तथा डॉ० श्रीराम आर्य ने पुराणों के कृष्ण शीर्षक पुस्तकों में पुराणवर्णित कृष्णचरित्र में विद्यमान विकृतियों का उद्घाटन किया है। कृष्णविषयक कुछ अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं—पण्डित दामोदरप्रसाद शर्मा लिखित कृष्णवाक्य, पण्डित रामगोपाल शास्त्री लिखित श्रीकृष्ण और उनकी नीति तथा श्री ईश्वरीप्रसाद प्रेम लिखित श्रीकृष्ण सन्देश। श्री प्रेम ने शुद्ध कृष्णायन का सम्पादन किया है जिसमें महाभारतोक्त कृष्णचरित को सरल शैली में प्रस्तुत किया गया है। बंगला में पण्डित प्रियदर्शन सिद्धान्तभूषण लिखित 'कृष्णेर आह्वान्' उल्लेखनीय कृति है। प्रो० ताराचन्द गाजरा ने कृष्णविषयक आर्यसमाज की दृष्टि को अपनी पुस्तक Lord Krishna–as the Arya Samajists see him में प्रस्तुत किया है।

महाभारत के अन्य पात्रों के जीवन-चरित भी इन विद्वानों ने लिखे हैं। श्री चिम्मनलाल वैश्य (तिलहर, जिला शाहजहाँपुर निवासी) ने विदुर, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, द्रोण, यहाँ तक कि धृतराष्ट्र तथा दुर्योधन के जीवनचरित्र भी लिखे। ये सभी जीवनवृत्त इस शताब्दी के दूसरे दशक में छपे थे। पण्डित इन्दु शर्मा भारद्वाज ने रणवीर अभिमन्यु तथा अंगराज कर्ण के जीवनचरित लिखे। पण्डित आर्यमुनि ने पितामह भीष्म की जीवनी नरेन्द्र जीवनचरित शीर्षक से लिखी। भीष्म तथा अर्जुन का जीवन-चरित पण्डित रामजी शर्मा मधुबनी ने लिखा।

उपर्युक्त सूचनाओं से विदित होता है कि आर्यसमाजी लेखकों ने रामायण एवं महाभारत जैसे आर्ष इतिहास एवं काव्य को उपजीव्य बनाकर इन ग्रन्थों के विभिन्न पात्रों के जीवनवृत्त को लेखबद्ध किया है। निश्चय ही जीवनचरित-साहित्य को उनका

यह योगदान स्मरणीय रहेगा।

जीवनचरित-लेखन साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा है, यह हम प्रारम्भ में ही लिख चुके हैं। अब तक के विवेचन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि आर्यसमाज की विचारधारा के अनुयायी लेखकों ने जहाँ स्वसंस्था के महापुरुषों के जीवनचरित निवन्धन में पूर्ण परिश्रम किया है, उसी प्रकार भारतीय इतिहास के प्रोज्ज्वल नक्षत्र तुल्य रामायण तथा महाभारत के पात्रों के जीवनवृत्त भी उन्होंने नितान्त तन्मयता से लिखे हैं। किन्तु उनके लेखन की सीमा यहीं समाप्त नहीं होती। आर्यसमाजी लेखकों ने भारतीय समाज के विभिन्न वर्गों के उन महापुरुषों के इतिवृत्तों को भी अपने लेखन का विषय बनाया है जो धर्म, समाज तथा राष्ट्र के हित में अपने-आपको समर्पित कर चुके हैं। यहाँ कुछ ऐसे ही उदाहरण दिये जा रहे हैं।

'महर्षि याज्ञवल्क्य चरित्र' का प्रणयन गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के भूतपूर्व आचार्य पण्डित नरदेव शास्त्री ने किया। प्रो० राजाराम ने श्री शंकराचार्य के जीवन को लिपिबद्ध किया। उनका यह ग्रन्थ आर्ष ग्रन्थावली के अन्तर्गत १६०२ ई० में छपा था। आर्य जीवनचरित-लेखकों में श्री चिम्मनलाल वैश्य की गणना एक श्रेष्ठ साहित्यकार के रूप में होती है। उनकी कुछ कृतियों का उल्लेख हम इसी अध्याय में कर चुके हैं। उन्होंने महात्मा पूर्ण भक्त तथा महारानी मदालसा के जीवनचरित लिखे। स्वधर्म पर अपने प्राणों का वलिदान करनेवाले धर्मवीर हकीकतराय का जीवनचरित एकाधिक लेखकों ने लिखा। पण्डित वलदेवप्रसाद शर्मा ने हकीकतराय धर्मी शीर्षक एक लघु जीवनी लिखी, जो वैदिक पुस्तकालय मुरादावाद द्वारा १६२१ ई० में प्रकाशित हुई। डॉक्टर गोकुलचन्द नारंग लिखित धर्मवीर हकीकतराय का प्रकाशन दिल्ली की हकीकतराय सेवा-समिति द्वारा २०११ वि० में किया गया। हकीकतराय की ही भाँति अफगानिस्तान के एक हिन्दू बालक मुरली मनोहर ने स्वधमरक्षार्थ अपनी प्राणाहुति दी थी। महात्मा हंसराज ने इस वीर बालक की एक संक्षिप्त जीवनी लिखी थी। प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु के प्रयत्नों से इसे स्वामी स्वतन्त्रानन्द शोध-संस्थान, अवोहर द्वारा पुनः प्रकाशित किया गया है। महाशय खुशहालचन्द 'खुर्सन्द' ने पार्वती तथा पद्मिनी नामक पुस्तकों में भारत की इन सन्नारियों की जीवन-गाथा को लिखा है। आचार्य भगवानदेव ने शेरशाह सूरी तथा वीर हेमू के जीवन-वृत्त ऐतिहासिक गवेषणा के आधार पर लिखे हैं। आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के भूतपूर्व प्रधान श्री पृथ्वीसिंह आजाद ने 'मन्त्रद्रष्टा गुरु रविदास जी' शीर्षक जीवनचरित लिखकर सन्त कवि रविदास के विचारों को वैदिक सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल सिद्ध किया है।

आर्यसमाज के अनुयायी राजा-महाराजाओं तथा सामन्तों की संख्या अधिक नहीं रही है। उदयपुर के महाराणा सज्जनसिंह स्वामी दयानन्द के परम भक्त तथा उदार विचारवाले नरेश थे। नीमच-निवासी सेठ माँगीलाल गुप्त 'कविकिंकर' ने उनका जीवनचरित 'सज्जनचरित' शीर्षक लिखा जो परोपकारी (अजमेर) के अंकों में धारावाही छपा। जोधपुर के महाराजा प्रतापसिंह का एक संक्षिप्त जीवनवृत्त जगदीशनारायणसिंह गहलोत ने लिखा। इसे स्टार प्रेस प्रयास ने १६७५ वि० में प्रकाशित किया था। बड़ौदा-नरेश सर सयाजीराव गायकवाड़ आर्यसमाजी विचारधारा से प्रभावित थे। उनका जीवनवृत्तान्त श्रीराम शर्मा ने 'सयाजीचरितामृत' शीर्षक से लिखा था।

अन्य मतप्रवर्त्तकों के जीवनचरित—यदा-कदा आर्यसमाजी लेखकों ने अन्य मत-प्रवर्त्तक महापुरुषों के जीवनचरित भी लिखे। महात्मा बुद्ध का जीवनचरित पण्डित सूर्यप्रसाद ने लिखा। इस लेखक के बारे में हमारी अधिक जानकारी नहीं है। महात्मा नारायण स्वामी ने ईसामसीह का जीवनचरित लिखा था। पैगम्बर मोहम्मद के तीन जीवनचरितों का उल्लेख मिलता है। मुहम्मद जीवनचरित के लेखक मुन्शी इन्द्रमणि थे। काशी के श्री कन्हैयालाल ने इसको १९११ ई० में प्रकाशित किया था। मुन्शी इन्द्रमणि के ही शिष्य जगन्नाथदास मुरादाबादी (जो कालान्तर में आर्यसमाज का परित्याग कर विरोधी पंक्ति में जा बैठे थे) ने मुहम्मद जीवनचरित लिखा। १९७५ वि० में वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद ने इसका तृतीय संस्करण प्रकाशित किया था। पण्डित कालीचरण शर्माकृत विचित्र जीवनचरित्र भी सर्वप्रथम १९१८ ई० में वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद द्वारा ही प्रकाशित किया गया। सिखों के दसों गुरुओं की अंग्रेजी जीवनी बाबा छज्जूसिंह ने Ten Gurus and their Teachings. शीर्षक से लिखी जिसे पंजाब प्रिंटिंग वर्क्स लाहौर ने १९०३ ई० में प्रकाशित किया था।

पन्द्रहवाँ अध्याय

आर्यसमाज का प्रकीर्ण (फुटकर) साहित्य

(१) अभिनन्दन एवं स्मारक ग्रन्थ

गत अध्यायों में हमने आर्यसमाज के तत्त्वावधान में प्रणीत उस साहित्य की चर्चा की है जो शास्त्रीय तथा रसात्मक कोटि में आता है। वस्तुत: साहित्य-समीक्षकों ने 'साहित्य' शब्द के द्विविध अर्थ किये हैं। कहीं वह वाङ्मय मात्र के अर्थ में प्रयुक्त होता है, अर्थात् मानव अपने भावों एवं विचारों को जिस रूप में भी प्रकट करता है वही 'साहित्य' का अभिधान ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार "ज्ञानराशि के संचित कोष को साहित्य कहा गया है।" यह परिभाषा हिन्दी साहित्य के आचार्य पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत की थी। परन्तु मानवी हृदय को आनन्दित करने, उसकी भावनाओं को उद्वेलित एवं परिष्कृत करने तथा एक अपूर्व रस की सृष्टि कर पाठक को सामान्य भावभूमि से हटाकर उच्चतर भावभूमि पर प्रतिष्ठित करनेवाली कृतियाँ भी 'साहित्य' नाम से ही अभिहित की जाती हैं। शास्त्रीय एवं रसात्मक साहित्य से भिन्न ज्ञानवर्धक साहित्य की कतिपय विधाओं तथा उनमें प्रणीत कुछ कृतियों का उल्लेख हम प्रस्तुत अध्याय में प्रकीर्ण साहित्य शीर्षक से कर रहे हैं।

जीवन के किसी क्षेत्र में उल्लेखनीय सेवाओं के लिए समर्पित महापुरुषों को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने अथवा ऐसे महापुरुषों की स्मृति में स्मारक-ग्रन्थ प्रकाशित करने की प्रथा बहुत पुरानी नहीं है। आर्यसमाज में इस कोटि प्रथम ग्रन्थ Dayanand Commemoration Volume (दयानन्द स्मृति ग्रन्थ) है जिसे स्वामी दयानन्द की निर्वाण-अर्द्ध-शताब्दी के अवसर पर १९३३ ई० में प्रकाशित किया गया था। परोपकारिणी सभा के तत्कालीन मन्त्री श्री हरविलास सारडा ने इस ग्रन्थ का सम्पादन किया था। आलोच्य ग्रन्थ की अधिकांश सामग्री अंग्रेजी में है, किन्तु कुछ लेख हिन्दी में भी हैं। ग्रन्थ के सम्पादक ने इसके लिए परिश्रमपूर्वक सामग्री का संग्रह किया था। स्वामी दयानन्द को श्रद्धांजलि अर्पित करने की दृष्टि से सम्पादित इस विशाल ग्रन्थ में जहाँ महात्मा गांधी तथा विश्वकवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर जैसे महापुरुषों की स्वामीजी-विषयक भावाञ्जलियाँ प्रकाशित की गई हैं, वहाँ देश-विदेश के गण्यमान्य राजनीतिज्ञों, विद्वानों, साहित्यकारों तथा लेखकों के स्वामी दयानन्द के जीवन एवं कृतित्व का विश्लेषण करनेवाले उद्‌गार भी सम्मिलित किये गये हैं। स्वामी दयानन्द के अनेक दुर्लभ चित्रों से सुशोभित यह ग्रन्थ आर्य साहित्य की एक विशिष्ट उपलब्धि मानी जायेगी।

कालान्तर में आर्यसमाज के नेताओं, विद्वानों तथा विविध क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य करनेवाले पुरुषों के सम्मान में भी अभिनन्दन ग्रन्थ तैयार किये जाने लगे। महात्मा नारायण स्वामी अभिनन्दन ग्रन्थ इस शृंखला की प्रथम कड़ी है। इस ग्रन्थ का सम्पादन

पण्डित महेन्द्रप्रताप शास्त्री, पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति तथा पं० विश्वम्भरसहाय प्रेमी के सम्पादक-मण्डल ने किया था। महात्मा जी की ८०वीं वर्षगाँठ पर यह ग्रन्थ २००२ वि० में उन्हें भेंट किया गया। उच्च कोटि की पठनीय सामग्री से युक्त इस ग्रन्थ में आर्यसमाज के मन्तव्यों और उसकी विचारधारा का विवेचन करनेवाले अनेक महत्त्वपूर्ण लेख संगृहीत हैं। दीवानबहादुर हरविलास सारडा को समर्पित किये गए अभिनन्दन ग्रन्थ का सम्पादन अजमेर के गवर्नमेंट कॉलेज के प्रथम भारतीय प्रिंसिपल श्री शेषाद्रि ने किया था। पण्डित ठाकुरदत्त शर्मा का अभिनन्दन-ग्रन्थ १९५८ ई० में प्रकाशित हुआ।

हैदराबाद के आर्य नेता पण्डित विनायकराव विद्यालंकार वर्तमान आंध्रप्रदेश (भूतपूर्व निजाम हैदराबाद) में आर्यसामाजिक जागृति के प्रमुख स्तम्भ थे। उनको दिया गया अभिनन्दन ग्रन्थ उस्मानिया विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के भूतपूर्व अध्यक्ष पण्डित वंशीधर विद्यालंकार द्वारा १९५६ ई० में सम्पादित किया गया था। इसका प्रकाशन पण्डित विनायकराव के साठवें वर्षगाँठ-समारोह के अवसर पर हुआ। पठनीय सामग्री तथा बाह्य साज-सज्जा दोनों दृष्टियों से यह ग्रन्थ आर्यसमाज के साहित्य में एक विशिष्ट स्थान रखता है। ग्रन्थ के प्रारम्भिक भाग में अभिनन्दनीय महापुरुष के जीवन एवं व्यक्तित्व-विषयक लेख हैं। अवशिष्ट भाग कला, साहित्य, संस्कृति, वेद, दर्शन, अध्यात्म जैसे विषयों पर लिखित सामग्री से युक्त हैं। काव्यमालिका के अन्तर्गत हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों की कृतियाँ भी संकलित की गई हैं। नयनाभिराम तथा कलापूर्ण चित्रों ने इस ग्रन्थ की शोभा को द्विगुणित कर दिया है।

१९५९ ई० में स्वामी दयानन्द की दीक्षा-शताब्दी मथुरा में मनाई गई। उस समय आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के निर्णयानुसार आर्यसमाज के दो वयोवृद्ध एवं वरेण्य साहित्यकारों—पण्डित गंगाप्रसाद जज तथा पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय का अभिनन्दन किया गया। इस समारोह की अध्यक्षता भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद ने की थी। इसी अवसर पर दोनों महानुभावों को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किये गये। इनका सम्पादन पण्डित महेन्द्रप्रताप शास्त्री ने किया था। दोनों अभिनन्दन ग्रन्थों की मूल सामग्री एक ही है। केवल परिशिष्ट में दोनों विद्वानों का जीवन-परिचय तथा प्रशस्तियाँ पृथक्शः छपी हैं। प्रख्यात हिन्दी साहित्यकार तथा आर्यसमाजी श्री क्षेमचन्द्र सुमन को १९६६ में उनकी ५१वीं वर्षगाँठ पर 'एक व्यक्ति : एक संस्था' शीर्षक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। १९६८ ई० में आर्यसमाज के विख्यात नेता तथा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के भूतपूर्व प्रधान डॉ० धुखनराम को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। इसके प्रधान सम्पादक प्रो० देवेन्द्रनाथ शर्मा थे।

विगत १५ वर्षों में जितने अभिनन्दन ग्रन्थ तथा स्मृति ग्रन्थ आर्यसमाज में प्रकाशित हुए हैं, उतने इस संस्था के १८७५ से लेकर १९७० तक के ९५ वर्षीय जीवन-काल में भी नहीं हुए। १९७१ में कविरत्न प्रकाशचन्द्र, प्रिंसिपल दत्तात्रेय वाब्ले तथा प्रसिद्ध शिक्षाशास्त्री तथा डी० ए० वी० कॉलेज प्रबन्ध-समिति के तत्कालीन अध्यक्ष डॉ० गोवर्धनलाल दत्त को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किये गये। कविरत्न जी को समर्पित ग्रन्थ का सम्पादन इन पंक्तियों के लेखक ने प्रो० सदाविजय आर्य के सहयोग से किया था। इसमें पण्डित प्रकाशचन्द्र के जीवन एवं व्यक्तित्व से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण संस्मरणात्मक लेखों के अतिरिक्त आर्यसमाज तथा स्वामी दयानन्द के विभिन्न पहलुओं पर कुछ शोध-

पूर्ण निवन्धों का भी संकलन किया गया तथा ग्रन्थान्त में कवि की कुछ महत्त्वपूर्ण काव्य-कृतियों को संग्रहीत किया गया था। आर्यसमाज शिक्षा सभा अजमेर द्वारा प्रकाशित प्रिंसिपल दत्तात्रेय वाब्ले अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन दयानन्द कालेज अजमेर की रजत जयन्ती के अवसर पर हुआ। इसमें उक्त कॉलेज तथा उसके यशस्वी प्रिंसिपल श्री वाब्ले के सम्बन्ध में प्रचुर जानकारी उपलब्ध कराई गई है। डॉ० दत्त का अभिनन्दन ग्रन्थ आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा द्वारा डॉ० हरगुलाल द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुआ। इसमें डॉ० दत्त के व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है।

आर्यसमाज के नेताओं को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जाना युग की प्रचलित परिपाटी के अनुसार आवश्यक माना जा सकता है, किन्तु आर्य विद्वानों, उपदेशकों तथा साहित्यकारों का इस माध्यम से सम्मान किया जाना अभिनन्दन करनेवाले व्यक्तियों तथा संस्थाओं की सच्ची गुणग्राहकता ही कही जायगी। इस दृष्टि से अरबी-फारसी के महान् विद्वान् तथा आयुभर शुद्धियज्ञ में संलग्न स्वर्गीय पण्डित देवप्रकाश जी को भेंट किया गया लघु आकारवाला अभिनन्दन ग्रन्थ इसके सम्पादक स्व० ज्ञानी पिण्डीदास जी के परिश्रम तथा लगन का ही परिणाम कहा जा सकता है। शास्त्रार्थ-महारथी पण्डित बिहारीलाल शास्त्री को समर्पित ग्रन्थ तो गोविन्दराम हासानन्द द्वारा प्रकाशित वेदप्रकाश मासिक के एक विशेषांक के रूप में १९७३ ई० में ही निकल सका। आर्यसमाज के महान् वैज्ञानिक तथा दार्शनिक संन्यासी स्वामी सत्यप्रकाश को प्रयाग की विज्ञान परिषद् द्वारा अभिनन्दित किया गया। 'वैज्ञानिक परिव्राजक' शीर्षक से सम्पादित तथा १९७६ ई० में प्रकाशित इस ग्रन्थ में स्वामी सत्यप्रकाश के वैदुष्य तथा उनके विज्ञान एवं धर्म की सेवा में समर्पित व्यक्तित्व की अपूर्व झाँकी उपलब्ध होती है। १९७३ ई० में दिल्ली के प्रसिद्ध आर्यसमाजी कार्यकर्ता मास्टर शिवचरणदास को 'ज्योतिर्मय जीवन' शीर्षक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। इसी वर्ष दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय हिसार के निवर्तमान आचार्य तथा प्रसिद्ध शिक्षाविद् प्रिंसिपल ज्ञानचन्द्र को भी अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। इसका सम्पादन प्रो० रामविचार ने किया था।

हैदराबाद के कर्मठ कार्यकर्ता तथा आर्यसमाज के तपस्वी सेवक पण्डित नरेन्द्रजी को १९७६ में अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। १९७६ ई० में ही आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा के संस्थापक तथा गुजरात के प्रसिद्ध आर्य नेता पण्डित आनन्दप्रिय जी को उनकी प्रशंसनीय सेवाओं के लिए अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। हिन्दी तथा गुजराती भाषा में लिखे गये, उच्च कोटि के लेखों से युक्त इस ग्रन्थ का सम्पादन प्रसिद्ध साहित्यकार पण्डित शंकरदेव विद्यालंकार ने किया था। १९७७ ई० में आर्यसमाज के निष्ठावान् विद्वान् पण्डित जगदेवसिंह शास्त्री सिद्धान्ती को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया गया। इसका सम्पादन सिद्धान्ती जी के ही सहयोगी तथा सहकर्मी पण्डित रघुवीरसिंह शास्त्री ने किया था। इसमें हिन्दी तथा संस्कृत में सिद्धान्ती जी के जीवन एवं व्यक्तित्व विषयक रचनाओं के अतिरिक्त अनेक सैद्धान्तिक तथा गवेषणायुक्त लेख भी छपे हैं। १९७८ ई० में आर्य प्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश के भूतपूर्व प्रधान पण्डित विश्वम्भरप्रसाद शर्मा को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। इसी वर्ष आर्यसमाज के प्रख्यात विद्वान्, वक्ता तथा शास्त्रार्थ-महारथी महात्मा अमर स्वामी जी को भी अभिनन्दन ग्रन्थ अर्पित किया गया। इसमें अन्य बातों के अतिरिक्त शास्त्रार्थयुग-विषयक

अनेक ज्ञातव्य तथ्य तथा शास्त्रार्थों के रोचक संस्करण दिये गये हैं। १९७९ ई० में कन्या गुरुकुल हाथरस के कुलपति तथा प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री पण्डित महेन्द्रप्रताप शास्त्री को अभिनन्दन ग्रन्थ समर्पित किया गया। इसे 'आर्यसमाज शिक्षादर्शन' के शीर्षक से प्रकाशित किया गया है। डॉ० विजयेन्द्र स्नातक के सम्पादन में तैयार किये गए इस ग्रन्थ में शास्त्री जी के जीवन तथा कृतित्व-विषयक लेखों के अतिरिक्त आर्यसमाज की शिक्षा-विषयक उपलब्धियों का भी विवेचन किया गया है।

आर्यसमाज के पुराने कार्यकर्ता और लेखक पण्डित देवव्रत धर्मेन्दु की सेवाओं को लक्ष्य में रखकर आर्यसमाज दीवानहाल दिल्ली के तत्त्वावधान में 'चलती-फिरती संस्था पण्डित देवव्रत धर्मेन्दु' शीर्षक अभिनन्दन ग्रन्थ तैयार किया गया जो उन्हें १९७९ ई० में समर्पित किया गया। इसी वर्ष अमेठी-नरेश राजा रणंजयसिंह को भी अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। अमेठी का राजपरिवार सदा से ही आर्यसमाज तथा स्वामी दयानन्द का दृढ़ अनुयायी रहा है। राजा रणंजयसिंह स्वयं सिद्धहस्त लेखक, कवि तथा आर्यसमाज के दृढ़ कार्यकर्ता हैं।

१९८१ ई० में आर्यसमाज के भजनोपदेशकों में अग्रगण्य वयोवृद्ध संन्यासी स्वामी भीष्म जी का अभिनन्दन कुरुक्षेत्र में भारत के तत्कालीन गृहमन्त्री ज्ञानी जैलसिंह की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर स्वामीजी को जो अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया, उसमें भीष्मजी के काव्य संग्रहों की विस्तृत समीक्षा तथा धर्मप्रचार के क्षेत्र में उनके अवदान का मूल्यांकन किया गया था। १९८२ ई० में दयानन्द दर्शन के प्रखर चिन्तक श्री नरेन्द्र दवे के सम्मान में 'इन्कलाव नो आतश' शीर्षक अभिनन्दन ग्रन्थ गुजराती में नरेन्द्र दवे वन-प्रवेश अभिनन्दन समिति, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थ का सम्पादन श्री कन्हैयालाल जोशी तथा मुकुन्दशाह ने किया है। १९८३ ई० में आर्यसमाज के त्यागी एवं तपस्वी संन्यासी स्वामी ओमानन्द सरस्वती का अभिनन्दन कन्या गुरुकुल नरेला (दिल्ली) के रजत-जयन्ती उत्सव पर किया गया। इस अवसर पर स्वामीजी को जो अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया, उसका सम्पादन पण्डित वेदव्रत शास्त्री ने किया था। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान तथा आर्यसमाज के तेजस्वी नेता लाला रामगोपाल शालवाले को अर्पित किये जानेवाला अभिनन्दन ग्रन्थ यद्यपि १९७८ में ही मुद्रित हो चुका था, किन्तु किसी उपयुक्त समारोह में उसे लालाजी को समर्पित करने की प्रक्रिया निकट भविष्य में क्रियान्वित की जाएगी ऐसी आशा है।

आर्यसमाज के शिक्षाक्षेत्र में कार्यरत दो महीयसी महिलाओं को भी अभिनन्दन-ग्रन्थ अर्पित किये गये। राजस्थान में और विशेषतः अजमेर में महिला शिक्षा को प्रगति देनेवाली श्रीमती गुलाबदेवी (चाची जी) को जो अभिनन्दन-ग्रन्थ १९५८ ई० में भेंट किया गया, उसका सम्पादन श्री चाँदकरण शारदा ने किया था। कन्या गुरुकुल सासनी (हाथरस) की संस्थापिका और आचार्या श्रीमती लक्ष्मीदेवी को १९५५ ई० में अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया, जिसका सम्पादन श्री महेन्द्रप्रताप शास्त्री ने किया था।

जिन महापुरुषों के जीवनकाल में उन्हें अभिनन्दन ग्रन्थ अर्पित करना सम्भव नहीं हो सका उनकी मृत्यु के उपरान्त उनकी स्मृति में ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित किये गये। प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित रामगोपाल शास्त्री, आर्यसमाज के विख्यात वक्ता और प्रचारक कुं० सुखलाल आर्यमुसाफिर तथा प्रसिद्ध वक्ता, कार्यकर्ता तथा संस्कृत के सुकवि पण्डित

त्रिलोकचन्द्र शास्त्री के निधन के उपरान्त ही उनकी स्मृति में ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। हरयाणा के सुख्यात आर्य पुरुष दानवीर स्वर्गीय लालमन आर्य के निधन के उपरान्त उनके जीवन एवं कृतित्व के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने की दृष्टि से उन्हीं के पौत्र श्री महेन्द्र ने 'यादें' शीर्षक एक स्मृति ग्रन्थ का सम्पादन किया। इसमें श्री आर्य के जीवन-विषयक लेखों के अतिरिक्त उनके द्वारा लिखित काव्य-रचनाओं का भी संग्रह है।

यों तो अभिनन्दन ग्रन्थ व्यक्तिविशेष के जीवन की उपलब्धियों, उसके गुणों तथा कार्यों की प्रशस्ति हेतु ही निर्मित किये जाते हैं, परन्तु उनमें व्यक्ति-प्रशंसा के साथ-साथ अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों पर भी पर्याप्त सामग्री एकत्र करने का प्रयास रहता है। अतः साहित्य की एक पृथक् विधा के रूप में इसका उल्लेख आवश्यक है।

(२) आर्यसमाज का यात्रा-साहित्य

यात्रा-साहित्य को वाङ्मय की एक पृथक विधा के रूप में स्वीकार किया गया है। स्वामी दयानन्द स्वयं पर्यटनप्रिय परिव्राजक थे जिन्होंने स्वजीवन में हजारों मीलों का देशाटन किया। प्रारम्भ में वे एकाकी अवधूत की भाँति देश-भ्रमण करते रहे। कालान्तर में जब उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना कर धर्मान्दोलन का महत् अनुष्ठान आरम्भ किया तो उनके साथ सेवक, लेखक, पाचक आदि कर्मचारी भी रहने लगे। रेलमार्गों में वृद्धि हो जाने पर वे प्रायः रेल का उपयोग भी करने लगे थे, किन्तु गंगातटवर्ती प्रान्तों, उत्तराखण्ड के वनों, पर्वतों एवं नर्मदा के उद्गमस्थान का भ्रमण उन्होंने पैदल ही किया था। स्वामी जी ने अपनी आत्मकथा में अपने यात्रा-वृत्तान्तों को भी यथार्थता तथा रोचकता के साथ लिखा है। यत्र-तत्र वे यात्रा-विषयक छोटे-से-छोटे विवरणों को देने में भी संकोच नहीं करते।

स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् उनके अनुयायी उपदेशक-वर्ग ने स्वदेश तथा भारतेतर देशों में धर्मप्रचारार्थ पर्याप्त भ्रमण किया। उन्होंने अपने यात्रा-विषयक अनुभवों को ग्रन्थरूप भी प्रदान किया है। इस प्रकार आर्यसमाजी लेखकों द्वारा हिन्दी में यात्रा-विषयक विशाल साहित्य निर्मित हो सका है। आगे की पंक्तियों में हम आर्य-समाज के यात्रा-विषयक साहित्य का ही विवरण दे रहे हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट ज्ञात होगा कि प्रायः आर्यसमाज के उन्हीं लेखकों-उपदेशकों ने यात्रा-साहित्य का प्रणयन किया है जिन्हें विदेशों में जाने का अवसर मिला है। भारत के विभिन्न प्रान्तों में की गई प्रचार-यात्राओं का विवरण प्रायः ग्रन्थरूप में नहीं आ सका। अनेक लेखकों ने यात्राग्रन्थों में जहाँ विदेशों में प्राप्त किये गये अनेक खट्टे-मीठे अनुभवों का विवरण दिया है, वहाँ वे तत्-तत् देश के भूगोल, इतिहास, वहाँ के लोगों के रहन-सहन, खानपान, आचार-व्यवहार आदि का विवरण भी देते हैं। इस प्रकार इन लेखकों द्वारा लिखे गये यात्राग्रन्थों के द्वारा जहाँ पाठकों का भरपूर मनोरंजन तथा ज्ञानवर्धन होता है, साथ ही अन्य देशों में आर्य-समाज की स्थिति तथा उसके कार्यों की वस्तुनिष्ठ जानकारी भी मिलती है।

हिन्दी में यात्रा-विषयक प्रथम ग्रन्थ लिखनेवाले ठाकुर गदाधरसिंह आर्यसमाजी ही थे। वे भारतीय सेना में नौकरी करते थे। उन्हें अपनी सैनिक सेवा के दौरान बर्मा, चीन तथा इंग्लैण्ड की यात्रा करने का अवसर मिला था। १९०१ ई० में अपनी पलटन के साथ वे चीन गये। इस यात्रा का रोचक विवरण उन्होंने अपनी पुस्तक 'चीन में तेरह

मास' में प्रस्तुत किया है। उनकी इंग्लैण्ड-यात्रा उस समय हुई थी जबकि सप्तम एडवर्ड का ब्रिटिश सम्राट् के पद पर राज्याभिषेक सम्पन्न हुआ। इस यात्रा का वर्णन उन्होंने 'हमारी एडवर्ड तिलक यात्रा' शीर्षक पुस्तक में किया है। परन्तु आर्यसमाज के प्रचारक के रूप में इंग्लैण्ड और अमेरिका आदि देशों की प्रथम यात्रा करनेवाले स्वामी भास्करानन्द थे, जिन्हें जोधपुर राज्य की ओर से धर्मप्रचारार्थ विदेश भेजा गया था। स्वामी भास्करानन्द अपनी विदेश यात्राओं का विवरण फर्रुखाबाद के पत्र भारतसुदशा-प्रवर्त्तक में प्रकाशनार्थ भेजते थे जो उक्त पत्र के तत्कालीन अंकों में प्रकाशित भी हुआ है। उनकी यात्रा-विषयक एक पुस्तक "श्री स्वामी भास्करानन्द की विलायत यात्रा" रसिक काशी प्रेस, दिल्ली से १८९० ई० में प्रकाशित हुई। धर्मप्रचारार्थ विदेश यात्रा का यह प्रथम बार प्रकाशित पुस्तकाकार विवरण है। आर्यसमाज के विख्यात नेता बैरिस्टर रोशनलाल की पत्नी श्रीमती हरदेवी ने अपने पति के साथ लंदन की यात्रा उस समय की, जब श्री रोशनलाल बैरिस्ट्री के अध्ययनार्थ इंग्लैण्ड गये थे। 'लंदन-यात्रा' नामक श्रीमती हरदेवी द्वारा लिखा यात्रा-विवरण १८८९ ई० में छपा।

आर्यसमाज के जिन उपदेशकों ने विश्वभ्रमण कर सर्वत्र धर्म-प्रचार किया उनमें जैमिनि मेहता का नाम सर्वोपरि उल्लेखनीय है। मेहताजी प्रारम्भ में वकालत करते थे, किन्तु कालान्तर में वे विभिन्न देशों में धर्मप्रचारक के रूप में जाने लगे। उन्होंने वैदिक धर्म की विजय वैजयन्ती को सर्वत्र फहराया। मेहताजी ने न्यूनातिन्यून एक दर्जन यात्रा-ग्रन्थ लिखे हैं। वे एक कुशल वक्ता तथा प्रभावशाली धर्मोपदेशक थे। हिन्दी व अंग्रेजी दोनों भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। वे अपने भाषणों में वैदिक धर्म की श्रेष्ठता का तो प्रतिपादन करते ही थे, भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति की गरिमा को भी प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत करते थे। जैमिनि मेहता के यात्रा-ग्रन्थ अधिकांश में प्रेम पुस्तकालय आगरा तथा प्रेमी प्रेस मेरठ से प्रकाशित हुए। उनके यात्रा-ग्रन्थ निम्न देशों का विवरण प्रस्तुत करते हैं—दक्षिण अफ्रीका, दक्षिण अमेरिका, मॉरिशस, फिजी, स्याम, जापान, इण्डोनेशिया आदि। मेहताजी के सभी यात्रा-ग्रन्थ १९२७–३९ की अवधि में प्रकाशित हुए। उन्होंने यात्रा-विवरणों के साथ-साथ 'विदेश यात्रा-पथ-प्रदर्शक' तथा 'विदेशों में आर्यसमाज के प्रचार के प्रभाव का मूल्यांकन' विषयक ग्रन्थ भी लिखे। खेद है कि हिन्दी के यात्रा-साहित्य-विषयक शोध-लेखकों ने उनके यात्रा-साहित्य का सही विश्लेषण नहीं किया है। जैमिनि मेहता ने उर्दू में जो यात्रा-विवरण लिखे हैं, उनमें निम्न उल्लेख योग्य हैं—शुमाली अमरीका के दिलचस्प हालात, न्यूजीलैण्ड व अमरीका के हालात तथा आइना-ए-जापान।

जैमिनि मेहता की भाँति पण्डित कन्हैयालाल आर्योपदेशक ने भी अनेक देशों का भ्रमण किया था। उनकी अबीसीनिया, ईराक तथा जापान यात्रा से सम्बन्धित पुस्तकें प्रकाशित हुई थीं। स्वामी मंगलानन्द पुरी ने 'अफ्रीका-यात्रा' शीर्षक एक विस्तृत यात्रा-वृत्तान्त लिखा है जो १९२८ ई० में प्रकाशित हुआ। रोमांचक यात्रावृत्तों में पण्डित महेशप्रसाद मौलवीकृत 'मेरी ईरान यात्रा' तथा पण्डित रुचिराम आर्योपदेशक लिखित 'अरब में सात साल' के नाम उल्लेखनीय हैं। पण्डित महेशप्रसाद फारसी के विद्वान् थे तथा कालान्तर में वे हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी में अरबी-फारसी के प्राध्यापक रहे। पण्डित रुचिराम ने अरब देशों में सात वर्ष व्यतीत किये। मुस्लिमप्रधान अरब जगत् में एक हिन्दू प्रचारक का दीर्घकाल तक भ्रमण करना अपने-आप में एक रोमांचक प्रसंग था।

१९३८ ई० में जब यह यात्रा-वृत्तान्त छपा तो पाठकों ने उसे पर्याप्त रुचिकर पाया। प्रसिद्ध हिन्दी डाइजेस्ट 'नवनीत' में तो इस ग्रन्थ का संक्षिप्तीकृत रूप भी छपा था।

स्वामी स्वतन्त्रानन्द भी पूरे घुमक्कड़ प्रकृति के व्यक्ति थे। उन्होंने एकाधिक बार विदेशों का भ्रमण किया था। जब वे १९५० ई० में अफ्रीका तथा मॉरिशस में प्रचारार्थ गये तो उन्होंने अपने इस यात्रा-वृत्तान्त को 'पूर्वी अफ्रीका और मॉरिशस आदि में भारतीयों का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक संघर्ष तथा वहाँ का आँखोंदेखा वृत्तान्त- शीर्षक से प्रकाशित किया। ग्रन्थ की भूमिका मॉरिशस में भारत के तत्कालीन हाई-कमिश्नर श्री धर्मयशदेव ने लिखी थी। इससे पूर्व स्वामी स्वतन्त्रानन्द १९०१ से १९०४ ई० पर्यन्त मलय, बर्मा आदि देशों में भ्रमण कर चुके थे। कुंवर चाँदकरण शारदा ने दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टंकारा के लिए आर्थिक सहायता जुटाने हेतु अफ्रीका की यात्रा की। उनका यह यात्रा-वृत्तान्त भी पुस्तकाकार छपा। एक बंगाली संन्यासी स्वामी सदानन्द ने दक्षिण-पूर्वी एशियाई देशों का भ्रमण किया था। उनका यह यात्रा-वृत्तान्त 'एशिया का वेनिस' शीर्षक ग्रन्थ में छपा।

इधर कुछ वर्षों से आर्यसमाज के प्रचारकों तथा उपदेशकों ने विदेश-यात्राओं का व्यापक कार्यक्रम बनाया है। तदनुसार उसके यात्रा-वृत्त भी छपे हैं। प्रसिद्ध भजनोपदेशक स्वर्गीय पण्डित नन्दलाल वानप्रस्थी का एक यात्रा-विवरण 'अपना देश, पड़ौसी देश' शीर्षक से राजपाल एण्ड संस ने १९७२ ई० में प्रकाशित किया। 'सागर पार देशों में' शीर्षक उनका अन्य वृत्तान्त १९७५ ई० में छपा। स्वामी ओमानन्द सरस्वती की प्रचार-यात्राएँ कालापानी यात्रा, अन्दमान-निकोबार द्वीपसमूह की यात्रा, रूस में पन्द्रह दिन, जापान-यात्रा, मेरी विदेशी यात्रा तथा नैरोबी-यात्रा शीर्षक ग्रन्थों के अन्तर्गत प्रकाशित हुई हैं। लंदन में आयोजित विश्व आर्य सम्मेलन के अवसर पर जो भारतीय प्रतिनिधि विदेश यात्रा के लिए गये, उनमें से श्री मामचन्द रिवारिया तथा रामाज्ञा वैरागी ने अपने प्रवासकालीन संस्मरणों को पुस्तकाकार प्रदान किया है। श्री रिवारिया की पुस्तक 'मेरी विदेशी यात्राएँ' मधुर प्रकाशन दिल्ली द्वारा १९८१ ई० में प्रकाशित की गई, जबकि श्री वैरागी की 'मेरी यूरोप-यात्रा' १९८३ ई० में प्रकाशित हुई।

धर्मप्रचार से भिन्न जो विदेश यात्राएँ, स्वान्तःसुखाय अथवा मात्र देशदर्शन की दृष्टि से की जाती हैं, उनके विवरण भी आर्य लेखकों द्वारा निबद्ध किये गये हैं। जयपुर के श्री गणेशनारायण सोमानी ने जब यूरोप की यात्रा की, तो उसका विवरण उन्होंने सचित्र पुस्तकरूप में १९३२ ई० में प्रकाशित किया। सुप्रसिद्ध आर्य संन्यासी डॉ० स्वामी सत्यप्रकाश की सहधर्मिणी स्वर्गीया डॉ० रत्नकुमारी ने अपनी यूरोप-यात्रा के संस्मरणों को 'प्राची-प्रतीची' शीर्षक से लिखा था। यह ग्रन्थ रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान प्रयाग से १९७२ ई० में प्रकाशित हुआ है।

यात्रा-साहित्य का विवरण देते समय हम उन ग्रन्थों को भी विस्मृत नहीं कर सकते जिनमें भारत के ही विभिन्न प्रदेशों का भ्रमण-वृत्तान्त निबद्ध किया गया है। महात्मा मुन्शीराम जिज्ञासु लिखित उत्तराखण्ड महिमा को इसी कोटि की रचना माना जा सकता है। आर्यसमाज जोधपुर के भूतपूर्व प्रधान श्री महावीरसिंह गहलोत ने 'गंगोत्री दर्शन' में अपनी गंगोत्री यात्रा का वर्णन प्रस्तुत किया है। सुप्रसिद्ध पत्रकार तथा पंजाब के आर्य नेता श्री वीरेन्द्र ने १९६३ ई० में टंकारा यात्रा शीर्षक एक लघु यात्रा-पुस्तक लिखी।

इसमें उन्होंने महर्षि दयानन्द के जन्मग्राम टंकारा की यात्रा का रोचक विवरण दिया है। स्वामी नारायण मुनि चतुर्वेद ने 'काश्मीर यात्रा का साहित्यिक वर्णन' काव्यात्मक गद्य शैली में लिखा। वाराणसी-निवासी श्री बनारसीलाल आर्य ने भारत के अनेक दर्शनीय स्थानों का विवरण 'खण्डहरों के देश में' शीर्षक से प्रस्तुत किया है।

हिन्दी से भिन्न भाषाओं में भी यात्रा-ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। जैमिनि मेहता की यात्रा-पुस्तकों के उर्दू संस्करण भी छपे जिनका उल्लेख हम कर ही चुके हैं। 'वैदिक मिशन इन सेण्ट्रल अमेरिका' (जैमिनि मेहता) आदि पुस्तकें अंग्रेजी में धर्मप्रचार हेतु किये गये प्रवासों का विवरण प्रस्तुत करती हैं। गुजराती में श्रीकान्त भगतजी ने 'सागर पार नी संस्कार यात्रा' शीर्षक पुस्तक में अपने अफ्रीका-भ्रमण का वृत्तान्त लिखा है। पुस्तकों के अतिरिक्त आर्यसमाज की पत्र-पत्रिकाओं में भी यात्रा-वृत्तान्त छपते रहते हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने अपनी कलकत्ता, बम्बई, अहमदाबाद, मथुरा, शान्तिनिकेतन, रांची आदि की यात्राओं का रोचक वर्णन निबन्धों में लिखा है। ये सभी वृत्त परोपकारी मासिक में प्रकाशित हुए हैं।

(३) नारी-शिक्षण-विषयक साहित्य

आज के भारत में नारी-शिक्षा कोई समस्या नहीं है। पुरुष की ही भाँति नारी को शिक्षा के प्रत्येक क्षेत्र में आगे बढ़ने तथा अधिकाधिक उपलब्धियाँ प्राप्त करने के समान अवसर तथा अधिकार प्राप्त हैं। किन्तु आप जरा उस युग की कल्पना कीजिये, जब स्त्री के लिए प्रवर्तित किये गये सामाजिक तथा धार्मिक बन्धनों की कोई सीमा नहीं थी। उसे आजन्म असूर्यम्पश्या बनकर घर की चहारदीवारी के भीतर ही कैद रहना पड़ता था। पर्दे की प्रथा ने हिन्दू समाज की उच्चवर्णस्थ नारियों की जैसी दुर्दशा कर रक्खी थी, उसकी कल्पना करना भी आज शक्य नहीं है। पढ़ने-लिखने की तो बात ही क्या, भारतीय नारी के इतिकर्त्तव्य चौके-चूल्हे और परिवार-पोषण की सीमा से बाहर निकलकर सामाजिक दायरे में भी प्रवेश कर सकते हैं, यह सोचना भी कठिन था।

मध्यकालीन धर्माचार्यों ने स्त्रियों के वेदाध्ययन, वेदश्रवण तथा वेद-पठन पर तो रोक लगाई ही थी, किन्तु उनके सामान्य अध्ययन के लिए कोई प्रतिषेध नहीं था। तथापि मध्यकालीन मुस्लिम शासन के युग में हिन्दू नारी का सर्वतोभावेन पतन और पराभव हुआ। वह केवल विलास तथा काम-क्रीड़ा की वस्तु ही समझी गई। सामान्य अक्षर-ज्ञान भी उसके लिए दुर्लभ हो गया था। फलतः वह अन्धविश्वासों और मूढ़ता-पूर्ण क्रिया-कलापों की प्रतिमा बन गई।

ऐसी विषम परिस्थिति में स्वामी दयानन्द ने नारी के सर्वतोमुखी जागरण का उद्घोष किया। उन्होंने पुराकालीन गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषी नारियों तथा वैदिक युग की मन्त्र-द्रष्टा ऋषिकाओं का उदाहरण प्रस्तुत कर स्त्रियों को सर्वविध शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार प्रदान किया। इतना ही नहीं, स्त्री एवं शूद्रों जैसे शताब्दियों से वैदिक ज्ञान से वंचित रखे जानेवाले वर्ग को पुनः वेद का अध्ययनाधिकार प्राप्त कराना दयानन्द जैसे मनस्वी एवं क्रान्तद्रष्टा महापुरुष का ही काम था।

दयानन्द और आर्यसमाज की प्रेरणा से विगत शताब्दी में ही धड़ाधड़ कन्या-पाठशालायें खुलने लगीं और लड़कों की ही भाँति लड़कियों के लिए भी शिक्षा प्राप्त

करना सुलभ हो गया। जब पाठशालाओं में जाने योग्य अवस्थावाली कन्याओं से भिन्न, वयस्क स्त्रियों में भी ज्ञानलिप्सा बढ़ी तो यह आवश्यक हुआ कि उन्हें विविध प्रकार की स्त्रियोपयोगी शिक्षा पुस्तकों के माध्यम से दी जाय। फलतः हिन्दी में बहुत बड़ी मात्रा में स्त्रियोपयोगी साहित्य लिखा गया। आज की साहित्यिक विधाओं में सम्भवतः नारी वर्ग के लिए पृथक्शः लिखे जानेवाले किसी साहित्य का समावेश नहीं होता। किन्तु विगत शताब्दी के अन्तिम दो दशकों तथा इस शताब्दी के प्रारम्भिक ३-४ दशकों में ऐसा साहित्य प्रचुर मात्रा में प्रकाशित हुआ, जो मात्र स्त्रियों के उपयोग की दृष्टि से ही रचा गया था।

जब हम हिन्दी में उपलब्ध स्त्रियोपयोगी साहित्य की समीक्षा करते हैं तो स्पष्टतः इस निष्कर्ष पर पहुँचे विना नहीं रहा जा सकता कि इसमें से अधिकांश उन लेखकों द्वारा लिखा गया है जो आर्यसमाज से सम्बन्धित अथवा प्रभावित थे। यह बात नहीं कि आज नारी-विषयक साहित्य नहीं लिखा जाता है। लिखा अवश्य जाता है, किन्तु अब उसके रूप बदल गये हैं। आज पाककला, सिलाई, बुनाई, कढ़ाई, धातुकर्म, शिशु-पालन जैसे विषयों पर नई शैली में वैज्ञानिक ढंग से प्रचुर साहित्य लिखा जा रहा है। किन्तु जिस युग की हम बात कर रहे हैं, उस युग में नारी के चरित्र-निर्माण, गृहस्थधर्म-पालन, दाम्पत्य-सम्बन्धों के निर्वाह, सन्तान सुशिक्षण, स्वास्थ्य एवं चिकित्सा, पातिव्रत-धर्म के आचरण आदि विषयों पर ही ग्रन्थ लिखे जाते थे। ये ग्रन्थ सामान्य सुशिक्षित स्त्रियों में अत्यधिक लोकप्रिय होते थे। नारायणी-शिक्षा (गृहस्थ धर्म) जैसे ग्रन्थ के पचासों संस्करण निकल जाना इस बात का प्रमाण है कि नारी-शिक्षा-विषयक इन ग्रन्थों की लोकप्रियता निर्विवाद थी। एक और आश्चर्य की बात है कि इन ग्रन्थों के अधिकांश लेखक साधारण स्तर के पठित व्यक्ति ही थे। किन्तु नारी-शिक्षण के प्रति उनकी रुचि एवं आस्था ने ही उन्हें ऐसे ग्रन्थों की रचना के लिए प्रेरित किया। यहाँ हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि हिन्दी-साहित्य के द्विवेदी युग में प्रकाशित होनेवाली चाँद, दीदी, सहेली, मनोरमा आदि स्त्रियोपयोगी हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के संचालक एवं सम्पादक भी आर्यसमाज के नारीसुधार-विषयक कार्यक्रम से प्रेरित होकर ही उस पावन अनुष्ठान में सम्मिलित हुए थे।

यहाँ हम आर्यसमाजी लेखकों द्वारा लिखे गये नारी-शिक्षा से सम्बन्धित साहित्य का विहंगावलोकन प्रस्तुत कर रहे हैं। यह सचमुच हर्ष की बात है कि नारी-शिक्षण-विषयक प्रथम आर्यसमाजी पुस्तक की रचयिता स्वयं एक नारी ही थी। श्रीमती बुद्धिमती का विस्तृत परिचय हमें उपलब्ध नहीं होता, किन्तु उनकी रचना नारीसुदशाप्रवर्त्तक (२ भाग) का उल्लेख मिलता है। इसका प्रथम संस्करण वैदिक यन्त्रालय प्रयाग में १९४६ वि० में मुद्रित हुआ था। द्वितीय संस्करण १९५२ वि० में छपा। इस काल के कुछ अन्य ग्रन्थ और उनके लेखकों के नाम हैं—कुमारी-भूषण—लेखक दयाराम शर्मा (१८९० ई० में प्रकाशित, द्वितीय संस्करण), पतिव्रता-धर्ममाला लेखक ब्रह्मानन्द सरस्वती (१८९० ई०), स्वामी दयानन्द के प्रथम हिन्दी जीवनी लेखक महाराष्ट्रीय विद्वान् पण्डित गोपालराव हरि शर्मा ने सुन्दरी-सुधार नामक स्त्रियोपयोगी ग्रन्थ लिखा जो १९५१ वि० (१८९५ ई०) में फर्रुखाबाद से छपा। पण्डित बाबूराम शर्मा लिखित कन्या-सुधार का प्रकाशन सरस्वती प्रेस इटावा से १९५३ वि० (१८९७ ई०) में हुआ था। किन्तु विगत

शताब्दी का एतद्विषयक सर्वाधिक उल्लेखनीय तथा लोकप्रिय ग्रन्थ श्री चिम्मनलाल वैश्य लिखित नारायणी-शिक्षा (गृहस्थ धर्म) है। इसका प्रथम संस्करण १८८९ ई० में उसी वर्ष निकला था जबकि श्रीमती बुद्धिमती की कृति 'नारी सुदशा प्रवर्त्तक' प्रकाश में आई। सरस्वती के सम्पादक तथा विख्यात साहित्य-समीक्षक पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस ग्रन्थ की विस्तृत समालोचना उक्त पत्रिका के वर्ष १० संख्या ७ में की थी। उस समय तक इसके छः संस्करण छप चुके थे। नारायणी शिक्षा की पृष्ठसंख्या बड़े आकार के ६१२ पृष्ठ थी तथा इसमें लगभग ५०० उपयोगी विषयों की विवेचना की गई थी। वर्तमान शताब्दी के प्रारम्भिक दशकों में नारी-शिक्षा-विषयक जो अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ छपे, उनकी संख्या भी पर्याप्त है। यहाँ हम केवल महत्त्वपूर्ण रचनाओं का ही नामोल्लेख कर रहे हैं। मुन्शी इन्द्रजीतकृत नारीधर्मविचार (१९०६ ई०), श्री सन्नूलाल गुप्तकृत बालाबोधिनी, स्त्री सुबोधिनी, नारी धर्म विचार, वीर और विदुषी स्त्रियाँ तथा सच्ची देवियाँ, पण्डित आत्माराम अमृतसरी के श्वसुर मुन्शी वृन्दावन लिखित नारी-भूषण, पण्डित सूर्यप्रसाद शर्मा लिखित बाला-बोधिनी, पण्डित रघुवीरशरण दुबलिसकृत नार्युपदेश, पण्डित ठाकुरप्रसाद शर्मारचित स्त्री-शिक्षा विचार। आर्य कन्या महाविद्यालय के संस्थापक लाला देवराज ने नारी-शिक्षण-विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे जिनमें सुबोधकन्या तथा स्त्री-शिक्षा पर प्रश्नोत्तर के नाम उल्लेखनीय हैं। नारी-वर्ग के उपयोग के लिए अनेक पुस्तकें ऐसी भी लिखी गई थीं जिनमें पुराकालीन आदर्श नारियों के जीवनचरित ग्रथित किये गये थे। श्री सन्नूलाल गुप्त की ऐसी दो कृतियों का उल्लेख ऊपर आ चुका है। पण्डित ललिताप्रसाद शर्माकृत भारत की सच्ची देवियाँ (श्यामलाल सत्यदेव बरेली द्वारा १९१९ ई० में प्रथम बार प्रकाशित) इसी श्रेणी में आती है।

नारी-शिक्षा-विषयक उत्तरवर्ती रचनाएँ बहुत-कुछ नूतन शैली में तथा मनोवैज्ञानिक सूझ-बूझ के साथ लिखी गई हैं। ऐसी कृतियों में सखी की सीख (रामस्वरूप कौशल), माता का सन्देश (हरिश्चन्द्र विद्यालंकार), स्त्रियों की स्थिति (चन्द्रावती लखनपाल) आदि उल्लेखनीय हैं। पण्डित रघुनाथप्रसाद पाठक की लोकप्रिय रचना 'मातृत्व की ओर' सन्तानवती माताओं के कर्त्तव्यों का वैज्ञानिक ढंग से निरूपण करती है। श्रीमती चंचल बेन माणेकलाल पाठक लिखित स्त्री-शिक्षा तथा पण्डित आनन्दप्रिय लिखित सुखी घर का उल्लेख भी आवश्यक है।

हिन्दी की ही भाँति उर्दू में भी स्त्री-शिक्षा पर कुछ साहित्य लिखा गया। इस प्रसंग में पण्डित लेखराम का नाम पथनिर्देशक के रूप में आता है। उनकी पुस्तक 'कुमारी भूषण' मूलतः उर्दू में ही लिखी गई थी। उनकी इस विषय से सम्बन्धित दो अन्य पुस्तकें भी मिलती हैं। 'स्त्री शिक्षा' लिखने की प्रेरणा उन्हें अलीगढ़ की एक भाषा-विषयक समिति द्वारा प्रकाशित विज्ञापन से मिली जिसमें नारी-शिक्षा-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखने के लिए लेखकों को प्रेरित किया गया था। इसका हिन्दी अनुवाद लेखराम-ग्रन्थावली भाग २ के अन्तर्गत श्री सुखदेवलाल अध्यापक ने किया था जो १९२८ ई० में छपा। पण्डित लेखराम का एक अन्य लघु ग्रन्थ 'स्त्री-शिक्षा के वसायल' १८९३ ई० में लिखा गया। इसका हिन्दी अनुवाद कालपी-निवासी पण्डित शिवचरणलाल सारस्वत ने किया था जो लाहौर से छपा। लाला मुन्शीरामकृत पुस्तक स्त्री-सुधार (उर्दू) १८९१ ई०

में प्रकाशित हुई। बैरिस्टर रोशनलाल की पत्नी श्रीमती हरदेवी आर्यसमाज के प्रारम्भिक विदुषी नारी-वर्ग में शीर्ष स्थान रखती हैं। उन्होंने 'स्त्रियों पर सामाजिक अन्याय' शीर्षक एक खोजपूर्ण निबन्ध लिखा, जो हिन्दी के अतिरिक्त उर्दू तथा अंग्रेजी में भी प्रकाशित हुआ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि न केवल नारी शिक्षा, अपितु नारियों के शोषण, उन पर किये जाने वाले अत्याचार, समाज में उनकी दयनीय स्थिति तथा उसके निराकरण के उपायों पर भी आर्य लेखकों ने बहुत-कुछ लिखा है। वस्तुतः नारी-शिक्षा-विषयक साहित्य में आर्यसमाज का योगदान काल-क्रम की दृष्टि से तो प्रथम है ही, गुणवत्ता की दृष्टि से भी वह महत्त्वपूर्ण है।

(४) आर्यसमाज का इतिहास-विषयक साहित्य

स्वामी दयानन्द के अध्ययन का मुख्य विषय इतिहास नहीं था, किन्तु वे इस तथ्य को हृदयंगम कर चुके थे कि जब तक आर्यावर्त देश का वास्तविक इतिहास इस देश के नागरिकों के समक्ष प्रस्तुत नहीं किया जायगा, तब तक उनमें स्वदेशाभिमान, स्वजाति-गौरव, स्वराज्य-कामना तथा अस्मिता के भाव जागृत नहीं हो सकेंगे। स्वामी दयानन्द के इतिहास-ज्ञान के अनेक उदाहरण उनके ग्रन्थों में मिलते हैं। सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास की समाप्ति पर उन्होंने युधिष्ठिर से लेकर सुल्तान शहाबुद्दीन गौरी के समय दिल्ली के शासक यशपाल तक के राजाओं की नामावली हरिश्चन्द्रचन्द्रिका (अपरनाम मोहनचन्द्रिका) से उद्धृत की है। अपने पूना व्याख्यानों में तो उन्होंने छः व्याख्यान इतिहास-परक ही दिये थे। स्वामीजी की इतिहास-विषयक धारणा अत्यन्त व्यापक थी। वे केवल राजाओं के जीवन-वृत्त, उनके पारस्परिक युद्धों और विजय-यात्राओं को ही इतिहास नहीं मानते थे। उनके अनुसार तो जगत् की उत्पति, सृष्टि का विकास, मानव-सभ्यता का प्रसार, प्राचीन वाङ्मय का परिचय, मत-मतान्तरों की आलोचनात्मक समीक्षा जैसे विषय भी इतिहास के भीतर ही समाविष्ट होते हैं। इतिहासविद् के रूप में स्वामी दयानन्द का अध्ययन अभी भविष्य की वस्तु ही है।

आर्यसमाज के इतिहासज्ञ विद्वानों ने भारतीय इतिहास का मौलिक अध्ययन किया है तथा एतद्विषयक अनेक ग्रन्थ भी लिखे हैं। इतिहास के प्रथम अनुशीलनकर्ता के रूप में हम पण्डित लेखराम का नामोल्लेख करेंगे। पण्डित लेखराम ने इतिहास का गम्भीर अध्ययन किया था। उन्होंने 'ऐतिहासिक निरीक्षण' अथवा 'सृष्टि का इतिहास' शीर्षक से इस ग्रन्थ को दो भागों में लिखा था। मूलतः यह ग्रन्थ उर्दू में 'तारीखे-दुनिया' शीर्षक से (द्वितीय संस्करण, सद्धर्म प्रचारक प्रेस, जालन्धर से १८९८ ई० में लाला मुन्शीराम द्वारा प्रकाशित) छपा था। इसके अनेक हिन्दी अनुवाद हुए हैं। कर्णवास-निवासी श्री शेरसिंह वर्मा ने इसका अनुवाद 'ऐतिहासिक निरीक्षण' शीर्षक से किया जो सरस्वती यन्त्रालय प्रयाग से १८९४ ई० में छपा। द्वितीय भाग का अनुवाद मुन्शी जगदम्बाप्रसाद ने किया था। स्वामी प्रेस मेरठ ने १९०० ई० में इसे प्रकाशित किया। स्वामी अनुभवानन्द शान्त, पण्डित प्रेमशरण प्रणत, पण्डित रामसुख पाण्डेय तथा पण्डित अमरसिंह आर्यपथिक द्वारा किये गये चार भिन्न-भिन्न अनुवाद 'सृष्टि का इतिहास' शीर्षक से छप चुके हैं। पण्डित सूर्यप्रसाद मिश्र ने इसका अनुवाद 'भारत गौरवादर्श'

शीर्षक से किया जिसे आर्यमित्र प्रेस, मुरादाबाद ने १६०० ई० में प्रकाशित किया।

महामहोपाध्याय पण्डित आर्यमुनि ने 'वैदिक काल का इतिहास' लिखा। प्रोफेसर बालकृष्ण द्वारा लिखित 'भारतवर्ष का संक्षिप्त इतिहास' भी लाहौर से प्रकाशित हुआ था। भारतेन्दुकालीन लेखक राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द ने 'इतिहास तिमिरनाशक' नामक एक इतिहास-विषयक ग्रन्थ लिखा था। इसी में उन्होंने जैन और बौद्ध मत की एकता की बात लिखी थी जिसे आधार बनाकर स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में उक्त दोनों मतों को एक बताया है। सितारेहिन्द की इतिहास-विषयक कतिपय धारणाओं का खण्डन करते हुए फर्रुखाबाद-निवासी पण्डित गोपालराव हरि शर्मा ने तिमिर-नाशक तृतीय खण्डसार लिखा। इसमें राजा साहब के ग्रन्थ के तीसरे खण्ड की आलोचना है।

जब महात्मा मुन्शीराम ने गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना कर राष्ट्रीय शिक्षा-नीति को क्रियान्वित किया तो यह आवश्यक समझा गया कि गुरुकुलीय छात्रों को ऐसा इतिहास पढ़ाना चाहिए जो भारतीय परम्पराओं के प्रति उनकी आस्था जगा सके तथा जिसमें भारतवर्ष के अतीत का सही चित्रण किया गया हो। विदेशी लेखकों द्वारा लिखे गये इतिहास उस आवश्यकता की पूर्ति नहीं कर सकते थे। फलतः गुरुकुल के आचार्य प्रो० रामदेव को ही भारतवर्ष का इतिहास लिखने में सन्नद्ध होना पड़ा। इस ग्रन्थ का प्रथम भाग 'आर्ष पर्व' शीर्षक से १६६७ वि० में छपा। द्वितीय भाग १६८३ वि० में प्रकाशित हुआ। तृतीय भाग (बौद्ध काल) का लेखन प्रो० रामदेव तथा डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने संयुक्त रूप से किया। यह १६६० वि० में प्रकाशित हुआ। गुरुकुल काँगड़ी के ही एक अन्य प्रतिभावान् स्नातक पण्डित चन्द्रगुप्त वेदालंकार ने "बृहत्तर भारत" लिखकर आर्य संस्कृति के दक्षिण-पूर्वीय देशों में प्रसार की गौरवगाथा निबद्ध की। आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने भारत के प्राचीन इतिहास की शोध करते हुए और इतिहास को क्रमबद्ध रूप से प्रस्तुत करते हुए स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों को दृष्टि में रखा है, और आधुनिक इतिहासकारों के मन्तव्यों के साथ-साथ आर्यसमाज व स्वामीजी के मन्तव्यों का भी उल्लेख किया है। इस प्रसंग में डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार के सिन्धुघाटी सभ्यता की लिपि को वैदिक प्रतिपादित करनेवाले लेख तथा पण्डित जयचन्द विद्यालंकार, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार और प्रो० हरिदत्त वेदालंकार के इतिहास-विषयक उच्चकोटि के ग्रन्थ विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। लाला लाजपतराय जहाँ एक तेजस्वी राजनेता तथा देशभक्त महापुरुष थे, वहाँ सिद्धहस्त लेखक के रूप में भी उन्होंने पर्याप्त ख्याति अर्जित की थी। वे इतिहास के प्रौढ़ विद्वान् थे। उनका उर्दू में लिखा भारतवर्ष का इतिहास (भाग—१) श्री सन्तराम द्वारा अनूदित होकर वैदिक पुस्तकालय, लाहौर से प्रकाशित हुआ। भाई परमानन्द ने भी उर्दू में 'तारीखे हिन्द' नामक एक अन्य इतिहास-ग्रन्थ लिखा था। इसमें अंग्रेजी शासन की तीखी आलोचना की गई थी, अतः यह पुस्तक विदेशी सरकार द्वारा जब्त कर ली गई।

पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार ने 'महर्षि पतंजलि और तत्कालीन भारत' में शुंगकालीन राजा पुष्यमित्र तथा उनके राजपुरोहित महाभाष्यकार पतंजलि का ऐतिहासिक इतिवृत्त प्रस्तुत किया है। यह खोजपूर्ण ग्रन्थ १६१४ ई० में छपा। इतिहास-विषयक अन्य स्फुट ग्रन्थों में छूट्टनलाल स्वामी का 'आर्यावर्त का इतिहास', बाबूराम

शर्मा का 'भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास और उसकी सभ्यता' (१६०७ ई०) उल्लेखनीय हैं। किन्तु इतिहास के अन्वेषण तथा लेखन में जितना परिश्रम पण्डित भगवद्दत्त ने किया, उतना सम्भवतः किसी अन्य आर्य विद्वान् ने नहीं किया। पाश्चात्य लेखकों की भारतीय इतिहास की मिथ्या धारणाओं को अपनी प्रबल युक्तियों एवं तर्कबल से भूमिसात् करते हुए पण्डित भगवद्दत्त ने भारतवर्ष का इतिहास (१६४० ई०) तथा भारतवर्ष का बृहद् इतिहास दो खण्डों में (प्रथम खण्ड का प्रकाशन २००८ वि०, द्वितीय का २०१७ वि०) लिखा है। इसमें भारतीय इतिहास की कालगणना पर भी नवीन दृष्टि से विचार किया गया है तथा आधुनिक इतिहासकारों की इस स्थापना का प्रबल प्रतिवाद किया है, जिसके अनुसार भारतीय इतिहास का आरम्भ बुद्ध के जन्म से ही माना जाता है तथा उससे पूर्व की घटनाओं को प्रागैतिहासिक (Pre-Historic) कहकर उनकी उपेक्षा की जाती है। पण्डित भगवद्दत्त ने इन इतिहास-ग्रन्थों के लेखन में पुराण-वर्णित वंशावलियों का भी पूर्ण उपयोग किया है तथा अनेक नवीन स्थापनाएँ प्रस्तुत की हैं। पण्डित काशीनाथ शास्त्री का 'वैदिककालीन भारत' विशेष परिश्रम तथा अध्ययन के पश्चात् लिखा गया है। पण्डित ईश्वरीप्रसाद प्रेम का भारतवर्ष का शुद्ध इतिहास (१६८२ ई०) एक संग्रह-प्रधान कृति है।

(५) सामयिक राजनीति-विषयक साहित्य

आर्यसमाज मूलतः एक धार्मिक संस्था होने के कारण किसी देशविशेष की सामयिक राजनीति से अपना सरोकार नहीं रखती। किन्तु सिद्धान्ततः धर्म और राज-नीति को पृथक् भी नहीं किया जा सकता। ऐसा कहकर हम उस साम्प्रदायिक राजनीति का समर्थन नहीं कर रहे हैं जो भारत में मुस्लिम लीग के नेताओं, नगालैण्ड के ईसाई पादरियों तथा पंजाब में अकाली सिक्खों के द्वारा चलाई जाती रही है। हमारे कथन का अभिप्राय तो इतना ही है कि राजनीति भी कुछ नैतिक मूल्यों पर खड़ी रहती है और इन मूल्यों की स्थापना और पालन कराना धर्म के द्वारा ही सम्भव है। महात्मा गांधी ने साधनों की पवित्रता पर जोर देते हुए कहा था कि यदि स्वराज्य जैसे पवित्र लक्ष्य की प्राप्ति असत्य, अन्याय, हिंसा आदि अनैतिक साधनों से की जाती है तो वह हमें स्वीकार्य नहीं होगा। वस्तुतः राजनीति पर धर्म का नियंत्रण और अनुशासन होना ही चाहिए। स्वामी दयानन्द ने भी सत्यार्थप्रकाश के छठे समुल्लास में राजनीति को 'राजधर्म' कहकर व्याख्यात किया है। आर्यसमाज का अनुयायी भी किसी-न-किसी देश का नागरिक अवश्य होता है और व्यक्तिगत रूप से ही सही, वह अपनी रुचि के अनुसार स्वदेश की राजनीति में भाग भी लेता है। आर्यसमाज के इतिहास की इस ग्रन्थमाला के चतुर्थ खण्ड में आर्यसमाज एवं राजनीति का विशद विश्लेषण प्रस्तुत किया जा चुका है। इसके साथ ही भारत की स्वतन्त्रता की लड़ाई में आर्यसमाजियों के योगदान का भी विस्तृत उल्लेख हुआ है। निश्चय ही राष्ट्रीय आन्दोलनों में आर्यसमाजियों ने बढ़-चढ़-कर भाग लिया था और उनके बलिदानों ने देश की आजादी को भी सुनिश्चित बना दिया था।

सामयिक राजनीति—आर्यसमाज मुख्यतः एक धार्मिक आन्दोलन के रूप में उभरा, परन्तु उसके संस्थापक स्वामी दयानन्द ने धर्म की जैसी व्यापक परिभाषा की

थी, उसके भीतर मानव-जीवन के वे सभी पहलू समा जाते हैं जो उसकी उन्नति में सहायक तथा उसे ऊर्ध्वगामी बनाने में कारण बनते हैं। इस दृष्टि से राजनीति अथवा राजधर्म को भी आर्यसमाज के चिन्तन तथा उसके कार्यक्रम से पृथक् नहीं किया जा सकता। तथापि किसी देशविशेष की प्रचलित राजनीति में संस्थागत रूप में आर्यसमाज ने कभी भाग नहीं लिया। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि आर्यसमाजी लोग स्वदेश के हित तथा स्वराष्ट्र की उन्नति के कार्यक्रमों के प्रति उदासीन तथा उपराम रहें। ठीक इसके विपरीत आर्यसमाजियों ने भारत को स्वाधीन बनाने तथा उसके सर्वतोमुखी विकास एवं हित के लिए जी-जान से काम किया है। यद्यपि सामयिक राजनीति से आर्यसमाज संगठित रूप में कभी नहीं जुड़ा, किन्तु उसके नेताओं, कार्यकर्ताओं तथा नीति-निर्माताओं ने समय-समय पर प्रचलित राजनैतिक समस्याओं और प्रश्नों पर खुलकर विचार प्रकट किये हैं तथा सुस्पष्ट धारणाएँ व्यक्त की हैं। यहाँ हम कुछ ऐसे ही लेखकों तथा उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों पर विचार करेंगे जो सामयिक समस्याओं के प्रति आर्यसमाज के चिन्तन, उसकी नीति तथा इनके समाधान हेतु सुझाये गये उपायों की विवेचना करते हैं।

आर्यसमाज में स्वामी श्रद्धानन्द ही पहले व्यक्ति थे जिन्होंने खुलकर प्रचलित राजनीति में भाग लिया। प्रथम कांग्रेस तथा उसके पश्चात् हिन्दू महासभा में सम्मिलित होकर उन्होंने राष्ट्र-हित तथा जाति-हित के लिए बहुत-कुछ किया। स्वामीजी का कांग्रेस से मतभेद उस समय हुआ जब उन्होंने कांग्रेस पर छाये हुए मौलाना मुहम्मदअली तथा शौकतअली जैसे मुसलमान नेताओं में विद्यमान प्रच्छन्न संकीर्ण साम्प्रदायिक भावों को देखा। उन्होंने अनुभव किया कि यदि हिन्दूसमाज स्वयं संगठित नहीं हो जाता, तो उसकी राजनैतिक आकांक्षाओं का पूरा होना तो दूर रहा, वह अपने अस्तित्व को भी कायम नहीं रख सकेगा। अतः जब उन्होंने कांग्रेस के समक्ष अछूतोद्धार की बात रक्खी तो पुरानी पीढ़ी के अनेक राष्ट्रीय नेता उनसे सहमत नहीं हो सके। काकिनाडा कांग्रेस के अध्यक्ष-पद से भाषण देते हुए जब मौलाना मुहम्मदअली ने देश के ६ करोड़ अछूतों को हिन्दू और मुसलमानों में समान रूप से बाँट लेने की बात कही तो स्वामी श्रद्धानन्द का माथा ठनका और उन्होंने अनुभव किया कि कांग्रेस में रहकर हिन्दू संगठन तथा दलितोद्धार का कार्य करना सम्भव नहीं है। फलतः उन्होंने कांग्रेस से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और लाला लाजपतराय तथा मदनमोहन मालवीय के सहयोग से हिन्दू महासभा को शक्ति-शाली बनाने के कार्य में जुट गये।

वस्तुतः स्वामी श्रद्धानन्द कांग्रेस के द्वारा मुसलमानों के प्रति बरती जाने वाली अनावश्यक तुष्टिकरण की नीति के ही खिलाफ थे। उन्होंने उर्दू में 'हिन्दू मुस्लिम इत्तिहाद की कहानी' लिखी तथा अंग्रेजी में 'हिन्दू संगठन' ग्रन्थ लिखकर अपने एतद्विषयक विचार प्रकट किये। उनकी Inside Congress शीर्षक पुस्तक उन निबन्धों का संग्रह है जो उन्होंने कांग्रेस में काम करते हुए प्राप्त अनुभवों के संस्मरणरूप में लिखे थे। राजस्थान के आर्य नेता चाँदकरण शारदा का राजनैतिक जीवन भी महात्मा गांधी के असहयोग आन्दोलन में भाग लेने से ही आरम्भ हुआ था। जब वे महात्मा जी की प्रेरणा में असहयोगी बने तो उन्हें नरमदली राजनीतिज्ञों की नीतियों के प्रति अत्यन्त वितृष्णा उत्पन्न हो गई। अपनी पुस्तक 'माडरेटों की पोल' (१९२२ ई०) में उन्होंने

सर तेज बहादुर सप्रू तथा एम० आर० जयकर की मध्यममार्गी नीतियों का डटकर खण्डन किया है। उन्होंने 'असहयोग' के समर्थन में एक पृथक् ग्रन्थ भी इसी नाम से लिखा था।

यह सत्य है कि कांग्रेस के नेतृत्व में चलाये गये देश को स्वतन्त्रता प्राप्त कराने के आन्दोलनों में आर्यसमाजियों ने खुलकर भाग लिया था, किन्तु यह भी उतना ही सत्य है कि अपने प्रखर राष्ट्रवादी विचारों तथा असाम्प्रदायिक दृष्टिकोण के कारण वे महात्मा गांधी तथा कांग्रेस के अन्य नेताओं की मुस्लिम तुष्टिकरण की नीति का कभी समर्थन नहीं कर सके। उन्हें यह देखकर हैरानी होती थी कि महात्मा जी जैसे आध्यात्मिक शक्तिसम्पन्न तथा व्यापक दृष्टिवाले नेता भी मुसलमानों की साम्प्रदायिक माँगों तथा संकीर्ण रवैये का दृढ़तापूर्ण प्रतिरोध करना तो दूर, उनके समक्ष आत्म-समर्पण कर देने में भी संकोच नहीं करते। यही कारण है कि आर्यसमाजी लोग कांग्रेस के इस मुस्लिमपरस्त रवैये के सदा विरोधी रहे। उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों में कांग्रेस के इस रुख की आलोचना का स्वर सदा से प्रखर रहा है। स्वामी मंगलानन्द पुरी की 'महात्मा गांधी को चैलेंज' शीर्षक पुस्तक महात्मा जी की मुस्लिम समुदाय विषयक पक्षपातपूर्ण नीतियों की आलोचना करती है। श्री ब्रह्मदत्त स्नातक ने तथाकथित राष्ट्रीय मुसलमानों की पोल खोलते हुए अपनी पुस्तक 'द्विराष्ट्र सिद्धान्त और राष्ट्रीय मुसलमान' में बताया है कि यदि जिन्ना और लियाकतअली आदि मुस्लिमलीगी नेता पाकिस्तान का खुलकर समर्थन करते थे तो कांग्रेस में रहनेवाले तथाकथित राष्ट्रीय मुसलमान नेताओं का द्विराष्ट्र-सिद्धान्त के प्रति दृष्टिकोण उनसे अधिक भिन्न नहीं था। मौलाना अबुलकलाम आजाद ने तो कहा ही था कि उनकी राय में पाकिस्तान का निर्माण भारत के मुसलमानों के हित में नहीं है। अर्थापत्ति से मानो वे यह कहना चाहते थे कि यदि देश-विभाजन मुसलमानों के के हित में हो, तो उसे स्वीकार करने में उन्हें आपत्ति नहीं होगी। प्रत्येक मुसलमान के लिए मजहब का हित पहली चीज है, देशहित का नम्बर उसके बाद में ही आता है। 'राष्ट्रीय मुसलमान' शब्द का प्रयोग ही भ्रामक था। सरदार पटेल के शब्दों में एकमात्र जवाहरलाल नेहरू ही राष्ट्रीय मुसलमान थे।

डॉ० सूर्यदेव शर्मा ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पाकिस्तान' देश-विभाजन से पूर्व ही लिखी थी। साहित्य निकेतन अजमेर से यह १९४६ ई० में छपी। पकिस्तान की योजना के आदि पुरस्कर्ताओं की समस्त कारगुजारियों का पूरा विवरण देकर लेखक ने इस ग्रन्थ को ऐतिहासिक यथार्थता तथा प्रामाणिकता प्रदान की है। रोहतक-निवासी श्री रामनारायण बी० ए० ने 'कांग्रेस की मुस्लिमपोषक नीति तथा हिन्दू' पुस्तक २००१ वि० में लिखी। पण्डित ओम्प्रकाश त्यागी लिखित 'कांग्रेस सरकार का सिरदर्द—साम्प्रदायिकता और इसका इलाज' भी अनेक रोचक तथ्यों से भरपूर पुस्तक थी जो २०१५ वि० में प्रकाशित हुई। ठाकुर अमरसिंह आर्यपथिक ने 'भारतीयकरण' लिखकर भारत के उन नागरिकों को देश की सामान्य जीवनधारा में सम्मिलित होने के लिए कहा जो इस देश में रहकर भी इतर देशों की राजनीति, संस्कृति तथा जीवनदर्शन के प्रति आस्था प्रकट करने में संकोच नहीं करते। मेरठ के यशस्वी पत्रकार श्री विश्वम्भरसहाय प्रेमी ने भी सामयिक प्रश्नों पर अनेक उपयोगी ग्रन्थ लिखे थे। उनकी पुस्तक 'हिन्दुत्व की रक्षा का महान् प्रश्न' १९५७ ई० में छपी। आर्यसमाज में राजनैतिक प्रश्नों के प्रखर चिन्तक पण्डित प्रकाशवीर शास्त्री ने काश्मीर-समस्या को लेकर 'धधकता काश्मीर' शीर्षक

विचार-प्रधान ग्रन्थ लिखा। अभी हाल ही में पंजाब-समस्या पर प्रसिद्ध पत्रकार तथा सिद्धहस्त लेखक पण्डित क्षितीश वेदालंकार की पुस्तक 'पंजाब—तूफान के दौर से' ने पर्याप्त लोकप्रियता अर्जित की है। सिखों में व्याप्त असन्तोष तथा अकाली राजनीति के साम्प्रदायिक रुझान के सही कारणों का मूल्यांकन करने के साथ-साथ उन्होंने सिख मत की हिन्दू धर्म से अभिन्न मौलिक मान्यताओं की सप्रमाण मीमांसा भी की है। इतिहास के व्यापक परिप्रेक्ष्य में सिख-राजनीति का निष्पक्ष विश्लेषण इस ग्रन्थ की एक अन्य विशेषता है।

समाजवाद एवं साम्यवाद-विषयक ग्रन्थ—साम्यवादी विचारधारा के प्रचारक कार्ल मार्क्स तथा आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द समकालीन थे। मार्क्स ने राजनीति, समाजशास्त्र तथा अर्थशास्त्र जैसे विषयों का गूढ़ अनुशीलन कर जो निष्कर्ष निकाले, उसे उन्होंने अपने Das Capital (पूँजी) शीर्षक विख्यात ग्रन्थ में प्रस्तुत किया। उधर भारत में स्वामी दयानन्द ने धर्म, समाज, संस्कृति तथा राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में नवजागरण का शंख फूँका और बृहत्तर हिन्दू समाज में नव्य चेतना उत्पन्न की। दोनों महापुरुषों का चिन्तन व कार्य युगपरिवर्तनकारी था तथा मानव-जाति के व्यापक हित को लक्ष्य में रखकर किया गया था। मार्क्स ने मानव के आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक शोषण के लिए पूँजीवाद व सामन्तवाद को उत्तरदायी ठहराया तथा सर्वहारा वर्ग को क्रान्ति के द्वारा समाजवादी व्यवस्था स्थापित करने की प्रेरणा दी जो शोषण, अत्याचार तथा अन्याय से मानव को मुक्ति दिला सकती है। दयानन्द ने भी मानव द्वारा मानव पर किये जाने वाले अन्याय एवं अत्याचार का प्रबल विरोध किया तथा विश्व-मानव की एकता पर जोर दिया। दोनों महापुरुषों के लक्ष्यों में आश्चर्यजनक एकता दिखाई देती है जब कि दोनों के लक्ष्य-प्राप्ति के साधन भिन्न-भिन्न हैं। मार्क्स ने यूरोप में धर्म के नाम पर जो पाखण्ड, अनाचार, अत्याचार तथा शोषण का भयंकर रूप देखा था, उससे उन्हें धर्म के प्रति ग्लानि हुई और वे उसे मानव-जाति के लिए अफीम की संज्ञा दे बैठे। स्वामी दयानन्द ने मनुष्य की दुर्दशा के लिए धर्म को उत्तरदायी न ठहराकर धर्म के नाम पर दुकानदारी चलाने तथा उसे व्यवसाय का रूप देने वाले धर्मयाजकों के के विरोध में आवाज उठाई।

तथापि समाजवाद के मौलिक मन्तव्यों से वैदिक विचारधारा का कोई विरोध नहीं है। स्वयं वेद में ही ऐसे अनेक मन्त्र आते हैं जो मानव-मानव के बीच प्रेम, सौहार्द तथा समानता की बात कहते हैं। ऋग्वेद का अन्तिम सूक्त तो मनुष्यों के संकल्प, विचार, सभा, समिति, चिन्तन-मनन, बोलने, चलने आदि में सर्वत्र समानता का प्रतिपादन करता है। अन्यत्र भी वेद में मनुष्य-मनुष्य के बीच पनपनेवाले छोटे-बड़े के भाव को अस्वीकार किया है तथा सबको समान अवसर प्राप्त करने तथा प्रगति-पथ पर आरूढ़ होने की प्रेरणा दी है। आर्यसमाज के विद्वानों ने समाजवाद पर जो ग्रन्थ लिखे हैं, वे दो प्रकार के हैं। कुछ ग्रन्थ ऐसे हैं जिनमें वैदिक समाजवाद की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है जबकि अन्य कोटि के ग्रन्थों में रूसी टाइप के साम्यवाद की आलोचना की गई है।

महात्मा नारायणस्वामी ने अपने विस्तृत अध्ययन के बल पर 'समाजवाद—प्राचीन और नवीन' लिखा जो आर्यप्रादेशिक सभा, लाहौर से छपा। इसमें उन्होंने मार्क्स-पूर्व के समाजवादी विचारकों की विचारधारा का भी परिचय दिया है तथा वेदाधारित

समाजवाद की विशेषताएँ निरूपित की हैं। उनका 'वैदिक साम्यवाद' शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ नारायणदत्त सहगल लाहौर ने १९३७ ई० में प्रकाशित किया। स्वामी सदानन्द परिव्राजक बंगाली संन्यासी थे। उन्होंने 'वेद और साम्यवाद' में दोनों विचारधाराओं की तुलना की है। उनका एक अन्य ग्रन्थ 'वेद और साम्यवादियों के विरोधियों से' स्वतन्त्रानन्द पुस्तकालय अमृतसर से १९३९ ई० में छपा। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने 'कम्युनिज्म' लिखकर साम्यवादी सिद्धान्तों की तथ्यपूर्ण आलोचना लिखी। पण्डित वीरसेन वेदश्रमी तथा स्वामी अग्निवेश के 'वैदिक समाजवाद' शीर्षक ग्रन्थ आर्य विचारों के अनुकूल समाजवाद की व्याख्या करते हैं। श्री चिरंजीलाल प्रेम ने रूसी साम्यवाद की आलोचना 'सुर्ख आंधी' शीर्षक ग्रन्थ में की है। पण्डित कालीचरण शर्मा का 'वैदिक रूसी साम्यवाद' साधारण स्तर की समालोचना प्रस्तुत करता है।

(६) स्वास्थ्यरक्षा एवं चिकित्सा-विषयक साहित्य

स्वामी दयानन्द ने मनुष्य की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति को आर्यसमाज का मुख्य लक्ष्य तथा कर्त्तव्य ठहराया है। उनकी यह सुनिश्चित धारणा थी कि स्वस्थ मन और स्वस्थ आत्मा के लिए स्वस्थ शरीर का होना आवश्यक है। वे अपने भाषणों और प्रवचनों में लोगों को ब्रह्मचर्य पालन करने तथा शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त करने के लिए सदा प्रेरित करते थे। आर्यसमाज ने अपने प्रारम्भकाल से ही अपने सदस्यों को शारीरिक बल बढ़ाने की प्रेरणा दी और इसके लिए अनेक साधन भी प्रस्तुत किये। प्रायः आर्यसमाज मंदिरों में व्यायामशालाएँ होती हैं और कुश्ती आदि के लिए अखाड़े भी रहते हैं। आर्यवीर दल का संगठन भी शारीरिक स्वास्थ्य और सामाजिक संगठन को सुदृढ़ बनाने के लिए ही किया गया था।

आर्य लेखकों ने स्वास्थ्य-रक्षा, व्यायाम, चिकित्सा जैसे विषयों पर भी उच्च कोटि का साहित्य लिखा है। इस साहित्य का स्वल्प परिचय यहाँ दिया जा रहा है। प्रसिद्ध आर्य नेता एवं विद्वान् डॉ० गोकुलचन्द नारंग ने 'बच्चों की तरबियत' शीर्षक उर्दू पुस्तक शिशुपालन पर लिखी थी। हिन्दी में इसका अनुवाद पण्डित शंकरदत्त शर्मा ने किया जो वैदिक पुस्तकालय मुरादाबाद से १९१८ ई० में प्रकाशित हुआ। पण्डित आत्माराम अमृतसरी लिखित शरीर-विज्ञान तथा बलप्राप्ति भी उपयोगी ग्रन्थ हैं। डॉ० केशवदेव शास्त्री उच्च कोटि के विद्वान् होने के साथ-साथ सफल चिकित्सक भी थे। उन्होंने अमेरिका से एम० डी० की उपाधि प्राप्त की थी। उनका 'अमर जीवन' ग्रन्थ शारदा मंदिर दिल्ली से प्रकाशित हुआ था। विद्यार्थियों के पालन योग्य स्वास्थ्य के नियमों, ब्रह्मचर्यपालन तथा व्यायामादि विषयों पर भी अनेक उपयोगी ग्रन्थ लिखे गये। लाहौर के पण्डित ठाकुरदत्त वैद्य अमृतधारा ने 'विद्यार्थियों के हित की बातें' लिखीं। पण्डित हरिश्चन्द्र विद्यालंकार का 'माता का संदेश' भी इसी विषय पर लिखी गई पुस्तक है। महात्मा नारायण स्वामी लिखित विद्यार्थी-जीवन-रहस्य इस विषय की अत्यन्त उपयोगी तथा लोकप्रिय पुस्तक सिद्ध हुई है। इसे अनेक प्रकाशकों ने छापा है। 'सार्वदेशिक' साप्ताहिक ने तो इसे विशेषांक के रूप में प्रकाशित किया था। डॉ० सूर्यदेव शर्मा का 'स्वस्थ जीवन' तथा पण्डित चन्द्रभानु शर्मा का 'स्वास्थ्यविज्ञान' भी इस विषय के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। राजस्थान की चिकित्सा एवं स्वास्थ्य-सेवाओं के भूतपूर्व निदेशक डॉ० सत्यदेव आर्य ने 'स्वास्थ्य विज्ञान' शीर्षक

एक उपयोगी ग्रन्थ लिखा जिसे राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर ने प्रकाशित किया।

व्यायाम से सम्बन्धित अनेक ग्रन्थ निकले हैं। आचार्य भगवान्देव (स्वामी ओमानन्द सरस्वती) ने 'व्यायाम का महत्त्व' लिखा तो पण्डित विश्वबंधु विद्यालंकार ने 'व्यायाम संजीवनी' का प्रणयन किया। योगासनों पर भी अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, जिनमें पं० भगवान्देव शर्मा की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। पं० गणेशदत्त शर्मा 'इन्द्र' का 'योगासन' साहित्य मण्डल दिल्ली से १९५३ ई० में प्रकाशित हुआ। आचार्य भद्रसेन ने 'योग का व्यावहारिक ज्ञान' स्वामी कुवलयानन्दजी के निकट रहकर प्राप्त किया था। उनकी 'योग और स्वास्थ्य' इस विषय की श्रेष्ठ पुस्तक है। उन्होंने चिकित्सा-विषयक अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। आचार्य भगवान्देव ने भी चिकित्सा-विषयक अपने अनुभवों को ग्रन्थाकार प्रकाशित किया है।

(७) विभिन्न धर्मग्रन्थों के अनुवाद, टीका आदि

विभिन्न धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन के लिए उन सभी के मान्य ग्रन्थों का अनुशीलन आवश्यक होता है। आर्यसमाज के प्रवर्तक स्वामी दयानन्द ने जिस समय सत्यार्थप्रकाश के उत्तरार्द्ध में विभिन्न मत-पन्थों की आलोचना लिखने का विचार किया, उस समय उनके लिए यह आवश्यक हुआ कि वे इन सम्प्रदायों के प्रामाणिक ग्रन्थों का विस्तृत अध्ययन करें ताकि उनकी यह समीक्षा अधिकाधिक वस्तुपरक, तथ्यात्मक तथा विश्वसनीय बन सके। प्रारम्भ में उन्हें जैन ग्रन्थों को प्राप्त करने में कठिनाई हुई, क्योंकि जैनमत के लोग अन्य धर्मों के अनुयायियों को अपने ग्रन्थ न तो दिखाते हैं और न अपने सिद्धान्त ही उन्हें बताते हैं। यही कारण था कि सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में लिखी गई जैनमत की आलोचना की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए उन्हें चुनौती भी दी गई। किन्तु द्वितीय संस्करण के निकलने तक वे जैन ग्रन्थों का विस्तृत अध्ययन कर चुके थे। इस तथ्य का संकेत उन्होंने इस ग्रन्थ की भूमिका में ही दे दिया है। यहूदी एवं ईसाईधर्म के ग्रन्थ इंजील के अनेक हिन्दी तथा संस्कृत अनुवाद स्वामीजी को उपलब्ध हुए थे, अतः बाइबिल के पुराने और नवीन अहदनामे (Testaments) के आधार पर ईसाइयत की आलोचना करने में उन्हें कठिनाई नहीं हुई। कुरान का हिन्दी अनुवाद तो उन्होंने स्वयं करवाया तथा पटना-निवासी मुंशी मनोहरलाल से उसका संशोधन भी करवाया था। इसी के आधार पर उन्होंने चतुर्दश समुल्लास में इस्लाम के मन्तव्यों की आलोचना की है।

कालान्तर में जब आर्यसमाज के उपदेशकों ने अन्य मतों का विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन करना आरम्भ किया, तो उन्हें विभिन्न सम्प्रदायों के मान्य ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवादों की आवश्यकता हुई। आर्य मुसाफिर विद्यालय आगरा में तो विधिवत् अन्य मतों के सिद्धान्तों का तुलनात्मक अध्ययन कराया ही जाता था। आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने अन्य मतावलम्बियों के मान्य ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवाद इसी दृष्टि से किये हैं ताकि उनको पढ़कर विभिन्न धर्मों की तुलनात्मक जानकारी प्राप्त की जा सके। यहाँ हम कुछ ऐसे ही अनुवादों का उल्लेख कर रहे हैं।

पारसी मत के आविर्भाव का काल अत्यन्त प्राचीन है। पारसियों के मान्य ग्रन्थ 'अवेस्ता' की भाषा तथा प्रतिपाद्य अनेक दृष्टियों से वैदिक भाषा तथा आर्यधर्म की मान्यताओं के अनुकूल हैं। प्रो० राजाराम ने अवेस्ता के एक अंश (संस्कृत छाया समेत

उपोद्घात ह ओं मयशतनहं पर्यन्त) का हिन्दी अनुवाद किया जो आर्ष ग्रन्थावली से १९९१ वि० में छपा था। बौद्ध धर्म के मान्य ग्रन्थ 'धम्मपद' का अनुवाद पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय (कला प्रेस, प्रयाग से १९३२ ई० में प्रकाशित) ने किया। पण्डित ईश्वरदत्त मेधार्थी विद्यालंकार ने 'धम्मपद-पचीसी' की रचना की। आर्यसमाज के प्रख्यात अंग्रेजी लेखक बावा छज्जूसिंह (जो स्वयं जन्मना सिक्ख थे) ने सिक्ख मत में मान्य 'जपजी साहब' का अंग्रेजी अनुवाद किया जो अरोड़वंश प्रेस लाहौर से छपा। 'जपजी साहब' का उर्दू अनुवाद पण्डित चमूपति ने भी किया था। पण्डित ईश्वरदत्त मेधार्थी विद्यालंकार सन्त कबीर की शिक्षाओं से अत्यन्त प्रभावित थे। उन्होंने सद्गुरु कबीर साखी संग्रह, संक्षिप्त कबीरबीजक तथा कबीरसाखी शतक का सम्पादन किया।

अन्य मतग्रन्थों में कुरान ही ऐसी पुस्तक है जिस पर आर्य विद्वानों ने अधिसंख्य भाष्य और टीकाएँ लिखीं तथा इसके अनुवाद प्रस्तुत किये। पण्डित लक्ष्मण ने कुरान का वैदिक भाष्य लिखा जिसे उन्होंने 'रवातमुत्तासफीर' का शीर्षक दिया था। इसमें कुरान में प्रदत्त शिक्षाओं को वेदानुकूल सिद्ध किया गया है। पण्डित सत्यदेव (मौलाना गुलामहैदर), पण्डित कालीचरण शर्मा तथा पण्डित धर्मवीरकृत कुरान के हिन्दी अनुवादों की जानकारी मिलती है, यद्यपि ये अनुवाद अधूरे ही थे। पण्डित रामचन्द्र देहलवी ने हिन्दी कुरान प्रथम भाग सटीक में 'सूरए फातिहा' तथा 'सूरए बकर' का हिन्दी अनुवाद किया है। यह बेताब प्रिंटिंग वर्क्स दिल्ली से १९२४ ई० में छपा। रामचन्द्र वर्मा तथा प्रेमशरण प्रणत ने 'सूरए बकर' का भाषानुवाद १९८२ ई० में किया। इसमें मूल अरबी आयतें भी देवनागरी लिपि में दी गई थीं। पण्डित रामस्वरूप आर्यमुसाफिर ने कुरान-भाष्य (भाग-१) लिखा जो आर्यमुसाफिर ट्रैक्टमाला बनारस से १९२७ ई० में छपा। अन्य धर्मग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवाद करने में आर्य विद्वानों की अभिरुचि का पता उपर्युक्त विवरण से लग जाता है।

सोलहवाँ अध्याय

आर्यसमाज का भजनसाहित्य

(१) भजन साहित्य

मानव अपनी भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए संगीत जैसे मनोमुग्धकारी एवं स्फूर्तिदायक साधन का सहारा सदा से ही लेता आया है। उल्लास के क्षणों में मानवकण्ठ से संगीत की स्वर-लहरी अनायास फूट पड़ती है। पौराणिक जगत् में निम्न उक्ति प्रसिद्ध है—

नाहं वसामि वैकुण्ठे योगिनां हृदये न वा।
मद्भक्ताः यत्र गायन्ति तत्र तिष्ठामि नारद।।

जहाँ भक्तगण भगवान् का संगीतमय गुणानुवाद करते हैं वहीं परमात्मा निवास करता है, न तो उसे वैकुण्ठ में ही तलाश करना चाहिए और न योगियों के हृदय में। महाकवि बिहारी के शब्दों में—

तंत्रीनाद कवित्त-रस सरस-राग रतिरंग।
अनबूडे बूडे तिरे जे बूडे सब अंग।।

संगीत और साहित्य आदि सरस कलाओं में जब तक मनुष्य सर्वात्मना तल्लीन नहीं हो जाता, तब तक वह उनके रसास्वादन से वंचित ही रहता है, और जो इन कलाओं में सब प्रकार से निमग्न हो जाता है, वही उनका वास्तविक आनन्द ले सकता है।

आर्यसमाज के गायक कलाकारों ने संगीत के सहारे आर्य सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार किया है। इन गायक उपदेशकों को प्रायः 'भजनोपदेशक' अथवा 'भजनीक' कहा जाता है। यदा-कदा इनके लिए केवल 'प्रचारक' शब्द का भी प्रयोग होता है। संगीत और प्रभुभक्ति का अटूट सम्बन्ध रहा है। संस्कृत में स्तोत्र, शतक, लहरी आदि शैलियों में ऐसी प्रभूत काव्यरचना हुई है जिसमें देवी-देवताओं तथा अवतार पुरुषों का स्तवन किया गया है। ये सभी काव्य गीतितत्त्व से भरपूर हैं। शिखरिणी, शार्दूलविक्रीड़ित, द्रुत-विलम्बित, मंदाक्रान्ता आदि संस्कृत छन्दों को गायन की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त माना जाता है। मध्यकालीन हिन्दी काव्य तो भक्ति, कविता और संगीत की त्रिवेणी ही है। सूर, मीरा, तुलसी आदि साकारवादी भक्तों की ही भाँति कबीर, नानक, पलटू, रैदास आदि निर्गुण सन्तों की वाणियों का गायन भी सहृदयजनों को भाव-विभोर कर देता है। भक्तिकाल के अधिकांश कवि जहाँ उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा से सम्पन्न थे, वहाँ उनका संगीत का ज्ञान भी विशेषज्ञ कोटि था।

नवजागरण की ऊषा-वेला में बंगभूमि में ब्रह्मसमाज की स्थापना के साथ-साथ एकेश्वरवाद का जयघोष करनेवाले राजा राममोहन राय ने निर्गुण ब्रह्मोपासना का प्रवर्त्तन किया। इस उपासना-पद्धति में जहाँ वेदों और उपनिषदों के ईश्वरोपासना-विधेयक मन्त्रों

एवं श्लोकों का पाठ किया जाता था, वहाँ उच्चकोटि के ब्रह्म-संगीत का गान भी होता था। समाज के संस्थापक राजा राममोहन राय ने स्वयं ब्राह्म-उपासना के समय गायन के लिए संगीतावली (ब्राह्मसमाजेर संगीत) नामक गीत-संग्रह तैयार किया था। ब्रह्म-समाज के साहित्य की सूची में ब्रह्मसंगीत से सम्बन्धित विभिन्न पुस्तकों के नाम उल्लिखित हैं। साधारण ब्रह्मसमाज तथा केशवचन्द्र सेन के नवविधान समाज ने अपनी पृथक्-पृथक् संगीत-पद्धतियाँ प्रचलित की थीं। ब्रह्मसमाज की साप्ताहिक उपासना के समय संगीत-कला में निष्णात गायक उपस्थित होकर ब्रह्मसंगीत प्रस्तुत करते थे, जिसे सुनकर भावुक ब्रह्म-उपासकों के नेत्रों से अविरल अश्रुधाराएँ प्रवाहित हो जाती थीं।

आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द के प्रवचनों के प्रारम्भ में भी भजन-गायन होता था। १८८२ ई० वर्ष की प्रथम तिथि से ही स्वामी दयानन्द की एक व्याख्यानमाला बम्बई में आरम्भ हुई। इसके अन्तर्गत स्वामीजी प्रति रविवार को एक नियत स्थान पर अपना प्रवचन करते थे। इन प्रवचनों का विवरण आर्यसमाज बम्बई की पुरानी कार्यवाही-पंजिकाओं से प्राप्त हुआ है। इससे जाना जाता है कि स्वामीजी के प्रवचन आरम्भ करने से पूर्व किसी गायक के द्वारा गायन प्रस्तुत किया जाता था। निश्चय ही ये गायक आर्य-समाजी विचरधारा में दीक्षित रहे हों, यह तो उस काल में सम्भव ही नहीं था। अनुमान किया जा सकता है कि ऐसे अवसर पर किसी भी संगीतज्ञ की सेवायें प्राप्त कर ली जाती होंगीं। प्रथम व्याख्यान (१ जनवरी १८८२) के विवरण में लिखा गया है—'स्वामीजी की वक्तृता के आरम्भ होने के पहले गायक ने स्तुति गायन किया था।' इसी प्रकार एकादश व्याख्यान (२६ फरवरी १८८२) के विवरण में यह वाक्य अंकित है—'मुख्य वक्तृता आरम्भ होने के पहले गायक ने तम्बूरे पर ईश्वरस्तुति गायन किया।'

स्वामी दयानन्द जब पंजाब-प्रवास के दौरान गुजरात नगर में पहुँचे तो वहाँ उनकी अमीचन्द मेहता से भेंट हुई। ये महानुभाव उन दिनों चुंगी के दारोगा पद पर कार्यरत थे। अमीचन्द मेहता के बारे में यह प्रसिद्ध है कि नाना दुर्गुणों से ग्रस्त होने पर भी वे उच्च कोटि के गायक तथा संगीत-मर्मज्ञ थे। स्वामीजी के जीवन का यह संस्मरण प्रसिद्ध है कि जब एक दिन लोगों के आग्रह करने पर अमीचन्द मेहता ने स्वामी दयानन्द का प्रवचन आरंम्भ होने के पूर्व एक भजन गाया, तो समस्त श्रोता तो मन्त्रमुग्ध हुए ही, स्वयं प्रवचनकर्ता स्वामीजी भी इस गायक की गायकी से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। किन्तु जब उन्हें अमीचन्द की दुश्चरित्रता का पूर्ण ज्ञान हुआ तो उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। उस समय उनके मुँह से बार-बार एक ही वाक्य निकला—'ठीक हो जायगा, देखो, सुधर जायगा।' और दूसरे ही दिन जब अमीचन्द मेहता यथानियम अपना भजन समाप्त करके बैठे और स्वामीजी का प्रवचन सुनने के पश्चात् अपने घर जाने लगे तो स्वामी दयानन्द ने उनकी पीठ पर हाथ धरकर इतना ही कहा—"मेहताजी, तुम हो तो हीरे, किन्तु कीचड़ में पड़े हुए हो।"

अपने युग के महापुरुष के मुख से स्वयं की श्लाघा का यह वाक्य सुनकर दुर्व्यसन-ग्रस्त अमीचन्द की लज्जा, पश्चात्ताप तथा आत्मग्लानि का ठिकाना नहीं रहा। उसके मुंह से तो इतना ही निकला—"महाराज, यदि आपका आशीर्वाद रहा तो जैसा आपने कहा है, वैसा ही (हीरा—निष्कलुष) बनकर दिखाऊँगा।"

इतिहास साक्षी है कि इस घटना के दूसरे ही दिन जब अमीचन्द मेहता दयानन्द

के प्रवचनस्थल पर आये, तो सर्वथा बदले हुए इन्सान थे। उन्होंने शराब, मांस, जुआ और वेश्यावृत्ति को तिलांजलि दे दी थी। अपने परिवर्तित जीवन के प्रथम दिन का आरम्भ उन्होंने निम्न पंक्तियों वाले स्वनिर्मित भजन को दयानन्द की व्याख्यानसभा में गाकर किया। अमीचन्द के पश्चात्ताप और जीवन-परिवर्तन की सूचना देने वाली, इस भजन की ये पंक्तियाँ निम्न थीं—

तुम्हारी कृपा से जो आनन्द पाया।
वाणी से जावे वह क्योंकर बताया।।

और अन्त में कहा—

तुम्हारी कृपा से अजी मेरे भगवन्!
मेरी जिन्दगी ने अजब पलटा खाया।।
गूंगे की रसना के सदृश अमीचन्द,
कैसे बतायें कि क्या रस उठाया।।

इसके पश्चात् तो अमीचन्द आर्यसमाज के दृढ़ अनुयायी बन गये। उन्हीं को आर्यसमाज का प्रथम कवि, गायक एवं भजनोपदेशक होने का गौरव प्राप्त है। वे आर्यसमाज जेहलम के प्रधान भी रहे। उनकी मृत्यु २९ जुलाई १८९३ ई० को हुई। अमीचन्द का काव्य विविध रंगों और जायकों से परिपूरित है। उन्होंने सरल खड़ीबोली, संस्कृतनिष्ठ हिन्दी, पंजाबी, उर्दू-फारसी मिश्रित खड़ीबोली आदि कई भाषा-शैलियों में काव्यरचना की है। अमीचन्द के भक्तिरसपूर्ण गीतों में दैन्य, आत्मनिवेदन, पश्चात्ताप आदि अनेक मानसिक भावों का चित्रण हुआ है। उनके विस्तृत शास्त्रीय अध्ययन का अनुमान 'जय जय पिता परम आनन्ददाता' शीर्षक भजन की पंक्तियों से होता है, जिनमें उन्होंने नाना उपनिषद्-वाक्यों तथा दर्शन-सूत्रों के अभिप्रायों को गूंथ-सा दिया है।

अनुमान होता है कि अमीचन्द मेहता के भजनों के संग्रह उनके जीवनकाल में अथवा उसके बाद अवश्य छपे होंगे, किन्तु धीरे-धीरे वे दुर्लभ होते गये। कुछ भजन-संग्रहों में ही उनकी रचनाएँ संगृहीत रूप में सुरक्षित रह सकीं। दयानन्द-जन्मशताब्दी के अवसर पर पण्डित चमूपति ने 'अमीरस सार' शीर्षक से अमीचन्द के कुछ भजनों का सम्पादित संस्करण प्रकाशित किया। इसमें सम्पादक ने कवि की भाषा को यत्र-तत्र बदल दिया है, इस कारण अमीचन्द की काव्यकृतियों का मूलरूप कुछ-कुछ बदला-सा नजर आता है। वर्षों पश्चात् अमृतसर के पण्डित दौलतराम शास्त्री ने 'अमीरसुधा' शीर्षक से अमीचन्द के भजनों का एक अन्य संग्रह सम्पादित किया। इसमें एक विस्तृत भूमिका लिखकर शास्त्रीजी ने कवि के काव्य का विभिन्न साहित्यिक तत्त्वों की दृष्टि से विश्लेषण किया है। अमीचन्द के अतिरिक्त कुछ अन्य पुराने कवियों के भजन भी इसमें संग्रह किये गये हैं।

जब पंजाब की आर्यसमाजों में विधिवत् साप्ताहिक सत्संग होने लगे, तो वहाँ गायन के लिए कुशल संगीतज्ञ भजन-गायकों की भी आवश्यकता हुई। उस समय तक आर्यसमाज में न तो प्रशिक्षित भजनोपदेशक ही थे और न उनके लिए कोई व्यवस्थित प्रशिक्षण देने की व्यवस्था ही थी। ऐसी स्थिति में सिक्खों के गुरुद्वारों में गुरुवाणी का संकीर्तन करनेवाले रागियों को आर्यसमाज के सत्संगों में आमंत्रित किया जाता था और यही लोग कबीर, नानक, दादू आदि निर्गुण सन्तों की वाणियों को संगीत के माध्यम से

आर्य-सत्संगों में प्रस्तुत करते थे। कालान्तर में जब आर्यसमाज के अनेक प्रचारकों ने विधिवत् संगीत एवं काव्य के माध्यम से उपदेश देना आरम्भ किया तो सिक्ख रागियों को सत्संगों में आमंत्रित करने की प्रथा बन्द हो गई और आर्यसमाज में भजनोपदेशों के माध्यम से धर्मप्रचार का सिलसिला चल पड़ा।

आगे की पंक्तियों में हम कुछ विख्यात भजनोपदेशकों तथा उनके द्वारा प्रणीत भजन-साहित्य का परिचय दे रहे हैं।

चौधरी नवलसिंह—स्वामी दयानन्द के निधन के पश्चात् ही इन्होंने प्रचार-कार्य में प्रवेश किया। ये लावनियाँ बनाकर स्वयं गाते थे। इनकी प्रचार-शैली अत्यन्त रोचक तथा प्रभावोत्पादक थी। इनके भजनों का एक संग्रह 'सभा प्रसन्न' शीर्षक से १८८४ ई० में लाहौर से छपा। इसका तृतीय संस्करण आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त ने भी प्रकाशित किया था।

महात्मा कालूराम—ये राजस्थान के सीकर जिलान्तर्गत रामगढ़ (सेठों का) कस्बे के निवासी थे। वे स्वामी दयानन्द को अपना गुरु मानते थे। पण्डित कालूराम ने राजस्थान के सीकर, नागौर, चुरू, झुंझनू आदि जिलों में वैदिक धर्म का प्रचार किया। इनके भजन राजस्थानी भाषा में हैं जिनमें ईश्वर-भक्ति, त्याग, वैराग्य, अहंकारत्याग, दैन्य आदि भावों की प्रधानता है। इनके भजनों का संग्रह हरदत्तराय सिंहानिया द्वारा सम्पादित होकर १९८१ ई० में 'भजनोदय' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था। जयनारायण पोद्दार लिखित पण्डित कालूराम के जीवनचरित के अन्त में भी उनके कुछ भजन संगृहीत हैं।

पण्डित बस्तीराम—रोहतक जिले के खेड़ी सुल्तान ग्राम में पण्डित बस्तीराम का कृष्ण जन्म आश्विन ४, सं० १८९८ वि० को एक ब्राह्मण परिवार में हुआ। १९३४ वि० में चेचक रोग ने आपको ग्रस्त कर लिया, परिणामस्वरूप १९३६ वि० में आपकी नेत्र-ज्योति सदा के लिए चली गई। स्वामी दयानन्द के दर्शन करने का सौभाग्य पण्डित बस्तीराम को प्राप्त हुआ था। इन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन धर्मप्रचार में ही व्यतीत किया। सरल खड़ीबोली (देहाती हरयाणवी मिश्रित) में इनके द्वारा रचित भजन बड़े प्रभावशाली होते थे। इनके अनेक भजनसंग्रह प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें महर्षि दयानन्द जीवनकथा, पोप की नाखर, पाखण्ड खण्डनी, भजनमनोरंजनी, मानसदीपिका, असली अमृतगीता, गोभजन संग्रह, बस्तीराम-रहस्य आदि मुख्य हैं। इनका निधन २६ अगस्त १९५८ को लगभग ११७ वर्ष की आयु में हुआ। इकतारे पर लोकधुनों की शैली में गाये जाने वाले इनके भजनों ने आर्यसमाज को ग्रामीण क्षेत्रों में लोकप्रिय बनाया। पण्डित बस्तीराम के इन भजनसंग्रहों को हरयाणा साहित्य संस्थान ने पुनः प्रकाशित किया है।

ठाकुर तेजसिंह—बुलन्दशहर जिले के पारसोली ग्राम के निवासी थे। इनका जन्म १८७० ई० में हुआ। १८ वर्ष की अवस्था में इन्होंने सत्यार्थप्रकाश के ६ समुल्लास कण्ठस्थ कर लिये थे। आपकी वाणी में प्रबल आकर्षण था। जनता सहस्रों की संख्या में इनके भजन सुनने के लिए एकत्रित होती थी। हिन्दी पुस्तकालय मथुरा से इनका 'भजन-भास्कर' शीर्षक संग्रह प्रकाशित हुआ है। तेजप्रकाशभजनावली का सम्पादन श्री पन्नालाल पीयूष ने किया जो पुस्तक भण्डार जयपुर से प्रकाशित हुआ। उनका 'तेजसिंह शतक' भी छपा जिसमें सौ भजनों का संग्रह है।

स्वामी भीष्म—इनका जन्म कुरुक्षेत्र जिले के ग्राम तेवड़ा में हुआ। इन्होंने युवावस्था में ही संन्यास ले लिया और हरयाणा, दिल्ली, पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान आदि प्रान्तों में धर्मप्रचार किया। स्वामी भीष्मरचित भजनों की संख्या सैकड़ों क्या, हजारों तक पहुँच गई, क्योंकि इनके प्रकाशित भजनसंग्रहों की संख्या भी पचास के आसपास है। 'स्वामी भीष्म अभिनन्दन ग्रन्थ' में इन पंक्तियों के लेखक ने भीष्म जी की पद्यात्मक कृतियों का विषय एवं शैली के आधार पर पूर्ण विवेचन किया है। स्वामीजी के भजनों की खड़ीबोली हरयाणवी पुट लिये हुए है।

माई भगवती—होशियारपुर के हरयाणा ग्राम की निवासिनी माई भगवती स्वामी दयानन्द की समकालीन थीं। ११ जुलाई १८९९ ई० को इनकी मृत्यु हुई। माई भगवती ने पंजाब प्रान्त में स्वनिर्मित भजनों के माध्यम से धर्मप्रचार किया। उनके पंजाबी व हिन्दी भजनों का संग्रह 'स्त्रीभजन' शीर्षक से अरोड़वंश प्रेस लाहौर से १९५३ वि० में प्रकाशित हुआ था।

कुछ अन्य प्राचीन भजनोपदेशकों तथा उनके द्वारा रचित कृतियों के नाम इस प्रकार हैं—सरदार कान्हसिंह और अमीचन्द मेहता के भजनों का सम्मिलित संग्रह आर्य-भजन-संग्रह शीर्षक से १८८९ ई० में लीथो की छपाई से फर्रुखाबाद में छपा था। दोनों कवियों की मूल पुस्तकें उर्दू में क्रमशः भजनप्रकाश और संगीतसुधारक शीर्षक थीं। उपर्युक्त संग्रह का हिन्दी अनुवाद (इसका अभिप्राय यही था कि इन भजनों को जो कि प्रथम फारसी, उर्दू लिपि में छपे थे, इस संग्रह में नागरी लिपि में छापा गया है) देवदत्त शर्मा ने किया था। सरदार कान्हसिंह की कृति 'भजनप्रकाश' लाहौर से स्वतन्त्र रूप से भी छप चुकी थी। पण्डित गणेशीलाल त्रिपाठी का 'सत्यसंगीत' सरस्वती यंत्रालय प्रयाग से प्रकाशित हुआ। त्रिपाठीजी आर्यसमाज लखनऊ के सभासद थे। पण्डित बदरीदत्त शर्मा आर्यसमाज मुरादाबाद के उपदेशक थे। इनका मानसविनोद (२ भाग) शीर्षक लावनियों और भजनों का संग्रह है जो आर्यसमाज मुरादाबाद से १९४७ वि० में छपा। इनके भजनों की भाषा शुद्ध खड़ीबोली है। जगतनारायण शर्मा का आर्य-भजनसंग्रह गोसेवक प्रेस बम्बई से १८९३ ई० में प्रकाशित हुआ। पुराने भजन-लेखकों में बलदेवसिंह वर्मा का नाम उल्लेखनीय है। इनका शान्तिसरोवर शीर्षक भजनसंग्रह सरस्वती यंत्रालय इटावा से १८९८ ई० में छपा। पण्डित मुरारिलाल शर्मा के खण्डनात्मक भजनों का संग्रह 'भजनपचासा' छपा था। पण्डित प्रयागदत्त अवस्थी आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त के उपदेशक थे। उनका 'भजनभास्कर' आर्य भास्कर प्रेस, मुरादाबाद से प्रकाशित हुआ था।

(२) बीसवीं शती के भजनोपदेशक एवं उनकी रचनाएँ

कुँवर सुखलाल आर्यमुसाफिर आर्यसमाज के विख्यात गायक, कवि तथा प्रभावशाली उपदेशक थे। उनका जन्म बुलन्दशहर जिले के अरनियाँ ग्राम में १८८९ ई० में ठाकुर भीमसिंह नामक एक चौहानवंशीय क्षत्रिय के घर हुआ। प्रारम्भ में इन्होंने गुरुकुल सिकन्दराबाद में रहकर पण्डित मुरारिलाल शर्मा के सान्निध्य में विद्याभ्यास किया। तत्पश्चात् ये पं० भोजदत्त शर्मा द्वारा संचालित, आगरास्थित आर्य मुसाफिर विद्यालय में उपदेशक का प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए चले गये। यहाँ वे निरन्तर बारह वर्ष तक रहे और विधिवत् व्याख्यानकला का अभ्यास किया। उनका उपदेशक-जीवन भी बहुत कम

आयु में ही आरम्भ हुआ और वे मृत्युपर्यन्त आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करते रहे। कुँवर सुखलाल के व्याख्यानों में जहाँ रोचकता, प्रभावोत्पादकता, व्यंग्य, विनोद आदि के तत्त्व रहते थे, वहाँ उनके द्वारा निर्मित गजल और भजन भी काव्य के विभिन्न तत्त्वों से परिपूर्ण हैं। उनके काव्य की भाषा में उर्दू शब्दों का प्राधान्य रहता था, तथापि वह सर्वसाधारण के लिए कठिन नहीं होती थी। उनकी इन काव्यकृतियों से धर्म के प्रति निष्ठा, राष्ट्र के प्रति बलिदान-भावना तथा देश एवं समाज के हित के लिए सर्वस्व त्याग करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। कुँवर सुखलाल के भजन और उनकी अन्य काव्य-कृतियाँ मुसाफिर का खजाना, मुसाफिर-गीतांजलि, जज्बाते-मुसाफिर, मुसाफिर की तड़प, नग्मए मुसाफिर आदि संग्रहों में प्रकाशित हो चुकी हैं। ये सभी उर्दू लिपि में छपे संग्रह हैं। मुसाफिर भजनावली, मुसाफिर पुष्पावली तथा मुसाफिर की तड़प नागरी लिपि में प्रकाशित भजन-संग्रह हैं। २ जनवरी १९८१ को ९२ वर्ष की आयु में इनका निधन हुआ। मुसाफिर की तड़प का एक 'श्रद्धांजलि-संस्करण' प्रेम पुस्तक भण्डार बरेली ने २०३८ वि० में प्रकाशित किया, जिसके आरम्भ में इन पंक्तियों के लेखक ने कुँवर सुखलाल के व्यक्तित्व तथा उनके काव्य का विस्तृत समालोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था।

आर्यसमाज के संगीतविद्यानिपुण, साथ ही काव्यकलासम्पन्न उपदेशकों में पं० प्रकाशचन्द्र कविरत्न का नाम उल्लेखनीय है। उनका प्रसिद्ध गीत 'वेदों का डंका आलम में बजवा दिया देव दयानन्द ने' प्रथम बार स्वामी दयानन्द की जन्मशताब्दी के अवसर पर मथुरा में गाया गया था। तब से वह आर्यसमाज के क्षेत्र में लोकप्रियता के सभी कीर्ति-मानों को तोड़ चुका है। पण्डित प्रकाशचन्द्र का जन्म आश्विन शुक्ला नवमी १९६० वि० को अजमेर में एक पौराणिक ब्राह्मण पण्डित बिहारीलाल के यहाँ हुआ। कविता लिखने और गाने में उनकी रुचि प्रारम्भ से ही थी। आर्य प्रतिनिधि सभा, राजस्थान के महोपदेशक पण्डित रामसहाय शर्मा की प्रेरणा से वे आर्यसमाज के सम्पर्क में आये। वे हिन्दी के विख्यात कवि पण्डित नाथूरामशंकर शर्मा को अपना काव्यगुरु मानते थे। प्रकाश जी ने १९३० ई० के राष्ट्रीय आन्दोलन में भी भाग लिया और कारागार का दण्ड झेला। ११ दिसम्बर १९७७ को उनका निधन हुआ।

प्रकाशजी का काव्य अनेक साहित्यिक गुणों से भरपूर है। उनकी कवितायें विभिन्न शैलियों, रसों, अलंकारों तथा छन्दों में लिखी गई हैं। प्रकाशभजनावली के पाँच खण्डों में उनकी सभी पुरानी कृतियाँ संगृहीत हैं। उनके अन्य काव्यग्रन्थ हैं— प्रकाशतरंगिणी, प्रकाश-भजन-सत्संग, प्रकाश-गीत, कहावत-कवितावली आदि। उन्होंने महाभारत के कथानकों को लेकर अनेक खण्डकाव्य लिखे थे। उनकी रचनाओं का सम्पादन व प्रकाशन उन्हीं के शिष्य श्री पन्नालाल पीयूष ने परिश्रमपूर्वक किया है।

ब्रजप्रान्तवासी कुं० जोरावरसिंह तथा उनकी विदुषी पत्नी श्रीमती प्रभावती आर्यसमाज के वरिष्ठ कवि-दम्पती तथा भजनोपदेशक हैं। पाकिस्तान के निर्माण के विरोध में इस कवि ने 'पाकिस्तान पच्चीसी' लिखी थी जो अत्यन्त लोकप्रिय हुई। इसके गुजराती, मराठी तथा उर्दू संस्करण भी छपे। जब पाकिस्तान का निर्माण हो गया तो कवि ने 'अखण्ड भारत पच्चीसी' लिखकर यह भविष्यवाणी की—'फिर अखण्ड होगा भारत, रह सकता पाकिस्तान नहीं।' उनके अन्य ग्रन्थों में माँ, सिंहनाद (४ भाग), प्रणय-बंधन, प्रवासी-गीतांजलि, रण-भेरी, सत्यार्थप्रकाशगान, देशभक्त प्रताप आदि उल्लेखनीय

हैं। श्रीमती प्रभावती रचित गीत 'नारी-जागृति-गान' में संगृहीत हैं। श्री त्रिलोकचन्द राघव (वर्तमान में स्वामी स्वरूपानन्द) ने टंकारा पुष्पांजलि उस समय लिखी जब वे महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टंकारा के अन्तर्गत कार्य करते थे। उनके भजनों का एक अन्य संकलन राघवपुष्पांजलि (२ भाग) शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है। प्राध्यापक राजेन्द्र 'जिज्ञासु' आर्यसमाज के इतिहास के कुशल अन्वेषक एवं प्रखर वक्ता तो हैं ही, उन्होंने कवि-हृदय भी पाया है। उनकी काव्यकृति हृदयतंत्री (२ भाग) आर्ययुवक समाज, अबोहर से प्रकाशित हो चुकी हैं। उनके इन गीतों में सरसता, भावों का तीव्र-प्रवाह तथा ओजस्विता है।

वस्तुतः आर्यसमाज के भजनोपदेशक कवियों तथा भजन-रचयिताओं की संख्या इतनी अधिक है कि उनका समग्र एवं व्यापक आधार पर सर्वेक्षण तथा विवेचन शोध का एक पृथक् आयाम ही प्रस्तुत करता है। ऊपर की पंक्तियों में हमने इनका घुणाक्षरन्याय से ही परिचय दिया है। आर्यसमाज देश का एक ऐसा आन्दोलन था जो व्यापक जनाधार को लेकर चला तथा जिससे भारत के विभिन्न भाषा-भाषी प्रान्तों के लोगों ने प्रेरणा प्राप्त की। यहाँ हम यह भी देखने का प्रयत्न करेंगे कि हिन्दी से भिन्न किन भाषाओं, उपभाषाओं अथवा बोलियों में आर्यसमाजी भजनीकों ने भजन लिखे हैं। उपर्युक्त विवेचन में प्रासंगिक रूप में हमने संकेत दिया है कि पण्डित बस्तीराम तथा स्वामी भीष्म जैसे हरयाणा-निवासी उपदेशकों की भजन-रचनाओं में बागड़ी अथवा हरयाणवी बोली के शब्दों का भूरिशः प्रयोग मिलता है। ऐसा होना स्वाभाविक ही था। इन भजनों की भाषा का यह सर्व-साधारण के समझ में आनेवाला रूप ही उन्हें लोकप्रियता प्रदान करता तथा जनता तक पहुँचता था।

राजस्थान के भजनोपदेशकों ने जहाँ हिन्दी खड़ीबोली में काव्यरचना की, वहाँ भजनों में अपने प्रान्त की राजस्थानी (मारवाड़ी) भाषा को भी प्रयुक्त किया। स्वामी दयानन्द के समकालीन, अजमेर के जेठमल सोढ़ा के काव्य में राजस्थानी का निर्बाध प्रयोग हुआ है। उनकी 'ऋगराज विनय' शीर्षक कविताएँ उनके पुत्र स्व० ब्रह्मदत्त सोढ़ा द्वारा प्रकाशित हुई थीं। महात्मा कालूराम के भजनों में राजस्थानी का वह रूप प्रयुक्त हुआ है जो शेखावाटी (सीकर, झुंझनू जिले) प्रदेश में बोला जाता है। शुद्ध मारवाड़ी की रचनाएँ नागौर-निवासी पण्डित भगवतीप्रसाद अभय ने लिखी हैं। उनके भजनसंग्रह 'होली रो हेलो', 'अभय-भजनावली' तथा 'कथा कुंज' प्रकाशित हो चुके हैं। कथाकुंज में कृष्ण-सुदामा के उपाख्यान को मारवाड़ी-गायन की तर्जों में प्रस्तुत किया गया है। जोधपुर के स्व० च्यवन आर्य वकील ने होली के गीतों की तर्ज पर सुधारवादी स्वर में 'आर्यफाग' प्रस्तुत किया था।

राजस्थान के निकटवर्ती गुजरात प्रान्त की गुजराती भाषा में भी भजनों की रचना हुई है। गुजराती भजन-संग्रहों में आर्यसंगीत-भजन (१९५५ वि० में जमियतराम ज० भट्ट द्वारा अहमदाबाद से प्रकाशित), आर्य-भजनावली (रतिलाल मूलजी भाई आर्य द्वारा संगृहीत तथा १९८४ वि० में बम्बई से प्रकाशित), भजनावली (कहानजी आनन्दजी आर्य द्वारा सम्पादित तथा ओधवजी कालीदास प्रमुख द्वारा १९८५ वि० में प्रकाशित), स्तवनांजलि (पण्डित ज्ञानेन्द्र सिद्धान्तभूषण द्वारा सम्पादित तथा श्रीमती अनिलादेवी द्वारा प्रकाशित) आदि का उल्लेख मिलता है। लातूर जिले के मोगरगा ग्राम की आर्य-

समाज के मन्त्री श्री इन्द्रजीत गिरि ने मराठी में वैदिक अभंग लिखे हैं। महाराष्ट्र के तुकाराम आदि सन्तकवियों द्वारा रचित अभंगों की लोकप्रियता सर्वविदित है। इसी अभंग शैली का अनुकरण कवि इन्द्रजीत गिरि ने वैदिक अभंगों की रचना में किया। पंजाबी में जो भजन-साहित्य लिखा गया, वह भी गुण एवं परिमाण की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। भारत के अन्य प्रान्तों की भाषाओं में रचित आर्यसमाज के भजन-साहित्य का समग्र विवरण एकत्रित करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है।

उत्तर भारत के सभी प्रान्तों में हिन्दी का प्रचलन शताब्दियों से रहा है। हिन्दी को इस प्रदेश की सामान्य काव्यभाषा का स्थान भी अनेक शतियों पूर्व ही मिल गया था। आर्यसमाज के भजन-लेखकों ने हिन्दी के खड़ीबोली रूप को ही अधिकांश में अपनाया है, परन्तु इसी खड़ीबोली की ही एक अन्य शैली उर्दू को भी उन्होंने आवश्यकता पड़ने पर अपने भजनों और गीतों में प्रयुक्त किया। पंजाब और उत्तरप्रदेश में उर्दू का पर्याप्त प्रचलन रहा है, यही कारण है कि इन प्रदेशों के आर्यसमाजी गायकों और भजन-लेखकों की रचनाओं में उर्दू शब्दों का निर्बाध प्रयोग हुआ है। ये भजन फारसी लिपि में तो छपते ही थे, इन्हें नागरी में भी छापा जाता था ताकि नागरी से परिचित सर्व-सामान्य भी इनसे लाभ उठा सकें।

उर्दू में भजनों के अनेक संग्रह छपे हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—आर्य-संगीत-पुष्पावली यानी मजमूआ भजनावली। उर्दू भजनों के इस संग्रह को १८९२ ई० में आर्यसमाज लाहौर ने प्रकाशित किया था। इनमें अमीचन्द, मुन्शी केवलकृष्ण, बावा छज्जूसिंह तथा लाभचन्द के भजन संगृहीत हुए थे। महाशय राजपाल ने लाहौर से उर्दू के जो भजन-संग्रह प्रकाशित किये उनमें से कुछ के नाम हैं—भजन-अमृत (१९२० ई०), आर्य-गायन या भजन-अमृत (१९२० ई०), गंजीनाए-भजन—६७० भजनों का यह विशालकाय संग्रह ५१२ पृष्ठों में छपा था। नया चिमटा भजन—उर्दू व पंजाबी गीतों का यह सम्मिलित संग्रह है। पुष्पाञ्जलि, प्रेम-गीताञ्जलि, प्रेम पुष्पावली, गड़गज भजन—ग्रामीण क्षेत्रों में उपयोग में आनेवाले भजनों का संग्रह।

भूतपूर्व पटियाला राज्य के भदौड़ ग्राम के निवासी श्री रौनकराम शाद के भजनों का संग्रह भजनरत्नावली १९७० वि० में छपा। संगीतरत्नप्रकाश—५ भाग—इनमें आर्य-समाज के १९११ ई० के पूर्व के भजन संगृहीत हैं। पाँचों भागों में ६८२ भजन संगृहीत हैं। इस विशाल संग्रह को लाला द्वारकाप्रसाद अत्तार शाहजहाँपुर ने प्रकाशित किया था। पण्डित मुरारिलाल शर्मा के ५० भजनों का संग्रह भजन-पचासा पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द) ने १८९८ ई० में छापा। पण्डित आत्माराम अमृतसरी के भजनों का लघु संग्रह 'रतन संघार' शीर्षक से छपा था।

हिन्दी में भजनों के संग्रह इतने अधिक हैं कि उन सबका संक्षिप्त उल्लेख करना भी असम्भव है। ब्रिटिश म्यूजियम पुस्तकालय लन्दन में आर्य-गान-पुस्तक विद्यमान है जो १९०५ ई० में लाहौर से छपी थी। ऊपर उर्दू भजन-संग्रहों में उल्लिखित आर्य-पुष्पावली हिन्दी में भी छपी थी। उसका सम्पादन रामदित्तमल एवं नन्दकिशोर महता ने किया था। लाहौर से इसके विभिन्न संस्करण १८९३, १८९५, १८९९, १९०२ तथा १९०७ में प्रकाशित हुए। रामदित्तमल एण्ड सन्स लाहौर ने नवीन आर्यगायन का प्रकाशन किया। मास्टर वज़ीरचन्द सम्पादित भजनसंग्रह, श्री श्यामसुन्दरलाल वकील,

मैनपुरी द्वारा सम्पादित भजनचालीसी, पण्डित हरिशंकर शर्मा द्वारा सम्पादित भजन-भास्कर तथा श्री ईश्वरीप्रसाद प्रेम द्वारा सम्पादित संगीतरत्नाकर (सत्य प्रकाशन, मथुरा से २०३० वि० में प्रकाशित) हिन्दी भजनों के उत्कृष्ट संग्रह हैं। संगीतरत्नप्रकाश के पाँचों भाग हिन्दी में भी निकले थे।

वस्तुतः आर्यसमाज का भजन-साहित्य विविध विषयों पर विविध शैलियों, विविध छन्दों और राग-रागिनियों तथा विविध भाषा-रूपों में लिखे गये सहस्रों पद्यात्मक कृतियों का एक ऐसा महासागर है जिसका तलस्पर्शी अध्ययन करना प्रचुर परिश्रम, अध्यवसाय तथा शोध के द्वारा ही सम्भव है। इन भजनों में धर्म, अध्यात्म, समाज, राजनीति, राष्ट्रीयता, दुर्व्यसन-खण्डन, गोरक्षा, शुद्धि एवं संगठन तथा नारी-जागरण जैसे बीसियों विषय वर्णित हुए हैं। रसों की दृष्टि से विचार करें तो आर्यसमाजी भजनों में शान्त, वीर, करुण, हास्य आदि विविध रसों का निर्वाह दृग्गोचर होता है। परन्तु इनमें शृंगार का एकान्त अभाव ही मिलेगा। वस्तुतः इन भजनों ने लाखों श्रोताओं को प्रभावित किया है, उन्हें सात्त्विक जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी है, उन्हें दुर्व्यसनों से मुक्त होने और सदाचारी बनने का उत्साह प्रदान किया है। इन भजनों में भारत के गौरवशाली अतीत तथा स्वर्णिम इतिहास के अनेक कथानक और उपाख्यान पद्य-शैली में वर्णित हुए हैं। रामायण और महाभारत की कथाओं से लेकर राजपूतों का शौर्य और पराक्रम, पतिव्रता सती स्त्रियों का पतिव्रता धर्म, राजपूतनियों के जौहर, महाराणा प्रताप, शिवाजी, वीर दुर्गादास, गुरु गोविन्दसिंह तथा उनके बलिदानी पुत्र, हकीकतराय और बन्दा वैरागी, झाँसी की रानी और नेताजी सुभाष आदि की वीरता, त्याग और बलिदान की कथाएँ इन भजनों में मूर्तिमान होकर आई हैं।

सत्रहवाँ अध्याय

आर्यसमाज के पत्र और पत्रकारिता

(१) भारत में पत्रकारिता का उद्भव और विकास

भारत में पत्र-पत्रिकाओं का आविर्भाव और विकास यूरोपीय जातियों के इस देश में आगमन के पश्चात् हुआ। अंग्रेजी शासन की नींव सुस्थिर हो जाने के पश्चात् ही भारत में प्रथम समाचार-पत्र के प्रकाशन का अवसर आया। इस पत्र का नाम था 'बंगाल-गजट' अथवा "कलकत्ता जनरल एडवर्टाइजर" (Bengal Gazette or Calcutta General Advertiser) और इसे निकालने वाले अंग्रेजी सज्जन का नाम था जेम्स ऑगस्ट हिकी। इस पत्र में विज्ञापनों और राजनैतिक टिप्पणियों का बाहुल्य रहता था। हिकी के इस पत्र का प्रथम प्रकाशन २९ फरवरी १७८० को कलकत्ता से हुआ। इसके बाद तो अंग्रेजी में बहुत-से पत्र निकलने लगे। कलकत्ता के पश्चात् बम्बई और मद्रास से भी बहुसंख्यक पत्र निकले।

भारतीय भाषा का प्रथम पत्र सीरामपुर (बंगाल) के बैपटिस्ट ईसाई मिशनरियों ने निकाला। बंगला भाषा का यह मासिक पत्र 'दिग्दर्शन' १८१७ ई० में निकला। शीघ्र ही भारतवासी पत्र-पत्रिकाओं का महत्त्व अनुभव करने लगे, विशेषतः बंगाल के शिक्षित वर्ग ने पत्रों के विकास में अपना उल्लेखनीय योगदान देना आरम्भ किया। १८२० में ताराचन्द और भवानीचरण बनर्जी के संयुक्त सम्पादकत्व में साप्ताहिक 'संवादकौमुदी' आरम्भ हुई। सम्पादकद्वय भारतीय नवजागरण के अग्रदूत राजा राममोहन राय के मित्र थे, अतः इस पत्र को राजा महोदय का ही पत्र समझा जाता था। जब ईसाई मत-प्रचारकों ने 'समाचार-दर्पण' पत्र के द्वारा हिन्दू धर्म पर हमले आरम्भ किये, तो राजा राममोहन राय को उनका प्रतिवाद करने के लिए निजी पत्र की आवश्यकता अनुभव हुई। फलतः उन्होंने ब्रेह्मनिकल मैगजीन (Brahmanical Magazine) निकाला और ईसाइयों के द्वारा किये जाने वाले आक्षेपों का प्रत्युत्तर देने के लिए सन्नद्ध हुए। यह पत्र द्विभाषी था और बंगला तथा अंग्रेजी में निकलता था। राय महाशय भाषाओं के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण रखते थे। वे स्वयं विभिन्न भारतीय तथा विदेशी भाषाओं के ज्ञाता थे। मुसलमानी अमलदारी के समाप्त हो जाने पर भी फारसी का प्रभुत्व यथापूर्ण विद्यमान था। उसे अखिल भारतीय भाषा के रूप में पहचाना जाता था और मुसलमानों के अतिरिक्त समय-समय पर मराठों, सिक्खों, राजपूतों, यहाँ तक कि अंग्रेजों ने भी राजभाषा के रूप में इसे स्वीकार किया था। राममोहन राय ने भी ब्रह्मसमाज की स्थापना के अनन्तर फारसी में 'मीरातुल अखबार' नामक पत्र निकाला।

९ मई १८२९ को राजा राममोहन राय ने 'बंगदूत' नामक एक अन्य पत्र

प्रकाशित किया जिसमें बंगला, हिन्दी और फारसी के लेख रहते थे। इन तथ्यों से विदित होता है कि राजा राममोहन राय ने अपने प्रगतिशील धार्मिक एवं सामाजिक विचारों का जनसामान्य में प्रचार करने के लिए समाचारपत्रों को एक सशक्त माध्यम के रूप में स्वीकार किया तथा अंग्रेजी और फारसी जैसी राजमान्य भाषाओं के अतिरिक्त बंगला और हिन्दी जैसी लोकमान्य भाषाओं में भी पत्र निकाले। इस प्रकार विभिन्न भाषाओं के पत्रों को प्रकाशित कर तथा उनके माध्यम से अपने उदार एवं प्रगतिशील विचारों को प्रचारित कर उन्होंने धर्म और समाज के सुधार-सम्बन्धी आन्दोलनों में पत्र पत्रिकाओं की निर्विवाद भूमिका स्थापित की।

हिन्दी भाषा का प्रथम पत्र 'उदन्तमार्तण्ड' ३० मई १८२६ को पं० युगलकिशोर शुक्ल के सम्पादकत्व में कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। लगभग डेढ़ वर्ष तक निकालने के पश्चात् ११ दिसम्बर १८२७ ई० को इसका अन्तिम अंक निकला। परन्तु अब हिन्दी पत्रों की परम्परा का प्रारम्भ हो चुका था जो निर्बाध गति से प्रवाहित होती रही। बंगाल के अतिरिक्त पश्चिमोत्तरप्रदेश (वर्तमान उत्तरप्रदेश), मालवा, बम्बई आदि प्रदेशों से भी हिन्दी पत्र प्रकाशित होने लगे। इस संक्षिप्त विवरण से ज्ञात होता है कि भारत में पत्रकारिता के उद्भव को २०० वर्ष पूरे हो गये हैं, जबकि हिन्दी पत्रकारिता भी अपने जीवन के १६० गौरवपूर्ण वर्ष पूरे कर रही है।

(२) स्वामी दयानन्द और समकालीन पत्रकारिता

हिन्दी पत्रकारिता का उद्भव और विकास उन्नीसवीं शताब्दी में हुआ। इसी शताब्दी में भारत के धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पुनर्जागरण के महान् और भव्य आन्दोलनों का भी सूत्रपात हुआ। आर्यसमाज के संस्थापक दयानन्द सरस्वती के जन्म (१८२४ ई०) के दो वर्ष पश्चात् ही हिन्दी का प्रथम पत्र 'उदन्तमार्तण्ड' निकला, यह हम देख चुके हैं। स्वामी दयानन्द के सार्वजनिक जीवन का आरम्भ १८६३ ई० से माना जा सकता है, जब वे मथुरा में गुरु विरजानन्द दण्डी की पाठशाला में शास्त्रों का अध्ययन समाप्त कर धर्मप्रचार में संलग्न हुए। कई वर्षों तक वे गंगा के तटवर्ती प्रदेश में एकाकी विचरण करते हुए धर्मोपदेश करते रहे, परन्तु धीरे-धीरे उनकी सार्वजनिक प्रवृत्तियों का विस्तार होने लगा। किसी समाचारपत्र में स्वामी दयानन्द का प्रथम बार उल्लेख १८६९ में हुआ माना जायगा, जबकि कानपुर के 'शोलाएतूर' नामक पत्र ने उनके पं० हलधर ओझा से हुए शास्त्रार्थ का एकपक्षी विवरण प्रकाशित किया। इसी वर्ष नवम्बर में उन्होंने काशी जाकर वहाँ की विद्वन्मण्डली से मूर्तिपूजा पर अपना प्रसिद्ध शास्त्रार्थ किया, जिसकी चर्चा पश्चिमोत्तरप्रदेश, बंगाल तथा पंजाब तक के हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी पत्रों ने विस्तारपूर्वक की।

ज्यों-ज्यों स्वामी जी देश के सार्वजनिक जीवन में अधिकाधिक प्रविष्ट होते गये, समाचारपत्रों में उनकी चर्चा बढ़ती गई। कलकत्ता-प्रवासकाल में वे देश की कतिपय उन विभूतियों के सम्पर्क में आये जो तत्कालीन धर्म, समाज और राजनीति को अपनी सुधारोन्मुख प्रवृत्तियों के कारण प्रभावित कर रही थीं। दयानन्द के विचार भी कम प्रगतिशील अथवा अन्यों से किसी भी प्रकार कम क्रान्तिकारी नहीं थे। अतः बंगाल के पत्रों में उनके विचारों की चर्चा और आलोचना पर्याप्त मात्रा में हुई। इस प्रकार हम

देखते हैं कि समय-समय पर देश के सभी प्रमुख पत्रों ने स्वामी दयानन्द के उपदेशों, व्याख्यानों, शास्त्रार्थों तथा उनके विभिन्न धार्मिक आन्दोलनों को पर्याप्त Coverage दिया। जिस-जिस प्रदेश में वे अपने धर्मप्रचार-अभियान को लेकर गये, उस-उस प्रदेश के प्रमुख पत्रों ने उनकी गतिविधियों तथा प्रवृत्तियों का सहानुभूति एवं सदाशयता के साथ उल्लेख किया। पश्चिमोत्तरप्रदेश, महाराष्ट्र, पंजाब तथा राजस्थान की पत्र-पत्रिकाओं ने स्वामीजी की प्रचार-यात्राओं तथा उससे प्राप्त होने वाली उपलब्धियों की विशद चर्चा की। जिस समय बम्बई में सर्वप्रथम आर्यसमाज की स्थापना हुई और उसके नियम निर्धारित किये गये, उस समय भी एक साप्ताहिक पत्र 'आर्यप्रकाश' के प्रकाशित किये जाने का संकल्प स्वामी दयानन्द ने किया था। बम्बई में स्वीकार किये गये नियम संख्या ५, १२ तथा २५ में इस 'आर्यप्रकाश' का उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

नियम संख्या ५—प्रधान समाज में वेदोक्तानुकूल संस्कृत और आर्यभाषा में नाना प्रकार के सदुपदेश की पुस्तक होगी और एक 'आर्यप्रकाश' पत्र यथानुकूल आठ-आठ दिन में निकलेगा। नियम सं० १२—पत्र की व्यवस्था के लिये आर्य सभासदों द्वारा उदारता-पूर्वक धन दिये जाने तथा नियम सं० २५ में 'आर्यप्रकाश' पत्र की रक्षा एवं उन्नति के लिए आर्य सभासदों को प्रवृत्त किया गया है।

कालान्तर में स्वयं स्वामी दयानन्द को भी अपने विचारों, मान्यताओं तथा विभिन्न विषयों पर अपनी धारणाओं को प्रकाशित करने के लिए पत्रों में लेख, विज्ञप्ति तथा सूचना-विज्ञापन आदि छपाने की आवश्यकता अनुभव होने लगी। अतः वे भी हिन्दी के प्रमुख पत्रों को इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु प्रयुक्त करने लगे। समय-समय पर उनके अनेक पत्र सम्पादकों के नाम प्रकाशित हुए। कलकत्ते के सुप्रसिद्ध हिन्दी साप्ताहिक 'भारतमित्र' को २३ जुलाई १८८३ ई० को लिखे गये अपने पत्र में उन्होंने श्री ए० ओ० ह्यूम के वेदविषयक विचारों पर अपनी आलोचनात्मक प्रतिक्रिया प्रकाशनार्थ भेजी। इसी पत्र को भेजे गये एक अन्य वक्तव्य में उन्होंने भारतमित्र के 'विविध समाचार' स्तम्भ के अन्तर्गत प्रकाशित इस उल्लेख का खण्डन किया कि मुसलमानी मत का मूल अथर्ववेद में है तथा 'अल्लोपनिषद्' जैसी कोई प्राचीन संस्कृत पुस्तक है जो इस्लाम का प्रतिपादन करती है। अजमेर से प्रकाशित होने वाले 'देशहितैषी' मासिक को भी स्वामी-जी ने मुंशी इन्द्रमणि के शिष्य लाला जगन्नाथदास की पुस्तक 'आर्य प्रश्नोत्तरी' की समीक्षा प्रकाशनार्थ भेजी। देशहितैषी ने इस समीक्षा को 'एक उचित वक्ता' के नाम से प्रकाशित किया। आर्यसमाज के इतिहास के पाठकों को यह विदित है कि मुरादाबाद-निवासी मुंशी इन्द्रमणि द्वारा इस्लाम की आलोचना-विषयक एक पुस्तक के प्रकाशित होने पर जब मुसलमानों ने उनपर अभियोग चलाया था, तो स्वामी दयानन्द ने मुंशीजी के पक्ष की पैरवी के लिए फण्ड कायम करने की सार्वजनिक अपील करते हुए लोगों को इस कोष में मुक्तहस्त से धन देने की प्रेरणा की थी। कालान्तर में जब यह आशंका उत्पन्न हुई कि मुंशी इन्द्रमणि इस कोष का सार्वजनिक महत्त्व स्वीकार न करते हुए उसे निजी सम्पत्ति के रूप में व्यय करना चाहते हैं, तो स्वामीजी ने उनकी इस प्रवृत्ति को नापसन्द किया। सार्वजनिक धन के दुरुपयोग को सहन करना स्वामीजी के लिए सम्भव नहीं था। मुंशीजी भी अपने पक्ष का समर्थन करते हुए पत्रों में अपने कार्य के औचित्य को प्रकट करने लगे। तब स्वामीजी ने 'एक उचित वक्ता' के नाम से एक विस्तृत वक्तव्य

समाचारपत्रों में प्रकाशित कराया और वस्तुस्थिति का स्पष्टीकरण किया।

आर्यसमाज फर्रुखाबाद के मुखपत्र भारतसुदशाप्रवर्त्तक में भी स्वामीजी के लेख तथा वक्तव्य प्रकाशित होते थे। पं० इन्द्रविद्यावाचस्पति के अनुसार तो स्वामीजी ने कुछ काल तक 'सुदशाप्रवर्त्तक' का सम्पादन भी किया था। नवीन शोध से यह भी ज्ञात हुआ है कि भारतेन्दु हरिश्चन्द्र द्वारा सम्पादित "कवि-वचन-सुधा" नामक पत्रिका के सम्पादक-मण्डल में भी स्वामीजी का नाम अंकित रहता था। इसी पत्र में स्वामीजी-विषयक अनेक सूचनायें समय-समय पर छपीं। अद्वैतमतखण्डन शीर्षक स्वामी दयानन्द-रचित एक पुस्तिका को भी कविवचनसुधा ने अपने दो अंकों में प्रकाशित किया था।

यह बात नहीं कि देश के सभी पत्र पूर्वाग्रहमुक्त भाव से अथवा प्रशंसापूर्ण दृष्टि से ही स्वामीजी की चर्चा करते थे। इसके विपरीत अनेक पत्र ऐसे भी थे, जो अपने संकीर्ण दृष्टिकोण के कारण उनके विरोध में प्रायः लिखते रहते थे। लाहौर का "मित्रविलास" तो स्वामीजी का कट्टर विरोधी ही था। कलकत्ता से प्रकाशित होने-वाले भारतमित्र, सारसुधानिधि आदि पत्र भी अपने सनातनी संस्कारों के वशवर्ती होकर दयानन्द की प्रगतिशील एवं उदार विचारधारा का यदा-कदा विरोध कर बैठते थे। स्वामीजी के निधन के समाचार को देश के प्रायः अनेक समाचारपत्रों ने प्रमुखता देकर प्रकाशित किया। इस देशभक्त महापुरुष के असामयिक अवसान पर सभी भाषाओं के पत्रों ने शोक व्यक्त किया। वैचारिक दृष्टि से असहमति रखनेवाले पत्रों ने भी स्वामी-जी के देशभक्तिपूर्ण भावों और उनकी सदाशयता की उन्मुक्त भाव से प्रशंसा करते हुए दिवंगत नेता को भावभीनी श्रद्धांजलियाँ अर्पित कीं तथा उनके निधन को देश तथा मानवता की अपूरणीय क्षति बताया।

(३) आर्यसमाज और पत्रकारिता

वैदिक धर्म के पुनरुत्थान तथा आर्यसंस्कृति की पुनःस्थापना की दृष्टि से दयानन्द सरस्वती ने महानगरी बम्बई में आर्यसमाज की स्थापना १० अप्रैल १८७५ (चैत्र शुक्ला पंचमी १९३२ वि०) के दिन की। इससे पूर्व १८७२-७३ ई० में भारत की तत्कालीन राजधानी कलकत्ता में रहकर वे बंगाली सुधारकों, देशभक्तों तथा नवोदय के सूत्रधार महापुरुषों के सम्पर्क में आ चुके थे। बंगाली प्रेस ने स्वामीजी के कलकत्ता-प्रवास को प्रमुखता से अभिव्यक्ति दी। इसी प्रकार बम्बई में रहते समय वे महाराष्ट्र के प्रमुख नेताओं, विद्वानों और समाजसुधारकों के सम्पर्क में आये। बम्बई के मराठी, गुजराती और अंग्रेजी पत्रों ने भी दयानन्द सरस्वती की गतिविधियों और कार्यक्रमों को सुर्खियाँ देकर प्रकाशित किया। १८७७ ई० में उन्होंने पंजाब की यात्रा की, जिसमें लुधियाना से प्रकाशित होनेवाले नीति-प्रकाश के सम्पादक मुंशी कन्हैयालाल अलखधारी तथा लाहौर से छपनेवाले पत्र कोहेनूर के स्वामी मुन्शी हरसुखराय की प्रेरणा ही प्रमुख कार्य कर रही थी। पंजाब के पत्रों ने भी स्वामीजी की गतिविधियों और प्रवृत्तियों तथा उनके उपदेशों एवं शास्त्रार्थों का विवरण छापने में कोई कोताही नहीं की। इस प्रकार दयानन्द और आर्यसमाज, पत्रों के माध्यम से सार्वजनिक चर्चा और आलोचना के विषय बनते गये।

जून १८७७ में लाहौर आर्यसमाज की स्थापना के बाद देश में सर्वत्र आर्यसमाजों

का जाल सा बिछने लगा। सुधार और नवजागरण की इस अभिनव प्रवृत्ति ने पठित जनमानस को सहज ही आकृष्ट किया और प्रेक्षकों ने अनुभव किया कि धार्मिक नवोदय के अन्य आन्दोलनों से भिन्न आर्यसमाज के सिद्धान्तों में भारतवासियों के स्वाभिमान और अस्मिता को जगाने की एक अनोखी अपील है। फलतः प्रार्थनासमाज और ब्रह्म-समाज जैसे सुधारवादी आन्दोलन जहाँ महाराष्ट्र, बंगाल तथा पंजाब के पठित नागरिक वर्ग तक ही अपना प्रभावक्षेत्र बना सके, वहाँ आर्यसमाज ने उत्तरभारत के व्यापक हिन्दी क्षेत्र को प्रभावित किया। कहना नहीं होगा कि अपने समानधर्मा ब्रह्मसमाज आदि की ही भाँति आर्यसमाज ने भी अपने वैचारिक क्षितिज का विस्तार करने के लिए पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम को ही अपनाया। आर्यसमाज की कार्य-प्रवृत्तियाँ पत्रों के द्वारा पठित जनता तक पहुँचती रहीं। एक अन्य बात यह भी थी कि वह युग राजनैतिक चेतना की दृष्टि से अधिक प्रबुद्ध नहीं था। आर्थिक और सामाजिक पुनरुत्थान तथा पुनर्निर्माण के कार्यों में ही राष्ट्रभक्ति के भावों को देखा जाता था। इसलिए भी आर्यसमाज शिक्षित और अशिक्षित भारतीय जनता का ध्यान अधिकाधिक आकृष्ट कर सका।

आर्यसमाज की पत्रकारिता का इतिहास आर्यसमाज के इतिहास जितना ही पुराना है। आर्यसमाज के पत्रों ने हिन्दी पत्र-पत्रिकाओं के इतिहास में कुछ स्वर्णिम पृष्ठ जोड़े हैं। "हिन्दी भाषा के सामयिक पत्रों का इतिहास" के लेखक बाबू राधाकृष्णदास ने आर्यसमाज द्वारा किये गये हिन्दीविषयक कार्यों का उल्लेख करते हुए लिखा—"संवत् १९३२ में आर्यसमाज की सृष्टि स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भारतवर्ष में की। इस समाज का यद्यपि धर्म से विशेष सम्बन्ध रहा और उसके द्वारा सारे देश में धर्मविषयक आन्दोलन मच गया, तथापि हिन्दी भाषा का उपकार इस समाज से भी अवश्य हुआ है।" हिन्दी पत्रों के उद्भव और विकास का शोधपरक अध्ययन करनेवाले डॉक्टर रामरतन भटनागर ने हिन्दी पत्रकारिता को आर्यसमाज की देन का विवेचन करते हुए लिखा है—"१८३७ ईसवी में हिन्दी प्रदेश में दो शक्तियों का प्रवेश हुआ। प्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जिन्होंने कविवचनसुधा (मासिक) का प्रकाशन किया तथा द्वितीय स्वामी दयानन्द, जिन्होंने आर्यसमाजियों को आर्य सिद्धान्तों के प्रचारार्थ अपने पत्रों के संचालन के लिए समर्थन और प्रोत्साहन दिया। १९वीं शताब्दी के अवशिष्ट वर्षों में इन दोनों शक्तियों ने अपने समक्ष आई सभी बाधाओं को ढहा दिया...स्वामी दयानन्द की पत्र-कारिता-विषयक प्रवृत्ति आर्यसमाज के हेतु प्रचारात्मक पद्धति की थी। यही दो शक्तियाँ थीं जिन्होंने हिन्दी पत्रकारिता को वेग प्रदान किया और उसे महान् बनाया।"

उन्नीसवीं शताब्दी में उर्दू पत्रकारिता भी द्रुत गति से विकसित हो रही थी। हिन्दी की तुलना में उर्दू को अंग्रेजी शासन तथा उच्च वर्ग के पठित लोगों का अधिक संरक्षण प्राप्त था। तथापि उर्दू पत्रों की स्पर्धा में हिन्दी पत्रकारिता को सुदृढ़ बनाने का कार्य भी आर्यसमाज द्वारा ही सम्पन्न हुआ। डॉक्टर भटनागर ने इस विषय में लिखा है—"उर्दू के मध्य में हिन्दी पत्रकारिता को दृढ़ता के साथ स्थापित करनेवाली शक्ति आर्यसमाज ही थी। मासिक पत्रों और अन्य संवादपत्रों का प्रकाशन आर्यसमाज का एक प्रमुख उद्देश्य था। आर्यसमाज की मजबूत राष्ट्रीय और वैदिक विचारधारा ने इसे (आर्यसमाज का) हिन्दी का प्रभावशाली पक्षपोषक बना दिया।" इन उल्लेखों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि आर्यसमाज की पत्र-पत्रिकाओं ने धार्मिक और सामाजिक

पुनरुत्थान के क्षेत्र में ही नहीं, अपितु राष्ट्रीयता और देशभक्ति के भावों के प्रसार में भी अपनी महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है।

ईसाई प्रचारकों ने अपने प्रचार-माध्यम के रूप में पत्र-पत्रिकाओं का प्रयोग तो आर्यसमाज की स्थापना से पूर्व ही करना आरम्भ कर दिया था। वे इन पत्रों में हिन्दू धर्म और समाज की रीति-नीति पर नाना प्रकार के व्यंग्य, विद्रूप और आक्षेप करने से नहीं चूकते थे। अब आर्यसमाज ने भी अपने पत्रों के द्वारा ईसाई प्रचारकों के प्रहारों का सचोट उत्तर देना आरम्भ किया। आर्यसमाज के पत्र एक ओर भारत के पुरातन वैदिक धर्म की सार्वभौम सत्यता का प्रतिपादन करते, तो साथ ही ईसाइयत की दुर्बल, विज्ञान एवं तर्कविरुद्ध मान्यताओं पर उग्र प्रहार करने से भी नहीं चूकते थे। परिणामस्वरूप ईसाई प्रचारकों में उत्तेजना उत्पन्न हुई। यद्यपि ये इस (पत्रकारिता के) क्षेत्र में बहुत पहले ही अवतरित हो चुके थे, किन्तु उनका अस्तित्व संकट में पड़ गया। १८८० ई० के पश्चात् इस क्षेत्र में आर्यसमाजियों और ईसाइयों के मध्य शाब्दिक युद्ध की भरमार रही। अतः डॉक्टर भटनागर के इस कथन में कुछ भी अत्युक्ति नहीं है कि ईसाई प्रचारकों के इन प्रतिक्रियावादी तत्त्वों (उनके प्रचारात्मक पत्र) से बराबरी का संघर्ष हिन्दी पत्रकारिता के प्रगतिशील वर्गों ने किया जिनमें आर्यसमाज की पत्रकारिता प्रमुख थी।

परन्तु आर्यसमाज ने पत्रों का उपयोग केवल विरोधियों का उत्तर देने में ही किया हो, ऐसा नहीं है। आर्यसमाज ने पत्रों के माध्यम से वैदिक विचारधारा के प्रचार एवं प्रसार का भी सफल कार्य किया है। आर्यसमाज के पत्रों ने वैदिक धर्म, आर्य सभ्यता, भारतीय राष्ट्रवाद, हिन्दी भाषा, गोरक्षा, शुद्धि एवं संगठन जैसे अनेक महत्त्वपूर्ण लोकहितकारी प्रसंगों को सार्वजनिक रूप में उपस्थित किया।

आर्यसमाज की पत्रकारिता की सामान्य प्रवृत्तियाँ—आर्यसमाज का प्रथम पत्र "आर्यदर्पण" १८७८ ई० में प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार आर्यसमाज की पत्रकारिता ने अपने यशस्वी जीवन के १०८ वर्ष पूरे कर लिये हैं। इस सुदीर्घ अवधि में आर्यसमाज के व्यक्तियों और संस्थाओं ने सैकड़ों पत्र प्रकाशित किये। निश्चय ही इनमें हिन्दी पत्रों की संख्या अधिक रही, किन्तु उर्दू, अंग्रेजी तथा विभिन्न भारतीय भाषाओं में भी पत्र-पत्रिकायें निकलती रहीं। यहाँ हम आर्यसामाजिक पत्रों की कुछ सामान्य प्रवृत्तियों का विश्लेषण उपस्थित कर रहे हैं।

पत्रों का स्वामित्व—जब हम पत्रों के स्वामित्व की दृष्टि से विचार करते हैं तो ज्ञात होता है कि अधिकांश पत्र संस्थाओं के द्वारा ही निकले। इन पत्रों को आर्यसंस्थाओं का मुखपत्र (Organ) कहा जा सकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के नवम दशक के अन्त में प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभाओं का संगठन होने लगा था। इन प्रान्तीय सभाओं ने समय-समय पर अपने पृथक्-पृथक् पत्र निकाले। पंजाब, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, मध्यप्रदेश, बिहार, बंगाल आदि की प्रतिनिधि सभाओं द्वारा क्रमशः आर्यमुसाफिर, आर्यमित्र, आर्यमार्त्तण्ड, आर्यसेवक तथा आर्यावर्त नामक मुखपत्र निकाले गये। परन्तु फर्रुखाबाद, बम्बई तथा अजमेर की आर्यसमाजों ने तो प्रतिनिधिसभाओं की स्थापना से पूर्व ही अपने पृथक् मुखपत्र निकाले थे। कालान्तर में जब आर्यसमाज में संस्था-युग का बोलबाला हुआ, विभिन्न शिक्षण संस्थायें, गुरुकुल और कालेज, अनाथालय, विधवाश्रम, शुद्धिसभायें आदि संगठित हुईं, तो तत्-तत् संस्था ने अपनी प्रवृत्तियों और

गतिविधियों के प्रकाशन के लिए अपने पृथक् पत्र प्रकाशित किये। गुरुकुल काँगड़ी और ज्वालापुर से "वैदिक मैगज़ीन" और "भारतोदय" जैसे अंग्रेजी एवं हिन्दी के उत्कृष्ट पत्र निकले। अजमेर के श्रीमद्दयानन्द अनाथालय का मासिक पत्र "अनाथरक्षक" लगभग चौथाई सदी तक प्रकाशित होता रहा। शुद्धि एवं संगठन-विषयक पत्रों की भी भरमार रही।

सभाओं और संस्थाओं के अतिरिक्त व्यक्तिगत प्रयत्नों ने भी आर्यसमाज की पत्रकारिता को प्रभावित किया है तथा उसे प्रगति दी है। वैदिक यंत्रालय के प्रथम मैनेजर मुंशी बख्तावरसिंह का आर्यदर्पण, ऋषि दयानन्द के आद्य शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा का आर्यसिद्धान्त तथा पण्डित तुलसीराम स्वामी के वेदप्रकाश ने विगत शताब्दी में आर्यसमाज की पत्रकारिता को शैशव से हटाकर प्रौढ़त्व की ओर अग्रसर किया। स्वामी दर्शनानन्द ने अपने अनतिदीर्घ जीवनकाल में लगभग एक दर्जन हिन्दी-उर्दू पत्रों को जन्म दिया। ये सभी पत्रकार कोई बहुत अधिक साधनसम्पन्न नहीं थे, परन्तु पत्रों को निष्ठापूर्वक संचालित करने की भावना ही उनका सम्बल रही। पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर का वैदिक धर्म, स्वामी विद्यानन्द विदेह की सविता तथा पण्डित भारतेन्द्रनाथ का जनज्ञान भी संस्था की अपेक्षा सम्पादकों और संचालकों के वैयक्तिक प्रयासों से ही उन्नति कर सके।

आर्य पत्रों की लोकप्रियता—यद्यपि अपने पत्रों को प्रकाशित करने, उनका समुचित सम्पादन करने तथा उन्हें लोकप्रिय बनाने के लिए आर्यसमाज के लोगों ने भरसक प्रयास किये, परन्तु उन्हें सीमित सफलता ही मिली। प्रायः यह देखा गया कि उनके ग्राहकों और पाठकों की संख्या कुछ सहस्र से कभी नहीं बढ़ी। आर्यसमाज का कोई पत्र सनातनी मासिक "कल्याण" की भाँति अपने ग्राहकों की संख्या लाखों तक नहीं बढ़ा सका। यदि हम इसके कारणों में जायें तो हमें ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के पत्रों के विवेचनीय विषय प्रायः सीमित ही रहे। अधिकांश पत्रों में धार्मिक, दार्शनिक और शास्त्रीय प्रश्नों की मीमांसा रहती है। संस्थाओं के समाचार, आर्यसमाजों के निर्वाचन, उत्सव आदि का ब्यौरा ही पत्र का अधिकांश स्थल घेर लेता है। सामान्य पाठकों की इन संस्थागत समाचारों तथा खण्डन-प्रधान लेखों अथवा दार्शनिकतायुक्त जटिल प्रश्न के समाधानपरक लेखों में कोई रुचि नहीं होती। दूसरी बात यह देखने में आई है कि स्वयं आर्यसमाजी पाठकों की पत्र-पत्रिकाओं की पठन-विषयक रुचि में भी परिवर्तन आया है। विगत शताब्दी के अन्तिम दशक तथा इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक के आर्यसमाजी प्रायः स्वाध्यायशील, अध्ययनप्रिय, तथा मत-मतान्तरों के खण्डन-मण्डन एवं इतर मतों के प्रवक्ताओं से होनेवाले शास्त्रार्थों को पढ़ने और सुनने में रुचि रखने वाले होते थे। इसी का परिणाम था कि खण्डन-मण्डन तथा विभिन्न शास्त्रीय प्रश्नों को लेकर लिखे जानेवाले लेखों को प्रधानता देनेवाले आर्यसिद्धान्त एवं वेदप्रकाश जैसे पत्रों की ग्राहक-संख्या उस काल को देखते हुए पर्याप्त संतोषप्रद लगती है, जबकि आज इन्हीं विषयों को प्रधानता देनेवाले आर्यसामाजिक पत्रों को स्वयं आर्यसमाज के अधिकारी और सदस्यगण उठाकर देखने का भी कष्ट नहीं करते।

पत्रों की लोकप्रियता तथा उसका व्यापक प्रचार सम्पादक के प्रयत्नों तथा उसकी तपस्या पर भी निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, आर्यमित्र जैसे पुराने पत्र का

उत्कर्ष-काल उसी युग को माना जाएगा, जब पण्डित हरिशंकर शर्मा जैसे पत्रकार-प्रवर उसका सम्पादन करते थे। यह कौन नहीं जानता कि शर्माजी के सम्पादन-काल में आर्यमित्र की गणना हिन्दी के प्रमुख पत्रों में होती थी। उसका पाठक-समुदाय आर्यसमाज से इतर वर्ग के लोगों तक फैला हुआ था। शर्माजी हिन्दी के जाने-माने लेखक और कवि थे। अतः वे अपने सम्पर्क और व्यक्तिगत मैत्री सम्बन्धों से आर्यमित्र में हिन्दी के लब्ध-प्रतिष्ठ लेखकों की रचनायें प्रकाशित करते थे। उनके द्वारा सम्पादित आर्यमित्र में धार्मिक-सामाजिक विषयों से सम्बन्धित लेखों के अतिरिक्त कविता, कहानी, समालोचना, व्यंग्य-विनोद आदि साहित्य की विभिन्न विधाओं को भी स्थान मिलता था।

एक अन्य बात भी थी। आर्यसमाज के कुछ पत्रों ने संस्थाविशेष के मुखपत्र होने और विशिष्ट विचारधारा के प्रचारक होने पर भी अपने सार्वजनिक रूप को बनाये रक्खा। ऐसे पत्रों की लोकप्रियता निर्विवाद रही। उदाहरणार्थ, आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान का मुखपत्र आर्यमार्त्तण्ड, अपने प्रकाशन के प्रारम्भिक युग में अजमेर और समीपवर्ती देशी रियासतों की जनसमस्याओं, उनके अभाव-अभियोगों को मुखर करनेवाले सार्वजनिक, लोकप्रिय पत्र की भूमिका निभाता था। स्थानीय समाचारों के लिए तो उस पर निर्भर रहना ही पड़ता था, प्रान्त की राजनैतिक, सामाजिक तथा सार्वजनिक समस्याओं पर व्यक्त की जानेवाली उसकी सम्मति को भी आदर की दृष्टि से देखा जाता था। इसी प्रकार १९३८-३९ में अजमेर से ही प्रकाशित होनेवाले 'विजय' ने भी आम पाठक की अभिरुचियों को महत्त्व दिया था। यद्यपि यह पत्र भी आर्यसमाज अजमेर का ही प्रवक्ता था, परन्तु इसमें नगर और प्रान्त से सम्बन्ध रखनेवाले समाचारों, टिप्पणियों और लेखों की प्रधानता रहती थी। साहित्यिक अभिरुचि रखनेवाले पाठकों का मनस्तोष भी ऐसे पत्रों से होता था। साथ ही तत्कालीन रियासती गतिविधियों, राजनैतिक मसलों तथा राजस्थान के जनजीवन को प्रभावित करनेवाली चर्चाओं को भी इसमें उचित स्थान दिया जाता था।

खेद है कि कालान्तर में आर्यसमाज के पत्रों का यह सार्वजनिक रूप धीरे-धीरे विलुप्त होता गया और उसी अनुपात में उनकी लोकप्रियता भी समाप्त होती गई। अब वे आर्यसमाजियों के एक सीमित दायरे में ही पढ़े जाते हैं। जिन पत्रों को सम्पादकों की व्यक्तिगत साधना का सम्बल विशेष रूप से उपलब्ध हुआ, वे अवश्य ही जनप्रियता के उच्च सोपानों पर चढ़ सके। सातवलेकरजी का वैदिक धर्म, विद्यानन्द विदेह की सविता तथा पण्डित भारतेन्द्रनाथ द्वारा सम्पादित जनज्ञान को जो आपेक्षिक सफलता और लोकप्रियता मिली, उसमें इन पत्रों के सम्पादकों का निष्ठापूर्ण परिश्रम ही दृष्टिगोचर होता है।

(४) आर्यसमाज के पत्रों का अन्तरंग और बहिरंग

प्रकाशन-सामग्री की दृष्टि से आर्यसमाज के पत्रों ने प्रायः एक-सा ही ढर्रा स्वीकार कर रक्खा है। पत्रों का कलेवर एकरसता उत्पन्न करनेवाले लेखों से परिपूर्ण होता है। यथा, प्रारम्भ में किसी वेद-मन्त्र को उद्धृत कर उसकी व्याख्या दे दी जाती है। यथासम्भव ऋषि दयानन्दकृत वेदार्थ को ही छापने का उद्योग रहता है, परन्तु कभी-कभी अन्य विद्वानों द्वारा किये गये मंत्रार्थ तथा मन्त्रों की पद्यमयी व्याख्या भी स्थान

प्राप्त करती है। पत्र के अवशिष्ट भाग में कतिपय लेख, जो प्राय: आर्यसमाज के सिद्धांतों, मन्तव्यों और ऋषि दयायनन्द की विचारधारा की पुष्टि में होते हैं, छापे जाते हैं। पत्र के अन्तिम भाग में आर्यसमाजों और संस्थाओं के समाचार रहते हैं। इतर मतावलम्बियों के सिद्धान्तों की आलोचना, अन्य मतवादियों द्वारा आर्यसमाज के सिद्धान्तों पर किये जानेवाले कटाक्षों और आक्षेपों का उत्तर भी प्रमाणपुरस्सर छापा जाता है। यदा-कदा, कुछ कविताओं को छापने के लिए भी स्थान निकल आता है, परन्तु प्राय: ये कविताएँ शुष्क, रसहीन तथा इतिवृत्तात्मक होती हैं। सामान्य तुकबन्दियों को भी स्थान मिलने में कोई कठिनाई नहीं होती। कुछ पत्रों में बालजगत्, नारी-संसार, साहित्य-समीक्षा, स्वास्थ्य-चर्चा जैसे स्तम्भ भी रहते हैं, जिन्हें येन-केन प्रकारेण पूरा किया जाता है, परन्तु धारावाही उपन्यास, कहानी, एकांकी, नाटक अथवा साहित्य की अन्य ललित विधाओं के लिए इन पत्रों में स्थान का अभाव ही रहता है। कहीं अपवादरूप कोई कहानी, ललित निबन्ध आदि भी दिखाई दे जाते हैं।

आर्यसमाज के कई पत्र इस महान् आन्दोलन की आनुषंगिक प्रवृत्तियों को उभारने तथा उनकी ओर सामान्य जनता का ध्यान आकृष्ट करने की दृष्टि से भी निकाले गये, यथा गोरक्षा, नारी-उत्थान, शुद्धिप्रचार जैसे कार्यक्रमों को शक्ति प्रदान करने के लिए समय-समय पर पत्र निकले। यद्यपि कालान्तर में इन विषयों की महत्ता की ओर आर्यसमाजेतर लोगों का भी ध्यान गया और गोरक्षा, नारी-सुधार तथा शुद्धि-संगठन जैसे मसलों को हिन्दू समाज का सामान्य विषय स्वीकार कर लिया गया, परन्तु इस बात का श्रेय आर्यसमाज को ही मिलना चाहिए कि उसने हिन्दी पत्रकारिता में गोरक्षण, स्त्री-सुधार, इतर धर्मावलम्बियों का हिन्दू धर्म में शुद्धिपूर्वक प्रवेश जैसे सामयिक विषयों को सार्वजनिक चर्चा का केन्द्र बनाने के लिए पृथक्शः पत्रों का प्रकाशन किया।

आर्य पत्रों की आर्थिक दशा—आर्यसमाज के पत्रों की आर्थिक दशा कभी सुदृढ़ नहीं रही। जो पत्र सभाओं और संस्थाओं द्वारा निकाले गये, उनका तो उद्देश्य ही उन संस्थाओं के समाचारों, प्रवृत्तियों और कार्यक्रमों से आर्यजनता को अवगत कराना होता था। धनोपार्जन की दृष्टि से ये पत्र निकाले भी नहीं गये थे। अत: पत्रों के प्रकाशन में जो आर्थिक क्षति होती, उसकी पूर्ति भी पत्रों की संचालिका सभा-संस्थाओं को ही करनी पड़ती है। व्यक्तिगत प्रयत्नों से निकाले गये पत्रों ने भी इनके स्वामियों को कभी आर्थिक लाभ दिया हो, ऐसा ज्ञात नहीं होता। इन पत्र-संचालकों का सारा श्रम येन-केन-प्रकारेण पत्र हेतु धन जुटाने और घाटा पूरा करने में ही लग जाता है। परन्तु पत्रकारिता को एक पवित्र ध्येय (Mission) समझकर धर्मप्रचार की लगन वाले आर्यसमाजी पत्रों के संचालकों और सम्पादकों का एकमात्र पुरस्कार लष्टम-पष्टम इन पत्रों को चलाना ही रह जाता है।

इतना सब-कुछ होने पर भी आर्यसमाज ने हिन्दी पत्रकारजगत् को कुछ विभूतियाँ प्रदान की हैं। सम्पादकाचार्य रुद्रदत्त शर्मा, पण्डित पद्मसिंह शर्मा, पण्डित हरिशंकर शर्मा, पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति, पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार जैसे सुगृहीत नामधेय पत्रकारों ने हिन्दी पत्रकारिता को अपने तप और साधना से प्रोज्ज्वल किया है। इसी प्रकार पंजाब के सार्वजनिक जीवन को आन्दोलित और प्रभावित करनेवाले पत्रों में प्रताप और मिलाप तथा उसके सम्पादक महाशय कृष्ण तथा खुशहालचन्द खुर्सन्द जैसे आर्यसमाजी

पत्रकारों का महत्त्व नगण्य नहीं है। गुरुकुल काँगड़ी के स्नातकों की एक बहुत बड़ी मण्डली ने तो पत्रकारिता को अपने व्यवसाय के रूप में ही अपना लिया था। परिणाम में हम देखते हैं कि हिन्दी-पत्रकारिता को 'विद्यालंकार' और 'वेदालंकार' उपाधिकारी स्नातक पत्रकारों का प्रदाय निश्चय ही उल्लेखनीय है।

आर्य पत्रों के सम्पादक—आर्य पत्रों के सम्पादक प्रायः वे ही लोग रहे जिन्होंने कर्त्तव्य-भावना से अनुप्राणित होकर पत्र-सम्पादक का कार्य निष्ठापूर्वक किया। वैतनिक सम्पादकों की संख्या नगण्य ही है। प्रायः किसी विचारशील लेखक तथा साहित्यकार के जिम्मे संस्थाओं के पत्र का सम्पादन-कार्य सुपुर्द कर दिया जाता है, जिसे वह आर्यसमाज तथा ऋषि दयानन्द के प्रति अपने एकान्त प्रेम तथा आस्थाभाव के कारण ही पूर्ण दायित्व के साथ करता है। परन्तु कुछ व्यक्तियों के लिए सम्पादक-कार्य व्यवसाय तथा जीविकोपार्जन के साधनरूप में भी रहा। पण्डित रुद्रदत्त शर्मा, पण्डित हरिशंकर शर्मा तथा पण्डित भारतेन्द्रनाथ ने यदा-कदा वैतनिक रूप में भी सम्पादन-कार्य किया है।

सभा-संस्थाओं द्वारा संचालित पत्रों के सम्पादन-कार्य की स्थिति कुछ भिन्न रही है। यों इन पत्रों के सम्पादक के रूप में संचालिका सभाओं के मंत्री का ही नाम जाता है, वस्तुतः सम्पादन-कार्य संस्थाओं के मुख्य लिपिकों अथवा किसी अन्य वैतनिक कार्यकर्ता के सुपुर्द कर दिया जाता है जो इस कार्य को अपने मुख्य कार्य से पृथक् मानकर गौण भाव से उपेक्षापूर्वक ही करता है। और वह करता भी क्या है? प्रायः पत्रों की डाक में लेख, समाचार, सूचनायें, उत्सवों के ब्यौरे आदि मिलते हैं, जिन्हें ऐसे सम्पादक-लिपिक एक सिलसिला देकर मुद्रण हेतु भेज देते हैं और यही उसके सम्पादन-कार्य की इतिश्री हो जाती है। किसी पत्र में व्यक्तिविशेष से अनुरोध कर अथवा उसे स्वल्प पारिश्रमिक देकर साप्ताहिक का सम्पादकीय लिखने के लिए अनुबंधित कर लिया जाता है। ऐसा व्यक्ति प्रायः बिना नाम दिये अथवा कभी-कभी स्वनाम सहित नियमित रूप से सम्पादकीय लिखता है। उसका यह लेख पत्र में प्रमुखता से छापा जाता है। सम्पादकीय पर लेखक का नाम न रहने से पाठकों को यह सुखद भ्रान्ति हो सकती है कि पत्र का सम्पादक (जो प्रायः सभा का मन्त्री होता है) ही इस सम्पादकीय स्तम्भ को नियमित रूप से लिखता है, जबकि वस्तुस्थिति भिन्न होती है।

यह एक विडम्बना ही है कि प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं तथा अन्य आर्य संस्थाओं के मुखपत्रों के सम्पादन का गुरुतर भार लिपिकों और वैतनिक कार्यकर्ताओं के भरोसे छोड़ दिया जाता है। प्रायः यह भी देखा गया है कि सभा-संस्थाओं के मन्त्रीपद पर भिन्न व्यक्ति के आ जाने से पूर्वमन्त्री का सम्पादकरूप में छपनेवाला नाम हटा दिया जाता है और अब नवनिर्वाचित मन्त्री सम्पादक बन जाते हैं। वस्तुस्थिति तो यह होती है कि न तो भूतपूर्व और न वर्तमान मन्त्री का ही सम्पादन के वास्तविक कार्य से कोई सम्बन्ध होता है। इसे तो कार्यालय का स्वामी कर्मचारी ही करता है। बहुत कम सम्पादक ऐसे होते हैं जो प्रकाशनीय सामग्री का आद्यन्त अवलोकन कर उसका शोधन या परिमार्जन करते हैं, अन्यथा तो वह सामग्री जैसी लेखक से प्राप्त होती है, उसे वैसे ही छाप दिया जाता है। लिपिक-सम्पादक में संशोधन, परिमार्जन की क्षमता भी नहीं होती, जिसका परिणाम यह होता है कि कभी-कभी आर्यसमाज के पत्रों में अनवधानतावश सिद्धान्त-विरुद्ध भी लेख छप जाते हैं, जिनके लिए बाद में पाठकों द्वारा स्मरण कराये

जाने पर 'क्षमा-याचना' या 'स्पष्टीकरण' छाप दिया जाता है।

तो यह है आर्यसमाज के वर्तमान पत्रों की स्थिति जो कथमपि सन्तोषजनक नहीं है। निश्चय ही आर्यसमाज के पत्रों की दशा इन तीन-चार दशकों में ही बिगड़ी है, अन्यथा प्रारम्भिक दशकों के पत्र पूर्ण परिश्रम, अध्यवसाय तथा तत्परता से सम्पादित एवं प्रकाशित किये जाते थे।

हमारा उद्देश्य तो इस विस्तृत अवधि में फैले आर्यसमाज के पत्रों का परिचयात्मक सर्वेक्षण करना ही है। इस सर्वेक्षण को हम तीन युगों में विभाजन कर प्रस्तुत कर रहे हैं।

(५) आर्य पत्रकारिता के विविध युग

अपने अध्ययन को सुकर बनाने के लिए हमने आर्यसमाजी पत्रकारिता को तीन पृथक् कालों में विभाजित किया है। १८७५ से १९०० ई० तक का काल उन्नीसवीं शताब्दी का अन्तिम चतुर्थांश आर्यसमाज के पत्रों के उद्भव और विकास का काल था। सामान्यतः हिन्दी पत्रकारिता का भी यह शैशवकाल था। इस युग में आर्यसमाज के जो पत्र प्रकाशित हुए, वे अधिकांश में वैयक्तिक प्रयासों के ही परिणाम थे, उसी भाँति जिस प्रकार भारतेन्दुकालीन हिन्दी पत्र अपने-अपने सम्पादकों के परिश्रम और अध्यवसाय से ही निकले थे। अभी तक आर्यसमाज के प्रान्तीय संगठन पूर्णरूप में विकसित और सुदृढ़ नहीं बन पाये थे, इसलिये उनके द्वारा संचालित पत्रों की संख्या भी नगण्य ही थी, जबकि व्यक्तिगत प्रयत्नों से निकाले गये आर्यदर्पण, आर्यसिद्धान्त, वेदप्रकाश आदि पत्र पाठकों को प्रचुर मात्रा में ठोस पाठ्य सामग्री उपलब्ध कराते थे। आर्यसमाज का यह प्रारम्भिक काल आर्यजनों में श्रद्धा, विश्वास, उत्साह तथा कुछ कर गुजरने की भावना स्फूर्त कर रहा था। अतः आर्य पत्रों के पाठक भी इन पत्र-पत्रिकाओं से यथार्थ मार्गदर्शन, प्रेरणा तथा स्फूर्ति ग्रहण करने के लिए लालायित रहते थे।

विभिन्न आर्थिक कठिनाइयाँ होने पर भी इन पत्रों की ग्राहक-संख्या आज की तुलना में, जबकि शिक्षित जनसमुदाय बढ़ा ही है, अधिक सन्तोषप्रद थी। इन पत्रों के ग्राहक अधिकांश में आर्यसमाजों के सभासद तथा इस आन्दोलन से सद्भावना और सहानुभूति रखनेवाले व्यक्ति होते थे, जबकि द्वितीय और तृतीय युग में हम देखते हैं कि आर्यसामाजिक पत्रों के ग्राहक प्रायः आर्यसमाजें तथा संस्थायें ही रह गईं। व्यक्तिगत रूप से पत्रों का मँगाना कम हो गया। आर्यसमाजी लोग तो प्रायः आर्यसंस्थाओं द्वारा संचालित पुस्तकालयों और वाचनालयों में जाकर ही इन पत्रों पर दृष्टिपात कर लेते हैं। अब तो स्थिति यह हो गई है कि आर्य पत्र-पत्रिकाओं को आर्यसमाज मन्दिरों में बैठकर पढ़नेवालों की संख्या भी नगण्य होती है, जबकि इन पत्रों के आवरण-पृष्ठ समाजों के चपरासियों द्वारा ही उतारे जाते हैं अथवा बिना रैपर उतारे ही उन्हें ज्यों का त्यों आलमारियों में रख दिया जाता है, या रद्दी में फेंक दिया जाता है। आज तो आर्यसमाज के पदाधिकारियों को भी इतना अवकाश नहीं रहा, अथवा सच पूछो तो रुचि ही नहीं रही कि वे इन पत्रों को आद्योपान्त पढ़ें तथा अन्य सदस्यों को भी पढ़ने की प्रेरणा दें। ऐसी स्थिति में यदि आर्यसमाज के विद्यमान पत्र क्षीणकलेवर, अनाकर्षक तथा भरती

की सामग्री से आपूरित होने के कारण पाठकों को आकृष्ट न करें, तो आश्चर्य ही क्या ?

आर्यसमाज की पत्रकारिता का द्वितीय काल इस शताब्दी के प्रथम पाँच दशकों (१९०० से १९४७-५० ई०) तक माना जा सकता है। आर्यसमाज के इतिहासकारों ने इसे 'संस्था युग' का नाम दिया है। इस युग में आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ विभिन्न शिक्षण संस्थायें, संस्कृत पाठशालायें, नारी-शालायें, अनाथालय, विधवाश्रम, दलितोद्धार सभायें, शुद्धि सभायें आदि चलती रहीं। सच्चे अर्थ में यह आर्यसमाज का 'कर्मयुग' था जबकि देश, समाज और व्यक्ति के सार्वत्रिक अभ्युत्थान के लिए उसने बहुत-कुछ किया। इस युग में प्रकाशित होनेवाले अधिकांश पत्र आर्यसमाज के इस संस्थावाद को मुखरित करते रहे। अजमेर के दयानन्द अनाथालय ने अपना पत्र 'अनाथरक्षक' लगभग चौथाई सदी तक सफलतापूर्वक प्रकाशित किया। शुद्धि सभाओं के अखबारों की भी धूम रही। प्रत्येक प्रान्तीय सभा ने अपने-अपने पत्र निकाले, जिनके माध्यम से इन संस्थाओं का कार्य और प्रवृत्तियाँ लोगों के समक्ष आईं।

आर्य पत्र-पत्रिकाओं का तृतीय युग देश के स्वाधीन होने के बाद से माना जा सकता है। भारत की राजनैतिक, सामाजिक तथा अन्य परिस्थितियों में वर्णनातीत परिवर्तन हो चुका था। ब्रिटिश सत्ता-काल में जहाँ अनेक आर्यसमाजों के उत्सव सम्राट् जार्ज के दीर्घायु होने की प्रार्थना के साथ समाप्त होते थे और अनेक आर्यसमाजी पत्र भी यदा-कदा गौरांग लोगों के शासन को असीसते रहते थे, वहाँ स्वतन्त्र भारत में इन चाटुकारितापूर्ण कार्यवाहियों के लिए कोई स्थान नहीं था। आर्यसमाज को इस बात का सन्तोष था कि उसके द्वारा प्रस्तुत और प्रचारित हिन्दी प्रचार, दलितोत्थान, नारीजागरण आदि कार्यक्रम समय एवं परिस्थितियों के कारण शासन एवं जनता द्वारा स्वतः ही स्वीकार किये जा रहे थे। कम-से-कम इन राष्ट्रीय और सामाजिक सुधार के कार्यों का विरोध और प्रतिरोध तो समाप्त हो चुका था।

इस युग में आर्यसमाजी पत्रों की संख्या में कल्पनातीत वृद्धि हुई, परन्तु पत्रों का गुणात्मक दृष्टि से ह्रास ही हुआ। आर्यसमाज की छोटी-बड़ी सभी संस्थाओं को पत्र प्रकाशित करने की धुन सवार हुई, बिना इस बात का विचार किये कि पत्रों के गुणात्मक स्तर को किस प्रकार कायम रक्खा जा सकता है? अधिकांश पत्र, जैसा कि हमारी उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है, संस्थाओं के अधिकारियों द्वारा निकाले जाकर कार्यालय के बाबुओं के सुपुर्द कर दिये गये। इन पत्रों में न तो उत्कृष्ट पाठ्य-सामग्री के संग्रह और प्रस्तुतीकरण का ही प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है और न इसके लिए पत्रकारकला में प्रवीण किसी उपर्युक्त व्यक्ति को ही सम्पादन का दायित्व सौंपने के लिए पत्रों की संचालिका सभायें उत्सुक दिखाई देती हैं। फलतः भर्ती की सामग्री छापने, अन्य पत्रों में प्रकाशित लेखों को साभार उद्धृत करने तथा सभा-संस्थाओं के अधिकारियों (जो पत्रों के संचालक भी होते हैं) की अनावश्यक स्तुति, प्रशस्ति करने अथवा उनके भाषणों और दौरों के व्यर्थ के विवरणों को प्रकाशित करने के अतिरिक्त इन पत्रों के सम्पादकों (जो वस्तुतः सभा के वैतनिक लिपिक ही होते हैं) के पास अन्य कुछ करणीय शेष नहीं रहता।

आज के इन आर्यसमाजी पत्रों की आर्थिक स्थिति इतनी दुर्बल है कि कागज और मुद्रण का व्यय निकालने के पश्चात् किसी लेखक को उसकी रचना के लिए पारि-

श्रमिक प्रदान करने का तो कोई सवाल ही नहीं उठता। यह दूसरी बात है कि घाटा सहकर भी संस्थायें और उनके संचालक अपनी लोकैषणा के वशवर्ती होकर पत्रों को चलाने का दुर्वह भार ढोते ही रहते हैं। इस दृष्टि से यह सोचना कि कोई प्रतिष्ठित लेखक अपनी रचना इन पत्रों में प्रकाशनार्थ भेजेगा, दुराशामात्र ही है। हाँ, आर्यसमाज में भी एक विशेष टाइप का लेखन प्रचलित है और जिन्हें इस आर्यसमाजी लेखन का चस्का है, वे अपनी छपास वृत्ति को शान्त करने के लिए एक ही रचना की अनेक कार्बन कॉपियाँ निकालकर विभिन्न आर्य-पत्रों में प्रकाशनार्थ भेजते रहते हैं और इन पत्रों में अपनी कृति को छपा देखकर एक विशेष प्रकार का मनस्तोष प्राप्त करते हैं।

फिर भी पत्र-पत्रिकाओं के इस तृतीय युग को सर्वथा निराशाप्रद नहीं कहा जा सकता। इस युग में कतिपय आर्यसमाजी पत्रकारों ने अपनी वैयक्तिक श्रम-साधना के बल पर आर्य-पत्रों को उन्नति के सर्वोच्च सोपान पर प्रतिष्ठित किया है। श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट ने 'वेदवाणी' के माध्यम से वर्षों तक वैदिक अध्ययन को नूतन दिशा प्रदान की। स्व० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के सम्पादनकाल में वेदवाणी के विशेषांकों का स्तर पर्याप्त ऊँचा रहा। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने भी वेदवाणी के माध्यम से आर्यसमाज में बढ़ती हुई स्वाध्याय के अभाव की प्रवृत्ति के प्रति चिन्ता प्रकट की तथा समय-समय पर आर्षग्रन्थों के प्रचार की अनेक योजनाओं को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया। परोपकारिणी सभा के मुखपत्र 'परोपकारी' ने ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज-विषयक नूतन-पुरातन सामग्री को शोधार्थियों के लिए उपलब्ध कराने में अद्भुत जागरूकता प्रदर्शित की है। इसी प्रकार 'तपोभूमि' एवं 'जनज्ञान' आदि पत्र भी लोकोपयोगी, रोचक तथा सुपाच्य पाठ्य-सामग्री देने के लिए तत्पर रहे हैं। हाँ, सभा-संस्थाओं के मुखपत्रों का हाल अधिक सन्तोषजनक नहीं है। वे उसी पुरानी लीक का ही अनुसरण कर रहे हैं जो उन्हें परम्परा से मिली है। संस्थायें भी इन पत्रों से सन्तुष्ट नहीं हैं क्योंकि उनके कार्यों का येन-केन-प्रकारेण विज्ञापन तो इनसे हो ही जाता है।

इस प्रारम्भिक विवेचना के पश्चात् हम आर्यसमाजों के पत्रों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत करते हैं।

आर्यसमाज की पत्रकारिता का प्रथम युग (१८७५-१९०० ई०)—इसे आर्यसमाज की पत्रकारिता का प्रारम्भिक युग कहा जा सकता है। आर्यसमाज द्वारा प्रकाशित प्रथम पत्र **'आर्यदर्पण'** मासिक था। यह आर्यसमाज शाहजहाँपुर द्वारा प्रकाशित हिन्दी एवं उर्दू में छपनेवाला द्विभाषी पत्र था। इसमें एक ही विषय के लेख पृथक् समानान्तर कालमों में नागरी तथा फारसी लिपि में छपते थे। इसके सम्पादक मुन्शी बख्तावरसिंह थे जो वैदिक यन्त्रालय के प्रथम व्यवस्थापक भी रहे। स्वामी दयानन्द के शास्त्रार्थों के विवरण इस पत्र में प्रकाशित होते थे। काशी-शास्त्रार्थ, हुगली-शास्त्रार्थ, चाँदापुर के धार्मिक मेले का विवरण (जो सत्यधर्म-विचार शीर्षक से पृथक् पुस्तकाकार छपता है) तथा अजमेर में स्वामी दयानन्द और पादरी ग्रे के बीच हुए शास्त्रार्थ का विवरण भी इसमें प्रकाशित हुआ था। आर्यदर्पण का प्रकाशन १८७८ ई० में आरम्भ हुआ और १९०६ ई० तक इसके प्रकाशित होने के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। मुन्शी बख्तावरसिंह द्वारा आर्यसमाज से सम्बन्ध तोड़ लेने पर भी उन्होंने इस पत्र का प्रकाशन जारी रक्खा। ऐसा प्रतीत होता है कि इसका आरम्भ तो आर्यसमाज शाहजहाँपुर ने ही किया था, किन्तु

बाद में इसका स्वामित्व उक्त मुन्शीजी के पास आ गया।

इस युग का अन्य महत्त्वपूर्ण मासिक पत्र आर्यसमाज फर्रुखाबाद द्वारा प्रकाशित होनेवाला भारत-सुदशा-प्रवर्त्तक है। इसका आरम्भ जुलाई १८७९ ई० में हुआ। प्रारम्भ में इस पत्र का नाम 'भारत-दुर्दशा-प्रमर्दक' रक्खा गया, किन्तु स्वामी दयानन्द की सम्मति से इसका नाम बदलकर 'भारत-सुदशा-प्रवर्त्तक' कर दिया गया। पत्र के प्रथम सम्पादक आर्यसमाज फर्रुखाबाद के मन्त्री पण्डित गोपालहरि पुण्तांकर थे। बाद में यह दायित्व स्वामीजी के एक अन्य विश्वासपात्र शिष्य पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा को दिया गया। शर्माजी ने वर्षों तक इस पत्र का सम्पादन-कार्य निष्पन्न किया। जुलाई १९१२ ई० में इसे साप्ताहिक का रूप दे दिया गया। अप्रैल १९१५ ई० का अंक निकलने के पश्चात् इसका प्रकाशन बन्द हो गया। 'प्रवर्त्तक' की पुरानी फाइलें आर्यसमाज के इतिहास के क्रमिक विकास तथा उसकी प्रारम्भकालीन गतिविधियों को जानने के लिए अपरिहार्य हैं।

स्वामी दयानन्द के जीवनकाल में ही आर्यसमाज अजमेर की ओर से 'देश-हितैषी' मासिक निकाला गया। इसका प्रकाशन १८८२ ई० में आरम्भ हुआ था। पत्र का सम्पादन आर्यसमाज अजमेर के मन्त्री श्री मुन्नालाल शर्मा करते थे। समसामयिक आर्यसामाजिक प्रवृत्तियों के ज्ञान के लिए देशहितैषी के इन अंकों को टटोलना इतिहास-कार के लिए आवश्यक है। स्वामी दयानन्द के निधन के लगभग दो वर्ष पश्चात् १८८५ ई० में आर्यसमाज मुरादाबाद ने 'आर्यविनय' नामक एक पाक्षिक पत्र का प्रका-शन आरम्भ किया। प्रारम्भ में इसका सम्पादन हिन्दी के सुप्रसिद्ध पत्रकार पण्डित रुद्रदत्त शर्मा ने किया। जब वे 'आर्यावर्त' के सम्पादक बनकर कलकत्ता चले गये तो सम्पादन का भार पण्डित बद्रीदत्त शर्मा के कन्धों पर आया। विगत शताब्दी की आर्य-समाज की गतिविधियों और कार्यक्रमों की प्रचुर जानकारी 'आर्यविनय' से उपलब्ध की जा सकती है।

विगत शताब्दी का सर्वाधिक विख्यात आर्य-पत्र था **'आर्यावर्त'**। इसका प्रथम प्रकाशन एक अप्रैल १८८७ ई० को भवानीपुर कलकत्ता से हुआ। यह आर्यसमाज कलकत्ता का साप्ताहिक मुखपत्र था। इसके प्रथम सम्पादक पण्डित रुद्रदत्त शर्मा थे जिन्होंने १० वर्षों तक यह दायित्व निभाया। १८९७-९८ ई० में इसका प्रकाशन दानापुर (बिहार) से होने लगा। १८९८ ई० में इसे आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल-बिहार का मुख-पत्र बना दिया गया और इसका प्रकाशन राँची से होने लगा। अब इसके सम्पादक बाबू बालकृष्णसहाय (राँची आर्यसमाज के प्रमुख कार्यकर्त्ता तथा वकील) बने। १९१० ई० में इस पत्र को भागलपुर ले आया गया और इसे मासिक का रूप मिला। पण्डित श्याम-शर्मा इसके सम्पादक थे। पत्र के सहकारी सम्पादक के रूप में पण्डित भवानीदयाल (कालान्तर में स्वामी भवानीदयाल संन्यासी) ने भी कार्य किया था। १९२६ ई० में जब बिहार की स्वतन्त्र आर्य प्रतिनिधि सभा संगठित हुई तो आर्यावर्त का प्रकाशन पटना से होने लगा। स्वामी भवानीदयाल प्रधान सम्पादक नियुक्त हुए और बाबू महादेवशरण को उनका सहायक बनाया गया। राँची-निवासी आर्य कार्यकर्त्ता श्री दयाराम पोद्दार के पास आर्यावर्त की एक प्राचीन फाइल है, जिससे इस पत्र के स्वरूप, आकार-प्रकार तथा इसमें प्रकाशित सामग्री की वास्तविक जानकारी मिलती है।

आर्यसमाज के आद्य पण्डित तथा स्वामी दयानन्द के प्रमुख शिष्य पण्डित

भीमसेन शर्मा ने १८८७ ई० में प्रयाग से **'आर्यसिद्धान्त'** मासिक का प्रकाशन किया। आर्य-सिद्धान्तों की विवेचना, सैद्धान्तिक खण्डन-मण्डन तथा आर्यसमाज के मन्तव्यों पर नाना दिशाओं से किये जानेवाले आक्षेपों का निराकरण करने में इस पत्र का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जब पण्डित भीमसेन आर्यसमाज से पृथक् होकर इटावा में रहने लगे तो उन्होंने सनातनी विचारधारा का पत्र ब्राह्मण-सर्वस्व निकालना आरम्भ कर दिया। स्वामी दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा ने १८८९ ई० में षण्मासिक पत्र **'परोपकारी'** निकालने का निश्चय किया। तदनुसार इसका प्रथम अंक कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा १९४६ वि० को निकला। इस अंक में वैदिक यन्त्रालय का वार्षिक विवरण, परोपकारिणी सभा का वार्षिक वृत्तान्त तथा स्वामी दयानन्द के पत्रव्यवहार का कुछ अंश छपा। दूसरा अंक निकलने के पश्चात् यह बन्द हो गया।

पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द) ने विगत शताब्दी की समाप्ति तक ४ हिन्दी तथा १ उर्दू का पत्र निकालकर पत्र-प्रकाशकों में एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। **'तिमिरनाशक'** काशी से साप्ताहिक के रूप में १८९० ई० में निकला। **'ब्राह्मण-हितकारी'** साप्ताहिक भी काशी से ही १८९२ ई० में प्रकाशित हुआ। अपनी जन्मभूमि जगरांव (जिला लुधियाना) से उन्होंने **'भारत उद्धार'** साप्ताहिक निकाला और यहीं से वे १८९४ ई० में **'वेदप्रचारक'** मासिक निकालने लगे। उर्दू साप्ताहिक **'वैदिक धर्म'** का प्रकाशन उन्होंने मुरादाबाद से किया। निश्चय ही ये सभी पत्र दीर्घजीवी नहीं हुए।

१८९७ ई० में प्रकाशित होनेवाले मेरठ के मासिक **वेदप्रकाश** का आर्यसमाज की पत्रकारिता में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रकाशन आर्यसमाज के श्रेष्ठ विद्वान् पण्डित तुलसीराम स्वामी ने किया था। पण्डित तुलसीराम के १९१५ ई० में दिवंगत हो जाने पर उनके अनुज पण्डित छुट्टनलाल स्वामी इसके सम्पादक बने। वेदप्रकाश में विभिन्न शास्त्रीय, धार्मिक, दार्शनिक तथा सामाजिक विषयों पर उच्च कोटि के सैद्धान्तिक लेख छपते थे। विरोधियों के आक्षेपों का प्रतिवाद करने तथा आर्यसमाज के मन्तव्यों पर उठाई जानेवाली आपत्तियों का समाधान करने में वेदप्रकाश ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। विशेषतः पण्डित भीमसेन शर्मा के ब्राह्मण-सर्वस्व में छपनेवाले आक्षेपात्मक लेखों तथा पण्डित कालूराम शास्त्री के आर्यसमाज के विरोध में लिखी जाने वाली सामग्री का तत्परतापूर्वक खण्डन करना वेदप्रकाश की विशेषता थी। वैदिक पुस्तक-प्रचारक-फण्ड का मासिक पत्र **'भारतोद्धारक'** भी १८९७ ई० में मेरठ से ही छपने लगा। इसके सम्पादक स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती थे। इसके प्रारम्भिक अंकों में पण्डित तुलसीराम स्वामी लिखित भास्करप्रकाश (पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र द्वारा सत्यार्थप्रकाश के खण्डन में लिखे गये दयानन्दतिमिरभास्कर का उत्तर) का क्रमशः प्रकाशन हुआ था।

आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त (वर्तमान उत्तर प्रदेश) का मुखपत्र **'आर्य-मित्र'** भी विगत शताब्दी में ही प्रकाशित हुआ। इस पत्र का पूर्वनाम **'नुहरिक'** था और वह उर्दू में १८९६ ई० में साप्ताहिक के रूप में निकला था। दो वर्ष बाद इसे 'आर्य-मित्र' का नाम देकर १८९८ ई० से हिन्दी में प्रकाशित किया जाने लगा। तब से ८७ वर्ष के इस सुदीर्घकाल में आर्यमित्र ने अनेक उतार-चढ़ाव देखे हैं। इसका प्रकाशन भी समय-समय पर मुरादाबाद, आगरा तथा लखनऊ से होता रहा। विगत ४५ वर्षों से यह लखनऊ से ही प्रकाशित हो रहा है। आर्यमित्र के सम्पादकमण्डल में सर्वश्री हरिशंकर

शर्मा, पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी, पण्डित लक्ष्मीधर वाजपेयी तथा क्षेमचन्द्र सुमन जैसे लब्धप्रतिष्ठित साहित्यकार रह चुके हैं। एक बार इसे दैनिक का रूप भी दिया गया था, किन्तु आर्थिक कठिनाइयों के कारण पुनः साप्ताहिक कर दिया गया। हिन्दी में आर्यमित्र के अतिरिक्त और कोई इतना पुराना जीवित पत्र नहीं है।

आर्य पत्रकारिता का द्वितीय युग (१६०१ से १६४७ ई०)—अर्द्ध शताब्दी से कुछ कम अवधि के इस युग में अनेक पत्रों का प्रादुर्भाव हुआ। विभिन्न प्रान्तीय आर्य-प्रतिनिधि-सभाओं ने भी अपने मुखपत्र इसी समय निकाले। आर्य-प्रतिनिधि-सभा मध्य-प्रदेश का पत्र आर्यसेवक १६०३ ई० में निकला। परोपकारिणी सभा ने १६०७ ई० में परोपकारी को मासिक के रूप में निकालना आरम्भ किया। पण्डित पद्मसिंह शर्मा जैसे प्रतिष्ठित साहित्यकार इसके सम्पादक-पद पर रहे। दो वर्ष निकलकर १६०६ ई० में यह बन्द हो गया। महात्मा मुंशीराम ने अपने पत्र सद्धर्मप्रचारक को, जो उर्दू में १८८६ ई० से ही निकल रहा था, १ मार्च १६०७ ई० से हिन्दी में निकालना आरम्भ कर दिया। इस युग में सद्धर्मप्रचारक द्वारा आर्यसमाज की सार्वभौम नीति-रीति का सार्वजनिक प्रकाशन होता था। १६०६ ई० में काशी से डॉक्टर केशवदेव शास्त्री ने 'नव-जीवन' मासिक निकालना आरम्भ किया। शास्त्री जी के विदेश चले जाने पर श्री द्वारका-प्रसाद 'सेवक' इसे इन्दौर से निकालते रहे। १६१६ तक सफलतापूर्वक निकलने के पश्चात् इसका प्रकाशन बन्द हो गया। वैयक्तिक पत्रों में मेरठ के भास्कर प्रेस से प्रका-शित तथा श्री रघुवीरशरण दुबलिस द्वारा सम्पादित 'भास्कर' मासिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसका प्रकाशन १६११ ई० में आरम्भ हुआ था। १६१८ ई० में श्री रघुवीर-शरण दुबलिस का देहान्त हो गया तो उनके अनुज रघुनन्दनशरण इसके सम्पादक बने।

आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का मुखपत्र 'आर्य' मासिक रूप में १६१४ ई० में निकलना आरम्भ हुआ। इसके आदि सम्पादक पण्डित चमूपति थे। देशविभाजन के पश्चात् यह साप्ताहिक रूप में अम्बाला से निकलने लगा। अब इसके सम्पादन का कार्य-भार पण्डित भीमसेन विद्यालंकार को सौंपा गया। कालान्तर में अनेक कारणों से इस पत्र के विभिन्न नामकरण हुए। १६५६ ई० में इसे 'आर्योदय' का नाम दिया गया। १६६३ ई० में यह दिल्ली ले आया गया। आर्योदय के सम्पादन में पण्डित भारतेन्द्रनाथ का योगदान महत्त्वपूर्ण रहा। उन्होंने इस पत्र को उच्चस्तरीय बनाया, जिससे इसकी लोकप्रियता में वृद्धि हुई। १६६२ ई० में सभा के आन्तरिक कलहवश पत्र को आर्य-मर्यादा का नाम दिया गया और अब इसका सम्पादन पण्डित जगदेवसिंह शास्त्री, सिद्धान्ती करने लगे। कालान्तर में जब आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का कार्यालय पुनः जालंधर चला गया तो इसे 'आर्यमर्यादा' के ही नाम से, साप्ताहिक रूप में, वहाँ से प्रका-शित किया जाने लगा।

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान का साप्ताहिक मुखपत्र आर्य मार्त्तण्ड १६२३ ई० में अजमेर से निकलना आरम्भ हुआ। राजस्थान व मालवा प्रान्त की आर्य प्रतिनिधि सभा उन दिनों एक ही थी। आर्यमार्त्तण्ड के सम्पादक के पद पर दीर्घकाल तक उक्त सभा के यशस्वी महोपदेशक पण्डित रामसहाय शर्मा रहे। १६५० ई० में कुं० चाँदकरण शारदा तथा पण्डित भगवान्स्वरूप न्यायभूषण को मार्त्तण्ड का सम्पादनकार्य सौंपा गया। जब उक्त सभा के प्रधान-पद पर पण्डित जियालाल आसीन हुए, तो पत्र का सम्पादन

पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार तथा डॉक्टर सूर्यदेव शर्मा को दे दिया गया। १९५३ ई० में सभा के अधिकारियों में परिवर्तन हो जाने के कारण मार्त्तण्ड का प्रकाशन जयपुर से होने लगा। आर्थिक कठिनाइयों के कारण अब इसे साप्ताहिक के स्थान पर मासिक का रूप दे दिया गया। स्वल्पकाल के लिए तो मार्त्तण्ड का प्रकाशन स्थगित भी हो गया। पुन: इसे पाक्षिक के रूप में अजमेर से निकाला जाने लगा। १९७० ई० में इन पंक्तियों के लेखक ने आर्यमार्त्तण्ड का सम्पादन-कार्य सम्भाला और १९७३ ई० तक इस पत्र का सम्पादन किया। लगभग एक वर्ष तक आर्यमार्त्तण्ड का कार्यालय अलवर में रहा, किन्तु व्यवस्थित रूप से न निकल पाने के कारण इसे १९७४ ई० में अजमेर से डॉक्टर सूर्यदेव शर्मा के सम्पादन में पुन: प्रकाशित किया गया। यहाँ भी मार्त्तण्ड की कठिनाइयाँ कम नहीं हुईं। १९७३ में मार्त्तण्ड पुन: जयपुर चला गया। सम्प्रति श्री ओमप्रकाश इस पाक्षिक का सम्पादन कर रहे हैं।

आर्य प्रादेशिक सभा का मासिक मुखपत्र **आर्यजगत्** १९२४ ई० में श्री खुशहाल-चन्द खुर्सन्द के सम्पादन में निकला। १९४० ई० में इसे साप्ताहिक का रूप दे दिया गया। देश-विभाजन के पश्चात् यह जालंधर से निकलने लगा, किन्तु १९७१-७२ ई० में जब प्रादेशिक सभा का कार्यालय नई दिल्ली आ गया तो पत्र भी यहाँ से प्रकाशित होने लगा। १९७९ ई० से श्री क्षितीश वेदालंकार इसका सम्पादन कर रहे हैं। आर्यजगत् की ग्राहक-संख्या कई हजार है तथा इसकी लोकप्रियता में उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है।

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के मासिक मुखपत्र 'सार्वदेशिक' का प्रकाशन १९२७ ई० में आरम्भ हुआ। इसके प्रथम सम्पादक डॉक्टर केशवदेव शास्त्री थे। बाद में प्रोफेसर सुधाकर तथा पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने इसका सफल सम्पादन किया। सहायक सम्पादक के रूप में तो पण्डित रघुनाथप्रसाद पाठक पत्र के आरम्भ से लेकर स्वजीवन के अन्त तक (१९८५ ई०) से इससे जुड़े रहे। दीर्घकाल तक मासिक रूप में प्रकाशित होने के पश्चात् १९६५ ई० से इसे साप्ताहिक के रूप में निकाला जाने लगा। आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद (निजाम राज्य) का दैनिक पत्र दिग्विजय १९३९ ई० में निकलना आरम्भ हुआ। १९४६ ई० में इस सभा ने **'आर्यभानु'** नामक साप्ताहिक पत्र भी निकाला।

यहाँ हमने द्वितीय युग के कतिपय प्रमुख पत्रों का ही संक्षिप्त विवरण दिया है। आर्यसमाज की शिक्षण संस्थाओं तथा अन्य प्रवृत्तियों से सम्बद्ध पत्रों का विवरण हम पृथक् रूप से दे रहे हैं।

आर्य पत्रकारिता का तृतीय युग(१९४७-१९८५ ई०)—इस युग में आर्यसमाज के पत्रों की संख्या में तो आशातीत वृद्धि हुई है, किन्तु उनकी गुणवत्ता में स्पष्ट ह्रास दिखाई देता है। अब आर्यसमाजी पत्रों के पाठकों की संख्या में कमी स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही है। पत्रों के संचालकों के पास साधनों का भी अभाव है और आर्य जनता से उन्हें कोई प्रोत्साहन नहीं मिलता। आर्यसमाजी विद्वानों के स्वाध्याय, चिन्तन, मनन और लेखन में जब न्यूनता आ गई तो उन्हीं से प्रेरणा लेनेवाले सामान्य आर्यों के बौद्धिक स्तर में आई कमी का तो सहज ही अनुमान किया जा सकता है। हम यहाँ स्वातन्त्र्योत्तर काल के कुछ प्रमुख पत्रों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

१९४८ ई० में काशी से एक मासिक पत्रिका **वेदवाणी** का प्रकाशन हुआ। इसके

सम्पादक पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु थे। कुछ अंक निकलने के पश्चात् वेदवाणी का स्वामित्व श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट को दे दिया गया। पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु मृत्यु-पर्यन्त इसके सम्पादक रहे। उनके निधन (१९६४ ई०) के पश्चात् पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने वेदवाणी का सम्पादन सम्भाला। वेदवाणी में वेदों तथा अन्य शास्त्रीय विषयों पर उच्च कोटि की सामग्री रहती है। इसके विशेषांक शोध-सामग्री से भरपूर होते हैं। जब रामलाल कपूर ट्रस्ट का निजी प्रेस बहालगढ़ (सोनीपत) में स्थापित हो गया, तो वेदवाणी का प्रकाशन भी यहीं से होने लगा। स्वामी विद्यानन्द विदेह ने १९४८ में अजमेर से वेद-विषयक मासिक पत्र सविता निकालना आरम्भ किया। यद्यपि सविता (अब वेदसविता के नाम से प्रकाशित होती है) में प्रकट किये गये विचार आर्यसमाज की विचारधारा के पूर्णतया अनुकूल नहीं होते, तथापि उसके अधिकांश पाठक और ग्राहक आर्यसमाजी ही हैं। स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने १९४९ में ज्वालापुर से वेद-विषयक एक उच्चकोटि का पत्र 'वेदपथ' प्रकाशित किया। पत्र अधिक काल तक जीवित नहीं रहा। १९६७ में पण्डित अमरसिंह आर्यपथिक ने इसे पुनरुज्जीवित किया, किन्तु कुछ काल पश्चात् इसका प्रकाशन पुनः बन्द हो गया।

आर्यसमाज के लब्धप्रतिष्ठ प्रकाशक श्री गोविन्दराम हासानंन्द ने दिल्ली से वेदप्रकाश मासिक १९५१ ई० में निकाला। तब से यह पत्र निरन्तर प्रकाशित हो रहा है। सम्प्रति इसके आदरी सम्पादक स्वामी जगदीश्वरानन्द हैं। वेदप्रकाश अपने विशेषांकों के लिए विख्यात रहा है। अजमेर से हकीम वीरूमल आर्यप्रेमी ने १९५३ ई० में 'आर्यप्रेमी' मासिक निकाला। हकीमजी के निधन के पश्चात् उनके पुत्र हकीम मोहनलाल इसे निकालते रहे। उनकी मृत्यु के पश्चात् इसका प्रकाशन बन्द हो गया। १९५३ ई० में ही मथुरा से 'तपोभूमि' मासिक का प्रकाशन श्री ईश्वरीप्रसाद प्रेम ने किया। अब यह सत्य प्रकाशन मथुरा का मुखपत्र है। तपोभूमि के विशेषांक पर्याप्त लोकप्रिय हुए हैं। आर्यसमाज विधान सरणी कलकत्ता का मासिक मुखपत्र 'आर्य-संसार' १९५९ ई० से निकल रहा है। क्षीणकलेवर होने पर भी वर्षान्त में एक सुन्दर विशेषांक दे देना आर्यसंसार की विशेषता है। इसके सम्पादन का कार्य प्रोफेसर उमाकान्त उपाध्याय अवैतनिक रूप से करते हैं। १९५९ ई० में ही इन पंक्तियों के लेखक ने जोधपुर से 'आर्षपथ' मासिक का प्रकाशन किया। द्रव्याभाव व मुद्रणजन्य कठिनाइयों के कारण चार अंक निकलने के पश्चात् इसे बन्द कर देना पड़ा।

हम विगत युग के विवरण में देख चुके हैं कि 'परोपकारी' को मासिक रूप से प्रकाशित करने का निश्चय परोपकारिणी सभा ने इस शताब्दी के प्रथम दशक में किया था। मुश्किल से दो वर्ष तक यह पत्र उस समय चल सका। किन्तु १९५९ ई० में परोपकारी को मासिक के रूप में पुनः प्रकाशित किया गया, और तब से अब तक यह सफलतापूर्वक प्रकाशित हो रहा है। प्रारम्भ में इसका सम्पादन स्व० पण्डित भगवान्स्वरूप न्यायभूषण करते थे। उनके निधन के पश्चात् लगभग एक दशक तक इन पंक्तियों का लेखक इस पत्र का सम्पादन करता रहा। परोपकारी को स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाज-विषयक एक उच्च कोटि का शोधपत्र बनाया गया तथा इसके विशेषांकों में महत्त्वपूर्ण सामग्री सायास एकत्र करके दी जाती रही। सम्प्रति इसका सम्पादन दयानन्द कालेज, अजमेर के संस्कृत प्रवक्ता श्री धर्मवीर कर रहे हैं।

महर्षि दयानन्द-स्मारक-ट्रस्ट टंकारा ने **टंकारा पत्रिका** शीर्षक मासिक १९५९ ई० में निकाला। प्रारम्भ में इसके सम्पादक पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक रहे। यह एक उच्च कोटि का मासिक पत्र था, किन्तु दीर्घजीवी नहीं हो सका। दिल्ली से श्री राजपालसिंह शास्त्री मासिक **मधुरलोक** का प्रकाशन (१९६५ ई०) आरम्भ से ही नियमित रूप से कर रहे हैं। आर्ष-साहित्य-प्रचार-ट्रस्ट दिल्ली ने **दयानन्दसंदेश** मासिक का प्रकाशन १९६७ ई० में आरम्भ किया। इससे पूर्व इसी नाम का एक पत्र पण्डित राजेन्द्रनाथ शास्त्री निकाल चुके थे। 'दयानन्दसंदेश' के वर्तमान सम्पादक पं० राजवीर शास्त्री शास्त्रों के प्रकाण्ड विद्वान् तथा सिद्धहस्त लेखक हैं। इस पत्र के सैद्धान्तिक विषयों पर अनेक विशेषांक भी निकल चुके हैं। १९६८ ई० में श्री भगवानदेव शर्मा ने **जनज्ञान** मासिक निकालना आरम्भ किया। कुछ काल पश्चात् इसे पण्डित भारतेन्द्रनाथ ने स्वाधिकार में लिया और इस पत्र को दयानन्द संस्थान के मुखपत्र के रूप में निकाला जाने लगा। पण्डित भारतेन्द्रनाथ के कुशल सम्पादन में पत्र ने बहुत उन्नति की और इसकी ग्राहक-संख्या भी हजारों तक पहुँच गई। कालान्तर में पत्र के संचालक एवं सम्पादक पण्डित भारतेन्द्रनाथ ने इसे हिन्दुत्ववादी विचारधारा का वाहक बना दिया, तब से यह पत्र आर्य विचारधारा से दूर होता चला गया। पण्डित भारतेन्द्रनाथ के निधन के पश्चात् अब उनकी पत्नी श्रीमती राकेशरानी इसे प्रकाशित कर रही हैं।

आर्य-प्रतिनिधि-सभा मध्यदक्षिण का मासिक मुखपत्र **आर्यजीवन** पण्डित नरेन्द्र के सम्पादन में १९६९ ई० में निकला। तीन वर्ष पश्चात् १९७२ ई० में यह बन्द हो गया। पंजाब से प्रकाशित होने वाले उर्दू पत्र **आर्यगजट** का हिन्दी मासिक संस्करण १९७३ ईसवी में श्री दुर्गादास शर्मा ने आरम्भ किया। तब से यह निरन्तर प्रकाशित हो रहा है। रोहतक से १९७४ ईसवी में पण्डित वेदव्रत शास्त्री ने **'सर्वहितकारी'** साप्ताहिक का प्रकाशन आरम्भ किया। कुल काल पश्चात् इये आर्य प्रतिनिधि सभा, हरयाणा ने अपना लिया। तब से यह इस सभा के मुखपत्र के रूप में निकल रहा है। आर्य-प्रतिनिधि-सभा मध्यभारत का मासिक पत्र **'वैदिक रवि'** २०३४ वि० से निकल रहा है। आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली का साप्ताहिक **आर्यसंदेश** (१९७७ ई०), आर्य-प्रतिनिधि सभा विहार का मासिक मुखपत्र **आर्यसंकल्प** तथा आर्य-प्रतिनिधि-सभा हिमाचलप्रदेश का मासिक पत्र **आर्य वन्दना** भी अपने-अपने प्रान्तों की आर्यसामाजिक गतिविधियों का परिचय देते हुए प्रकाशित हो रहे हैं। श्री रामचन्द्र जावेद ने जालंधर छावनी से १९७८ ई० में **वैदिक धर्म** मासिक निकाला। जावेदजी के निधन के कुछ समय पूर्व ही इसका प्रकाशन वन्द हो गया था। श्री जगदेवसिंह सिद्धान्ती तथा श्री रघुवीर-सिंह शास्त्री ने वर्षों पूर्व **सम्राट्** नामक एक श्रेष्ठ साप्ताहिक पत्र निकाला था, किन्तु उसका प्रकाशन कालान्तर में वन्द हो गया। १९८३ ई० में श्री चन्द्रमोहन शास्त्री ने सम्राट् को एक श्रेष्ठ मासिक के रूप में पुनः निकालना आरम्भ किया है। दिल्ली के श्री अभिविनय भारती ने **'वेदोद्धारिणी'** नामक एक द्विमासिक शोधपत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया है। इसमें वेद तथा अन्य शास्त्रीय विषयों पर उच्च कोटि के लेख होते हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने स्वातन्त्र्योत्तर काल के कुछ प्रमुख आर्य-पत्रों का ही

परिचय दिया है। अनेक पत्र खद्योतों की भाँति क्षणिक आभा दिखाकर विलीन हो गये। इन सबका उल्लेख करना भी सम्भव नहीं है।

(६) आर्य संस्थाओं से सम्बन्धित पत्र एवं विशिष्ट उद्देश्यों से प्रकाशित पत्र

उपर्युक्त पंक्तियों में आर्य पत्र-पत्रिकाओं के विस्तृत इतिहास को हमने तीन युगों में विभक्त कर उसका यत्किंचित् विवरण देने का प्रयास किया है। किन्तु आर्यसमाज के उन पत्रों की संख्या भी बहुत अधिक है जो या तो किसी विशिष्ट संस्था के मुखपत्र के रूप में प्रकाशित होते रहे हैं अथवा आर्यसमाज की किसी विशेष प्रवृत्ति, यथा शिक्षा, शुद्धि, गोरक्षा, महिला-उत्थान, आर्य-कुमार-आन्दोलन आदि से सम्बद्ध रहे हैं। हम यहाँ कतिपय ऐसे ही पत्रों का श्रेणीबद्ध विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं।

गुरुकुलों से सम्बन्धित पत्र—आर्यसमाज के द्वारा स्थापित गुरुकुलों ने शिक्षा के प्राचीन आदर्शों को पुनरुज्जीवित किया था। इन्हीं गुरुकुलों के द्वारा अनेक पत्र निकाले गये जो छात्रों एवं अध्यापकों के अतिरिक्त इतर पाठक-समुदाय में भी लोकप्रिय हुए। 'सद्धर्मप्रचारक' यद्यपि लाला मुंशीराम का निजी पत्र था किन्तु उसमें गुरुकुल काँगड़ी सम्बन्धी सूचनाएँ व समाचार बराबर छपते थे। कालान्तर में गुरुकुल काँगड़ी से ही **श्रद्धा** (१९२०), **वैदिक संदेश** (१९२१), **अलंकार** तथा **गुरुकुल समाचार** (१९२४), **गुरुकुल** (१९३६) तथा **गुरुकुल पत्रिका** (१९४८ ई०) नाम के पाँच पत्र समय-समय पर निकले। इनमें अन्तिम 'गुरुकुल पत्रिका' पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति तथा पण्डित भगवद्दत्त वेदालंकार के सम्पादनकाल में उच्चकोटि की अनुसंधान-पत्रिका के रूप में निकलती रही। कुछ काल तक बन्द रहने के पश्चात् इसे पुनरुज्जीवित करने का प्रयास किया गया है। अब जब कि गुरुकुल काँगड़ी ने विश्वविद्यालय का रूप ले लिया है, यह और भी आवश्यक है कि यहाँ से उच्चस्तरीय शोध की पत्रिका का प्रकाशन हो।

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर का पत्र **भारतोदय** १९०९ ई० में पद्मसिंह शर्मा तथा पण्डित नरदेव शास्त्री जैसे धुरन्धर आर्य विद्वानों के सम्पादन में आरम्भ हुआ था। तब से अनेक उतार-चढ़ाव देखता हुआ यह पत्र आज भी एक सफल संस्कृत मासिक के रूप में निकल रहा है। गुरुकुल वृन्दावन से आचार्य विश्वेश्वर के सम्पादन में १९२५ ई० में **आर्यज्योति** मासिक पत्रिका निकली जो दीर्घजीवी नहीं हो सकी। गुरुकुल झज्जर का मासिक पत्र **सुधारक** (१९५३) तथा गुरुकुल महाविद्यालय कालवा का पत्र **वैदिक विजय** (१९७२) हरयाणा के गुरुकुलों से सम्बन्धित हैं। गुरुकुल भैंसवाल तथा कन्या-गुरुकुल खानपुर का सम्मिलित मासिक पत्र **समाजसंदेश** १९५९ ई० से निकल रहा है। उड़ीसा के दो गुरुकुल वैदिक आश्रम वेदव्यास (राउरकेला) तथा गुरुकुल आमसेना क्रमशः **बनवासीसंदेश** (१९६७) तथा **आर्यभूमि** (अपर नाम कुलपति, १९७४) नामक मासिक पत्र निकाल रहे हैं। कुलभूमि को तो आर्य प्रतिनिधि सभा उत्कल प्रदेश ने अपने मुखपत्र के रूप में मान्यता प्रदान की है।

नारी-उत्थान-विषयक पत्र—हम यह देख चुके हैं कि भारत के महिला वर्ग का सर्वांगीण उत्थान करने में आर्यसमाज ने ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह किया है। विगत शताब्दी में ही नारी जाति के सर्वतोमुखी जागरण के लिए आर्यसमाज ने कार्य आरम्भ

कर दिया था। तदनुसार ऐसे अनेक पत्र प्रकाशित किये गये, जिनमें महिलाओं की उन्नति को ही प्रमुख लक्ष्य रक्खा गया था। यहाँ ऐसे कतिपय पत्रों का विवरण दिया जा रहा है। १८८८ ई० में प्रसिद्ध आर्य नेता बैरिस्टर रोशनलाल की पत्नी श्रीमती हरदेवी ने **भारतभगिनी** मासिक पत्रिका प्रयाग से निकाली। कुछ काल पश्चात् यह लाहौर से प्रकाशित होने लगी। १८९२ ई० में राँची से श्रीमती भाग्यवती क्षत्रिया ने **बनिताहितैषी** मासिक पत्रिका निकाली। इसकी सम्पादिका श्रीमती भाग्यवती हिन्दी के भारतेन्दु-कालीन लेखक ठाकुर गदाधरसिंह की बहिन थीं। १९१३ ई० में भास्कर प्रेस मेरठ के स्वामी रघुवीरशरण दुबलिस ने **भारतमहिला** का प्रकाशन किया। इसकी सम्पादिका सुनीति देवी ब्रह्मचारिणी थीं। १९१८ ई० में काशी से **'आर्यमहिला'** मासिक पत्रिका निकली।

आर्यसमाज द्वारा संचालित कन्याओं की शिक्षण संस्थाओं से भी अनेक उल्लेख-नीय पत्र प्रकाशित हुए। कन्या महाविद्यालय जालन्धर से **पांचाल पण्डिता** का प्रकाशन लाला देवराज के सम्पादन में १८९७ ई० में हुआ। यह १९१५ ई० तक निर्बाध रूप से निकलती रही। १९२० ई० में पण्डित सन्तराम द्वारा सम्पादित **भारती** पत्रिका कन्या महाविद्यालय, जालन्धर से ही निकली। १९२२ ई० में इसी महाविद्यालय की एक अन्य मासिक मुखपत्रिका **जलविदसखा** ('जालन्धर-विद्यालय-सखा' का संक्षिप्त रूप)प्रकाशित हुई। कन्यागुरुकुल देहरादून से कुमारी विद्यावती सेठ के सम्पादन में १९२० ई० से **ज्योति** नामक मासिक पत्रिका निकली। विधवाओं की स्थिति में सुधार लाने के प्रयोजन से १९२६ ई० में लाहौर से **'विधवाबन्धु'** नामक मासिक पत्रिका सर गंगाराम ट्रस्ट सोसाइटी द्वारा संचालित विधवा-विवाह-सहायक-सभा ने प्रकाशित की। लाहौर से ही **विधवा-हितैषी** नामक पत्रिका भी निकली थी। नारी-उत्थान-विषयक अन्य पत्रिकाओं में **आर्य-वनिता** (१९०२ ई०) तथा **महिलासंसार** (१९११ ई०) के नाम भी आर्यसमाज की पत्र-कारिता के इतिहास में उल्लिखित हुए हैं।

शुद्धि-विषयक पत्र—मुसलमानों द्वारा चलाए गये तबलीग़ (येन-केन-प्रकारेण हिन्दुओं को मुसलमान बनाना) आन्दोलन के प्रतिकार में स्वामी श्रद्धानन्द ने शुद्धि का प्रवर्त्तन किया। हिन्दुओं की अनेक जातियाँ, जो इस्लामी शासनकाल में मुसलमान बन गई थीं, उन्हें हिन्दू धर्म में पुनः दीक्षित करने के लिए जोर-शोर से शुद्धि का अभियान चलाया गया। मलकाने राजपूत तथा मूले जाटों को शुद्ध कर हिन्दू धर्म की दीक्षा दी गई। अखिल भारतीय हिन्दू-शुद्धि-सभा के द्वारा यह कार्य किया गया। उस काल में शुद्धि-विषयक अनेक पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। शुद्धिसभा का मुखपत्र मासिक **शुद्धि-समाचार** १९२५ ई० में स्वामी चिन्दानन्द संन्यासी के सम्पादन में निकला। १९३२ ई० में शुद्धि के प्रवर्त्तक स्वामी श्रद्धानन्द की स्मृति में शुद्धि-विषयक एक अन्य मासिक **'श्रद्धानन्द'** दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक भी स्वामी चिन्दानन्द ही थे। इसका प्रकाशन १९४८ ई० तक होता रहा है। बंगला में **शुद्धिसमाचार** स्वामी सदानन्द के सम्पादन में निकला। एक अन्य मासिक **'शुद्धिपत्रिका'** दिल्ली से प्रकाशित होती थी। इन पत्रों में धर्मशास्त्र, इतिहास तथा अन्य प्रमाणों से सिद्ध किया जाता था कि हिन्दू धर्म में अन्य मतावलम्बियों का प्रवेश कोई नई बात नहीं है। विभिन्न स्थानों पर हिन्दू धर्म में प्रवेश करनेवालों की सूचनाएँ तथा एतद्विषयक आँकड़े भी इनमें प्रकाशित होते थे।

विभिन्न आर्य संस्थाओं से सम्बन्धित पत्र-पत्रिकाएँ—आर्यसमाज की विभिन्न प्रवृत्तियों का संचालन करने वाली संस्थाओं के अपने पत्र भी निकलते थे, जिनमें इन संस्थाओं की गतिविधियों का उल्लेख रहता था। यहाँ कुछ ऐसे ही पत्रों का विवरण दिया जा रहा है—

अनाथरक्षक—दयानन्द अनाथालय अजमेर का यह मासिक पत्र १९०३ ई० में प्रकाशित हुआ। कई वर्षों तक इसके प्रकाशित होने की सूचना है। नीमच-निवासी श्री मांगीलाल कविकिंकर ने कई वर्षों तक इसका सम्पादन किया था।

आर्यकुमार—भारतवर्षीय आर्यकुमार परिषद् का पत्र 'आर्यकुमार' सर्वप्रथम १९१९ ई० में द्विमासिक के रूप में लखनऊ से निकला। कुछ समय बाद इसी वर्ष में यह फतहपुर (उत्तरप्रदेश) से साप्ताहिक के रूप में निकाला गया। आर्थिक कठिनाइयों के कारण एक बार तो इसका प्रकाशन स्थगित हो गया। १९२३ ई० में यह दिल्ली से मासिक पत्र के रूप में पुनः प्रकाशित हुआ। इस समय इसके सम्पादक डॉक्टर केशवदेव शास्त्री थे, जो स्वयं आर्यकुमार आन्दोलन के जन्मदाता थे। दिल्ली से यह पत्र कलकत्ता चला गया, जहाँ से पण्डित विश्वम्भरप्रसाद शर्मा इसे प्रकाशित करते रहे। कुछ काल पश्चात् पुनः इसे दिल्ली ले आया गया और डॉक्टर युद्धवीरसिंह इसके सम्पादक बने।

वैदिक धर्म—पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा सम्पादित यह मासिक स्वाध्याय-मण्डल का मुखपत्र था। पहले औंध (जिला सतारा, महाराष्ट्र) से प्रकाशित होता था, बाद में गुजरात के बलसाड़ जिले के पारड़ी ग्राम से निकलने लगा। सातवलेकर जी के निधन के पश्चात् इसका प्रकाशन बन्द हो गया।

वैदिक विज्ञान—आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर द्वारा १९३२ ई० में प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार के सम्पादन में इसे मासिक रूप में प्रकाशित किया गया। प्रकाशक थे मथुराप्रसाद शिवहरे, जो मण्डल के प्रबन्ध व्यवस्थापक थे।

आर्यावर्त—दयानन्द वैदिक मिशन इन्दौर के साप्ताहिक मुखपत्र के रूप में १९४५ ई० में निकला। कालान्तर में यह आर्य प्रतिनिधि सभा, मध्य भारत के मुखपत्र के रूप में मासिक बनकर लश्कर से निकलने लगा। इसके सम्पादक श्री अशोककुमार आयुर्वेदालंकार थे।

आर्यपरिवार—जातिभेद-निवारक आर्य परिवार संघ के मुखपत्र के रूप में इसे अजमेर से त्रैमासिक के रूप में प्रकाशित किया गया। आचार्य भद्रसेन इसके सम्पादक थे।

आर्यवीर—राजस्थान आर्यवीर दल के मासिक मुखपत्र के रूप में पण्डित रविदत्त वैद्य के सम्पादन में प्रकाशित हुआ।

मानवपथ—सार्वदेशिक आर्यवीरदल का यह साप्ताहिक पत्र ब्रह्मचारी उषर्बुध के सम्पादन में १९५२ ई० में निकला।

वीरसंदेश—उत्तरप्रदेश आर्यवीर दल का यह मासिक पत्र बहजोई (जिला मुरादाबाद) से १९५८ ई० में प्रकाशित हुआ।

आर्यवीर—आर्यवीर-दल बम्बई का यह मासिक पत्र १९७१ ई० में प्रकाशित हुआ। उपर्युक्त चारों पत्र आर्यवीर दल से सम्बन्धित थे।

यज्ञयोग-ज्योति—महात्मा प्रभुआश्रित द्वारा स्थापित वैदिक भक्ति साधन आश्रम का मासिक मुखपत्र यज्ञयोग-ज्योति १९६४ ई० से निरन्तर रोहतक से प्रकाशित हो

रहा है।

वेद प्रचारक—वेद प्रचारक मण्डल, देवनगर दिल्ली का मासिक पत्र १९६५ ई० में आरम्भ हुआ। श्री रमेशचन्द्र इसके सम्पादक थे।

पुण्यलोक—वैदिक संस्थान बालाबाली (बिजनौर) का मुखपत्र मासिक पुण्य-लोक स्वामी वेदमुनि परिव्राजक के सम्पादन में १९६५ ई० में निकला।

राजधर्म—आर्य युवक परिषद् का यह पाक्षिक पत्र १९६८ ई० में नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ। प्रोफेसर श्यामराव इसके सम्पादक थे। कालान्तर में यह रोहतक से निकलने लगा।

संस्कृतिसंदेश—वैदिक योगाश्रम, शुक्रताल (जिला मुजफ्फरनगर) का मासिक पत्र स्वामी आनन्दवेश के सम्पादन में १९७० ई० में निकलने लगा।

आर्यविजय—आर्यसमाज फोर्ट बम्बई का यह मासिक पत्र १९७० ई० में प्रकाशित हुआ। आजकल इसका सम्पादन डॉक्टर सोमदेव शास्त्री कर रहे हैं। इसके प्रवर्त्तक स्व० एम० के० अमीन थे।

आत्मशुद्धिपथ—आत्मशुद्धि आश्रम बहादुरगढ़ (रोहतक) का यह मासिक मुख-पत्र १९७१ ई० से प्रकाशित हो रहा है।

वैदिक सेवाश्रम—इसी नाम की संस्था बाजेगाँव (नान्देड़, महाराष्ट्र) में कार्यरत है। वैदिक सेवाश्रम पाक्षिक पत्र था जो संस्कृत, हिन्दी तथा मराठी भाषाओं में १९७२ ई० में प्रकाशित हुआ।

सेवाश्रम—अखिल भारतीय दयानन्द सेवाश्रम संघ का यह मासिक पत्र १९७२ ई० से प्रकाशित हो रहा है। श्री ओम्प्रकाश त्यागी इसके सम्पादक थे।

समिधासा—आर्ष भारती प्रतिष्ठान, नई दिल्ली की यह मासिक पत्रिका १९७५ ई० में प्रकाशित हुई।

योग-मन्दिर—महर्षि दयानन्द योगाश्रम सोसाइटी का यह मासिक पत्र पण्डित भगवानदेव शर्मा के सम्पादन में दिल्ली से १९७६ ई० में निकला।

वेद-ज्योति—विश्ववेद परिषद् की मासिक मुखपत्रिका के रूप में लखनऊ से १९७७ ई० से प्रकाशित हो रही है। इसका सम्पादन पण्डित वीरेन्द्र शास्त्री करते हैं।

वेद-मार्ग—दयानन्द निर्वाण स्मारक न्यास अजमेर का मासिक पत्र १९७८ ई० से प्रकाशित हो रहा है। आजकल इसका सम्पादन-कार्य श्री रामस्वरूप रक्षक करते हैं।

महर्षि-संदेश—आर्यसमाज भारतनगर, गाजियाबाद का यह मासिक पत्र १९७८ ई० से प्रकाशित हो रहा है।

आर्य-पथ—श्री विद्याप्रकाश सेठी के पुरुषार्थ से यह पत्र १९८० ई० से प्रकाशित हो रहा है। इन पंक्तियों का लेखक इस पत्र का कार्यकारी सम्पादक है।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने जिन पत्रों का स्वल्प विवरण दिया है, वह स्थाली-पुलाक न्याय से ही है। अन्यथा आर्यसमाज के अद्यतन प्रकाशित सभी पत्र-पत्रिकाओं का विस्तृत विवरण एक पृथक् ग्रन्थ की अपेक्षा रखता है। आर्यसमाज के पत्रों और पत्रकारों के विषय में इन पंक्तियों के लेखक का ग्रन्थ 'आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार' एक महत्त्वपूर्ण सन्दर्भ ग्रन्थ है।

(७) विविध भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने वाले पत्र

हिन्दी से भिन्न भारतीय भाषाओं में भी आर्यसमाज ने अपनी पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया है। यदि संख्या की दृष्टि से देखा जाय तो हिन्दी में प्रकाशित होनेवाले पत्र सर्वाधिक हैं। तत्पश्चात् उर्दू एवं अंग्रेजी में प्रकाशित पत्र आयेंगे। इसके पश्चात् ही आधुनिक भारतीय भाषाओं में छपने वाले पत्रों की गणना हो सकेगी। भाषा-वैज्ञानिकों ने भारत के भाषा-समूह को आर्यभाषा वर्ग तथा द्रविड़भाषा वर्ग के रूप में विभाजित किया है। आर्यसमाज द्वारा प्रकाशित पत्रों में आर्यभाषा वर्ग की भाषाओं के पत्रों की संख्या द्रविड़भाषा वर्ग की भाषाओं के पत्रों से अधिक रही है। इसका कारण भी स्पष्ट है। आर्यसमाज-आन्दोलन का प्रमुखता से प्रचार उत्तर भारत में और मुख्यतः हिन्दी-भाषी प्रान्तों में ही हुआ। दक्षिण भारत में (केवल आन्ध्रप्रदेश के कुछ क्षेत्र को छोड़कर) उसकी स्थिति दुर्बल ही रही है।

पूर्ण जानकारी के अभाव में हिन्दी से भिन्न भारतीय भाषाओं में प्रकाशित होने-वाले पत्रों का सम्पूर्ण विवरण एकत्र करना कठिन है, तथापि जो कुछ विवरण हम प्राप्त कर सके हैं उसे देने का यहाँ प्रयास किया गया है। आर्यभाषा वर्ग में गुजराती में प्रकाशित होने वाले पत्रों की संख्या अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक है। इसके पश्चात् बंगला और मराठी पत्रों का नम्बर आता है। तेलुगू और मलयालम, कन्नड़ तथा तमिल में प्रकाशित होने वाले पत्रों की संख्या नगण्य ही है।

संस्कृत पत्र-पत्रिकाएँ—भारतीय भाषाओं में संस्कृत का मूर्धन्य स्थान है। आर्यसमाज का संस्कृत भाषा के प्रचार-प्रसार तथा उसके साहित्य की अभिवृद्धि में जो महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, उसका शोधकर्ताओं ने विस्तृत आकलन किया है। यहाँ हम संस्कृत में प्रकाशित होने वाली विभिन्न आर्य पत्र-पत्रिकाओं का विवरण दे रहे हैं—

गुरुकुल काँगड़ी से **ऊषा** नामक संस्कृत मासिक पत्रिका इसी गुरुकुल के प्रथम स्नातक पण्डित हरिश्चन्द्र विद्यालंकार (स्वामी श्रद्धानन्द के बड़े पुत्र) के सम्पादन में १९१३ ई० में निकलनी आरम्भ हुई। १९१६ ई० में यह बन्द हो गई। १९१८ ई० में इसे पुनः चालू किया गया। अब इसके सम्पादक पण्डित शशिभूषण विद्यालंकार थे। इसी गुरुकुल से एक अन्य हस्तलिखित संस्कृत पत्रिका **'देववाणी'** मासिक रूप में १९१८ ई० में निकलने लगी। यों तो गुरुकुल काँगड़ी की मासिक मुखपत्रिका **गुरुकुलपत्रिका** १९४८ ई० में ही प्रकाशित होने लगी थी, किन्तु १९६० ई० में उसे पूर्णरूपेण संस्कृत-पत्रिका का रूप दे दिया गया। १९६३ ई० से इसमें हिन्दी के लेख भी दिये जाने लगे, किन्तु संस्कृत-लेखों को प्राधान्य प्राप्त रहा। पत्रिका के अनेक महत्त्वपूर्ण वैदिक तथा अन्य विषयों पर उपयोगी विशेषांक निकले। गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर का मासिक पत्र **भारतोदय** १९६१ ई० में संस्कृत तथा हिन्दी के द्विभाषी पत्र के रूप में निकलने लगा था। विगत कई वर्षों से यह केवल संस्कृत में ही निकलता है। इस प्रकार वर्तमान में आर्यसमाज का यही एकमात्र संस्कृत मासिक पत्र है। महाविद्यालय से ही हस्तलिखित **'विद्वत्कला'** मासिक रूप में निकलती थी। इसमें भी संस्कृत रचनाओं को ही स्थान मिलता था।

हिन्दी से भिन्न अन्य भारतीय भाषाओं में आर्यसमाज के अनेक पत्र अतीत में प्रकाशित हुए हैं और आज भी हो रहे हैं। इनका संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

गुजराती पत्र—आर्यसमाज बम्बई का मासिक मुखपत्र **आर्यप्रकाश** १९४१ वि० में प्रकाशित होना आरम्भ हुआ। १९४७ वि० तक उसके छपते रहने की जानकारी मिलती है। मुम्बई प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के साप्ताहिक मुखपत्र **'आर्यप्रकाश'** का प्रकाशन भी बम्बई से होता रहा। बम्बई से ही **ऋषि-विद्या, आर्य-ज्योति, आर्य-सुधारक** आदि पत्रों के प्रकाशित होने की सूचनाएँ मिलती हैं। आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा का साप्ताहिक पत्र **'आर्य-संदेश'** विगत ५० वर्षों से प्रकाशित हो रहा है। वर्तमान में उसके सम्पादक श्री अशोक पण्डित हैं जो पण्डित आनन्दप्रिय के पुत्र हैं। राजकोट से पण्डित श्रीकृष्ण शर्मा ने **'वैदिक संदेश'** मासिक निकाला था। सूरत से गुजराती के प्रसिद्ध आर्य साहित्य प्रकाशक श्रीकान्त भगतजी ने **संघदर्शन** मासिक के रूप में निकाला। भगतजी के निधन के पश्चात् यह बन्द हो गया।

मराठी पत्र—**आर्यभानु** साप्ताहिक अहमदनगर आर्यसमाज द्वारा १९१९ ई० में पण्डित हरि सखाराम तुंगार के सम्पादन में प्रकाशित हुआ। नांदेड़ से **आर्य-भास्कर** १९९३ वि० में पाक्षिक के रूप में निकला। पण्डित भारतेन्द्रनाथ ने अपने मासिक **जनज्ञान** का एक मराठी संस्करण १९७७ ई० में निकाला, किन्तु कुछ अंकों के बाद ही उसे बन्द कर देना पड़ा। आर्य प्रतिनिधि सभा महाराष्ट्र का मासिक पत्र **वैदिक गर्जना** नांदेड़ से प्रकाशित हो रहा है। प्रोफेसर कुशलदेव द्वारा सम्पादित स्वामी दयानन्द-विषयक कुछ महत्त्वपूर्ण सामग्री इसके विशेषांकों में प्रकाशित की गई है। इसके अन्तर्गत श्री गोपाल-राव हरि देशमुख द्वारा १८८४ ई० में प्रकाशित स्वामी दयानन्द-विषयक विस्तृत मराठी लेख का मूल और हिन्दी अनुवाद तथा पूना-प्रवचनों का मूल मराठी संस्करण (पण्डित सत्यकाम द्वारा सम्पादित) प्रकाशित किया गया।

बंगला पत्र—बंगला में **आर्य-गौरव** मासिक १९३१ ई० में प्रकाशित हुआ। **शास्त्रसिन्धु** मासिक का प्रकाशन एवं सम्पादन पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री ने किया। पण्डित प्रिदर्शन सिद्धान्तभूषण ने मासिक **आर्यरत्न** कार्नवालिस स्ट्रीट कलकत्ता से १३५६ बंगाब्द में निकालना आरम्भ किया। यह दो वर्ष तक प्रकाशित होता रहा। वैदिक साहित्य पीठ कलकत्ता के मासिक मुखपत्र के रूप में **वेदमाता** मासिक पत्रिका पण्डित प्रियदर्शन सिद्धान्तभूषण द्वारा १९६७ ई० से सम्पादित एवं प्रकाशित हो रही है।

उड़िया पत्र—श्रीवत्स पण्डा ने **'आर्य'** नामक पत्र निकाला था। **आश्रमज्योति** नामक एक मासिक पत्रिका गुरुकुल वैदिक आश्रम राउरकेला से प्रकाशित होती है।

सिंधी पत्र—आर्य प्रतिनिधि सभा, सिंध का साप्ताहिक पत्र **सत्यवादी** शिकारपुर से प्रकाशित होता था। हकीम वीरूमल ने अजमेर से १९५३ ई० में **आर्यप्रेमी** मासिक निकाला। १९६१ ई० में गंगाराम एम० ने उल्हासनगर (बम्बई) से **सदाचार** मासिक प्रकाशित किया। १९७७ ई० से अजमेर के श्री दीपचन्द त्रिलोकचन्द मासिक **आर्यवीर** निकाल रहे हैं।

दक्षिण भारतीय भाषाओं के पत्र—आंध्रप्रदेश की भाषा तेलुगु में श्री वेंकटेश्वर शास्त्री के सम्पादन में साप्ताहिक **परिव्राट्** का प्रकाशन सिकन्दराबाद से १९५८ ई० में किया गया। श्री अन्ने केशवार्य शास्त्री सम्पादित **वेदधर्मम्** का भी उल्लेख मिलता है। कन्नड़ में पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने १९२९-३० ई० में **वेदसंदेश** मासिक निकाला। मलयालम में पण्डित नरेन्द्रभूषण सम्पादित मासिक **आर्यनादम्** वैदिक साहित्य परिषद्

चेंगनूर (केरल) के मुखपत्र के रूप में १९७१ ई० से निरन्तर प्रकाशित हो रहा है। वेद-नादम् नामक एक अन्य पत्र का भी उल्लेख मिलता है। तमिल में आर्यसमाज के किसी पत्र की हमें कोई जानकारी नहीं है।

(८) आर्यसमाज के उर्दू पत्र

उन्नीसवीं शताब्दी से अन्तिम दो दशकों में आर्यसमाज ने उत्तर भारत के जिन विभिन्न प्रान्तों में अपने सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार किया था, उस समय उर्दू ही उन प्रदेशों के पठित समुदाय की प्रमुख भाषा समझी जाती थी। पंजाब में तो उर्दू का बोल-वाला था ही, पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तरप्रदेश) के राजकाज की भी भाषा उर्दू थी तथा मुसलमान, काश्मीरी पण्डित तथा कायस्थ आदि जातियों में उर्दू का सर्वत्र प्रचलन था। ऐसे समय में आर्यसमाज को भी यदि अपनी विचारधारा के प्रचार के लिए उर्दू का सहारा लेना पड़ा तो कोई आश्चर्य नहीं। आर्यसमाज के प्रारम्भिक युग के सदस्य प्राय: उर्दू-फारसी पठित ही होते थे। अत: आर्यसमाज की कार्यवाहियों के रजिस्टर उर्दू में ही लिखे जाते थे तथा पत्र-व्यवहार भी उर्दू में ही होता था। परन्तु इसके साथ ही आर्यसमाज भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी के निर्विवाद अधिकार को न केवल स्वीकार ही करता था अपितु उसके निर्बाध प्रचार एवं प्रसार का भी इच्छुक था। स्वामी दयानन्द ने अपने जीवनकाल में ही भारत सरकार द्वारा नियुक्त शिक्षा-सम्बन्धी आयोग हण्टर कमीशन के समक्ष उपस्थित होकर हिन्दी को शिक्षा का माध्यम बनाने तथा उसे राजकाज में प्रयुक्त करने के पक्ष में साक्षियें प्रस्तुत करने का आदेश तत्कालीन आर्य-समाजों और आर्यसमाजियों को दिया था। तदनुसार पंजाब के आर्यनेता लाला मूलराज ने अपनी गवाही में दृढ़ता के साथ शिक्षण संस्थाओं में हिन्दी को महत्त्व प्रदान करने तथा पंजाब में हिन्दी को शिक्षा के माध्यम के रूप में प्रयुक्त किये जाने पर जोर दिया।

प्रारम्भिक काल में चाहे आर्यसमाज की सभा-समितियों तथा बैठकों का कार्य-विवरण उर्दू में ही लिखा जाता था, किन्तु आर्य पुरुष निरन्तर यह अनुभव करते थे कि उन्हें शीघ्र ही आर्यभाषा के माध्यम से ही अपने दैनन्दिन कार्यों का निर्वाह करने जैसी योग्यता प्राप्त कर लेनी च.हिए। फलत: आर्यसमाजों के कामकाज में हिन्दी को अपना उचित स्थान ग्रहण करने में अधिक समय नहीं लगा। आर्यसमाजों की विवरण-पंजिकाओं में उस समय जो कार्यवाही उर्दू में लिखी जाती थी, वह भी संस्कृत-हिन्दी शब्दबहुला होती थी।

ऐसी परिस्थिति में यदि आर्यसमाज ने उर्दू पत्रों के माध्यम से वैदिक धर्म का प्रचार करना श्रेयस्कर समझा तो वह सर्वथा उचित ही था। स्वामी दयानन्द के जीवन में ही मेरठ से उर्दू साप्ताहिक **आर्यसमाचार** तथा पेशावर से उर्दू मासिक **धर्मोपदेश** निकलने लगे थे। कालान्तर में पंजाबत था उत्तरप्रदेश से अनेक उर्दू पत्र निकले। महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) द्वारा प्रवर्तित **सद्धर्मप्रचारक** ने आर्यसमाज के उर्दू पत्रों में विशेष ख्याति अर्जित की, क्योंकि महात्माजी आर्यसमाज के सर्वमान्य नेता थे और सद्धर्मप्रचारक आर्यसमाज की नीति-रीति का प्रमुख प्रवक्ता समझा जाता था।

आर्यसमाज ने उर्दू पत्रकारिता को विशिष्ट दिशा प्रदान की है। उसने उर्दू की एक ऐसी शैली का निर्माण किया जिसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग करने में कोई

संकोच नहीं किया जाता था। आर्यसमाज के उर्दू पत्रों में छपनेवाले लेख प्रायः धार्मिक, दार्शनिक अथवा आध्यात्मिक विषयों से ही सम्बन्धित होते थे। इसलिए इन पत्रों में लिखी जाने वाली उर्दू में संस्कृत के अनेक शब्दों का निर्बाध प्रयोग होता था। इसी प्रकार धार्मिक शास्त्रार्थों एवं वाद-विवादों का विवरण भी उर्दू में प्रकाशित होता था। अतः न्याय तथा दर्शन जैसे विषयों से सम्बन्धित संस्कृत-शब्दावली का भी उर्दू में प्रविष्ट हो जाना स्वाभाविक ही था। आगे हम आर्यसमाज के उर्दू पत्रों का यथोपलब्ध विवरण दे रहे हैं।

आर्यसमाज का प्रथम उर्दू पत्र **'आर्यसमाचार'** साप्ताहिक १८७८ ई० में मेरठ से प्रकाशित हुआ। इसके सम्पादक मुंशी कल्याणराय थे। आर्यसमाज मेरठ के मन्त्री श्री आनन्दीलाल भी कुछ समय तक इसके सम्पादक रहे। **'धर्मोपदेश'** मासिक पत्र के संपादक पण्डित लेखराम थे जिन्होंने आर्यसमाज पेशावर के मुखपत्र के रूप में इसे १८८० ई० में निकालना आरम्भ किया। यह १८८३ ई० तक प्रकाशित हुआ। पश्चिमोत्तरप्रदेश(वर्तमान उत्तरप्रदेश) की आर्य प्रतिनिधि सभा का साप्ताहिक मुखपत्र **'मुर्शरिक'** १८९६ ई० में मुंशी नारायणप्रसाद के संपादन में मुरादाबाद से निकलना आरम्भ हुआ। २ वर्ष पश्चात् इसे ही **'आर्यमित्र'** का नाम देकर हिन्दी में प्रकाशित किया जाने लगा।

आर्यसमाज के अधिकांश उर्दू पत्र पंजाब तथा संयुक्त प्रान्त से ही निकले। पण्डित लेखराम की स्मृति में १८९७ ई० में **आर्य मुसाफिर** मासिक जालंधर से प्रकाशित हुआ। कालान्तर में यह आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब का मुखपत्र बन गया था। उर्दू मासिक **आर्यगजट** का प्रकाशन १८८५ ई० में फिरोजपुर से हुआ। इसका सम्पादन-भार १८८७ ई० में पण्डित लेखराम ने सम्भाला। कालान्तर में यह साप्ताहिक हो गया और आर्य-प्रादेशिक सभा के मुखपत्र के रूप में निकलता रहा। लाला दीवानचन्द और लाला खुशहालचंद, आर्य प्रादेशिक सभा के ये नेता इसके सम्पादक रहे। देशविभाजन के पश्चात् पण्डित दुर्गादास शर्मा ने इसे दिल्ली से पुनः प्रकाशित किया। पण्डित लेखराम की प्रेरणा से **वैदिक विजय** उर्दू मासिक १८८९ ई० में अजमेर से प्रकाशित हुआ। पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द) ने अपने जीवनकाल में अनेक उर्दू पत्र निकाले। इनके नाम इस प्रकार हैं—**वैदिक धर्म** मुरादाबाद से १८९७ ईसवी में प्रकाशित, **वैदिक मैगजीन** (१८९८ ई०), **तालिबेइल्म**—यह उर्दू साप्ताहिक था; **अखबार मुबाहसा**—१९०४ ई० में गुरुकुल बदायूं से प्रकाशित। आर्य मुसाफिर विद्यालय आगरा के संस्थापक पण्डित भोजदत्त शर्मा ने आगरा से ही १९०४ ई० में साप्ताहिक **'मुसाफिर'** निकालना आरम्भ किया। शर्मा जी के निधन के पश्चात् उनके पुत्र डॉक्टर लक्ष्मीदत्त शर्मा उसे निकालते रहे।

अनेक उर्दू पत्र विभिन्न गुरुकुलों तथा अन्य शिक्षण संस्थाओं से भी निकले। आर्य कन्या महाविद्यालय जालंधर ने उर्दू **'भारत'** मासिक रूप में १९०६ ई० में प्रकाशित किया। इसी वर्ष गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर से **'महाविद्यालय समाचार'** साप्ताहिक निकला। स्वामी दर्शनानन्द द्वारा रावलपिण्डी के निकट चोहा भक्तां नामक स्थान पर स्थापित गुरुकुल से १९०९ ई० में **'वैदिक फिलासफी'** नामक मासिक पत्र निकलना आरंभ हुआ। गुरुकुल सिकन्दराबाद का उर्दू मासिक **'गुरुकुल समाचार'** १९१०ई० में प्रकाशित हुआ। डी० ए० वी० कॉलिज कानपुर की प्रबन्धक सभा ने १९०७ ई० में **'आर्यसमाचार'**

को मासिक रूप में प्रकाशित करना आरम्भ किया। पण्डित बद्रीदत्त जोशी इसके सम्पादक थे।

व्यक्तिगत प्रयत्नों से जो पत्र उर्दू में निकले, वे हैं—लाला मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) द्वारा संचालित सद्धर्मप्रचारक १८८९ ई० में प्रकाशित हुआ। लाला लाजपतराय का 'देशोपकारक' लाहौर से छपता था। महाशय कृष्ण का साप्ताहिक प्रकाश १९०६ ई० में लाहौर से निकलने लगा। यह पंजाब का एक लोकप्रिय पत्र था। महाशय धर्मपाल (मुंशी अब्दुलग़फूर) ने १९०६ ई० में 'इन्द्र' लाहौर से निकाला। इनके एक अन्य पत्र 'पतिन्दर' का भी उल्लेख मिलता है। १९१० ई० में अर्जुन नामक एक उर्दू साप्ताहिक इन्हीं महाशय धर्मपाल द्वारा सम्पादित किये जाने की भी जानकारी मिलती है। लाला खुशहालचन्द खुर्सन्द द्वारा सम्पादित उर्दू मिलाप को लाहौर के आर्यसामाजिक क्षेत्रों में अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त थी। पण्डित आत्माराम अमृतसरी ने लाहौर से हितकारी साप्ताहिक निकाला। जैमिनि मेहता का उर्दू पत्र सुधारक लाहौर से छपता था। पण्डित लक्ष्मण का आर्यमुसाफिर तथा सन्तराम विद्यार्थी के रिफॉर्मर पत्र दिल्ली से निकले। श्री रामचन्द्र जावेद जालंधर छावनी से वैदिक धर्म नामक उर्दू साप्ताहिक १९६४ ई० से निकालने लगे। सम्भवतः उनकी मृत्यु के साथ ही इसका प्रकाशन बन्द हो गया। करनाल से श्री मेलाराम वर्क ने १९६७ ई० में आर्यकेसरी (उर्दू तथा हिन्दी का द्विभाषी पत्र) निकालना आरम्भ किया। उर्दू का प्रचलन कम हो जाने से सम्भवतः आर्य गजट को छोड़कर शायद ही आर्यसमाज का कोई पत्र अब इस भाषा में प्रकाशित होता है।

हैदराबाद के उर्दू पत्र—हैदराबाद (दक्षिण) भी उर्दू का केन्द्र रहा है। निजाम-शासन के समाप्त हो जाने पर भी यहाँ उर्दू के पठन-पाठन में कोई न्यूनता नहीं आई है। यहाँ से आर्य प्रतिनिधि सभा, निजाम राज्य का साप्ताहिक मुखपत्र वैदिक आदर्श १९३४ ई० में उर्दू में ही निकला था। इसकी सम्पूर्ण व्यवस्था पण्डित नरेन्द्र देखते थे। १९३५ ई० में राजाज्ञा से इसे बन्द कर देना पड़ा। एक अन्य साप्ताहिक 'मसावात' भी निकला, किन्तु निजाम राज्य के असहिष्णुतापूर्ण रवैये के कारण यह अधिक न चल सका। १९५४ ईसवी से 'आर्यवीर' नामक एक अन्य साप्ताहिक के निकलने का उल्लेख मिलता है।

(९) आर्यसमाज के अंग्रेजी पत्र

अपनी विचाराभिव्यक्ति के लिए लोकभाषा को प्रधानता देने तथा राष्ट्र की आवाज को उसी भाषा में प्रकट करने की उत्कट इच्छा रखने वाले आर्यसमाज के लिए यह स्वाभाविक ही था कि वह अपने पत्रों को भी मुख्यतया हिन्दी में ही प्रकाशित करता। उसने ऐसा किया भी। किन्तु अंग्रेजी के महत्त्व को नकारना भी सम्भव नहीं था। जिस समय आर्यसमाज की स्थापना हुई, उस समय अंग्रेज भारत के शासक थे। जब तक अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त नहीं कर लिया जाता था, तब तक भारतवासी को सभ्य और शिक्षित होने का प्रमाणपत्र नहीं मिलता था। आर्यसमाज का प्रचार भी मुख्य रूप से उन्हीं लोगों में हुआ जो साधारणतया सुपठित तथा मध्य एवं उच्च-मध्य वर्ग के थे। अतः अंग्रेजी में पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशित किया जाना भी आवश्यक था।

हम देखते हैं कि ११० वर्षों की लम्बी अवधि में आर्यसमाज की अंग्रेजी पत्रिकाओं की संख्या एक दर्जन से अधिक नहीं है। इनमें भी आधा दर्जन पत्र वे हैं जो विगत शताब्दी के अन्तिम दो दशकों में प्रकाशित हुए, जबकि अवशिष्ट ६ पत्र इस शताब्दी के चार दशकों में निकले। इस तथ्य से यह बात स्पष्ट होती है कि विगत शताब्दी के आर्यों ने अंग्रेजी पठित उच्च वर्ग को आर्यसमाज का सन्देश देने में अधिक रुचि तथा तत्परता प्रदर्शित की थी। यह बात नहीं कि इस शताब्दी में अंग्रेजी के प्रभाव या प्रचार में कोई न्यूनता आयी है, तथापि बीसवीं सदी के प्रारम्भिक काल में राष्ट्रीय विचारों ने सामान्य जनसमाज को अधिक प्रभावित किया था। फलतः स्वदेश, स्वभाषा, स्वधर्म तथा स्व-संस्कृति के प्रति लोगों में जो उत्कट अनुराग उत्पन्न हुआ उसके परिणामस्वरूप आर्य-समाज के लिए भी यह आवश्यक था कि उसके पत्रों का प्रकाशन राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही होता।

एक बात और द्रष्टव्य है। उन्नीसवीं शताब्दी के आर्यसमाजी अंग्रेजी पत्र कथ्य और प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से जितने समृद्ध थे, उतने इस शताब्दी के पत्र नहीं हैं। **आर्य मैगजीन** तथा **वैदिक मैगजीन** (Arya Magazine and Vedic Magazine) ने जो उच्चकोटि की पठनीय तथा संग्रहणीय सामग्री उन दिनों में प्रदान की, उसकी तुलना में इन वर्षों में निकले अंग्रेजी पत्र सर्वथा दरिद्र ही कहे जायेंगे। अधिक-से-अधिक आर्यसमाज के पुराने अंग्रेजी लेखकों की एक समय में छपी कालजयी रचनाओं को धारावाही मुद्रित करने में ही हमारे आज के अंग्रेजी पत्रकारों ने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री कर ली है। उन-में न तो मौलिक लेखन की क्षमता ही दृष्टिगोचर होती है और न सम्पादकसुलभ योग्यता, जिससे कि वे अन्य लेखकों से सम्पर्क साधकर आंग्ल भाषा में उच्च कोटि की रचनाएँ लिखा सकें। फलस्वरूप Vedic Light तथा अंग्रेजी **जनज्ञान** आदि पत्रों ने हरविलास शारदा, गंगाप्रसाद जज, गंगाप्रसाद उपाध्याय, धर्मदेव विद्यावाचस्पति आदि की पुरानी अंग्रेजी कृतियों से अपने पत्रों के कलेवर को पूरित करने में ही अपनी कृतार्थता समझी है।

यह विडम्बना ही है कि अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सुप्रतिष्ठित अंग्रेजी भाषा के महत्त्व तथा देश के वर्तमान सन्दर्भों में उनकी उपयोगिता को जानते हुए भी आर्यसमाज इस समय कोई अच्छा अंग्रेजी पत्र निकालने में सफल नहीं हो सका है। शायद इसके दो कारण हैं — आर्यसमाज का वर्तमान नेतृत्व प्रभावशाली अंग्रेजी पत्र के महत्त्व को पूर्णतया हृदयं-गम नहीं कर सका है। साथ ही आर्यसमाज के प्रबुद्ध वर्ग में ऐसे व्यक्तियों का अभाव हो गया है जो ऐसे पत्र के सम्पादन एवं संचालन की क्षमता रखते हों। आगे की पंक्तियों में आर्यसमाज के अंग्रेजी पत्रों का परिचयात्मक विवरण उपस्थित है।

आर्यसमाज के तत्त्वावधान में अंग्रेजी पत्रों का प्रकाशन स्वामी दयानन्द के जीवन-काल में ही हो गया था। लाहौर के श्री रतनचन्द बेरी के सम्पादन में १ मार्च १८८२ से मासिक **दि आर्य मैगजीन** का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इस पत्र की फाइलों का अध्ययन करने से विदित होता है कि इसमें पर्याप्त परिश्रमपूर्वक पाठ्यसामग्री का चयन किया जाता था। इसी वर्ष में पण्डित गुरुदत्त ने **रिजेनेरेटर ऑफ आर्यावर्त** का लाहौर से प्रकाशन किया। पण्डित गुरुदत्त, लाला हंसराज तथा लाला लाजपतराय ने इसे मिलकर चलाया तथा पत्र का सम्पादन-भार भी इन्हीं तीनों पर था। चार मास के पश्चात् ही कारणवश इसे बन्द करना पड़ा। आर्यसमाज लाहौर ने १८८५ ई० में 'दि आर्यपत्रिका' शीर्षक एक

अंग्रेजी साप्ताहिक का प्रकाशन आरम्भ किया। दस वर्षों तक यह पत्रिका उक्त आर्यसमाज की मुखपत्रिका के रूप में प्रकाशित होती रही। १८९५ ई० में इसे आर्य-प्रतिनिधि सभा, पंजाब को सौंप दिया गया। तब से आर्यपत्रिका इस सभा की मुखपत्रिका के रूप में निकलने लगी। इसके प्रथम सम्पादक लाला संगमलाल थे। प्रान्तीय सभा के अधिकार में आने पर इसका सम्पादक प्रसिद्ध लेखक बावा अर्जुनसिंह को बनाया गया। आर्यपत्रिका की फाइलों में आर्यसमाज के निर्माण और विकास का इतिहास छिपा हुआ है।

१८८९ ई० में पण्डित गुरुदत्त ने दि वैदिक मैगजीन मासिक का प्रकाशन लाहौर से किया। इसमें उन्हीं की विद्वत्तापूर्ण रचनाएँ छपती थीं। यह कहना भी उचित होगा कि पण्डित गुरुदत्त द्वारा लिखित सम्पूर्ण साहित्य ही वैदिक मैगजीन के अंकों में निकला था। उसे ग्रन्थ का रूप तो बाद में ही दिया गया। पण्डित गुरुदत्त की मृत्यु के साथ ही इस पत्र का भी अन्त हो गया। डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर से आर्य मैसेन्जर के प्रकाशित होने की सूचना मिलती है। इसी कॉलेज के छात्र संघ की मासिक पत्रिका 'दि डी० ए० वी० कॉलेज मैगजीन' १९०४ ई० में आरम्भ हुई। प्रारम्भ में इसके सम्पादक बाबू यज्ञेश्वर घोष तथा गोकुल चन्द (नारंग) थे। १९०५ ई० में प्रतापगढ़ (उत्तरप्रदेश) से डॉक्टर एस० एस० टग (Dr. S. S. Tug) ने दि विरजानन्द मैगजीन निकाला। यह कब तक निकलता रहा, इसका पता नहीं चलता।

आर्यसमाज के अंग्रेजी पत्रों में वैदिक मैगजीन का नाम अग्रगण्य है। इसके तुल्य पत्रिका न तो आज तक निकली और न ही निकलेगी, यही कहना अधिक उचित है—"न भूतो न भविष्यति"। भविष्य की बात हम इसलिए कहना चाहते हैं कि वर्तमान में आर्यसमाज की पत्रकारिता केवल हिन्दी माध्यम को लेकर ही चल रही है। फलतः अंग्रेजी पत्र निकालने के लिए जैसा श्रम, तैयारी तथा अध्यवसाय अपेक्षित है; वह अभी कहीं दिखाई नहीं देता। वैदिक मैगजीन का पूर्वनाम 'दि गुरुकुल मैगजीन' था और उसका प्रकाशन गुजराँवाला (पाकिस्तान) से १९०७ ई० में हुआ। पत्र के सम्पादक थे लाला रलाराम, जो गुरुकुल गुजराँवाला में ही रहते थे, किन्तु उसका प्रकाशकीय कार्यालय बंगाली टोला (अनारकली) लाहौर में था। कालान्तर में जब गुरुकुल काँगड़ी के महत्त्व को देखते हुए उसके लिए पृथक् अंग्रेजी पत्र की आवश्यकता अनुभव हुई तो १९१० ई० से इसी को "दि वैदिक मैगजीन एण्ड गुरुकुल समाचार" के नाम से प्रकाशित किया जाने लगा। अब इसके सम्पादक बने प्रोफेसर रामदेव। वैदिक मैगजीन आर्यसमाज की सर्वश्रेष्ठ अंग्रेजी पत्रिका के रूप में उभरी। आर्य लेखकों के अतिरिक्त अन्य प्रख्यात भारतीय तथा यदा-कदा विदेशी लेखकों की रचनाएँ भी इसमें छपती थीं। ऐसे लेखकों में योगी अरविन्द, साधु वास्वानी, जी० ए० चन्दावरकर, पण्डित भगवानदास आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। जो आर्यसमाजी लेखक इसमें अपनी रचनाएँ प्रकाशनार्थ भेजते थे, उनमें कतिपय के नाम हैं—बैरिस्टर रोशनलाल, प्रोफेसर ताराचन्द गाजरा, पण्डित घासीराम, प्रोफेसर बालकृष्ण, शिवनन्दनप्रसाद कुल्यार (पटना) तथा बाबू बालकृष्णसहाय (राँची) आदि। जब काँगड़ी से वैदिक मैगजीन का प्रकाशन बन्द हो गया तो हैदराबाद से पण्डित धारेश्वर इसे निकालते रहे। सिन्ध के शिकारपुर नगरस्थ हरिसुन्दर साहित्य सदन से 'दि सत्यवादी' शीर्षक एक द्विभाषी पत्र (अंग्रेजी तथा सिन्धी) १९३० ई० में निकला। इसके प्रकाशक श्री जीवतराम होतचन्द थे।

आर्यसमाज में अंग्रेजी के जो उत्कृष्ट पत्र निकले, वे लगभग सभी स्वतन्त्रता-पूर्व-काल में ही प्रकाशित हुए थे। देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् प्रकाशित पत्र कथ्य और शैली (प्रतिपाद्य और भाषा) दोनों दृष्टियों से बहुत साधारण स्तर के ही हैं।

बड़ौदा की एक संस्था आत्माराम कल्चरल फाउण्डेशन ने **वैदिक डाइजेस्ट** तथा **कल्चरल इण्डिया** नामक दो पत्र निकाले। प्रथम पत्र मासिक रूप में १९५५ ई० में निकलना आरंभ हुआ। इसके प्रधान सम्पादक पं० वैद्यनाथ शास्त्री थे। किन्तु मुख्य रूप से सम्पादन-कार्य पण्डित आनन्दप्रिय ही करते थे। मौलिक लेख तो इसमें कम ही रहते थे। अधिकांश लेख आर्यसमाज के गण्यमान्य अंग्रेजी लेखकों की कृतियों के अंश होते थे जो इसमें धारावाही छपते थे। **जनज्ञान** के सम्पादक पण्डित भारतेन्द्रनाथ ने १९७३ ई० में इस पत्र का अंग्रेजी संस्करण निकालना आरम्भ किया। पत्र का आरम्भ अच्छा था। लगभग पाँच वर्ष तक ही यह निकला। १९३२ ई० में पण्डित सुधाकर ने बंगलौर से त्रैमासिक **वैदिक मैगजीन** निकाली। कब तक निकलती रही, इसकी जानकारी हमें प्राप्त नहीं हो सकी। आर्यन यूथ लीग, केरल तथा आर्य-प्रतिनिधि सभा, केरल के साहित्यिक मंच वैदिकसाहित्य परिषद्, चेंगनूर(केरल)की ओर से **'वैदिक हैरिटेज'** का प्रकाशन १९७७ ई० में पण्डित नरेन्द्रभूषण के सम्पादन में आरम्भ हुआ था। यह पत्र भी दीर्घजीवी नहीं हो सका।

आर्यसमाज के वर्तमान अंग्रेजी पत्र—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा की ओर से मासिक **वैदिक लाइट** का प्रकाशन १९६७ ई० से हो रहा है। गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी का त्रैमासिक शोधपत्र **'दि वैदिक पाथ'** १९७७ ई० से प्रकाशित हो रहा है। इसका सम्पादन डॉक्टर एच० जी० सिंह करते हैं। डी०ए०वी० संस्थाओं का एक मासिक पत्र **'आर्यन हैरिटेज'** १९८४ ई० से प्रकाशित होने लगा है। इसके सम्पादक डी० ए० वी० प्रबन्ध समिति के अध्यक्ष प्रोफेसर वेदव्यास हैं। सुन्दर, पठनीय सामग्री के अतिरिक्त इसमें डी० ए० वी० शिक्षण संस्थाओं की गतिविधियों की चर्चा भी रहती है। वर्तमान समय में यह आर्यसमाज की सबसे महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी पत्रिका है, जिस द्वारा देश-विदेश के पाठक स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों से परिचय प्राप्त कर रहे हैं।

(१०) विदेशों से प्रकाशित आर्यसमाजी पत्र-पत्रिकायें

आर्यसमाज अपने जन्मकाल से ही एक सार्वभौम मानव-आन्दोलन के रूप में विकसित हुआ। अतः यह स्वाभाविक ही था कि भारत से इतर देशों में भी इसके उपदेशक एवं प्रचारक जाते तथा वहाँ निवास करनेवाले प्रवासी भारतीयों के साथ-साथ अन्य जाति-समूहों में वैदिक धर्म का प्रचार करते। आर्यसमाज के सन्देश को भारत से भिन्न देशों में प्रचारित करने वाले ऐसे प्रचारकों की संख्या पर्याप्त रही है जिन्होंने समय-समय पर अफ्रीका महाद्वीप, मॉरिशस, फिजी, गुयाना, सुरीनाम आदि के अतिरिक्त ब्रिटेन, कनाडा, अमेरिका आदि पश्चिमी देशों में जाकर धर्म का सन्देश दिया।

प्रवासी भारतीयों को आर्यसमाज की विचारधारा से परिचित कराने तथा उनमें वैदिक धर्म एवं संस्कृति के प्रति प्रेम उत्पन्न करने की दृष्टि से विदेशों से भी अनेक आर्य-सामाजिक पत्र प्रकाशित हुए। दक्षिण अफ्रीका में स्वामी भवानीदयाल संन्यासी के एतद्-विषयक प्रयत्न कालक्रम की दृष्टि से सर्वप्रथम माने जा सकते हैं। भवानीदयाल संन्यासी

की हिन्दी भाषा के प्रचार में अत्यधिक रुचि थी। वे मूलतः बिहार-निवासी थे और अपने भारत-निवास-काल में आर्यावर्त जैसी प्रमुख पत्रिका का सम्पादन कर चुके थे। अतः उन्होंने अफ्रीका-प्रवासकाल में भी हिन्दी पत्रों को प्रकाशित कर आर्यसमाज की विचार-धारा के प्रसार में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया। इसी प्रकार मॉरिशस, फिजी तथा सुरीनाम आदि देशों में भी समय-समय पर आर्यसमाज के जो पत्र प्रकाशित हुए, उनका यथोपलब्ध विवरण यहाँ दिया जा रहा है।

सर्वप्रथम हम दक्षिण अफ्रीका से प्रकाशित होनेवाले पत्रों का उल्लेख करेंगे। १९१६ ई० में पण्डित लेखराम की स्मृति में डर्बन से 'धर्मवीर' नामक हिन्दी साप्ताहिक पत्र प्रकाशित हुआ। इसके प्रकाशक तो कोई रलाराम भल्ला नामक व्यक्ति थे, किन्तु स्वयं उर्दू के जानकार होने तथा हिन्दी में न लिख सकने के कारण उन्होंने १९१७ ई० में इस पत्र का सम्पादन पण्डित भवानीदयाल(बाद में स्वामी भवानीदयाल संन्यासी के नाम से प्रसिद्ध) को सौंप दिया। पण्डित भवानीदयाल ने ही अपनी पत्नी श्रीमती जगरानी के विशेष आग्रह से १९२२ ई० में **'हिन्दी'** नामक एक मासिक पत्रिका निकाली। प्रवासी भारतीयों में इसे अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई। १९२५ ई० में स्वामी दयानन्द की जन्मशताब्दी के अवसर पर दक्षिण अफ्रीका के आर्यों को भारत-यात्रा के लिए इस पत्रिका ने प्रोत्साहित किया। 'हिन्दी' में आर्यसमाज की गतिविधियों के अतिरिक्त प्रवासी भारतीयों की समस्याओं की भी चर्चा रहती थी। आर्य-प्रतिनिधि सभा, दक्षिण अफ्रीका का **'आर्य-मित्र'** नामक एक मुखपत्र भी निकला था। आर्य-प्रतिनिधि सभा, पूर्वी अफ्रीका (केन्या) का मासिक मुखपत्र **'प्रतिनिधि'** नाम से छपता था। आर्यसमाज नैरोबी ने १९२१ ई० में **आर्यवीर** पत्र निकाला।

मॉरिशस में सर्वत्र आर्यसमाज का प्रचार है। वहाँ हिन्दीभाषी लोगों की संख्या भी पर्याप्त है। इस देश से **आर्यपत्रिका**(१९१२ ई०), **आर्यवीर**(१९२९ ई०)तथा **आर्योदय** (१९५० ई०)शीर्षक पत्र प्रकाशित हुए। आर्यवीर में हिन्दी, अंग्रेजी तथा फ्रेंच भाषाओं में लेख छपते थे। ट्रिनिडाड से **आर्यसन्देश** का प्रकाशन एल० शिवप्रसाद के सम्पादन में हुआ। सुरीनाम की आर्य दिवाकर सभा ने १९७५ ई० में **वैदिक सन्देश** नामक मासिक पत्र निकालना आरम्भ किया। इसका सम्पादन पण्डित आर० शिवरतन शास्त्री करते थे। फिजी द्वीप में **वैदिक सन्देश** का प्रकाशन पण्डित श्रीकृष्ण शर्मा तथा पण्डित विष्णुदत्त के सहयोग से हुआ। बर्मा में हैदराबाद सत्याग्रह के दिनों में **प्राचीप्रकाश**(हिन्दी) तथा **न्यू-प्राचीप्रकाश** (अंग्रेजी) नामक दो पत्र ब्रह्मदेशवासियों को सत्याग्रह की जानकारी देने के लिए निकाले गये थे। विदेशों से प्रकाशित होनेवाले आर्य पत्रों की यही स्वल्प जानकारी हमें उपलब्ध हुई है।

अठारहवाँ अध्याय

आर्यसमाज का शोधकार्य

(१) आर्यसमाज के शोधकार्य का प्रयोजन व महत्त्व

प्राच्य विद्याओं और संस्कृत-साहित्य से सम्बद्ध शोध का कार्य लगभग दो शताब्दियों पूर्व ही आरम्भ हो चुका था। यह कहना अधिक उचित होगा कि जब से पाश्चात्य विद्वानों को संस्कृत भाषा और साहित्य की महत्ता एवं गरिमा का पता चला, तभी से उन्होंने इस भाषा के ग्रन्थों की खोज, सम्पादन, संरक्षण तथा प्रकाशन का कार्य आरम्भ कर दिया। इंगलैण्ड, जर्मनी, फ्रांस आदि यूरोपीय देशों के पुस्तकालयों में संस्कृत की दुर्लभ पाण्डुलिपियों का संग्रह किया जाने लगा और बीसियों विद्वान् इन ग्रन्थों के अन्वेषण, सम्पादन, व्याख्या तथा प्रकाशन के गुरुतर कार्य में लग गये। विल्सन, मैक्स-मूलर, मोनियर विलियम्स, रॉथ, वेबर, ग्रिफिथ, मैकडॉनल, कीथ तथा अन्य प्राच्य विद्या-विशारदों के नाम इस प्रसंग में गिनाये जा सकते हैं।

यहाँ एक प्रश्न सहज ही उठता है कि इन पश्चिमी विद्वानों के प्राच्य विद्याओं की ओर आकृष्ट होने के पीछे कौन-सा प्रयोजन काम कर रहा था? निश्चय ही यह तो मानना पड़ेगा कि पाश्चात्य विद्वानों ने पुरातन संस्कृत-वाङ्मय का अध्ययन एवं अनु-शीलन अत्यन्त लगन, उत्साह एवं निष्ठापूर्वक किया है, एतदर्थ वे हमारे सम्मानार्ह तथा साधुवाद के पात्र भी हैं। उनके एतद्विषयक प्रयत्नों से भारत की प्राचीन मनीषा एवं विद्या एक बार पुनः संसार के समक्ष सुप्रतिष्ठित हुई। परन्तु इसके साथ ही यह भी स्मरण रखना चाहिये कि उनका यह अध्ययन और अध्यवसाय सर्वथा निष्पक्ष अथवा केवल विद्या-व्यासंग की दृष्टि से किया हुआ नहीं था। इसके विपरीत, उन्होंने अनेक पूर्वाग्रहों तथा पूर्व-निर्धारित धारणाओं को लेकर ही संस्कृत-वाङ्मय पर लेखनी चलायी, जिसका अवश्यम्भावी परिणाम यह निकला कि वे भारत के गौरवपूर्ण अतीत का यथार्थ दिग्दर्शन कराने में असमर्थ रहे। हमारे इस कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि पाश्चात्य विद्वानों के संस्कृत-भाषा और साहित्य के इस अध्ययन का कोई महत्त्व नहीं है। निश्चय ही उनमें अनेक ऐसे भी थे जिन्हें जिज्ञासु तथा विद्या-पिपासु कहा जा सकता है। परन्तु इन्हीं भारत-विद्याविशारद (Indologist) विद्वानों में अनेक ऐसे भी थे जो एकाधिक प्रयो-जनों से इस कार्य में लगे थे।

अपने कथन की पुष्टि में हम सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् मैक्समूलर तथा संस्कृत-अंग्रेजी कोश के निर्माता प्रो० मोनियर विलियम्स के उदाहरण देना चाहेंगे। वैदिक तथा संस्कृत-साहित्य का विशद अध्ययन एवं समीक्षण कर प्रो० मैक्समूलर ने विश्व-विश्रुत ख्याति अर्जित की है। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय को केन्द्र बनाकर आजीवन भारतीय

सारस्वत साधना में संलग्न रहनेवाले इस विद्वान् के अध्ययन की पृष्ठभूमि स्वयं उसी के शब्दों में प्रस्तुत की जा सकती है। "प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास" में लिखी मैक्समूलर की कुछ पंक्तियाँ स्मरणीय हैं—"History seems to teach that the whole human race required a gradual education before in the fullness of time, it could be admitted to the truths of Christianity. All the fallacies of human reason had to be exhausted, before the light of a higher truth could meet with ready acceptance. The ancient religions of the world were but the milk of nature, which was in due time to be succeeded by the bread of life."

जर्मन विद्वान् के इस कथन का अभिप्राय यह है कि ईसाइयत में निहित पूर्ण सत्य को मानवता सर्वांग रूप में स्वीकार करे, इससे पूर्व यह आवश्यक था कि मनुष्यता को पूर्ण सत्य तक पहुँचाने के लिए क्रमशः शिक्षित किया जाता। उच्चतर सत्य को स्वीकार करने के पहले यह आवश्यक है कि मानवी तर्क के समक्ष आनेवाले सभी हेत्वाभासों से निपट लिया जाय। शब्दों के इस घटाटोप का सीधा अभिप्राय यह है कि ईसाइयत के आविर्भाव के पूर्व विद्यमान संसार के धर्म (वैदिक, पारसी, बौद्ध आदि) मानो धरती पर इसीलिये उत्पन्न हुए थे कि वे, परिपूर्ण धर्म—ईसाई-धर्म का मार्ग प्रशस्त करें तथा ईसाइयत यदि उच्चतर सत्य है तो उसकी तुलना में अन्य धर्म हीनतर तथा हेत्वाभास मात्र हैं। ईसाइयत के प्रति अपने इसी पूर्वाग्रह को मैक्समूलर ने उस समय आलंकारिक शैली में प्रस्तुत कर दिया, जब वह ईसाइयत-पूर्व के धर्मों को मानव-रूपी शिशु का प्रारम्भिक पोषण करनेवाला प्रकृतिदत्त दुग्ध कहता है, परन्तु ईसाइयत को वह जीवन के लिए आवश्यक रोटी की संज्ञा देता है। इस विवेचन से वह यह स्पष्ट कर देता है कि मानव के परिपूर्ण धर्म—ईसाई मत को जानने या स्वीकार करने के पूर्व यदि मनुष्य वैदिक, बौद्ध आदि इतर भारतीय धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन कर ले, तो ईसाइयत के 'चरम सत्य' को स्वीकार कर लेना उसके लिए अधिक सहज हो जायेगा। इसीलिये मैक्समूलर अपने भारतीय साहित्य के अध्ययन के पीछे निहित भावना और उद्देश्य को भी व्यक्त करने में कोई संकोच नहीं करता। वह स्पष्ट घोषित कर देता है कि वैदिक तथा बौद्ध वाङ्मय का अध्ययन करने के पश्चात् ईसाइयत में निहित 'सचाई' को और भी स्पष्टरूप से चीन्हा जा सकता है। तो यह था उसके वैदिक तथा संस्कृत परिशीलन का मुख्य प्रयोजन।

ऋग्वेद के अनुवाद को प्रकाशित कराने में मैक्समूलर का क्या अभिप्राय था, इसे उसने अपनी पत्नी को लिखे एक पत्र में इस प्रकार स्पष्ट किया है—"This edition of mine and the translation of the Veda will hereafter tell to great extent on the fate of India. It is the root of their religion and to show them what the root is, I feel sure, is the only way of uprooting all that has sprung from it during the last three thousand years."

"मेरा यह ऋग्वेद का संस्करण और अनुवाद भारत के भाग्य को निश्चित रूप से प्रभावित करेगा। यह वेद ही भारतवासियों के धर्म का मूल है तथा इस मूल से शाखा-प्रशाखा-रूप जो महान् भारतीय धर्मरूपी महाविटप गत तीन हजार वर्षों में फैला-फूला है, उसे नष्ट करने के लिए भारतवासियों को यह भी बताना आवश्यक है कि उनके वर्त-

मान धर्म का मूल यह वेद कैसा है ?" अर्थात् मैक्समूलर भारतवासियों को वेद का परिचय देकर ही वेद पर आधारित वर्तमान हिन्दू-धर्म को नष्ट करने का स्वप्न देख रहा था। उपर्युक्त उद्धरणों के परिप्रेक्ष्य में मैक्समूलर के भारतविद्या-विषयक अनुशीलन में निहित दुर्भावना को स्पष्टतया देखा जा सकता है। वह यह मानकर चलता है कि ईसाइयत की तुलना में भारत का प्राचीन धर्मचिन्तन हेत्वाभासों से युक्त वालिश कल्पनाजाल मात्र है तथा च, वेदों का अध्ययन और परिचय भारतवासियों के धर्म-विषयक घनीभूत विश्वासों को उखाड़ने में ही सहायक होगा।

प्रो० मोनियर विलियम्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Indian Wisdom (भारतीय प्रज्ञा') की प्रस्तावना में यह स्पष्ट कर दिया था कि अंग्रेजों को भारत पर शासन करने का अधिकार मात्र इसलिये नहीं मिला था कि वे यहीं रहकर विभिन्न राजनैतिक अथवा सामाजिक परीक्षण करें अथवा व्यापार की उन्नति करें, अपितु इस विशाल उपमहाद्वीप का शासन सौंपने में मानो नियति की यह भी इच्छा कार्य कर रही थी कि इस विशाल भू-भाग पर ईसाई धर्म के पुनरुद्धारक प्रभाव का सर्वत्र प्रसार किया जाय। आगे चलकर वह यह भी स्पष्ट करता है कि भारत पर अंग्रेजों का आधिपत्य इसलिये भी महत्त्वपूर्ण बन जाता है क्योंकि सम्प्रति ईसाई धर्म को तीन बड़े धार्मिक दर्शनों (उसके अनुसार तीन प्रमुख मिथ्या धर्मों—ब्राह्मण धर्म, बौद्ध धर्म तथा इस्लाम) से टक्कर लेनी है और यह कार्य अंग्रेजी शासन की सहायता से भारत में ही होना है। प्रकारान्तर से यह भारत-तत्त्व-विशारद अपने अध्ययन और अनुशीलन का लाभ उन ईसाई प्रचारकों को देना चाहता है जो भारत में रहकर हिन्दू धर्म को समाप्त करने तथा मसीही मत का प्रचार करने में संलग्न हैं, वैदिक और संस्कृत वाङ्मय का गौरव स्थापित करना उसका कतई ध्येय नहीं है।

पाश्चात्य संस्कृतज्ञों के अध्ययन के पीछे एक अन्य मनोवृत्ति भी कार्य कर रही थी। वे यह मानते थे कि भारत जैसे सुविशाल देशों पर शासन करनेवाले आंग्ल शासकवर्ग के व्यक्तियों के लिए यह आवश्यक है कि वे शासित देश की सभ्यता, भाषा, संस्कृति, धर्म और विचारधारा से पूर्णतया परिचित हों। ऐसा हुए बिना उनका शासन त्रुटिपूर्ण हो सकता है। फलतः वे सिविल सर्विस में भर्ती होने वाले भारत के भावी प्रशासकों की जानकारी के लिए संस्कृत साहित्य के उन अनेक आयामों को सुप्रकट कर देना चाहते थे जिनकी सहायता से वे भारतीय प्रजा की धार्मिक और सामाजिक आस्थाओं से सुपरिचित हो सकें। संस्कृत-साहित्य के इतिहासलेखक आर्थर एन्थनी मैकडॉनल ने इसी विचार को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—"Owing chiefly to the lack of an adequate account of the subject, few, even of the youngmen who leave these shores every year to be its future rulers."

"इंग्लैण्ड के समुद्रतट से प्रतिवर्ष भारत की ओर प्रस्थित होनेवाले उन नौजवानों में बहुत कम ऐसे हैं, जो उस देश के भावी प्रशासक बनकर जाते तो हैं किन्तु वे उस देश के बारे में बहुत कम जानकारी रखते हैं।" मैकडॉनल सिविल सर्विस के नौजवानों को भारतीय धर्म, संस्कृति, भाषा और साहित्य की यह आवश्यक जानकारी देने के लिए ही तो संस्कृत साहित्य का यह इतिहास लिख रहे हैं और उन्हें यह स्वीकार करने में भी कोई संकोच नहीं होता कि संस्कृत के अध्ययन की प्रथम प्रेरणा उन्हें अपने भारतीय उप-

निवेश की व्यावहारिक प्रशासनिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखने के कारण ही मिली।—"The first impulse to the study of Sanskrit was given by the practical administrative needs of our Indian possessions."

अर्थापत्ति से यह सिद्ध हुआ है कि यदि संस्कृत-साहित्य के माध्यम से उन्हें भारत-वासियों के विश्वासों, विचारों तथा अवधारणाओं का ज्ञान प्राप्त करने में सहायता न मिलती तो वे इसके अध्ययन में कथमपि प्रवृत्त नहीं होते। अन्ततः स्पष्ट हो जाता है कि पाश्चात्य विपश्चितों का भारत-विद्याओं का यह अध्ययन मात्र जिगीविषा-प्रेरित न होकर अवान्तर हेतुओं से ही प्रेरित था।

जब यह सिद्ध हो गया कि पाश्चात्य विद्वानों का भारतीय साहित्य का अनुशीलन ज्ञानोपार्जन की दृष्टि से न किया जाकर, किन्हीं विशिष्ट प्रयोजनों की सिद्धि के लिए था, तो यह मानने में भी कोई संकोच नहीं होना चाहिये कि इस अध्ययन और अनुशीलन के दौरान उन्होंने जो निष्कर्ष निकाले, जिन उपपत्तियों की स्थापना की, वे भी सर्वथा निर्दोष नहीं थीं। उदाहरणार्थ, वेदों के रचना-काल को बहुत पीछे, ३-४ हजार वर्ष पूर्व तक ले आना, आर्यों का मूल स्थान आर्यावर्त से भिन्न मध्य एशिया अथवा अन्यत्र मानना, प्राचीन वेद-वर्णित आर्य-सभ्यता को अविकसित, जंगली, बर्बर तथा अन्धविश्वासों से परिपूर्ण बताना, आर्य-पूर्व किसी द्रविड़ जाति तथा उसकी सुविकसित आर्य-भिन्न संस्कृति की बात करना एवं उसकी अस्तित्व-सिद्धि करना, अन्ततः भारतीय इतिहास के गौरवमय पृष्ठों तथा उनमें चित्रित शलाका-पुरुषों को कवियों की कल्पना-मात्र बताना आदि, शतशः ऐसी बातें हैं जो यूरोपीय विद्वानों के एकांगी और पक्षपातपूर्ण अध्ययन के ज्वलन्त उदाहरण हैं।

तथापि, चित्र का एक दूसरा पहलू भी है। पश्चिमी विद्वानों द्वारा संस्कृत-विद्या को प्रोत्साहन प्रदान करने से उनके मुखापेक्षी भारतीय विद्वानों का ध्यान भी इस ओर गया और उनके मन में व्याप्त यह हीनभावना दूर हो सकी कि हमारे देश में ऐसा कुछ भी नहीं है जिस पर हम गौरव कर सकें। जब सर विलियम जोन्स ने मनुस्मृति और गीता का महत्त्व-निरूपण किया, मैक्समूलर ने वेद-मन्त्रों में निहितभावों की उदात्तता बखानी और गेटे ने अभिज्ञान शाकुतल का स्तुति-पाठ किया तो भारतवासियों को भी अपने विस्मृत अतीत पर गर्व करने का ध्यान आया। स्वामी दयानन्द ने तो वेद तथा अन्य ऋषि-मुनिप्रणीत शास्त्रों में निहित भावों और विचारों की गूढ़ता, उत्कृष्टता तथा महत्ता को सिद्ध कर भारतवासियों के लिए उनके अध्ययन, चिन्तन तथा प्रचार की प्रयोजनीयता पहले ही सिद्ध कर दी थी। स्वयं वैदिक यंत्रालय की स्थापना कर तथा उसके माध्यम से शास्त्रों के यथार्थ अभिप्राय को प्रकाशित करने का लक्ष्य स्थिर कर मानो उन्होंने आर्यसमाज में शास्त्र-विषयक शोधकार्य की नींव ही डाल दी।

संस्कृत-भाषा और साहित्य तथा अन्यान्य प्राच्य विद्याओं के प्रति सम्मानास्पद धारणा होने के कारण आर्यसमाजी विद्वानों का शोध एवं अन्वेषण के क्षेत्र में उतरना स्वाभाविक ही था। आर्य विद्वानों ने व्यक्तिगत रूप से तो धार्मिक एवं शास्त्रीय शोध-कार्य को प्रगति प्रदान की ही है, समष्टिगत रूप से भी आर्यसमाज की शोध-संस्थाओं द्वारा इस क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य हुआ है। आगे के पृष्ठों में हम इसी कार्य का मूल्यां-कन व्यक्तिपरक शोध तथा संस्थागत शोध—इस द्विविध वर्गीकरण के आधार पर

करेंगे। सर्वप्रथम हम आर्य विद्वानों द्वारा किये गये व्यक्तिगत कार्यों का विवरण दे रहे हैं।

(२) आर्य विद्वानों द्वारा किया गया शोधकार्य

स्वामी दयानन्द के समकालीन दो आर्य विद्वानों में हमें शोधप्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। ये हैं पण्डित लेखराम तथा पण्डित गुरुदत्त। पण्डित लेखराम का अधिकार उर्दू, फारसी एवं अरबी भाषाओं पर था और इन्हीं भाषाओं के माध्यम से उन्होंने इस्लाम, ईसाइयत तथा अन्य सामी मजहबों के इतिहास और मन्तव्यों का गहन अध्ययन किया। पुनर्जन्म की सिद्धि में उन्होंने पारसियों, बौद्धों, ईसाइयों तथा मुसलमानों के धर्म-ग्रन्थों से जो प्रमाण एकत्रित किये हैं, वे इस बात के साक्षी हैं। 'क्रिश्चियनमतदर्पण' लिखकर उन्होंने ईसाई मत-विषयक अपने व्यापक अध्ययन को प्रमाणित किया। धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन में पण्डित लेखराम की जितनी रुचि थी, इतिहास का उनका अध्ययन भी उतना ही तलस्पर्शी था। 'सृष्टि का इतिहास' लिखकर उन्होंने अपने इतिहास-विषयक अन्वेषण को प्रमाणित कर दिया है। संस्कृत, अंग्रेजी, उर्दू, फारसी आदि विभिन्न ग्रन्थों से सामग्री संचित कर उन्होंने अपनी एतद्विषयक धारणाओं को पुष्ट किया है। जिन भाषाओं का उन्हें ज्ञान नहीं था, उनमें लिखित ग्रन्थों के अनुवादों को पढ़ने का श्रम उन्होंने किया और अपने निष्कर्ष प्रस्तुत किये। स्वामी दयानन्द के जीवनचरित-विषयक तथ्यों को एकत्र करना, उन्हें वर्गीकृत एवं विभाजित करना तथा प्राप्त सामग्री के आधार पर प्रामाणिक जीवनचरित-लेखन की रूपरेखा बनाना, यह सिद्ध करता है कि समकालीन महापुरुष के जीवनचरित-लेखन की सम्पूर्ण क्षमता भी उनमें थी और तत्सम्बन्धी सामग्री का विविध स्रोतों से संग्रह करने की दक्षता भी उन्होंने अर्जित कर ली थी।

पण्डित गुरुदत्त की प्रतिभा वैदिक विषयों की छानबीन में लगी। वे विज्ञान के पण्डित थे, अंग्रेजी उनकी विचाराभिव्यक्ति की भाषा थी, संस्कृत और वेदों का ज्ञान उन्होंने स्वाध्याय से अर्जित किया था। स्वल्प कार्यकाल में ही उन्होंने वेद-मन्त्रों के वैज्ञानिक अर्थ करने, वेदार्थ की दयानन्द-प्रतिपादित शैली को पुष्ट करने तथा पाश्चात्य विद्वानों की वेदविषयक भ्रमात्मक धारणाओं का खण्डन करने में अपनी प्रतिभा को लगाया। उन्होंने मैक्समूलर तथा मोनियर विलियम्स के विचारों की आलोचना 'दि टर्मिनोलोजी ऑफ दी वेदाज़' में की है। मोनियर विलियम्स के ग्रन्थ 'इण्डियन विज़्डम' में व्यक्त किये गए भारतीय साहित्य और प्रज्ञाविषयक भ्रममूलक विचारों की समीक्षा भी उन्होंने एक विस्तृत निबंध में की। इसी प्रकार पादरी टी० विलियम्स के वेदों में मूर्ति-पूजा मानने तथा स्वामी दयानन्द-प्रतिपादित नियोग के सिद्धान्त की आलोचना में लिखे गये निबन्ध का उन्होंने प्रामाणिक उत्तर दिया। कतिपय वेद-मन्त्रों के वैज्ञानिक रहस्य प्रतिपादित करनेवाले अर्थ कर उन्होंने भावी वेदार्थ करनेवालों को एक नवीन दिशा का बोध कराया।

पण्डित भगवद्दत्त—आर्यसमाज में वैज्ञानिक शोध के प्रवर्त्तक पण्डित भगवद्दत्त थे। उनका जन्म अमृतसर में २६ अक्टूबर १८९३ ई० को हुआ। डी०ए०वी० कॉलेज, लाहौर से १९१५ ई० में बी० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर उन्होंने १९२१ ई० में इसी कॉलेज में स्थापित संस्कृत अनुसंधान विभाग का अध्यक्ष-पद सम्भाला। १९३४ ई० तक

वे इस पद पर रहे। इस बीच उन्होंने कॉलेज के लालचन्द शोध पुस्तकालय के लिए सात हजार हस्तलिखित ग्रन्थ एकत्र किये। इनमें सैकड़ों ऐसे थे जो सर्वथा दुर्लभ ही थे। पण्डित भगवद्दत्त के शोधकार्य की अनेक दिशाएँ हैं। सर्वप्रथम हम उनके द्वारा लिखित 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' को लें। तीन खण्डों में प्रकाशित इस विशाल ग्रन्थ में उन्होंने वेदों के शाखा-ग्रन्थों, आरण्यक एवं ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा वेद के भाष्यकारों का खोजपूर्ण इतिहास निबद्ध किया है। इसके द्वारा वैदिक वाङ्मय के अद्यतन अनुपलब्ध शतशः ग्रन्थों को प्रकाश में लाया गया है। इसके महत्त्व का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि इस इतिहास के प्रकाशित होने के पश्चात् जो शोधकार्य वैदिक ग्रन्थों के सम्बन्ध में हुआ, उस कार्य के करनेवालों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप में पण्डित भगवद्दत्त के निष्कर्षों से लाभ उठाया है। कौन-कौन ग्रन्थकार किन-किन ग्रन्थों में पण्डित भगवद्दत्त की स्थापनाओं के ऋणी हैं, इसका संकेत उन्होंने (पण्डित भगवद्दत्त ने) स्वयं 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' (प्रथम भाग, द्वितीय संस्करण) की भूमिका में दे दिया है। किन्तु इसे कृतघ्नता की पराकाष्ठा ही कहा जायगा कि पण्डित भगवद्दत्त के ग्रन्थों से इच्छित सामग्री लेकर भी इन ग्रन्थकारों ने सामग्री के स्रोत की ओर संकेत करना तथा उसके प्रस्तोता के प्रति आभार प्रकट करने तक का शिष्टाचार नहीं दिखाया। परन्तु यह कथन सभी लेखकों पर नहीं घटित होता। कतिपय विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में पण्डित भगवद्दत्त के वैदिक अनुसंधान के प्रति अपने ऋण को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। 'वैदिक वाङ्मय के इतिहास' के आगामी खण्डों में पण्डित भगवद्दत्त 'वेदांग साहित्य का इतिहास' भी लिखना चाहते थे। कल्पसूत्रों का इतिहास तो लिखा भी जा चुका था, किन्तु वह अप्रकाशित ही रहा।

पण्डित भगवद्दत्त के शोधकार्य की विवेचना के प्रसंग में उनके द्वारा लिखित शोध-निबन्ध, प्राचीन ग्रन्थों का सम्पादन, भाषाविज्ञान-विषयक कार्य तथा भारतवर्ष के इतिहास का लेखन भी महत्त्वपूर्ण तथा उल्लेखनीय हैं। उनके द्वारा लिखित शोध-निबन्धों की तालिका पर्याप्त लम्बी है। वाल्मीकीय रामायण के पश्चिमोत्तर पाठ (बाल-काण्ड के कुछ अंशों) का सम्पादन, माण्डूकी शिक्षा, अथर्ववेदीय पंचपटलिका, आथर्वण-ज्योतिष तथा उद्गीथकृत ऋग्वेदभाष्य के कुछ अंश का सम्पादन आदि कुछ ऐसे कार्य हैं जो उनकी शोधप्रवृत्ति तथा प्राचीन ग्रन्थों के पाठालोचन तथा पाठ-सम्पादन में उनकी कुशलता के सूचक हैं। भाषाविज्ञान के क्षेत्र में तो वे पाश्चात्य भाषा-वैज्ञानिकों की सभी उपपत्तियों को मिथ्या तथा सारहीन सिद्ध कर चुके हैं और इस प्रकार भाषा की दैवी उत्पत्ति तथा तज्जन्य सिद्धान्तों की सत्यता को उन्होंने स्पष्टतया उद्घोषित किया है। भारत के बृहत् इतिहास का लेखन कर उन्होंने पश्चिमी तथा उनके अनुयायी सभी भारतीय इतिहासकारों की उन पूर्वाग्रहयुक्त धारणाओं का खण्डन किया है जो भारत के इतिहास को गौतम बुद्ध के पूर्वकाल में ले-जाना ही नहीं चाहते, जिनके विचारानुसार रामायण और महाभारत आर्य इतिहास के प्रामाणिक ग्रन्थ न होकर मात्र कवि-कल्पित काव्य अथवा उपाख्यान ही हैं और जिनके लिए पुराणवर्णित राजवंशों, मन्वन्तरों तथा वंशानुचरितों का कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं है। इन सभी ऐतिहासिक दुराग्रहों पर चोट कर प्राचीन वंशावलियों के आधार पर भारतीय इतिहास का पुनर्गठन करना पण्डित भगवद्दत्त की एक महती उपलब्धि है। पण्डित भगवद्दत्त के स्वामी दयानन्द-

विषयक अन्वेषण-कार्यों का उल्लेख हम पृथक्तया करेंगे।

यहाँ यह लिख देना आवश्यक है कि पण्डित भगवद्दत्त की शोध-दृष्टि पूर्णतया वैज्ञानिक होने पर भी पाश्चात्यों की अन्धधारणाओं की पोषक नहीं है। उनका यह सुनिश्चित मत है कि पाश्चात्य यहूदी और ईसाई विद्वानों द्वारा किया गया संस्कृत-साहित्य का अध्ययन और अन्वेषण आग्रह-मुक्त नहीं है। उन्होंने सोपपत्तिक सिद्ध किया है कि पाश्चात्य वेदज्ञ और संस्कृतज्ञ जब हमारे देश के प्राचीन साहित्य का अध्ययन करने में तत्पर होते हैं तो वे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान, देवगाथावाद तथा चार्ल्स डार्विन द्वारा प्रतिपादित विकास की धारणाओं के प्रति पूर्णतया प्रतिबद्ध हो जाते हैं। इसके साथ ही वे इस सचाई को भी भुला देते हैं कि भारतीय वाङ्मय का अध्ययन करते समय भारत की परम्पराओं, आस्थाओं तथा धारणाओं को दृष्टि से ओझल करना हानिकारक होगा। यही कारण है कि यूरोपीय और अन्य पश्चिमी विद्वानों ने यद्यपि प्राच्य विद्याओं के अध्ययन में भूरिशः परिश्रम किया है, तथापि वे इन विद्याओं के मर्म तक पहुँचने में असमर्थ रहे हैं।

आर्यसमाज में कुछ विद्वान् ऐसे भी थे और हैं जो यद्यपि इस संगठन से जुड़े रहे हैं, तथापि उन्होंने शोध और अन्वेषण के क्षेत्र में कार्य करते समय आर्यसमाज के आदर्शों और मन्तव्यों को अपना निर्देशक नहीं बनाया। डॉक्टर मंगलदेव शास्त्री तथा डॉक्टर सूर्यकान्त का शोधकार्य इसी प्रकार का है। शास्त्रीजी ने ऋग्वेद-प्रातिशाख्य का सम्पादन किया, सामवेद के उपनिदान सूत्र का आलोचनात्मक संस्करण तैयार किया तथा आश्वलायन श्रौतसूत्र का सटीक, सम्पादित संस्करण प्रस्तुत किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण तथा आरण्यक, कौषीतकि ब्राह्मण तथा शतपथ ब्राह्मण-विषयक आलोचनात्मक निबन्ध लिखे। डॉक्टर सूर्यकान्त ने सामवेदसर्वानुक्रमणी, कौथुम गृह्य-सूत्र तथा कौषीतकि गृह्यसूत्र का सम्पादन किया। इनके अतिरिक्त काठक ब्राह्मण-संकलन, काठक श्रौतसूत्र संकलन, लघु ऋक्तन्त्र संग्रह, साम सप्त-लक्षण आदि उनके अन्य सम्पादित ग्रन्थ हैं। उनके शोध-निबन्धों की संख्या भी पर्याप्त है। इस शोधकार्य में उक्त विद्वानों ने मुख्यतः पश्चिमी शोध-परिपाटी को ही अपनाया है।

आर्यसमाज के शोध-विद्वानों में कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं जो अपने लेखन और अन्वेषण-कार्य की किसी कालावधि में तो आर्यसमाज की सैद्धान्तिक मर्यादाओं के पालन में तत्पर रहे, किन्तु कालान्तर में उनका सम्बन्ध न तो आर्यसमाज के संगठन से ही रहा और न विचारधारा से ही। तथापि उन्होंने जो कुछ कार्य इस क्षेत्र में किया उसके पीछे उनके जीवन की वह आर्यसमाजी पृष्ठभूमि ही प्रेरणास्रोत बनकर आई, जिसे उत्तरवर्तीकाल में उन्होंने त्याग दिया था। हमारा अभिप्राय पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर तथा पण्डित विश्वबन्धु शास्त्री के शोधकार्य से है। सातवलेकरजी ने अपना समस्त जीवन ही वैदिक सारस्वत यज्ञ में अर्पित कर दिया था। उन्होंने वैदिक संहिताओं के प्रामाणिक पाठों का निर्धारण कर उनका मुद्रण कराया। साथ ही चारों वेद-संहिताओं पर भाष्य-रचना भी की। इसी प्रकार उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों के टीका-भाष्यादि का लेखन तथा वेदविषयक सैकड़ों शोध-निबन्धों का लेखन उनकी वेदाध्ययन के प्रति निष्ठा का सूचक है।

पण्डित विश्वबन्धु ने पण्डित भगवद्दत्तजी द्वारा डी०ए०वी० कॉलेज लाहौर के

शोध-विभाग का अध्यक्ष पद छोड़ने पर १ जून १६३४ को इस कार्यभार को सम्भाला। १६२४ ई० की पहली जनवरी को विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान की स्थापना लाहौर में हो चुकी थी, किन्तु १६३४ ई० तक वे दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय के आचार्य-पद पर कार्यरत थे। अब उन्होंने ब्राह्म महाविद्यालय के कार्य से मुक्त होकर कॉलेज के शोध-विभाग तथा इस संस्थान के संचालक-पद को स्वीकार किया। कालान्तर में वेदों को ऋषिकृत मानने तथा वेदों में इतिहास स्वीकार करने जैसे कारणों से उनका आर्यसमाज से सम्बन्ध टूट गया, किन्तु विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान के संचालक-पद पर रह-कर उन्होंने देश-विभाजन के पूर्व तथा उसके बाद वैदिक साहित्य के अन्वेषण, सम्पादन तथा प्रकाशन का ऐतिहासिक कार्य किया। वैदिक पदानुक्रमकोष तथा अन्य अनेक ग्रन्थ पण्डित विश्वबन्धु के प्रधान सम्पादन में तैयार किये गये। निश्चय ही इस संस्थान के माध्यम से पण्डित विश्वबन्धु ने वैदिक शोध के क्षेत्र में उल्लेखनीय कार्य किया है।

आर्य सिद्धान्तों के प्रति अडिग निष्ठा रखते हुए संस्कृत-शोधकार्य में लगे विद्वानों का विवरण उपलब्ध कराना भी आवश्यक है। भारत के राष्ट्रपति से संस्कृत के राष्ट्रीय स्तर के विद्वान् के रूप में सम्मानित पण्डित **युधिष्ठिर मीमांसक** का वैदिक साहित्य और शोध को योगदान सर्वथा अपूर्व ही है। वेदांग साहित्य-विषयक उनका विस्तृत अध्ययन और गवेषण सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने शिक्षा, व्याकरण तथा कल्पसूत्रों के ग्रन्थों पर विशेष रूप से कार्य किया है। आचार्य आपिशलि, पाणिनि तथा चन्द्रगोमिन के शिक्षा-सूत्रों का सम्पादन, व्याकरण के अनेक प्राचीन ग्रन्थों का उद्धार तथा सम्पादन, संस्कृत के व्याकरणशास्त्र के विशद इतिहास का क्रमबद्ध लेखन तथा कतिपय सूत्र-ग्रन्थों तथा यज्ञ-पद्धतियों का व्यवस्थित संकलन एवं प्रकाशन उनके स्थायी कार्य हैं। वैदिक स्वर तथा वैदिक छन्दों पर उनकी ग्रन्थरचना सर्वथा मौलिक है। पातंजल महाभाष्य तथा मीमांसा पर शावर-भाष्य के अनुवाद तथा टीका-लेखन के द्वारा उन्होंने इन दोनों दुर्बोध एवं क्लिष्ट ग्रन्थों को पाठकों के लिए प्रायः सुगम बना दिया है। मीमांसकजी कुछ वर्ष तक महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट टंकारा के अन्तर्गत संचालित शोध-संस्थान के अध्यक्ष रहे। रामलाल कपूर ट्रस्ट की शोध-सम्बन्धी सभी प्रवृत्तियाँ उन्हीं की देखरेख में चल रही हैं। स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों तथा पत्रव्यवहार के सम्पादन-विषयक उनके कार्य का विवरण हम पृथक् दे रहे हैं। उन्होंने विविध विषयों पर अनेक उच्च कोटि के शोध-निबन्ध भी लिखे हैं जो समय-समय पर अखिल भारतीय प्राच्य विद्या-परिषद् के विभिन्न अधिवेशनों में प्रस्तुत किये गये। आर्यसमाज सान्ताक्रूज बम्बई ने इसी वर्ष ७५००० रुपये का पुरस्कार देकर उनके शोधकार्यों का सश्रद्ध सम्मान किया है।

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक—संन्यास-पूर्वकाल में पण्डित प्रियरत्न के नाम से प्रसिद्ध स्वामी ब्रह्ममुनि का साहित्य आर्यसमाज के वैदिक शोधकार्य की एक विशिष्ट उपलब्धि है। वेदार्थरूपी उदधि का गहन अवगाहन कर पण्डित प्रियरत्न ने जिन मुक्ताओं का संचय किया, वे वस्तुतः महार्घ हैं। अथर्ववेद में विद्यमान चिकित्साशास्त्र, वैदिक मनोविज्ञान, वैदिक विमानशास्त्र आदि पर उनका अन्वेषण-कार्य ग्रन्थाकार प्रकाशित हो चुका है। पण्डित सातवलेकर के प्रतिद्वन्द्वी पण्डित के रूप में उन्होंने वेदों में प्रयुक्त 'यम' एवं 'पितर' शब्दों के अर्थों की गहरी छानबीन की और अपने निष्कर्षों को 'यम पितृ परिचय' शीर्षक बृहद् ग्रन्थ में प्रस्तुत किया। इसी प्रकार ऋग्वेद में 'देवकामा'

या 'देवृकामा' जैसे विवाद में भी उन्होंने भाग लिया। 'वेद में इतिहास नहीं' उनका मौलिक शोध-प्रबन्ध है जो उनकी वेदार्थ में गहरी पकड़ का परिचायक है। सांख्य, वेदान्त और वैशेषिक की पाण्डित्यपूर्ण संस्कृत टीकायें, निरुक्तसम्मर्श संस्कृत टीका तथा ऋग्वेद के दशम मण्डल का स्वामी दयानन्द की वेदार्थ परिपाटी का अनुसरण करते हुए भाष्य उनकी लेखन एवं शोध की वृत्तियों का परिचायक है।

डॉक्टर सुधीरकुमार गुप्त—विश्वविद्यालयों में स्वीकृत शोध-प्रक्रिया का अनुसरण करते हुए स्वामी दयानन्द की वेदभाष्य-पद्धति पर प्रथम किन्तु विद्वत्तापूर्ण शोध-प्रबन्ध लिखनेवाले डॉक्टर सुधीरकुमार गुप्त का यह कार्य अत्यन्त महत्त्व का है। प्राच्य विद्या-सम्मेलनों में उनके द्वारा पठित निबन्ध उनके विशद अध्ययन तथा सूक्ष्म विश्लेषण-शक्ति के परिचायक हैं। नेचर ऑफ वैदिक शाखाज़, एनशियेंट स्कूल्स ऑफ वैदिक इण्टरप्रिटेशन, स्वामी दयानन्द एज़ ए वैदिक कमेण्टेटर, मोनोसिलेबिक ऑरिजन ऑफ दि लेंग्वेज, ऑथरशिप ऑफ सम ऑफ दि हिम्न्स ऑफ ऋग्वेद, ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ दि कमेण्टरी ऑन दि ऋग्वेद बाई स्वामी दयानन्द तथा मेघदूत की वैदिक पृष्ठभूमि उनके उल्लेखनीय शोध-निबन्ध हैं। आर्यसमाज स्कूल ऑफ वैदिक इण्टरप्रिटेशन में उन्होंने दयानन्दीय पद्धति से वेदार्थ करनेवाले सम्प्रदाय की विशिष्टताओं एवं सीमाओं का आलोचनात्मक विश्लेषण किया है। राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष एवं आचार्य के पद से अवकाश लेने के अनन्तर वे जयपुर में भारती-मन्दिर-अनुसंधान-शाला का संचालन कर रहे हैं। उनके द्वारा एक त्रैमासिक शोध-पत्रिका भी चलायी जाती रही।

(३) स्वामी दयानन्द के जीवन एवं कृतित्व विषयक शोधकार्य और शोधकर्त्ता

आर्यसमाज के शोधकार्य की एक अन्य दिशा स्वामी दयानन्द के जीवन तथा उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व की आलोचना, विवेचना, मूल्यांकन तथा एतद्‌विषयक नवीन शोध एवं गवेषणाओं का आकलन करने से सम्बन्ध रखती है। यह हम पूर्व ही लिख चुके हैं कि स्वामी दयानन्द की जीवन-घटनाओं के संकलन तथा उन्हें व्यवस्थित जीवनचरित के रूप में प्रस्तुत करने का प्रथम प्रयत्न पण्डित लेखराम का था। इस कार्य की पूर्ति हेतु वे भारत के उन सभी प्रान्तों में गये जहाँ स्वामी दयानन्द-विषयक सूचनाएँ मिलने की उन्हें सम्भावना थी। उन्होंने तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं के उन सन्दर्भों को एकत्र किया जिनमें स्वामीजी का प्रसंगोपात्त उल्लेख किया गया था तथा उन प्रत्यक्षदर्शियों से मिलकर उनके संस्मरणों को भी लेखनीबद्ध किया जिनकी स्वामी दयानन्द से भेंट हुई थी अथवा जिन्होंने इस परिव्राजक संन्यासी को देखा था। पण्डित लेखराम द्वारा संगृहीत इस सामग्री ने उस आधार या नींव का कार्य किया जिसके ऊपर स्वामीजी के जीवनचरित-रूपी भवन का कालान्तर में निर्माण किया गया।

स्वामी दयानन्द के जीवन-विषयक तथ्यों का संग्रह करने में बंगाली लेखक श्री देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय ने जैसी रुचि, तत्परता और आसक्ति दिखाई, वैसी तो किसी दयानन्द-भक्त आर्यसमाजी में भी कठिनाई से ही दिखाई पड़ेगी। देवेन्द्रबाबू पहले ब्रह्म-समाज के अनुयायी थे, किन्तु जब वे दयानन्द के तेजस्वी व्यक्तित्व तथा उनकी युगान्तर-

कारी विचारधारा की ओर आकृष्ट हुए तो उन प्रखर व्यक्तित्वधारी संन्यासी के सम्मोहन में वे बँध-से गये। और तभी प्रारम्भ हुई उनकी वह प्रसिद्ध भारतयात्रा, जिसका आरम्भ उन्होंने सौराष्ट्र के उस टंकारा ग्राम से किया जहाँ १८२४ ई० में एक मध्यवित्त ब्राह्मणकुल में उस संस्कारी बालक ने जन्म लिया था, जो आगे चलकर दयानन्द सरस्वती के नाम से विख्यात हुआ। इस यात्रा की समाप्ति भी उन्हीं के शब्दों में 'अजमेर की उस मलूसर नाम्नी श्मशान भूमि में जाकर हुई जहाँ १६४० वि० की दीपावली के दूसरे दिन उस परमहंस परिव्राट् की पंचभौतिक काया को उसके शिष्यों, भक्तों और अनुयायियों ने अग्नि के समर्पित कर दिया था।' इस देश-भ्रमण के दौरान देवेन्द्रबाबू ने क्या-क्या कष्ट नहीं सहे ? उनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी, किन्तु उन्होंने स्वोपार्जित धन तथा जीवन के बहुमूल्य १५ वर्ष तो दयानन्द की जानकारी प्राप्त करने में, ग्रामानुग्राम भटकने, जन-जन से मिलने तथा उपयोगी सामग्री का संग्रह करने में ही लगा दिये।

देवेन्द्रनाथ का अन्वेषणकार्य तो अद्वितीय था ही, उनकी लेखन-क्षमता, विवेचन-शक्ति तथा अपने चरितनायक की चारित्रिक विशेषताओं को उभारने की उनकी क्षमता भी अनुपम थी। यही कारण है कि उनकी लेखनी से प्रसूत दयानन्द का जीवनचरित मात्र शुष्क विवरण न होकर साहित्य का उत्कृष्ट अंश बन गया है। दयानन्द के जन्मस्थान, पिता का नाम, वंश-परम्परा आदि के निर्धारण में देवेन्द्रनाथ के प्रयास अभूतपूर्व रहे और उनसे जाने-अनजाने में प्रचलित अनेक मिथ्या धारणाओं का समाधान हुआ। दयानन्द के विद्यागुरु विरजानन्द के जीवन-विषयक तथ्यों का अनुसंधान करने तथा बंगला में स्वामी दयानन्द की आत्मकथा के अंशों को अनूदित करने में भी देवेन्द्रनाथ के श्रम की सार्थकता हुई।

स्वामी दयानन्द के पत्रव्यवहार को संकलित और सम्पादित करने में पण्डित भगवद्दत्त के प्रयत्न ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। इसमें उन्हें श्री मामराजसिंह का जैसा सहयोग मिला उसकी चर्चा हम पिछले एक अध्याय में कर चुके हैं। यदि मामराजसिंह ने पत्रों को एकत्र करने में रात-दिन एक नहीं किया होता और पण्डित भगवद्दत्त अपनी ऐतिहासिक भूमिका के साथ इस संग्रह को प्रकाशित नहीं करते तो स्वामी दयानन्द के जीवन के अनेक ऐसे पहलू अध्येताओं की दृष्टि से सर्वथा ओझल ही रह जाते, जिनके ज्ञान से उस महापुरुष के कालजयी, विराट् व्यक्तित्व की सम्पूर्ण रूपरेखा बनती है। पण्डित भगवद्दत्त ने स्वामी दयानन्द के स्वयंकथित इतिवृत्त का भी सम्पादन किया था। इसके कई संस्करण रामलाल कपूर ट्रस्ट से छप चुके हैं।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अरबी, फारसी के प्राध्यापक प्रोफेसर महेशप्रसाद ने स्वामी दयानन्द के जीवन-विषयक कतिपय पहलुओं की जैसी विवेचना की है, उससे अनुमान किया जा सकता है कि यदि वे स्वयं स्वामीजी के जीवन-लेखन का कार्य अपने हाथों में लेते तो उनकी लेखनी से एक वस्तुनिष्ठ तथा तथ्याधारित ग्रन्थ निकलता। तथापि स्वामी दयानन्द के जीवन-लेखन में आनेवाली अनेक समस्याओं से उन्होंने पाठकों को परिचित कराया। दयानन्द की जीवन-घटनाओं तथा उनके विभिन्न स्थानों पर आगमन-प्रत्यागमन का सूचक प्रामाणिक तिथि-पत्र तैयार करना मौलवी महेशप्रसाद की शोध-विषयक विशिष्ट उपलब्धि है। इसी प्रकार दयानन्दकाल में रेल-मार्ग, सैयद अहमद और

स्वामीजी के परस्पर सम्बन्ध आदि की जानकारी देनेवाले उनके लघु ग्रन्थ भावी जीवनी-लेखक के लिए सहायक हैं।

स्वामी दयानन्द के जीवन तथा उनके ग्रन्थों पर पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक का कार्य तीन दिशाओं में प्रसरित है। सर्वप्रथम तो उनके द्वारा स्वामीजी की बृहत्त्रयी—सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का सम्पादन-कार्य ही विचारणीय है। तीनों ग्रन्थों के इन संस्करणों में सम्पादन-कौशल पदे-पदे दृष्टिगोचर होता है। इन ग्रन्थों के हस्तलिखित पाठों के आधार पर अन्यत्र मुद्रित संस्करणों की भूलों का दिग्दर्शन, पाठभेद एवं पाठों में त्रुटित अंशों की विवेचना, प्रत्येक संस्करण में सैकड़ों उपयोगी पादटिप्पणियाँ तथा ग्रन्थों में उद्धृत प्रमाणों की प्रामाणिकता तथा उनके पतों की तलाश जैसे श्रमसाध्य सम्पादन-बिन्दुओं के आधार पर ही ये संस्करण तैयार किये गये हैं। वर्षों पूर्व मीमांसकजी ने स्वामी दयानन्द के वेदांगप्रकाश के अनेक भागों का सम्पादन आर्य साहित्य-मण्डल अजमेर के अनुरोध पर किया था।

उनके शोध की एक अन्य दिशा स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों के इतिहास का लेखन है। इसके लिए प्रारम्भिक तैयारी तो उन्होंने तभी कर ली थी, जब इस शताब्दी के चतुर्थ दशक में उन्हें परोपकारिणी सभा में सुरक्षित स्वामीजी के ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों को देखने का अवसर मिला। उसके पश्चात् जब उनका ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों के इतिहास का प्रथम संस्करण छपा तो दयानन्द वाङ्मय का सम्पूर्ण इतिहास पाठकों के समक्ष आ गया। प्रत्येक ग्रन्थ के लेखन की पृष्ठभूमि और प्रेरणा, उसके विभिन्न हस्तलेखों का विवरण, मुद्रित ग्रन्थ की स्थिति तथा तद्विषयक अन्य जानकारियों को उपलब्ध कराने में लेखक को महत् परिश्रम करना पड़ा था। इस ग्रन्थ का परिशोधित तथा परिवर्धित संस्करण १९८३ ईसवी में निकला है।

स्वामी दयानन्द के पत्र-व्यवहार का पुनः सम्पादन और प्रकाशन मीमांसकजी के दयानन्द-विषयक शोध-कार्य का तीसरी दिशा है। वे दयानन्द-विषयक पुरावृत्त के संग्रह में अपूर्व रुचि रखते हैं, यही कारण है कि १९५८ ई० में ही उन्होंने दयानन्द के पत्र-व्यवहार के परिशिष्ट रूप में जो ग्रन्थ सम्पादित किया, उसमें स्वामीजी के बंगाल-प्रवास की हेमचन्द्र चक्रवर्ती की डायरी, पण्डित महेशप्रसाद द्वारा तैयार किया गया स्वामीजी के जीवन का तिथिपत्र, स्वामीजी के पत्र-व्यवहार में उल्लिखित पुरुषों का ठाकुर जगदीशसिंह गहलोत द्वारा निबद्ध परिचय, स्वामीजी के व्यक्तिगत पुस्तक-संग्रह में विद्यमान ग्रन्थों की सूची तथा अन्य जानकारियाँ संकलित की गयी थीं। स्वामी दयानन्द के पुणे नगर में प्रदत्त मराठी प्रवचनों का मूल संस्करण प्राप्त कर उसके आधार पर उपदेश-मंजरी को सम्पादित करना तथा बम्बई में प्रदत्त उनके प्रवचनों का सम्पादन भी मीमांसकजी के ऐतिहासिक महत्त्व के कार्य हैं।

इन पंक्तियों के लेखक (डॉक्टर भवानीलाल भारतीय) का दयानन्द-विषयक शोधकार्य भी उपेक्षणीय नहीं है। स्वामी दयानन्दकृत चतुर्वेद-विषय-सूची का संपादन, स्वामी दयानन्दकृत ऋग्वेद के प्रारम्भिक मन्त्रों के विस्तृत भाष्य का सम्पादन, काशी शास्त्रार्थ के शताब्दी संस्करण का सम्पादन आदि कार्य डॉक्टर भारतीय ने उस समय किये, जब वे अजमेर के गवर्नमेंट कॉलेज में प्राध्यापक थे। स्वामी दयानन्द के प्रथम जीवनचरित—दयानन्ददिग्विजयार्क का संक्षिप्त सम्पादित संस्करण भी उन्होंने तैयार

किया है। इसी प्रकार उन्होंने दयानन्द के प्रकाशित शास्त्रार्थों का सम्पादित संस्करण, शास्त्रार्थों की पृष्ठभूमि की विवेचना सहित तैयार किया जिसे रामलाल कपूर ट्रस्ट ने १९७० ई० में प्रकाशित किया। स्वामी दयानन्द की वह आत्मकथा जो 'थियोसोफिस्ट' के लिए मूलत: हिन्दी में लिखी गई थी, जब परोपकारिणी सभा के संग्रह में मिली तो उसका सम्पादन भी डॉक्टर भारतीय ने ही किया। स्वामी दयानन्द के कर्णवास-प्रवास का विवरण उन्होंने कर्णवास के ही निवासी तथा स्वामीजी के शिष्य ठाकुर शेरसिंह के पौत्र ठाकुर गवेन्द्रसिंह से प्राप्त किया तथा उसे सम्पादित कर दयानन्द-संस्थान से प्रकाशित कराया।

स्वामी दयानन्द की भारतीय पुनर्जागरण के सूत्रधार महापुरुषों से तुलना तथा तुलनात्मक अध्ययनों को ग्रन्थाकार प्रस्तुत करना डॉक्टर भारतीय के दयानन्द-विषयक अध्ययन की एक अन्य दिशा है। इस शृंखला के अन्तर्गत राममोहन राय तथा विवेकानन्द से दयानन्द की तुलना-विषयक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। पंजाब विश्वविद्यालय की दयानन्द अनुसन्धान पीठ के अध्यक्ष-पद पर नियुक्त होने के पश्चात् डॉक्टर भारतीय की दो उल्लेखनीय शोधकृतियाँ प्रकाशित हुई हैं। प्रथम—दयानन्द का वैज्ञानिक शोध-प्रक्रिया का आधार लेकर लिखा गया "नवजागरण के पुरोधा—दयानन्द सरस्वती" शीर्षक विपुलकाय जीवनचरित तथा द्वितीय—दयानन्द साहित्य सर्वस्व—जिसके अन्तर्गत स्वामी दयानन्द द्वारा लिखित तथा उनके सम्बन्ध में (व्यक्तित्व, विचार, कृतित्व तथा क्रिया-कलाप विषयक) रचित विविध भाषाओं में निबद्ध साहित्य की विस्तृत जानकारी एकत्र की गयी है। १९८५ ई० में उनका एक अन्य ग्रन्थ आर्यसमाज-विषयक साहित्य-परिचय प्रकाशित हुआ है।

यह सन्तोष का विषय है कि स्वामी दयानन्द के जीवन एवं कार्य-विषयक शोध-कर्म में रुचि रखनेवाले कुछ युवक विद्वान् प्रशंसनीय उत्साह के साथ स्वकार्य में रत हैं। नान्देड (महाराष्ट्र) निवासी प्रोफेसर कुशलदेव वडवलकर ने मराठी के प्राचीन ग्रन्थों तथा पत्र-पत्रिकाओं में स्वामी दयानन्द-विषयक सन्दर्भों का सम्पादन व अनुवाद कर दयानन्द के जीवन-विषयक तथ्यों की खोज को समृद्ध किया है। उन्होंने गोपालराव हरि-देशमुख के 'लोकहितवादी' तथा विष्णु शास्त्री चिपलूणकर के स्वामी दयानन्द-विषयक मराठी लेखों को हिन्दी भाषी पाठकों के लिए सुलभ बनाया है। रणञ्जय कॉलेज अमेठी के संस्कृत के प्राध्यापक प्रोफेसर ज्वलन्तकुमार शास्त्री ने स्वामीजी के काशी के विभिन्न प्रवासों तथा काशीशास्त्रार्थ-विषयक पुरावृत्त को ढूँढने का सराहनीय प्रयास किया है। जामनगर के आयुर्वेदिक कॉलेज के प्राध्यापक प्रोफेसर दयालजी आर्य ने, जो स्वयं स्वामीजी के जन्मस्थान टंकारा के निवासी हैं, स्वामी दयानन्द के जन्मस्थान, आरम्भिक जीवन, माता-पिता, परिवार तथा टंकारा के तत्कालीन भौगोलिक परिवेश-सम्बन्धी विस्तृत जानकारी एकत्र की है जिसे आर्यजगत् में धारावाही लेखमाला के रूप में प्रकाशित किया गया है। इस लेखमाला का सम्पादन व नागरी प्रतिरूप इन पंक्तियों के लेखक ने ही किया है।

आर्यसमाज विषयक शोधकार्य—विश्वविद्यालयों में आर्यसमाज के सिद्धान्तों, कार्यों तथा उपलब्धियों पर जो शोधकार्य हुआ है या हो रहा है, उसका विवरण हम पृथक् रूप से देंगे। यहाँ कुछ उन शोधकर्त्ताओं के कार्यों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है जो आर्यसमाज तथा उसके भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में कार्य करनेवाले व्यक्तियों के इतिवृत्त का

संग्रह करने में लगे हुए हैं। डी० ए० वी० कॉलेज, अबोहर में इतिहास के प्राध्यापक प्रो० राजेन्द्र 'जिज्ञासु' आर्यसमाज तथा आर्यसमाजियों के स्मरणीय वृत्तान्तों के संग्रह में अत्यधिक रुचि रखते हैं। उनके अध्ययन की एक विशेषता यह है कि वे आर्यसमाज के कार्य को निष्पादित करनेवाले बड़े-से-बड़े महापुरुष तथा नींव के पत्थर तुल्य साधारण-से-साधारण कार्यकर्त्ता के त्याग, बलिदान तथा सिद्धान्तनिष्ठा की छोटी-से-छोटी घटना को भी अपनी स्मृति में सुरक्षित कर लेते हैं तथा समय पाकर उसे लिपिबद्ध कर प्रकाशित करा देते हैं। इस प्रकार के सैकड़ों संस्मरणों का उनके पास अखूट खजाना है। प्रोफेसर राजेन्द्र 'जिज्ञासु' उर्दू भाषा से पूर्णतया अभिज्ञ हैं, अतः आर्यसमाज की पुरानी उर्दू पत्र-पत्रिकाओं तथा उर्दू में छपे ग्रन्थों से अपने प्रयोजन की सामग्री का संकलन करना उनके लिए दुष्कर नहीं है। उनके शोधपूर्ण निबन्ध प्रायः सभी आर्यसामाजिक पत्रों में छपते हैं। पण्डित लेखराम, महात्मा हंसराज तथा स्वामी स्वतन्त्रानन्द के जीवनचरित उनके विशिष्ट अनुसन्धान के ही फल हैं।

इन पंक्तियों के लेखक ने भी आर्यसमाज के इतिहास और विशेषतः आर्यसमाज के लेखकों, साहित्यकारों तथा उसकी ग्रन्थसम्पदा के सम्बन्ध में प्रभूत सामग्री एकत्रित की है। विगत वर्षों में उसके आर्यसमाज के शास्त्रार्थ महारथी, आर्यसमाज के वेदसेवक विद्वान् तथा आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार शीर्षक तीन ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं जो उपर्युक्त क्षेत्रों में कार्यरत मनीषियों का परिचय उपलब्ध कराते हैं।

(४) आर्यसमाज का संस्थागत शोधकार्य

इस शीर्षक के अन्तर्गत हम उन शोध-संस्थानों के क्रियाकलापों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं जो आर्यसमाज की विभिन्न संस्थाओं द्वारा संचालित किये जाते रहे हैं। अन्ततः संस्थागत कार्य भी व्यक्तियों की प्रतिभा, क्षमता, कार्य के प्रति निष्ठा तथा समर्पण-भावना से ही निष्पन्न होता है, अतः संस्थागत शोधकार्यों का परिचय देने के प्रसंग में अनेक शोध-विद्वानों तथा उनके कार्य का परिचय भी अनायास ही आ जायगा। सर्वप्रथम डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर ने शोध-विभाग की स्थापना १६१७ ई० में की और पं० भगवद्दत्त को इस विभाग का अध्यक्ष बनाया। १६३४ ई० तक पण्डित भगवद्दत्त इस शोध-कार्य के संचालक रहे। उनके कॉलेज से पृथक् होने पर पण्डित विश्वबन्धु ने शोध-निदेशक का कार्य किया। शोधविभाग का पुस्तकालय 'लालचन्द लाइब्रेरी' के नाम से प्रसिद्ध था जिसमें संस्कृत की सहस्रों दुर्लभ पुस्तकें संगृहीत थीं। देश-विभाजन के पश्चात् यह पुस्तकालय होशियारपुर के साधुआश्रम में ले आया गया। आज यह पुस्तकालय पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा संचालित विश्वेश्वरानन्द पुस्तकालय का ही एक अंग है। डी. ए. वी. कॉलेज शोध-विभाग के अन्तर्गत एक संस्कृत ग्रन्थमाला का प्रकाशन किया गया था। इसके अन्तर्गत निम्न चौदह ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ—

१. अथर्ववेदीय पंचपटलिका	सम्पादक पण्डित भगवद्दत्त	१६७७ वि०
२. ऋग्वेद पर व्याख्यान	पण्डित भगवद्दत्त लिखित	१६७७ वि०
३. जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण	प्रोफेसर रामदेव सम्पादित	१६२७ ई०
४. दन्त्योष्ठ्यविधि	सं० पण्डित रामगोपाल शास्त्री	१६२१ ई०
५. अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा	सम्पादक पण्डित भगवद्दत्त	१६२१ ई०

६.	अथर्ववेदीय बृहत् सर्वानुक्रमणिका	सं० पण्डित रामगोपाल शास्त्री	१९२२ ई०
७.	वाल्मीकीय रामायण के बाल, अयोध्या तथा अरण्यकाण्ड	(काश्मीरी संस्करण)	
८.	वैदिक कोष	पण्डित हंसराजप्रणीत; इसकी विद्वत्तापूर्ण भूमिका पण्डित भगवद्दत्त ने लिखी थी।	१९२६ ई०
९.	काठक गृह्यसूत्र		
१०.	ऋग्वेद-भाष्य	(उद्गीथार्य प्रणीत—मण्डल १० सूक्त ५ से ८३ पर्यन्त)	
११.	वैदिक वाङ्मय का इतिहास (द्वितीय और तृतीय भाग)	पण्डित भगवद्दत्त प्रणीत	
१२.	चारायणीय शाखा मन्त्रार्षाध्याय	सम्पादक पण्डित भगवद्दत्त	
१३.	अथर्व काव्यम्		
१४.	संस्कृत साहित्य का इतिहास	प्रोफेसर वेदव्यास लिखित।	

देश-विभाजन के पश्चात् डी० ए० वी० कॉलेजों की संख्या तो बढ़ी है, किन्तु उनमें शोधकार्य की कहीं भी व्यवस्था नहीं की जा सकी।

विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, होशियारपुर—आर्यसमाज के प्रसिद्ध संन्यासी-युगल स्वामी नित्यानन्द तथा स्वामी विश्वेश्वरानन्द ने वैदिक कोश के निर्माण का कार्य आरम्भ किया था। १९०३ ई० में इन संन्यासियों ने काश्मीर के गुलमर्ग नामक स्थान में बैठकर वैदिककोश-विषयक अपनी योजना को अन्तिम रूप दिया। इस योजना को पूरा करने के लिए बड़ौदा के संस्कृत-प्रेमी नरेश महाराजा सर सयाजीराव गायकवाड़ ने १७५०० रु० का अनुदान दिया था। १९०८ ई० से १९१० ई० तक शिमलास्थित शान्तकुटी में निवास करते हुए स्वामी नित्यानन्द व स्वामी विश्वेश्वरानन्द ने चारों वेदों की वर्णानुक्रम से शब्दानुक्रमणिका तैयार की और उसे चार भागों में प्रकाशित किया। १९१४ ई० में स्वामी नित्यानन्द का बम्बई में स्वर्गवास हो गया परन्तु स्वामी विश्वेश्वरानन्द ने वैदिक कोश के कार्य को जारी रक्खा। १९२३ ई० में वैदिक कोश निर्माण तथा वैदिक अनुसंधान-विषयक अपनी योजना को स्वामी विश्वेश्वरानन्द ने लाहौर के आर्य नेताओं—रायबहादुर मूलराज तथा महात्मा हंसराज के समक्ष रक्खा और उनकी सम्मति से कोश के कार्य को दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय के आचार्य पण्डित विश्वबंधु को सौंप दिया। जनवरी १९२४ ई० को विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान की स्थापना हुई और पण्डित विश्वबन्धु उसके अवैतनिक निदेशक बनाये गये। १९३४ ई० के मई मास में पं० विश्वबन्धु ब्राह्म महाविद्यालय तथा विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, दोनों के अध्यक्ष-पद पर कार्य करते रहे, किन्तु १ जून १९३४ ई० को इन्होंने ब्राह्ममहाविद्यालय की सेवा से अवकाश ले लिया और विश्वेश्वरानन्द संस्थान के साथ-साथ डी० ए० वी० कालेज लाहौर के शोधविभाग तथा तत्सम्बद्ध लालचन्द पुस्तकालय का कार्य देखते रहे।

२३ नवम्बर १९२४ ई० को संस्थान के संस्थापक स्वामी विश्वेश्वरानन्द की मृत्यु हो गयी। उन्होंने अपने जीवनकाल में ही लगभग ढाई लाख रुपयों की सम्पत्ति का

एक न्यास बना दिया था और उसी को वैदिक कोश को पूरा करने का काम सौंपा। इस न्यास में रायबहादुर रलाराम, स्वामी सर्वदानन्द, महात्मा नारायण स्वामी आदि प्रख्यात आर्यसमाजी तो थे ही, महामना मदनमोहन मालवीय जैसे उदार सनातनधर्मी नेता भी थे। कालान्तर में विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान सोसाइटी का गठन किया गया जो १९३६ ई० में पंजीकृत संस्था के रूप में निर्मित हुई। तब से शोध-संस्थान का संचालन उक्त सोसाइटी करती रही है। विगत कई वर्षों से इस संस्था का संचालन डी० ए० वी० कालेज कमेटी के अधिकारी करते हैं। रायबहादुर लाला दुर्गादास, रायबहादुर लाला मूलराज तथा महात्मा नारायण स्वामी आदि आर्य नेता इसके संस्थापक सदस्य थे।

देश-विभाजन के पश्चात् संस्थान के कार्यालय होशियारपुर स्थित साधुआश्रम के परिसर में ले आये गये। यह स्थान इस संस्थान को श्री धनीराम भल्ला ने प्रदान किया था। विगत वर्षों में संस्थान के कार्यों में जो उल्लेखनीय प्रगति हुई है, उसका मुख्य श्रेय इसके दिवंगत संचालक पण्डित विश्वबन्धु के परिश्रम, अध्यवसाय तथा लगन को तो है ही, साथ ही देश-विदेश से प्राप्त आर्थिक सहायता के कारण भी संस्थान की गतिविधियाँ प्रवृद्धमान रहीं। यह दूसरी बात है कि पण्डित विश्वबन्धु के आर्यसमाजी सिद्धान्तों से किनारा कर लेने के पश्चात् इस संस्थान का आर्यसमाजी चरित्र ही समाप्त हो गया और इसके माध्यम से किया जानेवाला अधिकांश शोध-कार्य पश्चिमी प्रक्रिया का अनुसरण करने लगा। कालान्तर में इसी परिसर में पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा एम० ए० संस्कृत तथा शोधकार्य की कक्षायें, शोध-विभाग तथा पुस्तकालय आदि की इकाइयाँ स्थापित हुईं और ये विभाग उक्त संस्थान से स्वतन्त्र रहकर कार्य करने लगे। इन पंक्तियों के लेखक को विश्वविद्यालय की ओर से १९८२-८३ ई० के वर्ष में विश्वविद्यालय द्वारा संचालित विश्वेश्वरानन्द-विश्वबन्धु प्राच्यविद्या तथा संस्कृत-संस्थान के संचालक का अतिरिक्त कार्यभार सौंपा गया था। संस्थान के परिसर में स्थित विश्वेश्वरानन्द पुस्तकालय (जो अब पंजाब विश्वविद्यालय के अधीन है) शोध में सहायक संदर्भ-ग्रन्थों का एक विशाल भण्डार है। इसी पुस्तकालय में लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय का ग्रन्थ-संग्रह भी समाविष्ट किया गया है।

गुरुकुल काँगड़ी का शोध-विभाग—गुरुकुल काँगड़ी में शोध-विभाग की स्थापना १९२० ई० में हुई। यहाँ वैदिक तथा प्राचीन इतिहास-विषयक अनुसंधान का कार्य वर्षों तक चलता रहा। आचार्य रामदेव ने 'भारत का प्राचीन इतिहास' तीन भागों में लिखा, जिसमें महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्राचीन इतिहास-विषयक मन्तव्यों की पुष्टि की गयी थी। आचार्यजी का 'पुराणमत पर्यालोचन' ग्रन्थ भी प्राचीन भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। आर्यसमाज के शीर्षस्थ विद्वान् यथा पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार, पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार, पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार, पं० धर्मदेव विद्यावाचस्पति तथा स्वामी ब्रह्ममुनि आदि गुरुकुल के पुस्तकालय से ही अपने शोधकार्य में सहायता लेते थे। डॉक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार, पण्डित जयचन्द विद्यालंकार, डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार तथा प्रो० हरिदत्त वेदालंकार आदि विद्वानों ने जो अनेक मौलिक व उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे, उनकी सामग्री भी प्रधानतया गुरुकुल के पुस्तकालय से ही प्राप्त की गई थी। गुरुकुल के शोध-विभाग से स्वाध्याय-मंजरी शीर्षक एक ग्रन्थमाला का प्रकाशन आरम्भ हुआ जिसमें अनेक उच्चकोटि के ग्रन्थ

निकले। गुरुकुल काँगड़ी को भारत सरकार से विश्वविद्यालय की मान्यता मिल जाने पर उसके शोध-विभाग का पुनर्गठन किया गया और पण्डित भगवद्दत्त वेदालंकार की अध्यक्षता में वैदिक शोध का कार्य नवीन उत्साह के साथ आरम्भ हुआ। पण्डित भगवद्दत्त ने इस पद पर कार्य करते हुए वैदिक देवताओं तथा वैदिक ऋषियों पर गम्भीर अनुसंधान किया जो उनके ग्रन्थों—विष्णुदेवता, ऋषि-रहस्य, वैदिक अध्यात्म-विद्या, वैदिक स्वप्नविज्ञान में प्रतिफलित होता है। इस पद से पृथक् होने के पश्चात् भी उनका वैदिक अनुसंधान यथापूर्व गतिशील है, जो उनके विगत वर्षों में प्रकाशित 'सविता देवता' 'बृहस्पति देवता' तथा 'रुद्रदेवता' शीर्षक ग्रन्थों से ज्ञात होता है। इसी काल में गुरुकुल काँगड़ी के तत्कालीन आचार्य डॉ० रामनाथ वेदालंकार ने वैदिक शोध के क्षेत्र में अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें से कतिपय गुरुकुल द्वारा ही प्रकाशित भी किये गये। खेद है कि विगत वर्षों से गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में शोधकार्य इच्छित प्रगति नहीं कर रहा है। तथापि वहाँ के पुस्तकालय से अनेक शोध-विद्वान् लाभ उठाते हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब का शोधकार्य—देश-विभाजन पूर्व के युग में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, देश का सर्वाधिक सुसंगठित एवं शक्तिशाली आर्य संगठन था। इसके तत्त्वावधान में गुरुदत्त भवन में उपदेशक विद्यालय तथा प्रकाशन-विभाग संचालित होते थे। इस शताब्दी के प्रथम दशक में पण्डित शिवशंकर शर्मा ने सभा के आदेशों से जो शोधकार्य किया, वह ओंकार-निर्णय, त्रिदेव-निर्णय, वैदिक इतिहासार्थ-निर्णय, जाति-निर्णय और श्राद्धनिर्णय शीर्षक पाँच ग्रन्थों की एक शृंखला के रूप में प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात् स्वामी वेदानन्दतीर्थ, पण्डित चमूपति, पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार आदि आर्य विद्वानों को भी सभा के मार्गदर्शन में शोध-कार्य करने का अवसर मिलता रहा। इन विद्वानों के अधिकांश ग्रन्थों का प्रकाशन पंजाब आर्यप्रतिनिधि सभा द्वारा ही हुआ था।

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर, बहालगढ़ (सोनीपत)—२६ जनवरी १९२८ ई० को अमृतसर के सुप्रसिद्ध कागज-व्यवसायी श्री रामलाल कपूर का निधन हो गया। उनकी स्मृति में उनके चार पुत्रों—सर्वश्री रूपलाल, हंसराज, ज्ञानचन्द और प्यारेलाल ने मिलकर अपने पिता की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए एक धर्मार्थ ट्रस्ट—"श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट" की स्थापना की। इसका उद्देश्य था—प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, रक्षा एवं प्रचार तथा अन्य विविध उपायों से जनता की सेवा। ट्रस्ट के प्रथम प्रधान महात्मा हंसराज रहे। उनके पश्चात् क्रमशः पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पण्डित भगवद्दत्त, पण्डित रामगोपाल शास्त्री भी अध्यक्ष-पद पर रहे। वर्तमान में पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक इस पद पर हैं। ट्रस्ट के माध्यम से वैदिक वाङ्मय का अनुसंधान एवं प्रकाशन, आर्ष पाठविधि से पाणिनि महाविद्यालय का संचालन, वैदिक साहित्य का विशाल पुस्तकालय, मासिक वेदवाणी का प्रकाशन तथा ग्रन्थों के मुद्रण के लिए वैदिक स्वरों की छपाई की सुविधा वाले प्रेस का संचालन जैसी प्रवृत्तियाँ जारी हैं। रामलाल कपूर ट्रस्ट ने वैदिक साहित्य से सम्बन्धित सैकड़ों ग्रन्थों का सम्पादन एवं प्रकाशन कर आर्यसमाज के साहित्यभण्डार की वृद्धि की है। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक के लगभग सभी ग्रन्थ यहीं से छपे हैं। वेद, वेदांग तथा स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों के सम्पादित संस्करणों को प्रकाशित कर ट्रस्ट ने महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कार्य किया है।

यहाँ से प्रकाशित ग्रन्थ, वेदभाष्य, शाखा और संहिता, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, शिक्षा, कल्पसूत्र, रामायण, कर्मकाण्ड, संस्कृत शिक्षण तथा आर्यसमाज के विविध सैद्धान्तिक पक्षों से सम्बन्धित हैं। पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक के अतिरिक्त डॉ० विजयपाल शास्त्री तथा पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा भी ट्रस्ट के शोध एवं अन्वेषण-कार्य में अपना योगदान देते हैं।

विरजानन्द वैदिक संस्थान, गाजियाबाद—इसकी स्थापना स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने लाहौर में की थी। उनके दिवंगत हो जाने पर स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती ने इसका संचालन किया। संस्थान को पण्डित उदयवीर शास्त्री जैसे दर्शनों के महान् विद्वान् की सेवायें चिरकाल से प्राप्त रही हैं। संस्थान के तत्त्वावधान में ही पण्डित उदयवीरजी ने छहों दर्शनों के उत्कृष्ट भाष्य लिखे हैं। उनका सांख्यदर्शन-विषयक शोध-पूर्ण अध्ययन दर्शन-जगत् में अद्वितीय माना जाता है। सांख्यदर्शन का इतिहास तथा वेदान्तदर्शन का इतिहास उनके अन्य खोजपूर्ण ग्रन्थ हैं, जिनमें इन दोनों दार्शनिक धाराओं की ऐतिहासिक गवेषणा की गई है। विरजानन्द शोध संस्थान की स्थापना स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने अपने साथियों—स्वामी स्वतन्त्रानन्द तथा स्वामी अनुभवानन्द के सहयोग से १९३८ ई० में लाहौर में ही कर दी थी। देश-विभाजन के पश्चात् वे उसे प्रथम ज्वालापुर और उसके बाद दिल्ली के निकटस्थ खेड़ा खुर्द नामक ग्राम से संचालित करते रहे। अन्ततः इसे गाजियाबाद स्थित संन्यासआश्रम में ले आया गया। तब से यह संस्थान यहीं पर कार्यरत है।

स्वाध्याय मण्डल (पारडी)—पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर द्वारा स्थापित स्वाध्यायमण्डल ने वैदिक साहित्य के अन्वेषण, सम्पादन तथा प्रकाशन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी है। यहाँ से प्रकाशित वेदों की मूल संहिताओं के बारे में विद्वानों की यह धारणा है कि प्रो० मैक्समूलर द्वारा प्रकाशित ऋग्वेद-संहिता की अपेक्षा स्वाध्याय-मण्डल का संस्करण अधिक शुद्ध एवं त्रुटिरहित है। पण्डित सातवलेकर का समस्त वैदिक अन्वेषण स्वाध्याय-मण्डल द्वारा ही प्रकाशित हुआ है। वेदों के द्रष्टा ऋषियों तथा मन्त्रवर्णित देवताओं के क्रम से सातवलेकरजी ने दैवत संहिता तथा आर्ष संहिताओं का सम्पादन किया। यहीं से चारों वेदों के हिन्दी, मराठी तथा गुजराती भाष्य भी छपे तथा अनेक वैदिक सूचियाँ और अनुक्रमणियाँ तैयार की गई हैं। ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत तथा गीताविषयक भाष्य, टीका एवं व्याख्या-ग्रन्थ भी यहाँ से छपे हैं। सातवलेकरजी के निधन के पश्चात् स्वाध्याय-मण्डल का कार्य समाप्त-सा हो गया है।

भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, अजमेर—इस संस्थान की स्थापना पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के अनुसंधान एवं प्रकाशन को लक्ष्य में रखकर की थी। पण्डित युधिष्ठिरजी के अनेक ग्रन्थ यहीं से छपे। कालान्तर में जब मीमांसकजी रामलाल कपूर ट्रस्ट की प्रवृत्तियों में अपना पूर्ण समय देने लगे तो प्रतिष्ठान को पृथक् रूप से चलाना असम्भव जानकर उसे बन्द कर दिया गया।

हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर—इसकी स्थापना गुरुकुल झज्जर के अन्तर्गत २८ फरवरी १९६० ई० को हुई। वैदिक साहित्य के प्रकाशन के साथ-साथ संस्थान ने संस्कृत एवं वैदिक साहित्य की शोध के कार्य को भी अपनाया। इसके अतिरिक्त प्राचीन इतिहास तथा पुरातत्त्व-विषयक खोज के कार्य को भी संस्थान ने प्राथ-

मिकता दी है। पातंजल महाभाष्य का प्रदीप एवं उद्योत शीर्षक टीकाओं तथा विमर्श नामक टिप्पणी के साथ पाँच भागों में सम्पादन और प्रकाशन संस्थान की महती उपलब्धि हैं। यहाँ से स्वामी ओमानन्द सरस्वती के इतिहास एवं पुरातत्त्व-विषयक ग्रन्थों का भी प्रकाशन हुआ है। स्वामीजी द्वारा लिखित 'हरयाणा के मुद्रांक' सदृश ग्रन्थ पूर्णतया मौलिक हैं, और उनमें प्राचीन इतिहास की वह सामग्री उपलब्ध करायी गई है, जो अन्यत्र दुर्लभ है। गुरुकुल झज्जर स्थित पुरातत्त्व संग्रहालय में प्राचीन मूर्तियाँ, सिक्के, ग्रन्थ तथा अन्य पुरातन वस्तुओं का एक विशाल संग्रह भी है। गत वर्षों में हरयाणा-साहित्य संस्थान से जो मौलिक ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, उनकी संख्या दर्जनों में है।

महर्षि दयानन्द स्मारक अनुसंधानविभाग टंकारा (सौराष्ट्र)—आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द के जन्मस्थान टंकारा स्थित दयानन्द स्मारक ट्रस्ट ने वैदिक अनुसंधान-कार्य के लिए एक शोधविभाग की स्थापना १९५९ ई० में की और पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक को इसके अध्यक्ष-पद पर प्रतिष्ठित किया। शोधकार्य में उनकी सहायता के लिए पण्डित धर्मदेव निरुक्ताचार्य तथा स्वामी भूमानन्द सरस्वती को नियुक्त किया गया। पण्डित मीमांसकजी अपने दुर्बल स्वास्थ्य और टंकारा के जलवायु की प्रतिकूलता के कारण इस पद पर अधिक समय तक कार्य नहीं कर पाये, किन्तु स्वल्प अवधि में ही उन्होंने यहाँ से 'ऋषि दयानन्द की पदप्रयोग शैली', यजुर्वेद-भाष्य-संग्रह (सम्पादित) आदि ग्रन्थ तैयार किये जो प्रकाशित भी हुए। सामवेद के भाष्य का भी उपक्रम किया गया जिसका कुछ अंश 'टंकारा पत्रिका' में धारावाही प्रकाशित हुआ।

दयानन्द कालेज़ कानपुर का वैदिक शोध संस्थान—जुलाई १९६२ ई० से डॉ० मुंशीराम शर्मा 'सोम' की देखरेख में दयानन्द कालेज, कानपुर के अन्तर्गत वैदिक-शोध का कार्य प्रारम्भ हुआ। विश्वविद्यालय-अनुदान-आयोग ने भी इस कार्य को मान्यता प्रदान की। इस संस्थान के द्वारा डॉ० मुंशीराम शर्मा द्वारा लिखित कतिपय उच्चकोटि के वैदिक ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है। वैदिक अनुसंधान प्रकाशन के प्रथम ग्रन्थ के रूप में कानपुर में सम्पन्न सर्ववेद-शाखा-सम्मेलन के अवसर पर आर्यसमाज तथा सनातनधर्म के विद्वानों के बीच हुए उस लिखित शास्त्रार्थ का विवरण प्रकाशित किया गया जिसका विषय था 'वेद-संज्ञा-विचार', अर्थात् क्या ब्राह्मणग्रन्थों को भी वेद संज्ञा प्राप्त है?

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा का शोध विभाग—आर्यसमाज के सर्वोच्च संगठन सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के अन्तर्गत शोध-विभाग की विधिवत् स्थापना इस शताब्दी के सातवें दशक में हुई और आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री को इसका अध्यक्ष नियुक्त किया गया। सभा के इस शोध-विभाग द्वारा पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री के द्वारा लिखित अनेक हिन्दी एवं अंग्रेजी ग्रन्थों का प्रकाशन भी हुआ। इस शोध-विभाग ने अनेक अनुसंधान-विद्वानों का मार्गदर्शन भी किया है।

परोपकारिणी सभा, अजमेर—स्वामी दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा स्वामीजी के ग्रन्थों की अधिकृत प्रकाशक संस्था है। इसका अपना मुद्रणालय, ग्रन्थ-विक्री-विभाग तथा बृहत् पुस्तकालय भी है। यद्यपि इस संस्था का कोई व्यवस्थित शोध-विभाग नहीं है, किन्तु इन पंक्तियों के लेखक के इस शती के आठवें दशक में अजमेर में रहने तथा उस सभा के संयुक्त मन्त्री-पद पर चुने जाने के कारण यहाँ

से शोधकार्य का अनौपचारिक संचालन किया जाता रहा। १९७० ई० से १९८० ई० तक की अवधि में अनेक शोधकर्त्ता विद्वान् अजमेर आये और उन्होंने सभा के पुस्तकालय तथा संयुक्त मन्त्री (डॉ० भवानीलाल भारतीय) के परामर्श का लाभ उठाया। डॉ० चन्द्रभानु सोनवणे वेदालंकार, श्री जगदीशमित्र शर्मा, प्रिंसिपल श्रीराम शर्मा, डॉ० जॉर्डन्स, श्री मदनमोहन जावलिया, श्री पीयूष गुलेरी, श्री राधेश्याम रूनवाल, कु० सरस्वती पण्डित, कु० सुशीला आर्या आदि शोधकर्त्ताओं के नाम इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। उपर्युक्त विद्वानों में श्री जगदीशमित्र शर्मा आर्यसमाज के इतिहास-लेखन विषयक तथ्यों का संग्रह करने तथा प्रिंसिपल श्रीराम शर्मा और डॉ० जॉर्डन्स स्वामी दयानन्द-विषयक ग्रन्थों के लेखन में उपयोगी सामग्री के संग्रह हेतु आये थे। अवशिष्ट विदुषियों एवं विद्वानों ने अपने पी-एच० डी० कार्य हेतु सहायता ली।

आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली—स्वर्गीय श्री दीपचन्दजी आर्य द्वारा स्थापित आर्ष साहित्य-प्रचार ट्रस्ट आर्यसमाज का उच्चकोटि का प्रकाशन संस्थान तो है ही, इस संस्था के द्वारा वैदिक और आर्ष ग्रन्थों के सम्बन्ध में शोध-कार्य भी सम्पन्न हुआ है। स्वामी दयानन्द के अनेक ग्रन्थों का सम्पादन, वेद की अनेक संहिताओं का मुद्रण तथा चतुर्वेदमंत्रानुक्रमसूची, यजुर्वेद देवतानुक्रमणी तथा षड्दर्शन-पदानुक्रमणिका जैसे उपयोगी ग्रन्थों का प्रकाशन भी ट्रस्ट ने शोधार्थियों के लिए किया है। इस ट्रस्ट के माध्यम से डॉ० सुदर्शनदेव शास्त्री तथा पण्डित राजवीर शास्त्री द्वारा तैयार किये गये अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन भी हुआ। मनुस्मृति का एक विस्तृत आलोचनात्मक संस्करण जो प्रो० सुरेन्द्रकुमार ने तैयार किया है, ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

विश्वविद्यालय स्तर का शोधकार्य—आजकल उच्चस्तरीय शोध के लिए भारतीय विश्वविद्यालयों में नवीनतम साधन एवं सुविधायें उपलब्ध कराई जाती हैं। आर्यसमाज से सम्बन्धित विषयों पर आज भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों में अनेकत्र शोधकार्य सम्पन्न हो रहे हैं। यहाँ उन कार्यों का संक्षिप्त विवरण दिया जा रहा है।

पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ के अन्तर्गत दयानन्द चेयर फॉर वैदिक स्टडीज—भारत के प्रख्यात शिक्षण संस्थान पंजाब विश्वविद्यालय के अन्तर्गत दयानन्द चेयर फॉर वैदिक स्टडीज की स्थापना १९७६ ई० में हुई। इसके प्रथम अध्यक्ष तथा प्रोफेसर डॉ० रामनाथ वेदालंकार थे, जिन्होंने गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष-पद से अवकाश ग्रहण करने के अनन्तर इस पद का कार्यभार संभाला। डॉ० वेदालंकार का कार्यकाल १९७९ ई० तक रहा और इस अवधि में उन्होंने वैदिक-शब्दार्थ विचार, वेदार्थ की प्रक्रियायें और स्वामी दयानन्द तथा दयानन्द-विचार-कोश (भाग १) इन तीन ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनके कार्यकाल में डॉ० आनन्दकुमार, डॉ० विक्रमकुमार तथा डॉ० बी० डी० धवन ने वैदिक विषयों पर पी-एच० डी० हेतु शोधकार्य सम्पन्न किये।

८ दिसम्बर १९८० ई० को इन पंक्तियों के लेखक (डॉ० भवानीलाल भारतीय) ने दयानन्द शोधपीठ के अध्यक्ष-पद को ग्रहण किया। पाँच वर्षों की इस अवधि में डॉ० भारतीय ने स्वामी दयानन्द के दार्शनिक सिद्धान्त तथा दयानन्दसाहित्यसर्वस्व का सम्पादन, विभाग के तत्त्वावधान में किया तथा आर्यसमाज के पत्र और पत्रकार, मीमांसादर्शन का हिन्दी अनुवाद, श्रीकृष्णचरित (संशोधित संस्करण); श्यामजी कृष्ण

वर्मा (जीवन-चरित), नवजागरण के पुरोधा—दयानन्द सरस्वती, दयानन्द शास्त्रार्थ-संग्रह (द्वितीय संस्करण), पूना-प्रवचन (द्वितीय संस्करण), आर्यसमाज के शास्त्रार्थ महारथी (द्वितीय संस्करण), आर्यसमाज-विषयक साहित्य-परिचय आदि ग्रन्थों का लेखन व सम्पादन किया।

सम्प्रति इस विभाग के द्वारा निम्न शोध-योजनाओं को क्रियान्वित किया जा रहा है—

१. दयानन्द विचारकोश (भाग २)—इसके अन्तर्गत स्वामी दयानन्द के धर्म, दर्शन तथा वेद-सम्बन्धी विचारों का संग्रह किया जायेगा।

२. शतपथ ब्राह्मण का आलोचनात्मक अध्ययन—यजुर्वेदीय माध्यन्दिन शतपथ ब्राह्मण की अन्तरंग परीक्षा के अनन्तर इस ग्रन्थ के ऐतिहासिक पक्ष, इसके प्रतिपाद्य विषयों की मीमांसा तथा वेदार्थ में इस ब्राह्मण की उपयोगिता जैसे पहलुओं पर विस्तार से प्रकाश डाला जायगा। यह कार्य इस विभाग के शोध-सहायक तथा शतपथ ब्राह्मण के मर्मज्ञ विद्वान् डॉ० वेदपाल वर्णी कर रहे हैं।

३. आर्यसमाज साहित्य सूची, आर्य साहित्यकार कोष, भारतीय नवजागरण के आन्दोलनों का विश्लेषणात्मक अध्ययन तथा कुछ अन्य शोध-योजनाएँ इस विभाग के अन्तर्गत चल रही हैं।

दयानन्द शोधपीठ के तत्त्वावधान में लगभग दस शोध छात्र विभिन्न विषयों पर शोधकार्य में संलग्न हैं। डॉक्टर वेदपाल वर्णी, डॉक्टर राजपालसिंह तथा डॉक्टर धर्मदेव अपने शोध-प्रबन्धों को पूरा करने के पश्चात् पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं। इसी पीठ ने स्वामी दयानन्द के दर्शन पर १९८१ ई० में तथा 'वैदिक व्याख्या के विविध सम्प्रदाय' विषय पर १९८२ ई० में विद्वद्-गोष्ठियाँ रक्खीं तथा डॉक्टर फतहसिंह की वेदविषयक व्याख्यानमाला का आयोजन भी किया। इस विभाग का अपना पुस्तकालय भी है जिसमें वैदिक वाङ्मय की विभिन्न शाखा-प्रशाखाओं से सम्बन्धित लगभग १२०० ग्रन्थ संगृहीत हैं। विभागाध्यक्ष का निजी पुस्तकालय भी शोधार्थियों के उपयोग के लिए उपलब्ध है जिसमें स्वामी दयानन्द एवं आर्यसमाज-विषयक दुर्लभ ग्रन्थ तथा पुरानी पत्र-पत्रिकाओं का विशाल संग्रह है।

दयानन्द शोध-पीठ, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र—इस शोधपीठ के प्रथम दयानन्द प्रोफेसर डॉक्टर श्रीनिवास शास्त्री थे। इनके ऋषि दयानन्द और वेद, दयानन्द दर्शन—एक अध्ययन, वेदप्रामाण्य मीमांसा तथा ऋषि दयानन्द और वेदनित्यता तथा ऋषि दयानन्द शीर्षक ग्रन्थ इस शोधपीठ से प्रकाशित हुए हैं। वर्तमान दयानन्द प्रोफेसर डॉक्टर कपिलदेव शास्त्री वेद और व्याकरण के प्रखर विद्वान् हैं। ऋग्वेद में अग्नि तत्त्व शीर्षक उनका प्रौढ़ एवं पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशनाधीन है। इस पीठ से अनेक छात्र शोध-कार्य सम्पन्न कर चुके हैं और अनेक कर रहे हैं। कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय की दयानन्द शोधपीठ वहाँ के संस्कृतविभाग के अन्तर्गत ही कार्य करती है।

अन्य विश्वविद्यालयों में आर्यसमाज विषयक शोधकार्य—उत्तर भारत के अनेक विश्वविद्यालयों ने वैदिक साहित्य, (आर्यसमाज के दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए) स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व एवं विचारों तथा आर्यसमाज से सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर शोधकार्य सम्पन्न कराये हैं तथा करा भी रहे हैं। ऐसे शोध-प्रबन्धों का प्रासंगिक

उल्लेख हम स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाज-विषयक अध्यायों में कर चुके हैं। अतः उनकी पुनरावृत्ति अनावश्यक है। यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि अनेक विश्वविद्यालयों में आर्यसमाजी विचारधारा में दीक्षित प्रोफेसरों तथा प्राध्यापकों की उपस्थिति के कारण उपर्युक्त प्रकार की शोध के लिए अधिक अवकाश तथा सुविधाएँ रहती हैं। उदाहरणार्थ, जम्मू विश्वविद्यालय में डॉक्टर (श्रीमती) वेदकुमारी (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग), गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में प्रोफेसर रामप्रसाद व डॉक्टर सत्यव्रत राजेश (वेदविभाग) तथा डॉक्टर जयदेव वेदालंकार (दर्शन विभाग), दिल्ली विश्वविद्यालय में डॉक्टर कृष्ण-लाल (प्रोफेसर, संस्कृत विभाग), महर्षि दयानन्द विश्वविद्यालय रोहतक में डॉक्टर जयदेव विद्यालंकार तथा डॉक्टर यज्ञवीर, राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर में डॉक्टर सुधीरकुमार गुप्त (अवकाशप्राप्त प्रोफेसर), कुमायूँ विश्वविद्यालय में डॉक्टर जयदत्त शास्त्री उप्रेती आदि वे प्रोफेसर तथा प्राध्यापक हैं जो स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों एवं विचारों से सम्बन्धित वैदिक शोध को सदा प्रोत्साहित करते हैं।

आर्यसमाज-विषयक शोधकार्य से जुड़े विदेशी विद्वान्—अमेरिका के अनेक विश्वविद्यालयों से आर्यसमाज-विषयक शोधकार्य सम्पन्न हुए हैं। इनका यथाप्रसंग हम उल्लेख कर चुके हैं। आस्ट्रेलिया के राष्ट्रीय विश्वविद्यालय कैनबरा के प्रोफेसर डॉक्टर जे० टी० एफ० जॉर्डन्स तथा अमेरिका के प्रोफेसर केनेथ जोन्स का नाम इस प्रसंग में उल्लेख योग्य है। डॉ० जॉर्डन्स ने स्वामी दयानन्द के जीवन और विचारों पर शोध-ग्रन्थ लिखने से पूर्व भारत के प्रमुख आर्यसमाजी पुस्तकालयों में उपलब्ध सामग्री की छानबीन की तथा भारत के आर्यसमाजी शोध विद्वानों से भेंट कर विषय से सम्बद्ध उनके विचारों को जाना। तत्पश्चात् उन्होंने लंदन-स्थित ब्रिटिश म्यूजियम एवं इण्डिया ऑफिस स्थित पुस्तकालयों से भी प्रासंगिक सामग्री एकत्र की। उनकी द्वितीय पुस्तक स्वामी श्रद्धानन्द विषयक थी, जो १९८१ ई० में प्रकाशित हुई। इसकी तैयारी के लिए तो डॉक्टर जॉर्डन्स लगभग ६ मास तक भारत में ही रहे और सार्वदेशिक सभा, आर्यसमाज नया बाँस, दिल्ली आदि के पुस्तकालयों के अतिरिक्त प्रोफेसर राजेन्द्र 'जिज्ञासु' के व्यक्तिगत पुस्तक-संग्रह से भी अभीष्ट सहायता ली।

डॉक्टर केनेथ जोन्स ने पंजाब में आर्यसमाज की स्थापना (१८७७ ई०) से लेकर इस शताब्दी के आरम्भ तक के इतिहास को अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से अपने ग्रन्थ 'दि आर्यधर्म' में प्रस्तुत किया है। यह ग्रन्थ मौलिक सामग्री से परिपूर्ण है, और इसे वैज्ञानिक पद्धति से लिखा गया है। उनका 'दि बिब्लियोग्राफी ऑफ दि आर्यसमाज' शीर्षक शोध-निबन्ध भी उपयोगी जानकारियों से भरपूर है।

आर्यसमाज के शोध पुस्तकालय—यों तो प्रत्येक आर्यसमाज में छोटे-बड़े पुस्तकालय होते हैं और प्रायः यह देखने में आता है कि शोधार्थी को जो आवश्यक ग्रन्थ बड़े पुस्तकालयों में भी नहीं मिलता, वह किसी छोटे कस्बे या नगर की आर्यसमाज के उपेक्षापूर्ण स्थिति में रक्खे गये पुस्तकालय में उपलब्ध हो जाता है। इसका कारण यह है कि इन पुस्तकालयों की स्थापना के काल में ही उस समय के प्रकाशित अनेक ग्रन्थ इनमें सुरक्षित कर लिये गये थे, जो आज अन्यत्र चाहे दुर्लभ ही क्यों न हों, ऐसे संग्रहों में प्रायः मिल ही जाते हैं। देश-विभाजन के पूर्व लाहौर स्थित गुरुदत्त भवन का पुस्तकालय तथा डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर का लालचन्द पुस्तकालय आर्यसमाज-विषयक साहित्य के

दुर्लभ भण्डार थे। देश के बँटवारे के साथ-ही-साथ गुरुदत्त भवन का पुस्तकालय तो धर्मान्ध लोगों द्वारा अग्नि की भेंट कर दिया गया, किन्तु लालचन्द पुस्तकालय को पण्डित विश्वबन्धु येन-केन-प्रकारेण सुरक्षित रूप से भारत में ले आये। यही पुस्तकालय आजकल होशियारपुर में विश्वेश्वरानन्द-पुस्तकालय के एक अंगरूप में सुरक्षित है।

परोपकारिणी सभा अजमेर के पुस्तकालय में स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों की पाण्डुलिपियों के अतिरिक्त उनके सभी ग्रन्थों के वैदिक यन्त्रालय द्वारा प्रकाशित अनेक संस्करण तथा मुन्शी समर्थदान, पण्डित चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा कुँवर चाँदकरण शारदा के ग्रन्थसंग्रह भी सुरक्षित हैं। इस ग्रन्थालय में लगभग १० सहस्र पुस्तकों का संग्रह है। शोधकार्य की दृष्टि से गुरुकुल काँगड़ी, गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर, गुरुकुल वृन्दावन, गुरुकुल झज्जर, रामलाल कपूर ट्रस्ट तथा सार्वदेशिक सभा के पुस्तकालय भी महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें सहस्रों अलभ्य ग्रन्थ संगृहीत हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य विश्वश्रवा, स्वामी जगदीश्वरानन्द तथा आर्यसमाज के अनेक विद्वानों के व्यक्तिगत पुस्तकालयों में भी शोधोपयोगी प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। इसी संदर्भ में इन पंक्तियों के लेखक का व्यक्तिगत पुस्तक-संग्रह भी उल्लेखनीय है। इस पुस्तकालय में स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों तथा उनके सम्बन्ध में लिखित ग्रन्थों की एक विशिष्ट मंजूषा है। स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के विभिन्न भाषाओं में अनुवाद, टीका, भाष्य आदि के अतिरिक्त इस संग्रह में स्वामीजी के जीवनचरित (प्राय: सभी भाषाओं में तथा विभिन्न लेखकों द्वारा लिखित) बहुत बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं। आर्य सिद्धान्त, आर्य पुरुषों के जीवतचरित, खण्डनमण्डन आदि आर्यसामाजिक ग्रन्थों के साथ-साथ वेद, उपनिषद्, दर्शन, रामायण, महाभारत आदि शास्त्रीय ग्रन्थ भी पर्याप्त संख्या में हैं। एक पृथक् आलमारी आर्यसामाजिक पत्र-पत्रिकाओं की है। इसमें स्वामी दयानन्द के जीवनकाल में प्रकाशित पत्रों की संचिकाओं के अतिरिक्त परोपकारी, टंकारा पत्रिका, वेदवाणी, गुरुकुल पत्रिका तथा आर्यसमाज के प्राय: सभी महत्त्वपूर्ण नये-पुराने पत्रों की फाइलें सुरक्षित हैं। अनेक दुर्लभ ग्रन्थों की फोटो-प्रतियाँ कराकर उन्हें सुरक्षित कर लिया गया है।

शोधविषयक पत्र-पत्रिकाएँ—आर्यसमाज की पत्र-पत्रिकाओं में बहुत कम ऐसी हैं जो शोधार्थियों के दृष्टिकोण से प्रकाशित होती हैं। वर्षों पूर्व सार्वदेशिक सभा ने 'वैदिक अनुसंधान' नामक एक त्रैमासिक शोधपत्रिका का प्रकाशन आरम्भ किया था जो दीर्घजीवी नहीं हो सकी। 'वेदवाणी' ने वेद-विषयक तथा स्वामी दयानन्द-सम्बन्धित शोध-सामग्री को सदा ही प्राथमिकता से प्रकाशित किया है। इसके विशेषांक शोधोपयोगी लेखों से परिपूर्ण होते हैं। इन पंक्तियों के लेखक के सम्पादनकाल में प्रकाशित 'परोपकारी' मासिक स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाज-विषयक पुरातात्त्विक सामग्री से भरपूर होता था। इसके अनेक विशेषांक (आर्यसमाज के शास्त्रार्थ-महारथी, सत्यार्थप्रकाश विशेषांक, पण्डित पद्मसिंह शर्मा विशेषांक) भी शोध की दृष्टि से उपयोगी थे। गुरुकुल पत्रिका भी शोध-विषयक सामग्री छापती रही है।

उन्नीसवाँ अध्याय

भारतीय भाषाओं तथा अंग्रेजी भाषा में प्रणीत आर्य साहित्य

(१) भारतीय भाषाओं का आर्य साहित्य

भाषाएँ तो विचाराभिव्यक्ति का माध्यम ही होती हैं। भारत एक बहुभाषी देश है जहाँ विभिन्न भाषाओं के बोलने वाले लोग निवास करते हैं। यद्यपि संस्कृत भाषा को हमारे देश में सर्वानुमोदित सम्मान प्राप्त है तथा वह विभिन्न भारतीय धर्मों, दर्शनों तथा विचारधाराओं को अभिव्यक्ति प्रदान करती रही है, तथापि इस देश की राष्ट्रभाषा (लोक-भाषा) के रूप में हिन्दी को ही मान्यता मिल सकी है। आर्यसमाज ने अपने विचारों के सार्वत्रिक प्रचार के लिए मुख्यतया हिन्दी के माध्यम को ही ग्रहण किया था। इसका एक लाभदायक परिणाम यह निकला कि उसकी विचारधारा भारत के बहुसंख्यक लोगों के मानस तक पैठ सकी, जबकि अंग्रेजी भाषा में प्रमुखतया ग्रन्थलेखन करने वाली थियोसोफिकल सोसाइटी तथा रामकृष्णमिशन आदि धार्मिक संस्थाओं के विचारों का प्रसार अंग्रेजी पढ़ने और समझने वाले एक सीमित वर्ग तक ही हो सका। इन संस्थाओं ने भारत के जनसामान्य की धड़कन को पहचानने का यत्न तो किया, किन्तु अंग्रेजी को ही वैचारिक आदान-प्रदान का साधन बना लेने के कारण इनकी आवाज भारत के उच्च पठित तथा आभिजात्य वर्ग तक ही पहुँच सकी।

किन्तु आर्यसमाज का साहित्य हिन्दी तक ही सीमित नहीं रहा। जिस युग में आर्यसमाज का आन्दोलन पंजाब तथा उत्तरप्रदेश (तब पश्चिमोत्तरप्रदेश) में गति पकड़ रहा था, तब तक न तो हिन्दी राजकाज की ही भाषा थी और न समाज के उच्च वर्ग में उसे सम्मानित स्थान ही प्राप्त था। शासकों की अंग्रेजी भाषा को सीखने की ललक तो आम हिन्दुस्तानी में थी ही, पंजाब और उत्तरप्रदेश के अधिकांश पठित लोग उर्दू और फारसी को ही सभ्य समाज की भाषाएँ समझते थे। अतः उत्तर भारत में आर्यसमाज की प्रथम पीढ़ी के लेखकों ने उर्दू को अपनाने में संकोच नहीं किया। पण्डित लेखराम, स्वामी दर्शनानन्द तथा पंजाब के अन्य अनेक लेखक साहित्यकारों का सम्पूर्ण कृतित्व ही उर्दू माध्यम से प्रकट हुआ है। इसके साथ ही अंग्रेजी की उपेक्षा करना भी असम्भव था। अंग्रेजी को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर न केवल नव-शिक्षित भारतीयों तक अपने विचारों को पहुँचाना सम्भव था, अपितु उन देशों के लोगों तक अपने विचारों को सम्प्रेषित किया जा सकता था जो तत्कालीन अंग्रेजी साम्राज्य के अन्तर्गत थे। अमेरिका तथा अफ्रीका के अनेक देशों के लोगों तक अपनी बात पहुँचाने के लिए भी अंग्रेजी में

लिखित साहित्य की ही अपेक्षा थी। इसी दृष्टि से पण्डित गुरुदत्त, पण्डित शंकरनाथ, पण्डित गंगाप्रसाद जज, पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय, दी० व० हरविलास शारदा आदि शतशः लेखकों ने अंग्रेजी ग्रन्थों का प्रणयन किया ताकि आर्यसमाज के संदेश को भारतेतर देशों तक पहुँचाया जा सके। यह दूसरी बात है कि फ्रेंच, जर्मन, रशियन आदि यूरोप की अन्य समृद्ध भाषाओं तथा अरब देशों एवं एशिया के दक्षिण-पूर्वी देशों की भाषाओं में आर्यसमाज-विषयक साहित्य के लेखन का स्वल्प प्रयास भी नहीं हो सका। केवल पड़ौसी देश नेपाल की भाषा में तथा मॉरिशस देशवासी कुछ आर्य लेखकों ने फ्रेंच भाषा में अंगुलियों पर गिनने योग्य ग्रन्थों का निर्माण किया है।

जहाँ तक भारत की हिन्दी से भिन्न भाषाओं का सम्बन्ध है, सर्वाधिक आर्य-साहित्य गुजराती में लिखा गया। बंगला भाषा में भी आर्य साहित्य-लेखन के प्रशंसनीय प्रयास हुए, किन्तु यह विडम्बना ही है कि बंगला जिनकी मातृभाषा है, उन बंगालियों ने आर्यसमाज के संदेश को अधिक तत्परता से नहीं सुना, जबकि बंगाल प्रान्त में रहने वाले पंजाबी, हरयाणवी, राजस्थानी, बिहारी तथा उत्तरप्रदेश के मूल निवासी ही बंगप्रदेश में आर्यसमाज के ध्वजवाहक बने रहे। पंजाबी में आर्य साहित्य के लेखन के प्रयास नगण्य ही हैं, क्योंकि प्रथम तो पंजाब की पुरानी पीढ़ी उर्दू के प्रति आकर्षित रही और उसने उर्दू माध्यम से ही आर्य विचारधारा को जानने का प्रयास किया। द्वितीयतः, आर्यसमाज द्वारा हिन्दी को मान्यता देने के कारण आर्यसमाज के पंजाबी विद्वानों और लेखकों ने भी हिन्दी में ही अपने ग्रन्थ लिखे। उड़िया तथा असमिया में आर्यसमाज के साहित्य का लिखा जाना अभी हाल ही की बात है, जबकि मराठी में प्रणीत आर्य साहित्य को भी अधिक समृद्ध नहीं कहा जा सकता।

जहाँ तक दक्षिण भारत की भाषाओं का सम्बन्ध है, उन भाषाओं में स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों को अनूदित करने तथा स्वतन्त्र ग्रन्थरचना करने के अनेक सराहनीय प्रयास हुए हैं। तमिल में श्री एम० आर० जम्बुनाथन, तेलुगु में पण्डित गोपदेव तथा मलयालम में पण्डित नरेन्द्रभूषण का कृतित्व सर्वाधिक प्रशंसनीय रहा है। आगे के पृष्ठों में हम विभिन्न भाषाओं के क्रम से आर्य साहित्य का सामान्य परिचय दे रहे हैं।

पंजाबी—स्वामी दयानन्द की विचारधारा के प्रचार की दृष्टि से पंजाब की भूमि अत्यन्त उर्वरा सिद्ध हुई है, तथापि यह लिखने में हमें कोई संकोच नहीं होता कि पंजाबी भाषा में आर्यसमाज-विषयक साहित्य नगण्य ही है। इसके कई कारण हैं। प्रथम तो यह है कि विगत शताब्दी तक पंजाब के हिन्दू अपने घरों में चाहे पंजाबी का ही प्रयोग करते थे, किन्तु उनके पठन-पाठन की भाषा प्रायः उर्दू, फ़ारसी अथवा अंग्रेजी रही। जब आर्यसमाज ने हिन्दी के प्रचार पर बल दिया तो पंजाब के आर्यों को भी आर्यभाषा को स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं हुई। सच तो यह है कि पंजाब में हिन्दी भाषा और साहित्य के व्यापक प्रचार का श्रेय एकमात्र आर्यसमाज को ही है। ऐसी स्थिति में जब हिन्दी ही पंजाब के आर्यसमाज का वैचारिक वाहन बन गई, तो गुरुमुखी लिपि में लिखी जाने वाली पंजाबी भाषा में साहित्य-प्रणयन गौण हो गया।

तथापि पंजाबी में भी आर्यसमाज का कुछ साहित्य लिखा गया है। हम यह देख चुके हैं कि पंजाबी में सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद विगत शताब्दी की समाप्ति के पूर्व ही किया जा चुका था। यह कार्य पण्डित आत्माराम अमृतसरी द्वारा निष्पन्न हुआ। पंजाबी

में सशक्त साहित्य-लेखन का कार्य स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी ने भी किया। प्रोफेसर राजेन्द्र 'जिज्ञासु' के अनुसार, स्वामी जी ने भी 'भारत छोड़ो' आन्दोलन के दिनों में मात्र पाँच मास की अवधि में ही सत्यार्थप्रकाश का पंजाबी अनुवाद कर डाला था, किन्तु दुर्भाग्यवश इसकी पाण्डुलिपि कहीं खो गई। उन्होंने 'ऋषि वार्ता' शीर्षक स्वामी दयानन्द का एक जीवनचरित भी लिखा था, परन्तु देश-विभाजन के समय वह भी नष्ट हो गया। कालान्तर में उन्होंने स्वामी दयानन्द का एक अन्य जीवनचरित पंजाबी भाषा में लिखा, जो आर्य-ज्योति साप्ताहिक (जालन्धर से प्रकाशित) में १९६१ ई० में धारावाही प्रकाशित हुआ। स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी ने सिखमत-विषयक कुछ लघु ग्रन्थ भी पंजाबी में लिखे थे जिनमें 'आर्य सिद्धान्त अते सिख गुरु', 'सिख अते गऊ' आदि उल्लेखनीय हैं। स्वामीजी ने दयानन्द रचित आर्योद्देश्यरत्नमाला तथा गोकरुणानिधि आदि कतिपय लघु ग्रन्थों का भी पंजाबी में अनुवाद किया था, जो प्रकाशित नहीं हो सके।

सरगोधा (पाकिस्तान) निवासी पण्डित ताराचन्द आर्य (संन्यास ग्रहण करने पर स्वामी अमृतानन्द) ने सिखमत-विषयक कुछ ग्रन्थ पंजाबी में लिखे हैं जिनमें 'वैदिक गुरमतसार' उल्लेखनीय है। उन्होंने वैदिक संध्या का भी पंजाबी में उल्था किया था। पंजाबी भाषा के प्रसिद्ध कवि स्वर्गीय अजीतसिंह 'किरती' ने वैदिक सिद्धान्तों पर कुछ ग्रन्थ लिखे थे, जो सम्प्रति अनुपलब्ध हैं। पण्डित धर्मवीर लिखित संध्या का पंजाबी में पद्यात्मक अनुवाद लाहौर से छपा था।

पंजाबी भाषा पर आधारित पृथक् पंजाब राज्य (हरयाणा और हिमाचलप्रदेश को स्वतन्त्र राज्य का स्तर दिये जाने के अनन्तर पंजाब राज्य की स्थापना १९६६ ई० में हुई) के अस्तित्व में आने पर पंजाबी भाषा और साहित्य के विकास के लिए नवीन प्रयत्न किये जा रहे हैं। इस परिवर्तित संदर्भ में आर्यसमाज के लिए आवश्यक है कि वह गुरुमुखी लिपि में पंजाबी साहित्य के लेखन एवं प्रकाशन के कार्य को नवीन उत्साह से अपने हाथ में ले। आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब ने इस क्षेत्र में जो स्वल्प प्रयत्न किया है, उसे और बढ़ाने की आवश्यकता है। इस सभा ने श्री पिण्डीदास ज्ञानी कृत 'स्वामी दयानन्द दी जनम साखी' तथा आचार्य पृथ्वीसिंह आजाद लिखित 'आर्यसमाज दा दिग्दर्शन' जैसे कुछ ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। श्री तरसेमकुमार आर्य ने सत्यार्थसार लिखा है जिसमें सत्यार्थप्रकाश का सार-संक्षेप दिया गया है।

सिंधी—विभाजन-पूर्व सिंध प्रान्त में आर्यसमाज का प्रचार विगत शताब्दी में ही हो गया था। कराची, सक्खर हैदराबाद आदि बड़े-बड़े नगरों में आर्यसमाज की स्थापना के अनन्तर प्रचारकार्य द्रुत गति से होने लगा था। सिंधी भाषा उक्त प्रान्त की सर्वसामान्य की भाषा है जो प्रायः फारसी लिपि में लिखी जाती है। देश-विभाजन के पश्चात् सिंध के हिन्दू समुदाय ने बड़ी संख्या में भारत में रहना स्वीकार किया, फलतः सिंधी भाषा और साहित्य के विकास के नवीन क्षेत्र खुले।

सिंधी भाषा में सत्यार्थप्रकाश का जो अनुवाद श्री जीवनलाल आर्य ने किया था, उसकी चर्चा प्रसंगोपात्त आ चुकी है। सम्भवतः स्वामीजी के अन्य ग्रन्थों के अनुवाद इस भाषा में नहीं हुए। सिंध ने आर्यसमाज को स्वर्गीय ताराचन्द गाजरा और उनके भाई श्री टीकमदास गाजरा जैसे प्रगल्भ लेखक प्रदान किये हैं। गाजरा बंधुओं ने अंग्रेजी में तो उत्कृष्ट साहित्य लिखा ही है, अपनी मातृभाषा सिंधी में भी आर्य साहित्य का प्रणयन

करने में वे पीछे नहीं रहे। स्वामी दयानन्द के जीवन एवं कार्य पर सिंधी भाषा में कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनमें प्रोफेसर ताराचंद गाजराकृत जगद्गुरु दयानन्द, इन्द्र रुचिराम शर्मा का ऋषि जीवन, हेमराज कृत दयानन्द, चेतनदेव वर्माकृत बलिदान तथा माधवदास प्रेमचन्द आर्य लिखित महर्षि स्वामी दयानन्द जो मुख्तसर जीवनचरित आदि हैं। अजमेर-निवासी श्री दीपचन्द त्रिलोकचन्द ने श्री दयानन्द कथा लिखी है। स्वर्गीय हकीम वीरूमल आर्य प्रेमी ने सिंधी में आर्य साहित्य को प्रचारित करने का प्रशंसनीय कार्य किया था।

राजस्थानी— राजस्थान प्रान्त मुख्यत: हिन्दीभाषी क्षेत्र है। यहाँ हिन्दी सर्वत्र प्रचलित है। पठन-पाठन, राजव्यवहार और लोक-जीवन में हिन्दी का निर्बाध प्रयोग होता है। यद्यपि राजस्थानी एक प्राचीन भाषा है, जिसमें विगत काल में उत्कृष्ट कोटि के साहित्य की रचना हो चुकी है, तथापि राजस्थान में हिन्दी का सर्वत्र प्रचलन होने के कारण राजस्थानी में आर्यसमाज-विषयक कोई साहित्य नहीं लिखा गया। जोधपुर के स्व० डॉक्टर माँगीलाल व्यास 'मयंक' ने सत्यार्थप्रकाश का राजस्थानी (मारवाड़ी) भाषा में अनुवाद करने का प्रयत्न किया था और इसके प्रथम समुल्लास का कुछ अंश परोपकारी (अजमेर से प्रकाशित मासिक) में प्रकाशित भी कराया था, किन्तु उनका वह कार्य आगे नहीं बढ़ सका।

स्वामी दयानन्द के समकालीन चारण कवि बारहठ ऊमरदान ने स्वामीजी की प्रशस्ति में उच्च कोटि की डिंगल (प्राचीन राजस्थानी) कविताएँ लिखी हैं जो 'ऊमर काव्य' में संगृहीत हैं। कुछ अन्य कवियों ने भी डिंगल में स्वामी दयानन्द की प्रशस्ति का गान किया है। नागौर (राजस्थान) निवासी पण्डित भगवतीप्रसाद 'अभय' ने राजस्थानी भाषा में आर्यसमाज के सिद्धान्तों के प्रचार हेतु अनेक गीतों एवं भजनों का प्रणयन किया। उनकी ये काव्यकृतियाँ प्रकाशित भी हुई हैं। अजमेर-निवासी स्व० पण्डित जगन्नाथ उपाध्याय ने आर्यसमाज के सुधारवादी स्वर से प्रभावित होकर वृद्ध-विवाह के दोषों को बताते हुए मारवाड़ी भाषा में एक ख्याल (एक नाट्य कृति) की रचना की थी।

गुजराती साहित्य— हिन्दी के पश्चात् यदि किसी उत्तरभारतीय आर्यभाषा में आर्यसमाज-विषयक साहित्य प्रचुर मात्रा में लिखा गया तो वह गुजराती भाषा है। स्वामी दयानन्द की मातृभाषा भी गुजराती ही थी, किन्तु गुजराती-भाषी जनसमूह ने उनके विचारों को उतने उत्साह एवं मनोयोग से स्वीकार नहीं किया, जिस तत्परता से उनकी विचारधारा का प्रसार हिन्दी-भाषी प्रान्तों में हुआ। तथापि गुर्जर-गिरा में स्वामी दयानन्द और उनके धर्मान्दोलन के सम्बन्ध में पर्याप्त मात्रा में ग्रन्थलेखन का कार्य हुआ है। स्वामी दयानन्द के लगभग सभी ग्रन्थों का (वेदभाष्य तथा कतिपय अन्य ग्रन्थों को छोड़कर) गुजराती में अनुवाद हो चुका है। वेदविरुद्धमतखण्डन तथा स्वामिनारायणमतखण्डन (अपरनाम शिक्षापत्री-ध्वान्तनिवारण) का गुजराती अनुवाद तो स्वामीजी के जीवन-काल में ही संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित श्यामजी कृष्ण वर्मा ने किया था। सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि तथा अन्य ग्रन्थों का अनुवाद भी यथासमय हुआ। पण्डित मयाशंकर शर्मा, पण्डित बालकृष्ण शर्मा तथा पण्डित श्रीकान्त भगतजी के नाम स्वामीजी के ग्रन्थों के गुजराती अनुवादकों में प्रमुखत: गणनीय हैं। पण्डित मयाशंकर शर्मा अपने युग के संस्कृत के उत्कृष्ट विद्वान् थे। उनका

संस्कृत-अध्ययन पण्डित बालकृष्ण शर्मा के निकट रहकर हुआ था। स्वामी नित्यानन्द की प्रेरणा से वे काशी गये तथा कुछ काल तक वहाँ अध्ययन किया। तत्पश्चात् वे कलकत्ता चले गये और पण्डित सत्यव्रत सामश्रमी से पढ़ते रहे। कालान्तर में मुम्बई प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा के द्वारा संचालित गुरुकुलों में उन्होंने अध्यापन-कार्य किया। इस दौरान वे गुरुकुल देवलाली, नासिक, मलाड, सान्ताक्रूज, वरसोवा, अन्धेरी, शुक्ल-तीर्थ तथा आनन्द आदि स्थानों पर पढ़ाते रहे। २१ दिसम्बर १९६९ ई० को उनका निधन हुआ।

पण्डित मयाशंकर शर्मा ने सत्यार्थप्रकाश एवं संस्कारविधि का गुजराती अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने छहों दर्शनों का गुजराती में संक्षिप्त भाष्य लिखा। पण्डित बालकृष्ण शर्मा ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका का गुजराती अनुवाद पण्डित इच्छा-शंकर प्रभाशंकर शर्मा के सहयोग से किया। पण्डित श्रीकान्त भगतजी ने व्यवहारभानु का अनुवाद किया है।

स्वामी दयानन्द के जीवन एवं कृतित्व पर गुज़राती लेखकों और साहित्यकारों ने पर्याप्त लिखा है। बालाभाई जमनादास वैश्य ने स्वामीजी की एक श्रेष्ठ जीवनी गत शताब्दी के समाप्त होने से पूर्व ही लिख डाली थी जो १८९७ ई० में प्रकाशित हुई। स्वामीजी के जीवन पर लेखनी उठाने वालों में गुजरात के ऐसे कृती साहित्यकार भी थे जो औपचारिक रूप में आर्यसमाज के संगठन से सम्बद्ध तो नहीं थे, किन्तु जिन्होंने दयानन्द के तेजस्वी एवं उदात्त व्यक्तित्व को वास्तविक परिप्रेक्ष्य में समझा था। ऐसे वरेण्य लेखकों में ककल भाई कोठारी, झवेरचन्द मेघाणी, रमणलाल वसन्तलाल देसाई, धनवन्त ओझा, नरेन्द्रभाई दवे आदि के नाम लिये जा सकते हैं। स्वामीजी के सम्बन्ध में अन्य भाषाओं में लिखे गये अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का गुजराती अनुवाद भी किया जा चुका है। देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय की प्रसिद्ध कृति 'आदर्श सुधारक दयानन्द' का गुजराती भाषान्तर श्री कृष्णलाल मोहनलाल झवेरी ने किया। वे स्वामीजी के पूना में दिये गये व्याख्यानों के संग्रह 'उपदेश मंजरी' का भी गुजराती रूपान्तर कर चुके हैं। इसी प्रकार पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पतिरचित स्वामीजी का जीवनचरित, स्वामी दयानन्द पर लिखे गये योगी अरविन्द के प्रसिद्ध लेख तथा नेशनल बुक ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित स्वामी दयानन्द के जीवन-चरित का गुजराती अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

गुजराती में आर्यसामाजिक साहित्य का निर्माण करने वालों में प्रमुख हैं—पण्डित महाराणीशंकर शर्मा, पण्डित मणिशंकर शर्मा, पण्डित ज्ञानेन्द्र सिद्धान्तभूषण, श्री दिनेश त्रिवेदी, श्रीमती चंचल बेन पाठक, स्नातक सत्यव्रत, डॉक्टर दिलीप वेदालंकार, श्री वेदमित्र ठाकोर, श्रीकान्त भगतजी, श्री नरेन्द्र दवे तथा दयालजी परमार (आर्य) आदि।

मौलिक साहित्य-प्रणयन के अतिरिक्त गुजराती में आर्यसमाज-विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण हिन्दी ग्रन्थों का अनुवाद भी किया गया है। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय, पण्डित देवशर्मा अभय, महामहोपाध्याय आर्यमुनि, स्वामी नित्यानन्द, महात्मा आनन्द-स्वामी आदि के अनेक ग्रन्थ गुजराती में अनूदित हो चुके हैं। कर्मकाण्ड-विषयक ग्रन्थ भी गुजराती में पर्याप्त संख्या में लिखे गये हैं।

मराठी—स्वामी दयानन्द को महाराष्ट्र (तत्कालीन बम्बई राज्य) में भ्रमण

करने का पर्याप्त अवसर मिला था। मराठी भाषा में स्वामी दयानन्द के पूना व्याख्यानों का प्रकाशन तो १८७५ ई० में ही हो गया था। आर्यसमाज-विषयक मराठी भाषा का यही प्रथम प्रकाशन था। १८८५ ई० में बम्बई में श्यामरावकृष्ण आणि मण्डली नाम्नी एक संस्था स्थापित हुई जिसने स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के मराठी अनुवाद प्रकाशित करने की योजना बनाई। प्रसिद्ध वेदज्ञ पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर इस संस्था के एक सदस्य थे। इस संस्था द्वारा स्वामी दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि, आर्याभिविनय तथा गोकरुणानिधि के मराठी अनुवाद छपे।

मराठी में आर्यसामाजिक साहित्य प्रकाशित करने के लिए एक महाराष्ट्र-संन्यासी स्वामी ओंकार सच्चिदानन्द ने ४००० रु० की स्थिर निधि स्थापित की और उसके माध्यम से साहित्य प्रकाशन का दायित्व मुम्बई प्रदेश आर्य प्रतिनिधि सभा को सौंपा। पण्डित लक्ष्मणराव जानोजी ओघले ने भी साहित्य-प्रकाशन-विषयक कुछ कार्य किया। १९१८ ई० में कोल्हापुर-नरेश छत्रपति शाहू महाराज ने पण्डित आत्माराम अमृतसरी के परामर्शानुसार अपने राज्य में आर्यसमाज के साहित्य के प्रचार हेतु पाँच हजार की राशि प्रदान की। इससे एक प्रेस स्थापित किया गया और इस प्रकार मराठी में आर्य साहित्य प्रकाशन को बढ़ावा मिला। श्री हरि सखाराम तुंगार ने मराठी में स्वामी दयानन्द का विस्तृत जीवनचरित लिखा तथा पूना-प्रवचनों का अनुवाद किया। ये दोनों ग्रन्थ क्रमशः १९२० तथा १९२५ ई० में छपे। कुछ स्फुट ट्रैक्ट आदि भी मराठी में छपे। पण्डित सदाशिव कृष्ण फड़के नामक एक सनातनधर्मी सज्जन ने "नव वैदिक धर्म अथवा आर्यसमाज—विवेचनात्मक इतिहास" शीर्षक से एक ग्रन्थमाला निकालने का आयोजन किया। इसमें श्रीमद्दयानन्द शीर्षक ग्रन्थ प्रथम पुष्प के रूप में निकला।

पर्याप्त समय पश्चात् आर्यप्रतिनिधि सभा मध्यप्रदेश व विदर्भ ने मराठी में कुछ साहित्य प्रकाशित किया है। इसमें अधिकांश परिचयात्मक कोटि का ही है। पण्डित सत्यवीर शास्त्री ने स्वामी दयानन्द का जीवनचरित मराठी में लिखा जो १९८२ ई० में अमरावती से छपा। स्वामी दयानन्दकृत आर्योद्देश्यरत्नमाला का मराठी में अनुवाद आर्यसमाज धार (मध्यप्रदेश) ने बहुत वर्ष पूर्व प्रकाशित किया था। यह पता नहीं चलता कि इसके अनुवादक कौन थे। स्वमन्तव्यामन्तव्यप्रकाश का मराठी अनुवाद आर्यसमाज बम्बई ने १९५५ ई० में 'वैदिक धर्माचा आदेश' शीर्षक से प्रकाशित किया था। नेशनल बुक ट्रस्ट से प्रकाशित स्वामी दयानन्द के जीवनचरित का मराठी भाषान्तर भी प्रकाशित हो चुका है। इसके अनुवानक श्री अनन्त काणेकर हैं।

बंगला—साहित्य की दृष्टि से बंगला भारत की समृद्ध भाषाओं में से एक है। बंगला में आर्य साहित्य-लेखन का सूत्रपात स्व० शंकरनाथ पण्डित ने किया था। वे बंग देश में आर्यसमाज का प्रचार करने वालों में अग्रगण्य थे। उन्होंने स्वामी दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि, आर्याभिविनय आदि ग्रन्थों का बंगलानुवाद तो किया ही, साथ ही, 'ऋषीन्द्र जीवन' शीर्षक से स्वामी दयानन्द का बृहत् जीवनचरित भी लिखा जो दो भागों में प्रकाशित हुआ। उन्होंने बंगला, हिन्दी तथा अंग्रेजी में ग्रन्थ लिखे। स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों के अनुवाद के अतिरिक्त उनके छोटे-बड़े बंगला ग्रन्थों की संख्या लगभग २० है। स्वामी दयानन्द के जीवन-विषयक

तथ्यों का अनुसंधान करने वालों में बंगाली लेखक पण्डित देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय का नाम अग्रगण्य है। वे जितने बड़े अन्वेषी थे उतने ही महान् लेखक भी थे। बंगला भाषा में उन्होंने स्वामी दयानन्द के दो जीवनचरित लिखे। प्रथम का प्रकाशन तो उनके जीवन-काल में ही हो गया था, किन्तु द्वितीय जीवनचरित, जिसे वे अपूर्ण ही छोड़ गये थे, उनके निधन के पश्चात् १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ। पण्डित देवेन्द्रनाथ लिखित 'आदर्श संस्कारक दयानन्द' तथा 'दयानन्द के जन्मस्थानादि निर्णय' अपने विषय के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। उन्होंने स्वामी दयानन्द की आत्मकथा का बंगलानुवाद किया तथा स्वामी विरजानन्द की जीवनी भी लिखी।

पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री ने बंगला में उच्च कोटि का साहित्य लिखा है। उन्होंने वेदों के बंगला में अनुवाद किये, यद्यपि वे पूरे नहीं हो सके। ईश एवं केन उपनिषदों का अनुवाद करने के अतिरिक्त उन्होंने धर्म-प्रचार की दृष्टि से अनेक लघु ग्रन्थों का निर्माण किया। बंगला भाषा में आर्य साहित्य का निर्माण करनेवालों में बलाई चन्द्र मल्लिक, श्री रमेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय, यतीन्द्रनाथ मल्लिक, शारदाप्रसन्न वेदशास्त्री, सत्यचरण राय आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पण्डित प्रियदर्शन सिद्धान्तभूषण ने सत्यार्थ-प्रकाश के बंगलानुवाद का संशोधन एवं परिष्कार किया है। उन्होंने बंगला भाषा में अन्य अनेक उपयोगी लघु ग्रन्थ लिखे हैं। बंगला भाषा में प्रचुर मात्रा में आर्य साहित्य न लिखे जाने का एक मुख्य कारण तो यह है कि बंगाल में आर्यसमाज का प्रचार प्रधानतः उन लोगों में है जो बंगलाभाषी नहीं, अपितु मूलतः हिन्दीभाषी हैं। इन लोगों के लिए बंगला भाषा में प्रणीत साहित्य का विशेष महत्त्व हो ही नहीं सकता। द्वितीय बात यह है कि आर्यसमाज उत्कृष्ट बंगला लेखकों और साहित्यकारों को अपनी ओर आकृष्ट करने में अधिक सफल नहीं हो सका। तथापि कुछ लगन वाले लेखकों ने बंग-भाषा में आर्य साहित्य लिखकर इस अभाव की यत्किंचित् पूर्ति की है।

आर्यसमाज कलकत्ता की स्थापना-शताब्दी के अवसर पर इस वर्ष बंगला में कुछ अच्छा साहित्य प्रकाशित होने की सम्भावना है। पण्डित प्रियदर्शन पूना-प्रवचन का बंगला अनुवाद करने में संलग्न हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने बंगला में स्वामी दयानन्द के प्रथम जीवनचरित-लेखक नगेन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय की कृति महात्मा दयानन्द (१८८५ ई० में प्रकाशित) की फोटोप्रति नेशनल लाइब्रेरी कलकत्ता से प्राप्त की है। इसी प्रकार न्यायमूर्ति शारदाचरण मित्र सम्पादित मासिक 'देवनागर' में प्रकाशित श्री सत्यबन्धु दास लिखित स्वामी दयानन्द की अधूरी बंगला जीवनी भी हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित कराना आवश्यक है। साहित्यिक बंगला में लिखित इस ग्रन्थ को मथुरा से प्राप्त किया गया है। देवनागर की वह फाइल, जिसमें सत्यबन्धु दास लिखित स्वामी दयानन्द का बंगला जीवनचरित अपूर्ण रूप में ही छपा था, सम्प्रति मथुरा-निवासी पण्डित राधेश्याम द्विवेदी (जोशी अमरलाल के पौत्र) के पुस्तक-संग्रह में विद्यमान है। इन पंक्तियों के लेखक ने उक्त फाइल से दास महाशय लिखित इस बंगला जीवनी की प्रतिलिपि प्राप्त की है।

असमिया—असम प्रान्त में आर्यसमाज का प्रचार अधिक पुराना नहीं है। यों तो स्वामी दयानन्द के प्रत्यक्ष शिष्य स्वामी आत्मानन्द ने अपने जीवनकाल में असम प्रदेश का भ्रमण कर अनेक स्थानों पर वैदिक धर्म का प्रचार किया था, किन्तु बाद में

अनेक वर्षों तक यह क्षेत्र आर्यसमाज के प्रचार के दायरे से बाहर ही रहा। बंगाल और असम प्रान्त के लिए एक ही प्रान्तीय संगठन, वंग-असम आर्य प्रतिनिधि सभा, वर्षों तक कार्यरत रही, किन्तु इस सभा का मुख्य कार्यक्षेत्र भी बंगाल ही था। विगत कुछ वर्षों से असम की ओर विशेष ध्यान दिया गया है तथा इस राज्य के अनेक स्थानों पर आर्यसमाजें कार्य कर रही हैं।

असमिया में सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद श्री परमेश्वर कोती ने किया है जो श्री अमरेन्द्रनाथ गोस्वामी द्वारा सम्पादित होकर आर्यसमाज गौहाटी से १९७५ ई० में प्रकाशित हो चुका है। आर्यसमाज-विषयक कुछ अन्य पुस्तकें भी असमिया में प्रकाशित की गई हैं।

ओडिया साहित्य—यह सन्तोष का विषय है कि उत्कल प्रान्त की ओडिया भाषा में आर्यसमाज का साहित्य आजकल द्रुतगति से प्रकाशित हो रहा है। इस भाषा में आर्य साहित्य प्रणयन का सूत्रपात पण्डित श्रीवत्स पण्डा ने किया था जो उत्कल प्रान्त में आर्यसमाजी गतिविधियों के जन्मदाता कहे जा सकते हैं। उड़ीसा के गंजाम जिले के एक ग्राम मंदार में १८६० ई० में जन्मे श्रीवत्स पण्डा ब्राह्मणकुलोत्पन्न थे। इनकी शिक्षा बी०ए० तक हुई थी। प्रारम्भ में ये सरकारी सेवा में रहे, किन्तु देश के स्वतन्त्रता-आन्दोलन में भाग लेने के कारण ये राज्यसेवा से त्यागपत्र देकर पृथक् हो गये। पण्डाजी ने सत्यार्थप्रकाश, संस्कारविधि तथा दयानन्दकृत अन्य लघु ग्रन्थों का उड़िया भाषा में अनुवाद किया है।

विगत कुछ वर्षों से उड़ीसा में आर्यसमाज का प्रचार-कार्य द्रुतगति से हो रहा है। स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित वैदिक आश्रम, वेदव्यास राउरकेला तथा गुरुकुल आमसेना की स्थापना के पश्चात् उड़ीसा में आर्यसाहित्य का व्यापक प्रचार हुआ है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कार-विधि, व्यवहारभानु, आर्याभिविनय, सत्यार्थप्रकाश आदि दयानन्दकृत ग्रन्थों के अनुवादों के प्रकाशन के साथ-साथ कुछ अन्य हिन्दी ग्रन्थों के अनुवाद तथा कतिपय मौलिक कृतियों का भी उड़िया में प्रकाशन हुआ है। श्री प्रियव्रत दास ने चारों वेदों के मन्त्रसंग्रह, चतुर्वेद-सूक्ति-सहस्रिका, वेद मनुष्यकृत की? आदि ग्रन्थ लिखे हैं। उन्होंने संस्कारों से सम्बन्धित पद्धतियों का भी अपनी मातृभाषा में निर्माण किया है। प्रोफेसर सत्यव्रत सिद्धान्तालंकारकृत आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व का उड़िया अनुवाद भी उन्हीं के द्वारा किया गया है। सर्वश्री अखिलेश शर्मा, धनेश्वर बेहरा तथा यज्ञप्रकाश दास आदि लेखकों ने ओडिया में आर्यसाहित्य का लेखन किया है।

तेलुगु साहित्य—आन्ध्रप्रदेश की प्रमुख भाषा तेलुगु है। तेलुगु भाषा में आर्यसमाज-विषयक साहित्य-निर्माण का प्रमुख श्रेय पण्डित गोपदेवजी को है। गुण्टूर जिले के कुचिपुडी ग्राम में एक कृषक परिवार में जन्मे पण्डित गोपदेव का संस्कृत-अध्ययन मुख्यतः काशी में हुआ। उन्होंने मीमांसा को छोड़कर पाँचों दर्शनों, ११ उपनिषदों तथा श्रीमद्भगवद्गीता का तेलुगु में अनुवाद किया है। इसके अतिरिक्त उन्होंने स्वामी दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, संस्कारविधि तथा आर्याभिविनय का भी तेलुगु रूपान्तर किया। इन सभी ग्रन्थों की अब तक लगभग २० सहस्र प्रतियाँ बिक चुकी हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय की प्रसिद्ध कृति आस्तिकवाद तथा Worship एवं पण्डित ईश्वरचन्द्र शर्मा दर्शनाचार्यकृत अर्य-धर्म-

मीमांसा का भी तेलुगु में अनुवाद किया है। सत्यार्थप्रकाश का एक अन्य अनुवाद पण्डित सोमनाथराव, उनके भाई पण्डित गोपालराव तथा श्री राजरत्नाचार्य ने सम्मिलित रूप से किया था। आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य-दक्षिण के द्वारा तेलुगु में आर्यसाहित्य के प्रकाशन का कार्य सन्तोषजनक ढंग से हो रहा है।

मलयालम—केरल प्रान्त की भाषा मलयालम में आर्यसमाज-विषयक साहित्य की रचना सन्तोषप्रद ढंग से हो रही है। इसका अधिकांश श्रेय वैदिक साहित्य परिषद् चेंगनूर के संचालक तथा मलयालम के विख्यात लेखक पण्डित नरेन्द्रभूषण को है। यों तो मलयालम में सत्यार्थप्रकाश का अनुवाद १९३३ ई० में ही हो चुका था, किन्तु आर्य-साहित्य-लेखन की दृष्टि से इस भाषा में अधिक कार्य विगत १५ वर्षों में ही हुआ है। श्री नरेन्द्रभूषण ने स्वामी दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, आर्याभिविनय, व्यवहारभानु तथा आर्योद्देश्यरत्नमाला का मलयालम अनुवाद कर केरल-वासियों के लिए दयानन्द-साहित्य को सुलभ बना दिया है। उन्होंने ईश, केन, प्रश्न, मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय और तैत्तिरीय उपनिषदों का मलयालम में भाष्य किया है। उनके अन्य ग्रन्थों में योगेश्वरनाथ श्रीकृष्णन् (महाभारत पर आधारित जीवनचरित), विग्रहाराधना (मूर्तिपूजा का खण्डन), उपासना (सन्ध्या, अग्निहोत्र तथा वैदिक मन्त्रों का संकलन) आदि उल्लेखनीय हैं। श्री नरेन्द्रभूषण ने पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय के अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का मलयालम अनुवाद कर उन्हें केरलवासियों को उपलब्ध कराया है। ऐसे ग्रन्थों में आस्तिकवाद, कम्युनिज्म, वैदिक कल्चर तथा सुपर्स्टिशन आदि ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त उन्होंने अमरशहीद रामप्रसाद बिस्मिल की आत्म-कथा, स्वामी दयानन्द की आत्मकथा, स्वामी श्रद्धानन्द की आत्मकथा—कल्याणमार्ग का पथिक तथा पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकारकृत कायाकल्प का भी मलयालम अनुवाद किया है। मलयालम में स्वामी दयानन्द-जीवनचरित श्री नारायणदत्त ने लिखा है जो वैदिक साहित्य परिषद् चेंगनूर द्वारा प्रकाशित हुआ है। आजकल मलयालम में प्रकाशित आर्ष-नादम् मासिक पत्रिका के द्वारा आर्यसमाज का सन्देश केरलवासियों को विगत अनेक वर्षों से नियमित रूप से उपलब्ध कराया जा रहा है।

कन्नड़—कर्नाटक राज्य में कन्नड़ भाषा का प्रचलन है। यह द्रविड़ वर्ग की भाषा है। बहुत वर्ष पूर्व स्वामी श्रद्धानन्द की प्रेरणा से पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने दक्षिण भारत में धर्मप्रचार किया था। उस समय उन्होंने कन्नड़ भाषा सीखी और उसमें अनेक ग्रन्थ लिखे। पण्डित धर्मदेवरचित कन्नड़ ग्रन्थों में जातिभेद-विचार, वैदिक ईश्वर कल्पने, ऋषि दयानन्द सरस्वती यवरू श्रीमन्माधवाचार्यरू इवर सिद्धान्तगल तुलनात्मक विचार, पशुवलि निषेध, अस्पृश्यता निवारणे, आर्यसमाज वन्देरेनु, वैदिक सन्ध्याग्निहोत्र आदि ग्रन्थ लिखे। इन्हें आर्यसमाज मेंगलोर ने प्रकाशित किया था। स्वामी दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के कन्नड़ अनुवादों की चर्चा पूर्वप्रकरण में आ चुकी है। स्वामी दयानन्द के कुछ जीवनचरित भी इस भाषा में छपे हैं। इनके लेखकों में सर्वश्री केशवय्य (१९१० ई० में डी० शेषगिरिराम द्वारा मैसूर से प्रकाशित), सुधाकर चतुर्वेदी (१९४३ ई० में श्रीमद्दयानन्दर्षि जीवनचरितम् तथा १९७७ ई० में महर्षि दयानन्द सरस्वती) तथा पण्डित मंजुनाथ शास्त्री (दयानन्द-दिग्विजय) के नाम उल्लेखनीय हैं।

तमिल—तमिलनाडु प्रान्त की भाषा तमिल द्रविड़ भाषाओं में सर्वाधिक प्राचीन एवं प्रमुख है। उत्तर भारत की तुलना में दक्षिण भारतीय प्रान्तों में आर्यसमाज का व्यापक प्रचार नहीं हो सका, इसका एक मुख्य कारण था—इन प्रदेशों की भाषाओं में आर्यसमाज-विषयक साहित्य का अभाव। तथापि तमिलभाषी लोगों तक आर्यसमाज के सिद्धान्तों को प्रचारित करने की दृष्टि से अनेक लोगों ने श्लाघनीय प्रयास किये हैं। आर्यसमाज के तमिल लेखकों में श्री एम०आर० जम्बुनाथन का नाम सर्वोपरि उल्लेखनीय हैं। इनका जन्म २३ अगस्त १८९६ ई० को तमिलनाडु प्रान्तान्तर्गत तिरुचिरापल्ली जिले के मनक्कल ग्राम में हुआ। तमिल, संस्कृत और अंग्रेजी में इनकी शिक्षा हुई। प्रारम्भ में इनका कार्यक्षेत्र मद्रास रहा। पुनः वे बम्बई आ गये और अनेक प्रकार की सार्वजनिक प्रवृत्तियों में लगे रहे। १८ दिसम्बर १९७४ ई० को बम्बई में ही इनका निधन हुआ।

श्री जम्बुनाथन ने स्वामी दयानन्द की वेदार्थ-प्रणाली को ग्रहण करते हुए चारों वेदों का तमिल अनुवाद किया। सत्यार्थप्रकाश का प्रथम तमिल-अनुवाद करने तथा तमिल में स्वामी दयानन्द एवं स्वामी श्रद्धानन्द की जीवनी लिखने का श्रेय भी उन्हें ही प्राप्त है। कठोपनिषद् (तमिल अनुवाद), उपनिषद्-कथायें, शतपथ ब्राह्मण की कथायें तथा वेदचन्द्रिका आदि उनकी अन्य तमिल कृतियाँ हैं। सत्यार्थप्रकाश के अतिरिक्त संस्कारविधि एवं पञ्चमहायज्ञविधि के तमिल अनुवाद भी हुए हैं। श्री कन्नया ने महरिषी स्वामी दयानन्द सरस्वती यारिन वाजक्कैयूम शीर्षक स्वामी दयानन्द का जीवनचरित तमिल में लिखा जो आर्यसमाज मद्रास ने १९३४ ई० में प्रकाशित किया। शुद्धानन्द भारती लिखित ऋषि दयानन्द शीर्षक कृति १९४७ ई० में प्रकाशित हुई।

नेपाली—भारत के पड़ोसी देश नेपाल में नेपाली भाषा का प्रचलन है। नेपाल में आर्यसमाज के प्रचार का श्रेय पण्डित माधवराज जोशी को है जिन्होंने स्वामी दयानन्द के छठे काशी-निवासकाल (१८७६ ई०) में उनके दर्शन कर वैदिक विचारधारा को ग्रहण किया। कालान्तर में उन्होंने नेपाल की राजधानी काठमाण्डो तथा पोखरा आदि स्थानों में आर्यसमाज की स्थापना की और विधिवत् वैदिक धर्म का प्रचार किया। उन्होंने अपने दो पुत्रों, शुक्रराज शास्त्री तथा वाक्पतिराज शास्त्री को गुरुकुल सिकन्दराबाद में पठनार्थ प्रविष्ट कराया। पण्डित शुक्रराज शास्त्री कालान्तर में राणाओं की तानाशाही के शिकार हुए और उन्हे सरेआम फांसी पर लटका दिया गया।

पण्डित शुक्रराज शास्त्री ने नेपाली भाषा में वैदिक सन्ध्या और अग्निहोत्र-विषयक पुस्तकें लिखीं, जो प्रचार की दृष्टि से अतीव उपयोगी सिद्ध हुईं। नेपाली में उनकी एक अन्य कृति 'आर्य हिन्दू धर्मोपदेश' भी छपी थी। स्वामी दयानन्द रचित सत्यार्थप्रकाश तथा संस्कारविधि का नेपाली भाषानुवाद पण्डित दिलुसिंग राई ने किया। इसे आर्यसमाज दार्जिलिंग ने प्रकाशित किया था। नेपाली भाषा के लिए नागरी लिपि का ही प्रयोग होता है। राणाशाही की समाप्ति और नेपाल में सीमित प्रजातन्त्र के विकास के कारण आर्यसमाज के प्रचार की सम्भावनाएँ भी बढ़ी हैं। तदनुकूल आर्य-समाज-विषयक साहित्य भी नेपाली में प्रकाशित होना चाहिए।

आर्यसमाज का उर्दू साहित्य—आर्यसमाज के प्रादुर्भाव के समय उत्तर भारत में उर्दू का अत्यधिक प्रचलन था। राजकार्य में अंग्रेजी का प्राधान्य था जबकि पढ़े-लिखे

तबकों के लोग अपने बच्चों को उर्दू-फारसी पढ़ाने में गौरव अनुभव करते थे। पंजाब के खत्री, उत्तरप्रदेश के मुसलमान व कायस्थ तथा काश्मीरी पण्डित आदि वर्ग उर्दू सीखने से ही शिक्षा का आरम्भ करते थे। पंजाब में तो हिन्दी का चलन नगण्य ही था और उसे जनानियों की जबान कहा जाता था, जबकि पश्चिमोत्तर प्रदेश (उत्तर प्रदेश) में हिन्दी को 'भाखा' या पण्डितों की बोली कहकर तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। आर्यसमाज ने हिन्दी के प्रचार-प्रसार के लिए जो कुछ किया, वह राष्ट्रभाषा की प्रगति के इतिहास का एक अविस्मरणीय पृष्ठ बन गया है। तथापि विगत शताब्दी के अन्तिम चतुर्थांश में पंजाब तथा संयुक्त प्रान्त के आर्यों में उर्दू का ही चलन रहा। यों तो आर्यसमाज की प्रेरणा से सभी आर्य परिवारों में हिन्दी का प्रचलन बढ़ रहा था, किन्तु पुरानी पीढ़ी के आर्यसमाजी अपने विचारों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रायः उर्दू का ही प्रयोग करते थे।

आगे की पंक्तियों में हम आर्यसमाज के उर्दू लेखकों का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं। पण्डित लेखराम ने अपना सम्पूर्ण साहित्य उर्दू में लिखा था। उनके समस्त ग्रन्थों का संग्रह 'कुलियात आर्य मुसाफिर' गत शताब्दी की समाप्ति के पूर्व ही प्रकाशित हो गया था। पण्डित लेखराम ने अपने ग्रन्थों में आर्यसिद्धान्त, इतिहास, साम्प्रदायिक खण्डन-मण्डन आदि अनेक विषयों का प्रतिपादन किया है। पण्डित लेखराम की उर्दू काफी क्लिष्ट होती थी तथा उसमें अरबी-फारसी के शब्दों का बाहुल्य रहता था। 'कुलियात आर्य मुसाफिर' के अनेक हिन्दी अनुवाद हो चुके हैं। स्वामी दयानन्द के समकालीन लाहौर-निवासी श्री राधाकृष्ण मेहता ने भी अपना साहित्य उर्दू में ही लिखा। उनके द्वारा स्वामीजी का जीवनचरित, आर्यसमाज का इतिहास तथा ब्रह्मसमाज और देवसमाज के खण्डन में कुछ पुस्तकें लिखी गईं। इनके ग्रन्थ अब सर्वथा दुर्लभ हो चुके हैं।

आर्यसमाज के दार्शनिक विद्वान् तथा अपने युग के सर्वाधिक लोकप्रिय साहित्यकार स्वामी दर्शनानन्द उर्दू के उच्च कोटि के लेखक थे। यद्यपि उन्होंने काशी में रहकर संस्कृत के शास्त्रीय वाङ्मय का गम्भीर अध्ययन किया था, तथा स्वस्थापित तिमिरनाशक यंत्रालय से अनेक दुर्लभ शास्त्रग्रन्थों को प्रकाशित कर सस्ते मूल्य पर छात्रों को उपलब्ध भी कराया था, किन्तु उन्होंने अपने सभी ग्रन्थ उर्दू में ही लिखे। उनके द्वारा किये गये उपनिषदों के भाष्य, दर्शनों की टीकाएँ तथा मनुस्मृति के अनुवाद उर्दू पाठकों को इन शास्त्रों से परिचित कराने में प्रमुख कारण बने। उनके लिखे ट्रैक्टों की संख्या भी पर्याप्त है। स्वामी दर्शनानन्द का अधिकांश साहित्य अनुवादों के माध्यम से हिन्दी-पाठकों को भी सुलभ हो सका। महात्मा मुन्शीराम की उर्दू रचनायें भी आर्य साहित्य में अपना महत्त्व रखती हैं। क्षात्रधर्म पालन का गैरमामूली मौका (१८९५), पुराणों की नापाक तालीम से बचो (१८९९), सद्धर्मप्रचारक पर पहला लाइबल केस (१९०१), मुहम्मदी साजिश का इन्कशाफ़(१९२४), हिन्दू-मुस्लिम-इत्तिहाद की कहानी (१८२४), अन्ध एतक़ाद और खुफ़िया जिहाद (१९२५) उनकी प्रमुख उर्दू कृतियां हैं। लाला लाजपतराय ने भी साहित्य-लेखन के लिए उर्दू माध्यम का ही प्रयोग किया। उनके द्वारा लिखे गये इटली के देशभक्त गेरीबाल्डी तथा मेजिनी के जीवनचरित, श्रीकृष्ण तथा स्वामी दयानन्द के जीवनवृत्तान्त उर्दू में ही लिखे गये थे। भाई परमानन्द के अधिकांश ग्रन्थ उर्दू में ही लिखे गये। उनकी हिन्दू संगठन और आर्यसमाज, गीता के राज, आप-

बीती (आत्मकथा), तारीखे महाराष्ट्र, तारीखे योरप आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। इनमें से अनेक हिन्दी में भी अनूदित हो चुकी हैं।

पण्डित आत्माराम अमृतसरी उर्दू, पंजाबी तथा हिन्दी में समान रूप से, किन्तु अधिकारपूर्वक लिखते थे। सत्यार्थप्रकाश का उर्दू अनुवाद, पण्डित गुरुदत्तकृत उपनिषदों की अंग्रेजी व्याख्याओं का उर्दू तर्जुमा तथा अन्य मौलिक ग्रन्थ उनकी आर्य साहित्य को चिरस्मरणीय देन हैं। पण्डित जैमिनि मेहता ने अपना अधिकांश साहित्य उर्दू में लिखा। उन्होंने संसार के विभिन्न देशों की यात्रायें की थीं। अपने यात्रावृत्तान्त भी उन्होंने उर्दू में ही लिखे। अन्य अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त पण्डित लेखराम के बलिदान तथा मिर्जा गुलामअहमद के मत के पाखण्ड को लेकर उन्होंने लगभग सात पुस्तकें उर्दू में लिखीं। हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेजी तीनों भाषाओं में समान अधिकार के साथ लिखनेवाले पण्डित चमूपति आर्य-साहित्यकारों में शीर्षस्थानीय हैं। उनकी जवाहरे-जावेद, चौधवीं का चाँद तथा दयानन्द-आनन्दसागर आदि पुस्तकें आर्यसमाज के उर्दू साहित्य के मूल्यवान् रत्न हैं। उर्दू गद्य की ही भाँति उर्दू पद्य-रचना में भी पण्डित चमूपति को पूर्ण सफलता मिली है। यह कथन उनकी 'दयानन्द आनन्दसागर' शीर्षक काव्यकृति से स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

जिन लेखकों ने आर्यसमाज के खण्डनात्मक साहित्य में अपना योगदान दिया उनमें पण्डित मनसाराम, पण्डित बुद्धदेव मीरपुरी, पण्डित लक्ष्मण, पण्डित भोजदत्त आर्य मुसाफिर, पण्डित देवप्रकाश तथा पण्डित कालीचरण शर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। पण्डित मनसाराम ने पौराणिक मत की आलोचना में उर्दू में विपुल साहित्य लिखा है। उनके द्वारा किये गये शास्त्रार्थों के विवरण भी उर्दू में छपे। राधास्वामी सम्प्रदाय के आचार्य श्री आनन्दस्वरूप (साहबजी महाराज) ने जब सत्यार्थप्रकाश के खण्डन में 'यथार्थप्रकाश' नामक ग्रन्थ लिखा तो पण्डित मीरपुरी ने मेहता सावनमलदत्त के सहयोग से 'यथार्थप्रकाश की हकीकत' लिखी और राधास्वामी आचार्य के आक्षेपों का निराकरण किया। पण्डित भोजदत्त, पण्डित लक्ष्मण, पण्डित देवप्रकाश तथा पण्डित कालीचरण शर्मा ने इस्लाम व ईसाइयत की आलोचना में प्रचुर उर्दू साहित्य का निर्माण किया है। पण्डित लक्ष्मण ने भी राधास्वामी-मत की आलोचना में एक ग्रन्थ लिखा तथा स्वामी दयानन्द का एक विपुलकाय जीवनचरित भी उर्दू में लिखा।

एक युग था जबकि आर्यसमाज का उर्दू साहित्य विशालता, गुणवत्ता तथा लोकप्रियता की सभी सीमाओं को पार कर गया था। आर्यसमाज के उर्दू लेखकों ने इस भाषा में एक विशिष्ट शैली को ही जन्म दिया है। इनके ग्रन्थों में प्रायः धार्मिक, आध्यात्मिक तथा दार्शनिक विषयों का विवेचन रहता था, अतः इनके द्वारा प्रयुक्त उर्दू शैली में संस्कृत के अनेक शब्दों के तत्सम तथा तद्भव रूप प्रविष्ट हो गये। कठिन फारसी-अरबी बोझिल उर्दू लिखने वालों को प्रायः आर्यसमाज के इन उर्दू लेखकों से यह शिकायत रहती थी कि इन्होंने उर्दू को संस्कृतप्रधान बना दिया है। हिन्दुओं के मान्य शास्त्रीय साहित्य को उर्दू के माध्यम से उपलब्ध कराना इन लेखकों की एक महती उपलब्धि ही मानी जायेगी। आर्यसमाज के उर्दू लेखकों की संख्या इतनी अधिक है कि उन सबका यहाँ समग्र विवरण उपस्थित करना भी कठिन है। प्रो० राजेन्द्र जिज्ञासु ने परोपकारी में वर्ष १९७५-७८ ई० की अवधि में २१ लेखों की एक लेखमाला मेरे अनु-

रोध पर आर्यसमाज के उर्दू साहित्य पर लिखी थी। उसमें उर्दू के अनेक ज्ञात, अज्ञात तथा अल्पज्ञात लेखकों तथा उनकी रचनाओं का परिचय उपलब्ध कराया गया था। एक ऐसे ही प्रगल्भ आर्य लेखक सहारनपुर जिले के गंगोह ग्राम निवासी श्री रहतूलाल आर्य की उर्दू रचनाओं का परिचय हमें इसी लेखमाला से मिला।

भारत के स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के बाद के युग में उर्दू का महत्त्व कम होता गया। जब उर्दू पढ़ने और जानने वालों की संख्या भी कम हो गई तो उर्दू लिखनेवालों की संख्या का घटना तो स्वाभाविक ही था। आर्यसमाज के वर्तमानयुगीन उर्दू लेखकों में पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय तथा पण्डित नरेन्द्र के नाम उल्लेखनीय हैं। उपाध्यायजी ने उर्दू में ट्रैक्टमाला लिखी, इस्लाम की समालोचना में एक उत्कृष्ट ग्रन्थ मसाबीदुल-इस्लाम लिखा, कर्म-सिद्धान्त पर फलसफाएआमाल लिखा तथा उर्दू में रसपूर्ण काव्य-रचना भी की। पण्डित नरेन्द्र ने 'दयानन्द-आजम' शीर्षक स्वामी दयानन्द का एक उत्कृष्ट जीवनचरित लिखा। वस्तुतः आर्यसमाज के उर्दू साहित्य का समग्र एवं व्यवस्थित मूल्यांकन तो एक पृथक् ग्रन्थ में ही किया जा सकता है।

(२) आर्यसमाज का अंग्रेजी साहित्य

शासक जाति की भाषा होने के कारण अंग्रेजी का भारतीय जीवन पर वर्चस्व विदेशी शासनकाल में तो रहा ही, देश के स्वतन्त्र हो जाने के पश्चात् भी उसका बोल-बाला और दबदबा यथावत् बना हुआ है। स्वामी दयानन्द भी अंग्रेजी भाषा के महत्त्व से अपरिचित नहीं थे। जब उनसे कहा गया कि यदि उनके वेद-भाष्य का अनुवाद उर्दू तथा अंग्रेजी भाषा में हो जाय, तो इन भाषाओं से अभिज्ञ व्यक्ति भी इन ग्रन्थों का लाभ उठा सकेंगे, तो स्वामीजी का सीधा उत्तर यही था कि वे तो उस दिन को देखने के इच्छुक हैं जबकि समस्त भारतवासी हिन्दी और संस्कृत के माध्यम से ही पढ़ा करेंगे। परन्तु इसी बात को कहनेवाले स्वामी दयानन्द ने लाहौर आर्यसमाज के तत्कालीन प्रधान लाला मूलराज से गोकरुणानिधि का अंग्रेजी अनुवाद करने का आग्रह भी किया था। वे जानते थे कि गोरक्षा के प्रश्न को यदि गौरांग शासकों के सम्मुख दृढ़तापूर्वक पेश किया जाना है तो गोकरुणानिधि जैसी गाय की समस्या को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करनेवाली पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद होना ही चाहिये। यह दूसरी बात है कि स्वामीजी के बार-बार अनुरोध करने पर भी राय मूलराज अपने कतिपय पूर्वाग्रहों के कारण उस कार्य को नहीं कर पाये।

आर्यसमाज के अंग्रेजी भाषाविद् लेखकों ने अंग्रेजी में विशाल साहित्य का प्रणयन किया है। हम इस ग्रन्थ में आर्यसमाज के अंग्रेजी साहित्य का प्रसंगोपात्त विभिन्न अध्यायों में वर्णन कर चुके हैं, तथापि यहाँ हम कुछ लेखकों तथा उनकी कतिपय अंग्रेजी में लिखी गई उल्लेखनीय कृतियों का विवरण दे रहे हैं। यह भी सम्भव है कि इस विवरण में कुछ पुनरुक्ति भी हो जाय, किन्तु यहाँ यह जानकारी आर्यसमाज के अंग्रेजी साहित्य के सन्दर्भ में ही प्रस्तुत की जा रही है। हम इन लेखकों और उनकी रचनाओं की जान-कारी प्रान्तों के आधार पर दे रहे हैं।

सर्वप्रथम हम पंजाब को लें। स्वामी दयानन्द के अन्तिम समय में उनकी सेवा-सुश्रूषा हेतु अजमेर आनेवाले पण्डित गुरुदत्त को आर्यसमाज के प्रथम अंग्रेजी साहित्य-

प्रणेता होने का गौरव प्राप्त है। विज्ञान के विद्वान् तथा गवर्नमेंट कॉलिज लाहौर में रसायनशास्त्र के प्राध्यापक पण्डित गुरुदत्त वेदों के उच्च कोटि के विद्वान् थे। उन्होंने वेदों पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखे जिनकी चर्चा हम आर्यसमाज द्वारा निर्मित वैदिक साहित्य अध्याय के अन्तर्गत कर चुके हैं। उन्होंने कतिपय लघु उपनिषदों के अंग्रेजी में अनुवाद किये तथा प्रो० मोनियर विलियम्स, पादरी टी० विलियम्स तथा श्री फ्रैडरिक पिन्काट की कुछ विवादास्पद उपपत्तियों का सशक्त खण्डन किया। उनके अंग्रेजी के ग्रन्थों का संग्रह अनेक संस्करण देख चुका है।

पंजाब को ही बावा छज्जूसिंह तथा बावा अर्जुनसिंह जैसे साहित्यकार भाइयों को जन्म देने का गौरव प्राप्त है। ये जन्मना सिक्ख थे, परन्तु आर्यसमाज के कट्टर अनुयायी थे। दोनों भाइयों ने अंग्रेजी में प्रचुर साहित्य लिखा है जिनमें स्वामी दयानन्द के अंग्रेजी जीवनचरित, स्वामीजी के कुछ ग्रन्थों के अंग्रेजी अनुवाद तथा कुछ अन्य ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं। डॉ० चिरंजीव भारद्वाज तथा पण्डित दुर्गाप्रसाद ने सत्यार्थप्रकाश के अंग्रेजी अनुवाद किये। पण्डित दुर्गाप्रसाद का अंग्रेजी साहित्य विविधतापूर्ण है। उन्होंने कुल मिलाकर लगभग ४० ग्रन्थ लिखे। एक सिद्धहस्त लेखक होने के साथ-साथ वे सफल प्रकाशक भी थे। उनके द्वारा स्थापित और संचालित विरजानन्द प्रेस, लाहौर का अग्रणी प्रकाशन-संस्थान था। पण्डित दुर्गाप्रसाद द्वारा ऋग्वेद के अनेक सूक्तों का अंग्रेजी अनुवाद तथा इस अनुवाद की भूमिका—Introduction to the Vedas made Easy इस बात का प्रमाण है कि वे वैदिक ज्ञान को अंग्रेजी पठितवर्ग तक पहुँचाने के लिए कितने उत्सुक थे।

स्वामी श्रद्धानन्द, लाला लाजपतराय तथा पण्डित चमूपति का साहित्य एकाधिक भाषाओं में उपलब्ध होता है। लाला लाजपतराय अंग्रेजी तथा उर्दू के सिद्धहस्त लेखक थे। अंग्रेजी में लिखी हुई उनकी पुस्तक The Arya Samaj एक कालजयी ग्रन्थ है। स्वामी श्रद्धानन्द अंग्रेजी के अतिरिक्त उर्दू तथा हिन्दी में भी लिखते थे। आचार्य रामदेव के सहलेखन में तैयार की गई उनकी ऐतिहासिक पुस्तक The Arya Samaj and its Detractors : A Vindication आर्यसमाज को अराजनैतिक संस्था सिद्ध करने में एक प्रामाणिक अभिलेख का काम करती है। उनकी Inside Congress नामक एक अन्य कृति की चर्चा भी हम कर चुके हैं। पण्डित चमूपतिकृत आर्यसमाज के नियमों की व्याख्या तथा यजुर्वेद के प्रथम दस अध्यायों का अंग्रेजी अनुवाद आर्यसमाज के साहित्य के गौरवास्पद ग्रन्थ हैं। भूमानन्द सरस्वती ने वेद-मन्त्रों के अनुवाद एवं व्याख्या-विषयक जो ग्रन्थ अंग्रेजी में लिखे, उनसे वेदाभ्यासियों को पर्याप्त लाभ पहुँचता है।

उत्तरप्रदेश के पण्डित गंगाप्रसाद जज तथा पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय का नाम अंग्रेजी साहित्य-लेखन की दृष्टि से सर्वोपरि उल्लेखनीय है। जज महोदय की फाउण्टेन हैड ऑफ रिलिजन, केन तथा कठ उपनिषदों के अनुवाद तथा Vedic Texts शीर्षक ग्रन्थमाला आर्यसमाज के स्वाध्यायशील जनों में सम्मानित स्थान प्राप्त कर चुकी हैं। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय का अंग्रेजी लेखन पर्याप्त विशाल तथा बहुआयामी रहा है। रिलिजियस रेनेसां सिरीज के अन्तर्गत उनके अनेक ग्रन्थ छपे। आर्यसमाज चौक प्रयाग के ट्रैक्ट विभाग से जो अंग्रेजी ट्रैक्ट छपे, वे भी उपाध्यायजी प्रणीत ही थे। स्वामी दयानन्द का दर्शन तथा वैदिक संस्कृत पर लिखे गये उनके अंग्रेजी के स्तरीय

ग्रन्थ हैं। श्री मदनमोहन सेठ भी अंग्रेजी के प्रगल्भ लेखक थे। लॉर्ड मार्ले को लिखा गया आर्यसमाज और राजनीति-विषयक उनका खुला पत्र आर्यसमाज के इतिहास का एक महत्त्वपूर्ण दस्तावेज है। डी० ए० वी० कॉलेज कानपुर के प्रिंसिपल दीवानचन्द की अंग्रेजी कृतियों का उल्लेख भी यथाप्रसंग किया जा चुका है।

श्री वेचाराम चटर्जी यद्यपि बंगाली थे किन्तु उनका कार्यक्षेत्र सिंध प्रान्त का सक्खर नगर रहा। वे यहाँ की आर्यसमाज के प्रधान थे। चटर्जी महाशय की अनेक अंग्रेजी पुस्तकें विगत शताब्दी के अन्तिम दशक में ही छप चुकी थीं। इन पंक्तियों के लेखक द्वारा सम्पादित (यद्यपि अप्रकाशित) आर्य साहित्यकार-कोश में श्री वेचाराम चटर्जी लिखित लगभग १६-१७ ग्रन्थों का विवरण अंकित किया गया है। सिंध प्रान्त के ही प्रो० ताराचन्द गाजरा तथा प्रो० टीकमदास गाजरा ने अंग्रेजी में अनेक उल्लेखनीय ग्रन्थ लिखे। इन दोनों भाइयों की कृतियाँ हरिसुन्दर साहित्य मन्दिर शिकारपुर (सिंध) से प्रकाशित हुई थीं।

अजमेर (राजस्थान) के श्री हरविलास शारदा का अंग्रेजी भाषा में लिखा गया साहित्य आर्यसमाज के इतिहास की आधारभूत सामग्री प्रस्तुत करता है। उनका लिखा स्वामी दयानन्द का अंग्रेजी जीवनचरित तो इस भाषा में लिखा गया सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। उनकी Hindu Superiority में भारत के अतीत गौरव को जिस प्रकार प्रस्तुत किया गया था, उसे देखकर तो एक बार अंग्रेजी सरकार भी चौंक गई थी। आंध्रप्रदेश के निवासी पण्डित अनन्तगणेश धारेश्वर 'आत्मा' के छद्म नाम से लिखते थे। उनकी अंग्रेजी पुस्तकों की सूची भी पर्याप्त लम्बी है। उनकी Vedic Teachings and Ideals को महात्मा नारायण स्वामी ने दयानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित किया था। इसमें विद्वान् लेखक ने डॉ० आर० जी० भण्डारकर लिखित मराठी पुस्तक 'प्रपन्न प्रलपित' में व्यक्त की गई इस धारणा का खण्डन किया है कि वेदों में निहित प्रार्थनाएँ मात्र भौतिक ऐश्वर्य तथा लौकिक पदार्थों के लिए ही की गयी हैं, जबकि तुकाराम आदि सन्तों की प्रार्थनाएँ आध्यात्मिक उत्कर्ष की प्राप्ति तथा जीव के दुर्गुणों के नाश के लिए की गई हैं। श्री आत्मा हैदराबाद-स्थित वैदिक आश्रम के आचार्य थे।

पटना (विहार) के श्री शिवनन्दनप्रसाद कुल्यात ने स्वामी दयानन्द का एक व्यवस्थित तथा सुन्दर जीवन-चरित अंग्रेजी में लिखा था। रांची के श्री बालकृष्णसहाय वकील ने पण्डित आर्यमुनि के वेदान्तदर्शन के भूमिका भाग का अंग्रेजी अनुवाद किया। कलकत्ता के पण्डित शंकरनाथ अंग्रेजी के प्रौढ़ विद्वान् थें। उनकी अनेक अंग्रेजी कृतियों का उल्लेख इस ग्रन्थ में यथास्थान किया गया है। पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति ने अंग्रेजी में स्वामी दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य का अंग्रेजी अनुवाद कर एक अत्यन्त उपयोगी एवं महत्त्वपूर्ण कार्य किया है। इस अनुवाद के तीन खण्ड अब तक प्रकाशित हुए हैं। उनकी अन्य अनेक कृतियाँ अंग्रेजी भाषा के पाठकों को वैदिक धर्म का परिचय कराने की दृष्टि से लिखी गयी थीं।

अभी हाल ही में दिवंगत श्री रघुनाथप्रसाद पाठक अंग्रेजी के सिद्धहस्त लेखक थे। आर्यसमाज के विद्यमान लेखकों में सर्वश्री आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री, डॉ० स्वामी सत्यप्रकाश तथा स्वामी विद्यानन्द सरस्वती की अनेक प्रौढ़ रचनाएँ अंग्रेजी में छप चुकी हैं। शास्त्रीजी का The Arya Samaj : Its Cult and Creed, स्वामी सत्यप्रकाश

लिखित A Critical Study of the Philosophy of Dayanand तथा अनेक अन्य कृतियों ने आर्यसामाजिक साहित्य को समृद्ध बनाया है। उनके विदेशों में दिये गये अंग्रेजी भाषण भी दो खण्डों में प्रकाशित हो चुके हैं। स्वामी विद्यानन्द सरस्वती की Theory of Reality उनके द्वारा ही निर्मित संस्कृतसूत्रों की अंग्रेजी व्याख्या है। उन्होंने पण्डित उदयवीर शास्त्री लिखित आचार्य शंकर का काल का अंग्रेजी अनुवाद The Age or Shankar शीर्षक से किया है।

इस प्रसंग में आस्ट्रेलिया के केनबरा-स्थित राष्ट्रीय विश्वविद्यालय के प्रो० जे० टी० एफ० जॉर्डन्स तथा अमेरिका के प्रो० केनेथ जोन्स के नाम भी उल्लेखनीय हैं। प्रो० जॉर्डन्स ने स्वामी दयानन्द तथा स्वामी श्रद्धानन्द के खोजपूर्ण जीवनचरित लिखे हैं जबकि प्रो० जोन्स का 'दि आर्यधर्म' उन्नीसवीं शताब्दी में पंजाब के जीवन पर आर्यसमाज के प्रभाव का विश्लेषण प्रस्तुत करता है।

बीसवाँ अध्याय

आर्य साहित्य के प्रकाशक

(१) आर्य साहित्य का प्रकाशन

साहित्य के प्रचार एवं प्रसार में पुस्तक-प्रकाशकों के योगदान को विस्मृत करना कठिन है। लेखक का कार्य तो अपनी कृति को अन्तिम रूप देने के साथ-साथ समाप्त हो जाता है। इसके पश्चात् ग्रन्थ-प्रकाशक की भूमिका आरम्भ होती है। स्वामी दयानन्द ने स्वरचित ग्रन्थों के प्रकाशन की व्यवस्था स्वयं ही की थी और वैदिक यन्त्रालय की स्थापना के द्वारा ग्रन्थों का मुद्रण-कार्य भी आरम्भ किया था। निरन्तर भ्रमणशील परिव्राजक के लिए किसी प्रेस या प्रकाशन-संस्थान का संचालन कितना कठिन होता है, यह हम स्वामी दयानन्द के जीवनचरित के प्रासंगिक स्थलों को पढ़कर जान सकते हैं। वैदिक-यन्त्रालय की स्थापना के लिए प्रथम तो अर्थ-संग्रह ही एक समस्या थी। इसे स्वामीजी ने अपने शुभचिन्तकों, भक्तों तथा अनुयायियों की सहायता से पूरा किया। हमारे संग्रह में वैदिक यन्त्रालय की स्थापना हेतु द्रव्य प्रदान करनेवालों की एक मुद्रित सूची है। इसमें शीर्षस्थ नाम फर्रुखाबाद के रईस बाबू दुर्गादास का है जिन्होंने इस कार्य हेतु एकमुश्त ६००० रुपये की राशि दी थी। अन्य लोगों ने स्वसामर्थ्यानुसार वैदिक यन्त्रालय के लिए दान दिया। परन्तु धन प्राप्त कर यन्त्रालय स्थापित कर लेना ही पर्याप्त नहीं था। प्रथम तो यन्त्रालय के प्रबन्धक के रूप में किसी योग्य पुरुष का मिलना ही कठिन था। स्वामीजी के जीवनकाल में ही यन्त्रालय के तत्कालीन प्रवन्धक मुंशी बख्तावरसिंह ने धन का जो घोटाला किया, उसकी चर्चा हम उनके जीवनचरित में पढ़ते हैं। यन्त्रालय के सुप्रबन्ध के अतिरिक्त दूसरी समस्या ग्रन्थों के संशोधन हेतु नियुक्त पण्डित-मण्डली की थी। स्वामी-जी को अक्सर यह शिकायत रहती थी कि पण्डित भीमसेन, पण्डित ज्वालादत्त तथा पण्डित दिनेशराम आदि संशोधक, प्रूफ-पाठक तथा ग्रन्थों की प्रेस-कापी बनानेवाले पण्डित का काम सन्तोषजनक नहीं है। इनमें कुछ पौराणिक विचारों के थे, अतः वे जान-बूझकर स्वामीजी के ग्रन्थों में उनके विचारों के विरुद्ध लेख प्रक्षिप्त कर देने में भी संकोच नहीं करते थे।

इन विषम परिस्थितियों के रहते हुए भी स्वामी दयानन्द ने वेदादि सत्शास्त्रों तथा उनके व्याख्या-ग्रन्थों के प्रकाशन को एक लोकोपकार का कार्य समझा और नाना बाधाओं के आने पर भी वे यन्त्रालय को प्रगति के मार्ग पर पहुँचा सके। स्वामीजी के निधन के आज १०२ वर्ष बाद भी वैदिक यन्त्रालय स्वलक्ष्यपूर्ति में तत्परतापूर्वक जुटा हुआ है। यह ध्यातव्य है कि स्वामीजी ने अपने स्वीकार-पत्र में स्पष्ट लिख दिया था कि उनकी मृत्यु के पश्चात् परोपकारिणी सभा वैदिक यन्त्रालय का संचालन करेगी तथा

स्वामीकृत ग्रन्थों का मुद्रण एवं प्रकाशन करती रहेगी। यह सभा आज भी अपने इस दायित्व का यथाशक्य पालन कर रही है।

ज्यों-ज्यों आर्यसमाज का प्रचार एवं प्रसार बढ़ता गया, अधिकाधिक प्रकाशक और संस्थाएँ साहित्य-प्रकाशन के कार्य में आगे आये। एक समय था जबकि अविभाजित पंजाब की राजधानी लाहौर आर्यसमाज के साहित्य-प्रकाशन का केन्द्र था। यहाँ विरजानन्द प्रेस, वैदिक पुस्तकालय, राजपाल एण्ड सन्स आदि व्यक्ति-आधारित प्रकाशकों के अतिरिक्त आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब तथा आर्यप्रादेशिक सभा भी ग्रन्थों का प्रकाशन करती थी। दिल्ली, अजमेर, जालंधर, आगरा, लखनऊ, प्रयाग आदि नगरों में आर्यसमाज के अनेक उत्तम प्रकाशन-संस्थान कार्यरत थे। विभिन्न प्रान्तीय सभाएँ भी साहित्य-प्रकाशन में अग्रणी रहती थीं। पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा ने पं० चमूपति की स्मृति में प्रकाशन-विभाग स्थापित किया तो प्रादेशिक सभा के प्रकाशन विभाग के साथ महात्मा हंसराम का नाम जुड़ा हुआ था। संयुक्त प्रान्त (उत्तरप्रदेश) की सभा ने मेरठ के महान् साहित्य-कार पण्डित घासीराम की स्मृति में अपना प्रकाशन-विभाग संचालित किया। मुम्बई प्रदेश की सभा ने गुजराती में आर्य साहित्य प्रकाशित किया। अनेक आर्यसमाजें भी प्रकाशन के क्षेत्र में आगे आयीं। आर्यसमाज चौक प्रयाग ने आर्य ट्रैक्टमाला तथा पण्डित गंगा-प्रसाद उपाध्याय के अनेक उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशित किये। निजी क्षेत्र में प्रकाशन का कार्य करने वालों में महाशय राजपाल का सरस्वती पुस्तकालय लाहौर, महाशय गोविन्दराम हासानन्द का आर्य साहित्य भवन तथा श्री मथुराप्रसाद शिवहरे द्वारा स्थापित आर्य-साहित्य मण्डल अजमेर के नाम गणनीय हैं। मुरादाबाद के पण्डित शंकरदत्त शर्मा ने वैदिक पुस्तकालय के द्वारा अनेक ग्रन्थ छापे।

देश-विभाजन के पश्चात् आर्य साहित्य के प्रकाशन-कार्य में पर्याप्त शैथिल्य आ गया है। राजपाल जैसे आर्यसाहित्य के प्रमुख प्रकाशक आर्यसमाज के साहित्य को प्रकाशित करने से हाथ खींच बैठे और हिन्दी साहित्य के अग्रणी प्रकाशक बनकर प्रचुर द्रव्योपार्जन में लग गये। अब कुछ निष्ठावान् प्रकाशक ही इस क्षेत्र में रह गये हैं। प्रकाशकों की कठिनाइयाँ भी कम नहीं हैं। आर्यसमाजियों में स्वाध्याय की प्रवृत्ति के क्षीण हो जाने के कारण ग्रन्थों की पर्याप्त बिक्री नहीं होती। फिर विगत एक दशक में कागज, छपाई, मुद्रण-उपकरण आदि में बेतहाशा महँगाई हो जाने के कारण मुद्रित ग्रन्थों का मूल्य अधिक रखना पड़ता है। आर्यसमाज के साहित्य के पाठक, जिन्हें स्वामी दर्शनानन्द के सस्ते मूल्य वाले ट्रैक्ट पढ़ने का ही अभ्यास रहा है, अधिक मूल्य के ग्रन्थ खरीदने में संकोच करते हैं। आर्यसमाज के अधिकांश पदाधिकारी स्वाध्यायशून्य होते हैं, अतः वे आर्यसमाजों के पुस्तकालयों के लिए ग्रन्थ खरीदना ही नहीं चाहते। उन्हें ग्रन्थ क्रय करना धन का अपव्यय ही लगता है। तथापि जो निष्ठावान् और साहसी प्रकाशक अपने हानि-लाभ की अधिक चिन्ता किये बिना, साहित्य-प्रकाशन के इस सारस्वत यज्ञ के होता बने हुए हैं, वे हमारी श्रद्धा एवं सम्मान के पात्र हैं। आगे की पंक्तियों में हम आर्यसमाज के प्रमुख (अतीत एवं वर्तमान के) प्रकाशकों का स्वल्प परिचय अकारादि क्रम से दे रहे हैं। इन पंक्तियों को पढ़कर पाठक यह समझ सकेंगे कि आर्य-साहित्य के प्रकाशकों की यह साधना कितनी स्तुत्य तथा अभिनन्दनीय है।

(२) आर्य प्रकाशकों का परिचय

(१) आर्यकुमार सभा किंग्सवे, दिल्ली—आर्यकुमार सभा किंग्सवे दिल्ली एक पंजीकृत संस्था है। इसका पृथक् प्रकाशन-विभाग है, जिसके अन्तर्गत श्रद्धा पुष्पमाला नामक ग्रन्थमाला प्रकाशित होती है। अब तक लगभग १०० छोटी-बड़ी पुस्तकें यहाँ से छप चुकी हैं। प्रकाशन-विभाग के आजीवन सदस्य बनाये जाते हैं। ऐसे सदस्यों की संख्या भी पर्याप्त है। सस्ते साहित्य के प्रचार में इस संस्था द्वारा उल्लेखनीय कार्य किया गया है।

(२) आर्यन प्रिंटिंग, पब्लिशिंग एण्ड जनरल ट्रेडिंग कम्पनी लिमिटेड, लाहौर—यह संस्था मुख्य रूप से अंग्रेजी के ग्रन्थों का प्रकाशन करती थी। यहाँ से बावा छज्जूसिंह व बावा अर्जुनसिंह के ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। पण्डित गुरुदत्त की अंग्रेजी ग्रन्थावली का प्रकाशन भी यहीं से हुआ था।

(३) आर्यप्रकाश पुस्तकालय, आगरा—आगरा-निवासी स्वर्गीय श्री मुंशीलाल शर्मा ने उपर्युक्त प्रकाशन-संस्था की स्थापना की। उन्होंने स्वामी दर्शनानन्दजी के अनेक ग्रन्थ छापे। कालान्तर में श्री शर्मा के पुत्र श्री कृष्णचन्द्र इसका संचालन दिल्ली से करते रहे। अब श्री कृष्णचन्द्र का भी निधन हो जाने से यह प्रकाशन बन्द हो गया है।

(४) आर्य प्रकाशन, अमृतसर—स्वर्गीय श्री पिण्डीदास ज्ञानी ने अमृतसर में आर्य प्रकाशन तथा आर्य प्रेस की स्थापना की। स्वयं ज्ञानीजी के अनेक ग्रन्थ यहाँ से छपे थे।

(५) आर्य प्रकाशन, दिल्ली—श्री तिलकराज आर्य द्वारा स्थापित आर्यप्रकाशन से स्वामी रामेश्वरानन्द, प्रोफेसर राजेन्द्र जिज्ञासु, डॉक्टर भवानीलाल भारतीय आदि अनेक लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित हुई हैं।

(६) आर्य प्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश (भूतपूर्व संयुक्त प्रान्त) का पण्डित घासीराम साहित्य विभाग—आर्य प्रतिनिधि सभा पश्चिमोत्तर प्रदेश (यही उस समय इस प्रान्त का नाम था) ने विगत शताब्दी के अन्तिम दशाब्द में ही साहित्य-प्रचार के लिए अपने साहित्य विभाग का गठन कर लिया था। कालान्तर में इसे पण्डित घासीराम की स्मृति में पण्डित घासीराम प्रकाशन-विभाग का नाम दिया गया। पण्डित रामदत्त शुक्ल इस विभाग के वर्षों तक अधिष्ठाता रहे थे। सम्प्रति यह विभाग शिथिलप्राय ही है।

(७) आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का पण्डित चमूपति प्रकाशन विभाग—विभिन्न प्रान्तों में आर्य प्रतिनिधि सभाओं का संगठन होने के पश्चात् वहाँ पृथक्-पृथक् प्रकाशन-विभाग स्थापित किये गये। इनके माध्यम से उत्कृष्ट साहित्य का निर्माण व प्रकाशन होता था। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का प्रकाशन-विभाग अत्यन्त पुराना है। यहाँ उर्दू एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में साहित्य छपता था।

पण्डित चमूपति के निधन के पश्चात् इस प्रकाशन-विभाग को पण्डित चमूपति प्रकाशन-विभाग के नाम से जाना जाता था। देश-विभाजन के पश्चात् पंजाब सभा का प्रकाशन-कार्य अत्यन्त शिथिल अवस्था में चल रहा है।

(८) आर्ययुवक समाज तथा पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय प्रकाशन मन्दिर, अबोहर(पंजाब)—आर्यसमाज के प्रसिद्ध शोध विद्वान् प्रोफेसर राजेन्द्र जिज्ञासु की प्रेरणा

एवं परिश्रम से उपर्युक्त संस्थाएँ स्थापित हुईं तथा इनके द्वारा स्वयं जिज्ञासुजी तथा अन्य विद्वानों की रचनाओं का प्रकाशन हुआ।

(९) मुम्बई प्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा—गुजराती भाषा में स्वामी दयानंद के साहित्य को प्रकाशित करने में इस संस्था का उल्लेखनीय योगदान रहा। यहाँ से अन्य गुजराती पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं।

(१०) आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा का महात्मा हंसराज साहित्य विभाग—पंजाब के आर्यसामाजिक संगठन में विभाजन की प्रवृत्ति विगत शताब्दी के अन्त में दीख पड़ी थी। उसका अन्तिम परिणाम आर्य प्रतिनिधि सभा और आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा नामक दो पृथक् संगठनों के रूप में उभरकर सामने आया। प्रादेशिक सभा ने भी उच्चकोटि का साहित्य प्रकाशित किया।

कालान्तर में इस प्रकाशन को महात्मा हंसराज की स्मृति में 'महात्मा हंसराज प्रकाशन विभाग' के नाम से संचालित किया जाता रहा। देश-विभाजन के पश्चात् भी प्रादेशिक सभा का साहित्य-विभाग येन-केन-प्रकारेण कार्यरत है। अब इसका कार्यालय दिल्ली में है।

(११) आर्यप्रेमी कार्यालय, अजमेर—अजमेर के उत्साही आर्यसमाजी हकीम स्वर्गीय वीरूमल आर्यप्रेमी ने 'आर्यप्रेमी' मासिक का प्रकाशन करने के साथ-साथ पुस्तक-प्रकाशन का कार्य भी प्रारम्भ किया। यहाँ से अनेक पुस्तकें प्रकाशित हुईं। स्वामी अच्युतानन्दकृत वेदों के शतक तथा स्वामी वेदानन्द तीर्थकृत वेदामृत (एक अंश) को आर्यप्रेमी कार्यालय से प्रकाशित किया गया था।

(१२) आर्यमुसाफिर बुक डिपो, आगरा—पं० कालीचरण शर्मा आर्यमुसाफिर ने उक्त प्रकाशन-संस्था की स्थापना की। इसके माध्यम से पं० कालीचरण शर्मा लिखित खण्डन-मण्डन के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए। यहाँ से इस्लाम की आलोचना-विषयक साहित्य भी प्रमुखता से छपा।

(१३) अखिल भारतीय आर्यसभा, पीलीभीत—पण्डित इन्द्रदेव द्वारा स्थापित उक्त संस्था ने आर्यसाहित्य के कई छोटे-बड़े ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं।

(१४) आर्यसभा, अजमेर—सत्यार्थप्रकाश व्याख्या माला, धर्मशिक्षा तथा लाला लाजपतरायकृत अंग्रेजी ग्रन्थ दि आर्यसमाज का हिन्दी अनुवाद आर्यसमाज अजमेर से प्रकाशित कुछ प्रमुख ग्रन्थ हैं।

(१५) आर्यसमाज चौक (प्रयाग) का ट्रैक्ट विभाग—पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय की प्रेरणा से आर्य-सिद्धान्तों को लघु पुस्तिकाओं के माध्यम से प्रस्तुत करने के लिए १९२४ ई० में आर्यसमाज चौक प्रयाग ने ट्रैक्ट विभाग की स्थापना की। तब से लेकर अब तक इस विभाग द्वारा लाखों की संख्या में हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी में ट्रैक्ट प्रकाशित हो चुके हैं। ट्रैक्ट विभाग ने Religious Renaissance Series के अन्तर्गत कुछ अच्छे अंग्रेजी ग्रन्थ भी प्रकाशित किये थे।

(१६) आर्यसमाज मद्रास—आर्यसमाज के अंग्रेजी साहित्य को प्रकाशित करने में आर्यसमाज मद्रास की प्रमुख भूमिका रही है। सत्यार्थप्रकाश के अंग्रेजी अनुवाद, पं० गंगाप्रसाद जज लिखित The Fountain Head of Religion तथा पण्डित केशवदेव ज्ञानी के अनेक अंग्रेजी ग्रन्थ यहाँ से प्रकाशित हुए।

(१७) **आर्यसमाज अहमदाबाद(काकरिया मार्ग)**—इस संस्थान ने आर्यसमाज के साहित्य तथा स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों के गुजराती अनुवाद प्रकाशित किये हैं।

(१८) **आर्यसाहित्य मण्डल, अजमेर**—वैदिक यन्त्रालय अजमेर के भूतपूर्व प्रबन्धक श्री मथुराप्रसाद शिवहरे ने १९२३ ई० में ख्वाजा हसन निज़ामी की उर्दू पुस्तक दाइए-इस्लाम का हिन्दी में अनुवाद किया और उसे 'अलार्म बेल' या 'खतरे का घण्टा' शीर्षक देकर प्रकाशित किया। प्रकाशक के स्थान पर उन्होंने आर्य साहित्य मण्डल का नाम दे दिया। १९२५ ई० में मथुरा में सम्पन्न हुई दयानन्द जन्मशताब्दी के समारोह के पश्चात् श्री शिवहरे ने चारों वेदों के सरल हिन्दी में भाषानुवाद प्रकाशित करने की योजना बनाई। इस कार्य के लिए गुरुकुल काँगड़ी के विद्वान् पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार की सेवाएँ ली गईं। इसी बीच में आर्य साहित्य मण्डल को लिमिटेड कम्पनी का रूप दे दिया गया और इसके माध्यम से व्यवस्थित रूप से साहित्य-प्रकाशन का कार्य होने लगा। चारों वेदों के हिन्दी भाषाभाष्य के अतिरिक्त आर्य साहित्य मण्डल ने स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य को छोड़कर प्रायः सभी ग्रन्थों को प्रकाशित किया है। पण्डित देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्याय लिखित स्वामी दयानन्द के बृहद् जीवनचरित (जो पं० घासीराम द्वारा पूरा किया गया था)को दयानन्द निर्वाण अर्द्ध शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित करने का श्रेय भी इसी संस्था को है। इसके अतिरिक्त मण्डल ने स्वामी ब्रह्ममुनि, पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री, पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार आदि प्रख्यात आर्य लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित की हैं। इस समय मण्डल के मैनेजिंग डाइरेक्टर भी मथुराप्रसाद शिवहरे के पुत्र श्री शिरीषचन्द्र शिवहरे हैं। मण्डल ने कई वर्षों से आर्य साहित्य प्रकाशन के कार्य को पर्याप्त शिथिल कर दिया है।

(१९) **श्री आर्यसेवा संघ, सूरत**—१९५२ ई० में सूरत-निवासी श्रीकान्त रणछोड़जी भगत ने आर्यसेवा संघ की स्थापना कर गुजराती में आर्यसमाज का साहित्य प्रकाशित करने की एक महत्त्वपूर्ण संस्था का सूत्रपात किया। इसके माध्यम से सैकड़ों छोटे-बड़े ग्रन्थ कई संस्करणों में प्रकाशित किये गये। संघ द्वारा प्रकाशित ऋषि-कथा पर गुजरात सरकार द्वारा पुरस्कार प्रदान किया गया है। श्री भगतजी के निधन के पश्चात् यह संस्था बन्द हो गई और गुजराती में साहित्य-प्रकाशन का यह कार्य भी समाप्त हो गया।

(२०) **आर्य स्वाध्याय केन्द्र, नई दिल्ली**—डॉक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार द्वारा स्थापित आर्य स्वाध्याय केन्द्र ने आर्यसमाज के इतिहास को सात बृहद् खण्डों में प्रकाशित करने की योजना बनाई है। इसके अन्तर्गत चार खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं। पंचम, साहित्य-विषयक यह खण्ड पाठकों के समक्ष है। इसी प्रकाशन-संस्था द्वारा डॉक्टर शान्ता मल्होत्रा द्वारा लिखित Political Thought of Swami Dayanand भी प्रकाशित किया गया है।

(२१) **आर्ष ग्रन्थावली, लाहौर**—पं० राजाराम ने अपने ग्रन्थों के प्रकाशनार्थ आर्ष ग्रन्थावली प्रकाशन का आरम्भ लाहौर में किया। इसके अन्तर्गत उनके दर्शन, उपनिषद्, निरुक्त, गीता, महाभारत आदि ग्रन्थों के भाष्य तथा अन्य स्फुट ग्रन्थ प्रकाशित हुए।

(२२) **आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट, दिल्ली**—स्वर्गीय दीपचन्दजी आर्य ने इस

ट्रस्ट की स्थापना की थी। ट्रस्ट का उद्देश्य स्वामी दयानन्द तथा अन्य ऋषि-मुनियों के आर्ष ग्रन्थों का प्रचार एवं प्रसार करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए आर्ष साहित्य प्रचार ट्रस्ट ने स्वामी दयानन्द के सभी ग्रन्थों (वेदभाष्य व वेदांगप्रकाश को छोड़कर) को लाखों की संख्या में प्रकाशित किया है। योगदर्शन, मनुस्मृति जैसे ग्रन्थों के सम्पादित संस्करण भी ट्रस्ट ने छापे हैं। इसके साथ ही पण्डित लेखरामकृत स्वामी दयानन्द का जीवनचरित तथा स्वामी दयानन्द की आद्य जीवनी (पण्डित गोपालराव हरि लिखित) के सम्पादित संस्करणों को प्रकाशित करने का श्रेय भी ट्रस्ट को प्राप्त हुआ है। ट्रस्ट को पण्डित राजवीर शास्त्री तथा पण्डित सुदर्शनदेव शास्त्री जैसे योग्य विद्वानों की सेवाएँ उपलब्ध रही हैं।

(२३) **आलिम फाजिल बुक डिपो, इलाहाबाद**—प्रोफेसर महेशप्रसाद मौलवी, आलिम फाजिल आर्यसमाज के प्रसिद्ध गवेषक विद्वान् थे। उन्होंने स्वामी दयानन्द के जीवन एवं ग्रन्थों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण शोधकार्य किया था। उन्होंने स्वग्रन्थों को आलिम फाजिल बुक डिपो इलाहाबाद से प्रकाशित किया था।

(२४) **कला प्रेस, प्रयाग**—आर्यजगत् के मूर्धन्य साहित्यकार पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय ने स्वरचित ग्रन्थों के प्रकाशन की दृष्टि से कला प्रेस प्रयाग में स्थापित किया। स्वयं उपाध्यायजी के अतिरिक्त उनके पुत्रत्रय डॉक्टर सत्यप्रकाश तथा श्री विश्वप्रकाश तथा अनुज सत्यव्रत उपाध्याय के ग्रन्थ भी कला प्रेस से ही प्रकाशित होते थे।

(२५) **गुरुकुल काँगड़ी**—स्वामी श्रद्धानन्दजी द्वारा स्थापित गुरुकुल काँगड़ी आर्य साहित्य का प्रमुख प्रकाशन-संस्थान रहा है। स्वामी श्रद्धानन्द ने स्वसंचालित सद्धर्म-प्रचारक प्रेस गुरुकुल को दान कर दिया था। स्वामीजी के आचार्यकाल में इस प्रेस से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुए। कालान्तर में स्वाध्याय-मंजरी शीर्षक एक उत्कृष्ट ग्रन्थमाला का प्रकाशन गुरुकुल द्वारा प्रारम्भ किया गया। इसके तत्त्वावधान में प्रतिवर्ष एक उत्कृष्ट रचना का प्रकाशन होता था। अनेक श्रेष्ठ कृतियाँ स्वाध्याय-मंजरी के ही अन्तर्गत प्रकाशित हुई हैं। पण्डित अभयदेव विद्यालंकार, पण्डित प्रियव्रत वेद-वाचस्पति, पण्डित धर्मदेव विद्यावाचस्पति, पण्डित भगवद्दत्त वेदालंकार, पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति आदि की रचनाएँ इस ग्रन्थमाला में ही छपी थीं। कई वर्षों से यह प्रकाश-माला स्थगित हो गई है, और अन्य प्रकाशन-कार्य भी प्रायः बन्द हैं।

(२६) **गोविन्द ब्रदर्स, अलीगढ़**—प्रोफेसर किशोरीलाल गुप्त अलीगढ़ जिले के एक विद्वान् आर्य लेखक थे। उन्होंने गोविन्द ब्रदर्स की स्थापना की और अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये।

(२७) **गोविन्दराम हासानन्द, कलकत्ता, दिल्ली**—शिकारपुर (सिन्ध) के निवासी श्री गोविन्दराम नाम के एक वैष्णव कुलोत्पन्न महानुभाव ने आर्यसमाज के प्रकाशन-क्षेत्र में महान् कार्य किया है। १९२५ ई० में जब वे कलकत्ता में थे, तब उन्होंने स्वामी दयानन्द के अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश को सम्पादित करवाकर प्रकाशित किया। इसी अवसर पर उन्होंने श्रीमद्दयानन्द-चित्रावली का भी प्रकाशन किया। कालान्तर में उनकी यह प्रकाशन-संस्था गोविन्दराम हासानन्द के नाम में चल निकली। कलकत्ता में प्रकाशन-कार्य करते समय इस संस्था के द्वारा पं० देवेन्द्रनाथ मुखोपाध्यायकृत दयानन्द-चरित, तथा आदर्श सुधारक दयानन्द, स्वामी श्रद्धानन्द लिखित पण्डित लेखराम का

जीवनचरित, पण्डित रामगोपाल विद्यालंकार लिखित वीर संन्यासी श्रद्धानन्द आदि अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन किया गया।

१६३६ ई० में गोविन्दराम हासानन्द का प्रकाशन-कार्य दिल्ली में आ गया। तब से अब तक इस संस्था के माध्यम से आर्यसमाज के सैकड़ों श्रेष्ठ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। वेदभाष्य को छोड़कर स्वामी दयानन्द के सभी ग्रन्थ, महात्मा आनन्द स्वामी, पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, स्वामी जगदीश्वरानन्द, पण्डित नित्यानन्द पटेल वेदालंकार, श्री त्रिलोकचन्द्र विशारद, डॉक्टर प्रशान्त वेदालंकार तथा डॉक्टर भवानीलाल भारतीय आदि लेखकों की अनेक रचनाएँ यहाँ से प्रकाशित हुई हैं। श्री गोविन्दराम के पुत्र श्री विजयकुमार भी अपने पिता के आदर्शों का अनुकरण करते हुए आर्य साहित्य-प्रकाशन के गुरुतर कार्य में सर्वात्मना लगे हुए हैं।

(२८) **श्री चिम्मनलाल वैश्य, तिलहर**—श्री वैश्य आर्यसमाज की पुरानी पीढ़ी के लेखक तथा आर्य साहित्य के प्रकाशक थे। उनके द्वारा नारायणीशिक्षा, पुराणतत्त्व-प्रकाश (३ भाग) तथा स्वामी दयानन्द की जीवनी 'सरस्वतीन्द्रचरित' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थ लिखे गये और प्रकाशित किये गये। उनका यह प्रकाशन-व्यवसाय चिम्मनलाल भद्रगुप्त वैश्य तिलहर (जिला शाहजहाँपुर) के नाम से संचालित होता था।

(२६) **चौधरी एण्ड सन्स, बनारस**—आर्यसमाज के प्रमुख विद्वान् श्री पण्डित जे० पी० चौधरी द्वारा स्थापित इस प्रकाशन-संस्था ने अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। पण्डित शिवशंकर शर्मा के ग्रन्थों को पुनः प्रकाशित करने का श्रेय भी इसी संस्था को है।

(३०) **जनज्ञान प्रकाशन और दयानन्द संस्थान, दिल्ली**—आर्यसमाज के प्रसिद्ध पत्रकार और साहसी प्रकाशक पण्डित भारतेन्द्रनाथ ने जनज्ञान प्रकाशन का आरम्भ इस शताब्दी के छठे दशक में किया। कालांतर में दयानन्द संस्थान नामक एक संस्था को पंजीकृत कराकर जनज्ञान प्रकाशन को उसी के अन्तर्गत ले आया गया। जनज्ञान प्रकाशन ने आर्यसमाज स्थापना शताब्दी पर चारों वेदों का हिन्दी भाष्य अल्प मूल्य में छापकर एक नया कीर्तिमान स्थापित किया। तत्पश्चात् आर्यसमाज के नये-पुराने लेखकों के अनेक ग्रन्थ छापे गये। महात्मा नारायण स्वामी, पण्डित आर्यमुनि, पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार, पण्डित अभयदेव विद्यालंकार आदि आर्यसमाज के शीर्षस्थ लेखकों की कृतियों को पुनः उपलब्ध कराया गया। हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी में भी प्रचुर साहित्य संस्थान द्वारा छापा गया है। मास्टर दुर्गाप्रसादकृत सत्यार्थप्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद और बावा छज्जूसिंहकृत स्वामी दयानन्द की अंग्रेजी जीवनी संस्थान ने उस समय प्रकाशित की, जब अंग्रेजीविदों के लिए इन दोनों ग्रन्थों की अत्यन्त आवश्यकता थी। इसी प्रकार स्वामी समर्पणानन्द जी कृत शतपथभाष्य (एक अध्याय मात्र), पण्डित रघुनन्दन शर्मा लिखित 'वैदिक सम्पत्ति' आदि अनुपलब्ध ग्रन्थों को पुनः प्रकाशित किया गया। सत्यार्थप्रकाश के विभिन्न संस्करण, स्वामी दयानन्द की अल्प मूल्य वाली हिन्दी जीवनी तथा शतशः अन्य ग्रन्थों को प्रकाशित कर दयानन्द संस्थान ने आर्यसमाज के साहित्य-प्रकाशन-व्यवसाय को नवीन दिशाबोध दिया है। इस संस्थान के संस्थापक श्री भारतेन्द्रनाथ के उपरान्त उनकी पत्नी श्रीमती राकेश रानी इस कार्य की समुचित देख-रेख कर रही हैं।

(३१) **जयदेव ब्रदर्स, बड़ौदा**—श्री जयदेव मास्टर आत्माराम अमृतसरी के पुत्र

थे। आपने बड़ौदा में जयदेव ब्रदर्स की स्थापना कर प्रकाशन-व्यवसाय आरम्भ किया। इसके अन्तर्गत पण्डित आत्माराम अमृतसरी के अनेक ग्रन्थ छपे। श्री शिवपूजनसिंह कुशवाहा के अनेक ग्रन्थों को छापने का श्रेय भी इसी संस्था को है।

(३२) **जेठाभाई प्रेमजी ट्रस्ट, बम्बई**—स्वामी नित्यानन्दजी की प्रेरणा से श्री जेठाभाई प्रेमजी ठकूर कच्छ-निवासी ने अपनी आय को धर्मार्थ ट्रस्ट में लगाने का विचार किया। तदनुरूप जेठाभाई प्रेमजी ट्रस्ट की स्थापना हुई और उसके द्वारा स्वामी दयानन्द-कृत ग्रन्थों के गुजराती अनुवाद, पण्डित मयाशंकर शर्मा कृत दर्शनों के गुजराती अनुवाद तथा अन्य अनेक गुजराती ग्रन्थ प्रकाशित हुए।

(३३) **डी० ए० वी० कालेज, लाहौर**--डी० ए० वी० कालेज लाहौर के अन्तर्गत १९२० ई० में शोधविभाग का आरम्भ हुआ और साथ ही यह निश्चय किया गया कि शोधकार्य के परिणामों को ग्रन्थरूप में प्रकाशित किया जाय। तदनुसार दयानंद महाविद्यालय संस्कृत ग्रन्थमाला का प्रकाशन किया गया। १९२० ई० में इसके अन्तर्गत पण्डित भगवद्दत्त सम्पादित अथर्ववेदीय पंचपटलिका का प्रकाशन ग्रन्थमाला के प्रथम पुष्प के रूप में हुआ। कालान्तर में ग्रन्थमाला से अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ छपे जिनमें पण्डित भगवद्दत्त रचित वैदिक वाङ्मय का इतिहास, वाल्मीकीय रामायण (बाल तथा अयोध्या काण्ड), प्रोफ़ेसर वेदव्यास लिखित संस्कृत साहित्य का इतिहास आदि उल्लेखनीय हैं। देश-विभाजन से पूर्व ही यह ग्रन्थमाला बन्द हो गई थी। डी० ए० वी० कालेज प्रबन्ध-समिति द्वारा कुछ साहित्य अभी भी प्रकाशित होता है।

(३४) **पण्डित कृपाराम द्वारा स्थापित तिमिरनाशक यन्त्रालय, काशी**—पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द) ने काशी निवास-काल में अनेक शास्त्रग्रन्थों को स्वव्यय से विक्टोरिया यन्त्रालय, भारत जीवन यन्त्रालय आदि प्रेसों में मुद्रित कराया तथा स्वल्प मूल्य में विद्यार्थियों को उपलब्ध कराया। कालान्तर में उन्होंने तिमिरनाशक यन्त्रालय नामक स्वयं का प्रेस स्थापित किया जहाँ से अनेक महत्त्वपूर्ण संस्कृत ग्रन्थ छपे।

(३५) **दयानन्द वेद प्रचारक मिशन, लाहौर**—स्वामी दर्शनानन्द के ट्रैक्टों को छापने में उक्त संस्थान ने उल्लेखनीय कार्य किया।

(३६) **दर्शनानन्द ग्रन्थागार तथा सत्य प्रकाशन, मथरा**—तपोभूमि के सम्पादक तथा विख्यात आर्य कार्यकर्ता श्री ईश्वरीप्रसाद प्रेम ने प्रथम दर्शनानन्द ग्रन्थागार के नाम से प्रकाशन-कार्य का आरम्भ किया। कालान्तर में इसे सत्य प्रकाशन का नाम दे दिया गया। जनसाधारण में वैदिक विचारों के प्रचार तथा सत्साहित्य के प्रसार की दृष्टि से इस संस्था का प्रकाशन-कार्य अत्यन्त सराहनीय है। यहाँ से गीता, रामायण, महाभारत, मनुस्मृति आदि ग्रन्थों के शुद्ध (प्रक्षेपरहित) संस्करणों के अतिरिक्त सैकड़ों छोटे-बड़े जनोपयोगी ग्रन्थ छप चुके हैं।

(३७) **नानकचन्द वजीर देवी ट्रस्ट, कानपुर**—आर्यसमाज के प्रसिद्ध शिक्षा-शास्त्री तथा दार्शनिक विद्वान् प्रिंसिपल दीवानचन्द ने अपने माता-पिता की स्मृति में इस ट्रस्ट की स्थापना की। श्री दीवानचन्द का अधिकांश साहित्य यहीं से छपा।

(३८) **रा० ब० चौधरी नारायणसिंह प्रतापसिंह धर्मार्थ ट्रस्ट, करनाल**—साहित्यप्रेमी स्वर्गीय रा० सा० चौधरी प्रतापसिंह करनाल-निवासी ने इस ट्रस्ट की स्थापना आर्य साहित्य को प्रोत्साहित करने की दृष्टि से की। इस ट्रस्ट के द्वारा आर्य-

समाज के अनेक लेखकों की रचनाओं के प्रकाशन के लिए समय-समय पर आर्थिक सहायता दी जाती थी। स्वामी दयानन्द के ऋग्वेदभाष्य के प्रथम तीन खण्डों के सम्पादित संस्करण, प्रोफेसर विश्वनाथ विद्यालंकार रचित अथर्ववेदभाष्य तथा अन्य कई ग्रन्थ इस ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित किये गये हैं।

(३६) **प्रकाश साहित्य प्रकाशन, अजमेर**—आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध कवि, गायक तथा संगीतज्ञ पण्डित प्रकाशचन्द्र कविरत्न का साहित्य प्रमुख रूप से प्रकाश साहित्य-प्रकाशन ने ही छापा है। इसके व्यवस्थापक कविरत्न जी के शिष्य श्री पन्नालाल 'पीयूष' ने अत्यन्त लगन से कवि प्रकाशजी के साहित्य को प्रकाशित किया है।

(४०) **प्रेम पुस्तक भण्डार, बरेली**—श्री प्रेमशंकर आर्य द्वारा स्थापित प्रेम पुस्तक भण्डार ने स्वामी दर्शनानन्द, पं० बिहारीलाल शास्त्री, महात्मा नारायण स्वामी आदि लेखकों के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को प्रकाशित किया है।

(४१) **श्यामलाल सत्यदेव आर्य, बरेली**—बरेली के पुराने आर्य प्रकाशकों में श्यामलाल सत्यदेव का नाम उल्लेखनीय है। इनका प्रकाशन-कार्य इस शताब्दी के प्रथम दशक में ही आरम्भ हो गया था। आर्यसमाज के अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थ इन्होंने प्रकाशित किये हैं।

(४२) **प्रिय ग्रन्थमाला—स्वामी ब्रह्ममुनि (प्रियरत्न आर्ष) की ग्रन्थमाला**—आर्यसमाज के उत्कृष्ट विद्वान् और लेखक पण्डित प्रियरत्न(स्वामी ब्रह्ममुनि)के अधिकांश ग्रन्थ स्वयं उन्हीं के द्वारा प्रकाशित किये गये थे। प्रारम्भ में 'प्रिय ग्रन्थमाला' और संन्यास लेने के उपरान्त उन्होंने स्वचरित ग्रन्थों को 'ब्रह्ममुनि ग्रन्थमाला' का नाम देकर प्रकाशित किया। उनके अनेक ग्रन्थ सार्वदेशिक सभा तथा आर्य साहित्य मण्डल, अजमेर ने भी प्रकाशित किये थे।

(४३) **प्रेम पुस्तकालय, आगरा**—श्री प्रेमशंकर 'प्रणत' द्वारा आगरा में स्थापित उपर्युक्त प्रकाशन-संस्था ने इस्लाम तथा ईसाइयत-विषयक खण्डन-मण्डन के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित किये।

(४४) **भारतीय प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, नई दिल्ली, अजमेर**—प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने प्राचीन वाङ्मय के अनुसन्धान तथा प्रकाशन की दृष्टि से इस संस्थान की स्थापना की। स्वयं मीमांसक जी द्वारा रचित अनेक शोधपूर्ण ग्रन्थ यहाँ से छपे। स्वामी दयानन्द के पर्याप्त समय तक अनुपलब्ध ग्रन्थ 'भागवतखण्डन' को प्रथम बार प्रकाशित करने का श्रेय भी इसी संस्थान को है।

(४५) **भारतवर्षीय वैदिक सिद्धान्त परिषद्, अलीगढ़**—श्री आचार्य मित्रसेन ने वैदिक सिद्धान्त परिषद् की स्थापना की तथा वहाँ से अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन किया। उन्होंने वैदिक सिद्धान्त-विषयक परीक्षाएँ भी संचालित कीं। इन परीक्षाओं की पाठ्य-पुस्तकें भी यहीं से छपती थीं।

(४६) **भारतीय हिन्दू शुद्धि सभा, दिल्ली**—शुद्धि सम्बन्धी साहित्य को प्रकाशित करने के लिए उक्त सभा ने अपने प्रकाशन-विभाग की स्थापना की, जिसके द्वारा खण्डन-मण्डन तथा शुद्धि-विषयक अनेक ग्रन्थ छपे। स्वामी चिदानन्द सरस्वती इस साहित्य के प्रकाशक थे।

(४७) **भास्कर प्रेस, मेरठ**—श्री रघुवीरशरण दुबलिस ने उक्त प्रेस स्थापित

किया तथा उसके अन्तर्गत वैदिक सिद्धान्त ग्रन्थमाला का प्रकाशन आरम्भ किया था। पण्डित भूमित्र शर्मा, पण्डित जे० पी० चौधरी आदि आर्यसमाज के पुराने विद्वानों की अनेक कृतियाँ इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत छपी थीं।

(४८) मधुर प्रकाशन, दिल्ली—श्री राजपालसिंह शास्त्री ने दिल्ली में मधुर प्रकाशन का आरम्भ इस शताब्दी के छठे दशक में किया। इस प्रकाशन ने पण्डित जगत्-कुमार शास्त्री तथा अन्य अनेक विद्वानों के ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं।

(४९) महागुजरात पुस्तक प्रकाशन मण्डल, मरोली—हैदराबाद आर्य सत्याग्रह के अन्तिम सर्वाधिकारी पण्डित ज्ञानेन्द्र सिद्धान्तभूषण द्वारा स्थापित इस संस्था के द्वारा गुजराती भाषा में साहित्य प्रकाशित होता था। उनके निधन के पश्चात् उनकी पत्नी श्रीमती अनिला देवी इस संस्था का संचालन करती रहीं।

(५०) महेश पुस्तकालय, अजमेर—अजमेर-निवासी चौधरी श्रीचन्द्र द्वारा महेश पुस्तकालय की स्थापना अजमेर में की गई थी। यहाँ से गुरुकुल काँगड़ी के भूतपूर्व वेदोपाध्याय प्रोफ़ेसर विश्वनाथ विद्यालंकार, रामविलास शारदा आदि लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित हुई थीं।

(५१) डॉक्टर रत्नकुमारी स्वाध्याय संस्थान, इलाहाबाद—डॉक्टर (स्वामी) सत्यप्रकाश ने अपनी स्वर्गीया पत्नी श्रीमती रत्नकुमारी की स्मृति में इस प्रकाशन-संस्थान की स्थापना की है। पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय की जन्म-शताब्दी के अवसर पर उपाध्याय-साहित्य का पुनः प्रकाशन इस संस्थान ने किया। डॉक्टर सत्यप्रकाश के प्रवचनात्मक भाषणों को भी ग्रन्थाकार प्रकाशित किया गया है। डॉ० ऊषा ज्योतिष्मती संस्थान के अन्तर्गत संचालित अनुसन्धान-विभाग की अध्यक्ष हैं और संस्थान के प्रकाशन का सम्पादन भी वे ही करती हैं।

(५२) राजपाल एण्ड सन्स, लाहौर, दिल्ली—अमर हुतात्मा महाशय राजपाल का जन्म अमृतसर के एक निर्धन परिवार में आषाढ़ १९४२ वि० में हुआ था। उन्हें मिडिल तक शिक्षा प्राप्त करने का अवसर मिला। १९०६ ई० में महाशय राजपाल स्वामी श्रद्धानन्द द्वारा सम्पादित सद्धर्मप्रचारक में लिपिक के पद पर नियुक्त हुए। कुछ काल पश्चात् वे लाहौर आ गये और महाशय कृष्ण के साप्ताहिक पत्र प्रकाश के व्यवस्थापक के रूप में कार्य करने लगे। कालान्तर में आपने सरस्वती-आश्रम और आर्य पुस्तकालय के नाम से अपना स्वतन्त्र पुस्तक-प्रकाशन-कार्य आरम्भ किया। प्रारम्भ में आपने प्राचीन सभ्यता और स्वामी सत्यानन्द-लिखित सत्योपदेशमाला पुस्तकें छापीं। धीरे-धीरे अपने पुरुषार्थ से उन्होंने उर्दू सत्यार्थप्रकाश का १० हजार का संस्करण छापा। स्वामी दयानन्द के अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित किये।

महाशय जी ने उर्दू और हिन्दी में आर्य लेखकों के सैकड़ों ग्रन्थों का प्रकाशन किया। देश-विभाजन से पूर्व आर्यसमाज का कोई भी ऐसा विख्यात लेखक नहीं था जिसकी रचनाएँ राजपाल ने प्रकाशित न की हों। ६ अप्रैल १९२९ ई० को महाशय जी इल्मदीन नामक एक आततायी की छुरी के शिकार हो गये।

देश-विभाजन के पश्चात् महाशय राजपाल एण्ड सन्स का प्रकाशन-कार्य दिल्ली में पूरे उत्साह से पुनः आरम्भ किया गया। किन्तु धीरे-धीरे इस संस्थान के स्वामियों ने आर्य साहित्य के प्रकाशन से किनारा कर लिया और हिन्दी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ, विश्व-

विख्यात प्रकाशक बन गये। आज भी राजपाल एण्ड संस से महाशयजी द्वारा सम्पादित भक्तिदर्पण जैसे उत्कृष्ट ग्रन्थ का तो प्रकाशन होता है, किन्तु अन्य प्रकार के आर्य साहित्य का प्रकाशन यहाँ से बन्द हो गया है।

(५३) **श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर, अमृतसर, वाराणसी, बहालगढ़ (सोनीपत)**—आर्ष और वैदिक ग्रन्थों के महान् प्रकाशक रामलाल कपूर ट्रस्ट की स्थापना अमृतसर के श्री रामलाल कपूर के २६ फरवरी १९२८ ई० को दिवंगत होने पर उनके चार पुत्रों सर्वश्री रूपलाल कपूर, हंसराज कपूर, ज्ञानचन्द कपूर तथा प्यारेलाल कपूर ने पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के सहयोग से की। ट्रस्ट का उद्देश्य प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, रक्षा तथा प्रचार रक्खा गया। ट्रस्ट के प्रथम प्रधान महात्मा हंसराज थे। उनके पश्चात् क्रमशः पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, पण्डित भगवद्दत्त तथा पण्डित रामगोपाल शास्त्री प्रधान रहे। सम्प्रति पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक इस ट्रस्ट के प्रधान हैं। प्रारम्भ में ट्रस्ट का कार्य लाहौर तथा अमृतसर में चलता रहा। तत्पश्चात् इसका कार्यालय वाराणसी रहा। विगत अनेक वर्षों से बहालगढ़ (सोनीपत) में ट्रस्ट के अधीन मुद्रणालय, प्रकाशन-संस्थान, पाणिनि महाविद्यालय, शोध-कार्य आदि की प्रवृत्तियाँ चल रही हैं। आधी शताब्दी से भी अधिक के कार्यकाल में ट्रस्ट द्वारा वेद, वेदांग, स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ तथा स्वामीजी के पत्रव्यवहार आदि से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण प्रकाशन-कार्य हुए हैं।

(५४) **विजय पुस्तक भण्डार, दिल्ली**—पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति-लिखित ग्रन्थ यहीं से छपे। इसके संचालक व संस्थापक स्वयं पण्डित इन्द्रजी ही थे।

(५५) **विरजानन्द प्रेस, लाहौर**—लाहौर में स्थापित आर्यसमाज का यह सर्वाधिक प्राचीन प्रकाशन-संस्थान था। इसकी स्थापना पण्डित दुर्गाप्रसाद ने की जो आर्यसमाज लाहौर के स्तम्भ थे। १८८९ ई० में इसका कार्य आरम्भ हो चुका था, इस बात के निश्चित प्रमाण प्राप्त होते हैं। इसी वर्ष पण्डित दुर्गाप्रसाद लिखित Triumph of Truth or a Short Biography of Swami Dayanand शीर्षक पुस्तक यहाँ से प्रकाशित हुई थी। विरजानन्द प्रेस ने चारों वेद-संहिताओं को मूल रूप में देवता, छन्द तथा स्वर के उल्लेख सहित दुरंगी छपाई में प्रकाशित किया था। पण्डित दुर्गाप्रसाद की समस्त अंग्रेजी रचनाएँ यहीं से छपीं। इस शताब्दी के दूसरे दशक तक इसके जीवित रहने के प्रमाण मिलते हैं।

(५६) **विश्वम्भर वैदिक पुस्तकालय, गुरुकुल झज्जर**—गुरुकुल झज्जर का प्रकाशन विभाग उक्त नाम से स्थापित किया गया। पण्डित मेधाव्रताचार्य के अनेक ग्रन्थ यहाँ से छपे। कालान्तर में हरयाणा साहित्य-संस्थान के नाम से परिवर्तित रूप में यह विभाग ग्रन्थ-प्रकाशन कार्य करने लगा।

(५७) **वैदिक पुस्तक प्रचारक फण्ड, मेरठ**—स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती ने वैदिक पुस्तक प्रचारक फण्ड की स्थापना कर अनेक लघु पुस्तकों का प्रकाशन किया। प्रारम्भ में इसका कार्यालय दिग्विजयगंज लखनऊ में था, परन्तु कुछ वर्ष पश्चात् इसे मेरठ ले आया गया। इस फण्ड की स्थापना १८९३ ई० में हुई तथा कई वर्षों तक इसके द्वारा प्रकाशन-कार्य होता रहा।

(५८) **वजीरचन्द शर्मा, लाहौर**—लाहौर में श्री वजीरचन्द शर्मा ने वैदिक पुस्तकालय की स्थापना की और हिन्दी तथा उर्दू भाषा में सैकड़ों उत्कृष्ट ग्रन्थों का

प्रकाशन किया।

(५९) वैदिक साहित्य प्रकाशन, कासगंज (एटा)—कासगंज के डॉक्टर श्रीराम आर्य ने खण्डन-मण्डन विषयक विशाल साहित्य का प्रणयन किया है। उनका यह सम्पूर्ण साहित्य खण्डन-मण्डन-ग्रन्थमाला के अन्तर्गत वैदिक साहित्य प्रकाशन, कासगंज (एटा) द्वारा प्रकाशित हुआ है।

(६०) वैदिक यन्त्रालय, काशी, प्रयाग, अजमेर—स्वामी दयानन्द ने जिस समय व्यवस्थित रूप से वेद-भाष्य-लेखन का कार्य आरम्भ किया, तो उन्हें एक मुद्रणालय स्थापित करने की आवश्यकता भी अनुभव हुई। उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के बहुलांश का मुद्रण काशी के लाजरस प्रेस में हुआ था। कालान्तर में जब वेद-भाष्य का प्रकाशन आरम्भ हुआ तो मुद्रण-कार्य के लिए बम्बई के निर्णयसागर प्रेस को पसन्द किया गया। बम्बई में भाष्य के छपाने की व्यवस्था श्री हरिश्चन्द्र चिन्तामणि को सौंपी गई थी। जब उनके कार्य को सन्तोषप्रद नहीं पाया गया तो स्वामीजी ने अपने अत्यन्त विश्वासपात्र मुंशी समर्थदान को मुद्रण-कार्य की देखरेख करने के लिए बम्बई भेजा। लगभग एक वर्ष तक वेद-भाष्य के प्रकाशन का कार्य उक्त मुंशीजी बम्बई में रह-कर करते रहे।

अन्ततः स्वामीजी ने अनुभव किया कि जब तक वे स्वयं अपने प्रेस की स्थापना नहीं कर लेते, वेदादि शास्त्रों के भाष्यग्रन्थों के मुद्रण व प्रकाशन में गति नहीं आ सकती। उनके इस प्रस्ताव को मेरठ तथा फर्रुखाबाद के आर्य पुरुषों ने भी पसन्द किया। फलतः माघ शुक्ला २ सं० १९३६ वि० (१२ फरवरी १८८०) के दिन काशी के लक्ष्मीकुण्ड के निकट महाराज विजयनगराधिपति के स्थान पर वैदिक यन्त्रालय की स्थापना हुई। प्रारम्भ में यन्त्रालय का नाम आर्यप्रकाश-यन्त्रालय रक्खा गया था, जिसे बदलकर बाद में वैदिक यन्त्रालय कर दिया गया। बाद में मुंशी बख्तावरसिंह को यन्त्रालय का प्रथम प्रबन्धक नियत किया गया। बाद में मुंशी समर्थदान, पण्डित भीमसेन शर्मा, पण्डित ज्वालादत्त शर्मा आदि स्वामीजी के निकटवर्ती लोग इसके प्रबन्धक बने। ३० मार्च १८८१ ई० को यन्त्रालय को प्रयाग स्थानान्तरित कर दिया गया। स्वामीजी के निधन के समय तक यन्त्रालय प्रयाग में ही था।

स्वामी दयानन्द के परलोक-गमन के पश्चात् जब परोपकारिणी सभा का कार्यालय अजमेर में व्यवस्थित रूप से कार्य करने लगा तो वैदिक यन्त्रालय को भी १ अप्रैल १८९१ ई० से अजमेर में स्थानान्तरित कर दिया गया। तब से अब तक वैदिक यन्त्रालय अजमेर स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के अधिकृत मुद्रक एवं प्रकाशक के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह कर रहा है। स्वामीजी के सभी छोटे-बड़े ग्रन्थ अब तक कई संस्करणों में यहाँ से प्रकाशित हुए हैं। यहाँ के पुस्तक विक्रय विभाग को वैदिक पुस्तकालय के नाम से जाना जाता है। स्वामीजी के ग्रन्थों के अतिरिक्त यन्त्रालय ने दीवानबहादुर हरविलास सारडा तथा डॉक्टर भवानीलाल भारतीय के अनेक ग्रन्थों का भी प्रकाशन किया है। वैदिक यन्त्रालय प्रकाशन के नाम से एक पृथक् योजना भी चलाई गई थी जो जो कुछ वर्ष चलकर समाप्त हो गई।

(६१) पण्डित शंकरदत्त शर्मा, मुरादाबाद—पं० शंकरदत्त शर्मा ने मुरादाबाद में वैदिक पुस्तकालय के नाम से अपनी प्रकाशन-संस्था चलाई है। इसके द्वारा आर्यसमाज

के अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ। आपने स्वामी दर्शनानन्दजी के अनेक ग्रन्थों को प्रकाशित किया। खण्डन-मण्डन-विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी यहाँ से प्रकाशित हुए।

(६२) विरजानन्द वैदिक शोध संस्थान, गाजियाबाद—इस संस्थान की स्थापना स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने दिल्ली के निकटवर्ती खेड़ा खुर्द नामक ग्राम में की थी। कालान्तर में इसे गाजियाबाद ले आया गया और स्वामी विज्ञानानन्दजी की देखरेख में इसका कार्य सुचारु रूप से चलता रहा। इस संस्थान ने पण्डित उदयवीर शास्त्री के दर्शन-भाष्यों तथा दर्शन-विषयक आलोचनात्मक ग्रन्थों, एवं स्वामी वेदानन्द तीर्थ द्वारा लिखित ग्रन्थों को प्रकाशित किया है। सत्यार्थप्रकाश के स्थूलाक्षरी, बहुटिप्पणीयुक्त संस्करण को प्रकाशित करने का श्रेय भी इसी संस्थान को है।

(६३) विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, लाहौर, होशियारपुर—वेदों के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित विश्वबन्धु शास्त्री द्वारा विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान की स्थापना लाहौर में की गई थी। देश-विभाजन के पश्चात् इसे साधु आश्रम होशियारपुर ले आया गया। इस संस्थान से वेदों के सम्बन्ध में अत्युच्च कोटि के सन्दर्भ एवं विवेचना-प्रधान ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। यद्यपि अब इस संस्थान का आर्यसमाज से सीधा सम्बन्ध नहीं है, किन्तु विगत काल में यहाँ से पण्डित विश्वबन्धु, श्री सन्तराम, प्रिंसिपल बहादुरमल आदि की अनेक कृतियाँ प्रकाशित हो चुकी हैं।

(६४) वेदप्रकाश यन्त्रालय, इटावा—पण्डित सत्यव्रत शर्मा स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा के जामाता थे। इन्होंने वेदप्रकाश यन्त्रालय खोलकर इटावा में प्रकाशन-कार्य आरम्भ किया। यद्यपि पण्डित भीमसेन ने गत शताब्दी के अन्त में स्वार्थवश आर्यसमाज को त्याग दिया और सनातन धर्म के शिविर में चले गये, किन्तु उनके जामाता पण्डित सत्यव्रत शर्मा दृढ़तापूर्वक आर्यसमाज के अनुयायी बने रहे। वेदप्रकाश यन्त्रालय से पण्डित सत्यव्रत शर्मा, पण्डित रुद्रदत्त शर्मा आदि लेखकों के अनेक ग्रन्थ प्रकाशित हुए थे।

(६५) वेद संस्थान, अजमेर, दिल्ली—स्वामी विद्यानन्द विदेह द्वारा स्थापित वेद संस्थान ने वैदिक शिक्षाओं को लोकप्रिय बनाने के लिए जिस साहित्य का प्रणयन एवं प्रकाशन किया है उसके परिणाम सुविदित हैं। संस्थान ने मुख्य रूप से विदेहजी के साहित्य को ही प्रकाशित किया है जिसमें उनके वेद, योग, गीता, दर्शन तथा अन्य विषयों से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं। विदेहजी के वेदालोक, गीता-भाष्य, यजुर्वेद के विभिन्न अध्यायों के भाष्य आदि को विशेष लोकप्रियता प्राप्त हुई है। उनके कुछ ग्रन्थों का अंग्रेजी अनुवाद भी यहाँ से निकला है।

(६६) वैदिक प्रकाशन मन्दिर, प्रयाग—पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय के निधन के पश्चात् उनके पुत्र श्री विश्वप्रकाश ने उक्त प्रकाशन-संस्था की स्थापना की। यहाँ से उपाध्यायजी के अनेक ग्रन्थ छपे।

(६७) वैदिक साधन आश्रम, यमुनानगर—स्वामी आत्मानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित इस आश्रम ने स्वयं स्वामी आत्मानन्दजी तथा स्वामी अमृतानन्द सरस्वती (भूतपूर्व पण्डित ताराचन्द, सरगोधा निवासी) के ग्रन्थों का प्रकाशन किया है।

(६८) शर्मा आर्य पुस्तकालय, सम्भल (मुरादाबाद)—प्रसिद्ध लेखक तथा

विद्वान् पण्डित शिव शर्मा ने स्वग्रन्थों के प्रकाशनार्थ इस पुस्तकालय की स्थापना की, जहाँ से शर्माजी का साहित्य प्रकाशित होता था।

(६६) शारदा मन्दिर, दिल्ली—आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् और नेता प्रोफेसर सुधाकर ने दिल्ली में शारदा मन्दिर की स्थापना की। प्रो० सुधाकर के अतिरिक्त आर्यसमाज के अन्य अनेक विद्वानों के ग्रन्थ यहाँ से छपते रहे।

(७०) समर्पण शोध-संस्थान, नई दिल्ली—स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती (पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार) की स्मृति में इस शोध-संस्थान की स्थापना स्वामी दीक्षानन्दजी द्वारा की गई है। इसके द्वारा ऋग्वेद का मणिसूत्र तथा अन्य ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं।

(७१) सरस्वती यन्त्रालय, प्रयाग, इटावा—स्वामी दयानन्द के आद्य शिष्य पण्डित भीमसेन शर्मा ने अपने प्रयाग-निवासकाल में सरस्वती यन्त्रालय की स्थापना की। उनके अधिकांश ग्रन्थ (मनुस्मृति, उपनिषद्, गीता-भाष्य तथा अन्य स्फुट ग्रन्थ) यहीं से प्रकाशित हुए। प्रयाग से हटकर जब वे इटावा में रहने लगे तो सरस्वती यन्त्रालय भी इटावा ले आया गया।

(७२) सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली—आर्य जगत् की शिरोमणि संस्था सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा ने अपना स्वतन्त्र प्रकाशन-कार्य भी जारी रक्खा है। इसके अन्तर्गत महात्मा नारायण स्वामी, पण्डित रघुनाथ प्रसाद पाठक, ओम्प्रकाश त्यागी, पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री आदि विद्वानों के ग्रन्थ समय-समय पर छपे हैं। सार्वदेशिक सभा ने आर्यसमाज की स्थापना-शताब्दी के अवसर पर चारों वेदों का भाष्य सामान्य जनता के लिए प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त स्वामी दयानन्द के अनेक ग्रन्थ, प्रचारात्मक लघु ग्रन्थ तथा सामयिक समस्याओं पर आर्यसमाज के दृष्टिकोण को स्पष्ट करनेवाले अनेक ग्रन्थ भी छापे हैं। सार्वदेशिक सभा हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी में भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों को प्रकाशित करती है।

(७३) सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड, दिल्ली—कतिपय आर्य महानुभावों ने दिल्ली में सार्वदेशिक प्रकाशन लिमिटेड का गठन किया और सस्ते मूल्य में उत्तम साहित्य देने के लिए इस प्रकाशन-कार्य का आरम्भ किया। इस संस्था के संचालकों में स्वर्गीय कविराज हरनामदास तथा श्री चतुरसेन गुप्त आदि के नाम प्रमुख रूप से गणनीय हैं। सार्वदेशिक प्रकाशन ने स्वामी दयानन्द के अनेक ग्रन्थों को स्वल्प मूल्य पर उपलब्ध कराया तथा पण्डित हरिश्चन्द्र विद्यालंकार लिखित सामवेद का सुगम भाष्य तथा स्वामी दयानन्द का जीवनचरित प्रकाशित किया।

(७४) स्टार बुकडिपो, इलाहाबाद—श्री कर्मचन्द भल्ला नामक एक महानुभाव ने स्टार बुकडिपो इलाहाबाद के नाम से प्रकाशन आरम्भ किया। इनका स्टार प्रेस नामक मुद्रणालय भी था। स्टार प्रेस से अंग्रेजी में अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ था। श्री मदनमोहन सेठ आदि लेखकों की रचनाएँ यहीं से छपी थीं।

(७५) स्वाध्याय मण्डल औंध, पारडी—संस्कृत तथा वैदिक साहित्य के महान् पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने स्वग्रन्थों को प्रकाशित करने के लिए औंध (सतारा) में स्वाध्याय मण्डल की स्थापना की। देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात् इसे पारडी(बलसाड़, गुजरात)ले आया गया। स्वाध्याय मण्डल से सातवलेकरजी का सम्पूर्ण

साहित्य छपा है। वेद-भाष्य तथा वेदसंहिताएँ, रामायण, महाभारत तथा गीता के अनुवाद एवं वेद-विषयक अन्य विवेचनात्मक साहित्य यहीं से प्रकाशित हुआ। यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि प्रारम्भिक जीवन में पण्डित सातवलेकर की आर्यसमाज के वैदिक सिद्धान्तों में कट्टर निष्ठा थी, किन्तु कालान्तर में उनके वेद-विषयक विचारों में परिवर्तन आ गया और वे स्वामी दयानन्द की विचार-सरणि से पर्याप्त दूर चले गये थे।

(७६) **स्वामी प्रेस, मेरठ**—आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित तुलसीराम स्वामी ने स्वामी प्रेस मेरठ की स्थापना विगत शताब्दी के अन्तिम दशक में ही कर दी थी। स्वामी प्रेस मेरठ अपने समय की आर्यसमाज की प्रमुख ग्रन्थ-प्रकाशन-संस्था रही है। यहाँ से पण्डित तुलसीराम स्वामी व उनके अनुज पण्डित छुट्टनलाल स्वामी के समस्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य समकालीन विद्वानों के श्रेष्ठ ग्रन्थों का भी प्रकाशन होता था। इसी प्रेस से वेदप्रकाश नामक मासिक पत्र भी वर्षों तक प्रकाशित होता रहा।

(७७) **हरयाणा साहित्य संस्थान, गुरुकुल झज्जर**—गुरुकुल झज्जर स्थित उक्त संस्थान का प्रकाशन-कार्य पर्याप्त व्यापक तथा प्रभावपूर्ण है। संस्थान के प्रबन्धक स्वामी ओमानन्दजी ने इस संस्थान को उन्नत बनाने में प्रभूत श्रम किया है। पण्डित भीमसेन शर्मा लिखित उपनिषद्-भाष्य, पण्डित आर्यमुनिकृत दर्शन भाष्य, पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकारकृत निरुक्त-भाष्य आदि पर्याप्त समय से अनुपलब्ध ग्रन्थों को पुनः प्रकाशित कर इस संस्थान ने श्लाघनीय कार्य किया है। स्वयं स्वामी ओमानन्दजी का सम्पूर्ण साहित्य भी यहीं से प्रकाशित हुआ है।

(७८) **हरिसुन्दर साहित्य मन्दिर, शिकारपुर (सिन्ध)**—सिन्ध प्रान्त का यह प्रमुख आर्यसाहित्य का प्रकाशन-केन्द्र था। यहाँ से प्रोफेसर ताराचन्द गाजरा तथा उनके अनुज श्री टीकमदास गाजरा के अंग्रेजी ग्रन्थ छपते थे। यहाँ से सिंधी भाषा में भी आर्य साहित्य प्रकाशित होता था।

इक्कीसवाँ अध्याय

आर्यसमाज के विरोध में लिखा गया साहित्य

(१) स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के खण्डन में लिखा गया साहित्य

किसी भी प्रगतिशील विचारधारा का विरोध होना अस्वाभाविक नहीं है। मनुष्य के मन की यह विचित्रता है कि वह सदा सत्त्व, श्रेष्ठ, लाभदायक तथा उदार विचारसरणि का ही अवलम्बन नहीं करता। मनुष्य के मन में छिपी प्रतिगामिता, प्रगति-वैरोध्य तथा गतानुगतिकता भी कभी-कभी उसके व्यक्तित्व पर हावी हो जाती है और उस समय वह अत्यन्त कट्टर, संकीर्ण तथा अनुदार बनकर प्रगतिगामी शक्तियों का विरोध करने के लिए सन्नद्ध हो जाता है। आर्यसमाज के इतिहास तथा स्वामी दयानन्द के जीवन का अनुशीलन करने से हमें विदित होता है कि उनके द्वारा उठाये गये अनेक रूढ़ि-विरोधी कदमों का विरोध रूढ़िवादियों की ओर से बराबर होता रहा। स्वामी दयानन्द ने अपने जीवनकाल में जिस मौलिक साहित्य को लिखकर तथा वेदों की युग-दृष्टि-अनुकूल व्याख्या कर भारतीय आर्य जाति के सांस्कृतिक नवजागरण का आरम्भ किया था, उसे सहन करना प्रतिक्रियावादी शक्तियों के लिए सम्भव नहीं था। अतः उन्होंने स्वामीजी के ग्रन्थों के खण्डन में अनेक ग्रन्थ उनके जीवनकाल में ही लिखे तथा उनके निधन के पश्चात् तो आर्यसमाज के सिद्धान्तों का विरोध विभिन्न दिशाओं से होने लगा। न केवल सनातनधर्मी उपदेशकों तथा प्रचारकों ने ही आर्यसमाज के मन्तव्यों एवं स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व एवं कार्यों पर बहुविध कटाक्ष करने आरम्भ किये, स्वामीजी के द्वारा ही प्रयुक्त नाम वाले 'जैनी, किरानी और कुरानी' भी आर्यसमाज की विचार-धारा का लेखबद्ध खण्डन करने के लिए कृत-संकल्प दिखाई पड़े। आगे की पंक्तियों में हम इसी प्रतिक्रियामूलक साहित्य का संक्षिप्त विवरण दे रहे हैं। इस जानकारी को देने का औचित्य क्या है, यह पाठकों की ओर से सहज प्रश्न हो सकता है। इसके उत्तर में इतना ही लिखना समीचीन होगा कि किसी विचारधारा या आन्दोलन के विरोध को देखकर ही उसमें निहित शक्ति, प्रखरता, ओजस्विता तथा सत्यता का अनुमान लगाया जा सकता है। यदि आर्यसमाज के सिद्धान्तों और स्वामी दयानन्द की विचारधारा में इस प्रकार की मर्मभेदी सचाई तथा तेजस्विता नहीं होती तो उसके प्रति विरोध प्रदर्शित करने के ऐसे प्रयास भी नहीं होते। संसार का यह नियम है कि गतानुगति को तोड़ने-वाले, लीक छोड़कर चलनेवाले तथा धर्म, समाज एवं राष्ट्र में व्याप्त भ्रष्टाचार, अनाचार तथा पाखण्डों पर तीव्र प्रहार करनेवाले क्रान्तिकारी वीरों को ही पग-पग पर विरोध का सामना करना पड़ता है। अस्तु, अब हम विभिन्न क्षेत्रों द्वारा आर्यसमाज के मन्तव्यों की आलोचना में लिखे गये साहित्य का विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

सत्यार्थप्रकाश स्वामी दयानन्द की प्रथम मौलिक कृति है, जिसमें भारतीय तथा अन्य देशोत्पन्न मत-सम्प्रदायों की तथ्याधारित एवं पूर्वाग्रहरहित आलोचना की गई थी। किन्तु सत्यार्थप्रकाश में प्रकट की गई सचाइयों को सम्प्रदायाभिमानी व्यक्तियों के लिए पचा पाना सहज नहीं था। यही कारण है कि इसके प्रथम संस्करण के प्रकाशन के ३ वर्ष पश्चात् ही मेरठ जिले के ग्राम भूड़वराल-निवासी पण्डित श्रीगोपाल ने वेदार्थप्रकाश नामक १२ अध्यायों और ४१८ पृष्ठों का ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश के खण्डन में लिखा। इसके प्रथम दो अध्याय तो संस्कृत श्लोकों में लिखे गये थे, अवशिष्ट दस अध्याय सामान्य संस्कृत गद्य में थे। इसका हिन्दी तथा उर्दू में अनुवाद भी हुआ था। स्मरण रहे कि ये पण्डित श्रीगोपाल वही हैं जिन्होंने स्वामी दयानन्द के द्वितीय वार के फर्रुखाबाद आगमन पर उनसे मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ किया था तथा अपने पक्ष के समर्थन में काशी के पण्डितों से एक व्यवस्था भी लिखवाकर ले आये थे।

सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय, संशोधित संस्करण के प्रकाशन के पश्चात् तो इस ग्रन्थ पर लिखी जानेवाली खण्डनात्मक समीक्षाओं की बाढ़-सी आ गई। साधुसिंह का सत्यार्थ-विवेक, ज्वालाप्रसाद मिश्र का दयानन्द-तिमिर-भास्कर, जगन्नाथदासकृत सत्यार्थप्रकाश-समीक्षा, रघुनन्दन भट्टाचार्यकृत सनातन-धर्म-सिद्धान्तमार्तण्डप्रकाश, नरसिंहगढ़ के राजपण्डित यमुनादास शाण्डिल्य का महतावदिवाकर आदि वे ग्रन्थ हैं जो विगत शताब्दी में ही सत्यार्थप्रकाश के खण्डन में पौराणिक विद्वानों द्वारा लिखे जा चुके थे। इस शताब्दी में सत्यार्थप्रकाश के खण्डन में ग्रन्थ लिखने वाले पौराणिकों में पण्डित अखिलानन्द शर्मा (सत्यार्थप्रकाशालोचन तथा वैदिक सत्यार्थप्रकाश), पण्डित कालूराम शास्त्री (वैदिक सत्यार्थप्रकाश तथा सत्यार्थप्रकाश की छीछालेदर), लाला भवानीप्रसाद (दयानन्दमत-विद्रावण अर्थात् सत्यार्थप्रकाश पर शंका-प्रवाह) आदि के नाम आते हैं। राधास्वामी गुरु श्री आनन्दस्वरूपजी (साहब जी महाराज) यद्यपि डी०ए०वी० कॉलेज लाहौर के ही विद्यार्थी रहे थे, किन्तु एक सम्प्रदायविशेष की गद्दी पर बैठने पर उन्हें भी सत्यार्थप्रकाश के खण्डन करने का शौक चर्राया और राधास्वामी-सत्संग सभा दयालबाग आगरा से तीन भागों में यथार्थप्रकाश लिखकर प्रकाशित कराया।

सिक्खों की ओर से सत्यार्थप्रकाश के खण्डन में दो पुस्तकें—दम्भ विदारण (अर्थात् साधु दयानन्दजी दे सन् १८७५ दे सत्यार्थप्रकाश पर विचार) तथा 'तालीम सत्यार्थ-प्रकाश का असली फ़ोटो' प्रकाशित हुईं। इनके लेखक एक रामदासिये हरिजन सिक्ख भाई दित्तसिंह ज्ञानी थे जो स्वयं किसी समय स्वामी दयानन्द के अनुयायी, भक्त तथा आर्यसमाज लाहौर के उपदेशक भी रह चुके थे। किन्तु कारणवश वे आर्यसमाज से पृथक् हो गये और सिक्ख मत के कट्टर प्रचारक बन गये। इसी दौरान उन्होंने सत्यार्थ-प्रकाश के खण्डन में उक्त पुस्तकें लिखीं।

सत्यार्थप्रकाश से जैन मतावलम्बियों को भी कम शिकायत नहीं थी। स्वामी दयानन्द के जीवनचरित में हम पढ़ते हैं कि गुजराँवाला (पंजाब) के ठाकुरदास मूलराज भाभड़ा नामक एक जैनी ने किस प्रकार सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण में लिखी गई जैन मत की आलोचना से क्षुब्ध होकर स्वामी दयानन्द के खिलाफ कानूनी कार्यवाही करने की धमकी दी थी और वह मामला आगे जाकर किस प्रकार समाप्त हुआ था। किन्तु सत्यार्थप्रकाश के द्वितीय संस्करण में लिखी गई जैन मत की प्रामाणिक समीक्षा ने

भी जैन मत वालों को कम नाराज नहीं किया। फर्रुखनगर (जिला गुड़गाँव) निवासी जैनी (जीयालाल जो स्वयं किसी समय आर्यसमाजी रह चुका था) ने बारहवें समुल्लास के उत्तर में 'जैन-सुधा-बिन्दु' लिखा। लाहौर से मुनि लब्धविजय का बारहवें समुल्लास के खण्डन में लिखा गया ग्रन्थ "दयानन्द-कुतर्क-तिमिर-तरणि" छपा तथा जैन विद्वान् पण्डित अजितकुमार शास्त्री ने सत्यार्थ-दर्पण लिखकर स्वामी दयानन्द की जैन मत-विषयक आलोचना का उत्तर दिया। ईसाई पादरी जे० एल० ठाकुर ने उर्दू में सत्यार्थ-प्रकाश-दर्पण लिखा था जिसमें स्वामी दयानन्द के ईसाई मत की आलोचना की टीका की गई थी।

इस्लाम के मुल्ला-मौलवी भी सत्यार्थप्रकाश के चौदहवें समुल्लास से खिन्न और रुष्ट हुए। सनाउल्ला अमृतसरी ने 'हक़प्रकाश या इज़्हारे हक़' लिखा तो एक गुजराती मुसलमान हाजी हफीज सादिक ने गुजराती भाषा में सत्यार्थप्रकाश का खण्डन किया। इसका अंग्रेजी अनुवाद १९१० ई० में सूरत से A Refutation of the Satyartha Prakash by Pt. Dayanand Saraswati, Pt. I शीर्षक से प्रकाशित हुआ। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी दयानन्द के क्रान्तिकारी ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश ने धार्मिक जगत् में एक विचित्र हलचल मचा दी थी, जिसके परिणामस्वरूप एक ओर तो विभिन्न सम्प्रदायों के प्रति निष्ठा रखनेवाले लोगों ने अपने-अपने मान्य ग्रन्थों की अधिकाधिक तर्कसंगत, वैज्ञानिक तथा युक्तिसिद्ध व्याख्या करने में मन लगाया, तो साथ ही साथ स्वामी दयानन्दकृत यथार्थ आलोचना के उग्र तेज को न सहकर सत्यार्थप्रकाश के प्रतिवाद में विभिन्न प्रकार के ग्रन्थ लिखने का लोभ भी वे संवरण नहीं कर सके।

स्वामी दयानन्द ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में वेदार्थ-प्रणाली का जो स्वरूप प्रतिपादित किया था, वह ब्राह्मणग्रन्थों तथा निरुक्त में प्रयुक्त वेदार्थ-प्रक्रिया के सर्वथा अनुरूप ही था, किन्तु सायण आदि मध्यकालीन भाष्यकारों ने जिस याज्ञिक अर्थशैली को अपनाया था, उन्हीं का अनुसरण करनेवाले अनेक आधुनिक विद्वानों का स्वामीजी की वेदार्थ-प्रक्रिया से सहमत या सन्तुष्ट होना सम्भव नहीं था। इन लोगों ने स्वामी दयानन्दकृत वेदभाष्य पर अनेक प्रकार के आक्षेप करते हुए जो ग्रन्थ लिखे, उनका विस्तृत उल्लेख इसी ग्रन्थ के द्वितीय अध्याय में ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के प्रकरण में किया जा चुका है। कलकत्ता के राजकीय संस्कृत कालेज के स्थानापन्न आचार्य पण्डित महेशचन्द्र न्यायरत्न ने तो स्वामी दयानन्द के ऋग्वेदभाष्य के प्रथम प्रकाशित नमूने के अंक को ही देखकर जो आक्षेपात्मक पुस्तक लिखी, वह 'दयानन्द सरस्वतीकृत वेद-भाष्येऽभिप्रायम्' शीर्षक से १८७६ ई० में प्रकाशित हुई। इसका एक अंग्रेजी अनुवाद भी शायद छपा, जिसका शीर्षक था—A few Remarks on Pandit Dayanand Saraswati's Veda Bhashya's। १८९० ई० में इसका दूसरा संस्करण निकलने की सूचना भी मिलती है। मुंशी इन्द्रमणि के शिष्य तथा स्वामी दयानन्द के जानेमाने विरोधी मुरादाबाद-निवासी जगन्नाथदास ने दयानन्द के यजुर्वेद-भाष्य की जो समीक्षा लिखी वह तो अत्यन्त अनुत्तरदायित्वपूर्ण तथा तथ्यशून्य ही थी। एक महाराष्ट्रीय विद्वान् पण्डित भीमाचार्य झलकीकर लिखित वेदार्थोद्धार नामक संस्कृत ग्रन्थ का भी उल्लेख मिलता है जो दयानन्दकृत वेद-भाष्य की आलोचना में बम्बई से छपा था। इसमें लेखक

ने स्वामीजी की इस मान्यता का प्रतिवाद किया था कि वेद को ही धर्मप्रमाण में एकमात्र अधिकारी ग्रन्थ माना जा सकता है। यह पुस्तक १८७५ ई० में प्रकाशित हुई थी तथा संस्कृत में लिखी जाने के कारण इसका मराठी एवं गुजराती अनुवाद भी साथ में दे दिया गया था। यहाँ यह ध्यातव्य है कि १८७५ ई० में तो स्वामी दयानन्द ने विधिवत् वेद-भाष्यलेखन का आरम्भ भी नहीं किया था। इतना अवश्य है कि १९३१ वि० में ही स्वामीजी ने ऋग्वेद के प्रथम सूक्त का स्वमन्तव्यानुकूल भाष्य लिखकर उसे मराठी एवं गुजराती अनुवाद सहित प्रकाशित किया था। अतः ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि झलकीकर की उक्त पुस्तक स्वामी दयानन्दकृत ऋग्वेद के प्रथम सूक्त के उक्त नमूने के भाष्य के खण्डन में ही लिखी गई होगी। इस पुस्तक की एक प्रति ब्रिटिश म्यूजियम लाइब्रेरी, लंदन में विद्यमान है।

(२) आर्यसमाज के मन्तव्यों के खण्डन में लिखा गया साहित्य

स्वामी दयानन्द के दिवंगत हो जाने पर आर्यसमाज का आन्दोलन अपनी प्रगतिशील नीतियों और युग-दृष्टि की पहचान के कारण अधिकाधिक शक्तिशाली होता गया। इसका देश-विदेश में विस्तार भी हुआ और वह समाज के प्रबुद्ध वर्ग को अपनी ओर आकृष्ट करने में समकालीन आन्दोलनों की तुलना में अधिक सफल रहा। धर्म और समाज के क्षेत्र में उदार एवं प्रगतिशील नीतियों तथा कई अर्थों में क्रान्तिकारी दृष्टि को लेकर चलनेवाले आर्यसमाज का पुराण-पन्थी एवं रूढ़िप्रिय सनातनी समाज से संघर्ष होना स्वाभाविक ही था। आर्यसमाज का यह विरोध संगठित रूप में उस समय प्रकट हुआ, जब व्याख्यानवाचस्पति श्री पण्डित दीनदयाल शर्मा ने १८८७ ई० में हरिद्वार में गंगा के किनारे भारत-धर्म-महामण्डल की स्थापना की। कालान्तर में पण्डित मदनमोहन मालवीय जैसे राष्ट्रीय नेता भी सनातन धर्म के पुनरुत्थान के आन्दोलन में जुट गये और आर्य प्रतिनिधि सभाओं की ही भाँति विभिन्न प्रान्तों में सनातनधर्म प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना हुई। आर्यसमाज की उपदेश एवं प्रचार-प्रणाली को सनातनी वर्ग ने भी अपना लिया और भजन, उपदेश, वार्षिकोत्सव, नगरकीर्तन, शास्त्रार्थ आदि के साधनों से सनातनी विचारधारा को प्रचारित करने की चेष्टा की गयी।

यहाँ हम सनातनधर्मी विद्वानों द्वारा लिखे गये उस साहित्य की चर्चा करेंगे जो मुख्यतः आर्यसमाज तथा स्वामी दयानन्द के मन्तव्यों के खण्डन में लिखा गया है। इस कोटि के लेखकों में एक वर्ग तो उन लोगों का था जो यद्यपि प्रारम्भ में तो आर्यसमाज के साथ थे, किन्तु कालान्तर में किसी विशेष कारणवश न केवल आर्यसमाज से पृथक् ही हो गये, अपितु इनमें से अनेक व्यक्तियों ने तो सभ्यता एवं शिष्टाचार के सभी मानदण्डों को तिलांजलि देकर स्वामी दयानन्द तथा उनके अनुयायी आर्यसमाज के प्रति अत्यन्त अश्लील, अभद्र एवं कुवाच्य शब्दावली का प्रयोग करने में भी संकोच नहीं किया। सम्भवतः उनकी धारणा थी कि अपनी खण्डन-शैली को अधिकाधिक उग्र और अनर्गल बनाकर वे उस तथाकथित सनातनी समाज का अधिकाधिक विश्वास एवं सहानुभूति अर्जित कर सकेंगे जो अब उनका संरक्षक और सहायक बनने का दम भरता है। प्रथम हम उन्हीं लेखकों की कृतियों का उल्लेख कर रहे हैं जो आर्यसमाज को छोड़कर कारण-

वश सनातनी शिविर में चले गये थे। इनमें से कुछ का विवरण इस प्रकार है—

मुन्शी जगन्नाथदास—मुरादाबाद-निवासी मुंशी इन्द्रमणि मुसलमानी मज़हब के प्रखर आलोचक थे। प्रारम्भ में वे स्वामी दयानन्द के अत्यन्त निकट रहे और उन्हें आर्यसमाज मुरादाबाद का प्रधान भी चुना गया। जब मुसलमानों ने मुंशीजी के कुछ ग्रन्थों को लेकर उनपर मुकद्दमा दायर किया तो स्वामी दयानन्द ने इस अभियोग को एक व्यक्ति का ही उत्पीड़न न मानकर उसे हिन्दू समाज के सम्मुख उपस्थित एक चुनौती माना और अभियोग में मुंशीजी की सहायता के लिए धन एकत्रित करने और ऐसी स्थायी निधि बनाने की अपील की, जिससे भविष्य में भी ऐसे कामों में सहायता ली जा सके। स्वामी दयानन्द के जीवनचरित में इस प्रसंग का विस्तारपूर्वक वर्णन आता है कि इसी निधि के संगृहीत धन पर जब मुंशी इन्द्रमणि अपना एकान्त अधिकार जताने लगे और उसे आर्यसमाज के कोष से हटाकर स्वाधिकार में रखने की इच्छा प्रकट करने लगे तो स्वामी दयानन्द ने मुंशीजी की इस लोलुप वृत्ति का विरोध किया। बात इतनी बढ़ी कि मुंशीजी का आर्यसमाज से ही सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। जगन्नाथदास इन्हीं मुंशी इन्द्रमणि का सजातीय और शिष्य था। जब तक मुंशीजी आर्यसमाजी रहे तब तक तो जगन्नाथदास भी आर्यसमाज के सिद्धान्तों के अनुकूल ग्रन्थ लिखता रहा, किन्तु मुंशीजी के आर्यसमाज से पृथक् होते ही उसने भी अपना रंग पलट लिया। उसके इसी धूर्ततापूर्ण आचरण के कारण आर्यसमाज मुरादाबाद ने उसे पुस्तकाध्यक्ष के पद से पृथक् कर दिया था।

इस प्रकार आर्यसमाज से अपना नाता तोड़कर जगन्नाथदास अपने असली रूप में आ गया। अब उसने कई छोटी-छोटी पुस्तकें लिखकर स्वामी दयानन्द की निन्दा और आर्यसमाज के मन्तव्यों के खण्डन का निरर्थक प्रयास आरम्भ किया। हमारे द्वारा संगृहीत सूची में जगन्नाथदास द्वारा लिखी गई न्यूनातिन्यून ३० पुस्तकों के नाम हैं जो स्वामीजी की निन्दा में लिखी गई हैं। जगन्नाथदास ने तो स्वामी दयानन्द की उस आत्मकथा पर भी अपनी आलोचनात्मक टिप्पणी लिखी है जो स्वामीजी ने थियोसोफिस्ट में तीन किस्तों में प्रकाशित करायी थी। इसके अतिरिक्त उसकी दयानन्दचरित्र नामक एक अन्य आलोचनात्मक कृति भी छपी थी।

पण्डित भीमसेन शर्मा—शर्माजी स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के लिपिकार तो थे ही, अपने-आपको स्वामीजी का प्रमुख और आद्य शिष्य भी मानते थे। यत्र-तत्र ग्रन्थों एवं पत्र-पत्रिकाओं में अपने को 'श्री १०८ स्वामी दयानन्द सरस्वतीजी के शिष्य' लिखने में गौरव का अनुभव करते थे। यही पण्डित भीमसेन चूरू के सेठ माधवप्रसाद खेमका द्वारा आयोजित एक यज्ञ में आचार्य के रूप में प्रतिष्ठित होकर जब यज्ञीय पशुहिंसा का समर्थन कर बैठे और स्वसम्पादित आर्य-सिद्धान्त में मृतक-श्राद्ध एवं तर्पण के पक्ष में लिखने लगे तो आर्यसमाजी क्षेत्रों में उनके विरुद्ध वातावरण बनने लगा। धीरे-धीरे स्थिति इतनी बिगड़ी कि पण्डित भीमसेन को आर्यसमाजी विद्वानों के सम्मुख शास्त्रार्थ के लिए उतरना पड़ा। अन्ततः वे आर्यसमाज से पृथक् हो गये और इटावा से ब्राह्मण-सर्वस्व पत्र निकालकर स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के सिद्धान्तों पर प्रहार करने लगे। पण्डित भीमसेन शर्मा का आर्यसमाज से टकराव मृतक श्राद्ध को लेकर ही हुआ था। अब सनातनी बनने पर उन्होंने स्वपक्ष को श्राद्ध-मीमांसा नामक पुस्तक में प्रस्तुत

किया। इतना ही नहीं, उन्होंने विधवा-विवाह-मीमांसा लिखकर विधवा-विवाह का खण्डन किया, तथा शिवलिंग-पूजा-माहात्म्य और आश्वमेधिक मन्त्र-मीमांसा लिखकर क्रमशः शिवपुराण-वर्णित दारुवन की अश्लील कथा तथा महीधरकृत यजुर्वेद के अश्वमेध-परक मन्त्रों के अश्लीलार्थों का भी तर्कबल से समर्थन किया। पण्डित भीमसेन ने आर्य-समाज के वैदिक मन्तव्यों का चाहे कितना ही खण्डन किया हो, किन्तु उन्होंने स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व एवं चरित्र के बारे में कोई वैसी अभद्र या अश्लील बात नहीं कही, जैसी कि उन्हीं की भाँति पथच्युत हुए आलाराम सागर या पण्डित अखिलानन्द शर्मा को कहने या लिखने में कोई संकोच नहीं हुआ था।

आलाराम सागर संन्यासी—यह मूलतः पंजाब की कपूरथला रियासत का रहनेवाला था। संन्यासी बनने के बाद आर्यसमाज में प्रविष्ट हुआ। अधिक पढ़ा-लिखा न होने के कारण साधारण स्तर के प्रचारक के रूप में गोरक्षा आदि विषयों पर बोल लेता था। किन्हीं अज्ञात कारणों से यह भी आर्यसमाज से नाता तोड़कर विरोधी खेमे में जा बैठा। अपने-आपको सनातनधर्म के प्रचारक के रूप में घोषित कर आलाराम ने स्वामी दयानन्द की निन्दा में अधिक-से-अधिक पुस्तकें लिखने में कमर कसी और कई भागों में दयानन्द-मिथ्यात्व-प्रकाश तथा सनातनधर्म-व्याख्यान-दर्पण आदि ग्रन्थ लिखे। आर्यसमाज के इतिहास (खण्ड ४) में हम पढ़ चुके हैं कि इसने अपने ग्रन्थों में आर्य-समाज को राजद्रोही संस्था सिद्ध करने का प्रयत्न किया था। इसके द्वेषपूर्ण लेखों तथा व्याख्यानों के कारण शान्तिभंग की आशंका से सरकार की ओर से इलाहाबाद के डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट श्री पी० हैरिसन की अदालत में इस पर मुकद्दमा चलाया गया। इस अभियोग के निर्णय के अनुसार आलाराम सागर को ही दोषी करार दिया गया था।

पण्डित अखिलानन्द शर्मा—बुलन्दशहर जिले के चन्दू नगला (चन्द्रनगर) ग्राम निवासी पण्डित अखिलानन्द शर्मा अद्भुत काव्य-प्रतिभासम्पन्न विद्वान् थे जिन्होंने आर्य-समाज के उपदेशक के रूप में वर्षों तक कार्य किया। उनके द्वारा लिखे गये संस्कृत-काव्यों की चर्चा इस ग्रन्थ में प्रसंगोपात्त आ चुकी है। यही पण्डित अखिलानन्द वर्ण-व्यवस्था की आर्यसमाज-प्रतिपादित व्याख्या से अपनी असहमति प्रकट करते हुए आर्यसमाज से पृथक् हो गये। अब उन्होंने सनातनी उपदेशक का बाना धारण किया और आर्यसमाज के कटुतम आलोचक के रूप में प्रकट हुए। 'साक्षराः राक्षसाः भवन्ति' की उक्ति पण्डित अखिलानन्द पर अक्षरशः चरितार्थ होती है। सनातनी बनकर अखिलानन्द ने 'दयानन्द-दिग्विजय' की ही श्रेणी का सनातनधर्म-विजय महाकाव्य लिखा। उन्होंने वेदत्रयी-समालोचन, अथर्ववेदालोचन आदि ग्रन्थों में आर्यसमाज के वेदविषयक मन्तव्यों की जो आलोचना की वह तो बहुत कुछ वितण्डावाद की सीमा में आ जाती है, किन्तु रमा-महर्षि-संवाद जैसी आपत्तिजनक और अश्लील पुस्तक लिखने के कारण पता नहीं अखिलानन्द को उसकी आत्मा ने भी कोसा या नहीं ? किन्तु अखिलानन्द की आत्मा तो उसी दिन मर गई थी जब स्वार्थान्ध होकर उसने अपनी पितृ-संस्था से नाता तोड़ा। यह इतिहास-सिद्ध तथ्य है कि पण्डित अखिलानन्द के पिता पण्डित टीकाराम शास्त्री स्वामी दयानन्द के श्रद्धालु भक्त थे और उन्होंने अपने पुत्र अखिलानन्द को उसके शैशवकाल में ही स्वामीजी के चरणों में आशीर्वाद हेतु प्रस्तुत किया था। स्वामी दयानन्द का मौन आशीर्वाद पाकर ही अखिलानन्द संस्कृत साहित्य का प्रकाण्ड विद्वान् बना और उसने

उच्चकोटि के काव्य का प्रणयन किया। उसी अखिलानन्द का दयानन्द-विरोधी बन जाना कृतघ्नतायुक्त विडम्बना ही थी।

यहाँ तक हमने उन सनातनी पण्डितों द्वारा लिखे गये खण्डन-साहित्य की चर्चा की है, जो अपने जीवन के पूर्वार्द्ध में आर्यसमाजी रह चुके थे। किन्तु आद्यन्त सनातन-धर्म की सीमा रेखा में रहकर आर्यसमाज की आलोचना में ग्रन्थरचना करनेवाले सनातनी लेखकों की संख्या भी पर्याप्त रही है। कन्नौज में जिन पण्डित हरिवंश शास्त्री से १९२६ वि० में स्वामी दयानन्द का मूर्तिपूजा पर शास्त्रार्थ हुआ था, उन्होंने सद्धर्म-दूषणोद्धार ग्रन्थ लिखकर आर्यसमाजी मान्यताओं का खण्डन किया। पण्डित गोविन्दराम (दयानन्द-मत-मर्दन), पण्डित अम्बिकादत्त व्यास (दयानन्द-मत-मूलोच्छेद), प्रियतमलाल गोस्वामी (आर्याभास-मत-मर्दन), स्वामी बालराम उदासीन (अबोध-ध्वान्त-मार्तण्ड) आदि वे लेखक हैं जिनकी ऊपर कथित रचनाएँ विगत शताब्दी में ही प्रकाशित हो गई थीं। पण्डित अम्बिकादत्त व्यास की पुस्तक का तो हिन्दी, उर्दू तथा अंग्रेज़ी में अनुवाद भी हुआ था और इस अनुवाद के कर्त्ता पटना के प्रसिद्ध हिन्दी लेखक बाबू शिवनन्दन-सहाय थे। स्वामी बालराम उदासीन की पुस्तक भी मूलतः संस्कृत में ही थी जिसका अनुवाद उसके शिष्य स्वामी आत्मस्वरूप उदासीन ने किया था।

इस शताब्दी में आर्यसमाज के सिद्धान्तों पर आक्षेप करनेवाले तथा स्वामी दयानन्द की मान्यताओं पर मनमाने प्रहार करनेवाले सनातनी पण्डितों में पण्डित कालूराम शास्त्री तथा पण्डित माधवाचार्य के नाम सर्वाधिक चर्चित हैं। **पण्डित कालूराम** शास्त्री कानपुर जिले के अमरौधा ग्राम के निवासी थे। इन्होंने सनातनी मान्यताओं के प्रचार के साथ-साथ आर्यसमाजी विचारधारा का खण्डन करने में अपने जीवन के अधिकांश भाग को लगाया था। हमारी सूचना के अनुसार पण्डित कालूराम ने छोटी-बड़ी अनेक पुस्तिकायें तो स्वामी दयानन्द के विचारों के खण्डन में ही लिखी थीं। 'आर्य-समाज की मौत' जैसी भारी-भरकम पुस्तक लिखने में भी उसने अपने पाण्डित्य की सार्थकता समझी। पण्डित कालूराम ने १९१६ ई० में सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण का 'असली सत्यार्थप्रकाश' शीर्षक से पुनर्मुद्रण किया। ऐसा करने में उसका अभिप्राय तो यही था कि प्रथम संस्करण में जो मृतक-श्राद्ध तथा यज्ञों में पशुहिंसा आदि के प्रकरण ग्रन्थकार के अनजाने प्रक्षिप्त कर दिये गये हैं, उन्हींको लेकर पाठकों में यह भ्रम फैलाया जा सकेगा कि सत्यार्थप्रकाश का प्रथम संस्करण लिखते समय तक स्वामी दयानन्द भी मृतक-श्राद्ध तथा यज्ञीय मांस-विधान का औचित्य स्वीकार करते थे। पण्डित कालूराम द्वारा सत्यार्थप्रकाश के प्रथम संस्करण के प्रकाशन को लेकर आर्यसमाज में तीव्र प्रक्रिया हुई। परोपकारिणी सभा ने तो पण्डित कालूराम पर मुकद्दमा चलाने का भी विचार किया था, किन्तु पर्याप्त सोचविचार के पश्चात् ऐसी कार्यवाही करना उचित नहीं समझा गया, क्योंकि इससे पण्डित कालूराम के इस अनुचित कार्य को अनावश्यक प्रचार मिल जाता।

पण्डित माधवाचार्य करनाल जिले के कौल ग्राम निवासी गौड़ ब्राह्मण थे। जीवन के अन्तिम वर्षों में ये दिल्ली के कमलानगर मुहल्ले में आकर बस गये और 'लोकालोक' नामक एक मासिक पत्र निकालकर सनातनी मान्यताओं का प्रचार करते रहे। पण्डित माधवाचार्य ने जहाँ सनातनधर्म के मन्तव्यों की पुष्टि में अनेक ग्रन्थ लिखे,

वहाँ स्वामी दयानन्द की मान्यताओं के खण्डन में भी उनकी लेखनी चलती रही। आर्यसमाज के अनेक विद्वानों से समय-समय पर उनके शास्त्रार्थ हुए थे। शास्त्रार्थ की समाप्ति के पश्चात् इनका विवरण पण्डित माधवाचार्य स्वयं लिखकर प्रकाशित करते और इस प्रकाशित ग्रन्थ द्वारा स्वयं की विजय का डिंडिम घोष करने से नहीं चूकते थे। हैदराबाद दक्षिण में पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार से मूर्तिपूजा पर उनका प्रसिद्ध शास्त्रार्थ हुआ था। इस शास्त्रार्थ के समय माधवाचार्य ने पण्डित बुद्धदेव को यह कहकर उत्तेजित करना चाहा था कि यदि वे मूर्तिपूजा को उचित नहीं मानते, तो क्या वे स्वामी दयानन्द की तसवीर पर जूता रख सकते हैं? पण्डित बुद्धदेव ने अविचलित भाव से उत्तर दिया कि कागज की बनी तसवीर भी जड़ ही है और चाहे वह किसी भी व्यक्ति की क्यों न हो, उसकी पूजा करना अनुचित है। दूसरे ही क्षण, आवेश में आकर उन्होंने स्वामीजी के चित्र पर जूता भी रख दिया, यह बताने के लिए कि कागजी तसवीर का मानापमान कुछ भी नहीं होता। किन्तु माधवाचार्य ने शास्त्रार्थ के इस प्रसंग से लाभ उठाते हुए 'बुद्धदेव का जूता' शीर्षक एक पुस्तक तीखी शैली में लिख मारी। पण्डित माधवाचार्य के पुत्र पण्डित प्रेमाचार्य भी अपने पिता के ही चरण-चिह्नों पर चल रहे हैं। वे भी यदा-कदा आर्यसमाजी विद्वानों के समक्ष शास्त्रार्थ-समर में उतरते और आर्यसमाज की मान्यताओं के खण्डन में उत्तेजना-पूर्ण व्याख्यान देते दिखाई पड़ते हैं।

स्वामी दयानन्द के व्यक्तित्व एवं कृतित्व तथा उनके जीवन पर लांछनापूर्ण टिप्पणियाँ करने वाला कुछ साहित्य भी लिखा गया है। विगत शताब्दी में ही फर्रुखनगर-निवासी पण्डित जीयालाल जैनी ने एक मिथ्या प्रवाद का आधार लेकर अपने ग्रन्थ 'दयानन्द छलकपट दर्पण' में यह सिद्ध करना चाहा था कि स्वामी दयानन्द का जन्म औदीच्य ब्राह्मणकुल में न होकर एक कापड़ी (मृतक का दान लेने वाले महाब्राह्मण) परिवार में हुआ था। पण्डित जीयालाल के इस मिथ्या कथन की येन-केन-प्रकारेण पुष्टि कराने के लिए देवसमाज के संस्थापक तथा स्वामी दयानन्द के प्रसिद्ध द्वेषी शिवनारायण अग्निहोत्री ने अपने विश्वसनीय व्यक्तियों को सौराष्ट्र में इसी अभिप्राय से भेजा था कि वे वहाँ जाकर स्वामीजी के परिवार तथा उनके माता-पिता के सम्बन्ध में प्रचारित इन लांछनायुक्त प्रवादों के समर्थन में प्रमाण ढूँढ लायें। परन्तु उन्हें इस कार्य में सफलता मिलना तो दूर रहा, सौराष्ट्र-वासियों ने यह कहकर अग्निहोत्री के इस प्रस्ताव की तीव्र भर्त्सना की कि वह स्वामी दयानन्द जैसे महापुरुष के सम्मानास्पद कुल एवं वंश के बारे में मिथ्या प्रवाद प्रचारित करने का घोर पाप कर रहा है।

किन्तु पण्डित जीयालाल जैनी द्वारा प्रचारित इस मिथ्या प्रवाद को यदा-कदा सनातनी खेमों से उछाला जाता रहा। बम्बई के किसी टहलराम गिरधारीदास सामन्त ने 'आर्यसमाज का हिन्दू धर्म के साथ विश्वासघात' और 'आर्यसमाज का हिन्दुओं के साथ षड्यन्त्र' शीर्षक दो पुस्तकें लिखकर जैनी जीयालाल की इस धारणा को पुनः हवा देने की कोशिश की कि स्वामीजी औदीच्य कुलोत्पन्न न होकर एक कापड़ी की सन्तान थे। तथाकथित सनातनधर्मियों ने, जैसाकि हम देख चुके हैं, स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की मान्यताओं का खण्डन करने में तो जमीन आसमान को एक करने का प्रयत्न किया ही, किन्तु उनमें से कतिपय तो ऐसे थे जो स्वामीजी के अमल-धवल जीवन एवं कृतित्व को लांछित करने के लिए सभी प्रकार के शिष्टाचार तथा लेखकीय मर्यादाओं को भी विस्मृत

कर बैठे। ऐसे विकारग्रस्त मस्तिष्कवाले लेखकों में लायलपुर (पाकिस्तान) के शम्भुदयाल त्रिशूली तथा होशियारपुर जिले के हरियाणा ग्रामनिवासी गोपालमिश्र के नाम सर्वाधिक बदनाम हैं जिन्होंने क्रमशः 'दयानन्द-भाव-चित्रावली' और 'कलजुग—इन्सान के लिबास में' जैसी गन्दी और अश्लील पुस्तकें लिखकर सनातन धर्म के नाम को ही कलंकित किया। इस प्रसंग को समाप्त करने से पूर्व यह लिख देना भी आवश्यक है कि सनातन-धर्म के नाम पर इस प्रकार की गन्दी कार्यवाहियों को सनातनधर्म के उच्च चरित्र वाले नेताओं, यथा पण्डित मदनमोहन मालवीय, गोस्वामी गणेशदत्त तथा पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी आदि ने कभी नहीं सराहा।

किन्तु स्वर्गीय करपात्री स्वामी तथा पुरी के वर्तमान शंकराचार्य स्वामी निरञ्जन-देव तीर्थ आदि कुछ अन्य कोटि के सनातनधर्मी भी हैं। इन लोगों ने स्वयं चाहे अपनी लेखनी को दयानन्द की निन्दा और कुत्सा के दोष से दूषित न किया हो, किन्तु करपात्री-जी ने वेदार्थ-पारिजात जैसे ग्रन्थ में स्वामीजी के प्रति प्रयुक्त निन्दास्पद वाक्यों का समर्थन कर तथा शंकराचार्य ने काशी के स्वामी केशवपुरी की पुस्तक 'नहले पर दहला' (जो स्वामी दयानन्द के प्रसिद्ध काशी-शास्त्रार्थ की शताब्दी के अवसर पर १९६९ ई० में प्रकाशित हुई थी) का प्राक्कथन लिखकर दयानन्द जैसे युगपुरुष तथा देशभक्त महा-मानव की अकारण निन्दा करने के पाप के भागी बने हैं।

पौराणिकों द्वारा लिखे गये आर्यसमाज के इस विरोधी साहित्य के विवरण को समाप्त करने से पूर्व कतिपय उन ग्रन्थों का उल्लेख भी आवश्यक है जो सनातनी विद्वानों द्वारा सनातनधर्मी मन्तव्यों की पुष्टि तथा आर्यसमाज के कुछ मान्य, प्रसिद्ध सिद्धान्तों के खण्डन में लिखे गये थे। सर्वप्रथम हम मूर्तिपूजा को लें। आर्यसमाज द्वारा मूर्तिपूजा-खण्डन को एक शास्त्रीय आधार प्रदान किये जाने के कारण सनातनी क्षेत्र में उसकी तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अब सनातनी पण्डितों के लिए यह आवश्यक हो गया कि वे आर्यों के मान्य शास्त्रों से मूर्तिपूजा के विधान को सिद्ध करें। इस प्रसंग में सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ पण्डित रामलाल षट्-शास्त्री का 'मूर्तिप्रकाश' है जो १९३३ वि० में बम्बई से छपा। वालादत्त दौर्गादत्ति का अप्रतिम प्रतिमा, प्रियतमलाल गोस्वामी का मूर्तिमार्त्तण्ड; मधुसूदन गोस्वामी का प्रतिमातत्त्वनिरूपण तथा पण्डित अम्बिकादत्त व्यास का मूर्तिपूजा आदि वे ग्रन्थ हैं जो गत शताब्दी में ही प्रकाशित हो चुके थे। आलाराम सागर, पण्डित कालूराम शास्त्री तथा पण्डित भीमसेन शर्मा के पुत्र पण्डित ब्रह्मदेव मिश्र ने इस शताब्दी में मूर्तिपूजा के समर्थन में कुछ ग्रन्थ लिखे।

अवतारवाद की पुष्टि में भी कुछ साहित्य लिखा गया। ब्रह्मकुशल उदासीन ने ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के खण्डन में जो ग्रन्थ लिखा था, उसके एक खण्ड में अवतार-सिद्धि के विषय को ही लिया गया। ऋगादिभाष्यभूमिकेन्दु का यह खण्ड १९५० वि० में छपा था। पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने अवतारवाद की सिद्धि में अवतार-मीमांसा शीर्षक ६१६ संस्कृत कारिकाएँ लिखीं जिनका हिन्दी अनुवाद अवतारवाद-मीमांसा शीर्षक से प्रकाशित हुआ। आलाराम सागर तथा कालूराम शास्त्री ने भी अपनी-अपनी युक्तियाँ अवतारवाद की पुष्टि में ग्रन्थाकार प्रस्तुत कीं।

हम यह देख चुके हैं कि आर्यसमाज के आद्य पण्डित भीमसेन शर्मा तो मृतक-श्राद्ध के प्रति अपना विश्वास प्रकट करके ही आर्यसमाज से पृथक् हुए थे, अतः उनका मृत

पितरों के लिए किये जाने वाले श्राद्ध-तर्पणादि की क्रियाओं को पुष्ट करना अस्वाभाविक नहीं था। १९ मई १८९५ ई० को वजीराबाद (पाकिस्तान) में मृतक-श्राद्ध पर सनातनी पण्डित गणेशदत्त शास्त्री (गवर्नमेंट कॉलेज लाहौर, ओरियण्टल कॉलेज लाहौर तथा फोरमेन क्रिश्चियन कॉलेज लाहौर के भूतपूर्व संस्कृत प्राध्यापक) तथा आर्यसमाज के पण्डित कृपाराम (स्वामी दर्शनानन्द) और पण्डित राजाराम (प्राध्यापक डी० ए० वी कॉलेज, लाहौर) के बीच एक लिखित शास्त्रार्थ हुआ। जब दोनों पक्षों के वक्तव्यों को लिपिबद्ध कर लिया गया तो शास्त्रार्थ-सभा के प्रधान ने इसे रजिस्ट्री डाक से प्रोफेसर मैक्समूलर के पास सम्मति-हेतु भेजा। प्रोफेसर मूलर ने ऑक्सफोर्ड (इंगलैण्ड) से लिखे अपने दिनांक १३ सितम्बर १८९६ ई० के पत्र में यह स्वीकार किया कि तर्पण और श्राद्ध में प्रदत्त वस्तुएँ मृत पितरों को नहीं मिलतीं तथा यह भी कि श्राद्ध में दी गई वस्तुओं को ग्रहण करने के लिए मृत पितरों का शरीर धारण कर धरती पर लौट आने की बात मात्र अन्धविश्वास ही है। सनातनधर्म सभा की ओर से यह 'शास्त्रार्थश्राद्ध' प्रकाशित भी हुआ था। आलाराम सागर, कालूराम शास्त्री तथा गोकुलचन्द्र शर्मा ने मृतक-श्राद्ध-मण्डन विषय पर कुछ अन्य साधारण पुस्तकें लिखी थीं।

वर्णव्यवस्था का जन्माधारित होना या गुण, कर्म एवं स्वभाव से वर्ण का निर्धारण करना आर्यसमाज एवं सनातनधर्म के बीच के विवादों का एक प्रमुख मुद्दा है। मुंशी इन्द्रमणि के शिष्य जगन्नाथदास ने वर्णव्यवस्था को जन्मना सिद्ध करने के लिए इसी शीर्षक से एक पुस्तक लिखी, जबकि पण्डित दुःखमोचन झा ने 'वर्णव्यवस्था-तिमिर-मित्रोदय' लिखकर वर्णव्यवस्था-विषयक सनातनी दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया। पण्डित अखिलानन्द शर्मा ने तो १९१६ ई० में वैदिक वर्णव्यवस्था शीर्षक पुस्तक लिखकर एक नये विवाद को जन्म दिया था, जिसके कारण उन्हें आर्यसमाज से ही पृथक् होना पड़ा। शर्माजी ने वर्ण-निर्धारण में 'स्वभाव' शब्द पर विशेष जोर दिया और उसे येन-केन-प्रकारेण जन्म से जोड़ने का प्रयत्न किया था। आर्यसमाज के विरोधी सनातनी विद्वानों का समस्त विश्वास एवं उनकी धारणाएँ इसी विचार पर केन्द्रित रही हैं कि धर्म-मीमांसा में पुराणों की प्रामाणिकता को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जाना चाहिए, जब कि आर्यसमाज ने यह स्पष्ट कर दिया था कि प्रचलित अठारह पुराण न तो महर्षि व्यास-रचित ही हैं और न वे उतने पुराने ही हैं जितना कि उन्हें माना जाता है। पं० भीमसेन शर्मा कृत पुराण-कर्तृ-मीमांसा (१९७० वि० में प्रकाशित द्वितीय संस्करण) में पुराणों को व्यासकृत मानने की पुष्टि में कुछ प्रमाण दिये गये हैं। पण्डित कालूराम शास्त्री ने पुराण-कलंकाभास-मार्जन, तथा पुराणवर्म शीर्षक ग्रन्थ लिखकर पुराणों पर किये जाने-वाले आक्षेपों का निराकरण किया। पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र का अष्टादश-पुराण-दर्पण भी पुराण-समीक्षा का एक नवीन आयाम प्रस्तुत करता है, जिसमें ऐतिहासिक दृष्टि से पुराण वाङ्मय का ऊहापोह किया गया है।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने सनातनी लेखकों की उन कृतियों का परिचय दिया है जो पौराणिक मान्यताओं की पुष्टि में लिखी गई हैं। किन्तु आर्यसमाजी मान्यताओं के खण्डन में लिखे गये प्रमुख सनातनी ग्रन्थों की जानकारी भी आवश्यक है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द के आपद्धर्म के रूप में द्विजातियों के लिए नियोग तथा शूद्रों के लिए विधवा-विवाह को उचित माना था। किन्तु सनातनधर्मियों ने तो नियोग और

विधवा-विवाह दोनों का ही खण्डन करने में अपनी सम्पूर्ण शक्ति एवं योग्यता व्यय कर दीं। उन्हें यह सोचने की भी फुरसत नहीं थी कि विधवा-विवाह का प्रतिषेध कर वे समाज में व्यभिचार-वृद्धि को ही प्रोत्साहित कर रहे हैं। लाखों बाल-विधवाओं की दुर्दशा से तो उन्हें लेना ही क्या था? पं० भीमसेन शर्मा (विधवा-विवाह-मीमांसा) तथा पं० कालूराम शास्त्री (विधवा-विवाह-निर्णय तथा विधवोद्धार मीमांसा) ने विधवा-विवाह-निषेध में ग्रन्थ लिखे। नियोग का खण्डन करने में भी पण्डित कालूराम शास्त्री की ही लेखनी मुखर रही। नियोगमर्दन लिखकर उन्होंने इस प्रथा पर तीव्र आक्षेप किये। आर्यसमाज फलित-ज्योतिष को विज्ञान न मानकर अन्धविश्वास ही मानता है। भीमताल (नैनीताल) निवासी पण्डित रामदत्त ने ज्योतिष-चमत्कार समीक्षा में फलित ज्योतिष का समर्थन किया। आर्यसमाज ने यदि 'नमस्ते' को आर्य जाति के सर्वसम्मत एवं आदरास्पद अभि-वादन के रूप में स्वीकार किये जाने पर बल दिया तो पण्डित कालूराम शास्त्री ने 'नमस्ते-मीमांसा' तथा पण्डित दीनानाथ शर्मा सारस्वत ने सनातनधर्मालोक के प्रथम भाग में 'नमस्ते' का खण्डन ही कर डाला। इस प्रसंग में यह लिख देना आवश्यक है कि पण्डित दीनानाथ शर्मा का सनातनधर्मालोक कई खण्डों में समाप्त कई हजार पृष्ठों का ग्रन्थ है जिसमें आर्यसमाजी मान्यताओं का निराकरण तथा सनातनी धारणाओं की पुष्टि अत्यन्त विस्तार में जाकर की गई है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन तथाकथित सनातनी लेखकों ने मानो यह शपथ ही ले ली थी कि आर्यसमाज की प्रत्येक मान्यता का उन्हें तो खण्डन ही करना है, चाहे उसमें अनौचित्य या अशास्त्रीय जैसा कुछ भी न हो। तभी तो आर्य-समाज द्वारा जब 'हिन्दू' की तुलना में 'आर्य' शब्द को अपनाने पर जोर दिया गया तो पण्डित कालूराम शर्मा ने 'हिन्दू-शब्द-मीमांसा' लिखकर 'हिन्दू' शब्द को ही प्राचीन सिद्ध करना चाहा। आलाराम सागर का 'हिन्दू-शब्द-मण्डन' तथा मनोहरदत्त शर्मा का 'हिन्दू-शब्द-प्रदीप' इसी कोटि की पुस्तकें हैं।

जब स्वामी श्रद्धानन्द ने शुद्धिचक्र का प्रवर्तन कर मुसलमानों की तबलीग जैसी खतरनाक कार्यवाहियों का प्रतिरोध किया तो पण्डित मदनमोहन मालवीय जैसे युगदृष्टि-सम्पन्न सनातनधर्मी नेताओं ने तो चाहे शुद्धि-आन्दोलन का समर्थन ही किया, किन्तु सनातनधर्म के पुराणपन्थी और प्रतिक्रियावादी तबके में पण्डित कालूराम जैसे लोग भी थे जिन्होंने 'शुद्धि-निर्णय' (१९८३ वि०) जैसी पुस्तक लिखकर शुद्धि का विरोध किया। इसी प्रकार यदि आर्यसमाज के विद्वान् वाल्मीकीय रामायण के ही अन्तःसाक्ष्य तथा अन्य प्रमाणों के बल पर सुग्रीव, हनुमान आदि को एक विशिष्ट क्षत्रिय वानर जाति में उत्पन्न मनुष्य सिद्ध कर रहे थे तो दूसरी ओर पण्डित कालूराम 'हनुमान निर्णय' (१९८५ वि०) लिखकर इसी बात को पुष्ट करने में लगे थे कि हनुमान आदि वेदविद् और व्याकरण-तत्त्ववेत्ता के रूप में रामायण में वर्णित किये गये प्राणी मनुष्य नहीं अपितु पूंछधारी बन्दर ही थे।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने पर्याप्त विस्तार में जाकर आर्यसमाज के विरोध में लिखे गये सनातनी साहित्य का विवरण दिया है। इसमें जो विस्तार आया है उसका प्रमुख कारण भी यही है कि आर्यसमाज की निकटतम विचारधारा तो सनातनधर्मी चिन्तन प्रणाली ही थी। दोनों विचारधाराओं का इतिहास, परम्परा एवं उत्स भी एक ही रहे

हैं। वस्तुतः सनातनधर्मियों ने तो आर्यसमाज की प्रगतिशील नीतियों का विरोध करना भी इसीलिये आवश्यक समझा ताकि वे अपनी रूढ़िग्रस्त परम्पराओं की रक्षा कर सकें।

(३) ईसाइयों द्वारा लिखित खण्डनात्मक साहित्य

ईसाई धर्म भारत के भूतपूर्व अंग्रेज शासकों का धर्म था। सर्वप्रथम राजा राममोहन राय ने ईसाइयत के ग्रन्थों का अध्ययन कर उसके अनेक मन्तव्यों की आलोचना की थी। स्वामी दयानन्द ने भी ईसाई मत के प्रामाणिक ग्रन्थ बाइबिल का अध्ययन कर उसकी विस्तृत समीक्षा सत्यार्थप्रकाश के तेरहवें समुल्लास में लिखी परन्तु ईसाइयों की चिन्ता का कारण आर्यसमाज का वह साहित्य नहीं था, जो उनके मत के खण्डन में लिखा गया था, किन्तु उनको तो इस बात से परेशानी थी कि आर्यसमाज के कारण हिन्दू समाज में जिस नवजागृति और नवचेतना का संचार हो रहा है, उसके फलस्वरूप अब वे अधिकाधिक हिन्दुओं को ईसाई बनाने में सफल नहीं हो सकेंगे। भारत-सुदशा-प्रवर्त्तक के जनवरी १८८४ ई० के अंक में एक टिप्पणी छपी है जिसका आशय इस प्रकार है—"पादरियों ने यह स्वीकार किया है कि दयानन्द सरस्वती के कारण ईसाइयत को ग्रहण करने में रुकावट आई है।"

ईसाइयों के द्वारा आर्यसमाज के खण्डन में ग्रन्थ-प्रणयन का कार्य भी गत शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था। कांग्रेस के संस्थापक श्री ए० ओ० ह्यूम ने स्वामी दयानन्द के वेदविषयक विचारों के प्रतिवाद में एक लेख लिखा था, जिसका उत्तर स्वामीजी ने भारतमित्र तथा अन्य पत्रों में प्रकाशित कराया। रेवाड़ी के पादरी टी० विलियम्स ने नियोग के खण्डन में एक ट्रैक्ट प्रकाशित किया था, जिसका उत्तर पण्डित गुरुदत्त ने A Reply to Mr. Williams' Criticism of Niyoga शीर्षक से दिया। इन्हीं पादरी साहब ने लाहौर की आर्य-पत्रिका के सम्पादक के नाम Idolatory in Vedas शीर्षक पत्र प्रकाशित कराया। पण्डित गुरुदत्त ने इसका भी उत्तर देकर स्पष्ट किया कि पादरी विलियम्स का यह कथन सर्वथा मिथ्या है कि वेदों में मूर्तिपूजा का विधान किसी-न-किसी रूप में मिलता है। स्वामी दयानंद की आलोचना में लिखी गई इसी लेखक की उर्दू पुस्तक 'पं० दयानन्द का झूठ और उसकी गुनाह-आलूदा तालीम' लाहौर से १८८६ ई० में प्रकाशित हुई थी। नार्थ इण्डिया क्रिश्चियन बुक ट्रैक्ट सोसाइटी ने आर्यसमाज-दर्पण प्रकाशित किया जिसमें आर्यसमाज के मन्तव्यों की आलोचना की गई थी। आर्यतत्त्व-प्रकाश शीर्षक एक ग्रन्थमाला भी उपर्युक्त सोसाइटी से प्रकाशित हुई, जिसके विभिन्न खण्डों में आर्यसमाज के अनेक सिद्धान्तों की आलोचना की गई थी। आर्यतत्त्वप्रकाश का प्रथम व्याख्यान वेदों की उत्पत्ति तथा वेदों के काल के सम्बन्ध में आर्य मन्तव्यों की आलोचना में लिखा गया था। द्वितीय व्याख्यान वेदोक्त ईश्वर के स्वरूप तथा वेदों की शिक्षाओं के विषय में आर्यसमाज के विचारों की समीक्षा प्रस्तुत करता है। आर्यतत्त्व-प्रकाश का तृतीय व्याख्यान भी आर्यसमाज-प्रतिपादित ईश्वर तथा वेद-विषयक सिद्धान्तों के खण्डन में ही लिखा गया था। हमारी जानकारी के अनुसार इस ग्रन्थमाला के छः खण्ड तो निश्चित रूप से प्रकाशित हुए थे।

निम्न ईसाई पादरियों और प्रचारकों ने आर्यसमाज के सिद्धान्तों की आलोचना में जो साहित्य लिखा, उसका नामोल्लेखपूर्वक निर्देश यहाँ किया जा रहा है। पादरी

फोरमेन ने The Arya Samaj—Its Teachings and an Estimate of it लिखा जो इलाहाबाद से १८८७ ई० में छपा। पादरी फोरमेन स्वामी दयानन्द के समकालीन थे; पंजाब-प्रवास के समय वे स्वामीजी से मिले भी थे। एच० डी० ग्रिसवोल्ड लिखित The Problems of the Arya Samaj तथा कलकत्ता के विक्टोरिया इन्स्टीट्यूट के समक्ष आर्यसमाज के विषय में प्रस्तुत उनका निबन्ध। फ्रैंक लिलिंगटन ने The Brahmo Samaj and the Arya Samaj in their bearing on Christianity लिखकर मैकमिलन कम्पनी लन्दन से १९०१ ई० में प्रकाशित कराई। इसमें आर्यसमाज तथा ब्रह्मसमाज द्वारा प्रतिपादित एकेश्वरवाद की ईसाइयत के सन्दर्भ में समीक्षा की गई है। जॉन मर्डक ने आर्यसमाज के मन्तव्यों की समीक्षा में दो पुस्तकें लिखीं। प्रथम थी—एन एकाउण्ट ऑफ दि वेदाज। यह लन्दन की क्रिश्चियन लिटरेचर सोसाइटी फॉर इण्डिया से १८९७ ई० में छपी। इसमें ऋग्वेद तथा ब्राह्मणग्रन्थों को भूरिशः उद्धृत कर आर्य-समाज के वेद-विषयक मन्तव्यों की समीक्षा की गई है। मर्डक की एक अन्य पुस्तक Vedic Hinduism and the Arya Samaj उक्त सोसाइटी से १९०२ ई० में छपी। रेवरेण्ड एफ० आर० नील तथा रेवरेण्ड टेकमस्ट द्वारा लिखित The Arya Samaj तथा The Arya Samaj and its Teachings—Universal and Complete Trymph of Christ शीर्षक दो पुस्तकें भी ईसाई दृष्टिकोण से लिखी गई थीं।

लाहौर-निवासी जॉन कैम्पवेल ओमन ने अपनी पुस्तक Cults, Customs and Superstitions of India में 'आर्यसमाज एण्ड इट्स फाउण्डर' शीर्षक एक अध्याय लिखा था। ओमन की यह पुस्तक १९०८ ई० में लन्दन से प्रकाशित हुई थी। पी० ए० परापुल्लिल (P. A. Parapullil) लिखित एक अन्य ग्रन्थ Swami Dayanand Saraswati's Understanding and Assessment of Christianity शीर्षक पुस्तक १९७० ई० में रोम से प्रकाशित हुई है। हिन्दी में ईसाई प्रचारकों द्वारा आर्यसमाज के खण्डन में जो अनेक छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी गई हैं, उनका उल्लेख विस्तार-भय से करना समीचीन नहीं है।

(४) विविध मत-सम्प्रदायों द्वारा आर्यसमाज के खण्डन में प्रणीत साहित्य

जैनी विद्वानों द्वारा प्रणीत साहित्य—सत्यार्थप्रकाश के बारहवें समुल्लास की समीक्षा में जैन मतावलम्बियों द्वारा रचित साहित्य का उल्लेख ऊपर आ चुका है। सत्यार्थ-प्रकाश के प्रथम संस्करण में संकलित जैन मत की आलोचना से गुजराँवाला-निवासी श्रावक ठाकुरदास मूलराज ओसवाल तो इतना क्षुब्ध हुआ कि उसने १८८२ ई० में "दयानन्द मुख चपेटिका" शीर्षक पुस्तक लिखकर स्वामीजी की निन्दा-विषयक अपने मन के गुबार निकाल डाले। स्वामी आत्माराम (अपर नाम आनन्दविजय) पंजाब के प्रसिद्ध जैन आचार्य थे जिनका स्वामी दयानन्द से पत्र-व्यवहार भी हुआ था। इन्हीं स्वामी आत्मा-नन्द ने 'अज्ञानतिमिरभास्कर' ग्रन्थ लिखकर यह बताना चाहा था कि वेद-प्रतिपादित हिंसा-विधान का प्रत्याख्यान करना आर्यसमाज के लिए सम्भव नहीं है। जैन धर्म हितेच्छु सभा भावनगर (गुजरात) ने इसे प्रकाशित किया था।

आर्यसमाज से सैद्धान्तिक विषयों पर विधिवत् शास्त्रार्थ करने के लिए अम्बाला में भारतीय दिगम्बर जैन शास्त्रार्थ संघ की स्थापना हुई। इसी संघ ने इसी नगर से

चम्पावती जैन पुस्तकमाला का प्रकाशन किया जिसके अन्तर्गत लगभग २०-२२ पुस्तकें आर्यसमाज के वैदिक मन्तव्यों की आलोचना तथा आर्यसमाज द्वारा की गई जैनमत की समीक्षा के उत्तररूप में प्रकाशित हुईं। इस ग्रन्थमाला के प्रमुख लेखक थे—पण्डित अजित-कुमार शास्त्री, पण्डित राजेन्द्रकुमार न्यायतीर्थ, कामताप्रसाद जैन, कैलाशचन्द्र जैन, पुत्तूलाल जैन आदि। स्वामी कर्मानन्द, जो किसी समय आर्यसमाज के कर्मठ प्रचारक थे, तथा जिन्होंने जैन मत के खण्डन में अनेक ग्रन्थ लिखे थे, वे ही किसी कारणवश आर्य-समाज से सम्बन्ध-विच्छेद कर जैन मत के अनुयायी बन गये। अब जैन मत स्वीकार कर उन्होंने आर्यसमाज के खण्डन में कुछ ग्रन्थ लिखे। जैन-तत्त्व-प्रचारिणी-सभा इटावा ने भी आर्यभ्रमनिराकरण, स्वामी दर्शनानन्द के २० प्रश्नों के उत्तर तथा शास्त्रार्थ-अजमेर आदि ग्रन्थ प्रकाशित किये। स्मरणीय है कि स्वामी दर्शनानन्द का प्रसिद्ध जैन विद्वान् पण्डित गोपालदास वरैया से अजमेर में जो शास्त्रार्थ हुआ था, उसी का जैन दृष्टिकोण से विवरण उक्त ग्रन्थ में प्रकाशित किया गया था। पण्डित हंसराज शर्मा ने स्वामी दयानन्द और जैन धर्म शीर्षक ग्रन्थ १९७२ वि० में लिखा। इसमें स्वामीजी के जैन मत-विषयक दृष्टिकोण की आलोचना की गई थी।

इस्लाम के मतानुयायियों द्वारा आर्यसमाज के खण्डन में लिखा गया साहित्य —मुसलमानों ने जो साहित्य स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाज के विरोध में लिखा, वह अधिकांशतः उर्दू में ही है। सर्वप्रथम मुसलमानों के कादियानी अहमदिया फिर्के ने आर्य-समाज के विरोध में लेखनी उठाई। मिर्जा गुलाम अहमद द्वारा लिखी गई पुस्तकों के खण्डन में पण्डित लेखराम द्वारा प्रणीत ग्रन्थों का उल्लेख हम इसी ग्रन्थ के नवें अध्याय में कर चुके हैं। बुराहीनए अहमदिया के समर्थन में 'तसदीकए बुराहीनए अहमदिया' लिखी गई। इसी कोटि की एक अन्य पुस्तक 'ताईदए बुराहीनए अहमदिया अलमारूफ एनकए चश्मए आरिया' भी छपी। मौलवी अबू रहमतहसन ने 'वेद और कुरान का मुकाबिला' तथा 'वेद की हकीकत' (दोनों पुस्तकें १८९५ ई० में अमृतसर से छपीं) लिखीं। आर्य विद्वानों और मुसलमान मौलवियों के बीच हुए शास्त्रार्थों के विवरण भी मुसलमानों ने अपने दृष्टिकोण से प्रकाशित किये। इलाहीबख्श द्वारा लिखित 'मुबाहिसाए दीनी' लाहौर से १८९२ ई० में प्रकाशित हुआ। कालका (हरयाणा) में आर्यसमाज एवं मुसल-मानों के बीच वेदों की नित्यता को लेकर जो शास्त्रार्थ हुआ, उसका विवरण शाहमुहम्मद शर्फुलहक ने "इब्तालए कदामतए वेद मारूफ आ मुनाजराए कालका" शीर्षक से १८९३ ई० में दिल्ली से प्रकाशित किया। पानीपत के ख्वाजा गुलामहुसैन ने 'स्वामी दयानन्द और उनकी तालीम' शीर्षक ग्रन्थ में स्वामीजी के व्यक्तित्व और उनके उपदेशों की टीका की थी। एक अन्य आपत्तिजनक ग्रन्थ 'उन्नीसवीं सदी का महर्षि' १९२४ ई० में कादियानी मुसलमानों की ओर से निकला जिसके उत्तर में पण्डित चमूपति को उसी ढंग की एक अन्य पुस्तक लिखनी पड़ी। कुछ वर्षों से मुसलमानों द्वारा उपर्युक्त कोटि का खण्ड-नात्मक साहित्य लिखना प्रायः समाप्त हुआ समझना चाहिए। तथापि कभी-कभी कोई आलोचनात्मक पुस्तक प्रकाश में आ जाती है। उत्तरप्रदेश के रामपुर की मक्तबा अलहस्नात नामक एक मुस्लिम धर्म-प्रचारक संस्था ने अबू मुहम्मद इमामुद्दीन लिखित सत्यार्थ-प्रकाश की आलोचना में एक ग्रन्थ 'सत्यार्थप्रकाश का असत्यार्थप्रकाश' हाल ही में प्रकाशित किया है।

स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज की सिक्खों द्वारा की गई आलोचना के ग्रन्थ—सिक्ख बिब्लियोग्राफी नामक पुस्तक में सिक्ख मत के प्रचारकों द्वारा लिखित उन पंजाबी तथा उर्दू ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की गई है, जो आर्यसमाज के खण्डन में लिखे गये हैं। ज्ञानी दित्तसिंह और भाई जवाहरसिंह तो लाहौर में स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में आकर आर्यसमाज के सभासद भी बन गये थे, किन्तु कुछ काल पश्चात् कतिपय कारणों से उन्होंने आर्यसमाज से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया और सिक्ख मत के प्रचारक बन गये। उन्होंने स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाज की आलोचना में अपनी लेखनी को प्रयुक्त किया। भाई दित्तसिंह ने 'मेरा अते साधु दयानन्द दा सम्बन्ध' १९०० ई० में लिखा तथा उर्दू में 'मेरा और साधु दयानन्द का मुबाहिसा' भी १९०० ई० में ही प्रकाशित किया। ज्ञानी अमरसिंह ने ज्ञानी दित्तसिंह और स्वामी दयानन्द के बीच हुए तीन शास्त्रार्थों का विवरण "ज्ञानी दित्तसिंहजी दीयाँ स्वामी दयानन्दजी नाल तिन बहसाँ" शीर्षक से लिखा है। भाई जवाहरसिंह ने आर्यसमाज से पृथक् होकर उर्दू में 'एमाले आर्या'(१८८९ ई०) लिखा तथा पंजाबी में वेद के ईश्वरीय वाक्य होने के प्रतिवाद में एक अन्य पुस्तक लिखी। पंजाबी में भगत लक्ष्मणसिंह (पन्थ अग्गे प्रार्थना—रहतियों की आर्यसमाज द्वारा की गई शुद्धि के विरोध में, १९०० ई०), भाई गण्डासिंह (नुस्खाए खब्तए दयानन्दियान (१९०४ ई०), भाई सोहनसिंह(दयानन्दी धर्म का नमूना, १९०५ ई०), भाई वजीरसिंह (वेद धर्म परताल, १९०६ ई०), भाई जगतसिंह (दयानन्द मत खण्डन, १९०९ ई०) ग्रन्थी करतारसिंह (खालसातत्त्वप्रकाश, किस्सा नियोग तथा खड्गखालसा—रौनकराम 'शाद' लिखित खालसामतप्रकाश का खण्डन), ज्ञानी शेरसिंह (सिक्ख अते दयानन्दी वेद), भाई बुधसिंह (वेदाँ दा पोल, वेदाँ दा ज्ञान आदि), भाई मोहनसिंह वैद (दयानन्दी धर्म दा नमूना, दयानन्द-मत-दर्पण, आर्यसमाजी आवाँ दे सिक्खाँ पर वेजा हमले दा उत्तर, आरियां दे ढोल दा पोल आदि) आदि सिक्ख लेखकों ने आलोचनात्मक ग्रन्थ लिखे हैं। उर्दू में भाई दित्तसिंह और भाई जवाहरसिंह के अतिरिक्त भाई किशनसिंह तथा महासिंह ओंकारी के खण्डनात्मक ग्रन्थों का उल्लेख सिक्ख बिब्लिओग्राफी में उपलब्ध होता है। ज्ञानी शेरसिंह और भाई हरदत्तसिंह अभिलाषी ऊना ने शुद्धि के खण्डन में क्रमशः आर्यसमाज और शुद्धि तथा शुद्धि का खण्डन शीर्षक पुस्तकें लिखीं। अंग्रेजी में भगत लक्ष्मणसिंह लिखित Principles and Teachings of the Arya Samaj (१८९० ई० में लाहौर से प्रकाशित) शीर्षक पुस्तक भी आर्यसमाज के मन्तव्यों की आलोचना में लिखी गई थी।

ब्रह्मसमाजकृत आलोचना साहित्य—आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज के विचारों में पर्याप्त समानता है। स्वामी दयानन्द ने अपने पूना-व्याख्यानों में महान् समाजसुधारक राजा राममोहन राय की उन्मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की थी। स्वयं उन्हें कलकत्ता आमंत्रित करनेवालों में आदिब्रह्मसमाज के साधुमना आचार्य देवेन्द्रनाथ ठाकुर तथा ब्रह्मसमाजी बैरिस्टर चन्द्रशेखर सेन ही थे। कलकत्ता में ठाकुर महाशय ने ब्रह्मसमाज के माघोत्सव पर स्वामी दयानन्द को अपने जोडासांको स्थित निवासस्थान पर बुलाया और उनके उपदेशों से ब्राह्मगण कृतार्थ हुए। भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज के नेता श्री केशवचन्द्र सेन भी स्वामीजी के सुहृद् तथा प्रशंसक थे। तथापि स्वामी दयानन्द ब्रह्मसमाज के अनेक सिद्धान्तों से असहमति रखते थे। वे इस बात के तो प्रशंसक थे कि ब्रह्मसमाज निराकार,

अद्वितीय ब्रह्म का ही उपासक है तथा मूर्तिपूजा आदि अनेक धार्मिक रूढ़ियों का विरोधी है, किन्तु वेदों के प्रति आस्था की कमी, पुनर्जन्म में विश्वास न करने, यज्ञ और यज्ञोपवीत आदि वैदिक कर्मों और संस्कारों में अनास्था तथा सर्वोपरि, ईसाई मन्तव्यों के प्रति ब्राह्म लोगों का अत्यधिक झुकाव आदि कुछ ऐसी बातें थीं, जिनके कारण स्वामी दयानन्द ने ब्रह्मसमाज की आलोचना भी की है।

स्वामी दयानन्द को पंजाब में आमंत्रित करने वालों में भी ब्रह्मसमाजी लोगों की ही प्रधानता थी। उन्होंने ही लाहौर में स्वामीजी के निवास, भोजन तथा आतिथ्य की सुविधायें भी जुटाई थीं, किन्तु कुछ काल पश्चात् स्वामीजी की वेदों में प्रगाढ़ आस्था को देखकर तथा उनके द्वारा की गई ब्राह्म सिद्धान्तों की आलोचना से खिन्न होकर इन लोगों ने स्वामीजी के आतिथ्य से अपना हाथ खींच लिया। परिणामस्वरूप स्वामीजी को डॉक्टर रहीम खाँ की कोठी में ठहरना पड़ा था। जनवरी १८७७ ई० में दिल्ली में आयोजित धर्म-सम्मेलन में भाग लेने के लिए स्वामी दयानन्द ने भारतवर्षीय ब्रह्मसमाज के नेता केशवचन्द्र सेन तथा पंजाब ब्रह्मसमाज के सुप्रसिद्ध कार्यकर्ता श्री नवीनचन्द्र राय को आमंत्रित किया था, और ये दोनों महानुभाव इस सम्मेलन में उपस्थित भी हुए थे। इस विवरण को प्रस्तुत करने का अभिप्राय यह बताना है कि प्रारम्भ में आर्यसमाज और ब्रह्मसमाज का पारस्परिक सम्बन्ध बहुत सौहार्दपूर्ण रहा है। स्वामी दयानन्द द्वारा पंजाब में सर्वत्र वैदिक धर्म की विजय-वैजयन्ती फहराने के परिणामस्वरूप इस प्रान्त में ब्रह्म-समाज का प्रभाव बहुत-कुछ कम हो गया। जो लोग ब्रह्मसमाज की समाजसुधार की प्रवृत्ति तथा प्रगतिशील नीतियों के कारण उसके अनुयायी बन गये थे, वे भी अब आर्य-समाज के अकाट्य सिद्धान्तों तथा उसकी देशहित-चिन्ता से प्रभावित होकर इस संस्था के साथ जुड़ गये। आर्यसमाज का इतिहास इस बात का साक्षी है कि आर्यसमाज लाहौर के प्रथम मन्त्री लाला साईंदास आर्यसमाज में प्रविष्ट होने के पहले ब्रह्मसमाजी ही थे। लाला लाजपतराय पर भी ब्रह्मसमाज का प्रभाव था और लाला मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) तो आर्यसमाज के सभासद बनने के पहले ब्रह्मसमाज के सिद्धान्तों में ही आस्था रखते थे। पंजाब के ब्राह्म लोगों का आर्यसमाज से दो विषयों पर मतभेद था और यही उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों में व्यक्त भी हुआ है। प्रथम तो ब्राह्म लोग वेदों को अनादि ईश्वरीय ज्ञान तथा धर्मविचार में परम प्रमाण मानने के विरोधी थे। इस सम्बन्ध में पंजाब के ब्राह्म नेता श्री नवीनचन्द्र राय ने १८८५ ई० में ही "सद्धर्मी लोग वेदों को कैसा मानते हैं?" शीर्षक पुस्तक लिखकर ब्रह्मसमाज के वेदविषयक दृष्टिकोण को प्रस्तुत किया। पुनर्जन्म में ब्रह्मसमाज की अनास्था भी उसके आर्यसमाज से मतभेद का कारण बनी। सत्यानन्द अग्निहोत्री (प्रथम ब्रह्मसमाज का ही अनुयायी, किन्तु बाद में देवसमाज नामक एक नवीन धार्मिक संगठन का संस्थापक) ने उर्दू में 'रद्दे तनासुख' लिखकर पुनर्-जन्म सिद्धान्त का खण्डन किया। उधर ब्रह्मसमाज लाहौर के एक अन्य नेता लाला काशीराम ने The Doctrine of Transmigration Refuted शीर्षक पुस्तक १८९३ ई० में लिखकर पुनः स्पष्ट कर दिया कि ब्राह्म लोग आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास नहीं रखते। एक पंजाबी ब्राह्म ने तो १८८८ ई० में ही The Aryasamaj and a Refutation of its tenets लिखकर ब्राह्म दृष्टिकोण से आर्यसमाज के मन्तव्यों की आलोचना की थी।

देवसमाज द्वारा लिखित खण्डनात्मक साहित्य—देवसमाज के संस्थापक शिवनारायण अग्निहोत्री (बाद में सत्यानन्द अग्निहोत्री तथा 'देवगुरु भगवान्' के नाम से प्रसिद्ध) स्वामी दयानन्द के सम्पर्क में १८७७ ई० में लाहौर में उस समय आये, जब वे वहाँ गवर्नमेंट हाई स्कूल में ड्राइंगमास्टर थे। शिवनारायण पहले तो स्वामीजी के विचारों से प्रभावित होकर उनके अनुगामी बने, किन्तु उनके सदृश अस्थिरचित्त व्यक्ति का अधिक समय तक आर्यसमाज में निभाव होना कठिन ही था। ऐसा ही हुआ। शिवनारायण भी शीघ्र ही अपने असली रंग में आ गये और लगे आर्यसमाज के प्रवर्त्तक की निन्दा करने। १८७८ ई० में तो उन्होंने "पण्डित दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य पर रिव्यू" लिखा, यद्यपि वेद के विषय में वे स्वयं बिलकुल कोरे ही थे। १८८८ ई० से १८९० ई० तक की अवधि में अग्निहोत्री ने स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाज की निंदायुक्त आलोचना में अनेक उर्दू पुस्तकें लिखीं जो ब्रह्मप्रचार प्रेस तथा देवधर्म प्रेस, लाहौर से प्रकाशित हुईं।

इन पुस्तकों में विवेचित विषय-सामग्री किस कोटि की रही होगी, यह इनमें से कुछ के नाम जानने से ही ज्ञात हो जाएगा। दयानन्दी कलयुगी मजहब (१८८८ ई०) तथा पण्डित दयानन्द और उनका नया पंथ (१८८९ ई०) आदि अग्निहोत्री लिखित ये पुस्तकें आर्यसमाज की तथ्यहीन आलोचना से भरी पड़ी हैं। अग्निहोत्री ने अंग्रेजी में Dr. Dayanand Unveiled भी लिखी जो ट्रिब्यून प्रेस लाहौर से १८९१ ई० में छपी। जब पण्डित रामभजदत्त ने अग्निहोत्री की इस पुस्तक का उत्तर Agnihotri Demolised लिखकर दिया तो अग्निहोत्री की लेखनी पुनः मचल पड़ी और उसने The Truth, Virtue and Enlightenment in the Aryasamaj or a Rejoinder to a Reply to Pt. Dayanand Unveiled शीर्षक पुस्तक प्रकाशित की।

देवसमाज में भाई अमरसिंह नामक एक अन्य व्यक्ति था। उसने उर्दू में दो पुस्तकें लिखीं जिनके शीर्षक थे—आरियासमाज और उसके बानी की तरफ से दुनिया के मुख्तलिफ हादियाने मजहब की वेइज्जती (१८९० ई०) तथा दयानन्दी फिर्के की मुजरिमाना कारवाइयाँ। इसी नाम के एक अन्य अमरसिंह एडवोकेट ने Views on meat diet and forgeries Supressing Swami Dryanand's opinions शीर्षक पुस्तक १९५१ ई० में लिखी। इसके लिखने में लेखक का अभिप्राय यह बताने का था कि वस्तुतः स्वामी दयानन्द मांसभक्षण के विरोधी नहीं थे और उन्होंने अपने ग्रन्थों में यत्र-तत्र मांसभक्षण का समर्थन ही किया है, किन्तु कालान्तर में आर्यसमाजियों ने उनके ग्रंथों में से मांसभक्षण के विधायक वाक्यों को निकाल दिया। इस प्रकार की अनुत्तरदायित्व-पूर्ण बातें लिखकर लेखक मानो यह बतलाना चाहता था कि स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों में उन्हींके अनुयायियों द्वारा मनमाने प्रक्षेप किये गये हैं। परोपकारिणी सभा के तत्कालीन मन्त्री श्री हरविलास शारदा ने Works of Swami Dayanand and Paropkarini Sabha शीर्षक ग्रन्थ में अमरसिंह एडवोकेट की इस धारणा का सप्रमाण खण्डन किया कि स्वामीजी के ग्रन्थों में मांसभक्षण के समर्थक वाक्य पहले मौजूद थे और बाद में उन्हें निकाल दिया गया।

थियोसोफिकल सोसाइटी तो प्रारम्भ में आर्यसमाज की सहयोगिनी संस्था थी, किन्तु कुछ काल पश्चात् जब उसके संस्थापकों ने वैदिक मन्तव्यों से अपनी असहमति प्रकट की और वे आर्य विचारधारा का खुल्लमखुल्ला विरोध करने लगे तो स्वामी दयानन्द

ने बम्बई में एक सभा के बीच आर्यसमाज और थियोसोफिकल सोसाइटी के पारस्परिक सम्बन्धों के विच्छेद की घोषणा कर दी। स्वामीजी ने जब "थियोसोफिस्टों का गोलमाल पोलपाल" शीर्षक ट्रैक्ट प्रकाशित करवाकर आर्यसमाज के दृष्टिकोण को स्पष्ट किया तो सोसाइटी के अध्यक्ष कर्नल ऑल्काट ने अपनी सोसाइटी के मुखपत्र मासिक 'थियोसोफिस्ट' के जुलाई १८८२ ई० के अतिरिक्त पूरक अंक में Swami Dayanand Charges शीर्षक से स्वामीजी द्वारा लगाये गये आरोपों का प्रतिवाद किया। इसी प्रकार स्वामी दयानन्द-विषयक अपनी आलोचना को उन्होंने 'ओल्ड डायरी लीव्ज' के प्रथम खण्ड के २५वें अध्याय में लिखा है।

बाईसवाँ अध्याय

हिन्दी गद्य के उन्नायक स्वामी दयानन्द

(१) स्वामी दयानन्द से पूर्व हिन्दी की स्थिति

स्वामी दयानन्द ने पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण में आर्यसमाज की स्थापना करके न केवल एक महान् धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात किया, अपितु इसके प्रचार के लिए हिन्दी में ग्रन्थ लिखकर खड़ी बोली हिन्दी गद्य के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भाग लिया। स्वामीजी का धार्मिक नेता के रूप में कार्य सर्वविदित है, किन्तु हिन्दी गद्य-निर्माता के रूप में उनके कार्यों की चर्चा बहुत कम की जाती है। इस क्षेत्र में उनके अद्वितीय कार्य की प्राय: उपेक्षा ही होती रही है। इस अध्याय में उनके हिन्दी की समुन्नति और संवर्द्धन के लिए किये गये कार्यों का संक्षिप्त निरूपण और विवेचन किया जायगा।

पिछली शताब्दी में स्वामी दयानन्द सम्भवत: पहले व्यक्ति थे जिन्होंने हिन्दी के महत्त्व को अनुभव किया और उसका अपने उपदेशों तथा ग्रन्थों द्वारा व्यापक रूप से प्रचार किया। देश के विभिन्न भागों में भ्रमण करते हुए उन्होंने यह अनुभव किया कि हिन्दी सर्वत्र समझी जानेवाली भाषा है और अपने विचारों के प्रचार का सर्वोत्तम साधन है। अत: इसे उन्होंने प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए पढ़ना आवश्यक बना दिया और यह भी घोषणा की कि हिन्दी ही आर्य भाषा है और कन्याकुमारी से पेशावर तक बोली और व्यवहार की जाने वाली समस्त देश की राष्ट्रभाषा है। आर्यसमाज का समस्त साहित्य हिन्दी में प्रकाशित होना चाहिए और हिन्दी को इसके प्रचार का प्रमुख माध्यम बनाना चाहिए।

जहाँ-जहाँ आर्यसमाजों की स्थापना हुई, वहाँ-वहाँ हिन्दी का प्रचार हुआ। स्वामीजी ने अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए हिन्दी में आठ वर्ष की अल्प अवधि में जिस विशाल साहित्य का निर्माण किया, वह वस्तुत: आश्चर्यजनक है। उनके इस साहित्य से हिन्दी गद्य में निखार आया, उसके क्षेत्र का विस्तार हुआ, गम्भीर विषयों पर तर्क और विवाद करने की तथा लिखने की क्षमता विकसित हुई, व्यंग्य और विनोद की शैली का प्रचलन हुआ, भाषा की ओजस्विता और प्रखरता में विलक्षण वृद्धि हुई। कथा-कहानियों तक सीमित हिन्दी साहित्य में पहली बार वैदिक विषयों का गम्भीर विवेचन और दार्शनिक प्रश्नों की सूक्ष्म मीमांसा की जाने लगी। ऐसा अभी तक हिन्दी गद्य में नहीं हुआ था, इस दृष्टि से हिंन्दी गद्य को स्वामी दयानन्द की देन अविस्मरणीय है। इस अध्याय में इसका संक्षिप्त विवेचन किया जायगा।

पिछली शताब्दी के तृतीय चरण में जब स्वामी दयानन्द ने अपने ग्रन्थों को हिन्दी में लिखना शुरू किया, उस समय हिन्दी और उर्दू का तीव्र विवाद चल रहा था। आजकल हिन्दी का प्रमुख केन्द्र माने जानेवाले उत्तर प्रदेश में उस समय सर्वत्र सरकारी कार्यालयों,

न्यायालयों, शिक्षणालयों में उर्दू भाषा का प्रचार था। उस समय उर्दू भाषा के नेता सर सैयद अहमद थे और उनका तथा उनके साथियों का पूरा प्रयास यह था कि हिन्दी को किसी भी प्रकार पनपने न दिया जाय। उस समय हिन्दी की अवस्था अत्यन्त शोचनीय थी। उस पर चारों ओर से कुठाराघात किये जा रहे थे। हिन्दी को अदालतों और सरकारी दफ्तरों से दूर रखने में हिन्दी के विरोधियों को सफलता मिल चुकी थी। अब वे इस प्रयत्न में लगे हुए थे कि हिन्दी को शिक्षाक्रम में स्थान न मिले, उसकी पढ़ाई का कोई प्रबन्ध सरकार की ओर से न होने पाये। सर सैयद अहमद जैसे नेता हिन्दी को गँवारी बोली कहकर बदनाम कर रहे थे। उनके प्रभाव में आकर भारत सरकार ने हिन्दी के विषय में एक सूचना निकाली थी जिसमें कहा गया था—

"ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना जो मुल्क की सरकारी और दफ्तरी जबान नहीं है, हमारी राय में ठीक नहीं है। इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी जिनकी संख्या देहली कालेज में बढ़ी है इसे अच्छी नजर से नहीं देखेंगे।"

उन दिनों एक फ्रांसीसी विद्वान् गार्सा-द-तासी उर्दू के पक्ष का कट्टर समर्थन कर रहे थे। उनका ऐसा करने का यह कारण था कि वे इस्लाम को सामी मत होने से ईसाइयत जैसा मानते थे और मूर्तिपूजा करनेवाले हिन्दुओं के धर्म तथा हिन्दी भाषा के कट्टर विरोधी थे। उपर्युक्त यूरोपियन और मुस्लिम विद्वानों के प्रचार का उत्तर प्रदेश के शासकों पर काफी प्रभाव पड़ा। इसका परिचय हमें तत्कालीन संयुक्त प्रांत के शिक्षा-विभाग के अध्यक्ष हैवल द्वारा १८६८ ई० में हिन्दी के विषय में प्रकट किये गये मत से मिलता है। इसमें यह कहा गया था कि यह अधिक अच्छा होता यदि हिन्दू बच्चों को उर्दू सिखाई जाती, न कि एक ऐसी बोली में विचार प्रकट करने का अभ्यास कराया जाता, जिसे अन्त में एक दिन उर्दू के सामने सिर झुकाना पड़ेगा।

इससे स्पष्ट है कि उस समय के शासकों का यह विश्वास था कि शीघ्र ही हिन्दी उर्दू के आगे नतमस्तक होगी और संयुक्त प्रान्त जैसे प्रदेश के शिक्षणालयों में भी हिन्दुओं को उर्दू भाषा के माध्यम से शिक्षा दी जाएगी। न केवल मुसलमान तथा ब्रिटिश शासक उर्दू के प्रचार का प्रबल प्रयास कर रहे थे, अपितु काशी के राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द (१८२३–१८९५) जैसे हिन्दू भी अंग्रेज अधिकारियों को प्रसन्न करने के लिए, जनता के लिए सुबोध (आमफहम) भाषा के नाम पर अरबी-फारसी-गर्भित शुद्ध उर्दू का हिन्दी के नाम पर प्रचार कर रहे थे। 'सिखों का उदय और अस्त' नामक अपने ग्रन्थ में उन्होंने जिस भाषा का प्रयोग किया है, उसका एक नमूना इस प्रकार है—"गरज लाहौर के राज की खुदसरी व खुदमुख्त्यारी जो रंजीतसिंह ने इस मिहनत से कायम की थी, अब हमेशा के वास्ते नेस्तनाबूद हुई और पंजाब भी मिसल और छोटे रजवाड़ों के सरकार का मुतीअ और फर्माबर्दार हो गया।" राजा शिवप्रसाद ठेठ अरबी-फारसी शब्दों से परिपूर्ण ऐसी भाषा के प्रसार पर अत्यधिक बल दे रहे थे। वे हिन्दी का गँवारपन दूर करने के लिए उसमें उर्दू शब्द ठूँसना आवश्यक समझते थे, ताकि वह उर्दू जैसी परिष्कृत और दरबारी भाषा बन सके। संस्कृत के अच्छे ज्ञाता होते हुए भी वे उससे संस्कृत और ब्रजभाषा के शब्दों को बहिष्कृत करने के लिए आतुर थे। इससे हिन्दी का स्वरूप उर्दू-फारसी के प्रभाव से दब जाने की आशंका उत्पन्न हो गई

थी। हिन्दी के लिए ऐसे संकटपूर्ण समय में स्वामी दयानन्द कार्य-क्षेत्र में अवतीर्ण हुए। उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना के बाद उत्तर भारत में हिन्दी का प्रबल प्रचार आरम्भ किया और अपने सब ग्रन्थ १८७५ के बाद हिन्दी में लिखे।

(२) स्वामी दयानन्द और हिन्दी भाषा

स्वामीजी की मातृभाषा गुजराती थी। कलकत्ता जाने तक वे अपने व्याख्यान संस्कृत भाषा में दिया करते थे, क्योंकि यह उन दिनों सब प्रान्तों के पण्डित-वर्ग की सम्मानास्पद भाषा थी। इसके माध्यम से स्वामीजी सभी प्रांतों के सुशिक्षित व्यक्तियों तक अपने विचार सुगमता से पहुँचा सकते थे। किन्तु कलकत्ता-यात्रा में सुप्रसिद्ध ब्रह्म-समाजी नेता श्री केशवचन्द्र सेन के परामर्श से उन्होंने हिन्दी में भाषण देना और वस्त्र धारण करना आरम्भ किया। इस विषय में पण्डित इन्द्र ने यह ठीक ही लिखा है कि "यह भी मानी हुई बात है कि स्वामीजी ने सर्वप्रथम आर्य भाषा में व्याख्यान देना बाबू केशवचन्द्र सेन के कहने पर ही प्रारम्भ किया, इसके पूर्व वह संस्कृत में ही व्याख्यान देते थे।" इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि पिछली शताब्दी के मध्य से बंगाली नेता यह अनुभव करने लगे थे कि हिन्दी का भारत में व्यापक रूप से प्रसार है और वह बहुत बड़े प्रदेश में बोली जाती है, अत: भारत की भाषाओं में वही अखिल भारत की राष्ट्र-भाषा बनने का सामर्थ्य रखती है। स्वामीजी से भेंट करने से पन्द्रह वर्ष पूर्व बंगाल में १८५७ ई० में केशवचन्द्र सेन ने अपने समाचारपत्र में हिन्दी ही अखिल भारत की जातीय भाषा या राष्ट्रभाषा बनाने के योग्य है, इस विषय पर निरन्तर लिखा था। १८८२ ई० में राजनारायण बोस ने और १८८६ ई० में भूदेव मुकर्जी ने भी भारत को एकजातीयता के सूत्र में बाँधने के लिए हिन्दी की उपयोगिता के विषय पर अपने विचार प्रबल शब्दों में रखे थे। बंग-भंग के बाद कालीप्रसन्न काव्यविशारद जैसे नेताओं ने हिन्दी का समर्थन इस दृष्टि से किया था कि हिन्दी के माध्यम से जनता में स्वाधीनता के लिए आकांक्षा फैल जाय। १८७२ ई० में बंगाली नेताओं के साथ सम्पर्क में आने पर स्वामीजी ने राष्ट्रीय दृष्टि से हिन्दी के महत्त्व का अनुभव किया और हिन्दी भाषा का अभ्यास शुरू कर दिया। उन्होंने हिन्दी में अपना पहला व्याख्यान मई १८७४ में बनारस में दिया। आरम्भ में हिन्दी का पूरा अभ्यास न होने से उनके मुँह से प्राय: संस्कृत के वाक्य निकल जाया करते थे। उस समय तक उनकी सभी रचनाएँ संस्कृत में लिखी गई थीं। किन्तु अब उन्होंने जून १८७४ में सत्यार्थप्रकाश हिन्दी में बोलकर लिखाना शुरू किया। जब १८७५ ई० में बम्बई में पहली आर्यसमाज की स्थापना की तो आर्यसमाज के नियमों में उन्होंने प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए हिन्दी पढ़ना-पढ़ाना आवश्यक कर दिया।

स्वामीजी ने देश के विभिन्न भागों का भ्रमण करते हुए यह अनुभव किया था कि अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए ऐसी भाषा का आश्रय लिया जाना चाहिए जिससे उत्तर, पश्चिम, पूर्व सभी जगह काम चलाया जा सके। ऐसी भाषा हिन्दी ही थी। इसी के बल पर वे विभिन्न प्रान्तों की यात्रा कर सके और बड़ी-बड़ी सभाओं में भाषण देकर जनता को आर्यसमाज का सदस्य बनने के लिए प्रेरणा देने में सफल हो गये। उन्होंने यह घोषणा की कि प्रत्येक आर्यसमाजी के लिए हिन्दी पढ़ना आवश्यक है और हिन्दी ही आर्य भाषा तथा समस्त देश की भाषा है। उन्होंने यह भी निर्णय किया कि आर्यसमाज

का समस्त साहित्य हिन्दी में प्रकाशित हो और हिन्दी ही इसके प्रचार का प्रधान माध्यम बने। आर्यसमाज का आन्दोलन प्रबल होने पर और विभिन्न नगरों में आर्यसमाजें स्थापित होने पर हिन्दी प्रचार का कार्य आगे बढ़ा। यदि पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण में स्वामीजी हिन्दी-प्रचार के लिए इतना प्रबल प्रयास न करते और उनके अनुयायी इस भाषा के विस्तार का उद्योग न करते तो हिन्दी को अपनी राष्ट्रभाषा की स्थिति प्राप्त करने में काफी कठिनाइयाँ उठानी पड़तीं। स्वामी दयानन्द का आर्यसमाज इस प्रकार का पहला आन्दोलन था जिसमें हिन्दी को राष्ट्रभाषा बनाने का सर्वप्रथम प्रयास किया गया। इसीलिए यह कहा जाता है कि जिन सामाजिक तथा धार्मिक आन्दोलनों के द्वारा हिन्दी को प्रोत्साहन मिला तथा जिन प्रवृत्तियों का इस दिशा में योगदान रहा है, उनमें आर्यसमाज का स्थान सर्वोपरि है। यही कारण है कि हिन्दी भाषा अथवा साहित्य का इतिहास लिखनेवाले अधिकांश विद्वानों ने हिन्दी गद्य के इतिहास में आर्य-समाज के योग को विशेष महत्त्वपूर्ण माना है। मिश्रबन्धुविनोद में तथा रामचन्द्र शुक्ल के हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहास में इस तथ्य को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है।

(३) स्वामी दयानन्द का हिन्दी गद्य

स्वामीजी को १८८३ ई० में मृत्युपर्यन्त हिन्दी में लिखने के लिए केवल आठ वर्ष का समय मिला। हिन्दी में इनका पहला महत्त्वपूर्ण ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश था। यह उन्होंने १८७५ ई० में राजा जयकृष्ण दास के आग्रह से अपने सिद्धान्तों को पुस्तक का रूप देने के लिए लिखवाया था। इसका पहला संस्करण भी राजा साहब ने ही प्रकाशित किया था। इस समय तक स्वामीजी को हिन्दी भाषा लिखने का बहुत अच्छा अभ्यास नहीं था। पहले संस्करण में भाषा-सम्बन्धी अनेक अशुद्धियाँ रह गईं और स्वामीजी के सिद्धान्तों और मान्यताओं के प्रतिकूल बहुत-सी बातें छप गयी थीं। अतः स्वामीजी ने इन दोषों का परि-मार्जन दूसरे संस्करण में संशोधन करके किया, और इसकी भूमिका में यह लिखा, "जिस समय मैंने यह ग्रंथ सत्यार्थप्रकाश बनाया था, उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण के अलावा पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान नहीं था। इससे भाषा अशुद्ध बन गयी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है, इसीलिए इस ग्रन्थ को भाषा-व्याकरणानुसार दूसरी बार छपवाया है।"

सत्यार्थप्रकाश के अतिरिक्त स्वामीजी की छोटी-बड़ी इतनी अधिक रचनाएँ मिलती हैं कि उन्हें देखकर आश्चर्य होता है कि एक व्यक्ति ने आठ वर्ष की अल्प अवधि में इतने विशाल साहित्य का सृजन किस प्रकार किया। पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हिन्दी के किसी अन्य विद्वान् या साहित्यकार ने इतनी अधिक रचनाओं का निर्माण नहीं किया है। उनकी प्रकाशित तथा अप्रकाशित छोटी-बड़ी रचनाओं की संख्या साठ के लगभग है; और इनकी पृष्ठसंख्या पन्द्रह हजार से भी अधिक है। उनके ग्रन्थों में न केवल धार्मिक और दार्शनिक, अपितु व्यावहारिक और लौकिक विषयों का भी प्रतिपादन हुआ है। इनमें हिन्दी गद्य की बड़ी सुबोध, सरल और रोचक शैली का विकास हुआ है। हिन्दी की खड़ी बोली में गम्भीर और दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति का पहला सफल

प्रयास महर्षि दयानन्द द्वारा किया गया।

स्वामीजी के ग्रन्थों का परिचय इस इतिहास के पहले दिया जा चुका है। यहाँ केवल स्वामीजी की भाषा एवं गद्य-सम्बन्धी विशेषताओं, शैलियों तथा हिन्दी गद्य पर पड़नेवाले स्वामीजी के प्रभावों का ही उल्लेख किया जायेगा।

स्वामीजी की भाषा—स्वामीजी की मातृभाषा गुजराती थी। इसके साथ ही वे संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे तथा गुरु विरजानन्द के पास व्रज प्रदेश में कई वर्ष रहने के कारण वे व्रजभाषा का अच्छा व्यावहारिक ज्ञान रखते थे। अतः उनकी हिन्दी पर तीनों भाषाओं—गुजराती, संस्कृत और व्रजभाषा का स्पष्ट प्रभाव है। उन्होंने अपने ग्रन्थों में कई गुजराती शब्दों का प्रयोग किया है। इनमें ऊंदर, कुम्भार, ससा आदि शब्द उल्लेखनीय हैं। गुजराती में विन्दियाँ, अर्द्धचन्द्र और अनुस्वार प्रयुक्त नहीं होते। स्वामीजी की हिन्दी में भी इनका अभाव है। इनके अतिरिक्त कहीं-कहीं गुजराती ढंग की वाक्य-रचना मिलती है। 'अपन सव मिल के' आदि प्रयोग इसके उदाहरण हैं। डॉक्टर दरवार ने निम्नलिखित वाक्य पर गुजराती का प्रभाव माना है—"जो वेदादि शास्त्रों को न पढ़ी होवे तो यज्ञ में स्वरसहित मन्त्रों का उच्चारण और संस्कृत भाषा में कैसे कर सकें।"

मथुरा में दीर्घकाल तक वास करने के कारण स्वामीजी की भाषा में व्रजभाषा का पुट कई स्थानों पर मिलता है। जव लौं, होवें आदि शब्दों का प्रयोग, विचारना, प्रकाशना आदि नामधातुओं का व्यवहार उनके ग्रन्थों में यत्र-तत्र पाया जाता है। व्रज-भाषा के 'सिरजनहारा' आदि शब्दों में उन्होंने व्रज के हारा प्रत्यय का प्रयोग किया है। व्रजभाषा से प्रभावित सत्यार्थप्रकाश की भाषा का उदाहरण डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने इस प्रकार दिया है—पुरुषों का और कन्याओं का ब्रह्मचर्याश्रम और विद्या जब पूर्ण हो जाय तव जो देश का राजा होय और जितने विद्वान् लोग वे सब उनकी परीक्षा यथावत् करें जिस पुरुष वा कन्या में श्रेष्ठ गुण, जितेन्द्रियता, सत्यवचन, निरभिमान, उत्तम बुद्धि, पूर्ण विद्या, मधुर वाणी, कृतज्ञता, विद्या और गुण के प्रकाश में अत्यन्त प्रीति जिसमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय, शोक, कृतघ्नता, छल, कपट, ईर्ष्या द्वेषादिक दोष न होवें, पूर्ण कृपा से सव लोगों का कल्याण चाहें. उसको ब्राह्मण का अधिकार देवें और यथोक्त पूर्वोक्त गुण जिसमें होंय परन्तु विद्या कुछ न्यून होय शूरवीरता, वल और पराक्रम ये तीन गुणवाला जो ब्राह्मण भया उससे अधिक हो उसको क्षत्रिय करें और जिसको थोड़ी-सी विद्या होवै परन्तु व्यापारादिक व्यवहारों में नाना प्रकारों के शिल्पों में वे देशान्तर से पदार्थों का ले आने और ले जाने में चतुर होवे उसको वैश्य करना चाहिए और जो पढ़ने लगा जिसको शिक्षा भी भई परन्तु कुछ भी विद्या नहीं आई उसको शूद्र वनाना चाहिए इसी प्रकार कन्याओं की भी व्यवस्था करनी चाहिए।

संस्कृत का प्रभाव—हिन्दी का व्यवहार शुरू करने से पहले स्वामी दयानन्द संस्कृत भाषा का व्यवहार करते थे। इसलिए उनकी भाषा में संस्कृत शब्द प्रचुर मात्रा में मिलते हैं। उन्होंने पुनरपि, पुनश्च, नैरोग्य, ऐकमत्य, जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। उनकी भाषा में संयोगज, अत्युद्युक्त, प्राग्भाववत्, परिच्छिन्न संस्कृत के दार्शनिक शब्दों का तथा अव्याहवगति, सर्वतन्त्र, शतघ्नी, भुशुंडी, विडालाक्ष जैसे हिन्दी में अप्रचलित कठिन संस्कृत शब्दों का प्रयोग पाया जाता है। यह उनके संस्कृतज्ञ होने तथा प्रतिपाद्य विषय की गूढ़ता और गम्भीरता का परिणाम है। इस प्रसंग में हमें यह भी नहीं भूलना

चाहिए कि उन्होंने प्रचलित विदेशी शब्दों के व्यवहार में कोई संकोच नहीं किया है—जल्द, नज़र, मजहब, हरकत, आदमी जैसे अरबी-फारसी के शब्द भी उनके ग्रन्थों में पाये जाते हैं। मेरठ जिले की खड़ी बोली के इस्से, जिस्से, उन्ने और ब्रज के भैया, भई, होय जैसे लोक-प्रचलित शब्दों का भी उन्होंने प्रयोग किया है। अन्यायी शासक के लिए गवर्गण्ड तथा धर्म के नाम पर लोगों से पैसा ठगने वाले के लिए पोप के नये शब्दों से उन्होंने हिन्दी की शब्द-सम्पदा में वृद्धि की है। कहीं-कहीं उन्होंने हिन्दी शब्दों को कुछ परिवर्तित करके तत्सम रूप देने का प्रयास किया है। वे पुजारी को ईश्वर की सच्ची पूजा का अरि (शत्रु) समझते थे, अतः उन्होंने पुजारी के स्थान पर पूजारि का प्रयोग किया है। उन्होंने कई बार हिन्दी और संस्कृत के शब्दों से मिले-जुले शब्द भी बनाये हैं जैसे गपोड़ाध्याय, मतलब-सिन्धु, पेटार्थ।

स्वामी दयानन्द की भाषा पर संस्कृत का एक अन्य प्रभाव लिंग-विषयक है। वे संस्कृत शब्दों को उस भाषा के लिंगों के अनुसार प्रयुक्त करते थे। संतान, आयु, आत्मा, विजय आदि का प्रयोग हिन्दी में स्त्रीलिंग में होता है। संस्कृत में ये सब शब्द पुंल्लिग हैं, अतः स्वामीजी ने इन्हें इसी रूप में प्रयुक्त किया। देवता संस्कृत में स्त्रीलिंग है, अतः उन्होंने इसे स्त्रीलिंग ही रखा है। संस्कृत के पुस्तक आदि नपुंसकलिंगी शब्दों को उन्होंने इसलिए पुंल्लिग में प्रयुक्त किया है क्योंकि संस्कृत में नपुंसकलिंगशब्दों के रूप हिन्दी के पुंल्लिगी शब्दों से अधिक मिलते हैं। स्वामीजी के गद्य में तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक मात्रा में मिलता है। स्वामीजी के समय में हिन्दी गद्य में दो विरोधी प्रवृत्तियाँ चल रही थीं। राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द उर्दू शब्दों के अधिकाधिक प्रयोग पर बल दे रहे थे, और दूसरी ओर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और प्रतापनारायण मिश्र तद्भव शब्दों के पक्षपाती थे। किन्तु तद्भव शब्दों के अपनाने में एक बड़ी कठिनाई यह थी कि स्थानभेद से इनके उच्चारण में पर्याप्त भेद पाया जाता था। इनके कई रूप प्रचलित थे। इनकी अनेकरूपता से वर्तनी में बड़ी अस्थिरता उत्पन्न हो सकती थी, अतः स्वामी दयानन्द ने भाषा के तत्समरूपों का प्रयोग अधिक उचित समझा। इसलिए उनकी भाषा संस्कृतनिष्ठ है। उसमें वर्तनी की स्थिरता प्रतापनारायण मिश्र आदि द्वारा प्रयुक्त तद्भव शब्दों की अपेक्षा अधिक है, क्योंकि संस्कृत के तत्सम शब्दों की वर्तनी सर्वथा सुनिश्चित थी।

स्वामीजी की भाषा में मुहावरों और कहावतों का प्रचुर प्रयोग हुआ है। इससे उनकी भाषा का ओज, अभिव्यक्ति का सामर्थ्य और प्रभाव बहुत बढ़ गया है। उन्होंने धुर्रे उड़ाना, दाल न गलना आदि मुहावरों का कई बार प्रयोग किया है। 'आँख का अन्धा और गाँठ का पूरा' का मुहावरा उन्हें विशेष रूप से प्रिय था। उन्होंने कई कहावतों का भी प्रयोग किया है जैसे—'उलटी चोर कोतवाल को डंडे, कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा, भानुमती ने कुनबा जोड़ा।' जनता के साथ घनिष्ठ सम्पर्क होने के कारण स्वामीजी ने अट्टसट, सैलसपट्टा, गपड़चौथ, भेंटभट्टका, टिक्की जमाई आदि ठेठ ग्रामीण मुहावरों का भी प्रयोग किया है।

उर्दूप्रधान युग में रहते हुए भी स्वामीजी ने अरबी-फारसी शब्दों का प्रयोग बहुत कम किया है। इनका व्यवहार सत्यार्थप्रकाश के कुरानमत-खण्डन-विषयक चौदहवें समुल्लास में ही हुआ है। इसमें मजहब, फरिश्ता आदि शब्द काफी संख्या में पाये जाते हैं। स्वामीजी की प्रवृत्ति उर्दू शब्दों को हटाने की थी। सत्यार्थप्रकाश के पहले संस्करण

में 'आचार्य के वास्ते' का प्रयोग हुआ है। किन्तु दूसरे संस्करण में इसे बदलकर 'आचार्य के लिए' कर दिया गया है।

गद्य के गुण—स्वामीजी की भाषा में बड़ा ओज, सरलता, प्रवाह और रोचकता पाई जाती है। स्वामीजी भारतीयों में स्वदेश, स्वधर्म एवं स्वजाति की भावना और देशाभिमान को उत्पन्न करना चाहते थे, अतः उनकी भाषा में बहुधा ओजस्वी शब्दों का प्रयोग हुआ है। वे हिन्दी के उग्र समर्थक थे। उन्होंने देवनागरी लिपि का समर्थन निम्नलिखित ओजपूर्ण भाषा में किया है—"क्या कोई दिव्य चक्षु इन अक्षरों की गुलाई, पंक्तियों की सुधाई और लेख की सुघड़ाई को अनुत्तम कहेगा ? क्या यही सौम्यता है कि एक सिर आकाश पर और दूसरा सिर पाताल पर छा जाता है ? क्या यही जल्दपना है कि लिखा आलू बुखारा और पढ़ा उल्लू बेचारा ? लिखा छन्नू, पढ़ने में आया झब्बू। अथवा मैं इस विषय पर जोर इसलिए देता हूँ कि आप लोग सोचें, समझें, विचारें और अपने नित्य के व्यवहार प्रयोग में लायें। इससे आपका नैतिक जीवन सुधरेगा, आपमें परोक्ष की अनुभूति होगी और होगी देश तथा समाज की भलाई।"

स्वामी दयानन्द को रामधारी सिंह दिनकर ने 'रणारूढ़ हिन्दुत्व का निर्भीक नेता' कहा है। स्वामीजी की भाषा में उनके युद्धरत व्यक्तित्व का ओज प्रखरता से दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने प्रतिमा-पूजन के कारण अकर्मण्य बने हिन्दू-समाज के प्रति अपना रोष अभिव्यक्त करते हुए बड़े ओजस्वी शब्दों में लिखा है—"जब सम्वत् १९१४ के वर्ष में तोपों के मारे मन्दिर मूर्तियाँ अंगरेजों ने उड़ा दी थीं, तब मूर्ति कहाँ गयी थीं ? प्रत्युत बाघेर लोगों ने जितनी वीरता की और लड़े, शत्रुओं को मारा, परन्तु मूर्ति एक मक्खी की टाँग भी न तोड़ सकी। जो श्रीकृष्ण के सदृश कोई होता तो इनके धुर्रे उड़ा देता और ये भागते-फिरते। भला यह तो कहो कि जिसका रक्षक मार खाये उसके शरणागत क्यों न पीटे जायें ?"

स्वामीजी के गद्य का दूसरा गुण सुबोधता और स्पष्टता है। उन्हें गाँव के साधारण मनुष्य तक वैदिक धर्म का अपना संदेश पहुँचाना था। अतः उन्होंने सुबोध, सरल और ऐसी भाषा का प्रयोग किया है जिसे अनपढ़ व्यक्ति भी सुगमता से समझ सकें। अतः उनकी भाषा में सर्वत्र प्रसाद गुण बड़ी मात्रा में पाया जाता है। इसका एक सुन्दर उदाहरण सत्यार्थप्रकाश में भारतीयों द्वारा अंग्रेजों के अन्ध अनुकरण की प्रवृत्ति की निन्दा में लिखा गया निम्नलिखित अवतरण है—"देखो कुछ सौ वर्ष से ऊपर इस देश में आये यूरोपियनों को हुए और आज तक वे लोग मोटे कपड़े आदि पहिरते हैं, जैसाकि स्वदेश में पहिरते थे। परन्तु उन्होंने अपने देश का चाल-चलन नहीं छोड़ा। और तुममें से बहुत-से लोगों ने उनकी नकल कर ली। इसी से तुम निर्बुद्धि और वे बुद्धिमान् ठहरते हैं। अनुकरण करना किसी बुद्धिमान् का काम नहीं।"

स्वामीजी की भाषा का तीसरा गुण प्रवाह का है। वे अपने समय के सर्वोत्तम वक्ताओं में से थे। जनता को अपने भावों के प्रवाह में बहा ले जाने की कला में पारंगत थे। यह उनकी भाषा में भी बड़े सुन्दर रूप में दिखाई देती है। नर-नारी की समानता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने लिखा है—"ईश्वर के समीप स्त्री-पुरुष दोनों बराबर हैं। क्योंकि वह न्यायकारी है, उसमें पक्षपात का लेश नहीं है। जब पुरुषों को पुनर्विवाह करने की आज्ञा दी जावे तो स्त्रियों को दूसरे विवाह से क्यों रोका जावे ?…पुरुष अपनी

इच्छानुसार जितनी चाहे उतनी स्त्रियाँ कर सकता है। देश, काल, पात्र और शास्त्र का कोई बन्धन नहीं रहा, क्या यह अन्याय नहीं ? क्या यह अधर्म नहीं ?"

स्वामीजी के गद्य की एक अन्य विशेषता अपने कथन को शास्त्रों के प्रमाणों को उद्धृत करके पुष्ट करना है। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में विभिन्न मन्तव्यों को पुष्ट करने के लिए वेद, मनुस्मृति और धर्मशास्त्रों के एक हजार के लगभग उद्धरण दिये हैं। उस समय इसकी बड़ी आवश्यकता थी, क्योंकि साधारण जनता वेद को प्रमाण मानते हुए भी वेद-विरुद्ध अनेक प्रकार की कुरीतियों और पाखण्डों में फँसी हुई थी। उदाहरणार्थ उस समय शूद्र और स्त्रियाँ वेद पढ़ने के अधिकार से वंचित थे, किन्तु स्वामीजी स्त्रियों और पुरुषों का समानाधिकार मानते थे और नारियों को भी वेद के अध्ययन का अधिकारी समझते थे। इसके लिए जहाँ उन्होंने तर्क का आश्रय लिया है और अनेक प्रकार की युक्तियाँ दी हैं, वहाँ उसके साथ ही इस बात को भी आवश्यक समझा कि वे अपने इस क्रान्तिकारी मौलिक मन्तव्य को वैदिक वचनों के प्रमाण से पुष्ट करें और इसीलिए उन्होंने यजुर्वेद (२६-२) के 'यथेमां वाचं कल्याणीम्' के मन्त्र को प्रमाणरूप में प्रस्तुत किया है। मूर्तिपूजा का विरोध भी वैदिक प्रमाणों के आधार पर किया है। उनके इस शास्त्र-प्रामाण्य की प्रवृत्ति का हिन्दी साहित्य पर बड़ा प्रभाव पड़ा। इसका विवेचन करते हुए हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—"आर्यसमाज ने भारतीय चिन्तन को झकझोर दिया है, प्राचीन आप्तवाक्य को मानने की प्रवृत्ति को उसने और भी अधिक प्रतिष्ठित किया। इसका परिणाम सभी क्षेत्रों में देखा गया।" साहित्य के क्षेत्र में भी इस समय प्रमाण-ग्रन्थों के आधार पर विवेचना करने की प्रथा चल पड़ी थी।

(४) स्वामीजी के गद्य की विभिन्न प्रकार की शैलियाँ

स्वामीजी ने अपने ग्रन्थों में विविध प्रकार के विषयों का विवेचन किया है, और इनके लिए विषयों के अनुरूप अनेक प्रकार की शैलियों का उपयोग किया। स्वामीजी कहीं तो विभिन्न दार्शनिक और आध्यात्मिक समस्याओं का विवेचन करते हैं, कहीं विभिन्न धर्मों के मन्तव्यों की समीक्षा प्रस्तुत करते हैं और कहीं अन्य धर्मों के सिद्धान्तों की आलोचना करते हैं। इन सब विषयों का प्रतिपादन उन्होंने बड़ी ओजस्वी एवं प्रभावशाली भाषा में किया है और अनेक प्रकार की शैलियों का व्यवहार किया है। भाषा की दृष्टि से उनकी शैलियों के प्रमुख रूप निम्नलिखित हैं—

(१) **गम्भीर तर्कपूर्ण शैली**—इसका उपयोग दार्शनिक प्रश्नों के विवेचन के लिए हुआ है। इसमें सुबोध भाषा में पाठक को अपने मन्तव्य के युक्तियुक्त होने का विश्वास तर्कपूर्ण शैली में कराया गया है। स्वामीजी अवतारवाद के विरोधी थे; उन्होंने इसका खण्डन करते हुए अपने मन्तव्य की पुष्टि में जहाँ वेदों के अनेक प्रमाण दिये हैं, वहाँ इस लोकप्रचलित धारणा का नाना प्रकार की युक्तियों से खण्डन करना भी आवश्यक समझा है। उन्होंने इस प्रसंग में विरोधी पक्ष की ओर से पहले यह लिखा है कि यदि ईश्वर अवतार नहीं लेगा तो रावण-कंस आदि दुष्टों का विध्वंस कैसे होगा ? इस प्रश्न को उठाते हुए स्वामीजी ने इसका उत्तर अपनी तर्कपूर्ण शैली में इस प्रकार दिया है—"जो ईश्वर अवतार शरीर धारण किये बिना जगत् की उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय करता है, उसके सामने कंस, रावण आदि एक कीड़े के समान भी नहीं। वह सर्वव्यापक

होने से कंस, रावण आदि के शरीरों में परिपूर्ण हो रहा है। जब चाहे उसी समय मर्मच्छेदन कर नाश कर सकता है। भला इस अनन्त गुण, कर्म, स्वभावयुक्त परमात्मा को एक क्षुद्र जीव को मारने के लिए जन्म-मरणयुक्त रहनेवाले को मूर्खपन से अन्य कुछ विशेष उपमा मिल सकती है।" इसके बाद पुनः उन्होंने अपने मन्तव्य को पुष्ट करते हुए एक अन्य युक्ति यह भी दी है कि "यदि ईश्वर अवतार ग्रहण करेगा तो उसे माता के गर्भ में रहकर समय पर जन्म लेना होगा। ऐसा होने पर यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सर्वव्यापी अनन्त ईश्वर एक स्त्री के गर्भ में कैसे आ सकता है......जैसे कोई अनन्त आकाश को कहे कि गर्भ में आया व मुट्ठी में धर लिया, ऐसा कहना कभी सच नहीं हो सकता, क्योंकि यह आकाश अनन्त और सब में व्यापक है। इससे न आकाश बाहर आता और न भीतर जाता। वैसे ही अनन्त सर्वव्यापक परमात्मा के होने से उनका आना-जाना कभी सिद्ध नहीं हो सकता। क्या परमेश्वर गर्भ में व्यापक नहीं था जो कहीं से आया और बाहर नहीं था जो भीतर से निकला? ऐसा ईश्वर के विषय में कहना और मानना विद्याहीनों के सिवाय कौन कहे और मान सकेगा?" (सत्यार्थप्रकाश, सप्तम समुल्लास, पृष्ठ १७६-७७)। इसी प्रकार स्वामीजी ने मूर्ति-पूजा के खण्डन के प्रसंग में विरोधी तर्कों और युक्तियों की झड़ी लगा दी है, ताकि पाठक को उनके मन्तव्य को युक्तिसम्मत होने का पूरा विश्वास हो जाय। स्वामीजी के ग्रन्थों की इस शैली का पाठकों पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। हजारों व्यक्ति इन ग्रन्थों को पढ़कर पुराने अन्ध-विश्वासों से मुक्त हुए।

(२) **आक्रोशपूर्ण शैली**—इसमें स्वामीजी वर्तमान कुरीतियों का खण्डन बड़े रोषपूर्ण शब्दों में करते हैं। इससे उनका वर्तमान स्थिति के प्रति क्षोभ प्रकट होता है। इसका सुन्दर उदाहरण मूर्तिपूजा के खण्डन का प्रसंग है। स्वामीजी ने विदेशी आक्रान्ता महमूद गजनवी द्वारा सोमनाथ के मन्दिर की लूट पर गहरा दुःख प्रकट करते हुए लिखा है—

"जब मूर्ति तोड़ी तब सुनते हैं कि १८ क्रोड़ के रत्न निकले। जब पूजारी और पोपों पर कोड़ा पड़े तब रोने लगे। कहा कि कोश बतलाओ। मार के मारे झट बतला दिया। तब सब कोष लूटमार कूट कर पोप और उनके चेलों को 'गुलाम' बिगारी बना, पिसना पिसवाया, घास खुदवाया, मल-मूत्रादि उठवाया और चना खाने को दिये! हाय! क्यों पत्थर की पूजा कर सत्यानाश को प्राप्त हुए! क्यों परमेश्वर की भक्ति न की, जो मलेच्छों के दाँत तोड़ डालते! और अपनी विजय करते! देखो! जितनी मूर्तियाँ हैं उतनी शूरवीरों की पूजा करते तो भी कितनी रक्षा होती। पूजारियों ने इन पाषाणों की इतनी भक्ति की, परन्तु मूर्ति एक भी उन शत्रुओं के सिर पर उड़ कर न लगी। जो किसी एक शूरवीर पुरुष की, मूर्ति के सदृश सेवा करते तो वह अपने सेवकों को यथा-शक्ति बचाता और उन शत्रुओं को मारता।"

(सत्यार्थ प्रकाश, एकादश समुल्लास, पृष्ठ २८१)

इस अवतरण से यह स्पष्ट है कि स्वामीजी सोमनाथ मन्दिर का कोष विदेशियों द्वारा लूटने और पुजारियों पर किये गये अत्याचारों से बड़े खिन्न थे और इस दुर्दशा का मूल कारण मूर्ति-पूजा समझते थे। अतः उन्होंने इस दूषित पद्धति के प्रतिकूल तर्क देते हुए आक्रमणकारी के प्रति क्षोभ को बड़े स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है और देश-

वासियों को इस बात का उद्बोधन बड़े स्पष्ट शब्दों में दिया है कि शूरवीरता ही देश की रक्षा करने में समर्थ हो सकती है। मूर्ति की शक्ति में अन्धविश्वास रखने से सर्वनाश के अतिरिक्त कोई अन्य परिणाम नहीं हो सकता है।

(३) **व्यंग्यात्मक शैली**—इसका प्रयोग स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश के अन्तिम समुल्लासों में बड़ी सफलतापूर्वक किया है और कुरीतियों का खण्डन करते हुए भी इस पद्धति का आश्रय लिया है। उदाहरणार्थ स्वामीजी गणित ज्योतिष में तो विश्वास करते थे किन्तु फलित ज्योतिष को मिथ्या समझते थे; सूर्य आदि ग्रहों के प्रकोप को शांत करने के लिए पूजा, दान, व्रत, शांतिपाठ आदि उपायों को अन्धविश्वास मानते थे। उनकी दृष्टि में सूर्य पृथिवी की भाँति एक लोक है, देवता नहीं। अतः जड़ पदार्थ होने से वह चेतन की भाँति क्रुद्ध होकर, दुःखी और प्रसन्न होकर सुख नहीं दे सकता है। इसीलिए फलित ज्योतिष पर आधारित जन्म-पत्र को उन्होंने शोक-पत्र की व्यंग्यपूर्ण संज्ञा दी है। ज्योतिषियों की मन्त्र-शक्ति पर व्यंग्य करते हुए वे पूछते हैं कि "अगर तुम्हारे मन्त्रों में शक्ति है तो कुबेर क्यों नहीं बन जाते और क्यों गरीबों को लूटते हो ?" (सत्यार्थप्रकाश, ११वाँ समुल्लास, पृष्ठ ३०५) तपोवन नामक पौराणिक तीर्थ का खण्डन करते हुए स्वामीजी लिखते हैं—'तपोवन' जब होगा तब होगा। अब तो 'भिक्षुक वन' है। इसमें बड़ा कटु व्यंग्य है, जो वहाँ पाये जाने वाले भिखारियों की बहुसंख्या के आधार पर किया गया है।

इसी प्रकार मृत्यु के बाद यमराज और उसके मन्त्री चित्रगुप्त द्वारा मनुष्यों को पकड़कर ले जाने और इससे बचने के लिए दान, पुण्य, श्राद्ध,तर्पण, गोदान आदि वैतरणी नदी तरने की बातों को झूठा बताते हुए उन्होंने लिखा है—"ये सब बातें पोप लीला के गपोड़े हैं।......श्राद्ध तर्पण पिण्डप्रदान उन मरे हुए जीवों को तो नहीं पहुँचता, किन्तु मृतकों के प्रतिनिधि पोप जी के घर उदर और हाथ में पहुँचता है। जो वैतरणी के लिए गोदान लेते हैं वह तो पोप जी के घर में पहुँचता है।" (सत्यार्थप्रकाश, ११वाँ समुल्लास, पृष्ठ ३०६) बाइबल में किये गये स्वर्ग के वर्णन की आलोचना करते हुए स्वामीजी ने लिखा है कि "यह सर्वथा मिथ्या कपोल-कल्पना की बात है—यह गपोड़ा पुराण का भी बाप है।" (सत्यार्थप्रकाश, १३वाँ समुल्लास, पृष्ठ ५१८)

स्वामीजी ने पुरुषार्थ को छोड़कर केवल भगवान् से प्रार्थनाओं के बल पर अपनी कार्यसिद्धि और मनोरथ-पूर्ति की आशा रखनेवालों का उपहास करते हुए कहा है कि ईश्वर ऐसे अकर्मण्य व्यक्तियों की प्रार्थनाएँ नहीं सुना करता। उनके शब्द हैं—"हे परमेश्वर! आप हमको रोटी बनाकर खिलाइए, मेरे मकान में झाड़ू लगाइए...... इस प्रकार जो परमेश्वर के भरोसे आलसी होकर बैठे रहते हैं वे महान् मूर्ख हैं क्योंकि परमेश्वर की पुरुषार्थ करने की आज्ञा है। उसको जो कोई तोड़ेगा वह कभी सुख नहीं पाएगा।" ऐसे प्रसंगों में स्वामीजी ने अपनी विनोद-वृत्ति का अच्छा प्रदर्शन किया है। इसीलिए उन्होंने हरिद्वार में हर की पेड़ी को हाड़ पैढ़ी कहा है (स० प्र० पृ० २८४) और जन्म-पत्र को शोक-पत्र की संज्ञा दी है।

(४) **दृष्टान्त-शैली**—उत्तम लेखकों और वक्ताओं की भाँति अपने कथन को पुष्ट करने के लिए स्वामीजी ने सर्वत्र सुन्दर उदाहरण तथा दृष्टांत दिये हैं। व्यवहार-भानु और सत्यार्थप्रकाश के एकादश समुल्लास में ऐसे दृष्टान्त प्रचुर संख्या में मिलते हैं।

पहली पुस्तक इस प्रकार के दृष्टान्तों से भरी हुई है। इसके कुछ उदाहरण हैं—शेखचिल्ली की कथा (पृष्ठ ५-६), लालबुझक्कड़ की कहानी (पृष्ठ ३०-३१), अन्धेर नगरी के गवर्गण्ड राजा की कथा (पृष्ठ ४०-४७)। इनमें अन्तिम कथा पर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने भी अन्धेर नगरी नामक नाटक लिखा है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कथा उस समय जनता में बड़ी लोकप्रिय थी। स्वामीजी ने अपने मन्तव्यों की पुष्टि के लिए दृष्टान्तों का बड़े प्रभावशाली ढंग से उपयोग किया है। इस विषय में पोप जी (ब्राह्मण-पुरोहित) को दिवंगत पिता के वैतरणी पार करने के लिए जाटजी द्वारा बीस सेर दूध देने वाली गौ का संकल्पसहित दान करके बछड़ेसहित गाय जबरदस्ती वापिस लेने की कथा बड़ी रोचक है (सत्यार्थप्रकाश, ११वाँ समुल्लास, पृष्ठ ३०६-८)।

(५) **प्रश्नोत्तर-शैली**—यह स्वामीजी को अतीव प्रिय थी। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश, व्यवहारभानु आदि ग्रन्थों में इसी शैली का सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। इसमें पूर्व-पक्ष को प्रश्न के रूप में उपस्थित किया जाता है और उसके उत्तर-पक्ष के रूप में अपने मन्तव्य को प्रस्तुत किया जाता है। भारतीय साहित्य में यह प्रणाली चिरकाल से चली आ रही थी। स्वामीजी शास्त्रार्थ भी प्रश्नोत्तर-शैली पर किया करते थे। इससे विषय को समझने में बड़ी सुगमता हो जाती है। अतः स्वामीजी ने इस शैली का बहुत उपयोग किया है।

(५) स्वामीजी का हिन्दी गद्य पर प्रभाव

पिछली शताब्दी में खड़ी बोली गद्य के विकास में स्वामी दयानन्द का स्थान अतीव महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने हिन्दी गद्य का क्षेत्र विस्तृत किया; इसे नये आयाम दिये। नयी विधाओं में हिन्दी गद्य लिखने की पद्धति प्रचलित की। यद्यपि स्वामीजी का क्षेत्र केवल उपयोगी और शास्त्रीय साहित्य तक ही सीमित था, फिर भी उन्होंने कविता, काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि हिन्दी के समूचे सृजनात्मक साहित्य पर गहरा प्रभाव डाला; इसे अपनी सुधारवादी और नैतिकतावादी भावना से अनुप्राणित किया। हिन्दी गद्य को नवीन ओजस्विता और संयत व्यंग्य-पद्धति प्रदान की। यहाँ हिन्दी साहित्य पर स्वामीजी के प्रमुख प्रभावों का ही संक्षिप्त उल्लेख किया जाएगा।

(१) **गद्य के नये आयाम**—स्वामीजी को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने हिन्दी गद्य का क्षेत्र अतीव विस्तीर्ण किया। उसमें नये-नये तथा अब तक अछूते विषयों पर लिखने की परम्परा का श्रीगणेश किया। १८७५ में हिन्दी गद्य के क्षेत्र में उनके अवतीर्ण होने से पहले हिन्दी गद्य कथा-कहानियों और भक्ति-विषयक कुछ इने-गिने धार्मिक ग्रन्थों तक ही सीमित था। इसमें दर्शन की कोई चर्चा नहीं होती थी। समाज-सुधार सर्वथा उपेक्षित था। शास्त्रीय और वैज्ञानिक विषयों का विवेचन भी लगभग नगण्य था। राजनैतिक प्रश्न हिन्दी साहित्य का विषय नहीं माने जाते थे।

स्वामीजी को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने सर्वप्रथम हिन्दी में गम्भीर दार्शनिक, आध्यात्मिक, नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक प्रश्नों की विवेचना आरम्भ की। इसका श्रीगणेश सत्यार्थप्रकाश से हुआ। अन्यत्र यह बताया जा चुका है कि यह मानव के सर्वांगीण धर्म का, ऐहिक अभ्युदय तथा पारलौकिक निश्श्रेयस का, तथा जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त मनुष्य के सम्मुख उत्पन्न होनेवाले सभी प्रश्नों का गम्भीर एवं तर्कपूर्ण

प्रतिपादन करता है। भारत में प्रचलित स्वदेशी तथा विदेशी धार्मिक सम्प्रदायों के मन्तव्यों तथा सिद्धान्तों की कड़ी समीक्षा और सूक्ष्म परीक्षा करता है। यह उस समय के साहित्येतर विषयों का विश्वकोष है। इसे लिखकर स्वामीजी ने हिन्दी में विभिन्न विषयों का सरल, सुबोध और रोचक भाषा में प्रतिपादन करने के लिए नवीन पद्धति का प्रवर्तन किया। इस विषय में डॉ० सत्यप्रकाश का यह कथन उल्लेखनीय है—

"इस ग्रन्थ ने हिन्दी के दार्शनिक ग्रन्थों की शैली को जन्म दिया, फलतः हिन्दी में धीरे-धीरे समस्त उपनिषदों के भाष्य आरम्भ हुए और दर्शनों के अनुवाद भी हुए। इन्हीं भाष्यकर्त्ताओं में आर्यमुनि, तुलसीराम, दर्शनानन्द, राजाराम, शिवशंकर काव्य-तीर्थ से लेकर स्वामी नारायण स्वामी तक के ग्रन्थों की प्रधानता रही।"

सत्यार्थप्रकाश अतीव लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसके बारे में यह सत्य ही कहा गया है कि "जितनी लोकप्रियता इस ग्रन्थ को प्राप्त हुई उसकी समकक्षता में हिन्दी गद्य के किसी और ग्रन्थ को अब तक नहीं रखा जा सकता है। कोई ऐसी भारतीय भाषा नहीं जिसमें इसका अनुवाद न हुआ हो। भारत ही क्यों? यूरोप की भी प्रमुख भाषाओं में इसके अनुवाद हुए हैं। यह गौरव हिन्दी गद्य के और किसी ग्रन्थ को प्राप्त नहीं हुआ है।" आचार्य चतुरसेन शास्त्री की इस उक्ति में बड़ा सत्य है कि सम्भवतः तुलसीकृत रामायण के बाद सत्यार्थप्रकाश ही इस युग में इतना लोकप्रिय ग्रन्थ हुआ है। हजारों व्यक्तियों ने सत्यार्थप्रकाश से हिन्दी सीखी और हिन्दी के सुप्रसिद्ध आलोचक बाबू श्यामसुन्दर दास के शब्दों में "सत्यार्थप्रकाश और आर्यसमाज के प्रभाव से पंजाब में हिन्दी का वह प्रसर हुआ, जिसकी कदापि आशा नहीं थी।" इतने अधिक लोकप्रिय ग्रन्थ ने तथा स्वामीजी की अन्य कृतियों ने हिन्दी गद्य में गम्भीर विषयों के विवेचन की पद्धति प्रारम्भ की तथा रोचक एवं विनोदात्मक शैलियों का विकास किया।

(२) **हिन्दी काव्य की रीतिकाल के प्रभाव से मुक्ति**—स्वामीजी के आविर्भाव से पहले हिन्दी काव्य में रीतिकाल की घोर शृंगारिकता का साम्राज्य था। भारतेंदु युग में पिछली शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रजभाषा के काव्यों में मध्यकालीन शृंगार तथा नायिका-भेद की परम्परा के अनुसार साहित्य का निर्माण हो रहा था। भारतेंदु हरिश्चन्द्र के एक काव्य में विपरीत रति के वर्णन की विलासिता मिलती है।

किन्तु स्वामी दयानन्द बालब्रह्मचारी थे। उन्होंने जीवन में ब्रह्मचर्य को बहुत ऊँचा स्थान दिया। वे शृंगार-रसप्रधान नाटकों तथा कविताओं आदि के घोर विरोधी थे। जब भारत सुदशा प्रवर्तक नामक पत्र के सम्पादक ने अपने पत्र को रोचक बनाने के लिए उसमें नाटक छापने शुरू किये तो स्वामीजी ने इनके प्रकाशन का विरोध किया। उनका यह विश्वास था कि नाटकों से विलासिता और कामुकता की भावना को प्रोत्साहन मिलता है, ब्रह्मचर्य के पालन में बाधा पहुँचती है। अतः उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा था—"विदित हो कि तुम आर्यसमाज के पत्र में नाटक का विषय मत छापो। यह अनुचित बात है। यह आर्य समाज है, भड़वा समाज नहीं। जो तुम नाटक का विषय छापते हो, ऐसा करना भड़वापन की बात है। इसलिए ऐसा बरतना उचित नहीं।"

इसी प्रकार एक अन्य पत्र में स्वामीजी ने आर्यसमाज की पत्रिकाओं में नाटक छापने का विरोध करते हुए लिखा था—"अब भारत सुदशा प्रवर्तक पण्डित लक्ष्मीदत्त से लिखाना चाहिए। वे संस्कृतयुक्त अच्छा विषय लिखेंगे। और नाटक का विषय तो नाम-

मात्र भी नहीं आना चाहिए। जो अच्छा विषय भी लिखना हो वह प्रश्नोत्तर या ग्रन्थ प्रकार से लिखा जाय। नाटक नाम तमाशे का है। क्योंकि तुम्हारे नाटक को लिखा देखकर लखनऊ समाज में नाटक का व्याख्यान होने लगा। जब हमने मना किया तो कहने लगे कि अपने फरुंखावाद समाज के पत्र में नाटक क्यों छपता है ? यह नाटक से विगाड़ का उदाहरण है।"

इससे स्पष्ट है कि स्वामीजी समाज पर नाटकों का बुरा प्रभाव मानते थे और उन्होंने आर्यसमाज में नाटकों के पूर्ण वहिष्कार पर वड़ा वल दिया था। इसका तत्कालीन हिन्दी काव्य साहित्य पर प्रभाव पड़ना सर्वथा स्वाभाविक था। स्वामीजी की विचारधारा नारियों के नखशिख का विस्तृत वर्णन करनेवाली और नायिका-भेद का विशद विवेचन करनेवाली मध्यकालीन रीति-काव्यधारा की प्रवल विरोधी थी। स्वामीजी ने अपने व्याख्यानों एवं ग्रन्थों द्वारा देश को विलासिता के पंक से उभारने का प्रयास किया और उसके सम्मुख नवीन राष्ट्रीय विचारों पर तथा समाजिक सुधारों पर बल देनेवाली स्वतंत्रता का समर्थन करनेवाली विचारधारा एवं आदर्शों को बड़े ओजस्वी शब्दों में प्रस्तुत किया।

सुप्रसिद्ध कवि रामधारी सिंह दिनकर की मान्यता है कि स्वामीजी का ब्रह्मचर्य, नैतिक शुद्धता और पवित्रता पर बल देना हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक महान् उल्लेखनीय तथ्य है। उनके कथनानुसार रीतिकाल के ठीक वादवाले काल में हिन्दीभाषी क्षेत्रों में जो सबसे वड़ी सांस्कृतिक घटना घटी, वह स्वामी दयानन्द का पवित्रतावादी प्रचार था। वर्तमान शताब्दी के साथ प्रारम्भ होनेवाले द्विवेदी युग (१९००–१९२०) पर स्वामीजी की विचारधारा का प्रभाव भारतेंदु युग की अपेक्षा कहीं अधिक पड़ा। इसके परिणामस्वरूप इस युग के कवि नायिकाभेदवाले रीतिकालीन काव्य को सर्वथा त्याज्य और हेय समझने लगे। सुप्रसिद्ध कवि नाथूराम शंकर ने नायिकाभेद पर लिखा अपना एक ग्रन्थ कलित कलेवर स्वयमेव आर्यसमाज के प्रभाव से नष्ट कर दिया। सुदर्शन की आरम्भिक कहानियों में यह प्रवृत्ति बड़े स्पष्ट रूप में मिलती है। यह कहा जाता है कि द्विवेदी युग पर स्वामी दयानन्द की पवित्रता वाली भावना का आतंक छाया हुआ था। इस समय के कवि लोग कामिनी नारी की कल्पना मात्र से घबराने लगे थे। द्विवेदी-युग के कविगण नारी के कामिनी रूप से आँख चुराने लगे। इस युग के कवियों को शृंगार रस की कविता लिखते समय यह प्रतीत होता था जैसे "स्वामी दयानन्द पास ही खड़े सब-कुछ देख रहे हों।" इसी भय से "छायावादी कवि भी प्रत्यक्ष नारी के बदले जुही की कली अथवा विहंगिनियों का आश्रय लेकर अपने भावों का रेचन करते रहे। अतः यह स्पष्ट है कि स्वामी दयानन्द सरस्वती के प्रभाव से हिन्दी साहित्य में मध्यकाल से चली आनेवाली घोर शृंगारिक कविता की रीतिकालीन परम्परा समाप्त हुई। अब कविगण राष्ट्रीय तथा सामाजिक विषयों पर कविताएँ लिखने लगे। नायिकाभेद का वर्णन अतीत की वस्तु बन गया। द्विवेदी युग के प्रमुख कवियों—मैथिलीशरण गुप्त, नाथूराम शंकर आदि की कविता में राष्ट्रप्रेम, देशोद्धार, समाजसुधार की भावनाएँ प्रमुख रूप में पायी जाती हैं।

(३) सुधारवादी भावना—आर्यसमाज ने हिन्दू समाज में प्रचलित कुरीतियों के उन्मूलन पर बड़ा बल दिया था। बाल विवाह, अनमेल विवाह, विधवा-विवाह-

निषेध जैसी कुप्रथाओं का उग्र विरोध किया। उस समय छुआछूत की भावना के कारण भारत में चौके-चूल्हे का जो आडंबर प्रचलित था, उसे स्वामीजी भारत की दुर्दशा का एक बड़ा कारण समझते थे। इसकी आलोचना करते हुए उन्होंने सत्यार्थप्रकाश में लिखा था—"इसी मूढता से चौंका लगाते-लगाते ये लोग सब स्वतन्त्रता, आनन्द, धन, राज्य, विद्या और पुरुषार्थ पर चौका लगाकर हाथ पर हाथ धरे बैठे हैं।" उन्होंने स्त्रियों की शिक्षा का प्रबल समर्थन किया। स्त्रियों और शूद्रों के अन्य वर्णों के समान वेदाध्ययन-अधिकार का प्रतिपादन किया। अस्पृश्यता के कलंक के परिमार्जन का प्रयास किया।

स्वामीजी के इन सुधारों का तत्कालीन भारतीय जनता पर बड़ा प्रभाव पड़ा, क्योंकि ये सुधार हिन्दू समाज को सुदृढ़ और सशक्त बनाने की दृष्टि से प्रतिपादित किये गये थे। इनका समर्थन ऐसे व्यक्तियों ने भी किया जो कट्टर पौराणिक और स्वामी दयानन्द सरस्वती की विचारधारा के प्रबल विरोधी थे, क्योंकि उन्हें भी देशोद्धार और स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए इन सामाजिक सुधारों को करना आवश्यक प्रतीत होता था। उदाहरणार्थ हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहास-लेखक मिश्रबन्धुओं ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के धार्मिक सुधारों का मूल्यांकन करते हुए लिखा था—"अनेक भूलों और पाखंडों में फँसे हुए लोगों को सीधा मार्ग दिखलाकर उन्होंने वह काम किया, जो अपने समय में महात्मा गौतम बुद्ध, स्वामी शंकराचार्य, रामानन्द, कबीरदास, बाबा नानक, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु और राममोहन राय ठौर-ठौर कर गये थे। हम आर्यसमाजी नहीं हैं, तो भी हमारी समझ में ऐसा आता है कि हम लोगों का जो वास्तविक हित इस दृष्टि के प्रयत्नों द्वारा हुआ और होना सम्भव है, उतना उपर्युक्त महात्माओं में से बहुतों ने नहीं कर पाया।" द्विवेदी युग के हिन्दी साहित्य पर स्वामीजी की सुधारवादी भावना का प्रबल प्रभाव पड़ा। इस युग के लगभग सभी कवियों की कविता में यह भावना प्रचंड रूप में दिखाई देती है। अन्यत्र इसका विस्तार से वर्णन किया जायेगा। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त है कि राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त कट्टर वैष्णव और रामभक्त थे, किन्तु उन्होंने अपनी सुप्रसिद्ध रचना 'भारत भारती' में स्वामीजी के लगभग सभी सुधारों का प्रबल समर्थन किया। कवि दिनकर के शब्दों में साकेत के राम तो स्वामी दयानन्द के 'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' का नारा लगाते हैं।

(४) हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा बनाना—स्वामी दयानन्द ने धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और शैक्षणिक क्षेत्र में हिन्दी की बड़ी सेवा की। उनका उस समय आविर्भाव हिन्दी आन्दोलन के लिए भगवान् का वरदान था और यह सत्य ही कहा जाता है कि हिन्दी के लिए राष्ट्रभाषा के भवन-निर्माण की नींव पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण में उन्होंने ही रक्खी। उनके पत्रों, लेखों और ग्रन्थों से यह प्रतीत होता है कि वे हिन्दी के न केवल अनन्य भक्त थे, अपितु उसे हिन्दू समाज की दृढ़ एकता के सूत्र में आबद्ध करने की दृष्टि से राष्ट्रभाषा के पद पर अधिष्ठित करना चाहते थे। इस प्रकार वे कई हजार विभिन्न जातियों तथा धार्मिक सम्प्रदायों में विभक्त हिन्दू समाज को एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाना चाहते थे। वे हिन्दी को देशव्यापी बनाने का स्वप्न देखते थे। एक बार जब उनके एक भक्त ने उनसे यह प्रार्थना की कि वे अपने समस्त ग्रन्थों का अनुवाद उर्दू में करने की अनुमति प्रदान करें ताकि उनके पंजाबी भक्त उनकी शिक्षाओं का पूरा लाभ उठा सकें, उस समय स्वामीजी ने बड़े प्रेम से अपने भक्त को उत्तर देते हुए कहा था—

"भाई, मेरी आँखें तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं, जब काश्मीर से कन्या-कुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लग जायेंगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी, वे इस आर्य भाषा को सीखना अपना कर्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करते हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि स्वामीजी हिन्दी को समूचे देश की राष्ट्रभाषा बनाने के लिए अतीव उत्सुक थे।

उनके अनेक पत्रों से उनका प्रबल हिन्दी-प्रेम स्पष्ट होता है। वे न केवल भारतीयों को, अपितु विदेशियों को भी पत्र हिन्दी में लिखते थे और उनसे यह अनुरोध करते थे कि वे उन्हें हिन्दी में पत्र लिखा करें और देवनागरी पढ़ने का अभ्यास करें। थियोसोफी आन्दोलन की संस्थापिका मदाम ब्लैवेट्स्की को उन्होंने एक पत्र में लिखा था, "जिस पत्र का हमसे उत्तर चाहें, उसको नागरी करा कर हमारे पास भेजा करें।" १३ जुलाई १८७९ को कर्नल अल्काट को लिखे एक पत्र से ज्ञात होता है कि उन्होंने इन्हें भी हिन्दी सीखने की प्रेरणा दी थी। इस पत्र में उन्होंने लिखा है—"मुझे यह सुनकर खुशी हुई कि आपने नागरी पढ़ना आरम्भ कर दिया है।" ग्रामीण जनता की सुविधा के लिए भी वे हिन्दी और देवनागरी का प्रयोग आवश्यक समझते थे। यह उनके श्यामजी कृष्ण वर्मा को ७ अक्तूबर १८७८ को लिखे पत्र से ज्ञात होता है। इसमें उन्होंने लिखा था—"अब की बार भी वेदभाषी के लिफाफे के ऊपर देवनागरी नहीं लिखा गया। जो कहीं ग्राम में अंग्रेजी पढ़ा न होगा तो अंक वहाँ कैसे पहुँचते होंगे? और ग्रामों में देवनागरी-पढ़े बहुत होते हैं······इसलिए अभी इसी पत्र को देखते ही देवनागरी जाननेवाला मुंशी रख लेवें। नहीं तो रजिस्टर के अनुसार ग्राहकों का पता किसी देवनागरी जाननेवाले से नागरी में लिखा लिया करें।" इन पत्रों से स्पष्ट है कि स्वामीजी सदैव पत्र-व्यवहार में हिन्दी के प्रयोग पर बल देते थे और उनके तथा आर्यसमाज के प्रबल प्रयत्नों से ही सर्वप्रथम हिन्दी के राष्ट्रभाषा बनने का पथ प्रशस्त हुआ।

(५) हिन्दी गद्य का परिष्कार—स्वामीजी के रंगमंच पर अवतीर्ण होने से पहले हिन्दी गद्य में दो शैलियाँ प्रचलित थीं। पहली राजा लक्ष्मण सिंह (१८२६–१८९६ ई०) की शैली थी। इसमें संस्कृत के तत्सम शब्दों के प्रयोग पर बहुत बल दिया जाता था। दूसरी शैली राजा शिवप्रसाद सितारेहिन्द (१८२३–१८९५ ई०) की थी। इसमें उर्दू शब्दों के व्यवहार पर अधिक बल दिया जाता था। स्वामीजी ने जनता के साथ गहरा सम्पर्क होने के कारण अपना गद्य ऐसी शैली में लिखा जो जनता के लिए अधिक-से-अधिक सुबोध हो। वे अपना सन्देश जनता तक पहुँचाना चाहते थे, इसलिए स्वामीजी का गद्य जनभाषाओं के निकट है। उसमें बड़ी स्पष्टता, ओज एवं विशदता और पाठक को प्रभावित करने की पूरी क्षमता है। कुछ आलोचकों की सम्मति में अपने विरोधियों से वाद-विवाद करने के कारण स्वामी दयानन्द की भाषा में कठोरता, व्यंग्यबहुलता और आक्रामकता आ गयी है। इस कारण इसे लक्कड़तोड़ भाषा की संज्ञा दी जाती है। किन्तु ऐसा करने का विशेष कारण था। उस समय हिन्दू समाज धार्मिक अन्धविश्वासों में इस बुरी तरह जकड़ा हुआ था, सामाजिक कुरीतियों के कारण इतना जड़ हो चुका था, अज्ञान और अन्धकार में इतना डूबा हुआ था कि उसमें नई चेतना और जागृति लाने के लिए उन्हें न केवल लक्कड़तोड़ अपितु पत्थरफोड़ भाषा का प्रयोग करने की विवशता थी। यह शैली केवल उनके खण्डनपरक ग्रन्थों और प्रकरणों में ही मिलती है।

सामान्यत: स्वामीजी ने जिस भाषा का प्रयोग किया है, वह सरल, सरस, सुबोध और प्रांजल है। संस्कृतबहुल होने पर भी उनकी शब्दसम्पदा में तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्द हैं। उन्होंने हिन्दी भाषा को गुरुकुल, आश्रम, स्नातक, कुलपति, आर्य, आर्यावर्त, आर्यभाषा, नमस्ते आदि के अनेक प्राचीन शब्द दिये हैं।

स्वामीजी के पत्रों से यह स्पष्ट है कि उनका आग्रह भाषा को सरल तथा सुबोध बनाने का रहता था। वैदिक यन्त्रालय के मैनेजर समर्थदान को लिखे उनके १६ अगस्त १८८३ के पत्र से यह सूचित होता है कि पण्डित ज्वालादत्त तथा भीमसेन शर्मा भाषा को संस्कृतनिष्ठ और क्लिष्ट बनाने का प्रयत्न करते थे। स्वामीजी ऐसी भाषा को पसन्द नहीं करते थे, क्योंकि उनका लक्ष्य अपना सन्देश सरल भाषा में जनता तक पहुँचाना था। उन्होंने उपर्युक्त पत्र में लिखा है—"ज्वालादत्त भाषा भी अच्छी नहीं बनाता।" एक अन्य पत्र में उन्होंने लिखा है—"भीमसेन अब भाषा बहुत ढीली बनाता है। उसको शिक्षा कर देना कि भाषा के बनाने में ढील न हुआ करे।" इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि पण्डित भीमसेन शर्मा संस्कृत के इतने प्रबल समर्थक थे कि वे अरबी-फारसी के शब्दों को भी संस्कृत का रूप देकर लिखा करते थे। जैसे शिकायत को शिक्षायत्न, चश्मे को चक्ष्मा, सिफारिश को क्षिप्राशिष, दुश्मन को दुःशमन। किन्तु स्वामीजी ऐसे शब्दों को बिल्कुल पसन्द नहीं करते थे। वे भाषा को अधिक-से-अधिक सरल बनाने का प्रयास करते थे और उसमें विदेशी शब्दों का भी समावेश करते थे। एक लेखक ने यह ठीक ही लिखा है कि "राजा लक्ष्मणसिंह का दृष्टिकोण अपनाकर स्वामी दयानन्द ने हिन्दी को बोझिल और केवल विद्वत्-समाज की भाषा नहीं बनने दिया। उनकी हिन्दी से न तो गवाह निर्वासित हुआ और न ही कलक्टर को धक्का दिया गया। वे तत्सम और तद्भव शब्दों का प्रयोग भी सन्तुलित रूप से करते थे। सर्व के साथ-साथ सबका व्यवहार भी किया करते थे।"

स्वामीजी ने हिन्दी के गद्य को किस प्रकार परिष्कृत और प्रभावित किया, इस विषय में डॉक्टर लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने लिखा है—"आर्यसमाज की भाषा से हिन्दी भाषा में एक नई शैली का प्रतिपादन हुआ। 'सत्यार्थप्रकाश' (१८७४) में स्वामी दयानन्द ने जैन, सिक्ख आदि हिन्दू सम्प्रदायों तथा इस्लाम और ईसाई मतों की तीव्र आलोचना की। इससे भाषा में गहन-से-गहन विषयों पर भी वाद-विवाद करने की शक्ति आ गयी। आर्यसमाज के कारण व्याख्यानों की धूम मची जिससे हिन्दी भाषा का समस्त उत्तर भारत में प्रचार हुआ। भाव-व्यंजना में भी इससे सहायता मिली और तर्क-शैली के साथ-साथ भाषा में व्यंग्य तथा कटाक्ष करने की शक्ति का आविर्भाव हुआ। इस प्रकार आर्यसमाज तथा अन्य धार्मिक आन्दोलनों के कारण हिन्दी भाषा तथा गद्य-शैली का विकास हुआ, यह निर्विवाद है।"

(६) संस्कृत के वैदिक तथा शास्त्रीय साहित्य को हिन्दी में सुलभ बनाना— स्वामी दयानन्द द्वारा हिन्दी में वेद-भाष्य लिखने तथा वेदमन्त्रों का अनुवाद करने का एक बड़ा सुपरिणाम यह हुआ कि जनसाधारण के लिए वेद उनकी अपनी भाषा में उपलब्ध हो गये। अब तक ये केवल संस्कृत भाषा में थे। उसे हिन्दू समाज में ब्राह्मण वर्ग के इने-गिने व्यक्ति ही समझ सकते थे, क्योंकि इस भाषा के वही एकमात्र ज्ञाता थे। किन्तु अब स्थिति बिल्कुल बदल गयी। वेदों पर ब्राह्मणों का एकाधिपत्य नहीं रहा, अपितु

जनता उन्हें अपनी भाषा में स्वयमेव पढ़ने लगी और उन पर स्वतन्त्र रूप से चिन्तन करने लगी। स्वामीजी के इस कार्य से हिन्दी का जनता में व्यापक रूप से प्रचार हुआ और उनमें अपने धर्म-ग्रन्थों को मूल रूप में पढ़ने और समझने की सामर्थ्य उत्पन्न हुई।

स्वामीजी के हिन्दी-विषयक प्रभावों और कार्यों पर मूल्यांकन करते हुए यह कहा गया है कि "हिन्दी-सेवा की दृष्टि से स्वामी दयानन्द सरस्वती का स्थान अद्वितीय है। स्वामीजी के पवित्रतावादी विचार के कारण हिन्दी साहित्य शृंगार की एकांगी उपासना से बच गया। हिन्दी के शैशवकाल में लिखे गए उनके सत्यार्थप्रकाश ने दार्शनिक ग्रन्थों की शैली को जन्म दिया। सत्यार्थप्रकाश की शास्त्र-प्रामाण्यपरक शैली का हिन्दी साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। यह आधुनिक हिन्दी का सर्वाधिक लोकप्रिय ग्रन्थ है। इसने हिन्दी के अशक्त गद्य को समर्थ बनाने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इस ग्रन्थ की सरल, तत्समप्रधान शैली ने हिन्दी को स्थिरता प्रदान करने में प्रमुख हाथ बँटाया है। हिन्दी को नई चाल में ढालने में स्वामी दयानन्द सरस्वती का स्थान भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से कम नहीं है। स्वामीजी की आत्मकथा खड़ी बोली (हिन्दी) की प्रथम आत्मकथा है।" एक अन्य सुधी समीक्षक सद्गुरुशरण अवस्थी के शब्दों में, "स्वामीजी पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने हिन्दी के गद्यभाग को समुन्नत बनाया। सामाजिक, दार्शनिक तथा राजनैतिक विषयों पर सबसे पहले उन्हीं की लेखनी खुली। स्वामीजी सामाजिक जीवन के लिए भीषण वायुचक्र थे। इनके आन्दोलन ने हिन्दी को उठाया और उसमें विचारसाहित्य की सृष्टि हुई।"

तेईसवाँ अध्याय

ललित हिन्दी गद्य साहित्य पर आर्यसमाज का प्रभाव

(१) आर्यसमाज के उपन्यासकार

यद्यपि आर्यसमाज प्रधान रूप से एक धार्मिक एवं समाजसुधार-आन्दोलन है, फिर भी उसने हिन्दी साहित्य के कुछ सुप्रसिद्ध उपन्यासकारों, कथा-साहित्यकारों, गद्य-काव्य लेखकों तथा नाटककारों को उत्पन्न किया और उनकी कृतियों पर प्रभाव डाला। ये आर्यसमाज की विचारधारा में महत्त्वपूर्ण समझे जानेवाले धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय विचारों को कलात्मक ढंग से अपनी रचनाओं में प्रस्तुत करते हैं और साहित्य के माध्यम से इन विचारों का प्रचार और प्रसार करते हैं। इस अध्याय में इन्हीं पर प्रकाश डाला जायगा।

ललित गद्य साहित्य में उपन्यासकार का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। यह आधुनिक युग में मानव-जीवन की सभी समस्याओं को प्रतिपादित करने का सर्वोत्तम साधन माना जाता है। अन्य विधाओं की तुलना में इसकी लोकप्रियता अधिक है। उपन्यास जितनी अधिक संख्या में प्रकाशित होते हैं, उतनी संख्या में कविताओं, कहानियों तथा गद्य काव्यों के ग्रन्थ नहीं छपते।

हिन्दी में पहला उपन्यास लिखने का श्रेय कुछ वर्ष पहले तक एक सनातनधर्मी लेखक, जय जगदीश हरे की आरती के निर्माता श्रद्धाराम फिल्लौरी को दिया जाता था। किन्तु नई खोजों से यह भली-भाँति प्रमाणित हो गया है कि हिन्दी के पहले उपन्यास-लेखक स्वामी दयानन्द के परम भक्त मेरठ के पण्डित गौरीदत्त थे। हिन्दी में वर्तमान शताब्दी के पहले चरण में उपन्याससम्राट् की उपाधि से विभूषित किये जाने वाले श्री प्रेमचन्द पर न केवल आर्यसमाज का गहरा प्रभाव था, अपितु वे आर्यसमाज के साथ कुछ वैयक्तिक कारणों से घनिष्ठ संपर्क में आए थे। उनकी रचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि वे आर्यसमाज के साहित्यिक पुरोधा थे। यहाँ पहले इन दोनों की कृतियों का उल्लेख किया जाएगा।

हिन्दी के प्रथम उपन्यास-लेखक पण्डित गौरीदत्त (१८३६ से १९०६ तक)—आधुनिक हिन्दी गद्य में उपन्यास की नई परम्परा का श्रीगणेश करने वाले पण्डित गौरीदत्त का जन्म पंजाब के लुधियाना नगर में एक तांत्रिक सारस्वत परिवार में हुआ था। उनका आरम्भिक जीवन बड़ा घटनापूर्ण था। इनके पिता नाथू मिश्र प्रसिद्ध तांत्रिक थे। जब इनकी आयु पाँच वर्ष की थी, तभी एक संन्यासी के प्रभाव से इनके पिता परिव्राजक

बनकर घर से निकल गए और माता जी अपने बच्चों को लेकर मेरठ चली गयीं। घर छोड़कर गौरीदत्त ने रुड़की के थामसन इंजीनियरी कॉलेज में सर्वेक्षण, ड्राइंग, बीज एवं रेखागणित की शिक्षा प्राप्त की। वैद्यक और हिकमत का भी ज्ञान प्राप्त किया। तत्पश्चात् इन्होंने मेरठ के मिशन स्कूल में अध्यापक का कार्य करना शुरू कर दिया। स्वामी दयानन्द सरस्वती के मेरठ पधारने पर आपने उनके व्याख्यान सुने। इनमें स्वामीजी ने इस बात पर बड़ा बल दिया था कि यह बड़े दुःख की बात है कि देशवासी हिन्दी और देवनागरी को तिलांजलि देकर उर्दू, फारसी और अंग्रेजी के दास बनते चले जा रहे हैं। स्वामीजी के इन भाषणों का युवक गौरीदत्त के तरुण मानस पर प्रबल प्रभाव पड़ा। आपने उसी समय से देवनागरी के प्रचार और प्रसार में अपना सम्पूर्ण जीवन लगाने का संकल्प कर लिया। उन दिनों स्वामीजी अपने भाषणों में राष्ट्रीय विचारों का प्रचार भी करते थे। अतः सरकारी अधिकारी आर्यसमाज को राजद्रोही संस्था मानने लगे थे। मिशन स्कूल के अधिकारियों को जब यह पता चला कि पण्डित गौरीदत्त स्वामीजी के भाषणों को सुनने जाते हैं तो वे इनपर बहुत नाराज हुए। इससे पण्डित गौरीदत्त के स्वाभिमान को बड़ी ठेस पहुँची। उन्होंने तुरन्त मिशन स्कूल की सेवा से त्यागपत्र दे दिया और अगले ही दिन वैदवाड़ा मुहल्ले के चबूतरे पर देवनागरी पाठशाला की स्थापना की। इसी पाठशाला ने बाद में उन्नति करते हुए वर्तमान देवनागरी कॉलेज का रूप धारण कर लिया है।

पण्डित गौरीदत्त ने अपनी पाठशाला में बच्चों को नागरी लिपि सिखाने का कार्य आरम्भ कर दिया। इसके अतिरिक्त गली-गली में घूमकर आप देवनागरी का प्रचार करने लगे। आपने मेरठ में नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना की। १८९४ में इसकी ओर से सरकार को इस आशय का ज्ञापन दिया गया कि अदालतों में नागरी लिपि को स्थान मिलना चाहिए, क्योंकि "देवनागरी इतनी सरल और वैज्ञानिक लिपि है कि उसके नौ अक्षर और बारह मात्राएँ केवल तीन दिन में आसानी से सीखी जा सकती हैं और छह महीने में उसका पूरा अभ्यास किया जा सकता है। अन्य किसी भी लिपि में जैसा लिखा जाता है वैसा उच्चारण नहीं होता है, जबकि देवनागरी लिपि में जैसा लिखा जाता है वैसा ही पढ़ा जाता है...उर्दू और फारसी के शब्दों को यदि नागरी लिपि में लिखा जाना शुरू कर दिया जाय तो वे बहुत सरल हो जाएँगे।"

आपके अनवरत प्रयास के परिणामस्वरूप १८ अप्रैल १९०० ई० को तत्कालीन संयुक्त प्रान्त (उत्तर प्रदेश) के राज्यपाल सर मैकडानल ने एक अध्यादेश जारी करके प्रान्त के सभी स्कूलों और पाठशालाओं में हिन्दी के पठन-पाठन की स्वीकृति दी और इस प्रकार शिक्षा-संस्थाओं में हिन्दी के प्रवेश, प्रचार और प्रसार का मार्ग प्रशस्त किया।

पण्डित गौरीदत्त नागरी हिन्दी के इतने भक्त बन गये कि आपने अपने अंगरखे पर जय नागरी के शब्द अंकित कराये और पारस्परिक अभिवादन के समय 'जयरामजी' के स्थान पर 'जय नागरी' का अभिवादन करना शुरू किया। उनके मित्रों ने विनोद में उनका नाम 'देवनागरीप्रचारानन्द' रख दिया। उनकी समाधि पर भी उनका यही नाम अंकित है। अपनी मृत्यु से पहले आपने जून १९०३ को लिखे अपने वसीयतनामे में अपनी ३२ हजार रुपये की सम्पत्ति देवनागरी के प्रचार के लिए दान कर दी। आपकी

यह अभिलाषा थी कि इस निधि से स्थान-स्थान पर देवनागरी सिखलाने की पाठशालाएँ खोली जाएँ।

आप आजीवन गढ़मुक्तेश्वर आदि के धार्मिक मेलों में जाकर नाटकों के प्रदर्शन और भाषणों से जनता को देवनागरी के महत्त्व से अवगत कराया करते थे। आपने देव-नागरी के प्रचार के लिए अनेक पाठशालाएँ स्थापित कीं। 'देवनागरी की पुकार', 'अक्षर लिपि', 'लिपि बोधिनी', 'गौरी नागरी कोष' आदि पुस्तकें लिखीं। देवनागरी प्रचारक, देवनागरी गजट, देवनागर तथा नागरिक पत्रिका नामक पत्रों का संपादन और प्रकाशन किया। पण्डित गौरीदत्त के नागरी-प्रचार के कार्य का विशिष्ट महत्त्व इस दृष्टि से है कि उन्होंने १६ जुलाई १८६३ को काशी नागरी प्रचारिणी सभा की स्थापना से पहले ही अपना प्रचार पश्चिमी संयुक्त प्रान्त के जिलों में आरम्भ कर दिया था और उपर्युक्त सभा की स्थापना से एक वर्ष पहले देवनागरी प्रचारिणी पत्रिका का भी प्रकाशन किया था।

पण्डित गौरीदत्त को इस बात का विशेष गौरव प्राप्त है कि वे हिन्दी के प्रथम उपन्यासकार हैं। उन्होंने 'देवरानी-जेठानी की कहानी' नामक एक उपन्यास लिखा था। यह १८७० ई० में प्रकाशित हुआ था और इसके प्रकाशित होने पर संयुक्त प्रान्त के तत्कालीन गवर्नर महोदय ने सौ रुपये का पुरस्कार लेखक को प्रदान किया था। इस अवसर पर उन्होंने राज्यपाल को धन्यवाद देते हुए निम्नलिखित कविता की रचना की थी—

दया उनकी मुझ पर अधिक वित्त से,
जो मेरी कहानी पढ़े चित्त से।
रही भूल मुझसे जो इसमें कहीं
बना अपनी पुस्तक में लेवे वहीं
दया से कृपा से, क्षमा रीति से
छिपावें बुरों को भले प्रीति से।

हिन्दी साहित्य के सुप्रसिद्ध इतिहासकार आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपने इतिहास में पण्डित श्रद्धानन्द फिल्लौरी के उपन्यास भाग्यवती (प्रकाशन-वर्ष १८७७ ई०) तथा लाला श्रीनिवास दास के परीक्षा गुरु (प्रकाशन-वर्ष १८८२) को क्रमशः हिन्दी का पहला सामाजिक उपन्यास और अंग्रेजी ढंग का पहला हिन्दी उपन्यास माना है। किन्तु पण्डित गौरीदत्त का उपन्यास पण्डित श्रद्धाराम फिल्लौरी के उपन्यास से सात वर्ष पहले प्रकाशित हो चुका था, अतः फिल्लौरी के स्थान पर पण्डित गौरीदत्त को ही हिन्दी का प्रथम उपन्यास-लेखक माना जाना चाहिए। उनके उपन्यास का पुनर्मुद्रण पटना विश्व-विद्यालय के प्राध्यापक और 'समीक्षा' नामक शोध पत्रिका के संपादक डॉक्टर गोपाल-राय ने किया है।

उपन्याससम्राट् मुंशी प्रेमचन्द (१८८०–१९३६)—हिन्दी के उपन्याससाहित्य में शीर्ष स्थान रखने वाले मुन्शी प्रेमचन्द (वास्तविक नाम धनपत राय) पर आर्यसमाज के प्रभाव के बारे में पर्याप्त मतभेद है। डॉ० लक्ष्मीनारायण गुप्त के अनुसार कुछ विद्वानों का मत है कि प्रेमचन्द आर्यसमाज से किंचिन्मात्र भी प्रभावित न थे, उन्होंने जो कुछ भी लिखा स्वयमेव लिखा। अतः उनके उपन्यासों में व्यक्त विचारों का आर्यसमाज के सुधार-आन्दोलन से कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु यह मत प्रेमचन्द जी के

जीवन के विस्तृत और गम्भीर अध्ययन से पुष्ट नहीं होता है। वस्तुतः प्रेमचन्द जी के व्यक्तिगत जीवन में कुछ ऐसी समस्याएँ आईं जिनका समाधान उन्हें आर्यसमाज के विचारों और सिद्धान्तों में दिखाई दिया। प्रेमचन्द जी को पारिवारिक और दाम्पत्य जीवन में कुछ ऐसे कटु अनुभव हुए जिनके विरुद्ध आर्यसमाज पहले से ही संघर्ष कर रहा था। प्रेमचन्द जी ने वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में जब यौवन में पदार्पण किया, उस समय आर्यसमाज का प्रचार-कार्य अपने पूरे जोर पर था और इसका उनके जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा।

आर्यसमाज समाज में प्रचलित अन्धविश्वासों के उन्मूलन में लगा हुआ था। प्रेमचन्द जी बचपन से ही एक अंधविश्वास से व्यथित थे। वे जन्म से तेंतर थे। इसका अभिप्राय ऐसी सन्तान से होता है जो माता के गर्भ से पहले पैर निकालकर इस संसार में प्रवेश करती है। ऐसे बालक के सम्बन्ध में यह अंधविश्वास प्रचलित है कि वह माता-पिता में से किसी एक की अकाल मृत्यु का कारण बनता है। संयोगवश प्रेमचन्द जी की माँ का उनके आठवें वर्ष में और दादी का बारहवें वर्ष में स्वर्गवास हो गया। उनके परिवार में इसकी बड़ी चर्चा रहती थी। उन्होंने अपनी तेंतर नामक कहानी में इस अंधविश्वास को भ्रांतिपूर्ण सिद्ध किया है। दूसरी घटना उनके पिता द्वारा बड़ी आयु में पुनर्विवाह की थी। इस अनमेल विवाह और विमाता के दुर्व्यवहार ने प्रेमचन्द जी के जीवन को बड़ा दुःखपूर्ण बनाया, उन्हें व्यक्तिगत रूप में अनमेल विवाह के दुष्परिणामों को भोगना पड़ा। इस समस्या का विशद चित्रण उन्होंने अपने 'निर्मला' उपन्यास में किया है और कर्मभूमि उपन्यास के अमरकान्त द्वारा विमाता द्वारा पाले जाने वाले बच्चे की मनोव्यथा का मार्मिक चित्रण किया है। आर्यसमाज उन दिनों ऐसे अनमेल विवाहों का प्रबल विरोध कर रहा था और प्रेमचन्द जी पर उसका प्रभाव पड़ा। इसी बीच में पिता द्वारा छोटी आयु में प्रेमचन्द जी का विवाह ऐसी बालिका से कर दिया गया "जो उनके साथ शिक्षा और गुणों की दृष्टि से कोई मेल नहीं रखती थी।" विमाता के दुर्व्यवहार और पत्नी के फूहड़पन के कारण परिवार कलह का अखाड़ा बन गया। वृद्ध विवाह, बाल विवाह और संस्कारहीन पत्नी दाम्पत्य जीवन में कितना विष घोल देती है, इसके कटु अनुभव ने प्रेमचन्द जी को सामाजिक कुरीतियों का कट्टर विद्रोही बना दिया था और इनका विरोध करने वाले आर्यसमाज के प्रति वे स्वाभाविक रूप से आकर्षित होने लगे।

आर्यसमाज से सम्बन्ध—१९०२-१९०४ में जब प्रेमचन्द जी गवर्नमेंट सेंट्रल ट्रेनिंग कालेज इलाहाबाद में अध्यापकी का प्रशिक्षण प्राप्त करने गए तो अपने एक आर्यसमाजी सहपाठी और बाद में आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता गंगाप्रसाद उपाध्याय से उनकी घनिष्ठ मैत्री हुई। इनके माध्यम से प्रेमचन्द जी आर्यसमाज के सीधे संपर्क में आए। उनके साथ आर्यसमाज मन्दिर में जाने लगे और आर्यसमाज के सिद्धान्तों से परिचित हुए।

इन्हीं दिनों उनकी पहली पत्नी गृहक्लेश के कारण अपने पीहर चली गयी और फिर कभी नहीं लौटी। इसी समय संयोगवश उनकी दृष्टि बरेली के आर्यसमाजी शंकरलाल श्रोत्रिय के पत्र में प्रकाशित एक विज्ञापन पर पड़ी, जिसमें मुंशी देवीप्रसाद की कन्या तथा एक बाल विधवा के पुनर्विवाह का समाचार था। इसे पढ़कर प्रेमचन्द जी

के मन में बाल विधवा से विवाह करने की इच्छा उत्पन्न हुई। उन्होंने इस आशय का एक पत्र मुन्शी देवीप्रसाद को लिख दिया। इसके उत्तर में मुन्शी जी ने प्रेमचन्द जी को विधवा विवाह को आर्यसमाजी ढंग से अकाट्य तर्कों से युक्ति-युक्त सिद्ध करने वाली एक पुस्तिका भेजी। इसे पढ़कर प्रेमचन्द इतने अधिक प्रभावित हुए कि उन्होंने आर्यसमाजी परिवार की एक बाल विधवा शिवरानी देवी से विवाह कर लिया (१९०६)। यह उन दिनों बड़े साहस का कार्य था। उन्होंने ऐसा क्रान्तिकारी कदम आर्यसमाज की उपर्युक्त पुस्तिका के अध्ययन के बाद ही उठाया। इसके बाद आर्यसमाज में उनकी अभिरुचि निरन्तर बढ़ती गयी। उनके पुत्र अमृतराय के शब्दों में—"आर्यसमाज में उनकी दिलचस्पी पूरी थी। जलसों में तो जाते ही रहते थे, शायद वह आर्यसमाज के बाजाब्ता सदस्य भी थे।" उनके आर्यसमाज हमीरपुर के नियमित सदस्य होने की पुष्टि 'जमाना' के सम्पादक दयानारायण निगम को लिखे ६ फरवरी और ६ मार्च, १९१३ के उन पत्रों से होती है जिनमें उन्होंने हमीरपुर में होने वाले आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव के लिए वहाँ की आर्यसमाज के सेक्रेटरी के नाम १० रुपये का मनीआर्डर भेजने के लिए लिखा था। इसी समय आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् मौलवी महेशप्रसाद से भी इनका संपर्क हुआ। महोबा में १९१२ ई० में प्रेमचन्द जी ने सात-आठ दिन उनका आतिथ्य किया और उनसे आर्यसमाज के विषयों पर विस्तृत विचार-विमर्श करते रहे। उनके ६ नवम्बर १९१९ के पत्र से यह ज्ञात होता है कि वे डी० ए० वी० स्कूल कानपुर के मुख्याध्यापक-पद को प्राप्त करने के इच्छुक थे। उन्होंने १८९९ में मिशन स्कूल की नौकरी इस कारण छोड़ी थी कि आर्यसमाज का अनुयायी होने के कारण इस स्कूल में ईसाई धर्म के प्रचार-सम्बन्धी कार्यक्रम उन्हें बड़े अरुचिकर प्रतीत होते थे।

विभिन्न आर्य पत्र-पत्रिकाओं से उनका पर्याप्त सम्बन्ध था। उनकी पुस्तकों के विज्ञापन इनमें निकला करते थे और आर्यसमाजी पत्र उनकी पुस्तकों की समीक्षाएँ और लेख छापते रहते थे। ऐसे पत्रों में गुरुकुल काँगड़ी का अलंकार, अर्जुन, कन्यागुरुकुल देहरादून से छपने वाली 'ज्योति', युगान्तर, आदि पत्र-पत्रिकाएँ थीं। उन्हें गुरुकुल काँगड़ी के १९२७ के वार्षिकोत्सव में आमन्त्रित किया गया था। १९३६ में आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की अर्द्धशताब्दी के अवसर पर लाहौर समाज के वार्षिकोत्सव में आयोजित आर्य भाषा सम्मेलन के वे सभापति बनाये गए थे। अध्यक्ष-पद से दिया गया उनका भाषण आर्यसमाज के साथ उनके सम्बन्ध को सुदृढ़ रूप से पुष्ट करता है। इस भाषण में प्रेमचन्द जी ने शिक्षाजगत् में आर्यसमाज की चार महान् क्रान्तियों—गुरुकुल शिक्षा पद्धति, नारी शिक्षा, सर्वांगपूर्ण शिक्षा तथा शिक्षा के हिन्दी माध्यम की विस्तृत चर्चा की तथा सामाजिक एवं आर्थिक क्षेत्र में समाज द्वारा किये गये वेदप्रचार, अछूतोद्धार, कर्ममूलक वर्णव्यवस्था, जातपातनिषेध के सुधारों का विशद वर्णन किया। समाज के कार्यों की सराहना करते हुए उन्होंने कहा कि वेद-वेदांगों की कुंजी (हिन्दी अनुवाद द्वारा) सर्वसाधारण के हाथों में देने का श्रेय आर्यसमाज को है। यह भाषण उनके जीवन के अन्तिम समय तक उन पर समाज के प्रबल प्रभाव का पुष्ट प्रमाण है। इस घनिष्ठ संपर्क के कारण उनकी रचनाओं पर आर्यसमाज का स्पष्ट प्रभाव है। इनमें वे आर्यसमाज के लगभग सभी धार्मिक और सामाजिक सुधारों का अपनी विशिष्ट शैली में साहित्यिक ढंग से प्रबल समर्थन करते हैं। यहाँ उनके उपन्यासों के कुछ उदाहरणों से इस बात को स्पष्ट किया जाएगा।

उपन्यासों में समाजसुधार की भावना--प्रेमचन्द ने वर्तमान शताब्दी के पहले दशक से उर्दू में तथा बाद में महावीरप्रसाद पोद्दार की प्रेरणा से हिन्दी में उपन्यास लिखना शुरू किया। उनके प्रारम्भिक उपन्यासों का प्रधान तत्त्व तथा प्रमुख स्वर धर्म-सुधार, समाजसुधार और स्वदेश-गौरव हैं। उनका पहला उपन्यास १९०५ में लिखा गया था। इसका नाम 'असरारे मुआविद' (देव स्थान रहस्य) था। श्री अमृतराय ने इसे मंगलाचरण के नाम से हिन्दी में सम्पादित किया है। इसमें महन्त त्रिलोकीनाथ की मन्दिर में की जानेवाली प्रणय-लीलाओं का भण्डाफोड़ किया गया है। इसी वर्ष (१९०५) उन्होंने बाल विधवा श्रीमती शिवरानी देवी से विवाह का बड़ा क्रान्तिकारी और साहसपूर्ण पग आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित होकर उठाया। इस समय का उनका मानसिक चिन्तन हम 'खुर्मा-ओ-हम-सवाब' उपन्यास में अभिव्यक्त हुआ है। इसका हिन्दी अनुवाद १९०७ में 'प्रेमा' के नाम से निकला था। इस उपन्यास के प्रथम दृश्य में एक आर्यसमाजी प्रचारक विधवा-विवाह के पक्ष में प्रबल भाषण देता है। इससे प्रेरित और प्रोत्साहित होकर उपन्यास का नायक विधवा से विवाह करने का दृढ़ संकल्प करता है और शीघ्र ही तदनुसार आचरण करता है। यह नायक स्वयं लेखक ही प्रतीत होता है और उसने अपने मानसिक द्वन्द्व और संघर्ष का ही इसमें चित्रण किया है।

वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में न केवल विधवा-विवाह करना अपितु अपने उपन्यास में इसका प्रतिपादन करना कितना जघन्य और निषिद्ध कार्य समझा जाता था, यह इस बात से स्पष्ट है कि हिन्दी के तथाकथित प्रथम उपन्यास 'भाग्यवती' (१८७७) में जब पण्डित श्रद्धानन्द फिल्लौरी ने विधवा-विवाह का प्रसंग अपने उपन्यास में रखा था तो ब्रिटिश सरकार को यह आशंका थी कि इससे कट्टर पौराणिक हिन्दुओं की चिरपोषित भावनाओं को ठेस पहुँचेगी, इसके परिणामस्वरूप कोई उपद्रव भी हो सकता है। अतः इस अंश को सरकार के आदेशानुसार छपने से पूर्व ही उपन्यास से निकाल दिया गया था। फिर भी उसके बाद दो दशकों में आर्यसमाज के प्रभाव से विधवा-विवाह के विरुद्ध हिन्दू समाज में इसका विरोध कुछ कम हो गया था। प्रेमचन्द जैसे उग्र सुधारक इसे व्यावहारिक रूप दे रहे थे। उन्होंने अब अपने उपन्यास का प्रधान विषय विधवा-विवाह को बनाया था। सुप्रसिद्ध हिन्दी साहित्यकार पण्डित बालकृष्ण भट्ट कट्टर पौराणिक थे। उन्होंने अपने पत्र 'हिन्दी प्रदीप' (७ जुलाई १९०७) में इस उपन्यास की आलोचना करते हुए लिखा था, "इण्डिया प्रेस के मालिक को चाहिए कि वे ऐसी पुस्तक न छापा करें।"

आर्यसमाज तथा स्वामी दयानन्द द्वारा की गई मन्दिरों की आलोचना से प्रभावित होकर प्रेमचन्द इन्हें अनाचार का गढ़ मानते थे। उन्होंने अपने एक लेख में लिखा था, "हिन्दू समाज के परम पवित्र तथा माननीय मन्दिरों की ओर दृष्टिपात करने से हृदय काँप उठता है। वहाँ की दशा दयनीय ही नहीं, चिन्ताजनक भी है। जहाँ भक्ति की, ज्ञान की और आत्मसाधना की तथा तपस्या की निर्मल धारा बहाकर लोगों के जीवन को सुन्दर और सुखकर बनाना चाहिए, वहाँ दुराचार, पापाचार, भ्रष्टता तथा दुष्कृत्यों का केन्द्र देखकर आत्मा रो उठती है। (जागरण, २६ मार्च, १९३४ में 'हिन्दू समाज के वीभत्स रूप' नामक लेख)।

अपने पहले उपन्यास 'मंगलाचरण' में ही प्रेमचन्द ने मन्दिरों के इस वीभत्स रूप का बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। इसका प्रारम्भ महादेव लिंगेश्वरनाथ के एक ऐसे

मन्दिर से किया गया है जिससे भजन-आरती की नहीं, अपितु 'रंगीले बलम काहि करो चतुराई' के गीत की ध्वनि उठती है। इसके बाद साजिन्दों को भगाकर महन्त त्रिलोकीनाथ का कमसिन नर्तकी से अश्लील बातें, भद्दे मजाक, आलिंगन, चुम्बन का दौर चलता है। इसी प्रयास में उसकी मार-पिटाई तक हो जाती है। इसके बाद शिवजी की आरती का समय हो जाता है। शिवरात्रि के दिन जब महन्त से फँसी एक विवाहित युवती रामकली वासनापूर्ति के पश्चात् उसे परामर्श देती है कि बाबा का वेश उतारकर, कहीं और जाकर दोनों जीवन का आनन्द लूटें तो महन्त त्रिलोकीनाथ उत्तर देता है कि "यहाँ दिनभर एक-से-एक सजीली औरतें घूरने में आती हैं। रात भर नाच-रंग की महफ़िल सजी रहती है। कभी-कभी तुम भी आकर कृतार्थ कर देती हो। हर वक्त शराव-कवाव का दौर चला करता है, यार-दोस्तों का जमघट रहा करता है, इतने आराम के होते हुए मुझे क्या भैंस ने मारा है या कुत्ते ने काटा है कि इधर-उधर मारा-मारा फिरूँ?"

प्रेमचन्द द्वारा मन्दिरों के महन्तों की यह आलोचना स्वामी दयानन्द द्वारा एकादश समुल्लास में की गई आलोचना जैसी चुटीली और व्यंग्यपूर्ण है।

आर्यसमाज की भाँति प्रेमचन्द ने निराकार ईश्वर की पूजा का प्रवल समर्थन करते हुए मूर्तिपूजा का बड़ा उग्र विरोध किया है। मूर्ति-पूजा को मन्दिरों की वर्तमान बुराइयों का कारण माना गया है। 'हंस' (मार्च १९३४) में प्रेमचन्द ने मूर्ति-पूजा पर प्रवल कटाक्ष करते हुए लिखा था कि "ईश्वर मन की एक भावना है, इसके लिए मन्दिरों या गिरजाघरों में जाने की जरूरत नहीं है। वह घर-घर-व्यापी है। एक-एक अणु में उसकी ज्योति है। वह प्रजा की कमाई पर चैन करनेवाला ऐसा राजा नहीं, जिसे इसकी चिन्ता है कि लोग उससे विमुख न हो जायँ। जो लोग ईश्वरभक्ति की धुन में बड़े-बड़े महल वनवाते हैं कि ईश्वर इसमें रहेगा, वे असीम को चारदीवारी में वन्द करके व्यापक ईश्वर का अपमान करते हैं और जो लोग उसकी प्रतिमा बनाकर उसका शृंगार करते हैं, भोग लगाते हैं, उसका विवाह करते हैं और उसके नाम की माला जपते हैं, वे तो ईश्वर को खिलौना वनाकर ऐसा पाप करते हैं जिसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। ईश्वर की उपासना का केवल एक मार्ग है और वह है मन, वचन और कर्म की शुद्धता। अगर ईश्वर इस शुद्धता की प्राप्ति में सहायक है तो शौक से उसका ध्यान कीजिए। लेकिन उसके नाम पर हरेक धर्म में जो स्वांग हो रहा है, उसकी जड़ खोदना ईश्वर की सबसे बड़ी सेवा है।"

'प्रेमाश्रम' में दुखहरन भगत के प्रकरण से प्रेमचन्द जी ने मूर्तिपूजा की निरर्थकता को प्रकट किया है। शालिग्राम में आस्था रखनेवाला निश्छलहृदय दुखहरन उसे पत्थर का टुकड़ा समझकर घूरे पर फेंकने को उद्यत हो जाता है। इस विषय में एक आलोचक डॉक्टर सरोज ने यह टिप्पणी की है, "क्या इससे हम यह सोचें कि प्रेमचन्द का आर्यसमाजी संस्कार इस वृत्तान्त के माध्यम से मूर्तिपूजा की व्यर्थता का प्रतिपादन कर रहा है?"

प्रेमचन्द जी ने हिन्दी में पहला उपन्यास 'सेवासदन' लिखा था। इसमें योग के नाम पर भोग करने वाले ढोंगी साधुओं के भ्रष्ट चरित्र पर कटाक्ष करते हुए 'सेवासदन' का गजाधर कहता है, "आजकल धर्म तो धूर्तों का अड्डा वना हुआ है। इस निर्मल सागर में एक-से-एक मगरमच्छ पड़े हुए हैं। भोलेभाले भक्तों को निगल जाना उनका

काम है। लम्बी-लम्बी जटाएँ, लम्बे-लम्बे तिलक-छापे और लम्बी-लम्बी दाढ़ियाँ देखकर लोग धोखे में आ जाते हैं। पर वे सब-के-सब महापाखण्डी, धर्म के नाम को कलंकित करने वाले, धर्म के नाम पर टका कमानेवाले, भोग-विलास करनेवाले पापी हैं।" (परिच्छेद ८, पृष्ठ २५)

प्रेमचन्द जी ने अपने उपन्यासों में ब्राह्मणवर्ग की मिथ्या धर्मनिष्ठा, अभिमान, रूढ़िवादिता, अकर्मण्यता, भोजनभट्टता और खुली लूट का यथार्थ चित्रण करते हुए अपना गहरा आक्रोश प्रकट किया है। इसी कारण उन पर श्रीनाथ सिंह तथा पण्डित ज्योतिप्रसाद निर्मल ने ब्राह्मणद्वेषी होने का आरोप लगाया था। किन्तु प्रेमचन्द ने इसका उत्तर देते हुए केवल यही कहा है कि ब्राह्मण कोई समुदाय नहीं, एक महान् पद है। इस पर आदमी बहुत त्याग, सेवा और सदाचरण से पहुँचता है। किन्तु उनका यह दृढ़ विश्वास था कि हिन्दू जाति को पुरोहित, पुजारी और धर्मोपजीवी कीटाणु नष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं। "हिन्दू जाति का सबसे घृणित कोढ़, सबसे लज्जाजनक कलंक यही टकेपंथी दल है जो एक विशाल जोंक की भाँति उसका खून चूस रहा है।"

(पृष्ठ १६४)

'कर्मभूमि' में प्रेमचन्द ने दलितोद्धार की समस्या उठाई है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि जिस समय यह उपन्यास लिखा गया था, उस समय महात्मा गांधी द्वारा देश में हरिजन आन्दोलन चलाया जा रहा था। हरिजनों को मन्दिर में प्रवेश दिलाने के लिए अनेक स्थानों पर सत्याग्रह हो रहे थे। सवर्ण हिन्दू मन्दिरों में देवदर्शन के अधिकार के लिए संघर्ष करनेवाले हरिजनों का विरोध करते थे, उन्हें बुरी तरह धमकाते और मारते-पीटते भी थे।

'कर्मभूमि' में उन्होंने यह समस्या बड़े ज्वलन्त रूप में प्रस्तुत की है। इसमें जब मन्दिर-प्रवेश के अपराध में अछूतों को जूते मारे जाते हैं तो डॉक्टर शान्तिकुमार दलितों के प्रसुक्त अहं को व्यंग्यपूर्ण शब्दों में झकझोरते हुए कहते हैं, "तुम धर्मद्रोही हो, तुम सब-के-सब बैठ जाओ और जितने जूते खा सको, खाओ! तुम्हें इतनी खबर नहीं कि यहाँ सेठ के महाजनों के भगवान् रहते हैं? तुम्हारी इतनी मजाल कि इस भगवान् के मन्दिर में कदम रखा? तुम्हारा भगवान् किसी झोंपड़े या पेड़ तले होगा। यह भगवान् रत्नों के आभूषण पहनते हैं, मोहनभोग मलाई खाते हैं। चीथड़े पहननेवालों और चने-चबेना खानेवालों की सूरत वह नहीं देखना चाहते।" डॉक्टर शान्तिकुमार और सुखदा की प्रेरणा से हरिजन सत्याग्रह का मार्ग पकड़ते हैं और उन्हें अन्त में इसमें सफलता मिलती है। 'कर्मभूमि' का अमरकान्त अस्पृश्योद्धार के लिए रचनात्मक कार्य करता है। चमारों की एक बस्ती में जाकर पाठशाला खोलता है जिसमें बालक और प्रौढ़ पढ़ने आते हैं। शिक्षाप्राप्ति से अछूतों के संस्कार बदलने लगते हैं। अमरकान्त अछूतों में प्रचार करके उनसे मद्यपान और मुरदार, मुरदा मांस खाने की उनकी बुरी आदतें दूर करने में सफल होता है।

प्रेमचन्द ने न केवल 'कर्मभूमि' में, अपितु अपने बिल्कुल आरम्भ के उपन्यासों में भी अस्पृश्यता की समस्या का विवेचन किया है। इस शताब्दी के पहले दशक में जब आर्यसमाज स्यालकोट अस्पृश्य समझी जानेवाली मेघ जाति के उद्धार का प्रयास कर रहा था और 'आर्य मेघोद्धार सभा' की स्थापना (१९१२) हो रही थी, उसी समय

प्रेमचन्द जी ने अपने उर्दू उपन्यास 'जलवा-ए-ईसार' (वरदान) में इस समस्या को उठाया था। अतः यह स्पष्ट है कि प्रेमचन्द जी इस समस्या के विवेचन में भारतीय राजनीति में गांधी जी के आगमन से पहले ही लगे हुए थे। इस विषय में उन पर प्रथम और प्रबल प्रभाव आर्यसमाज का ही था।

चतुरसेन शास्त्री (१८९१–१९६०)—आपका जन्म बुलन्दशहर जिले की अनूप-शहर तहसील के निकट चान्दोख नामक ग्राम में हुआ, किन्तु कुछ समय बाद आपके पिता जी सिकन्दराबाद में आकर बस गए। यहाँ वे प्रसिद्ध आर्यसमाजी प्रचारक पण्डित मुरारीलाल शर्मा के सम्पर्क में आए। यहीं पर स्वामी दर्शनानन्द ने उनके तथा पण्डित मुरारीलाल शर्मा के सहयोग से सन् १८९८ में न केवल उत्तर प्रदेश में, अपितु समूचे उत्तर भारत में सिकन्दराबाद के पहले गुरुकुल की स्थापना की। इस गुरुकुल के प्रथम उत्सव में तीन विद्यार्थी शिक्षा के लिए प्रविष्ट हुए, जिनमें एक चतुरसेन, दूसरे देवेन्द्र शर्मा (पण्डित मुरारीलाल शर्मा के सुपुत्र) और तीसरे एक अन्य सज्जन थे। गुरुकुल में रहकर श्री चतुरसेन ने संस्कृत का अच्छा अध्ययन किया। गुरुकुल के उत्सवों पर समाज के प्रसिद्ध भजनीक और उपदेशक आया करते थे। इनके भजनों-व्याख्यानों से चतुरसेन के बालमानस पर आर्यसमाज के विचारों का गहरा प्रभाव पड़ा। किन्तु एक बार गुरुकुल की भूगोल और सत्यार्थप्रकाश की पढ़ाई से ऊबकर चतुरसेन गुरुकुल से भागकर बनारस पहुँचे और वहाँ संस्कृत का उच्च अध्ययन करने के बाद १९१० में जयपुर में आयुर्वेद का अध्ययन पूर्ण करने पहुँचे। इसके बाद उन्होंने मातृभूमि सिकन्दराबाद में आकर आयुर्वेद की प्रैक्टिस शुरू कर दी; कुछ समय में ही वे एक प्रसिद्ध वैद्य के रूप में विख्यात हो गए।

श्री चतुरसेन के साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ १९०७ में लाला लाजपतराय के देश-निर्वासन के समय में हुआ। इस घटना ने आपके मन पर इतना प्रभाव डाला कि आपने इस विषय में एक रचना बम्बई के वेंकटेश्वर समाचार में प्रकाशित की। आपकी पहली पुस्तक बाल-विवाह के विरुद्ध लिखा एक ट्रैक्ट था। इसके बाद आपने अपनी लेखनी से रचनाओं का जो अजस्र प्रवाह शुरू किया, वह मृत्युपर्यन्त निरन्तर चलता रहा। विशुद्ध साहित्य के क्षेत्र में आपने १९१४ तक अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था। उस समय तक आप कहानी-लेखक के रूप में प्रतिष्ठित हो गए थे। कहानी, उपन्यास, गद्यकाव्य, नाटक, इतिहास, धर्म, राजनीति, चिकित्सा, कामशास्त्र, पाकशास्त्र आदि विभिन्न प्रकार के विषयों पर आपने बड़े महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। आपकी कृतियों की १८६ संख्या बताई जाती है और २२ कृतियाँ अब भी अप्रकाशित हैं।

आपके उपन्यासों की संख्या ३२ कही जाती है। आपके उपन्यास सांस्कृतिक, ऐतिहासिक अथवा सामाजिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। 'वैशाली की नगरवधू' में बौद्धकालीन समाज का सरस ऐतिहासिक चित्रण है। इस उपन्यास में नायिका सुप्रसिद्ध गणराज्य लिच्छवी संघ की राजधानी वैशाली की नगरवधू अम्बपाली है। उपन्यास को ऐतिहासिक वातावरण प्रदान करने के लिए लेखक ने उस समय के प्रचलित शब्दों—संथागार (संसद् भवन), गणसंन्निपात (संसद् का अधिवेशन), छन्द ग्रहण (वोट या मत-दान-पद्धति) का प्रयोग किया है। लेखक की यह मान्यता है कि अन्य रसों की भाँति इतिहास भी एक रस है। उनके मतानुसार, "इसमें इतिहास का केवल रस ही रस है, शेष तो सब-कुछ कल्पना है।" इस उपन्यास की रोचकता असंदिग्ध है। इसमें उस युग

का बड़ा विशद चित्र प्रस्तुत किया गया है, किन्तु इसमें अनेक अनैतिहासिक बातों का भी समावेश है। इसमें सद्योस्नात, अभि:प्राय, निष्क्रय जैसे संस्कृत शब्दों के अशुद्ध रूपों का प्रयोग बहुत खटकता है।

राम और रामायण की सुप्रसिद्ध कथा को आधार बनाकर लिखा गया 'वयं रक्षाम:' नामक उनका दूसरा प्रसिद्ध उपन्यास है। इसमें लेखक के शब्दों में, 'अतीत रस है'। प्रागैतिहासिक युग का विवरण होने से इसमें यौन विषयों का उन्मुक्त वर्णन है। इनमें कृत्या का विवसनचक्र और शिश्नदेव का अभिषेक भी है तथा अनेक असम्भव घटनाओं की कल्पना की गई है। सोमनाथ नामक ऐतिहासिक उपन्यास में इस सुप्रसिद्ध मन्दिर पर मुस्लिम आक्रमण की कथा रोचक ढंग से कही गई है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पहले राजस्थान के रजवाड़ों की और विशेषकर उनके अन्त:पुर की दासियों का चरित्र-चित्रण 'गोली' में मिलता है। 'अमर अभिलाषा' में उन्होंने विधवा स्त्रियों की समस्या को लिया है और विधवा जीवन की करुण कथा का मार्मिक चित्रण किया है। सामाजिक उपन्यासों की तुलना में चतुरसेन ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक उपन्यासों की रचना में अधिक सफल हुए हैं। इनमें तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक तथा धार्मिक क्रिया-कलापों का बड़ा कलात्मक अंकन प्रस्तुत किया गया है।

सुदर्शन (१८९६–१९६७)—हिन्दी साहित्य में मुंशी प्रेमचन्द की परम्परा को साहित्यिक क्षेत्र में बढ़ानेवाले श्री सुदर्शन का जन्म वर्तमान पाकिस्तान के नगर स्यालकोट में हुआ। उनकी प्रारम्भिक शिक्षा भी यहाँ के मिशन स्कूल में हुई। उन दिनों पंजाब में आर्यसमाज का आन्दोलन अपने चरम उत्कर्ष पर था, अत: शिक्षा-समाप्ति के बाद १९१३ में वे जालंधर के प्रसिद्ध कन्या महाविद्यालय के संचालक लाला देवराज जी के साथ काम करने लगे। १८ वर्ष की आयु में वे उनके 'भारत' नामक पत्र के सम्पादक बने। आर्यसमाज के प्रचार-कार्य के लिए विभिन्न विद्यालयों और सभाओं में जाकर उपदेश देने लगे। कुछ समय बाद वे जालन्धर से काम छोड़कर लाहौर चले गए और वहाँ से 'चन्द्र' नामक निजी पत्र निकालते रहे। १९३२ में वे कहानी-लेखक के रूप में चित्रपट-क्षेत्र में चले गए। पहले कलकत्ता में और बाद में बम्बई में रहकर उन्होंने २८ फिल्मों की कहानियाँ लिखीं। इनमें उन्हें बड़ी सफलता मिली। इनमें कुछ प्रमुख फिल्में हैं--सिकन्दर, पृथ्वीवल्लभ, उमर खैयाम। वे मिनर्वा मूवीटोन के सोहराब मोदी के साथ काफी समय तक सम्बद्ध रहे और इस कम्पनी द्वारा उनके नाटक पर बनाई गई सिकन्दर फिल्म को अभूतपूर्व सफलता प्राप्त हुई।

सुदर्शन का साहित्यिक जीवन छात्रावस्था से ही आरम्भ हुआ। सातवीं कक्षा से उन्होंने लेखन-कार्य शुरू किया। आरम्भ में वे उर्दू में लिखा करते थे। आपका पारिवारिक वातावरण यद्यपि परम्परावादी और पौराणिक था, किन्तु पण्डित सुदर्शन स्वयं आर्यसमाज द्वारा चलाए आन्दोलन से बड़े प्रभावित थे और समाज की शिक्षाओं में विश्वास रखते थे। अत: १९१५ में जब आपका विवाह हुआ तो आपके परिवार में पर्दे के प्रश्न को लेकर उग्र विवाद उत्पन्न हुआ। आर्यसमाजी होने के कारण आप पर्दा-प्रथा के कट्टर विरोधी थे, जबकि रूढ़िवादी परिवार इसका पालन करने के लिए कटिबद्ध था। इस प्रश्न पर परिवार से मतभेद के कारण आपको स्यालकोट और अपना पैतृक परिवार भी छोड़ना पड़ा।

पण्डित सुदर्शन प्रेमचन्द की भाँति आरम्भ में उर्दू में लिखा करते थे। हिन्दी में कहानी लिखने की प्रेरणा उन्हें अपनी पत्नी श्रीमती लीलावती से मिली। प्रेमचन्दजी ने भी उन्हें हिन्दी में लिखने के लिए प्रेरित किया। हिन्दी में इनकी पहली कहानी 'कमल की बेटी' 'सरस्वती' पत्रिका में १९१९ ई० में प्रकाशित हुई। इसके बाद उस समय की हिन्दी की प्रमुख पत्रिकाओं—सरस्वती, माधुरी, सुधा, चाँद आदि में उनकी रचनाएँ नियमित रूप से प्रकाशित होने लगीं।

पण्डित सुदर्शन ने तीन उपन्यासों की रचना की है—परिवर्तन, प्रेमपुजारी अथवा भागवन्ती, मीठा पेड़—कड़वा फल। इनमें प्रेमपुजारी एक समस्याप्रधान सामाजिक उपन्यास है। इसमें प्रेमविवाह में जाति-पाँति के बन्धन और अनमेल विवाह की समस्याओं का विवेचन किया गया है। उन दिनों आर्यसमाज पाश्चात्य सभ्यता के अंधानुकरण का उग्र विरोध कर रहा था। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में ब्रह्मसमाजियों की इसी आधार पर कड़ी आलोचना की थी। पाश्चात्य प्रभाव से भारतीयों में जो मानसिक दासता उस समय उत्पन्न हो रही थी, प्रेमपुजारी में इसका चित्रण करते हुए लेखक ने लिखा था—

"भारतीय लोग सितार से हारमोनियम को अच्छा समझते हैं। निःसन्देह यह हमारे देश और जाति का दुर्भाग्य है। परन्तु अकेले हारमोनियम का क्या शौक है? विलायत की प्रत्येक वस्तु पर भारतीय मुग्ध हो जाते हैं। चाँदी के बहुमूल्य और पक्के गिलास छोड़कर काँच के कच्चे और भद्दे गिलास खरीदते हैं। सरसों के तेल का ठण्डा और लाभदायक दीपक छोड़ते हैं और दुर्गन्धित तेल का अधिक मूल्य वाला गर्म और हानिकारक लैंप खरीदते हैं। धोती उतारते हैं और टोप पहनते हैं। संस्कृत भूलते हैं और अंग्रेजी सीखते हैं। हितोपदेश से घृणा करते हैं, फेयरी टेल्स शौक से मँगवाते हैं। कालिदास को समझ नहीं सकते, शेक्सपियर की शतमुख से कीर्ति गाते हैं।" (पृष्ठ ४७)

इस उपन्यास में पाश्चात्य सभ्यता को जोंक की उपमा दी गयी है जो भारतीय जीवन का सारा रस चूस रही है। भारतीयों में प्राचीन सभ्यता के प्रति भक्ति और राष्ट्रीय गौरव की भावना उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है।

इस उपन्यास में ठग और ढोंगी साधुओं की भी पोल खोली गई है। इसमें रामदास धूर्त और ठग है। वह साधु बनकर जादू-टोने में विश्वास करने वाली महिलाओं को सन्तानप्राप्ति का विश्वास दिलाकर ठगता है और उनसे पैसा कमाता है। नदी-तट पर श्मशान में एक महिला के सम्मान की रक्षा जब उस धूर्त से की जाती है तो वह महिला स्वयं ढोंगी साधुओं के बारे में कहती है—"इस दुष्ट भेड़िये के चंगुल में फँसने पर यदि कोई कहता कि मेरे सात पुत्र जन्मेंगे और सातों को बलि चढ़ाकर तेरा सतीत्व रह सकता है तो महाराज, मैं सातों को भेंट चढ़ा देती। आज तक न समझा था। आज ठोकर खाने के पश्चात् समझा है कि धर्म के सम्मुख धन, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा और सन्तान सब तुच्छ हैं और उस पुत्र को पाँवों तले रौंद देना चाहिए जो अधर्म से प्राप्त हो। महाराज! आज जान पड़ा है कि संसार में बहुत-से भेड़िये हैं, जो भेड़ों के भेष में घूम रहे हैं और बहुत-सी पीतल की वस्तुएँ हैं जो स्वर्ण की भाँति चमकती हैं।" (प्रेमपुजारिन, पृष्ठ ५३-५४)

डी० ए० वी० कॉलेज वाराणसी के प्रधानाचार्य श्री कृष्णदेव प्रसाद बेढब का भी साहित्यिक क्षेत्र में विशेष महत्त्व है। उनका एक उपन्यास लफटण्ट पिगसन की डायरी

(१९४४ ई०) विशेष महत्त्व रखता है। यह उनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है। डॉक्टर सम्पूर्णानन्द के शब्दों में यह हिन्दी का हास्यरसप्रधान सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसमें विदेशी दृष्टि-कोण से भारत की हर वस्तु को देखने और उसे हीन समझनेवाले पिगसन जैसे व्यक्तियों पर कटु व्यंग्य किया गया है।

गुरुकुल काँगड़ी के अनेक स्नातकों ने हिन्दी साहित्य को अपने उपन्यासों से समृद्ध किया है। इनमें इन्द्र विद्यावाचस्पति, डॉक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार, सत्यकाम विद्यालंकार, सत्यपाल विद्यालंकार, विराज और आनन्दवर्धन के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्द्र विद्या-वाचस्पति के उपन्यास ऐतिहासिक और सामाजिक हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में 'शाह आलम की आँखें' (१९३२ ई०) उल्लेखनीय है। इसमें मुगल साम्राज्य के पतन की परिस्थितियों का बड़ा मार्मिक चित्रण किया गया है। किन्तु इस उपन्यास में इतिहास कल्पना पर हावी हो गया है। इतिहास की घटनाएँ इस प्रकार छाई हुई हैं कि वे कल्पना को स्थान देने में संकोच करती हैं। पाठक को उपन्यास पढ़ने में आनन्द आता है, किन्तु उसे ऐसा आभास होता है मानो वह कल्पना की सूक्ष्मता के स्थान पर इतिहास का रोचक वर्णन पढ़ रहा हो।" उनके सामाजिक उपन्यासों में जमींदार (१९२६ ई०), सरला की भाभी (१९४४ ई०), सरला (१९४६ ई०), आत्मबलिदान (१९४८ ई०) उल्लेखनीय हैं। इनमें ब्रिटिशकालीन गाँवों की दशा का बड़ा हृदयग्राही चित्रण किया गया है।

डॉक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार सुप्रसिद्ध इतिहासकार हैं। उन्होंने दो ऐतिहासिक उपन्यास लिखे हैं—आचार्य चाणक्य और सेनानी पुष्यमित्र। ये दोनों मौर्य साम्राज्य के उत्थान और पतन से सम्बन्ध रखते हैं। पहले में यह बताया गया है कि आचार्य चाणक्य ने चन्द्रगुप्त के साथ मिलकर मौर्य साम्राज्य का निर्माण किस प्रकार किया और दूसरे उपन्यास का विषय इस बात को स्पष्ट करना है कि अशोक के निर्बल उत्तराधिकारी किन कारणों से मौर्य साम्राज्य की रक्षा नहीं कर सके, और उनके ही एक सेनापति पुष्यमित्र ने किस प्रकार इस साम्राज्य का अन्त करके शुंग साम्राज्य की स्थापना की। इन दोनों उपन्यासों में ऐतिहासिक घटनाओं और विवरणों का मनोरंजक उल्लेख है। ये दोनों उपन्यास बड़े रोचक और लोकप्रिय हुए हैं।

ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त डॉक्टर सत्यकेतु ने आधुनिक भारतीय जीवन के विभिन्न अंगों को उजागर करने के लिए कुछ अन्य उपन्यास भी लिखे हैं। इनमें उल्लेख-नीय उपन्यास हैं होटल माडर्न (१९५४) तथा कम्पनी का मैनेजिंग डाइरेक्टर। पहले उपन्यास में नैनीताल के एक बड़े होटल के मालिक की आत्मकथा है। इसमें वह अपने होटल में आकर ठहरने वाले भारतीय समाज के अभिजात वर्गों, मन्त्रियों, नेताओं आदि के जीवन पर सुन्दर प्रकाश डालता है। इस प्रकार के उपन्यास हिन्दी में बहुत कम लिखे गये हैं।

सत्यकाम विद्यालंकार ने सोमा, मुक्ता, देवता का दान और चेयरमैन नामक चार उपन्यास लिखे हैं। इनमें सोमा पंजाब सरकार द्वारा पुरस्कृत किया गया है। उदय-वीर विराज के उपन्यासों में नेपालेश्वर और पतित पावनी उल्लेखनीय हैं। सत्यपाल विद्यालंकार उन्मुख सिद्धहस्त उपन्यास-लेखक थे। आनन्दवर्धन विद्यालंकार ने संस्कृत में कुसुमलक्ष्मी नामक उपन्यास लिखा है। इसे गंगानाथ झा पुरस्कार से सम्मानित किया जा चुका है।

वैद्य गुरुदत्त आर्यसमाज से गहरा सम्बन्ध रखते हैं। उन्होंने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष को प्रस्तुत करने के लिए ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक विषयों की समस्याओं का विवेचन करने वाले सौ के लगभग उपन्यास लिखे हैं। उनका पहला उपन्यास 'स्वाधीनता के पथ पर' १६४२ ई० में लिखा गया था। इसमें तथा उनके अन्य सभी उपन्यासों में भारत की राष्ट्रीयता और प्राचीन संस्कृति की उत्कृष्टता का प्रतिपादन बड़े सशक्त रूप में किया गया है। इसलिए एक आलोचक डॉक्टर मनमोहन सहगल ने उन्हें "भारतीय संस्कृति का सफल चितेरा" माना है। आदर्शवादी एवं सोद्देश्य उपन्यास लिखने पर भी वे बड़े लोकप्रिय लेखक हैं। यूनेस्को के एक सर्वेक्षण के अनुसार भारतीय भाषाओं में उनके उपन्यास सबसे अधिक पढ़े जाते हैं। राहुल सांकृत्यायन के ऐतिहासिक उपन्यासों की अन्यत्र चर्चा की जा चुकी है।

सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी लेखक यशपाल हिन्दी के प्रमुख उपन्यास-लेखकों में गिने जाते हैं। उनका जन्म ३ दिसम्बर १६०३ को फिरोजपुर छावनी में हुआ था। उनकी माता श्रीमती प्रेमदेवी उस समय फिरोजपुर में आर्यसमाज द्वारा स्थापित आर्य अनाथालय में अध्यापिका का कार्य कर रही थीं। अतः उनका बचपन आर्यसमाजी वातावरण में बीता। अपने पुत्र यशपाल को स्वामी दयानन्द के आदेशों के अनुकूल "आर्य धर्म का तेजस्वी और ब्रह्मचारी प्रचारक बना देने के उद्देश्य से" सात-आठ वर्ष की आयु में उन्हें गुरुकुल काँगड़ी में प्रविष्ट करा दिया गया। किन्तु संग्रहणी की बीमारी से पीड़ित होने के कारण कुछ वर्ष बाद यशपाल को गुरुकुल छोड़ना पड़ा। इसके बाद भी वे आर्यसमाज द्वारा स्थापित और संचालित लाहौर के प्रसिद्ध डी० ए० वी० स्कूल में पढ़े और १६२१ में प्रथम श्रेणी में मैट्रिक की परीक्षा पास करने के बाद वे सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित नेशनल कॉलेज में पढ़ने लगे। यहाँ उनके प्रधानाचार्य भाई परमानन्द और इतिहास के प्राध्यापक जयचन्द्र विद्यालंकार थे। इस प्रकार उनकी समूची शिक्षा-दीक्षा आर्यसमाजी वातावरण में हुई है।

आर्यसमाज से उन्होंने प्रखर राष्ट्रीयता और क्रान्ति की विचारधारा ग्रहण की। अपनी आत्मकथा 'सिंहावलोकन' में उन्होंने बताया है कि गुरुकुल में अध्ययन करते समय ही उन्होंने आनन्द मठ, अण्डमान की गूँज आदि क्रान्तिकारी रचनाएँ पढ़ डाली थीं। यहाँ से शिक्षा ग्रहण करने के बाद उन्होंने क्रान्तिकारी आन्दोलन में सरदार भगतसिंह के साथ जो कार्य किया वह सुविदित है।

यशपाल ने हिन्दी में ११ मौलिक उपन्यास तथा २०७ कहानियाँ लिखी हैं। इनमें 'झूठा सच' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। यह मंगला प्रसाद पुरस्कार से सम्मानित हुआ है। इसमें विभाजन के समय की स्थिति का चित्रण बड़े सशक्त ढंग से किया गया है। यद्यपि बाद में यशपाल क्रान्तिकारी विचारधारा और मार्क्सवाद के प्रबल समर्थक बन गये, किन्तु उनकी रचनाओं में आर्यसमाजी प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

अन्य आर्यसमाजी उपन्यास-लेखकों में आरिगपूडि, रमेश चौधरी, धर्मवीर भारती, यज्ञदत्त शर्मा, तथा श्रीमती कंचनलता सब्बरवाल के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री धर्मवीर भारती का सूरज का सातवाँ घोड़ा नामक उपन्यास प्रसिद्ध है।

(२) कथालेखक

हिन्दी में ऐसे कहानी-लेखकों की कमी नहीं है, जो आर्यसमाज तथा आर्यसमाजी विचारधारा से प्रभावित थे। उपन्यासों के प्रकरण में यह बताया जा चुका है कि मुंशी प्रेमचन्द्र किस प्रकार आर्यसमाज के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। यहाँ केवल उनकी कहानियों पर आर्यसमाज के प्रभाव का संक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा। श्री प्रेमचन्द ने हिन्दी में कुल मिलाकर ३०० कहानियाँ लिखी हैं। उनकी कहानियों के अनेक संग्रह और संकलन विभिन्न प्रकाशकों द्वारा विभिन्न नामों से प्रकाशित हुए हैं। उनकी लगभग सभी कहानियों का संग्रह मानसरोवर के नाम से आठ खण्डों में छपा हैं। (१९७५-७७ ई०)

प्रेमचन्द आरम्भ में उर्दू में लिखा करते थे और 'सोजे वतन' नामक उर्दू कहानियों का एक संग्रह १९०८ में पहले प्रकाशित हुआ था। इसकी सभी कहानियाँ राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत थीं। अतः सरकारी शिक्षा-विभाग में काम करनेवाले प्रेमचन्द को सरकार का कोपभाजन वनना पड़ा। उन दिनों वे उर्दू में नवाबराय के कल्पित नाम से कानपुर से प्रकाशित होनेवाले सुप्रसिद्ध उर्दू मासिक 'जमाना' में अपनी कहानियाँ लिखा करते थे। जब सरकारी अधिकारी उनसे रुष्ट हुए तो 'जमाना' के सम्पादक दयानारायण निगम ने उन्हें एक नये नाम प्रेमचन्द से कहानियाँ लिखने का अनुरोध किया। इसके बाद वे इसी नाम से 'सरस्वती' में हिन्दी कहानियाँ लिखने लगे। १९१६ में 'पंच परमेश्वर' नामक उनकी सुप्रसिद्ध कहानी सरस्वती में छपी थी।

प्रेमचन्द हिन्दी कथा-साहित्य में नवयुग लानेवाले थे। उनसे पहले कहानियाँ विशुद्ध मनोरंजन के उद्देश्य से लिखी जाती थीं और घटनाप्रधान होती थीं। उन्होंने इसे मनोवैज्ञानिक आधार प्रदान किया और आदर्शवाद तथा समाजसुधार का माध्यम बनाया। आर्यसमाज के प्रभाव से उनमें सामाजिक और धार्मिक सुधार की भावना अतीव प्रबल थी। वे साहित्य को समाज का दर्पण ही नहीं, अपितु मार्गदर्शक दीपक मानते थे। उन्होंने इसी दृष्टि से अपनी कहानियों में धार्मिक और सामाजिक तथा राजनैतिक प्रश्नों की चर्चा की है। उन्होंने विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, जाति प्रथा, दहेज-प्रथा और सामाजिक अन्धविश्वास जैसी अनेक समस्याओं पर कहानियाँ लिखी हैं। यहाँ इस विषय में कुछ उदाहरण दिये जायेंगे।

अनमेल विवाह के दुष्परिणामों का चित्रण करते हुए उनकी कहानी 'नरक का मार्ग' की नायिका अपनी आत्मकथा में लिखती है "अपनी बालिकाओं के लिए मत देखो धन, मत देखो जायदाद, मत देखो कुलीनता, केवल वर देखो। अगर उसके लिए जोड़ का वर नहीं पा सकते हो तो लड़की को क्वाँरी रख छोड़ो, जहर देकर मार डालो, गला घोंट डालो, पर किसी बूढ़े कृषक से मत ब्याहो। स्त्री सबकुछ सह सकती है, दारुण-से-दारुण दुःख, बड़ा-से-बड़ा संकट, अगर नहीं सह सकती तो अपनी यौवनकाल की उमंगों का कुचला जाना। (मानसरोवर, भाग ३, पृष्ठ ३०)।

प्रेमचन्द ने अछूतों की समस्या का विवेचन 'जुर्माना', 'दूध का दाम', 'ठाकुर का कुआँ', 'सद्गति', 'मन्दिर' आदि अनेक कहानियों में किया है। इनमें दलितों की दयनीय स्थिति का मार्मिक चित्रण और अभिजात वर्ग के अत्याचारों का अंकन बड़े सशक्त रूप में हुआ है। ठाकुर का कुआँ कहानी के बीमार जोखू को जब प्यास सताती है तो उसकी

पत्नी गंगी ठाकुर के कुएँ से पानी लाने के लिए पति से पूछती है। इस पर जोखू उसे पानी लाने से रोकते हुए कहता है—"हाथ पाँव तुड़वा आएगी और कुछ न होगा। बैठ चुपके से! ब्राह्मण देवता आशीर्वाद देंगे। ठाकुर लाठी मारेगा···गरीबों का दर्द कौन समझता है?" किन्तु पति की प्राण-रक्षा के लिए रात में पानी चोरी से लाने के लिए पत्नी कुएँ पर पहुँच जाती है। जब वह पानी भरने लगती है तो ठाकुर का दरवाजा खुलता है और भयभीत गंगी के हाथ से रस्सी छूट जाती है। वह जान बचाकर भागते हुए जब अपने पति के पास पहुँचती है तो देखती है कि वह गन्दे पानी से अपनी प्यास बुझा रहा है।

आर्यसमाज की भाँति प्रेमचन्द जन्ममूलक जातिभेद की व्यवस्था के प्रबल विरोधी थे और मानवमात्र को समान समझते थे। जन्म पर आधारित मिथ्या उच्च अभिमान उनकी दृष्टि में हास्यास्पद था। इस पर कटाक्ष करती हुई ठाकुर के कुआँ की गंगी कहती है—"हम क्यों नीच हैं और ये क्यों ऊँच हैं? इसलिए कि ये लोग गले में तागा डाल लेते हैं? यहाँ तो जितने हैं एक-से-एक छँटे हैं। चोरी ये करें, जाल-फरेब ये करें, झूठे मुकद्दमे ये करें, अभी इस ठाकुर ने तो उस दिन बेचारे गडरिये की एक भेड़ को चुरा लिया और रात को मारकर खा गया। इन्हीं पण्डित के घर में तो बारहों मास जुआ होता है, यही साहू जी तो घी में तेल मिलाकर बेचते हैं। काम करा लेते हैं, मजदूरी देते समय नानी मरती है। किस बात में वे हमसे ऊँचे हैं? हम गली-गली चिल्लाते नहीं कि हम ऊँचे हैं। कभी मैं गाँव में आ जाती हूँ तो रसभरी आँखों से देखने लगते हैं। जैसे सबकी छाती पर साँप लोटने लगता है। परन्तु घमण्ड यह कि हम ऊँचे हैं।"

हिन्दी के कहानी-लेखकों में श्री **चन्द्रगुप्त विद्यालंकार** का नाम अत्यन्त प्रतिष्ठित है। उन्होंने सौ के लगभग कहानियाँ लिखी हैं, जो भाषा, भाव एवं शैली की दृष्टि से अत्यन्त उत्कृष्ट हैं। मध्य वर्ग के जीवन को चित्रित करने तथा उनकी समस्याओं को प्रस्तुत करने में चन्द्रगुप्तजी ने अनुपम सफलता प्राप्त की है। उनकी रचनाओं पर आर्य-समाज का स्पष्ट प्रभाव है। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि उनका जन्म एक आर्य परिवार में हुआ था और उनकी शिक्षा मुलतान गुरुकुल तथा गुरुकुल काँगड़ी विश्व-विद्यालय में हुई थी। अनेक वर्षों तक उन्होंने आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग भी लिया था।

सुदर्शन—श्री सुदर्शन भी प्रेमचन्द की भाँति आदर्शवादी लेखक हैं। वे कहानियों का उद्देश्य समाज का कल्याण समझते हैं। शुरू में आर्यसमाज का उपदेशक रहते हुए भी वे इस बात को अच्छी तरह से समझते हैं कि कहानी-लेखक को खुले रूप में उपदेश नहीं देना चाहिए, अपितु उसकी कहानी की प्रतिपादन-शैली इतनी सहज, स्वाभाविक तथा प्रभावशाली होनी चाहिए कि पाठक पर उसका अच्छा प्रभाव पड़े और वह बुराई से भलाई की ओर अग्रसर हो। उनकी कहानियाँ ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक पृष्ठभूमि पर आधारित हैं। इनमें सामाजिक और धार्मिक पृष्ठ-भूमि वाली कहानियों में आर्यसमाज का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। इन कहानियों में वे प्राय: विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह, अनमेल विवाह, अस्पृश्यता-निवारण, नारी-स्वाधीनता आदि विषयों का विवेचन करते हैं।

पहले यह बताया जा चुका है कि पर्दा-प्रथा के कारण विवाह होने के बाद पण्डित सुदर्शन का अपने परिवार से संघर्ष हुआ और उन्हें पैतृक परिवार से अलग होना पड़ा।

इस दूषित पर्दा-प्रथा के विरोध में उन्होंने 'काया पलट' नामक कहानी लिखी है। इसमें यह बताया गया है कि इस दोषपूर्ण पद्धति के कारण पति पत्नी को और पत्नी पति को नहीं पहचानती और रेलगाड़ी से उतरकर स्टेशन पर दूसरी गाड़ी बदलते समय दोनों बिछुड़ जाते हैं। नव-विवाहिता रक्षा की स्थिति अत्यन्त दयनीय हो जाती है। सावित्री के मिल जाने से यद्यपि वह बच जाती है, किन्तु यह सोचती है कि उसकी वर्तमान दुरवस्था का कारण पर्दा-प्रथा ही थी। बाल-विवाह की बुराइयों पर 'पाप के पथ पर' नामक कहानी में प्रकाश डाला गया है और यह बताया गया है कि बाल-विवाह करने से बाल-विधवाओं को अपने सम्पूर्ण जीवन को बड़ी दुःखमय रीति से बिताना पड़ता है और अपनी सौतेली माता के कारण पाप के पथ पर अग्रसर होना पड़ता है। 'मनुष्य की कसौटी' नामक कहानी में अछूतोद्धार की चर्चा की गई है और यह बताया गया है कि समाज जिन्हें अछूत समझता है, उनमें धर्म के उदात्त नैतिक तत्त्व विद्यमान हैं।

हिन्दी कहानी-साहित्य के विकास में **श्री चतुरसेन शास्त्री** का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने लगभग साढ़े चार सौ कहानियाँ लिखी हैं। उनकी पहली कहानी 'सच्चा गहना' प्रयाग की पत्रिका 'गृहलक्ष्मी' में छपी थी। मुगलकालीन जीवन को चित्रित करनेवाली 'दुखवा मैं कासे कहूँ मोरी सजनी' नामक कहानी बहुत ही मार्मिक और सुन्दर है। इसी प्रकार बौद्धकाल के विषय में लिखी गई कहानियों में 'भिक्षुराज', 'अम्बपाली' और 'प्रबुद्ध' नामक कहानियाँ उल्लेखनीय हैं। चतुरसेन शास्त्री की कहानियों में कथा का विकास संवाद द्वारा बड़े रोचक ढंग से किया जाता है। उनकी कुछ कहानियों में राजमहलों के रनिवासों का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। पीयूषपाणि वैद्य होने के कारण रजवाड़ों में और इनकी असूर्यम्पश्या रानियों के रनिवासों तक उनकी सहज पहुँच थी। उन्होंने इनके विलासपूर्ण जीवन का कई कहानियों में तथा 'गोली' उपन्यास में बड़ा सुन्दर चित्रण किया है।

धनीराम प्रेम (१९०४–१९७९)—अलीगढ़ जिले के दरियापुर गाँव में उत्पन्न श्री प्रेम बम्बई से डॉक्टरी की उपाधि प्राप्त करने के बाद विदेश चले गए। अपना अधिकांश जीवन आपने इंगलैण्ड में ही बिताया। बचपन से आपकी रुचि साहित्यसृजन की ओर थी। आर्यसमाज के आन्दोलन में आप प्रमुख भाग लिया करते थे। अलीगढ़ में आपने सबसे पहले आर्य कुमार सभा की स्थापना की थी। विदेश में रहते हुए आप चिकित्सा के साथ-साथ निरन्तर साहित्य-सृजन का कार्य भी करते रहे। आपकी कहानियाँ उस समय के सुप्रसिद्ध पत्रों—चाँद और भविष्य में छपती रहीं। आपकी कथा-कृतियों में 'वल्लरी', 'प्रेम समाधि', 'वेश्या का हृदय', 'चाँदनी', 'मेरा देश', 'प्राणेश्वरी', 'डोरा की समाधि' विशेष उल्लेखनीय हैं। आपकी साहित्यिक प्रतिभा से प्रभावित होकर बर्मिघम विश्वविद्यालय ने आपको डॉक्टर आफ साइंस की मानद उपाधि से विभूषित किया था। भारत में आपातकालीन स्थिति की घोषणा होने पर आप उससे बड़े प्रभावित हुए। आपातकाल में भारत भी आये और उसी समय एक सड़क-दुर्घटना में आहत हो जाने पर आपका देहावसान हुआ। आपकी रचनाओं में राजनैतिक और सामाजिक समस्याओं का पर्याप्त विवेचन है।

श्रीकृष्ण प्रसाद गौड़ बेढब ने हिन्दी में हास्य रस की सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। ऐसी कहानियाँ लिखनेवाले लेखकों में उनका स्थान बहुत ऊँचा समझा जाता है। इन

कहानियों में एक प्रकार का बड़ा तीखा व्यंग्य है। यह जुवेना कहानी से स्पष्ट हो जाता है। इसमें यह बताया गया है कि वृद्धावस्था में अपने यौवन को प्राप्त करने के कितने हास्यास्पद दुष्परिणाम होते हैं। ऐसी इच्छा के परिणामस्वरूप जब एक वृद्ध दम्पती सेठ मलमल दास और उनकी पत्नी जुवेना नामक ओषधि का अधिक मात्रा में सेवन शीघ्रातिशीघ्र यौवन पाने की लालसा से करते हैं तो सेठ-सेठानी दोनों तीन वर्ष के बालक बन जाते हैं। उनकी कहानियों में नागरिकों की परस्पर-विरोधी मनोग्रन्थियों के दर्शन होते हैं। उनके युग में मध्य वर्ग के जीवन में सामाजिक और आर्थिक स्तर पर कई प्रकार के आन्दोलन चल रहे थे और परिवर्तन हो रहे थे। इसी का व्यंग्यपूर्ण चित्रण उनकी कहानियों में पाया जाता है। 'गांधी का भूत' और 'टनाटन' उनके प्रसिद्ध कहानी-संग्रह हैं :

द्विजेंद्रनाथ मिश्र निर्गुण की आरम्भिक शिक्षा बदायूं जिले के आर्योला गुरुकुल में हुई थी। साहित्य-विषयक उच्चतम परीक्षाएँ पास करने के बाद आपने हिन्दी में मध्य-वर्ग के जीवन का विवेचन करनेवाली कहानियाँ प्रचुर मात्रा में लिखी हैं। एक आलोचक के शब्दों में "निर्गुण ने मध्य वर्ग के उन मानवों की हँसी-खुशी, संवेदनशीलता, वेदना और अनुभूति को अंकित किया है जो विराटत्व के नशे में हमसे सदैव छूट जाते रहे हैं।" 'छोटा डॉक्टर', 'सावुन', 'बहू जी', 'जिन्दगी' आदि कहानियों में हमें सहसा नये स्तर पर नये मानव के व्यक्तित्व की जटिल समस्याओं के दर्शन होते हैं। इनके कुछ प्रमुख कहानी-संग्रह हैं—'पूर्ति' (१९४० ई०), 'बहू जी' (१९४१ ई०), 'कच्चा तागा' (१९४७ ई०), 'टूटे सपने' (१९५४ ई०), 'जिन्दगी' (१९५४ ई०)।

सत्यदेव परिव्राजक—आप हिन्दी के आरम्भिक कहानी-लेखकों में से हैं। इनकी कहानियाँ वर्तमान शताब्दी के पहले दशक में 'सरस्वती' में छपनी शुरू हुई थीं। इनका संकलन 'देव चतुर्दशी' में हुआ है। ये पाश्चात्य गल्प-शैली से बड़े प्रभावित हुए थे। इन्होंने स्वयमेव 'देव चतुर्दशी' की भूमिका में लिखा है कि "उसी समय मैंने फ्रांस के प्रसिद्ध गल्प-लेखक मोपासाँ की अत्यन्त रोचक 'माला' (नैकलेस) नामक कहानी का भावानुवाद सरस्वती में छपवाया। इसी प्रकार 'आश्चर्यजनक घण्टी' का भी जन्म हुआ। 'कीर्ति कालिमा' में मैंने उस समय के भारतीय मजदूरों की दुर्दशा का चित्र खींचा। ये मजदूर संयुक्त राज्य अमेरिका के पैसीफिक कोस्ट पर सताये जा रहे थे। इन तीन कहानियों ने सरस्वती के पाठकों को मेरे साथ भली प्रकार परिचित करा दिया और मैंने हिन्दी गल्प संसार में प्रवेश किया।" (देव चतुर्दशी की भूमिका)।

देव चतुर्दशी में उनकी चौदह कहानियाँ संगृहीत हैं। इनमें प्रमुख हैं—साइबेरिया की जेल से सरहदी जेल में, लंगोटिया यार, महापुरुष के दर्शन, फ्रांसीसी फंदे, शिकार के दाँव-पेंच। परिव्राजक जी की अधिकांश कहानियाँ राजनैतिक विषयों से सम्बद्ध हैं और वे कुछ विशेष विचारधाराओं का प्रतिपादन करती हैं। इनमें कहानी का शिल्प उन्नत नहीं है, किन्तु लेखक की प्रचारक भावना अधिक है। आश्चर्यजनक घण्टी नामक कहानी भूत-प्रेत और जादू-टोने में विश्वास रखनेवालों की मानसिक निर्बलताओं का बड़ा मार्मिक चित्रण प्रस्तुत करती है। इसमें उनका प्रधान उद्देश्य भूत-प्रेतों की मान्यताओं वा अन्धविश्वासों पर कुठाराघात करना है। आर्यसमाज के अन्य कहानी-लेखकों में श्री विष्णु प्रभाकर का नाम उल्लेखनीय है। इनकी प्रारम्भिक कहानियों में आर्यसमाज के सुधारवाद

का स्पष्ट प्रभाव है। श्री बलराज साहनी और भीष्म साहनी आर्य परिवार से सम्बद्ध हैं। श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने बलराज साहनी की 'वापसी' कहानी को हिन्दी की श्रेष्ठ कहानियों में माना है।

सुप्रसिद्ध प्रगतिवादी कहानी-लेखक यशपाल ने २०७ कहानियाँ लिखी हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि उनका जन्म आर्यसमाजी परिवार में हुआ था और आरम्भिक शिक्षा गुरुकुल काँगड़ी में हुई थी। अतः उनकी कहानियों पर भी कुछ अंशों में आर्यसमाज का प्रभाव दिखाई देता है, यद्यपि विचारों की दृष्टि से वे मार्क्सवाद के प्रचारक हैं। डॉक्टर चन्द्रभानु सोनवणे ने लिखा है कि "कहानी का मूलतत्त्व यशपाल की दृष्टि में दृष्टान्त है। इस धारणा में सत्यार्थप्रकाश का प्रभाव देखा जा सकता है। सत्यार्थप्रकाश में स्वामी दयानन्द ने अपने विचारों को सरल ढंग से समझाने के लिए दृष्टान्तों का सहारा लिया है। दृष्टान्त के पात्र इसी कारण गौण बन जाते हैं। यशपाल के कहानी-शिल्प पर इस पद्धति का पर्याप्त प्रभाव है।"

राहुल सांकृत्यायन के कथा-साहित्य की प्रमुख कृतियाँ हैं—वोल्गा से गंगा (१९५०), कनैला की कथा (१९५६)। पहले संग्रह की बीस कहानियों में लेखक ने आठ हजार वर्ष के भारतीय जीवन का चित्रण करते हुए प्राग्वैदिक, वैदिक, बौद्ध, गुप्त, मुगल तथा वर्तमान युगों का परिचय देने के लिए कहानियाँ लिखी हैं। प्रत्येक कहानी एक विशिष्ट युग के जीवन का चित्र प्रस्तुत करती है।

आर्यसमाज की महिला कहानी-लेखिकाओं में श्रीमती सत्यवती मल्लिक और श्रीमती चन्द्रकिरण सोनरिक्सा के नाम उल्लेखनीय हैं। पिछली लेखिका की कहानियों का संकलन आदमखोर के नाम से प्रकाशित हुआ है। यह हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा सेकसरिया पुरस्कार से सम्मानित हुआ है।

(३) आर्यसमाज के निबन्ध-लेखक

आर्यसमाज का आरम्भिक गद्य साहित्य पौराणिक पण्डितों, ईसाइयों और मुसलमानों के साथ वाद-विवाद के रूप में विकसित हुआ। उन दिनों सनातनधर्मियों तथा स्वामी दयानन्द के अनुयायी कहलानेवाले 'दयानन्दीय आर्यों' में निरन्तर विवाद चलता रहता था और आर्य पत्र-पत्रिकाओं में खण्डनमंडनपरक लेख और निबन्ध प्रकाशित होते रहते थे। इनमें कई बार हास्यरस की स्तोत्र-शैली का बड़ा सुन्दर प्रयोग हुआ है। डॉक्टर सोनवणे ने इस विषय में 'भारत सुदशा प्रवर्तक' के संपादक कालीचरण के पोप पुष्पांजलि शीर्षक हास्यरसपूर्ण निबन्ध का उल्लेख किया है (पृष्ठ २०३)। इसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"हे-हे हमारे प्यारे सुखारे भारतीय पोप, आपकी स्तुति करने को कौन समर्थ होगा? अहो, यह दिव्य स्वरूप। चाँद घुटी हुई। तोंद बढ़ी हुई। धोती लथराती हुई। पंचांग बगल में दबा हुआ। शुक्लाम्बरविभूषित साक्षात् बृहस्पति। आपको दूर से ही प्रणाम है…देखो जीते पर तो सभी सहायक होते, किन्तु मरे पर कोई किसी को सहाय नहीं दे सकता, आप उस दशा में भी वैतरणी नदी पर गाय पहुँचा देते…अन्धपरम्परा-टो पटंकार…आपकी महिमा अपार है,…ये पोपाः सर्वभूतेषु मायारूपेण संस्थिताः।

नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमो नमः।" (भारत सुदशा प्रवर्त्तक, मार्च सन् १८८३, पृष्ठ ३१४)।

आर्यसमाज के आरम्भिक निबन्ध-लेखकों में पण्डित मोहनलाल विष्णुलाल पण्डया, पण्डित रुद्रदत्त शर्मा, पण्डित पद्मसिंह शर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं। रुद्रदत्त शर्मा (१८५४–१९०९ ई०) हिन्दी के संपादकाचार्य, पत्रकार-कला के अग्रणी और उत्कृष्ट कोटि के निवन्ध-लेखक थे। उनकी प्रमुख रचनाएँ 'स्वर्ग में महासभा', 'स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी' और 'कण्ठी जनेऊ का विवाह' हैं। इनमें उन्होंने बड़ी अलंकृत व्यंग्यप्रधान भाषा में निवन्ध-रचना की है।

पण्डित पद्मसिंह शर्मा द्विवेदी-युग के सर्वश्रेष्ठ निवन्ध-लेखकों में गिने जाते हैं। उनके कुछ निबन्ध 'पद्म पराग' (१९२९ ई०) में संग्रहीत हैं। उर्दू, फारसी, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि विभिन्न भाषाओं के ज्ञाता होने के कारण उनकी भाषा में बड़ी प्रौढ़ता, प्रांजलता और प्रवाह मिलता है। पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उनकी भाषा को टकसाली कहा था। उन्होंने अपनी रचनाओं में संस्कृत के तत्सम शब्दों के साथ उर्दू और अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों का और ठेठ ग्रामीण भाषा के शब्दों का भी बड़ा सुन्दर प्रयोग किया है। मुहावरों और कहावतों से अपनी भाषा को बड़ा प्राणवान् तथा ओजस्वी बनाया है। उनकी भाषा-शैली व्यंग्य, विनोद और हास्य के कारण बड़ी चटपटी और सजीव है। मुंशी प्रेमचन्द के शब्दों में "हिन्दी में आप खास शैली के जन्मदाता है जिसमें चुलबुलापन है, शोखी है, प्रवाह है और उसके साथ गम्भीर्य भी है। उनकी शैली का एक उदाहरण पर्याप्त होगा। उन्होंने पद्म पराग के प्रारम्भ में 'पद्म पराग की जीवनी' में लिखा है—"जो मुद्दत (निवन्ध) से छिपे पड़े थे अब छपकर वाहर निकल रहे हैं···वर्षों का साथ छूट रहा है, छोड़ने को जी नहीं चाहता, ममता लिपट रही है। बेबसी खड़ी रो रही है। भविष्य की चिन्ता बेचैन कर रही है कि देखिए वाहर निकलने पर इन गरीबों के साथ क्या सलूक हो। आदर पायें या दुत्कारे जायें।"

हिन्दी के हास्यरस के निवन्ध-लेखकों में आर्यमित्र के संपादक डॉक्टर हरिशंकर शर्मा और बेढव के नाम भी उल्लेखनीय हैं। श्री शर्मा ने हास्यरस के निबन्धों की कई पुस्तकें लिखी हैं। इनमें प्रमुख हैं चिड़ियाघर (१९३० ई०), पिंजरापोल, मन की मौज (१९५८ ई०), गड़बड़ गोष्ठी (१९५९ ई०), मटकाराम मिश्र (१९६० ई०), पाखण्ड प्रदर्शनी, स्वच्छन्द सम्मेलन। इन पुस्तकों के निवन्धों में समाज की कुरीतियों और बुराइयों पर बड़ी गहरी चुटकियाँ ली गई हैं। मुंशी प्रेमचन्द ने इनको 'व्यंग्य हास्य का आचार्य' कहा था। डॉक्टर शर्मा का व्यंग्य बड़ा शिष्ट और वैयक्तिक आक्षेप और आक्रमण से सर्वथा मुक्त है। वे कहीं तो परिस्थितियों के अनुसार लीडरों की लीला का रहस्योद्-घाटन करते हैं और कहीं छायावाद और रहस्यवाद पर छींटे कसते हैं। उर्दू लिपि की अवैज्ञानिकता पर चुटकी लेते हुए कहते हैं कि "वाकई शंसकीरत भी अच्छी चीज है इसमें कपिला और संखिया अच्छे-अच्छे फिलासफर हुए हैं।"

आर्यसमाज के एक दूसरे हास्य-व्यंग्य-लेखक कृष्णदेवप्रसाद गौड़ बेढब की कुछ रचनाओं का पहले उल्लेख किया जा चुका है। इस प्रकार की उनकी कृतियों में 'बेढब की बहक', 'धन्यवाद', 'बनारसी एक्का', 'हुक्का पानी' उल्लेखनीय हैं। डॉक्टर शर्मा की भाँति उनका व्यंग्य भी बड़ा परिमार्जित होता है। कई बार उनकी उपमाएँ सुन्दर शब्दचित्र

प्रस्तुत करती हैं जैसे "पाण्डेयजी का चेहरा, प्रगतिशील कविता के समान नीरस है।" डॉक्टर सोनवणे ने उनके एक व्यंग्य के बारे में लिखा है—"लोहे की भस्म शीर्षक निवन्ध में (ऐसे) वुद्धू राजा पर व्यंग्य जो सोचता है कि वह जब सोने और हीरे की भस्म का दाम दे सकता है तब लोहे की भस्म लेकर अपमानित क्यों है? वैद्य के समझाने पर वह लोहे की भस्म खाने को तैयार हो जाता है, किन्तु उसे वनवाने के लिए तलवार देता है क्योंकि अन्य प्रकार के लोहे की भस्म खाने में वह अपनी हेठी समझता है।" (हिन्दी गद्य साहित्य, पृष्ठ २१०)।

आर्यसमाज के गम्भीर निवन्ध-लेखकों में डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा, डॉक्टर वासुदेव-शरण अग्रवाल और डॉक्टर नगेन्द्र उल्लेखनीय हैं। डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा के निवन्ध विचार-प्रधान हैं। उनकी विचारधारा (१६४१) पुस्तक में हिन्दी प्रचार और हिन्दी साहित्य के विभिन्न विषयों पर लिखे गए निबन्ध हैं। इनमें लेखक की विद्वत्ता और व्यक्तित्व की बड़ी स्पष्ट छाप है।

डॉक्टर वासुदेवशरण के निवन्ध वैदिक साहित्य, भारतीय कला-संस्कृति-दर्शन आदि से सम्बद्ध हैं और इनमें प्राचीन भारतीय प्रतीकों की बड़ी सुन्दर व्याख्या की गई है। उनके प्रमुख निबन्ध-संग्रह हैं—'पृथ्वी पुत्र', उरु ज्योति, कला, और संस्कृति। इन निवन्धों में विचारों की गम्भीरता और अपूर्व विद्वत्ता पाई जाती है। डॉक्टर नगेन्द्र पौरस्त्य और पाश्चात्य आलोचना-शास्त्र के मूर्धन्य समीक्षक है। उनके प्रमुख निवन्ध-संग्रह हैं—विचार और अनुभूति, विचार और विश्लेषण। उनकी निवन्ध-शैली का एक सुन्दर उदाहरण डॉक्टर सोनवणे ने इस प्रकार दिया है—"श्रीमती महादेवी वर्मा की दीपशिखा के सम्बन्ध में अछूती और समर्थ उपमाओं का प्रयोग करते हुए उन्होंने लिखा है कि—"दीपशिखा की प्रेरक अनुभूति छाँह-सी सूक्ष्म और मोम-सी मृदुल तो है, परन्तु हूक-सी तीव्र नहीं है।" उन्होंने तुलनाओं के प्रसंगों में भी अप्रस्तुत योजना की सहायता से दो विभिन्न रचनाओं की प्रभविष्णुताओं के पार्थक्य को सहज ही स्पष्ट कर दिया है। 'त्याग-पत्र' और 'नारी' शीर्षक निवन्ध में इन रचनाओं की तुलना करते हुए उन्होंने लिखा है —"मृणाल यदि लैंप की प्रखर लौ है जिसमें प्रकाश के साथ विषाक्त धुआँ भी है, तो यमुना घृत का स्निग्ध दीपक है जिसमें प्रकाश चाहे हल्का हो पर धुआँ विल्कुल नहीं है।" आर्यसमाज के अन्य निवन्ध-लेखकों में डॉक्टर सत्येन्द्र, डॉक्टर विजयेन्द्र स्नातक, डॉक्टर मुंशीराम शर्मा सोम, डॉक्टर धर्मवीर भारती, श्री क्षेमचन्द्र सुमन उल्लेखनीय हैं।

(४) आर्यसमाज के नाटककार

आर्यसमाज के आरम्भिक युग में पत्र-पत्रिकाओं में प्रायः संवाद-शैली में नाटक प्रकाशित हुआ करते थे। डॉक्टर वार्ष्णेय के मतानुसार भारतेन्दु युग के नाटकों के संवादों पर आर्यसमाज की शास्त्रार्थ-शैली का बड़ा प्रभाव पड़ा। उन दिनों के नाटक लम्बे संवादात्मक लेखमात्र हैं। पण्डित रुद्रदत्त शर्मा सबसे पहले आर्यसमाजी नाटककार थे। उनके नाटक विधवा-विलाप (१८८४ ई०), पाखण्डपूर्ति (१८८८ ई०), आर्यमतमार्त्तण्ड (१८६४ ई०) में नाटकीयता के तत्त्व कम हैं, किन्तु ये सभी नाटक आर्यसमाजी विचार-धारा से ओत-प्रोत हैं।

हिन्दी में आर्यसमाज के पहले बड़े नाटककार श्री नारायण प्रसाद 'बेताब'

(१८७२–१९४५ ई०) थे। आपका जन्म उत्तर प्रदेश के बुलन्दशहर जिले के औरंगाबाद कस्बे में हुआ था। आपके पिता श्री ढल्लाराम मिर्जा गालिब के शिष्य और अच्छे शायर थे। बचपन से आपको पढ़ने का शौक था इसीलिए आप पिता के हलवाई-कार्य से ऊबकर १४ वर्ष की आयु में घर से निकलकर दिल्ली चले आए। कैसरे-हिन्द प्रेस में कम्पोजीटर हो गए, उर्दू साहित्य का गम्भीर अध्ययन करने लगे और कव्वालियाँ लिखकर मुशायरों में सुनाने लगे।

नाट्य जगत् में आपका प्रवेश अति नाटकीय ढंग से हुआ। जब आप कैसरे-हिन्द प्रेस दिल्ली में पाँच रुपये मासिक वेतन पर काम करते थे, उस समय शहर में एक नाटक-कम्पनी आई। आप इसके नाटकों को देखने जाया करते थे। एक दिन कम्पनी को अपने नाटक-लेखक धनपतराय बेकस की अनुपस्थिति में एक गाने की जरूरत हुई। तब प्रेस में काम करनेवाले आपके दूर के रिश्ते के भाई बालमुकुन्द से कम्पनी के मैनेजर ने नाटक का गाना बनाने वाले एक शायर को उन्हें देने को कहा। इस पर उन्होंने मैनेजर से कहा, "मेरा एक छोटा भाई बेताब है, वह मुशायरों में अक्सर गज़लें भी पढ़ता है। मैं उसे भेज देता हूँ।" इस प्रकार अपने भाई की सिफारिश पर उनका उस समय की एक प्रसिद्ध नाटक कम्पनी में प्रवेश हुआ। प्रेस में कार्य करते हुए वहाँ संस्कृत के एक विद्वान् पण्डित शम्भुनाथ से आपका परिचय हुआ और इनसे आपने हिन्दी का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया और नाटक लिखना शुरू किया। इनके आरम्भिक नाटक हुस्ने-फरंग और कत्ले-नजीर थे। उस समय आपको कम्पोजीटर-कार्य के लिए प्रेस में केवल ५ रुपये मासिक मिलते थे। दिल्ली में आई नाटक कम्पनी इनकी योग्यता से प्रभावित हुई और उसके मालिक जमादार साहब ने लुधियाना से इन्हें नाटक कम्पनी में नौकरी के लिए लिखा। प्रेस के मैनेजर की सिफारिश पर ये ३० रुपये मासिक पर नाटक कम्पनी में नौकर हो गए। अगले ४५ वर्ष तक इन्होंने २६ नाटक, ३१ फिल्म कथाएँ और ३६ पुस्तकें लिखीं।

आर्यसमाजी विचारधारा से प्रभावित होने के कारण आपने उस समय प्रचलित नाटकों को एक नया मोड़ दिया। नाटक-क्षेत्र में आपके पदार्पण से पहले पारसियों की नाटक कम्पनियाँ थीं और इनमें 'सब्ज परी', 'गुल बकावली' आदि घोर शृंगार रस के नाटक खेले जाते थे। श्री बेताब ने 'महाभारत' नामक धार्मिक-पौराणिक नाटक लिखा। यह २९ जनवरी १९१३ को अल्फ्रेड थियेट्रिकल कम्पनी की ओर से पहली बार दिल्ली में खेला गया। श्री बेताब के शब्दों में, "महाभारत नाटक ने अश्लील नाटकों की जड़ काटने में, ऐतिहासिक तथा सामाजिक नाटकों की जड़ जमाने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया।" धार्मिक नाटकों के बाद आपने सामाजिक और राष्ट्रीय नाटक भी लिखे। आपके प्रत्येक नाटक में दर्शकों और श्रोताओं को मन्त्रमुग्ध कर देनेवाले गानों की भरमार रहा करती थी। इनसे ये नाटक बहुत लोकप्रिय हुए। इनकी लोकप्रियता का एक कारण भाषा-सम्बन्धी उदार दृष्टिकोण भी था। इसमें हिन्दी और उर्दू के शब्दों का मिला-जुला प्रयोग था। 'महाभारत' नाटक के मंचन के समय आपने यह कहा था कि "इसकी भाषा न तो ठेठ हिन्दी है और न खालिस उर्दू है, बल्कि दोनों की मिलीजुली जुबान है—ठीक उसी प्रकार जैसे दूध में मिश्री घुली हुई हो।" आपके नाटकों से जनता में हिन्दी बड़ी लोकप्रिय हुई।

श्री नारायणप्रसाद बेताब ने महाभारत के अतिरिक्त रामायण, कृष्ण सुदामा, गोरखधन्धा, मीठा जहर, पत्नी प्रताप (सती अनसूइया) आदि नाटक लिखे हैं। इनके

ऐतिहासिक नाटकों में वर्तमान समय के भी अनेक पात्र आ गए हैं। कट्टर आर्यसमाजी होने के कारण लेखक ने रामायण में हनुमान आदि को मनुष्यरूप में प्रस्तुत किया है। इस विषय में इस नाटक के आरम्भ में ही सूत्रधार ने कहा है, "जो पाप से काँपता है, डरता है, वह कपि है (कम्पते पापात् सदा सः कपिः)। हनुमान जी का जीवन धार्मिक जीवन था; वे पाप से काँपते थे इसलिए कपि सम्बोधन किया गया, न कि वन्दर के अर्थ में।"

आपकी भाषा पर उस समय के पारसी रंगमंच पर प्रचलित भाषा-शैली का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसलिए नाटकों के गद्यात्मक संवादों में भी तुकवन्दी पाई जाती है। जैसे रामायण नाटक में दशरथ कहते हैं, "मैंने तीन विवाह करके वैदिक धर्म की मर्यादा को तोड़ा है। अब मुझ पर जितना संकट पड़े थोड़ा है।" महाभारत में दुर्योधन के मुँह से कहलवाया गया है, "क्यों, याद है वह जमाना? मुझे पानी के कुण्ड में गिराना और फिर कहकहा लगाना?"

नाटकों की कथाएँ लिखने के वाद श्री बेताव ने भारतीय चलचित्रों की भी अनेक पटकथाएँ लिखीं। आपका पहला पौराणिक चित्र 'कच और देवयानी' था। आपने अपनी फिल्मों के गानों के माध्यम से भी आर्यसमाजी विचारों का प्रचार किया। १९३६ में आपकी एक फिल्म 'तूफानी तरुणी' का यह गाना वड़ा लोकप्रिय हुआ—

महामन्त्र है यह जपा कर जपा कर
हरिओ३म् तत्सत् हरिओ३म् तत्सत्,
जब साँस आए, ध्वनि हो बराबर,
हरिओ३म् तत्सत् हरिओ३म् तत्सत्।

आर्यसमाज के सत्संगों में निराकार परमेश्वर की स्तुति में गाया जानेवाला निम्नलिखित भजन श्री बेताव का ही लिखा हुआ है—

अजब हैरान हूँ भगवन् तुम्हें क्योंकर रिझाऊँ मैं,
नहीं वस्तु कोई ऐसी, जिसे सेवा में लाऊँ मैं।

आपने 'महर्षि दयानन्द दिग्दर्शन' नामक एक पुस्तक की भी रचना की थी। आर्यसमाज मृतकश्राद्ध का कट्टर विरोधी था। इस मत का समर्थन आपने अपनी कविता के माध्यम से जिस सफलता के साथ किया है, उसकी वानगी निम्नलिखित है—

यहाँ तक थे हम होशियारे जमाना,
कि भिजवाते रहते थे मुर्दों को खाना,
बड़े पेट थे या वड़ा डाकखाना,
किये पारसल उनसे अक्सर रवाना
जरा देखिए डाकियों का कलेजा,
जमीं का पुलन्दा फलक पर भी भेजा।
रसीद आज तक भी किसी को न आई,
वह शय पाने वालों ने पाई न पाई।
बहुत खो चुके जब वो अपनी कमाई,
ऋषि ने बताया कि है ये ठगाई।
गया पार्सल यह तसल्ली है झूठी,
लुटेरों ने वह डाक रस्ते में लूटी।

श्री बेताब को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने पारसी रंगमंच और सिनेमा के क्षेत्र में उर्दू के स्थान पर हिन्दी को लाने का सफल प्रयत्न किया। 'महाभारत' नाटक की भूमिका में उन्होंने यह ठीक ही लिखा है कि " 'मगर' और 'खैर' का स्थान 'परन्तु' और 'अस्तु' को दिलाने में···इस नाटक ने कुछ काम किया है तथा हिन्दी-प्रचार में कुछ मदद अवश्य मिली है।"

वर्तमान शताब्दी के प्रथम चरण में लाला लाजपतराय के आग्रह के कारण श्री तुलसीदास शैदा ने उर्दू का त्याग करके १९२१ में हिन्दी में नाटक लिखना शुरू किया। श्रीकृष्णचन्द्र, भीष्म प्रतिज्ञा आदि पौराणिक विषयों पर उन्होंने काफी बड़ी संख्या में नाटक लिखे हैं। इनमें पर्याप्त आर्यसमाजी प्रभाव पाया जाता है। इन नाटकों से हिन्दी को काफी लोकप्रियता मिली।

उपन्याससम्राट् प्रेमचन्द ने भी हिन्दी में तीन नाटक लिखे हैं—संग्राम (१९२३ ई०), कर्बला (१९२४ ई०) और प्रेम की वेदी (१९३३ ई०)। उनके नाटक मंचन की दृष्टि से सफल और लोकप्रिय नहीं हुए। इनकी अपेक्षा इस क्षेत्र में उनके समकालीन सुदर्शन को अधिक सफलता मिली है। उनके नाटक तथा उन पर बनी हुई फिल्में अत्यधिक लोकप्रिय हुईं।

श्री सुदर्शन रंगमंच की दृष्टि से नाटक लिखने में बड़े सफल सिद्ध हुए। उनके अनेक नाटकों पर सिकन्दर जैसी अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त करनेवाली फिल्में भी बनीं। उनका पहला नाटक 'दयानन्द' १९१७ ई० में लिखा गया था। इसमें उन्होंने आर्यसमाज के संस्थापक के चरित्र को बड़े उज्ज्वल रूप में प्रस्तुत किया है। छः वर्ष बाद उन्होंने एक पौराणिक नाटक 'अंजना' (१९२४ ई०) लिखा। इस नाटक के माध्यम से लेखक ने समाज के सम्मुख भारतीय नारी के पातिव्रत्य, आत्मत्याग और धर्मपरायणता के उच्च नैतिक आदर्शों को प्रस्तुत किया है। इसमें सती अंजना के विरह और मिलन की कथा को पौराणिक पृष्ठभूमि में बड़े कलात्मक ढंग से प्रदर्शित किया गया है।

'भाग्यचक्र' (१९३७ ई०) सामाजिक पृष्ठभूमि पर आधारित समस्यामूलक घटनाप्रधान है। हिन्दी रंगमंच पर यह बहुत सफलतापूर्वक अभिनीत हुआ है। इसमें तत्कालीन-समाज में जात-पात के प्रचलित रूप और उसके दुष्प्रभावों का बड़ा सुन्दर वर्णन है। इस पर आधारित 'धूप छाँह' फिल्म बड़ी सफल हुई और 'तेरी गठरी में लागा चोर' का गाना भी बड़ा लोकप्रिय हुआ था। यह मूलतः कलकत्ता के न्यू थियेटर्स के लिए लिखा गया था। चतुरसेन शास्त्री ने इस बारे में लिखा है, "न्यू थियेटर्स के लिए धूप-छाँह लिखकर सुदर्शन ने लोकप्रिय हिन्दी का रंग शरत् और रवीन्द्र की भूमि बंगाल में छिड़क दिया। धूपछाँह के गीत जहाँ सरल और प्रभावी हैं, वहाँ कवित्व भी है।" सुदर्शन द्वारा लिखी हुई चित्रपट-कथाओं के आधार पर पड़ोसी, पृथ्वीवल्लभ, झाँसी की रानी, पत्थरों का सौदागर आदि २८ फिल्में तैयार की गई हैं।

उनका चौथा नाटक सिकन्दर १९४७ में लिखा गया था। यह ऐतिहासिक कथा पर आधारित है और मूल रूप से मिनर्वा मूवीटोन के स्वामी सोहराब मोदी के विशेष आग्रह पर लिखा गया था। इसमें यूनान के सम्राट् सिकन्दर और केकय के राजा पुरु के युद्ध की ऐतिहासिक कहानी में लेखक ने पुरु को आदर्श वीर चरित्र के रूप में अंकित करने में बड़ी सफलता प्राप्त की है। सिकन्दर की दृष्टि में 'पुरु एक ऐसी आग है जो बर्फ

में भी न बुझे और ऐसा लोहा है जो आग में भी न पिघले।' यह नाटक देशभक्ति की भावना से ओतप्रोत है। इसमें लेखक का यह ध्येय है कि वह इस बात को प्रदर्शित करे कि राजा पुरु ने राजनीति के साथ नैतिक आदर्शों की रक्षा कितने अधिक त्याग और वलिदान से की है। यद्यपि इसमें पुरु को सिकन्दर की पत्नी रुखसाना द्वारा राखी बाँधने आदि की कुछ अनैतिहासिक घटनाओं का समावेश है, किन्तु संवादों की दृष्टि से यह नाटक पात्रों की चारित्रिक विशेषताएँ अभिव्यक्त करने में बड़ा सफल हुआ है। इसके संवादों का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। सिकन्दर की रक्षा के लिए जब उसकी पत्नी रुखसाना पुरु की बहन बनने के लिए उसके महल में जाकर ईरान के तोहफे के रूप में उसके हाथ में राखी बाँधती है और यह बताती है कि उसका उद्देश्य सिकन्दर को हर संकट से बचाना है और यदि उसे स्वीकार न हो तो वह अपनी राखी उतार सकती है तो पुरु उत्तर देता है, "तुम इसे बाँधकर हमारी बहन बन सकती हो। इसे उतारकर परायी नहीं बन सकती हो। यह सम्बन्ध कभी न टूटेगा।"

आर्यसमाज से प्रभावित होने के कारण पण्डित सुदर्शन का समूचा नाटक साहित्य आदर्शवादी विचारों से ओतप्रोत है।

नाटकों के अतिरिक्त सुदर्शन ने पाँच एकांकी भी लिखे हैं। 'जब आँखें खुलती हैं' नामक एकांकी भारत के स्वतन्त्रता-संग्राम के दिनों में चलनेवाले समाज-सुधार आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर लिखा तीन दृश्यों में समाप्त होनेवाला एक सामाजिक एकांकी है। इसमें वेश्यावृत्ति के उन्मूलन के लिए चलाए गए आन्दोलन की झाँकी है। दूसरा एकांकी 'जैसलमेर की एक संध्या' ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर लिखा देशभक्ति, वीरता और त्याग एवं वलिदान के उच्च आदर्शों की प्रेरणा देनेवाला नाटक है। 'छाया' मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के प्रेम-प्रसंग के आधार पर लिखा नाटक है। चन्द्रगुप्त की प्रेमिका छाया दो बार उसकी रक्षा करने के बाद एक संगीतलहरी के समान वायुमण्डल में विलीन हो जाती है। 'पराजय' जोधपुर के राजपूती इतिहास के प्रसंग पर आधारित है और इसमें युद्धभूमि में मर-मिटने की राजपूती आन, भारतीय स्त्री की वीरता, देशप्रेम, धैर्य, त्याग एवं कर्त्तव्य की भावना को बड़े सुन्दर रूप में दिखाया गया है। इसमें रणभूमि में हारे जोधपुर-नरेश जसवन्तसिंह को उसकी माता और पत्नी विजय प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती हैं। इसी प्रकार 'प्रताप प्रतिज्ञा' में भी देशसेवा, कर्त्तव्य-पालन, वलिदान आदि के उच्च आदर्शों का प्रतिपादन है। 'आॅनरेरी मजिस्ट्रेट' नामक प्रहसन में ब्रिटिश युग में अंग्रेज शासकों द्वारा खुशामदियों को मैजिस्ट्रेट बनाने के दुष्परिणामों का बड़ा सुन्दर चित्रण किया गया है। इसमें लाहौर के दो अनपढ़ मक्खीचूस, कंजूस अमीर गण्डूशाह और झण्डूशाह मजिस्ट्रेट बनने पर किस प्रकार न्याय का गला घोटते हैं, इस विषय को बड़ी चुटीली व्यंग्यपूर्ण शैली में प्रस्तुत किया गया है।

हरिशंकर शर्मा ने भी कुछ सुन्दर प्रहसन और एकांकी नाटक लिखे हैं। इनमें सामाजिक कुरीतियों पर प्रभावशाली व्यंग्य किये गए हैं। 'बुढ़ऊ के विवाह' में अनमेल विवाह की आलोचना है। 'बिरादरी विभ्राट्' में बिरादरी-प्रथा पर व्यंग्य है। इनके सभी एकांकी समाजसुधार की भावना से लिखे गए हैं और बड़े लोकप्रिय हुए हैं।

श्री चतुरसेन शास्त्री ने अनेक ऐतिहासिक नाटक—अजीतसिंह, राजसिंह, अमरसिंह, छत्रसाल, मेघनाद, गान्धारी और श्रीराम आदि लिखे हैं। किन्तु इनमें नाट्य-

कला के नियमों का अधिक ध्यान नहीं रक्खा गया है। लेखक के कथनानुसार उसने इसमें विद्यार्थियों की ज्ञानवृद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया है। इन नाटकों में गीतों का भी अभाव है।

श्री चतुरसेन शास्त्री ने संस्कृत के सुप्रसिद्ध नाटककार भास और भवभूति के नाटकों के आधार पर प्राचीन भारत के महापुरुषों—श्रीराम, राधाकृष्ण, सीताराम आदि सुन्दर एकांकी लिखे हैं। अष्टमंगल में संस्कृत के आठ नाटकों का एकांकीकरण किया गया है। 'स्त्रियों का ओज' नामक संग्रह के एकांकी बड़े सुन्दर हैं और यह कहा जाता है कि "यह हिन्दी का सर्वप्रथम ध्वन्यात्मक एकांकी संकलन है।"

श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार (१९०६–१९८५) को नाटक लिखने में बड़ी सफलता मिली है। १९३२ में उन्होंने अपना पहला ऐतिहासिक नाटक अशोक लिखा था। इसमें बौद्ध साहित्य के आधार पर अशोक के धर्म-परिवर्तन का बड़ा सुन्दर विवेचन है और यह बताया गया है कि क्रूर भ्रातृहन्ता शासक से किस प्रकार बुद्ध का भक्त बना। वह अपने बड़े भाई सुमन से राज्य छीनकर स्वयं सम्राट् बन जाता है। उसकी भाभी शीला आचार्य उपगुप्त के उपदेश से 'दुःखी दुनिया के घावों में मरहम पट्टी बन जाने की' साधना में लग जाती है और कलिंग युद्ध के अवसर पर अपना बलिदान करके अशोक का हृदय-परिवर्तन लाने में सफल हो जाती है। अशोक हिंसा का परित्याग करके 'धर्मविजय' की पद्धति स्वीकार करता है और तथागत का शिष्य बनता है। इस नाटक का प्रधान पात्र शीला है। वह अपने पति के हत्यारे से बदला नहीं लेती, अपितु अपने बलिदान से उसके प्राणों की रक्षा करती है। यह नाटक हिन्दी में इतना लोकप्रिय हुआ है कि पिछले तीन दशकों में इसकी एक लाख से अधिक प्रतियाँ बिक चुकी हैं।

अशोक के बाद श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने दूसरा नाटक 'रेवा' (१९३८ ई०) लिखा है। इसका विषय विदेशों में भारतीय संस्कृति का प्रसार है। यह ऐसे विषय पर लिखा गया एकमात्र नाटक है। इसकी नायिका रेवा आशा द्वीप की राजकुमारी है। वह अपने प्रियतम यशोवर्मा की प्रतीक्षा में निराश होने के बाद शिवमन्दिर के कलश पर रातभर प्रकाश बनाये रखने की व्यवस्था इस दृष्टि से करती है कि कोई नौका अँधेरे में रास्ता न भटक जाय। कम्बुज देश के सम्राट् यशोवर्मा उसके बारे में कहते हैं कि "उसका हृदय इतना विशाल है कि मेरे जैसे अभागे व्यक्ति के हृदय को अपने स्नेह से लबालब भरकर भी वह स्वयं भरा-का-भरा ही रहता है।" सुप्रसिद्ध हिन्दी आलोचक डॉक्टर नगेन्द्र ने इस नाटक की नायिका रेवा का "करुण गीतिमय व्यक्तित्व अतीव मोहक" बताया है। एक अन्य आलोचक श्री अज्ञेय ने इसे श्री हरिकृष्ण प्रेमी के स्वप्नभंग और जयशंकर प्रसाद के स्कन्दगुप्त से श्रेष्ठ बताते हुए लिखा है कि इसमें एकता है और इसकी उठान अचूक है। इसके अन्तिम दृश्य का नाटकीय सौंदर्य अद्भुत है। इस नाटक में लेखक ने श्रीमती महादेवी, श्रीमती पुरुषार्थवती, और मैथिलीशरण गुप्त के प्रसंग के अनुकूल गीतों का बड़ा कलात्मक तथा सौंदर्यपूर्ण उपयोग किया है। हिन्दी के अन्य सुप्रसिद्ध कवियों के गीतों के अपने नाटक में उपयोग की नई परिपाटी का श्री चन्द्रगुप्त ने श्रीगणेश किया था।

इनके दो अन्य नाटक 'देव और मानव' (१९५६ ई०) और 'न्याय की रात' (१९५८ ई०) है। 'न्याय की रात' का उद्देश्य वर्तमान समाज में फैले भ्रष्टाचार के

उन्मूलन के लिए जनता में प्रबल भावना उत्पन्न करना है। इसकी तकनीक पूर्णरूप से यथार्थवादी है और इसमें लेखक ने पण्डित नेहरू के रेडियो भाषण का प्रयोग अतीव नाटकीयतापूर्ण ढंग से किया है। इनके दो अन्य एकांकी संग्रह हैं—कास्मोपोलिटन क्लब (१९४५) और हिन्दुस्तान जाकर कहना।

(५) गद्यकाव्य

गद्य काव्य में "भावों की सरसता और कल्पना की रमणीयता का सुन्दर 'मणि-कांचन संयोग' होता है। हिन्दी में इस विधा को आरम्भ करनेवालों में अनेक आर्य-समाजी लेखक उल्लेखनीय हैं। आचार्य चतुरसेन शास्त्री को इस बात का श्रेय दिया जाता है कि उन्होंने इस काव्य की विधा को हिन्दी में आरम्भ किया। उनका पहला गद्य-काव्य 'चित्तौड़ के किले में' शीर्षक से कानपुर के प्रताप पत्र में छपा था। इसके बाद उनके अनेक वीर रसपूर्ण गद्यकाव्य इस पत्र में प्रकाशित होते रहे। इस विधा में लेखक किसी एक स्थल, परिस्थिति या घटना के प्रभाव से हृदय में उत्पन्न होनेवाले मनोभावों का बड़ा सरस चित्रण प्रस्तुत करता है। पुस्तकरूप में इस प्रकार का पहला गद्य काव्यसंग्रह 'अन्तस्तल' (१९२१ ई०) के नाम से प्रकाशित हुआ था। पण्डित पद्मसिंह शर्मा ने इसकी भूमिका में लिखा था, "अन्तःस्तल हिन्दी में निःसन्देह अपने ढंग की एक नई रचना है।"

इसमें जहाँ एक ओर उस समय महत्त्वपूर्ण समझे जानेवाले स्वदेशप्रेम, मातृ-महिमा आदि विषयों का वर्णन हुआ है, वहाँ दूसरी ओर मानसिक भावों का भी बड़ा स्वाभाविक, यथार्थ, रसपूर्ण तथा मनोग्राही चित्रण हुआ है। गर्व भाव की अभिव्यक्ति करते हुए लेखक ने लिखा है—"लड़ लो, चाहे जिस तरह लड़ लो, धन में, बल में, विद्या में, चार कौड़ी क्या हुई सींग निकल आये! धरती पर पैर नहीं टेकते! कुछ परवाह नहीं। ईंट-से-ईंट बजा दूंगा···किसने मुझे अब तक नीचा दिखाया है? जो उठा, वही खटमल की तरह मसल दिया।"

अन्तःस्तल में कई शैलियों का प्रयोग किया गया है। इसमें वार्तालाप-शैली का सुन्दर उदाहरण प्यार शीर्षक गद्य काव्य में पाया जाता है। एक समीक्षक डॉक्टर श्रीकृष्ण लाल ने लिखा है—"चतुरसेन शास्त्री ने अपनी गद्य रचना में बातचीत की लय और संगीत स्पष्ट रूप से उतार दिया है; कलात्मक गद्य में श्री शास्त्री संवाद-शैली के सर्वोत्तम लेखक हैं।" श्री शास्त्री के अन्य गद्य-काव्यसंग्रह तरलाग्नि (१९३६ ई०), मरी खाल की हाय (१९३९ ई०) हैं। मिश्रबन्धुओं के दृष्टि में "आप वर्तमान काल के सर्वोत्कृष्ट गद्य लेखक हैं।"

आचार्य अभयदेव विद्यालंकार (१८९६–१९७०)—आप हिन्दी के सुप्रसिद्ध आरम्भिक गद्यकाव्य-लेखक हैं। मुजफ्फरपुर नगर के चरथावलवासी तथा गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी के प्रतिष्ठित स्नातक आचार्य अभयदेव का पुराना नाम देव शर्मा था। १९३८ ई० में संन्यास ग्रहण करने के बाद वे अभयदेव बन गये। आप पर स्वामी दयानन्द, महात्मा गांधी और योगीराज अरविन्द का गहरा प्रभाव था। वैदिक साहित्य विषयक रचनाओं—वैदिक विनय (तीन भाग), ब्राह्मण की गौ, वैदिक उपदेशमाला, वैदिक ब्रह्मचर्य के अतिरिक्त गद्य काव्य पर आपकी सुप्रसिद्ध कृति 'तरंगित हृदय' सर्व-

प्रथम १९२७ में प्रकाशित हुई थी। इस रचना की भूमिका में पद्मसिंह शर्मा ने इस गद्य-काव्य की रचनाओं की तुलना मानसरोवर के मोतियों से करते हुए कहा है कि "श्री देव-शर्मा जी अब तक अपनी वीतरागवृत्ति के कारण प्रसिद्धि और प्रकाशन से दूर रहते थे, किन्तु इस विज्ञापन-विज्ञान-प्रधान युग में अज्ञातवास असम्भव है। सूखी पत्तियों के ढेर में छिपे फूल को निगाहें ढूंढ ही लेती हैं।···आखिर यार लोग इन्हें भी छापे की मण्डी में खींच ही लाये···जो छिपते थे वह अब छपने जा रहे हैं। (भूमिका पृ० ५)

इस पुस्तक में आध्यात्मिक एवं यौगिक दृष्टि से विभिन्न विषयों पर बड़े मार्मिक हृदयोद्गार हैं। सामान्य रूप से व्यक्ति मृत्यु से भय खाते हैं, किन्तु इसमें इसे सुखद विश्राम बताते हुए यह विचार प्रकट किया गया है कि "सचमुच हे मृत्यु! तू डरावनी नहीं है। तू तो विश्राम और मुक्तिदायिनी है। तू काले भैंसे पर चढ़ी हुई, भयानक काल-दण्ड हाथ में लिये हुए कोई रौद्र चीज नहीं है। तू तो मुझे एक रमणीक, सुन्दर वन्दन-वारों से सजे हुए द्वार के रूप में दीखती है, जिसमें कि श्रान्त तपस्वी विश्राम की प्रफुल्लता पाने के लिए सुख से प्रवेश करते हैं, और जिसमें होकर चरम देहवाले मुनिगण मंगलमय प्रभु के धाम में प्रवेश कर उसकी प्यारी गोद की शरण पहुँचते हैं।"

इसी युग में एक अन्य गद्यकाव्य-लेखक शाहाबाद (बिहार) जिले के श्री देवदूत **विद्यार्थी** (१९०३–१९७२) थे। इनका वास्तविक नाम देवनारायण पाण्डेय था। गांधी जी के आह्वान पर आप बिहार से हिन्दी प्रचार निमित्त मद्रास गये और विवाह करके वहीं बस गये। आपने जहाँ दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार का सराहनीय प्रयास किया और प्रचारक नामक पत्र का सम्पादन किया, वहाँ दूसरी ओर दक्षिण भारतीयों को हिन्दी सिखाने के लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की। आपके द्वारा लिखा गया गद्यगीतों का संग्रह 'कुमार हृदय का उच्छ्वास' और 'तूणीर' उल्लेखनीय हैं। इसे पटना के सर्चलाइट ने गद्य में पद्य कहा था। श्री विद्यार्थी के गद्यकाव्य का प्रेरणास्रोत आर्यसमाज ही है।

(६) समीक्षा

हिन्दी का समीक्षा-साहित्य आजकल बहुत समृद्ध हो चुका है। इसे समृद्ध बनाने में आर्यसमाज के कतिपय विद्वानों की प्रमुख भूमिका रही है। समीक्षाशास्त्र की दो बड़ी शाखाएँ हैं—पहली शाखा इसके सैद्धान्तिक रूप का विवेचन करती है, और दूसरी शाखा में इसके व्यावहारिक पक्ष का प्रतिपादन किया जाता है। इन दोनों में आर्यसमाज का पर्याप्त योगदान है।

(क) सैद्धान्तिक समीक्षा साहित्य—इसका अभिप्राय काव्य में रस आदि की उत्पत्ति के मौलिक सिद्धान्तों के विवेचन से है। इसके दो प्रधान स्रोत हैं। प्राचीन भारत के रसशास्त्र-समीक्षक इसको अपने ध्वन्यालोक, काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण आदि विभिन्न ग्रन्थों में प्रतिपादन करते रहे हैं। ज्वालापुर गुरुकुल के पण्डित शालिग्राम शास्त्री ने हिन्दी में साहित्यदर्पण की विमला टीका लिखकर सर्वप्रथम इस शास्त्र का विवेचन आरम्भ किया था। इसी महाविद्यालय के स्नातक पण्डित उदयवीर शास्त्री ने वाग्भटा-लंकार की और डॉक्टर हरिदत्त शास्त्री ने मम्मट की कृति काव्यप्रकाश की हिन्दी में विस्तृत टीका लिखी है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के विभिन्न ग्रन्थों को अपनी अनुपम विद्वत्ता से हिन्दी रूप

देनेवाले गुरुकुल वृन्दावन के आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि (१६०७-६२ ई०) थे। उन्होंने संस्कृत काव्यशास्त्र के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की हिन्दी में विस्तृत टीकाएँ और व्याख्याएँ लिखी हैं। इनमें प्रमुख हैं—हिन्दी ध्वन्यालोक (१६५२ ई०), हिन्दी काव्यालंकार सूत्र (१६५४ ई०), हिन्दी वक्रोक्ति जीवित (१६५५ ई०), हिन्दी अभिनव भारती (१६६० ई०), हिन्दी काव्यप्रकाश (१६६० ई०), हिन्दी काव्यदर्पण (१६६१ ई०)। डॉक्टर नगेन्द्र ने हिन्दी ध्वन्यालोक, हिन्दी काव्यालंकार सूत्र और हिन्दी वक्रोक्ति जीवित के आरम्भ में बड़ी पाण्डित्यपूर्ण भूमिकाएँ लिखी हैं। इनमें संस्कृत के काव्यशास्त्र का विस्तृत विवेचन किया गया है।

संस्कृत-ग्रन्थों के अनुवाद और भाष्यों के अतिरिक्त अनेक विद्वानों ने समीक्षा-शास्त्र पर स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ भी लिखे हैं। इनमें डॉक्टर सूर्यकान्त शास्त्री की 'साहित्य मीमांसा', श्री क्षेमचन्द्र सुमन का 'साहित्य विवेचन' और डॉक्टर फतहसिंह की 'भारतीय सौंदर्यशास्त्र की भूमिका' उल्लेखनीय हैं। पिछले ग्रन्थ में ऋग्वेद के नवम मण्डल के आधार पर सौंदर्य तत्त्व की मीमांसा की गई है। डॉक्टर हरिशंकर शर्मा का देव पुरस्कार से सम्मानित 'रस रत्नाकर' भी इस विषय का सुन्दर विवेचन प्रस्तुत करता है। डॉक्टर ओमप्रकाश ने अपने शोधग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य में अलंकार' के आधार पर 'हिन्दी अलंकार साहित्य' लिखा है। इसमें विस्तारपूर्वक अलंकार-साहित्य का विशद अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

हिन्दी में सैद्धान्तिक समीक्षा के क्षेत्र में डॉक्टर नगेन्द्र मूर्धन्य विद्वान् हैं। वे आर्य-समाज के प्रसिद्ध विद्वान् श्री राजेन्द्र के सुपुत्र हैं जिन्होंने 'भारत में मूर्तिपूजा : एक ऐति-हासिक विवेचन', 'पुनर्जन्म का वैज्ञानिक विवेचन आदि पुस्तकें लिखी हैं। डॉक्टर नगेन्द्र ने पौरस्त्य एवं पाश्चात्य जगत् के काव्यशास्त्र के विभिन्न विद्वानों और सम्प्रदायों का गम्भीर अध्ययन किया है। पहले बताया जा चुका है कि आचार्य विश्वेश्वर के काव्य-साहित्य-विषयक ग्रन्थों के हिन्दी भाष्यों के आरम्भ में उन्होंने बड़ी पाण्डित्यपूर्ण भूमि-काओं में इनके विभिन्न सम्प्रदायों का सूक्ष्म विवेचन किया है; रससिद्धान्त के विकास का प्रतिपादन करते हुए भट्ट लोलट, भट्ट नायक, अभिनव गुप्त के सिद्धान्तों की सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है। इस विषय में उनका साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत ग्रन्थ 'रस-सिद्धान्त' उल्लेखनीय है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका' में भी भारतीय साहित्यशास्त्रकारों के मतों की मीमांसा की है। पाश्चात्य जगत् में अरस्तु ने सर्वप्रथम काव्यशास्त्र की विवेचना की थी। डॉक्टर नगेन्द्र ने अरस्तु तथा अन्य पाश्चात्य आचार्यों के ग्रन्थों का अनुवाद करते हुए भारतीय रससिद्धान्त के साथ पश्चिमी विद्वानों के विचारों की तुलना की है।

(ख) व्यावहारिक समीक्षाशास्त्र—इसका अभिप्राय हिन्दी में साहित्य-विषयक पुस्तकों की समालोचना है। आर्यसमाज के आरम्भिक काल से ही विभिन्न आर्यसमाजी पत्र-पत्रिकाओं में साहित्य-समालोचना का स्तम्भ रहता था। 'भारत सुदशा प्रवर्तक' के 'साहित्य समालोचना' स्तम्भ में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की सब पुस्तकों की आलोचनाएँ प्रकाशित हुई थीं। इनमें पुस्तकों के गुण-दोषों का विवेचन किया जाता था। शीघ्र ही हिन्दी में आलोचना की नई और आधुनिक पद्धतियों का विकास हुआ। इनमें तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति के जन्मदाता पण्डित पद्मसिंह शर्मा थे।

पं० पद्मसिंह शर्मा—गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर तथा गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में प्राध्यापक रहनेवाले भारतोदय पत्र के सम्पादक और १९२८ में अखिल भारतीय साहित्य सम्मेलन के मुजफ्फरपुर अधिवेशन के सभापति बननेवाले पद्मसिंह शर्मा १९२२ में बिहारी-सतसई के संजीवन भाष्य पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन से पहली बार मंगला प्रसाद पुरस्कार प्राप्त करनेवाले विद्वान् थे। पण्डित पद्मसिंह शर्मा की हिन्दी को सबसे बड़ी देन समीक्षा के क्षेत्र में है। उनसे पहले भारतेन्दु युग में साहित्य-समीक्षा पुस्तकों की आलोचना और दोषदर्शन तक ही सीमित थी। द्विवेदी-युग में उन्होंने नये ढंग की समीक्षा-पद्धति शुरू की। इसमें तुलनात्मक पद्धति से कवियों की मौलिक विशेषताओं एवं अभिव्यंजनागत मर्म को उद्घाटित किया जाता था। मिश्रबन्धुओं ने अपने हिन्दी नवरत्न में देव और बिहारी की तुलना करते हुए देव को बिहारी से उत्कृष्ट बताया था। इससे पद्मसिंह शर्मा बिहारी एवं समीक्षा के क्षेत्र की ओर आकृष्ट हुए। उन्होंने सर्वप्रथम जुलाई १९०६ में सरस्वती में बिहारी और सुप्रसिद्ध फारसी कवि शेख-सादी की तुलनात्मक समालोचना एक लेख में प्रकाशित की। इसी अंक में शर्मा जी का एक अन्य लेख भी छपा जिसका शीर्षक था—'भिन्न भाषाओं के समानार्थी पद्य'। यह निबन्ध सरस्वती के कई अंकों में निकलता रहा। इसी प्रकार जुलाई १९०८ की सरस्वती से उनकी एक लेखमाला 'संस्कृत और हिन्दी कविता का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव' के नाम से निकलनी शुरू हुई। यह अगले चार वर्ष तक चलती रही। इन लेखों के आधार पर ही भविष्य में हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा-पद्धति का विकास हुआ और इसने शर्मा जी को बिहारी की सतसई का संजीवन भाष्य लिखने के लिए प्रेरित किया।

पं० पद्मसिंह शर्मा हिन्दी, उर्दू, संस्कृत, प्राकृत, फारसी आदि भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने इन भाषाओं के प्रमुख काव्यों का गम्भीर अध्ययन किया था। इसके आधार पर उन्होंने बिहारी सतसई के दोहों की तुलना हाल द्वारा प्राकृत में लिखित गाथा सप्तशती, अमरुक शतक, गोवर्द्धनाचार्य की आर्यसप्तशती की श्लोकों से तथा उर्दू एवं फारसी के प्रमुख कवियों की रचनाओं से की। इसी समय उर्दू साहित्य में शेख शिबली नोमानी ने 'मुआजने अनीस ओ जबीर' लिखकर तुलनात्मक समीक्षा का सूत्रपात किया था। इसका प्रभाव तत्कालीन हिन्दी साहित्य पर पड़ा और पद्मसिंह शर्मा ने बिहारी के दोहों की संस्कृत, प्राकृत, फारसी और उर्दू के कवियों की समान भाव वाली रचनाओं से तुलना करते हुए बिहारी के रचनाकौशल को सर्वोत्तम सिद्ध करने का पाण्डित्यपूर्ण प्रयास किया। इसी से हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का आविर्भाव हुआ।

उस समय तक समीक्षकों द्वारा बिहारी पर यह आरोप लगाया जाता था कि उन्होंने अपने दोहों के कुछ भाव हाल, गोवर्द्धनाचार्य आदि पुराने लेखकों की रचनाओं से चुराये हैं। पद्मसिंह शर्मा ने ऐसे दोहों का तुलनात्मक अध्ययन और विश्लेषण करके बिहारी की श्रेष्ठता और विशिष्टता का प्रतिपादन किया। उन्हें भावापहरण के आरोप से मुक्त किया तथा तुलनात्मक आलोचना के आधार पर बिहारी सतसई का सौष्ठव प्रमाणित किया। इसीलिए वे हिन्दी के सर्वोच्च साहित्यिक पुरस्कार से सम्मानित हुए। हिन्दी के सुप्रसिद्ध समीक्षक नन्ददुलारे वाजपेयी के शब्दों में "वे अभिव्यंजना-परीक्षा के आचार्य थे। शब्दगत तथा अर्थगत बारीकियों तक उनका जैसा प्रवेश था, हिन्दी में किसी दूसरे व्यक्ति का नहीं देखा गया।" (हिन्दी साहित्य बीसवीं शताब्दी, भूमिका, पृष्ठ २)।

१९७७ में पद्मसिंह शर्मा की जन्म-शताब्दी सारे देश में बड़ी धूमधाम से मनायी गई। इस अवसर पर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा पद्मसिंह शर्मा (जन्मशती ग्रन्थ) तथा श्री रमेश चन्द्र दुबे के प्रयास से 'आचार्य पद्मसिंह : व्यक्ति और साहित्य' नामक विशाल स्मृतिग्रन्थ प्रकाशित हुआ।

डॉक्टर मुंशीराम शर्मा (जन्म, ३० जनवरी १९०१)—आप वैदिक साहित्य और सूर साहित्य के सुप्रसिद्ध समीक्षक हैं और कानपुर के डी० ए० वी० कॉलेज के हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष रहे हैं। आपने सूर साहित्य से संबद्ध चार महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है—सूर सौरभ, भारतीय साधना और सूर साहित्य (१९५३ ई०), सूरदास और भगवत् भक्ति तथा सूरदास का काव्य वैभव (१९६५ ई०)। सूर सौरभ में उन्होंने राधा के स्वरूप पर नया प्रकाश डाला है। यह ग्रन्थ ब्रज साहित्य मण्डल द्वारा पुरस्कृत हुआ है। भारतीय साधना और सूरसाहित्य नामक शोधग्रन्थ में हरिलीला के आध्यात्मिक पक्ष का बड़ा मार्मिक विवेचन किया गया है। इस पर वे उत्तर प्रदेश सरकार के पुरस्कार से सम्मानित हुए थे। 'सूरदास का काव्य वैभव' में उन्होंने इस महाकवि की साहित्यिक विशेषताओं का बड़ा गम्भीर तलस्पर्शी और मार्मिक विवेचन किया है।

'भक्ति का विकास' उनके डी० लिट्० का शोधप्रवन्ध है। इसमें वैदिक भक्ति, भागवत भक्ति तथा हिन्दी के भक्तिकालीन काव्य का विवेचन किया गया है। इसमें सर्वप्रथम वैदिक भक्ति की विशेषताओं का विवेचन प्रस्तुत किया गया है और मध्यकालीन भक्ति के साथ इसकी समानताओं और भेदों पर भी विद्वत्तापूर्ण ढंग से प्रकाश डाला गया है। यह ग्रन्थ उत्तर प्रदेश सरकार एवं डालमिया पुरस्कार समिति द्वारा सम्मानित किया गया है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त आपने कई अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं—हिन्दी साहित्य के इतिहास का उपोद्‌घात, पद्मावत का भाष्य, कबीरवचनामृत। आपने आर्य धर्म, संध्या चिन्तन, महाभारत और सारस्वत नामक निबंध-संग्रह एवं वैदिक विकास पद्धति और कविकुल कीर्ति भी लिखी है। आप आर्यसमाजी पत्र-पत्रिकाओं में, विशेष रूप से 'आर्य मित्र' में वैदिक विषयों पर नियमित रूप से लेख लिखते रहते हैं। हिन्दी जगत् में सूरकाव्य के विशेषज्ञ और आलोचक के रूप में आपकी बड़ी प्रतिष्ठा है।

वृन्दावन गुरुकुल के यशस्वी स्नातक और दिल्ली विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डॉक्टर विजयेन्द्र स्नातक ने आलोचना के क्षेत्र में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। उनका मध्यकालीन साहित्य से सम्बन्ध रखनेवाला शोधग्रन्थ—'राधावल्लभ सम्प्रदाय, सिद्धान्त और साहित्य' अतीव महत्त्वपूर्ण है। इसमें लेखक ने राधावल्लभ सम्प्रदाय के प्रमुख साहित्य-कारों के काव्यों के आधार पर रासलीला के महत्त्व का विवेचन किया है और श्रीहित प्रभु को वृन्दावन में रासलीला का पहला संचालक सिद्ध किया है। कामायनी दर्शन (१९५२ ई०) में उन्होंने मूल ग्रन्थ के दार्शनिक तत्त्वों का विशद विवेचन किया है। आलोचना और समीक्षा के क्षेत्र में आर्यसमाजी लेखकों की सभी कृतियों का नामोल्लेख यहाँ सम्भव नहीं है। इनमें प्रमुख विद्वान् हैं—डॉक्टर सत्येन्द्र, डॉक्टर सरयुप्रसाद अग्रवाल, डॉक्टर नगेन्द्र। डॉक्टर सुरेशकुमार विद्यालंकार ने शैली विज्ञान की दृष्टि से प्रेमचन्द की भाषा का अध्ययन नामक शोधप्रबन्ध लिखा है। अटक जिले में १९०७ में

उत्पन्न डॉक्टर हरदेव बाहरी हिन्दी के प्रमुख भाषा-वैज्ञानिक हैं। आपके प्रमुख ग्रन्थ हैं—हिन्दी की काव्य शैलियों का विकास (१९४७), प्राकृत और उसका साहित्य (१९५२)।

हिन्दी साहित्य के पुराने और प्रसिद्ध ग्रन्थों की महत्त्वपूर्ण टीकाएँ और भाष्य भी आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने लिखे हैं। पहले पण्डित पद्मसिंह शर्मा के बिहारी सतसई पर लिखे संजीवन भाष्य का उल्लेख हो चुका है। मिथिला के सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि विद्यापति की कीर्तिलता पर १९२९ में डॉक्टर बाबूराम सक्सेना ने टीका लिखी थी। डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल ने १९६२ में इसकी संजीवनी व्याख्या नामक नई टीका लिखी है और इसमें अनेक स्थानों पर मूल पाठ का उद्धार किया गया है और भाषाशास्त्र एवं सांस्कृतिक दृष्टि से अनेक मौलिक टिप्पणियाँ दी गई हैं। डॉक्टर अग्रवाल का मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत पर लिखा संजीवन भाष्य साहित्य-अकादमी के पुरस्कार से सम्मानित हो चुका है। उन्होंने इसके अनेक अस्पष्ट और क्लिष्ट स्थलों की नवीन चमत्कारपूर्ण व्याख्याएँ की हैं और कई स्थानों पर नये पाठ निश्चित किये हैं और शब्दों की मौलिक व्युत्पत्तियाँ की हैं।

हिन्दी साहित्य के अनेक इतिहास आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा लिखे गये हैं। ज्वालापुर महाविद्यालय के स्नातक डॉक्टर सूर्यकान्त शास्त्री ने १९३० ई० में 'हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास' लिखा था। आचार्य चतुरसेन शास्त्री ने १९४६ में 'हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास' लिखा। इसमें राजस्थान की मरुभाषा का विस्तृत विवेचन है और हिन्दी साहित्य पर महात्मा गांधी के प्रभाव का भी सुन्दर विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। डॉक्टर विजयेन्द्र स्नातक और श्री क्षेमचन्द्र सुमन ने 'हिन्दी साहित्य और उसकी प्रगति' नामक एक इतिहास लिखा है। डॉक्टर हरिवंश कोच्छड़ का शोधप्रबन्ध 'अपभ्रंश साहित्य' और डॉक्टर धर्मवीर भारती का 'सिद्ध साहित्य' बड़ी महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने मध्यकालीन अष्टछाप के कवियों का और डॉक्टर नगेन्द्र ने 'रीति काव्य की भूमिका' में रीति काव्य की प्रमुख प्रवृत्तियों का विवेचन किया है। आधुनिक साहित्य के इतिहास के क्षेत्र में डॉक्टर नगेन्द्र की आधुनिक हिन्दी कविता की मुक्त प्रवृत्तियाँ और डॉक्टर विजयेन्द्र स्नातक एवं क्षेमचन्द्र सुमन का आधुनिक हिन्दी साहित्य उल्लेखनीय हैं।

इस प्रसंग में कुछ अन्य उल्लेख योग्य ग्रन्थ हैं—**डॉक्टर भगीसिंह**—रामकथा और तुलसीदास, रामकथा के पात्रों के चरित्र का तुलनात्मक अध्ययन, कवितावली सन्दर्भ और सम्पर्क; **डॉक्टर विजयवीर विद्यालंकार**—रससिद्धान्त विवेचन, दक्षिण में राम-कथा; **ओम्प्रकाश विद्यालंकार**—प्रेमचन्द से मुक्तिबोध : औपन्यासिक यात्रा; **ओम्प्रकाश वेदालंकार**—सन्त कबीर की योगसाधना और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि; **डॉक्टर चन्द्रभानु सोनवणे**—हिन्दी गद्य साहित्य, यशपाल की कहानियाँ; **डॉक्टर सुरेशकुमार विद्यालंकार**—शैली और शैली विज्ञान। इन सब ग्रन्थों से हिन्दी के समीक्षा-साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है।

चौबीसवाँ अध्याय

हिन्दी काव्यधारा में आर्यसमाज का योगदान

(१) आर्यसमाज द्वारा हिन्दी साहित्य की अभिवृद्धि

स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना भारत में धार्मिक एवं सामाजिक सुधार के उद्देश्य से की थी और इसके लिए उन्होंने हिन्दी को माध्यम बनाया था। आर्य-समाज ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने में अभूतपूर्व सहयोग दिया और हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंगों की समृद्धि करनेवाले अनेक विद्वान्, लेखक, साहित्यकार, कवि, आलोचक, ऐतिहासिक, उपन्यासलेखक तथा कथाकार उत्पन्न किये। आर्यसमाज के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए जहाँ आर्यसमाज के विद्वानों ने उच्च कोटि के ग्रन्थ लिखे, वहाँ विशुद्ध साहित्य के क्षेत्र को भी अपनी कृतियों से समृद्ध बनाया।

आर्यसमाज के हिन्दी लेखकों को उत्पन्न करने में गुरुकुलों ने बड़ा सहयोग दिया। इनकी स्थापना के बाद वर्तमान शताब्दी के दूसरे दशक से एक ओर जहाँ समाज को उच्चकोटि के व्याख्याता, धर्मोपदेशक, प्रचारक, प्राध्यापक और पत्रकार मिले, वहाँ लेखन की दिशा में भी उनका अविस्मरणीय योगदान है। गुरुकुल काँगड़ी के स्नातकों में जहाँ इन्द्र विद्यावाचस्पति, जयचन्द्र विद्यालंकार, सत्यकेतु विद्यालंकार, हरिदत्त वेदालंकार, चन्द्रगुप्त वेदालंकार जैसे इतिहासकार हैं, वहाँ चन्द्रमणि विद्यालंकार, अभयदेव विद्यालंकार, प्रियव्रत वेदवाचस्पति, जयदेव विद्यालंकार बुद्धदेव विद्यालंकार, मदनमोहन विद्यासागर, रामनाथ वेदालंकार जैसे वैदिक वाङ्मय के पारंगत विद्वान् भी हैं। जहाँ एक ओर सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार और ऋषिदेव विद्यालंकार जैसे समाजशास्त्री हैं, वहाँ दूसरी ओर प्राणनाथ विद्यालंकार, अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार जैसे अर्थशास्त्री भी हैं। इन सब विद्वानों की कृतियों से हिन्दी साहित्य की बड़ी अभिवृद्धि हुई है। ज्वालापुर महाविद्यालय के स्नातकों का भी इस विषय में योगदान स्मरणीय है। डॉक्टर सूर्यकान्त शास्त्री, रामावतार विद्याभास्कर, डॉक्टर हरिदत्त शर्मा शास्त्री, उदयवीर शास्त्री, डॉक्टर सुरेन्द्रनाथ दीक्षित, डॉक्टर कपिलदेव द्विवेदी के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन के स्नातकों में सर्वश्री विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, डॉक्टर धर्मेन्द्रनाथ तर्कशिरोमणि, द्विजेन्द्रनाथ सिद्धान्तशिरोमणि, रुद्रदेव वेदशिरोमणि, रामेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि, महेन्द्रकुमार वेदशिरोमणि और डॉक्टर विजयेन्द्र स्नातक आदि ऐसे नाम हैं जिनकी कृतियों से हिन्दी साहित्य समृद्ध हुआ है।

आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा हिन्दी साहित्य की समृद्धि का एक बड़ा प्रमाण यह है कि हिन्दी जगत् ने इन विद्वानों की साहित्यिक कृतियों को उच्चतम पुरस्कारों से

सम्मानित किया है। आज से आधी शताब्दी पहले हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने हिन्दी के योग्य विद्वानों को सम्मानित करने की दृष्टि से मंगलाप्रसाद पुरस्कार की व्यवस्था की थी। यह उस समय का सर्वोच्च साहित्यिक पुरस्कार था और प्रतिवर्ष विभिन्न विषयों पर हिन्दी में प्रकाशित सर्वश्रेष्ठ रचना पर दिया जाता था। मंगलाप्रसाद पुरस्कार-विजेताओं में एक बड़ी संख्या आर्यसमाजी लेखकों की है। सर्वप्रथम यह पुरस्कार सम्पादकाचार्य तथा सुप्रसिद्ध समीक्षक पण्डित पद्मसिंह शर्मा को उनके बिहारी सतसई विषयक ग्रन्थ पर १९२२ में दिया गया था। पण्डित पद्मसिंह शर्मा उन दिनों आर्यसमाज की सुप्रसिद्ध शिक्षण-संस्था गुरुकुल काँगड़ी में हिन्दी के प्राध्यापक थे। १९२५ में विज्ञान विषय का पुरस्कार इसी संस्था के एक अन्य प्राध्यापक श्री सुधाकर जी को उनकी मनोविज्ञान-विषयक पुस्तक पर दिया गया था। १९२९ में यह पुरस्कार पुनः गुरुकुल काँगड़ी के इतिहास के प्राध्यापक श्री सत्यकेतु विद्यालंकार को उनकी मौर्य साम्राज्य का इतिहास नामक कृति पर दिया गया। इस प्रकार पहले सात वर्षों में तीन बार यह पुरस्कार गुरुकुल काँगड़ी के प्राध्यापकों को प्राप्त हुआ। इससे पूर्व १९२६ में सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी डॉक्टर त्रिलोकीनाथ वर्मा को हमारे शरीर की रचना पर यह पुरस्कार दिया गया। १९३० में सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता गंगाप्रसाद उपाध्याय आस्तिकवाद नामक दार्शनिक कृति पर इस पुरस्कार से सम्मानित हुए। १९३३ में पुनः यह पुरस्कार गुरुकुल काँगड़ी के भूतपूर्व प्राध्यापक पण्डित जयचन्द्र विद्यालंकार को उनकी पुस्तक भारतीय इतिहास की रूपरेखा पर दिया गया। अगले वर्ष १९३४ में गुरुकुल के एक अन्य प्राध्यापक पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार की पत्नी चन्द्रावती लखनपाल शिक्षा मनोविज्ञान पर इस पुरस्कार से सम्मानित हुईं। अगले वर्ष गुरुकुल काँगड़ी में विज्ञान के प्राध्यापक श्री रामदास गौड़ को उनकी रचना विज्ञान हस्तामलक पर यह पुरस्कार प्राप्त हुआ। मंगलाप्रसाद पुरस्कार को प्राप्त करनेवाले अन्य आर्यसमाजी विद्वान् थे—डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल (हर्षचरित का सांस्कृतिक अध्ययन १९५३, वेदविद्या १९६२), सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार (समाजशास्त्र के मूलतत्त्व, १९५४), उदयवीर शास्त्री (सांख्यदर्शन का इतिहास, १९५५) और गुरुकुल काँगड़ी में अपनी आरम्भिक शिक्षा ग्रहण करनेवाले यशपाल (झूठा सच, १९६५)।

हिन्दी जगत् की सुप्रसिद्ध संस्था प्रयाग का हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रतिवर्ष हिन्दी के विभिन्न क्षेत्रों में उल्लेखनीय कार्य करनेवालों को अपना सभापति चुनकर उनकी सेवाओं का सम्मान करता है। इन सभापतियों में काफी संख्या आर्यसमाज से सम्बन्ध रखनेवाले व्यक्तियों की है। भागलपुर के चौथे हिन्दी साहित्य सम्मेलन का सभापति गुरुकुल काँगड़ी के संस्थापक महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) को बनाया गया। पण्डित पद्मसिंह शर्मा १९२८ में मुजफ्फरपुर हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्ष चुने गये। पाँच वर्ष बाद १९३३ में यह गौरव सुप्रसिद्ध आर्य संन्यासी स्वामी नित्यानन्द सरस्वती के परामर्श और प्रभाव से अपने राज्य में हरिजनों की शिक्षा की व्यवस्था करने वाले बड़ौदा के महाराजा सर सयाजीराव गायकवाड़ को प्रदान किया गया। कई वर्ष तक आर्यसमाज का प्रचार-कार्य करनेवाले राहुल सांकृत्यायन बम्बई अधिवेशन के तथा जयचन्द्र विद्यालंकार कोटा अधिवेशन के अध्यक्ष बनाये गये थे।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रतिवर्ष हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कार्य करनेवाले

व्यक्तियों को साहित्य वाचस्पति की उपाधि से सम्मानित करता है। इसे प्राप्त करनेवालों में एक बड़ी संख्या आर्यसमाज से सम्बद्ध विद्वानों की है। इनमें निम्नलिखित नाम उल्लेखनीय हैं—महात्मा हंसराज, सरसयाजी गायकवाड़, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, रामनारायण मिश्र, भवानीदयाल संन्यासी, राहुल सांकृत्यायन, इन्द्र विद्यावाचस्पति, रामचन्द्र वर्मा, धीरेन्द्र वर्मा, वासुदेव विष्णु दयाल, डॉक्टर नगेन्द्र, बनारसीदास चतुर्वेदी, घनश्यामसिंह गुप्त, जयचन्द्र विद्यालंकार, मुन्शीराम शर्मा सोम, यशपाल, सन्तराम बी० ए०, प्रभुदयाल अग्निहोत्री, विजयेन्द्र स्नातक, हरदेव बाहरी, क्षेमचन्द्र सुमन, उदयवीर शास्त्री, युधिष्ठिर मीमांसक।

राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा द्वारा प्रतिवर्ष एक ऐसे लेखक को पुरस्कृत और सम्मानित किया जाता है जिसकी मातृभाषा हिन्दी नहीं है और जिसने हिन्दी की बड़ी सेवा की है। ऐसे आर्य विद्वानों में सुप्रसिद्ध वेदज्ञ श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, और सन्तराम बी० ए० पुरस्कृत हो चुके हैं। भारत सरकार की साहित्य अकादमी की ओर से प्रतिवर्ष दिया जानेवाला पाँच हजार रुपये का पुरस्कार दो आर्य विद्वानों डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल और महापण्डित राहुल सांकृत्यायन को क्रमशः उनके पद्मावत-भाष्य और मध्य एशिया का इतिहास नामक ग्रन्थों पर मिल चुका है। प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार आर्य संस्कृति के मूल तत्त्व पर भारतीय विद्याभवन के राजा जी पुरस्कार से तथा प्रो० हरिदत्त वेदालंकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून पर भारत सरकार के विधि-मन्त्रालय के पुरस्कारों से सम्मानित हो चुके हैं। दोनों पुरस्कार दस-दस हजार रुपये की राशि के थे। इसी प्रकार विभिन्न राज्य-सरकारों तथा साहित्यिक संस्थाओं द्वारा आर्यसमाजी विद्वान् बहुधा सम्मानित हुए हैं। इनकी संख्या इतनी अधिक है कि उनका नामोल्लेख करना यहाँ सम्भव नहीं है। इससे यह स्पष्ट है कि विभिन्न क्षेत्रों में आर्यसमाज के विद्वानों ने उच्चकोटि के साहित्य का सृजन किया है।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि हिन्दी साहित्य के अनेक क्षेत्रों में आर्यसमाज से सम्बन्ध रखनेवाले विद्वान् अग्रणी रहे। हिन्दी जगत् के सुप्रसिद्ध कथालेखक सुदर्शन तथा चतुरसेन शास्त्री आर्यसमाजी थे। हिन्दी में पहला उपन्यास लिखने का गौरव प्राप्त करनेवाले पण्डित गौरीदत्त स्वामी दयानन्द के उपदेशों से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपना सारा जीवन देवनागरी के प्रचार में बिता दिया। हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का श्रीगणेश करनेवाले पण्डित पद्मसिंह शर्मा सुप्रसिद्ध आर्य शिक्षण-संस्थाओं गुरुकुल काँगड़ी तथा ज्वालापुर महाविद्यालय में अध्यापक थे।

साहित्य के व्यापक अर्थ में उपयोगी ज्ञान देनेवाले तथा आनन्ददायक रस से ओतप्रोत दोनों प्रकार के वाङ्मय का समावेश किया जाता है। श्रीमती महादेवी वर्मा के कथनानुसार हमारे साहित्य के भाव-क्षेत्र और ज्ञान-क्षेत्र पृथिवी के दो गोलार्द्धों के समान हैं जो मिलकर भूगोल को पूर्णता देते हैं और ज्ञान के समूचे क्षेत्र का निर्माण करते हैं। उपयोगी तथा ज्ञानपरक साहित्य का आशय है व्यक्ति को विभिन्न विषयों के बारे में जानकारी देनेवाले विज्ञान के विभिन्न अंग—दर्शन, इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र, मानवशास्त्र, भूगोल आदि शास्त्र। ये सब हमारे ज्ञान के क्षेत्र को विस्तृत बनाते हैं। इसके अतिरिक्त विशुद्ध साहित्य में प्रायः इस प्रकार की रचनाएँ समझी जाती हैं जो आनन्द-दायक, रसप्रधान और चमत्कारयुक्त होती हैं। इसीलिए संस्कृत के एक महान् आचार्य

मम्मट ने काव्य का लक्षण 'रसात्मक वाक्य' किया है। इसमें कविता, कहानी, उपन्यास आदि विभिन्न प्रकार के ललित साहित्य का समावेश होता है। इसे सृजनात्मक साहित्य कहा जाता है। आर्यसमाज के विद्वानों ने दोनों प्रकार के साहित्य के निर्माण में उल्लेखनीय भाग लिया है। अगले अध्यायों में इसका संक्षिप्त परिचय दिया जायेगा। यहाँ पहले काव्य के क्षेत्र में आर्यसमाज के योगदान का विवेचन किया जायेगा। हिन्दी में अनेक कवियों ने पद्य के साथ-साथ गद्य की अनेक विधाओं में लिखा है, यहाँ इनका भी संक्षिप्त उल्लेख किया जायेगा।

(२) आर्यसमाज से प्रभावित द्विवेदी युग के कवि

१९०० से १९२० तक का काल हिन्दी साहित्य के इतिहास में द्विवेदी युग कहा जाता है। वर्तमान शताब्दी के आरम्भ में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी (१८६४-१९३८ ई०) ने हिन्दी के क्षेत्र में पदार्पण किया। सरस्वती के सम्पादक के रूप में वे शीघ्र ही सम्पूर्ण हिन्दी जगत् के नेता, नियामक और अधिनायक बन गये। सरस्वती के माध्यम से उन्होंने नये लेखकों और कवियों का निर्माण किया, उनकी रचनाओं को अपनी पत्रिका में प्रकाशित कर प्रोत्साहित किया और १९२० ई० तक वे हिन्दी साहित्य के स्वरूप और गतिविधियों पर अपना पूरा अंकुश रखते रहे। बीसवीं शती के पहले दो दशकों में हिन्दी गद्य और पद्य की शैली पर एवं इस युग के सभी साहित्य-आन्दोलनों पर उनका प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रभाव पड़ा। इस युग के हिन्दी साहित्य के सभी अंगों पर द्विवेदीजी की स्पष्ट छाप है। अतः इस युग को द्विवेदी युग कहा जाता है। यह उल्लेखनीय है कि इसी युग में खड़ी बोली हिन्दी में काव्य लिखने की प्रवृत्ति को प्रबल प्रोत्साहन मिला।

संयोगवश इसी समय आर्यसमाज का प्रभाव अपने चरम शिखर पर था। १८७५ में आर्यसमाज की स्थापना के बाद शनैः-शनैः हिन्दीभाषी क्षेत्रों में लगभग सभी महत्त्वपूर्ण नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना हो चुकी थी। वीतराग आर्य संन्यासी, महोपदेशक, भजनीक तथा उत्साही प्रचारक सर्वत्र धार्मिक तथा सामाजिक क्रान्ति का शंखनाद कर रहे थे तथा राष्ट्रीय विचारों का प्रबल प्रचार कर रहे थे। उस समय शिक्षित वर्ग में तथा ग्रामीण क्षेत्रों में समाज के अनुयायियों की संख्या निरन्तर बढ़ रही थी। वह शास्त्रार्थों का युग था। मननशील भारतीय भले ही पौराणिक विचारधारा के पोषक हों, अपनी पुरानी धार्मिक पद्धति का परित्याग न कर सकते हों, आर्यसमाज के विधिवत् सदस्य न बने हों, फिर भी समाज-सुधार एवं राष्ट्रीय विचारों की दृष्टि से वे आर्यसमाज के मन्तव्यों को सही मानते थे। विचारक एवं कवि अपने लेखों और कविताओं में इन्हें प्रकट करने में कोई संकोच नहीं करते थे। द्विवेदी युग के प्रमुख कवियों में कट्टर आर्यसमाजी कवि सम्भवतः नाथूराम शंकर ही थे। इस युग के अन्य प्रमुख कवि अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध (१८६५-१९४७), राय देवीप्रसाद पूर्ण (१८६८-१९१५), रामचरित उपाध्याय (१८७२-१९३८), रूपनारायण पाण्डेय (१८८४-१९५९), मैथिलीशरण गुप्त (१८८६-१९६४), रामनरेश त्रिपाठी (१८७९-१९६२) यद्यपि सनातनधर्मी हैं, किन्तु फिर भी इनकी कविताओं पर आर्यसमाज का स्पष्ट प्रभाव है। इन्होंने स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के धार्मिक विचारों और सामाजिक सुधारों का प्रबल समर्थन किया है। इनकी रचनाओं में हमें आर्यसमाज के सिद्धान्तों के अनुकूल ब्रह्मचर्य का गौरवज्ञान

मिलता है। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के पुनरुज्जीवन और मातृभाषा के माध्यम से शिक्षा देने का प्रबल समर्थन पाया जाता है। अंग्रेजी के प्रयोग की आलोचना और यज्ञों में हिंसा का विरोध किया गया है। श्राद्ध केवल जीवित व्यक्तियों का ही माना गया है। शृंगार रस के वर्णन को हेय दृष्टि से देखा गया है। अस्पृश्यता को हिन्दू समाज का कलंक समझा गया है। नर-नारी की समानता, स्त्रियों की शिक्षा तथा गुण-कर्म पर आधारित जाति-व्यवस्था का गुणगान किया गया है। दहेज, बेमेल विवाह, बाल-विवाह, विधवा-विवाह-निषेध जैसी कुरीतियों की कड़ी आलोचना की गयी है। राष्ट्रभाषा के गौरव, देश-प्रेम और स्वदेशी की भावना को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। यहाँ पहले द्विवेदी युग के दो प्रमुख कट्टर सनातनधर्मी कवियों पर आर्यसमाज के प्रभाव का वर्णन किया जायेगा। इससे यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जायेगी कि उस समय हिन्दी काव्य पर आर्यसमाज ने कितना गहरा प्रभाव डाला था। इसके बाद आर्यसमाज के हिन्दी कवियों की चर्चा की जायेगी।

अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (१८६५–१९४७)—आप खड़ी बोली के प्रथम महाकवि माने जाते हैं। आपका 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का प्रथम महाकाव्य है। उन्होंने १९वीं शताब्दी के अन्तिम दशक में १८९० ई० के आसपास हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में प्रवेश किया था। उनसे पहले हिन्दी कविता ब्रजभाषा में लिखी जाती थी। उन्होंने खड़ी बोली में पहले कुछ उपन्यास लिखे। इनमें प्रेमकान्ता (१८९४), ठेठ हिन्दी का ठाठ (१८९९), अधखिला फूल (१९०७) उल्लेखनीय हैं। इसके बाद उन्होंने हरिऔध के उपनाम से पन्द्रह से अधिक काव्यों की रचना की। इनमें सबसे प्रसिद्ध 'प्रियप्रवास' (१९१४) है। इस पर उन्हें मंगलाप्रसाद पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया था। उनके समस्त काव्यों में आर्यसमाज का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

सनातनधर्मी होने पर भी 'हरिऔध' स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के विचारों से कितना प्रभावित हुए, यह उनके 'प्रियप्रवास' से स्पष्ट है। प्रियप्रवास में कवि ने पुरानी कृष्ण-कथा को बड़ी मौलिकता और नूतन दृष्टि से प्रस्तुत किया है। उस समय तक सनातनधर्मी श्रीकृष्ण को भगवान् का अवतार समझते थे। किन्तु स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश में अवतारवाद का प्रबल खण्डन किया था और श्रीकृष्ण को एक आदर्श मानव के रूप में प्रस्तुत किया था। हरिऔध के काव्य की विशेषता यह है कि "इसके नायक श्रीकृष्ण शुद्ध मानव के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। वे लोकसंरक्षण और विश्व-कल्याण की भावना से परिपूर्ण मनुष्य अधिक हैं और अवतार अथवा ईश्वर नाममात्र के हैं···इनके कृष्ण रसराज या नटनागर होने की अपेक्षा लोकरक्षक नेता हैं" (हिन्दी साहित्य कोश, भाग २, पृष्ठ २१)। प्रियप्रवास की भूमिका में कवि ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए लिखा है—"मैंने श्रीकृष्ण को इस ग्रन्थ में एक महापुरुष की भाँति अंकित किया है, ब्रह्म करके नहीं।" सम्भवतः हिन्दी साहित्य में पहली बार इसमें 'कृष्णस्तु भगवान् स्वयं' की प्राचीन परिपाटी का पालन नहीं किया गया है। आर्यसमाज से प्रभावित होने के कारण हरिऔध अवतार की सर्वथा नवीन व्याख्या करते थे; उनके मतानुसार ईश्वर मनुष्य के रूप में अवतरित नहीं होता है, अपितु जो मनुष्य अपने जीवन में भगवान् के दिव्य गुणों का विकास लोककल्याण के लिए कर सके, वही अवतार है। डॉक्टर सक्सेना ने लिखा है—"हरिऔधजी ने श्रीकृष्ण के अलौकिक एवं अमानवीय कार्यों

को लौकिक एवं मानवीय बनाने की चेष्टा की है और उन्हें एक महापुरुष, नृरत्न एवं लोकप्रिय नेता के रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है।" उनके व्यक्तित्व एवं कृतित्व के एक अन्य समीक्षक का विचार है—"उपाध्यायजी ने प्रियप्रवास में महापुरुष के रूप में कृष्ण का क्रान्तिकारी रूप प्रस्तुत किया है। कविता में कृष्ण का ऐसा उज्ज्वल चरित्र सर्वप्रथम उनकी लेखनी द्वारा ही प्रसूत हुआ।" इसका एक सुन्दर उदाहरण श्रीकृष्ण का उँगली पर गोवर्द्धन पर्वत का धारण करना है। हरिऔध के मत में इसका प्रधान कारण उनकी असाधारण लोकप्रियता थी—'लख अपार प्रसार गिरीन्द्र में, व्रज धराधिप के प्रियपुत्र का। सकल लोग लगे कहने उसे रख लिया उँगली पर।'

पौराणिक मतावलम्बी होने पर भी हरिऔध के आदर्श स्वामी दयानन्द थे। वे उनके मन्तव्यों में बड़ा विश्वास रखते थे। आर्यसमाज का पौराणिक धर्म से एक बड़ा मतभेद श्राद्धविषयक था। स्वामी दयानन्द यह मानते थे कि जीवित व्यक्तियों की श्रद्धापूर्वक सेवा ही श्राद्ध है। आर्यसमाज ने इस मत का प्रचार किया कि मृतकों का श्राद्ध नहीं होता है। यह जीवित प्राणियों का ही होना चाहिए। प्रत्येक मनुष्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने माता-पिता और गुरुजनों की सेवा-शुश्रूषा करें। हरिऔध इस विचार से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने अपने वसीयतनामे में यह लिख दिया कि "मेरी मृत्यु के पश्चात् मेरा पिण्डदान और श्राद्धकर्म यही है कि मेरी कीर्ति में किसी प्रकार का धब्बा न लगने पाये और मेरी कीर्ति तथा पुस्तकों की मेरे वंशज पूर्णरूप से रक्षा करें।"

वेदों के सम्बन्ध में हरिऔध आर्यसमाज के विचारों से बड़े प्रभावित हुए थे। वे वेदों को भारतीय संस्कृति और धर्म का प्रधान आधार समझते थे। उनका विश्वास है कि वेद ही सर्वप्रथम सृष्टि में ज्ञान तथा कर्म की ज्योति को प्रज्वलित करनेवाले थे। धर्म के सार्वभौम सिद्धान्तों का प्रचार वेदों द्वारा हुआ है। इस विषय में उनकी एक कविता 'वेद हैं' में आर्यसमाज के नियमों और मन्तव्यों को निम्नलिखित रूप में अभिव्यक्त किया गया है—

सब विद्या के मूल, जनक हैं सकल कला के।
विविध ज्ञान-आधार, रसायन हैं अचला के॥
सुरुचि विचार विवेक विज्ञता के हैं आकर।
हैं अपार अज्ञान-तिमिर के प्रखर प्रभाकर॥ (पद्य प्रमोद पृ० १९)

आर्यसमाज ने जन्ममूलक जाति-भेद-प्रथा की कड़ी आलोचना की थी और गुण-कर्मानुसार वर्ण-व्यवस्था मानने पर बल दिया था। हरिऔध आर्यसमाज के इस विचार से सहमत थे। उनका यह कहना था कि, "मैं वर्णाश्रम-धर्म का समर्थक होने पर भी नीच वर्ण के हिन्दुओं के साथ सद्व्यवहार करना और उनके उन्नत होने का यत्न करना अपना ही नहीं, वरन् समस्त हिन्दू जाति का परम कर्त्तव्य मानता हूँ।" वे स्वामी दयानन्द को वर्तमान हिन्दू जाति का उद्धारक, उसके अन्ध-विश्वासों को दूर करनेवाला मानते थे। उन्होंने अपनी दयानन्द-गौरव-गान नामक कविता में स्वामी दयानन्द द्वारा किये गये कार्यों का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है और यह बताया है कि किस प्रकार उन्होंने हिन्दू जाति को मानसिक दासता के पंक से उभारा—

पिला उन्होंने दिया आत्म-गौरव का प्याला,
बना उन्होंने दिया मान-ममता-मतवाला।

जी में भर जातीय भाव कर सजग जगाया,
देशप्रेम के महामन्त्र से मुग्ध बनाया ।।

मैथिलीशरण गुप्त (१८८६–१९६४)—राष्ट्रकवि कहे जानेवाले श्री गुप्त आर्यसमाज की विचारधारा से अत्यधिक प्रभावित थे। उन्होंने अपने ग्रन्थों में सर्वत्र इसका वैसा ही उग्र समर्थन किया है जैसा उस समय के आर्यसमाजी प्रचारक किया करते थे। वे गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य रामदेव जी के 'भारतवर्ष का इतिहास' से बहुत प्रभावित थे। इस विषय में उनके सुपुत्र सत्यभूषण योगी का लेखक को सुनाया यह संस्मरण उल्लेखनीय है कि १९४० के आसपास जब वे अपने पुस्तक-व्यवसाय के सम्बन्ध में चिरगाँव गये, तब तक आर्यसमाजी पत्रों में उनकी बहुत कविताएँ प्रकाशित हो चुकी थीं और वे हिन्दी के इस महाकवि से मिलने के लिए उत्सुक थे। जब उनके पास पहुँचे और उन्हें अपना परिचय दिया तो श्री गुप्त जी ने बड़े आदर से उनका स्वागत किया और उन्हें कहा कि "आचार्य जी मेरे गुरु हैं, मैं उनके भारतवर्ष के इतिहास से अत्यधिक प्रभावित हुआ हूँ।"

गुप्तजी की रचनाओं में विशेषकर 'भारत भारती' में आर्यसमाज के विचारों का प्रभाव बड़ी मात्रा में दिखायी देता है। स्वामी दयानन्द ने ब्रह्मचर्य एवं जीवन की पवित्रता पर बहुत बल दिया था। वे शृंगार की भावनाओं को उद्दीप्त करनेवाले साहित्य के उग्र विरोधी थे। द्विवेदी युग के हिन्दी जगत् पर आर्यसमाज की इस विचारधारा का बहुत प्रभाव पड़ा। स्वयं महावीरप्रसाद द्विवेदी साहित्य में अश्लीलता के उग्र विरोधी थे। मैथिलीशरण गुप्त ने इस दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए शृंगार रस की रचना करनेवाले कवियों की प्रवृत्ति का घोर विरोध किया और उन पर प्रबल कटाक्ष करते हुए कहा—

"करते रहोगे पिष्टपेषण और कब तक कविवरो,
कच, कुच, कटाक्षों पर अहो ! अब तो न जीते जी मरो।"

कवियों को यह उद्‌बोधन दिया गया है कि वे उच्च भावों से ओतप्रोत काव्यों का निर्माण करें।

इसी प्रकार वे आर्यसमाज द्वारा प्रतिपादित अनमेल विवाहों और बाल-विवाहों के उग्र विरोध का समर्थन करते हुए कहते हैं कि इनसे विधवाओं की संख्या बढ़ रही है और हिन्दू समाज नष्ट हो रहा है—

प्रतिवर्ष विधवावृंद की संख्या निरन्तर बढ़ रही,
रोता कभी आकाश है, फटती कभी हिलकर मही।
हा, देख सकता कौन ऐसे दग्धकारी दाह को ?
फिर भी नहीं हम छोड़ते हैं, बाल्य-वृद्ध विवाह को।

स्वामी दयानन्द ने आर्य के सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण प्रतिपादित किया था। उनके मतानुसार आर्य उस व्यक्ति का नाम है जिसका आचरण श्रेष्ठ हो।

मैथिलीशरण गुप्त भी आर्य की इस व्याख्या से सहमत हैं। वे यह मानते हैं कि व्यक्ति उत्तम कार्यों से ही आर्य बन सकता है—

जन जान लें कि न आर्य केवल नाम के ही आर्य हैं,
वे नाम के अनुरूप ही करते सदा शुभ कार्य हैं।

इसी प्रकार भारतभारती में उद्‌बोधन शीर्षक में उन्होंने इस बात पर बल दिया

है कि चारों वर्णों को अपने कर्त्तव्यों और धर्मों का पालन करना चाहिए। वर्ण-व्यवस्था गुण-कर्ममूलक होनी चाहिए। मंगलघट की 'चण्डाल' नामक कविता में उन्होंने इसको अधिक ओजस्वी शब्दों में प्रकट किया है। वे स्वामी दयानन्द की भाँति भारत के पतन का एक प्रधान कारण ब्रह्मचर्याश्रम की व्यवस्था का लोप मानते हैं। उनका यह विश्वास है कि इसीलिए आज हमारी गणना मृत जातियों में हो रही है—

यदि ब्रह्मचर्याश्रम मिटाकर शक्ति को खोते नहीं,
तो आज दिन मृत जातियों में गण्य हम होते नहीं।
करते आविष्कार जैसे दूसरे हैं कर रहे,
भरते यशोभण्डार जैसे दूसरे हैं भर रहे॥

स्वामी दयानन्द ने ग्यारहवें समुल्लास में हिन्दू धर्म के तीर्थों और पण्डों की इसलिए कड़ी आलोचना की थी कि वे भोलीभाली जनता को ठगते हैं और अनाचार के अड्डे बने हुए हैं। मैथिलीशरण गुप्त वैष्णव होते हुए भी भारतभारती के तीसरे 'वर्तमान' खण्ड में तीर्थ और तीर्थपण्डों की खबर लेते हुए कहते हैं—

वे तीर्थ-पण्डे हैं जिन्होंने स्वर्ग का ठेका लिया।
है निन्द्य कर्म न एक ऐसा हो न जो उनका किया॥
वे हैं अविद्या के पुरोहित, अविधि के आचार्य हैं।
लड़ना-लगड़ना और अड़ना मुख्य उनके कार्य हैं॥

स्वामी दयानन्द ने अवतारवाद का खण्डन करते हुए रामकृष्ण को केवल अपने युग का महापुरुष माना था। मैथिलीशरण कट्टर रामभक्त होते हुए इस दृष्टिकोण से सहमत हैं। उनके राम अवतार नहीं, अपितु आदर्श मानव हैं, जो इस धरा को स्वर्ग बनाने आये हैं। दिनकर ने लिखा है—"कवि की सुदृढ़ आस्था ने राम के ईश्वरत्व में सन्देह करनेवाले युग को बड़े जोर से ललकारा, किन्तु राम का रूप उन्होंने वैसा ही अंकित किया, जैसा उनका युग चाहता था। अपने हृदय के मूल में राम को परब्रह्म का अवतार मानते हुए भी बुद्धियुग के इस परम आस्तिक कवि ने 'साकेत' में उन्हें अवतार के रूप में कम, युगपुरुष के रूप में अधिक चित्रित किया है।

इसी प्रकार श्री गुप्त ने नर-नारी की समानता, स्त्री-शिक्षा, स्त्रियों के सम्मान के बारे में आर्यसमाज के मन्तव्यों का पूरा समर्थन किया है। शुद्धि आर्यसमाज द्वारा किया जानेवाला एक क्रान्तिकारी सुधार था और इसका प्रधान उद्देश्य इस्लाम तथा ईसाइयत से हिन्दू धर्म की रक्षा करना था। आर्यसमाज ने इस आन्दोलन को बड़ी तीव्रता और उग्रता के साथ चलाया था। कांग्रेस के नेताओं ने इस आन्दोलन का उग्र विरोध किया था। किन्तु श्री गुप्त ने इस शुद्धि-आन्दोलन का भी समर्थन किया है। साकेत का गहन अध्ययन करनेवाले डॉक्टर द्वारिकाप्रसाद सक्सेना ने लिखा है—"कविवर गुप्त जी ने साकेत में इस शुद्धि-आन्दोलन की ओर संकेत किया है, क्योंकि राम अपने वन-गमन का उद्देश्य बताते हुए ऋक्ष-वानरों को आर्यत्व प्रदान करने की बात कहते हैं।"

श्री गुप्त आर्यसमाज की विचारधारा से कितने प्रभावित थे, इसका स्पष्ट परिचय उनकी आर्यसमाज नामक कविता से मिलता है। इसमें उन्होंने यह बताया है कि जब चारों ओर अन्धकार छाया हुआ था, उस समय आर्यसमाज का अरुणोदय हुआ। उसने मोह-निद्रा में सो रहे भारतीयों को ठोकर मारकर जगाया। उन्हें अपनी उन्नति के लिए

सक्रिय बनाया, खण्डन-मण्डन का कार्य किया। गुरुकुल स्थापित करके निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था की। राष्ट्रभाषा का प्रचार किया। हिन्दू समाज का सब कूड़ा-करकट झाड़ दिया। घर की फूट और विधर्मियों द्वारा की जानेवाली लूट दूर की। इस कविता के अन्तिम पद्य में स्वामी श्रद्धानन्द के बलिदान की ओर संकेत करते हुए कहा है कि किस प्रकार आर्यसमाज सारे विश्व को आर्य अथवा श्रेष्ठ पुरुषों की भूमि बनाने में लगा हुआ है—

> लिखा निज शोणित से यह लेख…
> "कृणुध्वं (कृण्वन्तो) विश्वमार्यम्।
> जयति कृतबुद्धिकार्यम्
> शुद्धि वितान तले श्रद्धा का
> दान किया तूने ऋषिराज!
> आर्यसमाज!

(३) द्विवेदी युग के आर्यसमाजी कवि

इस ग्रन्थ के पिछले एक अध्याय में प्रमुख आर्यसमाजी कवियों का संक्षिप्त परिचय दिया जा चुका है। पर यह उपयोगी होगा कि द्विवेदी युग के आर्यसमाजी कवियों के सम्बन्ध में पुनः विशेष रूप से प्रकाश डाला जाए।

बस्तीराम—आर्यसमाज में कवियों और भजनीकों की परम्परा बड़ी पुरानी है। आर्यसमाज के देहाती क्षेत्रों में प्रचार के लिए आर्यसमाज के भजनोपदेशक बड़े उपयोगी सिद्ध हुए हैं। इनमें सबसे प्राचीन और भजनीकों के भीष्मपितामह ११६ वर्ष तक जीवित रहनेवाले पण्डित बस्तीराम आर्योपदेशक (१८४१–१९५८) थे। आपका जन्म हरियाणा में झज्झर तहसील के खेड़ी गाँव में हुआ। आप शिक्षा के लिए बनारस गये और १८५७ की जनक्रान्ति के बाद गाँव लौट आये। १० वर्ष बाद जब हरिद्वार में १८६७ के कुम्भ मेले के अवसर पर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने पाखण्ड खण्डिनी पताका गाड़कर अपने सिद्धान्तों का प्रचार किया तो ये उनके उपदेश सुनने के लिए हरिद्वार पहुँचे; स्वामीजी के उपदेश सुनकर उनके परम भक्त बन गये। उसी समय से हरियाणा प्रदेश में वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार बड़ी निष्ठा और तत्परता से करने लगे। १८८० में आपने रिवाड़ी में पुनः स्वामीजी के उपदेश सुने और इनसे प्रभावित होकर बड़े उत्साह से वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार में लग गये। पण्डित बस्तीराम बड़े अच्छे कवि और भजनीक थे। उन्होंने अपने सुधारवादी भजनों द्वारा जनता में आर्यसमाज के प्रति अनुराग और आस्था उत्पन्न की और इसका यह परिणाम हुआ कि हरियाणा आर्यसमाज का गढ़ बन गया, सर्वत्र आर्यसमाजों और गुरुकुलों की स्थापना होने लगी। आपकी काव्य-रचनाओं में उल्लेखनीय हैं—पाखण्ड खण्डिनी, भजन मनोरंजन, मानस दीपिका, क्षत्रिय भजन-संग्रह, महर्षि दयानन्द जीवन-कथा (काशी शास्त्रार्थ), असली अमृत गीता (दो भाग), अमृत कला, बस्तीराम रहस्य, पोप की नाखर, गऊ भजन संग्रह, अघमर्षण प्रार्थना।

पण्डित बस्तीराम की कविताएँ और पद्य विशुद्ध साहित्यिक दृष्टि से सम्भवतः अधिक महत्त्व नहीं रखते हैं, किन्तु उनका धार्मिक और प्रचारात्मक महत्त्व निर्विवाद है। उनके गाने जनता के हृदय को छू लेनेवाले थे। उन्होंने तत्कालीन धार्मिक और सामाजिक

कुरीतियों को जनता के सम्मुख अपने भजनों में इतने प्रभावशाली ढंग से प्रस्तुत किया कि जनमानस पर उसकी गहरी छाप पड़ी और उनके भजन जनता के हृदय का हार बन गये। हरियाणा की जनता आज तक भी उन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण करती है।

पण्डित नाथूराम शर्मा शंकर (१८५९–१९३२)—हिन्दी साहित्य में खड़ी बोली में कविता के प्रथम प्रतिष्ठाताओं में अन्यतम पण्डित नाथूराम शंकर का जन्म अलीगढ़ जिले के हरदुआगंज कस्बे में हुआ। शुरू में आपने हिन्दी, उर्दू और फारसी की शिक्षा ग्रहण की, किन्तु बाद में अपनी लगन और परिश्रम से संस्कृत का भी अच्छा ज्ञान प्राप्त किया। पहले वे उत्तरप्रदेश सरकार के सिंचाई विभाग में नक्शानवीस का काम करते थे और बाद में पैमाइश का भी काम करने लगे। अपनी कार्यकुशलता से न केवल आप अपने अधिकारियों को सन्तुष्ट रखते थे, अपितु अनेक अधिकारी आपसे हिन्दी सीखा करते थे। अपने कार्य के सिलसिले में जब आप सात वर्ष कानपुर रहे तो आपका सम्पर्क सरस्वती के सम्पादक महावीरप्रसाद द्विवेदी से हुआ। इस सम्पर्क ने आपकी काव्य-चेतना को विकसित करने में सराहनीय सहयोग दिया। सरस्वती के आदिकाल में द्विवेदीजी की प्रेरणा से आपने खड़ी बोली में रचनाएँ शुरू कीं और शीघ्र ही खड़ी बोली में हिन्दी के अग्रणी कवि बन गये। श्री शंकर जी बचपन से अत्यन्त स्वाभिमानी और स्पष्टवक्ता थे। अत: जब सरकारी नौकरी में यह अनुभव हुआ कि आपके स्वाभिमान को चुनौती दी जा रही है तो आपने सरकारी सेवा से त्यागपत्र दे दिया और घर पर रहकर वैद्य का काम करने लगे। थोड़े समय में ही वे पीयूषपाणि वैद्य के रूप में विख्यात हो गये।

आप जन्मजात कवि थे। तेरह वर्ष की आयु में आपने एक साथी पर दोहा लिखा। उन दिनों उर्दू फारसी का अत्यधिक प्रचलन था और मुशायरे खूब हुआ करते थे। बालक नाथूराम स्वभावत: उर्दू माध्यम की ओर आकृष्ट हुए और उर्दू में इतनी अच्छी शायरी करने लगे कि इन्हें मुशायरों में अपना कलाम पढ़ने के लिए बड़े आग्रह से बुलाया जाने लगा। इसी समय आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन का भी श्री शंकर जी पर गहरा प्रभाव पड़ा और आपने अपनी काव्य-प्रतिभा को आर्य सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार में लगा दिया। कानपुर में वे पण्डित प्रतापनारायण मिश्र के सम्पर्क में आये और उनके 'ब्राह्मण' पत्र में भी आपकी रचनाएँ प्रकाशित होने लगीं। उन दिनों हिन्दी के कवि-सम्मेलनों में समस्यापूर्ति पर बहुत बल दिया जाता था। ये इस क्षेत्र में अग्रणी थे और समस्यापूर्ति के लिए विभिन्न कवि-सम्मेलनों में आपको अपनी आशु काव्य-प्रतिभा के कारण बहुधा स्वर्णपदक, रजत पदक, घड़ियाँ, पगड़ियाँ और प्रशंसापत्र प्राप्त होते रहते थे।

श्री शंकरजी का रचनाकाल भारतेन्दु युग से द्विवेदी युग (१९००–१९२० ई०) तक है। यह हिन्दी साहित्य में संक्रान्तिकाल था। उस समय ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली को कविता का माध्यम बनाया जा रहा था। जब इन्होंने खड़ी बोली में कविता लिखना शुरू किया तो हिन्दी के अधिकांश कवियों और साहित्यिकों की यह धारणा थी कि ब्रजभाषा अतीव मधुर है। उसमें सूरदास ने 'मैया री मोरी मैं नहिं माखन खायो' जैसी सुललित भावभीनी रचनाएँ की हैं। वैसा लालित्य, माधुर्य और सौन्दर्य खड़ी बोली जैसी परुष एवं शुष्क भाषा में कभी नहीं आ सकता है। उस समय सरस्वती के सम्पादक श्री महावीरप्रसाद द्विवेदी हिन्दी के तरुण कवियों को खड़ी बोली में कविता की प्रेरणा दे रहे थे और उनकी कविताएँ सरस्वती में छाप रहे थे। उनका यह प्रयास था कि हिन्दी

में गद्य और पद्य की भाषाओं में एकरूपता लायी जाये। भारतीय भाषाओं का सर्वेक्षण करनेवाले सुप्रसिद्ध विद्वान् जॉर्ज अब्राहम ग्रियर्सन को द्विवेदीजी का यह प्रयास सर्वथा निष्फल प्रतीत हुआ। उन्होंने सरस्वती में प्रकाशित कविताओं के बारे में एक पत्र में सम्पादक से अपनी राय प्रकट करते हुए इन्हें सर्वथा नीरस बताया था। इस पर द्विवेदीजी ने शंकरजी को खड़ी बोली में हिन्दी कविता की और 'सरस्वती' की लाज रखने की प्रार्थना थी और उनके अनुरोध से जब शंकरजी की कविताएँ सरस्वती में प्रकाशित हुईं तो इन्हें पढ़कर ग्रियर्सन ने अपना मत-परिवर्तन करते हुए द्विवेदीजी को लिखा, "अब मैं निश्चयपूर्वक कह सकता हूँ कि खड़ी बोली में भी सुन्दर और सरस कविताएँ हो सकती हैं।"

इस प्रकार शंकरजी खड़ी बोली में सरस हिन्दी काव्य के पुरस्कर्ता और प्रतिष्ठाता थे। उन्हें यह सफलता इस कारण मिली कि वे दो सर्वथा भिन्न और विरोधी समझी जानेवाली पूर्ववर्ती परम्पराओं में पले थे। एक परम्परा उर्दू काव्य और उसके मुशायरों की थी; दूसरी रीतिकालीन व्रजभाषा के कवित्त, सवैया एवं दोहों की श्रृंगारी परम्परा थी। ये दोनों परम्पराएँ चमत्कार और वाक्वैचित्र्य पर बल देती थीं। दोनों में अभ्यास और लक्षणशास्त्र पर बल दिया जाता था। बचपन में सतत अभ्यास, अनवरत अध्ययन से वे दोनों परम्पराओं में निष्णात हो गये, अतः वे उर्दू और हिन्दी दोनों में चमत्कारपूर्ण रचनाएँ करने में पूरी तरह पारंगत तथा समर्थ थे। इसके साथ ही उस समय आर्यसमाज की सुधारवादी विचारधारा एवं राष्ट्रीय आन्दोलन प्रबल हो रहे थे। इन दोनों का उन पर गहरा प्रभाव था। उन्होंने उर्दू और व्रजभाषा का लालित्य और माधुरी लेकर जब समाज-सुधार और राष्ट्रीय विषयों पर कविताएँ कीं तो उन्हें अद्भुत सफलता प्राप्त हुई। एक आलोचक देवीशंकर अवस्थी के शब्दों में—"खड़ी बोली के काव्य के प्रथम निर्णायकों में नाथूराम शर्मा अग्रणी हैं एवं कविता को समाज के साथ सम्बन्धित करने का ऐतिहासिक दायित्व उन्होंने निभाया है। खड़ी बोली को उन्होंने काव्यशैली एवं छन्दों को साँचे ही नहीं दिये, अभिव्यंजनागत सामर्थ्य भी प्रदान की।" उनके इसी ऐतिहासिक महत्त्व को ध्यान में रखते हुए प्रेमचन्दजी ने दिल्ली प्रान्तीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अध्यक्षीय भाषण में कहा था—"शायद कोई जमाना आये कि हरदुआगंज (शंकरजी की जन्मभूमि) हमारा तीर्थस्थान बन जाये।"

खड़ी बोली में उनके लिखे कवित्त आज भी अनुपम समझे जाते हैं। साहित्य के क्षेत्र में पुरानी अन्ध परम्परा को विच्छिन्न करके सर्वथा नवीन पद्धतियों के प्रयोक्ताओं में उन्हें अग्रगण्य होने का गौरव प्राप्त है। देश की आर्थिक दुरवस्था, किसानों की निर्धनता और दुर्दशा का उन्होंने बड़ा मार्मिक चित्रण किया है। यह निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट है—

> कैसे पेट अकिंचन सोय रहे, बिन भोजन बालक रोय रहे,
> चिथड़े तक भी न रहे तन पर, धिक धूल पड़े इस जीवन पै।

पराधीनता की पीड़ा उनके काव्य में बड़ी उग्रता के साथ अभिव्यक्त हुई है। सरकारी सेवा में रहने के कारण वे उस समय के शासन-तन्त्र को अच्छी तरह जानते थे, अतः उन्होंने रिश्वतखोर अफसरों पर बड़ी फब्तियाँ कसी हैं। समाज-सुधार उनके काव्य का प्रमुख स्वर है। स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के प्रभाव से उन्होंने धर्म के पाखण्डियों

के आडम्बर का बड़ी निर्ममता से उद्‌घाटन किया है। विधवाओं की दुर्दशा पर उनका काव्य **'गर्भरण्डा रहस्य'** कड़ी करारी चोट है। उनकी कविताओं के अन्य संग्रह **'अनुराग रत्न', 'शंकर सरोज', 'वायसविजय'** हैं। उनके सुपुत्र तथा हिन्दी के प्रमुख साहित्यकार डॉक्टर हरिशंकर शर्मा ने उनके निधन के बाद उनकी बिखरी हुई अनेक रचनाओं का संकलन **शंकर सर्वस्व** के नाम से १९५१ में प्रकाशित किया था।

शंकरजी ने अपने समय में न केवल हिन्दी काव्य की भाषा में, अपितु काव्य के स्वरूप और विषय में भी मौलिक परिवर्तन किया। "उनकी रचनाओं में छन्दों के अनेक नये और सशक्त प्रयोग मिलते हैं। दो छन्दों के मिश्रण से उन्होंने नये छन्द भी बनाये हैं; त्रोटकात्मक तथा कजली जैसे लोकछन्दों को भी उन्होंने अपनाया है। मात्रिक छन्दों में समान वर्णों की योजना का दुस्साध्य कार्य किया है। कवित्त छन्द के तो वे पण्डित थे।" इसके साथ ही उन्होंने समाजसुधार और राष्ट्रीयता के विषयों को अपने काव्य में प्रमुखता दी और रीतिकाल से चली आनेवाली नखशिख-वर्णन की परम्परा का अवसान करने में सहायक हुए। अपने काव्य-जीवन के आरम्भ में उन्होंने **कलित कलेवर** नामक एक ग्रन्थ रीतिकालीन काव्य परम्परा का अनुसरण करते हुए लिखा था, किन्तु जब वे आर्यसमाज की सुधारवादी और राष्ट्रीय प्रवृत्तियों के प्रभाव में आये तो उन्होंने स्वयमेव अपने हाथों से अपनी इस कृति को नष्ट कर दिया। संस्कृत की एक उक्ति है कि विषवृक्ष को रोपकर काटना उचित नहीं है (विषवृक्षोऽपि सेवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्), किन्तु वे इसका अपवाद थे। आर्यसमाज के प्रभाव से शृंगारप्रधान काव्य के कट्टर विरोधी बने, अपने काव्यतरु पर उन्होंने स्वयं कुठाराघात किया।

शंकरजी ने समाज-सुधार के लिए हास्य और व्यंग्य की जिस भाषा का प्रयोग किया है, उसके कारण यह भ्रम फैल गया है कि वे कठोर शब्दावली का प्रयोग करते हैं। यह सत्य नहीं है। उनके करुण और शांत रस-सम्बन्धी छन्दों की भाषा बड़ी कर्णमधुर है। अपने व्यंग्य काव्य में अवश्यमेव उन्होंने माधुर्य की उपेक्षा की है। इसका उद्देश्य समाज-सुधार था, इसके लिए उन्हें अपनी भाषा को अधिक शक्तिशाली बनाना पड़ा। 'गर्भ रण्डा रहस्य' में विधवाओं की दुर्दशा और मन्दिरों में चलने वाले दुराचार का बखिया बड़ी कठोर भाषा में उधेड़ा गया है। सुप्रसिद्ध आलोचक पद्मसिंह शर्मा उनके काव्य में रस, अलंकार, छन्द आदि परम्परागत तत्त्वों पर मुग्ध थे और इसी कारण आधुनिक कवियों में उन्हें सर्वश्रेष्ठ एवं कुछ अंशों में प्राचीन कवियों से भी उत्कृष्ट मानते थे। आचार्य काशीप्रसाद जायसवाल ने उन्हें नई पद्यरचना के मूल आचार्यों में माना था।

शंकरजी की गणना आर्यसमाज द्वारा हिन्दी साहित्य को दिये श्रेष्ठ कवियों में की जाती है। श्री क्षेमचन्द्र सुमन के शब्दों में "उनकी काव्यप्रतिभा का इससे अधिक ज्वलंत प्रमाण और क्या हो सकता है कि आपने अपनी रचनाओं के माध्यम से जहाँ-जहाँ राष्ट्रीय और सामाजिक जागरण का उल्लेखनीय कार्य किया, वहाँ आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन को एक नयी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की। आपकी ऐसी साहित्य-सेवा से प्रभावित होकर पण्डित पद्मसिंह शर्मा की प्रेरणा से उत्तर भारत की सुप्रसिद्ध आर्य शिक्षा-संस्था गुरुकुल महाविश्वविद्यालय ज्वालापुर की विद्या सभा ने आपको **कविता कामिनी कांत** की सम्मानोपाधि से विभूषित किया था।"

कर्ण कवि (१८८१-१९४३)—चेंडोली जिला अलीगढ़ में उत्पन्न कर्ण कवि

कविताकामिनीकांत पण्डित नाथूराम शंकर के शिष्य थे और बचपन से उनके सत्संग में रहने पर काव्यरचना करने लगे। इन कविताओं में आर्यसमाज की सुधारवादी भावनाएँ प्रबल रूप में प्रकट हुई हैं। इनकी प्रमुख काव्यकृतियाँ **सुमनमाला, यमुनालहरी, अनुराग वाटिका** और **काव्य कुसुमोद्यान** हैं। इनकी कविताओं का स्तर साहित्यिक दृष्टि से बहुत ऊँचा था। डॉक्टर हरिशंकर शर्मा ने **सुमन माला** की भूमिका में लिखा है "हमारी धारणा है कि कर्ण कवि आर्यसमाज के ही नहीं, हिन्दी के उच्च कवियों में परिगणित करने योग्य हैं।" उनकी रचनाओं में समाज को ऊँचे आदर्शों की ओर ले जाने की पुनीत प्रेरणाएँ प्रमुख रूप से हुआ करती थीं। वे आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन के अपने समय के प्रमुख प्रवक्ता था।

कुँवर सुखलाल (१८८६–१६८१)—६२ वसंत पार करते हुए अपने समूचे जीवन को आर्यसमाज के प्रचारकार्य में खपा देने वाले कुँवर सुखलाल आर्यसमाज के कवियों और पुरानी पीढ़ी के आर्यसमाजियों में प्रमुख स्थान रखते हैं। आपने आधी शताब्दी से अधिक समय तक भारतवर्ष के कोने-कोने में घूमकर अपनी कविताओं और भजनों द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार किया।

आपका हिन्दी और उर्दू के छन्दों पर असाधारण अधिकार था। आपने सभी प्रकार के छन्दों और रसों में बड़ी प्रभावशाली कविताएँ रचीं। आपका कंठ बहुत मधुर था। आप अपनी कविताओं और भजनों का पाठ बहुत आकर्षक ढंग से करते थे। आपने न केवल आर्यसमाज के शुद्धि, दलितोद्धार, समाजसुधार आदि के आन्दोलनों में सक्रिय रूप से भाग लिया, अपितु स्वतंत्रता-संग्राम के आन्दोलनों में भी आप कई बार जेल गये। आर्यसमाज के कवियों में आपका विशिष्ट स्थान है।

हरिशंकर शर्मा (१८६१–१६६८)—आप सुप्रसिद्ध कवि पण्डित नाथूराम शंकर शर्मा के सुपुत्र थे। आपने पैतृक दाय के रूप में कवित्व की प्रतिभा ग्रहण की थी। बचपन में घर पर ही रहकर आपने हिन्दी के अतिरिक्त अंग्रेजी, उर्दू, संस्कृत, फारसी, बंगला, गुजराती, मराठी आदि भाषाओं का अच्छा ज्ञान प्राप्त किया था। आप इस प्रकार बहु-भाषाविद् और छन्दशास्त्र के विशेषज्ञ बने। आपने अपना साहित्यिक जीवन गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर के मासिक पत्र **भारतोदय** के सहकारी सम्पादक के रूप में आरंभ किया। उसके बाद आर्यमित्र के वर्षों तक सम्पादक रहे। आपके कारण आर्यमित्र हिन्दी में उत्कृष्ट कोटि का साप्ताहिक बन गया।

हरिशंकर शर्मा न केवल सफल पत्रकार, अपितु हास्य-व्यंग्यमय रचना करने में भी पटु थे। समाज में व्याप्त कुरीतियों और रूढ़ियों पर कड़ी चोट किया करते थे। आपने पचास के लगभग पुस्तकें लिखी हैं। श्री सुमन ने यह ठीक ही लिखा है कि कविता, व्यंग्य और हास्य लेखन में वे अद्वितीय थे। आपने जहाँ **घासपात, शिवसंकल्प, महर्षि महिमा, कृष्ण संदेश, रामराज्य, वीरांगना वैभव** आदि काव्यकृतियों का सृजन किया, वहाँ **चहचहाता चिड़ियाघर, पिंजड़ापोल** जैसी हास्य-व्यंग्यमयी गद्यरचना करके शिष्ट हास्य-लेखक की पटुता का भी प्रमाण दिया। **घासपात** नामक काव्यकृति पर आप देव पुरस्कार से सम्मानित किये गये। आपकी साहित्य-सेवा के लिए आगरा विश्वविद्यालय ने आपको डी० लिट्० की मानद उपाधि से विभूषित किया और भारत के राष्ट्रपति ने आपको पद्मश्री प्रदान की। किन्तु आप हिन्दी के इतने प्रबल समर्थक थे कि जब भारत सरकार

ने राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी को स्वीकार करने की अवधि और बढ़ा दी तो सरकारी नीति के विरोध में आपने पद्मश्री की उपाधि सरकार को लौटाने में तनिक भी संकोच नहीं किया। हिन्दी में वे उच्चकोटि के कवि, सफल व्यंग्यकार, हास्याचार्य, विख्यात पत्रकार, कोशनिर्माता और हिन्दी साहित्य के इतिहास-लेखक के रूप में स्मरण किये जाते हैं।

डॉक्टर विद्याभूषण विभु (१८९२–१९६५)—इलाहाबाद विश्वविद्यालय से एम० ए० और डी० फिल उपाधि प्राप्त करने वाले श्री विभु की यह विशेषता है कि उन्होंने १९२४ में दयानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर स्वामी दयानन्द के गुरु स्वामी विरजानन्द का जीवनचरित्र पद्य में लिखा था। आप 'आर्य दयानन्द' नामक एक महाकाव्य भी लिखना चाहते थे, किन्तु यह पूरा नहीं हो सका। आपने बालोपयोगी साहित्य एवं कविताओं की अनेक पुस्तकें लिखी हैं और इलाहाबाद से छपने वाले शिशु तथा चमचम नामक बालोपयोगी पत्रों का सम्पादन भी कुछ समय तक किया था।

कृष्णदेव प्रसाद गौड़ बेढब (१८९५–१९६८)—आप एम० ए० एल० टी० करने के उपरान्त १९१७ से १९४७ तक डी० ए० वी० कॉलेज वाराणसी के अध्यापक और बाद में इसी कालेज के प्रधानाचार्य-पद पर रहे। आपने अपनी कार्यशीलता और परिश्रम से वाराणसी के शैक्षिक और सार्वजनिक जीवन में महत्त्वपूर्ण स्थान बनाया। हास्य और व्यंग्य की कविता के क्षेत्र में आपने बड़ी सुन्दर रचनाएँ हिन्दी साहित्य को प्रदान कीं। आपकी कविताओं में प्रेम, रोमांस, आधुनिकता और राजनैतिक समस्याओं का पर्याप्त सरस चित्रण मिलता है। "इनकी हास्यप्रधान कविताओं में समसामयिक विडम्बनाओं पर तीखी टिप्पणियाँ पायी जाती हैं।" इनसे आप हिन्दी के बड़े लोकप्रिय कवि बने। आपकी ऐसी व्यंग्यात्मक रचनाओं का संकलन 'बिजली', 'बेढब की बहक', 'बेढब की बानी', 'नया जमाना' तथा 'काव्य कमल' में संगृहीत हैं।

कविताओं के अतिरिक्त आपने कहानी, उपन्यास तथा एकांकी लेखन में भी अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन किया है। ऐसी रचनाओं में उल्लेखनीय हैं—'बनारसी इक्का', 'मसूरीवाली', 'टनाटन', 'गांधी जी का भूत', 'धन्यवाद', 'महत्त्व के गुमनाम पत्र' और 'जब मैं मर गया'। 'अभिनेता' नामक एक सुन्दर नाटक तथा 'लेफ्टिनेंट पिगसन की डायरी' नामक एक उपन्यास भी आपने लिखा है। हिन्दी साहित्य के इतिहास का विवेचन आपकी 'हिन्दी साहित्य की रूपरेखा' और 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में की गई है। उर्दू के अच्छे विद्वान् होने के कारण आपने हिन्दी में उर्दू काव्य को भी सुन्दर रूप में प्रस्तुत किया है; 'गालिब की कविता' और 'रूहे सुखन' ऐसी पुस्तकें हैं। आपने सुप्रसिद्ध ब्रिटिश ऐतिहासिक अर्नाल्ड टायनबी की इतिहास-विषयक पुस्तक का 'इतिहास : एक अध्ययन' के नाम से सुन्दर अनुवाद किया है। आप कई वर्ष तक हास्य रस के साप्ताहिक पत्र 'तरंग' का सम्पादन करते रहे। हिन्दी को आपकी सबसे बड़ी देन शिष्ट और सुरुचिपूर्ण व्यंग्य साहित्य का सृजन था। इस दृष्टि से गौड़ जी का हिन्दी में अद्वितीय स्थान है।

उल्फतसिंह चौहान निर्भय (१८९९–१९८०)—आगरा जिले के हसनपुर गाँव के एक प्रतिष्ठित जमींदार कुल में जन्म लेने के कारण आपने हिन्दू, उर्दू, अंग्रेजी का अच्छा ज्ञान घर पर ही प्राप्त किया और छात्र-जीवन में आर्यसमाज से सम्पर्क के कारण आप प्रसिद्ध क्रान्तिकारी देवनारायण भारती के दल में सम्मिलित हो गये, १९१८ में मैनपुरी

षड्यन्त्र केस में आपको अपराधी घोषित किया गया और आप फरार हो गये।

महात्मा गांधी द्वारा १९२० में असहयोग आन्दोलन शुरू करने पर आप उसमें सम्मिलित हो गये और लगानबन्दी आन्दोलन का प्रचार ऊँट पर बैठकर किया करते थे। इस आन्दोलन में जब आप फरार हुए तो आपकी गिरफ्तारी के लिए सरकार ने ५०० रुपये का और आपके ऊँट की गिरफ्तारी के लिए ६० रुपये का इनाम घोषित किया। आर्यसमाज एवं राष्ट्रीय आन्दोलनों में आप निरन्तर भाग लेते रहे। १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन में आपकी भूमिका बड़ी सराहनीय थी। राष्ट्रीय कार्यों के साथ-साथ आप ब्रजभाषा और हिन्दी के उत्कृष्ट कवि थे। आपकी रचनाएँ 'किसानों की पुकार' (१९२४), 'किसानों का बिगुल' (१९२९), 'रणभेरी तथा अन्य राष्ट्रीय कविताएँ' (१९३०), 'चुनाव चालीसा' (१९३४), 'चीन कमीन ने धोको दियो' (१९६२), तथा 'निर्भय नीति संग्रह' (१९७५) नामक कृतियों में संकलित हैं। इनके अतिरिक्त आपकी अनेक रचनाएँ अभी तक अप्रकाशित पड़ी हैं जिनमें 'सत्य हरिश्चन्द्र' (लोकगीत), नीति-सतसई, अध्यात्म सतसई, शृंगार शतक और ईशोपनिषद् आदि प्रमुख हैं। आपकी कविताओं ने जनता में राष्ट्रीय जागरण और क्रान्ति की भावना उत्पन्न करने में बड़ा योगदान दिया है।

पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक में उत्पन्न होने वाले गुरुकुल के कुछ स्नातकों ने भी हिन्दी को बड़ी सुन्दर कविताएँ प्रदान कीं। इनमें आर्यसमाज के धुरंधर प्रचारक आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के सर्वप्रथम प्रधानोपदेशक तथा उपदेशक प्रधान, गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार का नाम उल्लेखनीय है। वे जहाँ वैदिक साहित्य के प्रकाण्ड पण्डित थे, उन्होंने मरुत, सोम, स्वर्ग, शतपथ में एक पथ लिखा, शतपथ ब्राह्मण का तथा अथर्ववेद का अपूर्व तथा अपूर्ण भाष्य किया, वर्णाश्रम व्यवस्था पर कायाकल्प की रचना की, वहाँ वे एक उच्च कोटि के कवि थे। उनके दो काव्यसंग्रह 'बिखरे फूल' और 'उसकी राह पर' प्रकाशित हो चुके हैं। पिछले संग्रह के आधार पर कुछ लोगों ने उन्हें आर्यसमाज का सूरदास कहा है। गुरुकुल के एक अन्य मेधावी स्नातक और प्रतिभाशाली कवि पण्डित वागीश्वर विद्यालंकार (१८९६–१९७६) थे। गुरुकुल काँगड़ी में संस्कृत-हिन्दी विभाग के अध्यक्ष, कुलसचिव आदि विभिन्न पदों पर सफलतापूर्वक कार्य करते रहे। उन्होंने नीराजना (१९३९) नामक अपना काव्यसंग्रह प्रकाशित किया था। यह द्विवेदी युग की कविता का उत्कृष्ट उदाहरण है। इसके अतिरिक्त वे कालिदास के ग्रन्थों के बड़े मर्मज्ञ विद्वान् थे। इस महाकवि का आलोचनात्मक अध्ययन उन्होंने 'कालिदास और उनकी कला' में प्रस्तुत किया है। उनके कुछ संस्कृत एकांकी भी महाविद्यालयों में अभिनीत किये जाते थे। इनमें छात्रकौतुकम्, अनियोग समस्या, विदूषक-परिषद् उल्लेखनीय हैं। अपने जीवन के संध्याकाल में उन्होंने वैदिक अलंकारों पर वैदिक साहित्य सौदामिनी के नाम से एक ग्रन्थ लिखा था।

राजकुमार रणवीरसिंह वीर (१८९९–१९२१)—अमेठी के राजपरिवार में जन्म लेने वाले श्री वीर की शिक्षा-दीक्षा घर पर ही अंग्रेजी, हिन्दी और संस्कृत के विद्वानों द्वारा हुई। आपका सारा परिवार वैदिक धर्मावलम्बी था। आपके जीवन पर महर्षि दयानन्द सरस्वती और आर्यसमाज के सिद्धान्तों की गहरी छाप पड़ी। आप अखण्ड ब्रह्मचारी, ओजस्वी वक्ता, हिन्दी के सुकवि और सुलेखक थे। यद्यपि २२ वर्ष की अल्प

आयु में आपका देहावसान हुआ, फिर भी आपने इस छोटी-सी आयु में अनेक काव्य-संकलन लिखे। आपकी प्रकाशित रचनाओं में 'सुघोर संगर' (१९१७), 'विजयोल्लास' (१९१७), 'सुभट तरुण' (१९१८), 'सामाजिक सुधार' (१९१९), 'उत्थानोद्बोधन' (१९१९) प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त अभी २३ पुस्तकें अप्रकाशित हैं। आप मुहूर्तम् ज्वलितं श्रेयः के सुन्दर उदाहरण थे।

(४) द्विवेदी-युगोत्तर आर्यसमाजी कवि

१९०० ई० के बाद उत्पन्न होने वाले कवियों का रचनाकाल दूसरे दशक में गांधी जी का असहयोग आन्दोलन शुरू होने के बाद का है। इस युग में हिन्दी कविता में छायावाद, स्वच्छन्दतावाद की नई प्रवृत्तियाँ प्रारम्भ हुईं, किन्तु आर्यसमाजी कवि इससे प्रभावित नहीं हुए। उनकी कविता का विषय धर्म एवं समाज का सुधार, देशप्रेम, स्वाधीनता-संग्राम और राष्ट्रीयता थे। यहाँ पहले इस युग के आर्यसमाजी कवियों का तथा बाद में आर्यसमाज से प्रभावित कवियों का उल्लेख किया जायगा। आर्यसमाजी कवियों के वर्णन में पूर्ववत् उनकी गद्य रचनाओं का भी संक्षिप्त उल्लेख किया जायगा।

जगनसिंह सेंगर (१९०३–१९७५)—आप अलीगढ़ जिले में उत्पन्न हुए। नगर-पालिका के विद्यालय में अध्यापक का कार्य करने के साथ-साथ १९३३ से १६ वर्ष तक 'शिक्षक बन्धु' नामक शिक्षा-सम्बन्धी मासिक पत्र भी निकालते रहे। आपकी यह विशेषता है कि आपने 'दयानन्द दर्शन' नामक काव्य लिखा है और इसके साथ ही 'किसान सतसई', 'शिक्षक सतसई', 'मुरली' आदि काव्यकृतियों का प्रणयन किया है। आपकी 'किसान सतसई' को उत्तर प्रदेश सरकार और ब्रज साहित्य मण्डल की ओर से पुरस्कृत किया गया था। आपकी अन्य रचनाओं का भी हिन्दी जगत् में पर्याप्त सम्मान हुआ है।

प्रकाश कविरत्न (१९०३–१९७७)—आप १९०३ में अजमेर में कट्टर सनातन-धर्मी परिवार में उत्पन्न हुए, किन्तु आर्यसमाज के प्रसिद्ध उपदेशक पण्डित रामसहाय की प्रेरणा से आप आर्यसमाजी बने, आजीवन अपनी लेखनी और वाणी से वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे। आपने जब गुजरात में काम करते हुए ईसाई पादरियों द्वारा हिन्दुओं को ईसाई बनाने के दृश्य देखे तो आप हिन्दुत्व की रक्षा की भावना से प्रेरित होकर आर्यसमाज के कार्यकलापों में सक्रिय भाग लेने लगे। आपने आर्यसमाज के प्रचारक का कार्य आरम्भ कर दिया। जब आप १९२४ में दयानन्द जन्म शताब्दी के महोत्सव में सम्मिलित होने के लिए मथुरा जाने लगे तो आपने एक गीत लिखा। वह आर्यसमाज में इतना प्रसिद्ध हुआ कि इससे आप आर्यसमाज के सर्वोत्तम कवियों में गिने जाने लगे। इस गीत की प्रारम्भिक पंक्तियाँ निम्नलिखित हैं—

> वेदों का डंका आलम में
> बजवा दिया ऋषि दयानन्द ने
> हर जगह ओम् का झंडा फिर
> फहरा दिया ऋषि दयानन्द ने।

इसी शताब्दी-उत्सव में आपने सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी कवि नाथूराम शंकर शर्मा के दर्शन किये और उनको काव्यगुरु मानकर अपनी कविताओं की रचना शुरू की।

आपने जहाँ एक ओर आर्यसमाज के सिद्धान्तों का अपनी कविताओं और भजनों द्वारा प्रचार किया, वहाँ दूसरी ओर राष्ट्रीय स्वतन्त्रता-संग्राम में भी आपने सक्रिय भाग लिया और जेल में भीषण यातनाएँ सहीं। इनसे आपको काव्य की बड़ी प्रेरणा मिली। आपने जेल-जीवन की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए लिखा है—

नंगी देह पर उड़ाते चाबुक थे अधिकारी,
किन्तु थीं हमारे लिए फूल की-सी झड़ियाँ,
स्वाद आता था सुधा-सा, रूखी-सूखी रोटियों में,
मारे भूख जब सूख जाती थीं अंतड़ियाँ।

आपने लगभग २५ वर्ष तक अनथक रूप से आर्यसमाज की सेवा की और अनेक गीत और भजन लिखे। आपकी उल्लेखनीय काव्य-कृतियाँ हैं—'प्रकाश भजनावली' (पाँच भाग), 'प्रकाश भजन सत्संग', 'प्रकाश गीत' (चार भाग), 'प्रकाश तरंगिणी' (साहित्यिक कविताएँ), कहावत कवितावली, गोगीत प्रकाश, वाल हकीकत तथा दयानन्द-प्रकाश (महाकाव्य)। आर्यसमाज, साहित्य एवं देश के प्रति की गई उल्लेखनीय सेवाओं के लिए ३० अक्तूबर १९७१ को एक विशाल अभिनन्दनग्रन्थ आपको भेंट किया गया था।

सूर्यदेव शर्मा—आप आर्यजगत् के सुप्रसिद्ध कवि और शिक्षाशास्त्री हैं। बरन (जिला एटा, उ० प्र०) में उत्पन्न तथा अजमेर के डी० ए० वी० शिक्षण संस्थान में अध्यापनकार्य करने वाले, आर्य साहित्य मण्डल के प्रधानमन्त्री, आर्यविद्या परिषद् द्वारा युवकों में वैदिक सिद्धान्तों के प्रति आस्था उत्पन्न करने वाले श्री शर्मा वैदिक विषयों पर वड़ी सरस तथा ओजस्वी कविताएँ लिखने वाले हैं। उनकी कविताएँ आर्यमित्र आदि सभी प्रमुख आर्यपत्रों में छपती रहती थीं। उनकी कविता का एक उदाहरण निम्न-लिखित है—

दीप्त 'सूर्य' सम जगती में, मानव का मणिमय साज रहे।
जय सारा संसार एक स्वर में 'जय आर्यसमाज' कहे॥

निरंजन देव आयुर्वेदालंकार (१९०३)—आपने १९२७ में गुरुकुल कांगड़ी से आयुर्वेद में उपाधि प्राप्त करने के बाद कुछ समय तक स्वतन्त्र चिकित्सा-व्यवसाय किया, बाद में गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के आयुर्वेद महाविद्यालय में तथा बरेली आयुर्वेद कॉलेज में प्रधानाचार्य रहे। चिकित्सा-कार्य में संलग्न रहते हुए भी आपने साहित्यिक कार्यों में बड़ी अभिरुचि ली। प्रियहंस तथा सव्यसाची के नाम से आपने अनेक कविताएँ लिखी हैं, संस्कृत के वेणीसंहार और दशकुमारचरितम् का हिन्दी अनुवाद किया है। आपने आयुर्वेद के कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं।

रामजीवन शर्मा (१९०४)—आप बिहार के वयोवृद्ध जुझारू आर्यसमाजी कवि हैं। आपका जन्म-स्थान मरवन (मुजफ्फरपुर बिहार) है। आपने वीररस की कविताएँ प्रचुर मात्रा में लिखी हैं, यह आपकी काव्यकृतियों के नामों से ही स्पष्ट है—'हम चीन से लड़ेंगे', 'राष्ट्रीयता का उत्थान', 'पाखण्ड प्रपंच का उन्मूलन', शोषित उठो', 'पदमर्दित उठो', 'तृणकण,' 'वर्षगाँठ की भेंट', 'अट्टहास', 'आखरी नमाज', 'करमी के फूल' (ग्राम-जीवन सम्बन्धी कविताएँ), 'छींटाकशी'।

सत्यकाम विद्यालंकार (१९०५)—१९२५ में गुरुकुल काँगड़ी से स्नातक होने

के बाद आपने 'वीर अर्जुन', दैनिक 'नवयुग' और 'आपबीती' पत्रों में कार्य किया और हिन्दी के सुप्रसिद्ध पत्र धर्मयुग का दस वर्ष (१९५०–१९६०) तक तथा नवनीत का आठ वर्ष तक सम्पादन किया। आजकल चारों वेदों के अंग्रेजी अनुवाद के कार्य में लगे हुए हैं। सम्पूर्ण ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद ११ खण्डों में प्रकाशित हो चुका है।

आप प्रतिभाशाली कवि हैं। आपने कविता का विषय वेदमन्त्रों को वनाया है। वड़े सरल-सरस शब्दों में वैदिक ऋचाओं के अनेक पद्यात्मक अनुवाद प्रकाशित किये हैं। 'वेद पुष्पाञ्जलि' में ८० वेद-मन्त्रों का पद्यात्मक अनुवाद है। 'वैदिक वंदना गीत' में साठ वेद-मन्त्रों का भाष्यसहित अनुवाद प्रकाशित किया गया है। वैदिक वंदन में ११८ वेद-मन्त्रों का भाष्य है। 'वेद सौरभ' में १०० चुने हुए वेद-मन्त्रों का हिन्दी-अंग्रेजी भाष्य है।

कविताओं के अतिरिक्त आपने सोमा, मुक्ता, देवता का दान तथा चेयरमैन नामक चार उपन्यास लिखे हैं। रवीन्द्रनाथ ठाकुर की तीन पुस्तकों—गीतांजलि, मालाकार, और साधना का हिन्दी अनुवाद किया है। स्वामी श्रद्धानन्द और पण्डित इन्द्र विद्या-वाचस्पति की जीवनियाँ लिखी हैं। पंचतन्त्र, मेघदूत का हिन्दी अनुवाद किया है।

हरिश्चन्द्र वर्मा देव चातक (१९०८–१९७६)—वृन्दावन गुरुकुल में कुछ समय तक शिक्षा पाने के वाद जब १९३८ में आपका पहला गीतसंग्रह 'नैवेद्य' के रूप में प्रकाशित हुआ तो आप हिन्दी काव्य-गगन पर पूरी तरह छा गये। आपकी इस पहली काव्यकृति की प्रख्यात समालोचक वावू गुलाव राय, जैनेंद्र कुमार और डॉक्टर रामविलास शर्मा ने वड़ी सराहना की। आपका दूसरा काव्यसंग्रह 'वासंती' था। इनके अतिरिक्त आपकी अन्य काव्यकृतियाँ हैं 'नीराजन', 'क्रांतिदूत', तथा 'भावों के स्वर्ग में'। 'साहित्यायन' में आपने अपने उत्कृष्ट निबन्ध प्रस्तुत किये हैं। आपकी प्रसिद्धि हिन्दी जगत् में भावनाप्रवण कवि के रूप में है।

सत्यपाल विद्यालंकार (३१ अक्तूबर १८८०–५ मई १९८०)—गुरुकुल काँगड़ी के यशस्वी कवि तथा उपन्यास-लेखक हैं। आपका एक काव्यसंग्रह 'दीप दान' के नाम से प्रकाशित हुआ है और आपने एक दर्जन के लगभग उपन्यास लिखे हैं।

मुरलीधर श्रीवास्तव (१९११)—आप बिहार के वयोवृद्ध साहित्यकार और सुप्रसिद्ध कवि हैं। आपकी प्रमुख रचनाएँ 'वल्लरी' और 'कुटी का क्रंदन' हैं। आपने कवीन्द्र रवीन्द्र की गीतांजलि का हिन्दी अनुवाद किया।

रमेशचन्द्र शास्त्री (१९१५–१९८०)—विजनौर जिले में उत्पन्न श्री शास्त्री की शिक्षा-दीक्षा गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में हुई। १९३३ में वहाँ से विद्याभास्कर उपाधि प्राप्त करने के बाद आप पहले राजस्थान के शाहपुरा, संस्कृत महाविद्यालय के आचार्य रहे और वाद में वनस्थली विद्यापीठ जयपुर में संस्कृत के प्राध्यापक रहे। अध्यापन कार्य में संलग्न रहते हुए भी आपने हिन्दी में कुछ महाकाव्यों का प्रणयन किया। इनमें उल्लेखनीय हैं—'दयानन्द गुरुपथ' (१९३८), धरानन्दिनी सीता (१९६८), महाभि-निष्क्रमण (१९६९), देवपुरुष गांधी (१९६९); ये सभी काव्य वड़े लोकप्रिय हुए। आपकी अन्य रचनाएँ हैं—'पंचों में भगवान' (उपन्यास), 'विश्व का वैदिक आधार', 'भारत में पंचायती राज', 'भविष्य का निर्माण करो', 'चारु चरितावली', 'दयानन्द वाणी'।

क्षेमचन्द्र सुमन (१९१६)—वावूगढ़ (गाजियाबाद, उत्तर प्रदेश) में उत्पन्न और ज्वालापुर महाविद्यालय के प्रतिष्ठित स्नातक श्री सुमन हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि,

समीक्षक, निबन्ध-लेखक, पत्रकार और प्रमुख साहित्यिक हैं। कविता के क्षेत्र में आपकी सुप्रसिद्ध कृतियाँ हैं—'मल्लिका' (१९४३), वन्दी के गान (१९४५), कारा (१९४६)। आपने हिन्दी साहित्य के विषय में ५० से अधिक मौलिक ग्रन्थ लिखे हैं और सम्पादित किये हैं। इनमें से कई विभिन्न राज्य सरकारों द्वारा पुरस्कृत हो चुके हैं। आपने एक अत्यन्त संवेदनशील कवि के रूप में अपने साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ किया और हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में अपना विशिष्ट स्थान बनाया। कई पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादन में भी सराहनीय योगदान दिया है। अपनी साहित्य-सेवाओं के कारण आप अनेक संस्थाओं द्वारा मानद उपाधियों से विभूषित किये गये हैं। १९८४ के गणतंत्र दिवस के अवसर पर भारत के राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह ने आपको 'पद्मश्री' की उपाधि प्रदान की।

आप द्वारा सम्पादित कविता-संग्रह और साहित्य के इतिहास उल्लेखनीय हैं। आपने 'हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ प्रेम गीत', 'आधुनिक हिन्दी कवयित्रियों के प्रेम गीत' (१९६२) तथा 'हिन्दी कवयित्रियों के प्रेम गीत' (१९६५) सम्पादित किये हैं। 'वन्दना के स्वर' (१९७५) में स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज पर हिन्दी कवियों द्वारा लिखी गयी कविताओं का सुन्दर संकलन है।

भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय द्वारा स्थापित साहित्य अकादमी में आप २४ वर्ष तक प्रकाशन एवं कार्यक्रम-अधिकारी के रूप में कार्य करते रहे हैं, और आपने भारतीय साहित्य परिचय नामक पुस्तकमाला के अन्तर्गत भारत की विभिन्न भाषाओं और उपभाषाओं के साहित्य के इतिहासों का सम्पादन और प्रकाशन किया है। इनमें 'उर्दू और उसका साहित्य' (१९५२), 'तमिल और उसका साहित्य' (१९५२), 'तेलुगु और उसका साहित्य' (१९५३), 'मालवी और उसका साहित्य' (१९५३), 'मराठी और उसका साहित्य' (१९५३), 'बंगला और उसका साहित्य' (१९५३), 'अवधी और उसका साहित्य' (१९५४), 'भोजपुरी और उसका साहित्य' (१९५४), 'संस्कृत और उसका साहित्य' (१९५५), 'प्राकृत और उसका साहित्य' (१९५६), 'गुजराती और उसका साहित्य' (१९५६) हैं।

श्री सुमन उच्च कोटि के जीवनी तथा संस्मरण-लेखक हैं और उन्होंने विभिन्न साहित्यिकों और नेताओं पर बड़े सुन्दर संस्मरण लिखे हैं। उनकी संस्मरणात्मक कृतियाँ हैं—जैसा हमने देखा (१९५०), पण्डित पद्मसिंह शर्मा (१९५१), साहित्यिकों के संस्मरण (१९५२), नेताओं की कहानी, उनकी जुबानी (१९५२), भारतीय आत्माएँ (१९७३), रेखाएँ और संस्मरण (१९७५)।

श्री सुमन की सबसे महत्त्वाकांक्षी योजना दस खण्डों में हिन्दी साहित्य के निर्माण में योगदान करनेवाले व्यक्तियों का परिचय-ग्रन्थ है। यह वास्तव में आपकी साहित्यिक साधना की चरम परिणति है। इस योजना से अतीत के अंधकार में विलुप्त होते जा रहे हिन्दी के हजारों लेखकों, मनीषियों, सेवकों और साधकों की सेवाओं को भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित बना दिया गया है। इस महत्त्वपूर्ण संदर्भ-ग्रन्थ के अभी तक दो खण्ड प्रकाशित हो चुके हैं और तीसरा खण्ड लिखा जा रहा है। हिन्दी साहित्य को उनकी यह सबसे अधिक गौरवपूर्ण देन है। इसने हिन्दी साहित्य के इतिहास की अनेक भ्रांतियों का संशोधन और परिमार्जन किया है।

सरस्वती कुमार दीपक (राम गोपाल शर्मा, १९१८)—आप हिन्दी के अत्यन्त

सशक्त गीतकार और कवि हैं। फिल्मक्षेत्र के अग्रणी कवियों में माने जाते हैं। आपने आर्यसमाज और स्वामी दयानन्द पर सुन्दर कवितायें लिखी हैं।

आनन्दवर्धन 'रत्नपारखी' विद्यालंकार (१९१९–१९७९)—आंध्र प्रदेश में उत्पन्न रत्नपारखी की शिक्षा गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी में हुई। यहाँ से १९४१ में विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त कर आप स्नातक हुए। कुछ समाचारपत्रों में सहकारी सम्पादक के रूप में काम करने के बाद आपने घनश्यामसिंह गुप्त की अध्यक्षता में भारतीय संविधान का हिन्दी में अनुवाद करने के लिए गठित समिति में कुछ दिन कार्य किया। इसके बाद आप राज्यसभा में वरिष्ठ अनुवादक नियुक्त हुए। मराठी, कन्नड़, तेलुगु, वंगला, अंग्रेजी, फ्रेंच पर अधिकार रखने के कारण आप राज्यसभा सचिवालय में युगपद् भाषान्तरणकार के रूप में प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध हुए। छात्रावस्था से ही आपने हिन्दी में कविता लिखना शुरू कर दिया था। आपकी मातृभाषा मराठी थी, फिर भी हिन्दी और संस्कृत पर आपका असाधारण अधिकार था। आप हिन्दी के उत्कृष्ट कवि थे। आपकी 'विहग' (१९५४), रश्मिहास (१९५६), सान्ध्य रव (१९५६) नामक काव्यकृतियाँ हिन्दी में वड़ी लोकप्रिय हुईं। आप अपने निधन से पूर्व स्वामी दयानन्द सरस्वती पर एक महाकाव्य लिखने में संलग्न थे। हिन्दी के अतिरिक्त आपने संस्कृत में 'कुसुमलक्ष्मी' नामक एक उपन्यास लिखा था। यह गंगानाथ झा पुरस्कार से सम्मानित हुआ।

निरंकारदेव सेवक (१९१९)—बरेलीवासी श्री सेवक हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि हैं। उनकी प्रमुख रचनाएँ कलरव, स्वस्तिका तथा चिनगारी हैं। वे अपनी बाल कविताओं के लिए विशेष रूप से विख्यात हैं।

प्रणव शास्त्री (ओंकार मिश्र, १९१९)—आप गुरुकुल वदायूँ के स्नातक और आर्य जगत् के विख्यात कवि और प्रचारक हैं। आपकी प्रमुख रचनाएँ सुमंगली, धारणा, बोस बावनी, तथा अमर ज्योति हैं।

सत्यभूषण योगी वेदालंकार (१९१७)—गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य रामदेवजी के सुपुत्र श्री योगी १९३९ में स्नातक बने। काफी समय तक सेंट स्टीफंस कालेज दिल्ली में संस्कृत एवं हिन्दी के प्राध्यापक तथा अध्यक्ष रहे। आप छात्रावस्था से ही कविता किया करते थे। आपकी कविताओं के संकलन हैं—'योगी का वीर काव्य', 'योगी की मधुशाला', 'सीमा', 'योगी का सोऽहम्'। आपने काव्यों के अतिरिक्त निरुक्त तथा मनुस्मृति का हिन्दी अनुवाद भी किया है।

उदयवीर विराज वेदालंकार (१९२१)—१९४१ में गुरुकुल काँगड़ी से स्नातक होने के बाद आपने कुछ समय तक वीर अर्जुन, हिन्दी मिलाप और धर्मयुग के संपादकीय विभाग में कार्य किया है और भारत सरकार की हिन्दी शिक्षण योजना में पाँच वर्ष तक अध्यापन-कार्य किया। आपने हिन्दी में कविता, कहानी, एकांकी नाटक, उपन्यास, अनुवाद और छात्रोपयोगी सभी प्रकार की ७० के लगभग रचनाएँ लिखी हैं। इनमें कविता-संग्रह—प्रेम दूती, हर की पेड़ी, रति विलाप, वसंत के फूल, हम हिन्दू हैं तथा अरुणोदय हैं। वन्य जीवन से सम्बन्धित पुस्तकों में 'वनराज के राज्य में', हाथियों की खोज में, 'जंगल के रहस्य', 'हाथियों का खेदा', 'वे चिंघारते हाथी' और 'भारत के प्रमुख साँप' हैं। उपन्यासों में पतित पावनी और नेपालेश्वर उल्लेखनीय हैं।

प्रताप विद्यालंकार मिर्जापुरी (१९२३)—१९४६ में गुरुकुल काँगड़ी से स्नातक

बननेवाले प्रताप ने कुछ समय तक हिन्दी के समाचारपत्रों के सम्पादकीय विभाग में काम किया। उनकी विशेष अभिरुचि कविता-लेखन में है। उनकी कविताएँ हिन्दी के प्रमुख दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्र-पत्रिकाओं में निरन्तर प्रकाशित होती रहती हैं।

डॉक्टर वेदप्रकाश बटुक (१९३२)—मेरठ के आर्यसमाजी परिवार में उत्पन्न आगरा, लंदन और हार्वर्ड विश्वविद्यालयों में शिक्षा प्राप्त करने वाले, गत २० वर्षों में शिकागो, केलीफोर्निया के विश्वविद्यालयों में लोक साहित्य तथा भाषाओं का अध्यापन कराने वाले श्री बटुक नई पीढ़ी के कवि हैं। उन्होंने विभिन्न विषयों पर अपने कविता-संग्रह प्रकाशित किये हैं। इनमें कुछ आपातकालीन स्थिति से भी सम्बन्ध रखते हैं। उनके प्रमुख काव्यसंग्रह हैं—विविधा (१९६५), आपातकालीन काव्य (१९७५), कैदी भाई, बंदी देश (१९७७), आपात शतक (१९७७), नीलकंठ बन न सका (१९७८), एक बूंद और (१९८०), कल्पना के पंख पाकर (१९८१), लौटना घर के वनवास में (१९८१), रात का अकेला सफर (१९८१)।

डॉक्टर श्यामसिंह शशि (१९३५)—आप वर्तमान पीढ़ी के प्रगतिशील सामाजिक कवि हैं। आपकी प्रमुख रचनाएँ लहू के फूल, और आस्था के स्वर (संपादित) हैं।

अन्य कवि—इस प्रसंग में कुछ अन्य कवियों का भी उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। इनकी जन्मतिथि निश्चित रूप से ज्ञात नहीं, अतः उपर्युक्त कालक्रमानुसारी विवरण में उनके नामों का यथास्थान समावेश नहीं किया जा सका है।

श्री रामनिवास विद्यार्थी को इस बात को श्रेय प्राप्त है कि उन्होंने सामवेद के पूर्वार्चिक के मन्त्रों का अनुवाद हिन्दी के लोकप्रिय छन्दों में प्रकाशित किया है। वे मेरठ जिले में फजलपुर के निवासी हैं। उनका संकल्प संपूर्ण सामवेद का पद्यबद्ध अनुवाद करना है। १९८३ में दयानन्द निर्वाण शताब्दी के अवसर पर उन्होंने अपना गीतिकामय हिन्दी भाषान्तर प्रकाशित किया। इसमें लोकप्रिय गीतों, भजनों, गजलों और लोकधुनों में और कई बार रजतपटीय धुनों में सामवेद की ऋचाओं का भावानुवाद बड़े सरस, सुबोध और सरल रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता और गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य पण्डित चमूपति एम० ए० अतीव सहृदय कवि थे। उन्होंने जहाँ एक ओर सामवेद की पावमानी ऋचाओं का अनुवाद गद्य काव्य की सरस भाषा में किया है, वहाँ उन्होंने हिन्दी में भावपूर्ण और मार्मिक कविताओं की रचना की है। उनकी कविताएँ आर्य प्रतिनिधि सभा लाहौर के मुख पत्र 'आर्य' में प्रायः प्रकाशित होती रहती थीं। १९३५ में दयानन्द निर्वाण अर्द्ध-शताब्दी के अवसर पर अजमेर में हुए आर्य कवि सम्मेलन में जब उन्होंने श्रीकृष्ण की पत्नी द्वारा उनके बाहर से लौटने पर तुलादान करने की कविता सुनायी थी तो इसे सुनकर सारी जनता भावविभोर हो उठी थी। जब रुक्मणी श्रीकृष्ण के तुलादान के लिए राज्य के सभी बहुमूल्य रत्नों, मणि-माणिक्यों, स्वर्णाभूषणों को पलड़े में डालकर भी उनके साथ अपने पति को तोलने में असमर्थ रही तो उनकी आँखों से दो आँसू ढलक पड़े और पलड़ा उठ गया—

बेबस अबला की आँखों से,
दो आँसू बरबस टपक पड़े।

थी दो बूँदों की महिमा क्या,
झट अचल साँवरे उचक पड़े।

इसी अर्द्धशताब्दी के अवसर पर श्री श्यामसुन्दर एडवोकेट मैनपुरी की दो कन्याओं—सुशीलाकुमारी विकसित कुसुम तथा कुसुमकुमारी किसलय ने मिलकर लिखा हुआ ओ३म् का ध्वज-गीत—'जयति ओ३म् व्योमविहारी' गाकर सुनाया तो यह बड़ा लोकप्रिय हुआ और उसी समय से आर्यसमाज का ध्वज-गीत बना हुआ है।

श्री विमलचन्द्र विमलेश विद्याभास्कर मथुरा ने स्वामी दयानन्द के जीवन की कथा 'ऋषि गाथा' के नाम से लिखी है। इसकी आर्यसमाज में बड़ी सराहना हुई है। उपर्युक्त ध्वज-गीत की लेखिकाओं के भाई श्री रमेशचन्द्र वर्मा मैनपुरी की काव्यकृतियाँ प्रभु गाथा (१९७५) तथा ऋषिगाथा (१९७५) आर्यसमाज में सराही गयी हैं। कविवर जगदीश विशारद ने 'दयानन्द' नामक काव्य लिखा है। सिद्ध गोपाल कविरत्न ने आर्य-समाज के सिद्धान्तों पर सुन्दर कविताओं का सृजन किया है। वैद्य गजाधरप्रसाद इष्ट ने सत्यार्थप्रकाश का पद्यानुवाद किया है। काकोरी काण्ड के नेता रामप्रसाद बिस्मिल सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी थे और उन्होंने अनेक क्रांतिकारी कविताओं का प्रणयन किया है। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक शांतिस्वरूप भटनागर ने हिन्दू विश्वविद्यालय का कुलगीत लिखा था। आर्यसमाज के आरम्भिक युग में एक बड़े प्रसिद्ध भजनीक श्री अमीचन्द थे और उनके द्वारा बनाये भजन आज तक आर्यसमाज के सत्संगों में गाये जाते हैं। "तुम हो प्रभु चाँद मैं हूँ चकोरा" भजन उनका ही लिखा हुआ है। डॉ० इन्द्रसेन आयुर्वेदालंकार कुशल चिकित्सक तो हैं ही, साथ ही उच्च कोटि के कवि भी हैं। आपने काव्यप्रेमियों को रसधारा, सूक्तिधारा, हृदयहरधारा, करुणधारा, रंजनधारा, राजधारा, उद्गारधारा, मनोहरधारा, अभिरामधारा, मनोरमधारा के नाम से दस काव्यधारायें दी हैं।

आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित कवि—द्विवेदी युग की भाँति इसके बाद के युग में भी पौराणिक विचारधारा रखने वाले अनेक सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित होते रहे। सुप्रसिद्ध हिन्दी कवि हरिवंशराय बच्चन बचपन में आर्यसमाज के सम्पर्क में आये; आर्य कुमार सभा के सदस्य रहे। स्वामी सत्यप्रकाश की प्रेरणा से उन्होंने हिन्दी में लेख लिखना शुरू किया और काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हिन्दी साहित्य के बृहद् इतिहास में उनकी कविता पर आर्यसमाज के प्रभाव की बात स्वीकार की गयी है। सुप्रसिद्ध छायावादी कवि श्री सूर्यकांत त्रिपाठी निराला भी आर्यसमाज से बहुत प्रभावित हुए। उन्होंने 'महर्षि दयानन्द और युगान्तर' नामक एक लेख में स्वामी जी के कार्यों का मूल्यांकन करते हुए कहा है—"हम आर्य हों, हिन्दू हों, ब्रह्मसमाज वाले हों, यदि हमें ऋषियों के संतान होने का सौभाग्य प्राप्त है और इसके लिए हम गर्व करते हैं, तो कहना होगा कि ऋषि दयानन्द से बढ़कर हमारा उपकार इधर किसी भी दूसरे महापुरुष ने नहीं किया, जिन्होंने स्वयं कुछ भी न लेकर अपार ज्ञानराशि वेदों से (हमें) परिचित करा दिया…गुरु-परम्परा को भी आड़े हाथों में लिया, ब्राह्मणों की ठग विद्या के सम्बन्ध में भी बहुत-कुछ लिखा और वेदाध्ययन में अधिकारी-भेद न रखते हुए सभी जातियों की बालिकाओं, विद्यार्थियों को वेदाध्ययन का अधिकार दिया…स्त्रीशिक्षा के विस्तार का अधिकांश श्रेय आर्यसमाज को दिया जा सकता है।"

पूर्वोक्त विवरण से स्पष्ट है कि आर्यसमाज में पद्यरचना करने वाले कवि न केवल धार्मिक और सामाजिक सुधार की भावनाओं को अपनी काव्यकृतियों में अभिव्यक्त करते रहे, अपितु वे उग्र राष्ट्रीय विचारों के प्रसार के लिए भी कविता को माध्यम बनाते रहे। इस प्रकार भारत में होने वाली जनक्रांति और स्वाधीनता-संग्राम में अपनी आहुति देने के लिए जनता को प्रेरित करते थे, इसके साथ ही वे स्वयमेव राष्ट्रीय आन्दोलनों में सक्रिय भाग लेते थे और जेल जाते थे। वे विशुद्ध साहित्यिक कवि नहीं थे, अपितु राष्ट्रीय संग्राम में भाग लेने वाले थे। यह बात श्री उल्फत सिंह चौहान तथा श्री प्रकाश आदि के पहले दिये गये विवरणों से स्पष्ट है। आर्यसमाजी कवियों की यह एक बहुत बड़ी विशेषता थी।

पच्चीसवाँ अध्याय

ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी विविध आर्य साहित्य

(१) इतिहास

पिछले अध्यायों में यह बताया जा चुका है कि आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने हिन्दी गद्य के विकास के क्षेत्र में क्या योगदान दिया और उनके बाद आर्य-समाज एवं आर्यसमाजी विद्वानों ने हिन्दी काव्य के क्षेत्र में क्या प्रभाव डाला और प्रचलित गद्य के विकास में क्या सहयोग दिया। अब इस अध्याय में सामाजिक विज्ञानों, प्राकृतिक विज्ञानों तथा साहित्य की अन्य विधाओं में आर्यसमाज के योगदान का संक्षिप्त उल्लेख किया जाएगा।

(क) इतिहास के प्रमुख लेखक—इतिहास को पाँचवाँ वेद माना जाता है। अतः आर्यसमाज ने वेद का परम भक्त होने से इस ओर विशेष ध्यान दिया है। आर्यसमाज का प्राचीन भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में एक विशेष दृष्टिकोण है। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के दशम समुल्लास में भारत को जगद्गुरु माना और इसकी पुष्टि मनु (२/२०) के निम्नलिखित श्लोक से की—

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥

इसकी पुष्टि करते हुए उन्होंने लिखा था कि "जितनी विद्या भूगोल में फैली है, वह सब आर्यावर्त देश से मिश्रवालों, उनसे रोम और उनसे यूरोप देश में, उनसे अमेरिका आदि देशों में फैली है।" समस्त विश्व में ज्ञान का आदिस्रोत प्राचीन भारत था। वह सब देशों से ज्ञान-विज्ञान में अग्रणी था। उसी से अन्य सभी देशों ने ज्ञान की ज्योति ग्रहण की। इस समय पश्चिम में जो वैज्ञानिक आविष्कार हुए हैं, वे सब प्राचीन आर्य पहले ही कर चुके थे। महाभारत के युद्ध से आर्यावर्त के अधोपतन का श्रीगणेश हुआ।

किन्तु पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण में पाश्चात्य ऐतिहासिकों और विचारकों का मत इससे सर्वथा प्रतिकूल था। उनके मतानुसार ब्रिटिश शासन से पहले भारत अज्ञानांधकार में डूबा हुआ था। ज्ञान-विज्ञान के सभी क्षेत्रों में पिछड़ा हुआ था। अंग्रेजों ने अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों से प्राचीनकाल के गौरव को घटानेवाले और भारतीयों को बदनाम करनेवाले अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया था, भारतीय इतिहास की घटनाओं को बड़े विकृत रूप में प्रस्तुत किया था।

आर्यसमाज प्राचीन भारतीय धर्म और संस्कृति के पुनर्जीवन पर बल देता था। अतः आर्यसमाज में आरम्भ से ही प्राचीन भारत के इतिहास को महत्त्व दिया गया और आर्यसमाज के विद्वानों ने इतिहासविषयक अनेक ग्रन्थ लिखे। यहाँ आर्यसमाज के कुछ

प्रमुख इतिहास-लेखकों की कृतियों का संक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

भाई परमानन्द (१८७६–१९४७)—आप राष्ट्रीय दृष्टिकोण से भारत का इतिहास लिखनेवाले आर्यसमाज के पहले प्रमुख ऐतिहासिक थे। उनको बचपन से ही भारतीय इतिहास में बड़ी अभिरुचि थी। वे दिल्ली में सिखों के नवें गुरु तेगबहादुर के साथ बलिदान होनेवाले और हँसते हुए सिर पर आरा रखकर अपने शरीर को चिरवाने वाले भाई मतिदास के वंश में उत्पन्न हुए थे। उन्होंने बचपन से ही बलिदानी वीरों की रोमांचक कथाएँ सुनी थीं और इनसे उनमें इतिहास के प्रति बड़ा अनुराग उत्पन्न हुआ था। डी० ए० वी० कॉलेज से बी० ए० पास करने के बाद जब वे एबटाबाद के ऐंग्लो-संस्कृत स्कूल के मुख्याध्यापक बने तो उन्होंने इतिहास में एम० ए० पास करने का निश्चय किया और इसके लिए विशेष अध्ययन की दृष्टि से वे एक वर्ष कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कॉलेज में पढ़ते रहे।

इतिहास में दिलचस्पी होने के कारण यहाँ उनका ध्यान अंग्रेज ऐतिहासिकों द्वारा वर्णित आधुनिक इतिहास की कालकोठरी (ब्लैकहोल) की घटना की ओर गया। कहा जाता है कि सिराजुद्दौला ने १७५५ ई० में कलकत्ता पर अधिकार करने के बाद लड़ाई में पकड़े गए १४६ अंग्रेजों को ८ फुट लम्बी तथा इतनी चौड़ी कोठरी में जून महीने की भीषण गर्मी में बन्द करवा दिया था। अगले दिन सवेरे तक इनमें से १२३ अंग्रेज गर्मी और प्यास से पीड़ित होकर तथा दम घुटकर मरे पाए गए। भाई जी इस घटना के विषय में अंग्रेजों द्वारा लिखे गए विवरणों की जाँच करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यह सर्वथा निराधार और कपोलकल्पित घटना है। इससे उनके मन में उस समय पढ़ाए जानेवाले अंग्रेजों द्वारा साम्राज्यवादी दृष्टिकोण से लिखे गए इतिहासों में अनास्था उत्पन्न हो गई। इसी समय से उनके मन में भारत का प्रामाणिक एवं सच्चा इतिहास लिखने की इच्छा उत्पन्न हुई।

इसे मूर्त रूप देने का स्वर्ण अवसर कुछ वर्ष बाद उन्हें मिला। १९०५ ई० में दक्षिण अफ्रीका के भारतीयों ने डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर के प्रिंसिपल को वहाँ धर्म-प्रचार के लिए किसी योग्य धर्मनिष्ठ विद्वान् को भिजवाने के लिए लिखा। महात्मा हंसराज ने भाई परमानन्द से वहाँ इस कार्य के लिए जाने का अनुरोध किया। इसके अनुसार दक्षिण अफ्रीका में कुछ समय तक प्रचार करने के बाद भाई परमानन्द लंदन होते हुए भारत लौटे। इस समय उन्होंने अपने पुराने संकल्प की पूर्ति के लिए यह निश्चय किया कि वे लंदन में कुछ समय ठहरकर ब्रिटिश संग्रहालय में विद्यमान भारतीय इतिहास की मूल सामग्री तथा आधारभूत ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन करें और उनके आधार पर भारत का सच्चा इतिहास लिखें। इन संग्रहालयों में भारत के, विशेषतः आधुनिक भारत के इतिहास की जितनी बहुमूल्य मौलिक समसामयिक सामग्री और पुस्तकें हैं, उतनी विश्व के किसी दूसरे पुस्तकालय में नहीं हैं। यहाँ विभिन्न सरकारी रिपोर्टों, दस्तावेजों और पुस्तकों का अध्ययन करके वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अंग्रेजों द्वारा लिखे भारत के सभी इतिहास विशेष राजनैतिक उद्देश्य से प्रेरित होकर लिखे गए हैं। इनमें प्राचीन भारत के इतिहास की, हिन्दू जाति के उत्थान-पतन के कारणों की कोई मीमांसा नहीं की गई और वर्तमान काल में अंग्रेजों के शासन का अतीव उज्ज्वल, सुनहला तथा अतिरंजित चित्रण किया गया है। उन्होंने डेढ़ वर्ष तक लंदन के किंग्ज

कॉलेज में प्रविष्ट होकर ऐतिहासिक ग्रन्थों का गम्भीर अनुशीलन किया, बहुमूल्य सामग्री एकत्र की तथा लंदन विश्वविद्यालय के लिए 'भारत में ब्रिटिश राज का उत्कर्ष' नामक शोध-प्रवन्ध लिखा। इसे किंग्ज कॉलेज के ब्रिटिश प्राध्यापक ने बहुत पसन्द किया, किन्तु दो ऐंग्लो-इण्डियन परीक्षकों को इसमें की गई अंग्रेजी शासन की आलोचना सह्य नहीं थी। अतः उनके विरोध के कारण यह शोध-प्रबन्ध विश्वविद्यालय से स्वीकृत नहीं हो सका, बाद में इसी अध्ययन के आधार पर उन्होंने उर्दू में 'तारीखे-हिन्द' (भारत का इतिहास) लिखी।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि भारत के इस इतिहास को लिखने के कारण राजद्रोह के अपराध में फाँसी की सजा पानेवाले भाई परमानन्द पहले भारतीय थे। अपनी विदेश-यात्रा में श्यामजी कृष्ण वर्मा, लाला हरदयाल तथा गदर आन्दोलन के अन्य क्रान्तिकारी नेताओं के साथ भाई परमानन्द का घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। जब वे संयुक्त राज्य अमेरिका में दवाएँ बनाने (फार्मेसी) का प्रशिक्षण प्राप्त करके स्वदेश लौटे और लाहौर में उन्होंने अपनी फार्मेसी खोली तो सरकार को यह सन्देह हुआ कि वे यहाँ बम आदि विस्फोटक पदार्थ बनाते हैं। २५ फरवरी १९१५ को उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया और ६५ अन्य अभियुक्तों के साथ उन पर राजद्रोह के लिए पहला लाहौर षड्यन्त्र केस चलाया गया। इस मामले में सरकार को भाई जी के विरुद्ध राजद्रोह का कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिला, किन्तु वह उन्हें सबसे खतरनाक अपराधी समझती थी और उन्हें दण्ड देने पर तुली हुई थी। अतः इस मामले को सुननेवाले न्यायाधीशों ने उनकी पुस्तक 'तारीखे-हिन्द' को सरकार के विरुद्ध विद्रोह भड़कानेवाला माना और इस आधार पर उन्हें फाँसी की सजा दी गई, जिसे बाद में तत्कालीन वायसराय लॉर्ड हार्डिंग ने आजन्म कारावास में बदल दिया। दीनबन्धु एण्ड्रूज और महात्मा गांधी के प्रयत्नों से कुछ वर्ष कारावास-दण्ड भोगने के बाद वे १९२० में अण्डमान की जेल से मुक्त कर दिये गए।

भाई जी का 'तारीखे-हिन्द' शुरू में पंजाब में प्रचलित उर्दू में लिखा गया था क्योंकि उस समय पंजाब के आर्यसमाजी इसका ही अधिक प्रयोग करते थे, किन्तु बाद में उसका हिन्दी रूपान्तर किया गया। बाबू शिवप्रसाद गुप्त द्वारा संस्थापित ज्ञान मण्डल वाराणसी से यह 'भारतवर्ष का इतिहास' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस पर जान-बूझकर भाई जी का नाम नहीं दिया था और 'इतिहास प्रेमी' को इसका लेखक बताया गया था।

पण्डित भगवद्दत्त—पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने स्वामी दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों के अनुसार भारत के प्राचीन इतिहास को लिखने के सम्बन्ध में अत्यन्त महत्त्व-पूर्ण कार्य किया है। भगवद्दत्त जी वेद-शास्त्रों के साथ-साथ प्राचीन भारतीय इतिहास के भी गम्भीर विद्वान् थे और डी०ए०वी० कॉलेज लाहौर के तत्त्वावधान में शोध-कार्य में रत थे। गम्भीर शोध के परिणामस्वरूप उन्होंने भारत का जो प्राचीन इतिहास प्रस्तुत किया है, वह पाश्चात्य इतिहासज्ञों की मान्यताओं के सर्वथा विपरीत है, पर उसमें प्राचीन इतिहास का जो तिथिक्रम प्रतिपादित किया गया है, उसे कदापि निराधार नहीं कहा जा सकता। भारत की परम्परागत एवं शास्त्र-पुराणविहीन मान्यताओं के अनुरूप होने के कारण उसे कदापि उपेक्षित नहीं किया जा सकता।

आचार्य रामदेव (३१ जुलाई १८८१ से ९ दिसम्बर १९३९ ई०)—वर्तमान

शताब्दी के पहले दशक में आर्यसमाजी दृष्टिकोण से प्राचीन भारत का इतिहास लिखनेवाले एक अन्य विद्वान् गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य रामदेव थे। वे गुरुकुल के पाठ्यक्रम में इतिहास को विशेष महत्त्व देते थे। इतिहास का अध्यापन कराते हुए उन्हें यह प्रतीत हुआ कि उस समय अंग्रेजों द्वारा लिखे गए जो इतिहास हैं, वे भारतीय छात्रों की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त एवं घातक हैं। अतः उन्होंने प्राचीन भारतीय आर्य संस्कृति और सभ्यता का यथार्थ स्वरूप प्रतिपादन करने के लिए भारतवर्ष के इतिहास की रचना की। इसका पहला भाग १९१० में प्रकाशित हुआ और १९११ में इसका दूसरा संस्करण सद्धर्म प्रचारक प्रेस गुरुकुल काँगड़ी से छपा। १९२४ में तीन हजार प्रतियों का तीसरा संस्करण प्रकाशित हुआ। इससे इस इतिहास की लोकप्रियता सूचित होती है।

इस इतिहास के पहले भाग में वैदिक सभ्यता का विस्तृत विवेचन किया गया है और अंग्रेजों द्वारा उत्पन्न की गई अनेक भ्रान्तियों का निवारण किया गया है। उस समय भारतीयों के लिए यह कहा जाता था कि वे इतिहास-लेखन की कला से अनभिज्ञ थे। इसका आचार्य महोदय ने सप्रमाण खण्डन किया। इसमें वैदिक युग, रामायण काल तथा महाभारत काल की सभ्यताओं पर उत्तम प्रकाश डाला गया है। दूसरे भाग के आरम्भ में शुक्र-नीति के आधार पर भारतीय शासन-पद्धति और सभ्यता का चित्रण किया गया है। इस भाग के उत्तरार्द्ध में बौद्धकालीन भारत का ऐतिहासिक विवेचन उनके शिष्य डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार ने लिखा है। यह बड़े खेद की बात है कि आर्यसमाज के कार्यों में अतिव्यस्त रहने के कारण आचार्य रामदेव भारतीय इतिहास के परवर्ती युगों का इतिहास पूरा नहीं कर सके। उनका इतिहास प्रायः सभी गुरुकुलों में पाठ्यपुस्तक के रूप में पढ़ाया जाता है। यह आर्यसमाज के ऐतिहासिक दृष्टिकोण को सर्वोत्तम रूप में प्रतिपादित करनेवाला माना जाता है। उन्होंने इसके अतिरिक्त पुराणमत पर्यालोचन नामक ग्रन्थ भी लिखा है जिसमें पुराणों की समीक्षा की गई है।

पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति (९ नवम्बर १८८९ से २३ अगस्त १९६०)—महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के सुपुत्र और गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के प्रथम स्नातक पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति बहुमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे स्वतन्त्रता-संग्राम के वीर सेनानी तथा आर्यसमाज के प्रतिष्ठित नेता थे। हिन्दी पत्रकारिता के लिए उन्होंने महत्त्वपूर्ण कार्य किया और वे 'विजय', 'अर्जुन', 'सत्यवादी' आदि अनेक समाचार-पत्रों का सम्पादन व संचालन करते रहे। उन्होंने अनेक उपन्यास लिखे और हिन्दी गद्य के विकास में उनका उल्लेखनीय योगदान था। मध्यकालीन तथा अर्वाचीन भारतीय इतिहास पर उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखीं, जिनमें 'मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण' (दो भाग) तथा 'भारत में ब्रिटिश राज्य का उदय और अस्त' विशेष महत्त्व के हैं। उन्होंने बड़ी खोज और परिश्रम से आर्यसमाज का इतिहास भी लिखना शुरू किया था, जिसके केवल दो भाग ही वे सम्पादित तथा प्रकाशित कर सके।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन (५ अप्रैल १८९३ से १४ अप्रैल १९६३)—राहुल जी हिन्दी साहित्य के मूर्धन्य लेखक हैं। हिन्दी साहित्य का सम्भवतः कोई भी अंग ऐसा नहीं है जिसे उन्होंने अपनी कृतियों से समृद्ध और सम्पन्न न बनाया हो। किसी शिक्षणालय तथा विश्वविद्यालय में विधिवत् शिक्षा ग्रहण न करने पर भी, अपने सतत अध्ययन और अध्यवसाय से वे काशी के विद्वानों द्वारा 'महापण्डित' की उपाधि से

सम्मानित किये गए, श्रीलंका विद्यालंकार कॉलेज के विद्वानों द्वारा 'त्रिपिटकाचार्य' की उपाधि से विभूषित हुए। भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व, भाषा-विज्ञान, कोष-विज्ञान, उपन्यास, कथा, कहानी के क्षेत्र में हिन्दी साहित्य में उनके अवदान स्मरणीय हैं। ३६ भाषाओं के ज्ञाता और १६ भाषाओं को भली प्रकार पढ़ने-लिखने तथा बोलनेवाले राहुल सांकृत्यायन की सब प्रकार की अनूदित और मौलिक कृतियों की संख्या श्रीमती कमला सांकृत्यायन के अनुसार १२९ है। राहुल सांकृत्यायन के ५० हजार पृष्ठ प्रकाशित हो चुके हैं। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के शब्दों में, "उन्होंने उपन्यास लिखे, कहानियाँ लिखीं, उन्होंने आत्मकथा लिखीं, जीवनियाँ लिखीं, दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे, इतिहास लिखे, राजनीति पर लिखा। उन्होंने शोध ग्रन्थ लिखे और हिन्दी के आदिकालीन साहित्य पर नया प्रकाश डाला। वे प्रकाण्ड पण्डित थे।" यद्यपि राहुलजी आर्यसमाजी नहीं थे, पर उनके साहित्य पर आर्यसमाज का प्रभाव था, इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। युवा अवस्था में वे आर्यसमाज के घनिष्ठ सम्पर्क में रहे थे और आर्यसंस्थाओं में उन्होंने शिक्षा भी ग्रहण की थी।

आजमगढ़ के एक गाँव में उत्पन्न केदारनाथ पाण्डे की बहुमुखी प्रतिभा को विकसित करने में आर्यसमाज का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। १८९३ में उत्पन्न राहुल १५-१६ वर्ष की आयु में पक्के वेदान्ती बने, संन्यासी बनने की धुन में बद्रीनाथ की ओर भाग खड़े हुए। शीघ्र ही वेदान्ती से शिवभक्त बने, १९११ में मन्त्र-साधना की ओर आकृष्ट हुए, १९१२ में वे पुनः वैष्णव होकर केदारनाथ से बाबा रामोदार दास बने। १९१४ में २१ वर्ष की आयु में वे अयोध्या में आर्यसमाज के सम्पर्क में आए। उन दिनों आर्यसमाज के भाषणों में मूर्तिपूजा, बहुदेववाद आदि का खण्डन होता था। बाबा रामोदार दास को यह बड़ा आकर्षक प्रतीत हुआ। वे अभी तक एक संकीर्ण जगत् में थे। आर्यसमाज ने उन्हें एक नवीन प्रकाश प्रदान किया। उन्होंने आत्मकथा में लिखा है, "मैं अपने अन्तःस्थल की संकीर्ण गढ़ैया से निकलकर विशाल जलाशय में जाने की मूक वेदना को अनुभव कर रहा था।" १९१५ में शिक्षा-प्राप्ति के लिए राहुलजी आर्यमुसाफिर विद्यालय आगरा में प्रविष्ट हुए। इस विद्यालय में विद्यार्थियों को आर्यसमाज के प्रचारक के रूप में तैयार किया जाता था। यहाँ उन्हें नये प्रकाश का अनुभव हुआ। उनके शब्दों में, "अब तक मेरे विचार वन्ध्या समान थे, किन्तु यहाँ आर्यसमाज में अपनी बुद्धि को ज्यादा स्वच्छन्द, ज्यादा अनुकूल परिस्थितियों में पा रहा था।" आर्यसमाज को राहुल जी उन दिनों सार्वभौम धर्म समझते थे। उनका विश्वास था कि आर्यसमाज ने प्राणों की आहुति देकर और पीड़ितों की सेवा करके अपने लिए आकर्षक इतिहास तैयार किया था। राहुलजी ने उस समय स्वामी दयानन्द के विषय में यहाँ तक कह दिया था कि "मैं दयानन्द के एक-एक वाक्य को वेदवाक्य मानता हूँ।" आर्यमुसाफिर विद्यालय आगरा से शिक्षा प्राप्त कर कुछ समय तक राहुलजी आर्यसमाज के प्रचारक के रूप में कार्य करते रहे।

सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी विद्वान् काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में अरबी-फारसी के प्राध्यापक मौलवी महेशप्रसाद आलिमफाजिल का उनपर गहरा प्रभाव पड़ा। इसका वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है, "यहाँ आगरा में भाई साहब (महेशप्रसाद जी) के सम्पर्क में आने पर मालूम हुआ जैसे आदमी अंधेरी कोठरी से निकलकर सूर्य की रोशनी

में रख दिया जाए, जैसे घुटती काली कोठरी से निकाल शीतल मन्द सुगंध वायु परिचालित बाग में ला रखा जाए। अब मुझे मालूम होने लगा दुनिया में ऐसा भी काम है, जिसके लिए जीवन की आवश्यकता है, ऐसे भी आदर्श हैं जिनके लिए मृत्यु मधुरतम वस्तु है।" यद्यपि बाद में राहुलजी के विचारों में बड़ा परिवर्तन आया। वे पहले बौद्ध और बाद में मार्क्सवादी कम्युनिस्ट बने, किन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे आर्यसमाज के उदारवाद, बुद्धिवाद, तर्कवाद और सुधारकवाद की भावना से बड़े प्रभावित हुए और उनकी कृतियों पर इसका स्पष्ट प्रभाव है। उनकी प्रमुख रचनाओं का अतीव संक्षिप्त परिचय निम्नलिखित है—

(ख) **ऐतिहासिक रचनाएँ**—राहुलजी का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण अवदान इतिहास के और विशेषतः हिन्दी साहित्य के इतिहास के क्षेत्र में है। उनसे पहले हिन्दी साहित्य का आदिकाल **वीरगाथा काल** माना जाता था और यह ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता था। राहुलजी तिब्बत में की गई सिद्ध साहित्य-विषयक खोजों से उपलब्ध प्राचीन साहित्य के आधार पर इसे चार शताब्दी पीछे ले गए और आठवीं शताब्दी से हिन्दी साहित्य का आदिकाल माना जाने लगा। उन्होंने इस काल को महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियों तथा इस पर प्रभाव डालने वाले व्यक्तियों के आधार पर **सिद्ध-सामन्त युग** का नया नाम दिया। सरहपा आदि चौरासी सिद्धों के दोहों की खोज के आधार पर उन्होंने अपनी पुरातत्त्व निबन्धावलि (१९३७) के कई निबन्धों पर इस विषय पर सुन्दर प्रकार डाला है। ये निबन्ध हैं—महायान बौद्ध धर्म की उत्पत्ति, वज्रयान और चौरासी सिद्ध, हिन्दी के प्राचीनतम कवि और कविताएँ। इनसे मध्यकालीन निर्गुण काव्यधारा की पूर्वपरम्परा और उसके मूल स्रोत पर नया प्रकाश पड़ा। उन्होंने अपनी पुस्तक **हिन्दी काव्यधारा** में हिन्दी के आदिकाल की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और साहित्यिक परिस्थितियों का विस्तृत विवेचन किया।

साहित्य के इतिहास में उनकी दूसरी महत्त्वपूर्ण कृति **'दक्षिण हिन्दी काव्य धारा'** (१९५९) है। इसमें भी उन्होंने कई मौलिक स्थापनाएँ की हैं और दक्षिणी हिन्दी के १४०० से १८४० तक के प्रमुख कवियों की रचनाओं का संक्षिप्त विवरण तथा मूल्यांकन प्रस्तुत किया है। उनके अन्वेषणों ने हिन्दी साहित्य के इतिहास के बारे में मानी जाने वाली पुरानी धारणाओं में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं।

उनकी पुरातत्त्व निबन्धावली (१९३७) में भारतीय पुरातत्त्व-विषयक १८ निबन्धों का संकलन है। इनमें कुछ निबन्धों का शीर्षक है—काल निर्णय में ईंटें और गहराई, पुरातत्त्व, जेतवन, मागधी हिन्दी का विकास, तिब्बत में भारतीय साहित्य और कला। दो भागों में लिखा उनका **मध्य एशिया का इतिहास** (१९५२) हिन्दी में इस महत्त्वपूर्ण प्रदेश का विस्तृत परिचय देनेवाला पहला ग्रन्थ था। **ऋग्वेदिक आर्यसमाज** (१९६७) में उन्होंने उस समय के आर्यों के जीवन पर सुन्दर प्रकाश डाला है। **अकबर** में सुप्रसिद्ध मुगल सम्राट् का विस्तृत परिचय दिया गया है। हिन्दी साहित्य के अतिरिक्त उन्होंने पाली साहित्य का भी इतिहास लिखा है और मूल पालि से बौद्ध धर्म के त्रिपिटक के महत्त्वपूर्ण अंशों तथा ग्रन्थों का अनुवाद किया है। इनमें प्रमुख अनुवाद हैं—'बुद्ध चर्या (चर्चा)। मज्झिम निकाय, विनयपिटक, दीर्घनिकाय। उन्होंने **तिब्बत में बौद्ध धर्म** नामक पुस्तक में इस प्रदेश में बौद्ध धर्म के प्रचार एवं विकास का बड़ा

प्रामाणिक परिचय दिया है।

ऐतिहासिक ग्रन्थों के साथ उन्होंने कुछ ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं। इनमें वैदिक युग पर प्रकाश डालनेवाला **दिवोदास** सप्तसिन्धु के प्रदेश में बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी ई० पूर्व के वैदिक आर्यों के जीवन का विवेचन करता है। **सिंह सेनापति** आज से २५ सौ वर्ष पहले के लिच्छवि गणतन्त्र के सामाजिक जीवन को प्रस्तुत करता है। **जय यौधेय** (१९५६) में गुप्त-साम्राज्य की तुलना में यौधेय गण के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। **विस्मृत यात्री** (१९५७) छठी शताब्दी के भारत का चित्रण करता है, इसमें सुप्रसिद्ध भारतीय बौद्ध प्रचारक नरेन्द्र यश तथा बौद्ध धर्म की प्रसार-सम्बन्धी गति-विधियों का वर्णन है। राजस्थानी रनिवास (१९५३) में राजस्थान में पर्दे में रहनेवाली रानियों और ठकुरानियों की बेबसी और दुःखगाथा का बड़ा मार्मिक चित्रण किया गया है। बाईसवीं सदी उनका हिन्दी में लिखा संभवत: पहला आदर्श कल्पनालोकीय (यूरोपीया) वर्णन है। लेखक का विश्वास था अगले दो सौ वर्ष में भारत पूर्णरूप से साम्यवादी बन जाएगा।

जयचन्द्र विद्यालंकार (४ दिसम्बर १८९८ से २१ फरवरी १९७७ ई०)—आप भारतीय इतिहास के अध्ययन की साधना में जीवन समर्पित करनेवाले हिन्दीभाषी ऐतिहासिकों में अग्रगण्य थे। गुरुकुल काँगड़ी में स्वामी श्रद्धानन्दजी के चरणों में बैठकर आपने राष्ट्रीयता का पाठ पढ़ा और छात्र जीवन से ही भारतीय इतिहास की गवेषणा और शोध की प्रवृत्ति आपमें उत्पन्न हो गई। इसी कारण आपने इस क्षेत्र में अपूर्व प्रतिष्ठा प्राप्त की। १९१९ ई० में गुरुकुल की शिक्षा समाप्त करके स्नातक होने के बाद आपने भारतीय इतिहास के अनुसंधान के क्षेत्र में कार्य करने का पावन संकल्प लिया और जीवनभर आप पूरी निष्ठा से इसकी सम्पूर्ति में लगे रहे। सर्वप्रथम कुछ समय तक गुरुकुल काँगड़ी में आप भारतीय इतिहास का अध्यापन कराते रहे। इसके बाद पंजाब-केसरी लाला लाजपतराय द्वारा स्थापित नेशनल कॉलेज में इतिहास के प्राध्यापक होकर लाहौर चले गए। यहाँ आपके शिष्यों में सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी सरदार भगतसिंह, सुखदेव और यशपाल थे। इनमें आपने राष्ट्रीयता और क्रान्ति की भावनाओं को भरा। आप अपनी कक्षाओं में इतिहास का अध्यापन करते हुए छात्रों को यह बताने का प्रयास किया करते थे कि हमारे देश की राजनैतिक पराधीनता और अधोगति किन कारणों से हुई है और हमें स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए किन क्रान्तिकारी साधनों का अवलम्बन करना चाहिए। आप छात्रों को पराधीनता की दासता से मुक्ति पाने का यावज्जीवन संघर्ष करने का व्रत लेने की प्रेरणा करते रहते थे और यह बताया करते थे कि भारत में अंग्रेजों के विरुद्ध क्रान्ति को सफल बनाने के लिए सामरिक महत्त्व रखनेवाले किन स्थानों पर अधिकार किया जाना चाहिए। इस समय आपने भारत के इतिहास पर प्रभाव डालने-वाली भौगोलिक परिस्थितियों का बड़ा सूक्ष्म और गम्भीर अध्ययन किया और इस विषय पर १९२५ में **भारत का भौगोलिक आधार** नामक एक छोटी-सी पुस्तक भी लिखी थी।

इसके बारे में यह तथ्य उल्लेखनीय है कि जब आप लाहौर के बाद पटना गए, वहाँ डॉक्टर राजेन्द्र प्रसाद द्वारा स्थापित बिहार विद्यापीठ में इतिहास का अध्यापन कराने लगे तो पटना की पुलिस ने बिहार के कुछ तरुण क्रान्तिकारियों पर पटना षड्यंत्र

केस के नाम से एक अभियोग चलाया, इसमें पुलिस का क्रान्तिकारियों पर एक प्रमुख आरोप यह था कि उनके पास से श्री जयचन्द्र विद्यालंकार द्वारा लिखित पुस्तक 'भारत का भौगोलिक आधार' मिली थी। जब अदालत में पुलिस से इस पुस्तक को राजद्रोहपूर्ण और आपत्तिजनक मानने का कारण पूछा गया तो उनकी ओर से यह कहा गया कि इस पुस्तक में भारत के महामार्गों, रेलपथों और सामरिक महत्त्व के स्थानों का इस ढंग से वर्णन किया गया है कि इसे पढ़कर इस षड्यंत्र केस के युवक यह योजना बना सकते हैं कि किन पुलों को तोड़कर और रेल के जंक्शनों पर कब्जा करके भारत में यातायात की ब्रिटिश व्यवस्था को पंगु बनाया जा सकता है। इसी समय से ब्रिटिश सरकार श्री जयचन्द्र विद्यालंकार को क्रान्तिकारी समझने लगी और सन्देह की दृष्टि से देखने लगी।

१९३० ई० में आपने उपर्युक्त पुस्तक का संशोधित और परिवर्धित संस्करण **भारत भूमि और उसके निवासी** के नाम से प्रकाशित किया। इसमें प्राचीन भारत की विभिन्न जातियों और भौगोलिक प्रदेशों के महत्त्व रखनेवाले भौगोलिक स्थानों का विशद परिचय दिया गया था। इस आधारभूत ग्रन्थ को प्रकाशित करने के तीन वर्ष बाद आपने चिरपोषित संकल्प के अनुसार सातवाहन युग की समाप्ति तक के भारतीय इतिहास का विवेचन करनेवाला **भारतीय इतिहास की रूपरेखा** (१९३३) नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया और अगले वर्ष १९३४ में अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने दिल्ली-अधिवेशन में इस रचना पर उस वर्ष की सर्वोत्तम ऐतिहासिक कृति होने के कारण उसे मंगलाप्रसाद पारितोषिक से सम्मानित किया। इसी समय इनकी दो अन्य पुस्तकें—भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न और प्राचीन अभिलेखों के सम्बन्ध में उत्कीर्ण लेखांजलि (१९३६) प्रकाशित हुईं।

अब आपने यह अनुभव किया कि कई खण्डों में एक व्यक्ति द्वारा विस्तृत इतिहास लिखने की योजना बड़ी समय तथा श्रमसाध्य है, अतः उन्होंने संक्षेप में सम्पूर्ण भारत का इतिहास, **इतिहास प्रवेश** (१९३८-४०) के नाम से दो भागों में प्रकाशित किया। अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त एवं भारतीय इतिहास के सुप्रसिद्ध विद्वानों—डॉक्टर सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या, डॉक्टर नीलकण्ठ शास्त्री आदि ने इस पुस्तक की मुक्तकण्ठ से सराहना की।

इसी समय विभिन्न सुप्रसिद्ध विद्वानों और विशेषज्ञों के सहयोग से २० खण्डों में भारतीय विद्वानों द्वारा एक विस्तृत भारतीय इतिहास लिखवाने के लिए भारत के प्रथम राष्ट्रपति डॉक्टर राजेन्द्रप्रसाद के तत्त्वावधान में वाराणसी में आपके प्रयासों से एक इतिहास परिषद् की स्थापना की गयी। मुगल इतिहास के मूर्धन्य गवेषक डॉक्टर यदुनाथ सरकार इसके अध्यक्ष बने। द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ जाने तथा अन्य अनेक कारणों से इसका कार्य अधिक नहीं चल सका। आर्थिक सहायता के अभाव में यह संस्था १९५० में बन्द हो गई। फिर भी इसकी ओर से गुप्त तथा नन्द एवं मौर्य युगों के इतिहास पर दो खण्ड प्रकाशित हुए।

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार की अन्य ऐतिहासिक कृतियाँ हैं—मनुष्य की कहानी (१९५४), भारतीय कृष्टि (संस्कृति) का क, ख, ग, (१९५४), भारतीय इतिहास का उन्मीलन (१९५७), भारतीय इतिहास की मीमांसा (१९५९-६०), गोरखाली इतिहास की मुक्ख धाराएँ (१९६२), प्राचीन पंजाब और उसका अड़ोस-पड़ोस (१९६२),

राष्ट्रीय इतिहास का अनुशीलन (१९६६)। इनमें भारतीय इतिहास की मीमांसा पटना विश्वविद्यालय की ओर से आयोजित रामदीन व्याख्यानमाला के अन्तर्गत दिये गए व्याख्यान थे। इसमें आपने भारतीय इतिहास में विकास की प्रक्रिया का बड़ा महत्त्वपूर्ण विवेचन किया था। आपकी अन्तिम कृति जर्मनी से प्रकाशित होनेवाला भारतीय इतिहास का एटलस अथवा भौगोलिक नामों का भारतीय स्थानकोष था।

उच्चकोटि का ऐतिहासिक होने के साथ-साथ आपने देश के राष्ट्रीय आन्दोलन में भी भाग लिया। जब १९४२ का भारत छोड़ो आन्दोलन छिड़ा तो आपको इसमें सक्रिय रूप से भाग लेने के कारण ब्रिटिश नौकरशाही के भीषण अत्याचार सहने पड़े। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में जब आप भीषण रूप से रुग्ण हुए तो चिकित्सा के लिए अपने पुत्र अरुण के पास इटली चले गए और वहाँ भारतीय इतिहास के अनुसंधान का कार्य करते रहे। आपका सारा परिवार राष्ट्रीय जागरण और साहित्यिक क्षेत्र में संलग्न रहा। आपके तीनों छोटे भाई धर्मचन्द्र नारंग, देवचन्द्र नारंग और चन्द्र नारंग स्वयं हिन्दी के सुलेखक थे और उन्होंने पहले लाहौर तथा भारत-विभाजन के बाद जालन्धर और इलाहाबाद में हिन्दी भवन के नाम से हिन्दी प्रकाशन का कार्य किया। आपकी बहिन पार्वती देवी पंजाब की सुप्रसिद्ध राष्ट्रीय कार्यकर्त्री थीं। पण्डित जयचन्द्र जी का निधन २१ फरवरी १९७७ को हृदयरोग से दिल्ली में हुआ।

डॉक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार (१९ सितम्बर १९०३)—आप प्राचीन भारतीय इतिहास के क्षेत्र में विशिष्ट कार्य करनेवाले सुप्रसिद्ध विद्वान् हैं। आपने आचार्य रामदेव जी द्वारा लिखित प्राचीन भारत के इतिहास के कार्य को आगे बढ़ाया। उनके इतिहास के दूसरे भाग में बौद्धकालीन भारत का अंश पूरा किया। आप द्वारा लिखित ४० पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। इनकी कुल पृष्ठसंख्या २० हजार के लगभग है। इसमें अधिकांश इतिहास-विषयक हैं। इतिहास पर इतना अधिक और उत्कृष्ट कोटि का साहित्य लिखने-वाले विरले विद्वान् हैं।

आपको इस बात का श्रेय प्राप्त है कि आप हिन्दी साहित्य सम्मेलन के मंगला-प्रसाद पुरस्कार से इतिहास के विषय में सम्मानित होने वाले दूसरे विद्वान् हैं, जिन्हें यह पुरस्कार केवल २६ वर्ष की आयु में प्रदान किया गया था। आपको यह पुरस्कार मौर्य साम्राज्य का इतिहास (१९२८ ई०) लिखने के लिए दिया गया था। इसमें उन्होंने पहली बार कौटिल्य के अर्थशास्त्र आदि प्राचीन ग्रन्थों तथा पुरातत्त्वीय सामग्री के आधार पर हिन्दी में इस युग का विस्तृत एवं प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया। इसकी सराहना उस समय के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक और पुरातत्त्वज्ञ डॉक्टर काशीप्रसाद जायसवाल जैसे विद्वानों ने की थी। प्राचीन भारत के विषय में उनकी अन्य महत्त्वपूर्ण पुस्तकें हैं—बौद्ध काल का राजनीतिक इतिहास (१९३० ई०), भारत की शासन व्यवस्था और राज्य-शास्त्र (१९६० ई०) पाटलीपुत्र की कथा (१९४३ ई०), भारत का प्राचीन इतिहास (१९५४ ई०), भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास (१९५४ ई०), भारत का सांस्कृतिक इतिहास (१९५७ ई०), चीन में भारतीय संस्कृति (१९७६ ई०), दक्षिण-पूर्वी और दक्षिणी एशिया में भारतीय संस्कृति (१९७६ ई०) पूर्व मध्यकालीन भारत का इतिहास (१९७७ ई०), भारतीय इतिहास का वैदिक युग (१९७२ ई०)।

आपने पेरिस विश्वविद्यालय से जातिभेद और गोत्रों की उत्पत्ति के विषय में

शोध करके डी० लिट्० की उपाधि प्राप्त की थी। उन्होंने जातिभेद और गोत्र-विषयक परम्परा पर अग्रवाल जाति को केन्द्र बनाकर नया प्रकाश डाला है। आग्रेय गण से अग्रवाल जाति की उत्पत्ति प्रतिपादित कर उन्होंने भारत में जातिभेद के विषय में प्राचीन जनपदों व गणराज्यों के योगदान पर मौलिक प्रकाश डाला है।

प्राचीन भारतीय इतिहास को संजीव रूप से प्रस्तुत करने के लिए उन्होंने दो ऐतिहासिक उपन्यास भी लिखे हैं। पहला उपन्यास आचार्य चाणक्य (१९५६ ई०) है। यह बंगाल हिन्दी मण्डल कलकत्ता तथा उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत हो चुका है। इस पर सूर्योदय चित्र बम्बई द्वारा एक फिल्म इस समय बनाई जा रही है। उनका दूसरा उपन्यास शुंग वंश की स्थापना करनेवाले सेनानी पुष्यमित्र (१९७३ ई०) पर है।

आपकी नवीनतम कृति सात खण्डों में प्रकाशित किया जाने वाला आर्यसमाज का बृहद् इतिहास है। इसमें पहली बार विभिन्न क्षेत्रों में किये गए आर्यसमाज के कार्य-कलापों का विस्तृत और सर्वांगीण परिचय देने का प्रयास किया गया है। इससे पहले पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति आदि द्वारा लिखे गए आर्यसमाज के इतिहासों की तुलना में यह कहीं अधिक विशद है और इसने आर्यसमाज के इतिहास-लेखन में नया कीर्तिमान स्थापित किया है। अब तक इस इतिहास के पाँच भाग (१९८२–८६) प्रकाशित हो चुके हैं।

डॉक्टर वासुदेवशरण अग्रवाल (७ अगस्त १९०४ से जुलाई १९६६)—डॉक्टर अग्रवाल भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व कला तथा संस्कृति के मर्मज्ञ मूर्धन्य मनीषी विद्वान् थे, और उन्होंने हिन्दी साहित्य को अपने अनमोल अवदानों से समृद्ध किया था।

डॉक्टर अग्रवाल सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी, सरस्वती के वरद पुत्र और हिन्दी के सुलेखक थे। वे आर्यसमाजी थे और प्राचीन भारतीय सभ्यता व संस्कृति के गौरवमय स्वरूप को प्रस्तुत करने में उन्होंने अनुपम सफलता प्राप्त की थी। उनके द्वारा लिखी पुस्तकों की संख्या ९७ है, जिनमें १० अभी तक अप्रकाशित हैं।

भारतीय कला के क्षेत्र में उनकी सुप्रसिद्ध मौलिक कृति 'भारतीय कला' है। उन्होंने इसमें प्रागैतिहासिक युग से तीसरी श० ई० की भारतीय कला के विकास का गम्भीर मौलिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। भारतीय कला के बहिरंग का प्रामाणिक परिचय देने के साथ-साथ उसके आन्तरिक अभिप्रायों, अर्थों और प्रतीकों का भी महत्त्वपूर्ण स्पष्टीकरण किया है और तत्कालीन साहित्य से इसे पुष्ट किया है, कला-विषयक अनेक नवीन मौलिक स्थापनाएँ रखी हैं। वे भारतीय कला के अन्य अधिकांश ऐतिहासिकों की भाँति इस तथ्य को नहीं मानते हैं कि बुद्ध की मूर्ति का निर्माण सर्वप्रथम गान्धार प्रदेश में हुआ था। वे इसका श्रेय मथुरा के कलाकारों को देते हैं। संग्रहालयों में कार्य करने के कारण उन्होंने विभिन्न संग्रहालयों की कला-कृतियों का परिचय देने-वाली अनेक पुस्तकें लिखी हैं। इस दृष्टि से मथुरा, लखनऊ और सारनाथ संग्रहालयों की परिचय पुस्तिकाएँ उल्लेखनीय हैं। भारत सरकार द्वारा उनकी भारतीय कला का सिंहावलोकन अंग्रेजी तथा हिन्दी में प्रकाशित हुआ है।

डॉक्टर अग्रवाल भारतीय इतिहास और पुरातत्त्व कला के गम्भीर अध्येता होने के साथ-साथ संस्कृत साहित्य के पारंगत विद्वान् थे। उन्होंने इन दोनों का समन्वय करते हुए साहित्यिक ग्रन्थों के सांस्कृतिक अध्ययन की एक नवीन परम्परा का श्रीगणेश किया।

इनमें साहित्य को इतिहास की तथा इतिहास को साहित्य की दृष्टि से देखते हुए तत्कालीन भारतीय जीवन के बड़े सुन्दर तथा अद्भुत चित्र प्रस्तुत किये गए हैं। इस विषय में उनके हर्षचरित और कादम्बरी के सांस्कृतिक अध्ययन उल्लेखनीय हैं। इसी दृष्टि से उन्होंने मलिक मुहम्मद जायसी के पद्मावत और विद्यापति की कीर्तिलता पर भी व्याख्यात्मक टीकायें प्रस्तुत की थीं। इतिहासपरक पुरातत्त्व कला की दृष्टि से इनमें आए विभिन्न संदर्भों तथा शब्दों की सुन्दर ऐतिहासिक व्याख्या की गई है। पद्मावत की व्याख्या पर उन्हें साहित्य अकादमी द्वारा दिया जाने वाला हिन्दी का पहला पुरस्कार प्राप्त हुआ था।

पाणिनि की अष्टाध्यायी पर उनका सांस्कृतिक अध्ययन असाधारण महत्त्व रखता है। उनसे पहले पाणिनि की अष्टाध्यायी केवल व्याकरण और शब्दानुशासन का ग्रन्थ समझा जाता था। उन्होंने अष्टाध्यायी का अध्ययन उस समय की भारतीय संस्कृति और सभ्यता का परिचय देनेवाले ग्रन्थों के रूप में सर्वथा नये ढंग से प्रस्तुत किया। इसमें तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, दार्शनिक तथा शैक्षणिक जीवन की झाँकियाँ बड़े मनोरम रूप में प्रस्तुत की गई हैं। इस विषय में लिखे अपने अंग्रेजी शोधप्रबन्ध को उन्होंने हिन्दी में पर्याप्त संशोधन एवं परिवर्धन के साथ **पाणिनिकालीन भारतवर्ष** के नाम से प्रकाशित किया, तथा इसी को सरल एवं संक्षिप्त रूप से **पाणिनि परिचय** नामक एक लघु ग्रन्थ में प्रकाशित किया गया है। पाणिनि की अष्टाध्यायी उस समय तक संस्कृत व्याकरण का एक अतीव सुव्यवस्थित, किन्तु नीरस ग्रन्थ माना जाता था। अपनी सूक्ष्म एवं पैनी दृष्टि तथा गम्भीर एवं व्यापक अध्ययन के आधार पर डॉक्टर अग्रवाल ने इसे प्राचीन भारतीय संस्कृति की बहुमूल्य जानकारी देने वाला आकर ग्रन्थ और महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्रोत प्रमाणित किया और इसे पुरातन सांस्कृतिक विरासत के उद्घाटन की कुंजी के रूप में प्रस्तुत किया। इसमें उस समय के जनसाधारण के सामान्य जीवन, किसानों और व्यापारियों के क्रिया-कलापों, आर्थिक संगठनों और धार्मिक, दार्शनिक और शासनपद्धति-विषयक समस्याओं, प्रथाओं, मान्यताओं तथा विश्वासों का प्रतिपादन किया गया था। यह पाणिनि के व्याकरण के अध्ययन की एक सर्वथा नई और अनोखी दिशा थी।

डॉक्टर अग्रवाल ने इसी प्रकार प्राचीन संस्कृत साहित्य के कई ग्रन्थों तथा कुछ पुराणों के सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किये। इनमें मनुस्मृति, बृहत्कथा श्लोक संग्रह के अध्ययन उल्लेखनीय हैं। महाभारत का सांस्कृतिक अध्ययन उन्होंने 'भारत सावित्री' नामक पुस्तक के तीन खण्डों में प्रस्तुत किया है।

मार्कण्डेय, मत्स्य और वामन पुराणों के भी सांस्कृतिक अध्ययन डॉ० अग्रवाल ने प्रकाशित किये हैं। मार्कण्डेय पुराण पर उनसे पहले पार्जीटर आदि द्वारा कुछ अध्ययन किये जा चुके थे, किन्तु उनसे तत्कालीन संस्कृति का स्वरूप भली-भाँति स्पष्ट नहीं हो सका था। डॉ० अग्रवाल ने मार्कण्डेय पुराण के अध्ययन में जम्बू द्वीप के पर्वतों, भारतीय भूगोल, पर्वतों, नदियों, जनपदों, देशों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया और पुराणों में वर्णित भौगोलिक नामों की सही शिनाख्त करने का सराहनीय प्रयास किया।

प्रो० हरिदत्त वेदालंकार (१६१७)—गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के स्नातक तथा वहाँ इतिहास तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष एवं

गोविन्द वल्लभ पन्त कृषि एवं प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय पन्तनगर के प्रकाशन तथा अनुवाद विभाग निदेशक (१९६९–७९ ई०) रहनेवाले प्रो० वेदालंकार ने प्राचीन भारतीय इतिहास-विषयक अनेक मौलिक रचनाओं से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है। आपने विवाह एवं परिवार की महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्थाओं के ऐतिहासिक विकास को स्पष्ट करते हुए वैदिक युग से वर्तमान युग तक का विवेचन अपने दो ग्रन्थों—'हिन्दू परिवार मीमांसा' और 'हिन्दू विवाह के संक्षिप्त इतिहास' में किया है। दोनों पुस्तकें बंगाल हिन्दी मण्डल द्वारा पुरस्कृत हुई हैं। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पाण्डुलिपि रूप में पुरस्कृत एवं भारतीय संस्कृति के विदेशों में प्रसार का विस्तृत विवेचन करने वाली पुस्तक 'भारत की सांस्कृतिक-दिग्विजय' का संस्कृत अनुवाद वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय ने प्रकाशित किया है। आपकी एक अन्य पुस्तक 'प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास' है। इसमें गुप्त वंश के अभ्युदय से पहले के शुंग-सातवाहन युग का विशद इतिहास है। 'भारत का सांस्कृतिक इतिहास' और 'भारतीय संस्कृति का संक्षिप्त इतिहास' इनकी बड़ी लोकप्रिय रचनाएँ हैं। 'कालिदास के पक्षी' में कालिदास द्वारा वर्णित पक्षियों की सही पहचान आधुनिक पक्षिशास्त्र के आधार पर प्रस्तुत की गई है। आर्यसमाज के इतिहास के पाँच भागों के लेखन में इनका बड़ा योगदान है। इसके अतिरिक्त आपने राजनीतिशास्त्र की कई पुस्तकों का प्रणयन किया है। इनका अन्यत्र यथास्थान परिचय दिया जायेगा। आपकी सभी पुस्तकें विभिन्न-साहित्यिक संस्थाओं और सरकारों द्वारा पुरस्कृत हुईं।

श्री भीमसेन विद्यालंकार ने मराठों के इतिहास पर 'वीर मराठे', 'वीर शिवाजी' पुस्तकें लिखी हैं और लाला लाजपतराय की आत्मकथा का सम्पादन भी किया है। चन्द्रमणि विद्यालंकार ने पतञ्जलि के महाभाष्य के आधार पर उस समय के भारत का ऐतिहासिक विवरण लिखा है। श्री पृथ्वीसिंह मेहता विद्यालंकार ने प्रादेशिक इतिहास लिखने की दिशा में अच्छा कार्य किया है। उनका 'बिहार का ऐतिहासिक दिग्दर्शन' और 'राजस्थान का इतिहास' उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। श्री चन्द्रगुप्त वेदालंकार ने विदेशों में भारतीय संस्कृति के प्रसार पर 'बृहत्तर भारत' नामक अपने विषय का अनूठा और प्रामाणिक ग्रन्थ लिखा है। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कालर का दो भागों में लिखा भारतवर्ष का बृहत् इतिहास आर्यसमाज के दृष्टिकोण को बड़े प्रभावशाली रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें गुप्त साम्राज्य के अन्त तक का इतिहास है। हिन्दी के इतिहास-लेखकों में गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। उनकी सुप्रसिद्ध कृतियाँ हैं—प्राचीन भारतीय लिपि माला, कर्नल टाड के इतिहास का सम्पादन (१९०२), सोलंकियों का इतिहास (१९०८ ई०), पृथ्वीराज विजय (राजपूताना का इतिहास, उदयपुर, डूंगरपुर, बाँसवाड़ा, प्रतापगढ़, जोधपुर और बीकानेर राज्यों का इतिहास) और मुहणोत नेणसी की ख्याति का सम्पादन। इन्हें इतिहास लिखने की प्रेरणा देनेवाले स्वामी दयानन्द द्वारा परोपकारिणी सभा के लिए मनोनीत सभासद श्री मोहनलाल विष्णुलाल पण्ड्या थे।

कुछ विद्वानों ने इतिहास-विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद किया है। इस दृष्टि से श्री सन्तराम बी० ए० का कार्य उल्लेखनीय है। उन्होंने महमूद गजनवी के समकालीन अरब विद्वान् अल्बेरूनी द्वारा लिखे अरबी ग्रन्थ के डॉ० जखाऊ द्वारा कृत

अंग्रेजी अनुवाद का हिन्दी रूपान्तर अल्बेरूनी के भारत के नाम से किया है, इसी प्रकार सातवीं शताब्दी में भारत की यात्रा करनेवाले चीनी यात्री इत्सिग के यात्रा-विवरण का भी हिन्दी अनुवाद किया है।

आर्यसमाज के विद्वानों ने भारतीय संस्कृति तथा वाङ्मय के इतिहासों का भी प्रणयन किया है। पण्डित भगवद्दत्त ने वैदिक वाङ्मय का इतिहास तीन भागों में लिखा है। युधिष्ठिर मीमांसक ने संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास तथा संस्कृत शिक्षा-शास्त्र के इतिहास की रचना की है। ये दोनों अपने विषय के अपूर्व ग्रन्थ हैं। श्री मीमांसक ने ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का भी इतिहास लिखा है। अत्रिदेव विद्यालंकार ने आयुर्वेद का बृहत् इतिहास और डॉक्टर सत्यप्रकाश ने 'भारत में रसायन का विकास' नामक महत्त्वपूर्ण कृतियों का प्रणयन किया है। इतिहास-विषयक आर्यसमाजी विद्वानों में पण्डित पृथ्वीसिंह मेहता, डॉ० प्राणनाथ, पं० चन्द्रगुप्त वेदालंकार और डॉ० बालकृष्ण के नाम भी उल्लेखनीय हैं। श्री मेहता गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के सुयोग्य स्नातक हैं। उन द्वारा लिखित 'हमारा राजस्थान' पुस्तक विशेष महत्त्व की है। श्री मेहता ने ही सबसे पूर्व युक्तिसंगत रूप से यह सम्भावना व्यक्त की थी कि सन् १८५७ के स्वाधीनता-संग्राम में स्वामी दयानन्द सरस्वती का क्रियात्मक योगदान था। डॉ० प्राणनाथ ने सिन्धु घाटी की सभ्यता को वैदिक युग का प्रतिपादित कर एक मौलिक स्थापना इतिहास के विद्वानों के सम्मुख प्रस्तुत की थी। श्री चन्द्रगुप्त वेदालंकार की पुस्तक 'वृहत्तर भारत' की चर्चा पहले की जा चुकी है। ये दोनों भी गुरुकुल काँगड़ी के ही स्नातक थे। डॉक्टर बालकृष्ण चिरकाल तक गुरुकुल काँगड़ी में इतिहास और अर्थशास्त्र के प्रोफेसर रहे थे और उन्होंने इन विषयों पर उच्चकोटि की अनेक पुस्तकों की रचना की थी।

इतिहास के आर्यसमाजी विद्वानों में स्वामी ओमानन्द सरस्वती का उल्लेख अत्यन्त आवश्यक है। स्वामीजी पुरातत्त्व तथा प्राचीन मुद्राशास्त्र के पारंगत विद्वान् हैं। प्राचीन मूर्तियों, सिक्कों, मुद्राओं, मृण्मूर्तियों तथा अन्य अवशेषों का जो संग्रह उन्होंने किया है, वह प्राचीन भारतीय इतिहास के शोधकर्ताओं के लिए अमूल्य निधि है। पुरातत्त्व सम्बन्धी अपने शोधकार्य को उन्होंने अनेक ऐसे ग्रन्थों द्वारा पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत किया है, जिनकी मौलिकता एवं उत्कृष्टता पर वस्तुतः गर्व किया जा सकता है। स्वामी जी के शिष्य श्री विरजानन्द वर्मा भी प्राचीन इतिहास एवं पुरातत्त्व के गम्भीर विद्वान् हैं।

(२) राजनीतिशास्त्र

आर्यसमाज के विद्वानों ने प्राचीन भारतीय राजनीति और अर्वाचीन राजनीति-शास्त्र के विभिन्न विषयों पर सुन्दर पुस्तकें लिखी हैं। प्राचीन ग्रन्थों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कौटिल्य का अर्थशास्त्र है। डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार और पण्डित उदयवीर शास्त्री ने हिन्दी में इसके बड़े सुबोध अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। ज्वालापुर महाविद्यालय के स्नातक श्री रामावतार विद्याभास्कर ने चाणक्य के सूत्रों की विशद व्याख्या की है। पण्डित भगवद्दत्त ने बार्हस्पत्य राजधर्मसूत्रों का परिचय लिखा है और पण्डित शिवदयालु ने इनका हिन्दी अनुवाद किया है। वेदों के आधार पर राजनैतिक विषयों की विवेचना गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य पण्डित प्रियव्रत वेदवाचस्पति ने तीन भागों में प्रकाशित

'वेदों के राजनीतिक सिद्धान्त' में की है। इसका सर्वप्रथम प्रतिपादन श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने 'वैदिक राज्य पद्धति' में किया था। इस विषय के अन्य ग्रन्थ प्रिन्सिपल बालकृष्ण की 'वेदोक्त राज्य तथा प्राचीन भारत की राज्यप्रणाली' तथा डॉक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार का 'प्राचीन भारतीय शासन व्यवस्था और राज्यशास्त्र' तथा वैद्य धर्मदत्त विद्यालंकार का 'प्राचीन भारत में स्वराज्य' और रमेशचन्द्र शास्त्री विद्याभास्कर का 'भारत में पंचायती राज' हैं।

हिन्दी में अर्वाचीन राजनीति के विषयों पर ग्रन्थ-लेखन का कार्य आरम्भ करने वाले डॉक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार थे। आपने राजनीतिशास्त्र, मुद्राशास्त्र, शासनपद्धति नामक ग्रन्थ लिखे थे। भगवानदास केला ने नागरिकशास्त्र तथा भारतीय संविधान पर उपयोगी पुस्तकों की रचना की। डॉक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार ने राजनीतिशास्त्र की अनेक पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें राजनीतिशास्त्र, विदेशी राज्यों की शासनविधि, भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन का इतिहास, स्वतन्त्र भारत का संविधान, विश्व की राजनीति और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध उल्लेखनीय हैं। प्रो० हरिदत्त वेदालंकार अन्तर्राष्ट्रीय कानून (भारत के विधि मन्त्रालय द्वारा १० हजार रुपये से पुरस्कृत), आधुनिक राजनीति चिंतन, पाश्चात्य राजनीतिक चिन्तन का इतिहास, प्रमुख राजनीतिक विचारक, पाश्चात्य राजनीतिक विचारधारा का इतिहास, अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं और प्राय: सभी उत्तर प्रदेश शासन और मध्य प्रदेश शासन साहित्य परिषद् द्वारा पुरस्कृत हुए हैं।

हिन्दी में अर्थशास्त्र-विषयक प्रामाणिक ग्रन्थ सर्वप्रथम आर्य विद्वानों द्वारा लिखे गये। इनमें डॉक्टर बालकृष्ण का हिन्दी अर्थशास्त्र और डॉक्टर प्राणनाथ विद्यालंकार की अर्थशास्त्र-विषयक रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। अवनीन्द्र कुमार विद्यालंकार हिन्दी के विभिन्न पत्रों में अर्थशास्त्रीय विषयों का विवेचन करनेवाले सुप्रसिद्ध प्रतिष्ठित लेखक हैं। आपकी 'सरल अर्थशास्त्र', 'सामूहिक योजना' आदि पुस्तकें काफी लोकप्रिय हुई हैं।

श्री कृष्णचन्द्र विद्यालंकार ने आधुनिक राजनीति और इतिहास के कई विषयों पर बड़ी उपयोगी और ज्ञानवर्धक पुस्तकें लिखी हैं। इनमें उल्लेखनीय हैं—चीन का स्वाधीनता का युद्ध, कांग्रेस का इतिहास, वर्तमान जगत्, आधुनिक संसार, किसानों का सवाल। अमरनाथ विद्यालंकार न केवल सुप्रसिद्ध राजनीतिज्ञ थे अपितु आपने राजनैतिक लेखक के रूप में भी यश उपार्जित किया। आपकी 'आज की दुनिया', 'आज का मानव' और 'मानव संघर्ष' उल्लेखनीय कृतियाँ हैं। चन्द्रगुप्त विद्यालंकार ने वर्तमान राजनीति के विभिन्न अंगों पर प्रकाश डालनेवाली आज का मानव समाज, स्वीडन, चौथी दुनिया और उसके आसपास नामक पुस्तकों की रचना की है। श्री क्षितीश वेदालंकार ने पंजाब की वर्तमान समस्या पर 'पंजाब तूफान के दौर में' नामक एक बड़ी ज्ञानवर्धक और रोचक पुस्तक लिखी है और इसका अंग्रेजी में भी अनुवाद हुआ है। डॉक्टर विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने राजनैतिक चिन्तन के इतिहास और विश्व की राजनीति पर कई पुस्तकों का प्रणयन किया है।

(३) अन्य सामाजिक विज्ञान

आर्यसमाज ने हिन्दू समाज के सुधार पर और इसकी सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन पर बड़ा बल दिया था। अत: आर्यसमाज के विद्वानों ने समाज की विभिन्न

समस्याओं पर अनेक पुस्तकें लिखी हैं। भारतीय समाज की सबसे बड़ी समस्या जाति-व्यवस्था और जातिभेद की है। इस विषय में आर्यसमाज में सबसे अधिक साहित्य लिखने-वाले आर्यसमाज के शतवर्षीय वयोवृद्ध लेखक सन्तराम (१८८६) हैं।

आप पिछले ८० वर्ष से हिन्दी की सेवा कर रहे हैं और इस समय सम्भवतः द्विवेदी युग के लेखकों में वही एकमात्र जीवित हैं। आर्यसमाज के साथ सम्पर्क में आने के कारण बचपन से ही उनमें समाजसुधार की लगन और हिन्दी सेवा की धुन उत्पन्न हुई। साहित्य-निर्माण में उनका लक्ष्य सामाजिक सुधार और नवीन चेतना उत्पन्न करने का रहा है। इसी उद्देश्य से उन्होंने नई तरुण पीढ़ी को सामाजिक क्रान्ति का पाठ पढ़ाने के लिए 'हमारा समाज' और 'हमारे बच्चे' जैसी पुस्तकें लिखी हैं। 'क्रान्ति' और 'युगान्तर' नामक पत्रों का प्रकाशन भी इसी उद्देश्य से किया गया था। आपकी अधिकांश रचनाएँ और लेख जातपात-विरोधी आन्दोलन के लिए लिखे गये हैं। इस विषय में उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं—जात-पात तोड़ दो—क्यों? युगधर्म, हिन्दुओ सम्भलो, हमारा निराकार शत्रु हमारी यह जात-पात, जात-पात की समस्या और उसका समाधान, भारत का भविष्य, जात-पात के बारे में कुछ कड़वे अनुभव, अन्तर्जातीय विवाह ही क्यों? इनके जात-पात के खण्डन-विषयक लेखों में बड़ी उग्रता और सुधारक का जोश एवं ओजस्विता मिलती है। ये समाज में वैचारिक क्रान्ति लाने के लिए पुस्तकें लिखते रहे हैं। पंजाब सरकार ने मार्च १९६१ में इनका सार्वजनिक अभिनन्दन करते हुए मानपत्र में यह सत्य ही लिखा था कि 'हिन्दी प्रचार, साहित्यसेवा और समाजसुधार का तिरंगा झण्डा लेकर आप सदा अपने पथ पर बढ़ते ही रहे हैं और आज तक बढ़ते चले जा रहे हैं। हिन्दी जगत् में इतने दीर्घ समय तक विभिन्न विषयों की रचनाओं से हिन्दी को समृद्ध करने वाले लेखक बहुत ही कम हैं।'

भारतीय समाज की एक प्रमुख समस्या नारियों की दशा है। आर्यसमाज आरम्भ से इनकी हीन स्थिति को दूर करने के लिए और इनकी शिक्षा के लिए उग्र प्रयास करता रहा है। अतः आर्यसमाज के लेखकों तथा लेखिकाओं ने इस विषय में कई ग्रन्थ लिखे हैं। इनमें सबसे उल्लेखनीय प्रयास श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल का है। जब मिस मेयो ने भारत को बदनाम करने के लिए अपनी पुस्तक मदर इण्डिया लिखी थी तो इन्होंने उसके उत्तर में मदर इण्डिया का जवाब लिखा था। इसके बाद इनकी दूसरी प्रसिद्ध कृति 'स्त्रियों की स्थिति' है। इसमें हिन्दू समाज में नारियों की दशा का विशद एवं प्रामाणिक विवेचन किया गया है। यह पुस्तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा सेक्सरिया पुरस्कार से सम्मानित हुई थी। हिन्दू नारी की एक प्रमुख समस्या विधवा विवाह की है। इस विषय पर सर्वोत्तम पुस्तक गंगाप्रसाद उपाध्याय ने 'विधवा विवाह मीमांसा' के नाम से लिखी है। श्री सत्यदेव विद्यालंकार ने 'पर्दा' नामक पुस्तक में इस सामाजिक कुरीति पर प्रकाश डाला है और उनकी यह पुस्तक हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा राधामोहन गोकुल जी पुरस्कार से सम्मानित हुई है।

समाजशास्त्र के सैद्धान्तिक विवेचन और उसके विभिन्न पक्षों का प्रतिपादन अनेक लेखकों द्वारा किया गया है। पण्डित सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने 'समाजशास्त्र के मूल तत्त्व' लिखी है। यह मंगला प्रसाद पुरस्कार से सम्मानित हुई है। उनकी समाज-शास्त्र विषयक अन्य रचनाएँ हैं—सामाजिक मानवशास्त्र, सामाजिक विचारों का इतिहास,

समाज कल्याण तथा सुरक्षा, भारत की जनजातियाँ तथा संस्थाएँ, प्रारम्भिक समाजशास्त्र, भारतीय सामाजिक संगठन, समाजशास्त्र तथा बालकल्याण।

डॉक्टर सत्यकेतु विद्यालंकार ने भी समाजशास्त्र लिखा है। डॉक्टर रघुराज गुप्त ने समाजशास्त्र तथा भारत में समाजकल्याण पर पुस्तकें लिखी हैं। इसी विषय पर हरिदत्त वेदालंकार की भारतीय जनता तथा संस्थाएँ नामक पुस्तक है। मानव-विज्ञान पर ऋषिदेव विद्यालंकार द्वारा लिखी पुस्तक विहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा पुरस्कृत हो चुकी है।

(४) भाषा-विज्ञान

प्राचीन भारत में इस विज्ञान का पर्याप्त विकास हुआ था। संस्कृत, पालि, प्राकृत, अपभ्रंश के व्याकरण-ग्रन्थों में इसकी सामग्री बिखरी हुई है। निरुक्त के लेखक यास्काचार्य ने सर्वप्रथम न केवल भारत में, अपितु विश्व में शब्दों की व्युत्पत्ति करने के प्रयास किये थे। आधुनिक भाषा-विज्ञान का श्रीगणेश १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सर विलियम जोन्स आदि विदेशी विद्वानों द्वारा संस्कृत का अध्ययन करने से शुरू हुआ। आर्यसमाज के विद्वानों ने हिन्दी में भाषा-विज्ञान के ग्रन्थ लिखने में प्रमुख भाग लिया है।

इस विषय की पहली पुस्तक बदायूँ के आर्योला गुरुकुल में अध्ययन करनेवाले और बाद में गवर्नमेण्ट संस्कृत कॉलेज के रजिस्ट्रार तथा वाराणसी विश्वविद्यालय के उपकुलपति बनने वाले डॉक्टर मंगलदेव ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के नाम से १९२५ ई० में लिखी थी। इसकी यह विशेषता है कि इसमें विषय को स्पष्ट करने के लिए भारतीय भाषाओं से अधिक उदाहरण दिये गये हैं। खोज के अर्थ में गवेषणा इसका सुन्दर परिचय देता है। इसके बाद इस विषय में दूसरा उल्लेखनीय ग्रन्थ डॉक्टर बाबूराम सक्सेना द्वारा दस वर्ष बाद 'सामान्य भाषा-विज्ञान' लिखा गया। इस विषय में डॉक्टर सरयू प्रसाद अग्रवाल की 'भाषा-विज्ञान और हिन्दी' नामक पुस्तक भी उल्लेखनीय है।

सामान्य भाषा-विज्ञान के अतिरिक्त इसके विभिन्न अंगों पर भी आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा अनेक पुस्तकें लिखी गई हैं। इनमें डॉक्टर बाबूराम सक्सेना की 'अर्थ-विज्ञान' (१९५१ ई०) और ज्वालापुर महाविद्यालय के स्नातक डॉक्टर कपिलदेव द्विवेदी की 'अर्थ-विज्ञान' और 'व्याकरण दर्शन तथा संस्कृत में अर्थ-विज्ञान' नामक पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास अपने डी० लिट्० के शोध का विषय चुना था। इसे उन्होंने सुबोध रूप में हिन्दी में 'हिन्दी भाषा और लिपि तथा हिन्दी भाषा का इतिहास' के रूप में प्रस्तुत किया है। ब्रजभाषा व्याकरण नामक उनकी पुस्तक १९३७ ई० में प्रकाशित हुई थी। ब्रजभाषा उनके थीसिस का रूपान्तर है। ग्रामीण हिन्दी पर उन्होंने एक सुन्दर पुस्तक प्रकाशित की है। यह कहा जाता है कि जो कार्य हिन्दी समीक्षा के क्षेत्र में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया था, वही कार्य हिन्दी शोध के क्षेत्र में आपने किया है। आप कुछ समय तक भारत में भाषा-विज्ञान के कार्य में रत लिंग्विस्टिक सोसायटी ऑफ इण्डिया के अध्यक्ष और सागर विश्वविद्यालय में भाषा-विज्ञान के अध्यक्ष रहे।

गुरुकुल काँगड़ी के कुछ स्नातकों ने अनुप्रयुक्त भाषा-विज्ञान एवं भाषा-शिक्षण के क्षेत्र में कार्य किया है। इनमें भारतभूषण विद्यालंकार तथा सुरेशचन्द्र विद्यालंकार के

नाम उल्लेखनीय हैं। पहले विद्वान् ने हिन्दी और पंजाबी क्रियापद बन्ध संरचना का व्यतिरेकी विश्लेषण नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया है। देवनागरी लिपि, पंजाबी भाषा की उत्पत्ति और विकास, पंजाबी भाषा सर्वेक्षण, हिन्दी और पंजाबी भाषा की प्रेरणार्थक क्रियाओं के क्रमविन्यास पर शोधपूर्ण लेख लिखे हैं। डॉक्टर सुरेश कुमार द्वारा लिखित प्रमुख ग्रन्थ हैं—शैली-विज्ञान (१९७७ ई०, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान द्वारा पुरस्कृत), शैली-विज्ञान और प्रेमचन्द की भाषा (१९७८ ई०), अनुवाद सिद्धान्त की रूपरेखा (१९८६ ई०)। आप द्वारा सम्पादित ग्रन्थ हैं—कोश निर्माण सिद्धान्त और परम्परा (१९८३ ई०), प्रेमचन्द और भारतीय साहित्य (१९८३ ई०), सम्प्रेषण परख व्याकरण सिद्धान्त और प्रारूप (१९८६ ई०), शैली और शैली-विज्ञान (१९७६ ई०)।

कोश-विज्ञान—वर्तमान हिन्दी साहित्य में पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के ग्रन्थों का अनुवाद करने और वैज्ञानिक साहित्य का सृजन करने में सबसे बड़ी जटिल समस्या पारिभाषिक शब्दों की रही है, क्योंकि इनके बिना विज्ञान की पुस्तकों का लिखा जाना सम्भव नहीं था। इस ओर हिन्दी में प्रथम प्रयास करनेवाली संस्था काशी नागरी प्रचारिणी सभा थी। इसने पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक में इस कार्य को आरम्भ किया और १९०६ में पहला वैज्ञानिक कोश प्रकाशित किया। सभा में इस कार्य को प्रेरणा देनेवाले पण्डित रामनारायण मिश्र और बाबू गदाधरसिंह (१८४८–१८९८) आर्यसमाजी थे। पिछले महानुभाव ने तो सभा को अपना विशाल पुस्तकालय भी दान किया था और इसका नाम स्वामीजी के कथन का अनुसरण करते हुए 'आर्यभाषा पुस्तकालय' रखा गया था।

वर्तमान शताब्दी के प्रथम चरण में सुप्रसिद्ध हिन्दी कहानी लेखिका मन्नू भण्डारी के पिता सुखसम्पतिराय भण्डारी (१८९१–१९६२), बंगाल के सुप्रसिद्ध रसायनशास्त्री डॉक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय की प्रेरणा से हिन्दी में वैज्ञानिक शब्दों का कोश बनाने का कार्य आरम्भ किया था। यह उल्लेखनीय है कि श्री भण्डारी इन्दौरवासी थे और इनकी आरम्भिक शिक्षा मराठी भाषा के माध्यम से हुई थी। किन्तु १९०८ में 'सरस्वती' तथा 'वेंकटेश्वर समाचार' से वे हिन्दी की ओर आकर्षित हुए। सरस्वती में प्रकाशित स्वामी सत्यदेव परिव्राजक के अमेरिका-प्रवास सम्बन्धी लेखों से आपको प्रचुर प्रेरणा मिली। महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के सद्धर्म प्रचारक के गुरुकुल काँगड़ी से दिल्ली चले जाने पर आप १९१३-१४ ई० में इसके सहकारी सम्पादक रहे, और महात्मा जी के पुत्र—श्री हरिश्चन्द्र वेदालंकार और इन्द्र विद्यावाचस्पति के घनिष्ठ सम्पर्क में आये। कुछ समय तक विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में कार्य करने और १९२४ ई० में देशी राज्यों का इतिहास लिखने के बाद उन्होंने स्वर्गीय रानाडे की अंग्रेजी-मराठी डिक्शनरी के आदर्श पर अंग्रेजी-हिन्दी का विशाल कोश तैयार करने का संकल्प किया, और अजमेर में जमकर इस कार्य को करने लगे। आपने पहले राजनीति, शासन-विज्ञान, अर्थशास्त्र, भौतिक-विज्ञान, रसायन विज्ञान आदि विभिन्न विज्ञानों के पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी पर्याय देनेवाले कोशों के १० भाग प्रकाशित किये। आपका यह प्रयास बड़ा सफल हुआ और भारत सरकार के शिक्षा मन्त्रालय के अन्तर्गत केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय द्वारा पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का जो बाद में कार्य हुआ उसमें भण्डारी जी के कोश बड़े सहायक सिद्ध हुए। इस विषय में दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य डॉक्टर रघुवीर का था। उन्होंने संस्कृत में उच्चतम

शिक्षा और उपाधियाँ प्राप्त करने के बाद १९३४ ई० में सरस्वती विहार नामक संस्था लाहौर में स्थापित की और हिन्दी को राष्ट्रभाषा के पद पर प्रतिष्ठित करने की दृष्टि से आपने प्राचीन और नवीन ज्ञान-विज्ञान से सम्बद्ध २० लाख शब्द बनाने का संकल्प किया, और अपने जीवनकाल में ५ लाख शब्दों का निर्माण किया। १९४७ में भारत-विभाजन के बाद जब आपका कार्य अस्त-व्यस्त हो गया तो आप कुछ समय तक सुप्रसिद्ध आर्य नेता तथा मध्य प्रदेश विधानसभा के अध्यक्ष श्री घनश्यामसिंह गुप्त के निमन्त्रण पर नागपुर चले गये और वहाँ पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का कार्य करते रहे। जून १९५५ ई० में आपका महान् कोश 'ए काम्प्रहेंसिव इंगलिश-हिन्दी डिक्शनरी' के नाम से प्रकाशित हुआ। इसमें आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के प्रायः सभी शब्दों के पर्याय संस्कृत धातुओं के आधार पर बनाये गये हैं। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने इनके बारे में लिखा था कि "वे भविष्यद्रष्टा विद्वान् थे। उन्होंने १९३९ में ही यह आभास पा लिया था कि स्वाधीन होते ही भारत अपनी भाषाओं की ओर मुड़ेगा और उसे विभिन्न विज्ञानों के क्षेत्र में भारतीय शब्दों की आवश्यकता पड़ेगी। नये शब्दों के निर्माण का कार्य उन्होंने तभी आरम्भ कर दिया था··· लोग उन्हें 'अभिनव पाणिनि' के रूप में देखने लगे थे··· डॉक्टर रघुवीर बीस लाख शब्द बनाना चाहते थे·· जब वे स्वर्गीय हुए उस समय तक केवल पाँच लाख शब्द बना सके थे। किन्तु तब तक निर्माण की पक्की नींव उन्होंने डाल दी थी और वह रास्ता उन्होंने निकाल दिया था, जिस पर आज उनके समर्थक और विरोधी दोनों प्रकार के लोग चल रहे हैं।" (वेदवाणी, अक्तूबर १९६९, पृष्ठ २४)।

हरदेव बाहरी (१९०७)—आपने अंग्रेजी-हिन्दी के एक विशाल कोश का निर्माण किया है। ज्ञान मण्डल बनारस से प्रकाशित यह कोश पहले एक खण्ड में और बाद में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ है और हिन्दी में बड़ा लोकप्रिय है। आपने प्रसाद साहित्य कोश (१९५७ ई०) का निर्माण किया है। डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने हिन्दी साहित्य कोश के दो भागों का सम्पादन किया है। यह कोश हिन्दी साहित्य के अध्ययन के लिए बड़ा उपयोगी है। डॉक्टर सत्यप्रकाश ने 'अंग्रेजी हिन्दी वैज्ञानिक कोश', 'हिन्दी समाचारपत्र शब्दकोश' और 'भौतिक विज्ञान कोश' की रचना की है। डॉ०हरिशंकर शर्मा 'हिन्दुस्तानी कोश' तथा 'अभिनव हिन्दी कोश' के प्रणेता हैं। डॉ० महेश्वर सूद और डॉ० चम्पत-स्वरूप ने भी पारिभाषिक शब्दों के क्षेत्र में अच्छा कार्य किया है। डॉक्टर विश्वबन्धु ने वैदिक शब्दों का बृहत् कोश तैयार किया है।

(५) वैज्ञानिक साहित्य

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय ने जब वर्तमान शताब्दी के प्रथम चरण में हिन्दी माध्यम से वैज्ञानिक विषयों की उच्च शिक्षा देना आरम्भ किया तो हिन्दी में वैज्ञानिक पुस्तकों के शोचनीय अभाव को दूर करने के प्रयास किये गये। इसमें उल्लेखनीय कार्य करनेवाले गुरुकुल काँगड़ी में वैज्ञानिक विषयों को पढ़ानेवाले प्राध्यापक तथा अध्यापक थे। इनमें महेशचरण सिन्हा (१८८२–१९४२) और गोवर्द्धन शास्त्री के नाम उल्लेखनीय हैं। लखनऊ के एक कायस्थ परिवार में उत्पन्न श्री सिन्हा १९०४ में उच्चस्तरीय वैज्ञानिक अध्ययन के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका चले गये। १९०७ में वहाँ से लौटने पर महात्मा मुंशीराम के अनुरोध पर गुरुकुल काँगड़ी में विज्ञान-विभाग के अध्यापक बने

और विज्ञान जैसे गूढ़ विषय को हिन्दी माध्यम से प्रस्तुत करने की दिशा में आपने उल्लेखनीय कार्य किया और विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों का निर्माण किया। आपकी रसायनशास्त्र (१९०९ ई०), वनस्पतिशास्त्र (१९११ ई०), विद्युतशास्त्र (१९१२ ई०) नामक पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। हिन्दी की उत्कृष्ट कवयित्री श्रीमती सुमित्राकुमारी सिन्हा आपकी सुपुत्री हैं। आपका निधन १९४२ में हुआ।

विज्ञान के दूसरे आरम्भिक लेखक गोवर्द्धन शास्त्री (१८९१–१९२७ ई०) थे। पाकिस्तान में डेरा गाजी खाँ जिले के ताजा शरीफ ग्राम में उत्पन्न होने तथा गवर्नमेण्ट कॉलेज लाहौर से १९०५ में बी०ए० करने के बाद आप महात्मा मुंशीराम द्वारा स्थापित गुरुकुल काँगड़ी में १९१४ तक अध्यापन-कार्य करते रहे। आपने महात्माजी की प्रेरणा से १९०८ में ब्रिटिश वैज्ञानिकों की सुप्रसिद्ध पाठ्यपुस्तकों के आधार पर भौतिक विज्ञान और रसायन विज्ञान की पुस्तकें हिन्दी में लिखी थीं। ये हिन्दी में लिखी जानेवाली इन विषयों की पहली पुस्तकें हैं। बाद में महामुनि विद्यालंकार ने भौतिकी तथा यज्ञदत्त विद्यालंकार ने दो खण्डों में विज्ञान प्रवेशिका की रचना की।

हिन्दी में वैज्ञानिक साहित्य के सृजन में प्रयाग की विज्ञान परिषद् का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वर्तमान शताब्दी के दूसरे दशक में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के कुछ नवयुवक वैज्ञानिकों ने इसकी स्थापना की। इसकी ओर से पिछली आधी सदी से भी अधिक समय से विज्ञान नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन हो रहा है। परिषद् ने हिन्दी में विज्ञान के विभिन्न विषयों पर लोकोपयोगी एवं विश्वविद्यालयों के छात्रों की दृष्टि से अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन किये हैं। इनके संस्थापकों और प्रमुख कार्यकर्ताओं में कई आर्य-समाजी वैज्ञानिक थे। इनमें डॉक्टर सत्यप्रकाश का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे पिछली अर्द्धशताब्दी में इसके प्राण रहे हैं। उन्होंने इसके माध्यम से विज्ञान-सम्बन्धी उपयोगी साहित्य प्रकाशित किया है और स्वयमेव विज्ञान के विभिन्न अंगों पर पुस्तकें लिखी हैं। उनकी प्रमुख पुस्तकें—सामान्य रसायनशास्त्र (१९५१ ई०), साबुन और ग्लिसरीन (१९६६ ई०), रासायनिक शिल्प की एकक संक्रियाएँ (१९७३ ई०), भौतिक रसायन (१९६९ ई०) हैं। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् द्वारा उनकी 'वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा' प्रकाशित की गई है। इसमें प्राचीन भारत में विभिन्न प्रकार के विज्ञानों के विकास का प्रामाणिक प्रतिपादन है। इसी प्रकार की उनकी दूसरी पुस्तक 'प्राचीन भारत में रसायन का विकास' (१९६० ई०) है। इसमें रसायनशास्त्र के इतिहास पर प्रकाश डाला गया है। विज्ञान परिषद् के एक अन्य स्तम्भ रामदास गौड़ कुछ समय तक गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी में विज्ञान के प्राध्यापक रहे थे। हिन्दी के माध्यम से वैज्ञानिक विषयों पर लिखनेवालों में रामदास गौड़ का नाम महत्त्वपूर्ण है। आपने विज्ञान-परिषद् की स्थापना में महत्त्वपूर्ण सहयोग दिया था। इसके मुखपत्र-विज्ञान के लिए ये बड़े परिश्रम से सामग्री एकत्रित करते थे। हिन्दी में वैज्ञानिक लेखन का कार्य इन्होंने कई प्रकार से आगे बढ़ाया। साधारण जनता को विज्ञान के विभिन्न विषयों की जानकारी देने के लिए इन्होंने 'विज्ञान हस्तामलक' नामक एक पुस्तक का प्रणयन किया। इस पर हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा ये मंगलाप्रसाद पुरस्कार से सम्मानित हुए। विज्ञान परिषद् की ओर से ही महावीरप्रसाद श्रीवास्तव का सूर्यसिद्धान्त का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुआ है।

गुरुकुल काँगड़ी के जीव-विज्ञान के प्राध्यापक डॉक्टर चम्पतस्वरूप गुप्त ने जीव-विज्ञान की पाठ्यपुस्तकें लिखी हैं और महाकवि कालिदास के ग्रन्थों में वर्णित पक्षियों, पशुओं और विभिन्न प्राणियों पर आधुनिक जीवशास्त्र की दृष्टि से विवेचन करनेवाले अनेक लेख पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित किये हैं। हरिचन्द रत्ता ने हिन्दी में रेल के इंजनों पर लोकोमोटिव के नाम से एक अच्छी पुस्तक लिखी है।

भूगोल-विषयक साहित्य में प्रयाग से निकलनेवाले मासिक 'भूगोल' के सम्पादक पण्डित रामनारायण मिश्र का नाम उल्लेखनीय है। १९२४ में उन्होंने 'भूगोल' पत्रिका निकाली। इसकी देशदर्शन ग्रन्थमाला में संसार के लगभग सभी देशों का संक्षिप्त और सुन्दर एवं प्रामाणिक परिचय दिया। गंगा आदि नदियों पर भूगोल-साहित्य सम्भवतः सबसे अधिक सम्पन्न है। इसका प्रधान श्रेय पण्डित रामनारायण मिश्र को है। हिन्दी के प्रवल समर्थक बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन ने श्री मिश्र जी का नाम ही भूगोल रख दिया था।

इस प्रसंग में ऐसे व्यक्तियों की रचनाओं का उल्लेख भी आवश्यक प्रतीत होता है जिन्होंने अपने अनुवादों से हिन्दी के वैज्ञानिक साहित्य को समृद्ध किया है। इस दृष्टि से गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के मेधावी स्नातक डॉक्टर देवेन्द्र कुमार का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् सिगमंड फ्रायड के मनोविश्लेषण-सम्बन्धी ३२ व्याख्यानों का अंग्रेजी से हिन्दी में अविकल अनुवाद किया है (१९५८ ई०)। एक आलोचक ने इसके बारे में लिखा था कि इस अनुवाद की सबसे बड़ी खूबी यह है कि इसे पढ़ते हुए कहीं भी मूल अंग्रेजी देखने की जरूरत नहीं होती। लासन और साहनी की सुप्रसिद्ध पुस्तक टैक्स्टबुक ऑफ बॉटनी का इन्होंने 'वनस्पतिशास्त्र की पाठ्यपुस्तक' के नाम से अनुवाद किया है। प्रोफेसर बनर्जी की एनिमल हसबेण्ड्री 'पशुपालन' के नाम से प्रकाशित हुई है। फर्टिलाइजर्स एण्ड देअर यूजेज का हिन्दी अनुवाद 'उर्वरक और उनके उपयोग' के नाम से किया है। पी० के० दास की मानसून्स का हिन्दी रूपान्तर 'बरसाती हवाएँ' के नाम से किया गया है। विलियम एच० क्राउज की अण्डरस्टैंडिंग साइंस के हिन्दी अनुवाद 'विज्ञान जगत्' पर अनुवादक को संयुक्त राष्ट्रसंघ शिक्षा विज्ञान संगठन (यूनेस्को) ने १९६१ ई० में दो हजार रुपये का पुरस्कार प्रदान किया था।

इस प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि कृषि एवं पशुचिकित्सा और इंजीनियरी की विश्वविद्यालयस्तरीय पुस्तकों के अनुवाद के लिए हिन्दी में अब तक सबसे अधिक व्यवस्थित और सफल प्रयास गुरुकुल काँगड़ी के एक भूतपूर्व छात्र, अतीव कुशल एवं अनुभवी प्रशासक कुलपति डॉक्टर ध्यानपालसिंह द्वारा गोविन्दवल्लभ पन्त विश्वविद्यालय में अनुवाद निदेशालय स्थापित करके किया गया है। इसके प्रथम निदेशक प्रो० हरिदत्त वेदालंकार ने अपने १० वर्ष के कार्यकाल में यहाँ ५० पुस्तकों का अनुवाद, मौलिक लेखन तथा प्रकाशन का कार्य करके हिन्दी जगत् में वैज्ञानिक साहित्य के सृजन का एक नवीन कीर्तिमान स्थापित किया। यहाँ राजेन्द्रकुमार वेदालंकार ने हिन्दी में पादप रोग विज्ञान, पशु प्रजनन, भारत में मृदा सर्वेक्षण नामक अनुवाद किये। डॉक्टर विनोदचन्द्र विद्यालंकार ने कवकनाशी और पादप रोग नियन्त्रण, गाय-भैंस के भारतीय नस्लों के अभिलक्षण, भारत में मृदा संरक्षण नामक अनुवाद किये। उत्तर प्रदेश कृषि मान चित्रावली आनुवंशिकी के प्रारम्भिक सिद्धान्त आदि अनूदित पुस्तकों का सम्पादन किया।

(६) जीवनी साहित्य

आर्यसमाज के लेखकों ने महर्षि दयानन्द और अन्य आर्यसमाजी नेताओं की अनेक जीवनियाँ लिखी हैं। इनका पहले उल्लेख हो चुका है। यहाँ केवल आर्यसमाजेतर भारतीय एवं विदेशी महापुरुषों की आर्यसमाजी लेखकों द्वारा लिखी गई जीवनियों का संक्षिप्त परिचय कराया जायेगा।

(क) **भारतीय महापुरुषों की जीवनियाँ**—प्राचीन, मध्यकालीन और अर्वाचीन काल के अनेक भारतीय महापुरुषों की जीवनियाँ आर्यसमाजी विद्वानों द्वारा लिखी गई हैं। भाई परमानन्द ने १९२५ में निम्न कुल में उत्पन्न होकर भी महर्षि के पद को प्राप्त करनेवाले और रामायण के प्रणेता वाल्मीकि मुनि का जन्मचरित्र लिखा था। पौराणिक साहित्य में महाभारत के सुप्रसिद्ध पात्र श्रीकृष्ण को भगवान् बनाकर अनेक चमत्कारों से मण्डित कर दिया गया है। गोपियों के साथ उनकी प्रणय-लीलाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानन्द ने अवतारवाद का खण्डन करते हुए श्रीकृष्ण को आदर्श मानव के रूप में चित्रित किया था। श्रीकृष्ण के इस स्वरूप को हिन्दी में स्पष्ट रूप से उजागर करनेवालों में आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता और गुरुकुल काँगड़ी के आचार्य पण्डित चमूपति का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'योगेश्वर कृष्ण' में कृष्णलीलाओं और गोवर्द्धन-धारण जैसी चमत्कारपूर्ण घटनाओं को अतीव युक्तियुक्त और तर्कसंगत रूप में प्रस्तुत किया है। उँगली पर गोवर्द्धन पर्वत धारण करने की घटना के बारे में लेखक का यह कथन है कि 'गोवर्द्धन की तलहटी अब सचमुच उनकी हथेली पर थी।' ज्वालापुर महाविद्यालय के स्नातक श्री देवदत्त शास्त्री विद्याभास्कर ने इसी शैली में महाभारत के श्रीकृष्ण और डॉक्टर भवानीदयाल भारतीय ने विशुद्ध श्रीकृष्ण चरित्र (१९६१ ई०) लिखा है।

मध्यकालीन भारत के महापुरुषों में लेखकों को राजपूत और मराठा इतिहास से प्रबल प्रेरणा मिलती रही है। मुगलसम्राट् औरंगजेब का मान-मर्दन करनेवाले शिवाजी भारतीय ऐतिहासिकों तथा लेखकों का प्रिय विषय रहे हैं। मुस्लिम लेखकों ने जातीय विद्वेष के कारण उन्हें 'पहाड़ी चूहा' तथा अफजल खाँ का हत्यारा कहा है और उनपर कई प्रकार के लांछन लगाये हैं। वर्तमान युग में कई अंग्रेज इतिहासकारों ने इस पद्धति का अनुसरण किया। पिछली शताब्दी के अन्तिम चरण में महाराष्ट्र के इतिहासकारों तथा लोकमान्य तिलक ने मुस्लिम और अंग्रेज ऐतिहासिकों द्वारा शिवाजी के साथ किये गये ऐतिहासिक अन्याय का परिमार्जन किया और उनकी जीवनियाँ नये ढंग से लिखी जाने लगीं। सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता लाला लाजपतराय ने इसी दृष्टिकोण से पिछली शताब्दी के अन्तिम दशक में शिवाजी की एक जीवनी उर्दू में लिखी और बाद में इसका हिन्दी रूपान्तर हुआ। गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक श्री भीमसेन विद्यालंकार ने बड़ी ओजस्वी भाषा में शिवाजी का चरित्र लिखा है। भाई परमानन्द ने मुगल सम्राटों के साथ संघर्ष करनेवाले और अपने अद्भुत बलिदान से अमर होनेवाले बन्दा वैरागी की जीवनी का प्रणयन किया है। हरविलास शारदा ने महाराणा साँगा की एक प्रामाणिक जीवनी लिखी है।

आर्यसमाजी लेखकों द्वारा सबसे अधिक जीवनियाँ आधुनिक भारत के, विशेष

रूप से राजनैतिक क्षेत्र के नेताओं पर लिखी गई हैं। इन्द्र विद्यावाचस्पति ने पण्डित जवाहरलाल नेहरू, हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति (राजेन्द्र प्रसाद), अमर शहीद जतीन्द्र, लोकमान्य तिलक और उनका युग नामक जीवनियाँ लिखी हैं। सत्यदेव विद्यालंकार ने हमारे राष्ट्रपति, लाला देवराज, स्वामी श्रद्धानन्द, जनरल अवारी, गांधी जी का मुकदमा, धुन के धनी (जयनारायण व्यास) की बड़ी लोकप्रिय जीवनियाँ लिखी हैं। पंजाब के सुप्रसिद्ध आर्य नेता और हैदराबाद सत्याग्रह के डिक्टेटर महाशय कृष्ण का प्रामाणिक जीवन-परिचय उन्होंने 'जीवन संघर्ष' नामक पुस्तक में लिखा है। दीनानाथ सिद्धान्तालंकार ने 'डॉक्टर श्यामाप्रसाद मुकर्जी का जीवन' और 'प्रेरक जीवन कहानियाँ' लिखी हैं। श्री रामगोपाल विद्यालंकार ने 'स्वामी श्रद्धानन्द' और 'आचार्य रामदेव' के नाम से आर्यसमाज के इन नेताओं के सुन्दर जीवन-चरित्रों की रचना की है। श्री चन्द्रगुप्त वेदालंकार ने सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी और हिन्दू महासभा के नेता का 'स्वातन्त्र्य वीर सावरकर' के नाम से बड़ा ओजस्वी जीवन-चरित्र लिखा है। क्षितीश वेदालंकार ने सातवलेकर अभिनन्दन ग्रन्थ का सम्पादन किया है। डॉक्टर सत्यकाम वर्मा ने हिन्दी के प्रमुख कवियों के परिचयात्मक विवरण—'महाकवि प्रसाद', 'महाकवि पन्त', 'जनकवि पन्त', 'जनकवि दिनकर', 'युगकवि तुलसी' लिखे हैं। श्री विजयकुमार विद्यालंकार ने इंदिरा गांधी, वीर सावरकर, लालबहादुर शास्त्री, राजा राममोहन राय के जीवन-चरित्र बड़े सुन्दर एवं रोचक ढंग से प्रस्तुत किये हैं। इनमें अन्तिम जीवनी उत्तर प्रदेश सरकार से पुरस्कृत हो चुकी है। इस प्रसंग में सरदार भगतसिंह द्वारा 'चाँद' के फाँसी अंक के लिए विशेष रूप से लिखी गई भारतीय क्रान्तिकारियों की जीवनियों का उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। भगतसिंह न केवल क्रान्तिकारी थे, अपितु अच्छे साहित्यकार भी थे। उनके द्वारा लिखी जीवनियों में कर्तारसिंह सराबा का संक्षिप्त परिचय बड़ा मार्मिक तथा हृदयस्पर्शी है; इन्हें वे अपना गुरु मानते थे।

(ख) विदेशी महापुरुषों की जीवनियाँ—ब्रिटिश युग में अंग्रेजों के साथ होनेवाले स्वतन्त्रता-संघर्ष में भारतीयों को कुछ विदेशी महापुरुषों के जीवन-चरित्रों से प्रबल प्रेरणा मिली थी। इनमें इटली को आस्ट्रिया की दासता से मुक्त कराने वाले महापुरुष मेजिनी और गेरीबाल्डी थे। कांग्रेस के सुप्रसिद्ध नेता श्री सुरेन्द्रनाथ बैनर्जी मेजिनी के जीवन से अत्यधिक प्रभावित हुए थे। उनके मेजिनी पर दिये गये एक व्याख्यान का आर्यसमाजी नेता लाला लाजपतराय पर इतना प्रबल प्रभाव पड़ा कि उन्होंने मेजिनी पर लिखे सब जीवन-चरित्रों को एकत्र कर स्वाध्याय किया और इस महापुरुष का एक जीवन-चरित्र उर्दू में लिखा। उनका उद्देश्य यह था कि इसे पढ़कर भारतीय नवयुवक अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए मेजिनी जैसा संघर्ष करने की प्रेरणा प्राप्त कर सकें। इसी कारण सरकार काफी समय तक इस पुस्तक को राजद्रोहपूर्ण समझती रही। बाद में इसका हिन्दी रूपान्तर हुआ।

पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति ने कुछ विदेशी महापुरुषों के बड़े सुन्दर, सरस और रोचक विवरण लिखे। इनमें नेपोलियन बोनापार्ट (१९१२ ई०), जर्मनी के निर्माता प्रिंस बिस्मार्क (१९१४ ई०), गेरीबाल्डी (१९१६ ई०) उल्लेख योग्य हैं। भारतीय नेताओं पर इनकी लिखी उल्लेखनीय जीवनियाँ—पण्डित जवाहरलाल नेहरू (१९३६ ई०) और लोकमान्य तिलक हैं। इनकी जीवनियों में महापुरुषों के चरित्र का गम्भीर विश्लेषण

पाया जाता है। राधेमोहन गोकुल जी (१८६५–१९३५ ई०) ने मेजिनी, बोनापार्ट, गेरीवाल्डी के चरित्र लिखे। कृष्णचन्द्र विद्यालंकार ने 'नवीन तुर्की का जनक कमाल' और विनायकराव विद्यालंकार ने 'राष्ट्रपति लिंकन' के नाम से अब्राहम लिंकन का प्रामाणिक जीवन-चरित्र प्रस्तुत किया है। भूदेव विद्यालंकार ने 'स्वाधीनता के पुजारी' नाम से स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करनेवाले कई महापुरुषों का चरित्र लिखा है।

कुछ लेखकों ने लघु जीवनीसंग्रह प्रकाशित किये हैं। प्रयाग के ओंकारनाथ वाजपेयी ने अपनी पुस्तकमाला—ओंकार चारु चरितावली में अनेक जीवनियाँ प्रकाशित की थीं। इनमें महापुरुषों के कार्यकलापों का संक्षिप्त परिचय ही दिया जाता है; उनके चरित्र का विशद चित्रण तथा विश्लेषण नहीं होता है। इस प्रकार के लघु जीवनीसंग्रहों में इन्द्र विद्यावाचस्पति की 'जीवन ज्योति', क्षेमचन्द्र सुमन की 'नये भारत के निर्माता', सत्यदेव विद्यालंकारकृत 'हमारे राष्ट्रपति'(१८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना से १९३८ तक के कांग्रेस के सभापति) और चतुरसेन शास्त्री की 'महापुरुषों की झाँकियाँ' उल्लेखनीय हैं।

आत्मकथा साहित्य—आर्यसमाजी लेखकों ने हिन्दी साहित्य को आत्मकथाओं से समृद्ध किया है। आत्मकथा व्यक्ति द्वारा स्वयमेव लिखा जानेवाला आत्मचरित होता है। इसमें अपने जीवन की घटनाओं का विवेचन और विश्लेषण किया जाता है। आत्मकथा में किसी व्यक्ति का अपने बारे में सर्वथा तटस्थ होकर लिखना कठिन है। प्रायः आत्मकथा-लेखक अपने कामों की आवश्यकता से अधिक प्रशंसा करते हैं, उनमें आत्म-विज्ञापन और आत्म-प्रचार की भावना अधिक पाई जाती है। दूसरी ओर डॉक्टर राजेन्द्र-प्रसाद जैसे व्यक्ति विनम्रतावश आत्मप्रकाशन की अपेक्षा आत्मगोपन अधिक करते हैं। आत्मविज्ञापन और आत्मगोपन की दोनों अतियों से बचते हुए आत्मकथा का लिखना बड़ा कठिन कार्य है। फिर भी आर्यसमाज के लेखकों ने कुछ विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण आत्मकथाओं से हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया है।

सम्भवतः हिन्दी में सर्वप्रथम आत्मचरित लिखने का गौरव इसके संस्थापक स्वामी दयानन्द सरस्वती को प्राप्त है। थियोसोफी सम्प्रदाय के संस्थापक कर्नल अल्काट तथा उनके साथी स्वामीजी की जीवनकथा जानने के लिए बड़े उत्सुक थे। उस समय तक स्वामीजी के जीवन पर कोई पुस्तक नहीं थी और उनके जीवन की घटनाएँ अज्ञात थीं। अतः उन्होंने स्वामीजी से स्वयमेव अपना चरित्र लिखने का अनुरोध किया। इसके अनुसार स्वामीजी द्वारा हिन्दी में लिखवाये विवरण का अंग्रेजी अनुवाद थियोसोफिस्ट पत्रिका में क्रमशः अक्तूबर १८७९, दिसम्बर १८७९ और नवम्बर १८८० में प्रकाशित हुआ।

इससे पहले जब स्वामीजी पूना में गये थे तो वहाँ भी उन्होंने अपने भक्तों के अनुरोध से चार अगस्त १८७५ ई० को अपने जीवन पर एक व्याख्यान दिया था। यह उपदेश मंजरी में १५वें व्याख्यान के रूप में प्रकाशित हुआ है। उपर्युक्त दोनों विवरणों के आधार पर पण्डित भगवद्दत्त ने स्वामीजी के जीवन-चरित्र को आत्मकथा के रूप में प्रकाशित किया। यह आत्मकथा स्वामीजी के अज्ञात जीवन के पहलुओं पर प्रकाश डालनेवाली है। इसमें स्वामीजी ने अपने भाँग आदि पीने के दुर्व्यसनों को भी नहीं छिपाया है। अपने गृहत्याग आदि की घटनाओं का बड़ा रोचक विवरण प्रस्तुत किया है।

स्वामी दयानन्द के प्रमुख शिष्य स्वामी श्रद्धानन्द की मथुरा दयानन्द शताब्दी के अवसर पर १९२४ में प्रकाशित आत्मकथा 'कल्याण मार्ग का पथिक' न केवल आर्यसमाजी साहित्य में, अपितु हिन्दी वाङ्मय में विशिष्ट स्थान रखती है। इसमें लेखक ने न केवल अपना, अपितु तत्कालीन समाज का भी बड़ा रोचक चित्र प्रस्तुत किया है। अपने स्वभाव का विश्लेषण करते हुए अपनी बुराइयों को भी बड़े यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है। उन्होंने कहीं भी अपने दोषों और निर्बलताओं को छिपाने का प्रयास नहीं किया है। पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति के शब्दों में उन्होंने 'अपने आत्मचरित्र में अपने बचपन और यौवन के सब दोष खुली पुस्तक की तरह खोलकर रख दिये हैं।' यह पुस्तक पहले सद्धर्मप्रचारक में 'मेरी जिन्दगी के नशेबो-फराज' (मेरे जीवन का पतन और उत्थान) के नाम से सद्धर्म प्रचारक में धारावाहिक रूप में छपती रही थी। इसमें मथुरा के चौबों, बनारस की गलियों-बाजारों के वर्णन सर्वथा औपन्यासिक प्रतीत होते हैं।

रामप्रसाद बिस्मिल की आत्मकथा—काकोरी के अमर शहीद रामप्रसाद बिस्मिल ने गोरखपुर जेल में प्राणदण्ड दिये जाने से तीन दिन पहले अपनी आत्मकथा को फाँसी की कालकोठरी में बैठकर लिखा था। प्रतिदिन इसके लिखे हुए अंश वार्डरों द्वारा जेल से बाहर पहुँचा दिये जाते थे। अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी ने इसका उपयुक्त सम्पादन करवाकर, इसे अपने पत्र 'प्रताप' में छपवा दिया था, किन्तु इसके प्रकाशित होते ही ब्रिटिश सरकार ने इसे जब्त कर लिया। स्वतन्त्र भारत में इसका पुनर्मुद्रण श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने करवाया। वे इसे "हिन्दी का सर्वश्रेष्ठ आत्म-चरित्र" मानते हैं। उनका मत है कि "बिस्मिल के इस आत्मचरित्र के मुकाबले का ग्रन्थ केवल हिन्दी-साहित्य में ही नहीं, वरन् भारत की अन्य भाषाओं के साहित्य में भी मुश्किल से मिलेगा।"

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध नेता महात्मा नारायण स्वामी ने १९४३ ई० में अपनी आत्मकथा प्रकाशित की थी। इसमें उनके १९३९ ई० तक के जीवन की प्रमुख घटनाओं का वर्णन है। इससे न केवल उनके जीवन पर, अपितु उत्तरप्रदेश में आर्यसमाज के विकास पर भी सुन्दर प्रकाश पड़ता है।

विदेशों में आर्यसमाज का प्रचार करनेवाले आर्यनेता स्वामी भवानी दयाल ने अपना आत्म-चरित्र 'प्रवासी की आत्मकथा' के नाम से लिखा है और यह १९४७ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह सर्वथा तटस्थ होकर लिखा गया है और लेखक ने इसमें अपने पिता के प्रति भी कोई पक्षपात प्रदर्शित नहीं किया है। इसकी वर्णनशैली अतीव रोचक है। इसमें इतिहास, उपन्यास और यात्रा-विवरण की त्रिवेणी का सुन्दर संगम हुआ है। प्रयाग के आर्यनेता श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय तथा टिहरी-गढ़वाल के चीफ जज रहनेवाले गंगाप्रसाद एम० ए० की आत्मकथाएँ १९५४ में क्रमशः 'जीवनचक्र' और 'मेरी आत्मकथा' के नाम से प्रकाशित हुईं। इन दोनों में समकालीन घटनाओं और परिस्थितियों का सुन्दर विवेचन है। सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ की आत्मकथा बृहदाकार में १९५७ में 'आपबीती जगबीती' के नाम से प्रकाशित हुई है। इसमें आपबीती कम और जगबीती अधिक पायी जाती है।

स्वामी सत्यदेव परिव्राजक की आत्मकथा 'स्वतन्त्रता की खोज में' नामक शीर्षक से १९५१ में प्रकाशित हुई थी। यह आर्यसमाज के साहित्य में विशेष महत्त्व रखती है।

इसमें स्वामी सत्यदेव ने अपने जीवन की घटनाओं का, बचपन में आर्यसमाज के साथ सम्पर्क में आने, स्वामी दयानन्द के जीवन-चरित्र को पढ़ने पर उन पर हुए प्रभाव का विस्तार से वर्णन किया है और यह बताया है कि उनके परिवार वाले किस प्रकार जल्दी उनका विवाह करना चाहते थे और वे कैसे विवाह के फंदे से बच निकले। विभिन्न स्थानों पर घूमते हुए बनारस पहुँचे और वहाँ कुछ समय अध्ययन करने के बाद केवल १५ रुपये की पूँजी लेकर सं० रा० अमेरिका की यात्रा के लिए निकल पड़े। किस प्रकार अमेरिका में उन्होंने वहाँ के स्वतन्त्र जीवन से प्रेरणा प्राप्त की, अनेक कठिनाइयाँ झेलते हुए विद्योपार्जन किया और भारत लौटकर वे स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए अपने लेखों और भाषणों द्वारा किस प्रकार प्रचारकार्य करते रहे। 'नागपुर टाइम्स' के सहायक संपादक पण्डित अनन्त गोपाल शेवड़े ने नागपुर रेडियो से इसकी समीक्षा करते कहा था—"यह है तो आत्मकथा, पर किसी उपन्यास से कम रोचक नहीं। जीवनरूपी कुरुक्षेत्र में किये गए धर्मयुद्ध की यह एक राजनैतिक संन्यासी के मुँह से कही गई कहानी है।" इसमें स्वामीजी ने स्वदेश और विदेश में परिभ्रमण करते हुए सामयिक ऐतिहासिक घटनाओं, व्यक्तियों और संस्थाओं के चरित्रों और कार्यों की मीमांसा खुले दिल से की है और भारत के पिछले पचास वर्षों की राजनैतिक गतिविधियों और प्रमुख प्रवृत्तियों का सुन्दर विश्लेषण किया है। इसमें स्वामीजी ने महात्मा गांधी तथा पण्डित जवाहरलाल नेहरू तक की कटु आलोचना करने में कोई संकोच नहीं किया है। गांधीजी के बारे में उन्होंने लिखा है कि महात्मा गांधी अपने जीवन के किसी कार्य में सफल नहीं हुए (पृष्ठ ४६३)। नेहरूजी के सम्बन्ध में उनका कहना है कि इनमें भावुकता की अधिकता है और कमी है विवेक की (पृष्ठ ४६४)।

हिन्दी के सुप्रसिद्ध उपन्यासकार और कहानी-लेखक आचार्य चतुरसेन शास्त्री की आत्मकथा १९६३ में 'मेरी आत्मकहानी' के नाम से छपी है। इसमें उनकी लेखनी के सभी उत्तम गुण—रोचकता, स्वाभाविकता, मार्मिकता, चरित्र-चित्रण का कौशल और प्रांजलता पाए जाते हैं। उन्होंने अपने आरम्भिक जीवन की घटनाओं को अत्यन्त मनोरंजक रूप में प्रस्तुत किया है। अपने समकालीन व्यक्तियों पर बड़ी रोचक टिप्पणियाँ लिखी हैं। राजा महेन्द्रप्रताप के बारे में उनका कहना है कि "इस बूढ़े बालक की प्रत्येक बात निर्दोष है, निर्व्याज है, मक्कारी और धूर्तता से कतई पाक-साफ है।"

यशपाल का सिंहावलोकन (तीन भाग, १९५२) न केवल सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी की आत्मकथा है, अपितु पंजाब के क्रान्तिकारी आन्दोलन का विशद इतिहास है।

स्वामी अभयदेव ने १९६१ में योगयात्री के नाम से वैदिक धर्म में अपनी आत्मकथा लिखी थी। यह लेखक की आध्यात्मिक साधना के विकास के अनुसार छह खण्डों में विभक्त है। इसमें लेखक ने अपनी योगयात्रा के विभिन्न सोपानों का बड़े रोचक शब्दों में वर्णन किया है। इसका आरम्भ इन शब्दों से होता है--"यात्रा तो न जाने कब से प्रारम्भ है और न जाने कब तक चलेगी। शायद शाश्वत है और शाश्वत चलेगी। पर यहाँ तो उस शाश्वत काल के चक्र में थोड़े-से ही वर्षों (१८९६–१९६० तक) की एक कहानी कही गई है।" योगाभ्यास में रुचि रखनेवाले साधकों के लिए यह बड़ी उपयोगी है।

हिन्दी के शतवर्षीय वृद्ध तरुण लेखक संतराम बी० ए० ने १९६३ में 'मेरे जीवन

के अनुभव' के नाम से अपनी आत्मकथा प्रकाशित की थी। वे आजन्म हिन्दू समाज की जातिभेद की प्रथा के विरुद्ध घोर संघर्ष करते रहे, अतः उनकी आत्मकथा में ऐसी बातों और विचारों की प्रधानता है।

सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी तथा हिन्दू महासभा के नेता भाई परमानन्द ने 'आपबीती' के नाम से अपनी एक सुन्दर आत्मकथा लिखी है। इसमें उन्होंने विदेशों में अपनी यात्रा, वैदिक धर्म के प्रचार, क्रान्तिकारियों से सम्पर्क, गिरफ्तारी, लाहौर तथा अण्डमान के जेल-जीवन के बड़े रोचक संस्मरण लिखे हैं। पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति की 'पत्रकार की आत्मकथा' भी उल्लेखनीय कृति है। अन्य पुस्तकों में वेदानन्दतीर्थ द्वारा लिखित 'जीवन की भूलें' और स्वामी ब्रह्ममुनि द्वारा विरचित 'निजवृत्तवनिका' उत्तम आत्म-चरित हैं।

संस्मरण साहित्य—आर्यसमाज ने हिन्दी में कई उच्चकोटि के संस्मरण-लेखक प्रदान किये हैं। संस्मरण का अभिप्राय किसी व्यक्ति के जीवन के सम्बन्ध में उसकी विशिष्ट घटना या पहलू का सम्यक् रसपूर्ण वर्णन और पढ़ने में आनन्ददायक स्मरण है। संस्मरण कोई व्यक्ति किसी दूसरे से भेंट करके लिखता है अथवा उसका वर्णन की जाने-वाली घटना से वैयक्तिक सम्बन्ध होता है। यही जीवन-चरित्र और संस्मरण में प्रमुख भेद होता है। जीवन-चरित्र में चरितनायक के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क होना आवश्यक नहीं है। नेपोलियन बोनापार्ट, प्रिंस बिस्मार्क तथा गेरीबाल्डी की जीवनियों के लेखक पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति का इन महापुरुषों के साथ कोई प्रत्यक्ष सम्पर्क नहीं था, अतः ये उनकी जीवनियाँ मात्र हैं। किन्तु उन्होंने अपने पिता स्वामी श्रद्धानन्दजी पर 'मेरे पिता' में जो मधुर संस्मरण लिखे हैं, उनका आधार उनके साथ घनिष्ठ वैयक्तिक सम्पर्क था। यह ठीक ही कहा गया है—"संस्मरण-लेखक पहले साहित्यकार होता है और बाद में इतिहासकार, और इसके सर्वथा विपरीत जीवनी-लेखक पहले इतिहासकार होता है और बाद में साहित्यकार।[1]"

हिन्दी में संभवतः प्रथम संस्करण-लेखक पण्डित पद्मसिंह शर्मा थे। श्री क्षेमचन्द्र सुमन ने उन्हें 'संस्मरण कला का आदि प्रवर्त्तक' माना है। उनका अपने समय के हिन्दी-उर्दू के सभी प्रतिष्ठित एवं प्रसिद्ध साहित्यकारों से बड़ा अच्छा परिचय और पत्रव्यवहार था। वे उन्हें घनिष्ठ रूप से जानते थे, अतः उन्होंने इनके बारे में बड़े सुन्दर भावपूर्ण संस्मरण लिखे हैं। उनकी सुप्रसिद्ध पुस्तक 'पद्म पराग' (१९२९) में ऐसे अनेक संस्मरणों का सुन्दर संकलन हुआ है। श्री बनारसीदास चतुर्वेदी के शब्दों में "उनके महाकवि अकबर, सत्यनारायण कविरत्न और पण्डित भीमसेन शर्मा विषयक संस्मरण हिन्दी साहित्य में बेजोड़ हैं।" स्वामी श्रद्धानन्द पर लिखे संस्मरण का निम्नलिखित अवतरण उनकी रोचक शैली को सुन्दर रूप में प्रदर्शित करता है—"वे जिस आन्दोलन को देश और जाति के लिए आवश्यक समझते थे, उसी में प्राण-पण से जुट जाते थे। पालिटिक्स के मैदान में उतरे तो चोटी के लीडरों की चोटी पर जा चमके। सिक्खों का साथ दिया तो कारागार को पवित्र कर आए। हिन्दू-मुस्लिम-इत्तहाद के हामी हुए तो जामामस्जिद के मिंबर पर जा चढ़े। असहयोग में लगे तो महात्मा गांधी को भी कई कदम पीछे छोड़

---

१. गोविन्द त्रिगुणायत—'साहित्य समीक्षा के सिद्धान्त'

गए। शुद्धि आन्दोलन में पड़े तो जान की बाजी लगा दी···जो बात की बस, अपनी कसम लाजवाब की···इनकी मौत जिन्दगी से भी शानदार साबित हुई।" (पद्मपराग, प्रथम भाग, पारसनाथ सिंह, पृ० ७६-७७)।

पण्डित इन्द्र विद्यावाचस्पति हिन्दी के सर्वोत्तम संस्मरण-लेखकों में माने जाते हैं। पत्रकार और सार्वजनिक नेता होने से उन्हें देश के लगभग सभी मूर्धन्य कांग्रेसी नेताओं, विद्वानों, साहित्यकारों तथा समाज-सेवियों से मिलने और घनिष्ठ परिचय बढ़ाने के अवसर मिलते रहे। उन्होंने इनके बारे में जो संस्मरण लिखे हैं, वे हिन्दी साहित्य की गौरवपूर्ण निधि हैं। इनके कारण श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने उन्हें 'संस्मरण कला का आचार्य' की उपाधि दी है।

इस विषय में उनकी सर्वोत्तम कृति 'मेरे पिता' (१९५७ ई०) है। इसमें उन्होंने अपने जन्म-काल के आरम्भिक वर्षों से १९२७ में स्वामीजी के अमर बलिदान तक की घटनाओं का अपने संस्मरणों के आधार पर बड़ा रोचक प्रकाश डाला है। इस अवधि में स्वामी श्रद्धानन्द का काफी समय गुरुकुल काँगड़ी की स्थापना, निर्माण और विकास में लगा था। अतः उन्होंने अपने पिता के जीवन के संस्मरणों के माध्यम से गुरुकुल काँगड़ी के आरम्भिक इतिहास को बड़े सजीव रूप में प्रस्तुत किया है और बाद में स्वामीजी द्वारा दिल्ली में किये गए राजनैतिक कार्यों और बलिदान का बड़ा भावपूर्ण वर्णन किया है। इस विषय में उनकी दूसरी प्रधान कृति 'मैं इनका ऋणी हूँ' (१९५७ ई०) है। इसमें राजनैतिक, साहित्य आदि विभिन्न क्षेत्रों के पन्द्रह महापुरुषों के संस्मरण संकलित हैं। इन संस्मरणों के माध्यम से उन्होंने इन महापुरुषों के चरित्र की विशेषताएँ जिस ढंग से उजागर की हैं, वे वस्तुतः अद्वितीय हैं। मोतीलाल नेहरू की ओजस्विता और दिल्ली के प्लेटफॉर्म से उस समय तक गाड़ी न चलने देना जब तक उनके लिए नया फर्स्ट क्लास का डिब्बा न जोड़ा जाय, मालवीयजी की उदारता और वाक्पटुता तथा ट्रेन पर कभी समय पर न पहुँचने की आदत का बड़ा मनोरंजक चित्रण हुआ है। डॉक्टर अंसारी, शिवप्रसाद गुप्त और प्रेमचन्द के बारे में उनके संस्मरण बड़े मार्मिक हैं।

उन्होंने अन्य व्यक्तियों के संस्मरणों के साथ-साथ अपने जीवन के भी कुछ मधुर संस्मरण तीन छोटी पुस्तकों में लिखे हैं। १९१९ ई० में रॉलट एक्ट आन्दोलन ने दिल्ली के जन-जागरण का चित्रण 'दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन' में किया गया है। उनके कारागार-विषयक अनुभव 'मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव' में संकलित हैं। बीमार पड़ने पर वे डॉक्टर के चक्कर में कैसे फँसे और उससे कैसे निकले, इसका उल्लेख उनकी पुस्तक 'चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला' में है। अपने पत्रकार-जीवन के अनुभव उन्होंने 'पत्रकारिता के अनुभव' में लिखे हैं।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के संस्मरण की पुस्तक 'यादें' भी हिन्दी साहित्य में विशिष्ट महत्त्व रखती है। इसमें सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक तथा उनके बालसखा डॉक्टर शांति-स्वरूप भटनागर, पण्डित जवाहरलाल नेहरू, मिसेज जिन्ना के संस्मरण अद्वितीय हैं। उन्होंने लिखा है कि मिसेज जिन्ना के मॉडल पर ही उन्होंने वैशाली की नगरवधू में अम्ब-पाली का चित्रण किया था। इस पुस्तक के अतिरिक्त उनकी 'रोमांस के क्षण' और 'यादों की परछाइयाँ' भी अत्यधिक रोचक संस्मरण-ग्रन्थ हैं।

सुप्रसिद्ध समीक्षक डॉक्टर नगेन्द्र ने 'चेतना के बिम्ब' (१९६७ ई०) में १० स्मृति-

चित्र प्रस्तुत किये हैं। इनमें बालकृष्ण शर्मा नवीन, स्वर्गीया होमवती देवी, राष्ट्रपति राजेन्द्र प्रसाद और श्रीमती महादेवी वर्मा के संस्मरण अत्यधिक भावपूर्ण हैं। श्रीमती महादेवी के भाषण के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है—"जैसे पूनम की चाँदनी से झलमल गंगा की धारा फूलों से भरी घाटियों में होकर बह रही हो।" इसका अन्तिम संस्मरण अपने बारे में है। इसका शीर्षक है—'शिकायत है नगेन्द्र को डॉक्टर नगेन्द्र' यह आत्म-विश्लेषणपरक है। इसमें लेखक ने अपने स्वभाव की मुख्य विशेषताओं का अतीव मार्मिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। कानपुर डी० ए० वी० कॉलेज के प्रिंसिपल दीवान-चन्द्र ने मानसिक चित्रावली (१९६० ई०) में अपने लम्बे शैक्षिक जीवन की घटनाओं को सुन्दर संस्मरणों के रूप में प्रस्तुत किया है। सुप्रसिद्ध कांग्रेसी नेता महावीर त्यागी (३१ दिसम्बर १८९९ से २२ मई १९८०) ने राष्ट्रीय आन्दोलन तथा सामाजिक जीवन के कुछ पहलुओं को अपनी संस्मरण को दो पुस्तकों—'वे क्रान्ति के दिन' और 'मेरी कौन सुनेगा' में प्रस्तुत किया है। इसमें गांधी, नेहरू तथा पटेल के अनूठे संस्मरण हैं। राहुल सांकृत्यायन ने 'जिनका मैं कृतज्ञ' में उन पर प्रभाव डालने वाले व्यक्तियों के सुन्दर रेखा-चित्र प्रस्तुत किये हैं। श्री यशपाल के 'फाँसी के फंदे तक' भी बड़ा सुन्दर संस्मरण-ग्रन्थ है।

रेखाचित्र भी साहित्य की एक महत्त्वपूर्ण विधा है। जिस प्रकार एक चतुर चितेरा थोड़ी-सी रेखाओं से ही एक सुन्दर चित्र बनाने में समर्थ होता है, उसी प्रकार कुशल लेखक कम-से-कम शब्दों में किसी व्यक्ति का सुन्दर शब्द-चित्र हमारे मानस-पटल के सम्मुख प्रस्तुत कर देता है। आर्यसमाज के सर्वोत्तम रेखाचित्रकार पण्डित पद्मसिंह शर्मा और इन्द्र विद्यावाचस्पति थे। पण्डित इन्द्र की पुस्तक 'जीवन ज्योति' में १३ रेखा-चित्र हैं। श्रीमती सत्यवती मल्लिक की रचना 'दो फूल' रेखाचित्रों की दृष्टि से उल्लेख-नीय है। उन्होंने 'अमिट रेखाएँ' में भी अनेक मर्मस्पर्शी रेखाचित्र लिखे हैं। इसमें उनकी माता जी का रेखाचित्र सर्वोत्तम है। उन्होंने पंजाबी कहावत 'आपणियाँ मावाँ ठंडियाँ छावाँ' अर्थात् अपनी माँ शीतल छाया होती है के भाव को बड़े सुन्दर शब्दों में व्यक्त किया है।

(७) यात्रा-साहित्य

आर्यसमाज में यात्रा-साहित्य के भी अनेक उत्कृष्ट लेखक हुए हैं। आर्यसमाज में सबसे पहला यात्रा विवरण लिखने का श्रेय एक महिला को है। डॉक्टर सुरेन्द्र माथुर के अन्वेषण के अनुसार हिन्दी में यात्रा-सम्बन्धी प्रथम मुद्रित पुस्तक श्रीमती हरदेवी की लन्दन यात्रा है[1]। श्रीमती हरदेवी लाहौर के सुप्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता और बैरिस्टर रोशन लाल की पत्नी थीं। वे अपनी पत्नी के साथ लन्दन गए थे और वहाँ उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की थी। उनकी पत्नी को लिखने का शौक था। वे भगिनी नामक एक पत्रिका निकाला करती थीं। उन्होंने अपनी लन्दन-यात्रा का विवरण लिखा। इसके बाद दूसरी यात्रा-सम्बन्धी पुस्तक स्वामी भास्करानन्द की है। इसका शीर्षक है—'श्री स्वामी भास्करानन्द सरस्वती जी की विलायत यात्रा'। ये जोधपुर-नरेश की सहायता से उद्योग-धन्धों को सीखने के लिए इंग्लैण्ड और अमेरिका गए थे। ये दोनों यात्रा-सम्बन्धी

१. सुरेन्द्र माथुर—'यात्रा और साहित्य का उद्भव और विकास'

पुस्तकें तथ्यप्रधान और इतिवृत्तात्मक हैं, इनमें सरलता और रोचकता बहुत कम है।

इस दृष्टि से ठाकुर गदाधरसिंह (१८६९–१९२० ई०) के यात्रा-विवरण उल्लेखनीय हैं। कानपुर जिले के चन्देलवंशी क्षत्रिय परिवार में जन्म लेने वाले श्री सिंह सत्रह वर्ष की आयु में ही ब्रिटिश सेना में भरती हो गए थे। १८८७ ई०में आपने वर्मा की लड़ाई में भाग लिया। सात वर्ष बाद सेना में शिक्षक और १८९६ ई० में राजपूत पल्टन में सूबेदार मेजर बन गए। १९०० में आप अपनी फौज के साथ चीन गए। १९०२ में इंग्लैण्ड में संपन्न हुए एडवर्ड सप्तम के राज्याभिषेक समारोह में भारतीय सेना के प्रतिनिधि के रूप में भी आप सम्मिलित हुए। इस प्रकार आपको विदेशों में यात्रा करने का बहुमूल्य अवसर मिला। आपने अपनी विदेश यात्रा के अनुभवों को 'चीन में तेरह मास' (१९०१) और 'हमारी एडवर्ड तिलक यात्रा' (१९०३ ई०) में बड़े रोचक रूप में लिखा।

आप महर्षि दयानन्द के अनन्य अनुयायी थे और इसी कारण सैनिक होते हुए भी आपने समाज की दुरवस्था देखकर अंग्रेजों की कटु आलोचना की थी और काफी व्यंग्यपूर्ण शैली में अंग्रेजों द्वारा देश के शोषण पर आक्रोश प्रकट करते हुए लिखा था—"दिन-दहाड़े लूटनेवाले विदेशियों का कोई कसूर नहीं। क्योंकि सुना है उनके राज्य में सूर्य अस्त नहीं होते हैं। तब वे बेचारे अंधेरे में लूट ही कैसे कर पाते!" (चीन में १३ मास, पृष्ठ १८२) सरस्वती पत्रिका ने इस पुस्तक की आलोचना करते हुए लिखा था कि हिन्दी में अब तक हमने ऐसी पुस्तक नहीं देखी है। पण्डित शुकदेव विहारी मिश्र ने इसे उपन्यास की भाँति रोचक बताया था। उपर्युक्त यात्रा-पुस्तकों के अतिरिक्त आपने 'रूस-जापान युद्ध', 'विलायती रमण', 'विलायती दम्पती', 'बुद्धदेव दर्शन', 'युद्ध और शान्ति परिचय' नामक कई पुस्तकें लिखी थीं।

हिन्दी में यात्रा-साहित्य लिखनेवालों में स्वामी सत्यदेव परिव्राजक का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वे सच्चे अर्थों में अधिकांश जीवन में परिव्राजक अथवा पर्यटक रहे। उन्होंने अपने जीवन के लगभग चालीस वर्ष निरन्तर यात्रा करते हुए बिताए थे। संयुक्त राज्य अमेरिका, कैलास, मानसरोवर, जर्मनी, यूरोप उनकी यात्राओं का प्रमुख आकर्षण-केन्द्र थे। पहली जनवरी १९०५ को केवल पन्द्रह रुपये लेकर उन्होंने अमेरिका के लिए प्रयाण किया। अमेरिका पहुँचने पर वे अपने यात्रा-विषयक अनुभव और लेख नियमित रूप से सरस्वती पत्रिका में भेजने लगे। इसका उस समय की तरुण भारतीय पीढ़ी पर विलक्षण प्रभाव पड़ा। इसी समय से वे प्रसिद्ध लेखक बने। उन्होंने अपनी यात्राओं के विवरण निम्नलिखित पुस्तकों में लिखे हैं—अमेरिका प्रवास की मेरी अद्भुत कहानी, अमेरिका भ्रमण, अमेरिका दिग्दर्शन, मेरी कैलास यात्रा, मेरी जर्मन यात्रा, यूरोप की सुखद स्मृतियाँ, यात्री मित्र।

स्वामी सत्यदेव १९०५ ई० में जब अमेरिका गए तो उन्हें कोई नहीं जानता था, किन्तु जब १९११ ई० में वे नई दुनिया से स्वदेश लौटे तो सरस्वती में प्रकाशित अपने लेखों के कारण वे हिन्दी जगत् में सुप्रसिद्ध हो चुके थे। अमेरिका से लौटने के बाद उन्होंने १९१५ में कैलास और मानसरोवर की कठिन यात्रा की और इसका बड़ा सुन्दर देशभक्तिपूर्ण वर्णन लिखा। यह निम्नलिखित अवतरण से स्पष्ट हो जाएगा—

"२१८५० फीट ऊँचे इस कैलास की महिमा का वर्णन क्या कोई कर सकता है? किस गौरव के साथ उन्नत मुख किये, यह चारों ओर देख रहा है! इसकी दृष्टि अपने

प्यारे भारत पर पड़ रही है, जहाँ उसकी प्रतिकृति बनाकर करोड़ों आत्माएँ 'हर-हर महादेव' की ध्वनि कर अपने को धन्य मानती हैं। दूर चीन, जापान, स्याम, ब्रह्मा, लंका आदि देशों से बौद्ध धर्मावलम्बी इसकी परिक्रमा करने आते हैं। कैलास का यह विश्व-कर्मा-रचित मन्दिर उस दिन की प्रतीक्षा कर रहा है, जब स्वाधीन भारत के बच्चे चीन, जापान के बच्चों के साथ प्रेमालिंगन करते हुए, इसकी परिक्रमा करेंगे।"[1]

स्वामी सत्यदेव का यात्रा-वृत्तान्त हिन्दी में इतना लोकप्रिय हुआ कि इन पुस्तकों की बिक्री से ही लेखक को अपनी यात्राओं का सम्पूर्ण व्यय प्राप्त हो गया। उनकी पुस्तकों में सबसे अधिक लोकप्रिय अमेरिका के यात्रा-विवरण थे। अमेरिका-दिग्दर्शन के तीन संस्करण १९२२ तक छप चुके थे। अपनी आत्मकथा 'स्वतन्त्रता की खोज में' भी उन्होंने अपने जीवन की अनेक यात्राओं का सुन्दर वर्णन किया है।

आर्यसमाज के कुछ प्रचारकों ने विदेशों में अपनी प्रचार-यात्रा के रोचक संस्मरण लिखे हैं। इनमें मौलवी महेशप्रसाद आलिमफाजिल की ईरान यात्रा (१९३० ई०) उल्लेखनीय है। इसमें इस देश के नागरिक जीवन, देहातों और खानाबदोशों का सुन्दर वर्णन है। पण्डित रुचिराम का 'अरब में साल साल' अद्भुत एवं रोमांचक संस्मरणों से परिपूर्ण है (१९३८ ई०)। स्वामी सर्वदानन्द परिव्राजक ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के मलय आदि देशों का वर्णन 'एशिया का वेनिस' (१९३९ ई०) नामक पुस्तक में किया है। कन्हैयालाल मिश्र आर्योपदेशक ने 'इराक की यात्रा' लिखी है। १९५१ ई० में स्वामी स्वतन्त्रतानन्द ने 'विदेशों में एक साल' नामक यात्रा-पुस्तक में पूर्वी अफ्रीका और मारीशस का बड़ा रोचक विवरण प्रस्तुत किया था। श्री सन्तराम बी० ए० ने 'देश-विदेश यात्रा' और आचार्य भगवान्देव ने 'मेरी रूस यात्रा के संस्मरण' नामक पुस्तक लिखी है।

पण्डित तोताराम सनाढ्य की यात्रा पुस्तक 'फिजी में मेरे इक्कीस वर्ष' बड़ा ऐतिहासिक महत्त्व रखती है। आगरा जिले के हिरनगौ गाँव में उत्पन्न श्री सनाढ्य (१८७६–१९४८ ई०) सोलह वर्ष की आयु में अंग्रेज एजेण्टों के बहकावे में फिजी द्वीप में चले गए थे। २१ वर्ष वहाँ बिताने के बाद जब १९१३ में आप भारत आए तो फिरोजाबाद में बस गए। यहाँ पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी से १५ जून १९१४ को आपका परिचय हुआ और चतुर्वेदीजी ने आपको अपने फिजी द्वीप के अनुभवों को लिखने का अनुरोध किया। तोतारामजी ने कहा कि "मैं कोई लेखक तो नहीं, अगर कोई लिखनेवाला मिल जाए तो मैं उसे अपने अनुभव सुना सकता हूँ।" कुछ देर बातचीत करने के बाद यह निश्चित हुआ कि १५ दिन तक पण्डित तोताराम नित्यप्रति चतुर्वेदी जी को उनके निवास पर जाकर अपने अनुभव सुनायें और चतुर्वेदीजी उन्हें लेखबद्ध कर दें। इस प्रकार उनके फिजी-प्रवास की कहानी लिपिबद्ध हुई और 'फिजी में २१ वर्ष' के नाम से प्रकाशित हुई।

इस पुस्तक के प्रकाशित होने पर बड़ी हलचल मच गई। इस पुस्तक में फिजी में अंग्रेजों द्वारा भारतीय मजदूरों पर किये जानेवाले भीषण अत्याचारों का जनता को पहली बार प्रामाणिक परिचय मिला और फिजी आदि द्वीपों में भारतीयों को बहकाकर और फुसलाकर ले जानेवाली गिरमिट प्रथा के विरुद्ध प्रबल आन्दोलन शुरू हुआ। उस

---

१. मेरी कैलास यात्रा—स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, पृष्ठ ९५।

समय भोले-भाले भारतीयों को सब्जबाग दिखाकर ब्रिटिश पूँजीपतियों के कारिन्दों द्वारा उन्हें निश्चित समय के लिए स्वेच्छापूर्वक विदेश जाने के एक समझौते (एग्रीमेण्ट) के कानूनी कागज पर हस्ताक्षर करा लिये जाते थे। इससे फिजी, पूर्वी अफ्रीका आदि में कुछ वर्षों के लिए भारतीय भूदासों के रूप में अंग्रेज पूँजीपति के गन्नों के विशाल फार्मों पर नाममात्र की मजदूरी पर काम करने के लिए कानूनी रूप से बाधित हो जाते थे। एग्रीमेण्ट में निश्चित वर्षों की अवधि पूरी होने पर ही वे स्वदेश लौट सकते थे। अतः यह गिरमिट प्रथा कहलाती थी और इसके अन्तर्गत जानेवाले भारतीय 'गिरमिटिया मजदूर' या 'शर्तबन्द कुली' के नाम से प्रसिद्ध थे। तोताराम सनाढ्य की फिजी प्रवास की कहानी उस समय इतनी लोकप्रिय हुई कि बंगला, गुजराती, मराठी, उर्दू में इसके अनुवाद हुए। मैथिलीशरण गुप्त ने इससे प्रेरणा प्राप्त करके 'किसान' नामक लघु काव्य लिखा। प्रसिद्ध कवयित्री सुभद्राकुमारी चौहान के पति ठाकुर लक्ष्मणसिंह चौहान ने इसके आधार पर 'कुली-प्रथा' नामक नाटक की रचना की और जब यह कानपुर के प्रताप पत्र में छपा तो सरकार ने इसे जब्त कर लिया। लोकमान्य तिलक ने 'केसरी' में इस विषय में दो लेख लिखे और इस प्रथा के विरुद्ध कांग्रेस तथा गांधीजी द्वारा इतना प्रबल आन्दोलन किया गया कि ब्रिटिश सरकार को गिरमिट-पद्धति बन्द करनी पड़ी। हिन्दी में सम्भवतः इतना प्रबल प्रभाव और परिणाम उत्पन्न करनेवाली यही एकमात्र 'यात्रा पुस्तक' है।

राहुल सांकृत्यायन आजीवन घुमक्कड़ बनकर विभिन्न देशों की साहसिक यात्राएँ करते रहे। उन्होंने अपनी यायावरी में चारों ओर की परिस्थितियों का सूक्ष्म निरीक्षण किया और विभिन्न स्थानों तथा प्रदेशों का भौगोलिक, ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परिचय देते हुए उच्च कोटि का साहित्य लिखा। उनसे पहले सम्भवतः हिन्दी में किसी व्यक्ति ने इतनी अधिक मात्रा में यात्रा-साहित्य नहीं लिखा था। उनकी यात्रा-विषयक प्रमुख पुस्तकें निम्नलिखित हैं—लंका, यात्रा के पन्ने (१९३२ ई०), तिब्बत में सवा वर्ष (१९३३ ई०), मेरी यूरोप यात्रा (१९३५ ई०), मेरी तिब्बत यात्रा (१९३७ ई०), मेरी लद्दाख यात्रा (१९३९ ई०) किन्नर देश (१९४८ ई०), घुमक्कड़ शास्त्र (१९४९), जापान, ईरान, रूस में पच्चीस मास (१९५२ ई०), चीन में क्या देखा (१९५८ ई०), एशिया के दुर्गम भू-खण्डों में (१९६३ ई०)। इसके अतिरिक्त देशदर्शन के रूप में उन्होंने दार्जिलिंग परिचय, हिमालय परिचय, गढ़वाल, कुमाऊँ, जौनसार तथा आजमगढ़ की पुराकथा लिखी है।

रामनारायण मिश्र ने यूरोप में छह मास और डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने 'यूरोप के पत्र' नामक यात्रा-पुस्तक पत्र-शैली में लिखी है। श्रीमती सत्यवती मल्लिक की 'कश्मीर की सैर' सुन्दर रचना है।

हिमालय के विभिन्न तीर्थों पर महावीरसिंह गहलोत की यात्रा-पुस्तकें विशेष महत्त्व रखती हैं। उनकी प्रमुख रचनाएँ 'हिमालय दर्शन', 'केदारनाथ दर्शन', 'बद्रीनाथ दर्शन', 'यमुनोत्री दर्शन' और 'गंगोत्री दर्शन' हैं। इनमें इन स्थानों के प्राचीन इतिहास, भूगोल, यहाँ उत्पन्न होनेवाली विचित्र जड़ी-बूटियों तथा लोकजीवन का बड़ा सरस वर्णन है। १९६२ में प्रकाशित आचार्य धर्मेन्द्रनाथ की 'मेरी गंगा यात्रा' में भूगोल के नीरस वर्णन को उपन्यास की-सी रोचकता में लिखा गया है। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। पहाड़ी प्रदेश में बोझा ढोनेवाले कुली के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए लेखक

ने यह मत प्रकट किया है—"पहाड़ पर बोझी सिर्फ कुली नहीं है, वह पथ-प्रदर्शक और सारथी भी है। अगर वह चाहे तो शल्य की तरह रथी को निस्तेज भी कर सकता है और चाहे तो कृष्ण की तरह 'क्लैव्यं मा स्म गमः' का उपदेश देकर हिम्मत भी बंधा सकता है।" (मेरी गंगा यात्रा, आचार्य धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री, पृ० २१)। डॉक्टर नगेन्द्र ने 'तन्त्रालोक से यन्त्रालोक' तथा 'अप्रवासी की यात्राएँ' नामक पुस्तकें लिखी हैं। मेरठ के विश्वम्भर सहाय प्रेमी द्वारा लिखित 'गंगोत्री' और 'यमुनोत्री' भी उत्कृष्ट यात्रा-साहित्य हैं।

(८) वन्य जीवन तथा शिकार-सम्बन्धी साहित्य

हिन्दी में इस साहित्य के पहले यशस्वी लेखक पण्डित श्रीराम शर्मा थे। उन्होंने वनों में आखेट के बड़े रोमांचक विवरण प्रस्तुत किये हैं। इनके बाद इस क्षेत्र में तीन अन्य लेखक उल्लेखनीय हैं—श्री विराज, श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार तथा रामेश वेदी। ये सभी गुरुकुल काँगड़ी के स्नातक हैं। गंगा और हिमालय के वनों का उन्होंने खूब भ्रमण किया है और इनके अतीव रोचक विवरण लिखे हैं। श्री विराज द्वारा वन्य जीवन से सम्बन्धित प्रमुख कृतियाँ हैं—हाथियों की खोज में, जंगल के रहस्य, जंगल की बातें, वनराज के राज में, हाथियों का खेदा, वे चिंघाड़ते हाथी और भारत के प्रमुख साँप। उनके मतानुसार प्रकृति की गोद में हमारा मन उदात्त भावनाओं से परिपूर्ण हो जाता है। उनके साहित्य का उद्देश्य मनुष्य में प्राकृतिक जीवन के प्रति प्रेम जागृत करके उसे उदार बनाना है। इनके साहित्य में वन्य प्राणियों के स्वभाव का सूक्ष्म निरीक्षण पाया जाता है।

श्रीनिधि सिद्धान्तालंकार ने अपनी शिक्षा-दीक्षा शिवालिक पर्वत की उपत्यका के वनों से घिरे गुरुकुल काँगड़ी के तपोवन में पूर्ण की थी। उसके बाद भी उन्हें इस जीवन का इतना प्रबल आकर्षण बना रहा कि वे यहाँ आकर वर्षों तक इसके अपूर्व आनन्द का उपभोग करते रहे। उनके शब्दों में इस प्रदेश के ऊँचे पेड़ों पर बँधे मचान पर पहुँचकर वे मृत्युलोक की सभी चिन्ताओं और दुःखों से मुक्त होकर अद्भुत मोक्षभाव में पहुँचने की प्रसन्नता और आह्लाद की अनुभूति करते हैं। वन्य जीवन के प्रति उन्हें इतना मोह है कि वे दूसरों को इसका आनन्द उठाने के लिए 'आरण्यक संघ' की स्थापना करते हैं। उन्होंने अपने वन्य जीवन का निचोड़ तीन प्रसिद्ध पुस्तकों में लिखा है—मालिनी के वनों में, शिवालिक की घाटियों में तथा मचान पर ४६ दिन।

उनकी पुस्तकों में वन्य प्राणियों की विभिन्न आदतों—शेर की मक्कारी, अद्भुत श्रवण शक्ति, वन में सोते या जागते शेर की उपस्थिति में विभिन्न संकेतों, वनस्पतियों, पशु-पक्षियों की विस्तृत जानकारी मिलती है। उन्होंने अपने कुछ अनुभव उपन्यास से भी अधिक रोचक शैली में लिखे हैं। इनमें कहीं साँप को दूध पिलानेवाली हिरणी का प्रसंग है, कहीं हाथी की प्रेमिका का अद्भुत चातुर्य है।

उन्होंने अपनी कृति 'मालिनी के वनों में' एक बड़ी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक खोज की है। इसमें अनेक प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया है कि कालिदास की शकुन्तला कण्व ऋषि के जिस आश्रम में रहती थी वह मालिनी नदी के गंगा के साथ संगम के निकट चौकी घाटा में अवस्थित था। शतपथ, महाभारत और पुराणों के प्रमाणों के आधार पर

उन्होंने अपने मत की पुष्टि इतनी सफलतापूर्वक की कि इस पुस्तक के प्रकाशित होते ही उत्तर प्रदेश के मुख्यमन्त्री डॉक्टर सम्पूर्णानन्द ने चौकी घाटा को कण्व आश्रम मान लिया और वहाँ महर्षि कण्व का स्मारक भी स्थापित कर दिया गया। उनकी 'शिवालिक की घाटियों में' नामक रम्य रचना उत्तर प्रदेश शासन द्वारा पुरस्कृत भी हुई है।

हिन्दी में पत्र एवं डायरी साहित्य का बहुत कम विकास हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती और पण्डित पद्मसिंह शर्मा अच्छे पत्रलेखक थे। पण्डित भगवद्दत्त रिसर्च स्कॉलर ने 'ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन' में स्वामी जी के पत्रों का सुन्दर संकलन किया है। पण्डित बनारसीदास चतुर्वेदी और डॉक्टर हरिशंकर शर्मा ने पद्म-सिंह शर्मा के पत्रों का सम्पादन किया है। श्री शर्मा को पत्र-लेखन का व्यसन था और बहुत बड़ी संख्या में पत्र लिखा करते थे। उनके पत्र उनकी विशिष्ट साहित्यिक शैली से ओतप्रोत हैं।

हिन्दी में दैनन्दिनी या डायरी-लेखन का पहला उदाहरण १९३० ई० में पण्डित नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ की जेल डायरी है। यह बड़ी रोचक है। डॉक्टर धीरेन्द्र वर्मा ने अपने छात्र जीवन के सात वर्षों की डायरी प्रकाशित की है। यह उनके किशोरावस्था के बहुमूल्य वर्षों का बढ़िया लेखा-जोखा है। इस विधा का नवीनतम उदाहरण डॉक्टर प्रशान्त कुमार वेदालंकार की आपातकाल की जेल-यात्रा में लिखी 'आपातकाल के १९ महीने—मेरी जेल दैनन्दिनी' है। इसमें जेल-जीवन की जीती-जागती झाँकी और आपातकाल की अंधकारपूर्ण स्थिति को साहित्य में सजीव बनाए रखने का प्रशंसनीय प्रयास किया गया है।

श्री रामेश वेदी का वन्य जीवन पर लिखा जितना अच्छा, अधिक और सुन्दर साहित्य है, उतना बहुत कम लेखकों का होगा। हिन्दी में इस विषय में उनकी बीस रचनाएँ हैं। इनमें प्रमुख हैं—साँपों की दुनिया (१९५१), अजगर (१९६३), गजराज (१९६९), गैण्डा (१९६९), सिंह (१९७३), वन्य जीवों का संसार (१९७७), मोर (१९७९), कबूतर (१९८०), जंगल की बातें (१९८०), कार्बेट नेशनल पार्क (१९८२), हमारे प्यारे जीव (१९८२), कार्बेट नेशनल पार्क में जीवजन्तु एवं वनस्पतियाँ (१९८३), साँपों का संसार (१९८४)। इनमें अधिकांश रचनाएँ विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित हुई हैं। ये हिन्दी जगत् के उन इने-गिने प्रकृति-प्रेमियों में हैं जिन्होंने अपना सारा जीवन वन्य जीवों के अध्ययन और उनके संरक्षण में समर्पित कर दिया है। वे न केवल वन्य-प्राणियों पर लिखनेवाले सिद्धहस्त लेखक हैं, अपितु कुशल फोटोग्राफर भी हैं और उनके सुपुत्र नरेश वेदी ने गंगा के घड़ियालों पर फोटो खींचकर १९८५ में विश्व के सर्वोत्तम वन्य जीवन फोटोग्राफर का पुरस्कार प्राप्त किया है।

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आर्यसमाज ने हिन्दी साहित्य के विभिन्न अंगों की समृद्धि में पर्याप्त सहयोग दिया है। वैदिक साहित्य, इतिहास, राजनीति, अनुवाद, यात्रा एवं वन्य जीवन के वाङ्मय के विकास में आर्यसमाज के लेखकों का अविस्मरणीय और विशिष्ट योगदान है।

(९) आयुर्वेद

यह अथर्ववेद का उपवेद है, अतः आर्यसमाज द्वारा स्थापित गुरुकुलों में इस

कारण तथा जीविकोपार्जन की दृष्टि से अर्थकरी विद्या होने से इसके अध्ययन-अध्यापन और अनुसंधान की ओर विशेष ध्यान दिया गया। इन संस्थाओं से पढ़कर निकले स्नातक जहाँ एक ओर पीयूषपाणि वैद्य और सफल चिकित्सक हुए, वहाँ दूसरी ओर अनेक स्नातकों ने न केवल आयुर्वेद की पुरानी संहिताओं, चरक-सुश्रुत आदि पर बड़ी विद्वत्तापूर्ण, छात्रोपयोगी और समयानुकूल टीकायें और भाष्य लिखे, अपितु उन्होंने आयुर्वेद-विषयक अनेक मौलिक ग्रन्थों का सृजन किया और इसकी विभिन्न शाखाओं पर स्वतन्त्र रचनाएँ भी लिखीं। ये इतनी उच्चकोटि की थीं कि इनमें से अनेक रचनाएँ विभिन्न सरकारों तथा संस्थाओं द्वारा उच्चतम पुरस्कारों से सम्मानित और समादृत हुईं।

आर्यसमाज की शिक्षा-संस्थाओं में आयुर्वेद की शिक्षा की ओर सबसे पहला पग आर्य जगत् के सुप्रसिद्ध शिक्षणालय गुरुकुल काँगड़ी में उठाया गया। लाला मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) जी ने गुरुकुल की स्थापना करते समय प्राचीन भारतीय संस्कृति के पुनरुद्धार के साथ-साथ प्राचीन चिकित्सा-पद्धति के उद्धार का भी संकल्प लिया था, फलत: सन् १९१४ के लगभग गुरुकुल में स्नातक कक्षाओं में वैकल्पिक विषय के रूप में आयुर्वेद का पाठ्यक्रम भी पढ़ाया जाने लगा। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, त्यों-त्यों छात्रों में आयुर्वेद के प्रति बढ़ती हुई रुचि को देखकर पृथक् से एक आयुर्वेद विद्यालय खोलने की आवश्यकता अनुभव होने लगी और १९२४ में इसकी स्थापना कर दी गई। इस महाविद्यालय से शिक्षा समाप्त करके निकलनेवाले अनेक स्नातकों ने आयुर्वेद के क्षेत्र में गम्भीर विचारक, लेखक, अन्वेषक तथा विद्वान् के रूप में पर्याप्त प्रसिद्धि पायी है और हिन्दी में आयुर्वेद साहित्य को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। यहाँ इनमें से कतिपय महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों का उल्लेख किया जाएगा।

वैद्य धर्मदत्त विद्यालंकार (जन्म १८९४ ई०) आयुर्वेद के धुरन्धर विद्वान् एवं लेखक हैं। आपने आयुर्वेद द्रव्यगुण विज्ञान, त्रिदोष विमर्श, आधुनिक चिकित्सा शास्त्र, त्रिदोष संग्रह, तथा आयुर्वेदिक इण्टरप्रिटेशन आफ मेडिसिन नाम से गवेषणात्मक और महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। आयुर्वेद द्रव्यगुण विज्ञान में पाश्चात्य विज्ञान के साथ आयुर्वेद का समन्वय बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। यह पुस्तक इस विषय की प्रथम पुस्तक है। आपकी आधुनिक चिकित्सा शास्त्र और त्रिदोष संग्रह क्रमश: १९६६ई० और १९६८ ई० में उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत की जा चुकी हैं। त्रिदोष विमर्श आपकी संस्कृत में लिखी कृति है। इसके अतिरिक्त आपने 'प्राचीन भारत में स्वराज्य', ओषधि विज्ञान, हिन्दी गीता और संगीत संध्या लिखी हैं। आप चिरकाल तक गुरुकुल काँगड़ी के आयुर्वेद महाविद्यालय में चिकित्सक, उपाध्याय तथा प्रधानाचार्य रहे। आयुर्वेद के क्षेत्र में आपकी सेवाओं को दृष्टि में रखते हुए १९७२ में आपका गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय में सार्वजनिक सम्मान करते हुए अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया गया। १९७५ में आप इसी विश्वविद्यालय से विद्यामार्त्तण्ड की मानद उपाधि से सम्मानित हुए। दस वर्ष बाद आप दिवंगत हुए।

आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थों के व्याख्याकार श्री विद्याधर विद्यालंकार (१८९६ से १३ जू० १९६५) ने योग रत्नाकर, भैषज्य रत्नावली, रसेन्द्रसारसंग्रह, रसतरंगिणी, गूढ-निग्रह, अनुभूतयोगमाला, भावप्रकाश का संस्कृत से हिन्दी में अनुवाद किया है। ये ग्रन्थ

काफी लोकप्रिय हुए। इन पर आपको अनेक विशिष्ट पुरस्कार भी प्राप्त हुए हैं। आप आयुर्वेद के महान् ग्रन्थ रसगंगाधर का अनुवाद पूरा करना चाहते थे, किन्तु जीवनयात्रा के पूर्ण होने के कारण यह अपूर्ण ही रह गया। आयुर्वेद के ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत के कुछ ग्रन्थों—शिशुपालवध, रघुवंश (प्रथम सर्ग), किरातार्जुनीयम् (११वाँ सर्ग) का भी अनुवाद किया, राजेश्वरी (कहानी संग्रह), पवित्र पापी, जय पराजय (उपन्यास), सुखी जीवन, स्वास्थ्य रक्षा नामक पुस्तकें लिखी हैं।

श्री जयदेव विद्यालंकार ने आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थों के प्रामाणिक अनुवाद एवं टीकाएँ की हैं। आपने लाहौर के कविराज नरेन्द्र नाथ मिश्र की प्रेरणा से 'भैषज्य रत्नावली' का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया, जिसमें ओषधि की मात्रा, उसके विषय में आवश्यक सूचनाएँ, विशेष निर्देश, पाठभेद आदि दिये गए हैं। यह अपने ढंग की निराली टीका थी। इसके बाद आपने अपने पिछले अनुभवों से लाभ उठाकर चरकसंहिता और चिकित्साकलिका का भी अनुवाद किया। अनुवादों के अतिरिक्त आपने आयुर्वेद-विषयक दो प्राचीन ग्रन्थों—रसहृदयतन्त्र और रसेन्द्र चूड़ामणि के संशोधित तथा टिप्पणीयुक्त संस्करण प्रकाशित किये। आप द्वारा सम्पादित चक्रदत्त की शिवदास सेन टीका काफी महत्त्वपूर्ण है।

आयुर्वेद शास्त्र के पारंगत विद्वान् भिषग्रत्न श्री अत्रिदेव गुप्त विद्यालंकार (१९०२ ई० ने १५० पृष्ठों से लेकर १८०० पृष्ठों तक के लगभग ३० ग्रन्थों की रचना की है। शायद ही आयुर्वेद की कोई ऐसी संहिता बची होगी जिस पर आपने कार्य न किया हो। आपकी प्रथम पुस्तक जीवन-विज्ञान है जिसे आपने स्नातक होने के कुछ ही समय बाद लिखा था। आपने चरक संहिता, सुश्रुत संहिता, प्रत्यक्षशारीरम्, अष्टांगसंग्रह, अष्टांगहृदय, जीवानन्दम् नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का हिन्दी में अनुवाद तथा रसेन्द्रसार-संग्रह और रसरत्नसमुच्चय का सम्पादन किया है। साथ ही आपने मौलिक पुस्तकें भी लिखी हैं जिनमें चरक संहिता का अनुशीलन, संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद, आयुर्वेद का बृहत् इतिहास, शल्यतन्त्र, भैषज्य कल्पना, भारतीय रसपद्धति, हमारे भोजन की समस्या, धात्री शिक्षा, रसपद्धति, न्याय वैद्यक, प्राचीन भारत में प्रसाधन, स्वास्थ्य-विज्ञान, क्लिनिकल मेडिसिन, आत्रेय वचनामृत, योग चिकित्सा, घर का वैद्य, शल्यतन्त्र, स्त्रियों का स्वास्थ्य और रोग प्रमुख हैं। आपकी एक पुस्तक संस्कार विधि विमर्श भी है जिसमें सभी संस्कारों का आयुर्वेद की दृष्टि से महत्त्व प्रदर्शित किया गया है। आपकी अनेक रचनाएँ उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा पुरस्कृत हुई हैं।

गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी में लगभग ३५ वर्ष तक प्रधान वैद्य व निर्माण-विभाग के अध्यक्ष के रूप में (सन् १९२९ से १९६३ ई० तक) कार्य करनेवाले श्री सत्यदेव विद्यालंकार ने अपने अनुभवों के आधार पर आसव अरिष्ट नामक पुस्तक की रचना की। यह पुस्तक उस समय इस दृष्टि से अपने विषय की प्रथम रचना थी जिसमें आसव में मद्य की मात्रा जानने तथा निर्माण से सम्बन्धित अनेक महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ दी गई थीं।

वैद्य श्री निरंजन देव आयुर्वेदालंकार (१९०३ ई०) न केवल सिद्धहस्त लेखक व कवि हैं बल्कि आयुर्वेद के मर्मज्ञ विद्वान् भी हैं। आपने उत्तर प्रदेश की आयुर्वेदिक तिब्बी अकादमी की प्रार्थना पर प्राकृत दोष विज्ञान, प्राकृत अग्नि-विज्ञान और प्राकृत धातु-मलविज्ञान का प्रणयन किया है। आपकी एक पुस्तक संस्कृत व हिन्दी में आयुर्वेदीय

द्रव्यगुण विज्ञानम् नाम से प्रकाशित हुई है। आपकी ये सभी पुस्तकें विद्वानों द्वारा समादृत हुई हैं। इनके अलावा आपने पदार्थ विज्ञान पर आयुर्वेदोपयोगी पदार्थ विज्ञान नामक ग्रन्थ की भी रचना की है जो शीघ्र ही प्रकाशित होनेवाला है। आपने प्रियहंस एवं सव्यसाची के नाम से अनेक कविताएँ लिखी हैं, वेणी संहार तथा दशकुमारचरितम् का हिन्दी अनुवाद किया है।

डॉक्टर सत्यपाल आयुर्वेदालंकार का काश्यप संहिता का हिन्दी में अनुवाद अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है। इसमें आपने स्थान-स्थान पर आयुर्वेद के विविध ग्रन्थों के प्रमाण देकर विषय को पूरी तरह पुष्ट कर दिया है।

डॉक्टर इन्द्रसेन आयुर्वेदालंकार (जन्म २३ जुलाई १९०८ ई०) ने जहाँ एक ओर अनेक काव्य लिखे हैं, वहीं दूसरी ओर आयुर्वेद-विषयक कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकों की रचना भी की है। आपकी एक्स-रे, फिरंग रोग तथा पाश्चात्य चिकित्सासार नामक रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। टैक्सोनोमी पर आपकी एक पुस्तक एंजियोस्पर्मों की वर्गिकी हरियाणा अकादमी द्वारा प्रकाशित की गई है। आपने आयुर्वेद विषय पर कुछ अन्य पुस्तकें भी लिखी थीं जो दुर्भाग्यवश विभाजन के कारण पाकिस्तान में ही छूट गईं। आपने शेक्सपीयर, जूलियस सीजर का हिन्दी अनुवाद किया है। आप ७८ वर्ष की आयु में वैदिक, संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, अंग्रेजी के तुलनात्मक छन्दोविज्ञान पर एक पुस्तक लिख रहे हैं।

आयुर्वेद का अध्ययन-अध्यापन करनेवाला हर व्यक्ति वैद्य रणजीतराय आयुर्वेदालंकार (२ अक्टूबर १९१० ई०) के नाम से परिचित होगा। आपकी गणना देश के गिने-चुने आयुर्वेद-विशारदों में की जाती है। आपने आयुर्वेद के अनेक मौलिक ग्रन्थों की रचना करके आयुर्वेद साहित्य को समृद्ध करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। आयुर्वेदीय क्रिया शरीर पर आपको अखिल भारतीय महासम्मेलन और निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ से स्वर्ण पदक तथा लाला मदनमोहनलाल आयुर्वेद अनुसंधान पीठ दिल्ली से एक हजार रुपये का पारितोषिक प्राप्त हुआ है। निदान चिकित्सा हस्तामलक, आयुर्वेदीय पदार्थ विज्ञान, आयुर्वेदीय हितोपदेश आदि आपके विद्वत्तापूर्ण एवं गवेषणात्मक मौलिक ग्रन्थ हैं। इसके साथ ही पिछले ३० वर्ष से आप सचित्र आयुर्वेद पत्रिका में निरन्तर विविध विषयों पर लेख लिख रहे हैं।

औषधीय वनस्पतियों पर अनुसंधान में रुचि रखनेवाले तथा इनकी खोज में हिमालय की दुर्गम घाटियों में भटकनेवाले श्री रामेश वेदी आयुर्वेदालंकार (२० जून, १९१९ ई०) का नाम आयुर्वेद जगत् में उल्लेखनीय है। दीखने में छोटी, पर गुणों की खान आपकी पुस्तकें जन-जन में काफी लोकप्रिय हुई है। आपने वनस्पति-विषयक २४ पुस्तकों की रचना की है। आपकी त्रिफला, अंजीर, आँवला, अशोक, बरगद, हरड़, मिर्च, नारियल, नीम, बकायन, पलाश, पीपल, सर्पगन्धा, पपीता, तुलसी, सोंठ आदि पुस्तकें उल्लेखनीय हैं। आपकी अनेक कृतियाँ उ० प्र० शासन और अखिल भारतीय आयुर्वेदिक कांग्रेस द्वारा पुरस्कृत हो चुकी हैं।

आयुर्वेदाचार्य श्री ब्रह्मदत्त शर्मा आयुर्वेदालंकार (२७ जु० १९१९–१९८५) आयुर्वेद साहित्य के सुप्रसिद्ध विद्वान् लेखक हैं। आपने विकृति विज्ञान नाम से सात खण्डों में एक बृहद्ग्रन्थ के निर्माण की योजना बनाई है, जिसका १००० पृष्ठों का प्रथम खण्ड

प्रकाशित हो चुका है और दूसरा प्रेस में है। इस ग्रन्थ में रोग विज्ञान, त्रिदोष सिद्धान्त, रोग समाप्ति आदि विषयों पर प्राच्य-पाश्चात्य चिकित्सा-विशेषज्ञों के मतों का समन्वय प्रस्तुत किया गया है। यह ग्रन्थ आयुर्वेदिक एवं मेडिकल कॉलेजों के छात्रों व उपाध्यायों के लिए समान रूप से उपयोगी है। आपकी तुलसी नामक पुस्तक गांधी गीता मन्दिर आगरा द्वारा अखिल भारतीय तुलसी ग्रन्थ प्रतियोगिता में सर्वोत्तम पुस्तक के रूप में पुरस्कृत हो चुकी है। आपकी आर्शो रोग, नेत्र विज्ञान, अगदतन्त्र, शरीर रचना विज्ञान आदि पुस्तकें शीघ्र ही प्रकाश में आनेवाली हैं। आपके लगभग ५० से भी अधिक शोध-पूर्ण लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं।

श्री आत्मदेव विद्यालंकार (जन० १९०१ ई०) ने तिब्बिया कॉलेज दिल्ली की ओर से स्वस्थवृत्त, देहतत्त्व विज्ञान व रोगविकृतिविज्ञान नामक तीन महत्त्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद किया है।

कविराज पुरुषोत्तमदेव आयुर्वेदालंकार (१९ नव० १९१९ ई०) के आयुर्वेद-चिकित्सा के सम्बन्ध में लगभग २०० लेख भिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छप चुके हैं। आप आयुर्वेद महासम्मेलन पत्रिका के सम्पादक के रूप में आयुर्वेद जगत् की सेवा कर रहे हैं।

इनके अतिरिक्त श्री ब्रह्मदत्त विद्यालंकार की मांस मीमांसा, श्री देवराज विद्यावाचस्पति की जल चिकित्सा, श्री देशबन्धु विद्यालंकारकृत व्यायाम, डॉ० मेधाव्रत आयुर्वेदालंकार रचित आयुर्होमियो सम्बन्ध तथा वैद्य सुरेन्द्रनाथ आयुर्वेदालंकार प्रणीत आयुर्वेद सिद्धान्त और बृहत्त्रयी नामक मौलिक पुस्तकों का आयुर्वेद साहित्य में महत्त्व-पूर्ण स्थान है। डॉ० अनन्तानन्द आयुर्वेदालंकारकृत ए हैण्डबुक आफ फिजियोलाजी का अनुवाद तथा डॉ० क्रान्तिकृष्ण आयुर्वेदालंकारकृत ए हैण्डबुक आफ बैक्टीरियोलाजी का अनुवाद उपयोगी पुस्तकें हैं।

इसके अतिरिक्त गुरुकुल के आयुर्वेद महाविद्यालय में पढ़ानेवाले अनेक प्राध्या-पकों ने एलोपैथी तथा आयुर्वेद के विभिन्न विषयों पर हिन्दी में कई महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। इस दृष्टि से डॉ० रामदयाल कपूर की पुस्तक प्रसूतितन्त्र उल्लेखनीय है। यह यह संभवतः हिन्दी में इस विषय की पहली पुस्तक थी जिसमें प्रसूति सम्बन्धी सब विषयों का बड़े विस्तार से तथा आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विवेचन किया गया था। यह गंगा पुस्तकमाला में लखनऊ से प्रकाशित हुई थी। कई वर्ष तक गुरुकुल आयुर्वेद महा-विद्यालय से प्रधानाचार्य के पद को सुशोभित करनेवाले वैद्य रामरक्ष पाठक (३१ अक्तू० १९०५ ई०) ने सुप्रसिद्ध वैद्य यादव जी त्रीकमजी की प्रेरणा से पदार्थ विज्ञान पर हिन्दी में संभवतः पहली पुस्तक लिखी थी। इनकी अन्य पुस्तकें हैं प्रमेहविमर्श (१९४४), आहार (१९४४), त्रिदोषतत्त्व विमर्श (१९४५), मर्म विज्ञान (१९४९), काय चिकित्सा (१९६२), चरक संहिता (१९६४)।

गुरुकुल काँगड़ी के बाद आर्यसमाज की अन्य शिक्षा-संस्थाओं में भी आयुर्वेद महाविद्यालय खोले गए और इनके स्नातकों ने आयुर्वेद-विषयक अनेक ग्रन्थों का लेखन तथा प्रकाशन किया। इनमें वृन्दावन गुरुकुल के रत्नाकर आयुर्वेद शिरोमणि का हमारे प्राणाचार्य-विषयक ग्रन्थ विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसमें आयुर्वेद के प्रसिद्ध आचार्यों के जीवन, कृतियों और सिद्धान्तों का उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के आधार पर विस्तृत रूप से विवेचन किया गया है। डी० ए० वी० कॉलेज कमेटी लाहौर द्वारा संचालित

डी० ए० वी० आयुर्वेदिक कॉलेज के प्राध्यापक श्री आशानन्द पंचरत्न ने व्याधि विज्ञान लिखा तथा इसके प्रिंसिपल सुरेन्द्रनाथ ने आयुर्वेद के सुप्रसिद्ध ग्रन्थ कैयदेव निघण्टु की टीका लिखी। सिकन्दराबाद गुरुकुल की पहली छात्रमण्डली के सदस्य आचार्य चतुरसेन शास्त्री न केवल कुशल चिकित्सक, कथा एवं उपन्यास-लेखक थे, अपितु उन्होंने आयुर्वेद तथा चिकित्साशास्त्र की अनेक पुस्तकें लिखी हैं। इनमें प्रमुख रचनाएँ हैं—शरीर-तालिका (१९२१ ई०), व्यभिचार (१९२४), ब्रह्मचर्य साधन (१९३२), आरोग्यशास्त्र (१९३२), सुगम चिकित्सा (१९३३)।

होमियोपैथी पर श्री ओम्प्रकाश विद्यालंकारकृत होमियोपैथी के सिद्धान्त होमियोपैथी चिकित्सा का प्रारम्भिक अध्ययन करनेवालों के लिए उपयोगी है। प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने अपने ३६ वर्ष के अनुभवों के आधार पर होमियोपैथी के तीन बृहत् ग्रन्थों की रचना की है। ये ग्रन्थ हैं—रोग तथा उनकी होमियोपैथिक चिकित्सा, होमियोपैथिक ओषधियों का सजीव चित्रण, और बुढ़ापे से जवानी की ओर। हिन्दी में होमियोपैथी की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों को लिखने पर अभी हाल में ही आपको 'फूलवती खुटेरा पुरस्कार' से सम्मानित किया गया था।

परिशिष्ट (१)

वेद-शास्त्रों के कतिपय आर्य विद्वान्

आर्यसमाज के वैदिक साहित्य का परिचय देते हुए इस 'इतिहास' के तीसरे अध्याय में उन विद्वानों का उल्लेख किया जा चुका है, जिन्होंने कि महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों तथा वेदभाष्य-शैली का अनुसरण कर वेदार्थ को उजागर करने तथा वेदभाष्य करने के सम्बन्ध में कार्य किया है। इनमें से कतिपय विद्वानों के व्यक्तित्व तथा कृतित्व पर इस परिशिष्ट में कुछ अधिक विस्तार से प्रकाश डाला जा रहा है।

(१) पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी

आधुनिक विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त भी कोई व्यक्ति वेदों को ईश्वरीय ज्ञान एवं सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान से परिपूर्ण प्रतिपादित करने में अपनी योग्यता व सामर्थ्य का सर्वतोभावेन उपयोग करने के लिए प्रवृत्त हो सकता है, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी इसके उदाहरण हैं। २६ अप्रैल, सन् १८६४ को उनका जन्म हुआ, और विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त कर वे इसी विषय के अध्यापक नियुक्त हुए। वेद-सम्बन्धी उनका महत्त्वपूर्ण कार्य निम्नलिखित था—

(१) वैदिक-संज्ञा-विज्ञान (The Terminology of the Vedas)—यह पंडित गुरुदत्त विद्यार्थी की प्रतिनिधि रचना है, जो १ जून १८८८ ई० को प्रकाशित हुई। वस्तुतः यह निबन्धरूप में लिखा गया ग्रन्थ है, जो आर्यपत्रिका (अंग्रेजी साप्ताहिक) के ११ जुलाई, १ अगस्त, १९ सितम्बर तथा १० अक्टूबर १८८५ ई० के अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुआ था। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के संस्कृत के पाठ्यक्रम में इस पुस्तक को रखा गया था।

(२) इसी वर्ष (१८८८ ई० में) उनका एक अन्य निबन्ध The Terminology of the Vedas and the European Scholars (वैदिक संज्ञा विज्ञान तथा पाश्चात्य विद्वान्) प्रकाशित हुआ। यह उनके प्रथम निबन्ध का ही परिशिष्ट है, जिसमें वेदार्थ की महर्षि यास्क प्रतिपादित निरुक्त-प्रणाली का समर्थन करते हुए प्राध्यापक मैक्समूलर तथा मोनियर विलियम्स जैसे वेदज्ञों की धारणाओं की समीक्षा की गई है। इन दोनों कृतियों ने पं० गुरुदत्त की ख्याति को अन्तर्राष्ट्रीय स्तर तक पहुँचा दिया।

(३) उपनिषदों की व्याख्या—पंडित गुरुदत्तकृत वाजसनेयोपनिषद् की टीका १८८८ ई० के जून मास में प्रकाशित हुई। यह उपनिषद् किञ्चित् परिवर्तन के साथ यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय ही है। मूल टीका अंग्रेजी में लिखी गई, और पंडित आत्माराम अमृतसरी ने उसका हिन्दी अनुवाद किया। माण्डूक्योपनिषद् जैसे लघुकाय किन्तु विषय की दृष्टि से अत्यन्त गम्भीर एवं जटिल उपनिषद् को भी पं० गुरुदत्त ने अपनी

टीका द्वारा सुगम तथा सुबोध बनाया। मुण्डकोपनिषद् का अंग्रेजी अनुवाद भी पंडित गुरुदत्तकृत उपलब्ध होता है।

पं० गुरुदत्त के निधन के पश्चात् जब अखिल विश्व धर्म-सम्मेलन के शिकागो अधिवेशन में उनके द्वारा रचित उपनिषदों की ये व्याख्यायें १८९६ ई० में भेजी गईं, तो एक अमरीकी प्रकाशक ने उसका संस्करण स्वेच्छा से प्रकाशित किया।

(४) उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त Vedic Texts के नाम से उनके तीन अन्य लेख भी प्रकाशित हुए। प्रथम लेख का शीर्षक है—वायुमण्डल (Atmosphere), जिसमें ऋग्वेद के प्रथम मण्डल के द्वितीय सूक्त के प्रथम मन्त्र—

वायवा याहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः। तेषां पाहि श्रुधी हवम्॥

की वैज्ञानिक व्याख्या की गई है। द्वितीय लेख—जल की रचना (The Composition of water) शीर्षक है, जो १३ जुलाई १८८६ को लिखा गया था। इस लेख में ऋग्वेद के—

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता॥—म० १। सू० २। मं० ७

मन्त्र की वैज्ञानिक तथ्यपूर्ण व्याख्या की गई है। व्याख्याकार के अनुसार इस मन्त्र में वर्णित 'मित्र' और 'वरुण' क्रमशः उद्जन और ओषजन के प्रतीक हैं, जिनके एक विशिष्ट मात्रा (H_2O) में मिलने से जल की उत्पत्ति होती है। गुरुदत्तकृत इस मन्त्रार्थ ने एक मनोरंजक विवाद को जन्म दिया। गुरुकुल काँगड़ी की अंग्रेजी मुखपत्रिका The Vedic Magazine में जब एक महानुभाव ने Indian Nationalist के नाम से अपने एक लेख The Advent of the Redeemer में पं० गुरुदत्तकृत उपर्युक्त मन्त्रार्थ का समर्थन किया, तो सत्येन्द्र एन० राय नाम के किसी अन्य व्यक्ति ने The Veda and the composition of water शीर्षक से सम्पादक के नाम लिखे गये अपने पत्र में उक्त मन्त्रार्थ पर आपत्ति की। राय महाशय का यह पत्र दि वैदिक मैगजीन के आषाढ़ १९६८ वि० के अंक में छपा। राय महाशय के इस पत्र का उत्तर श्रावण १९६८ वि० के अंक में A Student of the Veda के छद्म नाम से किसी सज्जन ने Physical Science in the Veda शीर्षक से दिया। पुनः इसी वर्ष के भाद्रपद मास के अंक में उपर्युक्त शीर्षक से ही An Indian Nationalist के नाम से लिखने वाले व्यक्ति ने पं० गुरुदत्तकृत मन्त्रार्थ का औचित्य सिद्ध कर इस विवाद का समाहार किया।

Vedic Texts का तृतीय भाग 'गृहस्थ' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इसमें ऋग्वेद मण्डल १, सूक्त ५०, मन्त्र १-३ के आधार पर गृहस्थ धर्म का विचारोत्तेजक विवेचन किया गया है। पं० गुरुदत्त ने वेदार्थ की जिस निरुक्त-प्रतिपादित तथा स्वामी दयानन्द-अनुमोदित शैली को स्वीकार किया था, उसी का अनुसरण करते हुए वेदमन्त्रों की उपर्युक्त व्याख्यायें प्रकाशित हुईं। ये सभी ग्रन्थ मास्टर दुर्गाप्रसाद के विरजानन्द प्रेस लाहौर से छपे। Vedic Texts का तृतीय भाग स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती द्वारा १८९४ ई० में जी० पी० वर्मा एण्ड ब्रदर्स प्रेस लखनऊ से छपकर प्रकाशित हुआ।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त पं० गुरुदत्त ने वेदविषयक विभिन्न प्रश्नों और समस्याओं के समाधान और आलोचना तथा प्रत्यालोचना के रूप में कतिपय अन्य निबन्ध भी लिखे—(1) A Reply to some criticism of Swamiji's Veda Bhashya,

(2) A Reply to Mr. T. William's letter on idolatory in the Vedas. पादरी टी० विलियम्स ने Idolatory in the Vedas शीर्षक एक पत्र आर्यपत्रिका के सम्पादक के नाम लिखा था। पादरी द्वारा उठाई गई शंकाओं का समाधान पं० गुरुदत्त ने उक्त निबन्ध के रूप में दिया, जो पादरी के मूल पत्र के साथ पाद-टिप्पणियों के रूप में आर्यपत्रिका में छपा। (3) A Reply to Mr. T. William's Criticism on Niyoga. उसी पादरी टी० विलियम्स ने ऋग्वेद के मन्त्र—

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्॥
—१०।१०।१०

के आधार पर स्वामी दयानन्द-प्रतिपादित नियोग प्रथा का खण्डन किया। पं० गुरुदत्त ने यमयमी के संवादसूक्त में आए इस मन्त्र का वास्तविक अर्थ करते हुए स्वामीजी के वेदार्थ की पुष्टि की। आर्य ट्रैक्ट सोसाइटी लाहौर से १८८० ई० में प्रकाशित। (4) Mr. T. William's on Vedic Text No. 1. The Atmosphere. टी० विलियम्स का एक लेख पं० गुरुदत्त के उपर्युक्त निबन्ध के खण्डन में 'आर्य' में छपा था। पं० गुरुदत्त ने आक्षेपकर्ता की आपत्तियों का जो उत्तर दिया, वह मूल निबन्ध के साथ पाद-टिप्पणियों के रूप में प्रकाशित हुआ। (5) Mr. Pincot on the Vedas. सुप्रसिद्ध हिन्दीप्रेमी अंग्रेज विद्वान् फ्रैडरिक पिन्काट के वेदविषयक विचारों की समीक्षा इस लेख में की है।

अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य—पं० गुरुदत्त के प्रयत्न से चारों वेद-संहिताओं को ऋषि, देवता, छन्द और स्वर के उल्लेखपूर्वक विरजानन्द प्रेस लाहौर ने दुरंगी छपाई में प्रकाशित किया। सम्भवत: इन्हीं के आधार पर वि० सं० १९५४–१९५८ तक वैदिक यन्त्रालय अजमेर से प्रथम बार चारों वेदों की संहिताओं का मुद्रण हुआ।

पं० गुरुदत्त की समग्र ग्रन्थावली मूल रूप में The works of late Pt. Gurudatta Vidyarthi M. A. with biographical Sketch शीर्षक से The Aryan Printing, Publishing and General Trading Company Limited Lahore से प्रकाशित हुई। इसका प्रथम संस्करण १८९७ ई० तथा तृतीय संस्करण १९१२ ई० में प्रकाशित हुआ। ग्रन्थावली का द्वितीय भाग भी प्रकाशित हुआ, जिसमें पं० गुरुदत्त के कतिपय स्फुट निबन्ध संगृहीत किये गये। ग्रन्थावली के प्रथम भाग को सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा दिल्ली ने Wisdom of the Rishis के नाम से कुछ वर्ष पूर्व प्रकाशित किया।

(२) पं० भीमसेन शर्मा

स्वामी दयानन्द के प्रमुख शिष्य पं० भीमसेन शर्मा का जन्म कार्तिक शुक्ला पञ्चमी १९११ वि० को एटा जिले के लालपुर ग्राम में हुआ। प्रारम्भ में भीमसेन जी ने कुछ उर्दू और हिन्दी पढ़ी। १२ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत हुआ। सत्रहवें वर्ष में स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित फर्रुखाबाद की संस्कृत पाठशाला में ये अध्ययन हेतु प्रविष्ट हुए। अध्ययनकाल में भीमसेन जी ने स्वामी दयानन्द के सहाध्यायी पं० युगलकिशोर और पं० उदयप्रकाश से अष्टाध्यायी, महाभाष्य आदि व्याकरण-ग्रन्थों का

अध्ययन किया। अध्ययन-समाप्ति के पश्चात् पं० भीमसेन स्वामीजी के पुस्तक-लेखक के पद पर नियुक्त हुए।

सं० १९४४ वि० में पं० भीमसेन ने प्रयाग से 'आर्य-सिद्धान्त' नामक एक मासिक पत्र का प्रकाशन आरम्भ किया। इस पत्र के माध्यम से पं० भीमसेन ने वेदविषयक विभिन्न व्याख्यात्मक तथा आलोचनात्मक निबन्धों का प्रकाशन किया।

(१) **महामोह-विद्रावण का उत्तर**—स्वामी दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के वेदसंज्ञाविचार-प्रकरण की आलोचना करते हुए काशी के किसी विद्वान् ने 'महामोहविद्रावण' शीर्षक एक पुस्तक लिखी, जिसमें वेद की मन्त्रसंहिताओं तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों का वेदत्व सिद्ध किया गया था। पं० भीमसेन ने उक्त पुस्तक में प्रतिपादित मत की समीक्षा करते हुए मन्त्र तथा ब्राह्मण का पार्थक्य सिद्ध किया। यह लेखमाला संस्कृत तथा हिन्दी में प्रकाशित हुई।

(२) **यमयमी सूक्त की व्याख्या**—रेवाड़ी के पादरी टी० विलियम्स ने लुधियाने से प्रकाशित होने वाले 'नूर अफशां' नामक एक उर्दू पत्र में स्वामी दयानन्द-प्रतिपादित नियोग सिद्धान्त की आलोचना करते हुए एक लेख प्रकाशित किया। पं० भीमसेन ने इसकी समीक्षा करते हुए ऋग्वेद के यमयमी सूक्त (ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १०) की विस्तृत संस्कृत तथा हिन्दी व्याख्या लिखी। प्रथम यह व्याख्या आर्यसिद्धान्त में धारा-वाही रूप में प्रकाशित हुई, पुनः पुस्तकरूप में भी इसका प्रकाशन हुआ (सरस्वती यन्त्रालय, प्रयाग से १५ दिसम्बर १८९५ ई० में प्रकाशित)।

(३) **वेदार्थ सार**—इसमें ऋग्वेद के दशम मण्डल के प्रथम सूक्त की संस्कृत तथा हिन्दी भाषा में विशद व्याख्या लिखी गई। यह लेखमाला आर्यसिद्धान्त के १८९२ ई० के अंकों में धारावाही रूप से प्रकाशित हुई।

(४) **त्रयी विद्या का व्याख्यान**—सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पं० सत्यव्रत सामश्रमी ने 'त्रयी परिचय' नामक एक वेदविषयक ग्रन्थ लिखा था। पं० भीमसेन ने इसी ग्रन्थ के कतिपय संदर्भ लेकर त्रयी विद्या का व्याख्यान शीर्षक लेखमाला लिखी।

(५) **अथर्ववेद पितृसूक्त व्याख्या**—पौष १९४६ वि० के आर्यसिद्धान्त में शर्मा जी ने अथर्ववेद के १८वें काण्ड के पितृसूक्त की व्याख्या लिखी।

(६) **ब्रह्मचर्य का व्याख्यान**—अथर्ववेद के एकादश काण्ड का पञ्चम सूक्त ब्रह्मचर्य सूक्त के नाम से विख्यात है। आर्यसिद्धात के १८९७-९८ ई० के अंकों में इस सूक्त की संस्कृत तथा हिन्दी व्याख्या प्रकाशित हुई।

उपर्युक्त लेखों के अतिरिक्त पं० भीमसेन ने कतिपय गृह्यसूत्रों की हिन्दी व्याख्या भी लिखी, तथा वैदिक कर्मकाण्डपरक अन्य ग्रन्थ भी लिखे। पं० सत्यव्रत सामश्रमी के स्वर्गवास के पश्चात् उनके रिक्त स्थान पर पं० भीमसेन शर्मा को १९१२ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय में वेद-व्याख्याता पद पर नियुक्त किया गया। वे इस पद पर पाँच वर्ष तक कार्य करते रहे। चैत कृष्णा द्वादशी १९७४ वि० को उनका देहान्त हुआ।

पं० भीमसेन के अन्य ग्रन्थ—अनुभ्रमोच्छेदन, शास्त्रार्थ फीरोजाबाद, उपनिषद्-भाष्य, अष्टाध्यायी मूल (सम्पादिता) अष्टाध्यायी प्रथमा वृत्ति, गणरत्नमहोदधि (वर्ध-मान-विरचित स्वीय वृत्ति), धातुपाठ, आर्युर्वेद शब्दार्णव. मानवधर्मशास्त्रम् (मनुस्मृति-भाष्य), श्रीमद्भगवद्गीताभाष्य, गीता संग्रह, गंगादितीर्थत्वविचार, मांसभोजन विचार

(तीन भाग), स्थावर में जीव विचार, द्वैताद्वैत-संवाद, विवाह-व्यवस्था, ब्राह्ममत परीक्षा, पुनर्जन्म, संसारफल, वैराग्यशतक (अनुवाद), तीर्थ विषय।

पं० भीमसेन शर्मा का आर्यसमाज के आद्य पण्डितों में शीर्षस्थ स्थान था। यदि वे मत-परिवर्तन कर सनातनी क्षेत्र में नहीं जाते तो सम्भवतः आर्यसमाज में उन्हें सर्वोच्च स्थान प्राप्त होता।

(३) पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

अब्राह्मण घर में जन्म लेकर तथा उर्दू-फारसी के माध्यम से प्रारम्भिक शिक्षा ग्रहण करके और राजकीय सेवा से मुक्त होने पश्चात् भी कोई व्यक्ति वेद का प्रकाण्ड विद्वान् बन सकता है, तथा प्रौढ़ वय में संस्कृत का अध्ययन कर उस अथर्ववेद संहिता पर, जिस पर सायण का भी पूरा भाष्य नहीं मिलता, भाष्यरचना भी कर सकता है, इस तथ्य को आर्यसमाज की पुरानी पीढ़ी के विद्वान् पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने अपने कृतित्व के द्वारा चरितार्थ किया। त्रिवेदी जी का जन्म ३ नवम्बर १८४८ ई० को अलीगढ़ जिले के शाहपुर ग्राम में हुआ था। पाँच वर्ष की आयु में ही उन्होंने करीमा, खालिकबारी आदि फारसी की प्रारम्भिक पुस्तकें पढ़ ली थीं। सन् १८५७ में जब सैनिक विद्रोह ने पश्चिमोत्तर प्रदेश (वर्तमान उत्तर प्रदेश) के नागरिक जीवन को अशान्त बना दिया, क्षेमकरणदास जी के अध्ययनक्रम में किञ्चित् व्याघात उत्पन्न हो गया, परन्तु प्रान्त में शान्ति स्थापित होने के पश्चात् वे पुनः फारसी पढ़ते रहे तथा अलीगढ़ के अंग्रेजी स्कूल में प्रविष्ट होकर उन्होंने फारसी के साथ अंग्रेजी तथा संस्कृत का भी अभ्यास किया।

१८७७ ई० में उन्हें स्वामी दयानन्द सरस्वती के दर्शन करने तथा व्याख्यान सुनने का अवसर प्राप्त हुआ। क्षेमकरणदास जी का यज्ञोपवीत स्वामीजी के करकमलों द्वारा ही हुआ, तथा उन्हें कुछ दिनों तक संस्कृत भी स्वामीजी ने पढ़ाई। स्वामीजी ने क्षेमकरणदास जी से यह आश्वासन लिया कि वे निकट भविष्य में संस्कृत का सर्वाङ्गीण अध्ययन करेंगे, तथा वेद पर भाष्य भी लिखेंगे। त्रिवेदी जी ने अपने गुरु को दिये हुए वचन को पूरा किया। वे न केवल संस्कृत के व्युत्पन्न पण्डित ही बने, अपितु उन्होंने अथर्व-संहिता तथा उसके गोपथ ब्राह्मण पर विस्तृत भाष्य भी लिखा। त्रिवेदी जी आर्यसमाज मुरादाबाद के मन्त्रीपद पर भी रहे।

अथर्ववेद-भाष्य—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी की वैदिक साधना का यह सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य था। अथर्ववेद पर सायणभाष्य भी पूर्ण उपलब्ध नहीं था। इस कार्य को सम्पन्न करने हेतु उन्होंने अनेक पण्डितों की सेवायें भी लीं। अथर्ववेद आरम्भ में मासिक पत्र के रूप में छपता था। पंजाब, युक्तप्रान्त की सरकारों तथा उत्तरप्रदेश की आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा उन्हें इस कार्य के लिए मासिक अनुदान भी मिलता था, परन्तु सब मिलाकर यह आर्थिक सहायता १०० रुपये के लगभग होती थी। अथर्ववेद-भाष्य का प्रथम खण्ड १९६९ वि० (१९१२ ई०) में प्रकाशित हुआ। इसका समाप्तिकाल १९२१ ई० है। अनेक विदेशी विद्वान् भी अथर्ववेद-भाष्य के ग्राहक बने थे। अथर्ववेद के कतिपय मन्त्रों का परिशिष्टार्थ स्वामी सत्यप्रकाश वैदिक यति ने भी किया था। इसे त्रिवेदी जी ने ही **अथर्ववेद-भाष्य परिशिष्टम्** शीर्षक से ओंकार प्रेस प्रयाग में मुद्रित करवाकर १९६८ वि० में प्रकाशित किया। त्रिवेदी जी रचित इस अथर्ववेदभ-ाष्य को वर्षों पश्चात् सार्वदेशिक

आर्य प्रतिनिधि सभा ने प्रकाशित किया है। कु० प्रज्ञा देवी व्याकरणाचार्या विद्यावारिधि [पी-एच० डी०] ने इसका एक सुसम्पादित संस्करण निकालना आरम्भ किया है, जिसके कुछ काण्ड छप गए हैं।

गोपथ ब्राह्मण भाष्य—अथर्ववेद के गोपथ ब्राह्मण पर संस्कृत भाषा में भी कोई व्याख्या उपलब्ध नहीं होती। इस पर त्रिवेदी जी ने जो भाष्य लिखा है, वह वैदिक वाङ्मय में प्रथम भाष्य है। यह १९८१ वि० में प्रकाशित हुआ।

'अथर्ववेदभाष्यसंहितायाः पदानां वर्णानुक्रमसूचीपत्रम्' शीर्षक से उन्होंने अथर्ववेद के पदों की सूची भी छपवाई थी, जो १९७८ वि० में नारायण यन्त्रालय, प्रयाग से छपी।

अन्य ग्रन्थ—त्रिवेदी जी ने यजुर्वेदान्तर्गत रुद्राध्याय का संस्कृत, हिन्दी तथा अंग्रेजी में अनुवाद किया (प्रकाशन—१९९३ वि०) तथा हवनमन्त्रों पर भी संस्कृत में भाष्य लिखा (प्रकाशन—१९९८ वि०)। वेदविद्यायें शीर्षक उनका एक अन्य ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ, जो अपने मूल रूप में गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी में व्याख्यानरूप में पढ़ा गया था। इसमें वेदों में विमान, नौका, अस्त्रशस्त्र, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि, सभा, ब्रह्मचर्यादि विषयों के सूक्तों का मार्मिक विवेचन किया गया है।

(४) पं० तुलसीराम स्वामी

अपने युग के वेद के अद्वितीय विद्वान् पं० तुलसीराम स्वामी का जन्म ज्येष्ठ शुक्ला ३ सं० १९२४ वि० को परीक्षित गढ़ (जिला मेरठ) में हुआ। ९ वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत हुआ और गायत्री-जप की दीक्षा मिली। १९४० वि० में स्वामीजी ने सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका तथा वेदाङ्गप्रकाश आदि ग्रन्थों को पढ़ा, जिसके फलस्वरूप उनकी प्रवृत्ति आर्यसमाज की ओर हुई।

पं० तुलसीराम ने १९५५ वि० में 'स्वामी प्रेस मेरठ' की स्थापना की। जनवरी १८८७ ई० से वे वेदप्रकाश नामक मासिक पत्र का सम्पादन एवं प्रकाशन करने लगे। इस पत्र ने पर्याप्त लोकप्रियता अर्जित की। इसमें वैदिक एवं शास्त्रीय विषयों पर उच्च कोटि के लेख छपते थे। तुलसीराम जी ने गुरुकुल वृन्दावन में अध्यापन-कार्य भी किया। यद्यपि उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की संख्या बहुत अधिक है, परन्तु वैदिक साहित्य के अन्तर्गत उनकी निम्न कृतियों का परिगणन होता है—

(१) **ऋग्वेद के कुछ भाष्य का अंश**—स्वामी दयानन्दकृत ऋग्वेद-भाष्य उनके जीवनकाल में पूरा नहीं हो सका था। यह भाष्य सप्तम मण्डल के ६१वें सूक्त के द्वितीय मन्त्र पर्यन्त ही रहा। इसके आगे का भाष्य पण्डित तुलसीराम ने लिखना प्रारम्भ किया जो वेदप्रकाश के जुलाई १९१० ई० के अंक से प्रारम्भ होकर कई अंकों में छपता रहा। यह भाष्य संस्कृत एवं हिन्दी में लिखा गया। तुलसीराम स्वामी जी के दिवंगत होने पर उनके अनुज पण्डित छुट्टनलाल स्वामी ने इसका कुछ अंश लिखा। (२) **सामवेद-भाष्य**—तुलसीराम स्वामी ने स्वामी दयानन्द की शैली पर सामवेद पर विस्तृत भाष्य संस्कृत तथा हिन्दी में लिखा और यह स्वामी प्रेस, मेरठ से दो भागों में प्रकाशित हुआ। यह भाष्य उपासनापरक दृष्टि से लिखा गया है। प्रारम्भ में यह भाष्य मासिक पत्र के रूप में प्रकाशित हुआ। इसका प्रथम अंक ज्येष्ठ १९५५ वि० में छपा। १७ जुलाई १९१५

(१९७२ वि०) ई० को स्वामीजी का विशूचिका रोग से असामयिक निधन हो गया।

पण्डित तुलसीराम स्वामी के अन्य ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

(१) **मनुस्मृति-भाष्य**—यह विस्तृत भाष्य जिसमें प्रक्षिप्त श्लोकों पर विवेचनात्मक टिप्पणी दी गई है, १९१४ ई० में प्रकाशित हुआ। (२) **श्वेताश्वतरोपनिषद्-भाष्य**—जीवेश्वर-भेदपरक व्याख्यायुक्त यह भाष्य संस्कृत और हिन्दी में पदच्छेद एवं अन्वयपूर्वक लिखा गया। रचना एवं प्रकाशन १८९७ ई०। (३) **भास्कर-प्रकाश**—पौराणिक विद्वान् पण्डित ज्वालाप्रसाद मिश्र मुरादाबाद निवासी द्वारा लिखित 'दयानन्द-तिमिर-भास्कर' का उत्तर १८९७ ई० में प्रकाशित। (४) **दिवाकर-प्रकाश**—भास्कर-प्रकाश के प्रथम तीन समुल्लासों के खण्डन में पं० बलदेवप्रसाद मिश्र द्वारा लिखित 'धर्म-दिवाकर' का उत्तर। (५) **षड्दर्शन-भाष्य**—मीमांसा के मात्र २५ प्रारम्भिक सूत्रों के भाष्य के अतिरिक्त स्वामीजी ने पाँचों दर्शनों का हिन्दी में सुगम भाष्य किया। (६) **श्रीमद्भगवद्गीता-भाष्य**—आर्य मन्तव्यानुसार गीता की टीका तथा संगति। (७) **विदुरनीति का भाषानुवाद**—सं० १९५५ वि० में प्रकाशित। (८) **नारदीय शिक्षा**—गानस्वर-विषयक यह सामवेद का शिक्षा-ग्रन्थ फाल्गुन १९६३ वि० में स्वामीजी ने सम्पादित कर प्रकाशित किया। (९) **श्लोकबद्ध वैदिक निघण्टु**—अग्निचित् श्री भास्कर-राय दीक्षितकृत इस निघण्टु का सम्पादन एवं प्रकाशन स्वामीजी ने १८९८ ई० में किया। (१०) **भर्तृहरिकृत नीति शतक का भाषानुवाद**।

अन्य ग्रन्थ—(१) **मूर्तिपूजा-प्रकाश** (सं० १९५७ वि० में प्रकाशित)। (२) **पिण्ड-पितृ यज्ञ**—इस पुस्तक में यजुर्वेद, शतपथब्राह्मण तथा कात्यायन श्रौतसूत्र एवं तत्सम्बन्धी मीमांसा दर्शन के अधिकरण का विवेचन करते हुए पिण्डपितृ यज्ञ की व्याख्या की है, और उसे मृतक श्राद्ध से भिन्न सिद्ध किया है। (३) **भीम-प्रश्नोत्तरी**—पं० भीमसेन शर्मा के आक्षेपों का निराकरण। (४) **पं० तुलसीराम स्वामी के चार व्याख्यान**। रामलीला, वैदिक देवपूजा, ईश्वर और उसकी प्राप्ति, मुक्ति और पुनर्जन्म, नमस्ते, शास्त्रार्थ हैदराबाद, सन्ध्योपासन (आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त द्वारा १८९८ ई० में प्रकाशित), संस्कृत भाषा ४ भाग।

(५) पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ

सुप्रसिद्ध विद्वान् पं० शिवशंकर शर्मा का जन्म दरभंगा जिलान्तर्गत 'चिहुँटा' ग्राम में हुआ। शिवशंकर शर्मा ने अपने अध्ययनकाल में स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों का गम्भीर अनुशीलन किया। तत्पश्चात् वे वेदाध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए, और कालान्तर में उन्होंने आर्यसमाज के उपदेशक का कार्य शिरोधार्य किया। १८९८ से १९०० ई० तक वे राँची में रहे, और सुप्रसिद्ध आर्य नेता बाबू बालकृष्ण सहाय के सहयोग से धर्म-प्रचार का कार्य करते रहे। यहाँ रहकर उन्होंने कतिपय सैद्धान्तिक लेख लिखे, जो 'आर्यावर्त' में प्रकाशित हुए।

१९०३ से १९०६ ई० तक शिवशंकर शर्मा का कार्यस्थल अजमेर रहा। यहाँ वे स्वामी दयानन्द की स्थानापन्न परोपकारिणी सभा के पण्डित के रूप में कार्य करते रहे। इसी बीच उन्होंने 'छान्दोग्य' और 'बृहदारण्यक' उपनिषद् पर संस्कृत तथा हिन्दी में विशद भाष्य लिखे, जो उक्त सभा ने प्रकाशित किये। १९०६ ई० के अगस्त मास में शर्माजी

पंजाब चले गये, और आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के तत्त्वावधान में उपदेशक का कार्य करते रहे। इसी बीच उन्होंने **वेदतत्त्व प्रकाश** शीर्षक ग्रन्थमाला का लेखन प्रारम्भ किया, जिसके अन्तर्गत **त्रिदेव निर्णय, वैदिक इतिहासार्थ निर्णय, ओंकार निर्णय, जातिनिर्णय** तथा **श्राद्ध-निर्णय** शीर्षक पाँच ग्रन्थ प्रकाशित हुए। महात्मा मुन्शीराम के आग्रहवश कुछ काल के लिए वे गुरुकुल काँगड़ी में वेदोपाध्याय के पद पर भी कार्य करते रहे। पं० शिवशंकर शर्मा के वैदिक कृतित्व का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है —

(१) **ऋग्वेदभाष्य**—स्वामी दयानन्दकृत ऋग्वेदभाष्य पूर्ण नहीं हो सका था। ऋग्वेद के अवशिष्ट अंश का भाष्य पं० शिवशंकर ने आरम्भ किया। यह भाष्य अष्टम मण्डल के प्रारम्भ से लेकर २९वें सूक्त पर्यन्त है।

(२) **वैदिक इतिहासार्थ निर्णय**—यह १९०९ ई० में प्रथम बार प्रकाशित हुआ। वेदों में कतिपय ऐसे पद प्रयुक्त हुए हैं, जिन्हें सामान्यतया व्यक्तिवाचक संज्ञायें माना जाता है। पाश्चात्य तथा एतद्देशीय विद्वानों ने ऐसे नामों के आधार पर वेदों में लौकिक अनित्य इतिहास की कल्पना की। इन्हीं इतिहास-विषयक धारणाओं का समाधान करने के लिए शर्मा जी ने इस ग्रन्थ की रचना की। इसमें शुनःशेप और नरमेध, कूपपतित त्रित ऋषि, च्यवन को यौवनदान, दधीचि की अस्थियों से वृत्रहनन आदि प्रसिद्ध पौराणिक गाथाओं का वेदमन्त्रों में आभास प्रतीत होने, तथा तद्विषयक भ्रान्तियों के समाधान का प्रयत्न किया गया है। इसी प्रकार घोषा, रोमशा, लोपामुद्रा, यमयमी, पुरुरवा-उर्वशी-विषयक वैदिक उपाख्यानों की यौगिक दृष्टि से संगति लगाकर वेदों को इतिहासवाद से मुक्त करने का प्रयास किया गया है।

(३) **वैदिक पीयूष-बिन्दु**—कुछ उदात्त भावना-प्रधान मन्त्रों की व्याख्या। सत्य-प्रकाशन मथुरा ने इसे प्रकाशित किया है। इससे पूर्व यह आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब, लाहौर से प्रकाशित हुई थी।

(४) **वैदिक रहस्य**—इस ग्रन्थमाला के अन्तर्गत **चतुर्दश भुवन, वसिष्ठ नन्दिनी, वैदिक विज्ञान** तथा **वैज्ञानिक सिद्धान्त** शीर्षक चार ग्रन्थ प्रकाशित हुए। अन्तिम ग्रन्थ अधूरा है। इसका प्रकाशन-काल १९६९ वि० है। मिश्रबन्धु विनोद में प्रथम तीन का उल्लेख संख्या २५२७ पर किया गया है।

शर्मा जी के अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

(१) **छान्दोग्योपनिषद्-भाष्य**—संस्कृत तथा हिन्दी में रचित इस बृहद् भाष्य को परोपकारिणी सभा अजमेर ने प्रकाशित किया। (२) **बृहदारण्यकोपनिषद्-भाष्य**—संस्कृत तथा हिन्दी में लिखित यह भाष्य भी उक्त सभा द्वारा सन् १९११ ई० में प्रकाशित किया गया। अब तक तीन संस्करण छपे हैं। (३) **त्रिदेव निर्णय**—ब्रह्मा, विष्णु और शिव की वैदिक व्याख्या। (४) **जाति-निर्णय**—आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा प्रकाशित। (५) **श्राद्ध-निर्णय**—आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा १९०८ ई० में प्रथम बार प्रकाशित। (६) **ओंकार-निर्णय**—इसे भी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा प्रकाशित किया गया था। (७) **वेद ही ईश्वरीय ज्ञान है**—यह एक उपयोगी छोटा ट्रैक्ट है। इसको स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने स्व० श्री पंडित जी के घर से प्राप्त किया था, और श्री बलदेव आर्य (आर्यसमाज बुलानाला वाराणसी) ने सन् १९३४ ई० में इसे प्रकाशित किया था। (८) **त्रैतवाद निर्णय**—पंडित जी का यह महत्त्वपूर्ण बृहत्काय ग्रन्थ अभी तक

अप्रकाशित है। यह आर्य प्रतिनिधि सभा लाहौर के कार्यालय में विद्यमान था। सभा के अधिकारियों ने इसके प्रकाशन के लिए निर्णय देने का भार श्री पं० ब्रह्मदत्त जी को सन् १९४६ में सौंपा था। सन् १९४७ में देश-विभाजन के समय श्री जिज्ञासु जी इस हस्तलेख को अपने साथ सुरक्षित रूप में भारत ले आए। इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि करके श्री जिज्ञासु जी ने इसे पंजाब प्रतिनिधि सभा को लौटा दिया। यह प्रतिलिपि रामलाल कपूर ट्रस्ट बहालगढ़ के पुस्तकालय में सुरक्षित है। यह ग्रन्थ अधूरा है। अधूरा होते हुए भी इसका प्रकाशन आवश्यक है।

(६) महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि

वेद, दर्शन, उपनिषद् तथा अन्यान्य शास्त्रों पर विस्तृत आलोचनात्मक टीका एवं भाष्य-ग्रन्थों के प्रणेता महामहोपाध्याय पं० आर्यमुनि अपने युग के अद्वितीय विद्वान् थे। आर्यसमाज के विद्वानों में वे प्रथम और अन्तिम थे, जिन्हें अंग्रेजी सरकार द्वारा 'महामहोपाध्याय' की सर्वोच्च उपाधि से विभूषित किया गया। आर्यमुनि जी का जन्म पटियाला राज्य के 'रूमाणा' ग्राम में वि० सं० १९१० के द्वितीय दशक में हुआ। काशी में रहकर उन्होंने संस्कृत भाषा और वैदिक साहित्य का विस्तृत अध्ययन किया। पुनः वे डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर में वर्षों तक संस्कृत तथा दर्शनशास्त्र के प्राध्यापक रहे।

अपने जीवनकाल में आर्यमुनि जी ने अनेक मौलिक तथा टीका एवं भाष्य-ग्रन्थों का प्रणयन किया। उनके वैदिक कृतित्व का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) **ऋग्वेदभाष्य**—स्वामी दयानन्द ऋग्वेद के दो-तिहाई भाग पर ही भाष्य लिख पाये थे। ऋग्वेद के शेषांश पर उसी शैली में भाष्य लिखने का श्लाघनीय प्रयास पं० आर्यमुनि ने किया। आर्यमुनि का ऋग्वेदभाष्य सप्तम मण्डल के ६१वें सूक्त के तृतीय मन्त्र से प्रारम्भ होकर नवम मण्डल पर्यन्त है। यह भाष्य संस्कृत तथा हिन्दी दोनों ही भाषाओं में लिखा गया है।

भाष्यारम्भ में अपने एतद्विषक प्रारम्भिक वक्तव्य को लेखक ने निम्न श्लोकों में उपस्थित किया है—

दयानन्दः समाख्यातो यस्यान्ते च सरस्वती।
एतन्नामान्वितः स्वामी दयानन्दः सरस्वती॥
सेतुर्लोकव्यवस्थायाः नौरासीद्वेदवारिधेः।
वेदस्य स्थापना तेन ह्यकारि भूतले पुनः॥
एकषष्ठितमे सूक्ते सप्तमे मण्डले तथा।
द्वितीयमन्त्रं सम्प्राप्य तद्भाष्यमन्ततां गतम्॥
इत्यालोच्य प्रखिन्नेन मयाऽऽर्यमुनिनाऽधुना।
शेषं विधास्यते भाष्यं स्वामिमार्गानुगामिना॥

अर्थात्—स्वामी दयानन्द सरस्वती नामक जो महात्मा हुए हैं, उन्होंने धराधाम पर वेद की व्याख्या तथा मर्यादा स्थापित की। उन्होंने ऋग्वेद के सप्तम मण्डलान्तर्गत ६१वें सूक्त के द्वितीय मन्त्र पर्यन्त ऋग्वेद का भाष्य किया, तत्पश्चात् वे परमधामवासी हुए। इस स्थिति से दुःखी होकर मुझ आर्यमुनि द्वारा शेष ऋग्वेद का यह भाष्य स्वामी दयानन्द-प्रदर्शित मार्गानुसार ही बनाया जा रहा है।

महामहोपाध्याय जी ने वेदों के अतिरिक्त लगभग सभी आर्ष शास्त्रों पर विस्तृत एवं प्रभावपूर्ण भाष्य टीकाएँ लिखीं, जिनका इस प्रकार उल्लेख किया जा सकता है— (१) **षड्दर्शन-भाष्य**—सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, वेदान्त और मीमांसा दर्शनों पर आर्यमुनि जी ने महत्त्वपूर्ण भाष्य लिखे। इनमें मीमांसा भाष्य ६ अध्याय पर्यन्त ही है। (२) **षड्दर्शनादर्श**—छहों वैदिक दर्शनों में अभेद प्रतिपादित करनेवाला ग्रन्थ। (३) **उपनिषदार्य-भाष्य**—ईश से लेकर बृहदारण्यकोपनिषद् पर्यन्त दश उपनिषदों का यह भाष्य उपनिषदों की अद्वैतवादी व्याख्याओं के निराकरण में लिखा गया है। इसमें ईश्वर-जीव-भेदपरक दृष्टि से व्याख्या की गई है। प्रथम आठ उपनिषदों का अनुवाद गोविन्दराम हासानन्द दिल्ली ने २००६ वि० में द्वितीय बार प्रकाशित किया था। छान्दोग्य उपनिषद् भाष्य का प्रथम संस्करण १९६७ वि० में लाहौर से, तथा बृहदारण्यकोपनिषद् भाष्य का १९८० वि० में काशी से प्रकाशित हुआ। (४) **वेदान्त-तत्त्व-कौमुदी**— वेदान्तदर्शन के मुख्य सिद्धान्त सं० १९७२ वि० में प्रकाशित। (५) **मान-वार्य-भाष्य**—मनुस्मृति का भाषानुवाद। (६) **वाल्मीकि रामायणार्य-टीका** सं० १९६९ वि० में लाहौर से प्रकाशित। (७) **महाभारतार्य-टीका**—महाभारत का संक्षिप्त संस्करण, मूल तथा अनुवाद सहित। (८) **गीतायोगप्रदीपार्य-भाष्य**—श्रीमद्भगवद्गीता पर टीका। (९) **आर्यमन्तव्य-प्रकाश**—सत्यार्थप्रकाश की शैली में रचित वैदिक मन्तव्यों का ग्रन्थ। दो भागों में समाप्त। (१०) **वैदिक काल का इतिहास**—१९२५ ई० में पंडित देवदत्त शर्मा, कर्णवास द्वारा प्रकाशित। (११) **नरेन्द्र-जीवन-चरित्र**—भीष्मपितामह का जीवनचरित। (१२) **वेदमर्यादा**। (१३) **दयानन्द महाकाव्य**—अर्थात् दयानन्दचरित मानस काव्य। पं० देवदत्त शर्मा द्वारा १९८१ वि० में प्रकाशित।

(७) मास्टर दुर्गाप्रसाद

आर्यसमाज के शैशवकाल में जिन साहित्यकारों ने उच्चकोटि के साहित्य का अंग्रेजी भाषा में प्रणयन किया, और वेद के कतिपय सूक्तों का अंग्रेजी में अनुवाद किया उनमें मास्टर दुर्गाप्रसाद का नाम अन्यतम है। जब श्री दुर्गाप्रसाद आठ वर्ष के बालक ही थे, उनकी माता का देहान्त हो गया, और पिता ने दूसरा विवाह कर लिया। तब ये अपने मामा के पास भोपाल चले गये। तीन वर्ष पश्चात् जब नानी का भी देहान्त हो गया, तो इनके पिता इन्हें ननिहाल से वापस ले आये। किशोरवय में दुर्गाप्रसाद को अपनी सौतेली माता का दुर्व्यवहार सहन करना पड़ा। पढ़ने-लिखने की कोई व्यवस्था नहीं हुई, और ये इधर-उधर मारे-मारे फिरते रहे। दो वर्ष 'नागोद' (मध्यप्रदेश) में कमसरियट के गुमाश्ते रहे। इस काम के समाप्त हो जाने पर फिर पढ़ने लगे। पिता ने सहायता करना बन्द कर दिया। जैसे-तैसे एफ० ए० में पहुँचे ही थे कि पिता का भी देहान्त हो गया। प्रचलित रीति के अनुसार बाल्यावस्था में ही मास्टर जी को विवाह-बन्धन में बाँध दिया गया था, इसलिये परिवार की आर्थिक स्थिति कठिनतर हो गई।

जब वे इलाहाबाद के म्योर सेण्ट्रल कॉलिज में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे, उन्होंने स्वामी दयानन्द के व्याख्यान सुने। बाद में जब स्वामीजी बरेली में विराजमान थे, ये उनसे मिलने गये। अब इनके विचार सम्पूर्ण प्रकार से स्वामीजी की शिक्षाओं के अनुकूल बन गये।

मास्टर दुर्गाप्रसाद लाहौर के सुप्रसिद्ध डी० ए० वी० कॉलेज के अन्तर्गत संचालित होनेवाले माध्यमिक विभाग के मुख्याध्यापक थे। अध्यापक-जीवन व्यतीत करने के कारण ही आप 'मास्टर दुर्गाप्रसाद' के नाम से विख्यात हुए। मास्टरजी द्वारा लिखी गई पुस्तकों की संख्या अनुमानत: ३७ है।

(१) **सत्यार्थप्रकाश का अंग्रेजी अनुवाद**—यह विरजानन्द प्रेस लाहौर से १९०८ ई० में English Translation of the Satyartha Prakash [Literally Expose of right sense of Vedic Religion] of Maharshi Dayanand Saraswati—'The Luther of India' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। अनुवादक ने इसे राय रोशनलाल बैरिस्टर-एट-लॉ को समर्पित किया था, जिनकी सहायता से यह ग्रन्थ छपा। उस समय सत्यार्थप्रकाश या स्वामी दयानन्द के किसी अन्य ग्रन्थ को, जिसके प्रकाशनाधिकार परोपकारिणी सभा के पास सुरक्षित थे, अन्य भाषा में अनूदित करना या प्रकाशित करना कानूनी दृष्टि से अवांछनीय था, तथापि अंग्रेजी अनुवाद की महत्ता को अनुभव करते हुए मास्टरजी ने यह अनुवाद प्रकाशित किया। इससे पूर्व वे सत्यार्थ-प्रकाश के ११वें समुल्लास को स्वामीजी की जीवनी तथा सत्यार्थकाश के अन्त में वर्णित स्वमन्तव्यामन्तव्य सहित अंग्रेजी में Swami Dayanand Saraswati on Indian Religion के नाम से तथा सत्यार्थप्रकाश के ७ से १० समुल्लासों, तथा स्वामीजी द्वारा काशी, जालन्धर, लखनऊ और बरेली नगरों में किये गये शास्त्रार्थों का वर्णन Swami Dayanand Saraswati's exposition of Vedic Religion शीर्षक से प्रकाशित कर चुके थे। इसका द्वितीय संस्करण 'जनज्ञान प्रकाशन' दिल्ली ने १९७० ई० में प्रकाशित किया। (२) A Triumph of Truth—सत्यार्थप्रकाश के अंग्रेजी अनुवाद के प्रारम्भ में स्वामी दयानन्द लिखित आत्मकथा तथा उनकी यात्राओं का विस्तृत वर्णन दिया गया है। (३) **महर्षि दयानन्द सरस्वती**—शीर्षक संक्षिप्त अंग्रेजी जीवनचरित्र, १८९२ ई० में प्रकाशित। (४) The Ocean of Mercy—स्वामी दयानन्दकृत गोकरुणानिधि का अंग्रेजी अनुवाद। (५) Vedic Readers—सात भागों में। यजुर्वेद के ६ अध्यायों, तथा ऋग्वेद के कुछ सूक्तों का अंग्रेजी तथा हिन्दी में अनुवाद। (६) भर्तृहरिकृत नीति तथा वैराग्य शतक, तथा चाणक्य नीति का अंग्रेजी अनुवाद। (७) Light of religion or Dharam Parkash—इसमें Vedic Readers, Sacred songs, Principles of Religion तथा संध्या का अनुवाद सम्मिलित हैं। (८) उपनिषद्—ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक तथा तैत्तिरीय उपनिषदों का अंग्रेजी अनुवाद। (९) Prayer Book or Sandhya—नागरी तथा रोमन लिपि में संध्या का मूल पाठ, तथा हिन्दी एवं अंग्रेजी में मन्त्रों का शब्दार्थ तथा भाषानुवाद। (१०) The five Great Duties of Aryans—पञ्च महायज्ञों के मन्त्रों का नागरी तथा रोमन लिपि में पाठ देकर दोनों भाषाओं में अनुवाद किया गया है। (११) The Shraddha—मृतक श्राद्ध खण्डन। हिन्दी तथा अंग्रेजी में पृथक्श: प्रकाशित। (१२) Who wrote the Puranas? पं० लेखरामरचित पुराण किसने बनाए पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद। (१३) Reason and Instinct—पशुओं में मन की सत्ता वैज्ञानिक प्रमाणों के आधार पर सिद्ध की गई है। (१४) Defence of Manu—मद्रास क्रिश्चियन सोसाइटी द्वारा प्रकाशित Code of Manu शीर्षक पुस्तक का उत्तर। (१५) Principles of Religion,

Morality, Health and Happiness वेद, बाइबल तथा कुरान की शिक्षाओं का संग्रह। (१६) The way to God—योगविषयक पुस्तक। शंकराचार्य लिखित 'विवेक चूड़ामणि' पर आधारित।

मा० दुर्गाप्रसाद ने 'मांसाहार-निषेध' तथा 'मदिरा-निषेध' विषयक अनेक ग्रन्थ लिखे। यथा—

(१७) Manu and Vegetarianism—मनुस्मृति में मांसभक्षण-विषयक प्रक्षिप्त श्लोकों का विवेचन। (१८) Spiritual Advantages of Vegetarianism–विरजानन्द प्रेस लाहौर से १८८९ ई० में प्रकाशित। (१९) Physical evils of flesh-eating—डॉ० ए० आर० खास्तगीर का भाषण। (२०) Vegetarianism—शाकाहार के समर्थन में यूरोपियन विद्वानों की युक्तियों का संग्रह। (२१) Intemperance—मदिरापान की हानियों का विवेचन। (२२) Dangers of moderate drinking. (२३) Drunkenness and its cure. (२४) A reply to Mr. Agnihotri's Pandit Dayanand unveiled देवसमाज के प्रवर्तक शिवनारायण अग्निहोत्री लिखित पुस्तक का प्रत्युत्तर। (२५) Sacred songs—गीता, वेद आदि ग्रन्थों पर आधारित आध्यात्मिक गीत, तथा नानक-कबीर आदि के निर्गुण भजनों का संग्रह। (२६) Dogmas of Christianity—ईसाई मत विषयक आलोचनात्मक निबन्ध। (२७) Aryan litany स्वामी दयानन्दकृत आर्याभिविनय का अंग्रेजी अनुवाद। (२८) Caste System—Its social evils and their Reminders. (२९) Devotion of God. (३०) Faith and culture. (३१) Has animal no soul? (३२) Our duties and work. (३३) The idea and existence of God. (३४) The formation of Character. (३५) The immorality of soul. (३६) The transmigration of soul. (३७) The rights and position of women.

डी० ए० वी० स्कूल तथा कॉलेज (लाहौर) में धर्मशिक्षा के पाठ्यक्रम में निर्धारित 'धर्मशिक्षा पाठावली' का संग्रह भी मा० दुर्गाप्रसाद ने किया था।

(८) स्वामी नित्यानन्द ब्रह्मचारी

अद्वितीय विद्वान् व्याख्याता तथा उपदेशक स्वामी नित्यानन्द का जन्म भूतपूर्व जोधपुर राज्य के 'जालोर' नामक कस्बे में भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी सं० १९१७ वि० को हुआ। बाल्यावस्था में आपने संस्कृत का अभ्यास किया। शैशवावस्था समाप्त होते-होते आपमें वैराग्य और संसार-त्याग की प्रवृत्ति जागृत हुई, जिसके फलस्वरूप आपने अपना पितृगृह त्याग दिया। यत्र-तत्र वे भ्रमण करते रहे। काशी में उनकी भेंट स्वामी दयानन्द के शिष्य ब्रह्मचारी गोपालगिरि से हुई। इस परिचय के फलस्वरूप वे आर्यसमाज के सिद्धान्तों से परिचित हुए। कालान्तर में बरेली में एक आर्य विद्वान् पं० यज्ञदत्त के सम्पर्क में आकर उन्होंने वैदिक सिद्धान्तों को सर्वात्मना स्वीकार कर लिया, और ये वैदिक धर्म के प्रचार-कार्य में संलग्न हो गए। स्वामी विश्वेश्वरानन्द के साथ रहकर इन दोनों संन्यासियों ने आजीवन आर्यसमाज के प्रचार का व्रत ले लिया। अपने जीवन में स्वामी नित्यानन्द ने सैकड़ों शास्त्रार्थ किये, समस्त देश का व्यापक भ्रमण किया, तथा आर्यसमाज के सिद्धान्तों का व्यापक प्रचार किया।

स्वामी नित्यानन्द जी ने चतुर्वेद अनुक्रमणिका बनाने का सराहनीय प्रयास किया। इस कार्य में उन्हें बड़ौदा के विद्याप्रेमी नरेश स्व० सर सयाजीराव गायकवाड़ की आर्थिक सहायता उपलब्ध हुई। चारों वेदों के पदों के अकारादि क्रम से तैयार किये गए कोष क्रमशः इस प्रकार प्रकाशित हुए—

(१) **ऋग्वेदपदानां अकारादिवर्णक्रमानुक्रमणिका**—सन् १९०८ ईसवी में प्रकाशित (१९६४ वि०)।

(२) **यजुर्वेदपदानां अकारादिवर्णक्रमानुक्रमणिका**—सन् १९०८ ईसवी में प्रकाशित (१९६५ वि०)।

(३) **सामवेदपदानां अकारादिवर्णक्रमानुक्रमणिका**—सन् १९०८ ईसवी में प्रकाशित (१९६४ वि०)।

(४) **अथर्ववेदपदानां अकारादिवर्णक्रमानुक्रमणिका**—सन् १९०७ ईसवी में प्रकाशित (१९६४ वि०)।

स्वामी नित्यानन्द जी ने अपने सहयोगी संन्यासी विश्वेश्वरानन्द जी के सहलेखन में **पुरुषार्थ-प्रकाश** नामक एक अन्य उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना भी की। स्वामीजी ने अपने जीवनकाल में विभिन्न विषयों पर अनेक शास्त्रार्थ प्रतिपक्षी विद्वानों से किये। बूंदी के राजपण्डितों से उनका शास्त्रार्थ **'ब्राह्मणग्रन्थों की वेदसंज्ञा नहीं है'** इस विषय पर संस्कृत में हुआ। यह संस्कृत शास्त्रार्थ आर्यसमाज शाहपुरा द्वारा १८४६ वि० में प्रथम बार वैदिक यन्त्रालय प्रयाग से मुद्रित होकर प्रकाशित हुआ। इसका द्वितीय संस्करण आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान ने प्रकाशित किया। इसी प्रकार शास्त्रार्थ-नरसिंहगढ़ (१५ अक्तूबर १८८८ ई०, श्रावण शुक्ला ५, १९४५ वि०) भी प्रकाशित हुआ। स्वामीजी की एक अन्य कृति **'सनातन धर्म'** का भी उल्लेख मिलता है। स्वामी नित्यानन्द की विशद जीवनी श्री ब्रह्मदत्त सोढ़ा ने लिखी थी, जो कई वर्ष पूर्व रणछोड़ दास भवात द्वारा बम्बई से प्रकाशित हुई। स्वामीजी की जन्म-शताब्दी के अवसर पर श्री महेन्द्र कुलश्रेष्ठ रचित एक अन्य जीवनचरित विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होशियारपुर ने भी प्रकाशित किया था।

(९) पं० राजाराम शास्त्री

डी० ए० वी० कालेज लाहौर के संस्कृत के प्राध्यापक पं० राजाराम ने अनेक वैदिक ग्रन्थों का सृजन, तथा प्राचीन वैदिक साहित्य पर भाष्यों के प्रणयन का कार्य किया। उनका जन्म पंजाब के ग्राम 'किला मीहासिंह' में ज्येष्ठ पूर्णिमा १९२७ वि० को हुआ। ऋषि दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश को पढ़कर वे संस्कृत शास्त्र-ग्रन्थों के गहन अध्ययन में अधिकाधिक प्रवृत्त हुए। काव्य, व्याकरण, न्याय आदि का अध्ययन कर वे उपनिषद् तथा व्याकरण-महाभाष्य पढ़ने में प्रवृत्त हुए। १८९२ ई० में डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर के तत्कालीन प्रिंसिपल महात्मा हंसराज ने इन्हें अपने पास बुलाया, और डी० ए० वी० स्कूल में संस्कृत का अध्यापक नियुक्त कर दिया। १८९४ ई० में ये कॉलेज में संस्कृत के प्राध्यापक बना दिये गए।

१९०४ ई० में आहिताग्नि राय शिवनाथ (अधिशासी अभियन्ता) के सहयोग से पं० राजाराम ने 'आर्ष ग्रन्थावली' के नाम से एक मासिक प्रकाशन का आयोजन

किया। इसके अन्तर्गत शास्त्रग्रन्थों के भाष्यों को प्रकाशित किया जाने लगा। यहाँ पं० राजाराम के वेद तथा तद्विषयक अन्य ग्रन्थों का उल्लेख किया जाता है—

(१) अथर्ववेद भाष्य—यह भाष्य विषयनिर्देश स्वरसहित मन्त्रपाठ, पुनः शब्दार्थ व छन्द, ऋषि विनियोग निर्देशात्मक टिप्पणियों सहित लिखा गया। सम्वत् १९८६ वि० में लाहौर से प्रकाशित। यह भाष्य स्वामी दयानन्द के वेदविषयक सिद्धान्तों के अनुसार नहीं है। (२) वेदप्रकाश भाग १—आर्ष ग्रन्थावली संख्या १,२। सन् १९२९ ई० में प्रकाशित। (३) वेदप्रकाश भाग २—अथर्ववेदोक्त पृथिवी सूक्त की व्याख्या। १९८६ वि० में प्रकाशित। (४) वेदप्रकाश भाग ३—विभिन्न वैदिक सूक्तों की सुबोध व्याख्या।

वेदाङ्गविषयक ग्रन्थ—(५) निरुक्त टीका (६) कौत्सव्य निघण्टु, (७) वासिष्ठ धर्मसूत्र, (८) पारस्कर गृह्य सूत्र, (९) सामवेद के क्षुद्र सूक्त, (१०) अथर्ववेद का निघण्टु, (११) औशनसधनुर्वेद संकलनम्, (१२) वेदभाष्यभूमिका (सं० १९८६ वि० में प्रकाशित), (१३) वेदशिक्षक, (१४) स्वाध्याय कुसुमाञ्जलि (वेदार्थप्रकाश)—आर्य साहित्य मण्डल अजमेर से प्रकाशित, (१५) स्वाध्याय यज्ञ।

पं० राजाराम ने दर्शन, उपनिषद्, रामायण, महाभारत आदि आर्ष ग्रन्थों पर भी टीकायें लिखीं, जिनका विवरण इस प्रकार है—(१) एकादशोपनिषद्-भाष्य—ईश से श्वेताश्वतरोपनिषद् पर्यन्त ११ उपनिषदों का भाष्य। (२) पञ्चदर्शन-भाष्य—मीमांसा को छोड़कर पाँच दर्शनों का भाष्य। न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य का अनुवाद। (३) आर्यदर्शन, (४) न्यायप्रवेशिका, (५) नवदर्शनसंग्रह, (६) उपनिषदों की शिक्षा, उपनिषदों की भूमिका, (७) मनुस्मृति की टीका, (८) वाल्मीकि रामायण—भाषानुवाद। (९) महाभारत—भाषानुवाद। सं० १९७३ वि० में प्रकाशित। (१०) श्रीमद्-भगवद्गीता भाष्य, (११) गीता हमें क्या सिखाती है? (१२) गीता गुटका।

इतिहासविषयक ग्रन्थ—(१३)—सूर्य वंश। (१४) नल दमयन्ती, (१४) द्रौपदी का पति, (१५) शंकराचार्य का जीवनचरित और उनकी शिक्षा।

स्फुट ग्रन्थ—(१६) आर्य जीवन, (१७) दिव्य जीवन, (१८) आर्य पञ्चमहा-यज्ञपद्धति, (१९) वैदिक स्तुति प्रार्थना। (२०) शास्त्र रहस्य (दो भाग), (२१) शुद्धि शास्त्र, (२२) उपदेश सप्तक, (२३) प्रार्थना पुस्तक, (२४) शताब्दी शतक।

संस्कृत व्याकरण विषयक ग्रन्थ—संस्कृत प्रवेशिका, राजव्याकरण, बाल-व्याकरण, शब्दशास्त्र।

पंजाबी संस्कृत शब्दशास्त्र, राजकोष (हिन्दी)—संस्कृत प्रथम पुस्तक, हिन्दी प्रथम पुस्तक।

अवेस्ता का संस्कृतानुवाद—पं० राजाराम ने पारसी धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' का सम्पादन एवं प्रकाशन भी प्रारम्भ किया था। उसका प्रथम भाग 'अवेस्ता संस्कृतच्छाया' 'हुआ मयश्त यस्नहं' पर्यन्त १ वैशाख १९९१ वि० में प्रकाशित हुआ। इसका उपोद्घात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वैदिक संस्कृत शब्द जिन नियमों के अनुसार अवेस्ता की भाषा में परिवर्तित हुए हैं, उनका संक्षेप से निरूपण किया गया है। कोई भी संस्कृतज्ञ इन नियमों को हृदयङ्गम करके अवेस्ता को संस्कृत में रूपान्तरित कर सकता है। इसके साथ ही अवेस्ता की भाषा के विशिष्ट उच्चारण पर भी प्रकाश डाला है।

(१०) पं० चमूपति एम० ए०

पं० चमूपति उच्च कोटि के वैदिक विद्वान् तथा 'वैदिक कोष' के प्रणेता थे। उनका जन्म १५ फरवरी १८९३ ई० को 'बहावलपुर' [पाकिस्तान] में हुआ। उनके धार्मिक विचारों की चरम परिणति आर्यसमाज द्वारा प्रतिपादित वैदिक धर्म को स्वीकार कर लेने में हुई। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के कार्यसंचालन में योग देने हेतु पं० चमूपति लाहौर आ गये। सभा द्वारा स्थापित दयानन्द सेवा सदन के सदस्य बनकर पण्डित जी ने अपना सम्पूर्ण जीवन वैदिक धर्म के प्रचारार्थ अर्पित कर दिया। गुरुकुल काँगड़ी को भी पं० चमूपति जी की सेवाओं का लाभ मिला, और वे इस गुरुकुल के उपाध्याय तथा आचार्य के पदों पर रहे। पं० चमूपति विरचित वैदिक ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

(१) **जीवन-ज्योति**—यह सामवेद के आग्नेय पर्व की भावप्रधान शैली में लिखी गई व्याख्या है। इसका द्वितीय संस्करण आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा २०२१ वि० में छपा (२) **सोम-सरोवर**—सामवेद के पवमान पर्व की व्याख्या। इसका प्रथम संस्करण आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब लाहौर से छपा, और द्वितीय संस्करण २०२२ वि० में उक्त सभा द्वारा आर्योदय के विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ। (३) **यास्क युग की वेदार्थ-शैलियाँ**—इसमें निरुक्त ग्रन्थ में उल्लिखित वेदार्थ की विभिन्न शैलियों का अच्छा विवेचन किया है। केवल ऐतिहासिक पक्षवाला विवेचन विचारणीय है। यह भी आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के साहित्य विभाग द्वारा प्रकाशित हुई। (४) **यजुर्वेद के प्रथम दस अध्यायों का अंग्रेजी अनुवाद**—प्रथम गुरुकुल काँगड़ी की मासिक मुखपत्रिका 'वैदिक मैगजीन' में धारावाही प्रकाशित हुआ। पुनः पुस्तकरूप में भी छपा। (५) **वेदार्थ कोष**—तीन खण्डों में स्वामी वेदानन्द तीर्थ के सहसम्पादन में गुरुकुल काँगड़ी से छपा। इस ग्रन्थ में ऋषि दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में किन पदों का क्या अर्थ कहाँ पर किया, उसका संग्रह किया गया है। अन्य ग्रन्थों में व्याख्यात मन्त्रों के पदार्थ भी कहीं-कहीं संगृहीत हैं। यह ग्रन्थ ऋषि दयानन्द की शैली पर वेदभाष्य लिखनेवालों के लिए प्रकाश-स्तम्भ के समान सहायक है।

पं० चमूपति असाधारण विद्वान् एवं लेखक थे। हिन्दी, उर्दू और अंग्रेजी इन तीनों भाषाओं पर उनका समान अधिकार था। उर्दू में भी उन्होंने उत्कृष्ट काव्यरचना की है। उनके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

आर्यभाषा के ग्रन्थ—(१) **संध्या रहस्य**—राजपाल एण्ड सन्स लाहौर तथा सत्य प्रकाशन मथुरा द्वारा प्रकाशित। (२) **हमारे स्वामी**—(स्वामी जी की बालोपयोगी जीवनी। राजपाल एण्ड सन्स से प्रकाशित)। (३) **वृक्षों का आत्मा**। (४) **वैदिक दर्शन**। (५) **योगेश्वर कृष्ण**—महाभारत पर आधारित कृष्ण का यह जीवनचरित गुरुकुल काँगड़ी से प्रकाशित हुआ। (६) **देवयज्ञ रहस्य**—अग्निहोत्र की व्याख्या। (७) **आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब का इतिहास**। (८) **नीहारिकावाद और उपनिषद्**—आर्यसमाज वच्छोवाली के वार्षिकोत्सव पर दिया गया व्याख्यान। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा प्रकाशित। (९) **वैदिक सिद्धान्त**। (१०) **ऋषि दर्शन**। (११) **ऋषि का चमत्कार**। (१२) **वैदिक जीवन दर्शन**। (१३) **वैदिक तत्त्व दर्शन**।

उर्दू भाषा के ग्रन्थ—दयानन्द आनन्दसागर (कविता), भारत की भेंट (कविता), हिन्दुस्तान की कहानी, गो माता की लोरी (कविता), मरसियाए गोखले

(कविता), समाज और हम, तालीमी ट्रैक्ट, छू मन्त्र, काकभुशुण्डी का लेक्चर, जवाहर जावेद, चौदहवीं का चाँद, परमात्मा का स्वरूप, गंगा तरंग (पद्य), वैराग्य शतक का पद्यानुवाद (अप्रकाशित), नाराए तौहीद, मजहब का मकसद, सत्यार्थप्रकाश का उर्दू अनुवाद (१–१० समुल्लास), रंगीला रसूल (ब्रिटिश सरकार द्वारा जब्त)।

अंग्रेजी ग्रन्थ—(१) The Ten Commandments of Dayanand. प्रथम संस्करण राजपाल एण्ड सन्स ने लाहौर से प्रकाशित किया। इसी पुस्तक को Ten Principles of Arya Samaj शीर्षक से आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब तथा जनज्ञान प्रकाशन, दिल्ली ने प्रकाशित किया।

(२) Glimpses of Dayanand. यह ग्रन्थ शारदा मन्दिर दिल्ली तथा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने प्रकाशित किया।

(३) Mahatma Gandhi and the Arya Samaj.

(११) पं० रघुनन्दन शर्मा

वेदविषयक एक नितान्त महत्त्वपूर्ण एवं उपादेय ग्रन्थ 'वैदिक सम्पत्ति' के लेखक पं० रघुनन्दन शर्मा उत्तर प्रदेश के निवासी थे। शर्माजी ने इस ग्रन्थ का प्रणयन पर्याप्त परिश्रमपूर्वक किया। इसका प्रथम संस्करण महर्षि दयानन्द निर्वाण अर्द्ध शताब्दी पर प्रकाशित हुआ। बम्बई के श्रेष्ठी शूरजी वल्लभदास इस ग्रन्थ के प्रकाशक थे। प्रकाशक ने यत्न किया था कि महात्मा गांधी इस ग्रन्थ की भूमिका लिखें, किन्तु महात्मा जी के कारावास चले जाने के कारण यह सम्भव नहीं हो सका। अब तक इस उपयोगी ग्रन्थ के कई संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

'वैदिक सम्पत्ति' में वेदों की प्राचीनता, वेदों में तथाकथित ऐतिहासिकता का भ्रम, वेदों का काल, आर्यों का आदिम निवासस्थान, वेद और ब्राह्मण, वैदिक शाखायें, ऋषि, देवता एवं छन्द, वेदमन्त्रों के उपदेश, तथा वैदिक आर्यों की सभ्यता आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन हुआ है। वेदों की प्राचीनता तथा उनके आविर्भाव की विवेचना के प्रसंग में विद्वान् लेखक ने नवीन भाषाविज्ञान तथा डार्विन द्वारा प्रतिपादित विकासवाद की अत्यन्त प्रौढ़ एवं विस्तृत आलोचना की है। इस प्रकार 'वैदिक सम्पत्ति' नितान्त वैज्ञानिक शैली पर लिखा गया एक प्रौढ़ विवेचनाप्रधान ग्रन्थ है। पं० रघुनन्दन शर्मा ने एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा था—अक्षरविज्ञान। इसमें विकासवाद की समालोचना के पश्चात् यह सिद्ध किया है कि वैदिक ज्ञान और भाषा की उत्पत्ति साथ-साथ हुई। यह आदिम भाषा वैदिक भाषा ही थी। साथ ही प्रत्येक अक्षर की ध्वनि से उसका अर्थ एवं रूप की समानता भी सिद्ध की गई है। रघुनन्दन शर्मा रचित 'वैदिक सम्पत्ति' आर्यसमाज का अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ सिद्ध हुआ है। 'वैदिक सम्पत्ति' के कुछ उपयोगी अंश वैदिक आर्य सभ्यता, वेदमन्त्रों के उपदेश, तथा वैदिक ज्ञानभण्डार का मूल—यज्ञ शीर्षक से पृथक्-पृथक् पुस्तकाकार भी प्रकाशित हुए हैं। इनका प्रकाशन सार्वदेशिक प्रकाशन दिल्ली ने किया।

(१२) पं० अयोध्याप्रसाद

वैदिक धर्म और आर्य संस्कृति का देश-देशान्तरों और द्वीप-द्वीपान्तरों में अभूत-पूर्व प्रचार करनेवाले प्रख्यात वाग्मी तथा अद्वितीय धर्मोपदेशक पं० अयोध्याप्रसाद जी का

जन्म १६ मार्च १८८८ ई० को बिहार प्रान्तान्तर्गत 'गया' जिले के 'आमुआ' नामक ग्राम में हुआ। प्रारम्भ में उनकी शिक्षा उर्दू-फारसी के माध्यम से हुई। उन्हें अपने एक सम्बन्धी से उर्दू सत्यार्थप्रकाश उपलब्ध हुआ, जिसका उन्होंने मनोयोगपूर्वक अध्ययन किया। इस क्रान्तिकारी ग्रन्थ के स्वाध्याय ने उनके विचारों में परिवर्तन किया, और वे आर्यसमाज के अनुयायी बन गए। पं० अयोध्याप्रसाद आर्यसमाज कलकत्ता के सक्रिय कार्यकर्ता बन गए, और इस आर्यसमाज में वैदिक धर्म के सिद्धान्तों, तुलनात्मक धर्म तथा ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों पर व्याख्यान देते रहे। १९३३ में पण्डित अयोध्याप्रसाद अमेरिका में आयोजित विश्वधर्म सम्मेलन में आर्यसमाज के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए, और अपनी विद्वत्तापूर्ण वक्तृताओं द्वारा विदेशी श्रोताओं को प्रभावित किया। पण्डित जी का देहान्त ११ मार्च १९६५ ई० को कलकत्ता में हुआ। पण्डित जी द्वारा लिखित ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

(१) Gems of Vedic Wisdom—वेद के कतिपय प्रेरणादायी सूक्तों का अंग्रेजी अनुवाद। १९३३ ई० में प्रकाशित हुआ। (२) ओंकार व्याख्या—ओम् की शास्त्रीय विवेचना। (३) इस्लाम कैसे फैला? यह पुस्तक गोविन्दराम हासानन्द कलकत्ता द्वारा वैदिक प्रेस में मुद्रित होकर प्रकाशित हुई। इसकी कटु आलोचना महात्मा गांधी ने की थी।

(१३) पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर पद्मभूषण

भारतीय राष्ट्रपति के द्वारा संस्कृत के प्रख्यात विद्वान् के रूप में सम्मानित पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने वैदिक वाङ्मय की अभूतपूर्व सेवा की है। वेदाध्ययन, वैदिक चिन्तन तथा वैदिक साहित्य के प्रकाशन एवं प्रचार-प्रसार हेतु उन्होंने अपना समग्र जीवन ही समर्पित कर दिया था। आपका कार्यक्षेत्र प्रारम्भ में लाहौर रहा। तत्पश्चात् गुरुकुल काँगड़ी में वेदोपाध्याय के पद पर कार्य करते रहे। कालान्तर में वैदिक साहित्य के सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन को ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य स्वीकार करते हुए सातवलेकर जी ने 'स्वाध्याय मण्डल' की स्थापना की, और 'औंध' (जि० सतारा), तथा देश-विभाजन के पश्चात् 'पारडी' (जिला बलसाड़) में रहकर वैदिक ग्रन्थों का सम्पादन एवं प्रकाशन किया। सातवलेकर जी ने वेद-संहिताओं को अत्यन्त शुद्ध रूप में प्रकाशित किया। परम्पराप्राप्त संहितापाठ, पदपाठ आदि के ज्ञाता वेदज्ञ ब्राह्मणों की सहायता से उन्होंने संहिताओं के शुद्धतम संस्करण तैयार किये।

मूल वैदिक संहिताओं के अतिरिक्त कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय, मैत्रायणी तथा काठक, एवं शुक्लयजुर्वेद की काण्व शाखाओं का प्रकाशन स्वाध्याय मण्डल की एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। सातवलेकर जी ने चारों वेदों पर सुबोध भाष्य लिखे। अथर्ववेद के सुप्रसिद्ध पृथिवी सूक्त पर लिखित सातवलेकर जी की स्वातन्त्र्य भावना की उद्बोधक व्याख्या ने तत्कालीन विदेशी शासकों को इतना विचलित कर दिया कि बम्बई और युक्त प्रान्त की सरकारों ने इस पर प्रतिबन्ध लगा दिया था। वेद में विभिन्न विद्याओं के निरूपणात्मक ग्रन्थ, जो सातवलेकर जी की लेखनी द्वारा लिखे गए हैं, निम्न हैं—(१) वैदिक चिकित्सा। (२) वेद में कृषिविद्या। (३) वेदों में चर्खा। (४) वैदिक सर्पविद्या आदि।

शतपथ बोधामृत लिखकर उन्होंने शतपथ ब्राह्मण के रहस्य को उद्घाटित करने का प्रशंसनीय प्रयास किया था।

सातवलेकर जी ने वेदों को दैवत संहिता तथा आर्ष संहिता (देवता तथा मन्त्र-द्रष्टा ऋषियों के क्रम से) के रूप में पृथक्शः प्रकाशित किया। हिन्दी के अतिरिक्त मराठी तथा गुजराती में भी वेदभाष्य प्रकाशित किये। इसी प्रकार यजुर्वेद सर्वानुक्रमसूची, यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता पदसूची, ऋग्वेद मन्त्रसूची, यजुर्वेद मैत्रायणीय आरण्यक, मरुद्देवता मन्त्रसंग्रह की समन्वय चरणसूची, सामवेद के गायनविषयक ग्रन्थ भी उनके द्वारा तैयार कराकर प्रकाशित किये गए।

वेदों के विशुद्ध मुद्रण तथा भाष्यलेखन के अतिरिक्त पण्डित सातवलेकर जी ने ६ उपनिषदों पर भाष्य लिखे। वाल्मीकीय रामायण तथा महाभारत को हिन्दी टीका-सहित प्रकाशित किया। गीता की पुरुषार्थबोधिनी नामक प्रसिद्ध टीका लिखी। **वेद का स्वयंशिक्षक, वेद परिचय** आदि उपयोगी पुस्तकें लिखकर वेद के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त किया। विभिन्न वैदिक विषयों पर निबन्ध लिखे, जो वैदिक व्याख्यानमाला के अन्तर्गत ४८ भागों में प्रकाशित हुए। इन निबन्धों के द्वारा वैदिक समाजनीति, राजनीति, अध्यात्म, शरीरशास्त्र, सृष्टिविद्या आदि विभिन्न विचारों पर नवीन आलोक डाला गया है। वैदिक स्वराज्य की महिमा, मानवी आयुष्य, इन्द्रशक्ति का विकास, ऋग्वेद में रुद्र देवता, वैदिक अग्निविद्या आदि निबन्ध आगम निबन्धमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुए।

यद्यपि पं० सातवलेकर के वेदविषयक विचार पूर्णतया स्वामी दयानन्द तथा आर्यसमाज की वैदिक विचारधारा के अनुकूल नहीं थे, तथापि वैदिक स्वाध्याय की प्रेरणा उन्हें आर्यसमाज से ही प्राप्त हुई थी, और उनके विचारों पर ऋषि दयानन्द के विचारों का अमिट प्रभाव था। डॉ० श्रुतिशील शर्मा ने पं० सातवलेकर जी की विशद जीवनी लिखी है।

(१४) पं० गणेश अनन्त धारेश्वर बी० ए०

आन्ध्र प्रदेश की राजधानी हैदराबाद के निवासी पं० धारेश्वर अपने युग के अद्वितीय विद्वान् थे। उन्होंने **वेदमन्त्रार्थप्रकाश** शीर्षक से यजुर्वेद (अध्याय ३८।२४) के मन्त्र 'उद्वयं तमसस्परि' की विस्तृत व्याख्या संस्कृत तथा हिन्दी में लिखी। प्रथम मन्त्र का अन्वय, पुनः पदार्थ, तत्पश्चात् भावार्थ लिखकर उपसंहार के रूप में मन्त्र की दार्शनिक व्याख्या लिखी गई है। यह ग्रन्थ पं० तुलसीराम स्वामी के प्रबन्ध से स्वामी प्रेस मेरठ में छपा। ग्रंथ की भूमिका श्रावण कृष्णा ८ सं० १९६३ वि० को लिखी गई। यह ग्रन्थ दो भागों में छपा। पं० धारेश्वर ने 'आत्मा' के उपनाम से कुछ ग्रन्थ अंग्रेजी में भी लिखे। इन्हें Vedic Pamphlets शीर्षक ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया था। इन ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) The Supreme aim of life. (२) Love of God and God of Love (ऋग्वेद, मण्डल ३, सूक्त ४१, मन्त्र ७ की व्याख्या)। (३) The Super man (यजुर्वेद ३८।२९ की व्याख्या)। (४) Way from woe to weal. (५) Mad-man's dream. (६) Scientific beauty of sanskrit. (७) How to shape our course of life. (८) Self respect and self help. (९) Three fold need and

duty of mankind. (१०) Reason, Revelation and Religion.

आत्मा के नाम से ही पं० धारेश्वर ने Vedic Teachings and Ideals नामक एक अन्य पुस्तक लिखी, जो Dayanand Centenary series के अन्तर्गत महात्मा नारायण स्वामी द्वारा १९८१ वि० (१९२५ ई०) में प्रकाशित हुई। प्रार्थनासमाज के नेता और सुप्रसिद्ध पुरातत्त्वज्ञ डॉ० रामचन्द्र गोपाल भण्डारकर ने 'प्रपन्न प्रलपित' नामक एक पुस्तक लिखी थी। वस्तुतः यह उनके लेखों, व्याख्यानों तथा उपदेशों का संग्रह मात्र था, जिसे उनके एक शिष्य 'सुबोध-पत्रिका' सम्पादक डी० जी० वैद्य ने तैयार किया था। ग्रन्थ मराठी भाषा में लिखा गया था, और इसकी भूमिका सर नारायण चन्द्रावरकर ने लिखी थी। इस ग्रन्थ में डॉ० भण्डारकर ने वैदिक तत्त्वज्ञान एवं भक्तिवाद की तुलना में उपनिषद् तथा गीताप्रतिपादित तत्त्वज्ञान तथा ज्ञानेश्वर, नामदेव, तुकाराम आदि महाराष्ट्रीय सन्तों के भक्तिसिद्धान्त को श्रेष्ठतर प्रतिपादित किया था। श्री 'आत्मा' ने प्रपन्न-प्रलपित के तृतीय संस्करण (१९१९ ई० में प्रकाशित) के आधार पर उक्त पुस्तक में प्रतिपादित विचारों की विस्तृत समीक्षा की है। इस ग्रन्थ का परिशिष्ट Vedic Ideals के नाम से १९२७ ई० में पृथक् पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ।

Vedic Pamphlets के पीछे प्रकाशित पुस्तकसूची से विदित होता है कि प्रथम पैम्फ्लेट The Supreme aim of life का हिन्दी, मराठी, तेलुगु तथा तमिल भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हुआ था। The Ramayana What can it teach us ? तथा Gems of thoughts from the Vedas शीर्षक दो ग्रन्थ भी सम्भवतः इन्हीं लेखक द्वारा लिखे गए थे। गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी की अंग्रेजी मुखपत्रिका 'दि वैदिक मैगजीन' में आपके अनेक लेख प्रकाशित हुए।

(१५) स्वामी वेदानन्द तीर्थ

आर्यसमाज के लब्ध-प्रतिष्ठ वैदिक विद्वान् तथा सशक्त लेखक स्वामी वेदानन्द तीर्थ का जन्म उज्जैन नगर में हुआ था। किशोरवय में ही उन्होंने गृहत्याग कर दिया था।

विद्याप्राप्ति की अदम्य लालसा से प्रेरित होकर वे काशी चले आए। यहाँ एक आर्य संन्यासी स्वामी जयानन्द तीर्थ से आपने चतुर्थाश्रम की दीक्षा ली। अब आपका नाम 'दयानन्द तीर्थ' हुआ। परन्तु कालान्तर में आपने अपने परम गुरु स्वामी दयानन्द का नाम स्वीकार करने की अपेक्षा नाम-परिवर्तन करना ही श्रेयस्कर समझा, और वेदों के प्रति अपनी अगाध निष्ठा के कारण अपना नाम 'वेदानन्द तीर्थ' रख लिया।

सन् १९२६ में वेदानन्द तीर्थ दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर के मुख्याध्यापक बनाये गये। साथ ही, आपने 'विरजानन्द वैदिक संस्थान' का भी संगठन किया। देश के स्वतन्त्र होने के पश्चात् दिल्ली के निकट 'खेड़ा खुर्द' ग्राम में आपने संस्थान के कार्यालय की स्थापना की, तथा वहाँ रहकर स्वाध्याय, लेखन और प्रचार-कार्य में जुट गये। 'विरजानन्द वैदिक संस्थान' के मुखपत्र के रूप में 'वेद पथ' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन स्वामीजी के सम्पादकत्व में होने लगा। उन्होंने ऋषि दयानन्दकृत अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश का एक बृहद् स्थूलाक्षरी संस्करण प्रकाशित किया, जिसमें उपयोगी भूमिका तथा सहस्रों ज्ञानवर्द्धक टिप्पणियों का समावेश किया गया है। 'सत्यार्थप्रकाश

का प्रभाव' शीर्षक एक अन्य पुस्तक में स्वामीजी ने इस ग्रन्थ के सर्वव्यापी प्रभाव का विवेचन किया है।

स्वामी वेदानन्द तीर्थ ने वेदमन्त्रों की सुबोध व्याख्यापरक विभिन्न ग्रन्थ लिखे हैं। कतिपय उल्लेख योग्य ग्रन्थों का परिचय इस प्रकार है—(१) स्वाध्याय सन्दोह—वेदों में प्रतिपादित विभिन्न विषयों का वर्णन करने वाले ३६७ मन्त्रों की अतीव रोचक एवं ललित व्याख्या लिखी गई है। (२) सावित्री-प्रकाश—गायत्री मन्त्र की प्रामाणिक व्याख्या, (३) स्वाध्याय-संग्रह—आर्य प्रकाशन दिल्ली से प्रकाशित मन्त्र-व्याख्या संग्रह, (४) स्वाध्याय-सुमन—५३ मन्त्रों की व्याख्या। राजपाल एण्ड सन्स से प्रकाशित। (५) वेदामृत—पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के संयुक्त लेखन में तैयार यह ग्रन्थ पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित हुआ, (६) वेद-प्रवेश—वेदाध्ययन की रुचि जाग्रत् करने हेतु स्वामीजी ने तीन भागों में 'वेद-प्रवेश' शीर्षक पुस्तक लिखी। गुरुकुल झज्जर के मुखपत्र सुधारक ने इसे अपने विशेषांक के रूप में पुनः प्रकाशित किया। (७) वेदोपदेश—अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त तथा ऋग्वेद के स्वराज्य सूक्त की व्याख्या। (८) श्रुति-सूक्ति-शती—वैदिक सूक्तियों का संग्रह, (९) वैदिक स्तुतिप्रार्थनोपासना—स्वामी दयानन्द संकलित आठ मन्त्रों की व्याख्या, (१०) राष्ट्ररक्षा के वैदिक साधन—पृथिवी सूक्त के प्रथम मन्त्र की व्याख्या,(११) वेद-परिचय—वेदविषयक कतिपय महत्त्व-पूर्ण प्रश्नों का सारगर्भित विवेचन।

स्वामीजी रचित अन्य ग्रन्थ—(१) आर्यसमाज और राजनीति, (२) सन्ध्या-लोक—सन्ध्या पद्धति में प्रयुक्त मन्त्रों का विवेचन, (३) हम संस्कृत क्यों पढ़ें?—संवाद-शैली में लिखित इस पुस्तक में गीर्वाण वाणी के अध्ययन की उपयोगिता वर्णित की गई है, (४) नैमित्तिक वेदपाठ—विभिन्न अवसरों पर पढ़े जाने वाले वेदमन्त्रों का उपयोगी संग्रह, (५) अध्यात्मप्रसाद, (६) ब्रह्मोद्योपनिषद्, (७) पञ्चमहायज्ञविधि—ऋषि दयानन्दकृत इस ग्रन्थ की मार्मिक व्याख्या, (८) संस्कारविधि—स्वामी दयानन्दकृत प्रसिद्ध कर्मकाण्डपरक ग्रन्थ का सम्पादित संस्करण। इसमें संस्कारों का केवल विधि भाग छापा गया है, (९) विरजानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र, (१०) ऋषि बोध कथा—स्वामी दयानन्द के कतिपय उदात्त जीवन-संस्मरणों की भावपूर्ण व्याख्या, (११) हमारा नाम आर्य है, हिन्दू नहीं, (१२) स्वामी दयानन्द की अद्भुत बातें, (१३) दयानन्द की विलक्षण बातें—आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब द्वारा प्रकाशित, (१४) पुराणों में परस्पर विरोध,(१५) वेदार्थ कोष—इसका लेखन स्वामीजी ने पण्डित चमूपति के सह-योग से किया, (१६) नारद नीति, (१७) कणिक नीति, (१८) विदुर प्रजागर पर्वस्थ विदुर नीति—इनकी आर्यभाषा में व्याख्या प्रकाशित की गई है।

स्वामी वेदानन्द ने अपनी स्वल्प आत्मकथा 'जीवन की भूलें' शीर्षक से लिखी।

(१६) स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती

आर्यसमाज के अद्वितीय दार्शनिक, प्रसिद्ध वाग्मी, प्रतिवादीभयंकर स्वामी दर्शनानन्द जी का जन्म माघ कृष्णा १० सं० १९१८ वि० के दिन पंजाब के लुधियाना जिला अन्तर्गत 'जगराँव' ग्राम में हुआ। बाल्यकाल का नाम कृपाराम था। इस नाम की सार्थकता हमें उनके जीवन में उस समय देखने को मिलती है, जब उन्होंने काशी

में १० सितम्बर को 'तिमिरनाशक' नामक यन्त्रालय की स्थापना करके विद्वानों और छात्रों के कल्याण के लिए वेद, दर्शन, व्याकरण आदि विषयों के दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन किया, और उन्हें अधिकारी विद्वानों और निर्धन छात्रों को अल्प मूल्य में या बिना मूल्य वितरित कर दिया। काशी में रहकर अपने समय के प्रसिद्ध दार्शनिक पण्डित हरनाथ शास्त्री (स्वामी मनीषानन्द) से दर्शनों का विशद अध्ययन किया। दर्शनशास्त्र आपका प्रिय विषय था, अतः संन्यासाश्रम ग्रहण करने पर आपने अपना नाम 'दर्शनानन्द' रखा। इस नाम की सार्थकता उनके शास्त्रार्थों से भली प्रकार व्यक्त होती है। संन्यास ग्रहण करके आर्यसमाज के लिए अपना समस्त जीवन अर्पित कर दिया। आपने अनेक गुरुकुल खोले।

यद्यपि आपने वेद पर साक्षात् लेखन-कार्य नहीं किया, पुनरपि आप वेद के महान् सेवक थे, इसमें रत्तीभर संशय को स्थान नहीं है। आपकी वेद और वैदिक साहित्य-विषयक महती सेवा का अनुमान इस बात से सहज में लगाया जा सकता है कि आपने अपनी समस्त सम्पत्ति (लगभग ५०-६० सहस्र रुपया) वेद और वैदिक साहित्य के लगभग ५० ग्रन्थों को छापने में लगा दी, और सब ग्रन्थ अधिकांशतः विद्वानों और छात्रों को बिना मूल्य वितरित कर दिये। आपके द्वारा प्रकाशित समस्त ग्रन्थों की सूची उपस्थित करना अशक्य है, क्योंकि वे सम्प्रति उपलब्ध नहीं हैं। पुनरपि निम्न ग्रन्थ उनमें प्रमुख हैं—(१) सामवेद संहिता, (२) दशोपनिषद् मूल, (३) कात्यायन श्रौतसूत्र, (४) पारस्कर गृह्यसूत्र, (५) महाभाष्य कैयट कृत टीका सहित, (६) काशिका वृत्ति, (७) न्याय वात्स्यायन भाष्य, (८) वैशेषिक प्रशस्तपाद भाष्य उपस्कार टीका, (९) सांख्य वृत्ति—महादेव वेदान्ती, (१०) वेदान्त वृत्ति, (११) षड्दर्शन मूल, आदि-आदि।

संन्यास ग्रहण के पश्चात् आपने षड्दर्शनों, ८ उपनिषदों की व्याख्याओं के साथ ही प्रचारात्मक शैली में जो लगभग २०० लघु पुस्तिकायें (ट्रैक्ट) लिखीं, उनमें विभिन्न वैदिक विषयों पर भी लिखी गईं, यथा—(१) वेदों का महत्त्व (२)वेद किस पर नाज़िल (प्रकट) हुए (३) वेदों की आवश्यकता, (४) ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता, (५) ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र की व्याख्या, (६) वेदों का विषय, (७) वेदों के पढ़ने का अधिकार सबको है, आदि आदि।

(१७) पण्डित जयदेव शर्मा विद्यालंकार, चतुर्वेद-भाष्यकार

हिन्दी में प्रथम बार चारों वेदों का सम्पूर्ण भाष्य लिखनेवाले पण्डित जयदेव शर्मा का जन्म १८९२ ई० में अम्बाला जिले के एक ग्राम में हुआ था। उनका अध्ययन गुरुकुल काँगड़ी में हुआ।

आर्य साहित्य मण्डल अजमेर के संस्थापक एवं संचालक श्री मथुराप्रसाद शिवहरे की प्रेरणा से विद्यालंकार जी ने चारों वेदों का हिन्दी भाष्य लिखने का महत्तम कार्य प्रारम्भ किया। मई १९२५ ई० में चतुर्वेद-भाष्य का लेखन प्रारम्भ हुआ और ११ वर्ष पश्चात् १९३६ ई० में उसकी अन्तिम जिल्द पाठकों के समक्ष आई। चतुर्वेद-संहिता पर लिखा गया यह भाष्य केवल हिन्दी का ही नहीं, अपितु किसी भारतीय भाषा में लिखा गया प्रथम सम्पूर्ण वेदभाष्य है। स्वामी दयानन्द जी द्वारा उपस्थापित वेदार्थ की नैरुक्त

प्रक्रिया का आश्रय लेकर लिखा गया यह वेदभाष्य एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करता है। ऋग्वेदभाष्य ७ जिल्दों में, यजुर्वेद २ जिल्दों में, सामवेद का भाष्य १ जिल्द में, तथा अथर्ववेद का भाष्य ४ जिल्दों में प्रकाशित हुआ। भाष्यारम्भ में विद्वान् भाष्यकार ने महत्त्वपूर्ण भूमिकायें लिखकर विभिन्न वेदसंहिताओं में वर्णित विषयों का व्यापक परिचय दिया है। अब तक इस वेदभाष्य के अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। रूस के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्री बुलगानिन के भारत-आगमन पर यही वेदभाष्य भारत सरकार द्वारा उन्हें भेंटस्वरूप दिया गया था। पण्डित जयदेव जी के वेदविषयक अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

(१) **अथर्ववेद और जादू-टोना**—पश्चिमी वैदिक विद्वानों तथा उनके भारतीय अनुयायियों ने अथर्ववेद के सम्बन्ध में अनेक भ्रमपूर्ण धारणायें व्यक्त की हैं। उनके अनुसार अथर्व मन्त्रों में जादू-टोना, अभिचार आदि के अन्धविश्वासों का उल्लेख पाया जाता है। शर्मा जी ने यह पुस्तक लिखकर अथर्ववेद पर लगाये जानेवाले उपर्युक्त आक्षेपों का तर्कपूर्ण समाधान किया है, (२) **क्या वेद में इतिहास है?** सुप्रसिद्ध वेदज्ञ पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर के इस मन्तव्य की कि वेदों में इतिहास का उल्लेख मिलता है, इस पुस्तक में विस्तृत समालोचना की गई है, (३) **माधवानुक्रमणी**—ऋग्वेद के भाष्यकार वेंकट माधव ने ऋग्वेदभाष्य के आठ अष्टकों के प्रत्येक अध्याय के आरम्भ में स्वर, आख्यात, निपात, छन्द आदि ८ विषयों की विवेचना की है। डॉक्टर कुन्दनराज ने इन्हें सर्वप्रथम 'ऋग्वेदानुक्रमणी' के नाम से प्रकाशित किया था। पण्डित जयदेव जी ने इनका भाषानुवाद करके पुनः प्रकाशित किया, (४) **ईशोपनिषद् का अनुवाद**, (५) **यमयमी सूक्त**, (६) **पुराणमत-पर्यालोचन**—आचार्य रामदेव जी के सहलेखन में लिखा गया अष्टादश पुराणों का आलोचनात्मक अध्ययन।

(१८) पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

आर्यसमाज के साहित्य को अपनी उच्चकोटि की दार्शनिक कृतियों के द्वारा समृद्ध करनेवाले, तथा हिन्दी-अंग्रेजी-संस्कृत एवं उर्दू में समान रूप में लेखनी चलानेवाले पण्डित गंगाप्रसाद उपाध्याय का जन्म ६ सितम्बर १८८१ को जिला एटा में कासगंज के निकट 'नदरई' नामक ग्राम में हुआ। आपने १९१२ ई० में अंग्रेजी साहित्य लेकर एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण की और १९२३ ई० में दर्शनशास्त्र लेकर प्रयाग विश्वविद्यालय से पुनः एम० ए० किया।

उपाध्यायजी द्वारा रचित आर्यसामाजिक साहित्य (जिसमें उनके द्वारा रचित वैदिक साहित्य का उल्लेख भी समाविष्ट है) का विवरण इस प्रकार है —(१) **आर्यसमाज**—स्वामी दयानन्द एवं आर्यसमाज के सिद्धान्तों, कार्यों और प्रवृत्तियों का परिचय देनेवाला यह ग्रन्थ सर्वप्रथम १९२४ ई० में ऋषि दयानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर प्रकाशित हुआ, (२) **सर्वदर्शन सिद्धान्त संग्रह**—शंकराचार्य द्वारा रचित कही जानेवाली यह पुस्तक अनुवादसहित १९२५ ई० में प्रकाशित हुई। इसमें चार्वाक, जैन, बौद्ध, न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, वेदान्त, मीमांसा आदि भारतीय दर्शनों का सरल अनुष्टुप् छन्दों में परिचय दिया गया है, (३) **आस्तिकवाद**—उपाध्याय जी की यह मूर्धन्य दार्शनिक कृति है। इसकी रचना १९२६ ई० में हुई। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के

१९३१ ई० के कलकत्ता अधिवेशन में इस कृति पर लेखक को १२०० रु० का मंगलाप्रसाद पुरस्कार मिला, (४) अद्वैतवाद—इसका प्रकाशनकाल १९२७ ई० है, (५) वैदिक विवाह पद्धति—उपाध्याय जी ने अपने अनुज पण्डित सत्यव्रत उपाध्याय के सहलेखन में इसे लिखा, और १९२८ ई० में प्रकाशित किया, (६) वैदिक उपनयन पद्धति—यह भी उक्त पण्डित सत्यव्रत उपाध्याय के सहलेखन में लिखी गई, और १९३० ई० में प्रकाशित हुई, (७) शंकर-रामानुज-दयानन्द—तीनों दार्शनिकों का तुलनात्मक अध्ययन १९३० ई० में छपा, (८) राजा राममोहन राय-केशवचन्द्र सेन-दयानन्द—भारतीय पुनर्जागरण के इन तीन अग्रदूत महापुरुषों का तुलनात्मक अध्ययन १९३१ ई० में प्रकाशित हुआ, (९) धम्मपद—महात्मा बुद्ध की नैतिक शिक्षाओं का यह ग्रन्थ मूलतः पालि भाषा में लिखा गया है। इसका अनुवाद १९३२ ई० में प्रकाशित हुआ, (१०) जीवात्मा—जीवात्मा का दार्शनिक निरूपण करनेवाला यह ग्रन्थ महर्षि दयानन्द निर्वाण अर्द्धशताब्दी के अवसर पर १९३३ ई० में छपा, (११) वैदिक मणिमाला—वेदमन्त्रों की सरल व्याख्यायुक्त यह पुस्तक १९३६ ई० में प्रकाशित हुई, (१२) मनुस्मृति—आर्यों के जगत्-प्रसिद्ध धर्मशास्त्र के इस ग्रन्थ को उपाध्याय जी ने अत्यन्त अवधानतापूर्वक सम्पादित किया है। ग्रन्थारम्भ में एक विस्तृत भूमिका लिखकर मनुस्मृति के प्रवक्ता भगवान् मनु का ऐतिहासिक विवेचन किया है। मनुस्मृति में प्रक्षिप्त श्लोकों का विवेचन करते हुए क्षेपक-अंशरहित पाठ हिन्दी अर्थसहित दिया गया है,(१३) महिला व्यवहार चन्द्रिका—स्त्रियों का उपयोगी यह ग्रन्थ १९३८ ई० में प्रकाशित हुआ, (१४) ईशोपनिषद्—सरल टीकायुक्त यह उपनिषद् १९४० ई० में प्रकाशित हुआ, (१५) भगवत् कथा—उपनिषद्-ग्रन्थों में उपलब्ध होनेवाले व्याख्यानों के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई, (१६) शंकर भाष्यालोचन—आद्य शंकराचार्यरचित वेदान्तसूत्रों के अद्वैतपरक प्रसिद्ध भाष्य का अनेक युक्ति एवं प्रमाणों से तर्कयुक्त खण्डन। प्रकाशनकाल १९४० ई०, (१७) हम क्या खायें, घास या मांस ?—मांसाहार की स्वास्थ्य, सदाचार, नैतिकता आदि मानदण्डों के आधार पर युक्तिपूर्ण आलोचना १९४९ ई० में प्रकाशित हुई, (१८) आर्य स्मृति—मनुस्मृति की शैली पर लिखा गया धर्म-व्यवहार-नीति और सदाचार का प्रतिपादक यह ग्रन्थ सरल संस्कृत अनुष्टुप् छन्दों में लिखा गया है, (१९) कम्युनिज्म—साम्यवाद के मार्क्स-प्रतिपादित सिद्धान्तों की समालोचना में लिखा गया यह महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ १९५० ई० में प्रकाशित हुआ, (२०) ऐतरेय ब्राह्मण—ऋग्वेद से सम्बन्धित ऐतरेय ब्राह्मण का यह शब्दानुवाद एक विस्तृत भूमिका सहित १९५० ई० में हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा प्रकाशित हुआ, (२१) मीमांसा प्रदीप—षड् दर्शनों में सर्वाधिक दुरूह और क्लिष्ट समझे जानेवाले मीमांसा दर्शन का सुबोध और सरल शैली में परिचय देनेवाला यह ग्रन्थ है, (२२) सायण और दयानन्द—दोनों वेदभाष्यकारों पर लिखा गया यह तुलनात्मक ग्रन्थ है। इसमें दयानन्द के वेदभाष्यकार के रूप में सायण से उनकी वरीयता स्थापित की गई है, (२३) जीवनचक्र—यह उपाध्याय जी की आत्मकथा है, (२४) आर्योदय-काव्यम्—दो खण्डों में लिखा गया यह संस्कृत-काव्य भारत के पुराने गौरवपूर्ण इतिहास, तथा स्वामी दयानन्द के दिव्य चरित्र को पद्यबद्ध रूप में उपस्थित करता है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अतिरिक्त उपाध्याय जी ने शतपथ ब्राह्मण का हिन्दी अनुवाद

भी किया था। उनके जीवनकाल में तो यह वृहद् किन्तु महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ अप्रकाशित ही रहा, किन्तु कालान्तर में श्री रामस्वरूप शर्मा के प्रयत्न से इसका प्रथम खण्ड ८०० पृष्ठों में दिल्ली से प्रकाशित हुआ। शेष दो खण्डों को भी प्रकाशित करने का प्रयत्न हुआ है।

हिन्दी और संस्कृत के साथ-साथ उपाध्याय जी ने अंग्रेजी में भी उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे हैं।

(१९) पद-वाक्य प्रमाणज्ञ पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु

वेद-व्याकरण तथा अन्यान्य शास्त्रों के महान् विद्वान् पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का जन्म १४ अक्तूबर १८९२ ई० को जालन्धर जिले के 'भल्लूपोता' नामक ग्राम में हुआ। जिज्ञासु जी ने संस्कृत का अध्ययन स्वामी पूर्णानन्द जी से किया, जो स्वयं अष्टाध्यायी के महान् विद्वान् थे। संस्कृत व्याकरण में व्युत्पन्न होने के अनन्तर जिज्ञासु जी ने श्री स्वामी सर्वदानन्द जी के साधु आश्रम (हरदुआगंज) पुल काली नदी अलीगढ़ में आर्ष पाठविधि से व्याकरणादि का अध्यापन सन् १९२० ई० में आरम्भ किया। फिर यह आश्रम सन् १९२१ ई० के अन्त में गण्डासिंह वाला अमृतसर में विरजानन्द आश्रम के रूप में स्थानान्तरित हो गया। जनवरी सन् १९३२ ई० के आरम्भ में अन्यान्य शास्त्रों का स्वयं तथा आश्रम की बड़ी श्रेणियों के छात्रों को विशेष अध्ययन करने-कराने के लिए काशी चले गये। वहाँ म० म० श्री चिन्नस्वामी जी शास्त्री आदि दिग्गज विद्वानों से मीमांसा आदि शास्त्रों का अध्ययन किया। तदनन्तर १९३५ में काशी से लौटकर शाहदरा लाहौर में रावी नदी के तट पर पूर्ववत् छात्रों को अष्टाध्यायी, महाभाष्य, निरुक्त, दर्शन, वेद आदि की शिक्षा देने लगे। देश-विभाजन के पश्चात् जिज्ञासु जी ने काशी को अपनी सारस्वत साधना की भूमि बनाया। यहाँ आकर पाणिनीय महाविद्यालय की स्थापना की, और आर्ष शैली का अनुसरण करते हुए संस्कृत तथा शास्त्र-शिक्षण में प्रवृत्त हुए। भारत के राष्ट्रपति ने पण्डित ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु की संस्कृत सेवाओं के उपलक्ष्य में उन्हें राष्ट्रीय स्तर पर सम्मानित किया।

जिज्ञासु जी ने स्वामी दयानन्दरचित यजुर्वेद-भाष्य पर विस्तृत विवरण लिखा है। दश अध्याय पर्यन्त यजुर्वेद-भाष्य-विवरण का प्रथम संस्करण श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर से २००३ वि० में प्रकाशित हुआ था। द्वितीय संस्करण सं० २०१६ वि० में छापा। विवरणकार ने दयानन्द-भाष्य पर विस्तृत टिप्पणियाँ लिखी हैं, तथा भाष्य में प्रयुक्त संस्कृत भाषा के व्याकरण-विषयक तथाकथित अपप्रयोगों की साधुता दर्शाने का प्रयत्न किया है। भाष्य-विवरण की विस्तृत भूमिका में वेदज्ञान का स्वरूप, वेद और उसकी शाखायें, देवतावाद, छन्दोमीमांसा, धातुओं का अनेकार्थत्व तथा यौगिकवाद, वेदार्थ की त्रिविध प्रक्रिया आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का व्यापक विवेचन किया गया है। ग्रन्थ का द्वितीय भाग, जिसमें यजुर्वेद के एकादश अध्याय से लेकर पञ्चदश अध्याय पर्यन्त भाष्य पर जिज्ञासु जी लिखित विवरण है, सं० २०२८ वि० में उक्त ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित हुआ। षोडश अध्याय से लेकर समाप्ति पर्यन्त शेष विवरण को प्रकाशित करने की योजना भी ट्रस्ट के पास है, जिसे शीघ्र ही क्रियान्वित किया जाएगा।

जिज्ञासु जी ने वैदिक विषयों पर शोधपूर्ण निबन्ध भी लिखे, जो प्रकाशित हुए—

(१) **वेदार्थ प्रक्रिया के मूलभूत सिद्धान्त**—इस ग्रन्थ में जिज्ञासु जी ने वेद की नैरुक्त प्रक्रिया को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। श्री पण्डित सातवलेकर जी से 'वैदिक देवता' विषय को लेकर श्री जिज्ञासु जी का जो लिखित शास्त्रार्थ हुआ, उससे उनकी वैदिक देवतावाद-विषयक धारणाओं की पुष्टि हुई, तथा यह सिद्ध हो गया कि स्वामी दयानन्द ने वेदमन्त्रों के जिन देवताओं का उल्लेख किया है, उसमें कुछ भी अनौचित्य नहीं है।

(२) **वेद और निरुक्त**—प्रथम आर्य विद्वत्सम्मेलन में पढ़ा गया यह निबन्ध ओरिएण्टल कॉलेज लाहौर की पत्रिका में प्रकाशित हुआ। पुन: श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर से प्रकाशित हुआ। इसका द्वितीय संस्करण उक्त ट्रस्ट से सं० २०२४ में प्रकाशित हुआ।

(३) **निरुक्तकार और वेद में इतिहास**—यह निबन्ध भी ओरिएण्टल कॉलेज लाहौर की पत्रिका में प्रकाशित होने के अनन्तर श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट लाहौर से छपा। इसका द्वितीय संस्करण उक्त ट्रस्ट से सं० २०२४ में प्रकाशित हुआ।

(४) **देवापि और शन्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप**—ऋग्वेद मं० १० सूक्त १९ में देवापि और शन्तनु का वर्णन मिलता है। पाश्चात्य और उनके अनुयायी भारतीय विद्वान् इस सूक्त में कौरवकुल के देवापि, शन्तनु का आख्यान सिद्ध करते हैं। जिज्ञासु जी ने पाश्चात्य मत का सप्रमाण खण्डन करते हुए सूक्त के मन्त्रों की आधिभौतिक व्याख्या करके दर्शाया है कि देवापि, शन्तनु व्यक्तिविशेष नहीं हैं, आधिदैविक पदार्थ हैं।

पाणिनीय व्याकरण सम्बन्धी ग्रन्थ—

(१) **अष्टाध्यायी-भाष्य प्रथमावृत्ति**—ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाशादि ग्रन्थों में अष्टाध्यायी के पठन-पाठन की जो प्रक्रिया लिखी है, उसी के अनुरूप जिज्ञासु जी ने प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद, विभक्ति, समास, अर्थ, उदाहरण और उसकी सिद्धिपूर्वक यह भाष्य संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में लिखा है। जिज्ञासु जी इस ग्रन्थ के पाँच अध्याय ही लिख पाये थे, शेष तीन अध्याय उनकी अन्तेवासिनी सुश्री प्रज्ञाकुमारी व्याकरणाचार्य ने उसी शैली पर लिखकर पूरे किये।

(२) **संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि**—श्री जिज्ञासु जी अष्टाध्यायी के माध्यम से बड़ी आयु के विद्यार्थियों को भी बिना रटे बड़ी सुगमता से व्याकरण का ज्ञान करवाने में सिद्धहस्त थे। उन्होंने उसी प्रक्रिया के अनुसार तीन मास में संस्कृत का प्रारम्भिक ज्ञान कराने के लिए यह पुस्तक लिखी है। इस ग्रन्थ के थोड़े-से वर्षों में ५ संस्करण (१४०००) छप चुके हैं। इस पुस्तक के आधार पर आन्ध्र, उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश के अनेक नगरों में उनके शिष्य-प्रशिष्य बड़ी सफलता से संस्कृत-प्रचार का कार्य कर रहे हैं। सरलतम विधि के अन्त में अगले ६ मास के पठन-पाठन का जो ब्यौरा दिया गया था, उसी के अनुसार पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक ने इस ग्रन्थ का द्वितीय भाग लिखकर प्रकाशित कर दिया है।

(२०) पण्डित भगवद्दत्त बी०ए०

आर्यसमाज के क्षेत्र में वैदिक शोध के प्रवर्तक पण्डित भगवद्दत्त का जन्म २७ अक्टूबर १८९३ ई० को अमृतसर में हुआ। १९१५ ई० में वे बी०ए० परीक्षा में उत्तीर्ण हुए। कालान्तर में वेद के अध्ययन, अन्वेषण और अनुसन्धान को ही उन्होंने अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लिया। पण्डित भगवद्दत्त डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर में अध्यापन-कार्य करने लगे। तत्पश्चात् कॉलेज के प्रिंसिपल महात्मा हंसराज के अनुरोध से उन्होंने उक्त कॉलेज के अनुसन्धान-विभाग के अध्यक्षपद पर कार्य करना स्वीकार कर लिया। निरन्तर १९ वर्ष तक वे इस महत्त्वपूर्ण पद पर कार्य करते रहे। इस बीच उन्होंने कॉलेज के लालचन्द पुस्तकालय में संस्कृत के लगभग सात हजार ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ संगृहीत कीं।

पण्डित भगवद्दत्त के वैदिक अनुशीलन का विवरण इस प्रकार है—

(१) **वैदिक वाङ्मय का इतिहास**—तीन खण्डों में सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का व्यवस्थित इतिहास लिखने का यह श्लाघनीय एवं सफल प्रयास है। प्रथम खण्ड में वेदों की विविध शाखाओं का खोजपूर्ण विवेचन किया गया है। इसका द्वितीय संस्करण सं० २०१३ ई० में श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर ने प्रकाशित किया। द्वितीय खण्ड में ब्राह्मण एवं आरण्यक ग्रन्थों का इतिहास लिखा गया है, तथा तृतीय खण्ड में वेद के ज्ञात-अज्ञात-अल्पज्ञात सभी भाष्यकारों का ऐतिहासिक इतिवृत्त निबद्ध किया गया है। द्वितीय एवं तृतीय खण्ड डी०ए०वी० कॉलेज लाहौर शोध ग्रन्थमाला के अन्तर्गत क्रमशः १९८४ वि० तथा १९८८ वि० में प्रकाशित हुए, (२) **ऋग्वेद पर व्याख्यान**—डी०ए०वी० कॉलेज लौहर शोध ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित, (३) **ऋङ्मन्त्र व्याख्या**—ऋषि दयानन्द ने वेदभाष्य से भिन्न ग्रन्थों में जो मन्त्रों की व्याख्या लिखी है, उनका इसमें संकलन किया गया है। यह प्रारम्भिक छोटा-सा ग्रन्थ छपा है, (४) **वेद विद्या निदर्शन**—वेदमन्त्रों में निहित प्राकृतिक एवं भौतिक तथ्यों का उद्घाटन करनेवाला यह अपूर्व ग्रन्थ है। इसमें प्राचीन वैदिक वाङ्मय में वर्णित सृष्टिप्रपञ्च-विषयक सिद्धान्तों का आधुनिक वैज्ञानिक सत्यों से समन्वय प्रदर्शित किया गया है, जो मात्र ऊहा या कल्पना पर आश्रित न होकर प्रमाणपुरस्सर है, (५) **निरुक्त भाष्य**—यास्कीय निरुक्त पर प्रथम बार लिखी गई यह आधिदैविक प्रक्रियापरक व्याख्या है। काशीनाथ विश्वनाथ राजवाड़े तथा डॉक्टर सिद्धेश्वर वर्मा ने अपने-अपने ग्रन्थों में यास्कीय निर्वचन-शैली की आलोचना करते हुए उसे यदा-कदा असम्भव (Improbable) तथा बेहूदा (absurd) कहा था, उसकी कटु समीक्षा करते हुए पण्डित भगवद्दत्त जी ने निरुक्तशास्त्र की महत्ता तथा उसके गौरव की स्थापना की है।

डी० ए० वी० कॉलेज के शोधविभाग के अध्यक्ष के रूप में उन्होंने जिन वैदिक ग्रन्थों का सम्पादन व प्रणयन किया, उनमें निम्न उल्लेखनीय हैं—(१) **अथर्ववेदीया पञ्चपटलिका**—अथर्ववेद-विषयक ग्रन्थ का सम्पादन, (२) **अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा**—शिक्षाविषयक ग्रन्थ का सम्पादन, (३) **वैदिक कोष की विशद भूमिका**—पण्डित हंसराज सम्पादित ग्रन्थ की भूमिका के रूप में शोधपूर्ण निबन्ध। अन्य वैदिक निबन्ध—बजवाप गृह्यसूत्र संकलन, शाकपूणि का निरुक्त एवं निघण्टु, (४) **Extraordinary**

Scientific Knowledge in Vedic Works—अन्तर्राष्ट्रीय प्राच्य-विद्या परिषद् के दिल्ली अधिवेशन में पठित वेदविषयक शोधपूर्ण निबन्ध, (5) **Western Indologists : A study in motives**—पश्चिमी भारततत्त्वज्ञ विद्वानों की पूर्वाग्रहपूर्ण धारणाओं का सप्रमाण खण्डन, (६) **अथर्वण ज्योतिष,** (७) **धनुर्वेद का इतिहास,** (८) **भारतीय राजनीति के मूल तत्त्व**—आर्य महासम्मेलन के मेरठ अधिवेशन पर आयोजित राजनीति-परिषद् के अध्यक्षपद से दिया गया व्याख्यान, (९) **भाषा का इतिहास** (भाषाविज्ञान-विषयक पाश्चात्य मतों का खण्डन), (१०) **भारतीय संस्कृति का इतिहास,** (११) **भारतवर्ष का इतिहास,** (१२) **भारतवर्ष का बृहद् इतिहास** (२ भाग)—यह भारतीय वाङ्मय में उपलब्ध सूत्रों के आधार पर अनुसन्धानपूर्ण क्रमिक इतिहास-ग्रन्थ है, (१३) **ऋषि दयानन्द का स्वलिखित एवं स्वकथित जीवनचरित**—थियोसोफिस्ट में प्रकाशित तथा पूना प्रवचन में कथित आत्म-वृत्तान्त का सम्पादन, (१४) **ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन**—श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट से प्रकाशित, (१५) **गुरुदत्त ग्रन्थावली**—पण्डित सन्तराम बी०ए० के सहयोग से अनूदित, (१६) **सत्यार्थप्रकाश**—ऋषि दयानन्द के जगत्-प्रसिद्ध ग्रन्थ सत्यार्थ प्रकाश का सम्पादित संस्करण, (१७) **वाल्मीकीय रामायण**—पश्चिमोत्तर (काश्मीरी) शाखा के बाल, अयोध्या तथा आरण्य काण्डों का सम्पादन, (१८) **उद्गीथाचार्यरचित ऋग्वेद भाष्य**—दशम मण्डल के पाँचवें सूक्त से लेकर ८३वें सूक्त तक का सम्पादन, (१९) **आचार्य बृहस्पति रचित राजनीतिसूत्रों का सम्पादन एवं भूमिका-लेखन,** (२०) **THE STORY OF CREATION**—यह पण्डित भगवद्दत्त जी का अन्तिम महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जो उनके निधन से केवल दो मास पूर्व प्रकाशित हुआ था। इस पुस्तक में वैदिक साहित्य में आये सृष्टि-सम्बन्धी विविध वचनों के आधार पर सृष्टिरचना के सम्बन्ध में भारतीय आर्ष मत उपस्थापित किया है। स्थान-स्थान पर पाश्चात्य वैज्ञानिकों के सृष्टि-सम्बन्धी मतों की आलोचना भी की है। यह पुस्तक सृष्टि-सम्बन्धी अनेक विषयों के और अधिक अन्वेषण के लिए मार्गदर्शक है।

(२१) आचार्य अभयदेव विद्यालंकार

इस युग के दो लोकविश्रुत वेदभक्त विद्वानों—स्वामी दयानन्द तथा योगी अरविन्द—से समान रूप से प्रेरणा ग्रहण करनेवाले आचार्य देवशर्मा 'अभय' विद्यालंकार का जन्म २ जुलाई १८९६ ई० को हरदोई (उत्तर प्रदेश) में हुआ। आपका शिक्षण गुरुकुल विश्वविद्यालय, काँगड़ी में हुआ। १९१९ ई० में विद्यालंकार की उपाधि ग्रहण कर वे स्नातक बने। गुरुकुल के तत्कालीन आचार्य और मुख्याधिष्ठाता स्वामी श्रद्धानन्द के आग्रह से आपने इसी शिक्षण-संस्था में वेदोपाध्याय का पद स्वीकार किया। फिर क्रमशः उपाचार्य और आचार्य के पद को अलंकृत किया।

स्वामी अभयदेव जी की गणना वेद के विशिष्ट विद्वानों में होती है। वेदविषयक इनकी सर्वोत्कृष्ट पुस्तक 'वैदिक विनय' है, जो तीन भागों में लिखी गयी। वेदव्याख्या का अद्वितीय ग्रन्थ है। इसमें वर्ष के प्रत्येक दिन के हिसाब से नित्य पठनार्थ ३६५ मन्त्रों की भावपूर्ण व्याख्या की गई है। प्रत्येक मन्त्र का शब्दार्थ, भावार्थ तथा उस पर आधृत भक्ति-भावनापूर्ण विनय लिखी गई है। सौर वर्ष के अनुसार प्रथम वैशाख से नये वर्ष का आरम्भ कर प्रत्येक चार मास की एक ऋतु होने से मुख्यतः तीन ऋतु—ग्रीष्म, वर्षा

और हेमन्त, तथा तदनुकूल प्रत्येक ऋतु की ऋतुचर्य्या तथा ऋत्वनुकूल करने योग्य योगासन आदि को 'वैदिक विनय' के तीनों भागों के प्रारम्भ में क्रमशः दिया गया है। दैनन्दिन वेद-स्वाध्याय के लिए इससे अधिक उपयुक्त और कोई ग्रन्थ नहीं है। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता का अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि अबतक इसके सात संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, तथा गुजराती, मराठी, कन्नड एवं अंग्रेजी में इसका अनुवाद हो चुका है। महात्मा गांधी ने अपने आश्रमवासियों को इस ग्रन्थ का नित्यपाठ करने का आदेश दिया था।

आचार्य अभयदेव जी के वेदविषयक अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—(१) **ब्राह्मण की गौ**—अथर्ववेद के पञ्चम काण्ड के अठारहवें 'ब्रह्मगवी' सूक्त की यह हृदयग्राही व्याख्या गुरुकुल काँगड़ी से प्रकाशित हुई है। विद्वान् ब्राह्मण की वाणी ही उसकी गौ है, जिस पर प्रतिबन्ध लगाकर कोई शासन अपना अनिष्ट स्वयं आमन्त्रित करता है। सूक्त का प्रतिपाद्य विषय स्वामीजी की व्याख्या से नितान्त स्पष्ट हो जाता है। (२) **वैदिक ब्रह्मचर्य गीत**—अथर्ववेद काण्ड ११ के पाँचवें 'ब्रह्मचर्य' सूक्त की यह काव्यशैलीपूर्ण मनोहारी व्याख्या है। (३) **वैदिक उपदेशमाला**—वेद के कतिपय स्फुट मन्त्रों की व्याख्या सरल शैली में लिखी गई है। **अनुवाद ग्रन्थ**—योगिराज अरविन्द ने अपनी पद्धति से वेद के कतिपय सूक्तों की जो अंग्रेजी में व्याख्या की थी, उसका हिन्दी अनुवाद **'वेदरहस्य'** शीर्षक से स्वामी अभयदेव ने किया है, तथा अरविन्दकृत स्वामी दयानन्द-विषयक दो सुप्रसिद्ध निबन्धों—**Dayanand and Veda, Dayanand—The man and his work** का हिन्दी अनुवाद भी किया, जो अरविन्द आश्रम पाण्डिचेरी के हिन्दी प्रकाशन विभाग से प्रकाशित हुआ।

(२२) पण्डित चन्द्रमणि विद्यालंकार पालिरत्न

गुरुकुल काँगड़ी के सुयोग्य स्नातक पण्डित चन्द्रमणि जी वेद और निरुक्त के प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपने वर्षों तक गुरुकुल काँगड़ी में अध्यापन-कार्य किया। पण्डित चन्द्रमणि जी ने निरुक्त का 'वेदक-दीपक' नाम से दो खण्डों में सरल हिन्दी भाष्य लिखा। निरुक्त को समझने के लिए यह एक सुबोध व्याख्या है। इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इस व्याख्या में मन्त्रों का अर्थ करते समय स्वामी दयानन्द के वेदभाष्य और उनकी शैली का विशेष ध्यान रखा गया है।

पण्डित चन्द्रमणि के अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—(१) **श्रीमद्वाल्मीकीय रामायण धारावाही अनुवाद**—प्रतिभा प्रकाशन, देहरादून से १९५१ में तीन भागों में प्रकाशित हुआ। यह रामायण का संक्षिप्त संस्करण है। (२) **आर्ष मनुस्मृति**—प्रक्षिप्त श्लोकों को पृथक् कर मनुस्मृति का सरल भाष्य। (३) **कल्याण-पथ**—गीता-भाष्य। (४) **स्वामी दयानन्द का वैदिक स्वराज्य**। (५) **स्वामी दयानन्द के सत्य-अहिंसा के प्रयोग**। (६) **महर्षि पतञ्जलि और तत्कालीन भारत**। (७) **वेदार्थ करने की विधि**।

(२३) पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार (स्वामी समर्पणानन्द)

वेदार्थ-विषयक अद्भुत ऊहा के धनी पण्डित बुद्धदेव विद्यालंकार ने अपनी प्रशंसनीय प्रतिभा के बल पर वेदविषयक जिस गम्भीर साहित्य का प्रणयन किया है, वह

मात्रा में चाहे स्वल्प ही है, महत्ता तथा गुणवत्ता की दृष्टि से सर्वथा उल्लेखनीय है। विद्यालंकार जी गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी के स्नातक, सफल व्याख्याता, शास्त्रार्थ-समर के दिग्गज महारथी तथा कुशल लेखक थे। उनके कृतित्व का उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—(१) अथर्ववेद भाष्य—चार काण्डों का भाष्य। (२) शतपथ ब्राह्मण भाष्य—अध्याय पाँच पर्यन्त। यह भाष्य २६४ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। मङ्गल श्लोक में लेखक ने गुरुवन्दना करते हुए लिखा—

गाम्भीर्यं यदि तच्छ्रुतेरभिनवः पन्थाः यदि स्वीकृतः।
पूर्वाचार्य्यविलक्षणो यतिवरस्यानुग्रहः कोऽप्यसौ॥
शालग्राम गुरोः कृपा यदि पुनः पाण्डित्यलेशः क्वचित्।
किं किं नात्र परोपकारजनितं दोषास्तु ये ते मम॥

(३) शतपथ में एक पथ—(शतपथ भाष्य का परिचय)। (४) वैदिक स्वर्ग। (५) सोम। (६) अथ मरुत्सूक्तम्—ऋग्वेद के मरुत्सूक्तों का विवेचन। (७) सप्त सिन्धु सूक्त—ऋग्वेद के दशम मण्डल के अन्तर्गत ७५वें 'सप्त सिन्धु' सूक्त का सेना-परक व्याख्यान। (८) ऋग्वेद का मणिसूत्र—(अप्रकाशित), (९) वैदिक अग्नि प्रकाश। (१०) वेदों के सम्बन्ध में क्या जानो और क्या भूलो।

बुद्धदेव जी के अन्य प्रकाशित ग्रन्थ भगवद्गीताभाष्य, मनु और मांसाहार, त्रैतवाद, तीन देवता, नेहरू-नीति, 'ही और भी', सोम और सुरा, कायाकल्प, वैदिक दाम्पत्य सूक्त (अथर्ववेद अन्तर्गत १४वाँ काण्ड), सुर और असुर, किसकी सेना में भर्ती होंगे ?

(२४) पण्डित रामावतार शर्मा तीर्थ-चतुष्टय

स्व० पण्डित रामावतार शर्मा बिहार प्रान्त के मुंगेर जिले के 'गोगरी' ग्राम के रहनेवाले थे। आपने कई स्थानों पर रहकर विविध शास्त्रों का अध्ययन किया, और साहित्य, व्याकरण, दर्शन विषयों की कलकत्ता से चार तीर्थ परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। आप लगभग १८ वर्ष छपरा (सारन) जिला अन्तर्गत हरपुरजान के विद्याप्रेमी ऋषिभक्त कृष्णबहादुरसिंह द्वारा संचालित गुरुकुल के आचार्यपद पर प्रतिष्ठित रहे। सन् १९३३ में मीमांसाशास्त्र के अध्ययन-प्रसंग में स्वर्गीय पण्डित ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु से काशी में भेंट हुई। समान विचारधारा वाले दो विद्वानों का पारस्परिक परिचय अल्पकाल में ही प्रगाढ़ मैत्री में परिणत हो गया, जो जीवनपर्यन्त बना रहा। सन् १९४४ ई० के आरम्भ में आर्यप्रादेशिक प्रतिनिधि सभा लाहौर ऋषि दयानन्द की शैली पर साम और अथर्ववेद का भाष्य लिखवाने के लिए प्रयत्नशील थी। उसके मन्त्री श्री खुशहालचन्द जी (श्री आनन्द स्वामी जी) ने पहले पण्डित जिज्ञासु जी को यह कार्य करने को कहा, परन्तु उन्होंने ऋषिकृत यजुर्वेद-भाष्य के सम्पादन और विवरण के लेखन में लगे होने के कारण मना कर दिया। इस पर उनके ऊपर ही यह भार छोड़ा गया कि वे किन्हीं १-२ विद्वानों से अपनी देखरेख में यह कार्य करवावें। श्री जिज्ञासु जी ने इस कार्य के लिए श्री शर्मा जी को लाहौर बुलाया और उन्हें सामवेद-भाष्य के कार्य पर लगाया। उनके सहयोग के लिए श्री पण्डित वैद्यनाथ शास्त्री को भी नियुक्त किया। दोनों विद्वानों ने मिलकर देशविभाजन से पूर्व सामवेदभाष्य का कार्य पूर्ण कर लिया था, पर वह तबतक छप न सका। यह कई

वर्ष पश्चात् आर्य प्रादेशिक सभा द्वारा प्रकाशित हुआ।

सामवेद-भाष्य के अतिरिक्त पण्डित जी ने स्वस्तिवाचन शान्तिकरण सहित सम्पूर्ण हवन के मन्त्रों की सरल पदार्थयुक्त व्याख्या लिखी, जो रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा दो वार 'बृहद् हवन मन्त्र' के नाम से छप चुकी है। आपने इस प्रकार की सन्ध्या के मन्त्रों की भी व्याख्या लिखी थी, जो छप न सकी। देशविभाजन के पश्चात् आप प्रायः अपने ही ग्राम में रहे।

(२५) पद्मभूषण पण्डित विश्वबन्धु शास्त्री

आर्यसमाज के सुप्रसिद्ध संन्यासीद्वय ब्रह्मचारी नित्यानन्द जी तथा स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी ने वैदिक कोश के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया था। १६०३ ई० में इन स्वामियों ने काश्मीर के गुलमर्ग स्थान में बैठकर वैदिक कोश विषयक अपनी योजना को अन्तिम स्वरूप प्रदान किया। इस योजना की क्रियान्विति के लिए बड़ौदा के संस्कृत-प्रेमी नरेश सर सयाजीराव गायकवाड़ ने एक लाख पचहत्तर रुपये का अनुदान दिया। सन् १६०८ से १६१० ई० तक शिमला स्थित शान्तकुटी में बैठकर दोनों संन्यासियों ने चारों वेदों की वर्णानुक्रम से शब्दानुक्रमणिका तैयार की और उसे चार भागों में प्रकाशित किया। १६१४ ई० में स्वामी नित्यानन्द जी का स्वर्गवास हो गया, किन्तु स्वामी विश्वेश्वरानन्द जी ने वैदिक कोश के कार्य को जारी रक्खा। १६२३ ई० में वैदिक कोश-निर्माण तथा वैदिक अनुसन्धान-विषयक अपनी आकाङ्क्षा को स्वामीजी ने लाहौर के रायबहादुर मूलराज, महात्मा हंसराज आदि प्रमुख आर्य नेताओं के सम्मुख रक्खा तथा उनकी सम्मति से कोश-निर्माण का यह कार्य दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय के तत्कालीन आचार्य पण्डित विश्वबन्धु शास्त्री को सौंप दिया गया।

१ जनवरी १६२४ ई० से विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान की विधिवत् स्थापना हुई और आचार्य विश्वबन्धु शास्त्री उसके अवैतनिक निदेशक नियुक्त किये गये। १६३४ ई० तक शास्त्री जी ब्राह्म महाविद्यालय तथा शोध-संस्थान दोनों के अध्यक्षपद पर कार्य करते रहे, परन्तु १ जून १६३४ ई० से उन्होंने महाविद्यालय की सेवा से मुक्त होकर शोध-संस्थान तथा डी० ए० वी० कॉलेज, लाहौर के शोध-विभाग एवं लालचन्द पुस्तकालय का कार्य सम्भाला।

इस संस्थान के अन्तर्गत आचार्य विश्वबन्धु के निर्देशन में प्रति तीसरे वर्ष वैदिक कोश का एक नया भाग प्रकाशित होता रहा। संस्थान के मुख्य उद्देश्यों में वैदिक साहित्य के अन्वेषण, सम्पादन-प्रकाशन आदि को समाविष्ट किया गया है। प्रमुख योजना के अन्तर्गत वैदिक साहित्य के भाषा वैज्ञानिक अध्ययन सम्बन्धी १०१ भाग प्रकाशित करना है। इसके अन्तर्गत १५ भागों में समस्त वैदिक वाङ्मय का पदानुक्रम कोष (A Vedic Concordance) छप चुका है। इसके अतिरिक्त ऋग्वेद, अथर्ववेद, तैत्तिरीय संहिता तथा उपनिषद् विषयक वैयाकरण पद-सूचियाँ (Grammatical word Index) भी प्रकाशित हो चुकी हैं। संस्थान के आदरी अध्यक्ष डॉक्टर विश्वबन्धु जी को भारत के राष्ट्रपति ने संस्कृत के महान् विद्वान् के रूप में सम्मानित किया है। शास्त्री जी ने अनेक दुर्लभ वैदिक ग्रन्थों का सम्पादन वा प्रकाशनकार्य भी किया, जो डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर के शोध-विभाग के द्वारा १६६२ वि० (१६३५ ई०) में प्रकाशित हुआ। आपका

यद्यपि आर्यसमाज के कई सिद्धान्तों से मौलिक भेद था, फिर भी आपने जो महत्त्वपूर्ण कार्य किया उसमें प्रवृत्ति और सहयोग का श्रेय आर्यसमाज को ही है। आप चिरकाल तक आर्यप्रादेशिक सभा लाहौर द्वारा संचालित ब्राह्म महाविद्यालय के आचार्य एवं लालचन्द पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष रहे।

(२६) स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक

वेद और आर्ष वाङ्मय के प्रकाण्ड विद्वान् और अनेक विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थों के लेखक स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक का जन्म जिला सहारनपुर के 'लखनोती' ग्राम में एक धनाढ्य जमींदार परिवार में हुआ। स्वामीजी की जन्मतिथि फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी सम्वत् १९५० वि० है। प्रारम्भ में उन्हें उर्दू की शिक्षा मिली। इनका पूर्वाश्रम का नाम प्यारेलाल था। प्यारेलाल के मामा आर्यसमाजी थे, जिनके संसर्ग में आकर उन पर भी आर्यसमाज के विचारों का प्रभाव बाल्यकाल से ही पड़ने लगा। स्वामी सर्वदानन्द जी के उपदेश और कुंवर सुखलाल के भजन सुनकर आर्यसमाजी संस्कार सुदृढ़ होने लगे। फलतः प्यारेलाल ने अपने ग्राम में ही आर्यसमाज की स्थापना कर दी। इसी समय सत्यार्थप्रकाश का विधिवत् अध्ययन किया। अब संस्कृत पढ़ने की प्रबल इच्छा जागृत हुई। इसीलिये वे गुरुकुल सिकन्दराबाद गये और वहाँ उपदेशक श्रेणी में रहते हुए संस्कृताभ्यास करने लगे। इनकी इच्छा अष्टाध्यायी पढ़ने की थी जिसकी समुचित व्यवस्था गुरुकुल सिकन्दराबाद में नहीं थी। अतः सर्वदानन्द जी के हरदुआगंज स्थित आश्रम में अष्टाध्यायी पठनार्थ गये। स्वामी परमानन्द जी, जो उस साधु आश्रम में निवास करते थे, के परामर्श को मानकर प्यारेलाल दण्डी स्वामी विरजानन्द के शिष्य स्वामी दयानन्द के सहपाठी पण्डित बनमाली दत्त चौबे से अष्टाध्यायी पढ़ने मथुरा चले गये और उनसे पढ़ते रहे।

थोड़े समय पश्चात् अष्टाध्यायी पढ़ने की लालसा प्यारेलाल जी को स्वामी पूर्णानन्द और उनके शिष्य पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के निकट ले गई। स्वामी पूर्णानन्द अपने पूर्व आश्रम में मास्टर सुखदयाल के नाम से जाने जाते थे, और जालन्धर के आर्य स्कूल में पढ़ाते थे। स्वामी पूर्णानन्द क्रोधी प्रकृति के थे। वे अपने छात्रों को कठोर देह-दण्ड देने में भी संकोच नहीं करते थे। स्वामी पूर्णानन्द से अष्टाध्यायी पढ़ने में मुख्य कठिनाई उनके कठोर व्यवहार की थी, जिसके फलस्वरूप शिक्षार्थी को गुरु का संग त्याग-कर पलायन करना पड़ा। अब वे मुसाफिर विद्यालय आगरा में आ गये। यहाँ कुछ समय फारसी और अरबी का अभ्यास किया। आर्य मुसाफिर विद्यालय में ठाकुर अमरसिंह, कुंवर सुखलाल, पण्डित केदारनाथ (राहुल सांकृत्यायन), मौलवी महेशप्रसाद जैसी विभूतियों का आपको संसर्ग प्राप्त हुआ।

कालान्तर में प्यारेलाल पंजाब, हिमाचल प्रदेश आदि उत्तरी प्रान्तों के भ्रमण हेतु निकल पड़े। अब उन्होंने अपना नाम प्रियरत्न रख लिया। महाभाष्य पढ़ने की अदम्य इच्छा प्रियरत्न को काशी ले गई। सुप्रसिद्ध वैयाकरण पण्डित देवनारायण तिवारी जी से उन्होंने पातञ्जल महाभाष्य पढ़ा। उन दिनों काशी के पुरानी पीढ़ी के पण्डित आर्य-समाजी छात्रों को पढ़ाने में संकोच करते थे, अतः आर्य विद्यार्थियों को अपनी सिद्धान्त-

निष्ठा रखते हुए शास्त्राभ्यास करने में बड़ी कठिनाई होती थी, परन्तु प्रियरत्न जी के समक्ष ऐसी कोई कठिनाई नहीं आई। जब किसी ने तिवारी जी से कहा कि प्रियरत्न आर्यसमाजी हैं, तो उनका उत्तर था—'अच्छा है, आर्यसमाजी है तो सन्ध्या करके आता होगा।' सिद्धान्तकौमुदी की चर्चा के प्रसंग में पण्डित देवनारायण तिवारी कहा करते—"अच्छा हुआ विरजानन्द जी ने सिद्धान्तकौमुदी पर जूते लगवाये, पुराणों में आये अशुद्ध प्रयोगों पर फक्किका घड़ दी, यह नहीं कह दिया कि पुराण का प्रयोग अशुद्ध है। व्यर्थ अनार्ष भार बढ़ाया, तभी तो विरजानन्दजी ने जूते लगवाये।" काशीस्थ वेदविद्यालय में पण्डित ढुण्ढिराज शास्त्री से न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य तथा पिंगल छन्दःसूत्र पढ़ा। अध्ययन समाप्त कर आर्ष महोदय काश्मीर की पदयात्रा के लिए चल पड़े।

कुछ काल तक गुरुकुल साधु आश्रम हरदुआगंज, गुरुकुल होशंगाबाद में अष्टाध्यायी पढ़ाते रहे। काशी में रहकर शास्त्राध्ययन की आकांक्षा अभी शेष थी, अतः द्वितीय बार काशी गये और वैशेषिक दर्शन (प्रशस्तपाद भाष्य उपस्कार वृत्तिसहित), ऐतरेय ब्राह्मण, सूर्यसिद्धान्त, वेदान्त का शांकर भाष्य चतुःसूत्री आदि पढ़ा। पढ़ने के साथ-साथ सुप्रसिद्ध दार्शनिक तथा काशी विद्यापीठ के प्राचार्य डॉक्टर भगवानदास के आग्रह से विद्यापीठ की उच्च श्रेणियों को दर्शन भी पढ़ाते रहे। उस समय के उनके शिष्यों में भारत के दिवंगत प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री भी थे। काशी से आर्ष जी दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय के आचार्य पण्डित विश्वबन्धु शास्त्री का अनुरोध मानकर लाहौर चले आये और महाविद्यालय में अष्टाध्यायी पढ़ाते रहे। परन्तु शीघ्र ही उनका शास्त्री जी से सैद्धान्तिक मतभेद हो गया, लाहौर छोड़कर दिल्ली आ गये और सार्वदेशिक सभा द्वारा संचालित उपदेशक विद्यालय में कुछ दिन आचार्यपद पर कार्य किया। पुनः मास्टर आत्माराम जी अमृतसरी का अनुरोध स्वीकार कर बड़ौदा में आर्यकुमार आश्रम और उपदेशक विद्यालय का आचार्यपद स्वीकार किया। बड़ौदा से पुनः दिल्ली आना हुआ और सार्वदेशिक सभा के अनुसंधान विभाग में तीन वर्ष तक ग्रन्थ-लेखनकार्य किया। पुनः कुछ दिन जयपुर रहकर आयुर्वेद का अध्ययन किया। इसी समय इनका सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पण्डित मधुसूदन ओझा से समागम हुआ।

फाल्गुन कृष्णा त्रयोदशी २००१ वि० के दिन आर्य वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर में आर्ष जी ने स्वामी वेदानन्द तीर्थ से संन्यास की दीक्षा ली और स्वामी ब्रह्ममुनि नाम रक्खा। परिव्राजक बनकर स्वामीजी पुनः देश-भ्रमण और धर्मप्रचार में निकल पड़े। प्रथम राजस्थान तथा सौराष्ट्र का भ्रमण किया, पुनः नेपाल गये। राजाओं के सम्मुख उनके प्रवचन हुए। पुनः देश के अन्य प्रान्तों का भ्रमण किया। अवस्था अधिक होने पर स्वामीजी ने गुरुकुल काँगड़ी तथा वानप्रस्थाश्रम ज्वालापुर में ही रहकर सर्वात्मना लेखन-कार्य में अपने-आपको लगा दिया। गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी ने उनके साहित्यिक कार्य के उपलक्ष्य में उन्हें 'विद्यामार्तण्ड' की सर्वोच्च उपाधि से अपने अक्तूबर १९५८ ई० के वार्षिकोत्सव पर विभूषित किया।

स्वामी ब्रह्ममुनिकृत वैदिक दार्शनिक तथा इतर विषय का साहित्य इतना अधिक है कि उन सबका संक्षिप्त परिचय देना भी इस ग्रन्थ में कठिन है। अतः प्रमुख ग्रन्थों के नाम ही यहाँ दिये गये हैं—(१) सामवेदभाष्य—यह हिन्दी में अध्यात्म दृष्टि से लिखा गया एक उत्कृष्ट भाष्य है। यह दो भागों में प्रकाशित हुआ है। (२) निरुक्तविमर्श—यह

निरुक्त शास्त्र पर संस्कृत भाषा में लिखी गई अति सरल एवं विशद टीका है। इतनी विस्तृत विवेचनापूर्ण कोई अन्य व्याख्या नहीं लिखी गई। (३) **यमपितृ-परिचय**—श्री पण्डित श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने 'यम और पितर' पुस्तक में वेदमन्त्रों को उद्धृत करके यम और पितर शब्दों के पौराणिक अर्थों के सन्दर्भ में अर्थ करते हुए मृतक श्राद्ध आदि की स्थापना की थी। आर्ष जी ने 'यमपितृ परिचय' लिखकर चारों वेदों में आनेवाले और पितर विषयक सम्पूर्ण मन्त्रों की संस्कृत और हिन्दी में विशद व्याख्या की है। (४) **अथर्ववेदीय चिकित्सा शास्त्र**—इसमें अथर्ववेदीय मन्त्रों के आधार पर चिकित्सा-विज्ञान का साङ्गोपाङ्ग विशद वर्णन किया है। (५) **वैदिक ज्योतिष शास्त्र**—वेद-मन्त्रों के द्वारा खगोल विज्ञान का विस्तृत विवेचन किया है, यथा—ग्रहों के नाम और उनकी स्थिति, द्वादश राशियाँ, राहु-केतु, धूमकेतु, उल्का आदि ज्योतिष पिण्ड। इसमें बालगङ्गाधर तिलक द्वारा ज्योतिष के आधार पर प्रतिपादित ऋग्वेद के उत्पत्तिकाल की आलोचना भी की है। बड़ौदा के प्राच्य-विद्या संस्थान के निदेशक डॉक्टर विनयतोष भट्टाचार्य ने इस ग्रन्थ की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। (६) **बृहद् विमानशास्त्र**—महर्षि भारद्वाज विरचित विमानविज्ञान के महाग्रन्थ का बोधायनवृत्ति सहित जितना अंश उपलब्ध हुआ, उसको भाषानुवाद सहित प्रथमतः प्रकाश में लाने का श्रेय स्वामी ब्रह्ममुनि जी को ही है। ग्रन्थ के आरम्भ में भूमिका में प्राचीन यन्त्रविद्या-विषयक ग्रन्थों पर विशद प्रकाश डाला है।

इनके अतिरिक्त स्वामीजी के निम्नलिखित ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं—

ईशोपनिषद् का स्वरूप, माण्डूक्योपनिषत् का स्वरूप, यमयमी सम्वाद, उपनिषदों का वेदान्त, मानवीय शक्तियों का परिचय और उनका विकास, वेद में असित शब्द पर एक दृष्टि, वेद में इतिहास नहीं, जीवनपथ, योग-मार्ग, क्रियात्मक मनोविज्ञान, मित्र और वरुण की शिक्षा (ऋ० ७। सूक्त ६१।६२), सोम सरोवर का स्नान, वैदिक सूर्यविज्ञान, वैदिक मनोविज्ञान, ब्रह्मवेद का रहस्य, अथर्ववेदीय मन्त्रविद्या, विश्वविज्ञान और परमात्म-बोध, ऋग्वेद में देवकामा या देवृकामा, वेद में दो बड़ी वैज्ञानिक शक्तियाँ, वैदिक अध्यात्म-सुधा, रामायण-दर्पण, महाभारत शिक्षा सुधा, आर्षयोग-प्रदीपिका, उपनिषद् सुधासार, वैदिक राष्ट्रियता, वैदिक ईशवन्दना, वैदिक योगामृत, दयानन्द दिग्दर्शन, वैदिक वन्दन, बृहदारण्यकोपनिषत् कथामाला, छान्दोग्योपनिषत् कथामाला, दार्शनिक अध्ययन तत्त्व, वेदाध्ययन-प्रवेशिका, वैदिक ब्रह्मचर्य विज्ञान, याज्ञवल्क्य शिक्षा व्याख्या, अव्ययार्थनिबन्धन, वेद के एक संदिग्ध प्रकरण का विवेचन, ब्रह्मपारायण यज्ञ की शास्त्रीयता एवं वैदिकता का विवेचन, साम-सुधा, अथर्ववेदीय अतिथिसत्कार और मांस शब्द, वेदान्तदर्शन भाष्य, सांख्यदर्शन-भाष्य, वैशेषिक दर्शन-भाष्य, निजाम की साम्प्रदायिक नीति और हमारा कर्त्तव्य, बाल जीवन सोपान, निज जीवन-वृत्त-वनिका (स्व आत्मकथा), युगधर्म, भ्रम-निवारण आदि।

(२७) पण्डित हंसराज

पण्डित हंसराज जी का जन्म सन् १८८८ ई० में गुरुदासपुर जिला अन्तर्गत मोहलोवाली ग्राम में हुआ। प्रारम्भ में उन्होंने उर्दू-फारसी-अंग्रेजी पढ़ी, फिर संस्कृत का भी अध्ययन किया। सन् १९१८ ई० में श्री पण्डित भगवद्दत्त जी की प्रेरणा से

डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर के लालचन्द पुस्तकालय में आ गये। वहाँ देशविभाजन-काल तक पुस्तकालयाध्यक्ष का कार्य करते रहे।

(१) वैदिक कोष—सन् १६२५ ई० तक जितने ब्राह्मण ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके थे, उनसे वैदिक शब्दों के अर्थबोधक वचनों का संग्रह किया गया है। (२) ब्राह्मणोद्धार कोष—पूर्व उल्लिखित वैदिक कोश के अप्राप्य हो जाने पर पण्डित विश्वबन्धु जी ने पण्डित हंसराज जी से उसका परिवर्धित संस्करण तैयार करवाया। इसमें नवीन प्रकाशित जैमिनीय ब्राह्मण के साथ ही आरण्यक तथा शाखारूप संहिताओं में जो ब्राह्मण पाठ हैं उनसे भी अर्थनिदर्शक वाक्यों का संग्रह कर दिया गया है। (३) उपनिषदुद्धार कोष—इसमें आर्ष-अनार्ष सभी उपनिषदों से वैदिक कोश के समान वैदिक शब्दार्थबोधक वाक्यों का संग्रह किया गया है। (४) Science in the Vedas—इस ग्रन्थ में पण्डितजी ने ब्राह्मण ग्रन्थों में आये कतिपय वैज्ञानिक तथ्यों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। प्रमाणों का पुष्कल संग्रह देखने योग्य है। (५) दश अवतार। (६) वेद में मानुष इतिहास नहीं। (७) देवतावाद का भौतिक वैज्ञानिक रहस्य आदि कतिपय लघु-पुस्तिकाएँ प्रकाशित हुई हैं।

(२८) पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार

गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी के भूतपूर्व वेदोपाध्याय और उत्कृष्ट वैदिक विद्वान् पण्डित विश्वनाथ विद्यालंकार ने वेदविषयक निम्न ग्रन्थ लिखे हैं—

(१) वैदिक पशु-यज्ञ मीमांसा—इस ग्रन्थ में विशद प्रमाणों से यह सिद्ध किया गया है कि वैदिक यज्ञ हिंसारहित होते थे। वैदिक कर्मकाण्ड पर पशु-वध का लाञ्छन नितान्त असमीचीन तथा अनौचित्यपूर्ण है। (२) वैदिक जीवन—अथर्ववेदीय मन्त्रों पर आधारित। उक्त दोनों ग्रन्थ महेश पुस्तकालय, अजमेर से प्रकाशित हुए। (३) वैदिक गृहस्थाश्रम। (४) सन्ध्या रहस्य। (५) सामवेद-भाष्य—यह वेदोपाध्याय जी की वेद-विषयक बड़ी कृति है। अद्यावधि यह अप्रकाशित है।

(२६) पण्डित धर्मदेव विद्यामार्तण्ड (स्वामी धर्मानन्द सरस्वती)

सामवेद संहिता का अंग्रेजी में भाष्य लिखनेवाले पण्डित धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड का जन्म १ नवम्बर १८६६ ई० को ग्राम 'दुनियापुर' जिला मुलतान पाकिस्तान में हुआ। सन् १६०६ से १६१६ ई० तक प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल मुलतान में हुई, तत्पश्चात् १६१७ से १६२१ ई० तक इन्होंने गुरुकुल महाविद्यालय काँगड़ी में आचार्य स्वामी श्रद्धानन्द जी के चरणों में बैठकर विद्याध्ययन किया।

प्रारम्भ में पण्डित धर्मदेव जी गुरुकुल मुलतान के आचार्यपद पर रहे। तत्पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द जी का आदेश प्राप्त कर दक्षिण भारत में आर्यसमाज के प्रचारक के रूप में सन् १६२१ से १६४१ ई० तक रहे। इस बीच आपने कन्नड़, तेलुगु, तमिल, मलयालम आदि दक्षिण भारतीय भाषाओं का अध्ययन किया, और इन भाषाओं में आर्य-समाज-विषयक अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। सन् १६४२ से १६५३ ई० तक पण्डित धर्मदेव जी सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के सहायक मन्त्री तथा इस सभा के मासिक मुखपत्र सार्वदेशिक के सम्पादक भी रहे। सन् १६५४ से १६६३ ई० तक गुरुकुल काँगड़ी

विश्वविद्यालय में वेदाध्यापन का कार्य करते हुए हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी के कोष-प्रणयन का कार्य भी करते रहे।

पण्डित धर्मदेव जी विद्यामार्तण्ड के द्वारा रचित वेदविषयक निम्न ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं—(१) **सामवेद की अंग्रेजी व्याख्या**—विशद विद्वत्तापूर्ण भूमिका के साथ सामवेद की यह अंग्रेजी व्याख्या १९६७ ई० में प्रकाशित हुई। (2) Some Psalms of the Samveda Samhita. सामवेद के कतिपय सूक्तों का यह अंग्रेजी अनुवाद १९६६ ई० में प्रकाशित हुआ, (३) **वैदिक कर्त्तव्य-शास्त्र**—वेदमन्त्रों के आधार पर आचार-शास्त्र निरूपक यह विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ स्वाध्याय मण्डल औंध से प्रकाशित हुआ। (४) **वेदों का महत्त्व**—श्रद्धा पुस्तकमाला—२४। (५) **स्त्रियों और शूद्रों का वैदिक कर्मकाण्ड और वेदाध्ययन में अधिकार**—विभिन्न स्मृतियों एवं सूत्रग्रन्थों के आधार पर वेदाध्ययन और वैदिक कर्मकाण्ड में नारी जाति और शूद्र वर्ग के लोगों का अधिकार-निरूपणात्मक यह ग्रन्थ है। (६) **वेदों का यथार्थ स्वरूप**—भारतीय विद्या भवन, बम्बई द्वारा प्रकाशित The Vedic Age नामक ग्रन्थ की आलोचना में लिखा गया यह विद्वत्ता-पूर्ण ग्रन्थ गुरुकुल कांगड़ी से २०१४ वि० में प्रकाशित हुआ। इसमें लेखक ने पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों के वेदविषयक उन भ्रान्त विचारों का तर्कपूर्ण खण्डन किया है, जो वेदाविर्भावकाल, वेदविषय, वैदिक यज्ञवाद, वैदिक भाषा, वेदों के कर्तृत्व आदि को लेकर समय-समय पर प्रस्तुत किये गये हैं। (७) **साम संगीत सुधा**।

पण्डित धर्मदेव जी का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद (ऋषि दयानन्दकृत भाष्य के आधार पर) करना है। यह ग्रन्थ सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है।

आपके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—(१) **महर्षि दयानन्द और महात्मा गांधी : तुलनात्मक अध्ययन**। (२) **ऋषि दयानन्द के मन्तव्यों का तुलनात्मक अध्ययन**। (३) **उदारतम आचार्य महर्षि दयानन्द**। (४) **हमारी राष्ट्रभाषा और लिपि**। (५) **बौद्ध मत और वैदिक धर्म**। (६) **गो-रक्षा परम कर्त्तव्य, और गो-हत्या महापाप**। (७) **वेदों का महत्त्व**—आर्य कुमार सभा किंग्जवे दिल्ली द्वारा प्रकाशित। यह पुस्तक The sublimity of the Vedas का हिन्दी अनुवाद है।

आपने अंग्रेजी में भी कतिपय उल्लेखनीय ग्रन्थों की रचना की है, जो इस प्रकार है—(1) Maharshi Dayanand and Satyartha Prakash. (2) The Mission and Message of M. Dayanand. (3) Mahatma Buddha : An Arya Reformer. (4) Christianity and Vedas. (5) Acatechism of Vedic Dharma.

संस्कृत काव्य—

महापुरुषकीर्तनम्, महिलामणिकीर्तनम्—ये दोनों ग्रन्थ पण्डित धर्मदेव जी में निहित उत्कृष्ट संस्कृत-साहित्य-रचना के निदर्शक हैं।

(३०) डॉक्टर मङ्गलदेव शास्त्री

गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज बनारस के भूतपूर्व प्रिन्सिपल तथा वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के भूतपूर्व कुलपति डॉक्टर मङ्गलदेव शास्त्री वेदों के सुप्रसिद्ध विद्वान् थे।

आपकी प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल बदायूँ में हुई थी।

शास्त्री जी ने **ऋग्वेद प्रातिशाख्य** का तीन भागों में सम्पादन किया। प्रथम भाग में आलोचनात्मक भूमिका के साथ मूल पाठ दिया गया है। द्वितीय भाग में उव्वट का भाष्य (१००० ई० के लगभग लिखा गया) दिया गया है। तृतीय भाग में ऋग्वेद प्रातिशाख्य का अंग्रेजी अनुवाद आलोचनात्मक टिप्पणियों तथा अनेक उपयोगी परिशिष्टों सहित दिया गया है। इसकी भूमिका प्रो० ए० बी० कीथ ने लिखी है। शास्त्रीजी ने सामवेद से सम्बद्ध **उपनिदान सूत्र** का आलोचनात्मक संस्करण प्रकाशित किया, तथा **आश्वलायन श्रौत सूत्र** का सम्पादन कर उसे सिद्धान्तिभाष्य नाम्नी टीकासहित प्रकाशित कराया। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा लिखित **ऐतरेय ब्राह्मण पर्यालोचन, ऐतरेयारण्यक पर्यालोचन, कौषीतकि ब्राह्मण पर्यालोचन,** तथा **शतपथ ब्राह्मण पर्यालोचन** आदि शोधपूर्ण आलोचनात्मक निबन्ध भी वैदिक साहित्य के विभिन्न महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के विवेचन में लिखे गये।

शास्त्री जी ने **भारतीय संस्कृति : 'वैदिक धारा'** शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ लिखा, जो काशी विद्यापीठ वाराणसी द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसका द्वितीय खण्ड **'उपनिषद् धारा'** भी प्रकाशित हो गया है।

शास्त्री जी ने वैदिक साहित्य से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का लेखन एवं सम्पादन तो किया ही है, आपने संस्कृत में कतिपय मौलिक ग्रन्थों की रचना भी की है। **रश्मिमाला** (जीवन सन्देश गीताञ्जलि)तथा **अमृतमन्थन** ऐसी ही रचनायें हैं, जिनमें मानव-जीवन का दिव्य पक्ष संस्कृत पद्यों के माध्यम से उभारा गया है। **भारतीय आर्यधर्म की प्रगतिशीलता, वेदों का वास्तविक स्वरूप** आपके उत्कृष्ट निबन्ध हैं। **प्रबन्ध-प्रकाश** (संस्कृतनिबन्ध संग्रह), तथा **भाषाविज्ञान** (तुलनात्मक भाषाशास्त्र) आपके उच्चस्तरीय पाठ्य ग्रन्थ हैं।

(३१) पण्डित रामगोपाल शास्त्री वैद्य

पण्डित रामगोपाल शास्त्री प्रारम्भ में डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर के शोध-विभाग में कार्यरत थे। पश्चात् वे चिकित्सा के क्षेत्र में अवतीर्ण हो गये। डी० ए० वी० कॉलेज ग्रन्थमाला के अन्तर्गत उन्होंने निम्न ग्रन्थों का सम्पादन कर उन्हें प्रकाशित किया—(१) **अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका,** (२) **दन्त्योष्ठ्य विधि**—यह अथर्ववेद से सम्बद्ध उच्चारणविषयक ग्रन्थ है। इसका मूल व हिन्दी अनुवाद शास्त्री जी ने सम्पादित किया।(३) **कौत्सव्यनिघण्टु**(यास्क से प्राचीन निघण्टु)—इसका सम्पादन वैद्य जी ने किया था। इसका प्रकाशन पण्डित राजाराम शास्त्री ने किया।

इसके अतिरिक्त शास्त्री जी ने कतिपय अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का भी प्रणयन किया है, जिनका उल्लेख इस प्रकार है—

(१) **महर्षि दयानन्द की राष्ट्रीय विचारधारा,** (२) **ईश-केनोपनिषद् का अनुवाद।** (३) **वेदों में आयुर्वेद**—इस ग्रन्थ का हस्तलेख लाहौर में नष्ट हो गया था। देशविभाजन के पश्चात् देहली में आकर पुनः इस ग्रन्थ को लिखा। (४) **वेदान्त—प्राचीन और नवीन।** (५) **संस्कारविधि-मण्डनम्**—ऋषि दयानन्दकृत संस्कारविधि ग्रन्थ पर किये जानेवाले निर्मूल आक्षेपों का खण्डन। (६) **क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों**

के युद्धों का वर्णन है ? एतद्‌विषयक विवाद को सुलझाते हुए यह सिद्ध किया गया है कि वेद में प्रासंगिक मन्त्र किसी वास्तविक युद्ध का वर्णन नहीं करते। हंसराज कॉलेज नई दिल्ली से २०२६ वि० में प्रकाशित। रामलाल कपूर ट्रस्ट ने इस पुस्तक का संक्षेप **'वेद में आर्य दास सम्बन्धी पाश्चात्य मत का खण्डन'** शीर्षक से प्रकाशित किया। (७) **वेद में आख्यानों का यथार्थ स्वरूप**—इस विषय के कई लेख वेदवाणी पत्रिका में प्रकाशित हो चुके हैं, और हो रहे हैं। कुछ लेखों का स्वतन्त्र संग्रह भी छपा है। (८) **पंजाबी भाषा का मूल स्रोत संस्कृत**—प्रो० साधुराम के सहलेखन में प्रकाशित। (९) **हिंसा और अहिंसा का वैदिक स्वरूप**—आर्य स्वराज्य सभा द्वारा प्रकाशित।

(३२) पण्डित प्रियव्रत वेदवाचस्पति

वेद तथा संस्कृत-अध्ययन के प्रमुख केन्द्र गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी के भूतपूर्व आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता पण्डित प्रियव्रत वेदवाचस्पति वेदों के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् तथा लेखक हैं। वेद के विभिन्न सूक्तों की व्याख्यापरक उनके प्रमुख ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

(१) **वेद का राष्ट्रिय गीत**—अथर्ववेद के सुप्रसिद्ध पृथिवी सूक्त की व्याख्या अत्यन्त परिश्रमपूर्वक लिखी गई है। प्रारम्भ में एक विस्तृत भूमिका में लेखक ने वेद-विषयक विभिन्न समस्याओं पर विचार किया है। तत्पश्चात् पृथिवी सूक्त के मन्त्रों की भावपूर्ण एवं विशद व्याख्या प्रस्तुत की है। (२) **वेदोद्यान के चुने हुये फूल**—विभिन्न विषयों से सम्बद्ध वैदिक सूक्तों की व्याख्या। (३) **वरुण की नौका (दो भाग)**—वेद के वरुण सूक्तों की भक्तिभावपूर्ण व्याख्या। (४) **राष्ट्रनिर्माण-विषयक कतिपय वेदमन्त्रों की भावपूर्ण व्याख्या**—आर्य प्रेमी के विशेषांक के रूप में प्रकाशित (जनवरी १९६५ ई०)। (५) **वैदिक अर्थ व्यवस्था**—यह निबन्ध राजधर्म के विशेषांक के रूप में प्रकाशित हुआ, जिसमें वैदिक अर्थनीति का गम्भीर विवेचन किया गया है। (६) **मेरा धर्म**—वैदिक धर्म एवं आर्य संस्कृति के विविध पहलुओं पर लिखित महत्त्वपूर्ण निबन्धों का संग्रह गुरुकुल काँगड़ी से प्रकाशित।

पण्डित प्रियव्रत का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वैदिक राजनीति के सम्बन्ध में है, जो तीन भागों में प्रकाशित हुआ है। वेदों में प्रतिपादित राजनैतिक मन्तव्य, वेदों की अभिमत शासनपद्धति आदि विषयों पर इस ग्रन्थ में विशद व प्रामाणिक रूप से प्रकाश डाला गया है।

(३३) आचार्य विश्वश्रवाः व्यास एम० ए०

बरेली-निवासी आचार्य विश्वश्रवाः व्यास का सम्पूर्ण जीवन ही वेदाध्ययन, वेदालोचन और वेदप्रचार में व्यतीत हुआ। उन्होंने डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर के शोधविभाग में श्री पण्डित भगवद्दत्त जी के सान्निध्य में रहकर वैदिक वाङ्मय के अन्वेषण की वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का अध्ययन किया। उनके संस्कृत एवं वैदिक साहित्य के गुरुओं में महामहोपाध्याय पण्डित शिवदत्त दाधिमथ, महामहोपाध्याय पण्डित परमेश्वरानन्द शास्त्री, पण्डित भीमसेन शर्मा आगरा-निवासी आदि उल्लेखनीय हैं। म० म० पण्डित मधुसूदन ओझा तथा म० म० गिरधर शर्मा चतुर्वेद से उन्होंने वेद के

रहस्यों का अवगाहन किया। ओरियण्टल कॉलेज लाहौर के प्रिन्सिपल श्री ए० सी० तुलनर से उन्होंने ग्रन्थ-सम्पादन-कला सीखी।

आचार्य विश्वश्रवा: ने स्वामी दयानन्द के ऋग्वेद-भाष्य पर विस्तृत महाभाष्य लिखने का उपक्रम किया है, जो संस्कृत तथा हिन्दी में लिखा व प्रकाशित किया जा रहा है। 'अन्वितार्थ-प्रदीप' नामक इस महाभाष्य की यह विशेषता है कि इसमें भाष्यकार ने महर्षि दयानन्दकृत मन्त्र-पदार्थ की टीका—पदार्थप्रदीप, अन्वय की टीका—अन्वितार्थप्रदीप, भावार्थ की टीका—भावार्थप्रदीप और ऋषि, देवता, छन्द, स्वर, मन्त्रभूमिका, पदपाद आदि की टीका—विश्व प्रदीप, इस प्रकार चार टीकायें लिखने का प्रयास किया है। महाभाष्य की विशद भूमिका में व्यास जी ने ऋग्वेद की मन्त्रगणना-विषयक उत्थापित प्रो० मैकडानल्ड, पण्डित सातवलेकर तथा पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक आदि के मतों की आलोचना करते हुए ऋषि दयानन्द द्वारा उल्लिखित ऋक्-संख्या को यथार्थ घोषित किया है।

अन्य ग्रन्थ—विश्वश्रवा: जी ने **'निरुक्त को समझने में प्राचीन आचार्यों की भूल'** शीर्षक एक अन्य महत्त्वपूर्ण निबन्ध भी लिखा था। आचार्य जी ने **यज्ञपद्धति मीमांसा** तथा **संध्यापद्धति मीमांसा** आदि अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थ लिखे हैं। ऋषि दयानन्द की पाठविधि पर भी आचार्य जी ने एक उपयोगी पुस्तक लिखी है। इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक शोधपूर्ण व उच्च कोटि के ग्रन्थ आचार्य जी ने लिखे हैं। उनकी अगाध विद्वत्ता व गम्भीर पाण्डित्य द्वारा आर्यसमाज को विद्वत्समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है।

(३४) पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक

भारत के राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित सुप्रसिद्ध वैदिक विद्वान् पण्डित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु के सुयोग्य शिष्य पण्डित युधिष्ठिर मीमांसक का जन्म अजमेर जिलान्तर्गत विड़कच्यावास ग्राम में हुआ। श्री मीमांसक जी की शिक्षा अमृतसर, काशी आदि संस्कृत के केन्द्रों में हुई। वेद और वेदाङ्गों के पारगामी विद्वान् मीमांसक जी ने एतद्विषयक प्रभूत साहित्य का लेखन एवं सम्पादन किया है। उनके कृतित्व का संक्षिप्त उल्लेख इस प्रकार किया जा सकता है—(१) **सामवेद के प्रथम मन्त्र का भाष्य**—यह भाष्य टंकारा पत्रिका (जुलाई-अगस्त १९६१ ई०) में प्रकाशित हुआ। भाष्यारम्भ में विद्वान् भाष्यकार ने आमुख लिखकर भाष्यलेखनविषयक अपनी दृष्टि को स्पष्ट किया। भाष्य का क्रम इस प्रकार है—प्रथम मूल मन्त्र, उसका पदपाठ, तत्पश्चात् पदार्थ, पुनः अन्वय, उसके पश्चात् अधियज्ञ, अधिदैवत और अध्यात्मपरक अर्थ, अन्त में भावार्थ। (२) **ऋषि दयानन्दरचित ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका** तथा **ऋग्वेद भाषा भाष्य** (मं० १ सू० १-४६) का सम्पादन। (३) **यजुर्वेद भाष्यसंग्रह**—ऋषि दयानन्दकृत यजुर्वेद के जो अंश पंजाब की शास्त्री परीक्षा में स्वीकृत थे, उनका सम्पादन। (४) **माध्यन्दिन-संहितायाः पदपाठः**—यजुर्वेद के पदपाठ का सम्पादन तथा प्रकाशन।

मीमांसक जी ने विभिन्न वैदिक विषयों पर उल्लेखनीय शोध-निबन्ध लिखे हैं, जो शोध-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए तथा वेद-सम्मेलनों में पढ़े गये, यथा—**ऋग्वेद की ऋक्संख्या, दुष्कृताय चरकाचार्यम् मन्त्र पर विचार, ऋग्वेद की कतिपय दान-**

स्तुतियों का विवेचन, 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' इत्यत्र कश्चिद् अभिनवो विचारः।

वेदानां महत्त्वं तत्प्रचारोपायश्च – राजस्थान संस्कृतसाहित्य सम्मेलन द्वादश अधिवेशन भीलवाड़ा (२२ फरवरी १९६५) के वेदसम्मेलन में पठित अध्यक्षीय भाषण।

वेदाङ्ग-विषयक मीमांसक जी के कार्य का संक्षिप्त आकलन इस प्रकार किया जा सकता है—(१) **शिक्षा-सूत्राणि**—आचार्य आपिशलि, पाणिनि तथा चन्द्रगोमी के शिक्षासूत्रों का संकलन एवं सम्पादन। (२) **वैदिक स्वर-मीमांसा** तथा **सामवेद स्वराङ्कन-प्रकार** लिखकर वेद की स्वरप्रक्रिया का विवेचन किया है। **वेद में प्रयुक्त विविध स्वरांकन प्रकार** भी महत्त्वपूर्ण स्वरविषयक रचना है। (३) **वैदिक छन्दो-मीमांसा** ग्रन्थ लिखकर मीमांसक जी ने वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध वैदिक छन्द-विषयक सम्पूर्ण सामग्री के आधार पर इस महत्त्वपूर्ण विषय का विवेचन किया है। (४) **निरुक्त-समुच्चय (वररुचि रचित)** का सम्पादन भी एक उल्लेखनीय उपलब्धि है। इसका प्रथम संस्करण विरजानन्दाश्रम, शाहदरा (लाहौर) से प्रकाशित हुआ था। पुन: द्वितीय परिवर्द्धित संस्करण २०२२ वि० में प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान अजमेर ने प्रकाशित किया। (५) **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास**—इस ग्रन्थ में मीमांसक जी ने आरम्भकाल से लेकर वि० १९०० शती पर्यन्त के सभी वैयाकरणों की रचनाओं का क्रमश: विवेचन किया है। स्थान-स्थान पर पाश्चात्य मतों का निराकरण करते हुए भारतीय कालगणना की पुष्टि की है। यह १२०० पृष्ठों के तीन भागों में पूर्ण हुआ है। व्याकरण-सम्बन्धी इतिहास पर इतनी विशद रचना किसी भी भाषा में उपलब्ध नहीं है। यह मीमांसक जी के कई दशकों के अध्यवसाय का फल है।

मीमांसक जी ने व्याकरण के अन्य कतिपय महत्त्वपूर्ण प्राचीन ग्रन्थों का भी अन्वेषण, सम्पादन तथा प्रकाशन किया है, यथा—पाणिनीय धातुपाठ के औदीच्य पाठ पर लिखी हुई **क्षीरतरङ्गिणी** नामक व्याख्या का सम्पादन, **दशपादी उणादि वृत्ति** का हस्तलेखों के आधार पर संकलन एवं सम्पादन, **दैव पुरुषकारवार्तिकोपेतम्**, अष्टाध्यायी की प्राचीन व्याख्या **भागवृत्ति** के उपलब्ध उद्धरणों का संकलन तथा सम्पादन। **काशकृत्स्नधातुव्याख्यानम्** तथा **काशकृत्स्नव्याकरण** का उद्धार तथा सम्पादन।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त श्री मीमांसक जी ने गत वर्ष स्वामी दयानन्दरचित **सत्यार्थप्रकाश** का सुसम्पादित संस्करण प्रकाशित किया है, जिसमें विभिन्न पाठों का मिलान कर वास्तविक पाठनिर्धारण के साथ-साथ सहस्रों उपयोगी पाद-टिप्पणियाँ दी गई हैं। रामलाल कपूर ट्रस्ट ने इसे आर्यसमाज शताब्दी संस्करण के अन्तर्गत सं० २०२९ वि० में प्रकाशित किया है। महर्षि दयानन्द के **ऋग्वेदभाष्य** (प्रथम-द्वितीय खण्ड) का सुसम्पादित संस्करण भी इसी वर्ष प्रकाशित हुआ। उसे उत्कृष्ट रूप में सम्पादित कर तथा मूल संस्कृतभाष्य तथा भाषाभाष्य का पाठनिर्धारण एवं अनेकश: मुद्रणविषयक अद्यतन हुई भूलों का परिमार्जन करते हुए प्रकाशित करना एक स्मरणीय कार्य है। ऋग्वेदभाष्य के दोनों भाग चौधरी प्रतापसिंह करनाल की आर्थिक सहायता से प्रकाशित किये गये हैं। स्वामी दयानन्द के कर्मकाण्डात्मक ग्रन्थ **संस्कारविधि** का भी संशोधित संस्करण मीमांसक जी ने प्रकाशित किया, जिसमें विगत संस्करणों की पारस्परिक तुलना एवं पाठभेदों का सम्यक् विवेचन किया गया है। अब उसका आर्य-समाज शताब्दी संस्करण भी छप रहा है। इस प्रकार मीमांसक जी ने महर्षि दयानन्द

के प्रमुख ग्रन्थों का सम्पादन एवं आदर्श पाठनिर्धारण का महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।

उनके अन्य ग्रन्थों का उल्लेख इस प्रकार है—(१) **ऋषि दयानन्द के ग्रन्थों का इतिहास**—स्वामी दयानन्दरचित सम्पूर्ण वाङ्मय का ऐतिहासिक विश्लेषणात्मक विवरण प्रथम बार उपस्थित किया गया है। स्वामी दयानन्दकृत ग्रन्थों के हस्तलेखों का आधुनिक तरीके पर पूर्ण विवरण भी इसमें दिया गया है। अजमेर से सं० २००६ वि० में प्रकाशित। (२) **संस्कृत वाक्यप्रबोध**—महर्षि दयानन्दरचित इस ग्रन्थ की कतिपय मुद्रणविषयक अशुद्धियों पर पण्डित अम्बिकादत्त व्यास ने जो 'अबोध निवारण' नामक पुस्तक लिखकर आलोचना की थी, उसका सम्यक् उत्तर देते हुए, तथा पाणिनीय व्याकरण के अनुसार स्वामीजी के प्रयोगों का औचित्य सिद्ध करते हुए यह संस्करण सम्पादित किया गया है। (३) **पूना प्रवचन**—ऋषि दयानन्द के पूना में दिये गये १५ व्याख्यानों का सम्पादित संस्करण। (४) **भागवत-खण्डनम्**—स्वामी दयानन्द के विलुप्त ग्रन्थ का पुनरुद्धारपूर्वक सम्पादन। (५) **संस्कृत धातुकोष**—अकारादि क्रम से पाणिनीय अर्थसहित धातुओं के हिन्दी में विविध अर्थ तथा उपसर्गयोग से प्रयुज्यमान विविध अर्थ। (६) **पातञ्जल महाभाष्य**—हिन्दी व्याख्यायुक्त। एक भाग छप गया है। आगे कार्य चल रहा है। (७) **शब्द रूपावली**। (८) **विदुरनीति** (हिन्दी अनुवाद)। (९) **हंस गीता** (महाभारत के एक प्रकरण का हिन्दी अनुवाद)। (१०) **वैदिक नित्यकर्म विधि**। (११) **ऋषि दयानन्द का भ्रातृवंश और स्वसृवंश**।

श्री मीमांसक जी को उनके व्याकरणशास्त्र का इतिहास, वैदिक स्वर एवं छन्दोविषयक ग्रन्थों, तथा यजुर्वेद की माध्यन्दिन शाखा के पदपाठ के सम्पादन आदि महत्त्वपूर्ण कार्यों के उपलक्ष्य में राज्य सरकारों द्वारा विविध पुरस्कारों से पुरस्कृत किया गया। वे 'वेदवाणी' मासिक पत्रिका का गत ९ वर्षों से सम्पादन कर रहे हैं।

(३५) आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री

संस्कृत तथा वैदिक साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान्, प्रभावशाली लेखक आचार्य वैद्यनाथ शास्त्री सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के वैदिक अनुसन्धान विभाग के अध्यक्ष हैं। आपका जन्म उत्तरप्रदेश के जौनपुर नगर में सन् १९१७ ई० में हुआ। वाराणसी, प्रयाग तथा लाहौर में आपकी शिक्षा हुई। कांग्रेस के द्वारा संचालित स्वाधीनता-आन्दोलन में भी आपने सक्रिय रूप से भाग लिया। तत्पश्चात् डी० ए० वी० कॉलेज प्रबन्ध समिति के द्वारा संचालित दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय लाहौर में प्रधानाचार्य के रूप में कार्य किया। देशविभाजन के पश्चात् शास्त्री जी कुछ समय वाराणसी के गवर्नमेंट संस्कृत कॉलेज के अन्तर्गत सरस्वती भवन पुस्तकालय के अध्यक्षपद पर कार्य करते रहे। पुनः महाराष्ट्र के नासिक नगर को अपनी प्रवृत्तियों का केन्द्र बनाकर स्वतन्त्र रूप से वैदिक धर्मप्रचार के कार्य में संलग्न रहे। कुछ काल तक आप पोरबन्दर-स्थित 'कन्या गुरुकुल' के आचार्यपद पर भी कार्य करते रहे। सन् १९६३ ई० से आप दिल्ली में रहकर सार्वदेशिक सभा के अनुसन्धान-विभाग में कार्य कर रहे हैं। शास्त्री जी ने अनेक उच्च कोटि के विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखकर आर्यसमाज के साहित्य की अभिवृद्धि की है। उनके द्वारा लिखे गये ग्रन्थों का विवरण इस प्रकार है—

(१) **आर्य सिद्धान्त सागर** (प्रथम खण्ड)—इस महाग्रन्थ की रचना शास्त्री

जी ने ठाकुर अमरसिंह जी आर्यपथिक (सम्प्रति अमर स्वामी जी) के सहलेखन में की। यह ग्रन्थ आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा लाहौर से प्रकाशित हुआ था। इसमें ईश्वर, जीव, प्रकृति तथा अन्य शतशः सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक विषयों की पुष्टि में वैदिक तथा आर्ष वाङ्मय से सहस्रों प्रमाण एकत्र कर संकलित किये गये हैं। यह ग्रन्थ शास्त्रार्थकर्ताओं के लिए अति उपयोगी है, क्योंकि उन्हें अनायास ही प्रत्येक विषय पर प्रमाणों का भण्डार उपलब्ध हो जाता है। (२) वैदिक ज्योति—वेदविषयक उच्चकोटि के लेखों का स्फुट-संग्रह। (३) शिक्षण-तरङ्गिणी—इस पुस्तक में शिक्षाविषयक उच्च कोटि के फुटकर निबन्धों का संग्रह किया गया है। पुराकालीन गणित विद्या पर अनेक महत्त्वपूर्ण शोध-निबन्ध इस संग्रह की विशेषता है। (४) वैदिक इतिहास विमर्श—पाश्चात्य विद्वानों ने वेद में अनित्य इतिहास मानते हुए जो आक्षेप किये हैं, उनके समाधानार्थ यह ग्रन्थ लिखा गया है। इसमें प्रो० ए० ए० मैक्डानल के 'वैदिक इण्डैक्स' में अभिव्यक्त विचारों का प्रमाणपुरस्सर खण्डन किया गया है, तथा वेद में आभासित इतिहासपरक संज्ञाओं के वास्तविक अर्थों का प्रतिपादन किया गया है। (५) दयानन्द सिद्धान्त प्रकाश—गाजियाबाद-निवासी पौराणिक पण्डित रामचन्द्र यक्ता ने 'दयानन्द-रहस्य' लिखकर स्वामी दयानन्द के कतिपय सिद्धान्तों की कटु आलोचना की थी। शास्त्रीजी ने इसमें उक्त पुस्तक का खण्डन कर स्वामीजी के सिद्धान्तों का उचित मूल्यांकन किया है। (६) कर्म मीमांसा—कर्मविषयक गूढ़ समस्या पर यह मार्मिक एवं विद्वत्तापूर्ण विवेचनात्मक ग्रन्थ है। (७) वैदिक विज्ञान विमर्श—सुप्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् महामहोपाध्याय पण्डित गिरधर शर्मा चतुर्वेद ने बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् के तत्त्वावधान में कुछ व्याख्यान दिये थे, जो कालान्तर में 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति' शीर्षक से पुस्तकाकार प्रकाशित हुए। चतुर्वेद महोदय ने वैदिक विज्ञान के अन्तर्गत मृतक-श्राद्ध, मूर्ति-पूजा, कृष्ण की पुराणोक्त रासलीला, अवतारवाद आदि पौराणिक मन्तव्यों की विवेचना की, और उन्हें ही वेदप्रतिपादित विज्ञान के नाम से निरूपित किया। इसी पुस्तक में स्वामी दयानन्द के वेदविषयक सिद्धान्तों की कहीं स्पष्टरूप में और कहीं व्याजस्तुति की शैली में आलोचना की गई थी। आचार्य जी ने 'वैदिक विज्ञान विमर्श' लिखकर चतुर्वेद महोदय के उपर्युक्त आक्षेपों का युक्तियुक्त समाधान किया। (८) सामवेद-भाष्य—सामवेद-संहिता का सुबोध हिन्दी भाष्य विद्वत्तापूर्ण भूमिकासहित। (९) वैदिक युग और आदि मानव—भारतीय विद्या भवन बम्बई द्वारा प्रकाशित 'वैदिक एज' में अभिव्यक्त कतिपय आपत्तिजनक स्थलों की समीक्षा इस ग्रन्थ की विशेषता है। (१०) तत्त्वार्थादर्श—जैन विद्वानों ने आर्यसमाज के आस्तिकवाद तथा ईश्वरवाद के खण्डन में अनेक ग्रन्थ समय-समय पर लिखे हैं। पण्डित अजितकुमार शास्त्री ने सत्यार्थप्रकाश के द्वादश समुल्लास का खण्डन 'सत्यार्थ दर्पण' में किया था, जो चम्पावती जैन ग्रन्थमाला के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। आचार्य जी ने जैन विद्वानों के उन आक्षेपों का खण्डन करते हुए जैन धर्म-दर्शन तथा जैन कर्मवाद का नैयायिक तर्कपूर्ण शैली में प्रत्याख्यान किया है।

शास्त्री जी ने अंग्रेजी में जो ग्रन्थ लिखे हैं, वे इस प्रकार हैं—

1. Arya Samaj—its Cult and Creed—इस बृहद् ग्रन्थ में आर्यसमाज का विस्तृत परिचय देते हुए आर्यसमाज के मन्तव्यों और सिद्धान्तों का विवेचनात्मक निरूपण किया गया है। (2) Vedic Caste System—इस पुस्तक में गुण-कर्म के

सिद्धान्तों पर आधृत वर्णव्यवस्था का प्रतिपादन किया गया है। यह पुस्तक आज के प्रगतिशील युग में जन्मगत जात-पांत का समर्थन करनेवाले जगन्नाथपुरी के शंकराचार्य स्वामी निरञ्जनदेव तीर्थ के संकीर्ण विचारों की यथार्थ समीक्षा प्रस्तुत करती है। (3) Natural Sciences in the Vedas, (4) Aryasamaj at a Glance, (5) Gems of Aryan Wisdom, (6) Unity in World and in Home, (7) Ban on cow Slaughter, (8) Vedic Marriage Ceremony, (9) Vedic Sandhya (Daily Aryan Prayer), (10) Havan Mantra, (11) Some Points of the political philosophy of the Vedas.

(३६) डॉ० स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

आर्यसमाज के मूर्धन्य साहित्यकार तथा दार्शनिक विद्वान् गङ्गाप्रसाद जी उपाध्याय के ज्येष्ठ पुत्र डॉ० सत्यप्रकाश का जन्म २४ अगस्त १९०५ ई० में हुआ। १९२७ ई० में आपने रसायनशास्त्र में एम० एस०-सी०, तथा १९३२ ई० में डी० एस-सी० की परीक्षायें उत्तीर्ण कीं। पर्याप्त समय तक प्रयाग विश्वविद्यालय में रसायन के प्राध्यापक तथा विभागाध्यक्ष के पदों पर कार्य करने के पश्चात् १९६७ ई० में आपने अवकाश ग्रहण किया, और १० मई १९७१ ई० में चतुर्थाश्रम की दीक्षा ग्रहण की।

जहाँ डॉक्टर सत्यप्रकाश ने रसायनविषयक उच्चकोटि के ग्रन्थ लिखे, वहाँ वैदिक एवं दार्शनिक विषयों पर भी आपने अपनी लेखनी का चमत्कार दिखाया। आपने अपने पिता स्व० पण्डित गङ्गाप्रसाद उपाध्याय द्वारा रचित शतपथ ब्राह्मण के हिन्दी भाष्य का सम्पादन कर विस्तृत भूमिकासहित उसे प्रकाशित कराया। इसके अतिरिक्त डॉक्टर सत्यप्रकाश ने जिन वैदिक कल्पसूत्रों का सम्पादन किया है, उनका विवरण निम्न प्रकार है—(१) **आपस्तम्ब-शुल्व-सूत्रम्**—कपर्दिभाष्येण करविन्दसुन्दरराजव्याख्याभ्यां च संहितम्; अनुवाद International Academy of Indian Culture से १९६८ में प्रकाशित, (२) **बौधायन शुल्व-सूत्रम्**—द्वारिकानाथयज्वरचितशुल्वदीपिकाख्य-व्याख्या सहितम्। प्रोफेसर जी० थीबोकृत अनुवाद का सम्पादन। १९६८ ई० में प्रकाशित, (३) **मानव श्रौत सूत्र तथा मैत्रायणी संहिता** का सम्पादन। सन् १९६३ ई० में प्रकाशित।

डॉक्टर सत्यप्रकाश ने कतिपय पुरातात्त्विक एवं प्राचीन भारत में विद्यमान विज्ञान तथा अन्य भौतिक विद्याओं के सम्बन्ध में अन्वेषणात्मक ग्रन्थ लिखे हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि भारतीय साहित्य के इस अल्पज्ञात भण्डार का आपने बहुविध अन्वेषण किया है। ऐसे ग्रन्थ निम्न हैं— (१) वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा; (२) प्राचीन भारत में रसायन का विकास।

अंग्रेजी ग्रन्थ—Founders of Science in Ancient India; Brahma Gupta—ancient Mathematician and Astronomer; Coinage in Ancient India; Chemical studies of Archaeological Antiquities, Vincint Veritas (सत्यमेव जयते)—अफ्रीका में दिये वेद तथा अन्य विषयों के भाषणों का संग्रह, Enchanted Island or Poetry of Life—ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों की भावपूर्ण व्याख्या, Man and his Religion, Light within.

(३७) पण्डित वीरेन्द्र शास्त्री एम० ए०

सामवेद-भाष्यकार आचार्य वीरेन्द्र शास्त्री का जन्म १ जुलाई १९१५ ई० में हाथरस (जिला अलीगढ़) में हुआ। शास्त्री जी ने संस्कृत तथा हिन्दी में एम० ए० के अतिरिक्त साहित्याचार्य एवं काव्यतीर्थ परीक्षायें उत्तीर्ण कीं। राजकीय शिक्षा सेवा में कार्य करने के पश्चात् आप १ जुलाई १९७३ ई० में सेवामुक्त हुए। आपने आर्यसमाज के शैक्षणिक कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लिया। आर्यप्रतिनिधि सभा उत्तरप्रदेश के शिक्षा-विभाग के अधिष्ठाता, सार्वदेशिक विद्यार्य सभा के मन्त्री, तथा विभिन्न आर्यसमाजों के अधिकारी-पद पर रहे। आपने सामवेद पर सुबोध हिन्दी भाष्य लिखा, जो प्रथम वेदवाणी (वाराणसी) के विशेषांक के रूप में सं० २००७ वि० में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ। तत्पश्चात् यही भाष्य आदर्श साहित्य मण्डल रायबरेली से सं०२०२० वि०में ग्रन्थाकार छपा।

आपके द्वारा रचित अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—**धार्मिक शिक्षा ५ भाग, वैदिक भूगोलशास्त्रम्, ईशोपनिषद् व्याख्या, सत्यार्थप्रकाश सार** (२-३ समुल्लास), **पञ्च महायज्ञ**।

वैदिक शोध और गवेषणा की प्रसिद्ध आर्यसामाजिक मासिक पत्रिका 'वेदवाणी' के प्रथम दो वर्षों में संचालक एवं सम्पादक आप ही थे। कालान्तर में रायबरेली से आपने **वेदज्योति** मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी किया।

(३८) पण्डित भगवद्दत्त वेदालंकार

गुरुकुल विश्वविद्यालय काँगड़ी के अनुसन्धान-विभाग के अध्यक्ष पण्डित भगवद्दत वेदालंकार ने सं० २०११ वि० में **अयास्य ऋषि** पर एक खोजपूर्ण निबन्ध लिखा। उपनिषदों एवं ब्राह्मणग्रन्थों में वर्णित परिभाषाओं और कथानकों का स्पष्टीकरण, तथा वेद के रुद्र, बृहस्पति, अश्विनी तथा कण्व पर सामग्री एकत्रित की। वैदिक ऋषि तत्त्व पर भी लेख लिखे। सं० २०१२ ई० में वैदिक आधार पर सामान्य ऋषि का स्वरूप, उसकी शक्ति, ऋषित्व की प्राप्ति आदि विषयों पर भी लिखा। अग्नि, इन्द्र, सोम, अश्विनी आदि देवताओं एवं ऋषि के सम्बन्ध में प्रकाश डाला। २०१३ वि० में वेद-विषयक विभिन्न अनुसन्धानपूर्ण निबन्ध लिखे। इसी बीच आपने वैदिक देवता विष्णु पर विशिष्ट शोधकार्य किया। आपका यह शोधकार्य **विष्णु देवता** (१९६४ ई०) तथा **ऋषि रहस्य** (१९६५ ई०) प्रकाशित हो चुका है। 'विष्णु देवता' पर वेद और ब्राह्मण ग्रन्थों के आधार पर वेद के विष्णु देवतापरक मन्त्रों और आख्यानों का विवेचन किया गया है। **ऋषि रहस्य** में अयास्य, दधीचि, कण्व, मेधातिथि, प्रगाथ, त्रिशोक आदि ऋषियों के स्वरूप का विचार करके वेदमन्त्रान्तर्गत उल्लिखित इन ऋषिनामों तथा इनमें निहित आध्यात्मिक तथ्यों का विवेचन किया गया है।

वेद में प्रयुक्त 'दाश्वान्' शब्द का अग्नि, इन्द्र, सोम, अश्विनी और सविता देवताओं से सम्बद्ध विवेचन करते हुए आपने **आत्म-समर्पण** नामक ग्रन्थ लिखा, जो स्वाध्याय मञ्जरी के अन्तर्गत सं २०१० में प्रकाशित हुआ। आपके अन्य शोधग्रन्थों में **ऋभु देवता** (वैदिक ऋभुदेवतापरक मन्त्रों का विवेचन); **वैदिक अध्यात्मविद्या**—

वलासुर वध (ऋग्वेद १०।६७, ६८ सूक्त) की वैदिक आलंकारिक कथा का सोपपत्तिक विवेचन; वैदिक स्वप्न विज्ञान (अथर्ववेद के स्वप्नसूक्तों का मनोवैज्ञानिक अध्ययन), ब्रह्मपति देवता और रुद्र देवता आदि उल्लेखनीय हैं। वैदिक देवताओं के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए जो महत्त्वपूर्ण मौलिक कार्य पण्डित भगवद्दत्त वेदालंकार ने किया है, वह किसी अन्य आर्य विद्वान् ने नहीं किया।

(३६) पण्डित वीरसेन वेदश्रमी वेदविज्ञानाचार्य

वैदिक यज्ञविज्ञान-विषयक शोध को नई दिशा प्रदान करनेवाले पण्डित वीरसेन वेदश्रमी गुरुकुल वृन्दावन के प्रतिभाशाली स्नातक हैं। "अन्नाद् भवन्ति भूतानि, पर्जन्यादन्नसम्भवः। यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः" इस गीतोक्त सिद्धान्त को अपने यज्ञानुसन्धान द्वारा पुष्ट करनेवाले वेदश्रमी जी ने वृष्टियज्ञों का सफल संचालन किया है। उनका यजुर्वेदविषयक विशिष्ट शोधकार्य एवं अध्ययन निम्न प्रकार है— (१) यजुर्वेद संहिता का अनुवाक् क्रम से विभाग, (२) यजुःसंहिता के अनुवाकों तथा अध्यायों की पदगणना—पदसंहिता पाठानुसार, (३) यजुःसंहिता की प्रति का संशोधन—अक्षर, स्वर, विरामादि सहित(वेदपाठियों तथा शिक्षाग्रन्थों के आधार पर,) (४) यजुर्वेद संहिता का स्वाहाकार प्रयोग—शतपथ एवं ऋषि दयानन्द-प्रदर्शित शैली के अनुसार मन्त्रानुवृत्ति सहित,(५) यजुर्वेद में प्रयुक्त शब्दों का उदात्त अनुदात्त स्वरित रूप से स्वर-पदानुक्रम कोष, (६) यजुर्वेद की क्रम संहिता—आर्षी संहिता का स्वर-सहित लेखन, (७) यजुर्वेद के ३१वें और ४०वें अध्यायों के पद, क्रम, जटा, घनादि समस्त पाठों का सस्वर लेखन, (८) रुद्राष्टाध्यायी के मन्त्र, देवता एवं पदपाठ का सस्वर लेखन, (९)यजुर्वेद के १ से ४ अध्याय के मन्त्रों के मन्त्रक्रम से छोटे विभाग करके मन्त्रक्रमानुसार ही महर्षि दयानन्द का अर्थप्रदर्शन, (१०) अध्याय १ से ४ तक के मन्त्रों का अभिनव सुगम शैली से अत्यन्त स्पष्ट रूप से अर्थदर्शन, (११) अध्याय १ से ४ तक के मन्त्रों का वेदसार नाम से सारांशलेखन, (१२) यजुर्वेद संहिता के प्रथम एवं द्वितीय अनुवाकों के मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या, (१३) ३१वें अध्याय के पदों का कोष महर्षि दयानन्द के अर्थ-प्रदर्शनसहित, (१४) वैदिक षोडशी—१६ कलायुक्त परमात्मा का वर्णन करने वाली १६-१६ ऋचाओं के तीन सूक्त, (१५) गायत्री मन्त्र के प्रकृति-विकृति पाठ से समलङ्कृत इस ग्रन्थ में गायत्री मन्त्र के समस्त प्रकृति एवं विकृति पाठों का सस्वर लेखन, एवं मन्त्र के रथादि पाठों के चित्रों का भी प्रदर्शन है। ग्रन्थ की प्रस्तावना स्व० महामहोपाध्याय श्रीधर अण्णा शास्त्री वारे (नासिक) ने लिखी है। ५२ प्रकार के पाठ इसमें संगृहीत किये गये हैं। (१६)वेदमन्त्रों के आधार पर वर्तमान शरीर-शास्त्र का विवेचन, (१७) कतिपय सामगान एवं अनेक वेदमन्त्रों का शास्त्रीय संगीत-पद्धति से लेखन, (१८) सामगान संग्रह। (१९) श्रुतिसुधा—७५ वेदमन्त्रों की व्याख्या। (२०) वेद साहस्री—चारों वेदों के एक सहस्र मन्त्रों का नित्य पाठ तथा यथार्थ संग्रह। (२१) याज्ञिक आचार संहिता—यज्ञसम्बन्धी विविध विषयों एवं विधियों की विवेचना, (२२) वेद कथा—यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र की विस्तृत व्याख्या।

वेदश्रमीजी के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

(१) वैदिक सम्पदा—वेद में वर्तमान समय की समस्याओं का समाधान दर्शाने-

वाला ६०० पृष्ठों का बृहद् ग्रन्थ, (२) संस्कार प्रश्नोत्तरी, (३) याज्ञिक वृष्टिविज्ञान, (४) वैदिक वृष्टिविज्ञान, (५) वैदिक पर्जन्यविज्ञान, (६) वृष्टियज्ञों के परिणाम, (७) वैदिक समाजवाद, (८) वैदिक अध्यात्मवाद, (९) वैदिक श्रीसूक्त।

(४०) डॉक्टर सुधीर कुमार गुप्त, एम० ए०, पी-एच० डी०

राजस्थान विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के अध्यक्ष तथा अखिल भारतीय आर्य विद्वत् सम्मेलन के संयोजक डॉक्टर सुधीर कुमार गुप्त ने 'वेदभाष्यपद्धति को दयानन्द सरस्वती की देन' विषय पर शोधकार्य कर राजस्थान विश्वविद्यालय से डॉक्टर ऑफ फिलासफी की उपाधि प्राप्त की। डॉक्टर गुप्त ने अपने इस शोधप्रबन्ध में स्वामी दयानन्द की वेदभाष्यप्रणाली का गम्भीर अनुशीलन कर उसका वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया है, तथा अन्य वेदभाष्यकारों से उनकी वरीयता सिद्ध की है। डॉक्टर गुप्त ने वैदिक साहित्यविषयक अन्य भी अनेक शोधनिबन्ध लिखे हैं। उनका Nature of the Vedic Shakhas शीर्षक निबन्ध अखिल भारतीय प्राच्य-विद्या परिषद् के १५वें बम्बई अधिवेशन में पढ़ा गया था। इसमें विद्वान् लेखक ने वेदों की विभिन्न शाखाओं पर विचार करते हुए स्वामी दयानन्द के इस मत की पुष्टि की है कि शाखायें वेद का व्याख्यान ही हैं। यजुर्वेद की माध्यन्दिनीय और काण्व, अथर्ववेद की शौनक तथा पैप्पलाद, तथा सामवेद की कौथुम और जैमिनीय शाखाओं में पाये जानेवाले कतिपय पाठान्तरों का तुलनात्मक विवेचन करने के पश्चात् वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि शाखाओं में संहिता के मूलपाठ को अधिकाधिक सरल और बोधगम्य बनाने का प्रयास किया गया है। अतः प्रकारान्तर से इन्हें वेदों का व्याख्यान कहा जा सकता है।

इसी प्रकार उनका एक अन्य निबन्ध Ancient School of Vedic Interpretation भी उक्त परिषद् के वैदिक विभाग के अन्तर्गत १९५१ ई० में पढ़ा गया। इस निबन्ध में लेखक ने वेदों के पदपाठ, शाखा प्रवचन, तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रतिपादित मन्त्रार्थ की समीक्षा करते हुए यास्कीय निरुक्त में उल्लिखित नैदान, नैरुक्त, परिव्राजक, पूर्वयाज्ञिक, अधिदैवत, अध्यात्म, आख्यान, समय आदि आठ व्याख्याप्रणालियों का आलोचनात्मक विवेचन करते हुए स्वामी दयानन्द द्वारा स्वीकृत नैरुक्त प्रक्रिया की विशिष्टता सिद्ध की है। अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् के दरभङ्गा अधिवेशन में डॉक्टर गुप्त ने एक अन्य निबन्ध "Swami Dayanand as a Vedic Commentator" भी पढ़ा था। इसमें वेदभाष्यकार के रूप में स्वामी दयानन्द की विशेषता निरूपित की गई है। ऋग्वेद के ऋषि, उनका सन्देश और दर्शन (Seers of the Rigveda, their message and Philosophy)शीर्षक उनका एक अन्य महत्त्वपूर्ण शोधनिबन्ध है।

प्राच्यविद्या विश्व परिषद् (World Oriential Conference)के १९६४ ई० के दिल्ली अधिवेशन में डॉक्टर गुप्त ने Monosyllatric Origion of the Vedic Language शीर्षक निबन्ध पढ़ा, जिसमें वैदिक भाषा के एकाक्षरी मूल का भाषावैज्ञानिक दृष्टि से प्रतिपादन किया गया था। Authorship of some of the Hymns of the Rigveda शीर्षक उनका निबन्ध अखिल भारतीय प्राच्यविद्या परिषद् के वैदिक विभाग के विवरण-संग्रह (Proceeding 1 to 18 Session) में छपा है।

उनके अन्य महत्त्वपूर्ण शोधनिबन्धों में A Critical study of the Commentary on the Rigveda by Swami Dayanand, A New interprevasion of Atharvaveda, Coconut in the Rigveda आदि उल्लेखनीय हैं।

वेद-लावण्यम्—ऋग्वेद के विष्णु सूक्त (१।१५४), इन्द्र सूक्त (२।१२), पुरुष सूक्त (१०।९०), प्रजापति सूक्त (१०।१२१) तथा वाक्-सूक्त (१०।१२५) की व्याख्या का यह ग्रन्थ एक विस्तृत भूमिका, सायण भाष्य, हिन्दी अनुवाद तथा व्याकरण-विषयक आवश्यक टिप्पणियों से युक्त दो भागों में प्रकाशित हुआ।

वैदिक विषयों पर डॉ० गुप्त ने निर्देशन का कार्य भी किया है।

(४१) स्वामी विद्यानन्द विदेह

स्वामी विद्यानन्द विदेह का वेदाध्ययन, वेदव्याख्या तथा वेदप्रचार का कार्य अत्यन्त महत्त्व का है। उन्होंने सहस्रों वेदमन्त्रों की भावपूर्ण एवं हृदयग्राही व्याख्यायें की हैं, जो वेदसंस्थान अजमेर के मासिक पत्र 'सविता' में प्रकाशित होती रही हैं। उनके निम्नलिखित ग्रन्थ विशेष महत्त्व के हैं—

(१) **वेद व्याख्या ग्रन्थ**—यजुर्वेद के प्रथम १४ अध्यायों की व्याख्या पृथक्-पृथक् १४ ग्रन्थों में प्रकाशित हुई है, (२) **वैदिक प्रेयर्स (Vedic Prayers)**—यह मन्त्रों में निहित प्रार्थनाओं का संग्रह है, (३) **सामवेद का अध्ययन**, (४) **शिवसंकल्प**—यजुर्वेद के शिवसंकल्प मन्त्रों की व्याख्या, (५) **गायत्री**—ऋग्वेद के गायत्री छन्द वाले कतिपय मन्त्रों की सरस एवं भावपूर्ण व्याख्या, (६) **महामृत्युञ्जय मन्त्र का अनुष्ठान**—यजुर्वेद के सुप्रसिद्ध मन्त्र 'त्र्यम्बकं यजामहे' की व्याख्या, (७) **गायत्री मन्त्र का अनुष्ठान**—इसमें प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र की व्याख्या है, (८) **अथर्ववेद का अध्ययन**—धारावाही रूप से सविता में प्रकाशित हो रहा है, (९) गीतायोग, (१०) श्रीमद्भगवद्गीता की सुगम एवं सुबोध व्याख्या, (११) योगालोक—योगदर्शन की मार्मिक टीका, (१२) विजय याग, (१३) स्वस्ति याग, (१४) जीवन पाथेय, (१५) यज्ञोपवीत रहस्य, (१६) संध्यायोग, (१७) परमयोग, (१८) वैदिक योगपद्धति आदि।

(४२) पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा 'पथिक'

प्रसिद्ध आर्य लेखक श्री पण्डित शिवपूजनसिंह कुशवाहा का जन्म १ जून १९२४ ई० को ग्राम 'गौरा' जिला सारन(छपरा)में हुआ। आर्यसमाजी लेखकों में पथिक जी का उल्लेखनीय स्थान है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

(१) **महर्षि दयानन्दकृत वेदाभाष्यानुशीलन**—महर्षि दयानन्दकृत वेदभाष्य की विशेषताओं का सम्यक्रूपेण निरूपण करते हुए उसके औचित्य का प्रतिपादन किया गया है, (२) **ऋग्वेद के दशम मण्डल पर पाश्चात्य विद्वानों का कुठाराघात**—ऋग्वेद के दशम मण्डल को नवीन, तथा कालान्तर में मूलसंहिता में प्रक्षिप्त माननेवाले पश्चिमी विद्वानों के एतद्विषयक मत की सप्रमाण समीक्षा की गई है, (३) **अथर्ववेद की प्राचीनता**—अथर्ववेद के सम्बन्ध में एक भ्रम यह भी प्रचलित किया गया है कि अन्य वेदों की अपेक्षा इस वेद की रचना परवर्ती काल में हुई, अतः उसकी गणना वेदत्रयी में

नहीं की जाती। कुशवाहा जी ने इस नवीन मत का समाधान कर अथर्ववेद की प्राचीनता स्थापित की है, (४) महर्षि दयानन्द की दृष्टि में यज्ञ—'यज्ञ' शब्द के विभिन्न अर्थों का विवेचन, (५) भारतीय इतिहास और वेद, (६) सामवेद का स्वरूप।

कुशवाहा जी रचित अन्य ग्रन्थ—आर्यसमाज के द्वितीय नियम की व्याख्या, आर्यसमाज में मूर्तिपूजा-ध्वान्तनिवारण, भारतीय इतिहास की रूपरेखा पर समीक्षात्मक दृष्टि, वामनावतार की कल्पना, उपनिषदों की उत्कृष्टता, बाइबिल में वर्णित बर्बरता तथा अश्लीलता का दिग्दर्शन, पाश्चात्यों की दृष्टि में इस्लामी मतप्रवर्तक, ईसाई मत का कच्चा चिट्ठा, नीर-क्षीर-विवेक, वैदिक सिद्धान्त मार्तण्ड आदि। आपके प्रकाशित ग्रन्थों की संख्या ४० है।

(४३) डॉक्टर रामनाथ वेदालंकार

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के भूतपूर्व आचार्य और उपकुलपति डॉक्टर रामनाथ वेदालंकार गुरुकुलिक सेवा से निवृत्त होकर पंजाब यूनिवर्सिटी चण्डीगढ़ के दयानन्द पीठ के अध्यक्ष एवं वैदिक अध्ययन के प्रोफेसर रहे। आप वेदशास्त्र तथा संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित हैं, और उन्होंने वैदिक विषयों पर उच्चकोटि के अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। वेदार्थ की विविध शैलियों का तुलनात्मक अध्ययन करने के प्रयोजन से जो ग्रन्थ उन्होंने लिखा है, वह आर्यसमाज के वैदिक साहित्य का अमूल्य रत्न है। आजकल आप महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा निर्दिष्ट विधि से सामवेद का भाष्य करने में संलग्न हैं।

(४४) पण्डित सत्यकाम विद्यालंकार

गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय के वयोवृद्ध व ज्ञानवृद्ध स्नातक पण्डित सत्यकाम विद्यालंकार जहाँ हिन्दी के सुविख्यात साहित्यकार व कवि हैं, वहाँ साथ ही वेदों के गम्भीर विद्वान् भी हैं। आपने बहुत-से वैदिक सूक्तों का सुललित हिन्दी कविताओं में अनुवाद किया है। वेदों का अंग्रेजी भाषा में प्रामाणिक अनुवाद करने में जो कुशलता उन्होंने प्रदर्शित की है, वह वस्तुतः सराहनीय है। स्वामी सत्यप्रकाश जी के सम्पादकत्व में वेदों का जो अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हो रहा है, उसके अनुवादक पण्डित सत्यकामजी ही हैं, जो श्री विराज विद्यालंकार के सहयोग से यह महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित कर रहे हैं।

परिशिष्ट (२)

बंगाल का आर्य साहित्य

आर्यसमाज के इतिहास में बंगाल का विशेष महत्त्व है। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने चार मास कलकत्ता में निवास किया था, और वहाँ के सुशिक्षित बुद्धिजीवियों के सम्पर्क से उनके प्रचार-कार्य की पद्धति में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी हुए थे। पर बंगाल में आर्यसमाज का अभी अधिक प्रचार-प्रसार नहीं हुआ है। कलकत्ता सदृश नगरों में व्यापार, व्यवसाय तथा सेवा आदि के कार्यों में जो लाखों हिन्दी भाषा-भाषी लोग बसे हुए हैं, आर्यसमाज का प्रचार प्रायः उन्हीं में है। जिनकी मातृभाषा बंगाली है, ऐसे वंग-देशीय जनों में अभी महर्षि के मन्तव्यों का सुचारु रूप से प्रचार नहीं हुआ है। यही कारण है, जो बंगला भाषा में आर्य साहित्य का प्रणयन भी विशेष नहीं हो सका है। पर फिर भी बंगाल के आर्य विद्वानों ने अपनी क्षेत्रीय भाषा में आर्यसमाज का जो साहित्य सम्पादित व प्रकाशित किया है, उसका महत्त्व कम नहीं है।

यद्यपि इतिहास के इस पाँचवें भाग में बंगला भाषा के आर्य साहित्य का यथा-स्थान उल्लेख किया जाता रहा है, फिर भी यह उपयोगी होगा कि इस साहित्य का पृथक् रूप से भी उल्लेख कर दिया जाए, ताकि पाठक बंगाल में आर्यसमाज की निरन्तर बढ़ती गतिविधि से सम्यक्तया परिचय प्राप्त कर सकें।

बंगला भाषा के आर्य साहित्यकारों में श्री शंकरनाथ पण्डित का स्थान सर्वोपरि है। उनके पिता जस्टिस शम्भुनाथ पण्डित कश्मीरी थे, पर बंगाल में बस गये थे। श्री शंकरनाथ ने जन्म-भर आर्यसमाज की सेवा की। जब बंगाल और बिहार की एक ही आर्य प्रतिनिधि सभा थी, शंकरनाथ जी ने उत्तरी बिहार के समस्तीपुर, मोतीहारी, दरभंगा आदि जिलों में हिन्दी भाषा द्वारा और बंगाल में बंगला भाषा द्वारा वैदिक धर्म का प्रचार किया। प्रचार-कार्य के लिए उन्होंने साहित्य का भी प्रणयन किया, और तीस पुस्तकों की रचना की, इनमें कुछ पुस्तकें अंग्रेजी और हिन्दी में हैं, पर बहुसंख्यक पुस्तकें बंग भाषा में हैं।

श्री शंकरनाथ पण्डित विरचित आर्यसमाज के साथ सम्बन्धयुक्त पुस्तकें निम्न-लिखित हैं—

(१) What is Arya Samaj? Parts I and II, (२) The Vedas as the Revelation, (Revised Edition), (३) The Study of the Vedas by the Women and the Shudras, (४) Destiny and Self-exertion, (५) Vedic Classification of Cast, (६) Dwaita and Adwaita Philosophy, (७) Duty Towards Our Depressed Brothers, (८) Christ—An Indian Disciple, (९) A Pure Vedantic to its backbone, (१०) सत्यार्थ प्रकाश,

(११) ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, (१२) संस्कारविधि, (१३) आर्याभिविनय, (१४) पंचमहायज्ञविधि, (१५) वाइवेलेर आत्मखण्डन, (१६) ऋषीन्द्र जीवन, (१७) उपदेश रत्नावली, (१८) गुरु ओ शिष्य विषयक शास्त्रमत, (१९) वैदिक तीर्थ, (२०) दान विषय शास्त्रमत, (२१) वेद नित्य ओ अपौरुषेय, (२२) स्त्री शूद्रादिर वेद पाठ, (२३) धर्मवीर (हिन्दी तथा बंग भाषा में), (२४) आस्तिकादर्श वा ईश्वर निरूपण, (२५) मानव जीवनेर कर्म उद्देश्य ओ परिणाम, (२६) आर्यसमाज परिचय, (२७) वैदिक यज्ञे हिंसा निषेध, (२८) हिन्दू संगठन ओ दलितोद्धार, (२९) आर्योद्देश्य रत्नमाला [स्वामी दयानन्द प्रणीत], (३०) पुराण ओ व्यासदेव।

बंग भाषा के आर्य साहित्य के अन्य प्रणेता

(१) स्व० राजेन्द्रनाथ मल्लिक। ग्राम—आन्दुल, जिला—हावड़ा। पुस्तक "भाषा ओ ज्ञान जिज्ञासा" (वंग भाषा में)।

(२) स्व० यतीन्द्रनाथ मल्लिक। ग्राम—आन्दुल, जिला—हावड़ा।
ये दो भाई आर्य परिवार के थे। स्व० यतीन्द्रनाथ मल्लिक कृत पुस्तक—"सांख्य दर्शन" (वंग भाषा में भाष्य सहित)।

(३) पण्डित दीनबन्धु वेदशास्त्री—आर्यसमाज कलकत्ता के मासिक मुखपत्र 'आर्य गौरव' बंग भाषा में प्रकाशित के सम्पादक। एक रुपया चन्दा (वार्षिक)। 'शास्त्रसिन्धु' नामक वैदिक साहित्य प्रकाशन संस्था का मासिक-पत्र। इसी संस्था से पण्डित दीनबन्धु जी ने वंग भाषा में ऋग्वेद (असम्पूर्ण), 'यजुर्वेद' (असम्पूर्ण), सामवेद (पूर्ण), अथर्ववेद (असम्पूर्ण) प्रकाशित किया था। वर्तमान में ये अप्राप्य हैं।
लिखित पुस्तकें—(१) वेदसार, (२) ब्राह्मण शूद्रेर, (३) समाज विप्लव, (४) विधवा विवाह, (५) विधवा विवाहेर आपत्ति खण्डन, (६) वेदपरिचय, (७) आन्तर्जातिक विवाद, (८) अशौच ओ प्रेत लोक, (९) श्राद्ध, (१०) जातेर वड़ाई, (११) जाति ना बज्जाति, (१२) भाटपाड़ा वध काव्य, (१३) हिन्दी शिक्षक, (१४) आस्तिकवाद, (१५) सिन्धु सभ्यता, (१६) सामवेद (केवल मन्त्रार्थ सहित सम्पूर्ण), (१७) संस्कारविधि (अनुवादक)।

(४) स्वर्गीय विनयकृष्ण सेन—(१) धर्मवीर श्रद्धानन्द, (२) हिन्दू संगठन।

(५) स्वर्गीय कालीरञ्जन लाहिड़ी, एम० बी० एल०, पुस्तक—(१) ब्रह्मसूत्र, (२) साकारवाद।

(६) स्वर्गीय गौर मोहन देव वर्मन—काऊर चण्डी, कोलाघाट, मिदनापुर। पुस्तक—(१) श्राद्ध तत्त्व, (२) यज्ञोपवीत, (३) सृष्टि तत्त्व।

(७) स्वर्गीय इन्दुपति मुखोपाध्याय। जिला—हुगली। पुस्तक—जातेर खबर।

(८) स्वर्गीय पण्डित दिगिन्द्र नारायण भट्टाचार्य विद्याभूषण—सिराज गंज, पावना (वंगला देश)। पण्डित जी हिन्दू महासभा के एकनिष्ठ प्रचारक थे। उन्होंने आर्यसमाज के साथ सम्बन्ध रखा। आप दीनबन्धु वेदशास्त्री के सहयोगी थे। पुस्तकें—(१) 'जाति भेद' अपूर्व क्रान्तिकारी पुस्तक, (२) चातुवर्ण विभाग, (३) अस्पृश्यतावर्जन। ये पुस्तकें आर्यसमाज द्वारा वेद प्रचार में सहायक थीं।

(९) पं० श्री सुरेन्द्रनाथ सिद्धान्तविशारद। तुलसी वेड़िया, हावड़ा—जिला। पुस्तक—धर्म ओ ताहार स्वरूपा।

(१०) स्वर्गीय अतुलकृष्ण चौधरी, एम० ए० बी० एल०, कादिरगंज, राजशाही (बांगला देश)। उपप्रधान आर्यसमाज राजशाही। स्वामी स्वतन्त्रानन्द प्रतिष्ठित 'आर्यरत्न' (बंगला मासिक पत्र) के सम्पादक। पुस्तकें—(१) श्रीकृष्ण महाभारतम् (संस्कृत महाकाव्य), (२) किमार्यत्वम् (संस्कृत काव्य), (३) दयानन्द सरस्वती (जीवनी बंग भाषा में)।

(११) प्रियदर्शन सिद्धान्तभूषण। स्नातक—दयानन्द उपदेशक विद्यालय (लाहौर, पंजाब), शिष्य स्वामी स्वतन्त्रानन्द महाराज, श्रीरामकृष्ण राय द्वारा संचालित 'आर्य' (बंगला मासिक पत्रिका, अधुना लुप्त) के सम्पादक। 'वैदिक साहित्य पीठ' नामक संस्था द्वारा अष्टादश वर्ष काल से प्रकाशित हो रही 'वेदमाता' मासिक पत्रिका के सम्पादक। पुस्तकें: (१) ऋषि दयानन्द सरस्वतीकृत 'सत्यार्थ प्रकाश' (षष्ठ संस्करण) हिन्दी ग्रन्थ का बंगानुवाद, (२) 'आर्योद्देश्य रत्नमाला' (बंगानुवाद), (३) 'व्यवहारभानु' (बंगानुवाद), (४) 'सन्ध्योपासनम्' (बंगानुवाद), (५) 'आर्याभिविनय' (बंगानुवाद), (६) स्व० पण्डित अयोध्याप्रसाद कृत 'ओङ्कार महात्म्य' (बंगानुवाद), (७) 'वैदिक धर्मधारा' (बंगानुवाद—'दो बहनों की बातें'), (८) 'भक्ति ज्ञान भजनावली' (हिन्दी, प्रकाशक आर्य स्त्री समाज भवानीपुर), (९) 'सत्संग प्रकाश' (हिन्दी, प्रकाशक आर्य स्त्री समाज, भवानीपुर), (१०) 'प्राणायाम विधि' (नारायण स्वामी कृत ग्रन्थ का बंगानुवाद), (११) 'आमरा आर्य' (बंग भाषा में लिखित पुस्तिका), (१२) यथार्थता, (१३) देवयज्ञ, (१४) कामात्मा संघर्ष, (१५) 'मानव धर्मेर स्वरूप' राजशाही कालिज में प्रदत्त व्याख्यान, (१६) 'पुरीर जगन्नाथ' काव्य ग्रन्थ, (१७) 'पूना प्रवचन संग्रह' (पं० श्री युधिष्ठिर मीमांसक सम्पादित ग्रन्थ का बंगानुवाद, प्रकाशक आर्यसमाज कलकत्ता शताब्दी समिति), (१८) स्वामी दयानन्द सरस्वती कृत यजुर्वेद भाष्य के आधार पर यजुर्वेद भाष्य बंग भाषा में पाण्डुलिपि ४००० पृष्ठ की फुल स्केप कागज में प्रस्तुत है, (अप्रकाशित), चार खण्डों में सम्पूर्ण होगा। (२०) काशी हुगली शास्त्रार्थ (बंग भाषा में)।

(१२) स्वर्गीय रमेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय—"आर्यसमाज कहा के बले" (बंगानुवाद) प्रो० नडाइल कालिज, यशोहर (बंगला देश)।

(१३) स्वर्गीय बलाई चाँद मल्लिक—'सन्ध्या उपासना' विषयक एक पुस्तिका ५० वर्ष पूर्व छपी थी।

(१४) श्री हजारीलाल मल्लिक, आर्यसमाज चण्डीपुर, २४ परगना। पुस्तक—"धर्म ओ मतमतान्तर" (बंग भाषा)।

(१५) स्वामी समाधि प्रकाश आरण्य, पुस्तक—"हिन्दुर जाति तत्त्व"।

(१६) श्री विधुभूषण देव वर्मन, पाटकेल धारा, खुलना (बंगला देश)। महर्षि दयानन्द सरस्वती महाराज की जीवनी तथा समाज संस्कार मूलक मूर्तिपूजा खण्डन विषयक काव्य ग्रन्थ बंग भाषा में लिखित।

परिशिष्ट (३)

उड़िया भाषा का आर्य साहित्य

उड़ीसा या ओडिसा इस समय एक पृथक् राज्य है, जो पहले बिहार प्रान्त के साथ संयुक्त था। भारतीय गणराज्य के अन्तर्गत ओडिसा राज्य की भाषा उड़िया है। इस क्षेत्र में अभी आर्यसमाज का समुचित प्रचार नहीं हुआ है। इसी कारण उड़िया भाषा में पर्याप्त परिमाण में आर्य साहित्य का प्रणयन नहीं हो सका है। फिर भी अनेक विद्वानों ने जहाँ इस राज्य में वैदिक धर्म का प्रचार किया, वहाँ साथ ही सर्वसाधारण जनता तक महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों को पहुँचाने के प्रयोजन से उड़िया भाषा में पुस्तकों की भी रचना की। ओडिसा में आर्यसमाज का सूत्रपात करने का श्रेय स्वर्गीय श्री श्रीकच्छ पण्डा को प्राप्त है। उन्होंने सत्यार्थ प्रकाश तथा संस्कारविधि का उड़िया भाषा में अनुवाद भी किया था। इनका प्रकाशन बीसवीं सदी के द्वितीय चरण में हो गया था। श्री पण्डा ने पाखण्ड के खण्डन तथा जनता में प्रचलित अन्धविश्वासों को दूर करने के लिए अनेक पुस्तकें भी लिखी थीं। 'आर्य' और 'संस्कारक' नाम से उड़िया भाषा की दो मासिक पत्रिकाओं का प्रकाशन भी उन्होंने शुरू किया था। ये पत्रिकाएँ अनेक वर्षों तक नियमपूर्वक प्रकाशित होती रहीं। श्री पण्डा द्वारा विरचित पुस्तकों में वैदिक धर्म, सत्संग गुटका, पंचमहायज्ञविधि, रामायण व महाभारत सारकथा, सूक्तिमाला तथा पंचदेवता उल्लेखनीय हैं। उन्होंने कुल मिलाकर ५० के लगभग पुस्तकें लिखी थीं। वस्तुतः, पण्डाजी ही उड़िया भाषा में आर्य साहित्य के प्रथम प्रणेता थे। उनके एक समकालीन आर्य विद्वान् श्री विमलेश्वर नन्दा थे, जिन्होंने 'सनातन वैदिक धर्म' नाम की एक उड़िया पुस्तक की रचना की थी। ओडिसा के पश्चिमी क्षेत्र में महर्षि दयानन्द का संदेश सबसे पहले नन्दाजी ने ही पहुँचाया था।

उड़िया भाषा में आर्य साहित्य के प्रणयन का दूसरा युग तब प्रारम्भ हुआ, जब कि वहाँ गुरुकुल वेदव्यास तथा गुरुकुल आमसेना की स्थापना हुई। स्वामी ब्रह्मानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित गुरुकुल वेदव्यास द्वारा संस्कारविधि, पञ्चमहायज्ञ, व्यवहारभानु आदि अनेक पुस्तकें उड़िया भाषा में प्रकाशित की गईं। इस गुरुकुल से वनवासी संदेश नामक एक मासिक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया गया।

स्वामी धर्मानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित गुरुकुल आमसेना में एक उत्कल साहित्य संस्थान है, जिस द्वारा सत्यार्थप्रकाश, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका और आर्याभिविनय के उड़िया अनुवाद प्रकाशित किये गये हैं। संस्थान की ओर से अन्य भी अनेक पुस्तकों का प्रकाशन हुआ है, और 'कुलभूमि' नामक एक पत्रिका भी इस गुरुकुल द्वारा प्रकाशित की जाती है।

ओडिसा के कर्मठ आर्य विद्वानों के प्रयत्न से राज्य की राजधानी भुवनेश्वर में

वैदिक अनुसन्धान प्रतिष्ठान नाम से एक अन्य संस्था भी स्थापित हुई है, जो उड़िया भाषा में वैदिक व आर्यसामाजिक साहित्य के प्रणयन, सम्पादन व प्रकाशन के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण कार्य कर रही है। इसकी संचालिका श्रीमती शन्नोदेवी हैं, जो ओडिसा की सुविख्यात समाजसेविका तथा धर्मप्रचारिका हैं। प्रतिष्ठान जिस साहित्य का प्रकाशन कर रहा है, उसमें श्री प्रियरत्नदास द्वारा लिखित पुस्तकों का मुख्य स्थान है। यद्यपि श्री दास इन्जीनियर हैं, पर वे उड़िया भाषा के लब्धप्रतिष्ठ सुलेखक भी हैं। ओड़िसा राज्य में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप में उनका सर्वाधिक योगदान है। श्री प्रियरत्नदास द्वारा प्रणीत पुस्तकों को ओडिसा में आदर की दृष्टि से देखा जाता है, और वहाँ की जनता रुचिपूर्वक उनका अध्ययन करती है। इन पुस्तकों से उड़िया भाषाभाषी लोगों में वैदिक धर्म के प्रचार में बहुत सहायता मिली है। इन पुस्तकों की उत्कृष्टता के लिए इतना लिखना ही पर्याप्त है कि इनमें कुछ ऐसी भी हैं, जिन्हें साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत किया गया है।

वैदिक अनुसन्धान प्रतिष्ठान, भुवनेश्वर द्वारा प्रकाशित पुस्तकों में वेदभाष्य, वैदिक संस्कार, ऋग्वेद सौरभ, यजुर्वेद सौरभ, सामवेद सौरभ, अथर्ववेद सौरभ, चतुर्वेद सूक्ति सहस्रिका, वेद मनुष्यकृत कि ?, वैदिक विवाह पद्धति, वैदिक नित्यकर्मविधि, श्राद्ध-निर्णय, आर्यसंस्कृतिर मूलतत्त्व, स्वामी दयानन्द, वैदिक धर्म प्रश्नोत्तरी, सुरापानरु विभीषिका आदि उल्लेखनीय हैं। प्रतिष्ठान द्वारा 'वेदपीयूष' नाम से एक पत्रिका भी प्रकाशित की जा रही है, जिसके सम्पादक डाक्टर उजागर पटेल हैं। इसमें सन्देह नहीं कि भुवनेश्वर के वैदिक अनुसन्धान प्रतिष्ठान द्वारा वैदिक धर्म के प्रचार के लिए और उड़िया भाषा में आर्य साहित्य के प्रणयन के लिए महत्त्वपूर्ण कार्य किया जा रहा है। उड़िया के एक अन्य आर्य साहित्यकार पं० ऋषिकेश शास्त्री हैं जिनकी यज्ञपद्धति, गल्प चयनिका और भजनावली पुस्तकें उल्लेखनीय हैं।

जब से ओडिसा राज्य में आर्यसमाज के कार्यकलाप में वृद्धि प्रारम्भ हुई है, महर्षि दयानन्द सरस्वती से प्रेरणा पाकर वहाँ के अनेक विद्वानों द्वारा आर्य साहित्य के प्रणयन की ओर भी ध्यान दिया गया है। ऐसे विद्वानों व साहित्यकारों में श्री रंगधर आर्य, श्री यज्ञप्रकाश दास, श्री ओमप्रकाश दास, श्री अखिलेश आचार्य, श्री बृजविहारी और श्री धनेश्वर सेहरा आदि महत्त्व के हैं। इन तथा ऐसे ही अनेक विद्वानों का उड़िया भाषा में आर्य साहित्य की वृद्धि में उल्लेखनीय योगदान है।

परिशिष्ट (४)

आर्यसमाज का फुटकर साहित्य और उसके लेखक

आर्यसमाज का साहित्य इतना विशाल है, और उसके प्रणेताओं की संख्या इतनी अधिक है, कि किसी एक ग्रन्थ में उन सबका विशद रूप से परिचय दिया ही नहीं जा सकता। कितने ही आर्य विद्वानों ने वैदिक धर्म के मन्तव्यों का प्रतिपादन करते हुए बहुत-सी छोटी-बड़ी पुस्तकें लिखी हैं, जिनका समग्र रूप से उल्लेख इस ग्रन्थ में नहीं हुआ। ऐसे एक विद्वान् पण्डित सुरेशचन्द्र विद्यालंकार हैं, जिन द्वारा लिखित एवं प्रकाशित पुस्तकों की संख्या २८ है। इनके अतिरिक्त उनकी ६ पुस्तकें अभी अप्रकाशित भी हैं। ऐसे ही कितने अन्य विद्वान् भी हैं, जिनकी लिखी हुई दर्जनों पुस्तकें आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए प्रयुक्त हो रही हैं। यहाँ पण्डित सुरेशचन्द्र वेदालंकार द्वारा लिखित पुस्तकों की सूची केवल उदाहरण के रूप में प्रस्तुत की जा रही है, ताकि पाठक आर्य-समाज के विशाल साहित्य का कुछ अनुमान कर सकें—

(१) प्रार्थना मन्त्र, (२) मन की अपार शक्ति, (३) आकर्षक व्यक्तित्व, (४) यज्ञ की महिमा, (५) महकते फूल, (६) ईश्वर का स्वरूप।

'ईश्वर का स्वरूप' पुस्तक में वेदों में ईश्वर, जीव और प्रकृति के स्वरूप को प्रस्तुत किया गया है। यह वेद के आधार पर लिखा गया है।

(७) साहसी बनो, (८) मातृभूमि वन्दना, (९) माँ की लोरियाँ, (१०) सखी की सीख, (११) मानवधर्म दशसूत्र (आर्यसमाज के दस नियमों की व्याख्या है), (१२) यम-नियम, (१३) हँसते-हँसते जीना, (१४) हम वीर बनें, (१५) मंगल प्रभात, (१६) सफल जीवन, (१७) हम प्रसन्न रहें, (१८) हम मनुष्य बनें, (१९) वैदिक राजनीति (२०) वैदिक विवाह परिचय, (२१) नामकरण संस्कार, (२२) अन्त्येष्टि संस्कार, (२३) दुर्गुण दूर भगाइए, (२४) मनुष्य बनो—मनुष्य बनो, (२५) भाषा दर्पण, (२६) अलंकार छन्द रस, (२७) प्रणवीर प्रताप, (२८) भीम प्रतिज्ञा (प्रश्नोत्तर)।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त निम्नलिखित पुस्तकें भी शीघ्र प्रकाशित होनेवाली हैं :

(क) आओ सत्संग में चलें (साप्ताहिक सत्संग के लिए ५२ प्रवचन), (ख) सप्त मर्यादा, (ग) भगवत्कथा, (घ) ईशोपनिषद् व्याख्यान माला, (ङ) बहनों की चर्चा, (च) अग्नि, इन्द्र और सोम देवता।

परिशिष्ट (५)

वेदशास्त्रों के भाष्य एवं व्याख्या के लिए किये गये महत्त्वपूर्ण कार्य का उदाहरण

वेदशास्त्रों के भाष्य व व्याख्या करने तथा उनके अभिप्राय को सुबोध भाषा में जनता के सम्मुख प्रस्तुत करने का जो महत्त्वपूर्ण कार्य आर्य विद्वानों द्वारा किया जा रहा है, उसका एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत है।

(१) यह उदाहरण डॉ० रामनाथ वेदालंकार (भूतपूर्व आचार्य एवं उपकुलपति गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार) के सामवेद भाष्य से लिया गया है। सामवेद के पूर्वार्चिक का प्रथम पर्व आग्नेय काण्ड कहाता है। इस प्रथम पर्व में ११४ मन्त्र हैं, जिन सबका देवता प्रायः 'अग्नि' ही है। अतः इस काण्ड या पर्व के मन्त्रों का सही अर्थ समझने के लिए 'अग्नि' का अभिप्राय जान लेना आवश्यक है। डॉ० रामनाथ ने 'अग्नि' शब्द के अर्थ को इस प्रकार स्पष्ट किया है—

अग्नि शब्द का यास्काचार्य ने निरुक्त (७।१४) में जो निर्वचन दिखाया है उसके अनुसार अग्नि शब्द 'अग्र-नी' या 'अंग-नी' से निष्पन्न होता है। परमात्मा का नाम अग्नि इस कारण है, क्योंकि वह उपासकों का अग्र-णी अर्थात् अग्र-नायक या पथप्रदर्शक बनता है और वह अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेध-पर्यन्त यज्ञों में या अध्ययन-अध्यापन-रूप यज्ञों में अथवा सार्वजनिक बावड़ी, कुआँ, तलाब, उद्यान, चिकित्सालय आदि के निर्माण रूप यज्ञों में तथा अन्य परोपकार के यज्ञों में आदर्श रूप में सबसे आगे लाया जाता है (अग्र-नी)। वह जिस उपासक के अनुकूल होता है, उसे अपने अंग में अर्थात् अपनी आश्रयरूप गोदी में ले लेता है (अंग-नी)। निरुक्त के अनुसार स्थौलाष्ठीवि आचार्य 'न' पूर्वक गीला करने अर्थ वाली क्नूयी धातु से अग्नि शब्द की सिद्धि करते हैं। जो दुःख-द्रव से या पाप-पंक से अपने उपासक को गीला नहीं होने देता, वह परमात्मा अग्नि है (न-क्नि=अग्नि)। निरुक्त में उद्धृत शाकपूणि आचार्य के मत में अग्नि शब्द तीन धातुओं से मिलकर बना है। अग्नि का अ गत्यर्थक इण् धातु के 'अयन' से लिया गया है, क् या ग् माँजने अर्थ वाली अञ्जू धातु के 'अक्त' से या दाहार्थक 'दह' धातु के 'दग्ध' से लिया है और नि नयनार्थक नी (णीञ् प्रापणे) से गृहीत किया गया है। परमात्मा अग्नि इस कारण है, क्योंकि वह अपने उपासक को उन्नत करने में गतिशील या सक्रिय होता है, उपासक के हृदय को माँजकर स्वच्छ कर देता है, हृदय-स्थित मालिन्य को दग्ध करता है और उसे उसके निर्धारित लक्ष्य पर पहुँचा देता है।

उणादि प्रक्रिया के अनुसार अग्नि शब्द की सिद्धि गत्यर्थक 'अगि' धातु से होती है। गति के तीन अर्थ होते हैं—ज्ञान, गमन और प्राप्ति। जो सर्वज्ञ है, सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक है और संकट काल में अपने उपासकों को प्राप्त होने वाला है, उस परमात्मा का नाम अग्नि है। परमात्मा को अग्नि एक अन्य हेतु से भी कह सकते हैं। पार्थिव अग्नि, बिजली रूप अग्नि और सूर्यरूप अग्नि के समान प्रकाशमान और प्रकाशक होने से

रूपकातिशयोक्ति अलंकार का आश्रय लेकर उसे साक्षात् अग्नि ही कह दिया जाता है।

अग्नि के कर्म बताते हुए निरुक्तकार ने कहा है कि "अग्नि हवियों का वहन करता है, देवताओं का आवाहन करता है और जो दर्शनविषयक प्रकाश-प्रदान आदि का कर्म है वह भी अग्नि का ही है (निरु. ७।८)।" यज्ञाग्नि के समान परमात्मा-रूप अग्नि भी इन कर्मों को करता है। वह अध्यात्मयाजियों द्वारा हवि रूप में समर्पित किये हुए सब ज्ञान, कर्म आदियों को तथा वाक्, चक्षु, श्रोत्र, प्राण, मन, बुद्धि आदियों को वहन अर्थात् स्वीकार करता है, हृदय-रूप यज्ञस्थल में देवों अर्थात् दिव्य गुणों का आवाहन करता है और मन की तामसिकता का निवारण कर प्रकाशदृष्टि प्रदान करता है। इस कारण परमात्मा के अग्निरूप का चिन्तन योगसाधक के लिए महान् कल्याण करने वाला होता है। इसीलिए आग्नेय पर्व में परमात्मा का अग्निरूप से ध्यान किया गया है।

सामवेद के प्रथम मन्त्र में अग्नि नाम से परमात्मा, विद्वान्, राजा आदि का आह्वान करते हुए कहते हैं।

अन्वित पदार्थ—प्रथम अर्थ, परमात्मा पक्ष में। हे (अग्ने) सर्वाग्रणी, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, सर्वसुखप्रापक, सर्वप्रकाशमय, सर्वप्रकाशक परमात्मन्! आप (गृणानः) पापों को निगलते हुए और कर्तव्यों का उपदेश करते हुए (वीतये) हमारी प्रगति के लिए, हमारे विचारों और कर्मों में व्याप्त होने के लिए, हमारे हृदयों में सद्गुणों को उत्पन्न करने के लिए, हमसे स्नेह करने के लिए, हमारे अन्दर उत्पन्न काम, क्रोध आदि को बाहर फेंकने के लिए या खा जाने के लिए, और (हव्य-दातये) देय पदार्थ श्रेष्ठ बुद्धि, श्रेष्ठ कर्म, श्रेष्ठ धर्म, श्रेष्ठ धन आदि के दान के लिए (आ याहि) आइये। (होता) शक्ति आदि के दाता एवं दुर्बलता आदि के हर्ता होकर (बर्हिषि) हृदय-रूप अन्तरिक्ष में (नि सत्सि) बैठिए।

द्वितीय अर्थ, विद्वान्-पक्ष में। विद्वान् भी अग्नि कहलाता है। इसमें **'विद्वान् अग्नि है, जो ऋत का संग्रहीता और सत्यमय होता है।'** ऋ० १।१४५।५।' **'विद्वान् अग्नि है, जो बल प्रदान करता है।'** ऋ० ३।२५।२।' इत्यादि मन्त्र प्रमाण हैं। हे (अग्ने) विद्वन्! आप (गृणानः) यज्ञविधि और यज्ञ के लाभों का उपदेश करते हुए और यज्ञ के विघ्नों को निगलते हुए (वीतये) यज्ञ को प्रगति देने के लिए, और (हव्य-दातये) हवियों को यज्ञाग्नि में देने के लिए (आ याहि) आइये। (होता) होम के निष्पादक होकर (बर्हिषि) कुशा से बने यज्ञासन पर (नि सत्सि) बैठिए। इस प्रकार हम यजमानों के यज्ञ को निरुपद्रव रूप से संचालित कीजिए।

तृतीय अर्थ, राजा-पक्ष में। राजा भी अग्नि कहलाता है इसमें **'राजा अग्नि है, जो राष्ट्ररूप गृह का अधिपति और राष्ट्रयज्ञ का ऋत्विज् होता है।'** ऋ० ६।१५।१३।' इत्यादि प्रमाण है। हे (अग्ने) अग्रनायक राजन्! आप (गृणानः) राजनियमों को घोषित करते हुए (वीतये) राष्ट्र को प्रगति देने के लिए, अपने प्रभाव से प्रजाओं में व्याप्त होने के लिए प्रजाओं में राष्ट्र-भावना और विद्या, न्याय आदि को उत्पन्न करने के लिए तथा आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं को परास्त करने के लिए, और (हव्य-दातये) राष्ट्रहित के लिए देह, मन, राजकोष आदि सर्वस्व को हवि बनाकर उसका उत्सर्ग करने के लिए (आ याहि) आइये। (होता) राष्ट्रयज्ञ के निष्पादक होकर (बर्हिषि) राज-सिंहासन पर या राजसभा में (नि सत्सि) बैठिए।

हमारे संरक्षक-सदस्य तथा प्रतिष्ठित-सदस्य

सात-सात सौ से भी अधिक पृष्ठों के सात भागों में प्रकाशित किया जा रहा यह इतिहास आर्यसमाज के विश्वकोश के समान है, जिसे तैयार करना न केवल श्रमसाध्य ही है, अपितु व्ययसाध्य भी है। इतिहास की आवश्यक सामग्री का संग्रह करने, उसका उपयोग कर इतिहास लिखने तथा उसे प्रकाशित करने में बहुत परिश्रम तो करना ही होता है, पर इस सबके लिए धन की भी प्रचुर मात्रा में आवश्यकता है। व्यापारिक दृष्टि से इस प्रकार के ग्रन्थों का सम्पादन व प्रकाशन सम्भव ही नहीं है। इसीलिए अनेक नर-नारियों ने इसके संरक्षक-सदस्य (पाँच हजार या अधिक रुपये प्रदान कर) और प्रतिष्ठित-सदस्य (एक हजार या अधिक रुपये प्रदान कर) बनकर इस कार्य में हमें सहायता प्रदान की है। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने तथा उनके पुण्यदान की स्मृति को चिरस्थायी रखने के प्रयोजन से उनके सचित्र परिचय यहाँ प्रकाशित किये जा रहे हैं।

आर्यसमाज के सर्वोपरि मूर्धन्य संगठनों—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली तथा परोपकारिणी सभा, अजमेर के प्रधान महोदयों का भी संरक्षण, समर्थन था आशीर्वाद इस 'इतिहास' के लिए प्राप्त है।

श्री लाला रामगोपाल जी वानप्रस्थ
प्रधान, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा
नई दिल्ली

श्री स्वामी ओमानन्द जी सरस्वती
प्रधान, परोपकारिणी सभा
अजमेर
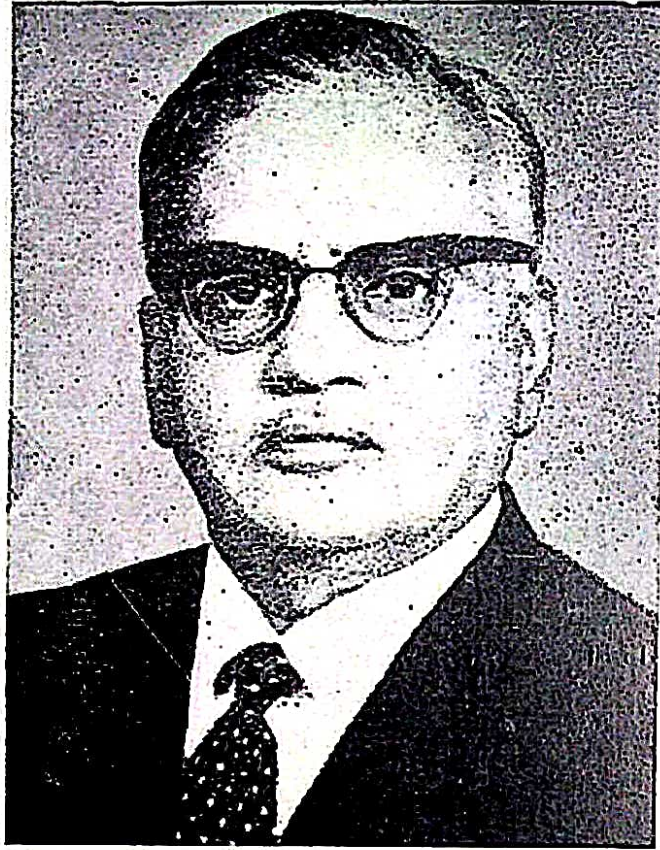
पं० सत्यदेवजी भारद्वाज वेदालंकार

२६ दिसम्बर १६०८ को नैरोबी (पूर्वी अफ्रीका) में जन्म। पिता श्री वैशाखीराम जी केनिया में रेलवे की सर्विस में थे, और वहाँ आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता थे। गुरुकुल कुरुक्षेत्र और गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में विद्यालय विभाग की शिक्षा पूरी कर श्री सत्यदेव उच्च शिक्षा के लिए गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में प्रविष्ट हुए और १६३२ में वेदालंकार की उपाधि प्राप्त की। १६३४ में वह नैरोबी चले गये, और कुछ वर्षों तक आर्य प्रतिनिधि सभा, पूर्वी अफ्रीका के तत्त्वावधान में केनिया, युगाण्डा, टाङ्गानिका आदि अफ्रीकन प्रदेशों में वैदिक धर्म का प्रचार किया। सन् १६४६ में उन्होंने अपना स्वतन्त्र व्यवसाय प्रारम्भ किया, और सनफ्लैग निटिंग वर्क्स नाम से कारखाने की स्थापना की। इस व्यवसाय ने बहुत उन्नति की, और कुछ ही वर्षों में 'सनफ्लैग' नाम से केनिया, तंजानिया, नाइजीरिया, कैमरून, इंग्लैण्ड और भारत में अनेक फैक्टरियों और मिलों की उन्होंने स्थापना की। इनसे जो अपार सम्पत्ति सत्यदेवजी ने अर्जित की, उसका अच्छा बड़ा भाग वह परोपकार तथा दान में लगाते हैं। इसके लिए वह कई धर्मार्थ ट्रस्ट बना चुके हैं। नैरोबी, ग्रेटर कैलाश (नयी दिल्ली), अरुषा (तंजानिया), पोर्ट लुई (मारीशस) और लण्डन के आर्यसमाजों को उन्होंने लाखों रुपये दान में दिये हैं, और डी० ए० वी० कॉलेज कमेटी, नयी दिल्ली तथा गुरुकुल कुरुक्षेत्र को भी। नैरोबी और लण्डन में हुए सार्वभौम आर्य महासम्मेलनों को उन्होंने भरपूर आर्थिक सहायता दी थी और उनकी सफलता के लिए अपना तन, मन, धन लगा दिया था। पण्डित सत्यदेवजी पर सरस्वती और लक्ष्मी की समान रूप से कृपा है। बहुत बड़े उद्योगपति होते हुए भी वह सर्वथा निरभिमानी हैं, और, धर्मप्रचार तथा विद्या के अध्ययन में संलग्न रहते हैं। भारत के स्वाधीनता संग्राम में उन्होंने जेलयात्रा भी की थी। सत्याग्रह के सैनिकों का नेतृत्व करने के कारण वह 'दलपति' नाम से भी प्रसिद्ध हुए। अब वह आर्य समाज के दलपति हैं।

श्रीमती गायत्रीदेवीजी भारद्वाज

१५ फरवरी सन् १९१७ को नैरोबी (केनिया, पूर्वी अफ्रीका) में जन्म। उस समय उनके पिता श्री पं० दौलतरामजी केनिया में रेलवे की सर्विस में थे। बाद में वह भारत वापस आ गये और अमृतसर में टाइप फाउण्डरी तथा प्रिंटिंग प्रेस का निजी कारोबार शुरू किया। पण्डित दौलतरामजी का आर्यसमाज के साथ सम्पर्क था और वह महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से प्रभावित थे। इसीलिए उन्होंने अपनी पुत्री गायत्रीदेवी को कन्या गुरुकुल, देहरादून में पढ़ने के लिए भेजा। कुछ समय कन्या गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त कर वह अमृतसर आ गयीं, और वहाँ आर्य कन्या पाठशाला में अपनी पढ़ाई को जारी रखा। गायत्रीदेवीजी अपने शिक्षा-काल में सदा प्रथम रहने वाली छात्रा रहीं। अद्‌भुत स्मरणशक्ति का वरदान उन्हें प्राप्त है। हिन्दी के साथ-साथ संस्कृत की शिक्षा भी उन्होंने प्राप्त की, और पंजाब यूनीवर्सिटी से हिन्दी में भूषण और प्रभाकर तथा संस्कृत में विशारद की परीक्षाएँ प्रथम वर्ग में उत्तीर्ण कीं।

नवम्बर १९३३ में गायत्रीजी का विवाह पण्डित सत्यदेव भारद्वाज वेदालंकार के साथ अमृतसर में हुआ। विवाह के पश्चात् गायत्रीदेवीजी अपने पतिदेव के साथ केनिया चली गयीं, और वहाँ के अन्यतम नगर किसुमु की आर्य कन्या पाठशाला में सहायक मुख्याध्यापिका का कार्य किया। अपने पति पण्डित सत्यदेवजी के बड़े उद्योगपतियों में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लेने पर भी उनमें अभिमान का सर्वथा अभाव है। उनमें वे मानवोचित गुण अक्षुण्ण रूप से विद्यमान हैं, जो प्रायः धन की अतिशयता हो जाने पर कायम नहीं रह पाते। उनका रहन-सहन बहुत सादा है, और स्वभाव अत्यन्त सरल व मृदु है। आर्यसमाज के कार्यों में वह उत्साहपूर्वक भाग लेती हैं, और उनका जीवन वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के लिए समर्पित है। श्रीमती गायत्रीदेवीजी एक आर्य महिला हैं।
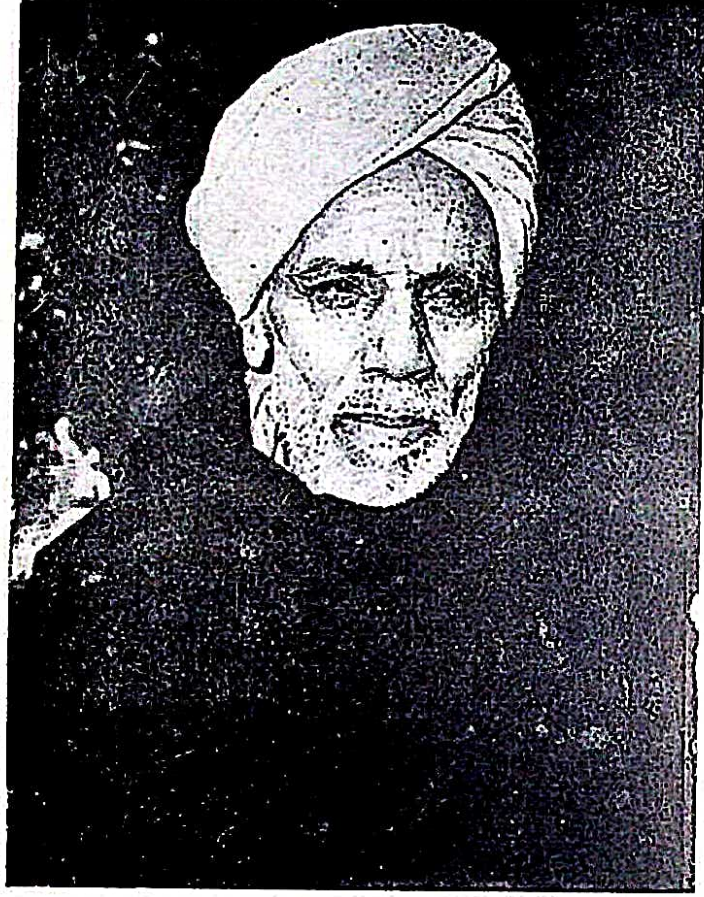
श्री स्वामी सर्वानन्दजी महाराज

हरयाणा प्रदेश के ग्राम सासरोली (तहसील झज्झर, जिला रोहतक) में सन् १६०६ में जन्म। ग्राम के प्राइमरी स्कूल तथा नेशनल जाट स्कूल, रोहतक में हाईस्कूल तक शिक्षा प्राप्त कर उन्होंने ज्योति संस्कृत पाठशाला, दिल्ली में संस्कृत का अध्ययन किया, और उसके पश्चात् दयानन्द उपदेशक विद्यालय, लाहौर में पाँच वर्ष तक संस्कृत, वेद-वेदाङ्गों, धर्मशास्त्रों तथा आर्यसामाजिक साहित्य की उच्च शिक्षा प्राप्त की। आठ वर्ष आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के उपदेशक रहे, और दो वर्ष उपदेशक विद्यालय लाहौर में अध्यापन का कार्य किया। पूज्य स्वामी स्वतन्त्रानन्दजी महाराज की आज्ञा से सन् १६४१ में वह दीनानगर चले गये, और चिरकाल तक अध्यापक, वैद्य तथा प्रवन्धक के रूप में वहाँ के दयानन्द मठ की सेवा की। प्रथम जून सन् १६५५ को उन्होंने संन्यास आश्रम की दीक्षा ग्रहण कर ली, और दयानन्द मठ, दीनानगर के अध्यक्ष के महत्वपूर्ण पद पर नियुक्त हुए। सन् १६७३ में पंजाब-हरयाणा हाईकोर्ट द्वारा आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाव के रिसीवर नियुक्त किये गये। गोरक्षा आन्दोलन में स्वामीजी दो बार जेलयात्रा कर चुके हैं। आर्यसमाज में उनकी जो उच्च एवं प्रतिष्ठित स्थिति है, उसके कारण उन्हें आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब तथा सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, दिल्ली का प्रतिष्ठित सदस्य बनाया गया है, और शान्तिदेवी कन्या कॉलिज तथा स्वामी स्वतन्त्रानन्द मेमोरियल कॉलिज, दीनानगर के भी वह प्रधान हैं। स्वामी सर्वानन्दजी सच्चे अर्थों में आर्य संन्यासी हैं, और धर्म तथा समाज की सेवा में निष्ठापूर्वक संलग्न रहते हैं। आर्य यती मण्डल के भी वह अध्यक्ष हैं।

श्री सरदार इन्दरसिंहजी गिल

श्री सरदार इन्दरसिंहजी गिल का जन्म ६ मई सन् १६०१ को लुधियाना जिले के जंडियाली ग्राम में हुआ था। उनकी शिक्षा लुधियाना के आर्य स्कूल में हुई। सन् १६२१ में वह केनिया चले गये। वहाँ उन्होंने चार साल रेलवे की सर्विस की। फिर उनकी बदली युगाण्डा में हो गयी। सन् १६३६ तक वह न्सिन्जी के स्टेशन मास्टर रहे। इसके पश्चात् रेलवे की सर्विस छोड़कर अपना कारोबार शुरू कर दिया। उन्होंने युगाण्डा और तंजानिया में आरा मशीन और जिनिंग मिल के उद्योग स्थापित किये, जिनमें उन्हें अत्यधिक सफलता प्राप्त हुई। सन् १६५६ में जिन्जा (युगाण्डा) और सन् १६६३ में टांगा (तंजानिया) में उन्होंने प्लाईवुड की फैक्टरियाँ भी कायम कीं। पूर्वी अफ्रीका में इस उद्योग की पहल उन्हीं द्वारा की गयी। साथ ही, गन्ने और चाय की खेती के लिए उन्होंने बड़े-बड़े फार्म भी कायम किये। श्री ईदी अमीन की नीति के कारण अन्य भारतीयों के समान जब वह युगाण्डा से चले आये, तो वहां जो सम्पत्ति वह छोड़ आये थे, उसका मूल्य सात करोड़ रुपये के लगभग था। वह परम धार्मिक हैं, और आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों तथा अन्य समारोहों में सम्मिलित होते रहते हैं। सार्वजनिक कार्यों में उनकी रुचि है। जिन्जा के इण्डियन एसोसियेशन के वह दो साल अध्यक्ष रहे थे, और वहां के हिन्दू मन्दिर के प्रधान-पद को उन्होंने पाँच साल सुशोभित किया था। जिन्जा में उन्होंने अपने खर्च से एक नर्सरी स्कूल भी स्थापित किया, जिसमें ३०० बच्चों के लिए शिक्षा की व्यवस्था है। नैरोबी के आर्यसमाज नर्सरी स्कूल को भी उन्होंने उदारतापूर्वक दान दिया और आर्यसमाज के अन्य कार्यकलाप के लिए भी वह सदा आर्थिक सहायता करते रहते हैं। साहनेवाल (पंजाब) में उन्होंने आँखों के एक हॉस्पिटल की स्थापना की है, और युगाण्डा के तीन विद्यार्थियों को अपने खर्च से भारत में उच्च शिक्षा भी दिलाई है।

श्री संजीव वर्मा

श्री वीरेन्द्रकुमार जी वर्मा और श्रीमती शकुन्तला जी वर्मा का यह सुपुत्र बचपन से ही बहुत कुशाग्र बुद्धि था। एक बार जो बात पढ़ लेता या सुन लेता, वह उसे कभी भूलता न था। छोटी आयु में ही बोलना सीख गया था और ज्ञान की ऐसी बातें करता था कि सुनने वाले आश्चर्यचकित रह जाते थे। प्रथम से दसवीं कक्षा तक की परीक्षाओं में वह सदा ९५ प्रतिशत से अधिक अंक प्राप्त करता रहा। उसकी शिक्षा बड़ौदा और नैरोबी (केनिया) में हुई थी, और दोनों ही जगह उसने अपने शिक्षकों से भरपूर प्यार और प्रशंसा पाई थी। खेलकूद में भी वह सबसे आगे था। वह संगीत में भी प्रवीण था। फ्रेञ्च भाषा भी उसने सीख ली थी। उसे संस्कृत के भी बहुत से श्लोक याद थे। पढ़ाई, खेलकूद, संगीत आदि में उसने कितने ही पुरस्कार प्राप्त किये थे। वस्तुतः, वह एक संस्कारी बालक था। तेजस्वी और प्रतिभाशाली बच्चे सम्भवतः प्रभु को भी प्यारे होते हैं। इसीलिए चौदह वर्ष की छोटी-सी आयु में ही प्रभु ने इस होनहार बालक को अपनी गोद में ले लिया। १८ फरवरी सन् १९६१ को संजीव का जन्म हुआ, और ६ सितम्बर १९७५ को वह अपने माता-पिता को रोता-बिलखता छोड़कर परम-पिता की शरण में चला गया। सर्वशक्तिमान् परमात्मा उसकी पवित्र आत्मा को सद्गति तथा अमर शान्ति प्रदान करें।

श्री वीरेन्द्रकुमार जी वर्मा इन्जीनियर हैं, और केनिया में सेवारत हैं। श्रीमती शकुन्तला वर्मा आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा की स्नातिका हैं। पति-पत्नी दोनों वैदिक धर्म के सच्चे अनुयायी और आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता हैं। अपने दिवगत पुत्र की पुण्य स्मृति को चिरस्थायी बनाने के प्रयोजन से उन्होंने 'आर्यसमाज का इतिहास' ग्रन्थ के लिए पांच हजार रुपये का सात्विक दान प्रदान किया।
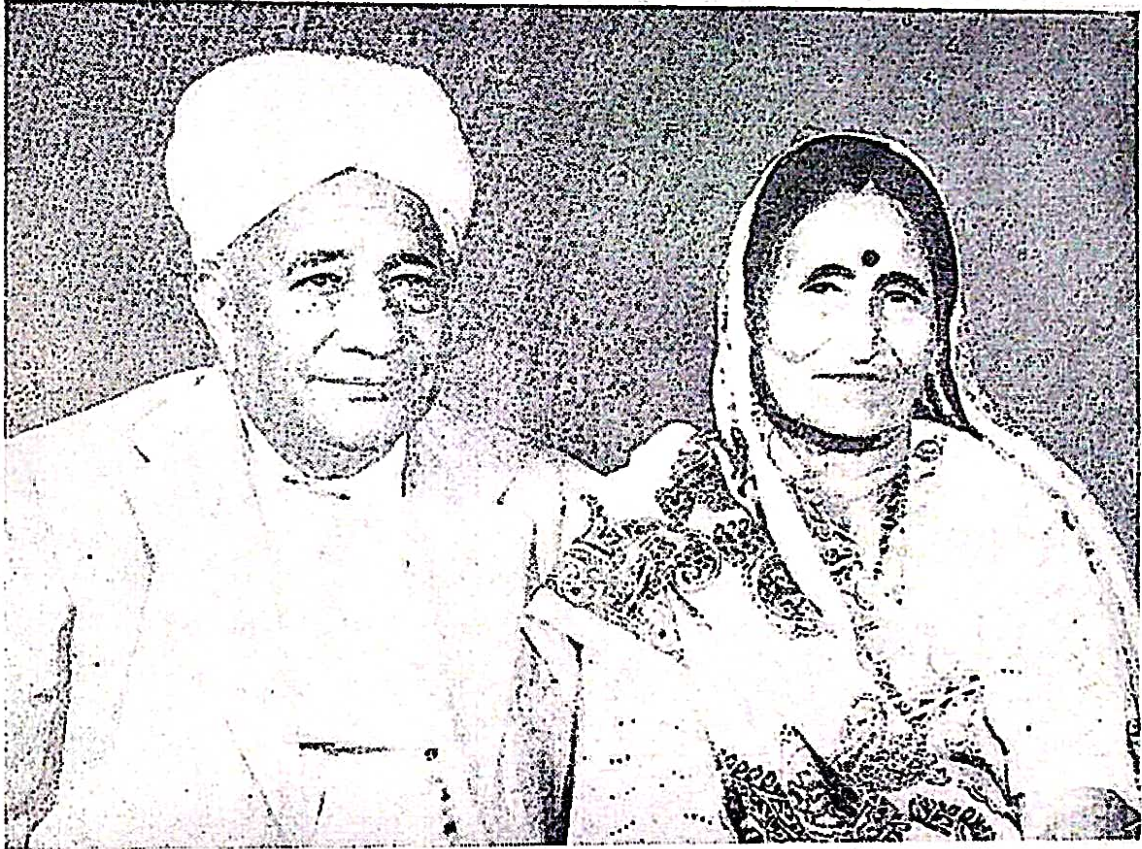
श्री मोहनलालजी मोहित और श्रीमती यशवन्ती देवी जी

मॉरीशस के मूर्धन्य आर्य नेता श्री मोहनलाल मोहित का जन्म २२ सितम्बर सन् १९०२ को लावनीर (मॉरीशस) में हुआ था। उनके पूर्वज प्रतिज्ञाबद्ध कुलीप्रथा के अधीन सन् १८६८ में मॉरीशस गये थे, और प्रतिज्ञाबद्धता की अवधि के पूरा होने पर वहीं बस गये थे। शीघ्र ही, उन्होंने स्वतन्त्र रूप से खेती प्रारम्भ कर एक सम्पन्न व प्रतिष्ठित किसान की स्थिति प्राप्त कर ली थी। मोहनलालजी को नियमित रूप से शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला, पर वह अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि और परिश्रमी थे। ज्ञान के उपार्जन के लिए उन्हें बहुत उत्साह था। अतः उन्होंने हिन्दी, अंग्रेजी और फ्रेञ्च भाषाओं का समुचित ज्ञान प्राप्त कर लिया, और वह हिन्दी के सुलेखक भी बन गये। सन् १९२७ में उन्होंने पं० काशीनाथजी का एक भाषण सुना, जिससे वह वैदिक धर्म की ओर आकृष्ट हो गये, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। मॉरीशस की आर्य प्रतिनिधि सभा और आर्य परोपकारिणी सभा के वह सक्रिय कार्यकर्ता रहे, और सन् १९५० में जब इन दोनों सभाओं का एकीकरण होकर "आर्य सभा मॉरीशस" का निर्माण हुआ, तो उसके प्रमुख कर्णधार व मूर्धन्य की स्थिति में वह देश-विदेश में आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में तत्पर हो गये। श्री मोहित जी मॉरीशस के प्रतिष्ठित उद्योगपति व सम्पन्न किसान हैं। वह अपने धन का उपयोग देश, धर्म और समाज की सेवा में करते हैं, और लाखों रुपये विविध संस्थाओं, विद्यालयों, गुरुकुलों और आर्यसमाजों को दान दे चुके हैं। विश्व भर में वैदिक धर्म का प्रचार करने के प्रयोजन से वह अब एक करोड़ के लगभग धनराशि से एक ट्रस्ट बनाने के लिए प्रयत्नशील हैं, जिसके लिए वह स्वयं दस लाख रुपयों की व्यवस्था करने के लिए कृतसंकल्प हैं। लक्ष्मी की उन पर अपार कृपा है, पर उनका अपना जीवन अत्यन्त सरल, सात्विक, सदाचारमय एवं धार्मिक है। सन् १९२६ में देवी यशवन्तीजी से उनका विवाह हुआ था। मोहितजी का सारा परिवार उन्हीं के समान धार्मिक है।

पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार

श्रीमती सावित्रीदेवी शर्मा

पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार का जन्म २ अक्तूबर सन् १९१० को अमृतसर में हुआ था। उनके पिता श्री शङ्करदास शर्मा लाहौर में लोहे तथा मशीनरी के बहुत बड़े व्यापारी थे। महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं एवं आर्यसमाज में उनकी अगाध आस्था थी। इसीलिए उन्होंने अपने पुत्र को शिक्षा के लिए गुरुकुल काँगड़ी भेज दिया, जहाँ से वह सन् १९३२ में स्नातक हुए। स्नातक होने के पश्चात् सत्यदेवजी भी लाहौर में अपने पारिवारिक व्यवसाय में कार्यरत हो गये। भारत के विभाजन के बाद सन् १९४७ में वह दिल्ली आ गये, और अपने व्यवसाय को पुन: स्थापित किया। वह 'एस० डी० शर्मा एण्ड कम्पनी' के स्वत्वाधिकारी हैं, और मशीनरी के व्यवसाय में उन्होंने बहुत सफलता प्राप्त की है। सफल व्यवसायी होने के साथ-साथ सत्यदेवजी आर्यसमाज के उत्साही व कर्मठ कार्यकर्त्ता भी हैं। आर्यसमाज के सार्वजनिक जीवन में उनका अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान है। वह चिरकाल तक पंजाब और दिल्ली की आर्य प्रतिनिधि सभाओं की अन्तरंग सभाओं के सदस्य रहे हैं। गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय की विद्या सभा तथा सीनेट और गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी के व्यवसाय-पटल के वर्षों तक सदस्य रहकर उन्होंने इनके प्रबन्ध, नीति-निर्धारण तथा संचालन में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। सत्यदेवजी अत्यन्त मिलनसार तथा मृदुभाषी हैं, और सबके प्रति सौहार्द्र रखते हैं। वह सच्चे अर्थों में अजातशत्रु हैं।

पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार की धर्मपत्नी श्रीमती सावित्रीदेवी शर्मा का जन्म सन् १९१६ में जम्मू के एक प्रतिष्ठित पौराणिक परिवार में हुआ था। पर पतिगृह में आकर वह पूर्णतः आर्यसमाज की अनुयायी हो गयी थीं। उन्होंने स्वयं उच्च शिक्षा प्राप्त की थी, और हिन्दी तथा अंग्रेजी पर उनका पूरा अधिकार था। उन्होंने अपनी सन्तान को उच्च शिक्षा दिलाने पर पूरा-पूरा ध्यान दिया। एक पुत्री को उन्होंने कन्या गुरुकुल देहरादून में प्रविष्ट कराया, जहां से स्नातिका होने पर उसका विवाह नैरोबी के सम्भ्रान्त उद्योगपति पण्डित सत्यदेव भारद्वाज के सुपुत्र के साथ हुआ। सावित्रीजी परम धार्मिक तथा राष्ट्रभक्त थीं। अपने सब आभूषण उन्होंने राष्ट्रीय कोश में दान दे दिये थे। अपने पति के सामाजिक जीवन में उनका पूरा सहयोग रहता था। वह हँसमुख तथा अतिथि-सत्कार में प्रवीण थीं। अगस्त १९८३ में वह दिवंगत हुईं।
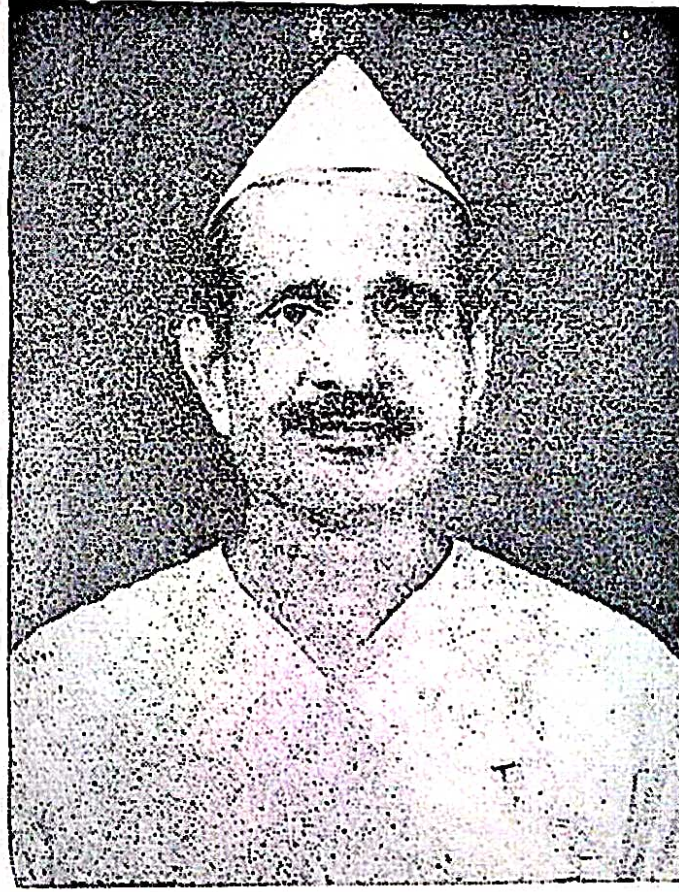
श्री पूरनचन्दजी आर्य

श्रावण सुदी तृतीया, सम्वत १९७८ (सन् १९२१) को आगरा में जन्म। पिता श्री धनीरामजी आगरा के एक प्रतिष्ठित व्यवसायी थे। दाल मिल एवं रोलिंग मिल द्वारा श्री पूरनचन्द ने आर्थिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में बहुत उन्नति की। उनके सदाचारण तथा सद्व्यवहार के कारण आगरा के व्यापार तथा व्यवसाय के क्षेत्रों में उन्हें अत्यन्त सम्मानास्पद स्थान प्राप्त है। श्री पूरनचन्द अत्यन्त मृदुभाषी, परिश्रमी, धार्मिक तथा सादगीप्रिय आर्य सज्जन हैं। उनके परिवार के अन्य व्यक्ति भी उन्हीं के समान धार्मिक प्रकृति के हैं। वैदिक धर्म में श्री पूरनचन्द की अगाध आस्था है, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह निष्ठापूर्वक लगे रहते हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती द्वारा स्थापित आर्यसमाज, आगरा (हींग की मण्डी) के वह प्रधान हैं, और 'आर्य परिवार' नामक आर्यों के पारिवारिक संगठन के कोषाध्यक्ष हैं। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के महत्त्व व उपयोगिता को वह स्वीकार करते हैं, और इसीलिए अपने क्षेत्र के गुरुकुलों की व्यवस्था तथा संचालन में वह सक्रिय रूप से भाग लेते रहे हैं। गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन की कार्यकारिणी सभा के वह सदस्य रहे हैं, और इस समय गुरुकुल गंगीरी (जिला अलीगढ़) के मन्त्री हैं। आर्य उपप्रतिनिधि सभा, आगरा के भी वह उच्च पदाधिकारी हैं। आर्यसमाज से उनका वास्तविक हित है, और उनका तन, मन, धन सब वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित है।
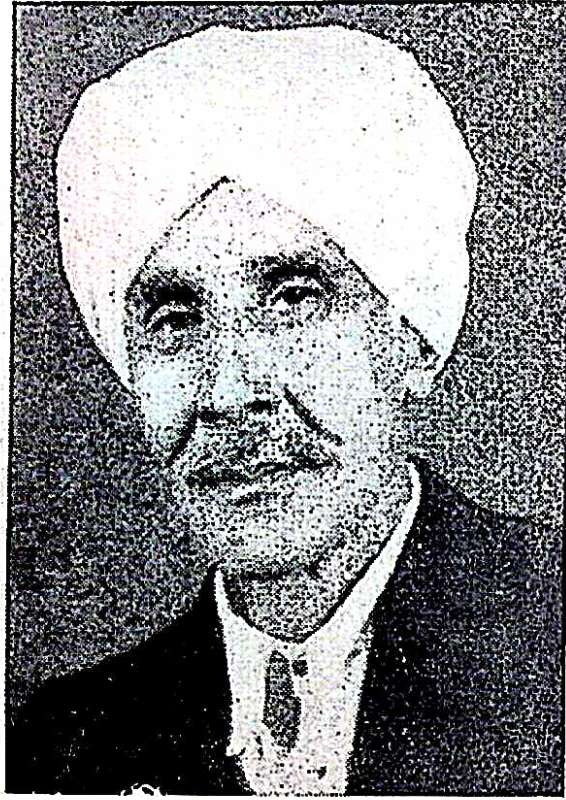
लाला राधाकृष्णजी लम्ब

लाला राधाकृष्णजी लम्ब का जन्म सन् १८८९ में पटियाला (पंजाब) में हुआ था। उनके पिता लाला माधोराम लम्ब पटियाला रियासत के खजाञ्ची थे। राधाकृष्णजी की शिक्षा पटियाला और लाहौर में हुई। आर्यसमाज और कांग्रेस के कार्यकलाप में वह सक्रिय रूप से भाग लिया करते थे। इसीलिए सन् १९१९ में उन्हें पटियाला के रेजिडेण्ट ने जेल में डाल दिया था। अपने पिताजी के प्रभाव से जब वह जेल से मुक्त हुए, तो खन्ना (पंजाब) चले गये और वहाँ ए० एस० हाईस्कूल में अध्यापन का कार्य करने लगे। शीघ्र ही उन्होंने खन्ना में आर्यसमाज के कार्य को सँभाल लिया, और उसके कोषाध्यक्ष, मन्त्री तथा प्रधान के पदों पर रहकर समाज की सेवा में तत्पर रहे। खन्ना की पहली सार्वजनिक लायब्रेरी (डा० नौराताराम लायब्रेरी) उन्होंने ही आर्यसमाज की ओर से स्थापित की थी। सन् १९४६ में उन्होंने आर्य पुत्री पाठशाला की स्थापना की, जो अब हायर सेकेण्डरी स्कूल की स्थिति प्राप्त कर चुकी है। खन्ना और उसके चारों ओर के ग्रामों में उन्होंने घर-घर जाकर हवन-यज्ञ कराये, बीसियों मुसलमानों की शुद्धि की, और वैदिक रीति से उनके विवाह कराये। सन् १९७१ में उनका निधन हुआ।

श्री राधाकृष्णजी के सुपुत्र श्री प्रकाश वर्मा ने अपने दिवंगत पिता की पुण्य स्मृति को चिरस्थायी करने के लिए 'आर्यसमाज का इतिहास' के लिए ५००० रुपये की धनराशि प्रदान की, और आर्य स्वाध्याय केन्द्र का संरक्षक-सदस्य बनना स्वीकार किया।

श्री लालमनजी आर्य

श्री लालमनजी आर्य का जन्म सन् १९११ में एक प्रतिष्ठित अग्रवाल परिवार में हुआ था। युवावस्था में ही उन्हें आर्यसमाज के सम्पर्क में आने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, और वैदिक धर्म के प्रति उनकी आस्था में निरन्तर वृद्धि होती गयी। उन्होंने अपने घर से सामाजिक सुधारों का प्रारम्भ किया, और मृतक भोज, श्राद्ध, छुआछूत, परदा प्रथा, दहेज और बाल-विवाह आदि कुप्रथाओं के वह कट्टर विरोधी हो गये। जो कोई भी उनके सम्पर्क में आया, उनसे प्रभावित होकर आर्यसमाज की धारा में सम्मिलित होता गया। उनका जीवन आर्य मन्तव्यों के पूर्णतया अनुरूप था। वह स्वयं प्रतिदिन सन्ध्या-हवन किया करते थे, और उनकी प्रेरणा से अनेक परिवारों में दैनिक व साप्ताहिक यज्ञ की परिपाटी शुरू हो गयी थी। वह सरल भाषा में कविताएँ लिख कर उन द्वारा दूसरों को कुप्रथाओं व अन्धविश्वासों से सचेत करते रहते थे। ६१ वर्ष की आयु में उन्होंने वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश कर लिया था। युवावस्था से मृत्युपर्यन्त वह आर्यसमाज तथा देश की विविध संस्थाओं को रचनात्मक व आर्थिक सहयोग देते रहे। वह दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार; गुरु विरजानन्द वैदिक साधना आश्रम, मथुरा; बाल सेवा सदन, भिवानी; वैश्य विधवा हितकारिणी सभा; आर्य-समाज बड़ा बाजार ट्रस्ट कलकत्ता; आर्य प्रादेशिक उपप्रतिनिधि सभा, हरयाणा आदि संस्थाओं के माध्यम से धर्म तथा समाज की सेवा में संलग्न रहे। अपने जन्म-स्थान शेरड़ा में उनके निर्देशन से बने स्कूल, औषधालय, कूप, सरोवर और विश्रामालय आदि उनकी दानशीलता के परिचायक हैं। उनका परिवार अत्यन्त समृद्ध है, और उनके सुपुत्र भी उनके आदर्श के अनुसार धर्म तथा समाज की सेवा में तत्पर हैं।

श्रीमती सुशीलादेवी

२६ सितम्बर सन् १९१० के दिन हलदौर (जिला बिजनौर, उत्तरप्रदेश) में जन्म। पिता श्री भवानीप्रसादजी संस्कृत, हिन्दी, उर्दू, पर्शियन तथा अंग्रेजी के विद्वान् थे, और आर्यसमाज के प्रतिष्ठित नेता थे। आर्यसमाज में पर्वों को कैसे मनाया जाए, इस विषय पर सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा द्वारा उन्हीं से 'आर्य पर्वपद्धति' नामक पुस्तक लिखवाई गयी थी। सुशीलाजी ने घर पर रहकर संस्कृत और हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्त की, और १८ वर्ष की आयु में काशी तथा पंजाब यूनिवर्सिटी से 'शास्त्री' परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। अंग्रेजी की शिक्षा उन्होंने फौर्मन क्रिश्चियन कॉलिज, लाहौर में पढ़कर ग्रहण की। सन् १९३० में डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के साथ उनका विवाह हुआ, और अपने पति के साहित्यिक कार्यों में वह निरन्तर सहयोग देती रहीं। सन् १९३६ में वह पेरिस गयीं, और वहां रहकर फ्रेञ्च भाषा तथा साहित्य का अध्ययन किया। आन्द्र जीद के एक प्रसिद्ध उपन्यास का उन्होंने मूल फ्रेञ्च से हिन्दी में 'संकरा द्वार' नामक अनुवाद किया, जिस पर भारत सरकार द्वारा उन्हें एक हजार रुपये का पुरस्कार प्रदान किया गया। सुशीलाजी की सार्वजनिक जीवन में रुचि है। मसूरी नगरपालिका की वह सदस्य रह चुकी हैं, और सन् १९६३ में वह विश्व महिला सम्मेलन, मास्को (रूस) में भारत के शिष्टमण्डल के सदस्य के रूप में सम्मिलित हुई थीं। वह तीन बार यूरोप की यात्रा कर चुकी हैं। भारत के धार्मिक और सांस्कृतिक आदर्शों, नैतिक मूल्यों तथा सदाचरण के नियमों में सुशीलाजी का पूर्ण विश्वास है, और वह उनके अनुसार अपना जीवन बिताने के लिए सदा प्रयत्नशील रहती हैं।

प्रोफेसर सुरेन्द्रनाथजी भारद्वाज

प्रोफेसर भारद्वाज का जन्म अमृतसर में हुआ था, और वहीं उन्होंने शिक्षा प्राप्त की थी। हिन्दू कॉलिज, अमृतसर में उन्होंने संस्कृत में बी० ए० (ऑनर्स) की परीक्षा उत्तीर्ण की, और फिर पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर से फिलोसोफी में एम० ए० की। बाद में उन्होंने इतिहास और हिन्दी विषयों में भी एम० ए० किया। पण्डित परशुराम तथा पण्डित धर्मभानु जी शास्त्री सदृश विद्वानों का आशीर्वाद उन्हें प्राप्त था, जिनकी कृपा तथा सान्निध्य से वह वैदिक धर्म तथा संस्कृत साहित्य में पाण्डित्य प्राप्त करने में समर्थ हुए। पांच वर्ष अमृतसर में प्राध्यापक का कार्य कर वह होशियारपुर के डी०ए०वी कॉलिज में प्रोफेसर नियुक्त हुए, जिस स्थिति में उन्होंने सन् १९६६ तक कार्य किया। अमृतसर तथा होशियारपुर में प्रोफेसर का कार्य करते हुए श्री सुरेन्द्रनाथजी भारद्वाज का आर्यसमाज के कार्यों में सक्रिय रूप से योगदान रहा। मार्च १९६३ में वह इंग्लैण्ड गये, और वहाँ प्राध्यापक के रूप में उन्होंने कार्य प्रारम्भ किया। लण्डन में रहते हुए उन्होंने वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के लिए जो कार्य किया, वह अत्यन्त महत्व का है। १९६६ से १९७८ तक बारह साल वह हिन्दू सेण्टर, लण्डन के प्रधान रहे। इसी बीच जब लण्डन में आर्यसमाज की स्थापना हो गयी, तो वह उसके भी प्रधान निर्वाचित हुए, जिस स्थिति में कार्य करते हुए उन्हें बारह साल हो चुके हैं। वस्तुतः प्रोफेसर भारद्वाज ही लण्डन आर्यसमाज के प्राण हैं, और उनके प्रयत्न से ग्रेट ब्रिटेन में अन्यत्र भी आर्यसमाजों की स्थापना हो रही है। सन् १९८० में लण्डन में जो सार्वभौम आर्य महासम्मेलन हुआ था, उसमें प्रो० भारद्वाज का अनुपम कर्तृत्व था। नैरोबी, सुरीनाम, गुयाना और त्रिनिदाद आदि में भी वह वैदिक धर्म का प्रचार करने के लिए जाते रहे हैं। प्रो० भारद्वाज का तन, मन, धन सब आर्यसमाज के लिए समर्पित है। वैदिक धर्म तथा समाजसेवा की उन्हें सच्ची लगन है।
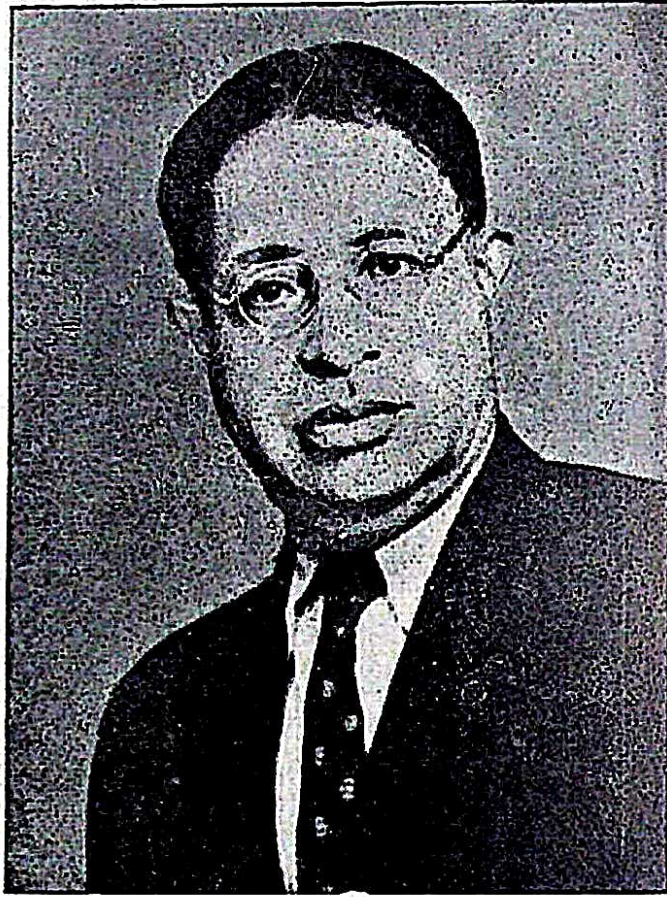
श्री रामलालजी बहल

३ जनवरी सन् १८९९ को मियानी, जिला शाहपुर (पाकिस्तान) में जन्म। २१ वर्ष की आयु में वह नैरोबी (केनिया, पूर्वी अफ्रीका) चले गये, और केनिया-युगाण्डा रेलवे में सर्विस कर ली। श्री बहल को प्रारम्भ से ही वैदिक धर्म में अगाध श्रद्धा थी, और वह वेदों तथा धर्मग्रन्थों का अध्ययन करते रहते थे। अपने घर पर उन्होंने एक पुस्तकालय स्थापित किया हुआ था, जिसमें वेद, उपनिषद्, दर्शनशास्त्र, स्मृतिग्रन्थ तथा आर्यसमाज के साहित्य का उत्तम संग्रह था। अन्य धर्मों के ग्रन्थ भी इस पुस्तकालय में थे। श्री बहल प्रतिदिन धार्मिक पुस्तकों का नियमपूर्वक स्वाध्याय किया करते थे, और उनका जीवन शान्त, सात्विक, धार्मिक और सुखी था। नैरोबी आर्यसमाज के साथ उनका निकट सम्पर्क था और वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा के लिए उनका सक्रिय सहयोग सदा प्राप्त रहता था। पर उन्होंने समाज में कोई पद प्राप्त करने की कभी इच्छा नहीं की, और पूर्णतया निःस्वार्थ भाव से कार्य करते रहे। श्री बहल के तीन पुत्र और तीन पुत्रियां हैं। तीनों पुत्र डाक्टर हैं, दो अमेरिका में और एक लण्डन में। दो पुत्रियां केनिया में हैं, और एक नार्वे में है। सब सुखी व सम्पन्न जीवन बिता रहे हैं।

सन् १९६२ में श्री बहल का देहावसान हो गया था। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती विद्यावती जी बहल अपने पतिदेव के चरणचिन्हों पर चलती हुई वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा में संलग्न रहती हैं, और आर्य स्त्रीसमाज, नैरोबी के संचालन में उनका महत्वपूर्ण कर्तृत्व है। अपने पतिदेव की पुण्यस्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए श्रीमती विद्यावती बहल ने 'आर्यसमाज का इतिहास' के लिए पांच हजार रुपये प्रदान किये हैं, और आर्य स्वाध्याय केन्द्र का संरक्षक-सदस्य बनना स्वीकार किया है।
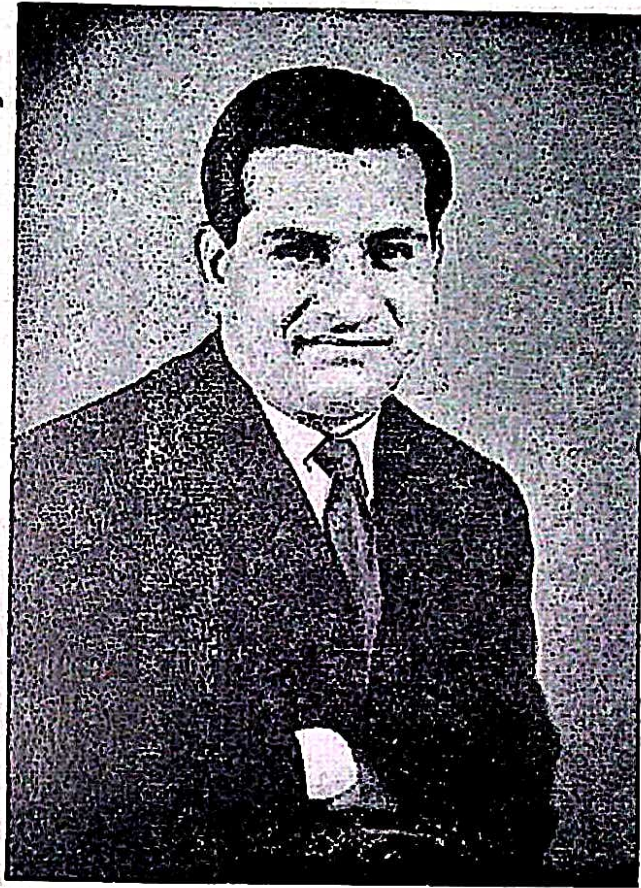
श्री जयदेवराजजी मल्होत्रा

श्री जयदेवराज जी मल्होत्रा का जन्म ११ अक्तूबर १९२९ को भेरा (पाकिस्तान) में हुआ था। उनके पिता श्री बालकराम मल्होत्रा भेरा के सम्पन्न व प्रतिष्ठित नागरिक थे, और पश्चिमी पंजाब के उस क्षेत्र में उन्हें अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखा जाता था। गुजरांवाला और लाहौर में शिक्षा प्राप्त कर श्री राज मल्होत्रा ने नार्दर्न रेलवे में सर्विस कर ली। सन् १९५९ में श्री बालकराम मल्होत्रा का देहावसान हो जाने पर वह लण्डन चले गये, और वहां रहकर उन्होंने मैकेनिकल इन्जीनियरिंग का अध्ययन किया। पर वहां कोई सर्विस न कर उन्होंने आयात-निर्यात (इम्पोर्ट एण्ड एक्सपोर्ट) का कारोबार शुरू कर दिया, जिसमें उन्होंने शीघ्र ही बहुत उन्नति कर ली। लण्डन के खाद्य पदार्थों के भारतीय व्यापारियों में उन्हें इस समय मूर्धन्य स्थान प्राप्त है, जो उनके परिश्रम, मधुर स्वभाव तथा सद्व्यवहार का परिणाम है। व्यापार में रत रहते हुए भी मल्होत्राजी को साहित्य, ललित कला और सांस्कृतिक कार्यों में अत्यधिक रुचि है। वह सुकवि तथा सुलेखक भी हैं, और साहित्यिकों तथा कवियों का सम्मान करने में सदा तत्पर रहते हैं। सार्वजनिक जीवन में वह सक्रिय रूप से भाग लेते हैं, और 'इण्डिया इण्टरनेशनल क्लब, लण्डन' के अध्यक्ष हैं। उनके व्यक्तित्व में एक ऐसी विशेषता है, जिसके कारण वह सबको अपना बना लेते हैं, और उनके सम्पर्क में आकर सब प्रसन्नता अनुभव करने लगते हैं।

श्री महेन्द्रकुमारजी भल्ला

श्री महेन्द्रकुमारजी भल्ला का जन्म ६ मार्च सन् १६३१ को जालन्धर में हुआ था। उनके पिता डा० हुकुमचन्द जी भल्ला जालन्धर के प्रसिद्ध आर्यसमाजी थे। वह किल्ला आर्य-समाज के अनेक वर्षों तक प्रधान रहे थे, और डी०ए०वी० शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना तथा विस्तार में उनका प्रमुख कर्तृत्व था। नकोदार के डी०ए०वी० कॉलिज के तो वह संस्थापक ही थे। महात्मा हंसराजजी के साथ उनकी घनिष्ठ मित्रता थी। श्री महेन्द्रकुमार भल्ला की शिक्षा जालन्धर के साईंदास एंग्लो-संस्कृत हाईस्कूल और डी०ए०वी० कॉलिज में हुई। सन् १६५२ में श्रीमती शकुन्तला भल्ला से उनका विवाह हुआ, और उसी वर्ष वह केनिया चले गये। केनिया जाकर उन्होंने वहाँ शिक्षा को अपना कार्यक्षेत्र बनाया, और नैरोबी में केनियन कॉलिज तथा किताल में किताल हाईस्कूल की स्थापना की। साथ ही, उन्होंने ओषधियों के निर्माण का उद्योग भी शुरू किया। आर्यसमाज के कार्यकलाप में श्री भल्ला का योगदान सराहनीय है। वह चिरकाल तक नैरोबी आर्यसमाज की अन्तरंग सभा के सदस्य तथा मन्त्री रहे हैं, और सन् १६८३ में उसके प्रधान चुने गये। नैरोबी में आर्यसमाज की जो अनेक शिक्षण-संस्थाएँ हैं, भल्लाजी का उनकी व्यवस्था व संचालन में प्रमुख हाथ है। वह अनेक स्कूलों के मन्त्री व प्रबन्धकर्ता के रूप में भी कार्य करते रहे हैं। वह अत्यन्त कर्मठ और मिलनसार आर्य सज्जन हैं। लण्डन भी उनका कार्यक्षेत्र है, और वहां के आर्यसमाज के भी वह संरक्षक-सदस्य हैं।
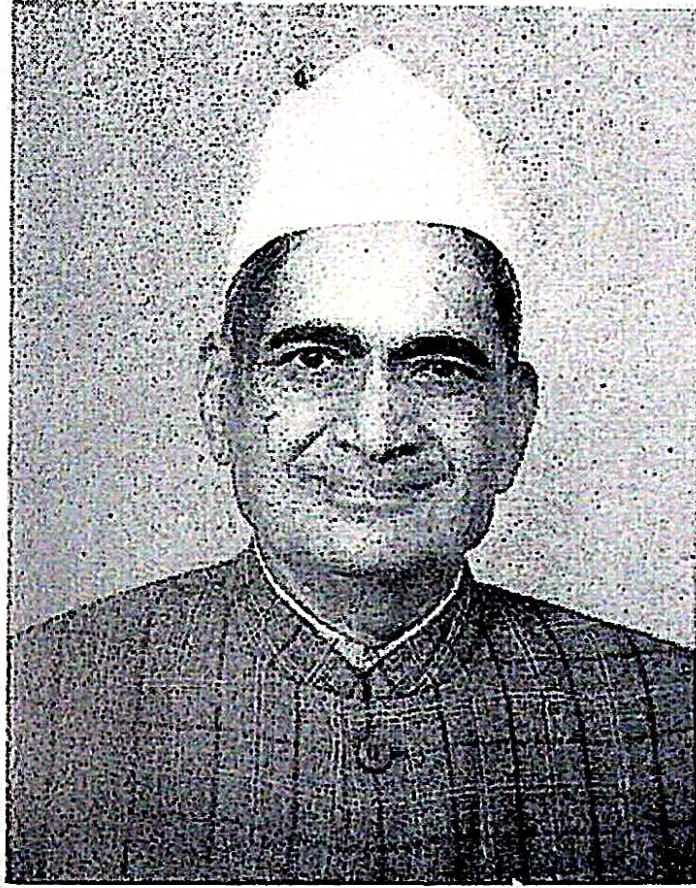
श्री सेठ भगवतीप्रसादजी खेतान

झुन्झुनू (राजस्थान) में 'सेठ रामकरणदास रामविलास राय खेतान' नाम से प्रसिद्ध एक प्रतिष्ठित अग्रवाल-परिवार है। श्री भगवतीप्रसादजी का जन्म इसी परिवार में २४ सितम्बर सन् १९११ के दिन हुआ था। ४० वर्ष की आयु तक अपने पिता, मामा तथा ससुराल वालों के विभिन्न उद्योगों एवं व्यवसायों में उच्च पदों पर रहकर कार्य करते हुए उन्होंने अपनी प्रखर प्रतिभा व कार्यकुशलता का परिचय दिया, और फिर सन् १९५१ से अपने स्वयं के विस्तृत व्यवसाय का संचालन प्रारम्भ किया। आयात और निर्यात का उनका बहुत बड़ा व्यापार है, और अनेक उद्योगों (आर्ट सिल्क, स्टील, कपड़े की रंगाई व प्रिंटिंग, माइनिंग आदि) के उनके विशाल कारखाने स्थापित हैं। लक्ष्मी की उन पर अपार कृपा है। धनिकों की तो भारत में कमी नहीं है, पर श्री भगवतीप्रसाद खेतान समाजसेवा तथा लोकोपकार के कार्यों में जिस उदारता से अपने धन का व्यय करते हैं, वह वस्तुतः अनुपम है। उन्होंने कितने ही चेरिटेबल (धर्मार्थ) ट्रस्ट स्थापित किये हैं, जिनके द्वारा अनेक शिक्षण-संस्थाओं, पुस्तकालयों और औषधालयों का संचालन और जीर्ण मन्दिरों का पुनरुद्धार किया जा रहा है। सार्वजनिक जीवन में श्री भगवतीप्रसादजी उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। इसी कारण वह चौदह से भी अधिक ट्रस्टों के ट्रस्टी हैं, और कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं के अध्यक्ष व आजीवन सदस्य हैं। सांस्कृतिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक कार्यकलाप में श्री खेतानजी निष्ठा तथा उत्साह के साथ भाग लेते हैं, और महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं के प्रति भी उनकी आस्था है। उनका जीवन बहुत सरल तथा सात्विक है। सब प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाओं के प्राप्त होते हुए भी वह उनसे असंपृक्त रहने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। वह स्वयं विद्याव्यसनी हैं, और विद्वानों का यथोचित सम्मान करते हैं। वह अत्यन्त सरल प्रकृति, मृदु स्वभाव तथा सात्विक वृत्ति के पुरुष हैं।
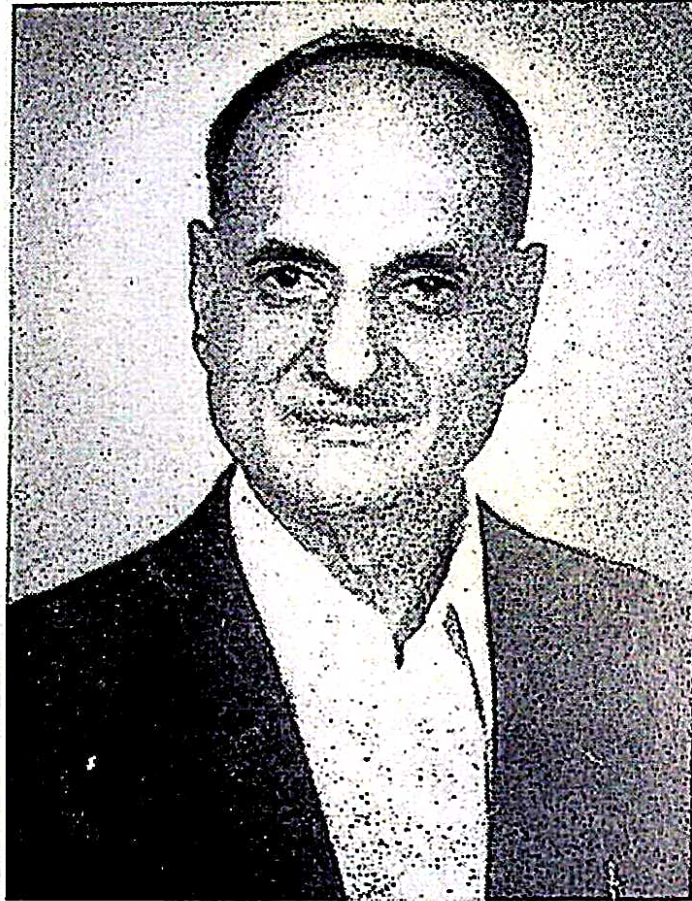
श्री तिलकराजजी अग्रवाल

श्री तिलकराजजी अग्रवाल का जन्म २२ नवम्बर सन् १९२२ को ढसका (जिला सियालकोट, पाकिस्तान) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में हुआ था। उनके दादा श्री कर्मचन्द्र अग्रवाल जिले के एक प्रसिद्ध वकील थे, और विधर्मियों को शुद्ध कर आर्य बनाने में सदा प्रयत्नशील रहा करते थे। उनके पिता श्री हेमराज अग्रवाल द्वारा प्रतिवर्ष आर्यसमाज में एक प्रीतिभोज का आयोजन किया जाता था, जिसमें भोजन हरिजनों द्वारा ही परोसा जाता था। तिलकराजजी ने धर्म, समाज तथा देश की सेवा की भावना विरासत में प्राप्त की, और वह आर्यसमाज के कार्यकलाप में पूर्ण उत्साह से योगदान करते रहे। कांग्रेस द्वारा संचालित विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार तथा हैदराबाद-सत्याग्रह में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया, और पंजाब व्यापार मण्डल के आन्दोलन में हाथ बटाने के लिए उन्हें शीघ्र ही जेलयात्रा भी करनी पड़ी। सियालकोट में उन्होंने आर्यकुमार सभा और आर्यवीर दल की स्थापना की, और उनकी कार्यकारिणी सभाओं के सदस्य रहे।

भारत विभाजन के पश्चात् वह दिल्ली आ गये, और 'अग्रवाल मेटल कम्पनी' के नाम से अलौह धातुओं का व्यापार प्रारम्भ किया। इसमें उन्हें असाधारण सफलता प्राप्त हुई, और 'नान-फैरस मेटल' के प्रमुख व्यापारी माने जाने लगे। दिल्ली और बम्बई रहते हुए तिलकराजजी का ध्यान अग्रवाल जाति में प्रचलित सामाजिक कुरीतियों की ओर गया, और उसमें सुधार तथा जागृति उत्पन्न करने के लिए उन्होंने 'अग्रवाल जागृति' का प्रकाशन प्रारंभ किया। अपनी जन्म-जाति को उन्नति के मार्ग पर अग्रसर करने के लिए उन्होंने अनेक अग्रवाल-संगठनों का संचालन अपने हाथों में लिया, और अनेक धर्मार्थ ट्रस्टों की स्थापना की। महर्षि के मन्तव्यों में तिलकराजजी की अगाध आस्था है, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साह के साथ भाग लेते हैं। धर्म और समाज के कार्यों में उदारतापूर्वक दान देकर वह अपने धन का सदुपयोग करने में गौरव अनुभव करते हैं।

श्री पी० डी० अग्रवाल

चुरू जिले (राजस्थान) के एक छोटे-से गांव नांगल में श्री पी० डी० अग्रवाल का जन्म हुआ था। वह अपने पिता-माता (श्री भोरूराम और श्रीमती सिंगारीदेवी) के सबसे छोटे पुत्र थे। उनकी शिक्षा गाँव में हुई, और उन्हें उच्च शिक्षा प्राप्त करने का अवसर नहीं मिला। पर उनमें विलक्षण कार्यशक्ति और उच्च महत्त्वाकांक्षा विद्यमान थी। जीवन में कुछ कर दिखाने की धुन में वह छोटी आयु में ही काम में लग गये। १७ वर्ष की आयु में वह गाँव छोड़कर वानरहाट चले गये, और वहाँ एक दुकान पर नौकरी कर ली। पर वह इतने परिश्रमी थे और व्यापार में उनकी इतनी क्षमता थी, कि शीघ्र ही उन्होंने उस दूकान को खरीद लिया जिस पर उन्होंने आठ रुपये मासिक की नौकरी की थी। तीन वर्ष बाद वह कलकत्ता चले गये, और वहाँ 'जसवन्तराय एण्ड ब्रादर्स' के नाम से कपड़े का व्यवसाय शुरू किया। सन् १९५८ में उन्होंने ट्रांसपोर्ट का कारोबार शुरू किया, और 'ट्रांसपोर्ट कार्पोरेशन ऑफ इण्डिया' नाम से अपना पहला आफिस कलकत्ता में खोला। आज यह भारतवर्ष में सबसे बड़ी ट्रांसपोर्ट कम्पनी है, और इसकी सैकड़ों शाखाएँ सर्वत्र विद्यमान हैं। वह ऑल इण्डिया मोटर ट्रांसपोर्ट कांग्रेस तथा कलकत्ता गुड्स ट्रांसपोर्ट कार्पोरेशन के वर्षों तक प्रधान रहे, और साथ ही भारत सरकार की ट्रांसपोर्ट डेवेलेपमेन्ट कौंसिल के सदस्य भी। सन् १९६९ में उन्होंने बैंगलोर में मिनी स्टील प्लांट भी स्थापित किया था। वह दिन मे अठारह-अठारह घण्टे काम करते थे। अपने कर्मचारियों के साथ उनके सम्बन्ध अत्यन्त मधुर थे। उन्होंने अपार धन कमाया, और उसका सदुपयोग किया। दान देने में वह कभी पीछे नहीं हटते थे। अपनी आमदनी का बड़ा भाग वह धर्म तथा समाज के कार्यों में व्यय करते थे। उनका विवाह श्रीमती धनवती देवी जी से हुआ था, जो जीवनपर्यन्त अपने पतिदेव के लिए शक्ति-स्तम्भ बनी रहीं। १७ सितम्बर १९८२ को श्री पी० डी० अग्रवाल का असमय में ही अमेरिका में देहान्त हो गया।
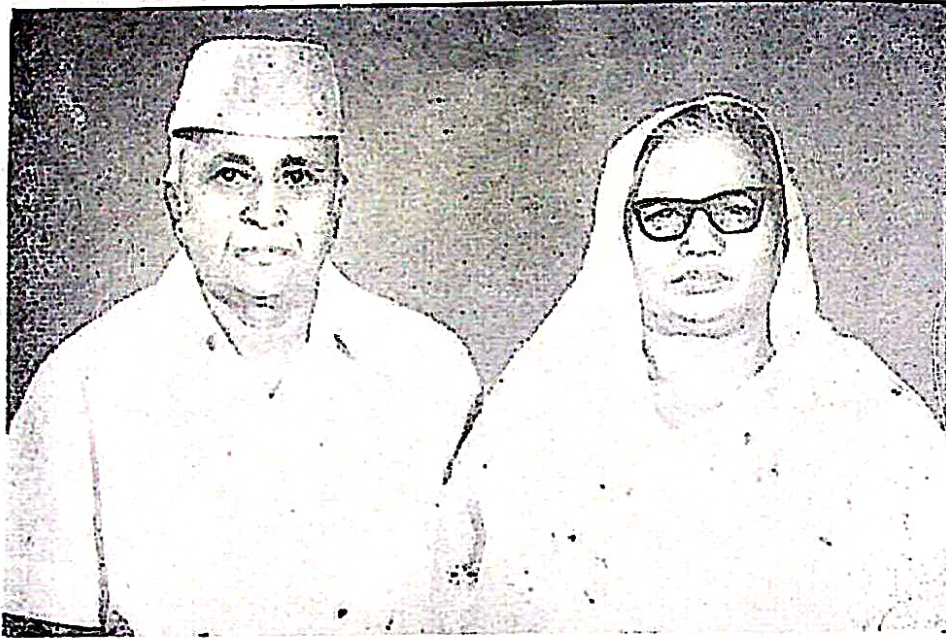
श्री लाला कुन्दनलालजी अग्रवाल   श्रीमती कौशल्यादेवीजी अग्रवाल

श्री कुन्दनलालजी अग्रवाल का जन्म सन् १९१४ में सियालकोट (पंजाब-पाकिस्तान) के जुधाला गांव में हुआ था। उनके पिता श्री निक्कामलजी अग्रवाल धार्मिक वृत्ति के सद्-गृहस्थ थे। १९४७ में पाकिस्तान बनने के बाद श्री कुन्दनलाल अमृतसर आ गये, और वहाँ उन्होंने कपड़े का थोक व्यापार प्रारम्भ किया, जिसमें उन्हें अनुपम सफलता प्राप्त हुई। शीघ्र ही उन्होंने अहमदाबाद, बम्बई तथा श्रीनगर में अपनी ब्रान्चें खोल लीं। धन का उपयोग उन्होंने आर्यसमाज और देश की सेवा में किया, और लाखों रुपये दान में दिये।

श्री कुन्दनलालजी की धर्मपत्नी श्रीमती कौशल्यादेवीजी का जन्म सन् १९१६ में अमृतसर में हुआ था। बचपन में उन्हें जलियांवाला बाग के ठीक सामने देश और धर्म पर मर मिटने वाले क्रान्तिकारियों को अपनी आँखों से देखने का अवसर मिला, और उनमें देश व धर्म की सेवा करने की भावना उत्पन्न हुई। आर्यसमाज के प्रति उनमें अगाध श्रद्धा है, और उसके कार्यकलाप में वह उत्साहपूर्वक भाग लेती हैं। नित्यप्रति वह नियमपूर्वक सन्ध्या-हवन करती हैं। जहां कहीं भी आर्यसमाज का कोई समारोह हो, उसमें वह सम्मिलित होती हैं, और यथाशक्ति दिल खोलकर दान देती हैं।
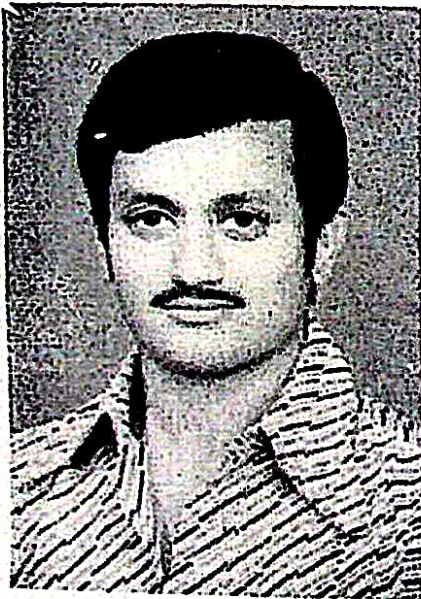
श्री ललितकुमार

श्री कुन्दनलालजी के कनिष्ठ पुत्र ललितकुमार किशोर आयु में ही अपने माता-पिता को बिलखता छोड़कर इस संसार से विदा हो गया था। ईश्वर की यही इच्छा थी। ललितकुमार धार्मिक वृत्ति का युवक था, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साह के साथ भाग लिया करता था। अपने प्रिय होनहार पुत्र की स्मृति में श्री कुन्दनलालजी ने अमृतसर में श्री ललित-कुमार मेमोरियल हास्पिटल की स्थापना की है, जिसे अब उन्होंने चार-पांच लाख नकद रुपयों के साथ स्थानीय आयुर्वेद कालिज को दान में दे दिया है।

श्री बंसीलालजी सोफत और श्रीमती वेदवतीजी सोफत

स्वर्गीय श्री बंसीलालजी सोफत अपने परिवार सहित नितान्त निःस्वार्थ रूप से आर्यसमाज नैरोबी (केनिया, पूर्वी अफ्रीका) की सेवा करते रहे। वर्षों तक नैरोबी आर्य-समाज के कोषाध्यक्ष रहकर वैदिक धर्म के प्रचार के लिए जो कार्य उन्होंने किया, वह कभी भुलाया नहीं जा सकता। श्री सोफत नैरोबी के एक बैंक में पदाधिकारी थे, और अपने सत्याचरण तथा सद्व्यवहार के कारण बैंक के विशिष्टतम व्यक्तियों में गिने जाते थे। सन् १९६५ में उनका निधन हो गया।

श्री बंसीलालजी सोफत की धर्मपत्नी श्रीमती वेदवतीजी का जन्म मार्च, सन् १९११ में लुधियाना के एक प्रसिद्ध व प्रतिष्ठित आर्य परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री लब्भूरामजी व माता श्रीमती हुक्मदेवी जी की महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रति अगाध आस्था थी। वेदवतीजी की शिक्षा लुधियाना की आर्य पुत्री पाठशाला में हुई, और बचपन से ही उन्होंने माता-पिता के धार्मिक संस्कार प्राप्त किये और साथ ही वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज के प्रति अटूट श्रद्धा व प्रेम भी। अक्टूबर १९२९ में उनका श्री बंसीलालजी सोफत से विवाह हुआ, और वह अपने पति के साथ नैरोबी (केनिया) चली गयीं। वहां पहुँचने पर वह पूर्ण उत्साह तथा लगन से आर्यसमाज के कार्य में जुट गयीं। वर्षों तक मन्त्री, प्रधान आदि पदों पर रहकर उन्होंने तन, मन, धन से आर्यसमाज की सेवा की। वह सरल स्वभाव की आदर्श आर्य महिला हैं, और धर्म के कार्य में सदा अग्रसर रहती हैं। श्रीमती वेदवतीजी सोफत अपने पतिदेव के चरणचिन्हों पर चलती हुई आर्यसमाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग ले रही हैं, और आर्य स्त्री समाज, नैरोबी के कार्यकलाप के सफलता-पूर्वक संचालन में उनका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान है।
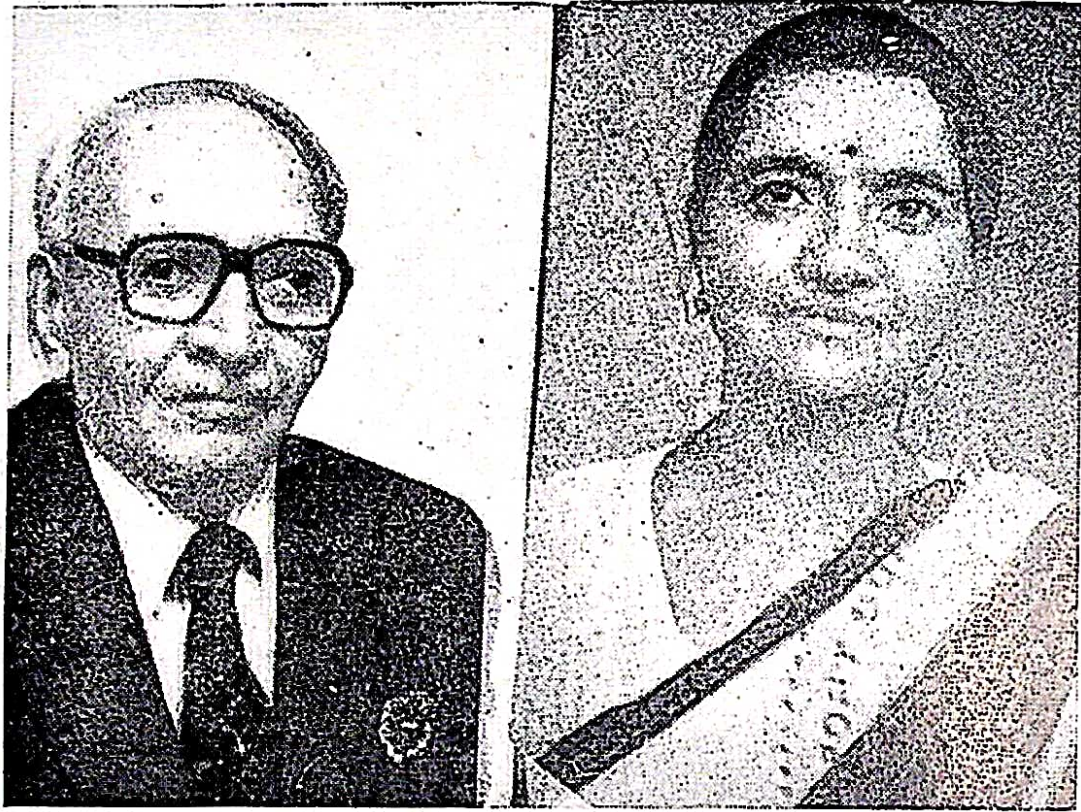
डा० सुखदेवजी भारद्वाज श्रीमती सत्यवतीजी भारद्वाज

डा० सुखदेवजी भारद्वाज का जन्म ३० मई सन् १९०७ को नैरोबी (केनिया) में हुआ था। वह स्वर्गीय पण्डित वैशाखीरामजी के तृतीय पुत्र हैं। उनकी शिक्षा लुधियाना के आर्य हाईस्कूल में हुई, और बाद में उन्होंने इन्दौर मैडिकल स्कूल से चिकित्साविज्ञान में डिग्री प्राप्त की। सन् १९२९ में श्रीमती सत्यवती (सुपुत्री डा० जीवाराम) के साथ उनका विवाह हुआ, और वह केनिया वापस चले गये। केनिया की मैडिकल सर्विस में वह ४० वर्ष के लगभग रहे, और सन् १९६९ में सरकारी सेवा से निवृत्त हुए। सन् १९७२ में उनकी पत्नी का स्वर्गवास हो गया। मरने से पूर्व उन्होंने यह इच्छा प्रकट की थी, कि डा० भारद्वाज अपना शेष जीवन धर्म और समाज की सेवा में लगाएँ और इसके लिए कोई पारिश्रमिक न लें। सरकारी सर्विस में रहते हुए भी डा० भारद्वाज आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साह-पूर्वक भाग लेते रहते थे, पर बाद में तो उन्होंने अपना तन, मन, धन—सब समाज की सेवा में अर्पित कर दिया। अपना सब समय वह केनिया में आर्यसमाज के संगठन एवं प्रचार में लगाने लगे। सन् १९७२ में वह नैरोबी आर्यसमाज के प्रधान चुने गये। यह आर्यसमाज जो आज अत्यन्त व्यवस्थित व समृद्ध रूप में है, उसका बहुत कुछ श्रेय डा० भारद्वाज की लगन और निष्काम भाव से सेवा को ही प्राप्त है। उन्हीं द्वारा नैरोबी में धर्मार्थ औषधालय की स्थापना की गयी, जिसमें रंग, वर्ण, जाति, मत आदि का कोई भी भेद किये बिना मनुष्यमात्र की चिकित्सा की जाती है।

अपने पतिदेव के समान श्रीमती सत्यवतीजी भारद्वाज भी धर्मपरायण महिला थीं, और समाज तथा धर्म की सेवा में डा० भारद्वाज का हाथ बटाया करती थीं। भारत की संस्कृति तथा प्राचीन परम्पराओं पर उनकी अगाध आस्था थी। अपनी सन्तान की उच्च शिक्षा पर उन्होंने विशेष ध्यान दिया। इसी का यह परिणाम है, कि उनके दोनों पुत्र तथा तीनों पुत्रियाँ समाज में अत्यन्त प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर विविध देशों में बसे हुए हैं।
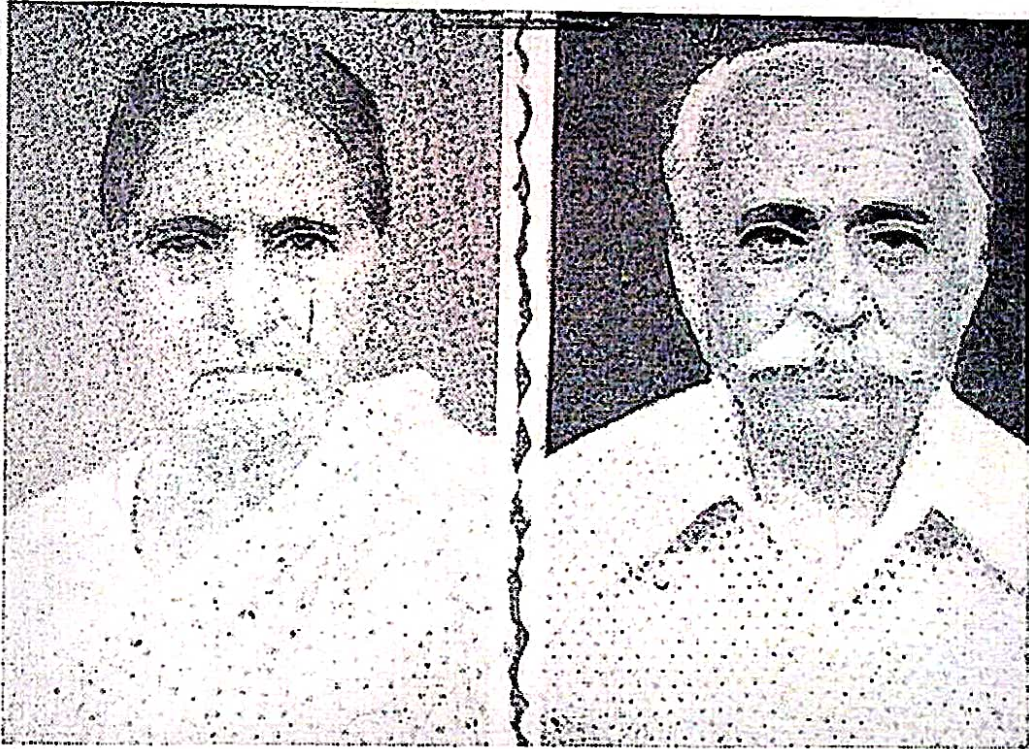
श्रीमती कीर्तिदेवीजी भारद्वाज   श्री पण्डित ब्रह्मदेवजी भारद्वाज

श्री ब्रह्मदेवजी भारद्वाज का जन्म २४ फरवरी सन् १९०५ को नैरोबी (केनिया) में हुआ था। उनके पिता पण्डित वैशाखीरामजी सन् १८९८ में भारत से केनिया गये थे, और सन् १९२८ तक वह वहाँ सरकार तथा रेलवे विभाग की सेवा में कार्यरत रहे। १९१४-१८ के विश्वयुद्ध में केनिया में आर्यसमाज को सरकार द्वारा विद्रोही संस्था घोषित कर दिया गया था। उस समय नैरोबी का आर्यसमाज मन्दिर निर्माणाधीन था। श्री वैशाखी रामजी ने इस बात की परवाह नहीं की, कि आर्यसमाज को राजद्रोही घोषित कर दिया गया है। वह आर्यसमाज मन्दिर का निर्माण कराते रहे, और युद्ध के दिनों में ही उसे पूरा भी करा दिया। निःसन्देह यह उनकी निर्भीकता, साहस तथा धर्मप्रेम का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

श्री वैशाखीरामजी की सभी सन्तानों ने अपने पिता के जीवन व विचारों से प्रभावित होकर अपनी सेवाएँ आर्यसमाज को प्रदान की हैं। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री ब्रह्मदेव भारद्वाज किशोर आयु से ही आर्य वीर दल तथा हिन्दू संगठन के कर्मठ कार्यकर्ता रहे हैं। लुधियाना तथा नैरोबी में आर्यसमाज को शक्तिशाली बनाने तथा उन्नत करने में उनका कर्तृत्व अनुकरणीय है। शुद्धि तथा हिन्दू कन्याओं के संरक्षण के लिए भी उन्होंने सराहनीय कार्य किया हैं। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती कीर्तिदेवीजी धर्म तथा समाज की सेवा के अपने पति के कार्यों में पूर्ण सहयोग प्रदान करती है। श्री ब्रह्मदेवजी तथा श्रीमती कीर्तिदेवीजी के सुपुत्र पण्डित सत्यभूषण तथा पण्डित व्रजभूषण अपने परिवार की परम्परा का अनुसरण करते हुए आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। वस्तुतः, श्री ब्रह्मदेवजी के सम्पूर्ण परिवार ने ही अपने को आर्यसमाज के लिए अर्पित किया हुआ है। श्री सत्यभूषणजी चिरकाल से नैरोबी आर्यसमाज के उच्च पदाधिकारी के रूप में वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार में तत्पर हैं, और अनेक वर्षों तक उसके प्रधान रहे हैं।

श्री पण्डित लब्भूरामजी शर्मा

श्री शर्मा का जन्म पंजाब के एक धनी व सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था। सन् १९२२ में वह केनिया गये, और कुछ समय अपना स्वतन्त्र व्यवसाय करने के बाद उन्होंने रेलवे की सर्विस स्वीकार कर ली। सन् १९५४ में वह केनिया रेलवे के कमर्शियल आफिसर के पद से सेवानिवृत्त हुए, और भारत वापस लौटकर चंडीगढ़ में बस गये। जब तक वह केनिया में रहे, आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। नकुरू और किसुमु में आर्यसमाजों की स्थापना में उनका कर्तृत्व विशेष महत्त्व का था। चंडीगढ़ में भी श्री शर्माजी आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहे। चंडीगढ़ की डी०ए०वी० शिक्षण-संस्थाओं तथा सेक्टर ७ और सेक्टर २२ के आर्यसमाजों की स्थापना में उनका योगदान सदा स्मरणीय रहेगा। सन् १९७२ में उनका निधन हुआ।

श्रीमती सुशीलादेवीजी शर्मा

पण्डित लब्भूराम शर्मा की पत्नी श्रीमती सुशीलादेवी सच्चे अर्थों में अपने पति की सहधर्मिणी थीं। उनके पिता श्री पण्डित धनीराम शास्त्री संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे। उन्होंने अपनी पुत्री को भी उच्च शिक्षा दी थी। सुशीलाजी सन् १९२४ में केनिया गयीं, और वहाँ जाकर उन्होंने किसुमु में आर्य गर्ल्स स्कूल की स्थापना की। यह किसुमु काप्रथम आर्य शिक्षणालय था, और सुशीलाजी स्वयं इसमें अवैतनिक रूप से अध्यापन का कार्य किया करती थीं। किसुमु, नकुरू और नैरोबी में आर्य स्त्री-समाजों की स्थापना तथा संचालन में उनका योगदान अत्यन्त महत्त्व का था, और चंडीगढ़ आकर भी वह आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार तथा स्त्रीशिक्षा के कार्यों में निरन्तर उत्साहपूर्वक भाग लेती रहीं। सन् १९८० में नैरोबी में उनका देहावसान हुआ।

श्री पण्डित लब्भूरामजी शर्मा के दो सुपुत्र हैं—पण्डित ब्रह्मदत्त शर्मा और पण्डित देवदत्त शर्मा। ये दोनों ही महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में अगाध आस्था रखते हैं, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। पण्डित देवदत्त शर्मा सन् १९८१ और सन् १९८२ में नैरोबी आर्यसमाज के मन्त्री रहे हैं। उनका पुत्र संयुक्त राज्य अमेरिका में मैडिकल आफिसर है, और वह उसके माध्यम से उस देश के विविध नगरों में आर्यसमाजों की स्थापना कर वहां आर्य प्रतिनिधि सभा के संगठन का प्रयत्न करने में लगे हुए हैं।
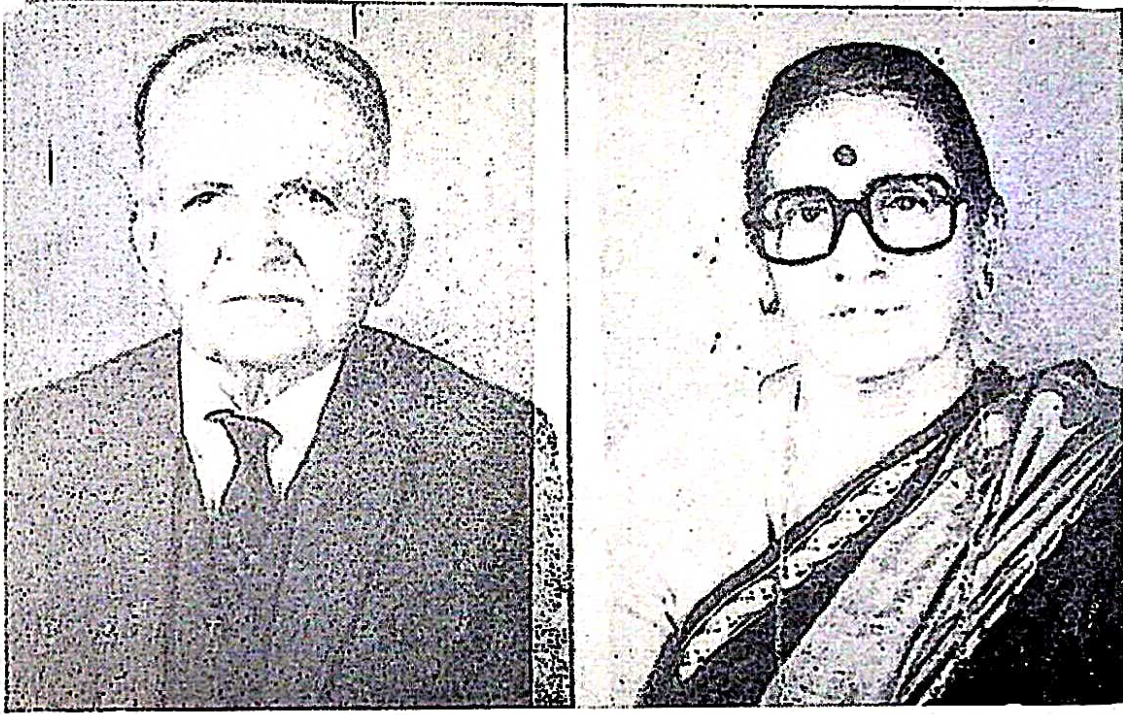
श्री जयदेवजी शर्मा भारद्वाज　　　　श्रीमती सोमवतीजी भारद्वाज

श्री जयदेवजी शर्मा भारद्वाज का जन्म १६ मार्च सन् १६०६ को नैरोबी में हुआ था। उनके पिता श्री वैशाखीरामजी सन् १८६४ में केनिया गये थे। वह वहाँ की रेलवे में पदाधिकारी थे, और रेलवे की सर्विस में रहते हुए उत्साहपूर्वक आर्यसमाज के प्रचार-प्रसार में तत्पर रहा करते थे। नैरोवी में आर्यसमाज की स्थापना में उनका प्रमुख कर्तृत्व था। वह अनेक वर्षों तक वहां के आर्यसमाज के कोषाध्यक्ष, मन्त्री और प्रधान रहे। सन् १६२१ में रेलवे की सेवा से निवृत्त होकर वह लुधियाना आ गये, और वहाँ आर्यसमाज के कार्यकलाप में हाथ बटाने लगे। वैदिक धर्म तथा महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में उनकी अगाध आस्था थी, और उनका जीवन सदाचारमय तथा वैदिक धर्म की शिक्षाओं के अनुरूप था।

श्री जयदेव शर्मा अपने योग्य पिता के सुयोग्य पुत्र हैं। सन् १६२४ में वह भी केनिया गये, और सन् १६५२ तक केनिया-युगाण्डा रेलवे की सर्विस में रहे। उसके बाद उन्होंने जे० डी० शर्मा एण्ड सन्स नाम से अपना निजी कारोबार शुरू किया और होजरी की फैक्टरी स्थापित की। अपने पिता के समान जयदेवजी भी धार्मिक वृत्ति के निष्ठावान् सज्जन हैं, और आर्यसमाज के कार्यों में उत्साह तथा लगन के साथ संलग्न रहते हैं। पूर्वी अफ्रीका की आर्य प्रतिनिधि सभा के वह वर्षों तक पदाधिकारी रहे हैं। व्यायाम तथा स्पोर्ट्स में उनकी अत्यधिक रुचि है। आर्य युवकों की शारीरिक उन्नति के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहते हैं।

जयदेवजी की पत्नी श्रीमती सोमवतीजी भारद्वाज का नैरोबी की स्त्री-आर्यसमाज की उन्नति में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उनकी सन्तान उच्च शिक्षित हैं। यह सारा परिवार समृद्ध; प्रतिष्ठित और सुसंस्कृत है।
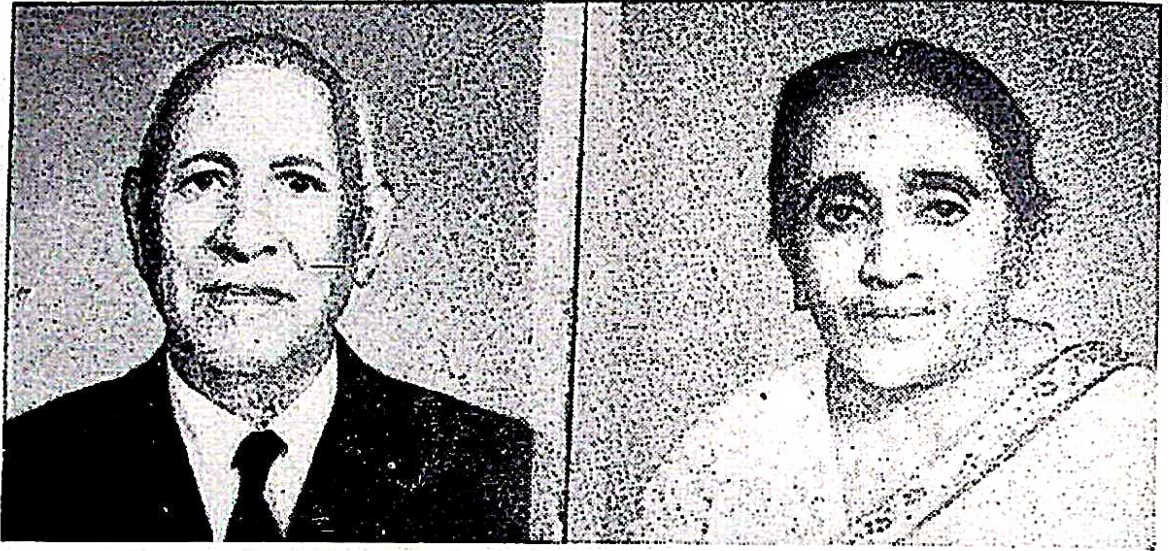
पण्डित लालचन्द जवाहरलालजी शर्मा | श्रीमती शान्तिदेवीजी शर्मा

पण्डित लालचन्दजी पूर्वी अफ्रीका में आर्यसमाज के एक प्रमुख उन्नायक थे। उनका जन्म १८९५ में गोदपुर (जिला होशियारपुर) के एक पुञ्ज कृषक परिवार में हुआ था। सन् १९१३ में वह केनिया चले गये और वहां ठेकेदारी का काम प्रारम्भ किया। उस समय केनिया में बसे हुए भारतीयों द्वारा यह आन्दोलन किया जा रहा था, कि उन्हें भी वहां अंग्रेजों के समान अधिकार प्राप्त हों। सन् १९१४ में विश्व महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने पर केनिया में बसे हुए अंग्रेजों को यह अवसर प्राप्त हो गया कि वे केनिया के भारतीयों के विषय में यह कहने लगें, कि उनमें भी गदर की प्रवृत्ति शुरू हो गयी है। परिणाम यह हुआ कि बहुत से भारतीय गिरफ्तार कर लिये गये। शर्माजी भी उनमें थे। राजद्रोह के आरोप में शर्माजी को मौत की सजा दी गयी, जो बाद में दस साल के कठोर कारावास में बदल दी गयी। महायुद्ध की समाप्ति पर एक न्यायिक जांच कमीशन ने शर्माजी को निर्दोष घोषित करते हुए कारावास से मुक्त कर दिया। अब उन्होंने अपना स्वतन्त्र कारोबार शुरू किया, जिसमें उन्होंने बहुत उन्नति की। पर व्यवसाय-व्यापार में संलग्न रहते हुए भी वह आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। नैरोबी के आर्य गर्ल्स सेकेन्डरी स्कूल की स्थापना व उत्कर्ष में उनका प्रमुख कर्तृत्व था। पण्डित लालचन्द शर्मा का विवाह केनिया के प्रसिद्ध आर्यसमाजी नेता पण्डित वैशाखीरामजी की सुपुत्री श्रीमती शान्तिदेवी जी के साथ हुआ था। शान्तिदेवीजी अपने पति तथा भाइयों के समान धर्म तथा समाज की सेवा में सदा तत्पर रहती हैं, और नैरोबी की स्त्री-आर्यसमाज के संचालन में उनका कर्तृत्व सराहनीय है। वह एक आदर्श आर्य महिला हैं, और सभी हिन्दू परिवारों के सुख-दुःख में सहृदयता से सहायक होना उनका स्वभाव है।
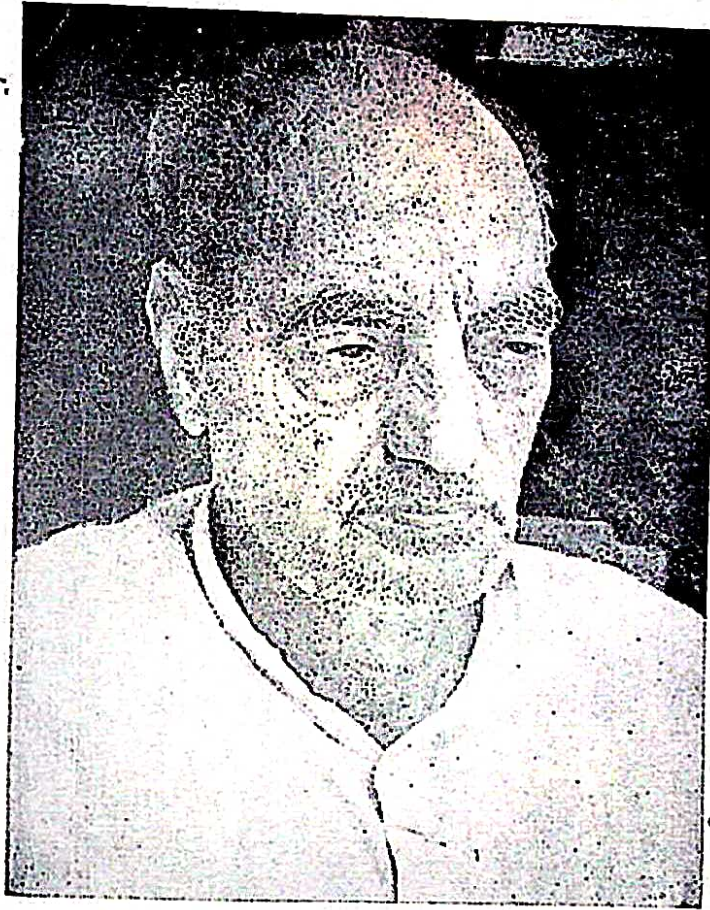
डॉ० हरिप्रकाशजी आयुर्वेदालंकार

कमालिया (पाकिस्तान) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में जन्म। पिता श्री लक्ष्मणदासजी की वैदिक धर्म में प्रगाढ़ आस्था थी, और आर्यसमाज के वह उत्साही तथा कर्मठ कार्यकर्ता थे। उन्होंने अपने सभी पुत्रों को गुरुकुल में शिक्षा के लिए भेजा, और सभी ने आर्यसमाज के क्षेत्र में सम्मानास्पद स्थान प्राप्त किया। श्री हरिप्रकाश गुरुकुल में नियमपूर्वक शिक्षा प्राप्त कर सन् १९३७ में स्नातक हुए और उन्होंने 'आयुर्वेदालंकार' की उपाधि प्राप्त की। चिकित्सा में उनकी योग्यता को दृष्टि में रखकर १९३९ में उन्हें गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ का चिकित्सक नियत किया गया, और १९४० में गुरुकुल कांगड़ी फार्मेसी का सहायक व्यवसायाध्यक्ष। सन् १९४४ में अम्बाला छावनी को उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र बनाया, और उस क्षेत्र के लिए गुरुकुल फार्मेसी की चीफ एजेन्सी लेकर उन्होंने स्वतन्त्र रूप से व्यवसाय प्रारम्भ किया। बाद में (सन् १९७२ में) वह गुरुकुल फार्मेसी के व्यवसायाध्यक्ष नियत हुए।

डा० हरिप्रकाशजी की सार्वजनिक जीवन के प्रति विद्यार्थी अवस्था से ही रुचि रही है। स्नातक होने से पूर्व ही सत्याग्रह आन्दोलन में उन्होने जेलयात्रा की थी, और रुड़की क्षेत्र के राजनैतिक जीवन में सम्मानास्पद स्थिति प्राप्त कर ली थी। वर्षों तक वह आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब के मंत्री रहे, और गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की सीनेट, विद्यासभा, शिक्षापटल, चयन समिति तथा व्यवसाय पटल आदि के सदस्य। भारत का विभाजन होने पर उन्होंने शरणार्थियों की लगन से सेवा की, और शरणार्थी सेवा शिविर, रुड़की के वह संचालक रहे। अम्बाला की आर्य गर्ल्स पोस्ट ग्रेजुएट कॉलिज आदि अनेक संस्थाओं के वह प्रबन्धक तथा सार्वदेशिक सभा के प्रतिष्ठित सदस्य हैं, और हरयाणा आर्य प्रतिनिधि सभा के उपप्रधान रह चुके हैं। अब वह गुरुकुल कांगड़ी के मुख्याधिष्ठाता हैं।

श्री गोविन्दरामजी भूटानी

भारत के विभाजन के कारण पाकिस्तान से विस्थापित हुए श्री भूटानीजी ने स्वल्प समय में ही दिल्ली में अपने कारोबार को पुनः स्थापित कर लिया और परमपिता परमात्मा की कृपा से शीघ्र ही वह पुनः सम्पन्न व समृद्ध हो गये। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में भूटानीजी की अगाध श्रद्धा है, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। आत्मज्ञापन से दूर रहते हुए वह सभी धार्मिक व उपयोगी कार्यों के लिए सहायता देने में सदैव तत्पर रहते हैं।
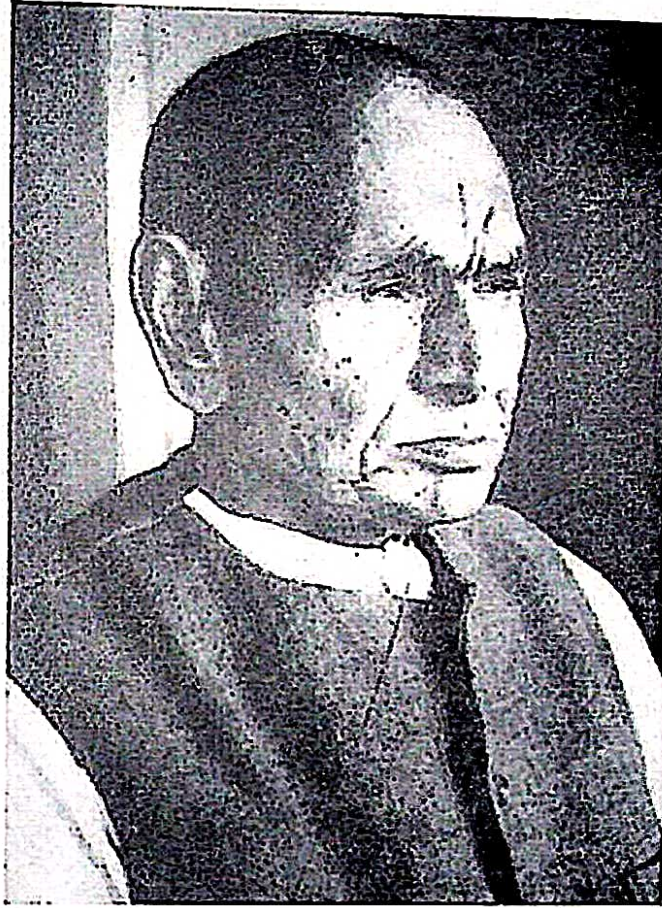
कर्मयोगी श्री भूपाल आर्य

स्व० श्री भूपालजी आर्य का जन्म गांव शेरड़ा (राजस्थान) में संवत् १९६५ वि० की श्रावणी पूर्णिमा को हुआ था। वीरता, उदारता, प्रभुभक्ति भूपालजी को पैतृक दाय में मिली थी। श्री भूपालजी 'सादा जीवन, उच्च विचार' की साक्षात् मूर्ति थे। स्वदेश और स्वधर्म की भक्ति उनके रोम-रोम में समायी हुई थी। जीवनपर्यन्त खादी के ही वस्त्र धारण करते रहे। श्री भूपालजी स्वामी दयानन्द और आर्यसमाज के कट्टर भक्त थे। यज्ञ-हवन, भजन, सत्संग इन्हें अतिप्रिय थे। वे अपने व्यावसायिक स्थान पर अपने कर्मचारियों के साथ साप्ताहिक हवन-भजन-सत्संग नियमित रूप से करते थे।

राजस्थान में अकाल पड़ने पर भूपालजी व्यापार करने की दृष्टि से उत्तरी बंगाल गये। १९४६ ई० में कलकत्ता में कपड़े का व्यवसाय आरम्भ किया। १९६२ ई० में आपके पुत्रों ने ट्रक ट्रान्सपोर्ट का काम आरम्भ किया। आपका परिवार ट्रान्सपोर्ट में अग्रगण्य व्यवसायी हैं। आपका देहान्त १८ नवम्बर १९८३ को दिल्ली में हो गया। उनके पुत्र श्री दयानन्द आर्य, श्री चन्द्रमोहन आर्य, श्री रतनप्रकाश आर्य, अपने पूज्य पिताजी के चरण-चिन्हों पर चलते हुए देश, धर्म, जाति की सेवा में तत्पर हैं। इन श्रद्धालु पुत्रों ने अपने पूज्य पिताजी की स्मृति में ५००० रुपये का दान देकर आर्य स्वाध्याय केन्द्र की संरक्षक-सदस्यता स्वीकार की है।

श्री छोगमल चौधरी

हरयाणा के बहल नामक गांव में श्री छोगमल चौधरी का जन्म हुआ था। उनका पैतृक पेशा खेती और ग्रामीण व्यवसाय था, जिसमें उन्होंने अच्छी सफलता प्राप्त की थी। आरम्भ से ही उनकी अभिरुचि साहित्य के अध्ययन में थी। धार्मिक साहित्य उन्हें विशेष रूप से प्रिय रहा है। श्री चौधरी ने किशोर अवस्था में ही सत्यार्थप्रकाश पढ़ा था। तभी से महर्षि दयानन्द सरस्वती के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा हो गयी थी, और आर्यसमाज के कार्य-कलाप व मन्तव्यों में वे विश्वास रखने लगे थे। श्री चौधरी सत्संग, स्वाध्याय एवं यज्ञ के अतिप्रेमी हैं।

श्री छोगमल जी के चार पुत्र हैं—श्री हरिकिशन चौधरी, श्री शिवकुमार चौधरी, श्री महेन्द्रकुमार चौधरी और श्री प्रमोदकुमार चौधरी। श्री हरिकिशन बड़े कुशल उद्योगपति व व्यवसायी हैं। अपने अनुजों को साथ लेकर उन्होंने कलकत्ता और सूरत में उद्योग व व्यवसाय में बहुत उन्नति की है।

श्री शिवकुमार चौधरी उद्योग और व्यवसाय में लगे हुए आर्यसमाज के निष्ठावान् भक्त व कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं। बड़ा बाजार (कलकत्ता) आर्यसमाज की उन्नति में उनका कर्तृत्व अत्यन्त महत्व का है। आर्यसमाज के इतिहास के गौरव से प्रभावित होकर उन्होंने अपने पूज्य पिताजी के नाम से ५००० रुपये प्रदान कर आर्य स्वाध्याय केन्द्र का संरक्षक-सदस्य होना स्वीकार किया है।
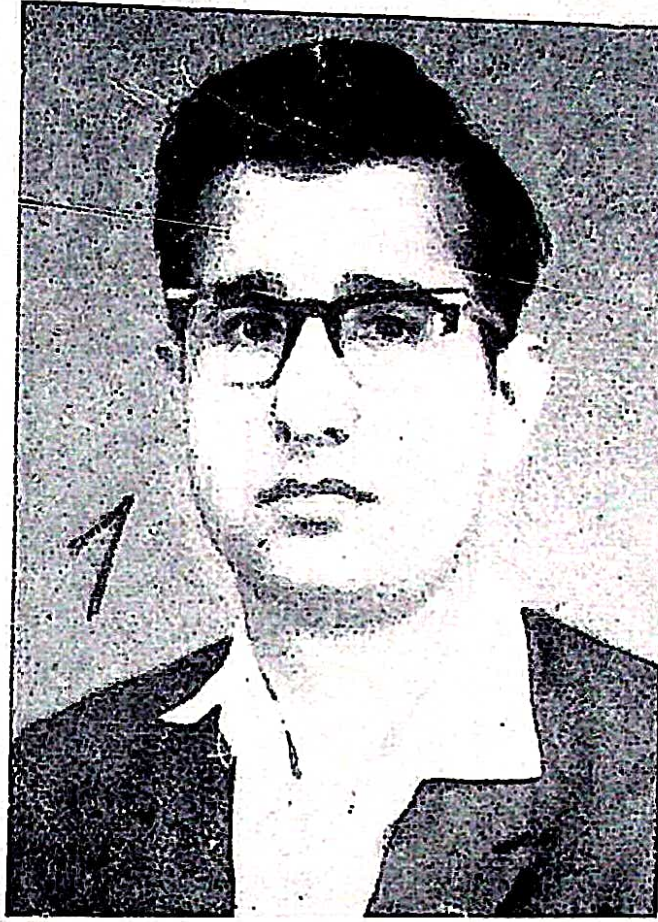
श्री कन्हैयालाल आर्य

स्व० श्री कन्हैयालालजी का जन्म ३१ मई सन् १९३६ ई० में हरयाणा के गुरेरा नामक गांव में हुआ था। आपके बड़े भाई श्री चन्दूलाल आर्य, श्री फूलचन्द आर्य, श्री रामरिछ पाल आर्य कलकत्ता में व्यवसाय करते थे, सो कन्हैयालालजी की स्कूली शिक्षा कलकत्ता में ही हुई। यहीं अपने बड़े भाई श्री फूलचन्द आर्य और छोटे भाई श्री जगदीशप्रसाद आर्य के साथ अपने व्यावसायिक प्रतिष्ठान जय भारत फैब्रिक्स में व्यवसाय करना आरम्भ किया। श्री कन्हैयालालजी श्रद्धालु कट्टर आर्यसमाजी थे। श्री कन्हैयालालजी ने रूढ़ियों को तोड़ कर एक विधवा कन्या के साथ विवाह करके सामाजिक क्रान्ति की थी। श्री आर्यजी आर्य-समाज बड़ा बाजार के निष्ठावान् कार्यकर्त्ता थे और जब १३ जून सन् १९८५ ई० को आपका देहान्त हुआ, उस समय आप आर्यसमाज बड़ा बाजार कलकत्ता के प्रधान थे।

आपके अग्रज श्री फूलचन्दजी आर्य कलकत्ता के आर्यसमाजी क्षेत्र के प्रतिष्ठित एवं वरिष्ठ कार्यकर्त्ता हैं। अपने युवक प्रिय अनुज स्व० कन्हैयालालजी की स्मृति को चिरस्थायी रखने के लिये आपने ५००० रुपये का दान देकर आर्य स्वाध्याय केन्द्र का संरक्षक-सदस्य बनना स्वीकार किया।
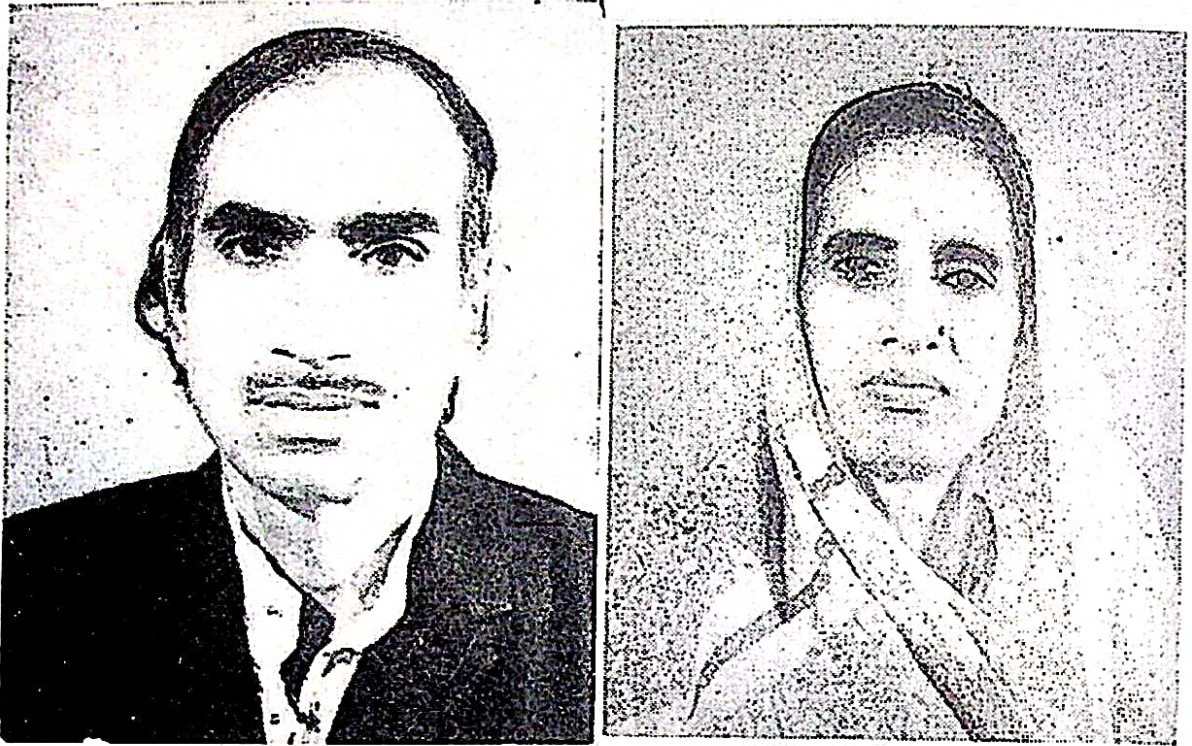
श्री भगवानदासजी अग्रवाल तथा उनकी धर्मपत्नी श्रीमती मनभावतीजी अग्रवाल

श्री भगवानदासजी अग्रवाल का जन्म सन् १९२७ में गांव नकटा, जिला भिवानी (हरयाणा) के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री लालजीराम अग्रवाल धार्मिक प्रकृति के पुरुष थे। भगवानदासजी की शिक्षा भिवानी में हुई, जहां वह आर्यसमाज तथा आर्य वीर दल के सम्पर्क में आए और उन्होंने आसपास के ग्रामों में उत्साहपूर्वक आर्य वीर दल का कार्य किया। महर्षि दयानन्द सरस्वती के जीवन तथा मन्तव्यों की जो छाप उस समय उन पर पड़ी, वह आजीवन रहेगी। महर्षि और आर्यसमाज से वह कभी उऋण नहीं होंगे। शिक्षाकाल में ही उनका परिचय श्री फूलचन्दजी शर्मा 'निडर' से हुआ और उनके जीवन से उन्होंने बहुत कुछ सीखा।

सन् १९४७ में श्रीमती मनभावती देवी से उनका विवाह हुआ। श्रीमती जी का जीवन अत्यन्त सरल, तपस्यामय तथा सात्विक है, और योग साधन में उन्हें विशेष रुचि है। सन् १९४८ में श्री भगवानदासजी तिनसुखिया (आसाम) में आए, जहां व्यापार में उन्हें अनुपम सफलता प्राप्त हुई। उनके तीन पुत्र और एक पुत्री है। तीनों पुत्रों का विवाह बिना दहेज के वैदिक रीति से करके उन्होंने आदर्श उपस्थित किया है। तिनसुखिया में वह आर्य-समाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक संलग्न रहते हैं। वहां आर्यसमाज की स्थापना उन्हीं द्वारा की गई है, और अब उनका विचार एक बहु-उद्देश्यीय विद्यालय खोलने का है, जो ईश्वर की कृपा से शीघ्र पूर्ण होगा। प्राकृतिक चिकित्सा से श्री अग्रवालजी को विशेष अनुराग है।

श्री पूनमचन्दजी आर्य और श्रीमती मेवादेवीजी आर्या

श्री पूनमचन्द आर्य का जन्म २१ जुलाई सन् १९२१ को भिवानी (हरयाणा) के एक प्रतिष्ठित व सम्पन्न परिवार में हुआ था। बचपन से ही उनके विचार पवित्र थे और उनका पालन-पोषण धार्मिक व सदाचारमय वातावरण में हुआ था। इसी कारण छोटी आयु में ही वह आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय रूप से भाग लेने लग गये थे। सन् १९३४ में अपनी शिक्षा को अधूरा छोड़कर व्यापार के लिए वह भावनगर (काठियावाड़) चले गये, और सन् १९३७ में कलकत्ता आ गये। वहाँ उन्होंने बहुत सफलता प्राप्त की और शीघ्र ही एक सम्पन्न व्यापारी बन गये। वर्षों तक वह कलकत्ता आर्यसमाज के मन्त्री, उपप्रधान और प्रधान रहे। परोपकारिणी सभा के वह उपप्रधान हैं, और महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी महोत्सव की सफलता के लिए उन्होंने दिन-रात एक करके घोर परिश्रम किया। वह आर्य-समाज के कार्यकलाप के लिए धन जुटाने में विशेष उत्साह प्रदर्शित करते हैं। उनके सत्प्रयत्न से कलकत्ता और बम्बई के कितने ही सम्पन्न लोगों ने धर्म और समाज के कार्यों के लिए दान की प्रेरणा प्राप्त की है। श्री पूनमचन्दजी का आदर्श आर्य-जीवन है, धर्मपत्नी के वियोग के पश्चात् जो आर्यसमाज के प्रति और भी अधिक प्रखर रूप से समर्पित हो गया है।

मेवादेवीजी का जन्म सन् १९२३ में ग्राम बढ़वा (जिला भिवानी, हरयाणा) के एक सम्पन्न वैश्य परिवार में हुआ था। उनके पिता दार्जिलिंग में कपड़े के प्रतिष्ठित व्यापारी थे। मेवादेवीजी का पालन-पोषण सदाचार और धर्म के वातावरण में हुआ, जिसका उनके जीवन पर बहुत प्रभाव पड़ा। सन् १९३७ में श्री पूनमचन्द आर्य से उनका विवाह हुआ। विवाह के समय मेवादेवीजी पौराणिक विचारों की थीं, पर विवाह के बाद वह पति के रंग में रंगती गयीं, और शीघ्र ही आर्यसमाज की विचारधारा से प्रभावित हो गयीं। उन्होंने वैदिक साहित्य का अध्ययन किया, और समाज के सत्संगों में नियमित रूप से सम्मिलित होने लगीं। वह अत्यन्त सरल व धार्मिक प्रकृति की आर्य महिला थीं, और अपने परिवार तथा समाज के प्रति कर्त्तव्यों के पालन में सदा तत्पर रहती थीं। उनमें धैर्य, उदारता, दानशीलता, गम्भीरता, दूरदर्शिता, मिष्टभाषिता आदि सब गुण विद्यमान थे।
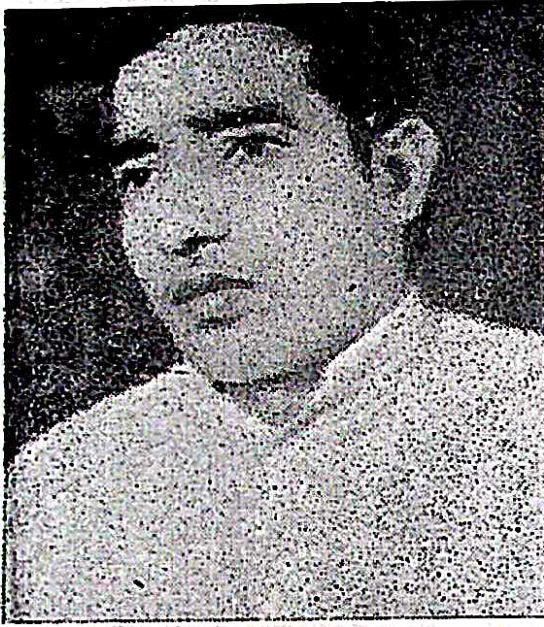
श्री यशपालजी शास्त्री व्याकरणाचार्य

श्री बख्तावरलालजी

श्री यशपालजी का जन्म ५ दिसम्बर सन् १९४९ को ग्राम हुमायूंपुर (रोहतक) के एक प्रतिष्ठित किसान परिवार में हुआ था। आर्यसमाज में अगाध आस्था होने के कारण उनके पिता श्री भगत दरयावसिंहजी ने शिक्षा के लिए अपने पुत्र को गुरुकुल झज्जर (हरयाणा) में प्रविष्ट कराया, जहां ब्रह्मचर्यपूर्वक तपस्या का जीवन बिताते हुए उन्होंने वेद-वेदांगों का अध्ययन किया और व्याकरणाचार्य की परीक्षा उत्तीर्ण की। अपनी शिक्षा को उन्होंने बाद में भी जारी रखा, और पंजाब यूनिवर्सिटी से 'शास्त्री' तथा आयुर्वेद विद्यापीठ दिल्ली से 'आयुर्वेद-विशारद' की डिग्रियाँ प्राप्त कीं। दो वर्ष उन्होंने गुरुकुल झज्जर में अध्यापन का कार्य किया, और फिर गुरुकुल ततारपुर (गाजियाबाद) के आचार्य रहे। बाद में वह आचार्य तथा मुख्याधिष्ठाता के पदों पर नियुक्त होकर गुरुकुल मटिण्डू चले गये, और सन् १९७५ में उन्होंने कन्या गुरुकुल खरखोदा (सोनीपत) की स्थापना की। वह पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा की विद्यापरिषद् तथा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की सीनेट के सदस्य रह चुके हैं। गोरक्षा आन्दोलन में वह जेल भी गये थे। आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं, प्रभावशाली वक्ता हैं, और उनका जीवन आर्य आदर्शों के अनुरूप है।
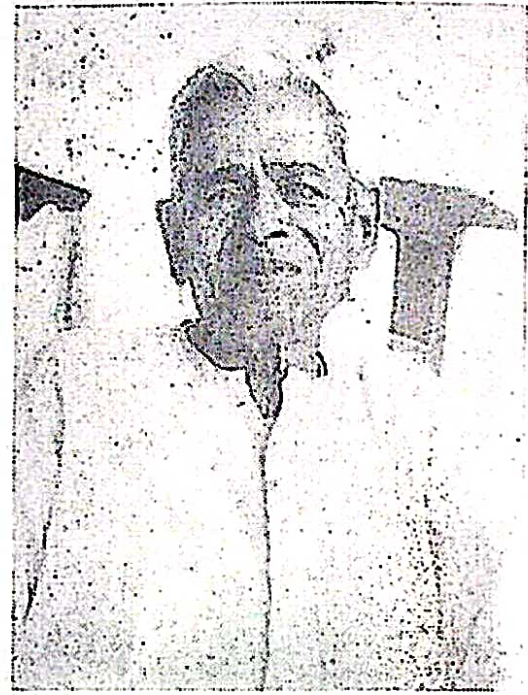
अब से लगभग ९० वर्ष पूर्व सन् १८९५ में हापुड़ (उत्तरप्रदेश) के एक प्रतिष्ठित पौराणिक परिवार में श्री बख्तावरलाल का जन्म हुआ था। सनातनी वातावरण में पालन-पोषण होते हुए भी वह महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों से प्रभावित हुए, और उनका सारा परिवार आर्यसमाजी बन गया। हापुड़ के प्रमुख आर्य परिवारों में उनके परिवार की गणना की जाती है। वह कई वर्षों तक हापुड़ आर्यसमाज के प्रधान रहे, और उसके कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। अनेक प्रमुख आर्य शिक्षण-संस्थाओं की उन्होंने स्थापना की, और तन-मन-धन से उनकी उन्नति के लिए प्रयत्न किया। धर्म, शिक्षा और समाज-सेवा के कार्यों में वह मुक्त हस्त से दान दिया करते थे। देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में भी उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया। सन् १९३० से १९४२ तक के काल में उन्होंने चार बार लम्बी-लम्बी अवधि के लिए जेल यात्रा की, और इस बात की जरा भी परवाह नहीं की कि इसके कारण उनके परिवार तथा व्यापार को कितनी क्षति उठानी पड़ रही है। उनकी धर्मपत्नी भी सच्चे अर्थों में उनकी सहधर्मिणी थीं। वह भी अनेक वर्षों तक हापुड़ की स्त्री-आर्यसमाज की प्रधान रही थीं। ४ फरवरी १९८३ को श्री बख्तावरलालजी दिवंगत हुए।
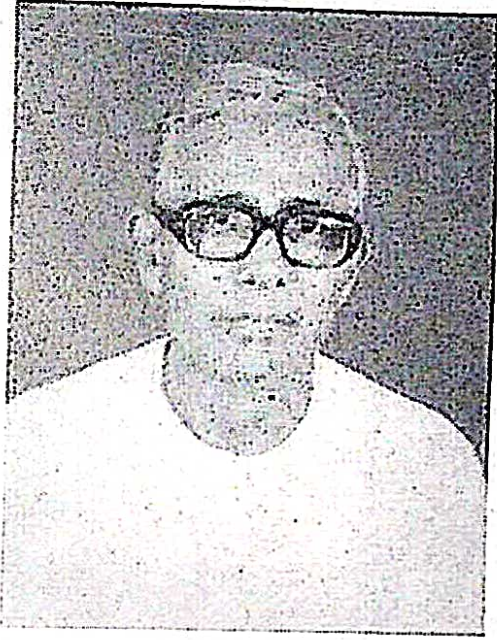
श्री रुलियारामजी गुप्त

श्री रुलियाराम गुप्त का जन्म सन् १९१५ में खरक कलाँ (हरयाणा) में श्री सांवलदासजी के घर हुआ था। वैश्य हाई-स्कूल रोहतक में शिक्षा प्राप्त कर वह कलकत्ता आ गये, और वहां कागज तथा मुद्रण के व्यवसाय में उन्होंने बहुत उन्नति की। वह कलकत्ता पेपर ट्रेडर्स एसोसिएशन और हरयाणा चैरीटेबल सोसायटी के सदस्य हैं, और मारवाड़ी रिलीफ सोसायटी के वित्त-मन्त्री रह चुके हैं। खरक कलाँ में अपने पिताजी की स्मृति में उन्होंने 'साँवलदास समाज कल्याण केन्द्र' की स्थापना की है। गत ५० वर्ष से वह कलकत्ता आर्यसमाज के सदस्य हैं, और अब उसके प्रधान हैं। वह अत्यन्त श्रद्धालु तथा धर्मपरायण सज्जन हैं। आर्यसमाज के लिए उनमें बहुत उत्साह है और पूर्ण आस्था से वह उसके कार्यकलाप में लगे रहते हैं।

श्री रामकुमारजी गुप्ता

श्री रामकुमार गुप्ता का जन्म श्रावण सुदी ४, विक्रमी संवत् १९८८ (सन् १९३१) को जिला भिवानी के मित्ताथल ग्राम में हुआ था। उनके पिता श्री नेकीराम अग्रवाल अपने क्षेत्र के एक प्रतिष्ठित व्यापारी थे। किशोरावस्था में ही व्यापार में संलग्न हो जाने के कारण उनकी शिक्षा सामान्य ही हो पायी। पर विद्यार्थी जीवन में ही वह वैदिक धर्म की शिक्षाओं के सम्पर्क में आये, और उनका रुझान आर्यसमाज की ओर हो गया। विवाह के पश्चात् सन् १९४८ में वह कलकत्ता आ गये, और वहाँ कागज का स्वतन्त्र व्यवसाय प्रारम्भ किया, जिसमें उन्हें बहुत सफलता प्राप्त हुई। कलकत्ता में उन्होंने स्वाध्याय पर बहुत ध्यान दिया, और आर्यसमाज बड़ा बाजार तथा आर्य वीर दल के सदस्य रूप में आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया। गुप्ताजी महर्षि दयानन्द सरस्वती के परम भक्त हैं। आर्यसमाज के मन्तव्यों पर उनकी अगाध आस्था है, और उनके अनुसार आचरण करने के लिए वह सदा प्रयत्नशील रहते हैं। उनका यह भी यत्न रहता है, कि महर्षि के मिशन को पूरा करने में दूसरों का सहयोग भी निरन्तर प्राप्त करते रहें।

श्री इन्द्रमोहनजी मेहता

श्री मेहता आगरा के प्रतिष्ठित उद्योगपति तथा कुशल इन्जीनियर हैं। वह अमेरिकन सोसायटी ऑफ् मैकेनिकल इन्जीनियर्स के सदस्य और अमेरिकन इन्स्टीट्यूट ऑफ् इलैक्ट्रिकल इन्जीनियर्स के एसोसियेट सदस्य रहे हैं। पिस्टन, रिम तथा डीजल इंजन पार्ट्स की इण्डस्ट्री का उन्होंने आगरा में सूत्रपात किया और भारत में इलैक्ट्रिक लैम्प इण्ड्रस्ट्री के विकास में उनका महत्वपूर्ण कर्तृत्व रहा। वैदिक धर्म के प्रति श्री मेहताजी की अगाध आस्था है, और आर्यसमाज व उसकी विविध संस्थाओं की व्यवस्था तथा संचालन में वह सदा तत्पर रहते है। आर्यसमाज नामनेर के प्रधान, आगरा जिला आर्यसमाज शताब्दी समारोह के स्वागताध्यक्ष और आर्यसमाज बाढ़पीड़ित सहायता समिति के अध्यक्ष के रूप में वैदिक धर्म के प्रचार तथा जनसेवा में उनका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वे अनेक आर्य महासम्मेलनों और मारीशस सार्वभौम आर्य महासम्मेलन में सम्मिलित हो चुके हैं। आगरा के प्रसिद्ध आर्य संगठन 'आर्य परिवार' के वह संस्थापक-अध्यक्ष हैं।
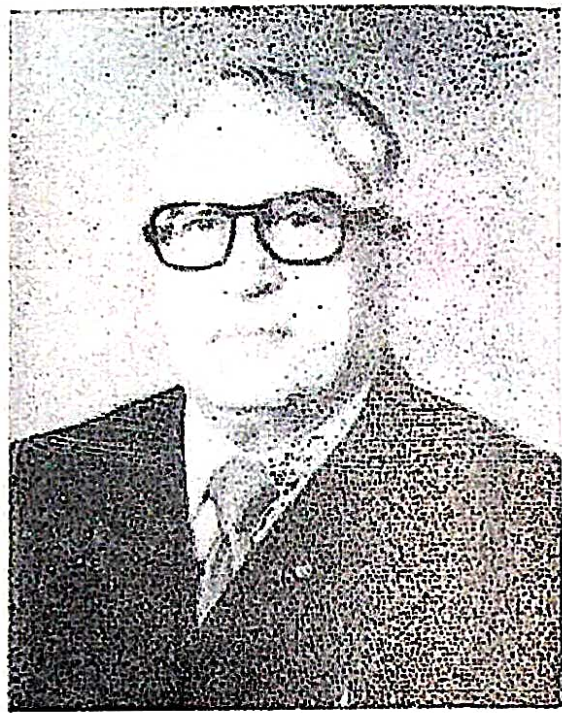
डाक्टर सत्यपालजी नागरथ

पश्चिमी पंजाब (अब पाकिस्तान में) के एक सुप्रतिष्ठित आर्य परिवार में १४ जून १९१५ को श्री नागरथ का जन्म हुआ था। लाहौर के फोरमन क्रिश्चियन कॉलिज और के० ई० मेडिकल कॉलिज में शिक्षा प्राप्त करने के बाद चिकित्सा की उच्चतम शिक्षा के लिए वह इंगलैण्ड और अमेरिका गये। १९४२-४६ ई० में सेना में सर्विस। भारत के विभाजन के पश्चात् उत्तरप्रदेश की सरकारी मेडिकल सर्विस स्वीकार कर ली, और आगरा के एस० एन० मेडिकल कॉलिज में प्रोफेसर हो गये। छाती के रोगों, विशेषतया राजयक्ष्मा की चिकित्सा के विख्यात विशेषज्ञ हैं। १९७४ में सरकारी सर्विस से अवकाश प्राप्त कर आगरा में ही चिकित्सा-कार्य में रत हैं। अमेरिकन कॉलिज आफ चेस्ट फिजीशियन्स, इण्टरनेशनल यूनियन अगेन्स्ट ट्यूबरक्लोसिस, और कैन्सर फाउण्डेशन, नयी दिल्ली आदि कितनी ही अन्तर्राष्ट्रीय व भारतीय मेडिकल सोसायटियों के वह सदस्य हैं। समाजसेवा में उनकी विशेष रुचि, और वैदिक धर्म के प्रति अगाध आस्था है। आर्यसमाज के कार्यों में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं।
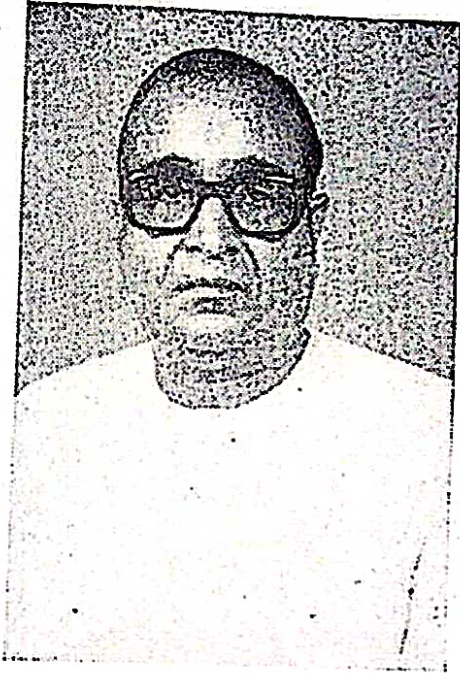
श्री बजरंगलालजी गोयल

श्रीमती सावित्रीदेवी गोयल

श्री बजरंगलाल गोयल का जन्म सन् १९१७ में हरयाणा के प्रसिद्ध नगर भिवानी के एक प्रतिष्ठित वैश्य परिवार में हुआ था। बचपन में ही माता-पिता का साया उन पर से उठ गया, और बड़े भाई तथा भाभी ने उनका पालन किया। उनके परिवार के लोग कट्टर सनातनी विचारों के थे, पर बजरंगलालजी शिक्षाकाल में आर्यसमाज के सम्पर्क में आए और महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में आस्था रखने लगे। पढ़ाई पूरी कर वह कलकत्ता चले गये, और वहां व्यापार में अच्छी सफलता प्राप्त की। कलकत्ता में रहते हुए उन्होंने आर्यसमाज बड़ा बाजार के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेना शुरू किया, और वर्षों तक समाज के मन्त्री रहे। सन् १९६१ में बम्बई जाकर अपना व्यवसाय शुरू किया, जिसमें उन्हें बहुत सफलता मिली। बम्बई फोर्ट आर्यसमाज की अन्तरंग सभा के सदस्य तथा कोषाध्यक्ष के पद पर रहकर उन्होंने चिरकाल तक समाज की सेवा की, और फिर उसके महामन्त्री के रूप में आर्यसमाज में कार्यरत रहे। महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी के लिए धन एकत्र करने के प्रयोजन से बम्बई प्रदेश में जो अर्थसमिति संगठित की गयी थी, उसके मन्त्री बजरंगलालजी ही थे।

श्रीमती सावित्री देवी जुई कलां, जिला भिवानी (हरयाणा) के निवासी श्री बनारसीदासजी अग्रवाल की ज्येष्ठ पुत्री हैं। यद्यपि उन्हें उच्च शिक्षा का अवसर प्राप्त नहीं हुआ, पर हिन्दी भाषा का उन्हें समुचित ज्ञान है, जिसके कारण वह धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन करती रहती हैं। धर्म में इन्हें बचपन से ही आस्था रही है। सन् १९४५ में श्री बजरंगलालजी गोयल के साथ उनका विवाह हुआ, और आर्यसमाज के मन्तव्यों से परिचय प्राप्त करने का उन्हें अवसर मिला। शीघ्र ही वह आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगीं, और सार्वजनिक जीवन में उन्होंने सम्मान का स्थान प्राप्त कर लिया। सावित्रीजी धार्मिक प्रवृत्ति की सुसंस्कृत महिला हैं, अतिथिसेवा में वह दक्ष हैं, और उनकी प्रकृति बहुत मिलनसार है। अपने सुयोग्य पति श्री बजरंगलाल गोयल के साथ वह प्रसन्नतापूर्वक सादा व सात्विक जीवन बिताती हैं।
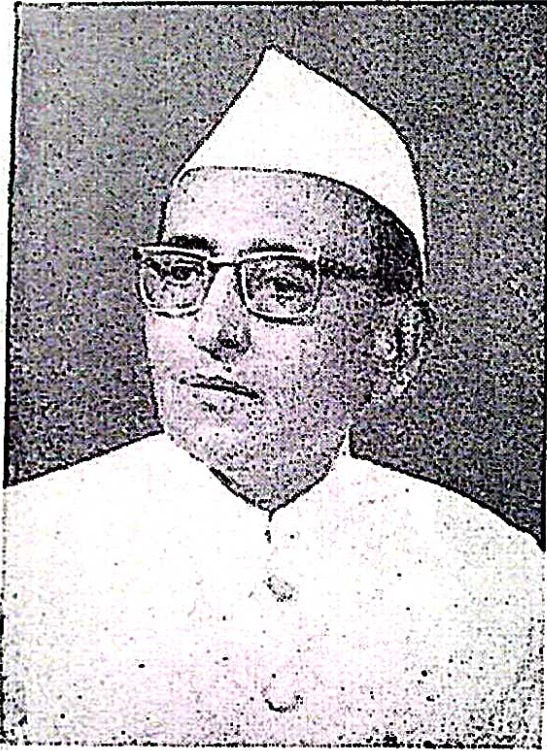
श्री जयन्तिलाल हरजीवनदास संघवी

श्री जयन्तिलाल हरजीवनदास संघवी का जन्म १६ अक्टूबर १६१५ को सौराष्ट्र के एक प्रतिष्ठित बनिया (वैश्य) परिवार में हुआ था। पिता और बड़े भाई की मृत्यु हो जाने के कारण वह मैट्रिकुलेशन से अधिक शिक्षा प्राप्त नहीं कर सके, और उन्हें व्यापार में लग जाना पड़ा। उन्हें देश और धर्म की सेवा में बचपन से ही रुचि थी। १५ वर्ष की आयु में उन्होंने सत्याग्रह संग्राम में भाग लिया, और २२ वर्ष की आयु में शिवाजी पार्क, बम्बई आर्यसमाज की स्थापना की। चिरकाल तक इस समाज के प्रधान के रूप में वह धर्म की सेवा में संलग्न रहे, और सम्प्रति भी इसके प्रधान हैं। संघवीजी कट्टर 'दयानन्दी व आर्यसमाजी' हैं। आर्यसमाज के विविध कार्यकलापों में उत्साह व लगन से सहयोग प्रदान करने में वह सदा उद्यत रहते हैं।

श्री स्वामी शक्तिवेशजी

श्री स्वामी शक्तिवेशजी का जन्म राजस्थान के एक पौराणिक परिवार में हुआ था। महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं से प्रभावित होकर वह आर्यसमाज में प्रविष्ट हुए और शीघ्र ही उन्होंने आर्य जगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया। राजस्थान आर्य प्रतिनिधि सभा के मन्त्री तथा प्रधान रहकर उन्होंने उत्साहपूर्वक आर्यसमाज की सेवा की, और सम्प्रति स्वामी श्रद्धानन्दजी द्वारा स्थापित गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ का सफलतापूर्वक संचालन कर रहे हैं। शक्तिवेशजी में अदम्य उत्साह व शक्ति है, और उसका उपयोग वह पूर्णतया आर्यसमाज की सेवा में कर रहे हैं।

संघवीजी का सार्वजनिक सेवा का कार्यक्षेत्र बहुत विस्तृत है। सन् १६४१-४२ के घोर दुर्भिक्ष के समय उन्होंने सौराष्ट्र में 'मानव राहत समाज' स्थापित कर दुर्भिक्ष-पीड़ितों की सेवा की थी। युवकों को व्यायाम की शिक्षा देने के लिए उन्होंने मातुंगा रोड, बम्बई में 'प्रताप व्यायाम मन्दिर' की स्थापना की है। शिक्षा के क्षेत्र में भी उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया है। लायन्स क्लब हायर सेकेण्डरी स्कूल, मातुंगा के वह संस्थापक-प्रधान हैं। संघवी जगमोहनदास भगवानदास हाई स्कूल तथा श्रीमती हरिबाई भगवानदास स्कूल की स्थापना व संचालन में भी उनका प्रमुख कर्तृत्व है। जनता की सेवा के लिए उन्होंने आर्यसमाज, शिवाजी पार्क (बम्बई), मातुंगा रोड (बम्बई) तथा महुवा (सौराष्ट्र) में धर्मार्थ औषधालय भी स्थापित किये हैं।
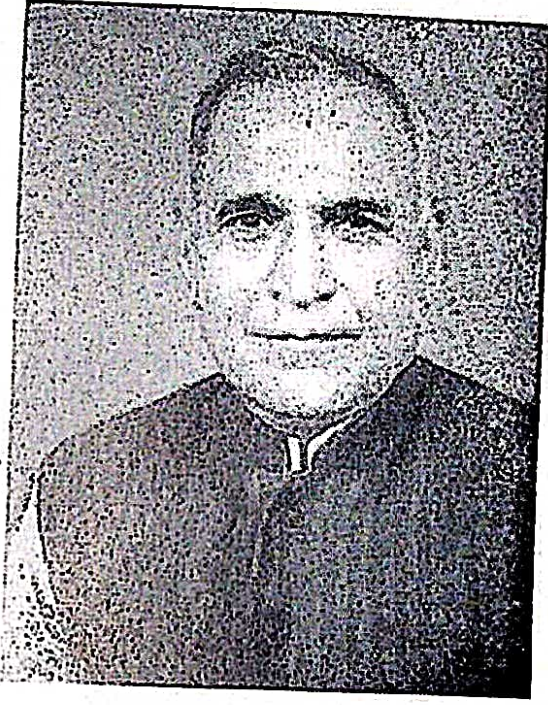
श्री वजीरचन्दजी

श्री वजीरचन्दजी का जन्म ग्राम वल्लुआणा (जिला भटिण्डा, पंजाब) में श्री नत्थूमलजी के घर हुआ था। उनका परिवार पौराणिक विचारों का था। पर जब वजीरचन्दजी भटिण्डा में निवास करने लगे, तो उनका सम्पर्क आर्यसमाज के साथ हुआ, और पूर्वजन्म के सुकृतों के फलस्वरूप वह वैदिक धर्म के अनुयायी हो गये और महर्षि दयानन्द की शिक्षाओं से प्रेरणा प्राप्त कर उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन धर्म और देश की सेवा में अर्पित कर दिया। राजनैतिक गतिविधियों में भी उनकी रुचि है और वह दो बार जेलयात्रा भी कर चुके हैं। सम्प्रति वह अनेक सार्वजनिक संस्थाओं से सम्बद्ध हैं, जिनमें मुख्य निम्नलिखित हैं—(१) प्रधान, आर्यसमाज भटिण्डा। (२) प्रधान, आर्य जिला सभा, भटिण्डा। (३) उपप्रधान, आर्य गर्ल्स हाई स्कूल, भटिण्डा। (४) सदस्य, डी० ए० वी० कालिज, भटिण्डा। (५) सदस्य, गुरुकुल शिल्प विद्यालय। (६) सदस्य, अन्तरंग सभा, आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब। (७) आजीवन सदस्य, अखिल भारतीय नशाबन्दी कमेटी।
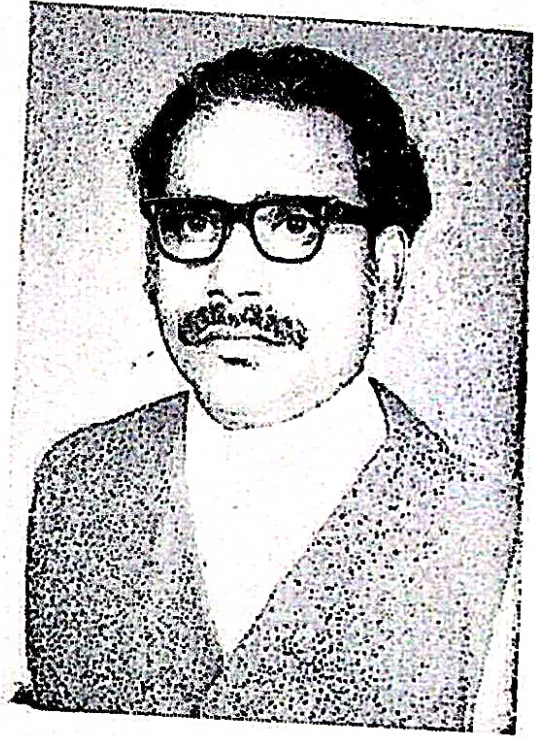
डा० बालकृष्णजी आर्य 'विकल'

डा० बालकृष्णजी आर्य 'विकल' का जन्म १६४२ ई० को बिन्दकी, फतेहपुर (उ० प्र०) में एक सम्भ्रान्त वैश्य परिवार में हुआ। १३ वर्ष की आयु में उन्होंने अपना सारा जीवन आर्य वीर दल व आर्यसमाज की सेवा में अर्पण कर दिया। वह एक अच्छे कवि और निर्भीक वक्ता भी हैं। नगर की आर्यसमाज के वह मन्त्री हैं। हिन्दी रक्षा आन्दोलन में भी उन्होंने भाग लिया था; तब आपकी उम्र १४ वर्ष की थी। उनकी कविताएँ सार्वदेशिक पत्र, आर्य जगत्, आर्य सन्देश आदि में छपा करती हैं। सार्वदेशिक आर्य वीर दल, दिल्ली के आदेशानुसार वह सभी बड़े कायक्रमों में व्यवस्था हेतु अपनी आर्य वीर सेना के साथ पहुँचते हैं, यथा आर्यसमाज स्थापना शताब्दी दिल्ली, सत्यार्थ-प्रकाश शताब्दी उदयपुर, आर्य महासम्मेलन अलवर में। अभी हाल में महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी अजमेर भी पहुँचे थे, जहां उनका सेवा कार्य सराहनीय रहा। वह पश्चिमी उत्तर प्रदेश के आर्य वीर दल के प्रान्तीय संचालक के रूप में बहुत महत्त्वपूर्ण कार्य कर रहे हैं।

प्रतिष्ठित सदस्य
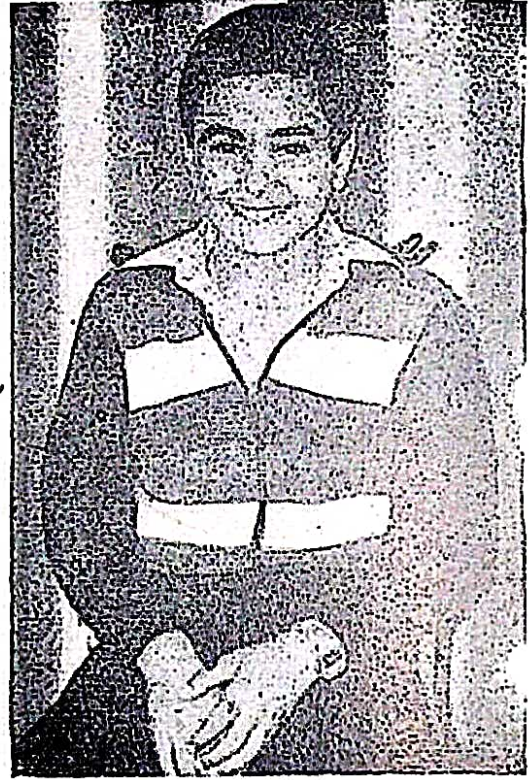
कुमारी एन्जेला कोछड़

श्री अरुण कोछड़

कुमारी एन्जेला कोछड़ की आयु केवल सत्तरह वर्ष की है, और उनके भाई अरुण कोछड़ की आयु उनसे एक वर्ष के लगभग कम है। पर ये दोनों बहन-भाई वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यों में अभी से अनुपम उत्साह प्रदर्शित कर रहे हैं। लण्डन में आर्यसमाज का कोई भी अधिवेशन हो, छोटा या बड़ा कोई भी सम्मेलन या समारोह हो, एन्जेला और अरुण का उसमें सक्रिय रूप से योगदान रहता है। उनके मधुर संगीत तथा गीतों को सुनकर श्रोता भक्तिरस में मग्न हो जाते हैं। अभिनय और नाटक के माध्यम से भी वे महर्षि दयानन्द सरस्वती के संदेश को जनता तक पहुंचाते हैं, और वैदिक धर्म पर व्याख्यान भी देते हैं। सार्वभौम आर्य महासम्मेलन, लण्डन में देश-देशान्तर से आये हुए आर्य नर-नारी आर्यसमाज के प्रति उनकी लगन और प्रतिभा को देखकर चमत्कृत रह गये थे। २४ नवम्बर १९८० को लण्डन के हाउस ऑफ कामन्स में ११ से १४ वर्ष तक की आयु के बच्चों की जो भाषण प्रतियोगिता हुई थी, उसमें अरुण ने प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया था और एन्जेला ने तृतीय। इन भाई-बहन में भारतीय और पाश्चात्य संस्कृतियों का अपूर्व मिश्रण है, और दोनों की अच्छाइयों को उन्होंने ग्रहण किया हुआ है। उनका जन्म एक दृढ़ आर्यसमाजी परिवार में हुआ है। उनके पिता श्री एम० एल० कोछड़ तथा माता श्रीमती शकुन्त कोछड़ की यही अकांक्षा है कि उनकी पुत्री और पुत्र वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्य-समाज की सेवा में अपना जीवन लगा दें। हमें विश्वास है, कि एन्जेला और अरुण उनकी इस इच्छा को पूर्ण कर अपना तथा अपने माता-पिता का नाम उज्ज्वल करेंगे। भगवान् से प्रार्थना है कि ये भाई-बहन चिरायु हों, इनकी प्रतिभा का निरन्तर विकास होता रहे, ये सच्चे अर्थों में आर्य बनें और इन द्वारा मनुष्यमात्र का हित-कल्याण सम्पादित हो।
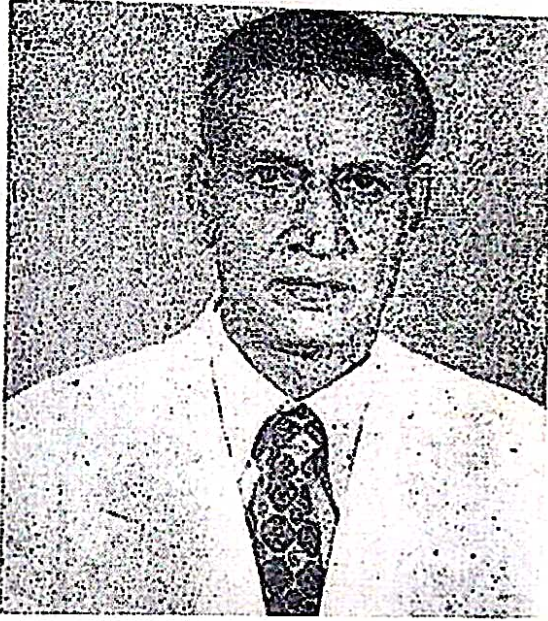
श्री पण्डित सुखदेवजी शर्मा

२५ जनवरी १९२१ को अमृतसर के सम्भ्रान्त आर्य व्यवसायी श्री शंकरदासजी शर्मा के घर सुखदेवजी का जन्म हुआ था। उनके बड़े भाई पण्डित सत्यदेव विद्यालंकार गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक और बड़ी बहिन श्रीमती सत्यवती शर्मा कन्या गुरुकुल देहरादून की स्नातिका हैं। सुखदेवजी की शिक्षा डी० ए० वी० कॉलिज लाहौर में हुई थी। भारत के विभाजन के पश्चात् वह कलकत्ता में बस गये। वह एक सफल उद्योगपति हैं, और एक व्यावसायिक संस्थान के प्रधान हैं। गत ३२ वर्षों से वह कलकत्ता आर्यसमाज के कार्यों में सच्ची लगन तथा उत्साह के साथ सेवा में तत्पर हैं। वह उसके अन्तरंग सदस्य, उपमन्त्री, उपप्रधान, मन्त्री और प्रधान भी रह चुके हैं। राउरकेला (उड़ीसा) के गुरुकुल वेदव्यास की प्रबन्ध समिति के वह सदस्य हैं, और अनेक आर्य शिक्षण-संस्थाओं के मन्त्री तथा सदस्य हैं। सन् १९६६ में वह सपत्नीक फ्रांस, इंग्लैण्ड, कनाडा, अमेरिका आदि विदेशों की यात्रा कर चुके हैं। आर्यसमाज के वह सच्चे सेवक हैं, और उनका स्वभाव अत्यन्त मृदु है।

श्रीमती सुनीतिदेवीजी शर्मा

श्रीमती सुनीतिदेवीजी का जन्म २८ जून १९३१ को नयी दिल्ली में हुआ था। उनके पिता पण्डित शालिग्रामजी शर्मा हनुमान रोड (नयी दिल्ली) आर्यसमाज के मन्त्री, पहाड़गंज और जवाहरनगर की आर्यसमाजों के संस्थापक एवं सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा के आजीवन सदस्य थे। सुनीतिजी की शिक्षा इन्द्रप्रस्थ कॉलिज, दिल्ली में हुई, जहाँ उन्होंने संस्कृत तथा हिन्दी में विशेष योग्यता प्राप्त की। संगीत के प्रति उनकी बचपन से ही रुचि थी, और वह आर्यसमाज के उत्सवों में भजनगायन भी किया करती थीं। सुनीतिजी उत्कृष्ट कोटि की कवयित्री तथा सुलेखिका भी हैं। वह यूरोप तथा अमेरिका का भ्रमण कर चुकी हैं, और सार्वभौम आर्य महासम्मेलन, नैरोबी में उन्हें संगीत सम्मेलन के लिए विशेष रूप से निमन्त्रित किया गया था। संगीत, कविता तथा साहित्य के लिए वह अनेक पुरस्कारों द्वारा सम्मानित की जा चुकी हैं। उनके गीतों के अनेक कैसेट बने हुए हैं। कलकत्ता के आर्य जगत् में उनका स्थान अत्यन्त प्रतिष्ठित है। वह आर्य स्त्री-समाज, मल्लिक बाजार, कलकत्ता की संस्थापिका हैं।
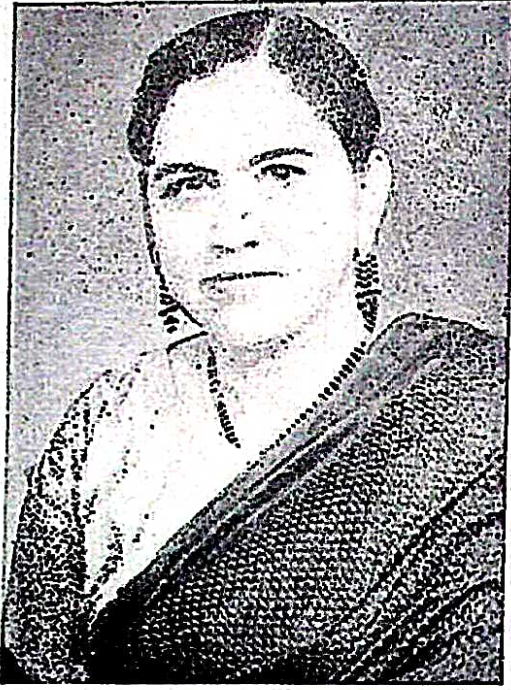
श्रीमती सुदर्शनाजी कौशल

२२ जनवरी सन् १९२९ के दिन नैरोबी (केनिया, ईस्ट अफ्रीका) के एक सम्भ्रान्त आर्य परिवार में सुदर्शनाजी का जन्म हुआ था। उनके पिता श्री बंसीलालजी सोफत और माता श्रीमती वेदवतीजी सोफत—दोनों की वैदिक धर्म में सुदृढ़ आस्था और आर्यसमाज के प्रति सच्चा प्रेम था। नैरोबी के आर्य स्कूल में सुदर्शनाजी की शिक्षा हुई, और दिसम्बर १९४५ में डाक्टर वेदप्रकाशजी कौशल से भारत में उनका विवाह हुआ। डाक्टर कौशल का सम्बन्ध लुधियाना के एक प्रसिद्ध आर्य परिवार से है, जिसके अन्यतम सदस्य डाक्टर बख्तावरसिंह कौशल ने अपना सम्पूर्ण जीवन वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज की सेवा में व्यतीत किया था।

श्रीमती सुदर्शना कौशल और उनके पति अब दस साल से लण्डन में हैं। वहाँ वे दोनों आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं, और उनके सारे परिवार की यही आकांक्षा है कि महर्षि के मिशन को पूरा करने में सहायक हो सकें। उनका जीवन सरल, सात्विक और धार्मिक है।

डाक्टर (श्रीमती) शान्ताजी मल्होत्रा

सन् १९३९ में लाहौर में शान्ताजी का जन्म हुआ था। उनके पिता पण्डित भीमसेन विद्यालंकार अविभाजित पंजाब के प्रतिष्ठित आर्य नेता थे, जो वर्षों तक आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के महामन्त्री रहे थे। सन् १९५९ में पंजाब यूनिवर्सिटी से राजनीतिशास्त्र में एम० ए० परीक्षा उत्तीर्ण कर शान्ताजी उसी वर्ष आर्य गर्ल्स कॉलिज, अम्बाला छावनी में प्राध्यापिका नियुक्त हुईं, और सन् १९६१ में इसी कॉलिज की आचार्या हो गयीं। गत तेईस वर्ष से उच्च शिक्षा की इस आर्य संस्था का यह सफलतापूर्वक संचालन कर रही हैं। १९६५ में श्री राजकुमार मल्होत्रा (हरयाणा में एग्जीक्यूटिव इंजीनियर) से उनका विवाह हुआ। श्री मल्होत्रा धार्मिक प्रकृति और आर्य विचारों के सज्जन हैं। माता-पिता के धार्मिक संस्कार उनके पुत्र राजीव पर भी पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। सन् १९७८ में 'पोलिटिकल थॉट ऑफ स्वामी दयानन्द' विषय पर डॉ० सत्यकेतु विद्यालंकार के निदेशन में शोधकार्य किया, और गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० की डिग्री प्राप्त की।
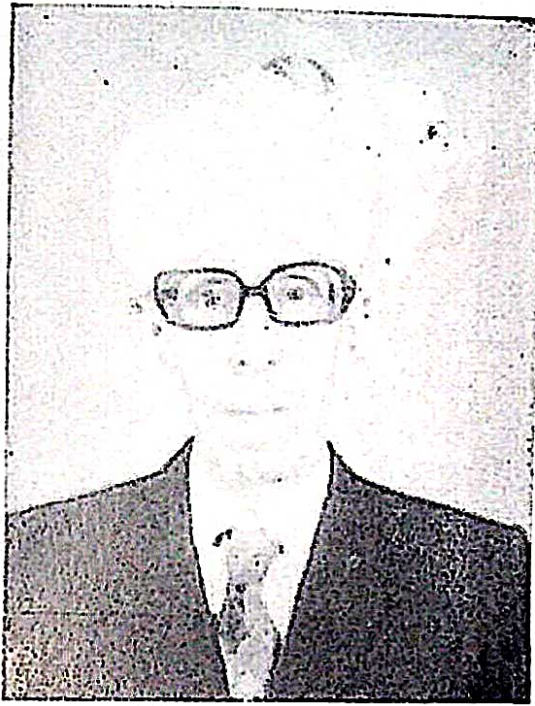
राय साहिब चौधरी प्रतापसिंहजी

६ जनवरी १९०४ को शुजाबाद (जिला मुलतान) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में जन्म। शुरू से ही सार्वजनिक जीवन तथा आर्य समाज के कार्यों में रुचि। दस साल के लगभग शुजाबाद की नगरपालिका के सदस्य रहे और छह साल प्रधान। १९२७ से १९४७ तक मुलतान डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्य। भारत के विभाजन के पश्चात् करनाल (हरयाणा) में आ गये, और वहां रहकर वैदिक धर्म तथा आर्यसमाज की सेवा में तत्पर हो गये। धन द्वारा भी वह देश तथा धर्म की सेवा के लिए सदा तत्पर रहते हैं। इसी प्रयोजन से करनाल में रा० सा० चौधरी प्रतापसिंह धर्मार्थ न्यास तथा रा० ब० चौधरी नारायणसिंह न्यास की स्थापना। करनाल में प्रताप पब्लिक लायब्रेरी तथा प्रताप पब्लिक स्कूल की स्थापना। आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा, हरयाणा के प्रधान; परोपकारिणी सभा अजमेर के ट्रस्टी तथा अनेक सार्वजनिक आर्य संस्थाओं के पदाधिकारी। विद्वानों के सम्मान और वेद-संबंधी पुस्तकों के प्रकाशन के लिए आर्थिक सहायता प्रदान करने में सदा तत्पर।
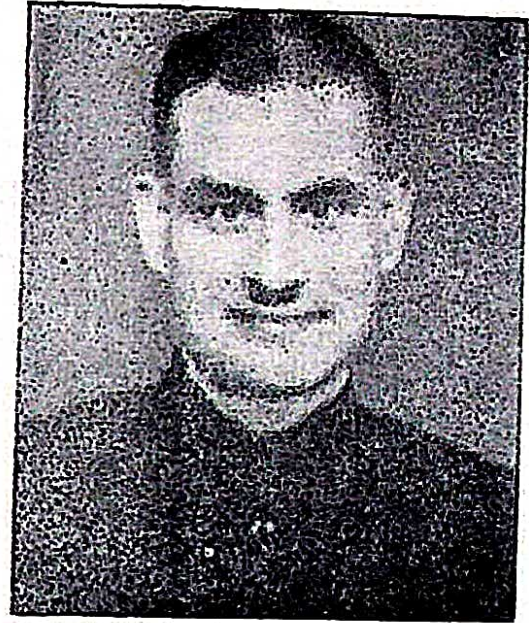
श्री कृष्णलालजी आर्य

एबटाबाद (पाकिस्तान) में सन् १९१८ में जन्म। शिक्षा एम० ए०, बी० कॉम०, कॉस्ट एकाउण्टेण्ट। प्रारम्भ से ही आर्यसमाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। भारत के विभाजन के बाद आर्यसमाज, लोदी रोड, नयी दिल्ली में महत्त्वपूर्ण कार्य। १९५६-६० में नया नांगल (पंजाब) में रहे और वहाँ के भव्य आर्यसमाज मन्दिर के निर्माण में विशेष भूमिका अदा की। सन् १९६२-६६ ई० में विशाखापटनम् (आन्ध्र) में हिन्दुस्तान शिपयार्ड के वित्तीय सलाहकार रहे, और वहाँ एक विशाल आर्यसमाज मन्दिर का निर्माण कराया। १९६६-६९ में कामरूप (असम) रहे, और वहां भी समाज-मन्दिर का निर्माण कराया। १९७६-७७ में ट्रिपोली (लिबिया-अफ्रीका) रहे, और वहां भारतीयों में आर्यसमाज के सत्संगों का प्रारम्भ किया। १९७८-८१ में निजामुद्दीन (नयी दिल्ली) आर्यसमाज के मन्त्री, और सम्प्रति आर्य प्रतिनिधि सभा, हिमाचल प्रदेश के महामन्त्री। श्री आर्यजी का संकल्प है, कि शेष सारा जीवन हिमाचल प्रदेश में आर्यसमाज के विस्तार के लिए समर्पित कर दिया जाये।

श्री अलगूरामजी वर्मा

सुलतानपुर (उत्तर प्रदेश) जिले के कैथी जलालपुर गांव में २६ सितम्बर १६२५ ई० को श्री अलगूराम वर्मा का जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम श्री भगवतीदीन वर्मा और माता का नाम श्रीमती रुक्मणी देवी था। इण्टरमीडियेट तक की शिक्षा प्राप्त कर वह कलकत्ता चले गये, और अपने चचेरे भाई श्री हलकम्पीराम वर्मा की सहायता से उन्होंने वहां लोहे का व्यवसाय प्रारम्भ कर दिया। इसमें उन्होंने बहुत उन्नति की, और शीघ्र ही उनकी गिनती कलकत्ता के लोहे के प्रतिष्ठित व्यापारियों में की जाने लगी। कलकत्ता रहते हुए श्री अलगूराम श्री सीताराम आर्य के सम्पर्क में आये, और आर्यसमाज के सत्संगों में सम्मिलित होने लगे। वहां पण्डित रमाकान्त शास्त्री के उपदेशों से प्रभावित होकर वह आर्यसमाज के सक्रिय सदस्य बन गये, और उसके कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। सन् १६७६ में उन्होंने यूरोप तथा अमेरिका की यात्रा की, और १६७८ में वह नैरोबी के तथा सन् १६८० में लण्डन के सार्वभौम आर्य महासम्मेलनों में सम्मिलित हुए। इन अवसरों पर यूरोप और अफ्रीका आदि के विविध देशों का परिभ्रमण करते हुए उन्होंने उनमें वैदिक धर्म का प्रचार भी किया।
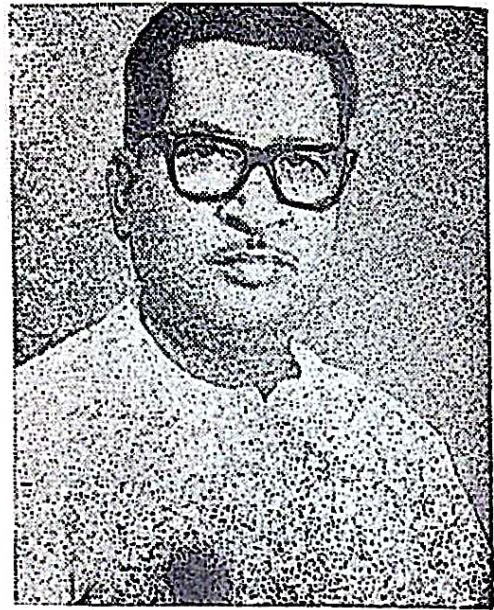
श्री सीतारामजी आर्य

श्री सीताराम का जन्म फैजाबाद जिले के फूलपुर ग्राम (टाण्डा) में सन् १६२२ में हुआ था। उनका परिवार कट्टर पौराणिक था, और ग्राम का वातावरण अत्यन्त दूषित था। पर वहां रहते हुए सीतारामजी टाण्डा आर्यसमाज के सम्पर्क में आते रहते थे, और वहाँ के पवित्र विचारों का उन पर बहुत प्रभाव पड़ता था। पन्द्रह वर्ष की आयु में वह कलकत्ता गये, और वहां आर्थिक संघर्ष में लग गये। इसमें उन्हें समुचित सफलता प्राप्त हुई, और व्यापार-व्यवसाय में उन्होंने अत्यन्त सम्मानास्पद स्थान प्राप्त कर लिया। कलकत्ता में रहते हुए वह आर्यसमाज के निकट सम्पर्क में आये, जिसके कारण उनके जीवन में महान् परिवर्तन हुआ। व्यापार के साथ-साथ समाज तथा देश की उन्नति के लिए वह उत्साहपूर्वक प्रयत्न में तत्पर हो गये, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में निष्ठा के साथ भाग लेने लगे। उनका पूरा परिवार वैदिक विचारधारा से ओत-प्रोत है, और सीतारामजी ने अपना सर्वस्व आर्यसमाज के लिए समर्पित किया हुआ है। सन् १६६१ में उन्होंने अपने ग्राम में रामनारायण हाई-स्कूल की स्थापना की थी, और अनेक शिक्षण-संस्थाओं का वह संचालन कर रहे हैं। चिरकाल तक वह कलकत्ता आर्यसमाज के प्रधान रहे हैं।
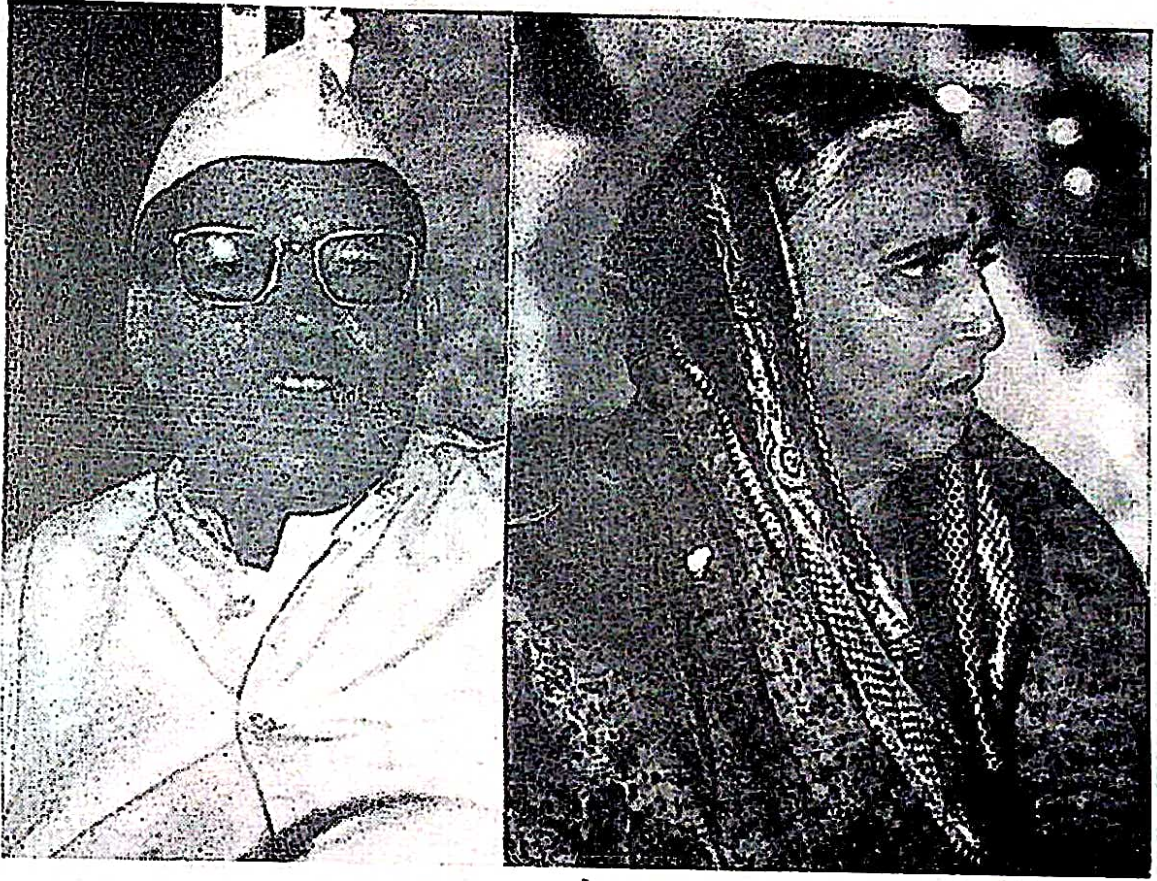
श्री राधेलालजी अग्रवाल　　　　श्रीमती प्रेमवतीजी अग्रवाल

श्री राधेलालजी अग्रवाल की गिनती ऐसे इने-गिने व्यक्तियों में है, जो बम्बई जैसी महानगरी के एक अत्यन्त सफल व सम्पन्न व्यवसायी होते हुए भी ग्रामीण क्षेत्र के जन साधारण के लिए अपनी सेवाएँ देने को सदा उद्यत रहते हैं। मूलतः वह मण्डी धनौरा (जिला मुरादाबाद, उत्तरप्रदेश) के निवासी हैं और वहां की स्थानीय स्वशासन-संस्था के १८ वर्ष तक चेयरमैन रहे हैं। मण्डी धनौरा के राष्ट्रीय इन्टर कॉलिज की स्थापना श्री राधेलालजी द्वारा ही की गई थी। सन् १९३५ में वह बम्बई चले गये और वहां अपने चाचा श्री पूरनमलजी के व्यवसाय में सहयोग देने लगे। श्री पूरनमलजी ने सन् १९२० में 'पूरनमल दिल्लीवाला' के नाम से मिष्ठान्न की दुकान प्रारम्भ की थी, जो इस समय शुद्धता तथा विश्वसनीयता के लिए बम्बई में सर्वत्र प्रसिद्ध है। श्री राधेलालजी के प्रयत्न से इस व्यवसाय ने बहुत उन्नति की। महाराष्ट्र के राज्यपाल महोदय ने इस प्रतिष्ठान को राजभवन में मिष्ठान्न-पूर्ति के लिए 'अपाइन्टमेण्ट' देकर सम्मानित किया और इसके उत्पादन सिंगापुर, मस्कत, दुबई और विदेशों में भी निर्यात किये जाने लगे।

श्री राधेलालजी बम्बई की सामाजिक व धार्मिक गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे हैं। पिछले १६ वर्षों मे जे० पी० और अब एस० ई० एम० की उपाधि उन्हें महाराष्ट्र सरकार द्वारा प्रदान की गई है। आर्यसमाज के साथ श्री राधेलालजी तथा उनके परिवार का घनिष्ठ सम्बन्ध है। आर्यसमाज की सब गतिविधियों तथा कार्यकलाप में श्री राधेलालजी उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं तथा तन, मन, धन द्वारा उसकी सहायता के लिए उद्यत रहते हैं। श्रीमती प्रेमवतीजी आदर्श आर्य महिला हैं, जो सच्चे अर्थों में अपने पति की सहधर्मिणी हैं। उनके सुयोग्य पुत्र श्री विजयकुमार, श्री अजयकुमार एवं श्री संजयकुमार जहां अपने व्यवसाय में निष्ठापूर्वक संलग्न हैं, वहां साथ ही अपने परिवार की परम्परा के अनुरूप धर्म, समाज तथा देश-सेवा के कार्यों में भी उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं।

श्रीमती यमुनादेवीजी

सन् १८९२ की शिवरात्रि के पुण्य पर्व के दिन केलकीकलां गाँव (जिला सहारनपुर) में श्री शिवसिंह के घर यमुनादेवीजी का जन्म हुआ था। उनके पिता परम धार्मिक एवं श्रद्धालु थे। सन् १९०८ में यमुनादेवीजी का विवाह बाबू रामसिंहजी के साथ हुआ, जिनके पिता श्री दिलीपसिंहजी ने महर्षि दयानन्द सरस्वती के दर्शन किये थे, जिससे वैदिक धर्म और आर्यसमाज के प्रति उनमें अगाध आस्था हो गयी थी, और उन्होंने अपने सुपुत्र को डी० ए० वी० स्कूल अजमेर में पढ़ाया था। यमुनादेवीजी के पिता, श्वसुर, पति एवं अन्य कुटुम्बीजन सभी धार्मिक प्रवृत्ति के थे, जिनका प्रभाव उन पर भी पड़ा था। उनका स्वभाव अत्यन्त मृदु और दयालु था। अतिथियों की सेवा में वह सदा तत्पर रहती थीं। उनका जीवन सादा तथा तपोमय था। कम आमदनी में भी वह इतनी मितव्ययिता से घर का सब खर्च चलाती थीं, कि बच्चों की शिक्षा तथा विवाह आदि के लिए धन की कमी नहीं पड़ती थी। परिवार के सब सदस्यों के प्रति अपने कर्तव्य के पालन का उन्हें सदा ध्यान रहता था, और सास तथा श्वसुर की सेवा करना वह अपना धर्म मानती थीं।

श्री सूरजकुमारजी

मुजफ्फरपुर (बिहार) की प्रसिद्ध प्रभात जर्दा फैक्टरी के श्री सूरजकुमार भी अन्यतम हिस्सेदार हैं, और उस व्यापारिक संस्थान की उन्नति तथा समृद्धि में उनका योगदान अत्यन्त महत्व का है। पर श्री सूरजकुमार केवल व्यापारी ही नहीं हैं, वह उच्च कोटि के साहित्यक भी हैं। वह एक सुकवि तथा सफल साहित्यकार हैं। उनकी रचनाएँ 'सूरज मुजफ्फरपुरी' के नाम से पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होती रहती हैं। उनकी अनेक पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं, जिनमें 'कहानी के करीब', 'कविताञ्जलि' और 'ग्यारह देशों की छब्बीस दिवसीय यात्रा' उल्लेखनीय हैं। भारतीय लोककल्याण केन्द्र, मुजफ्फरपुर द्वारा श्री सूरजकुमार को उनकी पुस्तकों पर दो बार पुरस्कार देकर सम्मानित किया जा चुका है। श्री सूरजकुमार का सिद्धान्त है—"मनुष्य आजीवन विद्यार्थी है।" इसीलिए सम्पन्न व्यापारी होते हुए भी वह विद्या के उपार्जन में निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं, और यूनिवर्सिटी की अनेक उच्च डिग्रियाँ प्राप्त कर चुके हैं।

पता—सूरजनगर, रमना, मुजफ्फरपुर (बिहार)।

श्री पण्डित शशिभूषणजी विद्यालंकार

गुरुकुल कांगड़ी तथा कुरुक्षेत्र की स्थापना में स्वामी श्रद्धानन्दजी के निकट सहयोगी श्री गोपीनाथजी गुप्त, सिविल इन्जीनियर के सुपुत्र। जन्म १० मार्च १८९४; स्थान कौल (कुरुक्षेत्र)। सन् १९१७ में गुरुकुल कांगड़ी की स्नातक परीक्षा तथा पंजाब विश्वविद्यालय लाहौर की शास्त्री परीक्षा में सर्वप्रथम, वैदिक और जैन साहित्य के प्रखर तलस्पर्शी पण्डित। गुरुकुल कांगड़ी तथा कुरुक्षेत्र में अल्पकालिक मुख्याधिष्ठाता सेवा कार्य, अम्बाला जैन कालेज में संस्कृत के अध्यापक, आर्यसमाज के मन्त्री एवं पुरोहित के रूप में दीर्घकालिक सेवा। पत्नी—श्रीमती पार्वती देवी स्नातिका, कन्या महाविद्यालय जालन्धर (बहिन प्रो० रामसिंहजी एवं पं० हरिश्चन्द्रजी विद्यालंकार)। दामाद—पं० धर्मराज वेदालंकार, गुरुकुल कांगड़ी में संस्कृत व्याकरण के उपाध्याय। पुत्र—१. श्री पुरुषोत्तम आर्य, २. श्री ज्ञानचन्द्र आर्य, चीफ इंजीनियर म० प्र० विद्युत् परिमण्डल जबलपुर, ३. डॉ० ओम्प्रकाश वेदालंकार, अध्यक्ष, स्नातकोत्तर हिन्दी संस्कृत विभाग, राजकीय कालेज भरतपुर (राज०)। पुत्री—श्रीमती चन्द्रकला।

निधन—२ अक्टूबर, १९६६।
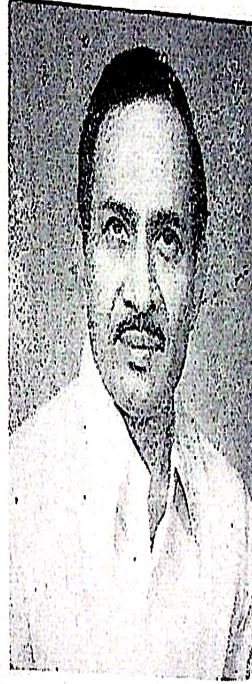
श्री रामसरन राधावल्लभजी अग्रवाल

श्री रामसरन राधावल्लभ अग्रवाल का जन्म सन् १९२१ में गोवर्धन (जिला मथुरा) में हुआ था। उन्होंने मैट्रिक तक शिक्षा प्राप्त कर बम्बई में व्यापार प्रारम्भ किया, और शीघ्र ही वहां के प्रतिष्ठित व्यापारियों व धनपतियों में उन्होंने स्थान प्राप्त कर लिया। उनका अलौह धातुओं (नान-फैरस मैटल्स) का कारोबार है, और वह बोम्बे नान-फैरस मैटल्स एण्ड स्क्रैप मर्चेन्ट्स एसोसियेशन के वाइस-प्रेजिडेण्ट हैं। बोम्बे मैटल एक्सचेन्ज लिमिटेड के वह निदेशक (डाइरैक्टर) भी रह चुके हैं। बम्बई के सार्वजनिक जीवन में उन्हें इतना सम्मानास्पद स्थान प्राप्त है कि सन् १९८०-८२ में वह उस महानगरी के विशेष कार्यकारी दण्डाधिकारी रहे। सार्वजनिक जीवन के सभी क्षेत्रों (सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक) में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। बम्बई हिन्दी विद्यापीठ और अग्रसेन शिक्षा एवं सहायता ट्रस्ट सदृश महत्त्वपूर्ण संस्थाओं के वह ट्रस्टी हैं, और अग्रवाल सेवा समाज, बम्बई के मन्त्री हैं। वैदिक धर्म की उदात्त शिक्षाओं के प्रति उनकी आस्था है, और उनका जीवन धार्मिक तथा सदाचारमय है।
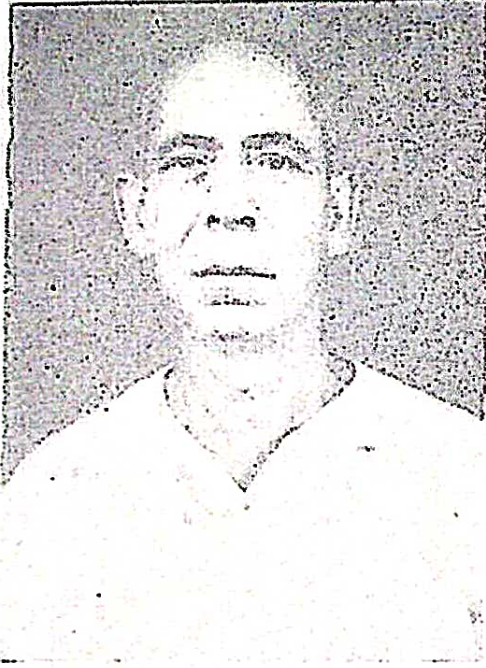
श्री जमनाप्रसादजी

श्री वेदप्रकाशजी

श्री जमनाप्रसाद का जन्म १४ फरवरी सन् १९१५ को हाजीपुर, जिला वैशाली (बिहार) के एक प्रतिष्ठित परिवार में हुआ था। उनके पिता श्री नन्दनप्रसाद धार्मिक प्रकृति के सज्जन थे, और समाजसेवा के कार्यों में रुचि रखते थे। श्री जमनाप्रसाद किशोर आयु से ही आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता हैं, और उसके कार्यकलाप में उत्साह व लगन के साथ भाग लेते हैं। श्री वेदप्रकाश उनके सुपुत्र हैं, और अपने पिता के समान ही उनकी वैदिक धर्म में पूर्ण आस्था है। आर्यसमाज के लिए इन दोनों पिता-पुत्र में अनुपम उत्साह है। इसलिए वे सार्वभौम आर्य महासम्मेलन, लण्डन (१९८०) में बिहार आर्यसमाज के प्रतिनिधि के रूप में सम्मिलित हुए थे, और अन्यत्र भी आर्यसमाज के विशाल समारोहों में भाग लेते रहते हैं। मुजफ्फरपुर (बिहार) में जमुनाप्रसाद एण्ड सन्स तथा वेद एण्ड कम्पनी नाम से दो व्यापारिक प्रतिष्ठान हैं, जिनमें शीशा, प्लाईवुड और सनमाइका आदि का बड़े पैमाने पर कारोबार होता है।

आयुर्वेदाचार्य धन्वन्तरि श्री पण्डित योगेन्द्रपालजी शास्त्री के सुयोग्य पुत्र श्री हर्षवर्धनजी अपने यशस्वी पिताजी के चरण-चिह्नों पर चल कर देश, धर्म तथा समाज की सेवा के लिए प्रयत्नशील हैं। वह कुशल चिकित्सक भी हैं, और उनके शक्ति आश्रम तथा आरोग्य मन्दिर का हरद्वार में विशिष्ट स्थान है।

श्री हर्षवर्धनजी

श्री गोविन्दरामजी आर्य

श्रीमती मेवादेवीजी आर्य

हरयाणा के देवराना ग्राम में सावन सुदी ६, सम्वत् १९६३ (सन् १९०६) के दिन एक पौराणिक अग्रवाल परिवार में श्री गोविन्दराम का जन्म हुआ था। आर्यसमाज के उपदेशक तथा कुशल वैद्य पण्डित दीनानाथजी के सम्पर्क में आने पर उनके विचारों में परिवर्तन हुआ, और सुदृढ़ आर्यसमाजी बन गये। अपने गांव में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की और आर्य प्रचारकों को निमन्त्रित कर वैदिक धर्म का प्रचार प्रारम्भ कर दिया। इस पर कट्टर पौराणिकों के प्रभाव के कारण उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया गया, और उनके पारिवारिक-जन भी उनका विरोध करने लगे। पर उन्होंने इसकी कोई परवाह नहीं की। उनके प्रयत्न से गांव के बहुत से परिवार आर्यसमाजी बन गये, जिससे उनका प्रभाव बहुत बढ़ गया। उन्होंने गांव में एक हाईस्कूल तथा एक आर्य कन्या पाठशाला खुलवायी, जहां प्रतिदिन सन्ध्या-हवन होने लगा और गांव की स्त्रियां भी उसमें सम्मिलित होने लगीं। शीघ्र ही, उनका सारा परिवार आर्यसमाजी बन गया, और सारे इलाके मे वैदिक धर्म की धूम मच गयी। श्री गोविन्दरामजी हिन्दी रक्षा आन्दोलन और गोरक्षा आन्दोलन में जेल भी गये। उन्होंने बहुत-सी विधवाओं का उद्धार किया है, और अपने पुत्र जयदेव तथा पौत्र देशबन्धु का विवाह भी बाल-विधवाओं से सम्पन्न कर समाज के सम्मुख आदर्श उपस्थित किया है। परदा, दहेज आदि कुरीतियों के वह घोर विरोधी हैं। गोविन्दरामजी का सम्पूर्ण जीवन आर्यसमाज के लिए समर्पित है।

श्री गोविन्दरामजी आर्य की धर्मपत्नी मेवादेवीजी का जन्म भी हरयाणा के ग्राम लालावास में हुआ था। अपने पति के सम्पर्क से उन पर भी आर्यसमाज का प्रभाव पड़ा, और वह भी प्रतिदिन गायत्री मन्त्र का जाप करने लगीं। वह अत्यन्त मिलनसार, सहृदय, चतुर गृहिणी हैं, और आदर्श आर्य महिला हैं। अतिथियों की सेवा में वह सदा तत्पर रहती हैं। घर की सब व्यवस्था उन्होंने सुचारु रूप से की हुई है, जिसके कारण श्री गोविन्दरामजी घर से निश्चिन्त होकर अपना सब समय समाज-सेवा में लगा सकते हैं।

श्री अमृतपालजी वेदालंकार

सुप्रसिद्ध एवं कर्मठ आर्य परिवार में १४ मार्च १९१६ के दिन लाहौर में जन्म। चौदह वर्ष गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा प्राप्त कर सन् १९३७ में स्नातक हुए। वेदशास्त्रों और इतिहास में विशेष रुचि। दस वर्ष प्रसिद्ध इतिहासज्ञ पं० जयचन्द्र विद्यालंकार के सान्निध्य में शोधकार्य। जालन्धर के 'आकाशवाणी' पत्र का तीन वर्ष सम्पादन। १९५७ में केनिया (पूर्वी अफ्रीका) गये, और सरकारी सर्विस करते हुए भी वहां के 'अमर भारती' पत्र का सम्पादन किया। १९७१ में ग्रेट ब्रिटेन गये, और वहां आर्य धर्म के प्रचार-प्रसार में जुट गये। कुछ वर्ष लीड्स को केन्द्र बनाकर धर्मप्रचार किया, और अब लण्डन में कार्यरत हैं। श्री अमृतपाल का मन्तव्य है, कि ओंकार, वेद और गायत्री के आधार पर हिन्दुओं के सब सम्प्रदायों में ऐक्य स्थापित किया जा सकता है। वर्तमान समय में वह इसी में अपनी शक्ति लगा रहे हैं। वेदों में 'अमृत' का जो अर्थ है, उसे अपने जीवन में क्रियान्वित करना ही अमृतपालजी का ध्येय है। वह अत्यन्त धार्मिक, सदाचारी, मिलनसार तथा सात्विक पुरुष हैं।
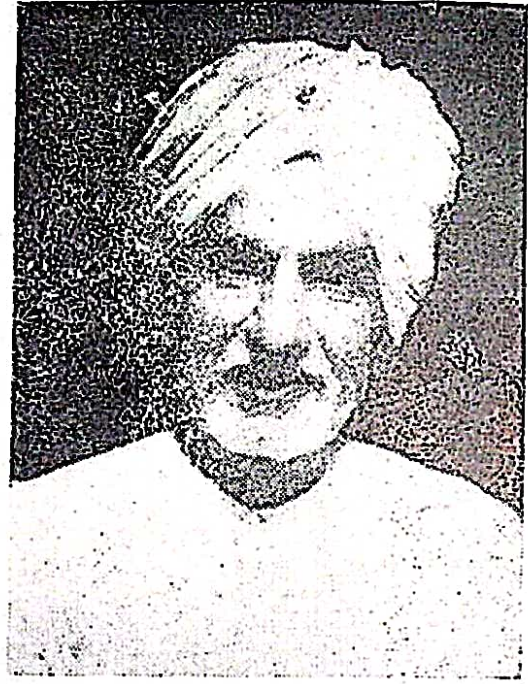
श्री मुन्नीलालजी आर्य

पंजाब के ऐतिहासिक बलिदानी नगर सरहिन्द के विख्यात सर्वस्वदानी टोडरमल के मोहल्ले के निवासी लाला शिब्बूमलजी के कट्टर पौराणिक परिवार में लाला सुलेखचन्द के यहां सन् १८९४ में जन्म। विलक्षण प्रतिभासम्पन्न एवं पूर्वजन्म के संस्कारों से अभिषिक्त।

पं रामचन्द्र देहलवी यथा पं० शान्तिप्रकाश आदि आर्य नेताओं के निकट सम्पर्क से आर्यसमाज में दीक्षित होकर परम्परा से विद्रोह तथा सपरिवार गृहत्याग। परिणामतः अनुज नौरातारास और बनारसीदास द्वारा अनुकरण तथा सरहिन्द में आर्यसमाज की स्थापना।

सम्पूर्ण सन्तति पर आर्यसमाज की अमिट छाप। उनके पुत्र डॉ० विश्वबन्धु 'व्यथित' (अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, डी०ए०वी कॉलिज, अबोहर) आर्यसमाज के यशस्वी लेखक, वक्ता, कार्यकर्त्ता तथा रससिद्ध कवि हैं। अन्य सुपुत्र श्री सत्यप्रकाश, श्री देशबन्धु व श्री नरेन्द्रकुमार तथा सुपुत्री श्रीमती सुशीलादेवी क्रमशः सरहिन्द, भटिण्डा, खन्ना तथा नयी दिल्ली में कार्यरत होकर आर्यसमाज को गति प्रदान करने में संलग्न हैं।

श्री राजेन्द्रप्रसादजी

१७ जुलाई सन् १९४८ को ग्राम चनपरीया (बिहार) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में जन्म। प्रारम्भ से ही आर्य विद्वानों तथा संन्यासियों के साथ सम्पर्क, जिसके परिणामस्वरूप वैदिक धर्म में अगाध श्रद्धा और आर्यसमाज के कार्यकलाप में रुचि। बेतिया नगर में ओषधियों का व्यवसाय, पर उसके साथ-साथ वैदिक साहित्य व आर्यसमाजविषयक पुस्तकों का भी प्रचार। लोग अपने सब संस्कार वैदिक रीति से कराया करें, इसके लिए विशेष रूप से प्रयत्नशील। समीपवर्ती ग्रामों और नगरों में वैदिक धर्म के प्रचार में सक्रिय रूप से भाग लेते हैं। लण्डन के आर्य महासम्मेलन में सम्मिलित हुए थे, और आर्यसमाज के सभी समारोहों में उनका उत्साहपूर्वक योगदान रहता है। बेतिया में एक दयानन्द बाल विद्यामन्दिर स्कूल की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं। वह इस समय सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा में बिहार के प्रतिनिधि भी हैं। राजेन्द्रप्रसादजी अभी युवक हैं, पर आर्यसमाज के कार्यकलाप में उन्होंने अपने को पूर्ण रूप से समर्पित किया हुआ है।
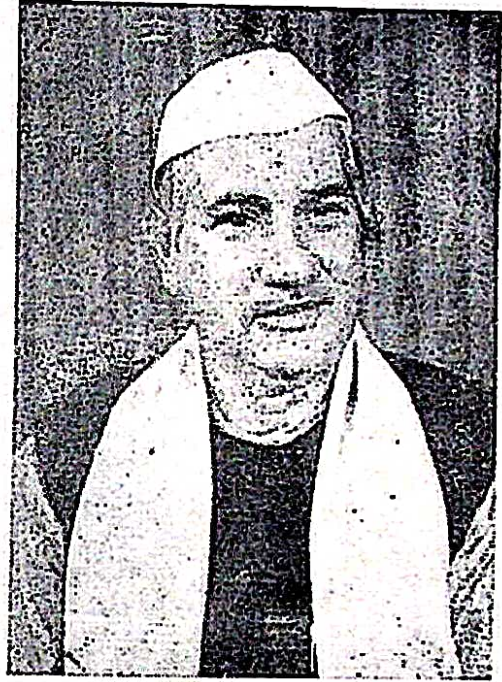
कविराज श्री योगेन्द्रपालजी शास्त्री

ग्राम बहादुरपुर (बिजनौर) में १९१७ ई० में जन्म। पिता आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता कर्मवीर ठाकुर संसारसिंहजी। प्रारम्भिक शिक्षा गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में। तिब्बिया कॉलिज, दिल्ली में आयुर्वेद की शिक्षा प्राप्त कर आयुर्वेदाचार्य, धन्वन्तरी सदृश उच्चतम परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। मस्तिष्क और हृदय रोगों के विख्यात चिकित्सक थे। कनखल (हरिद्वार) में विशुद्ध आयुर्वेदिक चिकित्सा के लिए सुविशाल आरोग्य-भवन स्थापित किया। कन्याओं को आयुर्वेद की शिक्षा देने के लिए कन्या गुरुकुल कनखल (हरिद्वार) में कन्या आयुर्वेद महाविद्यालय तथा मातृमन्दिर की स्थापना की। सन् १९४१ से कन्या गुरुकुल, कनखल के मुख्याधिष्ठाता व संचालक रहे। 'प्राचीन राजवंश' तथा 'क्षत्रिय जातियों का उत्थान व पतन' नामक दो ग्रन्थों के प्रणेता तथा 'शक्तिसंदेश' साप्ताहिक पत्र के संचालक थे। आयुर्वेद चिकित्सा के लिए न केवल भारत में ही, अपितु विदेशों में भी सुप्रसिद्ध थे। सन् १९८३ में उनका असमय में ही देहावसान हो गया।
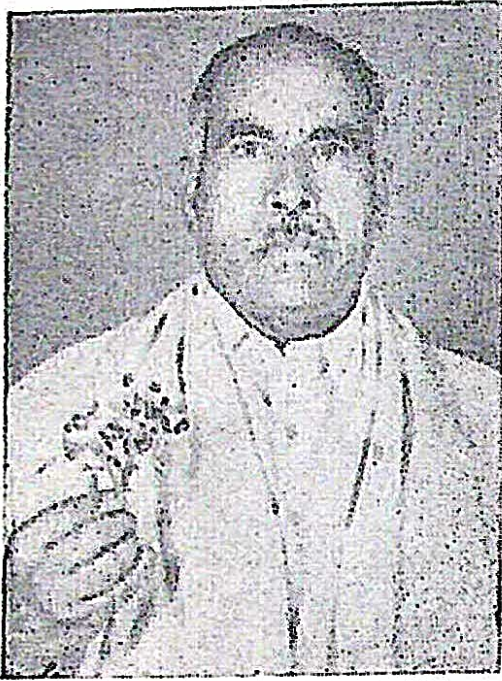
श्री कुञ्जबिहारीलालजी

जन्मतिथि—३१ जुलाई सन् १९१४। रिटायर्ड आफिसर, स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया। वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यों के लिए सदा उत्साहपूर्वक प्रयत्नशील रहे। पूर्व-पदाधिकारी आर्यसमाज मसूरी तथा आर्यसमाज लक्ष्मण चौक, देहरादून। संवत् २०२० विक्रमी (सन् १९६३) की भाद्रपद पूर्णिमा के दिन देहरादून (३/८, कांवली रोड) में श्रीमद् दयानन्द आश्रम स्थापित किया, जिसके उद्देश्य निम्नलिखित हैं—(१) आर्यों का एक विशाल संगठन बनाना, (२) एक विशाल भारत का निर्माण करना, और (३) एक विशाल वैदिक पाठशाला का निर्माण करना। भाद्रपद पूर्णिमा को प्रतिवर्ष आश्रम में महाराष्ट्र-यज्ञ होता है, और महर्षि दयानन्द जन्मोत्सव मनाया जाता है। श्री कुञ्जबिहारीलालजी अब अपनी सब शक्ति तथा समय इस आश्रम द्वारा आर्यसमाज की सेवा में लगा रहे हैं।

पता—९३, शिवाजी मार्ग, देहरादून।
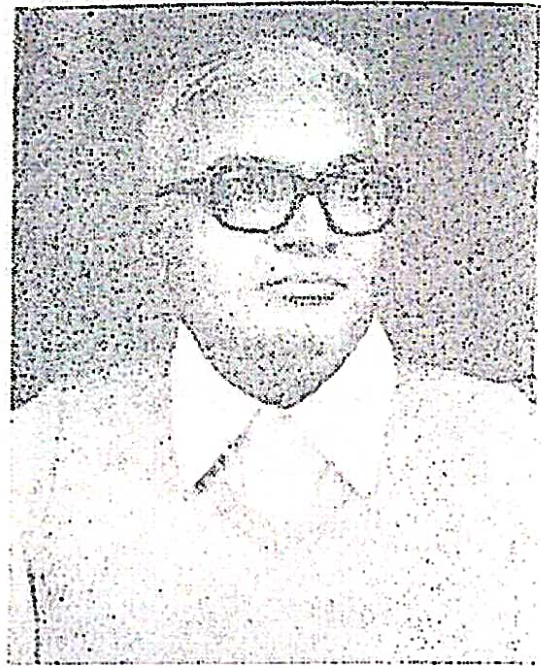
डा० तुहीरामजी गुप्त

१५ एप्रिल सन् १९१९ को भिवानी (हरयाणा) के दीनाद ग्राम में जन्म। पिता श्री शिवदयालुजी आर्यसमाज के कर्मठ नेता थे, और श्रीगंगानगर आर्यसमाज के बीसियों वर्ष प्रधान रहे थे। डा० तुहीराम में अपने पिताजी के आर्य संस्कार पूर्ण रूप से विद्यमान हैं। सन् १९४१ में लाहौर में चिकित्साविज्ञान की उच्च शिक्षा पूर्ण की, और चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा करते हुए आर्यसमाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। लगभग चालीस वर्ष से डा० गुप्त आर्यसमाज श्रीगंगानगर के विविध पदों पर रहकर समाज की सेवा कर रहे हैं, और अब जिला आर्य उपप्रतिनिधि सभा के प्रधान हैं। श्रीगंगानगर में सरस्वती शिशु-मन्दिर नामक उच्च माध्यमिक विद्यालय का संचालन डा० गुप्त की अध्यक्षता में हो रहा है। वह राजस्थान के सुप्रतिष्ठित आर्य सज्जन हैं, और वैदिक धर्म के प्रचार के लिए उनका तन, मन, धन समर्पित है।

महाशय प्रेमप्रकाश

आश्विन शुक्ला द्वितीया, संवत् १९८५ (सन् १९२८) को धुरी (पंजाब) के अत्यन्त प्रतिष्ठित आर्य परिवार में जन्म। पिता महाशय कुन्दनलालजी आर्यसमाज के कर्मठ कार्यकर्ता थे। १९४९ में उन्होंने आर्य हाईस्कूल स्थापित करने तथा उसके संचालन के लिए आर्यसमाज को बीस हजार रुपये का दान दिया। उन्हीं से महाशय प्रेमप्रकाशजी को आर्यसमाज की लगन लगी। उनका सारा परिवार आर्य है। उनके दैनिक सन्ध्या-हवन व वेदमन्त्रों की ध्वनि सारे नगर में लाउड स्पीकर से सुनाई देती है। प्रेमप्रकाशजी अनेक आर्य संस्थाओं के प्राण हैं। युवकों के लिए चरित्र-निर्माण-शिविरों के संयोजक, धुरी स्टेशन पर महर्षि के चित्र के स्थापक, आर्यसमाज स्थापना शताब्दी समारोह में धुरी में 'ओ३म्' के झण्डे पर वायुयान द्वारा पुष्पों की वर्षा के व्यवस्थापक। अनेक पुस्तकों के लेखक। आर्यसमाज की इतनी धुन कि गत तीस वर्षों में ८०० संस्कार करवाये, जिनकी सब दान-दक्षिणा आर्यसमाज को दे दी। आर्यसमाज के कार्य के सम्मुख निजी कार्य को कोई महत्त्व नहीं देते। उनका तन, मन, धन सब आर्यसमाज के लिए समर्पित है।
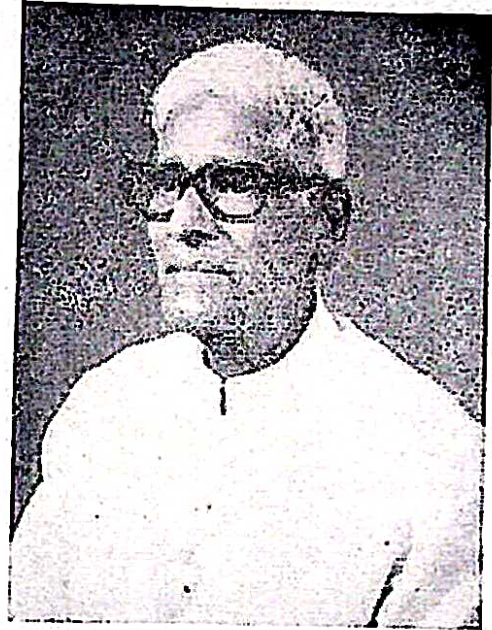
पण्डित अमरनाथजी विद्यालंकार

८ दिसम्बर १९०२ को भेरा (पंजाब) में जन्म। गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय में शिक्षा। लाला लाजपतराय की प्रेरणा से १९२६ में स्वाधीनता संग्राम में जुट जाने का व्रत ग्रहण किया। २० वर्ष तक देश की स्वतन्त्रता हेतु निरन्तर संघर्ष—अनेक बार जेलयात्रा। सन् १९५६ से १९६१ तक पंजाब के शिक्षामन्त्री। १९५२-५६, १९६३-६७ और १९७१-७७ तीन बार लोकसभा के सदस्य। भारत के प्रतिनिधि मण्डल के नेता के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संघ के वार्षिक अधिवेशन (१९५७) में जेनेवा गये और भारतीय सद्भावना मिशन के नेता के रूप में अफ़गानिस्तान की यात्रा की (१९६१)। क्योरवेल (इण्डिया) लिमिटेड कम्पनी के १५ वर्ष मैनेजिंग डायरेक्टर रहे। राजनैतिक जीवन बिताते हुए भी साहित्यिक कार्य में संलग्न। हिन्दी, अंग्रेजी तथा उर्दू में अनेक पुस्तकों की रचना। तीन साल 'पंजाब-केसरी' पत्र के प्रधान सम्पादक भी रहे। संस्कृत भाषा तथा वेदशास्त्रों के गम्भीर विद्वान् और प्रभावशाली व्याख्यानदाता थे। अमरनाथजी का जीवन अत्यन्त सात्विक व सदाचारमय था। १९४५ में नयी दिल्ली में स्वर्गवास।

श्री गणपतरायजी आर्य श्रीमती सुशीलादेवीजी आर्या

'कृण्वन्तो विश्वमार्यम्' के महान् उद्देश्य की पूर्ति के लिए महर्षि दयानन्द सरस्वती ने सन् १८७५ में बम्बई में सर्वप्रथम जिस आर्यसमाज की स्थापना की थी, श्री गणपतराय जी उसी बम्बई (काकड़वाड़ी) समाज के प्रधान हैं। श्री गणपतराय जी का जन्म २७ दिसम्बर १९०४ को पलवल (हरयाणा) में हुआ था। उनके पिता श्री कृपारामजी आर्य एक सच्चे व कर्मठ समाज-सुधारक तथा महर्षि के अनन्य भक्त थे। अछूतों की बस्तियों में जाकर वे उनके बच्चों को स्वयं नहलाते-धुलाते और पढ़ाते-लिखाते थे। इस पर कृपारामजी को बिरादरी से बहिष्कृत कर दिया गया। पर उनकी दृढ़ता, सत्यप्रियता तथा निष्ठा के सम्मुख बिरादरी को झुकना पड़ा और जाति से बहिष्कृत किये जाने के आदेश को वापस ले लेना पड़ा। गणपतरायजी ने आर्यसमाज के प्रति सुदृढ़ आस्था अपने पिताजी से विरासत में प्राप्त की और वर्षों तक गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा पाने के कारण धर्म तथा समाज की सेवा की उनकी भावना और भी प्रबल हो गयी। १९ वर्ष की आयु में श्री गणपतरायजी बम्बई आ गये और वहां उन्होंने 'प्रेम प्रिन्टरी' के नाम से मुद्रण का व्यवसाय शुरू किया। श्री गणपतरायजी स्वतन्त्रता-संग्राम में सक्रिय रूप से भाग लेते रहे, और हैदराबाद सत्याग्रह तथा आर्यसमाज के संघर्षों में वे सदा प्रमुख रहे।

उनकी धर्मपत्नी श्रीमती सुशीलादेवीजी 'यथा नाम तथा गुण', सुशील स्वभाव, सौम्य प्रकृति, सेवाव्रती और दृढ़निश्चयी आर्य महिला हैं। वह सच्चे अर्थों में अपने पति की 'सहधर्मिणी' हैं और धर्म, देश व समाज की सेवा के सब कार्यों में उत्साहपूर्वक अपने पति-देव का हाथ बटाती हैं। श्री गणपतरायजी का सारा ही परिवार समाजसेवी व धार्मिक है। उनकी बहन श्रीमती भाग्यवती देवी का विवाह आर्यसमाज के महान् नेता एवं हिन्दू महासभा के प्रधान प्रोफेसर रामसिंह जी के साथ हुआ था।

श्री चुन्नीलालजी तनेजा

श्री हर्षवर्धन भार्गव
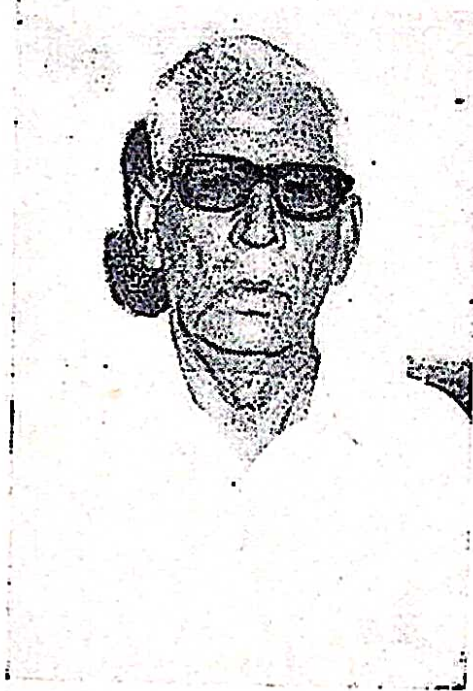
श्री चुन्नीलालजी तनेजा का जन्म सन् १९११ में सरगोधा (अब पाकिस्तान में) जिले के हडाली ग्राम में हुआ था। उनके पिता श्री भोलारामजी सिन्ध में ठेकेदारी का काम करते थे। श्री तनेजा भी उनके काम में हाथ बटाने लगे थे। उस समय हडाली में केवल एक गुरुद्वारा ही था। अतः हिन्दू पूजा-पाठ के लिए वहीं जाया करते थे। श्री तनेजा ने वहां आर्यसमाज के मन्दिर का निर्माण कराया, जिससे जनता में उनकी प्रतिष्ठा और लोकप्रियता में बहुत वृद्धि हो गई। वह छुआछूत नहीं मानते थे। सिन्ध में उन्होंने एक हरिजन को रसोइया रखा हुआ था। शुद्धि के कार्य में भी उनकी सेवाएँ प्रशंसनीय रही हैं। पाकिस्तान बनने के पश्चात् वह दिल्ली में आ बसे। करौलबाग आर्यसमाज के साथ उनका घनिष्ठ सम्बन्ध है, और समाज के कार्य में वह सदा तत्पर रहते हैं। उनकी दान की प्रवृत्ति प्रशंसनीय और अनुकरणीय है।
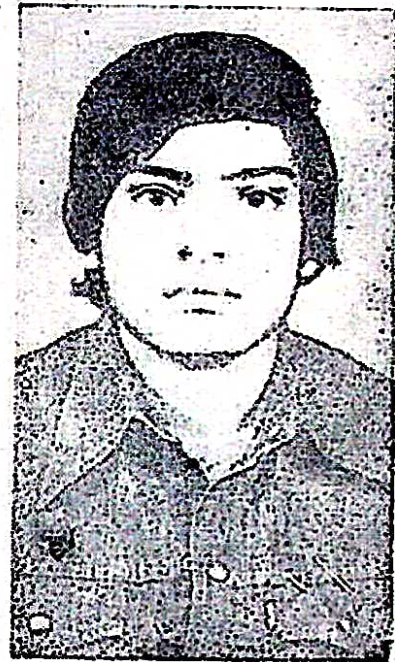
श्री हर्षवर्धन भार्गव का जन्म २ एप्रिल सन् १९५७ को एक प्रतिष्ठित कुल में हुआ था। उनके पिता श्री जगदीश भार्गव विख्यात विधि-विशेषज्ञ, समाजसुधारक एवं कांग्रेस के नेता श्री ठाकुरदास भार्गव के सुपुत्र थे, और माता श्रीमती कमला भार्गव आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता और गुरुकुल कांगड़ी के भूतपूर्व मुख्याधिष्ठाता पण्डित विश्वम्भरनाथजी की सुपुत्री हैं। हर्षवर्धन ने अपने पिता और माता — दोनों के कुलों के गुण विश्वम्भरनाथ नाथजी की सुपुत्री थीं। हर्षवर्धन ने अपने पिता और माता दोनों के कुलों के गुण विरासत में प्राप्त किये थे। बचपन से ही वह हँसमुख तथा सेवावृत्ति के बालक थे। माडर्न स्कूल नयी दिल्ली में शिक्षा प्राप्त करते हुए रोटरी क्लब के सदस्यरूप में वह सदा असहायों और निर्धनों की सहायता करने में तत्पर रहते थे। विद्यार्थी-जीवन में उन्हें अभिनय तथा टेबिल टेनिस आदि खेलों में बहुत रुचि थी। बंगलोर में इन्जीनियरिंग की शिक्षा को वह पूर्ण ही करने वाले थे, कि २१ मई सन् १९७७ के दिन वह एक भयंकर दुर्घटना के शिकार हो गये। बहुत कष्ट होते हुए भी वह हास्पिटल में अपनी माताजी को धीरज बँधाते रहे। पर ईश्वर की इच्छा के सम्मुख किसी का क्या वश है! अपने माता-पिता, बन्धु-बान्धवों तथा साथियों से सदा के लिए विदा होकर असमय में ही वह दिवंगत हो गये।
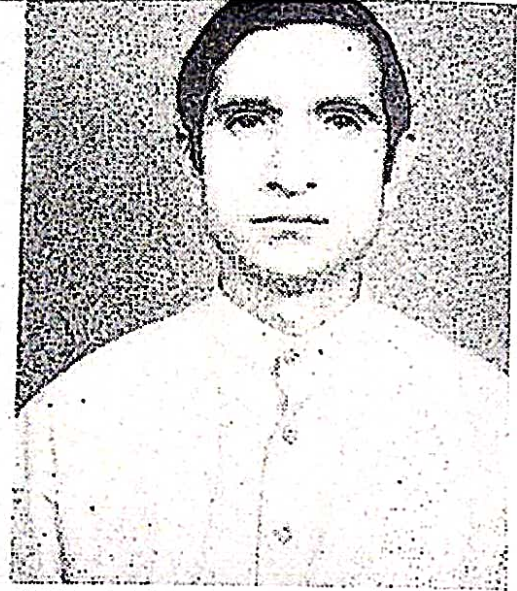
श्री परमेश्वरसिंहजी सूद

श्री परमेश्वरसिंह सूद का जन्म आगरा के एक सम्भ्रान्त व सुशिक्षित परिवार में १४ नवम्बर १९०९ के दिन हुआ था। उनके पिता श्री पूर्णचन्द्र एडवोकेट आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता थे। श्री सूद का पालन-पोषण वैदिक धर्म के पवित्र वातावरण में हुआ, और उन्होंने अपने माता-पिता से सदाचार, धर्म-प्रेम तथा सबसे सहयोग की शिक्षा प्राप्त की। शिक्षाकाल में उन्होंने आगरा की आर्य मित्र सभा में सम्मिलित होकर उत्साहपूर्वक समाज की सेवा की। इस सभा में वह प्रधान भी रहे। श्री सूद का विवाह आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् व नेता आचार्य रामदेवजी की सुपुत्री डा० सुशीला से हुआ। सन् १९३२ में एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर उन्होंने व्यापारिक क्षेत्र में प्रवेश किया, और इलैक्ट्रिक लैम्प इन्डस्ट्री के विकास में अनुपम सफलता प्राप्त की। शिकोहाबाद की हिन्द लैम्प्स लिमिटेड के वह चिरकाल तक मैनेजर और सेक्रेटरी रहे। सन् १९६९ में कम्पनी से अवकाश प्राप्त करने के बाद भी इलैक्ट्रिक लैम्प इन्डस्ट्री के विकास में उनकी रुचि बनी रही। आर्यसमाज के सम्पर्क से समाज सेवा की जो भावना उनमें प्रादुर्भूत हो गयी थी, उसी के कारण वह बाद में रोटरी इन्टरनेशनल के माध्यम से समाज की सेवा में तत्पर रहते रहे।

श्री पण्डित बृजपालजी शास्त्री

मेरठ जिले के जोहड़ी ग्राम में श्री बृजपालजी का जन्म हुआ था। उनकी शिक्षा दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार और वैदिक साधना आश्रम, यमुनानगर में हुई। आर्यसमाज की इन प्रसिद्ध शिक्षण-संस्थाओं में अध्ययन कर उन्होंने वेदशास्त्रों का समुचित ज्ञान प्राप्त किया, और पंजाब यूनिवर्सिटी से 'शास्त्री' की और हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग से 'साहित्य-रत्न' की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। संस्कृत और हिन्दी के वह गम्भीर विद्वान् हैं, और वैदिक सिद्धान्तों में उनकी अबाध गति है। लगभग दस वर्ष उन्होंने आर्यसमाज विक्रमपुरा, जालन्धर तथा आर्यसमाज थापरनगर, मेरठ में पौरोहित्य कार्य किया, और लगभग इतना ही समय पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा, आर्य प्रादेशिक प्रतिनिधि सभा तथा दिल्ली आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में महोपदेशक रहकर वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया। शास्त्रीजी निपुण संगीतज्ञ भी हैं, और उनके गीतों से आर्यसमाज के सत्संगों में उच्च कोटि के सात्विक रस का संचार हो जाता है। सम्प्रति वह आर्यसमाज सफदरजंग, नई दिल्ली के पुरोहित व प्रचारक हैं।
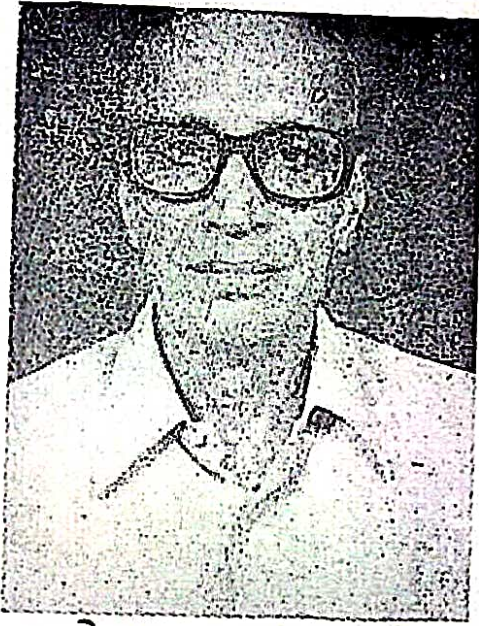
श्री प्रकाशचन्द्रजी मूना

बम्बई के आर्य जगत् में श्री प्रकाशचन्द्रजी का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। वह सान्ताक्रुज आर्यसमाज के प्रधान हैं, और बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा के कोषाध्यक्ष हैं। उनका जन्म अजमेर के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में हुआ था। उनके पिता स्वर्गीय श्री ज्वालाप्रसादजी वर्षों तक आदर्शनगर आर्यसमाज के प्रधान रहे, और अपने क्षेत्र में धर्म तथा समाज की उत्साहपूर्वक सेवा करते रहे। जिन श्री लक्ष्मीनारायणजी ने सन् १८८३ में लण्डन में सर्वप्रथम आर्यसमाज की स्थापना की थी, वह श्री प्रकाशचन्द्रजी मूना के चाचा थे। सन् १९३३ में अजमेर में मनायी गयी महर्षि दयानन्द निर्वाण अर्द्ध-शताब्दी में प्रतिनिधियों के आवास की सब व्यवस्था भी उन्हीं द्वारा की गयी थी। श्री प्रकाशचन्द्रजी ने आर्यसमाज की सेवा की भावना अपने पूज्य पिताजी व चाचाजी से प्राप्त की, और उन्हीं के पदचिह्नों पर चलते हुए वह पूर्ण निष्ठा के साथ वैदिक धर्म के प्रचार में सब शक्ति लगा रहे हैं। बम्बई में उनके अनेक व्यावसायिक प्रतिष्ठान हैं, उन सबकी व्यवस्था अपने सुपुत्र श्री महेन्द्रकुमार के सुपुर्द कर प्रकाशचन्द्रजी ने अब अपने को समाज की सेवा के लिए समर्पित कर दिया है।

श्री ओंकारनाथजी आर्य

श्री ओंकारनाथ जी आर्य बम्बई के कर्मठ तथा सुप्रसिद्ध समाजसेवक हैं। वह बम्बई आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान, सान्ताक्रुज आर्यसमाज के उपप्रधान, श्री महर्षि दयानन्द स्मारक ट्रस्ट, टंकारा के मैनेजिंग ट्रस्टी तथा रामाश्रम ट्रस्ट पवई, बम्बई के मन्त्री हैं। धर्म, देश तथा समाज की सेवा की भावना उन्होंने अपने पूज्य पिता श्री रामरतनजी मानकटाला से विरासत में प्राप्त की है। श्री रामरतनजी लाहौर के एक अत्यन्त सफल वकील थे। वकालत से वह जो धन कमाते, उसका अच्छा बड़ा भाग वह निर्धन विद्यार्थियों के लिए छात्रवृत्तियाँ देने, विधवाओं और अनाथों की सहायता तथा अन्य धर्म-कार्यों में प्रयुक्त किया करते थे। वह संस्कृत के भी विद्वान् थे, और धर्म-प्रचार की उन्हें धुन थी। श्री ओंकारनाथजी उन्हीं के पद-चिन्हों पर चलकर पूर्ण लगन से धर्म तथा समाज की सेवा में तत्पर रहते हैं। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती शिवराजवतीजी भी आर्य-समाज के कार्य में संलग्न रहती हैं। वह आर्य महिला समाज, सान्ताक्रुज की संयोजिका हैं। संगीत कला में वह अत्यन्त प्रवीण हैं, और भक्तिरस से पूर्ण उनके गीत आर्य जगत् में बहुत लोकप्रिय हैं।
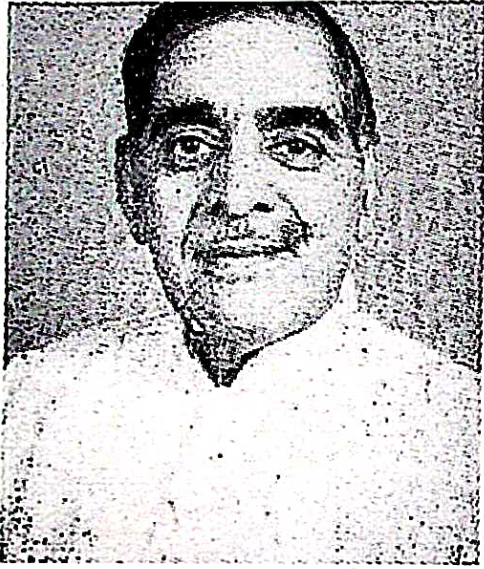
श्री नारायणदासजी जुनेजा

श्री नारायणदासजी का जन्म १९१३ ई० में लायलपुर में हुआ था। उनके पिता लाला गुरुदत्तमल लायलपुर के प्रतिष्ठित आर्य सज्जन थे। नारायणदासजी की शिक्षा डी० ए० वी० कॉलेज लाहौर में हुई, और विद्यार्थी जीवन में ही वह आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। भारत का विभाजन होने पर सन् १९४७ में वह सपरिवार बम्बई आ गये। वहां आकर उन्होंने सान्ताक्रुज आर्यसमाज के कार्यकलाप में भाग लेना शुरू किया, और शीघ्र ही उसके सर्वमान्य नेता बन गये। वर्षों तक वह सान्ताक्रुज समाज के प्रधान रहे। वह बम्बई में आर्य जगत् के सर्वमान्य नेता थे, और सान्ताक्रुज समाज के तो प्राण ही थे। श्री जुनेजाजी वैदिक संस्कृति के अनन्य पुजारी थे। उनमें अदम्य उत्साह था, और उनकी कर्तव्यपरायणता अनुपम थी। हैदराबाद के सत्याग्रह तथा आर्यसमाज के अनेक संघर्षों में उन्होंने सक्रिय रूप से भाग लिया था। ऐसे कर्मयोगी आर्य ४ जून १९८१ को इस असार संसार को छोड़कर परमपिता परमात्मा की शरण में चले गये। उनके सुयोग्य पुत्र श्री कुलदीप, शोभा आदि पांच पुत्रियां तथा धर्मपत्नी श्रीमती राजरानीजी उनके चरणचिन्हों पर चलकर अब वैदिक धर्म की सेवा में संलग्न हैं।
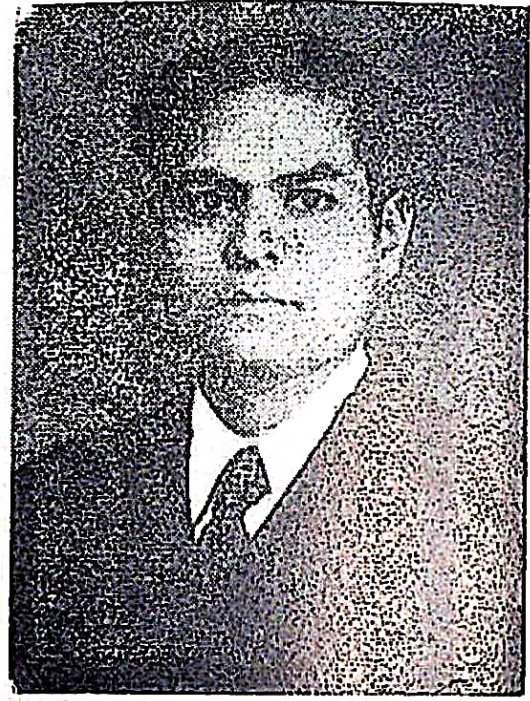
श्री योगेन्द्रनाथजी अवस्थी

श्री योगेन्द्रनाथजी अवस्थी का जन्म २१ सितम्बर १९१४ को गुरुदासपुर में हुआ था। उनके पिता पण्डित विश्वम्भरनाथजी आर्यसमाज के अत्यन्त प्रभावशाली नेता थे। सन् १९१७-१८ में वह पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान रहे, और १९२०-२७ तक गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के मुख्याधिष्ठाता। उनकी माता श्रीमती दयावतीजी पंजाब के एक सम्भ्रान्त कुलीन परिवार में उत्पन्न हुई थीं, और उनके पूर्वज नादिरशाह, अहमदशाह अब्दाली तथा अनेक सिक्ख राजाओं के शासन में उच्च सैनिक व प्रशासकीय पदों पर रहे थे। श्री योगेन्द्रनाथ का पालन-पोषण सात्विक व सदाचारमय वातावरण में हुआ, और अपने माता-पिता से उन्होंने देश तथा धर्म की सेवा विरासत में प्राप्त की। बी० एस-सी० तक शिक्षा प्राप्त कर कुछ वर्ष उन्होंने वैज्ञानिक शोध के क्षेत्र में कार्य किया, और फिर चिरकाल तक पंजाब नेशनल बैंक में सेवारत रहे। उनकी धर्मपत्नी श्रीमती डाक्टर सावित्री अवस्थी उच्च शिक्षित आर्य महिला हैं, और वर्षों तक कमला नेहरू कॉलिज में प्राध्यापिका रह चुकी हैं। अवस्थी दम्पती की साहित्य और विद्या में बहुत रुचि है। उनका निजी पुस्तकालय बहुत विशाल है, जिसमें वैदिक धर्म, आर्यसमाज तथा आधुनिक इतिहास की उच्चकोटि की पुस्तकों का उत्तम

श्रीमती राजरानीजी

श्रीमती राजरानीजी गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय के यशस्वी स्नातक, वेदों के प्रसिद्ध विद्वान् और दिल्ली के प्रतिष्ठित व्यवसायी पण्डित मनोहरजी विद्यालंकार की सहधर्मिणी हैं। अपने पतिदेव के समान वह भी महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं तथा आर्यसमाज के मन्तव्यों पर अगाध आस्था रखती हैं, और आर्यसमाज के कार्य-कलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेती रहती हैं। श्री मनोहरजी के समान राजरानीजी को भी देश-विदेश के भ्रमण का शौक है। उत्तराखण्ड में वह बद्रीनाथ, केदारनाथ, गंगोत्री और जमनोत्री का पर्यटन कर चुकी हैं। सन् १९५३ में सम्राज्ञी एलिजाबेथ के राज्यारोहण के अवसर पर उन्होंने इंग्लैंड तथा यूरोप के विभिन्न देशों की यात्रा की थी, और वहां के विश्वविद्यालयों के संस्कृत के प्रोफेसरों से वैदिक विषयों पर बातचीत भी की थी। सन् १९५७ में मास्को में आयोजित युवक समारोह में वह अपने पतिदेव के साथ सम्मिलित हुई थीं। राजरानीजी को वेदों में असीम श्रद्धा है। वह अपने घर पर पांच बार चतुर्वेदपारायण यज्ञ का अनुष्ठान कर चुकी है।
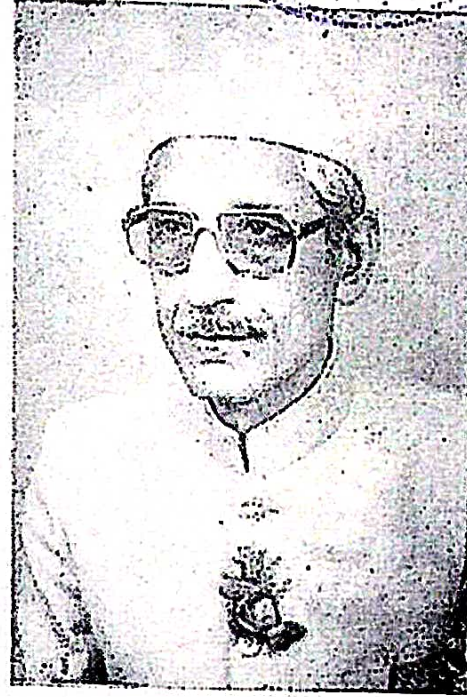
महाशय धर्मपालजी

१३ एप्रिल १९२४ को सियालकोट में जन्म। पिता—श्री चुन्नीलालजी, माता—श्रीमती चन्ननदेवीजी। दोनों आदर्श पिता-माता। भारत-विभाजन के बाद मसालों के पुराने व्यापार को उन्होंने दिल्ली में पुनः स्थापित किया। उनका व्यापार-संस्थान 'महाशयां दी हट्टी' देश-विदेश में विख्यात है। "अर्थ (धन) मात्र साधन है, ध्येय नहीं" यह महाशयजी का जीवन-दर्शन है। उन्होंने बहुत धन कमाया है, पर वह उसे उदारतापूर्वक लोकहित के लिए खर्च भी करते हैं। पिता के नाम पर उन्होंने चुन्नीलाल ट्रस्ट स्थापित किया है, जिसके अधीन श्रीमती चन्ननदेवी निःशुल्क नेत्र चिकित्सालय, माता-पिता के नाम पर दो विद्यालय तथा महाशय धर्मपाल विद्यामन्दिर चल रहे हैं। तीस से भी अधिक अन्य शिक्षणालयों को भी महाशय जी का सक्रिय सहयोग प्राप्त है। दिल्ली राज्य की आर्य केन्द्रीय सभा के वह प्रधान हैं, और आर्यसमाज की सब गतिविधियों तथा कार्यकलापों में वह उत्साहपूर्वक हाथ बटाते हैं। उनका जीवन आर्य आदर्शों के अनुरूप है। वैदिक धर्म में उनकी सच्ची श्रद्धा है, और आर्यसमाज के लिए सच्ची लगन।
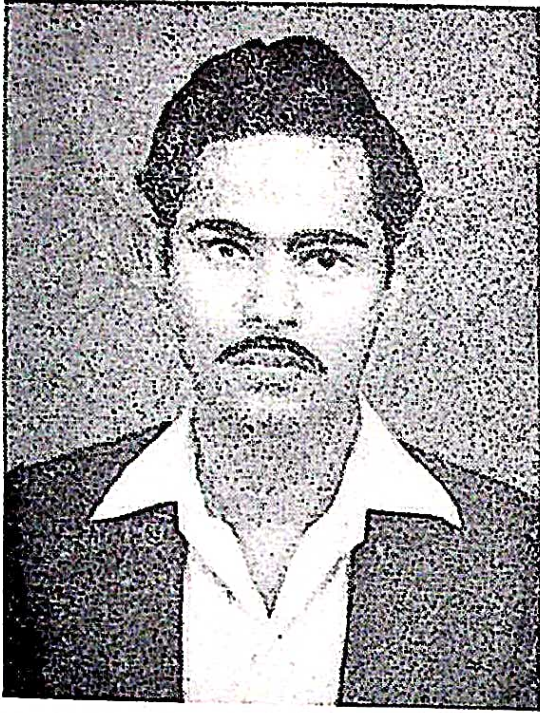
श्री सुरेशकुमारजी अग्रवाल

श्री सुरेशकुमारजी का जन्म ५ जुलाई सन् १९६० को लोहारू के एक प्रतिष्ठित अग्रवाल वैश्य परिवार (तायल गोत्र) में हुआ था। उनके पिताजी का नाम श्री बाबूलाल अग्रवाल है। कलकत्ता में उनका बालटियां बनाने और उनको निर्यात करने का सफल व्यवसाय है। अपने व्यापार-व्यवसाय के साथ-साथ श्री सुरेशकुमार देश, धर्म तथा समाज की सेवा में पर्याप्त समय लगाते हैं। सन् १९७८ में वह कलकत्ता आर्यसमाज के सदस्य बने, और उसी वर्ष राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के शिक्षण शिविर में उन्होंने शिक्षण प्राप्त किया। आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। सन् १९८१-८२ में वह समाज के उपपुस्तकाध्यक्ष चुने गये थे, जिसके कर्तव्यों का वह कुशलता के साथ निष्पादन करने में तत्पर हैं। उच्च शिक्षा प्राप्त करने की ओर भी उनका ध्यान है। सन् १९८३ में उन्होंने कलकत्ता यूनिवर्सिटी से बी०कॉम० की परीक्षा उत्तीर्ण की थी। श्री सुरेशकुमार एक अत्यन्त कर्मठ व उत्साही युवक हैं। देश, धर्म और समाज को उनसे बहुत आशाएँ हैं।

श्री हजारीलालजी आर्य

श्री हजारीलालजी का जन्म श्रावण सुदी १५, संवत् १९९५ (सन् १९३८) को मासलपुर गांव (तहसील करौली, राजस्थान) में हुआ था। वह श्री किंदूरीलाल (वर्तमान नाम आर्यमुनि वानप्रस्थी) के ज्येष्ठ पुत्र हैं। बचपन से ही उनकी रुचि सत्संग तथा स्वाध्याय में रही है। वह सात्विक प्रकृति के मननशील व्यक्ति हैं, और समाज के कार्यों में उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं। हिन्डौन आर्यसमाज के मन्त्री के रूप में वह राजस्थान में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए तन-मन-धन से पूर्ण योगदान दे रहे हैं। फरवरी सन् १९६० में उनका विवाह श्रीमती रमाकुमारी से हुआ था, जो सुसंस्कृत व धार्मिक आर्य महिला हैं, और जिन्होंने आर्य महिला विद्यापीठ भुसावर (भरतपुर) में उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। उनके दो पुत्र धर्मप्रिय एवं सत्यप्रिय हैं, और दो पुत्रियां ज्ञानवती एवं सन्ध्यावती हैं। सारे परिवार का वातावरण सदाचारमय व सुसंस्कृत है। श्री हजारीलालजी के पिताजी भी आर्यसमाज के कार्यकलाप में सर्वात्मना सलग्न रहते हैं।

श्री रतीरामजी शर्मा

हरयाणा प्रदेश के देवराला गांव (जिला भिवानी) में सन् १९२८ में जन्म। गाँव में ही आर्यसमाज के भजनोपदेशकों से सम्पर्क और उनके प्रभाव से सामाजिक रूढ़िवाद और अन्धविश्वासों के प्रति विद्रोह की भावना। युवा होने पर दार्जिलिंग (बंगाल) जाकर सफल आर्थिक संघर्ष। जीवन में प्रगति और सफलता प्राप्त करने में आर्यसमाज तथा महर्षि दयानन्द की महती भूमिका। सारी उपलब्धि का मूल आर्यसमाज। उसके ऋण से उऋण होने का प्रयत्न शर्माजी अपना नैतिक दायित्व मानते हैं। इसी भावना से सिलीगुड़ी में आर्यसमाज की स्थापना में उनका विशेष योगदान रहा। निकटवर्ती नगरों और नेपाल के पूर्वी अंचल में आर्यसमाजों की स्थापना में उन्होंने सक्रिय सहयोग दिया। आर्यसमाज के कार्यों में उनकी विशेष रुचि है। साधारण वार्षिकोत्सवों से लेकर मॉरीशस, दिल्ली और लण्डन के सार्वभौम आर्य महासम्मेलनों में सम्मिलित हुए। महर्षि के महान् मिशन की पूर्ति हेतु उनका तन, मन, धन व सर्वस्व समर्पित है।
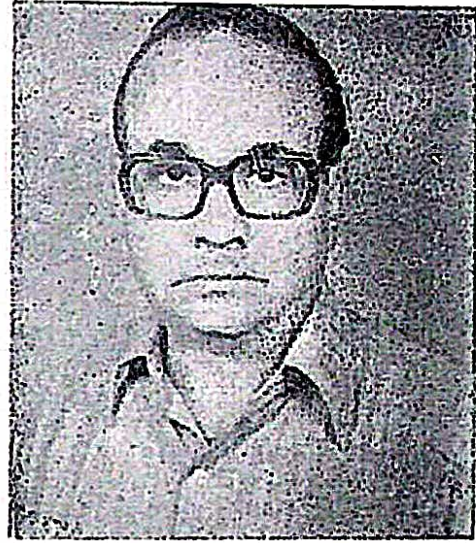
श्री अमृतलालजी गर्ग

९ दिसम्बर सन् १९२३ को जगाधरी (हरयाणा) के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में जन्म। पिता श्री बनारसीदासजी गर्ग अपने क्षेत्र के मूर्धन्य वकील। विज्ञान की उच्च शिक्षा प्राप्त कर श्री अमृतलालजी ने कानपुर में रासायनिक द्रव्यों के निर्माण के लिए एक फैक्टरी स्थापित की, जो माल की शुद्धता के लिए सर्वत्र प्रसिद्ध है। उनके सच्चे व्यवहार का सर्वत्र आदर किया जाता है। प्रारम्भ से ही आर्यसमाज के कार्यों में उनकी रुचि रही है और महर्षि के मन्तव्यों में उनका अटूट विश्वास है। सन्तान के विवाह उन्होंने बिना आडम्बर के किये। दहेज न लिया, न दिया। कन्या का विवाह अपनी जाति से बाहर किया। समाज-सेवा के कार्यों में वह सक्रिय रूप से भाग लेते हैं—यथा नेत्रशिविरों की उत्साहपूर्वक व्यवस्था में। आर्यसमाज के प्रमुख समारोहों—यथा मथुरा महर्षि जन्म-शताब्दी, आर्यसमाज स्थापना शताब्दी दिल्ली (१९७५), सार्वभौम आर्य महासम्मेलन, लण्डन (१९८१) आदि में वह सम्मिलित होते रहे हैं।

पण्डित हरवंशलालजी मोद्गिल

जन्मतिथि—१६ सितम्बर सन् १९१२। जन्मस्थान—गुजरवाल (लुधियाना)। शिक्षा—बी०ए० तक। लाहौर में स्वामी स्वतंन्त्रानन्दजी से सम्पर्क, और उन द्वारा आर्यसमाज का कार्य करने की प्रेरणा। १९३७ से १९७० तक अफ्रीका के विविध स्थानों (कम्पाला, नकोरी, नैरोबी, मोम्बासा, दारुस्सलाम, आदि) पर सरकारी सेवा में कार्य। जहां भी रहे, आर्यसमाज के कार्य में उत्साहपूर्वक योगदान। सर्वत्र समाज की मैनेजिंग कमेटी के सदस्य। मोम्बासा आर्यसमाज के मुख्य मन्त्री (१९५४, ५५, ५६)। दारुस्सलाम आर्यसमाज के मुख्य मन्त्री (१९६८, ६८, ६९)। १९७० में लण्डन आगमन। वहां वैदिक मिशन की स्थापना में विशेष कर्तृत्व। उसकी कार्यकारिणी के सदस्य तथा लण्डन आर्यसमाज के संस्थापक-सदस्य। ग्रेट ब्रिटेन की हिन्दू संस्थाओं में उत्साहपूर्वक कार्य तथा उनके माध्यम से वैदिक धर्म का प्रचार। परिवार के सब सदस्य आर्यसमाज में आस्था रखते हैं, और धार्मिक जीवन विताते हैं।

श्री हरिकृष्णजी माथुर
आई० ए० एस० (रिटायर्ड)

जन्मतिथि—१८ अगस्त १९०२। शिक्षा मेयो सेण्ट्रल कॉलिज, इलाहाबाद में। १९२६ में उत्तरप्रदेश सिविल सर्विस में निर्वाचित। सुलतानपुर तथा अनेक जिलों में डिप्टी कमिश्नर के पद पर कई वर्षों तक कार्य। सन् १९४९ में भारत की एडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस (आई०ए०एस०) में ले लिये गये और केन्द्रीय सरकार के अनेक उच्च प्रशासनिक पदों पर कार्य किया। हिन्दी, अंग्रेजी, संस्कृत तथा उर्दू का समुचित ज्ञान। धर्म, दर्शन, इतिहास तथा राजनीति में विशेष रुचि, और सार्वजनिक कार्यों में उत्साहपूर्वक योगदान। मसूरी की तिलक लायब्रेरी, गांधी निवास सोसायटी तथा नेहरू नेत्र चिकित्सालय आदि सार्वजनिक संस्थाओं को उदारतापूर्वक दान एवं संरक्षण। अत्यन्त सक्रिय, सजीव व धार्मिक जीवन। परिवार के सब सदस्य सुशिक्षित, सुसंस्कृत व धार्मिक प्रकृति के हैं, और उच्च राजकीय पदों पर कार्यरत हैं। सन् १९८३ में नयी दिल्ली में निधन हुआ।

श्री देवनाथजी विद्यालंकार

१५ जुलाई १९०८ ई० को रादेर (सूरत, गुजरात) में जन्म। पिता श्री नरोत्तम भाई माधव भाई पटेल की वैदिक धर्म में प्रगाढ़ आस्था। गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा प्राप्त कर सन् १९३० में स्नातक हुए, और विद्यालंकार की उपाधि प्राप्त की। दो वर्ष तक आचार्य देवशर्माजी के व्यक्तिगत सचिव रहे, और फिर गुरुकुल की सेवा में अध्यापक (१९३२-४७)। १९४८ में नैरोबी (ईस्ट अफ्रीका) चले गये, और १९७६ तक वहाँ अध्यापन का कार्य किया। श्री देवनाथ के सुपुत्रों ने व्यापार-व्यवसाय में बहुत सफलता प्राप्त की है, और अमेरिका तथा ब्रिटेन उनके व्यापार के क्षेत्र हैं। श्री देवनाथ भी उन्हीं के साथ निवास कर रहे हैं, और अमेरिका तथा लण्डन में वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय रूप से भाग लेते रहते हैं। वह अत्यन्त सहृदय आर्य सज्जन हैं, और उनका जीवन वेद की शिक्षाओं के अनुसार है। उनका सारा परिवार ही आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेता रहता है।

श्री नवनीतलालजी आर्य

१ सितम्बर सन् १९११ के दिन सिन्ध नदी के तट पर स्थित ईसाखेल में जन्म। स्कूल और कॉलिज की शिक्षा पूरी कर सन् १९३४ में वकालत की परीक्षा उत्तीर्ण की। उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त के शिक्षा विभाग के उच्च पदाधिकारी श्री आत्मप्रकाशजी की सुपुत्री श्रीमती सत्यप्रिया देवी के साथ सन् १९३५ में विवाह। कुछ वर्ष लाहौर में वकालत की। फिर सन् १९३९ से भारत के सर्वोच्च न्यायालय (सुप्रीम कोर्ट) में वकालत कर रहे हैं और दिल्ली के अत्यन्त सफल व प्रसिद्ध वकील हैं। बचपन से ही आर्यसमाज में विशेष रुचि है। उनके फूफा श्री जसारामजी दृढ़ आर्यसमाजी थे। उन्हीं की प्रेरणा से वैदिक धर्म के प्रति अगाध आस्था उत्पन्न हुई, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेने लगे। अनेक आर्य संस्थाओं तथा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय सदृश शिक्षणालयों के साथ पदाधिकारी के रूप में सम्बद्ध तथा उनकी गतिविधि के निदेशन में तत्पर। अत्यन्त सरल, मृदु स्वभाव के आर्य सज्जन हैं।

श्री जवाहरलालजी आर्य
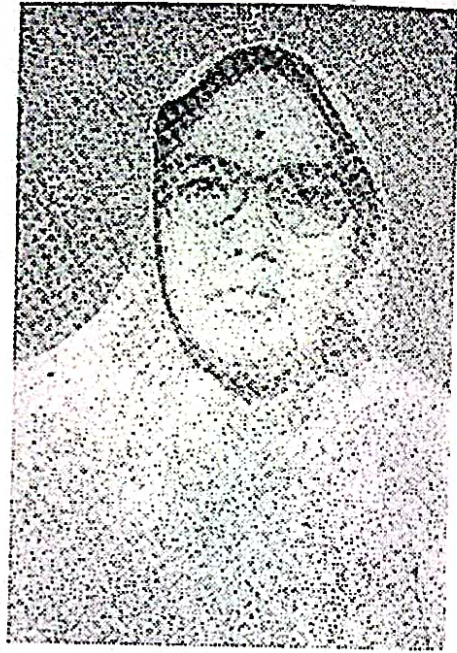
श्रीमती दुर्गादेवीजी आर्या

हरयाणा के देवराला ग्राम के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में सन् १९२४ में श्री जवाहरलालजी का जन्म हुआ था। उनके परिवार के सब सदस्य, विशेषतया उनके दोनों बड़े भाई, महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में अगाध आस्था रखते थे। बचपन से ही श्री जवाहर-लाल को आर्यसमाज के वातावरण में पलने और बड़ा होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, जिसके कारण वैदिक धर्म में उनकी श्रद्धा निरन्तर बढ़ती गयी। देवराला, भिवानी तथा पिलानी में शिक्षा प्राप्त कर वह व्यवसाय-व्यापार के लिए पश्चिमी बंगाल चले गये, और सिलीगुड़ी तथा कलकत्ता में किराना एवं चाय के व्यवसाय में उन्होंने बहुत उन्नति की। सिलीगुड़ी आर्यसमाज की स्थापना में उनका विशेष योगदान था, और कोषाध्यक्ष, लेखानिरीक्षक तथा प्रधान आदि पदों पर रहकर वह उस आर्यसमाज की उन्नति में निरन्तर प्रयत्नशील रहे। वर्तमान समय में भी वही सिलीगुड़ी आर्यसमाज के प्रधान हैं। आर्यसमाज की शिक्षण-संस्थाओं को आर्थिक सहायता देने तथा निर्धन छात्रों को मासिक वृत्तियां प्रदान करने में वह सदा तत्पर रहते हैं। उनके घर में प्रतिदिन सन्ध्या-हवन होता है, और उनका जीवन आर्य मान्यताओं के अनुरूप धार्मिक एवं सदाचारमय है। महर्षि दीक्षा शताब्दी मथुरा (१९६०), आर्यसमाज स्थापना शताब्दी दिल्ली (१९७५) और आर्य महासम्मेलन कलकत्ता आदि समारोहों में वह उत्साह-पूर्वक सम्मिलित होते रहे हैं।

उनकी पत्नी श्रीमती दुर्गादेवीजी अपने पतिदेव के समान ही वैदिक धर्म तथा आर्य-समाज के प्रति अगाध आस्था रखती हैं, जिसके परिणामस्वरूप उनके परिवार का वातावरण पूर्णतया धार्मिक बना हुआ है।
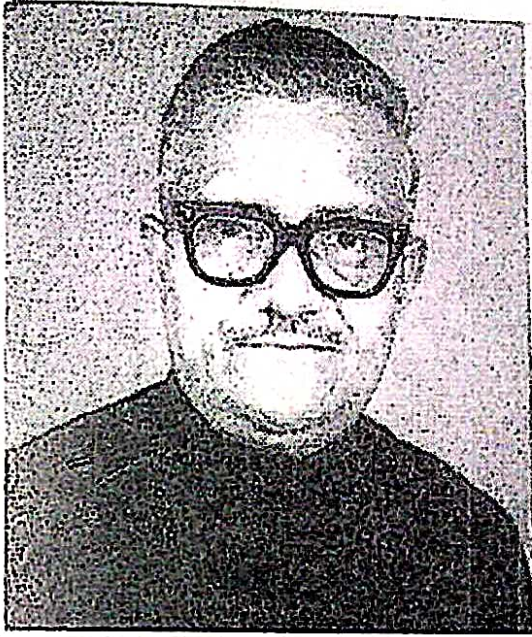
श्री लक्ष्मणसिंहजी

जन्म सन् १९२० में बलिया (उत्तरप्रदेश) के गोविन्दपुर गाँव में। वह बचपन से ही आर्यसमाज के प्रभाव में रहे, और वैदिक धर्म के प्रति उनकी आस्था में निरन्तर वृद्धि होती गयी। उन्होंने कलकत्ता आकर लोहे का व्यापार शुरू किया और इसमें उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई। वह कलकत्ता आयरन एण्ड स्टील एसोसियेशन के अध्यक्ष हैं, और व्यापारिक संसार में उनका प्रतिष्ठित स्थान है। आर्यसमाज के कार्यकलाप में वह उत्साहपूर्वक भाग लेते हैं, और आर्यसमाज, १९ विधान सरणी (कलकत्ता) के वर्षों तक मन्त्री, उपप्रधान तथा हिसाब-निरीक्षक रहे हैं। शिक्षा के कार्य में भी उनकी रुचि है। वह रघुमल आर्य विद्यालय के प्राथमिक विभाग के मन्त्री हैं। आर्यसमाज के हित के लिए वह सदा सचेष्ट रहते हैं, और अपने विचारों को निर्भीकतापूर्वक व्यक्त करते हैं। उनके पुत्र श्री अशोक कुमार सिंह को भी उन्हीं के समान आर्यसमाज की लगन है। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों में उनकी अगाध आस्था है। दहेज प्रथा के वह प्रबल विरोधी हैं। वैदिक धर्म की शिक्षाओं और आर्यसमाज के मन्तव्यों को उन्होंने क्रियात्मक रूप से अपनाया हुआ है।

श्री जगदीशजी तिवारी

जन्म २० अगस्त सन् १९१९ को जिला भोजपुर (बिहार) के धमवलि ग्राम में। सन् १९३६ में वह कलकत्ता गये। उस समय वह पौराणिक धर्म के अनुयायी थे, पर उनके मन में यह शंका बनी रहती थी, कि क्या मूर्ति ही वस्तुत: भगवान् का रूप है। एक दिन उनके मित्र श्री सीतारामसिंह उन्हें घूमने के बहाने बड़ा बाजार (कलकत्ता) आर्यसमाज के सत्संग में ले गये। वहाँ प्रवचन सुनकर वह इतने प्रभावित हुए, कि उनके जीवन तथा विचारों में भारी परिवर्तन आ गया। एक सज्जन ने उन्हें 'सत्यार्थ प्रकाश' पढ़ने को दिया। उसे पढ़कर वह आश्चर्यचकित रह गये, और यह सोचने लगे कि एक ऐसी भी पुस्तक संसार में है! इस प्रकार श्री तिवारीजी महर्षि दयानन्द सरस्वती के आस्थावान् अनुयायी हो गये, और आर्यसमाज के कार्यकलाप में सक्रिय रूप से भाग लेने लगे। अब उन्हें धर्म तथा ईश्वर के वास्तविक रूप का ज्ञान हो गया है, और वह धार्मिक भजन बना कर धर्मप्रचार में तत्पर रहते हैं, और अपनी जन्मभूमि में उन्होंने एक यज्ञशाला का भी निर्माण कराया है।

श्री डालचन्दजी

हलदौर (जिला बिजनौर) के एक प्रतिष्ठित जमींदार परिवार में सन् १८८० में जन्म। किशोर आयु में ही आर्यसमाज के साथ सम्पर्क, जिसके परिणामस्वरूप देश की उन्नति और स्वतन्त्रता तथा समाजसुधार के लिए उत्कट अभिलाषा। स्त्री-शिक्षा, दलितोद्धार तथा विधवा-विवाह के कार्यों में सक्रिय योगदान। हलदौर में बालिका-विद्यालय, देवनागरी पाठशाला और चन्द्रमणि इण्टर कॉलिज सदृश शिक्षण-संस्थानों की स्थापना, संचालन और व्यवस्था में उत्साहपूर्वक योगदान। हलदौर में आर्यसमाज तथा दो धर्मशालाओं के निर्माण में उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता। सन्तानों के विवाहों में जात-पांत के बन्धनों की उपेक्षा। अछूतों के साथ खानपान के कारण बिरादरी से बहिष्कार। कांग्रेस के उत्साही कार्यकर्ता।

श्री डालचन्द के सुपुत्र श्री विधुशेखर, श्री शशिशेखर तथा श्री सोमशेखर ने श्री शशिशेखर द्वारा अपने पिता की पुण्यस्मृति में प्रतिष्ठित सदस्यता हेतु धनराशि प्रदान की।

श्री ठाकुर रामाज्ञाजी वैरागी

फरवरी १९२५ में रक्सौल, जिला पूर्वी चम्पारन (बिहार) में जन्म। बाल्यावस्था से ही वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के विविध कार्यों में सक्रिय रूप से योगदान। भारत के स्वाधीनता-संग्राम में भाग लिया, जिसके कारण बिहार के स्वतंत्रता-सेनानियों में प्रतिष्ठित स्थान। वर्षों तक आर्य वीर दल के संचालक रहे। नैपाल में वैदिक धर्म के प्रचार के लिए विशेष रूप से कार्य किया। केनिया, इटली, युगोस्लाविया, हंगरी, जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैण्ड, इन्डोनेसिया आदि की यात्रा। ३१ मई १९८२ को समाजसेवा के लिए जीवन को समर्पण कर और सब धन-सम्पत्ति का त्याग कर 'वैरागी' का विरुद धारण किया। श्री रामाज्ञा ठाकुर अब अपनी सम्पूर्ण शक्ति तथा समय वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यों में लगा रहे हैं, और गृहस्थ जीवन का त्याग कर तपस्वी जीवन बिता रहे हैं। उनका तन, मन, धन सब वैदिक धर्म के लिए समर्पित है।
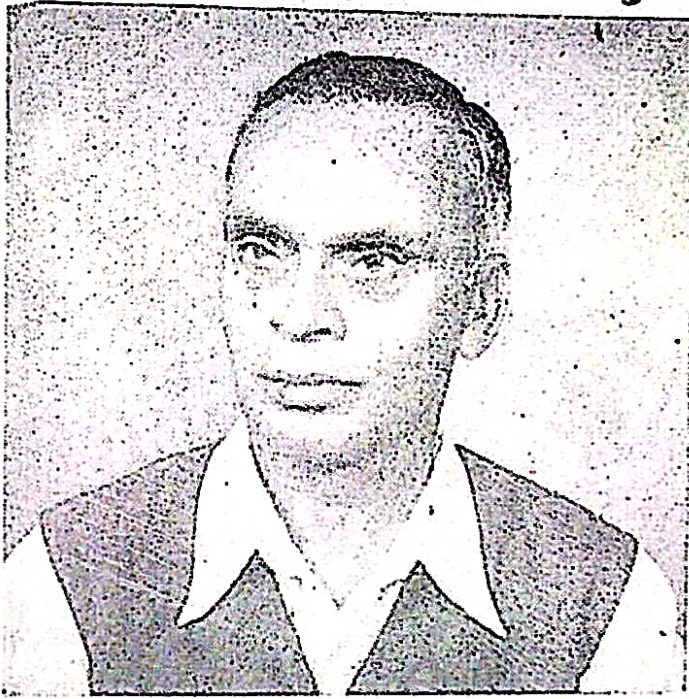
श्री पन्नालालजी आर्य

श्री पन्नालाल आर्य प्रभात जर्दा फैक्टरी तथा रत्ना जर्दा सप्लाई कम्पनी, मुजफ्फरपुर के सीनियर पार्टनर हैं। इन कम्पनियों की उन्नति तथा समृद्धि का मुख्य श्रेय श्री पन्नालालजी की कर्मठता, तन्मयता तथा सचाई को ही है। इनकी कार्यकुशलता के कारण ही यह व्यवसाय देश-विदेश में सर्वत्र फैलता जा रहा है। श्री पन्नालाल आर्य आर्यसमाज के उत्साही तथा कर्मठ कार्यकर्ता हैं। वह आर्य प्रतिनिधि सभा, बिहार के उपमन्त्री, उत्तर बिहार आर्यसमाज तथा आर्यकुमार सभा के प्रधान, आर्यसमाज मुजफ्फरपुर के उपप्रधान और प्रान्तीय आर्य वीर दल के उपसंचालक हैं। अन्य भी अनेक सार्वजनिक संस्थाओं के साथ वह घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं, और धर्म तथा समाज की सेवा में सदा तत्पर रहते हैं। सन् १९८० के लण्डन सार्वभौम आर्य सम्मेलन में उन्होंने सक्रिय भाग लिया था, और ११ यूरोपीय देशों का भ्रमण किया था।
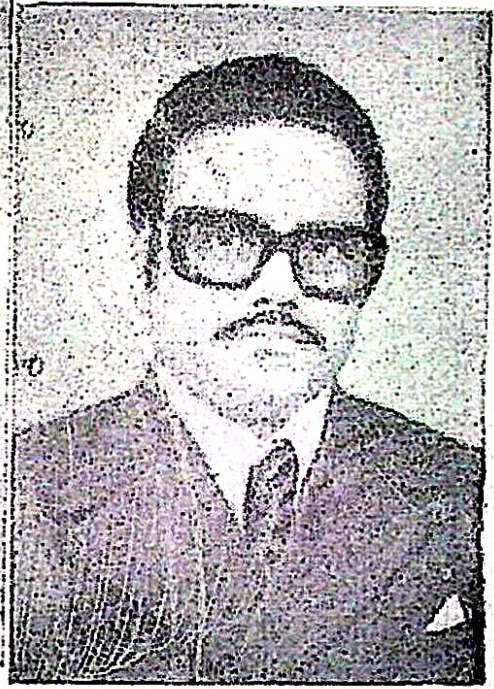
श्री सत्यप्रकाशजी आर्य

श्री सत्यप्रकाश आर्य प्रभात जर्दा फैक्टरी मुजफ्फरपुर (बिहार) के हिस्सेदार हैं, और जर्दा जाफरानी व्यवसाय की उन्नति के लिए तत्पर रहते हैं। आर्यसमाज के सुधारवादी तथा प्रगतिशील कार्यों में उनकी रुचि है, और धर्म तथा समाज सेवा के कार्यों में उनका सहयोग निरन्तर प्राप्त होता रहता है। लण्डन के सार्वभौम आर्य सम्मेलन में श्री सत्यप्रकाश सम्मिलित हुए थे, और उस अवसर पर उन्होंने यूरोप के अनेक देशों का भ्रमण भी किया था। लण्डन महासम्मेलन में आर्यसमाज के इतिहास की चर्चा होने पर श्री सत्यप्रकाशजी ने ही सबसे पूर्व उसका प्रतिष्ठित सदस्य होने की घोषणा की थी। आर्यसमाज और उसके इतिहास के प्रति उनके प्रेम का यह प्रत्यक्ष प्रमाण है। वह एक सरल स्वभाव के आर्य सज्जन हैं।
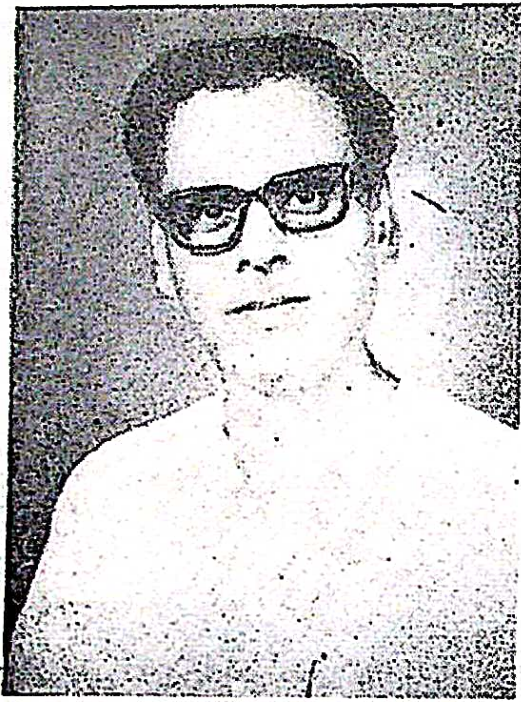
श्री अवन्तिलालजी

श्री अवन्तिलालजी मुजफ्फरपुर (बिहार) की प्रभात जर्दा फैक्टरी के मार्केटिंग डायरेक्टर हैं। उनकी व्यवहार-कुशलता, सचाई तथा ईमानदारी के कारण इस फैक्टरी ने जाफरानी के व्यवसाय में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर लिया है। श्री अवन्तिलालजी दृढ़ आर्यसमाजी हैं और धर्म तथा समाज की सेवा के लिए सदा तत्पर रहते हैं। कितनी ही सार्वजनिक संस्थाओं के वह संस्थापक तथा सदस्य हैं। वह उन्हें केवल आर्थिक सहायता ही नहीं देते, अपितु उनके कार्यकलाप में सक्रिय रूप से भाग भी लेते है। वह देशभक्त तथा धर्मप्रेमी सज्जन हैं, और साहित्य के प्रति भी अनुराग रखते हैं। भारत के स्वाधीनता संग्राम में उन्होंने भाग लिया था और वह जेल भी गये थे। बिहार की नदियों में बहुधा बाढ़ें आती रहती हैं, बाढ़-पीड़ितों की आर्थिक सहायता के लिए वह सदा उद्यत रहते हैं। देश, समाज तथा धर्म की सेवा में लगी हुई संस्थाएँ भी उनसे आर्थिक सहायता प्राप्त करती रहती हैं। महर्षि दयानन्द सरस्वती के मन्तव्यों और वैदिक धर्म के अनुरूप ही उनका जीवन है।

श्री चौधरी कन्हैयालालजी

श्री कन्हैयालालजी अत्यन्त सौम्य, धार्मिक एवं परोपकारी प्रकृति के मनुष्य थे, और तावडू (हरयाणा) के बाजार चौधरी थे। उनके एक मित्र पण्डित उमरावसिंह जब किसी काम से लाहौर गये, तो वहां उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती का व्याख्यान सुना। उससे वह बहुत प्रभावित हुए, और सत्यार्थ-प्रकाश की एक प्रति खरीद ले गये। उसे उन्होंने कन्हैयालालजी को पढ़ने के लिए दिया। उसे पढ़कर उन्होंने मूर्तिपूजा छोड़ दी, और उनमें आर्यमसाज का बीजारोपण हो गया। वह अब स्त्रीशिक्षा के पक्षपाती, पर्दा प्रथा के विरोधी और अछूतों के उद्धार के लिए प्रयत्नशील हो गये। तावडू में आर्यसमाज की स्थापना में उन्होंने बहुत उत्साह दिखाया, और उसके लिए उदारतापूर्वक दान दिया।

श्री कन्हैयालालजी के सुयोग्य पुत्र श्री हरदत्त राय गुप्ता ने अपने पिताजी की पुण्य स्मृति में इस 'इतिहास' के लिए एक हजार रुपये प्रदान किये हैं। श्री गुप्ताजी सुशिक्षित व उत्साही आर्यसमाजी हैं, और उनका परिवार सम्पन्न, धार्मिक एवं सुसंस्कृत है।

प्रतिष्ठित सदस्य

श्री हरिप्रसाद गुप्त

श्री हरिप्रसाद गुप्त कलकत्ता में निवास करते हैं, और वहां उनका किराने का व्यवसाय है। इस क्षेत्र में उन्होंने बहुत सफलता प्राप्त की है, और उनकी गिनती कलकत्ता के अत्यन्त समृद्ध किराना-व्यापारियों में की जाती है। श्री गुप्त का सारा परिवार सुदृढ़ आर्यसमाजी है। उनके पिता स्वर्गीय श्री भगवानदासजी जिला अलवर (राजस्थान) के बासकृपालनगर के निवासी थे, और वहां उन्होंने सन् १९५५ में आर्यसमाज की स्थापना की थी। बाद में वह अलवर में आकर रहने लगे थे, और वहाँ भी आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। श्री हरिप्रसाद गुप्त का जन्म ७ एप्रिल, १९२६ को हुआ था। श्री हरिप्रसाद गुप्त चार भाई हैं, और उनके दो सुपुत्र श्री सतीशकुमार गुप्त और श्री सुभाषचन्द्र गुप्त हैं। दो पुत्रियां शान्तिदेवी गुप्त और सरितादेवी गुप्त हैं। सब कट्टर आर्यसमाजी हैं और शुद्ध आर्य जीवन बिताते हैं। धर्मपत्नी श्रीमती गेंदीदेवी गुप्त का श्री हरिप्रसाद गुप्त को जीवन में पूर्ण सहयोग प्राप्त रहा है।

श्री धर्मराज विद्यालंकार श्रीमती चन्द्रकान्ता

हरयाणा के सढौरा ग्राम में जन्म। पिता—श्री मुकुन्दीलाल आर्य। गुरुकुल कांगड़ी के स्नातक तथा पंजाब यूनिवर्सिटी से शास्त्री तथा एम०ए०। संस्कृत, अंग्रेजी और हिन्दी के साथ-साथ गुजराती, उर्दू व बंगला के भी विद्वान्। अनेक शिक्षा संस्थाओं में अध्यापन तथा गम्भीर शोध कार्य। पण्डित शशिभूषणजी विद्यालंकार की सुपुत्री श्रीमती चन्द्रकान्ता से विवाह। चन्द्रकान्ताजी भी संस्कृत व बंगला की विदुषी तथा अनेक शिक्षणालयों में अध्यापन कार्य।

श्री भरतसिंह शास्त्री श्रीमती सावित्री देवी

किष्किन्दा गांव (चरखी दादरी) में श्रावण पूर्णिमा सन् १९१७ को श्री सुखीरामजी के घर में जन्म। शिक्षा गुरुकुल मटिण्डु में। वहीं रहते हुए शास्त्री की परीक्षा उत्तीर्ण कर दयानन्द उपदेशक विद्यालय, गुरुदत्त भवन, लाहौर में प्रवेश। वहां से स्नातक हो कर सन् १९४५ में लोहारू में आर्यसमाज का कार्य प्रारम्भ किया, और वहां समाज-मन्दिर का निर्माण कराया। सन् १९४७ में पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के तत्त्वावधान में उपदेशक का कार्य किया। बाद में सरकारी सेवा में आ गये, और सरकारी सेवा में रहते हुए भी वैदिक धर्म के प्रचार तथा आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। श्री भरतसिंहजी आर्य प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा के सदस्य और सार्वदेशिक सभा दिल्ली में हरयाणा के प्रतिनिधि हैं। श्री भरतसिंहजी का विवाह सन् १९५१ में श्रीमती सावित्रीदेवी के साथ हुआ था। सावित्रीजी धर्मप्राण व सच्चरित्र आर्य महिला हैं, और आर्यसमाज के कार्यों में अपने पति को पूर्ण सहयोग प्रदान करती हैं।

श्री केशवदेव धीमान् विद्यालंकार एम. ए.

२६ नवम्बर, १६२७ को फिल्लौर के समीप नंगल गांव में विश्वकर्मावंशीय आर्य परिवार में जन्म। गुरुकुल कांगड़ी में शिक्षा प्राप्त कर विद्यालंकार की डिग्री प्राप्त की, और कानपुर यूनिवर्सिटी से एम. ए. की। वेदों में आपकी अगाध आस्था है, और 'वेद में विज्ञान' आपका प्रिय विषय है। सम्प्रति आप विश्वोत्पत्ति विज्ञान (वैदिक और वर्तमान वैज्ञानिक मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन) विषय पर ग्रन्थ लिख रहे हैं। प्राचीन विमान-शास्त्र पर आपने मौलिक खोज की है। सौर्य विद्युत्शक्ति से चालित त्रिपुर-विमान पर लिखे गये आपके लेख की ओर एयर-कोमोडोर गोयल का ध्यान आकृष्ट हुआ था, और उन्होंने आपको प्राचीन भारतीय विमानों की गवेषणा के लिए आमन्त्रित किया था। कलकत्ता में धीमान्जी का अपना व्यवसाय है, जिसमें उन्हें अनुपम सफलता प्राप्त है। आपका पूरा परिवार सुदृढ़ आर्यसमाजी है। वंगीय-असम आर्य प्रतिनिधि सभा के भूतपूर्व प्रधान श्री मिहिरचन्द धीमान् के आप भतीजे हैं, और प्रसिद्ध आर्यसमाजी श्री धर्मचन्द धीमान् के सुपुत्र। आप स्वयं हावड़ा आर्यसमाज के प्रधान हैं। आर्यसमाजी नेताओं, प्रचारकों, विद्वानों व संन्यासियों का आपके घर में सदा स्वागत होता है, और वह समाज की गतिविधियों का केन्द्र बना हुआ है।
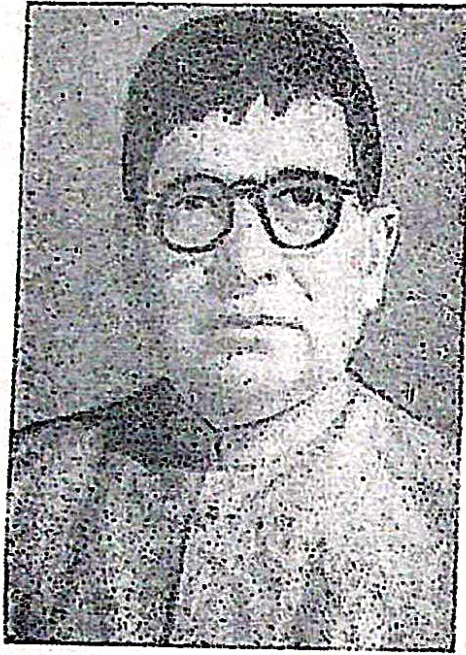
श्री लाला नागरमल गुप्ता

लाला नागरमल गुप्ता का जन्म सितम्बर, १८६६ में जिला गुड़गांवां (हरयाणा) के अन्यतम गांव डांसना में हुआ था। वह अपने पिता श्री हरदयालसिंह के कनिष्ठ पुत्र थे। श्री नागरमल का विवाह लाला मुसद्दीलाल (सर शादीलाल, चीफ जस्टिस, हाईकोर्ट पंजाब के चचेरे भाई) की कन्या से हुआ था। लाला मुसद्दीलाल कर्मठ आर्यसमाजी थे। उनके प्रभाव से श्री नागरमल ने भी आर्यसमाज की गतिविधि में उत्साहपूर्वक भाग लेना प्रारम्भ किया, और श्री करमचन्द गुप्ता तथा लाला श्रीचन्द वैद्य के सहयोग से गुड़गांवां आर्यसमाज में नव-जीवन का संचार कर दिया। अनेक वर्षों तक वह गुड़गांवां में वकील रहे, और अपनी सब शक्ति आर्यसमाज के कार्य में लगाते रहे। चिरकाल तक गुड़गांवां आर्यसमाज के प्रधान रह कर उन्होंने महर्षि दयानन्द सरस्वती के मिशन को आगे बढ़ाया। सन १९६० में उनकी मृत्यु हुई। श्री नागरमल का परिवार बहुत सम्पन्न व प्रतिष्ठित है। उनके दो पुत्र कलकत्ता में कैमिकल फैक्टरी चला रहे हैं, और उनके एक स्वर्गीय पुत्र की सन्तान द्वारा राजस्थान तथा दिल्ली में दवाइयों की फैक्टरी चलायी जा रही है।

स्वामी सच्चिदानन्द सरस्वती

संन्यास आश्रम में प्रवेश से पूर्व स्वामी सच्चिदानन्दजी का नाम श्री मथुरादास था। १ जनवरी सन् १९०३ को शेखूपुरा (पाकिस्तान) जिले के उच्चापिंड नामक ग्राम में उनका जन्म हुआ था। उनकी शिक्षा उर्दू में हुई थी, पर आर्यसमाज के साथ सम्पर्क होने पर उन्होंने हिन्दी पढ़ी, और धर्म तथा आर्यसमाज की सेवा में अपने को समर्पित कर दिया। उनका जीवन सदाचारमय था। और वह सबकी सेवा में सदा तत्पर रहते थे। इसी का यह परिणाम था, कि १९४७ में पाकिस्तान के निर्माण के समय जब उनके नगर में हिन्दुओं का कत्ले-आम शुरू हुआ, तो एक ऐसे मुसलमान ने ही उनकी रक्षा की, जो दर्जनों हिन्दुओं का खून कर चुका था, पर इनके उपकारों को भूल नहीं सका था। पाकिस्तान बनने पर वह अमृतसर में बस गये और वहां भी आर्यसमाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेते रहे। मार्च १९७६ में उन्होंने वानप्रस्थ दीक्षा ग्रहण की और एप्रिल १९८३ में श्री स्वामी सर्वानन्दजी महाराज से दीक्षा लेकर संन्यास आश्रम में प्रवेश किया। सन् १९७६ से वह अपना सब समय धर्म-प्रचार और समाज-सेवा में लगा रहे हैं।

श्रीमती त्रिवेणीदेवी आर्य

५० वर्षीया श्रीमती त्रिवेणीदेवी का जन्म अरौदा ग्राम (बयाना, भरतपुर) राजस्थान में हुआ। उनका विवाह सन् १९५० में श्री प्रह्लादकुमार आर्य से हुआ। पतिदेव ने अपने पूज्य पिताजी की स्मृति में स्थापित श्री घूड़मल आर्य धर्मार्थ ट्रस्ट के अन्तर्गत एक पुरस्कार प्रारम्भ किया हुआ है—"श्री घूड़मल आर्य पुरस्कार"। आर्य जगत् की दो विभूतियों—आचार्य उदयवीरजी शास्त्री व पं० युधिष्ठिरजी मीमांसक इससे सम्मानित किये जा चुके हैं। इस बार आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति पुरस्कृत होंगे। एक पुत्र प्रभाकरदेव आर्य व एक ही पुत्री प्रतिभा देवी आर्य हैं। दामाद श्री बाबूलाल मित्तल पाहोद (गुजरात) में मैडीकल अफसर हैं। घर पर प्रतिदिन सन्ध्या व यज्ञ श्रद्धापूर्वक करती हैं। आर्यसामाजिक कार्यों में सोत्साह भाग लेती हैं। पुत्री प्रतिभा भी चारों वेदों से यज्ञ कर चुकी हैं। एक बार सवा लाख गायत्री से भी यज्ञ किया है व दुबारा चल रहा है। पौराणिक परिवार में जन्मीं श्रीमती त्रिवेणीदेवी आर्यसमाज व ऋषि दयानन्द के रंग में पूरी तरह रंग गई हैं।
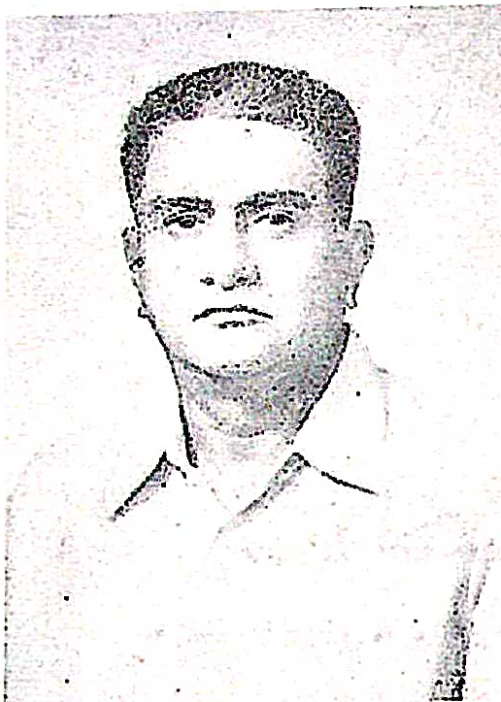
श्री जानकीदास नरूला

श्रीमती विमला नरूला

श्री जानकीदास नरूला का जन्म सन् १९२४ में लाहौर (अब पाकिस्तान) में हुआ था। उनके पिता का नाम श्री भगवानदास नरूला था, और माताजी का नाम श्रीमती वीरनवली नरूला। श्री भगवानदास नरूला लाहौर के सफल एवं समृद्ध व्यापारी थे। द्वितीय महायुद्ध (१९३९-४५) में उन्होंने ब्रिटिश इण्डियन सेना में सर्विस भी की थी श्री जानकीदास का विवाह २६ जनवरी, १९४७ के दिन श्री बैजनाथ मानचन्दा की सुपुत्री कुमारी विमला रानी के साथ हुआ। पर वे देर तक लाहौर में नहीं रह सके। सन् १९४७ में भारत का विभाजन होने के परिणामस्वरूप पाकिस्तान बन जाने पर वह लाहौर से चले आये, और कलकत्ता में बस गये। वहां उन्होंने नये सिरे व्यापार शुरू किया, जिसमें उन्हें अनुपम सफलता प्राप्त हुई। उनका व्यापार-प्रतिष्ठान ५१, कैनिंग स्ट्रीट, कलकत्ता में स्थित है। उनके दो पुत्र (श्री वीरेन्द्रकुमार नरूला और श्री सुमन कुमार नरूला) और तीन पुत्रियां (श्रीमती गीता राज, श्रीमती नीता कोछड़ और श्रीमती सीमा सचदेवा) हैं। नरूला परिवार के सब सदस्य निष्ठावान् आर्यसमाजी हैं, और समाज के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेतेहैं।

श्रीमती विमला रानी नरूला का जन्म १७ सितम्बर १९२९ को हुआ था। उनके पिता श्री बैजनाथ मानचन्दा भी लाहौर के निवासी थे। श्रीमती नरूला आदर्श आर्य महिला हैं, और आर्यसमाज के कार्यों में अपने पति को पूर्ण सहयोग प्रदान करती हैं।

श्री डाक्टर सुरेन्द्रनाथ शर्मा श्रीमती सत्यवतीदेवी विद्यालंकृता

श्रीमती सत्यवती का जन्म पंजाब के गुरुदासपुर नगर में २८ अक्टूबर, सन् १९१२ के दिन हुआ था। उनके पिता पण्डित शंकरदास शर्मा धार्मिक वृत्ति के प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, और महर्षि दयानन्द सरस्वती की शिक्षाओं और आर्यसमाज में उनकी पूर्ण आस्था थी। उन्होंने अपने पुत्र सत्यदेव को शिक्षा के लिये गुरुकुल कांगड़ी में प्रविष्ट कराया और अपनी पुत्री सत्यवती को कन्या गुरुकुल देहरादून में। वहां नियमपूर्वक ब्रह्मचारिणी रह कर सत्यवतीजी स्नातिका हुईं, और विद्यालंकृता की उपाधि प्राप्त की। सन् १९३८ में जालन्धर के एक सम्पन्न व प्रतिष्ठित आर्य परिवार में सत्यवतीजी का विवाह हुआ। विवाह के पश्चात् वह अपने पति श्री सुरेन्द्रनाथजी के साथ नैरोबी (केनिया) चली गईं, जहां वह विभिन्न शिक्षा-संस्थाओं व आर्यसमाज के विविध संस्थानों में सक्रिय रूप से योगदान देती रहीं। आर्य स्त्रीसमाज नैरोबी तथा मोम्बासा के कार्यकलाप में वह अत्यधिक रुचि लेती रहीं और वहां बच्चों की शिक्षा के लिये अनेक विद्यालयों का संचालन किया। सन् १९६७ में वह भारत वापस आ गईं, और तब से नई दिल्ली में रहती हुईं आर्यसमाज की गतिविधि में उत्साह के साथ भाग ले रही हैं। वह स्त्री आर्यसमाज ग्रेटर कैलाश की प्रधाना हैं, और केन्द्रीय आर्य स्त्री समाज दिल्ली के कार्यकलाप में उत्साहपूर्वक भाग लेती हैं। यज्ञों में सत्यवतीजी की बहुत रुचि है। वह प्रति वर्ष माघ मास में वेदों द्वारा यज्ञ का अनुष्ठान कराती हैं। उनके दो पुत्र लण्डन में डाक्टर हैं, और एक भारत की वायुसेना की सेवा से निवृत्त हो कर अपने स्वतंत्र व्यवसाय में संलग्न है।

सत्यवतीजी के पतिदेव श्री सुरेन्द्रनाथ आर्य का जन्म सन् १९०४ में जालन्धर के एक प्रतिष्ठित आर्य परिवार में हुआ था। भारत में एलोपैथिक चिकित्सा की उच्च शिक्षा प्राप्त कर वह नैरोबी (केनिया) चले गए और वहां मेडिकल सर्विस में नियुक्त हो गये। केनिया के विभिन्न स्थानों पर स्वास्थ्य अधिकारी के रूप में कार्य करते हुए डाक्टर शर्मा ने वहां के मूल निवासियों की पूर्ण निष्ठा के साथ सेवा की। केनिया में बसे हुए अरब लोगों के प्रमुख नेता सर अली उन्हें पुत्रवत् मानते थे। सरकारी सर्विस में रहते हुए भी डाक्टर शर्मा आर्य-समाज के कार्यकलाप में उत्साह के साथ भाग लेते रहे, और श्रीमती सत्यवतीजी का उनको पूर्ण सहयोग प्राप्त रहा। वे अत्यन्त उदार स्वभाव के, दीनवत्सल और प्रसन्नचित्त व्यक्ति थे। सन् १९६७ में केनिया की सेवा से निवृत्त होकर वह भारत वापस आगये, और १७ जनवरी, १९७१ को उनका स्वर्गवास हो गया।

श्री आचार्य रामलाल आर्य

श्री रामलाल आर्य का जन्म सन् १९३६ में दमोह जिले (मध्य प्रदेश) के तेजगढ़ ग्राम में हुआ था। उनके परिवार में धर्म और समाज की सेवा की परम्परा भलीभाँति विद्यमान थी। एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण कर श्री रामलाल ने भी अपना जीवन धर्म और समाज की सेवा में लगा दिया। उनमें निर्भीकता, सहिष्णुता, संगठन-दक्षता व असीम साहस सदृश वे सब गुण विद्यमान हैं, जो सार्वजिनिक जीवन का नेतृत्त्व करने लिए के आवश्यक होते हैं। श्री आर्य ने आर्यसमाज के लिए अपना जीवन समर्पित कर सत्यार्थप्रकाश की दस हजार प्रतियां जनता में वितरित करने एवं दस हजार आर्य कार्यकर्त्ता तैयार करने का संकल्प किया हुआ है, और इसे पूरा करने के लिए वे तन-मन-धन से प्रयत्नशील हैं। राइट टाउन (जबलपुर) की आर्यसमाज के लिए श्री आर्य ने १५०० रुपये मासिक किराये की अपनी बिल्डिंग बिना किराया लिए प्रदान की हुई है। इस समाज के प्रधान पद पर वे चिरकाल से आसीन हैं।